सुन्दरकाण्ड

लंकाकाण्ड

उत्तरकाण्ड (पूर्वार्द्ध)

सङ्केत-सूची

अ०—अयोध्याकांड तथा अध्याय
आ०—अरण्यकांड
उ०—उत्तरकांड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किंधाकांड
गी०—गीतावली रामायण
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै०+तैत्त० तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
बा०—बालकांड
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्
का०, कठ०—कठोपनिषत्
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्
मुं०, मुण्ड०—मुण्डकोपनिषत
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकांड
सुं०—सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा
मनु०—मनुस्मृति
स०—सर्ग
वि०—विशेष
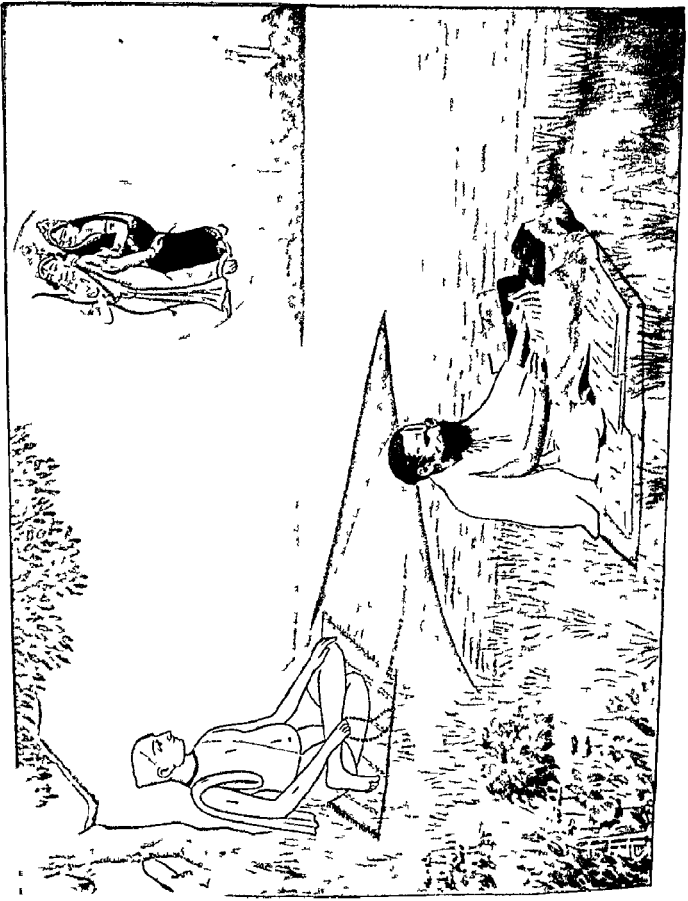
श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक-समेत)

पंचम सोपान (सुंदरकाण्ड)

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥१॥

अन्वय—शान्तं, शाश्वतम्, अप्रमेयम्, अनघं गीर्वाणशान्तिप्रदम्, अनिशं ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यं वेदान्तवेद्यं, विभुं, जगदीश्वरं, सुरगुरुं, मायामनुष्यं हरिं, करुणाकरं, भूपालचूडामणिं, रामाख्यं रघुवरम् अहं वन्दे।

अर्थ—शान्त, निरन्तर, प्रमाण-रहित, निष्पाप, देवताओं को शान्ति देनेवाले, ब्रह्मा, शिव और शेषजी से निरन्तर सेवित, वेदान्त से जानने योग्य, व्यापक एवं शक्तिमान्, जगत् के ईश्वर, देवताओं के गुरु, माया अर्थात् अपने ज्ञान एवं इच्छा से मनुष्य-रूप धारण किये हुए हरि, करुणा की खान, राजाओं में शिरोमणि, रघुकुल में श्रेष्ठ, जिनका नाम राम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) 'शान्तं'; यथा—"राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥" (अ० दो० १४८); यह विशेषण ईश्वरता-सूचक है; यथा—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (बा० दो० १०६)। निरंतर; यथा—"जो तिहुँ काल एक-रस अहई।" (बा० दो० २४०); अप्रमेय; यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (बा० दो० ११०); अनघ; यथा—"अनघ अनेक एक करुनामय।" (उ० दो० २२); "करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (बा० दो० १११); देवताओं को शान्ति देते हैं; यथा—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह" (बा० दो० १२१); असुरों को मारने में पाप नहीं लगता; क्योंकि वे अपने पाप के द्वारा मारे जाते हैं; यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (लं० दो० १०८); ब्रह्मा शंभु और शेषजी से निरन्तर सेवित; यथा—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥" (बा० दो० १२); ब्रह्मा से ब्रह्मलोक (ऊपर), शम्भु से मर्त्यलोक (मध्य) और शेष से पाताललोक (नीचे), इस तरह तीनों लोकों से सेव्य जनाया। माधुर्य रूप की भी सेवा ये लोग रूपान्तर से करते हैं—ब्रह्माजी जाम्बवान्-रूप से,

शिवजी हनुमान-रूप से और शेषजी लक्ष्मण-रूप से सेवा में हैं। ये निरन्तर सेवा करते हैं; यथा—"हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥" (कि॰ दो॰ २५); वेदान्त-वेद्य; यथा—"आगम अय रघुराई।" (बा॰ दो॰ ३१०); विभु, यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (बा॰ दो॰ १६); रामाख्यं; यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥" (बा॰ मं॰); जगदीश्वर; यथा—"ते नर रूप चराचर ईसा।" (बा॰ दो॰ ११); सुर-गुरु; यथा—"जगद्गुरुं च शाश्वतम्" (अ॰दो॰ ३); गुरु का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है; यथा—"जय जय सुर नायक" (बा॰ दो॰ १८५); माया-मनुष्य; यथा—"सम्भवाम्यात्ममायया।" (गीता ४।६), "निज इच्छा प्रभु अवतरइ" (कि॰ दो॰ २६), "माया-मानुष रूपिणौ रघुवरौ" (कि॰ मं॰); "भये प्रगट कृपाला।" (बा॰ दो॰ १९१); माया के अर्थ ज्ञान, कृपा इच्छा आदि हैं। तदनुसार उदाहरण दिये गये हैं। करुणाकर; यथा—"करुनाकर राम नमामि मुदा।" (लं॰ दो॰ १०६); भूपाल-चूडामणि; यथा—"भूप मौलि मनि मंडन धरनी।" (उ॰ दो॰ ३७); हरि; यथा—"हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः···" इत्यादि से 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, पर यहाँ 'रघुवर' शब्द के साहचर्य से श्रीरामजी का ही भक्त-क्लेश-हरण करने का विशेषण है।

(२) 'भूपाल-चूडामणि' कहकर आगे श्लोक के माँगने का यहीं से प्रबंध बाँधा, क्योंकि राजा से ही याचना की जाती है; यथा—"नृपनायक दे वरदानमिदं" (लं॰ दो॰ १०६)। यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित वृत्त का है, बा॰ मं॰ ६ देखिये।

यह पंचम सोपान सुंदरकांड भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि त्रिकूटाचल के तीन शिखर हैं—एक 'नील' है, जिसपर लंका बसी है, दूसरा 'सुवेल' है, वह युद्ध मैदान है और तीसरा शिखर 'सुंदर' है, जिसपर अशोक-वाटिका है, वहाँ पर इस कांड का चरित हुआ, इसी से इसका नाम 'सुंदर' पड़ा। ऐसे ही अरण्य, किष्किंधा और लंका भी स्थान-सम्बन्धी नाम हैं और बाल, अयोध्या और उत्तर ये चरित-सम्बन्धी नाम हैं।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥२॥

अन्वय—हे रघुपते! अस्मदीये हृदये अन्या स्पृहा न, सत्यं वदामि, भवान् च अखिलान्तरात्मा (अस्ति)। हे रघुपुङ्गव! मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ, मानसं च कामादिदोषरहितं कुरु॥

अर्थ—हे श्रीरघुनाथजी! मेरे हृदय में और कोई इच्छा नहीं है। यह मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा हैं। (अत, अंतर्यामी रूप से सबके हृदय की जानते ही हैं)। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी परिपूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे हृदय को काम आदि (छवों) विकारों से रहित कीजिये॥२॥

विशेष—(१) 'नान्या स्पृहा'; यथा—"अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निर्बान। जन्म जन्म रति राम-पद,···" (अ॰ दो॰ २०४); "चहउँ न सुगति सुमति सम्पति कछु रिधि सिधि

बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़उँ अनुदिन अधिकाई॥" (वि० १०३); 'सत्यं वदामि'; यथा—"सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।" (बा० दो० ८); 'अखिलान्तरात्मा'; यथा—"अंतरजामी प्रभु सब जाना।" (उ० दो० ३५); 'रघुपुंगव'; यथा—"रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा।" (अ० दो० ५१); निर्भर भक्ति; यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" (आ० दो० ६); "अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥" (उ० दो० ८४); 'कामादिदोष'; यथा—"काम आदि मद दंभ न जाके।" (आ० दो० १५)। कामादि=षड्विकार।

(२) पहले 'नान्या स्पृहा' कहकर 'सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा' से उसी की पुष्टि की। इस तरह से अपनेको भक्ति का अधिकारी सिद्ध किया, क्योंकि जो भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, वही भक्ति का पूर्ण अधिकारी है; यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ॥ बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥" (अ० दो० १०२); अधिकारी होने पर कहा—'मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ' भक्ति ही माँगी, क्योंकि यही परम लाभ है; यथा—"लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥" (उ० दो० १११)।

(३) 'कामादिदोषरहितं...'—क्योंकि काम आदि के रहते हृदय में श्रीरामजी नहीं बसते; यथा—"काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥" (आ० दो० १५)। यह श्लोक 'वसन्ततिलका' वृत्त का है, बा० मं० ७ देखिये।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥३॥

अर्थ—अतुल बल के स्थान, सोने के पर्वत के समान कान्ति एवं शोभा-युक्त शरीरवाले, दैत्य रूपी वन के लिये अग्नि-रूप, ज्ञानियों में अग्रगण्य (श्रेष्ठ), समस्त गुणों की खान, वानरों के स्वामी, श्रीरघुनाथजी के श्रेष्ठ दूत, पवन के पुत्र को मैं प्रणाम करता हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'अतुलितबलधामं'; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); "तुम बल-बुद्धि-निधान।" (दो० २); 'स्वर्णशैलाभदेहं; यथा—"कनक भूधराकार सरीरा।" (बा० दो० १७); 'दनुजवनकृशानुं'; यथा—"प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञान-घन।" (बा० दो० १७); "उलटि पलटि लंका कपि जारी।" (दो० २५); 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'; यथा—"मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।" (दो० २१); "वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ।" (बा० मं० ४); 'सकलगुणनिधानं'; यथा—"अजर अमर गुन निधि सुत होहू।" (दो० १६); "सुनु सुत सदगुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमंत।" (लं० दो० १०६); 'वानराणामधीशं'; यथा—"नव तुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराइ।" (दो० ५); यद्यपि वानरों के राजा श्रीसुग्रीवजी हैं।

हर्ष कहा गया है, इससे विशेष कार्य होगा ; यथा—"राम कृपा भा काज विसेषो।" (दो० २८)। पुनः वाल्मी० ४।६७।३४ में जाम्बवान्‌जी ने कहा है ; यथा—"स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव।" इसपर उनके धैर्य के लिये भी कार्य होना कहा है।

अस कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा ॥४॥
सिंधु-तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ॥५॥
बार - बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन-तनय बल भारी ॥६॥

शब्दार्थ—सँभारी=सँभालकर, स्मरण कर। तरकना=उछलना, कूदना।

अर्थ—ऐसा कह सबको शिर नवा (प्रणाम कर) हर्षित होकर और श्रीरघुनाथजी को हृदय में धारण करके श्रीहनुमान्‌जी चले ॥४॥ समुद्र के तट पर एक सुन्दर पर्वत था, उसके ऊपर श्रीहनुमान्‌जी अनायास ही कूदकर चढ़ गये ॥५॥ बार-बार रघुबीर श्रीरामजी का स्मरण करके अत्यन्त बल-पूर्वक पवन पुत्र श्रीहनुमान्‌जी कूदे ॥६॥

विशेष—(१) 'अस कहि नाइ ⋯ ⋯'—इनकी मन, कर्म, वचन से श्रीराम-कार्य में तत्परता दिखाई गई। 'अस कहि'—वचन, 'नाइ सबन्हि कहँ माथा'—कर्म और 'चले 'हरषि हिय ⋯' यह मन है। ऐसा ही करने को श्रीसुग्रीवजी ने कहा है; यथा—"मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचन्द्र कर काज सँवारेहु॥" (कि० दो० २२); 'नाइ सबन्हि कहँ माथा'—भारी कार्य के लिये चलने के समय ऐसी ही रीति है ; यथा —"अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥" (बा० दो० ८३); यथा—"बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चले सबहिं सिर नाई॥" (लं० दो० १७); सबको प्रणाम करना धर्म है ; यथा—"सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्म धुरन्धर रघुकुल नाथा ॥" (उ० दो० ४)।

इस यात्रा में श्रीहनुमान्‌जी का हर्ष तीन बार कहा गया—(क) 'होइहि काज मोहि हरष बिसेषी।' (ख) 'चलेउ हरषि हिय धरि ⋯' (ग) "हरषि चलेउ हनुमान।" (दो० १)। इससे विशेष-रूप से कार्य होगा ; यथा —"हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना॥" (दो० ३४); 'चलेउ'—क्योंकि अभी महेन्द्र गिरि कुछ दूर है, जिसपर से चढ़कर कूदना है।

'हिय धरि रघुनाथा'—पहले भी कहा गया है—"चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।" (कि० दो० २२), किन्तु अब शत्रु की पुरी को जाना है, इसलिये विशेष सहायता के लिये फिर से हृदय में धारण किया। हृदय में धरना स्मरण करना है। वा, पहले धारण किया था, वह शोकाकुल होने पर भूल गये, इसलिये फिर से हृदय मे धारण करना कहा है। सम्पाती ने ऐसा ही कहा भी है, यथा—"राम हृदय धरि करहु उपाई।" (कि० दो० २८)।

(२) 'सिंधु-तीर एक सुंदर भूधर'—वाल्मीकिजी ने इस पर्वत की बहुत सुन्दरता कही है और इसका महेन्द्र नाम भी कहा है। उसीको 'सुन्दर' शब्द से कहा है। (इस सुंदर पर्वत से इस कांड का कार्यारंभ हुआ, इससे भी इसका 'सुन्दरकांड' नाम पड़ा।) 'सिंधु तीर' के पर्वत पर चढ़े, क्योंकि उसीपर से कूदना है। 'कौतुक'—अभी बल से नहीं कूदे, बलपूर्वक कूदना आगे कहा जायगा ; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥" यहाँ से कूदकर चढ़ना कहा है, क्योंकि अब

पहाड़ के पास आ गये। 'चढ़े' क्योंकि कूदना ऊँचे से बनता है। 'एक' अर्थात् प्रधान, कूदने के योग्य वीर पर यह एक ही था।

(३) 'बार-बार रघुबीर सँभारी।'—पहले कहा गया—"चले हरषि हिय धरि रघुनाथा।" अब अत्यन्त प्रेम के कारण बार बार स्मरण करते हैं। इससे प्रभु भी इनको बार-बार सँभाल रक्खेंगे; यथा "तुलसी की बलि, बार-बारही सँभार कीबी···" (क० उ० ८०); यह आपकी रीति है, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); 'रघुबीर'—वीर-रूप का स्मरण किया, क्योंकि यहाँ वीरता का प्रयोजन है; यथा—"संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो।" (लं० दो० ८४); अर्थात् इस ध्यान से विजय प्राप्त होती है। यद्यपि नके हृदय में श्रीरामजी सदा ही बसते हैं; यथा—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचाप-धर।" (बा० दो० १७); तथापि किसी कारण-विशेष पर फिर-फिर स्मरण करना कहा जाता है। 'पवन तनय बल भारी'—क्योंकि पवन के समान भारी बल है; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); भारी बल से कूदने का प्रभाव आगे दिखाते हैं—

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥७॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना ॥८॥

शब्दार्थ—अमोघ = निष्फल न होनेवाले।

अर्थ—जिस पर्वत पर चरण दे (रख) कर श्रीहनुमान्‌जी चले, वह पर्वत तुरत पाताल चला गया ॥७॥ जैसे श्रीरघुनाथजी के बाण अमोघ (चलते) हैं, इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी चले ॥८॥

विशेष—(१) 'जेहि गिरि चरन···'—यह भारी बल का प्रभाव है; यथा—"तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो, कोल कलमल्यो, अहि कमठ को बल गो। चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपिटि गो, उचके उचकि चारि अंगुल अचलु गो॥" (क० कि० १); 'चरन देइ' से कूदने की रीति दिखाई कि चारों चरणों से गिरि को दबाकर कूदे तो उसका नीचे का भाग तुरत पाताल पहुँच गया और ऊपर का भाग भूमि के बराबर चिपट गया, फिर इनके ऊपर उचकने के साथ वह चार अंगुल ऊपर को उठ आया। यहाँ कूदने के समय जोर से चरण का दबाव पड़ा तो धस गया। अन्यत्र पहाड़ों पर स्वाभाविक रूप में ही चढ़ते-उतरते थे, तब वे नहीं दबते थे।

(२) 'जिमि अमोघ···'—और वीरों के बाण व्यर्थ भी हो जाते हैं, पर श्रीरघुनाथजी के बाण सदा सफल ही होते हैं। छूटते ही लक्ष्य पर पहुँचकर कृतकार्य होकर ही लौटते हैं, मार्ग में उन्हें कोई रोक नहीं सकता। वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी सुरसा, सिंहिका और लंकिनी के रोकने पर भी न रुकेंगे और सकुशल शीघ्र कार्य करके ही लौटेंगे; यथा—"यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः।···सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया॥" (वाल्मी० ५।१।३९-४२)। 'एही भाँति'—कवि लोग और भी उपमा देते हैं, पर वे यथार्थ नहीं हैं, यही उपमा ठीक है। 'हनुमाना'—बहुतों के मान-मर्दन करेंगे। 'अमोघ' यथा—"छत्र मुकुट ताटंक सब' हते एक ही बान।···अस कौतुक करि राम सर, प्रबिसे आइ निषंग।" (लं० दो० १३), ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जी भी कार्य करके श्रीरामजी को प्राप्त होंगे।

जलनिधि रघुपति-दूत बिचारी। तैं मैनाक होइ श्रम हारी ॥९॥

दोहा—हनूमान तेहि परसा, कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
रामकाज कीन्हे बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम ॥१॥

अर्थ—समुद्र ने श्रीहनुमान्‌जी को श्रीरघुनाथजी का दूत विचारकर कहा—हे मैनाक ! तू इनका श्रमहारी हो जा; अर्थात् इन्हें अपने ऊपर विश्राम देकर इनकी थकावट दूर कर ॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी ने उसे हाथ से स्पर्श किया, फिर उसको प्रणाम किया (और कहा कि श्रीरामजी का कार्य पूरा किये बिना मुझे विश्राम कहाँ ? ॥१॥

विशेष—(१) 'जल निधि'—यह समुद्र जल का खजाना है । ४०० कोसों तक जल से भरा है । कहीं श्रीहनुमान्‌जी थककर डूब न जायँ, इस भय से इसने श्रम हरने को कहा । 'रघुपति दूत बिचारी'—समुद्र ने विचारा कि मैं श्रीरघुनाथजी के ही वंशजों (पूर्वज सगर-पुत्रों) के द्वारा बढ़ाया गया हूँ । यदि मैं इनकी सहायता न करूँ तो निंदित होऊँगा । मुझे कृतघ्न समझकर कोई मेरा नाम तक न लेगा; यथा—"अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः । इक्ष्वाकुसचिवश्चायं तन्नार्हत्यवसादितुम् ॥ तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः ।" (वाल्मी॰ ५।१।८७-८८) ।

(२) 'तैं मैनाक होइ···'—मैनाक हिमालय का पुत्र माना जाता है और यह सुवर्णमय है, इसने स्वयं श्रीहनुमान्‌जी से अपना वृत्तान्त यों कहा है—"सतयुग में पर्वत पंखधारी होते थे और चारों तरफ गरुड़ की तरह उड़ा करते थे । इनके गिरने के समय देवताओं और मनुष्यों को दब जाने का भय होता था । अतएव क्रोधित हो देवराज इन्द्र ने हजारों पर्वतों के पंख काट डाले । वे इसी इच्छा से मेरे पास भी आये, किन्तु, तुम्हारे पिता वायु ने शीघ्र ही मेरी सहायता की और समुद्र में मुझे लाकर छिपा दिया, जिससे मैं इस विपत्ति से बच गया ।" "इसे समुद्र ने पाताल का विशाल द्वार रोकने के लिये रक्खा है, जिससे उसमें से असुर निकलने न पावें ।" (वाल्मी॰ ५।१।१५-१२१, ९१-९२) ।

मैनाक से इसीलिये कहा कि यह आकाशगामी है और श्रीहनुमान्‌जी तक पहुँच सकता है और उन्हें धारण करने में समर्थ भी है । पुनः यह पवनदेव का ऋणी भी है और उस ऋण से इसे उऋण भी बनाना है । अतः, श्रीहनुमान्‌जी की पूजा से वायु देवता संतुष्ट होंगे; यथा—"पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः । तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥" (वाल्मी॰ ५।१।११४); यह मैनाक ने ही कहा है ।

शंका—समुद्र ने स्वयं तो श्रीरामभक्त की सेवा की, पर श्रीरामजी को जब उससे काम पड़ा तब उनके धमकाने पर आया, ऐसा क्यों ?

समाधान—(क) श्रीरामजी सबके प्रेरक हैं, अपनी अपेक्षा भक्त का मार्ग अधिक सुखदायी कर देते हैं ; यथा—"किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात । तस मग भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात ॥" (अ॰ दो॰ २१६); (ख) श्रीहनुमान्‌जी का पराक्रम प्रत्यक्ष है कि उनके उछलते ही पहाड़ दब गया ; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ···" इससे समुद्र जानता है कि ये लंका जाकर सकुशल आ सकेंगे । इसी से उन्हें विश्राम देता है । पर आगे श्रीरामजी के माधुर्य में मोहित हो गया, इससे ईश्वरता नहीं समझ सका, अतः उनका पराक्रम जानने के लिये नहीं आया । जब यश देख लिया, तब आया और हर्षित हुआ ; यथा—"देखि राम बल पौरुष भारी । हरषि पयोनिधि भयो सुखारी ॥"

(दो० ५१); फिर उसने उनकी सेवा भी की ; यथा—"मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥" (दो० ५१)। (ग) समुद्र के दक्षिण-तट पर राक्षस और उत्तर तट पर चोर आभीर बसते हैं, राक्षसों को मारने के लिये तो प्रभु जाते ही हैं। उत्तर तट के चोरों को भी मरवाना था, इसी से वह पहले नहीं आया। बाण संधान हो जाने पर आया और इसी युक्ति से उसने चोरों को मरवाया।

(३) 'हनूमान तेहि परसा …'—"मैनाक ने मनुष्य-रूप धारण कर श्रीहनुमान्‌जी से विश्राम करने के लिये प्रार्थना की थी।" (वाल्मी० ५।१।१०४–१०५); इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने अपने हाथों से स्पर्श करके उसका सम्मान किया। श्रीहनुमान्‌जी से सत्कृत जानकर इन्द्र ने भी इसे अभय दान दिया ; यथा—"उवाच वचनं धीमान्परितोषात्सगद्गदम्। सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्। अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥" (वाल्मी० ५।१।१३९–१४०); 'पुनि कीन्ह प्रनाम'—श्रीहनुमान्‌जी ने पिता का मित्र जानकर पूज्य दृष्टि से उसे प्रणाम किया। 'मोहिं कहाँ बिश्राम'—जब तक समुद्र ने मैनाक से कहा और वह अत्यन्त वेग से उठा, इतनी ही देरी में श्रीहनुमान्‌जी ५० योजन आगे चले गये, क्योंकि उस समुद्र के बीच में ही मैनाक रहता था और वहीं से उठा। शीघ्रता दिखाने को ही ग्रंथकार ने मैनाक का चलना और पहुँचना नहीं लिखा। श्रीहनुमान्‌जी के कर-स्पर्श से ही जना दिया।

यहाँ यह भी दिखलाया गया है कि राम-भक्त को जल में भी ठहरने के स्थान मिल जाते हैं और हरि-विमुख स्थल में भी डूब मरते हैं। जैसे कि कर्ण का रथ स्थल में ही डूब गया (रथ का चक्का भूमि में नीचे धस गया)। 'राम काज कीन्हे बिना'—इस समय नहीं ठहर सके कि राम-कार्य हो जाने पर इसकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे ; यथा—"पूछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि।" (दो० २६); 'कर' दीपदेहली है। कर से उसे स्पर्श किया और फिर कर से ही प्रणाम भी किया।

जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानइ कहुँ बल-बुद्धि बिसेखा ॥१॥
सुरसा नाम अहिन कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥२॥
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवन-कुमारा ॥३॥

अर्थ—देवताओं ने पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी को जाते हुए देखा। उनके विशेष बल और बुद्धि को विशेष करके जानने के लिये ॥१॥ उन्होंने सुरसा नाम की सर्पों की माता को (इनके बल और बुद्धि की परीक्षा करने के लिये) भेजा। उसने (समीप) आकर श्रीहनुमान्‌जी से यह बात कही ॥२॥ कि आज देवताओं ने मुझे भोजन दिया, यह वचन सुनते ही पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने कहा ॥३॥

विशेष—(१) 'जात पवनसुत…'—जिसी समय समुद्र ने मैनाक से कहा था, उसी समय देवताओं ने भी सुरसा से परीक्षा के लिये कहा, यदि ऐसा न होता तो श्रीहनुमान्‌जी शीघ्र ही उस पार निकल जाते। वही 'जात' शब्द से सूचित किया गया है। पुनः यह भी कि देवता इसी पार हैं। 'पवनसुत'—क्योंकि ये वायु के समान बल और वेग से जा रहे हैं ; यथा—"चला प्रभंजन-सुत बल भाषी।" (लं० दो० ५४); 'देवन्ह'—इसमें सब देवता सहमत हैं।

'जानइ कहुँ बल बुद्धि बिसेखा'—सामान्य बल और बुद्धि तो ये लोग जानते ही हैं। बालपन में ही इन्होंने सूर्य का ग्रास किया है और इन्द्र के वज्र को भी निष्फल कर दिया है ; यथा—"जयति अब

बाल कपि केलि कौतुक उदित चंड-कर-मंडलग्रास-कर्त्ता। राहु-रवि-शक्र-पवि-गर्व-खर्वी करन, सरन भय-हरन, जय भुवन भर्त्ता ॥" (वि० २५); पर इस समय ये उस रावण की पुरी को जा रहे हैं। जिसने इन्द्र, सूर्य आदि सभी देवताओं को जीत लिया है। अतः, इससे भी विशेष बल और बुद्धि की आवश्यकता है, वही देखना चाहते हैं। कूदना आदि तो वानरों का सहज कर्म है ही, इससे विजय का अन्दाजा नहीं हो सकता। बल और बुद्धि दोनों हों, तभी विजय हो सकती है; यथा—"नाथ बैर कीजे ताही सों। बुधिबल सकिय जीति जाही सों ॥" (लं० दो० ५); "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कह्यो जानकी जाहु।" (दो० १७); इसीसे देवगण बुद्धि-बल की विशेषता देखना चाहते हैं।

(२) 'सुरसा नाम'''—सुरसा ही क्यों भेजी गई? उत्तर (क) स्वयं देवतागण इनके बल और बुद्धि की परीक्षा करने में असमर्थ हैं, इसलिये उन्होंने स्त्री को भेजा, कारण कि स्त्री अवध्य है। पुनः राक्षस बली और मायावी भी होते हैं। सुरसा माया और बल, दोनों से परीक्षा लेने में समर्थ होगी। (ख) यह सर्पों की माता है और सर्पों का आहार पवन है। अतः, यह पवन के पुत्र का भक्षण कर सकेगी।

'सुरसा' नाम कहकर 'अहिन कै माता' भी कहा। इस तरह अतिव्याप्ति दोष भी मिटाया। क्योंकि सुरसा और किसी का भी नाम हो सकता है और सर्पों की माता एक कद्रू नाम की भी है। पुनः 'अहिन कै माता' से क्रूर स्वभाव, भयानक और तमोगुण-युक्त भी बनाया। 'पठइन्हि आइ' सुरसा का भी आना-पहुँचना न कहा, क्योंकि यह बहुत ही शीघ्र आई। जिसी समय मैनाक से वार्तालाप हो रहा था उसी समय यह भी आ पहुँची; क्योंकि श्रीहनुमानजी राम बाण की तरह वेग से जा रहे हैं।

(३) 'आजु सुरन्ह मोहि......'—'आजु'—का भाव यह कि मैं बहुत दिनों की भूखी हूँ; यथा—"आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ॥ कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥" (कि० दो० २९); 'दीन्ह अहारा'—का भाव यह है कि यह राक्षसी बनकर आई है और राक्षस ही नर-वानर को खाते हैं; यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा।" (लं० दो० ७); देवताओं की भेजी हुई आई है, इसीसे देवताओं का आहार देना कहती है। पीछे परीक्षा हो जाने पर साफ कह देगी; यथा—"मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा।'''" अभी से यदि कह देती कि मैं परीक्षा के लिये ही मुंह फैलाती हूँ, तो श्रीहनुमान्‌जी जान जाते और वह परीक्षा लेने में सफल न होती। परीक्षा के लिये ही असत्य कह रही है, वह भी परोपकार के लिये, इससे इसमें दोष नहीं।

'सुनत बचन कह पवन कुमारा।'—सुरसा कहती है कि देवताओं ने मुझे आहार दिया है और उस आहार को वह खाना चाहती है। देवताओं के दिये हुए भक्ष्य के प्रति श्रीहनुमान्‌जी नाहीं कैसे करें? कहा भी है—"परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (बा० दो० ८३), श्रीहनुमान्‌जी धर्मात्मा हैं। यदि अपना शरीर उसे खाने को दे दें, तो राम-कार्य नहीं बनता और न दें तो भी धर्म-संकट है। दोनों तरह से उत्तर देना कठिन था। पर आपको उत्तर देने में कठिनाई न पड़ी, तुरन्त बोले। इससे 'पवन कुमारा' कहा है, क्योंकि पवन की ही प्रेरणा से वचन निकलते हैं। यहाँ बुद्धि की चातुरी है।

राम काजु करि फिरि मैं आवउँ। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावउँ ॥४॥
तब तुव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥५॥
कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का कार्य करके मैं लौट आऊँ और श्रीसीताजी का समाचार प्रभु को सुना दूँ ॥४॥ तब आकर तेरे मुख में पैठूँगा; (अर्थात् तब तू मुझे खा लेना) मैं सत्य कहता हूँ, हे माई! मुझे जाने दे ।५॥ किसी भी यत्न से जाने नहीं देती, तब श्रीहनुमान्जी ने कहा कि मुझे खा न ले! अर्थात् खा, देखूँ तो, तू कैसे मुझे खाती है ? ॥६॥

विशेष—(१) 'रामकाज करि······'—राम-कार्य होने का निश्चय है; यथा—"होइहि काज मोहिं हरष बिसेषी ॥" (दो० १); इसी से कहते हैं—'फिरि मैं आवउँ' कार्य को उत्तरार्द्ध में कहते हैं —"सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावउँ ॥" यही श्रीजाम्बवान्जी ने भी कहा है; यथा—"सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥" अतः, यही राम-कार्य है। क्षुधातुर को भोजन देना धर्म है और राम-कार्य परम धर्म है। इसी से राम-कार्य करना पहले कहा गया है। 'प्रभुहि सुनावउँ' का भाव यह है कि प्रभु समर्थ हैं, समाचार पाकर अपने शत्रु को स्वयं ही मारेंगे। मेरी वैसी आवश्यकता नहीं; यथा—"कपि सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनि हैं।" (कि० दो० ३०)। अतः, मैं अवश्य तुम्हारे भोजन के लिये आ जाऊँगा।

(२) 'तब तुम बदन पैठिहउँ आई ।'—सुरसा ने कहा था कि जो तुम जाना चाहते हो, तो मेरे मुख में पैठकर ही जा सकोगे; यथा—"निविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम । वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥" (वाल्मी ५।१।१५१); इसीलिये कहते हैं कि तब मैं आकर तेरे मुख में प्रवेश करूँगा। यह नहीं कहते कि तब तू मुझे खा लेना, क्योंकि इन्हें कोई खा नहीं सकता, कहते तो झूठ ही होता, तो ऐसा क्यों कहें ? यदि वह समझे कि श्रीहनुमान्जी अपने प्राण बचाने के लिये ही हमें धोखा दे रहे हैं, इसलिये शपथ करते हैं—"सत्य कहउँ···" 'माई'—संत जन पर-स्त्री को माता-तुल्य ही मानते हैं; यथा—"जननी सम जानहिं परनारी ।" (आ० दो० १२९); अभी श्रीहनुमान्जी साम नीति बरत रहे हैं कि 'माई' सम्बोधन सुनकर वह अवश्य दयार्द्र होकर मुझे जाने देगी।

(३) 'कवनेहुँ जतन देइ···'—साम, दाम, दंड, भेद ये चार यत्न हैं। इनमें पहले दाम का वर्त्ताव किया; यथा—"तब तुम बदन पैठिहउँ आई ।" शरीर देना यह दाम नीति है और यही उसका मुख्य प्रयोजन भी है। फिर साम नीति का वर्त्ताव किया; यथा—"जान दे माई ।" शेष दो दंड और भेद न किये, क्योंकि इसे माता कह चुके हैं। पुनः राम-कार्य होना, श्रीसीताजी का क्लेश छूटना आदि का कहना भी यत्न ही है। पर वह नहीं जाने देती है। अन्य रामायणों में कहे हुए यत्न भी 'कवनेहुँ जतन' में आ गये। ये बुद्धि के उपाय हैं।

'ग्रससि न मोहि······'—यह बल है। नीति है कि बुद्धि से कार्य न चले, तब बल का प्रयोग करना चाहिये; यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ ।" (दोहावली ४३१); 'माई' कहने पर भी इसे दया न आई, क्योंकि यह 'अहिन कै माता' है। सर्पिणी जब अपने ही अंडे-बच्चों को भी खा जाती है तब दूसरे की बात ही क्या ?

जोजन भरि तेहि बदन पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥७॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ॥८॥
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दून कपि रूप देखावा ॥९॥

अर्थ—उसने योजन (चार कोस) भर का मुख फैलाया, तब कपि श्रीहनुमानजी ने अपने शरीर को उसका दुगुना विस्तृत कर दिया; अर्थात् दो योजन के हो गये कि जिससे उसके मुख में न समा सकें ॥७॥ सुरसा ने सोलह योजन का मुख किया, तब शीघ्र ही पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी बत्तीस योजन के हो गये ॥८॥ जैसे-जैसे सुरसा ने मुख बढ़ाया, कपि ने उसका दुगुना रूप दिखाया ॥९॥

विशेष—(१) 'जोजन भरि तेहि'···'—मुख तो उसने फैलाया, किन्तु खाने को नहीं दौड़ी, क्योंकि वह परीक्षा के लिये ही आई है। इन्होंने उसके शरीर से दूना शरीर करके सूचित किया कि ले, हम दूना भक्ष्य देते हैं, खा। सुरसा ने मुख ही फैलाया, क्योंकि वह इन्हें निगलना चाहती है और इन्होंने शरीर-भर बढ़ाया कि जिससे उसके मुख में समा न सकें और वह हार जाय।

(२) 'सोरह जोजन मुख'···'—श्रीहनुमान्‌जी को दूना होते देखकर सुरसा ने एक बार ही सोलह योजन का मुख किया, तब शीघ्र ही श्रीहनुमान्‌जी ३२ योजन के हो गये। इससे उसने सहसा इनकी अत्यन्त बढ़ने की शक्ति भी देख ली। शीघ्रता की अपेक्षा से 'पवन सुत' कहा गया।

(३) 'जस जस सुरसा'···'—अब सुरसा ने बदन बढ़ाने में कोई नियम नहीं रक्खा। पहले एक से सोलह पर पहुँची। अब २०, २२, ३०, ४०, आदि योजन का मुख करती गई और प्रत्येक बार श्रीहनुमान्‌जी उसका दूना होते गये। 'रूप देखावा'—उसे दिखाने-मात्र के लिये रूप करते गये, उसे मारना नहीं चाहते—यहाँ बल है।

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ॥१०॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। माँगा बिदा ताहि सिर नावा ॥११॥
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरम तोर मैं पावा ॥१२॥

दोहा—राम-काज सब करिहहु, तुम बल-बुद्धि-निधान।
आसिष देइ गई सो, हरषि चलेउ हनुमान ॥२॥

अर्थ—जब सुरसा ने सौ योजन का मुख किया, तब पवन पुत्र ने अत्यन्त छोटा रूप धारण कर लिया ॥१०॥ उसके मुख में पैठकर फिर (शीघ्र ही) बाहर निकल आये और सिर नवाकर उससे बिदा माँगी ॥११॥ (सुरसा बोली) देवताओं ने मुझे जिस (कार्य) के लिये भेजा था, (वह) तुम्हारे बुद्धि और बल के भेद को मैं पा गई ॥१२॥ तुम बल और बुद्धि के खजाना हो, (अत) श्रीरामजी के सभी कार्य करोगे, आशिष देकर वह चली गई, तब हर्षपूर्वक श्रीहनुमान्‌जी चले ॥२॥

विशेष—(१) 'सत जोजन तेहि'···'—१०० योजन का ही समुद्र है, अत समुद्र-भर में उसका मुख-ही मुख दिखलाई पड़ा एक दाढ़ नीचे और एक ऊपर। सुरसा ने पहले मुख फैलाया, फिर बढ़ती ही गई और श्रीहनुमान्‌जी भी दूने-दूने बढ़ते ही गये। जैसे सौ योजन उसके बढ़ाव की अवधि है, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी का 'अति लघु रूप' भी सूक्ष्मता की अवधि है। अति शीघ्र लघु होने से 'पवनसुत' कहा गया। सुरसा को श्रीहनुमान्‌जी ने दूने रूप से न जीतकर छोटे रूप से जीता, इसमें यह उपदेश है कि अत्यन्त बड़े को छोटा होकर जीतना चाहिये—यहाँ बुद्धि है।

(२) 'बदन पइठि पुनि···'—उसने अपने मुख में पैठकर ही जाने के लिये कहा, उसपर श्रीहनुमान्‌जी ने जो 'पैठिहउँ आई' कहा था, यहाँ मुख में पैठकर उन्होंने उसी की पूर्त्ति की है। 'पुनि' का भाव यह कि जिधर से पैठे, उधर ही से निकल भी आये। 'माँगा बिदा ताहि सिर नावा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने पहले ही इससे साम-नीति के अनुसार 'माई' कहकर मार्ग माँगा था, जब इसने शर्त्त रक्खी, तब आपने उसकी पूर्त्ति कर दी और फिर उसी भाव से शिर भी नवाया और बिदा माँगी। इसपर सुरसा ने प्रसन्न होकर आगे वर दिया।

सुरसा ने ऐसी परीक्षा इसलिये की कि लंका में इन्हें अति लघु रूप से प्रवेश करके श्रीजानकीजी को खोजना होगा और विशाल रूप से उनको भरोसा देना और राक्षसों से युद्ध भी करना होगा।

(३) 'मोहि सुरन्ह जेहि···'—यहाँ सुरसा अपनी सफाई दे रही है कि मैं देवताओं के भेजने से आपकी बल-बुद्धि की परीक्षा के लिये ही आई थी, राम-कार्य में विघ्न डालने को नहीं। परीक्षा के लिये ही मैंने—'दीन्ह अहारा' आदि भयकारी वचन भी कहे थे।

(४) 'राम-काज सब करिहहु···'—श्रीहनुमान्‌जी ने यही अपना अभीष्ट भी कहा था; यथा—"राम काज करि फिरि मैं आवउँ···" और उसी की आशिष भी इसने दी। 'तुम्ह बल-बुद्धि निधान'—भाव यह कि बल और बुद्धि के बिना राम-कार्य नहीं हो सकता; यथा—"जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥" (कि० दो० २८); इनके प्रणाम करने पर उसने आशिष दी और इसी से श्रीहनुमान्‌जी को हर्ष भी हुआ, क्योंकि वह देवी है, अतः उसके वचन सत्य ही होंगे। श्रीहनुमान्‌जी जब से समुद्र-किनारे से चले थे, बीच में केवल यहीं पर रुके थे, इसी से यहाँ से फिर चलना कहा गया है—'हरषि चले' हर्ष इससे और भी हुआ कि विघ्नकारिणी भी आशिष देनेवाली हो गई।

निसिचरि एक सिंधु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई ॥१॥
जीव - जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हकै परिछाहीं ॥२॥
गहइ छाँह सक सो न उड़ाई। येहि बिधि सदा गगनचर खाई ॥३॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा ॥४॥

अर्थ—एक निशाचरी समुद्र में रहती थी, वह माया करके आकाश के 'खगों' को पकड़ा करती थी॥१॥ जो जीव-जन्तु आकाश में उड़ा करते, उनकी परछाँई जल में देखकर पकड़ लिया करती थी, जिससे वह उड़ नहीं सकता था; इसी तरह सदैव आकाश में चलनेवालों को खाया करती थी॥२-३॥ वही छल श्रीहनुमान्‌जी से किया, उसका कपट श्रीहनुमान्‌जी ने तुरत ही जान लिया; अर्थात् छाया पकड़ जाने पर उसका भेद जान गये॥४॥

विशेष—(१) 'निसिचरि एक···'—निशाचरी कहने का भाव यह है कि सुरसा देवी थी और यह राक्षसी है। इसी से आकाशचारी निशाचरों को ही केवल नहीं पकड़ती थी, वरन् सभी जीव-जन्तुओं को पकड़ लेती थी। 'सिंधु महँ रहई'—तीन स्थलों में जीव रहते हैं—नभ, जल और स्थल। इनमें सुरसा नभ से आई, यह (सिंहिका) जल में रहती थी और आगे लंकिनी स्थल में मिलेगी। यह सिंहिका राहु की माता थी।

श्रीगोस्वामीजी ने सुरसा, लंकिनी और त्रिजटा के नाम लिखे, पर इसका नाम न दिया, क्योंकि—

(क) वे तीनों रामकार्य-साधन करनेवाली हुईं; यथा—"रामकाज सब करिहहु"—सुरसा; "प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।..."—लंकिनी; "सबन्हौं बोलि सुनायेसि सपना।..."—त्रिजटा और यह राक्षसी आदि से अंत तक कपट से ही भरी रही अर्थात् रामकार्य से विमुख ही रही, इसी से श्रीगोस्वामीजी ने इसका नाम नहीं लिखा; यथा—"काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥" (बा० दो० १)। (ख) यह जल के भीतर गुप्त भाव में रहती थी, इसी से ग्रंथकार ने भी इसे गुप्त ही रक्खा।

श्रीगोस्वामीजी ने निशाचरी (सिंहिका), लंकिनी और त्रिजटा के साथ 'एक' विशेषण दिया है, पर सुरसा के साथ नहीं; क्योंकि तीनों अपने-अपने कार्य में अद्वितीय हैं। जैसे कि सिंहिका छाया पकड़ने में, लंकिनी लंका का चोर पकड़ने में और त्रिजटा विवेक-निपुणता में एक ही थीं। इनके समान दूसरी राक्षसी नहीं थीं। सुरसा को एक इससे नहीं कहा गया कि इसके समान कद्रू नाम की दूसरी भी वैसी ही प्रसिद्ध थी। 'खग'—में यौगिक प्रयोग है; अर्थात् आकाश में गमन करनेवाले। 'गहई'—इसकी क्रिया आगे कहते हैं—

(२) 'जीव-जंतु जे...'—जीव बड़े को और जन्तु छोटे को कहते हैं। जीव; यथा—"आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥" (बा० दो० २०६)। छोटे जन्तुओं के आहार से पेट तो नहीं भरता था, पर वह इन्हें अपनी माया की प्रबलता दिखाने के लिये पकड़ती थी कि मैं सूक्ष्म जीवों को भी पकड़ लेती हूँ। 'जल बिलोकि'—उसकी माया जल में ही चलती थी, स्थल की परछाईं से वह नहीं पकड़ सकती थी। 'सदा गगन चर खाई'—अर्थात् वह सदा जल में रहती थी और आकाशगामियों को ही खाती थी, जलचरों और थलचरों को नहीं।

(३) 'सोइ छल हनूमान कहँ...'—श्रीहनुमान्‌जी कपट के पहचानने में एक ही हैं; यथा—"कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥" (बा० दो० २६), इसी से उन्होंने उसके कपट को तुरत ही पहचान लिया। अभी तक न जाने कितने को इसने खा लिया होगा, पर किसी ने इसे नहीं पहचाना था। माया, छल और कपट यहाँ पर्याय हैं, यथा—'करि माया', 'सोइ छल', 'तासु कपट'।

ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥५॥
तहाँ जाइ देखी बन-सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥६॥
नाना तरु फल-फूल सुहाये। खग-मृग-बृंद देखि मन भाये॥७॥

अर्थ—उसको मारकर वीर और धीर-बुद्धि पवन-पुत्र समुद्र के पार गये॥५॥ वहाँ जाकर वन की शोभा देखी, मधु के लोभ से भ्रमर गुंजार कर रहे हैं॥६॥ अनेक तरह के वृक्ष फल फूलों से सुशोभित हैं, पक्षी और पशुओं के समूह देख मन प्रसन्न हुआ।॥७॥

विशेष—(१) 'ताहि मारि मारुतसुत बीरा।'—वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि छाया पकड़ जाने पर श्रीहनुमान्‌जी ने सोचा कि मुझे किसी ने पकड़ लिया है, फिर नीचे जल की ओर देखकर इसे सुग्रीवजी के कहे हुए मर्म के अनुसार जाना। तब उसके मर्म स्थानों को देखकर अर्थात श्रीहनुमान्‌जी उसपर छोटा बनकर गिरे। श्रीहनुमान्‌जी ने तीक्ष्ण नखों से उसके मर्म-स्थान को फाड़ डाला। इस तरह उसे मारकर वे मन के समान वेग से ऊपर उठे और फिर पूर्ववत् वेग से चलने लगे।

मायाविनी की माया में न फँसे, इसी से 'मारुत सुत' कहा गया, क्योंकि वायु किसी के ग्रहण में नहीं आता है। वायु से सब माया नाश होती है, इसी से लोग माया-टोना झाड़ते हुए फूँक देते हैं। कहा भी है—"हठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया॥" (दो० १८); 'धीरा'''मति धीरा'—श्रीहनुमान्जी ने प्रबल मायाविनी राक्षसी को बल और बुद्धि से जीता, इससे उन्हें वीर कहा गया और सौ योजन समुद्र लाँघ गये, श्रम न हुआ और न कहीं साँस ही ली, पुनः विघ्नों से घबड़ाये भी नहीं, प्रत्युत् उपाय-द्वारा उन्हें नाश किया, इससे मति-धीर कहा है; यथा—"अनिश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति॥" (वाल्मी० ५।१।१)।

(३) 'तहाँ जाइ देखी''''''—'तहाँ जाइ' से सूचित किया गया है कि समुद्र-तट से लंकापुरी कुछ दूर है। 'बन सोभा'; यथा—"सुंदरबन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु लोभा॥" (कि० दो० १२); यही शोभा आगे कहते हैं—'गुंजत'''नाना तरु फल'''—सब वृक्षों में फल-फूल दोनों हैं, वा, किसी में फूल और किसी में फल शोभायमान हैं। वन के आश्रित मृगवृंद, फलों के आश्रित खग और फूलों के आश्रित भ्रमर रहते हैं। श्रीहनुमान्जी के मन को वन की शोभा 'भाई' (प्रिय लगी) क्योंकि ये भी वनचर हैं; यथा—"बन चर देह धरी छिति माहीं।" (बा० दो० १८७)।

सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥८॥
उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई॥९॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥१०॥
अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनक कोट कर परम प्रकासा॥११॥

अर्थ—आगे एक बड़ा भारी पर्वत देख उसपर भय छोड़कर दौड़कर चढ़ गये॥८॥ हे उमा! इसमें कुछ कपि श्रीहनुमान्जी की बड़ाई नहीं है, यह प्रभु का प्रताप है, जो काल को भी खा जाता है॥९॥ पर्वत पर चढ़कर उन्होंने लंकापुरी देखी, अत्यन्त विशेष दुर्ग है, कहा नहीं जा सकता॥१०॥ अत्यन्त ऊँचा है, चारों ओर समुद्र है, स्वर्ण-कोट परम प्रकाश कर रहा है॥११॥

विशेष—(१) 'सैल बिसाल देखि'''''''—पहले वन का वर्णन हुआ, वह समुद्र के तट का था और उससे आगे पर्वत है, वह सभी पर्वतों से भारी है, इसी से 'बिसाल' और 'एक' कहा गया है। पहाड़ के आस-पास सघन वन था, इससे लंका न दीख पड़ी। तब दौड़कर पहाड़ पर चढ़ गये। खड़े पर्वतों पर वानर-गण कूदकर चढ़ते हैं और जो पर्वत कुछ ढालू होते हैं, उनपर दौड़कर चढ़ते हैं। अतः, इसपर दौड़कर चढ़े। 'भय त्यागे'—इस पर्वत पर रावण की ओर से काल का पहरा रहता था, यह अगली अर्द्धाली से स्पष्ट होगा; यथा—"बेग जीत्यो मारुत प्रताप मार्तंड कोटि कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो।" (क० सुं० १)।

यहाँ यह भी भय था कि जब समुद्र में ही दो-दो विघ्न आये, तब यह पर्वत तो लंका के द्वार पर है। अतः, रावण की ओर से न जाने यहाँ कैसा प्रबंध हो, इसकी परवाह न की।

(२) 'उमा न कछु कपि''''''—श्रीहनुमान्जी पर काल का भी प्रभाव क्यों न पड़ा? इसपर श्रीशिवजी कहते हैं कि यह प्रभु का प्रताप है; यथा—"प्रभु प्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल।"

(दो० १६); स्वयं श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है—"पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं ॥ तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।" (गी० लं० ८)।

(३) 'गिरि पर चढ़ि……'—'लंका तेहि देखी'—जो कपि काल को भी खा सकता है, उसी ने लंका को भी देखा, भाव यह कि लंका को भी नाश करेगा। 'कहि न जाइ'—'देखी' कहकर फिर कहते हैं कि 'कहि न जाइ' अर्थात् देखते ही बनता है, कहते नहीं बनता; यथा—"देखत बनइ न जाइ बखाना ॥" (उ० दो० ८१); 'अति दुर्गविसेपी'—दुर्ग का अर्थ किला होता है; यथा—"चढ़े दुर्ग पुनि जहँ-तहँ बानर।" (लं० दो० ४०); "उतरयो वीर दुर्ग ते……"(लं० दो० ३८); यह लंका-रूप किला अत्यन्त भारी और दुर्गम था। वही दुर्गमता आगे कहते हैं—

(४) 'अति उतंग जल निधि ……'—लंकापुरी स्वयं ऊँची है और पहाड़ पर बसी है; यथा—"गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।" (कि० दो० २८); किले की चारों ओर खाइयाँ होती हैं और यहाँ 'जलनिधि चहुँ पासा।' कहा गया है; यथा—"खाईं सिंधु गँभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव। कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव।" (बा० दो० १७८); 'परम प्रकासा'—एक तो सोने का प्रकाश है और दूसरा उसमें मणि भी लगे हैं। अतः, उनका परम प्रकाश है।

छंद—कनक कोटि बिचित्र मनि-कृत सुंदरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना।
गज-बाजि-खच्चर-निकर पदचर-रथ-बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर-जूथ अति बल सेन बरनत नहिं बनै॥

अर्थ—सोने की चहारदीवारियाँ मणियों से विचित्र बनाई गई हैं, उसमें सुन्दर आयतन (घर) बहुत हैं। चौक, बाजार, सुंदर मार्ग (राज-मार्ग) और गलियाँ हैं। सुन्दर नगर (और भी) बहुत प्रकार से बनाया एवं सजाया हुआ है॥ हाथियों, घोड़ों और खच्चरों के समूहों को, पैदल और रथों के समूहों को कौन गिन सकता है? बहुत रूपों के निशाचरों के समूह हैं, वे अत्यन्त बलवान् हैं, अत्यन्त बलवती सेना का वर्णन करते नहीं बनता॥

विशेष—(१) 'कनक कोट बिचित्र……'—कोट की दीवारें सोने की हैं, उनमें रंग-बिरंग की मणियों के काम बनाये हुए हैं, इससे विचित्र हैं। 'घना'—दो अर्थों से श्लिष्ट है, एक अर्थ यह कि घर बहुत हैं, दूसरे, बस्ती घनी है। यहाँ तक कोट का वर्णन हुआ, आगे पुर का वर्णन है, इससे यह जाना कि कोट के भीतर नगर है।

(२) 'चउहट्ट हट्ट……' यथा—"राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥" (बा० दो० २०); कोट का बनाव कनक मणि का कहा गया था, वैसा ही भीतर का भी जानना चाहिये; यथा—"सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक-भवन मनि रचित अपारा॥" (बा० दो० १७७); 'बहु बिधि बना' का अन्वय चौहट्ट आदि सभी के साथ है।

(३) 'गज-बाजि-खच्चर…'—इसी क्रम से नगर की रक्षा के लिये सेना खड़ी है—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल क्रम-क्रम से सजाये हुए हैं, ये ही चतुरंगिनी सेना के अंग हैं। खच्चर मध्य में हैं, ये तोपखाने के हैं।

लंकापुरी छः प्रकार के दुर्गों से सुरक्षित है ; यथा—"गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका ।" (कि० दो० १०) यह गिरि-दुर्ग है। "अति उतंग जलनिधि चहुँपासा।"—यह जल-दुर्ग है। "तहाँ जाइ देखी बन सोभा।"—यह वृक्ष-दुर्ग है। "गज बाजि खच्चर…"—यह नर-दुर्ग है। किले के भीतर जल का होना कहा गया है ; यथा—"बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।" पर किले से बाहर जलाशय का होना नहीं कहा गया। यही धन्व-दुर्ग है। धन्वा, (सं० धन्वन्) निर्जल देश (रेगिस्तान आदि) को कहते हैं। "कनक कोट बिचित्र …"—यह मही-दुर्ग है। ये छः दुर्ग कहे गये हैं, ये छहो दुर्ग मनुस्मृति में कहे गये हैं; यथा—"धन्व-दुर्गं मही-दुर्गं अब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥" ये ही छः भेद महाभारत (युधिष्ठिर-भीष्म संवाद) एवं अग्निपुराण में भी कहे गये हैं।

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर-नाग-सुर-गंधर्ब-कन्या-रूप मुनि-मन मोहहीं।
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥

अर्थ—वन, बाग, उपवन (कृत्रिम वन, क्रीड़ा-वन), फुलवाड़ी, तालाब, कुँए और बावलियाँ (ये सभी) शोभा दे रहे हैं। नर, नाग, सुर और गंधर्वों की कन्याएँ अपने सौन्दर्य से मुनियों के मन को मोहित कर रही हैं॥ कहीं-कहीं पर्वत के समान विशाल शरीरवाले पहलवान् अत्यन्त बलपूर्वक गरज रहे हैं। *वे अनेक अखाड़ों में एक-दूसरे से भिड़ते (लड़ते) और एक दूसरे को ललकारते हैं॥*

विशेष—(१) 'बन बाग उपबन बाटिका…'—वन; यथा—"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥" (उ० दो० २२); 'बाग'; यथा—"भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई॥" (बा० दो० २२६); 'उपवन'; यथा—"सुंदर उपवन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये॥" (उ० दो० ३१); 'बाटिका'; यथा—"सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिधि भाँति करि जतन बनाई॥" (उ० दो० २७)।

इनमें वाटिका फूलती है, बाग फलता है और वन पल्लवित होता है ; यथा—"सुमन बाटिका बाग बन, बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास॥" (बा० दो० २११); पहले वन तब बाग फिर आगे वाटिका है। इन सबके मध्य में जलाशय होते हैं, तभी ये शोभा पाते हैं और जलाशय भी इन्हीं से शोभा पाते हैं ; यथा—"मध्य बाग सर सोह सुहावा।" (बा० दो० २२६); इसी से इनके साथ-ही-साथ 'सर कूप बापी सोहहीं' यह भी कहा गया है।

यह सब नगर के बाहर की शोभा है ; यथा—"पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर …बन उपबन बाटिका तड़ागा॥" (उ० दो० २८); सायंकाल में, कुछ दिन रहते श्रीहनुमान्‌जी यहाँ पहुँचे हैं, इसी से नर, नाग आदि की कन्याओं का वाटिका आदि में क्रीड़ा के लिये आना कहा गया है।

(२) 'नर-नाग-सुर-गंधर्ब-कन्या…'—ये सब तीनों लोकों की सुन्दरियाँ हैं, जिन्हें रावण हर कर लाया था ; यथा—"देव-जच्छ-गंधर्ब-नर, किन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदर

बर नारि ॥" (बा० दो० १४२); 'रूप मुनि मन मोहहीं'— अर्थात् इनके रूप देखकर मुनियों के ज्ञान-वैराग्य छूट जाते हैं, उससे मोह होता है; यथा—"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥" (बा० दो० ११८)। मुनियों के मन का मुग्ध होना कहने से उनके रूप की बड़ाई की।

अभी सब शोभा युक्त वस्तुओं का ही वर्णन किया गया है, इसीसे शोभा सूचक 'परम प्रकाश' 'सुंदर', 'चारु', 'सोहहीं', 'मोहहीं' आदि शब्द दिये गये हैं। राक्षस-राक्षसी और उनकी सेनाएँ तो भयानक कहे ही जायँगे; यथा—"गज-बाजि-खच्चर'''बहु रूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै।" तथा—"कहुँ माल'''" से "निसाचर भच्छहीं।" तक।

(३) 'कहुँ माल'—हजारों में कोई एक पहलवान् होता है, इसी से इनके लिये 'कहुँ' कहा गया है। 'देह बिसाल सैल समान'—पहले कहा गया कि 'सैल बिसाल' पर श्रीहनुमान्‌जी निर्भय चढ़े, वैसे इनपर भी चढ़ेंगे, यहाँ यह भी ध्वनित है कि जैसे ये विशाल देहवाले हैं, वैसे ही इन्हें 'अति बल' भी है, इसी से अत्यन्त बल-पूर्वक गरजते हैं। 'नाना अखारन्ह'—नगर की चारों दिशाओं में रक्षक हैं और प्रत्येक दिशा में अखाड़े हैं। 'बहु बिधि'—अनेक दाँव-पेंच से। एक-एक को डाँटते हैं। यह मल्लों की रीति है; यथा—"गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि बिकट भट अति हरषाहीं ॥" (बा० दो० १०)।

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।
येहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही ॥

अर्थ—भयंकर शरीरवाले करोड़ों योद्धा यत्न करके चारों दिशाओं में नगर की रक्षा करते हैं। कहीं भैंसा, कहीं मनुष्य, गाय, गधा और कहीं बकरा, दुष्ट राक्षस लोग खा रहे हैं॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी कथा इसलिये कुछ थोड़ी-सी कही कि ये श्रीरघुवीरजी के बाण-रूपी तीर्थ में शरीर छोड़कर मोक्ष पायेंगे—यह निश्चय है ॥

विशेष—(१) 'करि जतन भट कोटिन्ह'''—पहले चतुरंगिनी सेना, मल्ल और यहाँ भट भी कहकर तब 'रच्छहीं' कहते हैं। अर्थात् पहले चतुरंगिनी सेना रक्षा करती है, फिर मल्ल हैं और फिर भट हैं, ये उत्तरोत्तर अधिक बली भी हैं। 'करि जतन'—यत्न यह कि कोई आकाश में रहकर गुप्त-रूप से देखा करते हैं, तो कोई भूमि में ही गुप्त-रूप से देखा करते हैं। चतुरंगिनी सेना व्यूह रचना करके रक्षा में उद्यत है। पूर्व दस हजार, दक्षिण एक लाख, पश्चिम दस लाख और उत्तर द्वार पर सौ करोड़ भट रक्षा के लिये नियत हैं—ऐसा श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है, और उसी को श्रीगोस्वामीजी ने एक 'कोटिन्ह' शब्द से ही लक्ष्य करा दिया। 'चहुँ दिसि'—यह एक दिशा का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा ही सब दिशाओं में जानना चाहिये। जैसे पहले 'गर्जहीं' के साथ 'तर्जहीं' कहा गया है; अर्थात् गरज कर डाँटने से अधिक भय उत्पन्न करते हैं। वैसे यहाँ 'रच्छहीं' के साथ 'भच्छहीं' कहकर जनाते हैं कि स्वामी का कार्य करके भक्षण करते हैं। भक्षण का भाव यह कि वैसे ही जीते महिष-मानुष आदि को खा जाते हैं। इसी से ये 'खल' कहे गये हैं। यदि मारकर मांस खाते तो मांस खाना लिखा जाता।

यहाँ राक्षसों के आहार सामान्य रूप से कहे गये हैं। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'कहुँ' शब्द जैसे मल्लों के साथ है, वैसे यहाँ भी है। इसी से बताया कि वे सभी तरह अखाड़ों में कसरत करके महिष आदि का भक्षण करते हैं, जैसे प्रायः पहलवान लोग कसरत के पीछे दूध कलेजी आदि खाते हैं।

(२) 'येहि लागि तुलसीदास···'—'येहि लागि'—पापियों के चरित को नहीं कहना ही भला है। पर मैंने (श्रीगोस्वामीजी ने) जो कुछ कहा है, उसका कारण यही है कि इन्हें श्रीरामजी संग्राम में मारकर मुक्त करेंगे। इनसे और श्रीरामजी से इतना नाता है। सभी का वध करेंगे, इसी से श्रीरामजी 'रघुबीर' कहे गये हैं। 'कछु एक'—कोट, पुर, चतुरंगिणी सेना, निशाचर यूथ सेना, वनादि की शोभा, तीनों लोकों की सुंदरियाँ, मल्ल, मल्लों की कसरत, नगर की रक्षा और राक्षसों के भक्ष्य, ये दसो बातें एक ही-एक पंक्ति में कही गई हैं। और अंतिम चरण में राक्षसों की मुक्ति का निश्चय भी लिखा गया है। 'सही'—जैसे तीर्थ में मरने से मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है, वैसे ही श्रीरामजी के बाणों से मरने पर अवश्य मुक्ति होती है; यथा—"तो मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥" (आ॰ दो॰ २२); यह रावण की प्रतिज्ञा है और श्रीरामजी ने भी राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की है—"निसिचर हीन करउँ महि···" (आ॰ दो॰ ९); अतएव राक्षसों की अवश्य मुक्ति होगी।

अन्यत्र नगर-वर्णन में 'देव-मंदिर' कहे गये हैं, 'पर यहाँ नहीं'; क्योंकि देवता लोग तो यहाँ बंदीखाने में पड़े हैं, तो उन्हें पूजेगा कौन ?

लंका में प्रायः सभी बातें अद्भुत हैं, इसी से उन्हें कई जगह 'विचित्र', 'बरनि न जाइ', और 'अति' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

"लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा"—प्रकरण

दोहा—पुर रखवारे देखि बहु, कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरउँ निसि, नगर करउँ पइसार ॥३॥

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥१॥

शब्दार्थ—पइसार (पदसरण)=प्रवेश। मसक=मच्छड़।

अर्थ—नगर में बहुत-से रक्षक देखकर कपि श्रीहनुमान्‌जी ने अपने मन में विचार किया कि अत्यन्त छोटा रूप धारण करूँ और रात में ही नगर में प्रवेश करूँ॥३॥ कपि श्रीहनुमान्‌जी मशक (मच्छड़) के समान रूप धारण करके नृसिंहजी का स्मरण कर लंका को चले ॥१॥

विशेष—(१) 'पुर रखवारे देखि बहु···'—बहुत-से रखवाले ऊपर कहे गये हैं; यथा—"करि जतन भट कोटिन्ह ··" रखवालों से इन्हें डर नहीं है; यथा—"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।" (दो॰ १६), आगे इन्होंने स्वयं हठ करके उनसे युद्ध किया है। विचार इसलिये कर रहे हैं कि अब तक राम-कार्य न हो जाय, राक्षसों से लड़ना ठीक नहीं। पहले श्रीसीताजी का हाल जानना है कि उनकी जीवन-वृत्ति कैसी है ? स्वामी की आज्ञा है; यथा—"देखि दुर्ग, बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ।"

(गो॰ सुं॰ ४); यह बात गुप्त-रूप से ही ठीक होगी। आगे पर श्रीरामजी ने पूछा भी है; यथा—"कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की ॥" (दो॰ २९)।

'अति लघु रूप धरउँ'—विशाल रूप से नगर में घुसने से निर्वाह कठिन होगा, लघु रूप से भी न छिप सकेंगे, अतएव श्रीहनुमान्‌जी ने 'अति लघु रूप' का निश्चय किया। 'निसि नगर करउँ पइसार'—अति लघु रूप से भी दिन में प्रवेश करना कठिन है, अतएव रात में ही पैठने का निश्चय किया कि कोई देख न पावे।

'पइसार' शब्द का ठीक रूप 'पैठार' है, पर श्रीगोस्वामीजी ने बदल दिया है, क्योंकि चरित-नायक (श्रीहनुमान्‌जी) ने भी अपनी स्मरण रीति बदल दी है। जो 'नर हरि' का स्मरण करने में स्पष्ट है। काल बदला—दिन में पहुँचे और स्वयं दिनचारी हैं, फिर भी रात में पैठने का निश्चय किया। रूप बदला—मशक (मच्छड़) समान हुए। अतएव ग्रन्थकार ने भी अपना शब्द बदल दिया। 'ठ' की जगह 'स' कर दिया। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी के अति लघु रूप धरने और रात में प्रवेश करने से रक्षकों की परम सावधानी दिखाई गई है।

(३) 'मसक समान रूप कपि ...'—'मसक'-रूप छोटे रूप की अन्तिम सीमा है; यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता।" (उ॰ दो॰ ९०); यह रात में दिखलाई भी नहीं पड़ता, इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने इतना छोटा रूप धारण किया। रूप तो कपि का ही रहा, पर मच्छड़ के समान छोटे हो गये; यथा—"सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।" (वाल्मी॰ ५।२।४९); 'समान' शब्द से जनाया गया है कि मच्छड़ ही नहीं बन गये, किन्तु मच्छड़ के बराबर छोटे हो गये।

शंका—तब उन्होंने अँगूठी कहाँ रक्खी थी ?

समाधान—कपि के रूप के अनुसार अँगूठी भी छोटी हो गई; यथा—"बड़ो गहे ते होत बड़, ज्यों बामन कर दंड। श्रीप्रभु के सँग सों बढ्यो, गयो अखिल ब्रह्मंड ॥" (दोहावली ५२१); यह अँगूठी प्रभु का भूषण है, इससे चिद्रूप है, प्रभु के अंग-संगवाले अस्त्र-शस्त्र, भूषण-वस्त्र सभी दिव्य एवं चिद्रूप होते हैं। इस अँगूठी ने श्रीजानकीजी से बातें की हैं; यथा—"बोलि, बलि मूँदरी ! सानुज कुसल कोसल पाल। ...कियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ " (गीता सुं॰ ४)। तब उसका सूक्ष्म हो जाना कोई आश्चर्य-जनक नहीं है। पहले—"गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी।" पर से प्रसंग छोड़ा था, उसे ही यहाँ—"लंकहि चलेउ ..." से मिलाया। 'सुमिरि नर हरी'—नृसिंहजी को स्मरण करने के भाव—(क) प्रह्लादजी राम-नाम के जापक थे, उसी जप से श्रीरामजी नृसिंह-रूप से प्रकट हुए थे। अतएव इनमें-उनमें कोई भेद नहीं है; यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी ॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ॥" (लं॰ दो॰ १०८); आकृति-मात्र का भेद है। उस रूप का स्मरण भी साभिप्राय है, नृसिंह-रूप से श्रीरामजी भय-हरण करते हैं; यथा—"सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के।" (गी॰बा॰ १२)। यहाँ भयंकर राक्षसों के बीच प्रवेश करना है। अन्यत्र भी भयहरण प्रसंग में यही विशेषण कहा गया है; यथा—"पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन।" (बा॰ दो॰ २०८); "पुरुष सिंह बन खेलन आये ॥ ...जिन्ह कर सुभयश पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन।" (आ॰ दो॰ ९१)। यहाँ मार्ग-भय-हरण के लिये स्मरण किया गया है (ख) लंका में निशाचरों को मारना, उनके गाल फाड़ना, मुँह तोड़ना और आँतें निकालना है। अतः, उसके योग्य नृसिंह-रूप का स्मरण किया, क्योंकि इन्हें रुधिर आदि से घृणा नहीं है; यथा—"धरि गाल

करहिं उर बिदारहिं गत पठावहिं मेलहीं। प्रह्लाद-पति जनु बिबिध तनु धरि समर अंगन खेलहीं॥" (लं० दो० ८०)। (ग) यह भी सुना जाता है कि जब रावण सब वरदान पा चुका, तब सहसा उसके मन में एक शंका उठी कि कहीं हिरण्यकशिपु की भाँति मैं नृसिंह भगवान् ही से न मारा जाऊँ, क्योंकि वे मेरे पाये हुए वरदान से बाहर हैं। तब, उसने वेद-मंत्रों से नृसिंह भगवान् को आराधन कर वश करना चाहा। वे अपने सहज भयंकर रूप से प्रकट हुए, जिन्हें भय से रावण देख भी न सका। तब वह घबराकर श्रीविभीषणजी से उनकी पूजा करने को कहा, क्योंकि देवता पूजा न पाने से तत्क्षण लंका का नाश कर डालते। श्रीविभीषणजी ने वैष्णव रीति की सामग्री स्वीकार कराकर भगवान् की पूजा की और वे ही भगवान् नरहरि-रूप से वहाँ विराजमान हुए, हरि-मन्दिर, तुलसीवाटिका आदि इसी सम्बन्ध से लंका में रह पाये और श्रीविभीषणजी को स्वधर्माचरण का सुन्दर योग लग गया।

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥२॥
जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥३॥
मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥४॥

अर्थ—एक राक्षसी लंकिनी नाम की (लंका की रक्षा में तत्पर) थी। उसने कहा कि मेरा निरादर करके (कहाँ) चला जा रहा है? ॥२॥ अरे शठ! तू मेरा मर्म (भेद, स्वभाव) नहीं जानता कि जहाँ तक (लंका में आनेवाले) चोर हैं, वे मेरे आहार हैं॥३॥ महाकपि श्रीहनुमान्जी ने उसे एक मुष्टिका (घूँसा) मारी, जिससे वह खून उगलती हुई पृथिवी पर लुढ़क पड़ी॥४॥

विशेष—(१) 'नाम लंकिनी'—यह स्वयं लंकापुरी है। निसिचरी'—राक्षसी-रूप में है; यथा—"पुनि संभारि उठी सो लंका।" आगे कहा गया है। "अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवंगम। सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया॥" (वाल्मी० ५।३।२८); इसने पुर में घुसते ही श्रीहनुमान्जी को रोका, इससे जाना गया कि यह लंका-द्वार पर ही बैठी हुई उसकी रक्षा करती थी। रक्षक के बिना पूछे प्रवेश करना उसका निरादर करना है। श्रीहनुमान्जी ने न पुरी की पूजा की और न उसे प्रणाम ही किया, यों ही घुस पड़े, इसी से वह कहती है कि क्या तुझे मेरा डर नहीं है?

समुद्र-लंघन-रहस्य

श्रीहनुमान्जी को समुद्र-लंघन में नभ की, जल की और स्थल निवासिनी तीन स्त्रियाँ ही बाधक हुईं, और इन्होंने उन तीनों को जीता, तब लंका में प्रवेश कर श्रीसीताजी की खोज में प्रवृत्त हुए। ऐसे ही परमार्थ पक्ष में प्रबल वैराग्यवान् होकर पहले रसना को जीतना चाहिये। रसना के देवता जलाधिपति वरुण हैं, इससे इसका जीतना समुद्र-लंघन के समान है। रसना ही आहार देकर सब इन्द्रियों के सहित देह से प्रमाद कराती है, इसी से इसके जीतने के साथ-ही-साथ देहाभिमान भी जीता जाता है। देहाभिमान को सागर कहा भी गया है; यथा—"कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर···प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय···" (वि० ५८); रसना जीतने में तीनों गुणों के सम्बन्धी तीन प्रकार के आहार कहे गये हैं। गीता १७।८–१० देखिये। देहाभिमान जीतनेवाले विरक्त को प्रथम रामनामांकित-मुद्रिका-रूप राम मंत्रोपदेश राम-रूप-गुरु से प्राप्त करना चाहिये। जैसे श्रीहनुमान्जी को मुद्रिकांकित राम-नाम के अर्थ-रूप सातों काण्ड

के चरित चन्द्रमा मुनि और जाम्बवान्-द्वारा प्राप्त हुए, वैसे ही मुमुक्षु भी गुरुमुख से मंत्रार्थ श्रवण करे। जैसे उसके बाद वे समुद्र-लंघन में तत्पर हुए, वैसे ही यह भी देहाभिमान जीतने में लगे। जैसे वहाँ पहले इन्हें सुरसा मिली, वैसे ही इसे भी विद्या रूपा सात्त्विकी माया का सामना करना पड़ता है। सात्त्विक आहार-सहित इसे विद्या पढ़ना एवं सत्संग करना चाहिये। जिस प्रकार सुरसा का मुँह बढ़ने लगा, उसी प्रकार इसे भी विद्या का अपेक्षा बढ़ती ही जाती है। जैसे सुरसा का मुख सौ योजन का हो गया वैसे विद्या का भी विस्तार अनंत है। अतः, यह दीनता-रूपी लघु-रूप से विद्या के हृदय का तत्त्व ब्रह्म-विद्या को जान उससे पृथक् हो जाय और साधन के लिये उद्यत हो, तब वह विद्या सुरसा को तरह आशिष देती है। फिर तमोगुणी माया का सामना करना पड़ता है। जल में सिंहिका रहती थी, उसने श्रीहनुमान्‌जी की छाया को खींचकर इनका गति-रोध किया। वैसे तामसाहंकार से शब्दादि विषय होते हैं, वे खार जल-रूप हैं; यथा—"विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि० १०२)। विषय-संबंध से राग द्वेष आदि मुमुक्षु का गति-रोध करते हैं। अत', यह इन्हें नाश ही करने का प्रयत्न करे। पुनः श्रीहनुमान्‌जी को आगे स्थल पर लंकिनी मिली। वैसे ही इसे भी रजोगुणी माया का सामना करना पड़ता है। इसका विकार देह-पोषण करना है। इस माया को प्रथम तो व्रतोपवास आदि से वश में करे, जिस प्रकार एक मुष्टिका मारकर श्रीहनुमान्‌जी ने लंकिनी को अधीन किया है। तब लंकिनी राम-कार्य में सहायक हुई, वैसे ही स्वाधीन इन्द्रियों के साथ देह भी परमार्थ साधन में सहाय होती है।

तात्पर्य यह कि सुरसा रूपी सत्त्वगुणी माया से मिलकर चलना अर्थात् सत्त्ववृत्ति रखनी चाहिये। सिंहिका-रूपी तमोगुणी माया; अर्थात् राग-द्वेषादि को नाश करना चाहिये और रजोगुणी माया-रूपी देह-पोषकता को निर्वाह-मात्र के लिये रखना चाहिये। तब भक्ति महारानी एवं ब्रह्म विद्या की प्राप्ति होती है।

(२) 'जानेहि नहीं मरम···'—श्रीहनुमान्‌जी की निर्भीकता देखकर कहती है कि क्या तू मेरा मर्म नहीं जानता, यथा—"निर्भय चलेसि न जानेहि मोही।" (मा० दो० २४), मर्म न जानना निरादर का कारण है। अतः, न जानने पर शठ कहा। अपना मर्म वह स्वयं कहती है; यथा—"मोर अहार जहाँ लगि चोरा।" 'जहाँ लगि' अर्थात् जितने में मेरा (लंका का) विस्तार है। वहाँ तक के चोरों को ही मैं खाती हूँ, अर्थात् वे मुझसे छूटकर नहीं जा पाते।

(३) 'मुठिका एक महा कपि हनी। ···'—इसे श्रीहनुमान्‌जी ने मुष्टिका मारी, क्योंकि—(क) इसने चोर को पहचाना और उससे बातें कीं। जो चोर को पहचानता है और उससे बातें करता है, चोर उसे मारता ही है; यथा—"चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी-सो कथा सुनि···" (वि० ११४); (ख) यह राम-कार्य में बाधक हुई। अतः, राक्षसी है। कहीं यह सचेत रहो, और औरों को मेरा आना जना देगी, तो अभीष्ट कार्य में विघ्न होगा। 'महाकपि'—लंकिनी के समक्ष पूर्ववत् पर्वताकार हो गये। इसी से आगे फिर लघु रूप का होना कहा गया है; यथा—"अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।" इससे यह भी जाना गया कि लंकिनी का रूप भारी था। इसी से इन्हें भी भारी ही होना पड़ा।

श्रीहनुमान्‌जी के घूँसे से मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण भी मूर्च्छित हो गये हैं, क्रमशः प्रमाण—"मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥" (दो० १८); "तब मारुतसुत मुठिका हन्यो। पर्‌यो धरनि व्याकुल सिर धुन्यो॥" (लं० दो० ६५), "मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥" (लं० दो० ८२)। पर यह मूर्च्छित नहीं हुई। इससे जाना गया कि वैसा घूँसा इसे नहीं लगा—"जो जानकर बायें हाथ के मुक्के से मारा और अत्यन्त क्रोध से भी नहीं मारा।"

(वाल्मी० ५।३।१०-४१); इसपर घूँसे से भी विह्वल होकर इस राक्षसी ने कई डुनमुनियाँ खाईं, पर तुरत सचेत हो गई और उसे ब्रह्मा का वरदान याद आ गया।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका ॥५॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥६॥
बिकल होसि तैं कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संहारे ॥७॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता ॥८॥

अर्थ—फिर वह लंका अपनेको सँभालकर उठी और डरती हुई हाथ जोड़कर विनती करने लगी ॥५॥ कि ब्रह्माजी ने रावण को वर दिया था, तब चलते समय विरंचि (ब्रह्माजी) ने मुझसे (निशाचर-नाश का) यह चिह्न बतलाया था ॥६॥ कि जब तू कपि के मारने पर व्याकुल होगी, तब जान लेना कि निशाचरों का नाश होना है (और धर्मात्मा राजा होगा) ॥७॥ हे तात ! मेरा बड़ा भारी पुन्य (उदय हुआ) है कि मैंने श्रीरामजी के दूत को आँखों से देखा ॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि संभारि उठी···'—'संभारि' से व्याकुल होना दिखलाया, जो आगे स्पष्ट है ; यथा—"बिकल होसि तैं कपि के मारे। 'सो लंका'—श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम इसे 'एक निसिचरी' कहा था, क्योंकि यह स्वयं अपनेको छिपाये हुए थी। अब यह अपनेको प्रकट करने लगी, तब आपने स्पष्ट कह दिया कि 'सो लंका' अर्थात् वही लंका नगरी है। यह मन, वचन और कर्म से नम्र हुई—'ससंका' —मन, 'जोरि पानि'—कर्म और 'कर विनय' यह वचन है। सशंक है कि कहीं फिर न मारें। क्योंकि इसने उन्हें चोर कहा था, और उसके बदले में मारी गई। शठ भी कहा था, उसका बदला अभी शेष है।

(२) 'चलत बिरंचि कहा···'—वाल्मी० ५।३।४६-५१ में लंकिनी ने कहा है कि स्वयं ब्रह्माजी ने मुझे वर दिया था कि कोई वानर जब पराक्रम से तुम्हें जीत ले, तब समझ लेना कि निशाचरों पर विपत्ति आ गई। वह समय आ गया, श्रीसीताजी के कारण रावण का नाश होगा। तुम नगरी में प्रवेश करो और जो काम चाहते हो, करो। इस शापहत पुरी में पैठकर श्रीसीताजी को खोजो।

अग्निपुराण में यह भी कहा है कि जब ब्रह्मा ने रावण को ५ करोड़ वर्ष राज्य करने को कहा तब इसने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि मुझे दुष्टों का संग कब तक भोगना होगा, कभी धर्मात्मा का भी राज्य होगा या नहीं ? इसपर ब्रह्माजी ने उससे भी उपर्युक्त बातें कहीं और यह भी कहा कि पीछे धर्मात्मा का राज्य होगा।

ब्रह्मा का विधान कहकर अपनी सफाई भी दी कि मेरा दोष नहीं, होनी ही ऐसी थी; यथा— "स्वयंभूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ॥" (वाल्मी० ५।३।४६)।

(३) 'मोर अति पुन्य बहूता'—राम-भक्त के दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं ; यथा—"पुन्य पुंज बिन मिलहि न संता। (उ० दो० ४४)। 'देखेउँ नयन'—आपको संत लोग ध्यान से देखते हैं, वही आप मेरी आँखों के सामने हैं; यथा—"देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज।" (दो० ४७); 'राम कर दूता'—से सिद्ध होता है कि इससे ब्रह्माजी ने संक्षेप में रामायण भी कही थी, जैसे चन्द्रमा मुनि ने संपाती से कही थी। नहीं तो "बिकल होसि तैं कपि के मारे।···" मात्र में इनका रामदूतत्व आदि वह कैसे जानती ? 'तात' शब्द यहाँ श्रेष्ठतापरक है।

दोहा—तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥४॥

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर-राजा ॥१॥

अर्थ—हे तात! स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को तराजू के एक पलरे में रखिये और लव-मात्र सत्संग-सुख को दूसरे पलरे में रखिये, तो (वे) सब (स्वर्ग और अपवर्ग) सुख मिलकर भी उस सुख के बराबर नहीं हो सकते, जो लव-मात्र के सत्संग से होता है ॥४॥ कोशलपुर के राजा श्रीरामजी को हृदय में रखकर नगर में प्रवेश करके सब कार्य कीजिये ॥१॥

विशेष—(१) 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख…'—संसार के सभी सुखों से स्वर्ग का सुख अधिक है और स्वर्ग-सुख से भी मोक्ष का सुख अधिक है। परन्तु उनसबों से सत्संग का सुख अधिक है। सकाम कर्म का फल स्वर्ग-सुख है; यथा—"कामात्मानः स्वर्गपरा…" (गीता २।४३); ज्ञान का फल मोक्ष है; यथा—"ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना।" (आ० दो० १५); और उपासना का फल सत्संग है; यथा—"मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० १९९); "जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये॥" (वि० १३६); कहीं-कहीं भक्ति का प्रथम अंग ही सत्संग कहा गया है; यथा—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा॥" (आ० दो० ३४); तात्पर्य यह है कि सामान्य संतों का संग साधन है और विशेष संतों का संग होना भक्ति का फल है।

शंका—सत्संग का फल अपवर्ग कहा गया है; यथा—"संत संग अपवर्ग कर" (उ० दो० ३३); तब यहाँ इसे अपवर्ग से भी अधिक क्यों कहा गया?

समाधान—यहाँ तात्कालिक फल की अपेक्षा से विशेष कहा गया है; यथा—"मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥" (बा० दो० २); अर्थात् सत्संग से तुरत ही जीवन्मुक्ति-दशा आ जाती है और साधनों से मरने पर वह फल मिलता है। यहाँ अन्य साधनों से प्राप्य अपवर्ग का प्रसंग जानना चाहिये।

शंका—यहाँ तो लंकिनी ने श्रीहनुमान्‌जी को शठ और चोर कहा और उन्होंने इसे घूँसा मारा। इसमें सत्संग का कौन रहस्य?

समाधान—यहाँ दर्शन और स्पर्श का प्रभाव है; यथा—"सत्संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥" (उ० दो० १२२); यहाँ निमिष भर का सत्संग तो दर्शन ही हो सकेंगे। 'जो सुख लव सतसंग'; यथा—"संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।" (उ० दो० १२२)।

यहाँ भी घड़ी मात्र के सत्संग से ही लंकिनी तामसी वृत्ति को छोड़कर सात्त्विक वृत्तिवाली हो गई। कहा भी है—"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥" (भाग० ३।१८।१३)।

(२) 'प्रबिसि नगर कीजे…'—भाव यह है कि तुम्हारे इस अति लघु रूप से मैं ही परिचित हो सकी हूँ, दूसरा नहीं जान सकता। अतः, निर्भय होकर प्रवेश करके सब कार्य करो। 'सब काजा'—

ब्रह्माजी ने सूक्ष्म रीति से चरित कहा था, उसी से यह जानती है कि ये श्रीसीताजी का शोध, अशोक वाटिका का उजाड़ना और बहुत-से राक्षसों का वध आदि कई कार्य करेंगे।

(३) 'हृदय राखि कोसलपुर राजा।'—यह कार्य-सिद्धि होने के उपाय बतला रही है; क्योंकि लंका में प्रवेश करना कठिन है; यथा—"नहि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं सुरैरपि॥" (वाल्मी० ५।२।२५); इसी से बार-बार हरि-स्मरण करना कहा जाता है; यथा—"लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।" (दो० १); आगे भी—"पैठा नगर सुमिरि भगवाना।" कहा गया है। तथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु॥" (दो० १७); इत्यादि। 'कोसलपुर राजा'—स्मरण से श्रीरामजी वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे कोशलपुर की रक्षा करते हैं। पुनः इनके आश्रित होकर जो राक्षस-वध, लंकादहन आदि करोगे, उसमें तुम्हें कोई दोष न देगा; यथा—"प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हें सब छाजा॥" (बा० दो० ११); पुनः इस स्मरण से लंका का ऐश्वर्य देखकर श्रीहनुमान्‌जी को मोह न होगा, क्योंकि कोशलपुर का ऐश्वर्य लंका की अपेक्षा बहुत अधिक है।

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥२॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥३॥

अर्थ—हे गरुड़! जिसको रामजी ने कृपा-दृष्टि से देखा, उसके लिये विष अमृत हो जाता है, उससे शत्रु मित्रता करता है, उसके लिये समुद्र गोपद के समान हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती हैं और सुमेरुपर्वत धूल के समान हो जाता है॥२-३॥

विशेष—'राम कृपा करि···'; यथा—"सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥" (बा० दो० ३८); यहाँ विरोधी पदार्थों का अनुकूल होना कहकर राम-कृपा की महिमा कही गई। 'जाही' अर्थात् कोई भी हो, वही ऐसा हो जाय। इसका ठीक विपर्यय भी कहा गया है, यथा—"मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरि जाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥" (अ० दो० १); इन दोनों स्थानों में तथा अन्यत्र भी नीति के प्रसंग में प्रायः भुशुंडीजी की ही उक्ति रहती है, क्योंकि इन्होंने गुरुजी से नीति सीखी है; यथा—"एक बार गुरु लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥" (उ० दो० १०५)।

यहाँ पाँच बातों का विपर्यय होना कहा गया है, ये सब हनुमान्‌जी में ही चरितार्थ हैं—(१) 'गरल सुधा'—सुरसा सर्पों की माता होने से गरलमय है, वह इन्हें ग्रास करने को आई थी, यथा—"आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।" और वही राम-कृपा से फिर आशिष देनेवाली हो गई; यथा—"राम काज सब करिहहु···" (२) 'रिपु करइ मिताई'—लंकिनी शत्रु पुर की अधिष्ठात्री-देवी थी, पहले उसने शत्रुता की बातें कीं, यथा—"जानेहि नहीं मरम सठ मोरा···" फिर मित्रता की बात करने लगी; यथा-"प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।" (३) 'गोपद सिंधु', यथा—"बारिधि पार गयउ मति धीरा॥" (४) 'अनल सितलाई' यथा—"जरा न सो तेहि कारन गिरजा॥" (दो० २५); (५) 'सुमेरु रेनु सम'; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥" (दो० १); "सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥ गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ।" (लं० दो० ५८)।

उपर्युक्त (४)-(५) भविष्य के हैं। इनमें सुरसा और लंकिनी को एक साथ कहा गया है, समुद्र लाँघने

पर लंकिनी मिली थी। अत, 'गोपद सिंधु' की व्यवस्था पहले की है, पर क्रम-भंग किया गया है। इसका कारण यह है कि सुरसा और लंकिनी में समानता है—दोनों के नाम कहे गये; यथा—'सुरसा नाम'...' और 'नाम लंकिनी'; दोनों के आहार भी समान ही हैं; यथा—"आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।" और "मोर अहार लंक कर चोरा।", दोनों में देव-आज्ञा की भी समता है; यथा—"मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा।" और "चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा।"; दोनों ने राम-कार्य की अनुमति दी; यथा—"राम काज सब करिहहु···" और "प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।"; दोनों प्रसन्न हुईं, यथा—"आसिष देइ गई सो··" और "तात मोर अति पुन्य बहूता, देखेउँ···" इत्यादि।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥४॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥५॥

अर्थ—अत्यन्त छोटा रूप धरकर और भगवान् का स्मरण करके श्रीहनुमानजी ने नगर में प्रवेश किया ॥४॥ एक-एक करके सब मंदिरों को अच्छी तरह खोजा। जहाँ-तहाँ (या, जहाँ देखें तहाँ ही) अगणित योद्धा देखे ॥५॥

विशेष—(१) 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना'—पहले श्रीहनुमानजी ने मशक के समान अति-लघु रूप धारण किया था, फिर लंकिनी को मारने के समय उनका रूप विशाल हो गया और उस रूप को 'महाकपि' शब्द से व्यक्त किया गया। अब फिर पूर्ववत् मशक के समान हो गये। पहले जब वे लंका को चले थे, तब नृसिंहजी का स्मरण किया था, नगर के बाहर बहुत-से रक्षक थे और उनसे रक्षा पाने के लिये उस रूप का स्मरण उपयुक्त था, क्योंकि वह अवतार भक्त के रक्षा-के लिये ही हुआ। यहाँ भगवान् का स्मरण कहकर उनकी परैश्वर्य पूर्णता का ध्यान करते हैं कि लंका के ऐश्वर्य का मोह न हो जाय। या, लंका अति बंका दुर्ग है। अतः, उसमें प्रवेश पाने के लिये बार-बार नृसिंहजी का नाम स्मरण करते हैं।

(२) 'मंदिर-मंदिर प्रतिकरि सोधा।'—यद्यपि संपाती ने अशोकवाटिका में ही श्रीसीताजी का रक्खा जाना कहा था, तो भी मंदिर-मंदिर में खोजते हैं, इसके कारण ये हैं—(क) संपाती ने दिन की बात कही है, रात में सम्भवतः अशोकवाटिका में न रक्खी गई हों, महलों में हों; यथा—"मंदिर महँ न दीख बैदेही।" आगे कहा ही है। (ख) चोर की नीति है कि वह चोरी की वस्तु एक ही स्थान पर नहीं रखता। अतः, श्रीहनुमानजी नगर भर ढूँढ़ते हैं। (ग) अशोकवाटिका भी तो इन्हें अभी नहीं मालूम है, इसलिये सर्वत्र एक तरफ से ढूढ़ते हैं। श्रीरामजी ने यह कहा भी है, यथा—"देखि दुर्ग बिसेष जानकि जानि रिपु गति आव।" (गी० सुं० २)।

'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।'—जहाँ-तहाँ बहुत-से योद्धा ही दिखलाई पड़े, पर श्रीसीताजी न दिखाई पड़ीं। इन्होंने सभी योद्धाओं को देखा, पर इन्हें कोई भी न देख पाया। पहले जो योद्धा कहे गये हैं वे कोट के बाहर के थे; यथा—"करिजतन भट कोटिन्ह···" और ये योद्धा भीतर के हैं। अर्थात् ये भीतर के रक्षक हैं। मंदिरों में श्रीहनुमान्जी को और भी बहुत-सी वस्तुएँ दिखलाई पड़ीं, पर वे योद्धा हैं, इसी से योद्धाओं पर इनकी विशेष दृष्टि पड़ी, इसी लिये कहा गया।-

गयउ दसानन-मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥६॥
सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महँ न दीखि बैदेही ॥७॥

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥८॥

दोहा—रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नवतुलसिका बृंद तहँ, देखि हरप कपिराइ ॥५॥

अर्थ—वे रावण के मंदिर में गये, वह (जैसा) अत्यन्त विलक्षण सुन्दर था, वैसा कहा नहीं जा सकता ॥६॥ श्रीहनुमान्‌जी ने उसे सोते हुए देखा, पर उस महल में विदेह कुमारीजी को नहीं देखा ॥७॥ फिर एक और सुन्दर घर देखा, उसमें एक हरि मंदिर पृथक् बना हुआ था ॥८॥ वह घर श्रीरामजी के आयुध (धनुष-बाण) से अंकित था; अर्थात् उसपर धनुष बाण के चिह्न बने हुए थे, (इससे एवं और भी सर्वांगपूर्णता से) उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। वहाँ नवीन तुलसी के वृक्ष-समूह देखकर कपिराज श्रीहनुमान्‌जी हर्षित हुए ॥५॥

विशेष—(१) 'दसानन मंदिर'—जितने घर श्रीहनुमानजी ने देखे, उनके नाम नहीं जाने; पर इसके दस शिर देखकर समझे गये कि यही रावण है। इसी से गोस्वामीजी ने भी वैसा ही लिखा है। 'अति विचित्र'—पुर के और घर तो विचित्र हैं ही; यथा—"कनक कोट विचित्रमनिकृत···" (दो० ३) पर यह तो राज-महल है, इसी से 'अति विचित्र' है; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ विलास।" (लं० दो० १०)। वाल्मीकीय रामायण ५।४।२४-३० में विस्तार से कहा है, उसी को यहाँ 'अति विचित्र' से व्यक्त किया गया है।

(२) 'सयन किये देखा···'—अन्यत्र रक्षक का भी रहना कहा गया है, पर यह राजा का शयनागार है, इसी से यहाँ रक्षक नहीं हैं। यहाँ सीताजी का रहना संभव हो सकता था, पर वे यहाँ नहीं हैं। 'वैदेही' शब्द से ग्रंथकार श्रीहनुमान्‌जी का अनुमान करना प्रकट करते हैं कि श्रीजानकीजी रावण के भय से और रामवियोग में देह-रहित हो गई होंगी। इसमें यह भी भाव है कि उन्होंने और-और प्राकृत देहवाली देव-कन्याओं एवं मंदोदरी आदि को देखा; पर श्रीवैदेहीजी न दीख पड़ीं।

(३) 'भवन एक पुनि दीख सुहावा।···'—रावण के घर के समीप ही विभीषण का भी घर था, इसी से दोनों साथ ही कहे गये। स्नेह-वश रावण इन्हें अपने समीप ही रखता था। 'एक'—सात्त्विक साज से सजा घर लंका भर में यह एक ही था। 'हरि मंदिर तहँ···'—विभीषणजी ने ब्रह्माजी से निर्मल हरि-भक्ति माँगी थी। इसी से वह बिना हरि-मंदिर एवं भगवत्पूजा के नहीं रह सकता था। अतः, रावण भ्रातृस्नेह से अपने विरोधी आचरण को भी सहता था। वह यह जानता ही था कि ब्रह्मा का वचन अन्यथा नहीं हो सकता। इसका एक कारण ऊपर दो० ३ चौ० १ में भी कहा गया है। 'भिन्न बनावा'—भगवान् का मंदिर घर से कुछ पृथक् होना चाहिये। जिससे सूतक आदि दोषों से बचा रहे। पर इतना दूर भी न हो कि जहाँ दूर होने के कारण हर समय की सेवा-पूजा में पहुँचना कठिन जान पड़े।

(४) 'रामायुध अंकित गृह···'—श्रीविभीषणजी रामरूप के ही उपासक थे, इसी से रामायुध का चिन्ह भी रखते थे। 'नव तुलसिका'—वैष्णव संत हरि-मंदिर के पास तुलसी अवश्य ही लगाते हैं; यथा—"तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥" (अ० दो० २८)। यहाँ ही सात्त्विक साज देखा, इसी से 'सुहावा' कहा नहीं तो 'विचित्र' आदि शब्दों से ही कहते। यह इन्हें प्रिय लगा,

इसी से यहाँ हर्ष होना कहा है। 'कपिराई—का भाव मं० श्लोक के 'वानराणामधीशं' में देखिये। 'नवतुलसिका'—नवीन कोमल मंजरी सहित तुलसी पूजा में श्रेष्ठ है।

लंका निसिचर-निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥१॥
मन महुँ तरक करइ कपि लागा। तेहीं समय बिभीषन जागा ॥२॥
राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥३॥

अर्थ—लंका में निशाचर-समूह का निवास है, यहाँ सज्जन का निवास कहाँ? ॥१॥ श्रीहनुमान्‌जी मन में तर्क करने लगे, उसी समय श्रीविभीषणजी जागे ॥२॥ उन्होंने (श्रीविभीषणजी ने) 'राम-राम' उच्चारण किया, कपि श्रीहनुमान्‌जी ने उन्हें सज्जन जाना और हृदय में हर्षित हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'लंका निसिचर निकर…'—जहाँ एक भी दुष्ट होता है, वहाँ पर सज्जन का वास नहीं होता और यहाँ तो दुष्ट के समूह ही हैं, इनके बीच में एक सज्जन कैसे रह सकता है? यथा—"सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ॥" (उ० दो० ३८); "खल परिहरिय स्वान की नाईं॥" (उ० दो० १०५)।

(२) 'मन महुँ तरक…'—तर्क करने के कारण ये हैं कि दुष्टों के बीच में सज्जन रह नहीं सकता। यदि मानें कि यह सज्जन नहीं, दुष्ट ही होगा तो भी यह तर्क होता है कि यह सज्जन के साज—हरि मंदिर बनाना और उसे रामायुध से अंकित करना एवं तुलसी लगाना आदि—क्यों सजाता?

(३) 'तेही समय बिभीषन जागा।'—सज्जन प्रहर-भर रात रहे जागते हैं; यथा—"पछिले पहर भूप नित जागा। आज हमहिं बड़ अचरज लागा॥" (अ० दो० ३७), और इसी समय ब्रह्म-मुहूर्त्त में श्रीविभीषणजी भी जगे। इससे स्पष्ट है कि श्रीहनुमान्‌जी को खोजते हुए तीन पहर बीत गये। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि भक्त (हनुमान्‌जी) के तर्क-निराकरण के लिये ही श्रीरामजी ने इन्हें अपनी प्रेरणा से जगा दिया। जैसे—"सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये॥" (दो० ११) अर्थात् भक्त की रक्षा के लिये और शत्रु पुर-दहन के लिये भगवान् ने ही यह योग लगा दिया। वैसे यहाँ भी विभीषण का सद्भाव प्रकट करने के लिये—"तेही समय बिभीषन…"।

(४) 'राम राम तेहि…'—सज्जन जागने पर राम-नाम का स्मरण करते हैं; यथा—"राम-नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥" (बा० दो० ५८)। 'हृदय हरष'—यह दीपदेहली है। श्रीविभीषणजी ने हृदय से आह्लादपूर्वक (प्रेम से) राम-नाम का स्मरण किया, तब कपि को परम हर्ष हुआ। पहले बाहरी चिह्नों को देखकर जो तर्क उत्पन्न हुआ था, वह अब यहाँ हार्दिक प्रीति देखने से दूर हो गया; यथा—"कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥" (दो० १३)। ऊपर चिह्नों से अंतःकरण का चिह्न विशेष है। ऊपरी बातें बनावटी भी होती हैं, पर हृदय का भाव कभी नहीं छिप सकता। पहले ऊपरी चिह्न को देखकर सामान्य हर्ष ही हुआ था। अब भीतरी चिह्न पाने से विशेष हर्ष हुआ कि इनसे हमारा कार्य हो सकेगा। 'सज्जन चीन्हा'—उपर्युक्त भीतरी और बाहरी चिह्न ही सज्जनों के परिचायक हैं। इससे यह भी सूचित किया गया कि श्रीहनुमान्‌जी इसी तरह कपटी के पहचानने में भी निपुण हैं; यथा—"तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा।" (दो० २)।

एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज-हानी ॥४॥

विप्ररूप धरि बचन सुनाये। सुनत बिभीषन उठि तहँ आये ॥५॥
करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥६॥

अर्थ—इससे हठ करके जान-पहचान करूँगा, साधु से कार्य की हानि नहीं होती ॥४॥ यह विचार ब्राह्मण का रूप धारणकर वचन सुनाया, सुनते ही श्रीविभीषणजी उठकर वहाँ आये ॥५॥ और प्रणाम करके कुशल पूछी—हे विप्र! अपनी कथा समझाकर कहिये ॥६॥

विशेष—(१) '''हठि करिहउँ पहिचानी।'—ये साधु हैं, और साधु प्रायः किसी से जान-पहचान नहीं करते; यथा—"सदा रहहिं अपनपो दुराये। सब बिधि कुसल कुवेष बनाये॥" (बा० दो० १६०); पर मैं अपने कार्य के लिये हठ-पूर्वक (अर्थात् अपनी ओर से) जान-पहचान करूँगा। क्योंकि जैसे मैंने इन्हें पहचान लिया, वैसे ही यदि ये भी मुझे पहचान लें तो कार्य बन जाय, किन्तु अभी तो मैं सूक्ष्म (अप्रकट) रूप में हूँ, यदि प्रकट रूप में हो जाऊँ तो हानि होने की सम्भावना है, जैसा कि इसी ग्रन्थ में रुद्रगण और शुकसारन की हानि होना लिखा है। इसी पर कहते हैं—"साधु ते होइ न कारज हानी।" साधु तो पर-कार्य साधक होते हैं। ऊपर सज्जन कहा, उसे यहाँ साधु कहा। इस तरह दोनों को पर्यायवाचक जनाया।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी का यह संवाद नहीं है। पर आगे श्रीहनुमान्‌जी को वध-दंड से छुड़ाने के लिये श्रीविभीषणजी का रावण से पैरवी करना और लंकादहन के समय श्रीहनुमान्‌जी का श्रीविभीषणजी का घर बचा देना एवं शरण आने पर श्रीविभीषणजी को ग्रहण करने के लिये श्रीहनुमान्‌जी का प्रभु से पैरवी करना आदि देखने से इन दोनों की भेंट होना ही सिद्ध होता है। पुनः पूर्व-परिचय बिना एका-एक परम नीति निपुण श्रीविभीषणजी का श्रीरामजी की शरण में आना भी अस्वाभाविक है। यह संवाद श्रीविभीषण शरणागति का बीज है।

(२) 'बिप्ररूप धरि'' '—श्रीविभीषणजी को साधु जानकर भी विप्र-रूप धरने का प्रयोजन यह हुआ कि संत ब्राह्मणों से प्रेम करते हैं; यथा—"द्विज-पद-प्रीति धरम जनयत्री।'''ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥" (उ० दो० ३७)। श्रीहनुमान्‌जी अन्य रूपों के प्रसंग में प्रायः विप्र-रूप से ही मिलते हैं। जैसा कि श्रीरामजी से किष्किंधाकाण्ड में और श्रीभरतजी से उत्तरकाण्ड में मिले हैं। केवल श्रीजानकीजी के यहाँ ही विप्ररूप से नहीं मिले, क्योंकि रावण ने विप्र बनकर ही उनसे छल किया था। संभव था कि उन्हें अब उस रूप पर विश्वास न होता। ऐसी सँभाल करना श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धिमानी है। 'बचन सुनाये'—श्रीविभीषणजी ने राम-नाम का स्मरण किया था। अतः, यह उन्हें प्रिय लगेगा और इसे सुनकर मेरे पास आवेंगे। इस विचार से रामनामोच्चारण रूपी वचन ही सुनाना जान पड़ता है। इसी से सुनते ही उठकर आये, और उन्होंने कहा भी—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।" श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीविभीषणजी को सुनाने के लिये राम-नाम कहा, इसीसे सुनाना कहा गया है। श्रीविभीषणजी ने स्वयं प्रेम से स्मरण किया है। अतः, यहाँ 'सुमिरन' कहा गया है।

(३) 'करि प्रनाम''''—विप्र को लक्षणों से पहचान कर प्रणाम किया, फिर कुशल पूछी। यह शिष्टाचार है। 'बुझाई'—अर्थात् यहाँ 'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।' रहते हैं। इनके बीच में और रात्रि के अवसर पर आप यहाँ कुशलपूर्वक आये, यह आश्चर्य का विषय है। अतः, समझाकर अपनी कथा कहिये।

की तुम्ह हरि-दासन्ह महँ कोई । मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥७॥
की तुम्ह राम दीन-अनुरागी । आयहु मोहि करन बड़ भागी ॥८॥

दोहा—तब हनुमंत कही सब, राम-कथा निज नाम ।
सुनत युगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुन-ग्राम ॥६॥

अर्थ—क्या आप हरिभक्तों में से कोई हैं ? (क्योंकि) मेरे हृदय में (आपके प्रति) अत्यन्त प्रीति (स्वतः) हो रही है ॥७॥ या आप दीनों पर अनुराग रखनेवाले श्रीरामजी हैं, जो मुझे बड़ा भाग्यवान् बनाने आये हैं ॥८॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने सब राम-कथा और अपना नाम कहा, सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गये और श्रीरामजी के गुण समूह स्मरण कर दोनों के मन मग्न हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'हरि दासन्ह महँ कोई'—हरिदास नारदादि प्रायः सर्वत्र विचरा करते हैं। पुनः ऐसे ही समर्थ हरिदास यहाँ आ भी सकते हैं। इसी से 'कोई' यह सुरय-वाचक कहा है। अपने अनुमान को पुष्ट करते हैं; यथा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई"; एवं—"हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।" (दो० १३); यहाँ श्रीहनुमान्‌जी ब्राह्मण वेष में अर्थात् साधु हैं। इसी से इनपर स्वाभाविक प्रीति उमड़ रही है; यथा—"सहज विराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥···ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।" (बा० दो० २१५)। संत एवं विप्र में अति प्रीति होनी चाहिये; यथा—"प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। "संत चरन पंकज अति प्रेमा।···" (आ० दो० १५)।

(२) 'की तुम्ह राम दीन अनुरागी।'—पहले संत मिलते हैं। तब उनमें अति प्रीति होती है। और तब दीनता आती है, तब श्रीरामजी मिलते हैं—यह सूचित किया गया; यथा—"भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन॥" (वि० २०३); "नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥" (आ० दो० ७); 'राम दीन अनुरागी'; यथा—"दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति।" (वि० २१७)।

(३) 'तब हनुमंत कही सब···'—'तब' अब उन्होंने कहा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।"; यथा—"कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन राम चरित सब भाखा॥" (कि० दो० ४); श्रीविभीषणजी ने तो इनका परिचय पूछा था, पर इन्होंने रामकथा कही और उसी प्रसंग में अपना नाम भी कहा। 'सब रामकथा'—वन-गमन, सीता-हरण, सुग्रीव-मिताई और सीता-खोज की कथा सुनाई और उसी में अपना भी नाम कहा कि जो वानर लंका आया, वह मैं ही हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं पवन का पुत्र हूँ; यथा—"मारुत-सुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥"—(ह० दो० १)। रामकथा उन्होंने इसलिये कही कि मेरा प्रयोजन जानकर ये कुछ सहायता करें। 'सुनत जुगल तनु पुलक···'—श्रीरामचरित के कथन-श्रवण में पुलक होना ही चाहिये; यथा—"सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जो चरित रघुबंस राय।" (वि० ८३)। यहाँ दोनों की तन, मन, वचन से प्रेम-मग्नता है; यथा—'तनु पुलक', 'मनमगन' और 'हनुमंत कही सब राम-कथा'।

सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥१॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानु-कुल-नाथा ॥२॥

अर्थ—हे पवन-पुत्र ! हमारी रहनि (आचरण) सुनो, जैसे दाँतों के बीच में विचारी जिह्वा (रहती है, वैसे ही बच-बचकर इन दुष्टों में मैं रहता हूँ) ॥१॥ हे तात ! कभी मुझे अनाथ जानकर सूर्य-कुल के स्वामी श्रीरामजी कृपा करेंगे ? ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनहु पवन-सुत···'—अब श्रीविभीषणजी को सत्संग का सुख मिला, तब कुसंग के दुःख स्मरण कर वे कहने लगे। 'रहनि हमारी'—अभीतक श्रीविभीषणजी ने अपने लिये एक ही वचन का प्रयोग किया है; यथा—"मोरे हृदय प्रीति···"; "आयहु मोहि···", "कबहुँ मोहिं जानि···"; "अब मोहि भा भरोस···" इत्यादि पर यहाँ 'हमारी' यह बहुवचन कहा है। इसका भाव यह है कि मैं परिवार समेत दुखी हूँ, यही आगे श्रीरामजी भी पूछेंगे, यथा—"कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥" (दो० ४५)।

(२) 'जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी।'—दाँत यम रूप कहे गये हैं; यथा—"अधर लोभ जम दसन कराला।" (लं० दो० १४)। अतः, सूचित किया कि हमको यहाँ रहने में यम-यातना का-सा दुःख है। यही बात श्रीरामजी भी कहेंगे; यथा—"बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥" (दो० ४५)। जैसे जीभ और दाँत का सम्बन्ध विधाता का किया हुआ है। जीभ का वश नहीं कि दाँत से पृथक् हो सके। वैसे ही मेरा भी कुछ वश नहीं। इसी कुल में जन्म हुआ। अतः, इससे पृथक् जा नहीं सकता। जैसे अनेक दाँतों में जीभ अकेली है, वैसे ही बहुत-से राक्षसों में मैं भी अकेला ही हूँ। दाँतों के समूल उखड़ जाने पर भी जीवन पर्यन्त जीभ रहती है, वैसे ही दुष्ट राक्षसों के नाश हो जाने पर भी ब्रह्माड-स्थिति (कल्प) पर्यन्त ये भी रहेंगे।

(३) 'तात कबहुँ मोहि जानि··'—'जानि अनाथा' अनाथ पर श्रीरामजी कृपा करते ही हैं; यथा—"सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ परकर प्रीति जो।" (उ० दो० १२१)। श्रीविभीषणजी पर श्रीरामजी की कृपा है, पर यह इनका कार्पण्य है, यथा—"कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं ॥" (उ० दो० १)। 'भानु कुल नाथा'—सूर्य-कुलवाले सभी अनाथों पर कृपा करते आये हैं, और श्रीरामजी तो उस कुल के नाथ ही हैं, तो क्यों न कृपा करेंगे। जैसे भानु के उदय से तम का नाश होता है, वैसे ही श्रीरामजी के बाण-रूपी किरणों से तम-रूपी राक्षस नाश होंगे और हम सुखी होंगे; यथा—"राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधानकी ॥" (दो० १५)। आगे यह दिखाते हैं कि जिन बातों से श्रीरामजी मिलते हैं, वे मुझमें नहीं हैं, वे सुसंग से मिलते हैं, मेरा संग अच्छा नहीं है—

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद-सरोज मन माहीं ॥३॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥४॥
जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा ॥५॥

अर्थ—मेरा तामसी शरीर है, मुझ में कुछ साधन नहीं है और न मेरे मन में श्रीरामजी के चरण-कमलों में प्रीति ही है ॥३॥ हे हनुमान् ! अब मुझको विश्वास हुआ कि बिना भगवान् की कृपा के संत नहीं मिलते ॥४॥ अब रघुवीर ने कृपा की, तभी आपने मुझे हठ करके दर्शन दिये ॥५॥

विशेष—(१) 'तामस तनु कछु···'—'तामस तनु' का भाव यह है कि हम पापी हैं; यथा—

"सहज पाप प्रिय तामस देहा । यथा उलूकहिं तम पर नेहा ॥" (दो० ४४) । इसी से मैं ज्ञानहीन भी हूँ । 'कछु साधन नाहीं'—साधनों से ही भगवान् मिलते हैं; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन-राम-सिय दरसन पावा ॥" (अ० दो० २०६) । मुझसे वह भी नहीं बनता । अतः, मैं कर्महीन हूँ, क्योंकि साधन करना कर्म है । 'प्रीति न पद सरोज मन माहीं' से उपासना-रहित सूचित किया ।

श्रीविभीषणजी ने पहले 'तामस तन' कहकर अपनेको विवेक-रहित बताया, फिर विवेक के फल-रूप शुभ साधनों से भी रहित कहा । पुनः उसकी भी फल-रूपा हरि-पद-प्रीति है, उससे भी हीनता कही; यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (उ० दो० ४८) । 'पद सरोज' का भाव यह है कि श्रीरामजी के चरण रूपी कमल में मन को मधुकर की तरह लुब्ध होना चाहिये; यथा—"राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥" (बा० दो० १६) तथा—"पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥" (बा० दो० १४०) पर मुझ में तो यह भी नहीं है ।

(७) 'अब मोहि भा भरोस···'—पहले श्रीविभीषणजी ने कहा था—"तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा ।···" उसका उत्तर यथार्थ यही संग का मिलना है, पर यह श्रीहनुमान्‌जी के मुख से शोभा देता । अतः, उन्होंने न कहा, तब स्वयं कहते हैं । अन्यत्र भी कहा है—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥" (उ० दो० ६८) । इसी से भव-तरण एवं राम-प्राप्ति का भी भरोसा हुआ ; यथा—"भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन । तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥" (वि० २०३) ।

(३) 'जौ रघुबीर अनुग्रह···'—रघुबीर शब्द में पाँचों प्रकार की वीरता के भाव रहते हैं, यथा—"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः । पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदास्वतः ॥ पंचवीराः समाख्याता राम एव स पंचधा । रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) ।

श्रीरामजी में इन पाँचों के उदाहरण—

(१) त्यागवीर—"पितु-आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर ।" (अ० दो० १६५) ।

(२) दयावीर—"चरन-कमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर ।" (बा० दो० २१०) ।

(३) विद्यावीर—"श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान ।" (लं० दो० ३) ।
जल में पत्थर तैराना भी एक विद्या है ।

(४) पराक्रमवीर—"समय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीर ।
हरष न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीर ॥" (बा० दो० २७०) ।

(५) धर्मवीर—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन-भव-भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥" (दो० ४५) ।

ये पाँचों वीरतायें परिपूर्ण श्रीरामजी में ही हैं । यहाँ पर श्रीविभीषणजी ने अपने लिये प्रभु की दयावीरता का स्मरण किया है ; यथा—"जौं रघुबीर···" ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जी ने भी आगे कहा है—"मोहूँ पर रघुबीर । कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन···।"

'दरस हठि दीन्हा'; यथा—"तेहि सन हठि करिहउँ पहिचानी ॥"

सुनहु बिभीषन प्रभु कइ रीती । करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥४॥

कहहु कवन मैं परम कुलीना । कपि चंचल सबही बिधि हीना ॥७॥

अर्थ—हे श्रीविभीषणजी ! प्रभु की रीति सुनिये, वे सेवक पर सदा ही प्रीति करते हैं ॥६॥ आप ही कहिये कि मैं कौन उत्तम कुलोत्पन्न हूँ ? कपि हूँ, चंचल हूँ और सभी प्रकार से गया बीता हूँ ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनहु बिभीषन ···'—विभीषणजी ने प्रणाम करते समय अपना नाम कहा था, जैसे ऊपर पवनसुत का कहना कहा गया है और ऐसी ही रीति भी है; यथा—"पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा ॥" (बा० दो० ३१२); इसी से श्रीहनुमान्जी उनका नाम लेते हैं। 'प्रभु कै रीती'—वे प्रभु (समर्थ) हैं; अतः, सेवक से उन्हें कोई अपेक्षा नहीं। पर वे तो बिना कारण ही सेवक पर ममता और प्रीति करते हैं ; यथा—"कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥" (आ० दो० ४४); 'सदा'—सदा प्रीति का निर्वाह करना कठिन है, पर वे सदा एकरस निबाहते हैं ; यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील-सनेह निबाहनिहारा ॥" (आ० दो० ११) 'प्रीति'—श्रीविभीषणजी कृपा चाहते हैं और श्रीहनुमान्जी कहते हैं कि वे तो प्रीति करते हैं ; अर्थात् बराबर का पद देते हैं ; यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३); पुनः उन्होंने कहा था—"तामस तन कछु···" उसपर कहते हैं—

(२) 'कहहु कवन मैं परम कुलीना···'—भला, आपका तो केवल शरीर ही तामस है, पर कुल तो उत्तम है; यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।" (लं० दो० १६); भाव यह कि प्रभु कुल आदि की अपेक्षा नहीं रखते, केवल भक्ति पर ही रीझते हैं ; यथा—"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥ जाति पाँति ··· भगति हीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥" (आ० दो० ३४)। इसपर ये अपना ही उदाहरण देते हैं कि मैं पशु, चंचल और सभी प्रकार (जाति, कुल, स्वभाव) से गया-बीता हूँ ; यथा—"असुभ होइ जिनके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ॥" (वि० १६६); "मैं पाँवर पसु कपि अति कामी ॥" (कि० दो० २०); इत्यादि।

प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलइ अहारा ॥८॥

दोहा—अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर ॥७॥

अर्थ—जो प्रातःकाल में हमारा नाम ले, उस दिन उसे भोजन न मिले ॥८॥ हे सखे ! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ, (तो भी) रघुबीर श्रीरामजी ने मुझपर भी कृपा की, (उनके) गुण स्मरण करके नेत्रों में जल भर आये ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रात लेइ जो नाम हमारा। ··'—भाव यह कि आप तो परम भागवतों में हैं, आपका नाम तो प्रातःस्मरणीय है ; यथा—"प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्म-दाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीनेतानहम्परमभागवतान्नमामि ॥" (पांडवगीता); पर 'नाम हमारा' अर्थात् हम वानरों की जाति-मात्र का नाम प्रातःकाल लेना निषेध है, ऐसा तो मैं अधम हूँ।

यहाँ 'हमारा' बहुवचन शब्द देकर वानर जाति के दोषों को लेकर उन्होंने अपना कार्पण्य कहा है। पर वास्तव में इनका नाम तो प्रातःकाल में स्मरणीय ही है ; यथा—"ॐ हनुमानञ्जनीसूनुर्वायु-

सुनुर्महाबलः । रामेष्टः फाल्गुनसखः पिंगाक्षोऽमितविक्रमः ॥ उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः । लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा ॥ एतद्द्वादशनामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः । प्रातःकाले प्रदोषे च यात्राकाले च यः पठेत् ॥ तस्य रोग-भयन्नास्ति सर्वत्र विजयी भवेत् ॥" यह श्रीहनुमान्‌जी के द्वादश नामों का मंत्र है।

यहाँ अपने दोष और स्वामी के गुण कहे गये हैं; यथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।" (अ० दो० १३०)।

(२) 'अस मैं अधम सखा···'—यहाँ अपनेको अधम बताकर प्रभु के अधम-उद्धारण गुण का स्मरण किया गया है, इसीसे 'सुमिरि गुन' एकवचन पद दिया गया है। पहले बहुत-से गुणों का स्मरण किया था, इसलिये वहाँ, 'मन मगन सुमिरि गुन ग्राम' कहा गया था। वहाँ कथा कही थी और कथा में गुणसमूह होते ही हैं। श्रीविभीषणजी ने अपने तामस तन आदि दोषों को कहकर प्रभु की कृपा होने में संदेह प्रकट किया था। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी ने अपनी अधमता और फिर भी श्रीरघुवीरजी का कृपा-पात्र होना कहकर श्रीविभीषणजी पर अवश्य प्रभु की कृपा होने की पुष्टि की। 'मोहू पर'—कहकर उनकी परम कुलीनता, शांत वृत्ति और सब प्रकार की योग्यता एवं उन्हें प्रातःस्मरणीय सूचित किया। 'भरे बिलोचन नीर'—प्रेम की दो दशाएँ—'तन पुलक' और 'मन मगन' पूर्व के दोहे में कही गई हैं, अब यह तीसरी दशा यहाँ है। 'कीन्ही कृपा'; यथा—"तब रघुपति उठाइ उर लावा।···सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥" (कि० दो० २); "परसा सीस सरोरुह पानी।··" (कि० दो० २२); यहाँ उन्हीं बातों का स्मरण किया गया है।

जानत हूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी ॥१॥
येहि बिधि कहत राम-गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा ॥२॥
पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही ॥३॥

अर्थ—जानते हुए भी जो ऐसे स्वामी श्रीरामजी को भुलाकर (दुःख-परिणामी विषयों के साधनों में) भटकते फिरते हैं, वे क्यों न दुखी हों ॥१॥ इस तरह श्रीरामजी के गुण-समूह कहते हुए (दोनों भक्तों ने) अकथनीय विश्राम (शान्ति) पाया ॥२॥ फिर श्रीविभीषणजी ने सम्पूर्ण कथा कही, जिस प्रकार वहाँ श्रीजानकीजी रहती थीं ॥३॥

विशेष—(१) 'जानत हूँ अस···'—क्योंकि जानने से प्रतीति होती है, प्रतीति से प्रीति और फिर दृढ़ भक्ति होती है; यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)। स्वामी को परम कृपालु आदि जानते हुए भी उनको भुलाना प्रमाद है, फिर उनका दुखी होना योग्य ही है; यथा—"जानत हूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं॥" (कि० दो० ११); "बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये।" (उ० दो० १३); "महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि॥" (बा० दो० ३१), इत्यादि।

(२) 'येहि बिधि कहत राम गुन-ग्रामा।'—दोनों ने अपनी-अपनी अधमता और साथ ही राम गुन ग्राम कहा और परम संतोष का अनुभव किया, इसी से अनिर्वाच्य विश्राम पाना कहा गया है,

यथा—"कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।" (उ० दो० ८९); "तुलसी अपने रामसों, कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरो दीनता, परम पीन संतोष॥" (दोहावली ६६)। 'अनिर्वाच्य विश्रामा'; यथा—"सो सुख जानै मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥" (उ० दो० ८७); गुण-ग्राम यथामति कहा जाता है, अतएव 'कहत' कहा गया है, पर तज्जन्य सुख नहीं कहा जा सकता, उसका अनुभव-मात्र ही होता है; यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।" (उ० दो० ७); इसी से 'अनिर्वाच्य' कहा है। श्रीहनुमान्‌जी को बिना राम-कार्य किये, विश्राम की रुचि न थी; यथा—"राम-काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम।" (दो० १); पर रामकथा ने अपने स्वभाव (प्रभाव) से विश्राम दे ही दिया।

(३) 'पुनि सब कथा···' श्रीहनुमान्‌जी ने प्रथम ही 'राम-कथा निजनाम' कहा था। उसी में 'जनकसुता' का हरण और उन्हीं के ढूँढ़ने के लिये अपना आना भी कहा था। इसीलिये इन्होंने सब समाचार बतलाया—जबसे रावण श्रीजानकीजी को हरकर लंका में लाया और वे जैसे वहाँ रहती हैं; यथा—"हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति दिखाइ। तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ॥ जेहि बिधि कपट कुरंग संग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम॥" (आ० दो० २९); 'जनकसुता'-जैसे राजाओं की लड़कियाँ रहती हैं, वैसी ही मर्यादा से श्रीजानकीजी वहाँ रहती हैं। उनकी रक्षा में राक्षसियाँ नियुक्त की गई हैं, और पुरुष वहाँ नहीं जाने पाते। पुनः जैसे जनकजी प्रपंच में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं, वैसे ही श्रीजानकीजी लंका में रहती हुई यहाँ के ऐश्वर्यों से निर्लिप्त हैं।

श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीविभीषणजी को राम-कथा सुनाई थी, और उन्होंने भी श्रीहनुमानजी को श्रीजानकीजी की कथा सुनाई। अतः दोनों ही अपने-अपने मनोभिलषित पा संतुष्ट हुए। जैसे यहाँ श्री-विभीषणजी श्रीहनुमान्‌जी को श्रीजानकीजी से मिला रहे हैं वैसे आगे श्रीहनुमान्‌जी भी श्रीविभीषणजी को श्रीरामजी से मिलाने की पैरवी करेंगे। शरणागति प्रसंग में स्पष्ट है।

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहउँ जानकी माता॥४॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥५॥
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥६॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जी ने कहा कि हे भाई! सुनो, मैं श्रीजानकी माता को देखना चाहता हूँ॥४॥ विभीषणजी ने (मिलने की) सब युक्ति कह सुनाई। (सुनते ही) पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी विदा करा के चल दिये॥५॥ फिर वही (मशक समान) रूप धारण करके अशोक वन में गये, जहाँ श्रीसीताजी रहती थीं॥६॥

विशेष—(१) 'तब हनुमंत कहा···'—'भ्राता' शब्द से निहोरा व्यक्त करते हैं; यथा—"भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।" (अ० दो० १९१); 'श्रीजानकीजी माता'—श्रीविभीषणजी यह न कहें कि जहाँ श्रीजानकीजी रहती हैं वहाँ पुरुष नहीं जाने पाते। इसी से पहले ही कहते हैं कि उनमें मेरा भाव माता का है। अब, इस भाव से मैं जा सकता हूँ; यथा—"देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं॥" (लं० दो० १०९)।

(२) 'जुगुति बिभीषन...'—जहाँ श्रीजानकीजी थीं वहाँ बाहर राक्षसगणों का और भीतर भीषण राक्षसियों का पहरा था। अतः, बिना युक्ति के वहाँ किसी का भी जाना कठिन था। 'पवनसुत'—से इनकी शीघ्रता सूचित की गई है। 'बिदा कराई'—बड़े एवं स्नेही से आज्ञा लेकर जाना शिष्टाचार का द्योतक है; यथा—"मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन" (बा० दो० ४०); "गयउ राउ गृह बिदा कराई॥" (बा० दो० २१९)। श्रीहनुमान्‌जी ने बहुत खोजा, पर श्रीजानकीजी न मिलीं। परन्तु जब श्रीविभीषणजी ने युक्ति बतलाई, तब तो मिलेंगी ही, इससे यहाँ यह उपदेश भी है कि मर्मज्ञ महात्माओं की बतलाई हुई युक्ति से परमात्मा अवश्य मिलते हैं।

(३) 'करि सोइ रूप गयउ'...'—श्रीविभीषणजी से मिलने के समय एवं उनसे वार्तालाप के लिये श्रीहनुमान्‌जी विप्र रूप हो गये थे। अब फिर उन्होंने पूर्ववत् मशक समान रूप धारण कर लिया। 'तहवाँ'—अशोकवन भी बहुत विस्तृत है। उसमें जहाँ पर और जिस वृक्ष के नीचे श्रीसीताजी थीं, श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये। वहाँ इतने अन्तर पर हैं, जहाँ से श्रीजानकीजी का कृश-शरीर, जटा आदि दिखलाई पड़ती हैं। 'बन असोक'—पहले लंका में श्रीहनुमान्‌जी ने 'बन, बाग, उपबन, बाटिका' आदि को पृथक्-पृथक् देखा था। यहाँ एक ही अशोकवन में क्रमशः चार आवृत्तियों में चारों वर्त्तमान हैं। इसी से चारों नाम कहे गये हैं; यथा—"बन असोक सीता रह तहवाँ।"; "चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा।"; "तहँ असोक उपबन जहँ रहई।" (कि० दो० २७); "तेहि असोक बाटिका उजारी।"

देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि-जामा॥७॥
कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति-गुन-श्रेनी॥८॥

दोहा—निज पद-नयन दिये मन, राम चरन महँ लीन।
परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन॥८॥

अर्थ—श्रीसीताजी को देखकर मन ही में प्रणाम किया, (देखा कि) उनको रात के पहर (चारों रात) बैठे ही बीत जाते हैं॥७॥ उनका शरीर दुबला हो गया है और सिर पर जटाओं की एक वेणी (लट) हो गई है। वे हृदय में रघुपति के गुण-गणों के (स्मरण) सहित राम नाम जपती हैं॥८॥ (श्रीजानकीजी) नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं और उनका मन श्रीरामजी के चरणों में लीन (निमग्न) है। श्रीजानकीजी को दीन (दशा में) देखकर पवन के पुत्र परम दुःखी हुए॥८॥

विशेष—(१) 'मनहि महँ...'—उन्होंने मानसिक प्रणाम ही किया, यदि शरीर और वचन से करते, तो राक्षसियाँ जान जातीं। 'निसि जामा'—रात को कोई ३ पहर और कोई ४ पहर की मानते हैं, इसी से निशि के सब याम कहकर सबके मतों की रक्षा की गई। बैठे-ही-बैठे रात बिता देना विरह की दशा है।

(२) 'कृस तनु सीस जटा...'; यथा—"देखी जानकी जब जाइ। परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाइ॥ कृस सरीर सुभाय सोभित लगी उड़ि उड़ि धूरि। मनहुँ मनसिज मोहनी मनि गयउ भोरे भूलि॥ रटति निसि बासर निरंतर राम राजिव नैन। जात निकट न बिरहिनी अरि अकनि ताते

बयन ॥" (गी० सुं० २); 'कृस सरीर'; यथा—"अब जीवन कै है कपि आस न कोइ। कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥" (बरवा १८)। 'जटा एक बेनी'—शिर की तीनों चोटियाँ मिलकर एक हो गई हैं। शरीर का कृश होना और चोटी का एकलट हो जाना, बाहर की दशा है। अंतरंग वृत्ति को उत्तरार्द्ध में कहते हैं—'जपति हृदय '—वाणी से राम नाम जपती हैं और हृदय में तदर्थ भूत गुणों का चिंतन करती हैं। यही जप की विधि भी है; यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्।" (यो० सू०१।२८); रामनाम के अर्थ श्रीरामजी एवं शाब्दिक अर्थ उनके गुण हैं। अतः, श्रीसीताजी उन्हीं गुणसमूहों को हृदय में विचारती रहती हैं। ऐसे ही श्रीभरतजी के जप-प्रसंग में भी कहा गया है; यथा—"राम राम रघुपति जपत···" इसी को श्रीहनुमान्‌जी वहीं पर कहते हैं; यथा—"जपहु निरंतर गुन गन पाँती।" (उ० दो० १); ऐसे ही श्रीजानकीजी के विषय में भी पहले—"रटति रहति हरि नाम" (बा० दो० २१) कहा गया था और फिर यहाँ कहते हैं—'जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।' आगे साथ-ही-साथ रूप का ध्यान भी कहते हैं—'मन राम चरन महँ लीन'। अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुंदर श्याम सरीर।" (बा० दो० १९)।

तात्पर्य यह है कि मंत्र एवं नाम जपते हुए उसके देवता का ध्यान रखना चाहिये और साथ-ही-साथ मंत्रार्थ एवं नामार्थ से सिद्ध होनेवाले उस देवता के गुणों का स्मरण भी करना चाहिये, जिससे उसमें प्रेम हो और गुणों के अनुसार देवता की प्रवृत्ति हो। यही श्रुति भी कहती है; यथा—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (रामतापनीय)।

(३) 'निज पद नयन दिये मन ···'—यह जप-विधि है; यथा—"मनोमध्ये स्थितो मंत्रो मंत्र-मध्ये स्थितं मनः। मनोमंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते ॥" अर्थात् मन और मंत्र एक रहें। मन की बाह्य वृत्ति होने में नेत्र भी कारण होते हैं; यथा—"बालक वृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा ॥" (बा० दो० २१८) एवं—"रूप अनूप नयन मन लोभा।" (अ० दो० ११४)। इसी से दोनों साथ-ही-साथ संयत किये गये हैं। 'निज पद नयन दिये'—मन के विषय तो श्रीरामजी हो सकते हैं, पर नेत्रों के सामने तो वे नहीं हैं, इसलिये उन नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं कि इधर-उधर न जायँ। साथ ही श्रीरामजी के चरणों की रेखाओं को भी देखती हैं, क्योंकि जो २४-२४ चिह्न श्रीरामजी के चरणों में हैं, वेही सब चिह्न इनके भी चरणों में हैं। भेद केवल इतना ही है कि श्रीरामजी के दाहिने के चिह्न इनके बायें में और उनके बायें के चिन्ह इनके दाहिने चरण में हैं।

(४) 'परम दुखी भा पवनसुत···'—पहले बिना देखे ही दुखी थे। अब श्रीजानकीजी की दीन हीन दशा देखकर परम दुखी हुए। 'परम' तो शोभासूचक है, दुखी के साथ 'अति', 'विषम' आदि विशेषण चाहिये। यह शब्द यहाँ इसलिये दिया गया कि राम-विरह में दुखी होना इनकी शोभा है। यहाँ 'पवन-सुत' का भाव यह है कि ये परम बलवान् हैं; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); पर स्वामी की आज्ञा के अनुसार इन्हें बल दिखाने का अवसर यह नहीं है; यथा—"सुवन समीर को धीर धुरीन बीर बड़ोइ। देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध विंध्य बढ़ोइ। सकुचि सम भयो ईस-आयसु कलस-भव जिय जोइ॥ बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ। सकल साज समाज साधक समय कहै सब कोइ॥" (गी० सुं० ५)। यहाँ 'जानकी'—नाम का दिया जाना भी साभिप्राय है, क्योंकि राजा श्रीजनकजी योगी भी हैं; यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५) और ये उनकी कन्या हैं; इसी से योग-मुद्रा से

बैठी हैं—रात्रोंदिन जागरण, एकासन पर निरंतर जप, नेत्रों का संयम और मन का राम-चरणों में लीन रहना—ये सब योग की रीतियाँ हैं।

"पुनि सीतहिं धीरज जिमि दीन्हा"—प्रकरण

तरु-पल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई ॥१॥
तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा ॥२॥

अर्थ—वृक्ष के पल्लव में छिप रहे और विचार करने लगे कि अरे भाई! क्या करूँ? (श्रीसीताजी नीचे दृष्टि किये हुई हैं और बहुत-सी राक्षसियाँ चारों ओर से उनकी रक्षा में हैं तो मैं इनका शोक कैसे दूर करूँ?) ॥१॥ उसी समय रावण वहाँ आया। बहुत शृंगार की हुई स्त्रियों को साथ लिये हुए है ॥२॥

विशेष—(१) 'तरु-पल्लव महँ···'—श्रीहनुमान्‌जी इतने सूक्ष्म रूप में हैं कि एक पल्लव से भी छिप गये हैं, 'पल्लव' एकवचन है। छिप इसलिये रहे कि रावण न देख पावे। 'करइ बिचार' विचार कर कार्य करने से सिद्धि होती है, इसी से ये सदा विचार कर ही कार्य करते हैं; यथा—"इहाँ पवन सुत हृदय बिचारा।" (कि० दो० १८)। "कपि करि हृदय बिचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब।" (दो० १२); "ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।" (दो० १९)। वैसे यहाँ भी विचार करते हैं। 'भाई'—मन के प्रति संबोधन है; यथा—"भाई कैसो करौं डरौं कठिन कुफेरे।" (गी० सुं० २७)। मन में विचारने की यह भी एक रीति है।

(२) 'तेहि अवसर रावन तहँ···'—इसी समय दैवयोग से रावण का आना हुआ, जिससे उसका धमकाना आदि श्रीहनुमान्‌जी देखेंगे और श्रीरामजी से कहेंगे, तब वे यहाँ आने में और भी शीघ्रता करेंगे। 'संग नारि बहु···'—ये नारियाँ सब इसकी रानियाँ हैं। आगे यह स्वयं कहेगा; यथा—"मंदोदरी आदि सब रानी।" पहले कहा गया था—"देव-जच्छ-गंधर्व-नर, किन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदरि बर नारि (बा० दो० १८२); ये सब वे ही रानियाँ हैं। इन्हें सोलहों शृंगार से सुसज्जित किये हुए साथ लिये आया है कि जिससे श्रीजानकीजी समझें कि यह अपनी स्त्रियों को बड़ा सुख देता है और बड़ा ऐश्वर्यवान् है। स्वयं भी बहुत शृंगार किये हुए है कि जिससे देखकर मोहित हो जायँ। 'बहु किये बनावा'—दोनों के साथ है—अपने और रानियों के लिये।

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद देखावा ॥३॥
कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥४॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥५॥

अर्थ—उस दुष्ट ने श्रीसीताजी को बहुत तरह से समझाया। साम, दाम, भय और भेद दिखाये ॥३॥ रावण ने कहा कि हे सुमुखी! हे सयानी! सुनो मंदोदरी आदि सब रानियों को तुम्हारी दासी कर दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, तुम एक बार भी मेरी ओर देखो ॥४-५॥

विशेष—'बहु बिधि खल···'—पहले भी कहा गया था—"हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु

प्रीति देखाइ। तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ॥" (बा॰ दो॰ २१); अब यहाँ 'बहु बिधि' और साथ ही 'खल' कहकर सूचित करते हैं कि उसने अपने दुष्ट स्वभाव के अनुसार बहुत प्रकार से श्रीसीताजी को समझाया कि जिस अधर्म-वार्ता को श्रीगोस्वामीजी लिखना भी नहीं चाहते, केवल संकेत से ही सूचित करते हैं। 'साम दाम भय भेद'—रावण राजा है और राजा के हृदय में राजनीति बसती है; यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥" (लं॰ दो॰ ३९); इसी से उसने इन चारों को दिखाया। उदाहरण क्रमशः—"कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।"—साम; "मंदोदरी आदि सब रानी॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा।"—दाम; "कढ़िहउँ तव सिर कठिन कृपाना।"—दंड; "संग नारि बहु किये बनावा।"—भेद, इसमें भेद यों है कि हमारी इतनी रानियाँ हैं, इन्हें हम सब प्रकार देते हैं। तुम तो एक ही थी पर तो भी रामजी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सके। 'देखावा'—दिखावा-भर है, मारना आदि बातें हृदय की नहीं हैं, क्योंकि रावण को श्रीसीताजी की ममता एवं आशा हो गई है।

(२) 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।'—'सुमुखि'—का भाव यह है कि मैं तुम्हारे सुन्दर मुख पर मोहित हूँ और इसीसे मंदोदरी आदि पटरानियों को भी तुम्हारी दासियाँ बनाने को प्रस्तुत हूँ। पुरुष स्त्री के मुख ही पर मोहित होता है; यथा—"जानति मोर सुभाव बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू॥" (अ॰ दो॰ २५); "सोउ मुनि ज्ञान निधान, मृग नैनी बिधु मुख निरखि। बिबस होइ हरि जान,···" (अ॰ दो॰ ११५); "सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।" (बा॰ दो॰ २३१)। 'सयानी'—कहने का तात्पर्य यह है कि इस लाभ से चूको मत। तुम तो हानि-लाभ के समझने में 'सयानी' हो। लाभ भी समझ लो कि मंदोदरी आदि सब रानियाँ तुम्हारी दासियाँ बनकर रहेंगी, जो कि परम सुन्दरी हैं; यथा—"मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥" (बा॰ दो॰ १००)।

(३) 'तव अनुचरी करउँ पन मोरा।'—का भाव यह है कि ये सवति-भाव नहीं कर सकेंगी किन्तु दासियाँ बनकर रहेंगी। यदि कहो कि सवतियाँ कभी दासियाँ बनना नहीं चाहेंगी; यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥" (अ॰ दो॰ २०); तो मैं अवश्य इन्हें दासियाँ बना दूँगा, फिर वह अपने इस वचन की पुष्टि के लिये प्रतिज्ञा भी करता है—'पन मोरा' इसका भाव यह कि प्रण को असत्य करने से सुकृत नाश हो जाते हैं; यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ॥" (बा॰ दो॰ २५२)। सुकृत के नाश होने से लोग नरक के भागी होते हैं, इसीलिये श्रेष्ठ लोग सुकृत की रक्षा करते हैं और प्रण को पूरा करते हैं; यथा—"कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ।" (बा॰ दो॰ ७६)। यों भी राजा प्रण नहीं छोड़ते; यथा—"नृप न सोह बिनु बाद नाक बिनु भूषन।" (जानकीमंगल ७७); अतः, मैं अवश्य अपना प्रण पूरा करूँगा।

(४) 'एक बार बिलोकु···'—श्रीजानकीजी नीचे दृष्टि किये बैठी हैं और वह उन्हें अपना साज-शृंगार दिखाना चाहता है, इसी से कहता है कि एक बार भी तो इधर देखो। अथवा उपर्युक्त सब बातें एक बार देख लेने ही का मोल है।

> तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥६॥
> सुनु दसमुख खद्योत - प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥७॥
> अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥८॥

अर्थ—तृण (तिनके) की ओट (परदा) करके और अपने परम स्नेही अवधपति श्रीरामजी का

स्मरण करके वैदेही श्रीजानकीजी कहती हैं ॥६॥ हे दशानन ! सुन, क्या जुगनू के प्रकाश से कभी कमलिनी विकसित होती है ? ॥७॥ श्रीजानकीजी कहती हैं कि अरे दुष्ट ऐसा मन में समझ ! तुझे रघुवीर के बाण की खबर नहीं है ? ॥८॥

विशेष—(१) 'तृन धरि ओट···'—श्रीजानकीजी ने तृण का परदा करके रावण से बातें कीं, सम्मुख नहीं, यह मर्यादा की रक्षा है ; यथा—"तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ।···" (वाल्मी० ५।२१।३); श्रीसीताजी उसी तरह पर पुरुष की ओर दृष्टि नहीं करतीं, जैसे श्रीरामजी पर स्त्री की ओर नहीं देखते; यथा—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥" (बा० दो० २३०), "न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० ३।७२।४८) । 'वैदेही' और 'अवध पति···'—का भाव यह है—(क) अपने मायके और पतिकुल के महत्त्व को आगे करके बोलीं ; यथा—"अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥ कुलं संप्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया । एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी ॥" (वाल्मी० ५।२१।४-५); अर्थात् मैं सती हूँ, मेरा जन्म बड़े कुल में और ब्याह पवित्र कुल में हुआ है ; अतः, अकार्य मुझसे नहीं हो सकता । (ख) रावण ने अपने ऐश्वर्य का लोभ दिखाया है, उसके प्रति भी तृण-ओट द्वारा लक्षित किया कि अपने उभय कुल के ऐश्वर्य के आगे मैं तुम्हारे इस ऐश्वर्य को तृणवत् मानती हूँ ।

'सुमिरि अवधपति परम सनेही'—का भाव—(क) तू लंका-मात्र का ऐश्वर्य दिखाता है पर मेरे स्वामी अवध के पति हैं, जो चक्रवर्ति-पाद हैं। तू स्नेह दिखाता है, मेरे स्वामी भी परम स्नेही हैं; अतः उनमें और तुममें बड़ा अन्तर है। वही आगे कहती हैं ; यथा—'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा ।···' (ख) वे अवध के आश्रित-मात्र के रक्षक हैं और मेरे तो परम स्नेही ही हैं; अत', मेरी रक्षा अवश्य करेंगे । (ग) भक्त जो कुछ कहते हैं अपने इष्ट के बल पर ही, यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्हि असीस ।' (बा० दो० ७०); "करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय रघुराज ॥" (अ० दो० २६७); वैसे ही यहाँ भी श्रीजानकीजी इष्ट के बल पर ही कहती हैं । 'कहति वैदेही'—का भाव यह है कि न बोलने से स्वीकृति समझी जायगी । कहा भी है—"मौनं सम्मतिलक्षणम्"; यथा—"चलेउ सुमंत्र राय-रुख जानी ।" (अ० दो० ३८) ।

(२) 'सुनु दसमुख खद्योत···'—रावण ने कहा था—'एक बार बिलोकु मम ओरा ।' उसका उत्तर श्रीजानकीजी यों देती हैं कि तू जुगनू के समान है, तेरे प्रलोभन-रूप प्रकाश में मेरे नेत्र कमल नहीं खिल सकते, किन्तु भानु-रूप भानुकुल-भानु को देखकर ही वे प्रफुल्लित होंगे । पुनः जैसे जुगनू का प्रकाश सूर्योदय से पहले ही रहता है, वैसे ही तेरी दुष्टता स्वामी श्रीरामजी के आने तक ही है । जैसे कमलिनी सूर्य की ही अनुवर्तिनी है, वैसे ही मैं श्रीरामजी की ही अनन्या पत्नी हूँ ; यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ।" (वाल्मी० ५।२१।१५); यथा—"उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥" (आ० दो० ५) ।

(३) 'अस मन समुझु कहति जानकी ।' —तू ऐसा मन में समझ ले कि मैं (रावण) खद्योत के समान हूँ और श्रीरामजी भानु हैं, उनमें और तुममें इतना अंतर है । पुन यह भी भाव है कि सूर्य के प्रति कमलिनी जैसा मेरा श्रीरामजी में भाव है । जुगनू कम प्रकाशवालों को सीमा है और भानु पूर्ण प्रकाशवालों को—'अस मन समुझु' ।

(४) 'खल सुधि नहिं '—रघुवीर के बाण दुष्टों के नाशकारक हैं ; यथा—"सुनि पावक खल

बालक बालक।"; "हम छत्री···तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (आ० दो० १८); उनके बाणों को क्या तुम्हें खबर नहीं है ?

शंका—अभी उसने श्रीरामजी के बाण का प्रभाव कहाँ देखा-सुना ? जो सुधि करे।

समाधान—जयंत ने जो बिना फर के बाण से भी तीनों लोकों में शरण न पाई थी, उसे इसने सुना ही होगा। पुनः शूर्पणखा से सुना है; यथा—"परम धीर धन्वी गुन नाना।···खर दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥" (आ० दो० २१); मारीच से भी उसने सुना है ; यथा—"बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं।" (आ० दो० २४); इसी से डरकर यती का वेष बना सीता-हरण के लिये आया था। श्रीसीताजी उन्हीं बातों का स्मरण कराती हैं।

सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥९॥

दोहा—आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहिं भानु - समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥९॥

अर्थ—अरे शठ, तू मुझे सूने में हरकर लाया, तू अधम है, निर्लज्ज है, तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥९॥ अपनेको जुगनू के समान और श्रीरामजी को सूर्य के समान सुनकर तलवार निकाल अत्यन्त क्रोधित हो बोला॥९॥

विशेष—(१) 'सठ सूने हरि···'—इसका सम्बन्ध पूर्व वाक्यों से भी है कि जिस तरह सूर्य के अभाव में ही खद्योत का प्रकाश होता है, ऐसे ही श्रीरामजी के अभाव में ही तू मुझे हरकर ले आया। उन रघुवीर के बाणों की तुझे सुधि नहीं है कि जिनकी अनुपस्थिति में ही तू मेरा हरण करने गया। युद्ध में उनका सामना न कर सका और न उनकी खींची हुई रेखा ही को लाँघ सका, इसी से तूने मुझे सूने में हर लिया। अतएव तू अधम और निर्लज्ज है ; यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी॥" (लं० दो० २१); इसी कर्म के कारण उसे शठ, दुष्ट आदि भी कहा है ; यथा—"रे त्रिय चोर कुमारगगामी। खल मल-रासि मंद मति कामी॥" (लं० दो० ३१) ; "नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौटीर्यमानिना।" (वाल्मी० ३।११।६८)।

'निलज्ज' और 'लाज नहिं तोहीं' में पुनरुक्ति नहीं है, किन्तु कोप की वीप्सा है। कोप, विषाद और विस्मय में प्रायः एक ही शब्द कई बार प्रयोग किया जाता है। ऐसा मुहावरा भी है; यथा—तू निर्लज्ज है, लज्जा भी नहीं आती ?

(२) 'आपुहि सुनि खद्योत सम···'—इसमें 'सुनि' का दो बार प्रयोग किया गया है; यथा—'आपुहि सुनि खद्योत सम' और 'परुष बचन सुनि'। कारण यह कि श्रीजानकीजी ने दो वचन कहे हैं—(१) 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।···' (२) 'सठ सूने हरि आनेहि···' इनमें पहले का सुनना पूर्वार्द्ध में और दूसरे का उत्तरार्द्ध में कहा गया है। पहले पर 'खिसियान' और दूसरे पर 'अति खिसियान'। इसका कारण यह कि उससे उत्तर नहीं बन पड़ा। अपनी खीज मिटाने के लिये तलवार से मारने की धमकी देता है। रावण का स्वभाव है कि वह अपने शत्रु की प्रशंसा और अपनी न्यूनता पर अत्यंत कोप करता है ; यथा—"तेहि

रावन कहँ लघु करसि, नर कर कहसि बखान। रे कपि बर्बर खर्ब खल,…" (लं० दो० २५); "आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं० दो० २८); "हर गिरि मथन निरखि मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥" (लं० दो० २७)।

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥१॥
नाहित सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन-हानी॥२॥
श्याम - सरोज - दाम-सम सुंदर। प्रभु-भुज करि-कर सम दसकंधर॥३॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा॥४॥

अर्थ—हे सीता! तुमने मेरा अपमान किया, (अतएव) मैं तुम्हारा शिर कठिन कृपाण (चन्द्रहास) से काटूँगा॥१॥ नहीं तो शीघ्र मेरा वचन मान लो, हे सुमुखि! अन्यथा जीवन की हानि होगी; अर्थात् तुम्हारे प्राण जायँगे॥२॥ (श्रीजानकीजी ने कहा।) हे दशकंधर! प्रभु की भुजा श्याम कमल की माला के समान सुन्दर और हाथी के सूँड के समान (चढ़ाव-उतार=युक्त एवं बलिष्ठ) है॥३॥ या तो वही भुजा मेरे गले में लगेगी, या तेरी घोर तलवार ही। रे शठ! सुन, ऐसा मेरा प्रामाणिक प्रण (सत्य प्रतिज्ञा) है॥४॥

विशेष—(१) 'सीता तैं मम कृत…'—अपमान मृत्यु के तुल्य माना जाता है; यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९४)। तुमने कठोर वचनों से मेरा अपमान किया है, अतः मैं अपनी कठोर तलवार से तुम्हारा वध करूँगा। प्राण-दंड राजा स्वयं देता है। अतः, उसने 'कटिहउँ' कहा है। पहले अपराध सुनाकर तब दंड देना चाहिये, इसलिये पूर्वार्द्ध में उसने अपराध ठहराकर और तब उत्तरार्द्ध में उसका दंड कहा।

(२) 'नाहित सपदि मानु…'—राज-अपमान का दंड वध है और यह शीघ्र ही दिया जाता है; यथा—"सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥" (दो० २३); इससे शीघ्र वचन मानने को कहता है कि आज्ञा मान लेने से अपमान का अपराध क्षमा हो जायगा।

'सुमुखि होत नत…'—मेरा वचन न मानने से पहले तुम्हें ऐश्वर्य की ही हानि थी। यदि अब भी नहीं मानोगी, तो तुम्हारे प्राण जायँगे। यहाँ उसने 'सुमुखि'-मात्र ही कहा, इससे पहले सयानी भी कहा था। उनके द्वारा अपना अपमान किये जाने से उन्हें अयानी माना, इसी से यहाँ सयानी नहीं कहा।

(३) 'श्याम-सरोज-दाम सम सुंदर।…'—भुजा की उपमा सर्प, कमल-नाल और करिकर से दी जाती है, यथा—"भुजग भोग भुज-दंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।" (वि० ६१); "अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥" (बा० दो० ११७); "करिकर सरिस सुभग भुज-दंडा।" (बा० दो० १२१); यहाँ प्रभु की भुजाओं की उपमा नील कमल की माला से देती हैं और साथ ही उन्हें 'करिकर सरिस' भी कहती हैं। भाव यह है कि हाथी की सूँड के समान बलिष्ठ होने से वे तुम्हारे दसो कंधों को काटेंगी और कमल की माला के समान मेरे कंठ को भी सुशोभित करेंगी। 'प्रभु-भुज'—अर्थात् समर्थ की भुजाएँ, बलवान् की भुजाएँ।

(४) 'सो भुज कंठ कि…'—या तो वे भुजाएँ मेरे कंठ को भूषित करेंगी, अथवा तेरी घोर

तलवार ही। कमल के समान कोमल भुजाओं के जोड़ में घोर कठोर तलवार कही गई है। भाव यह कि दोनों ही दशाओं में पातिव्रता की शोभा ही है, पातिव्रत्य की रक्षा में प्राण देने से उसकी शोभा है। पुनः दोनों प्रकार में दुःख दूर होगा। विरह-दुःख का तो संयोग में अन्त होगा ही, साथ ही प्राण जाने से भी निवृत्त ही होगा। 'प्रमान पन मोरा'—भाव यह है कि तेरा प्रण प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि मैं तेरी ओर एक बार भी दृष्टि नहीं करूँगी। पर मेरा उपर्युक्त उभय प्रकार का शोभा-परक प्रण सत्य होगा ही।

चंद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति-बिरह - अनल - संजातं ॥५॥
सीतल निसित बहसि बरधारा। कह सीता हरु मम दुख-भारा ॥६॥
सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनयाँ कहि नीति बुझावा ॥७॥

अर्थ—श्रीसीताजी कहती हैं कि हे चन्द्रहास (रावण की तलवार)। रघुपति-विरहाग्नि से उत्पन्न मेरे परिताप (दुःख) को हरण कर (अर्थात् रावण को उत्तर देती हैं कि मुझे तेरी तलवार से मरना स्वीकार है, पर तेरे वचन नहीं) हे खड्ग ! तू शीतल, चोखा (तीक्ष्ण) और श्रेष्ठ धार धारण करता है, (उससे) मेरे दुःख के भार को हर ॥५-६॥ ये वचन सुनते ही फिर मारने दौड़ा (अर्थात् मारने पर उद्यत हुआ), तब मंदोदरी ने नीति कहकर समझाया ॥७॥

विशेष—(१) 'चंद्रहास हरु मम…'—रावण ने कहा ही है—'कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।' और मुझे उसकी शर्त मंजूर नहीं है, तो फिर हे चन्द्रहास ! तू देरी क्यों कर रहा है ? मेरे कंठ से लगकर शीघ्र ही मेरा विरह-ताप हर ले। क्योंकि राम-विरह तलवार-जन्य दुःख से भी अधिक है, यथा—"माँगु माथ अबही देउँ तोहीं। राम-बिरह जनि मारसि मोही ॥" (अ० दो० ३१); 'चंद्रहास' का दूसरा अर्थ चन्द्र-किरण भी है, जो ताप हरण करती है, वैसे ही तू भी मेरे विरह-ताप को हर ले, ऐसे ही अशोक से भी उन्होंने आगे कहा है; यथा—"सत्य नाम करु हरु मम सोका।" पुनः 'बर धारा'—से तलवार की श्रेष्ठ धार और दूसरा अर्थ नदी की धारा के बहने (प्रवाहित होने) का भी होता है, जिस तरह जल शीतल होता है और ताप हरता है, वैसे ही तेरी धार मेरे विरह-ताप को हरेगी, अतः, यह मुझे शीतल ही लगेगी ; यथा—"चन्द्रहास हर मे परितापं। रामचन्द्र विरहानल जातम् ॥ त्वं हि कान्तिजित मौक्तिक-चूर्ण धारया वहसि शीतलसंभः ॥" (प्रसन्न-राघव नाटक)। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध तो चौपाई से मिलता-जुलता है, और उत्तरार्द्ध का अर्थ यह है—तू अपनी धारा से मोती के चूर्ण की कान्ति को जीतनेवाली शीतल जल (की धारा) को धारण करता है।

ऊपर की अर्द्धाली में चन्द्रमा का और इसमें नदी का रूपक भी आ जाता है। वाल्मी० ७।१६।४३-४४ में कहा गया है कि चन्द्रहास नामक महा खड्ग शिवजी ने रावण को दिया था और यह भी कहा था कि यदि इसका अपमान करोगे, तो यह मेरे पास लौटकर चला आवेगा। यह दिव्यास्त्र है और इसे स्त्री पर चलाना इसका अपमान करना है। अतः, रावण डराता ही है, इस तलवार को चलावेगा नहीं।

(२) 'मयतनया कहि नीति बुझावा।'—रावण अनीति कर रहा है और मंदोदरी नीति कहती है, इसी से उसे भिन्न स्वभाव की कहते हुए उसका पिता-सम्बन्धी नाम कहा गया है। नीति उसने यह कही कि स्त्री को स्त्री पर हाथ नहीं चलाना चाहिये। पतिव्रता स्त्री अपने मत के विरुद्ध वचन पर कोप करती ही है।

अतः, श्रीजानकीजी का अपराध नहीं है। किसी को भी उसके रुचि-विरुद्ध मार्ग पर एकाएक नहीं लाना चाहिये। क्रमशः उसे समझाने की चेष्टा करनी चाहिये, इत्यादि। 'बुझावा'—समझाया एवं उसकी क्रोधाग्नि को शान्त किया; ठंढा किया इसके ये दोनों अर्थ हैं।

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई ॥८॥
मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना ॥९॥

दोहा—भवन गयउ दसकंधर, इहाँ पिसाचिनि-बृंद।
सीतहिं त्रास देखावहिं, धरहिं रूप बहु मंद ॥१०॥

अर्थ—(रावण ने) सब राक्षसियों को बुलाकर कहा कि जाकर श्रीसीताजी को बहुत तरह से डराओ ॥८॥ यदि एक महीने में कहना न माना, तो मैं (उसे) तलवार निकाल कर मारूँगा ॥९॥ (ऐसा कहकर) रावण घर गया, यहाँ राक्षसियों के समूह श्रीसीताजी को भय दिखाती हैं और बहुत-से बुरे रूप धारण करती हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'कहेसि सकल ...'—'जाई' शब्द से सूचित किया कि मंदोदरी के समझाने पर रावण तुरत वहाँ से चल दिया और अलग जाकर राक्षसियों को बुलाया और कहा। शृंगार करके आया था कि श्रीजानकीजी देखेंगी, पर उन्होंने देखा नहीं और यहाँ तक कि गाली दी, तब कौन-सा मुँह लेकर वहाँ ठहरता? अतः, चल दिया।

(२) 'मास दिवस महुँ ...'—यह राक्षसियों से श्रीसीताजी के प्रति कहने को कहा है कि जिससे वे यह न समझें कि मंदोदरी के समझाने पर मान गया, अब न मारेगा।

(३) 'इहाँ पिसाचिनि-बृंद'—ऊपर 'सकल निसिचरिन्ह बोलाई' कहा था, ये वे ही हैं। उसने कहा था—'सीतहि बहुबिधि त्रासहु' अतएव यहाँ 'धरहि रूप बहु मंद' कहा है। 'बहु' शब्द दीपदेहली है।

त्रिजटा नाम राक्षसी एका। राम-चरन रति निपुन बिबेका ॥१॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥२॥

अर्थ—एक राक्षसी त्रिजटा नाम की थी, उसकी श्रीरामजी के चरणों में प्रीति थी और वह विवेक में निपुण थी ॥१॥ उसने सबको बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया और कहा कि श्रीसीताजी की सेवा करके अपना हित करो ॥२॥

विशेष—(१) 'त्रिजटा नाम ...'—यह राक्षसी-मात्र में अपने समान एक ही थी, इसी से 'एका' कहा गया है। त्रिजटा नाम था, क्योंकि यह तीन गुणों से जटित (विशिष्ट) थी—राम-चरन-रति, व्यवहार-निपुण और विवेक—इससे ये तीनों गुण कहे गये हैं। विवेक अर्थात् सत्-असत् का ज्ञान। इसे विवेक था, इसी से रामचरण-रति करती थी; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।।" (आ० दो० ३९); इसने जगत्-व्यवहार को असत् जानकर त्याग दिया था और हरि-भजन को सत् मानकर ग्रहण किया था।

(२) 'सपन्हीं बोलि'''—रावण ने सभी को बुलाकर उन्हें श्रीसीताजी को दुःख देने की आज्ञा दी थी। इसलिये इसने भी सभी को बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया कि जिससे अब कोई उन्हें दुःख न दे। 'बोलि'—से जाना गया कि वह कुछ दूर पर थी, पर इतनी दूरी पर अवश्य थी कि जहाँ से उसके वचन श्रीसीताजी भी सुन लें। क्योंकि आगे कहा है ; यथा—"मातु बिपति-संगिनि तैं मोरी।" यह श्रीसीताजी का वचन है, उन्होंने उसका वचन सुना है, तभी ऐसा कहा है। स्वप्न दैवयोग से हुआ और प्रातःकाल का स्वप्न शीघ्र ही फलीभूत होता भी है। इसलिये तुरत ही सबों से कहा। 'करहु हित अपना'—वे सब रावण के हित में लगी हैं। उसी पर कहती है कि उसे छोड़ो और अब अपना-अपना हित देखो। स्वप्न का सार-तत्त्व उसने पहले ही बतला दिया कि कुटुंब-सहित रावण का नाश होगा। तब उसके संबंध से तुमसब भी मारी जाओगी। हाँ, बचने का एक यही उपाय है कि श्रीसीताजी की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करो, तो ये ही तुम्हारी रक्षा कर सकेंगी ; यथा—"प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ॥" (वाल्मी० ५।२७।२१) ; इस तरह से सबों को निवारण कर इसने सबका हित किया। यह विवेक का कार्य है। आगे स्वप्न कहती है—

सपने बानर लंका जारी। जातुधान-सेना सब मारी ॥३॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा ॥४॥
येहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहु बिभीषन पाई ॥५॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥६॥

अर्थ—स्वप्न में (मैंने देखा है कि) एक वानर ने लंका जला डाली, राक्षसों की सारी सेना मार डाली गई ॥३॥ रावण नंगा है और गधे पर सवार है, उसका शिर मुँड़ा हुआ है और उसकी बीसों भुजाएँ कटी हुई हैं ॥४॥ इस प्रकार वह दक्षिण दिशा को जा रहा है और लंका मानो विभीषण ने पाई है ॥५॥ नगरभर में रघुवीर श्रीरामजी की दोहाई फिरी, तब प्रभु ने श्रीसीताजी को बुला भेजा ॥६॥

विशेष—(१) 'सपने बानर लंका जारी'''—यह आश्चर्य की बात है कि एक वानर ने रावण के देखते हुए लंका को जला डाला, यथा—"रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई ॥" (लं० दो० २१); "कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (दो० ३१); "देखत तोहि नगर जेहि जारा।" (लं० दो० ५४) ; इसी से इसे प्रथम कहा।

(२) 'खर आरूढ़ नगन'' '—ये सब लक्षण स्वप्न-विचार से रावण की मृत्यु के सूचक हैं। पहले 'सेना सब मारी' कहकर तब रावण का मरण कहा गया, क्योंकि आगे ऐसा होना ही है। 'मुंडित सिर' ही मृत्यु-सूचक है। 'खंडित सिर' कहा जाता तो दूसरे की मृत्यु का सूचक होता। 'दच्छिन दिसि जाई'- दक्षिण दिशा में यमपुरी है। मरने पर शव के पैर दक्षिण दिशा की ओर कर दिये जाते हैं, अतः दक्षिण दिशा को जाना 'मरने' का मुहावरा है। 'पाई'—लंका श्रीविभीषणजी हाथ से चली गई थी ; यथा—"करत राज लंका सठ त्यागी।" (दो० ५१); अब उसने उसे फिर पाया; यथा—"गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई।" (अ० दो० ११) 'मनहुँ'—स्वप्न की बात कहने की रीति ही ऐसी है।

(३) 'नगर फिरी रघुबीर दोहाई।'—जिसका राज्य होता है, उसी की दोहाई फिरती है; यथा—"जय प्रताप रवि भयउ नृप, फिरी दोहाई देस।" (बा० दो० १५३); दोहाई (द्वि-आह्वान)=दुहरी पुकार

डंके की चोट के साथ पुकारना, विजय-घोषणा कि अमुक का राज्य हुआ, आदि। 'रघुबीर'—वीरता से विजय पाई। 'तब'—जब वे श्रीविभीषणजी को राज्य दे चुके, तब पीछे उन्होंने अपना स्वार्थ चाहा, यह श्रीरामजी का स्वभाव है, जैसे पहले श्रीसुग्रीवजी को राज्य देकर पीछे श्रीसीताजी की खोज कराई। ऐसे ही अयोध्या पहुँचकर पहले सखाओं को स्नान करा तब स्वयं स्नान करेंगे। 'तब प्रभु सीता बोलि पठाई'—ऐसा कहने का भाव यह है कि ये आकर स्वामी से यहाँ का हाल कहेंगी, जो इन्हें दुःख देती हो। अतः, तुमलोगों की दुर्दशा होगी। हरि इच्छा से उसने जितना देखा उतना ही कहा। श्रीहनुमान्‌जी का आना और उनका वृक्ष पर रहना आदि उसने न देखा और न कहा। नहीं तो राक्षस लोग खोजने लगते, जिससे श्रीजानकीजी और श्रीहनुमान्‌जी की भेंट एवं बातचीत में बाधा होती।

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी ॥७॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥८॥

दोहा—जहँ तहँ गईं सकल तब, सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि, मारिहि निसिचर पोच ॥११॥

अर्थ—मैं पुकारकर कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिन बीते सत्य होगा ॥७॥ उसके वचन सुनकर सब डर गईं और श्रीजानकीजी के चरणों पर पड़ गईं ॥८॥ सब मिलकर जहाँ-तहाँ चली गईं। श्रीसीताजी मन में चिन्ता करने लगीं कि एक महीना बीतते ही नीच निशाचर मुझे मारेगा ॥११॥

विशेष—(१) 'यह सपना मैं ···'—और स्वप्न चाहे कुछ झूठे भी हों, पर प्रातःकाल में अचानक होनेवाला यह स्वप्न सत्य ही होगा। जैसे श्रीभरतजी ने स्वप्न देखा और वह सत्य हुआ। राम-भक्तों का स्वप्न प्रायः सत्य ही होता है। 'कहउँ पुकारी'—जिससे सबको भली भाँति विदित हो जाय, जिसमें फिर हमारा दोष न रह जाय; यथा—"कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं।" (बा० दो० २०२); 'गये दिन चारी'—चार दिन अल्पकाल का बोधक है; यथा—"बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि महँ दोउ बीर। मिलहिं गे कपि भालु दल सँग जननि उर धरु धीर॥" (गीता सुं० ६); 'जनकसुता के चरनन्हि परीं'—चरणों में पड़कर अपराधों को क्षमा कराया। इन्होंने क्षमा भी कर दी, क्योंकि ये महात्मा श्रीजनकजी की कन्या हैं; यथा—"ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥" (वाल्मी० ५।२७।५४)। अर्थात् पति के विजय-संवाद से प्रसन्न और लज्जित हो श्रीसीताजी बोलीं—यदि ऐसी बात हुई तो हम तुम सबकी रक्षा अवश्य करेंगी।

(२) 'जहँ-तहँ गईं सकल···'—त्रिजटा ने कहा था; यथा—"सीतहि सेइ करहु हित अपना।" इसपर सबने सम्मत किया कि हमें देखकर श्रीसीताजी दुःख पाती हैं। अतएव हमारा यहाँ से हट जाना ही उनकी सेवा है, इधर-उधर रहें, पर पास न रहें। एकदम छोड़कर घर भी न जा सकीं, क्योंकि रावण की आज्ञा यहाँ रहने की और साथ ही बहुत क्रूर रूपों से भय दिखाने की है। भय दिखाना छोड़कर अलग हट गईं। पास में चुप-चाप भी बैठी रहतीं, तो भी उनका भय रहता। परद्रवी का उपद्रव छोड़ देना ही उसकी सेवा है; यथा—"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई॥" (अ० दो० १५०)। यह संयोग भी हरि-इच्छा से हो रहा है, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी से भेंट होनी है।

'सीता कर मन सोच'—श्रीसीताजी को मरने का शोच नहीं है। मरना तो वे चाहती ही हैं; यथा—"चंद्रहास हर मम परितापं।" कह आई और आगे भी कहेंगी—"तजउँ देह करु बेगि उपाई।" इन्हें शोच इस बात का है कि महीने-भर असह्य विरह-दुःख झेलना पड़ेगा और फिर मारेगा। पुनः 'निसिचर पोच' के हाथों मृत्यु होगी, क्योंकि नीच के हाथों मरने से सद्गति नहीं होती।

शंका—जो मरना चाहती हैं, तो 'आगे' क्यों कहा है; यथा—"मास दिवस महुँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा॥" (दो० १६)।

समाधान—वहाँ इसलिये कहा है कि स्वामी मेरे लिये इतना कष्ट उठाकर आवेंगे और फिर उनका आना व्यर्थ ही होगा। अतएव शीघ्र हो आवें कि मुझे जीवित पा जायँ। रावण ने जैसी शर्त्त कही थी, उसके अनुसार ही उन्होंने कहा है।

(१) 'निसिचर पोच'—क्योंकि जो अवध्य है, फिर भी मारने पर उद्यत है, मारता भी शीघ्र नहीं, किन्तु महीने-भर की अवधि दे दी है, जिससे मुझे असह्य विरह दुःख झेलना पड़ रहा है।

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥१॥
तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥२॥
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥३॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनइ को श्रवन सूल सम बानी॥४॥

त्रिजटा से हाथ जोड़कर बोलीं कि हे माता! तू मेरे दुःख की साथिन है॥१॥ शरीर छोड़ दूँ; इसका शीघ्र उपाय कर दे, विरह अत्यन्त कष्टदायक है, अब सहा नहीं जाता॥२॥ लकड़ी लाकर चिता रचो और फिर, हे माता! (उसमें) तुम आग लगा देना॥३॥ (हे) सयानी! मेरी प्रीति (जो श्रीरामजी में है उसको) सच्ची कर दे, कानों से शूल के समान वचनों को कौन सुने?॥४॥

विशेष—(१) 'त्रिजटा सन बोलीं…'—जो काम त्रिजटा से कराना चाहती हैं, वह अगम है, त्रिजटा उसे स्वीकार नहीं करेगी कि वह चिता बनाकर उसमें आग लगा दे। इसी से हाथ जोड़कर निहोरा करती हैं। अगम बात माँगने की यही रीति भी है; यथा—"मागहुँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥" (अ० दो० २८), श्रीसीताजी मन, वचन, कर्म से आर्त्त हैं, यथा—"सीता कर मन सोच"—मन,—"त्रिजटा सन बोली"—वचन और "करजोरी"—यह कर्म है। अन्य राक्षसियों से नहीं कहा कि वे खा लें, क्योंकि वे तो केवल डरवाना चाहती थीं; खाने को तो ये नहीं हो सकतीं, क्योंकि मरना तो चाहती ही हैं।

'मातु बिपति संगिनि…'—जैसे तूने मेरी एक विपत्ति में सहायता की कि स्वप्न सुनाकर सबोंको भय दिखाने से रोका। वैसे ही इस विरहजन्य विपत्ति के निवारण में भी सहायता कर। इस दूसरी विपत्ति को आगे कहती हैं, यथा—'तजउँ देह करु…'—देह छोड़ना पहले कहा और उपाय पीछे, इसका भाव यह है कि उपाय की ही देर है, तन त्याग की नहीं। 'दुसह बिरह'—प्राकृतिक अग्नि का ताप सहना सुलभ है, पर विरह अग्नि का नहीं। 'अब'—का भाव यह है कि विरही के प्रतिकूल बात कही जाने से उसका विरह बढ़ जाता है, यथा—"सानो सरल रस मातु बानी, सुनि भरत व्याकुल भये।

लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये।" (अ० दो० १०१)_ इसमें श्रीभरतजी को राज्य करना कहा गया था और वह उनकी भक्ति के विरुद्ध था, वैसे ही, यहाँ रावण के वचन—'एकबार बिलोकु मम ओरा।' यह इनके पातिव्रत्य के विरुद्ध है। इससे विरह बढ़कर दुःसह हो गया।

(२) 'आनि काठ रचु चिता'···'—'रचु' और 'बनाई'—मंगलवाचक हैं, भाव यह कि पति के वियोग में सती का मरण होना मंगल है, अतएव उत्साहपूर्वक रचना होनी चाहिये ; यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर पुर सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६९); इसमें राम-विरह में ही दशरथ-मरण समझकर मंगलवाचक 'सुहाई' शब्द आया। ऐसे बड़भागी की चिता रचना में श्रीभरतजी को उत्साह था। चिता बनने पर उसमें मैं प्रवेश करूँगी ; यथा—"श्रीखंड सम पावक प्रवेश कियो सुमरि प्रभु मैथिली।" (लं० दो० १०८)।

'मातु अनल पुनि···'—चिता में अग्नि कोई सम्बन्धी ही लगाता है, इससे कहती हैं कि तुम माता हो, माता से शरीर मिलता है, वैसे तुमने मुझे राक्षसियों से बचाया है, यही नया जन्म दिया है। अतएव तुम्हें ही दग्ध करना उचित है।

(३) 'सत्य करहि मम प्रीति ···'—यदि प्रिय के विरह में शरीर-त्याग न हो, तो प्रीति सत्य नहीं है ; यथा—"बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद। बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥" (बा० दो० १६); "तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह।" (दोहावली ३१८)। "राम गये अजहूँ हौं जीवत समुझत ही अकुलान। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥" (गी० अ० ५१)। 'सयानी'—कहने का भाव यह कि तुम यह जानती हो कि पति के बिना स्त्री का जीवन ही व्यर्थ है।

'सुनै को श्रवन'···'—दुष्ट के प्रतिकूल वचनों के सुनने से मरना ही अच्छा है ; यथा—"अरिवस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही॥" (अ० दो० २०)।

सुनत बचन पद गहि समुझायेसि। प्रभु-प्रताप बल सुजस सुनायेसि॥५॥
निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निजभवन सिधारी॥६॥
कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥७॥
देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥८॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥९॥

अर्थ—वचन सुनते ही उसने चरण पकड़कर समझाया और प्रभु का प्रताप, बल और सुयश सुनाया॥५॥ हे सुकुमारी! सुनो, रात में आग नहीं मिलती—ऐसा कहकर वह अपने घर चली गई॥६॥ श्रीसीताजी (अपने मन में) कहती हैं कि विधाता मुझे विपरीत हो गया है, (इससे) न अग्नि मिलेगी और न शूल मिटेगा।७॥ आकाश में अंगारे (चिनगारियाँ) प्रकट दिखाई पड़ते हैं, पर पृथिवी पर एक भी तारा नहीं आता॥८॥ चन्द्रमा अग्निमय है, पर मानों मुझे अभागिनी जानकर अग्नि नहीं गिराता॥९॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन पद गहि'''—'पद गहि'—श्रीसीताजी ने उसे मातृ-पद का महत्त्व दिया। अतः, चरण पकड़कर उसने अपनेको दासी जनाया। पुनः उनकी दी हुई आज्ञा को न पाल सकने के अपराध को क्षमा कराने के लिये भी चरण पकड़े। पुनः शपथ की दृष्टि से भी चरण पकड़कर प्रभु के प्रताप आदि की सत्यता दृढ़ की। 'समुझायेसि'—श्रीरामजी अवश्य आयेंगे और शत्रु का मान मर्दन कर तुम्हें ले जायँगे, तब तक धैर्य रक्खो। धैर्य को दृढ़ करने के लिये प्रभु के प्रताप आदि सुनाये। 'प्रभु'—कहने का तात्पर्य यह कि वे समर्थ हैं। 'प्रताप'—जैसे कि तुम्हारे लिये थोड़ा अपराध करने पर सींक के बाण से जयन्त की क्या दशा हुई, उसे तुमने आँखों से देखा है। 'बल'—धनुर्भंग की व्यवस्था प्रभु के अपरिमित बल की परिचायिका है; यथा—"तब भुज-बल-महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥" (बा० दो० २३८); यह भी आपने देखा है। आश्रितों की रक्षा करने के श्रीरामजी के सुयश को भी आप जानती ही हैं; यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयौं सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृत-समन, सोक श्रम सींव सुग्रीव आरति हरन॥" (गी० सुं० ४३); तथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्॥" (वाल्मी० ४।१५।१९-२०); अर्थात् श्रीरामजी साधुओं के आश्रयदाता तथा पीड़ितों के रक्षक हैं। वे दुःखियों के आश्रय-स्थान हैं और यश के अद्वितीय पात्र हैं। तब वे तुम परम अनुरागा को कैसे भुला सकते हैं?

(२) 'निसि न अनल मिल सुनु'''—जब भारी विरह के कारण समझाने से भी धैर्य न हुआ, तब उसने अग्नि न मिलने का बहाना किया। 'सुकुमारी'—का भाव यह कि तुम्हारा शरीर अत्यन्त सुकुमार है। अतः, अग्नि का ताप सहन होना असंभव है; यथा—"अति सुकुमार न तनु तप जोगू।" (बा० दो० ७३)। 'निज भवन सिधारी'—वह समझती है कि ये तो सयानी हैं। यदि अग्नि मिलने का कोई उपाय बतलाकर उसे लाने को कहेंगी, तब आज्ञा-भंग करना अनुचित होगा, इससे घर को चल दिया। यह भी प्रभु की ही प्रेरणा है, क्योंकि उन्हें श्रीहनुमान्‌जी को श्रीसीताजी से भेंट का अवकाश देना है। इसके वहाँ रहते हुए यह ठीक न होता।

(३) 'कह सीता बिधि'''—'कह' शब्द वाणी से भी कहा जाना प्रकट करता है कि आगे की बातें मुख से भी कही गई हैं। तभी सुनकर ऊपर से श्रीहनुमान्‌जी ने अग्नि की जगह मुद्रिका गिराई है। *'बिधि भा प्रतिकूला'—क्योंकि हितैषिणी त्रिजटा भी यहाँ से चली गई; यथा—"भये बिधि* बिमुख बिमुख सब कोऊ॥" (अ० दो० १८१)। 'मिलिहि न पावक'''—भाव यह कि अग्नि के द्वारा शरीर-त्याग से ही दुःख दूर होगा। ऊपर कहा ही गया; यथा—"दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई।" शूल; यथा—"सुनै को श्रवन सूल सम बानी।"

(४) 'देखियत प्रगट गगन'''—श्रीसीताजी विधाता की प्रतिकूलता को प्रकट कर रही हैं कि वह अंगारे दिखाता तो है, पर देता नहीं, भाव यह कि अंगारे नहीं दिखलाई पड़ते तो संतोष हो भी जाता कि अग्नि है ही नहीं, क्या करें? 'प्रगट'—भाव यह कि त्रिजटा ने झूठ ही कहा था कि अग्नि नहीं मिलती, पर हमें तो यह प्रत्यक्ष दिख रही है। अंगारे क्या हैं, उन्हें उत्तरार्द्ध में ग्रंथकार स्वयं कहते हैं कि वे तारे हैं। 'एकउ'—भाव यह कि अगणित हैं, पर मिलता एक भी नहीं, एक भी मिलने से काम चल जाता।

इससे जान पड़ता है कि अब ये स्वयं अपने लिये चिता बनाना चाहती हैं, केवल आग की ही खोज में हैं; लकड़ी तो यहाँ मिल ही जायगी, क्योंकि यह बाग है। इसी से त्रिजटा ने लकड़ी न मिलने का बहाना नहीं किया।

(५) 'पावकमय ससि···'—विरह में चन्द्रमा एवं तारे सभी अग्निमय ज्ञान पड़ते हैं ; यथा—"हहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम । जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम ॥" "सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ । अगिनि ताप है हम कहँ सँचरत आइ ॥" (बरवा ३७-३८)। भाव यह है कि चन्द्रमा अग्नि से भरा हुआ है, पर थोड़ी-सी भी नहीं टपकाता। या एक भी तारा यदि भूमि पर आ जाता अथवा चन्द्रमा ही थोड़ी-सी अग्नि गिरा देता, तो इनमें किसी एक से ही काम चल जाता। 'हतभागी'—पति-वियोग होते ही मेरा भाग्य फूट गया, अतएव सभी विमुख हैं।

पहले विधाता को दोष दिया और उसके कार्य दिखाये, फिर यहाँ के 'हतभागी' शब्द से उसे भी निर्दोष किया कि मेरे कर्म के अनुसार ही तो ब्रह्मा ने भाग्य बनाया, जब कर्म में लिखा है ही नहीं, तब वह दे कहाँ से ? ब्रह्माजी सबकी बुद्धि के देवता तो हैं ही, साथ ही तारा और चन्द्रमा आदि के भी नियामक हैं।

सुनहि बिनय मम बिटप असोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥१०॥
नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि तनु करहि निदाना ॥११॥

अर्थ—हे अशोक वृक्ष ! मेरी विनती सुन, अपना नाम सत्य कर, मेरा शोक दूर कर ॥१०॥ तेरे नवीन कोंपल (पल्लव) अग्नि के समान हैं, अग्नि देकर मेरे शरीर का अंत कर दे ॥११॥

विशेष—(१) 'सुनहि बिनय मम···' श्रीसीताजी इस समय अत्यन्त व्याकुल हैं, इसी से जड़ वृक्ष से भी सुनने को कहती हैं ; यथा—"भये बिकल जब प्राकृत दीना ।···पूछत चले लता तरु पाती ॥" (आ० दो० ३१) ; 'बिटप असोका'—बिटप परोपकारी होते हैं ; यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्हि की करनी ॥" (उ० दो० १२५)। इसीलिये अशोक के साथ विटप भी कहा गया है। अपने नाम की लज्जा सभी को होती है। अतः, मेरा शोक नाश करके अपना अशोक नाम सत्य करो। चन्द्रमा की तरह मेरे दुर्भाग्य पर दृष्टिपात न करो। आगे शोक-हरण का उपाय यों कहती हैं—

'नूतन किसलय अनल समाना ।···'—भाव यह है कि तेरे पास अग्नि बहुत है, उसकी वृष्टि कर दे, जिससे मेरा शरीर भस्म हो जाय। मुझे लकड़ी जुटाकर चिता बनाना भी न पड़े।

शंका—मरने के और भी उपाय हैं ; यथा—"हृदय सहित गिरिते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ ।" (बा० दो० ५९) ; ये सबसे अग्नि ही क्यों माँगती हैं ?

समाधान—(क) सती स्त्री अग्नि में ही जल मरती हैं। (ख) अग्नि में इनके बिंब की स्थिति है, प्रतिबिंब वहीं जाकर मिलना चाहता है। (ग) हरि-इच्छा से ऐसी प्रवृत्ति हुई, श्रीहनुमान्जी अशोक पर अँगूठी लिये हुए बैठे हैं। विरहाग्नि से तप्त हो कर प्राकृत अग्नि में जलना सुगम मानकर तारा, चन्द्रमा आदि को अग्निमय मानती हुई, अशोक के लाल पल्लवों को भी अग्निमय देखती हुई, उससे भी अग्नि माँगती। तब श्रीहनुमान्जी को अँगूठी गिराने का अवसर मिलेगा और वे उसे अग्नि समझकर लेंगी।

देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥१२॥

सोरठा—कपि करि हृदय बिचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अंगार, दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥१२॥

अर्थ—श्रीसीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर वह क्षण कपि को कल्प के समान बीत गया ॥१२॥ तब कपि श्रीहनुमानजी ने हृदय में विचारकर अँगूठी गिरा दी, मानों अशोक ने अंगारा दिया, श्रीसीताजी ने हर्षित हो उठकर उसे हाथ में ले लिया ॥१२॥

विशेष—(१) 'देखि परम बिरहाकुल सीता। ···'—पहले श्रीजानकीजी को दीन दशा में देख कर श्रीहनुमानजी परम दुखी हुए थे ; यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन ॥" (दो० ८) ; अब विरह से परम व्याकुल देखकर उन्हें उस क्षण का बीतना कल्प के समान प्रतीत हुआ। जब देखने-वाले का ही क्षण कल्प के समान बीता, तब श्रीसीताजी की दशा कैसे कही जाय? क्षण=पल का चतुर्थांश, समय का सबसे छोटा भाग। कल्प=ब्रह्मा का एक दिन जिसमें १४ मन्वंतर होते हैं। श्रीसीताजी की वह दशा क्षण-भर ही रही कि श्रीहनुमान्जी ने देखा कि अब ये प्राण ही छोड़ना चाहती हैं। अत, उन्होंने शीघ्र ही मुद्रिका डाल दी।

(२) 'कपि करि हृदय बिचार···'—विचार पर प्रसंग छूटा था ; यथा—"करइ बिचार करउँ का भाई।" अब वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं कि श्रीसीताजी अशोक से आग माँग रही हैं, उसकी जगह मुद्रिका दे दूँ, मुद्रिका में माणिक्य का नगीना था। सोने के साथ जड़ा होने से उसमें अधिक ललाई आ गई थी, जिससे वह मुद्रिका अंगार की तरह दिखलाई पड़ती थी। अशोक वृक्ष पर से मुद्रिका गिरी और उससे इनका शोक दूर होगा, इसी से मानों उसने अपना अशोक नाम सत्य किया। 'हरषि उठि कर···'—अग्नि पा कर श्रीसीताजी को हर्ष हुआ। अत', इससे विरह की सत्यता जानी गई। उन्होंने उसे उठकर ले लिया। इससे अँगूठी का गिरना कुछ दूरी पर सूचित किया गया, किंतु अधिक दूर पर भी नहीं गिरी, नहीं तो धाइ कर गहना कहा जाता। अभी तक जिस-जिस से अग्नि माँगी गई, किसी ने नहीं दी। यहाँ वायुपुत्र के द्वारा प्राप्त हुई, क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति वायु से ही होती है ; यथा—"वायोरग्नि ॥" (तैत्त० २।१)।

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम-नाम अंकित अति सुंदर ॥ १ ॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी ॥ २ ॥
जीति को सकइ अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई ॥ ३ ॥

अर्थ—तब राम-नाम-अंकित अत्यन्त सुन्दर मनोहर अँगूठी देखी ॥ १ ॥ पहचानकर उसे चकित (विस्मित) होकर देखती हैं। हर्ष और विषाद से हृदय में व्याकुल हो गईं ॥२॥ श्रीरघु-नाथजी अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है? अर्थात् कोई नहीं और माया से ऐसी रची नहीं जा सकती ॥३॥

विशेष—(१) 'तब देखी मुद्रिका मनोहर···'—श्रीसीताजी ने पहले अग्नि के धोखे से अँगूठी को मुट्ठी में ले लिया, जब वह गर्म नहीं मालूम हुई, तब उन्होंने उसे खोलकर देखा, तो वह मुद्रिका थी, फिर अच्छी तरह देखा, तब उसमें रामनाम अंकित (लिखा) पाया। 'मनोहर'—रामनाम मनोहर है ; यथा—

"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १९); उससे अंकित होने से यह मुद्रिका भी मनोहर है। एक तो इसकी बनावट ही सुन्दर है, उसपर रामनाम अंकित होने से 'अति सुन्दर' है।

(२) 'चकित चितव ···'—जहाँ चकित होकर चारों दिशाओं में देखना होता है वहाँ 'बहु दिसि' एवं 'सकल दिसि' भी साथ लिखते हैं। यहाँ विस्मित होकर मुँदरी के ही देखने का अर्थ है; यथा—"जहँ-जहँ जाहिं कुँवर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥" (बा० दो० २२१), 'हरष-बिषाद ···'—हर्ष मुद्रिका मिलने का हुआ और विषाद इस लिये हुआ कि यह यहाँ पर आ गई कैसे? यही आगे कहती हैं—'जीति को सकै ···', 'हृदय अकुलानी'; यथा—"हृदय हरष बिषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि॥" (गी० सुं० १); पहले विरह की व्याकुलता में कुछ कहती भी थीं, अब तो दंग रह गईं।

(३) 'जीति को सकै ···'—वाल्मी० ५।३७।१४–१७ में श्रीसीताजी ने स्वयं कहा है कि मैं अपने स्वामी के प्रभाव को जानती हूँ, उन्हें कोई जीत नहीं सकता। यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनहारा॥" (अ० दो० १८८), ये प्रमाण माधुर्य के हैं; ऐश्वर्य-दृष्टि में तो—"भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १७), कहा गया है। 'रघुराई' का भाव यह कि सभी रघुवंशी अजेय होते आये हैं और ये तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं; यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥ कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥" (बा० दो० २५२); 'माया ते असि रचि नहिं जाई'—'असि' का भाव यह है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी के भूषण सब दिव्य हैं, सायुज्य-मुक्त जीव हैं, चेतन हैं। गी० सुं० ३ में लिखा है कि श्रीजानकीजी ने मुद्रिका से बातें की हैं और उसने उत्तर में श्रीरामजी का समाचार कहा है। श्रीहनुमान्‌जी का भी परिचय दिया है, तो वह माया से नहीं हो रची जा सकती। वाल्मी० ३६।२४ में भी कहा है—"रामनामांकितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्॥ प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना॥···गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्। भर्तारमिव संप्राप्तं जानकी मुदिताभवत्॥" इत्यादि।

सीता मन बिचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥ ४॥
रामचंद्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ ५॥
लागीं सुनै श्रवन मन लाई। आदिहु ते सब कथा सुनाई॥ ६॥

अर्थ—श्रीसीताजी मन में अनेक विचार कर रही हैं, (उसी समय) श्रीहनुमान्‌जी मधुर वचन बोले॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी के गुण वर्णन करने लगे, (उन गुणों के) सुनते ही श्रीसीताजी का दुःख दूर हो गया॥५॥ कान और मन लगाकर सुनने लगीं, (तब) श्रीहनुमान्‌जी ने आदि ही से (जन्म से लेकर) सारी कथा सुनाई।६॥

विशेष—(१) 'सीता मन बिचार···'—कि यह मुद्रिका यहाँ कैसे आई? इसपर कोई विचार नहीं ठहर पाता। क्या ऐसा हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी कंद मूल लेने गये हों और श्रीरामजी सो गये हों, तो उसी समय कोई पक्षी ले आया हो, अथवा हमारे वियोग में उन्होंने प्राण ही छोड़ दिये हों और फिर इसी कारण श्रीलक्ष्मणजी ने भी प्राण छोड़ दिये हों, जिससे इसे कोई उठा लाया हो, इत्यादि विचार-पर-विचार उठते जाते हैं। 'मधुर बचन ···'—मीठे अमृत-समान एवं धीमे

स्वर से कि जिसे श्रीजानकीजी ही सुन सकें, दूसरा नहीं ; यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।" आगे कहा है। कानों को प्रिय लगी, इसी से—"लागीं सुनै श्रवन मन लाई।" आगे कहा है।

(२) 'रामचंद्र गुन ...'—चन्द्रमा ताप को दूर करता है, यथा—"सरदातप निसि ससि अपहरई।" (कि० दो० १६) ; और यहाँ राम-गुण से श्रीसीताजी शीतल हुईं, अतएव 'रामचद्र' कहा गया। शीतल होने के सम्बन्ध से 'सीता' कहा गया है ; यथा—"सीता सीत निसा सम आई।" (दो० ३५)। गुण ; यथा—"दीनबंधु सुख सिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।" (वि० ८१)।

(३) 'लागीं सुनै श्रवन मन लाई ...'—जब तक किसी प्रकार का दु ख रहता है, तब तक कथा में मन नहीं लगता और यदि श्रोता का मन न लगे, तो उससे कथा न कहनी चाहिये ; यथा—"यह न कहिय सठही हठ सीलहिं। जो मन लाइ न सुनु हरि लीलहि॥" (उ० दो० १२८) ; इसलिये श्रीहनुमान्जी ने प्रथम राम-गुण सुनाकर श्रीसीताजी का दु ख दूर किया और जब नाना विचारों को छोड उनका मन एकाग्र हुआ तब आदि (बाल-काड) से यहाँ (अरण्य-कांड) तक की भी कथा कही, जिसे वे जानती थीं। तब सीता-हरण की बातें, श्रीरामजी का विरह, जटायु की कथा, श्रीशबरीजी की प्रीति और श्रीसुग्रीवजी की मैत्री और फिर जैसे-जैसे चारों दिशाओं में वानर भेजे गये—ये सब कथाएँ कहीं। उसी सिलसिले में दक्षिण दिशा की सेना में अपना आना और समुद्र लाँघकर लका में श्रीसीताजी का खोजना और उनको पहचानना, पुन मुद्रिका गिराना पर्यन्त सभी बातें कही गईं।

शका—श्रीहनुमान्जी आदि ही से सारी कथा कैसे जानते थे ?

समाधान—उन्होंने श्रीरामजी से सुनी थी, यथा—"आपन चरित कहा हम गाई।" (कि० दो० १), पुन श्रीलक्ष्मणजी ने भी विस्तार से सुनाई थी, यथा—"लछिमन राम चरित सब भाखा॥" (कि० दो० ४) ; और ऋषियों से भी सुनी है, यथा—"राम जनम सुभ काज सब, कहत देव रिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमान के, प्रेम उमँग न अमाइ॥" (रामाज्ञा ४।४।१)।

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥ ७॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥ ८॥
राम - दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥ ९॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम कहँ सहिदानी॥१०॥

अर्थ—जिसने कानों को अमृत के समान प्रिय सुन्दर कथा कही। हे भाई! वह प्रकट क्यों नहीं होता ? ॥७॥ तब श्रीहनुमान्जी पास चले गये, श्रीसीताजी फिरकर (मुँह फेरकर) बैठ गईं, उनके मन में विस्मय हुआ ॥८॥ हे माता श्रीजानकीजी! मैं श्रीरामजी का दूत हूँ, करुणानिधान की शपथ करके सत्य कहता हूँ ॥९॥ हे माता! यह अँगूठी मैं ही लाया हूँ, श्रीरामजी ने यह आपको निशानी दी है (कि जिससे आप मुझे उनके पास से आया हुआ मानें) ॥१०॥

विशेष—(१) 'सो प्रगट होत किन भाई'—श्रीहनुमान्जी ने जो श्रीसीताजी को रामकथा सुनाई, उसी सम्बन्ध से उन्हें प्रिय मानकर श्रीसीताजी ने 'भाई' कहा है ; यथा—"भैया कहहु कुसल दोउ-बारे।" (बा० दो० २९०), जिसने कानों को तृप्त किया, वह नेत्रों को भी क्यों नहीं तृप्त करता। उसके

दर्शनों से नेत्र शीतल होंगे ; यथा—"तोहि देखि सीतल भइ छाती।" (दो० १६); तात्पर्य यह है कि श्रीरामकथा के वक्ता से श्रीमहारानीजी परदा नहीं रखती थीं।

(२) 'तब हनुमंत निकट···'—'तब' जब आज्ञा मिली, पहले तो दूर ही रहे ; यथा—"दूरि ते ताहि सबन्हि सिर नावा। पूछे निज वृत्तांत सुनावा॥" (कि० दो० १४); "दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा।" (लं० दो० १०५); 'चलि गयऊ'—दौड़कर या कूदकर नहीं, क्योंकि उससे ढिठाई होती ; यथा—"तासु निकट पुनि सब चलि आये।" (कि० दो० २४); 'फिरि बैठी'—उठकर मुद्रिका लेना कहा गया था; यथा—'हरपि उठिकर गहेउ' और अभी तक खड़ी-खड़ी उसे देखती और अनेकों विचार करती रहीं, खड़ी-ही-खड़ी कथा भी सुनी और वक्ता को भी निकट बुलाया। पर जब श्रीहनुमान्‌जी समीप गये, तब वे फिरकर बैठ गईं, क्योंकि कथा सुनाई पड़ी—मनुष्य की बोली में और प्रकट हुआ वानर। कहीं यह रावण ही न हो, इसी शंका से मुख फेर लिया और इसी से मन में विस्मय भी हुआ ; यथा—"यथायथा समीपं स हनूमानुपसर्पति। तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते॥" (वाल्मी० ५।३१।६); पहले भी एक बार रावण यती बनकर संस्कृत में बातें की थीं, इसीलिये संदेह हुआ कि कहीं हमें धोखा देने के लिये वही वानर बनकर न आया हो ; क्योंकि राक्षस मायावी होते हैं। अतः, उन्हें रूप बदलने में कुछ कठिनाई नहीं होती है।

(३) 'सत्य सपथ करुनानिधान की।'—शपथ का तात्पर्य यह कि मैं यदि झूठ कहता होऊँ, तो मुझपर श्रीरामजी की करुणा न रहे ; यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (अ० दो० १७); इसमें भी वैसा ही भाव है कि मैं यदि झूठ कहता होऊँ, तो मेरे सुकृत और स्नेह नाश हो जायँ। एक यह भी भाव है कि मैं उनका दूत होने के योग्य न था, पर स्वामी ने करुणा करके यह पद मुझे प्रदान किया है ; यथा—"जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥" आगे कहा है। शपथ से अपने वचन को पुष्ट किया ; यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई।···बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।···" (अ० दो० १७)। इस शपथ से राम-दूत होने की प्रतीति हुई, उसमें नर-वानर की संगति में कुछ जानना है, वही जानने पर पूर्ण विश्वास करेंगी।

नर बानरहि संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे॥११॥

दोहा—कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥१३॥

अर्थ—नर और वानर का संग कैसे हुआ? यह कहो, (श्रीहनुमान्‌जी ने) सारी कथा कही, जिस प्रकार संग हुआ था॥११॥ कपि श्रीहनुमान्‌जी के प्रेम-युक्त वचन प्रेम-सहित सुनकर श्रीसीताजी के मन में विश्वास हुआ और जान लिया (निश्चय हुआ) कि यह मन और वचन से कृपासागर श्रीरामजी का दास है॥१३॥

विशेष—(१) 'नर बानरहि संग···'; यथा—"वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः॥" (वाल्मी० ५।३); पहले की कथा में मैत्रीमात्र का होना सुना था। अतः, उसी को विस्तार से सुनना चाहती हैं।

(२) 'कपि के बचन सप्रेम सुनि···'—कथा कहते हुए श्रीहनुमान्‌जी को बात-बात में प्रेम उमड़

आता था। श्रीराम-लक्ष्मण के स्वरूप-वर्णन में बहुत प्रेम दीखता था। श्रीसीताजी ने जो वस्त्र-भूषण डाल दिये थे, इन्होंने उनका ठीक-ठीक वर्णन किया। तब श्रीसीताजी के मन में पूर्ण विश्वास हुआ और उपर्युक्त विस्मय दूर हुआ। श्रीरामजी के प्रति उनका प्रेम देखकर मन, कर्म और वचन से उन्हें प्रभु का दास जाना, "राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ···" से वचन-द्वारा, 'कपि के वचन सप्रेम···' से मन-द्वारा और "यह मुद्रिका मातु मैं आनी।" से कर्म- द्वारा श्रीरामजी का दास होना जाना। 'कृपासिंधु कर···' —भाव यह कि श्रीरामजी ने मुझपर कृपा करके इसे अपना दास बनाकर भेजा; यथा—"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।" (दो० ६)।

इस दोहे मे श्रीसीताजी के मन का व्यापार अधिक व्यक्त किया गया है, 'मन' शब्द चार बार आया है। ऊपर के दोहे में—"तजउँ देह···आनि काठ···" आदि कर्म और "कह सीता विधि भा प्रतिकूला।···" से "नूतन किसलय···" त वचन की प्रीति श्रीरामजी में कही गई है।

हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥ १॥
बूड़त बिरह - जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहँ जलजाना॥ २॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज-सहित सुख भवन खरारी॥ ३॥

अर्थ—भगवान् का सेवक जानकर अत्यन्त प्रीति बढ़ी, नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकायमान हो गया और रोम खड़े हो गये॥१॥ (श्रीसीताजी श्रीहनुमानजी से बोलीं-) हे तात हनुमान्! मुझ विरह-समुद्र में डूबती हुई को तुम जहाज हुए॥२॥ मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, अब भाई श्रीलक्ष्मण के साथ सुख के स्थान, खर के शत्रु श्रीरामजी का कुशल-क्षेम कहो॥३॥

विशेष (१)—'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।···'—जैसे श्रीहनुमान्जी ने सज्जन (श्रीविभीषणजी) को पहचान लिया; यथा—"हृदय हरप कपि सज्जन चीन्हा।" और विभीषणजी ने भी इन्हें हरि-दास जाना; यथा—"की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई।" वैसे ही यहाँ श्रीसीताजी ने भी श्रीहनुमान्जी को हरिजन जाना। 'प्रीति अति बाढ़ी'; यथा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।" यह विभीषणजी ने भी कहा है और यह संतों का लक्षण भी है; यथा—"संत चरन पंकज अति प्रेमा।" (आ० दो०·१५)। पहले 'प्रीति अति बाढ़ी'—यह मन की दशा हुई और फिर वही दशा तन की—'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी।' से प्रकट हो गई; यथा—"बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी।" (बा० दो० १०३); आगे वचन की दशा भी प्रकट है; यथा—"बूड़त बिरह जलधि···'—अभी श्रीहनुमान्जी ने ही नाव-रूप आधार हो कर उनके प्राण बचाये; यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्र रूप धरि पवन सुत, आइ गयउ जनु पोत॥" (उ० दो० १); किन्तु विरह-सागर अभी है ही, जब श्रीरामजी मिलेंगे, तब श्रीसीताजी उसके किनारे पहुँचेंगी; यथा—"बूड़त बिरह बारीस कृपा-निधान मोहि कर गहि लियो॥" (उ० दो० ५); यह प्रभु से मिलाप होने पर श्रीभरतजी ने कहा है।

इसी तरह श्रीभरतजी एवं श्रीजाम्बवान् आदि के लिये और श्रीरामजी के लिये भी श्रीहनुमान्जी नाव रूप हुए हैं। श्रीभरतजी के प्रति ऊपर कहा गया है। जाम्बवान् आदि के लिये; यथा— "बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज मानो आज जाये जानि सब अंकमाल देत हैं। गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनूमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं॥" (क० सुं० २९); श्रीरामजी के लिये; यथा— "सिय सनेह सागर नागर मन बूड़न लग्यो सहित चित चैन। लही नाव पवनज प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन॥" (गी० सुं २१)।

(२) 'अब कहु कुसल···'—'अब' अर्थात् मेरी कुशल तो की, अब दोनों भाइयों की कुशल कहो। जब मारीच ने श्रीरामजी के समान स्वर में ही आर्त वचन कहा, श्रीसीताजी उसे सुनकर व्याकुल हो गईं और श्रीसीताजी ने श्रीलक्ष्मणजी को उनकी रक्षा के लिये भेजा। तभी इनका हरण हो गया। अतः, उनका कुशल-क्षेम सुनना चाहती हैं और इसके लिये बलिहारी जाती हैं। अपनी कुशल पर बलिहारी नहीं, पर स्वामी की कुशल सुनाने के लिये बलिहारी जाती हैं। इस बड़े उपकार पर यह कृतज्ञता है।

इसी तरह के उपकार पर श्रीरामजी और श्रीभरतजी ने भी इन्हें हृदय से लगाया है; यथा—"पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।" (दो॰ ३१); "सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर।" (उ॰ दो॰ १); पर श्रीसीताजी ने वैसा नहीं किया, किन्तु आगे अमोघ आशिष ही दी है, क्योंकि इनके लिये यही युक्तिसंगत भी है।

'सुख भवन खरारी'—प्रभु आश्रितों के लिये सुख-स्थान हैं और खर की तरह दुष्टों के शत्रु हैं। अतः, दुष्टों को मारकर मुझे सुखी करेंगे—इससे श्रीसीताजी ने अपनी यह अभिलाषा सूचित की। इसमें यह भी ध्वनि है कि खर ने तो इतना ही कहा था—'देहु तुरत निज नारि दुराई।' इसी पर प्रभु ने सेना-सहित उसे मार डाला था और अब रावण के प्रति वैसा रोष क्यों नहीं करते ?

'अनुज सहित' का भाव यह है कि श्रीरामजी अपनी अपेक्षा अपने सेवक की कुशल चाहनेवाले पर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसी से 'अनुज' शब्द पहले है।

कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥ ४ ॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥ ५ ॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥ ६ ॥
बचन न आव नयन भरि बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी ॥ ७ ॥

अर्थ—हे कपि! श्रीरघुनाथजी तो कोमल-चित्त और कृपालु हैं, पुनः रघुकुल में श्रेष्ठ हैं। उन्होंने किस कारण से कठोरता धारण कर ली ? ॥४॥ सेवकों को सुख देने का उनका सहज स्वभाव है, वे श्रीरघुनायक क्या कभी मेरी सुधि लेते हैं ? ॥५॥ हे तात! कभी श्यामल कोमल-शरीर (स्वामी) को देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे ? (अत्यन्त व्याकुलता से) वचन नहीं निकलता, नेत्रों में जल भर आया (और दुःख से कहा—) हा नाथ! मैं बिल्कुल ही भुला दी गई ? ॥७॥

विशेष—(१) 'कोमल चित कृपाल······'—स्वामी सर्वदा कोमल-चित्त और कृपालु हैं, और उनसे तो निष्ठुरता का होना संभव नहीं। फिर रघुवंशी तो निष्ठुर होते ही नहीं, और श्रीरामजी तो उस कुल में भी श्रेष्ठ हैं। वे कैसे निर्दय होंगे ? अतः, इसका कारण कहो; यथा—"श्रीरघुबीर की यह बानि···राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।" (वि॰ २१५)।

(२) 'सहज बानि सेवक सुख दायक।···'—सुख-दायक तो सभी के लिये हैं, पर सेवक को सुख देने की उनकी स्वाभाविक टेव है। उस टेव के वश क्या कभी मेरी भी सुधि करते हैं ? भाव यह कि मैं सेविका हूँ। अतः, किसी सेवा की आवश्यकता पर क्या मुझे स्मरण करते हैं ? ऐसा ही श्रीभरतजी और श्रीविभीषणजी ने कहा है; यथा—"कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥"

(उ० दो० २); "तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥" (दो० ६)। ये वचन दीनता एवं विरह के सूचक हैं।

'कबहुँ नयन मम······'—स्वामी की वाणी को स्मरण कर विरह में अपनी मुख्य अभिलाषा कहती हैं; यथा—"कबहुँ कपि! राघव आवहिं गे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहि गे॥ मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिं गे। अंग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिं गे॥···" (गी० सुं० १०)—यह पूरा पद देखिये। 'श्याम मृदु गाता' से शृंगार-दृष्टि सूचित की, शृंगार का वर्ण श्याम है। स्त्रियों में यह अभिलाषा सहज है; यथा—"नारि बिलोकहिं···जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (बा० दो० २४१); "सीता चितव श्याम मृदु गाता।" (बा० दो० २०)।

(३) 'वचन न आव नयन भरि······'—प्रभु के श्याम मृदु गात का स्मरण कर विरह-विह्वल हो गईं; यथा—"राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी।" (बा० दो० २८६); फिर धैर्य धारण कर कहने लगीं—'अहह नाथ···'; यथा—"पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।" (बा० दो० २८६); 'अहह' शब्द अत्यन्त दुःख का सूचक है। कहा भी है—'अहह इत्यद्भुते खेदे' हा नाथ! मुझे नितान्त ही भुला दिया! यह अत्यन्त आर्त्त वचन है।

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥ ८॥
मातु कुसल प्रभु अनुज-समेता। तव दुख दुखी सुकृपा-निकेता॥ ९॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥ १०॥

अर्थ—श्रीसीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर कपि श्रीहनुमान्‌जी कोमल और विनम्र वचन बोले॥८॥ हे माता! प्रभु भाई के साथ कुशल-पूर्वक हैं, अत्यन्त कृपा के स्थान प्रभु आपके दुःख से दुखी हैं॥९॥ हे माता! अपने मन में लघुता न लाइये, आपसे श्रीरामजी के (हृदय में) दुगुना प्रेम है॥१०॥

विशेष—(१) 'देखि परम बिरहाकुल······'—इस अर्द्धाली का पूर्वार्द्ध पहले आ चुका है; यथा—"देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहिं कलप सम बीता (दो० ११); इससे सूचित किया कि वही दशा फिर यहाँ भी हो गई। बोलने का अवसर वहाँ नहीं था, और यहाँ है। अतः,—'बोला कपि···' विरह की दसवीं दशा होनेवाली है। अतः, समझाने के लिये 'मृदु विनीत वचन' बोले। विरह (वियोग शृंगार) की ग्यारह दशाएँ होती हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण (स्मृति), (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा और (११) मरण। (काव्यप्रभाकर)

इस प्रसंग में श्रीहनुमान्‌जी का तीन बार तीन कारणों पर और तीन प्रकार से बोलना है—(१) जब श्रीसीताजी शरीर-त्याग करने को थीं, तब उन्हें जीवित रखने के लिये वे अमृत-सम मधुर वचन बोले; यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कहि ··" (२) वहाँ उनका विश्वास दृढ़ करने के लिये प्रेम-सहित वचन बोले थे; यथा—"कपि के वचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिश्वास।" (३) और यहाँ उन्हें समझाने के लिये 'मृदु वचन विनीता' बोलते हैं; यथा—"कहि सप्रेम मृदु बचन सोहाये। बहु बिधि राम लोग समुझाये॥" (अ० दो० ८४); "कृपा सिंधु फेरहि तिन्हहिं, कहि बिनीत मृदु बयन॥" (अ० दो० ११२)।

तीन जगहों के तीन प्रकार के विशेषणों का यह भी भाव है कि इनके वचन सभी विशेषणों से युक्त

है। श्रीगोस्वामीजी ने प्रत्येक स्थान में विशेषण नहीं देकर जहाँ जिसकी प्रधानता देखी, वहाँ उसे लिख दिया। अतः, तीनों जगह सब विशेषणों को लेना चाहिये।

(२) 'मातु कुसल प्रभु···'—'कुसल' के साथ 'प्रभु' और 'तव दुख दुखी' के साथ 'कृपानिकेता' कहा है। इसका भाव यह है कि श्रीरामजी समर्थ हैं। अतः, उनपर कोई विघ्न आ नहीं सकता और आपपर उनकी अत्यन्त कृपा है, इसी से आपके दुःख से वे दुखी हैं। अनुज-समेत की कुशल कहने के लिये श्रीसीताजी का अनुरोध था, अतएव उन्होंने उनकी कुशल कही।

(३) 'जनि जननी मानहु···'—श्रीसीताजी ने जो कहा था—"अहह नाथ हौं निपट बिसारी।" उसी का यह उत्तर है। इसी तरह प्रश्नोत्तर श्रीहनुमानजी और श्रीरामजी में भी हुआ था ; यथा—"पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ,···" इसपर प्रभु ने कहा था—"सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥" (कि० दो० ३), दोनों जगह बिसारने के प्रति 'ऊना' शब्द आया है। 'ऊना' का अर्थ न्यूनता, हानि है ; यथा—"काहे को मानत हानि हिये हौ ?" (गी० अ० ७०) ; तथा—"अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहाग तुम्ह कहँ दिन दूना॥" (अ० दो० १०)।

हानि-ग्लानि करना तो तब होता, जब श्रीरामजी का आपमें स्नेह न होता, सो बात नहीं है। श्रीरामजी का तो आपके प्रति आपसे भी दूना प्रेम है ; यथा—"मातु काहे को कहति ऐसो बचन दीन।···ऐसे तो सोचहिं न्याय निठुर नायक रत सलभ खग कुरँग कमल मीन। करुनानिधान को तो ज्यों-ज्यों तन छीन भयो त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन॥" (गी० सुं० ८)।

अरण्य-कांड में श्रीसीताजी के विलाप के प्रसंग की चौपाइयों से श्रीरामजी के विलाप-प्रसंग में दूनी चौपाइयाँ हैं। पुनः आगे के दोहे में श्रीरामजी के प्रेम को स्मरण करके श्रीहनुमान्जी स्वयं गद्गद हो गये। इससे उन्होंने श्रीरामजी का प्रेम श्रीसीताजी से दूना अनुमान किया।

समझाने की रीति के अनुसार और अपनी बुद्धि-भर श्रीहनुमान्जी ने कहा है, वस्तुतः इन दोनों के अन्योन्य प्रेम को तो ये ही दोनों जानते हैं, यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" यह आगे कहा है। तथा—"राम जोगवत सीय-मनु, प्रिय-मनहिं प्रानप्रियाउ। परम पावन प्रेम-परिमिति समुझि तुलसी गाउ॥" (गी० उ० ३५)।

दोहा—रघुपति कर संदेस अब, सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ, भरे बिलोचन नीर॥१४॥

कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहँ सकल भये बिपरीता॥ १॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥ २॥

अर्थ—हे माता ! अब धैर्य धारण कर रघुपति का संदेश सुनिये, यह कहकर श्रीहनुमानजी गद्गद हो गये, उनके दोनों नेत्रों में जल भर आया। १४। श्रीरामजी ने कहा है—हे सीता ! तुम्हारे वियोग में मुझे (सुखद पदार्थ) सभी उल्टे हो गये॥१॥ वृक्षों के नये कल्ले (कोंपलें) मानो अग्नि हैं, रात्रि कालरात्रि के समान और चन्द्रमा सूर्य के समान हैं॥२॥

विशेष—(१) 'रघुपति कर संदेस अब···'—पहले श्रीरामजी के गुण कहे, फिर कथा कही ; यथा—"रामचंद्र गुन बरनै लागा।···आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।" अब संदेश कहते हैं। 'धरि धीर'—क्योंकि अभी-अभी अधीर हो गई थीं ; यथा—"वचन न आव नयन भरि वारी। अहह···" संदेश सुनने की अभिलाषा से धैर्य धारण करेंगी, इसी से ऐसा कहा गया है। किंतु श्रीरामजी के संदेशे को स्मरण कर श्रीहनुमान्‌जी स्वयं भी गद्‌गद हो गये ; यथा—"हर हिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये।" (बा॰ दो॰ ११०) ; इस संदेशे को सुनकर श्रीसीताजी भी प्रेम-मग्न हो जायँगी ; यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥" इससे जनाया कि चरित के श्रोता और वक्ता दोनों का हृदय प्रेमपूर्ण होना चाहिये ; यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा॰ दो॰ ४०)।

(२) 'कहेउ राम···मो कहँ सकल···'—श्रीजानकीजी का वचन है ; यथा—"प्रान नाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥" (अ॰ दो॰ ६४) ; वैसे ही श्रीरामजी भी अपनी दशा कहकर उनका दुःख दूर करते हैं। 'सीता'—का भाव यह कि तुम्हारे संयोग से जो शीतल थे, वे ही सब तुम्हारे वियोग में तप्त हो रहे हैं। 'मो कहँ'—एकवचन है, इससे अपनी दीनता जनाई है। 'सकल'—सभी सुखद पदार्थ, इनमें कुछ को आगे गिनाते हैं। यह संदेश किष्किंधाकांड में नहीं लिखा गया, क्योंकि यह रहस्य की बात है। श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी के कानों में लगकर इसे कहा था ; यथा—"कहँ हम पसु साखा मृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की। कहँ प्रभु सिव अज पूज्य ज्ञान घन नहिं बिसरति वह लगनि कान की॥" (गी॰ सुं॰ ११) वह बात प्रभु ने गुप्त-रूप से कही थी, इससे श्रीगोस्वामीजी ने भी उसे गुप्त ही रक्खा था। जब वह यहाँ प्रकट हुई, तब इन्होंने भी खोल दी।

(३) 'नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।···'—नई कोंपलों के विषय में ही पहले कहा, क्योंकि ये वन में ही रहते हैं, और श्रीरामजी की दृष्टि इनपर बराबर पड़ा करती है। इसीपर सोते भी हैं ; यथा—"तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥" (लं॰ दो॰ १२) ; अर्थात् नीचे की कोमल साथरी जलाये डालती है और ऊपर से चन्द्रमा भी सूर्य की तरह तापदायक हो रहा है। रात भी नहीं बीतती, कालरात्रि के समान दुःखद हो रही है, 'कालराति' ; यथा—"मानहुँ कालराति अँधियारी।" (अ॰ दो॰८१) ; जहाँ तक भी दृष्टि जाती है, वहाँ तक चारों ओर की नवीन कोंपलें जलाये डालती हैं। यह रात का दुःख कहा।

कुबलय बिपिन कुंत-बन-सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥ ३॥

जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास-सम त्रिबिध समीरा॥ ४॥

कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥ ५॥

अर्थ—कमल का वन भाले के वन के समान है, मेघों ने मानों जलता हुआ तेल बरसाया॥३॥ (ऐसे ही) जो हित करनेवाले थे, वे ही पीड़ा दे रहे हैं, तीनों प्रकार की हवा सर्प की श्वासा के समान (विष-भरी हुई) है॥४॥ कह डालने से भी दुःख कुछ कम हो जाता है, भभक (उबाल) निकल जाती है, पर कहूँ किससे ? यह दुःख कोई जानता ही नहीं, (अनभिज्ञ से कहना व्यर्थ है)॥५॥

विशेष—(१) 'कुबलय-बिपिन कुंत-बन···'—कमल की नाल भाले की छड़ है, फूल ग्रंथि और फूल की नोक मानों भाले की नोक है, और उसका चलानेवाला काम है, क्योंकि कमल काम का बाण कहा

गया है, पचवाणों मे कमल भी एक है। 'वारिद तपत तेल '—विरही को वर्षा अत्यत दु:खद होती है। यहाँ दिन का दु:ख वर्णन किया गया।

सीता-हरण चैत्र के महीने मे हुआ और यह सदेशा शरद्-ऋतु मे कहा गया। इसी से इतनी ऋतुओं के भी दु:ख लक्षित किये गये हैं; यथा—"नवतरु किसलय मनहु कृसानू।"—यह वसन्त का दु:ख है, इसमे वृक्षों के पुराने पत्ते झडकर नये होते है जो विरही के लिये दु:खद हैं, यथा—"काल-निसा-सम निसि ससि भानू।" यह ग्रीष्म का दु:ख है, क्योंकि ग्रीष्म के सूर्य दु:खदायक होते है, दिन मे प्रचड सूर्य तो तपते ही है, रात में चन्द्रमा भी वैसा ही तापकर होता है। "कुवलय-विपिन ..." यह शरद्-ऋतु का दु:ख है, कमल की शोभा शरद्-ऋतु मे ही अधिक होती है और "वारिद तपत तेल ..."—यह वर्षा का दु:ख है।

शरद्-ऋतु वर्षा के पीछे होती है, पर पहले ही कही गई है, इससे जनाया गया कि श्रीरामजी विरह विह्वल हैं, इसी से ऋतु-कथन मे भी व्यतिक्रम कर गये। 'मोरहि सकल भये विपरीता' के अनुसार वर्णन मे भी व्यतिक्रम हुआ। अथवा, श्रीहनुमानजी ही वर्णन के उपक्रम मे गद्गद हो गये हैं, यथा—"अस कहि कपि गद्गद भयो ..." इसी से इनके कहने मे भी व्यतिक्रम हो सकता है।

(२) 'जे हित रहे करत ...'—भाव यह कि अहित करनेवाले का पीडा देना स्वाभाविक ही है। पर जो हितकर हैं, उनका पीडा देना स्मरण कर अधिक दु:ख होना है। त्रिविध समीर जो शीतल मद, सुगंधित होना था, वही गरम, तीव्रगति और दुर्गंधयुक्त हो रहा है (त्रिविध वायु ठढी, रोगहारक और सुखद होती है और सर्पश्वास गर्म, रोग वर्द्धक और दु:खद।) यहाँ तक नवतरु किसलय, निशि, शशि, कमल, वर्षा और त्रिविध समीर—ये छ सुखद पदार्थों का दु:खद होना कहा गया है। पुन —'जे हित रहे ' से और भी अनुकूलों का प्रतिकूल होना कहा गया है; यथा—"सब विपरीत भये माधव बिनु, हित जो करत अनहित की करनि ॥" (कृष्ण गी॰ ३०)।

(३) 'कहेहू तें कछु ...'—'कछु'—पूरा दु:ख तो प्रिय के मिलने पर ही नाश हो सकता है। पर समझदार सहानुभूति रखनेवाले से कहने पर भी उसका कुछ अश निकल जाता है। भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी यद्यपि साथ मे हैं, तथापि ये बातें उनसे कहनी उचित नहीं है।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा ॥ ६ ॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥ ७ ॥

अर्थ—हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेम का तत्त्व एक मेरा मन ही जानता है, पर वह मन भी सदा तुम्हारे पास ही रहता है—इतने मे ही प्रीति का स्वाद एव उसका भेद जान लो ॥६॥

विशेष—(१) 'तत्त्व प्रेम कर मम '—प्रेम का तत्त्व अर्थात् प्रेम की वास्तविक स्थिति। प्रेम की स्थिति अन्योन्य सापेक्ष होती है। मेरा मन तुम्हारे पास ही रहता है, ऐसा ही तुम्हारा मन भी मेरे पास है, यह निश्चय है, नहीं तो मेरे मन मे विक्षेप आदि विघ्न होते। इस बात को मेरा मन ही जानता है, दूसरा कोई कैसे समझ सकता है?

तात्पर्य यह कि तुम्हारे विना तन से दु:ख सहता हूँ, यथा—"जे हित रहे करत तेइ पीरा।" वचन का भी दु:ख है, यथा—'काहि कहउँ ' " और मन का दु:ख यह है कि उसने अपने तन-वदन की सुधि ही छोड़ दी, क्योंकि वह तो सदा तुम्हारे ही पास रहता है, यथा—'सो मन सदा रहत तोहि पाहीं ' "

(२) 'सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं ।'—श्रीजानकीजी ने कहा था—"कबहुँक सुरति करत रघु-नायक ।" उसका यहाँ उत्तर है कि मेरा मन सदा तुम्हारे ही पास रहता है, यही तो प्रीति का रस (स्वाद) है। जिसपर अत्यन्त प्रीति होती है, उसपर दिन-रात मन लगा रहता है; निरन्तर यह दशा रहनी ही प्रीति की पूर्णस्थिति है। इसी से कहा गया है—"जानु प्रीति रस···"; यथा—"नित्यं ध्यान परो रामो नित्यं शोक-परायणः। नान्यच्चिन्तयते किंचित्स तु कामवशं गतः ॥ अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः। सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते ॥" (वाल्मी० ५।३६।४१-४४); अर्थात् श्रीरामजी सदा तुम्हारा ही ध्यान किया करते हैं, शोकपरायण रहते हैं, और कुछ भी चिंतवन नहीं करते। उन्हें नींद नहीं आती, कभी सो भी जाते हैं, तो मधुर वाणी से सीता-सीता कहकर जाग उठते हैं।

प्रभु - संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही ॥ ८ ॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुख-दाता ॥ ९ ॥
उर आनहु रघुपति - प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई ॥१०॥

दोहा—निसिचर-निकर पतंग-सम, रघुपति-बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु ॥१५॥

अर्थ—प्रभु का संदेश सुनते ही वैदेही श्रीसीताजी प्रेम में मग्न हो गईं, उनको शरीर की सुधि न रह गई ॥८॥ श्रीहनुमान्जी ने कहा—हे माता! धीरज धरो, सेवक को सुख देनेवाले श्रीरामजी का स्मरण करो ॥९॥ श्रीरघुनाथजी की प्रभुता को हृदय में स्मरण करो और मेरा वचन सुनकर कायरता छोड़ो ॥१०॥ निशाचर-समूह पतंग के समान हैं, रघुपति के बाण अग्नि हैं। हे माता! हृदय में धैर्य धारण करो, राक्षसों को जला हुआ ही समझो ॥१५॥

विशेष—(१) 'प्रभु-संदेस सुनत बैदेही।···'—तन की सुधि न रहने से 'वैदेही' कहा है। 'तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।···जानु प्रीति रस···" यह प्रेम का संदेश है, इसे सुनकर प्रेम में मग्न हो गईं। मन श्रीरामजी में तन्मय हो गया, इससे उन्हें अपनी देह की भी सुधि न रही; यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन-दुख-सुख-सुधि केही ॥" (अ० दो० २७४); 'धीर धरु माता'—विपत्ति में धैर्य धारण करना मुख्य है, इसलिये बार-बार कहते हैं; यथा—"रघुपति के संदेस अब सुनु जननी धरि धीर।" "कह कपि हृदय धीर धरु माता।"; "जननी हृदय धीर धरु।"; "कछुक दिवस जननी धरु धीरा।" इस प्रकार चारों हेतुओं के लिये, चारों बार धैर्य धरने के लिये कहा है। श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी को सेवक-सुखदायक कहा है; यथा—"सहज बानि सेवक-सुखदायक।" श्रीहनुमान्जी भी वही विशेषण देकर कहते हैं; यथा—"सुमिरु राम···" इसी से दुःख दूर होगा; यथा—"जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥" (बा० दो० २२); 'उर आनहु रघुपति प्रभुताई।···'; यथा—"तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई ॥" (कि० दो० १८), 'प्रभुताई'; यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई।" (लं० दो० ९४); तब उनके आगे रावण क्या है? 'मम बचन'—जो आगे कहते हैं—

(२) 'निसिचर-निकर पतंग···'—एक दो पतंग दीपक में ही जल मरते हैं, पर समूह-के-समूह पतंगों के एक साथ टूट पड़ने से दीपक ही बुझ जाता है, यहाँ निशाचर के समूह हैं, इसलिये रघुपति के

बाण को कृशानु कहा गया है। क्योंकि पतंगों के समूह-के-समूह पड़ने पर भी अग्नि नहीं बुझती। 'निसिचर'—नाम भी सहेतुक है, पतंग मोहवश रात में ही जल मरते हैं, यथा—"जरहिं पतंग बिमोह बस···" वैसे ही निशाचर भी मोह-रूप ही हैं और स्वयं मोहवश नाश में प्रवृत्त हैं; यथा—"मोह दसमौलि···" (वि॰ ५८); "प्रभु समीप धाये खल कैसे। सलभ समूह अनल कहँ जैसे॥" (लं॰ दो॰ ८४); जैसे कि शूर्पणखा स्वयं आई, खर-दूषण आदि भी स्वयं आकर लड़े और रावण ने भी स्वयं नाश का उपाय रच डाला। 'जरे निसाचर जातु'—क्योंकि, प्रभु सत्यसंध हैं और इनके वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं—"निसिचर हीन करउँ महि···" (आ॰ दो॰ ९)।

जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई॥१॥
राम-बान-रबि उयें जानकी। तम-बरूथ कहँ जातुधान की॥२॥
अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु-आयसु नहिं राम-दोहाई॥३॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह-सहित अइहहिं रघुबीरा॥४॥

अर्थ—जो रघुवीर श्रीरामजी समाचार पाये होते तो वे विलंब न करते, (क्योंकि) वे रघुकुल के राजा हैं॥१॥ हे श्रीजानकीजी! राम-बाण-रूपी सूर्य के उदय होने पर राक्षस-समूह-रूपी अंधकार कहाँ रह जायगा?॥२॥ हे माता! मैं अभी तुमको लिवा ले जाऊँ; पर 'राम दोहाई' प्रभु की आज्ञा नहीं है॥३॥ हे माता! कुछ ही दिन धैर्य धरो, वानरों के साथ रघुवीर श्रीरामजी आयेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'जौं रघुबीर होति सुधि···'—'रघुबीर' का भाव यह है कि यदि वे सुधि पाये होते, तो भारी पराक्रम करते; यथा—"एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महँ आनउँ॥" (कि॰ दो॰ १०); 'रघुराई' अर्थात् रघुकुल के सभी राजा आश्रितों की रक्षा में तत्पर रहनेवाले हुए हैं और ये उनमें श्रेष्ठ हैं, तो विलंब कैसे करेंगे? समाचार पाते ही इसका उद्योग करेंगे; यथा—"अब बिलंब केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे॥" (दो॰ ३२); "अब बिलंब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक।" (लं॰ दो॰ १)—यह श्रीहनुमानजी के वचन का चरितार्थ है। 'रघुबीर' और 'रघुराई' में पुनरुक्ति नहीं है, दोनों दो भावों में और दो क्रियाओं के साथ कहे गये हैं।

(२) 'राम-बान रबि उये···'—यथा—"तव बियोग-संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की। न तु कहु कहँ रघुपति सायक रबि तम अनीक कहँ जातुधान की॥" (गी॰ सुं॰ ११); जैसे सूर्योदय से बिना श्रम ही तम का नाश हो जाता है; यथा—"उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (बा॰ दो॰ २३८); वैसे ही श्रीरामजी के बाण से बिना श्रम ही राक्षस-समूह नाश होंगे।

इस प्रसंग में राक्षसों का नाश दो बार कहा गया—(क) रघुपति-बाण-कृशानु से पतंग के समान जलना, (ख) राम-बाण-रबि से तम-रूपी निशाचर-समूह का नाश। पहला रात में मरने का और दूसरा दिन में मरने का दृष्टान्त है; यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती।" (लं॰ दो॰ ७०); यह भी भाव है कि पहली उपमा में राक्षसों का निःशेष न हुआ, इसलिये दूसरी कही गई। उसमें निःशेष का भाव है, क्योंकि सूर्योदय से सर्वत्र अंधकार का नाश हो जाता है।

(३) 'अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई।'···श्रीहनुमानजी छोटे रूप में हैं, इससे श्रीमहारानीजी

विश्वास कैसे करें कि ये मुझे ले जा सकते हैं, इसी की पुष्टि के लिये उन्होंने शपथ की। पुनः मनोरथ की सत्यता पर भी शपथ की कि यदि आज्ञा-भंग का डर मुझे न होता, तो अवश्य अभी ही लिवा ले चलता। स्वामी ने इतनी ही आज्ञा दी है; यथा—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥" (कि॰ दो॰ २१); 'प्रभु-आयसु'—का भाव यह है कि अपने अपराधी को दंड देने में वे स्वयं समर्थ हैं। लीला के लिये वानर-भालुओं को साथ रक्खेंगे; यथा—"तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि-सेना॥ कपि सेन संग संहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं॥" (कि॰ दो॰ ३०)। फिर भी श्रीमहारानीजी ने संदेह किया; यथा—"हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।···" तब इन्हें अपना विशाल रूप दिखाकर उन्हें विश्वास दिलाना पड़ा। प्रभु ने भी इसलिये आज्ञा नहीं दी कि वे स्वयं निशाचर-वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, क्योंकि ब्रह्माजी का वचन भी रखना है।

(४) 'कछुक दिवस जननी···'; यथा—"बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि महँ दोउ बीर। मिलहिं गे कपि-भालु-दल संग जननि उर धरु धीर॥" (गी॰ सुं॰ १); कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा।'—पूर्व राम-बाण को कृशानु और भानु कहकर उससे निशाचरों का नाश होना कहा गया है। वहाँ यह नहीं जनाया गया था कि किस तरह श्रीरामजी निशाचरों को मारेंगे। वहीं से बाण छोड़ देंगे या कि लंका आवेंगे और यदि लंका आवेंगे भी, तो अकेले या दल-बल समेत? इसी सन्देह को यहाँ स्पष्ट करते हैं कि दल-समेत आवेंगे और वीरता से राक्षसों को मारकर तुम्हें ले जायेंगे।

निसिचर मारि तोहि लै जइहहि। तिहुँपुर नारदादि जसु गइहहि॥५॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना। जातुधान अति भट बलवाना॥६॥
मोरे हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा॥७॥

अर्थ—निशाचरों को मारकर तुम्हें ले जायेंगे, तीनों लोकों में नारदादि यश गावेंगे॥५॥ (श्रीसीताजी ने कहा—) हे पुत्र! सब वानर तो तुम्हारे ही समान हैं और राक्षस तो अत्यन्त योद्धा और बलवान् हैं॥६॥ मेरे मन में परम संदेह है, यह सुनकर कपि ने अपना शरीर प्रकट किया॥७॥

विशेष—(१) 'निसिचर मारि तोहि······'—श्रीहनुमान्‌जी ने प्रथम—"आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।" किष्किंधाकांड तक और वर्तमान सुन्दरकांड तक की कथा कही थी, अब यहाँ से आगे की कथा कहते हैं; यथा—'"निसिचर मारि तोहि लेइ जइहहिं"—लंकाकांड और—"तिहुँपुर नारदादि···" —यह उत्तरकांड है; यथा—"राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुरमुनि बर बानी॥" (बा॰ दो॰ २४); "बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥ नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥" (उ॰ दो॰ ५१)।

(२) 'मोरे हृदय परम संदेहा।······'—श्रीरामजी को तो जानती हैं कि अजेय हैं; यथा—जीति को सकै अजय रघुराई।" यह ऊपर कहा ही है। पर वानरों के छोटे रूप पर परम संदेह करती हैं कि बड़े डील-डौलवाले वानर भी राक्षसों के आहार ही हैं; अतः, मुझे संदेह है। फिर तुम्हारी तरह के छोटे शरीरवालों को देखकर तो परम संदेह है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यर्थ ही वानरों की ऐसी सेना प्रस्तुत कर राक्षसों के द्वारा इसका नाश कराके अयश क्यों लेंगे?

तब श्रीहनुमान्‌जी ने सोचा कि अपना बल वचन-मात्र के द्वारा कहने से इन्हें विश्वास नहीं होगा, इसलिये अपना वास्तविक शरीर प्रकट करके दिखाया।

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा ॥८॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ॥९॥

दोहा—सुनु माता साखामृग, नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु-प्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥१६॥

अर्थ—स्वर्ण-पर्वत के आकार का वह शरीर था, जो युद्ध में (शत्रु को) अत्यन्त भय उत्पन्न करने-वाला, अत्यन्त बली और वीर था ॥८॥ (इसे देखा) तब श्रीसीताजी के मन में भरोसा आया, श्रीहनुमानजी ने पुनः लघु रूप धारण कर लिया ॥९॥ (और बोले) हे माता! सुनो, वानरों में बल और बुद्धि नहीं होती, (पर) प्रभु के प्रताप से परम लघु साँप भी गरुड को खा सकता है ॥१६॥

विशेष—(१) 'समर भयंकर अति बल बीरा।'—श्रीसीताजी ने कहा था—"जातुधान अति भट बलवाना ॥" इसी लिये यह रूप दिखाया। भाव यह है कि उन 'अति भट' के लिये हम 'अति वीर' हैं और बलवानों के लिये हम 'अति बली' हैं। 'समर भयंकर' अधिक है, यथा—"हनुमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥" (लं० दो० ४५)। "जयति भीमार्जुन-व्याल सूदन गर्वहर धनंजय रथ त्रान केतू।" (वि० २८) "कौन के तेज बल सीम भट भीम से भीमता निरखि कर नयन ढाँके।" (क० सु० ४५)। 'भरोस तब भयऊ'—श्रीसीताजी ने श्रीहनुमान्‌जी के इस रूप को देखा तो उन्हें विश्वास हुआ कि अकेले ही ये सब राक्षसों को मार सकते हैं, फिर ऐसे-ऐसे और भी वानर हैं, तब तो कहना ही क्या? पहले 'परम संदेह' था, अब भरोसा हो गया।

(२) 'सुनु माता साखा मृग...'—इसका भाव यह है कि मैंने जो अपना विशाल शरीर एवं बल दिखलाया और बुद्धि से आपको समझाया-बुझाया, यह बल और बुद्धि वानरों में नहीं होती, यह तो प्रभु का प्रताप है, उसी से गरुड परम लघु व्याल के समान और लघु व्याल गरुड के समान हो जाता है। कहा ही है—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं० दो० ११), यहाँ यह वचन चरितार्थ भी है कि वानर राक्षसों के आहार हैं, यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा।" (लं० दो० ७)। और वे ही राक्षसों के नाशक हो गये, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहि गन महँ गरुड असंका ॥" (दो० १६) श्रीसीताजी ने कहा था कि वानर राक्षसों से कैसे लड़ेंगे? उसी का उत्तर है कि श्रीरामजी के प्रताप से वानर तो राक्षसों को खा जायँगे।

आगे श्रीरामजी ने भी इनसे इसी तरह पूछा है, यथा—"कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (दो० ३२), वहाँ भी इसी तरह का प्रभु-प्रताप परक उत्तर है, यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जापर तुम्ह अनुकूल। तब प्रभाव बड़वानलहिं, जारि सकै खलु तूल ॥" (दो० ३३), खाने के प्रसंग में खाने का और जलाने में जलाने का दृष्टान्त कहा गया है।

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति - प्रताप - तेज बल-सानी ॥१॥
आसिष दीन्हि राम-प्रिय जाना। होहु तात बल-सील- निधाना ॥२॥
अजर-अमर-गुन-निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू ॥३॥

अर्थ—भक्ति, प्रताप, तेज और बल से सनी हुई (संयुक्त), कपि की वाणी सुनते ही (श्रीसीताजी के) मन को संतोष हुआ ॥१॥ (उन्होंने) श्रीरामजी का प्रिय जानकर आशिष दी—हे तात ! तुम बल और शील के खजाना होओ ॥२॥ हे पुत्र ! तुम अजर (बुढ़ापा रहित, नित्य एकरस युवावस्थावाले), अमर (मृत्यु रहित) और गुणों के खजाना होओ, श्रीरघुनाथजी तुमपर बहुत कृपा करें ॥३॥

विशेष—(१) 'मन संतोष सुनत कपि बानी ।'—वाणी की श्रेष्ठता उसीमें है कि श्रोता प्रसन्न हो जाय। इस प्रसंग मे चार बार श्रीहनुमान्जी ने भाषण किया, चारों बार की उत्तमता स्पष्ट है—(१) ऐसी कथा सुनाई कि "लागी सुनै श्रवन मन लाई ।" और उन्होंने वक्ता को प्रकट होने का अनुरोध किया, यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई । कहि सो प्रगट होत किन भाई ।" (२) ऐसी बातें कीं कि उन्हें प्रतीति हो गई ; यथा—"कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास ॥" (३) ऐसा संदेश सुनाया कि वे प्रेम में मग्न हो गईं ; यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही । मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही ॥" (४) इस तरह समझाया कि उनके मन को संतोष हो गया, यथा—"मन संतोष सुनत कपि बानी ॥" अर्थात् श्रीहनुमान्जी ने श्रीसीताजी के प्रश्नों के समुचित और पूर्ण उत्तर दिये, इससे संतोष हुआ। मिलान—

प्रश्न	उत्तर
(१) 'अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी ।······'	'मातु कुसल प्रभु अनुज समेता ।···'
(२) 'कोमल चित कृपाल रघुराई । कपि···'	'जनि जननी मानहु जिय ऊना ।···'
(३) 'सहज बानि सेवक सुख दायक ।······'	'सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं ।···'
(४) 'कबहुँ नयन मम सीतल ताता । ······'	'कछुक दिवस जननी धरु धीरा ।···'
(५) 'बचन न आव नयन भरि बारी ।······'	'जो रघुबीर होत सुधि पाई । करते···'

श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी; यथा—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु । कहि बल बिरह..." वह प्रसंग—"सुनि मम बचन तजहु कदराई ।" से "मन संतोष सुनत कपिबानी ॥" तक श्रीहनुमान्जी ने पूरा किया । समझाना तो सभी है । इसमे पहले बल और "कहेउ राम बियोग तव सीता ।" से "जानु प्रीतिरस येतनेहि माहीं ॥" तक विरह है ।

(२) 'आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना ।'—उपर्युक्त गुणों से श्रीसीताजी ने इन्हें श्रीरामजी का प्रिय जाना । श्रीरामजी के प्रिय पर सभी प्रसन्न होते हैं; यथा—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहि सुहातो । काल करम कुल कारनी कोऊ न कुहातो ॥" (वि० १५१); इसी से श्रीसीताजी भी प्रसन्न हुईं और आशिष दीं । 'होहु तात बल-सील-निधाना ।'—बल की शोभा शील से होती है; यथा—"रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ॥" (बा० दो० १६) इसलिये बल के साथ शील भी दिया गया है। बुढ़ापे मे बल घट जाता है, इसलिये 'अजर' होने की आशिष दी । फिर अजर को भी मरने का भय रहता ही है, इसलिये अमर होना भी कहा । अजर-अमर होकर भी बैल सरीखे नहीं रहें, इसलिये 'गुननिधि' होना भी कहा । पुनः सब कुछ हो, पर बिना श्रीरामजी की कृपा के सभी व्यर्थ हैं, यथा—"सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनिय न गुन गरुआई । बिनु हरि भजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई ॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने । तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने ॥" (१७५) । इसलिये श्रीरामजी का कृपा-पात्र होना भी कहा ।

(३) "बहुत रघुनायक छोहू ।' का भाव यह है कि श्रीरामजी को तुम्हारे ऊपर छोह तो है ही ; यथा—"राम प्रिय जाना ।" अब मेरी आशिष से विशेष कृपा करें ।

श्रीहनुमान्जी ने श्रीसीताजी के छः उपकार किये हैं—(१) मुद्रिका दी, (२) श्रीरामजी के गुण वर्णन किये, (३) कथा कही, (४) वचनों से विश्वास उत्पन्न किया, (५) श्रीरामजी का संदेश कहा और (६) धैर्य दिया। इसपर श्रीसीताजी ने भी छः आशीर्वाद दिये—बलवान्, शीलवान, अजर, अमर और गुणनिधि होना, पुनः रघुनायक (तुम्हारे ऊपर) छोह करें। जबतक श्रीहनुमान्जी प्रसन्न नहीं हुए, तबतक उत्तरोत्तर आशिष देती ही गईं। 'रघुनायक छोहू' कहा, इसपर वे कृतार्थ हो गये। यह भी जनाया कि जीव जब कुछ नहीं चाहता तब श्रीरामजी की कृपा होती है; यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहि कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥" (अ० दो० १०२)।

करहु कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥४॥
बार बार नायेसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा ॥५॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥६॥

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा कानों से सुनकर श्रीहनुमान्जी पूर्ण प्रेम में डूब गये॥४॥ कपि श्रीहनुमान्जी ने बार-बार चरणों में शिर नवाया और वे हाथ जोड़कर वचन बोले॥५॥ हे माता! अब मैं कृतार्थ हो गया, आपकी आशिष अव्यर्थ (निष्फल न होनेवाली) प्रसिद्ध है॥६॥

विशेष—(१) 'करहु कृपा प्रभु'—पहले कहा था—"करहु बहुत रघुनायक छोहू" उसी को यहाँ 'कृपा' कहा; क्योंकि छोह का अर्थ ही कृपा है। 'अस सुनि काना'—अर्थात् अलौकिक आशिष सुनकर श्रीहनुमान्जी प्रेम में मग्न हो गये। श्रीहनुमान्जी ने श्रीसीताजी को प्रभु का संदेश सुनाकर प्रेम मग्न कर दिया था; यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥" वैसे ही श्रीसीताजी ने भी श्रीहनुमान्जी को आशिष देकर प्रेम-मग्न कर दिया। 'निर्भर प्रेम'; यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥" (आ० दो० ६)।

(२) 'बार बार नायेसि पद सीसा।...'—अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार चरणों में शिर नवाया; यथा—"देखि राम छबि अति अनुरागी। प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी॥" (बा० दो० ३३५); "प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥" (आ० दो० ११)।

'बोला बचन जोरि करि कीसा।'—यह वचन है, पूर्वार्द्ध का 'नायेसि पद सीसा।'—कर्म और 'निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।'—यह मन है; अर्थात् श्रीहनुमान्जी मन, वचन, कर्म तीनों से कृतार्थ हुए।

(३) 'अब कृत कृत्य भयउँ मैं माता।...'—'अब' अर्थात् बलवान्, सीलवान्, अजर, अमर और गुणनिधि होने पर भी कृतार्थ न हुआ। जब राम-कृपा की आशिष पाई, तब मैं कृतार्थ हुआ। 'आसिष तव अमोघ...'—श्रीसीताजी आदि शक्ति हैं, इनकी आशिष श्रुतियों में अव्यर्थ प्रसिद्ध है। श्रीभरतजी के विषय में भी ऐसा ही कहा है; यथा—"सब निधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच..." (अ० दो० २११)।

"बन उजारि रावनहिं प्रबोधी।"—प्रकरण

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा ॥७॥
सुनु सुत करहिं बिपिन-रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी ॥८॥

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं । जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥९॥

दो०—देखि बुद्धिबल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु ।
रघुपति-चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥१७॥

अर्थ—हे माता ! सुनिये, सुन्दर वृक्षों में सुन्दर फल लगे हुए देखकर मुझे अत्यन्त भूख लग आई है । (अन्यथा भूख की सुधि न थी) ॥७॥ (श्रीसीताजी ने कहा—) हे पुत्र ! परम सुभट भारी-भारी राक्षस इस वन की रखवाली करते हैं ॥८॥ हे माता ! मुझे उनका भय नहीं है, यदि आप मन में सुख मानें ॥९॥ बुद्धि और बल में निपुण कपि को देखकर श्रीजानकीजी ने कहा—जाओ, हे तात ! श्रीरघुनाथजी के चरणों को हृदय में धारण करके मीठे-मीठे फल खाओ ॥१७॥

विशेष—(१) 'अतिसय भूखा । लागि'—स्वयं-प्रभा के स्थान में ही फल खाये थे, समुद्र तट पर अनशन-व्रत ही किया था । फिर वहाँ राम-कार्य करने की प्रतिज्ञा करके चले ; यथा—"राम काज कीन्हें बिना, मोहिं कहाँ बिश्राम ॥" (दो० १); तथा—"त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्त्तते । प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ॥" (वाल्मी० ५।१।१२२) । इसीसे लंका में समुद्र तट पर पहुँचने के पश्चात् ही फल देखे थे ; यथा—"नाना तरु फल फूल सुहाये ।" (दो० २); किन्तु भोजन नहीं किया था । अब श्रीरामजी का कार्य हो गया । श्रीसीताजी को देखा, समझाया और प्रभु का बल-विरह कह दिया । तब फलों को देखकर भूख लगी । कई दिन से न खाने का स्मरण करके अतिशय भूख से पीड़ित हुए । 'देखि सुंदर फल' से सूचित किया कि सवेरा भी हो गया ।

भूख लगने का यह भी कारण है कि श्रीहनुमान्जी स्वामी की आज्ञा से विशेष भी कार्य करना चाहते हैं । शत्रु को अपना बल दिखा और उसके बल का अन्दाजा करके तब वापस जायँ । वाल्मी० ५।४१।१–५ में यह भाव है । तदनुसार भूख की ओट लेकर माता से आज्ञा भी ले रहे हैं कि क्षुधित बालक को खाने के लिये माता मना न करेंगी । फल खाने में मैं हठात् युद्ध का योग करके लड़ूँगा । बहुत आशिष पाने से यह भी निश्चय हो ही गया है कि माता ने मुझे पुत्र मान लिया है ।

(२) 'सुनु सुत करहिं बिपिन······'—यद्यपि श्रीहनुमान्जी के विशाल रूप और पराक्रम को जान चुकी हैं, तथापि वात्सल्य दृष्टि से इनका बल भूल गया । पुनः इनके वचन मात्र के समझाने से समझ भी जायँगी । पूर्व देखा हुआ रूप स्मरण करेंगी ।

(३) 'तिन्ह कर भय माता······'—'मोहि नाहीं' का भाव यह कि मुझे उनसे भय नहीं है, अपितु मुझसे ही उन्हें भय होगा । पहले ही—"समर भयंकर अति बल बीरा ।" यह रूप श्रीसीताजी को दिखाकर और यह भी कह चुके हैं ; यथा—"प्रभु प्रताप ते गरुडहिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥" (दो० १६) 'जौं तुम्ह सुख मानहु···'—मन में सुख मानो । ये उत्तम दूत हैं, स्वामी को संकोच में डालकर स्वार्थ साधना नहीं चाहते ; यथा—"जो सेवक साहिबहि संकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥" (अ० दो० २६८) । सुख मानने में संदेह है कि कहीं माता यह न मानें कि यहाँ आकर उपद्रव करने लगा, हमारी आज्ञा नहीं मानी, इत्यादि । 'मन माहीं'—हमारी खातिर के लिये ऊपर से ही न कह दीजिये, किन्तु हृदय से कहिये तब खाऊँ ।

(४) 'देखि बुद्धि बल निपुन'......'—जब तक बुद्धि और बल में पूर्णता न हो, शत्रु के पास नहीं जाना चाहिये ; यथा—"नाथ बैर कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥" (लं० दो० ५)। यहाँ इनके बुद्धि-बल की पूर्णता प्रकट है ; यथा—"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।" यह बल है और "जौ तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥"—यह बुद्धि है। इसीसे माता ने आज्ञा दी। 'रघुपति चरन'...'—'रघुपति' शब्द का दूसरा अर्थ 'जीव मात्र के रक्षक' का भी है—'रघु'=जीव, 'पति'=रक्षक। अतः, तुम्हारी भी रक्षा करेंगे। यह भी शिक्षा है कि इष्ट के भरोसे कोई भी कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। 'मधुर फल खाहु'—माता पुत्र को मधुर वस्तु ही खिलाने की इच्छा रखती है ; यथा—"तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥" (अ० दो० ५२) ; अथवा, वानर मधुर फल ही खाते हैं ; यथा—"मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये।" (कि० दो० २४)। "खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं।" (लं० दो० ४)—यह भी जनाया।

चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा ॥१॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे कछु जाय पुकारे ॥२॥
नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक बाटिका उजारी ॥३॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि - मर्दि महि डारे ॥४॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी ने) श्रीसीताजी को मस्तक नवाकर बाग में प्रवेश किया, फल खाये और वे वृक्षों को तोड़ने लगे ॥१॥ वहाँ बहुत योद्धा रक्षक थे, कुछ को (इन्होंने) मार डाला और कुछ ने (रावण से) जाकर पुकार की ॥२॥ कि हे नाथ ! एक भारी वानर आया है, उसने अशोक वाटिका उजाड़ डाली ॥३॥ फल खाये और वृक्ष उखाड़ डाले, रक्षकों को मल-मलकर उसने पृथिवी पर डाल दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'चलेउ नाइ सिर'......'—'चलेउ' अर्थात् धीरे-धीरे चले कि जिससे फल खा लें, तब कोई जाने, नहीं तो खाते समय ही युद्ध होने लगेगा। इसीसे कूद-फाँद अभी तक नहीं की थी। 'नाइ सिर'—भीतर से श्रीरघुनाथजी के चरणों को हृदय में धारण किया और ऊपर से श्रीजानकीजी को प्रणाम किया। दोनों प्रकार से सुरक्षित होकर चले। श्रीहनुमान्‌जी को जाते और फल खाते समय किसी ने नहीं देखा। जब वानर-स्वभाव से वृक्ष तोड़ने लगे, तब रक्षकों ने देखा।

शंका—बाग में श्रीसीताजी के पास थे ही, फिर 'पैठेउ बागा' क्यों कहा गया ?

समाधान—इस एक ही में चार भाग हैं—वन, बाग, उपवन और वाटिका। ऊपर बतलाये गये हैं। अभी तक उपवन में थे ; यथा—"तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई ॥" (कि० दो० २७) ; अब बाग में पैठे, जिसमें फल विशेष थे, क्योंकि इन्हें फल ही तो खाना है।

'तरु तोरइ लागा'—अपने (वानरी) चंचल स्वभाव के कारण वृक्ष तोड़ने लगे ; यथा—"कपि सुभाव ते तोरेउँ रूखा।" (दो० २१) ; पुनः रावण से युद्ध करके उसकी बुद्धि और बल का अन्दाजा भी लेना है, क्योंकि स्वामी की यह भी आज्ञा है ; यथा—"दई हौं संकेत कहि कुसलात सियहि सुनाउ। देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ ॥" (गी० सुं० ४) ; यह संदेश मुद्रिका ने कहा है यह बाग रावण को प्राण से भी प्यारा है, यथा—"मेघनाद ते दुलारो प्रान ते पियारो बाग अति अनुराग जिय जातुधान धीर को।" (क० सुं० १)। जब इसे उजाड़ेंगे, तब यह अपने उपाय और पुरुषार्थ में त्रुटि न

रक्खेगा। दंड ही एक मात्र उपाय है, क्योंकि राक्षस साम (प्रीति) जानते ही नहीं। दाम से भी काम चलने का नहीं, क्योंकि इनके द्रव्य की कमी नहीं है। ये बलवान् हैं; अतः, इनके आगे भेद भी नहीं चल सकता; यथा—"भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा। जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिषि महँ तेते॥" (दो॰ ४१)।

(२) 'रहे तहाँ बहु भट रखवारे।……'—पहले ही कहा जा चुका है कि यह वाटिका रावण को प्राण से भी प्रिय थी और इसीमें श्रीजानकी भी रक्खी गई थीं। इसलिये यहाँ बहुत-से रक्षक थे। वे रक्षक थे, इसलिये रक्षा के लिये लड़े। तब कुछ तो मारे गये और उनमें से कुछ बचे हुओं ने जाकर रावण के दरबार में पुकार की। शेष श्रीहनुमानजी के सामने हैं। 'कपि भारी'—जब फल खाने चले, तब विशाल शरीर (अपने वास्तविक रूप) में हो गये, क्योंकि उसी के योग्य इन्हें काम करना है। जैसे, बहुत फल खाना, बाग उजाड़ना और युद्ध करना। 'असोक बाटिका'—यह इसका नाम कहा गया, क्योंकि रावण के और भी बहुत-से बाग हैं, नाम न देने से संदेह रह जाता।

(३) 'खायेसि फल अरु बिटप उपारे।……'—अब श्रीहनुमान्जी का उपर्युक्त भारी कार्य करना दिखाते हैं। फल खा डाले, सब वृक्ष उखाड़ फेंके और रक्षकों को पीस डाला, उनको मारने के लिये इन्होंने वृक्ष आदि शस्त्र भी नहीं लिया। 'मर्हि डारे' का भाव यह है कि वे रक्षक-देह के द्वारा मर्दन (पीसने) करने योग्य भी न थे, इसलिये उन्हें हाथ ही से मसलकर पृथिवी पर फेंक दिया। आगे जब महाभट आवेंगे, तब उन्हें अंग से लगाकर उनका मर्दन किया जायगा; यथा—"रहे महाभट ताके संगा। गहि-गहि कपि मर्देसि निज अंगा॥" (दो १८); ऊपर 'तरु तोरइ लागा' मात्र कहा गया था, यहाँ उखाड़ना भी कहा गया। भाव यह है कि जब रक्षक लोग लड़ने को दौड़े तब श्रीहनुमान्जी और क्रुद्ध होकर उखाड़ने भी लगे। अतः, इन्होंने जो देखा, वही कहा है। 'असोक बाटिका उजारी'—से यह भी ध्वनि है कि अब शोक-वाटिका उसने लगा दी। अर्थात् उसका उजड़ जाना रावण के लिये शोक-सागर हो गया।

सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥५॥
सब रजनीचर कपि संहारे। गये पुकारत कछु अधमारे॥६॥

अर्थ—यह सुनकर रावण ने अनेक योद्धा भेजे। उन्हें देखकर श्रीहनुमान्जी गरजे॥५॥ कपि श्रीहनुमान्जी ने सब निशाचरों को मार डाला। कुछ अधमरे रह गये, वे ही पुकार करते हुए गये॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि रावन पठये भट नाना।…'—रक्षकों ने कहा था—'भारी' कपि है। इसलिये 'नाना भट' भेजे। इनमें वाल्मीकीय रामायण में कहे हुए किंकर, मंत्रीपुत्र, सेनापति और जम्बुमाली आदि आ गये। 'देखि गर्जेउ'—श्रीहनुमान्जी की सर्वत्र दृष्टि है, सावधान हैं, इसीसे देखा और युद्ध के उत्साही हैं; अतः, गरजे। गर्जन, यथा—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ दासोऽहं कोशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मज.॥ न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥ अर्दयित्वा पुरीं लंकामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥" (वाल्मी॰ ५।४२।३३–३६); यह घोषणा गरज-गरजकर राक्षसों के आने पर वहाँ प्रत्येक बार की गई है, वही गर्जन यहाँ भी जानना चाहिये।

(२) 'सब रजनीचर कपि……'—मुख्य-मुख्य तो सब मारे गये, कुछ अध-मरे छोड़ दिये गये कि ये लोग जाकर रावण के यहाँ पुकार करें। 'संहारे'—यहाँ कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं कहा गया और न मर्दन

करना ही कहा गया है। इससे यहाँ हाथी-से-हाथी, रथ-से-रथ और भटों-से-भटों को मारना समझना चाहिये; यथा—"हाथिन सों हाथी मारे घोड़े घोड़े सों सँघारे, रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की" (क० लं० ४०); 'गये पुकारत'—यहाँ से गुहार मारते, चिल्लाते राज-दरबार को चले जाते हैं। 'कछु अधमारे'—रक्त बह रहा है, किसी का शिर फटा है, किसी के हाथ पैर टूट गये हैं, कोई पँजरी पकड़े हुए कराहते जाते हैं। पहले जो पुकारने आये हुए थे, उन्होंने ब्योरा सुना दिया है कि एक भारी वानर आया है, इत्यादि। इसीसे अब उन्हीं सब बातों को कहने की आवश्यकता नहीं है।

पुनि पठयउ तेहि अच्छ कुमारा। चला संग लै सुभट अपारा ॥७॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥८॥

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे, प्रभु मर्कट बल भूरि ॥१८॥

अर्थ—फिर रावण ने अक्षयकुमार को भेजा, वह अगणित सुन्दर योद्धाओं को साथ लेकर चला ॥७॥ इसे आता हुआ देख एक वृक्ष हाथ में लेकर उन्होंने उसको डाँटा और उसे मारकर महाध्वनि से गर्जन किया ॥८॥ कुछ को मारा, कुछ को मसल डाला और कुछ को पकड़कर धूल में मिला दिया, फिर कुछ ने पुनः पुकार की—हे प्रभो! वानर बड़ा बलवान् है ॥१८॥

विशेष—(१) 'पुनि पठयउ तेहि अच्छ कुमारा।'—पहले नाना भटों में क्रमशः किंकर, जम्बुमाली, सप्त मंत्रि-पुत्र और पंच सेनापति अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आये हुए थे। अब अपने राजकुमार को भेजा और उसके साथ अपार सुभटों को भी भेजा। जैसा यह भारी शूरवीर है, वैसी ही भारी सेना भी लिये हुए है।

(२) 'आवत देखि बिटप गहि तर्जा।...'—'गहि तर्जा'—पहले वृक्ष उखाड़ फेंके थे, उन्हीं में से एक को लेकर इसका नाश किया। वीर को देखकर गरजना उत्साह का सूचक है; यथा—"सुनि रावन पठये भट नाना तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना ॥" ऊपर कहा गया है 'ताहि निपाति महा...'—पहले जो मारे गये, वे साधारण वीर थे, इससे उनको मारने पर सामान्य गर्जना ही की थी यह भारी वीर था। अतः, इसे मारकर महाध्वनि से गरजन किया; यथा—"जयत्यति बलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ..." ऊपर कहा गया। इससे अपनी विजय-घोषणा करते हुए रावण को ललकारा कि वह इससे भी बली को भेजे।

(३) 'कछु मारेसि कछु मर्देसि...'—'कछु'—का भाव यह कि यद्यपि अपार सेना थी, तथापि श्रीहनुमानजी को यह सेना 'कछु' ही जान पड़ी पहले युद्ध में मर्दन करना कहा; यथा—"रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे।" दूसरी बार संहार करना कहा गया; यथा—"सब रजनीचर कपि संहारे" इस बार तीन क्रियाएँ कही गईं—मारना, मर्दन करना और धूल में मिलाना। इसका भाव यह कि जब राजकुमार मारा गया और सेना अनाथ हो गई, तब सेना के उत्तम वीर सामने आकर लड़ने आये, तब इन्हें भी मारा। सामान्य सैनिकों को मर्दन किया और निकृष्टों को धूल में मिला दिया। 'कछु मिलयेसि

धरि धूरि'—पहले हाथ से पकड़कर मीजा, जब हाथ रुधिर से भर गये, तब अंजलि मे धूलि लेकर हाथ साफ किये, वा, मर्दन कर भूमि मे गिराकर पैर से कुचल कर उन्हे धूल मे मिला दिया।

अथवा, जो सैनिक दूर ही से वाण आदि प्रहार करते थे, उन्हें कूदकर मारा, जो शरीर में लिपटकर लड़ने लगे, उन्हें शरीर ही मे मर्दन कर दिया और जो दौड़ने में पैरों के नीचे पड़े, वे धूल में मिल गये।

(४) 'कछु पुनि जाइ...'—इस वार भारी योद्धा अक्षयकुमार मारा गया, इससे कहा कि यह वानर भूरि (बहुत) बलवाला है अतएव वैसा समर्थ योद्धा आप भेजें, क्योंकि आप भी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ है। अतः, योग्य भट ही भेजें।

सुनि सुत-बध लंकेस रिसाना। पठयेसि मेघनाद बलवाना ॥१॥
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिय कपिहि कहाँ कर आही ॥२॥
चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु-निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥३॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥४॥

अर्थ—पुत्र का वध सुनकर (लंकेश) रावण क्रोधित हुआ और बलवान् मेघनाद को भेजा, (उसे समझाया—) हे पुत्र! उसे मारना नहीं (प्रत्युत) बाँध लाना, देखें तो बंदर कहाँ का है? ॥१-२॥ इन्द्र को भी जीतनेवाला अतुलित योद्धा मेघनाद चला। भाई का नाश सुनकर उसे क्रोध उत्पन्न हो गया ॥३॥ कपि श्रीहनुमान्जी ने देखा कि यह बड़ा कठिन योद्धा आया है, तब दाँत कटकटाकर क्रोध करके गर्जे और दौड़े ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सुत-बध लंकेस...'—और-और भटो के वध होने पर राजा ने ऐसा क्रोध नहीं किया, पर जब अपने पुत्र के वध का समाचार मालूम हुआ तब उसपर क्रोध किया कि मैं 'लंकेस' हूँ और लंका की रक्षा करनेवाला हूँ, फिर अपने पुत्र के मारनेवाले से बदला क्यों न लूँ? अभी शत्रु शिर पर हे, इसलिये उसने पुत्र के वध पर शोक नहीं किया जब शत्रु को बाँधकर सामने लाया गया, तब सुत का वध स्मरण करके दुखी हुआ है; यथा—"सुत वध सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय विषाद ॥" (दो० २०)।

'पठयेसि मेघनाद बलवाना'—सुत के वध पर उसे अत्यंत क्रोध हुआ, और उसने यह भी समझा कि अनिप अकंपन आदि वीरों से काम नहीं चलेगा। अतः, यहाँ के सर्वश्रेष्ठ बलवान् मेघनाद को ही भेजा जाय।

(२) 'मारसि जनि सुत...'—रावण को मेघनाद के बल का बड़ा भरोसा है और उसे यह ज्ञात है कि यह सभी को जीत सकता है; यथा—"जे सुर समर धीर बलवाना जिनके लरिबे कर अभिमाना ॥ तिनहिं जीति रन आनेसु बाँधी।" (बा० दो० १८१) इसी से ऐसा कहा गया है

'देखिय कपिहिं कहाँ कर आही।'—तात्पर्य यह है कि तीनो लोकों में हमारा वैरी तो कोई नहीं था; यथा—"सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ॥" (बा० दो० २१)। अतः,

देखना है कि ऐसा प्रबल शत्रु कहाँ पैदा हो गया, जिसने इसे भेजा है। उसे नष्ट करने का प्रयत्न तो करना ही होगा। यही आगे स्पष्ट है; यथा—"केहि के बल घालेसि बन खीसा ॥" (दो० २०)।

(३) 'चला इंद्रजित अतुलित जोधा .···'—'इंद्रजित' का भाव यह है कि जिस तरह यह इन्द्र को बाँधकर रावण के आगे लाया था, उसी तरह श्रीहनुमान्‌जी को भी बाँधकर लायेगा। 'अतुलित जोधा'; यथा—"बारिद नाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥ जेहि न होइ रन सन्मुख कोई।" (बा० दो० १७१); 'बंधु निधन···'—उसे यह समझकर क्रोध हुआ कि मैं इन्द्र को जीतनेवाला हूँ और मेरे रहते हुए ही मेरे भाई को एक साधारण वानर मार दे और यह बचकर चला जाय, यह मेरे लिये बड़ी लज्जा की बात है। 'चला इंद्रजित' कहकर 'बंधु निधन' सुनना कहा गया, इससे जान पड़ता है कि इसने भाई के वध का समाचार अभी-अभी (मार्ग में) सुना है। 'चला इंद्रजित' का भाव यह है कि इसने और किसी को साथ नहीं लिया, क्योंकि यह अतुलित योद्धा है। अतः, दूसरों की सहायता नहीं चाहता, यथा—"मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेंका आइ। उतर्‌यो बीर दुर्ग ते सन्मुख चला बजाइ॥" (लं० दो० ४८), और जो-जो महाभट इसके साथ आये हुए हैं, वे रावण की आज्ञा से ही। उसने स्वयं पुत्र की रक्षा के लिये इन्हें भेजा है; यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये॥" (लं० दो० ५१)।

(४) 'कपि देखा दारुन भट आवा।'—वीर लोग देखकर ही वीरों का बल जान लेते हैं। अतः, श्रीहनुमान्‌जी ने भी मेघनाद का बल जान लिया। 'कटकटाइ'—यह वानरों की क्रोध-मुद्रा है; यथा—"कटकटान कपि-कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी॥" (लं० दो० ३०); "कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥" (लं० दो० ६६); 'अरु धावा'—'दारुन भट' समझकर श्रीहनुमान्‌जी ने उसे अपने पास तक आने भी न दिया पहले ही दौड़कर उसके आगे पहुँच गये—यह युद्धोत्साह है।

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेस-कुमारा ॥५॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा ॥६॥
तिन्हहि निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहुँ गजराजा ॥७॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई ॥८॥

अर्थ—एक अत्यन्त विशाल वृक्ष उखाड़ा और रावण के पुत्र को बिना रथ का कर दिया, अर्थात् उसका रथ नाश कर दिया ॥५॥ उसके साथ में जो बड़े-बड़े योद्धा थे, उन्हें पकड़-पकड़कर कपि श्रीहनुमानजी अपने अंगों से मल देते हैं ॥६॥ योद्धाओं को मारकर फिर मेघनाद से मल्लयुद्ध किया, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों दो श्रेष्ठ हाथी (आपस में) भिड़े हों ॥७॥ श्रीहनुमानजी उसे एक घूँसा मारकर वृक्ष पर जा चढ़े, उसको क्षण भर के लिये मूर्च्छा आ गई ॥८॥

विशेष—(१) 'अति बिसाल तरु एक···'—श्रीहनुमानजी ने अक्ष की तरह इसे भी मारने के लिये इसपर वृक्ष फेंका, पर राक्षसी माया से आकाश में चले जाने पर यह बच गया, किन्तु इसके रथ, सारथी आदि नाश हो गये; यथा—"देखि पवन सुत कटक बिहाला। क्रोधवंत धायउ जनु काला। महा सैल एक तुरत उपारा। अति रिसि मेघनाद पर डारा॥ आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरँग

सब खोई ॥" (लं॰ दो॰ ४१) ; मेघनाद दारुण भट था, इसलिये श्रीहनुमान्‌जी ने इसके मारने के लिये 'अति बिसाल' वृत्त लिया। राजकुमार को विरथ करके उसकी शोभा नष्ट कर अपने तुल्य पैदल कर दिया।

(२) 'रहे महा भट ताके संगा···'—पहले मेघनाद से युद्ध होता था, अब दूसरे-दूसरे योद्धाओं से होने लगा, इससे यह जान पड़ता है कि वह माया के बल से अंतर्धान हो गया, जैसा कि उसका स्वभाव है, जब तक वह प्रकट नहीं हुआ था तब तक उतने ही क्षणों में श्रीहनुमान्‌जी ने उसकी सेना का नाश कर दिया। यदि मेघनाद मारा गया होता तो राक्षस लोग भाग खड़े होते जैसे कि इससे पहले भाग-भाग कर रावण से कहते थे ; यथा—"कछु मारे कछु जाइ पुकारे।" ऊपर कहा गया। पर मेघनाद तो अंतर्धान था, इसीसे ये लोग भाग नहीं सके और श्रीहनुमान्‌जी के हाथों मारे गये।

(३) 'तिन्हहिं निपाति···'—श्रीहनुमान्‌जी पहले प्रधान को मारकर तब उसकी सेना को मारते थे, किन्तु उन्होंने इस बार पहले सेना ही को मारा, क्योंकि मेघनाद छिप गया था। मेघनाद से उन्होंने मल्ल-युद्ध किया, क्योंकि इसे अपने बल का बहुत गर्व था ; यथा—"पठयेसि मेघनाद बलवाना।" यह श्रीहनुमान्‌जी के बल का मर्म नहीं जानता था, इसीसे उनसे भिड़ गया* यदि जानता तो अन्य उपाय अथवा माया से लड़ता; यथा—"बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना॥" (लं॰ दो॰ ४६)। मल्लयुद्ध पशु-युद्ध है ; इसीलिये दोनों को गजराज कहा गया। फिर मत्त हाथी के समान दोनों बलवान् भी हैं।

(४) 'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।···'—मल्लयुद्ध में मुष्टिका मारने की भी रीति है ; यथा—"भिरे उभउ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥" (कि॰ दो॰ ७) ; मेघनाद मूर्च्छित हो गया था, इसलिये श्रीहनुमान्‌जी जाकर वृक्ष पर बैठ गये, क्योंकि मूर्च्छित को मारना अनीति है और उसके साथियों को पहले ही मार चुके थे। अब वे इसके सचेत होने की प्रतीक्षा में हैं और साथ ही यह भी देख रहे हैं कि कोई और तो नहीं आ रहा है।

उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन-जाया ॥९॥

दोहा—ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥१९॥

अर्थ—फिर उठकर उसने बहुत माया की, पर वायुपुत्र जीते नहीं जाते ॥९॥ मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र का सन्धान किया, (तब) श्रीहनुमान्‌जी ने मन में विचार किया कि यदि मैं ब्रह्मास्त्र का मान न करूँ (अर्थात् सब माया की तरह इसे भी व्यर्थ कर दूँ) तो उसकी अपार महिमा मिट जायगी ॥१९॥

विशेष—(१) 'उठि बहोरि कीन्हेसि······'—फिर उसने मल्ल-युद्ध नहीं किया, क्योंकि इनके पराक्रम का मर्म वह पा गया कि इनसे लड़कर पार न पाऊँगा। जब शरीर से हार गया, तब माया करने लगा। फिर जब माया करने से भी हार जायगा, तब ब्रह्मास्त्र चलावेगा। 'बहु माया'—जितनी माया जानता था। इसकी माया लं० दो० ५० में कही गई है। यहाँ कहने का मुख्य प्रसंग नहीं है, इससे यहाँ नहीं कहा गया। 'प्रभंजन जाया'—प्रभंजन का अक्षरार्थ यह है—जो प्रकर्ष करके भंजन करे—ऐसे वायु के श्रीहनुमानजी पुत्र हैं, इसीसे उसकी सब माया को ये भंजन कर देते थे। जितने भूत-पिशाच आदि हैं, वे वायु से उड़ जाते हैं, इसीसे जादू-टोने आदि को लोग मंत्र से झाड़कर फूँक देते हैं।

(२) 'ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा '—और उपाय निरर्थक होते देखकर ही इसने ब्रह्मास्त्र चलाया है, इसीलिये जब सब प्रकार से हार गया, तब इसने ब्रह्मास्त्र का अनुसन्धान किया, यथा—"रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥ वीर घातिनी छाँड़ेसि साँगी" (लं० दो० ५२)। 'कपि मन कीन्ह बिचार।'—पहले ही कहा गया है कि श्रीहनुमानजी सभी कार्य विचार-पूर्वक करते हैं, अतः यहाँ भी इन्होंने विचार किया। 'जौं न ब्रह्म '—इससे जाना गया कि ये श्रीहनुमान्जी ब्रह्मास्त्र को भी निष्फल कर सकते थे, यथा—"अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि॥ पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः।" (वाल्मी० ५।५०।१६-१७)।

(३) 'महिमा मिटइ अपार'—तात्पर्य यह है कि ये इसके बल और माया से नहीं पराजित हुए, किन्तु ब्रह्मास्त्र की मर्यादा-रक्षा के लिये स्वयं बँध गये। तीनों लोकों के सभी जीव ब्रह्मास्त्र के वशवर्ती हैं। इसे मानने से इसकी मर्यादा बनी रहेगी। श्रीब्रह्माजी ने इसपर कृपा करके यह वरदान दिया है, उनकी मर्यादा रखनी ही चाहिये। सर्वशक्तिमान प्रभु ने भी ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रक्खी है, तो उनका दास क्यों न रक्खे?

ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहुँ बार कटकु संहारा॥१॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ। नागपास बाँधेसि लै गयऊ॥२॥

अर्थ—मेघनाद ने श्रीहनुमानजी को ब्रह्म बाण से मारा, गिरते समय भी इन्होंने (उसकी ओर से आई हुई) सेना का नाश किया, अर्थात् शरीर बढ़ाकर सेना भर के ऊपर गिरे॥१॥ (जब) उसने देखा कि वानर मूर्च्छित हो गया, (तब) नागपाश से बाँधकर ले गया॥२॥

विशेष—(१) 'परतिहुँ बार कटक संहारा'—युद्ध में गिरने से पहले श्रीहनुमान्जी ने कटकटा कर संहार किया ही था, गिरते हुए भी किया। मेघनाद की सेना का नाश एक बार कर चुके थे, यथा—"तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा।" यह कहा जा चुका है। फिर भी यहाँ दुबारा कहने का अभिप्राय यह है कि रावण ने यह सेना सहायता के लिये फिर से भेजी थी, यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये॥" (लं० दो० ५२)। यहाँ श्रीहनुमान्जी के द्वारा दबने से सेना का नाश कहा गया है। पर आगे कुम्भकर्ण और रावण के द्वारा वानरों की सेना दबना मात्र कहा गया है, यथा—"परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर।" (लं० दो० ६६), "धरनि परेउ दौउ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥" (लं० दो० १०१)। ये सब वानर और भालू पीछे निकल आये हैं।

(२) 'तेहि देखा कपि '—इसे दिखाने-मात्र के लिये मूर्च्छित हैं, पर वास्तव में ये ब्रह्मास्त्र का मान रखते हुए हैं, यह मूर्च्छा भी घड़ी दण्ड-मात्र में स्वयं छूट जायगी। ब्रह्माजी का वचन ऐसा भी है कि एक तो ब्रह्मास्त्र श्रीहनुमानजी को लगे नहीं, यदि लगे भी तो घड़ी दण्ड-मात्र में छूट जाय। जब उसने अच्छी तरह देख लिया कि ये मूर्च्छित हो गये, तब इनके समीप गया, क्योंकि पहले की मुष्टिका से डरा हुआ है। 'नाग पास बाँधेसि '—मूर्च्छित दशा में इसलिये बाँध लिया कि कहीं चैतन्य होने पर पकड़ न करें, नहीं तो फिर दुबारा ब्रह्मास्त्र भी नहीं लग सकता। 'लै गयऊ' अर्थात् श्रीहनुमानजी स्वयं चौपदिक्स गये, यथा—"कसमुझ सभा दीख कपि जाई।" यह आगे 'जाइ' शब्द से स्पष्ट है।

इस युद्ध-रहस्य की चार आवृतियाँ—

(१) भट, सुभट, महाभट और दारुणभट, इन्हें क्रम से कहा गया—(क) यथा—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे।"; "पुनि रावन पठये भट नाना॥" (ख) "चला संग लै सुभट अपारा " (ग) "रहे महाभट ताके संगा " (घ) "कपि देखा दारुन भट आवा।" यह प्रथमावृत्ति है।

(२) नहीं गर्जे, गर्जे, महाध्वनि गर्जे और कटकटाइ गर्जे, यह भी क्रमशः है जैसे पहली लड़ाई में नहीं गरजे, दूसरी में साधारणतया गरजे, तीसरी में महाध्वनि से गरजे और चौथी में कटकटाकर गरजे। उदाहरण—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे।" इन्हें सामान्य जानकर नहीं गरजे। आगे क्रमशः विशेष जानकर गरजन में भी विशेषता की; यथा—"पुनि रावन पठये भट नाना तिन्हहिं देखि गर्जा हनुमाना॥" "चला संग लै सुभट अपारा।···ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥", "कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" यह द्वितीयावृत्ति है।

(३) भटों के मारने के लिये वृक्ष नहीं लिये उसकी आवश्यकता ही नहीं हुई; यथा—"कछु मारे"; "सब रजनीचर कपि संहारे।" सुभटों को वृक्ष से मारा; यथा—"आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति..." और दारुण भट के लिये 'अति बिसाल तरु' उखाड़ लिया, यथा—"अति बिसाल तरु एक उपारा।" यह तृतीयावृत्ति है।

(४) पहली बार लड़ाई में रक्षकों का मारा जाना पाँच अक्षरों में कहा गया है, यथा—"कछु मारेसि" दूसरी में १२ अक्षरों में—"सब रजनीचर कपि संहारे।" तीसरी में ३२ अक्षरों में—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥ कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।' और चौथी बार में समान से युद्ध हुआ—(क) दोनों क्रोधित होकर लड़े, यथा—"बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा।" और "कटकटाइ गर्जा अरु धावा।"—(ख) पुनः दोनों गजराजों के समान भिड़े, यथा—"भिरे जुगल मानहुँ गजराजा।" —(ग) दोनों ने दोनों को मारा; यथा—"ब्रह्मबान कपि कहँ तेहि मारा।" "मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।"—(घ) दोनों ने एक-दूसरे को मारकर मूर्च्छित कर दिया, यथा—"ताहि एक छन मुरुछा आई।" "तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ।" यह चतुर्थावृत्ति है।

इन आवृत्तियों में उत्तरोत्तर विशेषताएँ हैं।

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥३॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥४॥
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये। कौतुक लागि सभा सब आये॥५॥
दसमुख-सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥६॥

अर्थ—हे भवानी! सुनो, जिसका नाम जपकर ज्ञानवान् लोग संसार-बंधन काट डालते हैं॥३॥ उसका दूत क्या बंधन में आ सकता है? (अर्थात् भवबंधन के आगे नागपाश अत्यंत तुच्छ है) प्रभु के कार्य के लिये कपि ने ही अपनेको बँधाया था॥४॥ कपि का बँध जाना सुनकर राक्षस लोग दौड़े, (अभी तक भय से निकलते न थे,) कौतुक के लिये सब सभा में आये॥५॥ श्रीहनुमान्‌जी ने जाकर रावण की सभा देखी, उसकी अत्यंत प्रभुता है, वह कुछ कही नहीं जा सकती; अर्थात् आश्चर्य साहिनी है॥६॥

विशेष—(१) 'जासु नाम जपि...'—ज्ञानी भी नामावलंबन के बिना भव-बंधन काटने में असमर्थ होते हैं; यथा—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।...ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा।..." (बा० दो० २१

ऐसा कठिन यह भव-बंधन है यहाँ नाम के द्वारा ज्ञानी अर्थात् जीवन्मुक्तों का भव तरना कहा है; "गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भव पास" (लं० दो० ७१)। इसमें मुनि अर्थात् मुमुक्षु का भव-तरना वर्णित है और "भव बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।" (उ० दो० ५८) इसमें नर अर्थात् विषयी का भव तरना है इस तरह मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों की सद्गति नाम द्वारा कही गई है। ये तीनों प्रकार के जीव एक साथ भी कहे गये हैं; यथा—"सुनहिं विमुक्त विरत अरु विषई।" (४० दो० १४)।

(२) 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा'; यथा—"मोहिं न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहेउँ निज प्रभु कर काजा॥" (दो० २१) स्वयं इनका बंध जाना, इसलिये स्पष्ट है कि पहले तो ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रक्षा के लिये बँधे। फिर थोड़ी ही देर के बाद छूट भी गये थे, किन्तु ये रावण की बुद्धि की थाह पाने के लिये उसके पास बँधे हुए गये हैं वाल्मी० ५। ५०। १७–१८ में रावण के समक्ष इनके वचन हैं कि ब्रह्मा के वरदान से मैं किसी भी अस्त्र से बाँधा नहीं जा सकता, किन्तु राजा (रावण) को देखने के लिये ही मैंने इस अस्त्र को माना है। मैं तो मुक्त हूँ, पर मुझे बँधा समझ कर ही ये राक्षस तुम्हारे पास ले आये हैं। मैं श्रीरामजी के किसी कार्य के लिये तुम्हारे पास आया हूँ। यहाँ भी आगे स्पष्ट ही है; यथा—"निबुकि चढ़ेउ कपि..." तो क्या इससे पहले अस्त्र से नहीं मुक्त हो सकते थे? 'तासु दूत'—का भाव यह है कि इनका तो श्रीरामजी से साक्षात्संबंध है ही, जिन्हें उनसे कोई नाता नहीं है, वे भी केवल उनके नाम का जप करके भारी भव-बंधन से छूट जाते हैं, तो इनके लिये क्या कहना है?

"सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।" से "प्रभु कारज लगि..." तक 'वन उजारि' प्रसंग है आगे—'रावनहिं प्रबोधी' प्रसंग चला।

(३) 'कपि बंधन सुनि...'—'सुनि' का भाव यह है कि राक्षस पहले मारे डरके घर से निकलते नहीं थे। 'धाये'—क्योंकि सभी को यह कौतुक देखने की प्रबल इच्छा है कि ऐसा बलिष्ठ वानर तो कभी सुना भी नहीं था, इसे चलकर देखना चाहिये। अतः, दौड़े; यथा—"धाये धाम काम-सब त्यागी, मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥" (बा० दो० २१२); तथा—"जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल-वृद्ध कहँ संग न लावहिं॥" (ड० दो० २)। यहाँ 'कौतुक' शब्द पर ही प्रसंग छोड़ रहे हैं। हनुमान-रावण संवाद समाप्त हो जाने पर फिर इसी 'कौतुक' शब्द से प्रसंग प्रारम्भ करेंगे; यथा—"कौतुक कहँ आये पुरवासी।"

(३) 'दसमुख सभा दीख कपि···' दसमुख शब्द से ध्वनित होता है कि उसकी सभा की दसो दिशाओं में बहुत-से खंभे लगे हुए थे और सभी खंभों में सिंहासन समेत रावण का प्रतिबिंब पड़ता था, जिससे वास्तविक रावण का पहचानना ही कठिन था। पर श्रीहनुमान्जी ने अपनी बुद्धि से सब समझ लिया कि इसी के शिर, हाथ आदि हिलाने से सभी खंभों में वैसी चेष्टाएँ होती हैं। अतः, यही वास्तविक रावण है, यों देखकर जाना। 'अति प्रभुताई' आगे कही जाती है—

कर जोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि विलोकत सकल सभीता॥७॥
देखि प्रताप न कपि-मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥८॥

दो०—कपिहि बिलोकि दसानन, बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुतवध सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय बिषाद॥२०॥

अर्थ—देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े बड़ी नम्रता से भय-सहित सब रावण की भौं ताकते रहते हैं ॥७। यह प्रताप देखकर श्रीहनुमान्‌जी के मन में कुछ डर नहीं हुआ, (वे निश्शंक देख पड़ते हैं) जैसे सर्पों के बीच में गरुड़ निश्शंक रहते हैं ॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी को देख रावण दुर्वचन कहकर खूब हँसा फिर पुत्र-वध का स्मरण किया, तो हृदय में शोक और दुःख उत्पन्न हुआ ॥२०॥

विशेष—(१) 'कर जोरे सुर दिसिप विनीता '—'सुर' का अर्थ सामान्य देवता और 'दिसिप' का दसो दिक्पाल हैं इस तरह छोटे-बड़े सभी देवता सेवा में उपस्थित रहते हैं सभा में कौतुक के लिये केवल पुरवासियों का दौड़कर आना कहा गया है, पर देवताओं का नहीं, क्योंकि ये तो आठों पहर रावण के दरबार में उपस्थित ही रहा करते हैं, उसके बंदीखाने में हैं; यथा—"रावन नाम जगत जस जाना लोकप जाके बंदीखाना ॥"। (लं० दो० ८१) सभा के आरंभ होने के पहले ही ये आकर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं। उपर्युक्त 'अति प्रभुताई' यही है। 'भृकुटि विलोकत···'—देवता लोग डरे हुए रावण की भ्रू-चेष्टा को देखा करते हैं, तब भी रावण की भौंहें चढ़ी ही रहती हैं। 'देखि प्रताप न···'—पहले 'दसमुख सभा दीख कपि जाई' से देखना कहकर अब रावण की प्रभुता का वर्णन करने लगे पुनः 'देखि' कहकर वहीं से प्रसंग लेते हैं। ऊपर 'अति प्रभुताई' कहा गया, उसी को यहाँ प्रताप कहकर दोनों का पर्याय भी सूचित किया।

देवता लोग भय-भीत होकर हाथ जोड़े रहते हैं, रावण का प्रताप सुनकर ही और लोग शंकित हो जाते हैं, पर श्रीहनुमान्‌जी को शंका क्यों न हुई ? इसका उत्तर यह है कि इनके हृदय में प्रभु का प्रताप है; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालि सुत बंका ॥" (लं० दो० १७); "प्रभुप्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥ (दो० १६)। यही उत्तरार्द्ध के 'जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका।" का भाव है।

अशंकता का दूसरा यह भी कारण है कि श्रीहनुमान्‌जी स्वयं सब सुर-असुर से अधिक प्रभावशाली हैं; यथा—"न कालस्य न शक्रस्य विष्णोर्वित्तपस्य च कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमता ॥" (वाल्मी० ७।१५।८); इन्होंने रावण से कहा भी है; यथा—"देखी मैं दसकंठ सभा सब मोते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० १३)।

(२) 'कपिहिं बिलोकि···'—'कहि दुर्बाद'—दुर्बाद का स्वरूप श्रीगोस्वामीजी प्रायः नहीं लिखते, यथा—"लखन कहेउ कछु वचन कठोरा " (अ० दो० १५१) "कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर।" (लं० दो० ८१); "तेहि कारन करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद।" (लं० दो० १००) इत्यादि।

'कपिहि बिलोकि' यह रावण के तन की दशा, 'कहि दुर्बाद' वचन की दशा और 'उपमा हृदय विषाद' मन की दशा है। वह ऊपर से तो हँसता है, पर भीतर हृदय में पुत्र-शोक का विषाद भरा हुआ है।

कह लंकेस कवन तैं कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥१॥
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही ॥२॥
मारे निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा ॥३॥

अर्थ—लंकपति रावण ने कहा कि हे वानर! तू कौन है ? किसके बल से तूने वन को नष्ट

किया ।१॥ क्या तूने कभी मुझे कानों से नहीं सुना ? अरे शठ ! मैं तुझे अत्यंत निश्शंक देख रहा हूँ ॥२॥ निशाचरों को तूने किस अपराध से मारा ? अरे शठ ! कह, क्या तुझे प्राणों का भय नहीं है ? ॥३॥

विशेष—'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही ।'—भाव यह कि सुना होता, तो मेरे भय से ऐसा अन्याय न करता, यह रावण की चातुरी है वह अपनी मर्यादा की रक्षा करता है इसका यह भी भाव है कि इसके रूप की अपेक्षा इसका नाम अधिक भयंकर है, यथा—"तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा ॥" (आ० दो० २०); 'देखउँ अति असंक सठ'—भाव यह है कि तेरे सामने ही सब लोकपाल मुझे हाथ जोड़े खड़े हैं और तू वानर और साथ ही अपराधी होता हुआ भी निश्शंक है, इससे तू शठ है, यदि तू कुछ भी नीति जानता, तो इस तरह के पराक्रमी राजा के सामने यों निर्भय नहीं रहता। 'रावण को भीतर हृदय से तो पुत्र के लिये शोक है, पर और-और निशाचरों के ही मारने का कारण पूछता है। यह भी उसकी चातुरी ही है, अपने पुत्र के मारने का कारण पूछने से उसकी लघुता ज्ञात होती कि यह पुत्र वध का बदला भी नहीं ले सका।

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥४॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत-सृजत-हरत दससीसा ॥५॥

अर्थ—हे रावण ! सुन, जिसका बल पाकर ब्रह्मांड समूह को माया रचती है ॥४॥ जिसके बल से विधि, हरि, हर उत्पन्न, पालन और संहार करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।'—यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥" (आ० दो० १४), तथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया ।" (बा० दो० २२५), "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥" (गीता ९।१०)। 'बिरचति'—का भाव यह है कि पल भर में ही रचती है, तो भी विशेष-रचना से, यथा—"बिरचेउ मग महँ नगर तेहिं, सत जोजन बिस्तार। श्रीनिवास पुर तें अधिक, रचना बिबिध प्रकार।" (बा० दो० १२९)।

रावण ने श्रीहनुमान्‌जी से पूछा था—तू कौन है और किसके बल पर तुमने मेरी वाटिका को उजाड़ डाला है। उसी के उत्तर में श्रीहनुमानजी पहले अपने स्वामी श्रीरामजी का बल कहते हैं, इसीसे बराबर 'बल' शब्द का प्रयोग किया गया है पीछे वे अपना नाम ऐसा सम्बन्ध में कहेंगे।

(२) 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा।'—इसमें 'बिरंचि हरि ईसा' के ही क्रम से 'सृजत, पालत, हरत' चाहिये। पर यहाँ क्रम-भंग है। छंद की गति बैठाने के लिये प्रायः ऐसा हो जाता है। अतः, अर्थ में क्रम ठीक कर लेना चाहिये। अथवा, यों भी कहा जाता है कि ब्रह्मांड अनंत हैं, उन सबके नियम एक ही नहीं रहते। ब्रह्मा विष्णु आदि के रूप में और अधिकार में भी हेर-फेर सुना जाता है, कहा भी है, यथा—"उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥" (बा० दो० १६१)। अतः, संभव है कि कहीं विष्णु ही उत्पत्ति करते हैं, ब्रह्मा पालन अथवा, कहीं तीनों कार्य एक ही के द्वारा होते हों, यथा—"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी ॥" (अ० दो० २८१), इसमें तीनों कार्य ब्रह्मा के ही द्वारा सम्पादित होना कहा गया है। तथा "उत्पति पालन प्रलय समीहा" (लं० दो० १५), इसमें तीनों कार्य विष्णु के ही द्वारा सम्पादित हैं (विष्णु श्रीरामजी के अभिन्न हैं। अतएव अभिन्न हैं)।

विरंचि आदि का श्रीरामजी के बल से कार्य करने के प्रमाण, यथा—"हरिहि हरिता विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जो दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति···" (वि॰ १३५); "सोऽहंसन्यस्त भारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम्। रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान्॥" (वाल्मी॰ ७।१०४।८); यह काल के द्वारा श्रीब्रह्माजी का वचन श्रीरामजी के प्रति है कि आपसे सृष्टि रचने का भार पाकर मैंने आपकी उपासना की, आपसे प्राणियों के रक्षा-विधान की प्रार्थना की, क्योंकि मेरे तेज के कारण आप ही हैं, इत्यादि।

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि-कानन॥६॥
धरइ जो विविध देह सुरत्राता। तुम्ह-से सठन्ह सिखावन-दाता॥७॥

अर्थ—जिसके बल से सहस्र मुखवाले श्रीशेषजी पहाड़ और वन सहित ब्रह्मांड को अपने शिर पर धारण करते हैं, (रावण पर कटाक्ष भी है कि तुझे छोटा-सा कैलास ही उठा लेने का घमंड है)॥६॥ जो देवताओं की रक्षा के लिये तरह-तरह के शरीर धारण करता है और तुम्हारे ऐसे शठों को शिक्षा (दंड) देनेवाला है॥७॥

विशेष—(१) 'जा बल सीस धरत···'—ब्रह्मादि प्रभु के प्रभाव से केवल संकल्प द्वारा सृष्टि के कार्य करते हैं। पर श्रीशेषजी तो शरीर से कार्य करते हैं। श्रीरामजी के दिये हुए बल से वे ब्रह्मांड को बिना प्रयास ही धारण किये हुए हैं; यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रज-कनी॥" (लं॰ दो॰ ८१); 'सहसानन' का भाव यह है कि एक ही शिर पर चौदहो भुवनों समेत ब्रह्मांड धारण करते हैं, हजारों शिरों पर तो हजारों ब्रह्मांड को भी धारण करने की उनमें शक्ति है। ब्रह्मांड की गुरुता प्रकट करने के लिये 'समेत गिरि कानन' कहा गया है।

सारांश यह कि माया जिनके बल से ब्रह्मांडसमूह को रचती है, त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं और श्रीशेषजी धारण करते हैं, उन्हीं के बल से मैंने भी यहाँ कुछ किया।

यहाँ तक उनसे पाये हुए बलवालों का वर्णन किया गया है, आगे उन्हीं के अवतार, उनके शरीर का बल एवं उनका संग्राम-बल कहते हैं—

(२) 'धरइ जो विविध देह···'; यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (लं॰ दो॰ १०८); इसमें एक अर्द्धाली में 'विविध देह' और दूसरी में 'सुरत्राता' के भाव हैं। 'तुम्ह से सठन्ह'—यह रावण के लिये मुँहतोड़ उत्तर है, उसने 'कहु सठ' कहा था। अतः, वैसे ही शब्द का इन्होंने भी प्रयोग किया। 'सिखावन दाता'; यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥" (बा॰ दो॰ १२०)।

हर-कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृपदल-मद गंजा॥८॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥९॥

दोहा—जाके बल लवलेस ते, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि॥२१॥

अर्थ—जिसने शिवजी का कठिन धनुष तोड़ा है, तुझ समेत सब नृप-समूह का गर्व नाश किया है ॥८॥ खर, दूषण, त्रिशिरा और बालि को मारा, जो सभी अतुलित बल से पूर्ण थे, (तब तू किस गिनती में है,) ॥६॥ जिसके बल के लवलेश-मात्र से चराचर-मात्र को तुमने जीता और जिसकी प्रिय स्त्री को तुम हर लाये हो, मैं उसी का दूत हूँ ॥२१॥

विशेष—(१) 'कोदण्ड कठिन'—जिस धनुष को तीनों लोक के वीर भी न उठा सके थे, दस हजार राजा एक साथ लगकर भी न उठा सके थे। उसे इन्होंने बिना प्रयास के ही तोड़ डाला। 'तोहि समेत', यथा—"जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥" (बा॰ दो॰ २११), "जनक-सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउँ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥" (लं॰ दो॰ १४)

ऊपर की चार अर्द्धालियों में अवतारी का बल कहा गया है। अब अवतार का बल कहते हैं। शिव धनुष तोड़ने में शरीर का बल और खर आदि के वध से युद्ध का बल कहा गया। रावण को अवतार के होने में संदेह है, यथा—"जौं भगवत लीन्ह अवतारा॥ . जौं नर रूप भूप सुत कोऊ।" (आ॰ दो॰ २२), इसलिये पहले अवतार के होने की पुष्टि की कि यदि मनुष्य होते तो धनुर्भंग एवं खरादि वध कैसे कर पाते, यथा—"नृप समाज महँ सिव धनु तोरा। सकल अमानुष करम तुम्हारे।" (बा॰ दो॰ १५१), "खर दूषन मो सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता॥" (आ॰ दो॰ २२), 'सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर॥" (लं॰ दो॰ ३१) पहले धनुर्भंग का उदाहरण दिया गया। जिसमें रावण स्वयं हार चुका था। फिर खर दूषणादि का मारना कहा, जो रावण के समान ही बली थे, यथा—"खर दूषन मो सम बलवंता।" (आ॰ दो॰ ११) तब बालि-वध का प्रमाण दिया, जो रावण से भी अधिक बलवान था, यथा—"एक कहत मोहिं सकुच अति, रहा बालि की काँख।" (लं॰ दो॰ २४)।

(२) 'जाके बल लवलेस ' ब्रह्मादिक को प्रभु से बल मिला और तूने तपस्या करके ब्रह्मादि से बल पाया। अतएव तुझे उनका लवलेश अर्थात् किंचिन्मात्र ही बल मिला, जिससे तूने सम्पूर्ण चराचर को जीत लिया यथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्त्ती नर नारी॥" (बा॰ दो॰ १८१), यह प्रभु ही का बल है, यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥ (गीता १०।४१)।

(३) 'तासु दूत मैं '—जिसके बल का वर्णन ऊपर किया गया, मैं उसी का दूत हूँ, अर्थात् मुझे भी उसी का बल है। इस युक्ति से श्रीहनुमानजी ने अपना बल भी उसे जना दिया। 'प्रिय नारि' अर्थात् पतिव्रता स्त्री को। 'हरि आनेहु'—इससे रावण का अपराध सिद्ध किया गया।

श्रीरामजी के ऐश्वर्य को चारों प्रकार के (शब्द, अनुमान, प्रमाण और प्रत्यक्ष) प्रमाणों से सिद्ध किया गया है यथा—"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।" से "तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता।" तक शब्द है। "हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत "—यह अनुमान—"खर-दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे "—यह प्रमाण और "जाके बल लव लेस ते " यह प्रत्यक्ष है।

यहाँ तक 'कौन तैं' और 'केहि के बल ' इन दो प्रश्नों के उत्तर हुए।

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई ॥१॥
समर बालि सन करि जस पावा। सुनि कपि-बचन बिहँसि बहरावा ॥२॥

अर्थ—मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ कि सहस्रबाहु से लड़ाई पड़ी ॥१॥ बालि से युद्ध करके यश पाया, कपि के वचन सुनकर उसने हँस कर बहला दिया (टाल दिया)॥२॥

विशेष—(१) 'जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई।'—रावण ने कहा था—"कीधौं श्रवन सुने नहिं मोही..." उसीका उत्तर यहाँ दे रहे हैं, श्रीहनुमानजी सन्त हैं, इससे इसके दोषों को ढँककर कहते हैं कि वह समझ भी जाय, और लोगों की दृष्टि मे उसकी अप्रतिष्ठा भी न हो। इसी से व्यग्य से कहते हैं कि तुम्हारी प्रभुता वही है न? कि सहस्रबाहु से लड़ने गये, पर युद्ध लड़ भी न पाया और उसने तुम्हे बाँध लिया, फिर पुलस्त्य मुनि के छुड़ाने से तुम छूटे, यथा—"एक बहोरि सहस भुज देखा। धाइ धरा जनु जतु बिसेखा॥ कौतुक लागि भवन लेइ आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोडावा॥" (लं० दो० ११), इससे सूचित किया कि तुम सहस्रबाहु से हार गये और वह परशुराम के द्वारा पराजित हुआ। परशुरामजी भी श्रीरामजी से हार गये अत, अपने मन मे समझ लो कि तुम श्रीरामजी से कितने तुच्छ हो, यथा—"सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ तासु गरब जेहि देखत भागा। सो नर क्या दससीस अभागा॥" (लं० दो० २५) 'जानउँ' अर्थात् मैं भली भाँति जानता हूँ, यही तो है

(२) 'समर बालि सन करि जस पावा'—भाव यह है कि बालि से लड़ाई करने गये, और उसने काँख तले दबा लिया, तुमसे कुछ भी करते न बना अत, तुम्हें महान अपयश हुआ जिस बालि के द्वारा तुम्हारी यह दशा हुई, उसे श्रीरामजी ने एक ही बाण से मारा तो मैं उनका दूत होकर क्यो न अशक रहूँ? सहस्रबाहु और बालि से हारने की कथा वाल्मी० ७। ३२–३४ मे यों है—एक बार रावण सहस्रबाहु को जीतने के विचार से उसकी पुरी मे गया वहाँ वह नर्मदा मे स्नान करके श्रीशिवजी का पूजन करने लगा। संयोग से सहस्रबाहु भी उसी नदी मे जल-क्रीडा कर रहा था उसने अपनी भुजाओं से नदी की धारा रोक दी, जिससे नदी का प्रवाह उलटा हो गया और नदी रावण की पूजन-सामग्री को बहाकर ले गई रावण इसका पता पाकर सहस्रबाहु से लड़ने गया उसने इसे वनजन्तु की नाईं बाँध लिया और घर ले गया वहाँ पुलस्त्य मुनि ने दोनों मे सधि करवाकर इसे छुड़ा दिया।

एक दिन बालि समुद्र के किनारे सध्या-वन्दन कर रहा था। रावण ने चुपचाप जाकर उसे पीछेसे पकड़ना चाहा, पर बालि समझ गया। समीप पहुँचते ही उसने फिरकर इसे पकड़ लिया और काँख मे दबा लिया। वह सध्या शेष करके किष्किधा मे आया, तब उसने इससे सब बाते पूछीं? पीछे इसकी प्रार्थना सुन और सधि करके इसे कुछ काल तक रक्खा। उसके बाद यह लका आया।

'बिहँसि बहरावा'—रावण खूब हँसा। इस बात को उसने उड़ा दिया, दूसरी ओर देखने लगा कि जिससे और लोग मेरी बड़ाई ही समझें और वानर सब बातें खोलकर न कह दे। दूसरी ओर ताककर उसने अपनी गभीरता भी दिखाई कि मानो अपनी बड़ाई नहीं सुनना चाहता।

खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि-सुभाव ते तोरेउँ रूखा॥३॥
सबके देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारग-गामी॥४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मै मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥५॥
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥६॥

अर्थ—हे प्रभो! मुझे भूख लगी थी, इसलिये मैंने फल खाये (भाव यह कि आपके नगर मे

आने पर भूख लगी, तो खाने के लिये कहाँ जाता ?) और वानर-स्वभाव से वृक्ष तोड़ा ॥३॥ हे स्वामी ! देह सबको परम-प्यारी होती है, कुमार्ग पर चलनेवाले निशाचर मुझे मारने लगे ॥४॥ तब जिन्होंने मुझे मारा, उन्हें मैंने भी मारा, उसपर भी तुम्हारे पुत्र ने मुझे बाँधा है ॥४॥ मुझे अपने बाँधे जाने की कुछ लाज नहीं है, मैं (तो) अपने स्वामी का कार्य करना चाहता हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'खायउँ फल प्रभु॰ '—यह 'केहि के बल घालेहि बन खीसा।' का उत्तर है। ऊपर स्वामी का बल तो कहा, पर फल खाना और वन उजाड़ना स्वामी की ओर से नहीं कहते, नहीं तो स्वामी पर दोष सिद्ध होता। यह उत्तर बड़ी युक्ति से दे रहे हैं कि मैंने क्षुधा निवृत्ति के लिये फल खाये और कपि-स्वभाव से वृक्ष तोड़े। आप प्रभु (राजा) हैं। अत, विचार करें कि इसमे मेरा क्या दोष है ? यदि तुम कहो कि मैंने एक वानरी-देह की रक्षा के लिये करोड़ों राक्षसों को क्यों मार डाला, तो उत्तर यह है—

(२) 'सबके देह परम प्रिय '—जिसका जो शरीर होता है, वही उसे परम प्यारा होता है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं " (बा॰ दो॰ २०७) भूखे को फल खाते हुए मारा, इससे वे रक्षक लोग 'कुमारगगामी' कहे गये वानर वृक्षों के फल खाते ही हैं मंदोदरी ने भी इन्हें निर्दोष कहा है ; यथा—"कानन उजार्यो तो उजार्यो न बिगार्यो कछू, • बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हारसों।" (क॰ सुं॰ ११)।

'प्रभु' और 'स्वामी' शब्द यहाँ उचित ही हैं। श्रीहनुमान्‌जी जब स्वामी का बल कहते थे, उस सबध से रावण को शठ कहने के प्रत्युत्तर मे इन्होंने भी उसे शठ कहा है अब वे अपने ऊपर बात लेकर दूत की हैसियत से उसे कहते है ये,श्रीसुग्रीवजी एव श्रीरामजी के मन्त्री हैं श्रीसुग्रीवजी वानरराज हैं और रावण राक्षसराज है शत्रुता के भाव मे दोनों ही समान हैं प्रभु और स्वामी शब्द राजवाचक हैं इनका प्रयोग करना नीतिकुशल श्रीहनुमान्‌जी के लिये योग्य ही है, यथा—"श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो ॥" (वाल्मी॰ ५।५०।१८)। यह इसी प्रसग मे महर्षिजी ने भी लिखा है।

(३) 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे।' '—भाव यह कि मैंने प्रमाद से किसी को नहीं मारा, किन्तु अपने प्राण बचाने के लिये मारा। पहले जो 'कपि सुभाव ते तोरेउँ रूखा' कहा था, उसपर यदि यह कहे कि वृक्षों की डाल, पत्ते तोड़ना ही वानर-स्वभाव है न कि वृक्षों को समूल उखाड़ फेंकना। इसका भी उत्तर इसी मे है कि मारनेवाले शस्त्र लेकर आये थे, तो मैं किस शस्त्र से अपनी रक्षा करता ? इसीलिये मुझे वृक्षों को भी उखाड़ना पड़ा। 'तेहि पर बाँधेउ '—हमको बिना दोष के,ही कुमार्गगामी (रक्षक) मारते थे, उसपर तुम्हारे पुत्र ने अकारण मुझे ही बाँधा। राजपुत्र को न्याय-सगत कार्य करना चाहता था। 'तनय तुम्हारा' का भाव यह कि तुम अधर्मी हो, तो तुम्हारा पुत्र वैसा क्यों न हो ? मुझे जिन्होंने मारा था, उन्हें मारकर मैंने बदला चुका दिया। पर तुम्हारे पुत्र ने जो मुझे बाँधा है, इसका बदला अभी शेष है, इसका बदला भी मैं चुकाऊँगा। यह भाव-'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा' में निहित है। इसीसे नगर जलाया गया, यथा—"भूय स चिन्तयामास मुहूर्तं कपि कुंजर। कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः ॥ प्रतिक्रियास्य युक्ता स्यात्सति मह्यं पराक्रमे। " (वाल्मी॰ ५।५३।३४ ३५)।

(४) 'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा।'—बाँधे जाने एव पराजित होने से वीरों को लज्जा लगती है, यथा—"मेघनाद कै मुर्छा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी॥" (लं॰ दो॰ ७४)। पर मुझे इसकी लज्जा नहीं है, क्योंकि मैं—'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।', यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥" (अ॰ दो॰ १८५)। इसमें श्रीहनुमान्‌जी का इस कहने मे रावण के

सामने आना और उसे उपदेश देकर सीता को सादर सौंपने को कहना—प्रभु का कार्य है। वही आगे—"विनती करउँ जोरि कर···" से स्पष्ट है; यथा—"काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई॥" (लं० दो० ११)। पुनः आगे का अग्नि लगाना भी प्रभु-कार्य में ही है प्रमाण—"हरि प्रेरित तेहि अवसर, चलेउ मरुत उनचास॥" (दो० २५) अतः, यह भी हरिइच्छा है। यहाँ तक उसके प्रश्नों के उत्तर दिये आगे उसे शिक्षा देते हैं—

विनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥७॥
देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत-भय-हारी॥८॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥९॥
तासो बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥१०॥

अर्थ—हे रावण! मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ, अभिमान छोड़कर मेरी शिक्षा सुनो॥७॥ तुम अपने कुल ही को विचार कर देखो और भ्रम को छोड़कर भक्तों के भय को दूर करनेवाले प्रभु का भजन करो॥८॥ जिसके डर से काल अत्यन्त डरता है, जो सुर, असुर एवं चराचर मात्र को खा लेता है॥९॥ उससे कदापि वैर न कीजिये, मेरे कहने से श्रीजानकीजी को दे दीजिये॥१०॥

विशेष—(१) 'विनती करउँ जोरि कर रावन।······'—बड़े लोग नम्रता एवं प्रार्थना-पूर्वक उपदेश देते हैं; यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।" (उ० दो० ४५); संत लोग भी; यथा—"कहै बिभीषन पुनिकर जोरी।" (दो० ३६); श्रीहनुमान्जी भी रुद्रावतार एवं महान् संत हैं, शत्रु रावण का भी ये भला ही चाहते हैं; यथा—"उमा संत कइ यहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥" (दो० ४०); 'सुनहु'—अभी तक प्रश्नोत्तर और भय-दर्शन का प्रसंग था, तब प्रत्युत्तर में 'सुनु' आदि निरादर के शब्द कहे थे। अब उसे शिक्षा देना है, इसलिये हाथ जोड़ते हैं, विनती करते हैं और आदर के शब्द कह रहे हैं, इसी तरह उपदेश देने से श्रोता उसे धारण करता है। 'मान तजि'—क्योंकि मानी किसी की शिक्षा नहीं सुनते; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (कि० दो० ८); रावण ने अभिमान नहीं छोड़ा, इसीसे उसने उपदेश भी नहीं माना; यथा—"बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी॥ (दो० २१); उल्टा क्रोधित हुआ; यथा—"लागेसि अधम सिखावन मोही।" (दो० २१)।

(२) 'देखहु तुम्ह निज कुलहिं······'—तुम अच्छे कुल के हो; यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।" (लं० दो० १६); अतएव ईश्वर का भजन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। 'भगत भय हारी।'—उनका भजन करने से वे भक्तों के भय को हरण करते हैं; यथा—"जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (दो० ४४); यदि रावण कहे कि मुझे किसका डर है? यथा—"पावक, पवन, पानी, भानु, हिमवान, यम, काल, लोकपाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।" (क० सुं० २१); उसपर कहते हैं—'जाके डर अति काल डेराई। जो···'—भाव यह है कि तुम यह न समझो कि काल मेरे वश में है, वरन् वह तो तुम्हारे लिये अवसर की ताक में है, वह सभी सुर-असुर आदि को खाता है; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (उ० दो० ११); अतः, तुम्ही उसके वश में हो। काल केवल श्रीरामजी से ही डरता है; यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया।···तव डर डरत सदा सोउ

काला ॥" (बा० दो० ११); तथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥" (कठो० २।३।३)। अर्थात् इस ब्रह्म) के भय से अग्नि तपता, भय से सूर्य तपता और भय से ही इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु (काल) दौड़ता है। अतएव—'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजे।' फिर बैर मिटने का उपाय भी कहते हैं—'मोरे कहे जानकी दीजे।'—भाव यह है कि इसमें तुम्हारा मान भी रहेगा कि श्रीरामजी के दूत ने आकर हाथ जोड़कर श्रीवनती की, तब रावण ने श्रीजानकी को लौटा दिया। 'जानकी दीजे' में ध्वनि यह है कि जैसे जनकजी ने उन्हें श्रीरामजी को समर्पण किया है, श्रीसीताजी के धनुष हटाने से और फिर उसे श्रीरामजी के भंग करने से श्रीजनकजी ने श्रीजानकीजी को श्रीरामजी की ही शक्ति जाना। अतः, उनकी शक्ति उन्हें सौंप दी वैसे आपके यहाँ अभी तक श्रीजानकीजी रहीं, अब उन्हें श्रीरामजी को सादर सौंप दीजिये; यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहिं हरिहिं श्री सागर दई। तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई।" (बा० दो० ३२४); और-और लोगों ने भी इसी भाव से देने को कहा है; यथा—"जनक सुता रघुनाथहिं दीजै" (दो० ५६); "रामहिं सौंपि जानकी, नाइ कमल पद माथ।" (लं० दो० ६); "सादर जनक सुता करि आगे। येहि विधि चलहु सकल भय त्यागे ॥" (लं० दो० ११)।

पहले श्रीरामजी से बैर करने की मनाई की कि यदि इस तरह के कारण भी आ जायँ कि उनसे शत्रुता करनी पड़े तो भी उनसे बैर न करो; यथा—"तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं।" (अ० दो० २४); फिर बैर का कारण मिटाने के लिये श्रीजानकीजी को लौटा देने को भी कहा। मान शिक्षा सुनने का बाधक है, भ्रम भजन का बाधक और श्रीजानकी का नहीं लौटाना बैर न छोड़ने में बाधक है। इससे इन तीनों को छोड़ने को कहा कि मान छोड़कर शिक्षा सुनो, भ्रम छोड़कर भजन करो और बैर छोड़कर श्रीजानकीजी को लौटा दो।

दोहा—प्रनतपाल रघुनायक, करुनासिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहैं, तव अपराध बिसारि ॥२२॥

राम-चरन-पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू ॥१॥
रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होउ कलंका ॥२॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी शरणागत के पालनेवाले हैं, करुणा के समुद्र हैं, खर के शत्रु हैं, शरण में जाने पर तेरा अपराध भुलाकर प्रभु शरण में रक्खेंगे ॥२२॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों को हृदय में धारण करो और तुम लंका का अचल राज्य करो ॥१॥ पुलस्त्य ऋषि का यश निर्मल चन्द्रमा है, उस चन्द्रमा में कलंक (रूप) मत हो ॥२॥

विशेष—'प्रनतपाल रघुनायक······'—यहाँ 'रघुनायक' विशेष्य है, शेष तीनों विशेषण हैं। भाव यह है कि सभी रघुवंशी आश्रित के रक्षक हुए हैं और ये तो उनमें श्रेष्ठ हैं। इनकी शरण जाने पर पालेंगे—यह रजोगुण है, करुणा करेंगे—यह सत्त्वगुण है और आश्रितों के लिये खर आदि दुष्टों को मारते हैं—यह तमोगुण है। तात्पर्य यह कि आश्रितों की रक्षा में प्रभु तीनों गुण धारण करते हैं; यथा—

"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः ॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ” (वाल्मी० ५।१५। (१६-२०) । 'राखि हैं'; यथा—"नाथ दीन दयाल रघुराई । बाघउ सनमुख गये न खाई ॥" (सुं० दो० ६) 'तव अपराध विसारि'—यद्यपि तुम्हारा अपराध क्षमा-योग्य नहीं है, तथापि वे 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, क्षमा ही नहीं करेंगे, वल्कि उसे भुला भी देंगे—यह श्रीमुख का वचन है ; यथा—"कोटि विप्र बध लागहिं जाहू । आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥" (दो० ४४) ।

(२) 'राम-चरन पंकज उर धरहू ।···'—प्रभु के चरणकमल के आधार से लंका का तुम्हारा राज्य अचल रहेगा । अभी मान और भ्रम हृदय में भरे हैं, उन्हें मन से निकाल दो और उसके स्थान में राम-चरण-कमल को पधराओ, फिर तो तुम्हारा राज्य अचल रहेगा । यह इस तरह कि इन चरणों के सम्बन्ध से लक्ष्मीजी सदा रहेंगी ; यथा—"जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ । हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ ॥" (वि० ८६) इससे तुम्हें काल भी न व्यापेगा ; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥" (उ० दो० ८८) ; पुनः—'राम-चरन पंकज उर धरहू ' से परलोक बनेगा और 'लंका अचल राज तुम्ह करहू ।' से यह लोक बनेगा ।

(३) 'रिषि पुलस्ति जस विमल मयंका ···' ; यथा—"मुनि पुलस्ति के जस-मयंक महँ कत कलंक हठि होहि ।" (गी० लं० १) ; भाव यह है कि इस कुल के लोग सदा से भगवद्भक्त होते आये हैं अतः, उस कुल में जन्म लेकर भगवान् का वैरी होना उसके लिये कलंक है । तुम्हारे इस कर्म से इस कुल को लोग कलंकी चन्द्र के समान त्याग देंगे । इसका नाम भी न लेंगे । ऊपर कहा था ; यथा—"देखहु तुम्ह निज कुलहि विचारी ।" उसका भाव यहाँ स्पष्ट किया

राम नाम बिनु गिरा न सोहा । देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥३॥
बसन-हीन नहिं सोह सुरारी । सब भूषन भूषित बर नारी ॥४॥
राम-बिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई ॥५॥
सजलमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं । बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं ॥६॥

अर्थ—राम-नाम के बिना वाणी शोभित नहीं होती, मद-मोह छोड़कर विचार देखो ॥३॥ हे सुरारि ! सब भूषणों से भूषित सुन्दर श्रेष्ठ स्त्री वस्त्र-बिना (नंगी) नहीं शोभित होती ॥४॥ राम-विमुख की रही, पाई और बिना पाई, सभी सम्पत्ति और प्रभुता व्यर्थ हैं ॥५॥ जिन नदियों के मूल में कोई जलस्रोत (पहाड़ के झरने, सर एवं अगाध झील आदि) नहीं हैं, (वर्षा के जल से ही बहती हैं) वे वर्षा बीत जाने पर फिर तुरत ही सूख जाती हैं ॥६।

विशेष—(१) 'राम नाम बिनु गिरा···'—श्रीरामजी को शत्रु मानकर रावण कभी उनके नाम का उच्चारण नहीं करता था ; उन्हें केवल तापस, भूप, नर आदि ही कहा करता था ; यथा—"कहु तपसिन्ह के बात बहोरी ।" (दो० ५२) ; "नर कर करसि बखान ।" (लं० दो० २५) ; "हौं मारिहौं भूप दोउ भाई ।" (लं० दो० ७७) ; इत्यादि । इसीलिये यहाँ श्रीहनुमान्जी कहते हैं कि राम-नाम के विना वाणी शोभा नहीं पाती, क्योंकि वाणी, (जिह्वा) पर अग्नि, सूर्य, और चन्द्रमा के निवास हैं ; यथा—"जिह्वा मूले स्थितो देवः सर्वतेजो मयोऽनलः । तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः ॥" (गायत्री भाष्य-योगि याज्ञवल्क्य) ; और श्रीरामजी का नाम इन तीनों का हेतु है ; यथा—"हेतु कृसानु

भानु हिमकर के ।" (बा॰ दो॰ १९) । अतः, राम-नाम के आराधन से अग्नि बीज रकार से वैराग्य, भानु बीज अकार से ज्ञान और चन्द्र बीज मकार से उपासना का साक्षात्कार होता है। बा० दो० १८ चौ० १ देखिये । 'देखु बिचारि'—विचार करने पर परलोक का साधन ही जीव-मात्र का परम पुरुषार्थ है, वही श्रीरामनाम द्वारा कांडत्रय की सिद्धि से होता है, अतएव रामनाम से वाणी को कृतार्थ करो। मद और मोह भजन के बाधक हैं, इससे इन्हें छोड़ना कहा है। वाणी का एक अर्थ कविता भी है, इसके लिये बा० दो० ६ चौ० ४ देखिये ।

(२) 'बसन-हीन नहिं ··'—जैसे सब भूषणों से भूषित श्रेष्ठ सौभाग्यवती स्त्री भी बिना वस्त्र के शोभा नहीं पाती ; वैसे ही अलङ्कार, व्यञ्जना, ध्वनि आदि से युक्त होती हुई भी वाणी रामनाम के बिना शोभा नहीं पाती। 'बर नारी'—का भाव है श्रेष्ठ सौभाग्यवती और सुन्दरी युवती, क्योंकि सब भूषणों का अधिकार उसीको है। रावण विद्वान् भी है, इसीलिये कहते हैं कि राम-नाम से हीन होना अयोग्यता है। 'सुरारी' कहने का भाव यह है कि विद्वान् और उसमें भी ब्राह्मण को देवताओं का वैरी होना उसके लिये योग्य नहीं ।

(३) 'राम-बिमुख संपति प्रभुताई'—सम्पति की शोभा उसे सत्कर्म में लगाकर श्रीरामजी के सम्मुख हो जाने में है, अन्यथा वह व्यर्थ है, इसीसे कहते हैं कि 'रही'=भूत काल की 'पाई' जो सम्पति वर्तमान में प्राप्त है 'बिनु पाई' जो भविष्य में मिलनेवाली है 'जाइ' व्यर्थ ; यथा—"नतरु जनम जग जाय ।" (अ॰ दो॰ ७॰) ; "राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जियत ।" (वि॰ १९३)। अथवा—'जाइ रही' - चली जायगी, 'पाई बिनु पाई'—पाई हुई भी बिना पाई-सी हो जायगी। जैसे कि आगे—'बरपि गये पुनि तबहिं सुखाहीं ।' कहेंगे कि जैसे ही वर्षा का जल सूख गया कि वे नदियाँ सूख गईं, मानों वर्षा हुई ही नहीं थी ।

पहले—"राम चरन पंकज उर धरहू ।"—यह हृदय (मन) का भजन कहा गया, फिर "राम-नाम बिनु ··" से वचन का और फिर "राम बिमुख संपति···" से कर्म का भजन कहा गया, क्योंकि शास्त्र-विहित कर्म हरिभक्ति ही हैं ; यथा—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" (गीता १८ ४६) ; रावण मन, वचन, कर्म सबसे हरि-विमुख है। इसलिये उसे इन तीनों से हरि-सम्मुख होने का उपदेश दिया गया ।

(४) 'सजलमूल जिन्ह···'—संपत्ति और प्रभुता नदी के समान हैं ; यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई ।" (बा॰ दो॰ १) ; और सुकृत मेघ के समान ; यथा—"सुकृत मेघ बरसहिं सुख बारी " (अ॰ दो॰ १) ; सुकृत के द्वारा संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है। पर राम-विमुख होने से शीघ्र ही उनका नाश हो जाता है। राम-सम्मुखता संपत्ति-रूपी नदी का मूल (उद्गम) है, समूल नदी अचला रहती है ; यथा—"जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ कर्म बचन मनहूँ ॥" (वि॰ ८१)। यहाँ तक उपदेश का प्रसंग था। अब आगे भय-प्रदर्शन है ।

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥७॥
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥८॥

दो०—मोह - मूल बहु - सूल-प्रद, त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक, कृपासिंधु भगवान ॥२३॥

अर्थ—हे दशग्रीव ! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि श्रीरामजी से विमुख होने पर कोई भी रक्षक नहीं है, (तुम्हारे कुल, राज्य संपत्ति एवं शरीर सभी नष्ट होंगे,) ॥७॥ सहस्रों शङ्कर, सहस्रों विष्णु और सहस्रों ब्रह्मा भी श्रीरामजी के शत्रु की रक्षा नहीं कर सकते ॥८॥ मोह का मूल कारण बहुत शूल देनेवाला तमोगुणी अभिमान छोड दो, कृपा-सागर, रघुनायक, भगवान् श्रीरामजी का भजन करो ॥२३॥

विशेष—(१) 'सुनु दसकंठ···'—भाव यह है कि श्रीरामजी से विमुख होने पर तुम्हारे दसो शिर काट डाले जायँगे ; यथा—"सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता" (आ॰ दो॰ १); 'कहउँ पन रोपी'—का सम्बन्ध अगली अर्द्धाली 'संकर सहस···' से भी है। अतः, भाव यह हुआ कि तुम उनसे विमुख ही नहीं, किंतु उनका द्रोही भी हो। अतएव तुम्हारी रक्षा मे सहस्रों त्रिदेव भी समर्थ नहीं हो सकते , यथा—"ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥", (आ॰ दो॰ १); त्रिदेवों मे भी श्रीरामजी का ही बल है और वे सभी श्रीरामजी के सेवक है ; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥" (दो॰ २०); "देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा॰ दो॰ ५४)।

रावण की सारी सम्पत्ति श्रीशिवजी की दी हुई है ; यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।" (दो॰ ४९); और उसकी आयुवृद्धि भी श्रीशिवजी के द्वारा ही हुई है ; यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥" (लं॰ दो॰ ९२); तथा—"वांछितं चायुषः शेषं······ आयुपश्चावशेषं च ददौ भूतपतिस्तदा॥" (वाल्मी॰ ७।१६।४१-४४)। इसीसे श्रीशिवजी का नाम उसके रक्षकों मे सबसे पहले है। तथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्र सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥" (वाल्मी॰ ५।५१।४४); "सकल सुरा-सुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ॰ दो॰ १८८)।

(२) 'मोह-मूल बहु-सूल-प्रद··· ···'—मोह सब मानसिक रोगों का मूल कारण है ; यथा—"मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (उ॰ दो॰ १२०); "संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥" (उ॰ दो॰ ७१); यह 'तम अभिमान' का विकार है। अभिमान सात्विक भी होता है। इसलिये वह ग्राह्य है; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (अ॰ दो॰ १०); 'भजहु राम रघुनायक·····'—राम-मात्र कहने से निर्गुण का भी संदेह होता, इसलिये 'रघुनायक' कहकर सगुण कहा गया और फिर 'कृपासिंधु' इसलिये कहा गया कि उनका भजन करने से वे समुद्र के समान कृपा करते हैं। पुनः 'भगवान्' शब्द से उनमे ऐश्वर्य की पूर्णता भी कही गई कि वे सब कुछ कर सकते हैं और भक्तों पर ममता भी रखते हैं, यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ॰ दो॰ ७२); "अवतरेउ अपने भगत हित······" (बा॰ दो॰ ५१)।

रावण को श्रीरामजी के ईश्वरत्व मे संदेह है। इसीसे ईश्वरत्व कहते हुए उपक्रम और उपसंहार मे भी भ्रम और मोह का त्यागना कहा गया है ; यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी" और "मोह मूल ··भजहु राम···"। अभिमान भजन का बाधक है, इसीसे आदि और अंत मे इसका त्यागना था ; यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥" और "त्यागहु तम अभिमान।"

"पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी"—प्रकरण

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥१॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी ॥२॥

अर्थ—यद्यपि कपि ने अत्यन्त हितकर भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीति से भरी हुई वाणी कही ॥१॥ तथापि वह महा अभिमानी रावण बहुत हँसकर बोला कि हमें बड़ा ज्ञानी वानर गुरु मिला (उसने निरादर पूर्वक हँसकर ऐसा कहा) ॥२॥

विशेष—(१) 'अति हित बानी'—वैराग्य और भक्ति में परलोक का हित और नीति और विवेक में लोक का हित है भक्ति आदि के विभाग—'भगति'—'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी' से 'राम चरन पंकज उर धरहू।' तक। 'बिबेक'—'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका।' से 'बसन हीन नहिं सोह सुरारी' तक 'बिरति'—"राम बिमुख संपति प्रभुताई।' से 'बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं।' तक। 'नय'—'सुनु दसकंठ कहउँ प्रन रोपी।' से 'भजहुँ राम रघुनायक' तक। इसमें नीति यह है कि अपनेसे बड़ों से मेल कर लेना चाहिये।

(२) 'बोला बिहँसि महा अभिमानी।'—श्रीहनुमानजी की शिक्षापूर्ण वाणी के निरादरकरने के लिये रावण ठठाकर हँसा, क्योंकि वह महा अभिमानी है और अभिमानी लोग शिक्षा नहीं मानते, यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (कि० दो० ८), पुन यहाँ श्रीहनुमान्जी ने उपक्रमोपसंहार में उसे अभिमान त्यागने के लिये कहा, पर उसने न छोड़ा, इससे भी वह महा अभिमानी सिद्ध होता है। 'मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।'—भाव यह कि आज तक किसी को वानर (पशु) गुरु न मिला होगा 'गुरु बड़ ज्ञानी'—यह सरस्वती ने यथार्थ ही कहलाया है। श्रीहनुमान्जी त्रिभुवन-गुरु शिवजी के अवतार ही हैं, यथा—"तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।" (बा० दो० ११०)।

"रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान।" (दोहावली १४२)।

मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही ॥३॥
उलटा होइहि कह हनुमाना। मतिभ्रम तोर प्रगट मैं जाना ॥४॥
सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥५॥
सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये ॥६॥

अर्थ—अरे दुष्ट! तेरी मृत्यु निकट आ गई है, अरे अधम! तू अधम होकर भी मुझे सिखाने लगा है ॥३॥ श्रीहनुमान्जी ने कहा—उलटा होगा (अर्थात् तेरी ही मृत्यु निकट है, मेरी नहीं) मैं प्रत्यक्ष जान गया कि यह तेरा मतिभ्रम है ॥४॥ कपि श्रीहनुमान्जी के वचन सुनकर बहुत खिसियाया (लज्जा से कुपित हुआ), और (राक्षसों से) कहा—इस मूर्ख के प्राण शीघ्र ही क्यों नहीं हरण करते? ॥५॥ सुनते ही राक्षस लोग मारने दौड़े (उसी समय) मन्त्रियों के साथ श्रीविभीषणजी आये ॥६॥

विशेष—(१) 'मृत्यु निकट आई···'—भाव यह है कि अयोग्य होते हुए भी तूने गुरु बन कर मुझे शिक्षा दी, इसलिये गुरु-दक्षिणा के रूप में मैं तुझे मृत्यु दूँगा ; यथा—"कह कपि मुनि गुरुदछिना लेहू पाछे हमहिं मंत्र तुम्ह देहू ॥" (लं॰ दो॰ ५६) ; 'अधम' ; यथा—"अस मैं अधम सखा सुनु" (दो॰ ७) 'सिखावन मोहीं'—मैं तो स्वयं पंडित हूँ, तू मुझे क्या सिखाता है ? अभिमानी होने के कारण शिक्षा देने पर रावण क्रोध करता है ; यथा—"गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥" (आ॰ दो॰ १५)।

रावण के प्रश्नों में कहे हुए दोषों का जब श्रीहनुमान्‌जी ने खंडन कर दिया; तब उसने समझ लिया कि आगे और कुछ कहने से यह मुझे सभा में बेवकूफ बनावेगा। अतः, इतनी बात ही लेकर कि अयोग्य होकर तूने मुझे शिक्षा क्यों दी ?—उसने उनके वध की आज्ञा दे दी, पर वस्तुतः मृत्यु का हेतु शिक्षा देना नहीं है उत्तर नहीं दे सकने पर उसकी पूर्ति कोप से भी की जाती है, कहावत है—"शेषं कोपेन पूरयेत" यहाँ रावण ने वही किया है।

(२) 'उलटा होइहि कह हनुमाना ···'—भाव यह कि मरेगा तो यह स्वयं और कहता है मुझे। 'मतिभ्रम तोर···'—हित की शिक्षा दी जाती है और उसे अनहित मानता है, यही इसका मतिभ्रम होना है, इसीसे श्रीहनुमान्‌जी ने निश्चय किया कि यह अवश्य मरेगा ; यथा—"निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (लं॰ दो॰ १५) कहे जाने पर भी उसने अभिमान नहीं छोड़ा, किन्तु महा अभिमान प्रकट किया ; यथा—"बोला बिहँसि महा अभिमानी " और उलटे उपदेष्टा को ही मारने पर तुल गया। इससे भी उसकी मृत्यु का होना जाना गया ; यथा—"मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहिं काल बस मति भ्रम भयऊ॥" (लं॰ दो॰ १५) ; "मंदोदरी हृदय अस जाना। काल वश्य उपजा अभिमाना ॥" (लं॰ दो॰ ७)

(३) 'सुनि कपि-बचन ··'—वह खिसियाया तो तभी से था, जब उससे उत्तर नहीं बन पड़ा, अब प्रयुत्तर पाकर और खिसियाया। प्रत्युत्तर भी कठोर वचनों से दिया गया, इससे अति खिसियाया ; यथा—"परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान ॥" (दो॰ ९) ; 'बेगि न हरहु मूढ़···'—भाव यह कि यदि यह शीघ्र नहीं मारा जायगा, तो फिर और कुछ कह बैठेगा 'मूढ़' है, क्योंकि यदि यह शास्त्र की मर्यादा जानता, तो राजा के समक्ष ही उसे अपमानजनक वचन न कहता। शरीर से अधम है, नीति न जानने से मूढ़ है और परुष वचन बोलने से वध के योग्य है, पुनः रावण पहले कह भी चुका है—"मृत्यु निकट आई···" अतएव शीघ्र मारने को कहा।

(४) 'सुनत निसाचर मारन धाये ···'—'धाये', राक्षस डर के मारे इनसे दूर ही बैठे थे, क्योंकि जानते थे कि 'परतिहुँ बार कटक संहारा।' यदि यहाँ कहीं करवट भी लेगा, तो कितनों को दबा मारेगा राक्षस श्रीहनुमान्‌जी के पास पहुँच भी नहीं पाये थे कि संयोग से श्रीविभीषणजी आ गये और इन्होंने उन राक्षसों को पहले निवारण कर दिया, तब रावण के पास पहुँचे। नहीं तो जब तक वे रावण से प्रार्थना करते, तब तक राक्षस इन्हें मारने लगते। 'सचिवन्ह सहित'—ये सदा मंत्रियों के साथ ही रहते हैं ; यथा—"सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।" (दो॰ ४०)।

यहाँ यदि यह शंका हो कि श्रीविभीषणजी ठीक उसी समय कैसे आये ? तो इसका उत्तर यह है कि (क) वे इसका पता लगा रहे थे, जब सहायता की आवश्यकता समझी, तब आये और उचित सहायता की। (ख) श्रीरामजी के भक्तों को कुयोग में भी सुयोग हो जाता है, यह इन चौपाइयों में चरितार्थ है—(१) "लागि तृषा···" तब 'स्वयं प्रभा' मिली, और उसने समुद्र तट तक पहुँचा दिया ; यथा—"नयन

मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥" (२) समुद्र तट पर शोच करते थे कि संपाती मिला और उसने रामकार्य का संयोग लगा दिया; यथा—"जो नाँघै सत जोजन सागर ···" (३) श्रीहनुमान्जी मन मे तर्क करते ही थे कि श्रीविभीषणजी मिले और उनसे श्रीसीताजी के समीप पहुँचने का संयोग लग गया, यथा—"जुगुति विभीषन सकल ··" (४) फिर 'तरु पल्लव' में छिपकर विचार करते ही थे कि रावण आया और फिर पीछे मुद्रिका देने का संयोग लग गया। (५) वैसे ही यहाँ भी जब निशाचर मारने दौड़े, तब श्रीविभीषणजी आये, अब लंका-दाह का योग लगेगा।

नाइ सीस करि विनय बहूता। नीति-विरोध न मारिय दूता॥७॥
आन दंड कछु करिय गुसांई। सबही कहा मंत्र भल भाई॥८॥

अर्थ—रावण को शिर नवाकर बहुत विनती की कि दूत को न मारिये, यह (कर्म) नीति-विरुद्ध है॥७॥ हे गोस्वामी! कोई दूसरा (सामान्य) दंड दीजिये, यह सुनकर सभी ने कहा कि भाई! यह मंत्र (विचार-सम्मति) उत्तम है॥८॥

विशेष—(१) 'नाइ सीस करि विनय···'—बड़ों के सामने शिर नवाकर बोलना शिष्टाचार है। 'विनय बहूता'—बहुत विनय का स्वरूप वाल्मी० ५।५२ भर मे विस्तार से बहुत सुंदर रीति से कहा गया है, इसीसे यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने इसका संकेत-मात्र कर दिया है।

सारांश यह है कि श्रीविभीषणजी ने पहले रावण की स्तुति की और उसे प्रसन्न करना चाहा, यह भी कहा कि दूत का वध नीति-शास्त्र से बहुत निषिद्ध है, पर रावण का रुख न पाकर फिर कहा कि यद्यपि यह आपका वैरी है, फिर भी दूत है। अतः, इसका दंड इसे न देकर इसके मालिक को दिया जाय। यह तो पराधीन है, इसके मारने से कोई लाभ नहीं। जब यह लौटकर जाय और अपने मालिक को लावे, तब युद्ध की प्रवृत्ति भी बढ़े जो कि आपके सुभट सब चाहते ही हैं। इसे मार देने पर न उन राजपुत्रों को इसका समाचार न मिलेगा और न वे आ ही सकेंगे। अतः, आप इन शूर-वीर राक्षसों के उत्साह-कार्य में बाधा न करें, (इसपर सभी राक्षसों ने प्रसन्नता प्रकट की, अन्यथा वे कादर समझे जाते, रावण ने भी इस मत को मान लिया, अन्यथा वह भी डरपोक समझा जाता।) तब रावण ने भी कहा—हाँ, ठीक है, दूत का वध तो निन्दित है ही।

श्रीविभीषणजी ने खड़े-ही-खड़े विनती की, क्योंकि आने पर इनका बैठना नहीं कहा गया है; यथा—"अवसर जानि विभीषन आवा। भ्राताचरन सीस तेहि नावा॥ पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन" (दो० ४०); पर यहाँ ऐसा नहीं कहा गया। नहीं बैठने का कारण यह है कि वे एक महात्मा का दंड दिया जाना नहीं देखना चाहते थे। दूसरे सामान्य दंड की ओट से वध-दंड का निवारण कर वे वहाँ से चल दिये।

(२) 'आन दंड कछु...'—रावण ने दंड की आज्ञा दे दी है, वह सर्वथा भंग नहीं करना चाहिये, इसलिये और कोई दंड देने को कहा। 'कछु'—सामान्य; यथा—"वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसंनिपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति॥" (वाल्मी० ५।५२), अर्थात् अगभंग कर देना, कोड़े लगवाना, भौं आदि मुँड़वा देना, मस्तक पर किसी गरम चीज से कोई चिह्न आदि बनवा देना, ऐसे ही दंड दूतों के लिये कहे गये हैं। दूत का वध तो हमने सुना भी नहीं है। (यह श्रीविभीषणजी का ही वचन है,) 'गोसाईं'—भाव यह है कि आप पृथ्वी के राजा हैं और ऐसे बहुत प्रकार के दंड-विधान को जानते ही हैं, कोई दूसरा दंड दीजिये।

शंका—श्रीविभीषणजी ने दूसरे दंड का नाम क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान—(क) श्रीहनुमान्‌जी के प्राण बचाने के लिये दूसरा दंड देने को कहा, पर दंड का नाम नहीं लिया, नहीं तो उस पाप के संसर्गी होते। (ख) हरि की इच्छा से नहीं कहा, नहीं तो लंका-दहन की अपकीर्त्ति इन्हीं के शिर मढ़ी जाती, सभी दोष देते कि इन्हीं की मंन्त्रणा से हमारे घर जले।

'सबही कहा मंत्र भल भाई।'—ऊपर कहा गया कि ये सब यदि इस सलाह में हाँ नहीं करते, तो कायर समझे जाते। पुनः नीति-शास्त्र की अनुकूलता तो थी ही।

सुनत बिहँसि बोला दसकंधर। अंग भंग करि पठइय बंदर ॥९॥

दोहा—कपि क ममता पूँछ पर, सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि, पावक देहु लगाइ ॥२४॥

अर्थ—दशशीश रावण सुनते ही हँसकर बोला कि बंदर का अंग-भंग करके भेजो ॥९॥ सबको समझाकर कहा कि वानर की ममता पूँछ पर होती है, तेल में कपड़े को डुबाकर उसे पूँछ में बाँधकर फिर उसमें आग लगा दो ॥२४॥

विशेष—(१) 'सुनत बिहँसि बोला...' श्रीविभीषणजी की विनय और नीति पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की, इसलिये हँसा। पुन. अभी पूँछ जलाने की आज्ञा देना चाहता है, इसलिये उस कौतुक को स्मरण कर खूब हँसा। इसने पहले स्वयं भी कहा था कि "मारेसि जनि सुत बाँधेसि ताही। देखिय कपिहिं कहाँ कर आही॥" भाव यह है कि इसे जिसने भेजा है, इसका बदला उसीसे चुकाऊँगा। वही संयोग बन गया, जली पूँछ लेकर यह वानर जायगा, तो अवश्य अपने स्वामी को ले आवेगा, और तब युद्ध का-आनंद मिलेगा, यह भाव प्रकट करने के लिये भी खूब हँसकर कहा।

'अंग भंग करि...'—भाव यह कि "देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७); इनमें प्राण-भंग नीति-विरुद्ध है, तो देह ही का कोई अंग विकृत कर दें, यह आज्ञा दी। फिर स्वयं अंग और उसके भंग करने की युक्ति भी कहता है।

(२) 'कपि कै ममता पूँछ पर...'; यथा—"लेत पग धूरि एक चूमत लंगूल हैं" (क० सुं० १० ; सब समझाकर कहा कि पहले सूखा कपड़ा बाँध देने से तेल के द्वारा भिगोने पर तेल ऊपर ही रह जायगा, उससे पूँछ न जलेगी ; इसलिये पहले ही वस्त्र तेल में भिगो-भिगोकर लपेटो। तब आग लगा दो, जिससे पूँछ अवश्य जले।

पूँछ-हीन बानर तहँ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि ॥१॥
जिन्हकै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई ॥२॥
बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना ॥३॥

अर्थ—वानर जब पूँछ हीन होकर जायगा, तब यह शठ अपने स्वामी को ले आयेगा ॥१॥ जिनकी इसने बड़ी बड़ाई की है, मैं उनकी प्रभुता देखूँ ॥२॥ वचन सुनते ही श्रीहनुमान्‌जी मन-ही-मन मुसुकराये कि शारदा (वाणी द्वारा) सहाय हुई, यह मैं समझ गया ॥३॥

विशेष—(१) 'पूँछ-हीन वानर तहँ जाइहि ···'—पूँछ जल जाने से यह जायगा और अवश्य जली पूँछ अपने स्वामी को दिखावेगा कि रावण के यहाँ मेरी यह दुर्गति हुई है। तब उनको ले आवेगा, क्योंकि यह हमसे बदला लेने को कह भी चुका है; यथा—"तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा " इसका एवं पुच्छ-हीनता का बदला यह स्वयं तो ले नहीं सकता। अपने स्वामी को अवश्य लेकर आवेगा 'निज नाथहि'; यथा—"कीन्ह चहेउँ निज प्रभु कर काजा " (दो॰ २१); वैसे तो चाहे इसके स्वामी नहीं भी आते; यथा—"की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवन सुजस सुनि मोर।" (दो॰ ५१); पर अब दंड मिलने पर यह उन्हें किसी प्रकार अवश्य लायेगा।

(२) 'जिन्हकै कीन्हिसि बहुत बड़ाई ···'—पहले कहा था—'निज नाथहि लइ आइहि' इनके निज नाथ सुग्रीवजी भी हैं, इसलिये स्पष्ट कह दिया कि इसने जिनकी बड़ी बड़ाई की है; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा ···" इत्यादि को रावण सत्य तो नहीं मानता, पर इसे झूठ भी नहीं कह सकता, जैसे शुक सारन से कहा है; यथा—"मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।···" इत्यादि, क्योंकि साथ ही में—"हर कोदंड कठिन जेहि भंजा तोहि समेत नृप-दल मद गंजा॥ खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली बधे सकल अतुलित बल साली॥" आदि बातें प्रत्यक्ष सत्य हैं, इससे झूठा भी नहीं कह सका अतएव 'बहुत बड़ाई' कहकर उसे टाल दिया। रावण श्रीरामजी का नाम नहीं लेता, क्योंकि उन्हें यह शत्रु मानता है; यथा—"जिन्हके बल कर गर्ब तोहि, ऐसे मनुज···" (लं॰ दो॰ ३॰)।

(३) 'भइ सहाय सारद मैं जाना '—जब से श्रीजानकीजी ने विरहाग्नि से व्याकुल होकर अपने जल जाने के लिये अग्नि माँगी थी, तभी से श्रीहनुमान्जी की इच्छा हो आई थी कि मैं अग्नि से लंका-दाह करूँगा श्रीशारदाजी ने रावण की वाणी पर बैठकर उसका योग लगा दिया। अतः, ये मन-ही-मन प्रसन्न हुए, उसे प्रकट नहीं होने दिया, नहीं तो राक्षस लोग ताड़ जाते, फिर संभव था कि वे ऐसा न करते। अथवा राक्षसों की मूर्खता पर मुस्कराये; यथा—"जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥" आगे कहते हैं, जब रावण के वचन माननेवाले भी मूढ़ हैं, तब यह स्वयं तो मूढ़ है ही।

रावण ने कहा था—'देखिय कपिहि कहाँ कर आही ' और यह भी—"देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई।" उसपर श्रीहनुमान्जी ने सोचा कि हमारी प्रभुता देख ले, तब पीछे स्वामी की भी देखेगा। इसपर भी मुस्कुराये।

जातुधान सुनि रावन-बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥४॥
रहा न नगर बसन-घृत-तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥५॥

अर्थ—रावण के वचन सुनकर मूर्ख राक्षस लोग वही रचना रचने लगे॥४॥ नगर में वस्त्र, घी और तेल—कुछ न रह गया कपि श्रीहनुमान्जी ने खेल किया, जिसमें पूँछ बढ़ गई॥५॥

विशेष—(१) 'रावन-बचना'—रावण नाम का यह भी अर्थ है कि जो सबको रुलावे। वही बात इसके इस वचन से होगी, सबके घर जलेंगे और सभी रोवेंगे। 'मूढ़'—क्योंकि सभी अपने ही हाथों अपनी हानि का उपाय रच रहे हैं। यह नहीं विचारते कि जलते हुए पूँछ को यदि वानर इधर-उधर फिरा कर भी पटकेगा, तो नगर भस्मसात् हो जायगा।

(२) 'रहा न नगर बसन-घृत···'—रावण ने केवल तेल ही कहा था, पर राक्षसों को श्रीहनुमान्जी

को दंड देने में उत्साह बहुत है, क्योंकि इन्होंने सबके भाई-बन्धुओं को मारा है। इसलिये वे लोग तेल चुक जाने पर घी भी लाने लगे और फिर उसकी भी इतिश्री हो गई। जैसे-जैसे घी-तेल और वस्त्र आता गया, श्रीहनुमान्‌जी अपनी पूँछ बढ़ाते गये। जब नगर-भर में घी, तेल इत्यादि नहीं रह गये, तब लोगों ने हारकर छोड़ दिया।

यह कैसे संभव है कि नगर-भर में घी, तेल और वस्त्र नहीं रह गये ? श्रीगोस्वामीजी ने ही इसका उत्तर लिखा है, यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।" श्रीहनुमान्‌जी का पूँछ बढ़ाना और खेल करना सामान्य बात तो नहीं है यह श्रीहनुमान्‌जी की पूँछ की महिमा है।

शंका—तब क्या सभी लंका-निवासी नग्न हो गये ?

समाधान—इस कार्य के योग्य केवल पुराने वस्त्र ही दिये गये, यथा—"तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोप कर्कशाः वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः॥ सम्वेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः।" (वाल्मी० ५।५३ ६।७); नगर-भर से 'वसन घृत तेल' आये, इसीसे सबके घर जलाये गये। श्रीविभीषणजी के यहाँ से नहीं आये, अतएव उनका घर नहीं जलाया गया, यथा—"जारा नगर निमिष यक माहीं एक विभीषन कर गृह नाहीं॥" (दो० २५)।

इस तरह भी अर्थ किया जाता है कि इस अर्द्धाली का सम्बन्ध उपर्युक्त 'वचन सुनत कपि मन मुसुकाना' से है बीच में यातुधानों की मूर्खता एक अर्द्धाली में कही गई, फिर वहीं से प्रसंग लिया गया कि श्रीहनुमान्‌जी यही सोचकर मन में मुस्कुराये कि यहाँ न तो मेरा (किष्किंधा, अयोध्या) नगर था और न मेरे पास वस्त्र, घी और तेल ही थे, [कि जिससे मैं नगर (लंका) जलाता, भले ही योग लग गया, इसी आनन्द के मारे] कपि श्रीहनुमान्‌जी पूँछ बढ़ाते हुए खेल करने लगे।

कौतुक कहँ आये पुरवासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥६॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी॥७॥

अर्थ—कौतुक के लिये नगरवासी आये। वे श्रीहनुमान्‌जी को लात मारते और उनकी बहुत हँसी करते हैं॥६॥ ढोल बजाते और सब तालियाँ देते हैं। नगर में इनको फिराकर तब पूँछ में आग लगा दी॥७॥

विशेष—'कौतुक कहँ आये...'—लात मारना, हँसी उड़ाना यही कौतुक है। पहले भी—"कौतुक लागि सभा सब आये" कहा गया था। जब घर-घर से तेल-घी की उगाही होने लगी और जब सबने जाना कि इससे उस वानर की पूँछ जलाई जायगी, यह बड़ा कौतुक होगा, तब छोटे-बड़े सभी आये। रावण की आज्ञा लात मारने और हँसी उड़ाने की नहीं कही गई है। यह पुरजनों का अपराध है, अतएव इसी दोष से इनके घर जलेंगे। 'करहिं बहु हाँसी'—जब लात मारते हैं, तब श्रीहनुमान्‌जी शरीर ढीला करके डर जाते हैं, तब सभी हँसते हैं ; यथा—"तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीलो गात कै कै, लात के अघात सहै जीमें कहै कूर हैं॥" (क० सु० ३)।

(२) 'पूँछ प्रजारी'—'प्रजारी' का अर्थ. प्रकर्ष करके जलाना है ; अर्थात् बहुत जगह आग लगाई, कि जिससे किसी तरह हाथों से अग्नि बुझा न ले ; यथा—"बालधी बढ़न लागी ठौर ठौर, दीन्ही आगी विंध की दवारि, कैधौं कोटि सत सूर हैं।" (क० सु० ४); "लाइ लाइ आगि भागे बाल जाल जहाँ

तहाँ " (क० सु० ४), 'बानहिं ढोल '—श्रीहनुमान्‌जी के इस कौतुक को नगरवासी वानर का तमाशा मानकर हँसी करते हैं और तालियाँ देते हैं। ढोल बजा-बजाकर पुकारते चलते हैं कि यह वही वानर है, जिसने वन को उजाड़ा और राक्षसों को मारा है। अब इसे दंड दिया जाता है। बाँधकर नगर में फिराना भी दंड ही है, यथा—"सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये। बाँधि कटक चहुँपास फिराये॥ बहु प्रकार मारन कपि लागे।"(दो० ५१)।

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघु रूप तुरंता॥ ८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर-नारी॥ ९॥

दोहा—हरि-प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा, कपि बढ़ि लाग अकास॥२५॥

अर्थ—आग जलती हुई देखकर श्रीहनुमान्‌जी शीघ्र परम छोटे रूप हो गये, (पूँछ के अतिरिक्त और अंगों को छोटा कर लिया, पूँछ छोटा करते तो कपड़ा निकल जाता, जो लपेटा हुआ था,)॥८॥ (बँधे हुए अंगों को छोटा करके) कपि बंधन से निकलकर सोने की अटारी पर चढ़ गये, यह देखकर निशाचरों की स्त्रियाँ भयभीत हो गईं॥९॥ भगवान्‌ की प्रेरणा से उसी समय उनचासों पवन चलने लगे। श्रीहनुमान्‌जी अट्टहास करके गरजे (खिलखिलाकर हँसे और उच्च स्वर से गरजे) और बढ़कर आकाश से जा लगे॥२५॥

विशेष—(१) 'पावक जरत देखि '—श्रीहनुमान्‌जी ने देख लिया कि अब अच्छी तरह आग जलने लगी फूँक-फाँक से भी नहीं बुझेगी। तब शीघ्र ही अत्यन्त छोटे रूप हो गये, इससे बंधन स्वयं ढीला पड़ गया और ये बंधन से निकल गये, बंधन को तोड़ा नहीं, क्योंकि उससे देवता का अपमान होता। स्वयं निबुक कर निकल आने से उपर्युक्त—"प्रभु कारज लगि कपिहिं बँधावा।" का चरितार्थ हुआ। 'कनक अटारी' अर्थात्‌ रावण का अंतःपुर, यथा—"कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो " (क० सु० ४), रावन ने ही पहले पूँछ जलाने की आज्ञा दी थी, इसीसे पहले उसीके महल पर चढ़े और रावण ने ही निशाचरियों के द्वारा श्रीजानकीजी को डरवाने का प्रबन्ध किया था, इसीसे पहले उसकी ही रानियों को डरवाया, यथा—"भईं सभीत निसाचर नारी" ये स्त्रियाँ अँटारी पर चढ़कर वानर का तमाशा देख रही थीं, इसीसे इन्हीं का पहले डराया जाना लिखा गया है।

उस समय का ध्यान—त्रिकूटाचल स्वतः बहुत ऊँचा है, और उसपर बड़ी ऊँची लंकापुरी बसी हुई है। उसमें भी रावण का भवन अत्यंत ऊँचा है, उसके भी ऊँचे कँगूरे पर श्रीहनुमान्‌जी जा चढ़े और फिर बढ़कर आकाश से लग गये, यथा—"कपि बढ़ि लाग अकास"। फिर पूँछ को घुमाने के लिये जिससे सारा आकाश अग्निमय हो गया, यथा—"बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानो, लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है। कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥ तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है। देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं, 'कानन उजार्‍यो अब नगर प्रजारी है'॥" (क० सु० ५)।

(२) 'हरि प्रेरित तेहि अवसर '—हरि के अर्थ इन्द्र आदि भी होते हैं, पर यहाँ उसका मुख्य अर्थ भगवान्‌ ही मानना है, क्योंकि वायु के शासनकर्ता वे ही हैं यथा—"भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति

पञ्चमः।" (कठ॰ २ ६।४); 'मरुत उनचास'—ये कश्यप और अदिति के पुत्र हैं, इन्द्र ने एक ही गर्भ के प्रथम सात खंड किये, फिर एक-एक के भी सात-सात खंड किये। इसीसे वे उनचास मरुत हुए, ये उनचासो पवन इन्द्र के सहायक और वैमात्रिक भाई हैं।

(३) 'अट्टहास करि गर्जा—पहले श्रीहनुमान्‌जी ने शारदा की करनी पर मुस्कुरा दिया था, अब उनचासों मरुत की सहायता देखकर अट्टहास किया कि काम अच्छा बना। 'कपि बढ़ि लाग अकास'—पहले पूँछ ही बढ़ाई थी, यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला" और अब इन्होंने शरीर भी उसी भाँति भारी कर लिया कि जिसमें राक्षस भयभीत हो समीप नहीं आवें।

राक्षसों के प्रतिकार में उसी भाँति ही श्रीहनुमान्‌जी ने भी किया है—

राक्षसगण	श्रीहनुमान्‌जी
१ कौतुक लागि सभा सब आये।	बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।
२ मारहिं चरन	'जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं'—(क॰ सु॰ ७)
३ करहिं बहु हाँसी	अट्टहास करि
४ बाजहिं ढोल	गर्जा
५ सबकी ममता घरों में	कपि कै ममता पूँछ पर।
६ नगर फेरि (प्रदक्षिणा कराई)	नगर जला कर सबको चारों ओर दौड़ाया।
७ पूँछ प्रजारी	घर-घर में आग लगाई।
८ कपि बंधन सुनि निसिचर धाये	मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई।

देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई ॥१॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट-लपट बहु कोटि कराला ॥२॥
तात मातु हा सुनिय पुकारा। येहि अवसर को हमहिं उबारा ॥३॥

अर्थ—देह विशाल (भारी) और परम हलकी है, एक मंदिर से दूसरे पर दौड़कर चढ जाते हैं ॥१॥ नगर जल रहा है, लोग व्याकुल हो गये, करोड़ों बहुत भयंकर लपटें झपट रही हैं ॥२॥ हा तात ! हा माता ! इस समय हमें कौन बचानेवाला है, यही पुकार (चारो ओर से) सुनी जाती है ॥३॥

विशेष—(१) 'देह बिसाल परम हरुआई'—जितना अत्यंत विशाल शरीर है, उतना ही वह परम हलका भी है, वृद्धि की अवधि और साथ ही हलकापन की भी सीमा है। इसी लिये एक से दूसरे घर पर शीघ्र दौड-दौड़कर चले जाते हैं। कपि सर्वत्र दौड़ते जाते हैं, और आग स्वयं लगती जाती है, पूँछ से जलता हुआ तेल टपकता जाता है, घर (मणि-स्वर्ण के भी) जलते जाते हैं। 'धाई'—का भाव यह कि श्रीहनुमान्‌जी ने बड़ी तेजी से दौड-दौडकर निमिष मात्र में लंका भर को जलाया ; यथा—"जारा नगर निमिषि एक माहीं ॥" यह आगे कहा है। 'चढ धाई'—पहले रावण के भवन में आग लगा दी, फिर कूदकर बाहर के आवरण से जलाने लगे। एक आवरण चारों ओर जलाकर तब भीतर की ओर दूसरे आवरण में चढते हैं, वे आवरण उत्तरोत्तर ऊँचे है, इसीसे 'चढ धाई' कहा है, यदि ऊँचे न होते, तो 'चलि जाई' कहते।

(२) 'जरइ नगर भा लोग ···'—यहाँ आदि में 'जरइ नगर' और अंत में 'झपट-लपट ···' कहा

(क० सु० २१),—यह गारी का गान है। और 'कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी।' यह अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान है।

(२) 'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम '—पूँछ बुझाने और श्रम निवारण करने के साथ ही लघुरूप का धारण करना कहा गया। इससे जाना गया कि श्रीहनुमान्‌जी ने समुद्र के तट पर ही लघु रूप भी धारण कर लिया, तब श्रीजानकीजी के पास आये, मानो फल खाने की आज्ञा लेकर गये थे, अब खाकर आ गये। अपना पुरुषार्थ कुछ भी न कहा, क्योंकि शूर-वीर अपने मुख से अपनी करनी नहीं कहते। ये तो अभिमान रहित हैं, इसीसे लौटकर इन्होंने प्रणाम तक भी न किया कि जिससे कुछ करके आना समझा जाता। केवल दीन भाव से हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

इस प्रसंग में श्रीहनुमान्‌जी की सेवा पाँचों तत्वों ने की—

(१) पवन—'हरि प्रेरित तेहि चले मरुत उनचास।' इनसे अग्नि बढ़ी।

(२) आकाश—'अट्टहास करि गर्जा '—अवकाश देकर शब्द बढ़ाया।

(३) पृथिवी—'देह बिसाल परम हरुआई।'—इनकी देह में गुरुता नहीं रही।

(४) अग्नि—'ताकर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो '—इन्हें जलाया नहीं।

(५) जल—'कूदि परा पुनि सिंधु पूँछ बुझाइ खोइ श्रम'। पूँछ बुझाई और श्रम दूर किया।

श्रीहनुमान्‌जी को आठों सिद्धियाँ प्राप्त हैं—

(१) अणिमा (छोटा हो जाना)—भयउ परम लघु रूप तुरंता।

(२) महिमा (बड़ा होना)—कपि जढ़ि लाग अकास।

(३) गरिमा (भारी होना)—जेहि गिरि चरन देइ चलेउ सो गा ।

(४) लघिमा (हलकापन)—देह बिसाल परम हरुआई।

(५) प्राप्ति (अलभ्य लाभ)—पावक जरत देखि । अग्नि वहाँ अलभ्य थी, वह प्राप्त हुई।

(६) प्राकाम्य (कामना पूर्ति)—उलटि पलटि लंका सब जारी।

(७) ईशित्व (शासन सामर्थ्य)—देखि प्रताप न कपि मन संका , यथा—"जो मैं प्रभु आयसु लै चलतो। तौ येहि रिस तोहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥ " (गी० सु० १६)।

(८) वशित्व—पाँचों तत्वों का वश में करना, ऊपर कहा गया।

यहाँ तक पुर-दहन प्रसंग है, आगे—'लाँघेउ बहुरि पयोधी' प्रसंग है।

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥१॥
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ। हरष-समेत पवनसुत लयऊ॥२॥
कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरन कामा॥३॥
दीन-दयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥४॥

अर्थ—हे माता! मुझे कुछ चिह्न दीजिये, जैसे श्रीरघुनाथजी ने मुझे दिया था। (इस तरह से बिदा होने की इच्छा भी प्रकट की)॥१॥ तब चूड़ामणि उतार कर दिया। श्रीहनुमान्‌जी ने हर्ष के साथ

उसे लिया ॥२॥ हे तात ! मेरा इस प्रकार प्रणाम कहना (प्रणाम की मुद्रा करके बतलाया), प्रभु सब प्रकार से पूर्णकाम हैं (अर्थात् मेरे बिना आपको कुछ कमी नहीं है, पर) ॥३॥ आपका दीन दयालु बाना है, उसे स्मरण करके, हे नाथ ! मुझ दीन के भारी संकट को दूर करें। ४॥

विशेष—(१) 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा ।'—चिह्न माँगा, पर आज्ञा न माँगी कि कहीं प्रेमवश जाने न दें, तो असमंजस में पड़ूँगा। ये तो विरह में व्याकुल हैं, समझाने से भी शीघ्र न समझेंगी और बिना शीघ्र वहाँ गये काम भी नहीं बनेगा, इसीलिये जाना अपने अधीन रक्खा। आगे श्रीसीताजी ने दीन होकर वैसा कहा भी है ; यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥ तोहि देखि सीतलि भइ छाती। पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥" 'कछु'—क्योंकि श्रीजानकीजी दीन हैं, उनके पास विशेष वस्तु नहीं है। 'जैसे रघुनायक...'—श्रीरामजी ने आपके विश्वास के लिये मुद्रिका दी थी, वैसे उनके विश्वास के योग्य आप भी कुछ दें।

(२) 'चूड़ामनि उतारि...'—चूड़ामणि शिरोभूषण है, यह समुद्र से उत्पन्न है, और देवताओं द्वारा प्रशंसित है। यज्ञ में प्रसन्न होकर इन्द्र ने इसे जनक महाराज को दिया, उन्होंने विवाह में इन्हें दिया था। यह भूषण श्रीसीताजी शिर पर धारण करती थीं, इससे मणि की बड़ी शोभा होती थी। श्रीरामजी ने पाने पर कहा है कि मैंने इसे पाकर मानों श्रीसीताजी को ही पा लिया, इससे मुझे अपने पिता और श्वसुर का स्मरण हुआ—ऐसा वाल्मी० ५।६६।१-७ में कहा हुआ है। श्रीरामजी ने हाथ का भूषण देकर सूचित किया है कि मैं तुम्हें हाथ में ग्रहण किये हुए हूँ। श्रीजानकीजी ने शिर का भूषण देकर सूचित किया कि मैं अपना शिर आपके चरणों पर रक्खे हुई हूँ ; जैसे हाथ का धर्म ग्रहण करना है, वैसे शिर का धर्म प्रणाम करना ; यथा—"ते सिर कटु तुम्बरि सम तूला। जे न नमत हरि-गुरुपदमूला ॥" (बा० दो० ११२); 'हरष समेत'—क्योंकि यह लोकोत्तर वस्तु है, और इसे पाकर श्रीरामजी प्रसन्न एवं उत्साहित होंगे और शीघ्र श्रीजानकीजी का दुःख निवारण करेंगे।

(३) 'कहेहु तात अस...'—श्रीराम-लक्ष्मण का ध्यान करके प्रणाम मुद्रा से आतुरता पूर्वक कहा है, जो आगे स्पष्ट है; यथा—"अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बंधु प्रनतारति हरना ॥" (दो० ३०); 'प्रभु'—आप पूर्ण समर्थ हैं, फिर भी मैं आश्रित होती हुई भी दीनदशा में हूँ, यह उचित नहीं। 'पूरनकामा'—मेरा उद्धार करने में आपकी कोई स्वार्थसिद्धि नहीं; किन्तु आप अपने बाने की लाज रक्खें।

(४) 'दीनदयाल बिरद संभारी ।...'; यथा—"जौं प्रभु दीन दयाल कहावा। आरत हरन बेद जस गावा ॥" (बा० दो० ५८) ; अर्थात् मेरी रक्षा से आपका 'दीन दयालु' नामक बाना स्थिर रहेगा, आपको यश होगा। अन्यथा यह बाना गिर जायगा। 'मम संकट भारी'—अर्थात् औरों की अपेक्षा मेरा संकट भारी है। अतः, इससे आपको बड़ा यश होगा। औरों के सामान्य संकट-हरण करने से आपको यश भी सामान्य ही हुआ है ; यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ ! आयेउँ सरन। उपल केवट गीध सबरि संसृति समन, सोकश्रम सीव सुग्रीव आरति हरन ॥" (गी० सुं० ४२)।

यहाँ श्रीजानकीजी ने पहले चूड़ामणि को भेंट-रूप में दिया ; यथा—'चूड़ामनि उतारि तब दयऊ।' फिर पाँव पड़ना कहा; यथा—'कहेहु तात अस मोर प्रनामा।' तब दुःख हरण करने की प्रार्थना की ; यथा—'हरहु नाथ मम संकट भारी ।'—इत्यादि क्रम-सँभाल है।

तात सक्रसुत कथा सुनायहु। बान-प्रताप प्रभुहि समुझायहु ॥५॥

है और मध्य में 'भा लोग बिहाला' कहकर सूचित किया गया है कि सब लोग अग्नि से घिरे हुए हैं, निकल नहीं पाते। 'भा लोग' में 'भा' एकवचन है, इससे सभी को एक प्रकार से व्याकुल होना सूचित किया गया है। उनचासों पवन चल पड़े हैं, इसीसे बहुत-सी झपट-लपट का उठना कहा गया है। 'कराला' से अग्नि को अप्राकृत भी सूचित किया गया है; यथा—"जुग पट भानु देखे प्रलय कृसानु देखे, सेष मुख अनल बिलोके बार-बार हैं। तुलसी सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान, अति अचरज कियो केसरी कुमार हैं॥" (क० सुं० १०); अर्थात् इस अग्नि में जल के पड़ने से घी पड़ने की तरह यह और भी प्रज्वलित होती है।

यहाँ तक बड़ों की व्याकुलता कही गई आगे छोटों की कहते हैं।—

(३) 'तात मातु हा सुनिय पुकारा।'; यथा—"हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः॥" (वाल्मी० ५।५४) 'तात मात हा'—'हा अत्यंत' कष्टसूचक है। यहाँ इसका यह भी भाव है कि इस विपत्ति के समय जो रक्षा करे, वही 'तात-माता' है। 'तात' शब्द पिता-पुत्र, भाई, मित्र आदि सभी का बोधक है। कहा भी है—"धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।" (क० सुं १५)। 'को···उबारा'—का भाव यह कि जिसे पुकारते हैं, वह स्वयं आपत्ति में पड़ा है, कोई किसी का रक्षक नहीं है।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई। बानर-रूप धरे सुर कोई ॥४॥
साधु-अवज्ञा कर फल ऐसा। जरइ नगर अनाथ कर जैसा ॥५॥
जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं ॥६॥
ताकर दूत अनल जेहिं सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥७॥

अर्थ—हमने जो कहा था कि यह वानर नहीं है, कोई देवता वानर-रूप धारण किये हुए है (वही यथार्थ निकला) ॥४॥ साधु की अवहेलना का ऐसा फल होता है कि यह नगर अनाथ (के नगर) का-सा जल रहा है (अर्थात् लंक-नाथ रावण के रहते हुए भी नगर की रक्षा नहीं हो रही है) ॥५॥ नगर को निमेष मात्र में जला डाला, एक श्रीविभीषणजी का घर नहीं जलाया ॥६॥ हे गिरिजे! जिसने अग्नि को पैदा किया, उसी के दूत श्रीहनुमान्‌जी हैं, इसी कारण वे (श्रीहनुमान्‌जी) न जले ॥७॥

विशेष—(१) 'हम जो कहा यह कपि···'—क्योंकि वानरों में ऐसा पराक्रम होना असंभव है। रावण को देवताओं से वैर है ही; यथा—"हमरे बैरी बिबुध बरूथा।" (बा० दो० १८०); अतः, यह अनुमान भी ठीक ही है। यह अनुमान मंदोदरी का जान पड़ता है; यथा—"निपट निडर देखि काहू न लख्यो निमेषि दीन्हों न छुड़ाइ कहि कुल के कुठार सों॥······तुलसी मँदोवै रोइ-रोइ कै बिगोवै आपु बार-बार कह्यों मैं पुकारि दाढ़ीजार सों॥" (क० सुं० ११); 'साधु अवज्ञा'—श्रीहनुमानजी साधु हैं, इन्होंने साधु-भाव से ही रावण से सभा में बातें की हैं। इन्हें बाँधना, लात मारना, पूँछ में आग लगाना—इनकी अवज्ञा करना है। 'अनाथ कर जैसा'—सबके सामान जलते हैं, कोई रक्षक नहीं रक्षा के लिये 'तात-मातु' की पुकार निष्फल होती है। मानों किसी का कोई रक्षक है ही नहीं; यथा—"कै धौं त्रिलोचन त्रिलोकिये कुमंत्र फल, ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की-सी झोंपरी॥" (क० लं० १०)।

(२) 'निमिष एक माहीं'—जलाने में अत्यन्त शीघ्रता की, जब तक लंका-भर को जला नहीं

डाला, तबतक पलक न मारी। अथवा, निमिष शब्द अल्पकाल का द्योतक है और ऐसा मुहावरा भी है। साधु अवज्ञा का फल अति शीघ्र ही मिलता भी है; यथा—"साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥" (दो० ४१)।

(३) 'एक बिभीषन कर गृह नाहीं।'—श्रीहनुमानजी विभीषण का घर जानते हैं, क्योंकि उनसे पहले ही संवाद हो चुका है। और, उन्होंने साधु-अवज्ञा भी नहीं की है, इसीसे उनका घर नहीं जला। अवज्ञा के परिणाम में सोने के घर भी जल गये और साधु विभीषणजी के समीप के सब घर जल गये, पर उनका घर न जला।

(४) 'ताकर दूत अनल···'—अग्नि भगवान् के मुख से उत्पन्न हुई है; यथा—"मुखादग्निरजायत।" (पुरुषसूक्त); तथा—"आनन अनल अंबुपति जीहा।" (लं० दो० १४); "हेतु कृसानु भानु हिमकर को।" (बा० दो० १८); 'गिरिजा'—गिरिजा को संदेह हुआ कि श्रीहनुमान्जी स्वयं कैसे बच गये—यह उसीका उत्तर है। इसमें ध्वनि से यह भी जनाया कि अग्नि तो उनके लिये तुम्हारे पिता हिमाचल के के समान शीतल हो गया; यथा—"दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्। शिशिरस्येव संपातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः॥" (वाल्मी० ५।५३।२५)। "गोपद सिंधु अनल सितलाई।" (दो० ४); कहा ही है। 'जाकर दूत···' इसमें श्रीरामजी का प्रभाव और 'साधु अवज्ञा कर फल···' में श्रीहनुमान्जी का प्रभाव है।

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी॥८॥

दो०—पूँछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि।
जनक-सुता के आगे, ठाढ़ भयउ कर जोरि॥२६॥

अर्थ—उलट-पलटकर सारी लंका जलाकर तब समुद्र में कूद पड़े॥८॥ पूँछ बुझाकर, थकावट दूर करके और फिर छोटा रूप धारण करके श्रीजानकीजी के आगे हाथ जोड़कर आ खड़े हुए॥२६॥

विशेष—(१) 'उलटि पलटि'—एक बार ओर से छोर तक जला गये, फिर उधर से उलट पड़े और इस छोर तक दुबारा जलाते हुए आये। पुनः इधर से पलटे और उस छोर तक तिबारा जलाते हुए चले गये। इस तरह सभी जगहों में तीन बार आग लगाई।

'कूदि परा पुनि···'—पूँछ बुझाने और थकावट दूर करने के लिये समुद्र में कूद पड़े, यथा—"पूँछ बुझाइ खोइ श्रम···" आगे कहा ही है। समुद्र ने कहा भी था; यथा—"तैं मैनाक होहि श्रम हारी।" उसी की यहाँ पूर्ति की और स्नान करने से श्रम दूर होता ही है। श्रम यह कि सौ योजन का समुद्र लाँघा, राक्षसों से युद्ध और लंका-दहन किया। 'मँझारी' = बीच में।

पुनः इस लंका-दहन को श्रीगोस्वामीजी ने यज्ञ का रूप भी कहा है, यथा—"तुलसी समिधि सौज लंक-जज्ञकुंड लखि, जातुधान पुंगीफल जव तिल धान है। स्रुवा सो लंगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि, स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुनै हनुमान है॥" (क० सुं० ७); यह यज्ञ है। "हाट बाट हाटक पघिलि चल्यो घी सो घनो कनक कराही लंक तलफत ताय सों। नाना पकवान जातुधान बलवान सब पागि पागि ढेर कीन्ही भली भाँति भाय सों॥ पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो हनुमान सनमान कै जेवायो चित चाय सों। (यह भोजन) तुलसी निहारि अरि नारि दै दै गारि कहैं बावरे सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों॥"

मास दिवस महँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा ॥६॥
कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥७॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती। पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥८॥

अर्थ—हे तात! इन्द्र के पुत्र जयन्त की कथा सुनाना और बाण का प्रताप प्रभु को समझाना ॥५॥ यदि महीने-भर में स्वामी न आये, तो फिर मुझे जीती न पायेंगे (क्योंकि महीने-भर में कहना न मानने पर रावण ने मेरे वध की प्रतिज्ञा की है, तब उनका आना व्यर्थ ही होगा। अथवा, उसकी दी हुई अवधि के प्रथम ही मैं प्राण छोड़ दूँगी,) ॥६॥ हे कपि! कहो, किस प्रकार प्राण रक्खूँ? हे तात! तुम भी अब जाने को कहते हो, (भाव यह कि महीने के भीतर भी मैं कैसे प्राण रक्खूँ? (क्योंकि) तुम्हें देखकर छाती ठंढी हुई थी, फिर मुझको वही दुःख के दिन और वही दुःख की रातें (काटनी पड़ेंगी) ॥७-८॥

विशेष—(१) 'तात सक्रसुत कथा...'—यह ऐकान्तिक रहस्य केवल श्रीसीतारामजी ही जानते हैं, इसीसे इसे संकेत रूप में कहती हैं कि जिससे श्रीहनुमान्‌जी के यहाँ आने का उन्हें विश्वास हो। साथ ही अपने स्वामी के पुरुषार्थ का उद्दीपन भी कराती हैं कि मेरे प्रति थोड़े-से अपराध पर तो आपने देवराज के पुत्र की दुर्दशा कर डाली और अब तो मैं भारी संकट में पड़ी हूँ, क्यों नहीं इसका उद्योग करते? यथा—"मत्कृते काकमात्रेऽपि ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो मां हरत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते ॥" (वाल्मी० ५।३८।३१)। यह कथा आ० दो० १ में आ गई है। 'बान प्रताप'—उस कथा में बाण का प्रताप प्रकट है कि सींकबाण में कोई वैसी शक्ति भी नहीं होती, पर उससे मारने पर जयंत को तीनों लोकों में शरण न मिली। 'समुझायहु'—समझाना कहते हैं, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है; यथा—"तुअ वियोग-संभव दारुन दुःख बिसरि गई महिमा सुजान की। नतु कहु कहँ रघुपति सायक रवि तम बरूथ कहँ जातुधान की।" (गी० सुं० ११); 'सक्रसुत' का भाव यह है कि रावण के ब्रह्मकुल होने पर ध्यान न दें, शक्रसुत भी तो देवता ही था।

(२) 'मास दिवस महँ नाथ...'—मास के साथ-साथ दिवस शब्द देने का भाव यह है कि महीने की पूर्त्ति बीच में पूर्णिमा एवं संक्रान्ति पर भी हो जाती है, सो बात नहीं है, दिन गिनकर तीस दिन के कहने का तात्पर्य है, वा, मास दिन, वर्ष दिन आदि मुहावरे हैं, एक मास एवं एक वर्ष के अर्थ में कहे जाते हैं। यथा—"जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥ ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते ॥ (वाल्मी० ५।३८।६७)। 'तौ पुनि'—का भाव यह है कि एक बार अभी तुम जैसे मुझे जीवित पा गये, वैसे फिर मेरे स्वामी नहीं पायेंगे। 'आवा' और 'पावा' पद एकवचन अतएव हलका है, भाव यह कि एक मास पर यदि रावण ने मुझे मार ही डाला, तो आने पर स्वामी की हलकाई (अप्रतिष्ठा) होगी।

(३) 'केहि बिधि राखउँ प्राना'—श्रीजानकीजी प्राणों के रखने में यहाँ तीन बाधाएँ कह रही हैं—(क) नाथ का वियोग; यथा—'मास दिवस महँ नाथ न आवा।' (ख) तुम्हारा बिछुड़न, यथा—'तुम्हहूँ तात कहत अब जाना।'; तथा—"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।" (बा० दो० ५); "अदर्शनं च ते वीर भूयो मां दारयिष्यति।" (वाल्मी० ५।४०।६)। (ग) राक्षसों की दिन-रात की साँसति; यथा—'पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती।' इन तीनों बातों से बचने की कोई विधि नहीं है कि जिससे प्राणों की रक्षा हो सके।

(४) 'तोहि देखि सीतलि भइ छाती।'—श्रीरामजी के दर्शन बिना, जो मेरी छाती जल रही थी,

यह तुम्हें देखकर ठंढी हुई ; यथा—"कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते ॥" (उ० दो० १)। 'सोइ दिन सोइ राती' ; यथा—"बैठेहि बीति जात निसि जामा।" (दो० ७) ; "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (दो० ११) ; भाव यह कि हमारा यह क्लेश भूलना नहीं, तुरत स्वामी को यहाँ लाना और यह भी ध्वनित करती है कि तुम्हारे दर्शन होने पर भी मेरा दुःख रह ही जाय, यह योग्य नहीं।

दोहा—जनकसुतहि समुझाइ करि, बहु बिधि धीरज दीन्ह।
चरन-कमल सिर नाइ कपि, गवन राम पहिं कीन्ह ॥२७॥

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर-नारी ॥१॥

अर्थ—श्रीजानकीजी को समझाकर बहुत तरह से धैर्य दिया। चरण-कमलों में शिर नवाकर श्रीहनुमान्जी श्रीरामजी के पास चले ॥२७॥ चलते समय महाध्वनि से भारी गर्जन किया कि जिसे सुनकर निशाचरों की स्त्रियों के गर्भ गिर जायँ ॥१॥

विशेष—(१) 'जनकसुतहि समुझाइ···'—कपि के विदा होने के समय श्रीजानकीजी अधिक व्याकुल हो गईं, इसीसे उन्हें समझाना पड़ा। श्रीजानकीजी अधीर हो गईं ; यथा—"मास दिवस महँ···कहु कपि केहि बिधि···" अतएव 'बहु बिधि धीरज दीन्ह'—इसीसे श्रीगोस्वामीजी ने भी बहुत बार धैर्य का प्रयोग किया है। देखिये—'कह कपि हृदय धीर धरु माता' का प्रसंग भी ; तथा—"तौ लौं मातु आपु नीके रहिबो। जौं लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहि दिन द्वै और दुसह दुख सहिबो॥ सोखि कै खेत कै बाँधि कै सेतु कै उतरिबो उदधि न बोहित चहिबो।···" (गी० सुं० १४) ; तथा—"दिवस छ सात जात जानवी न मातु धरु धीर···' (क० सुं० १७) ; इत्यादि पदों को पूरा पढ़ना चाहिये।

श्रीहनुमान्जी का प्रणाम करना तो कहा गया, परन्तु श्रीजानकीजी का आशिष देना नहीं। क्योंकि इनके विदा होते समय वे शिथिल हो गईं, अतएव कुछ बोल न सकीं, मन-ही-मन आशिष दी ; यथा—"कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयनन्हि छायो।··· कै प्रबोध मातु प्रीति सों असीस दीन्हीं ह्वै है तिहारोइ मन भायो॥" (गी० सुं० १५)।

(२) 'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी।···'—पहले भी 'महाधुनि' से गरजे थे, पर अब 'भारी' विशेषण और अधिक का द्योतक है। इसीसे राक्षसियों के गर्भ गिरते हैं और आगे भी इसका स्मरण करने पर गिरते ही रहेंगे। इसीलिये 'गिरहिं' वर्त्तमान काल की क्रिया दी गई है और भविष्य का अभिप्राय भी गर्भित है। इसका भी प्रयोजन था। श्रीरामजी ने—'निसिचर हीन करउँ महि···' की प्रतिज्ञा की है। वे केवल संग्राम में आनेवालों को ही मारेंगे। जो अभी गर्भ में ही हैं, अथवा भविष्य में होंगे, जिससे वे भी न रहें ; यथा—"समुझत जासु दूत कै करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर घरनी॥" (दो० ३५)। तभी वह प्रतिज्ञा यथार्थ निबहेगी। इस गर्जन से यह भी सूचित किया गया कि हम चुपचाप चोरी से नहीं जा रहे हैं ; यदि लंका-दहन का बदला ले सको, तो हम उपस्थित हैं। श्रीहनुमान्जी ने सभी कार्य गरज-गरज कर किये हैं, यथा—'तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना।' ; 'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।'; 'कटकटाइ गर्जा अरु धावा।'; 'अट्टहास करि गर्जा।' वैसे ही यहाँ भी 'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी।' कहा गया है।

नाघि सिंधु येहि पारहि आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥२॥
हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना ॥३॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा ॥४॥
मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी ॥५॥

अर्थ—समुद्र लाँघकर इस पार आ गये और किलकिलाहट शब्द वानरों को सुनाया (यह वानरों की हर्ष ध्वनि है) ॥२॥ श्रीहनुमान्‌जी को देखकर सब हर्षित हुए और तब वानरों ने अपना नया जन्म समझा ॥३॥ मुख प्रसन्न है, शरीर में तेज विराजमान है (क्योंकि) श्रीरामचन्द्रजी का कार्य किया है ॥४॥ सब श्रीहनुमान्‌जी से मिले और अत्यन्त सुखी हुए, जैसे तड़पती हुई मछली जल मिल जाने से (अत्यन्त सुखी हो) ॥५॥

विशेष—(१) 'सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा।'—भयंकर और भारी गर्जन से राक्षसियों के गर्भ गिराये और आनन्द की किलकारी से कपियों को सुखी किया; यथा—"गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनुमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिक-समाज, मानों आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं।" (क० सुं० ११)। 'येहि पारहि आवा' का पहले उल्लेख कर तब 'सबद किलकिला···' कहा गया है। इसका भाव यह है कि अपने शब्द के पहुँचने से पहले ही ये इस पार आ गये। कहा ही है—"मारुत-नंदन मारुत को मन को खगराज को बेग लजायो।" (क० सुं० ५४); फिर इस बार तो मार्ग में कोई विघ्न भी नहीं है।

(२) 'हरषे सब बिलोकि···' यहाँ भी स्पष्ट ही है कि श्रीहनुमान्‌जी अपने शब्द से पहले ही आ गये, क्योंकि उनको देखकर सबका आनन्दित होना कहा गया है, शब्द सुनकर नहीं। 'नूतन जनम···' क्योंकि बिना सीता-सुधि पाये श्रीहनुमान्‌जी के लौटने से सब का मरना निश्चित था।

(३) 'मुख प्रसन्न तन तेज···'—तेज के सम्बन्ध से श्रीरामजी के लिये भी 'चंद्र' विशेषण है। श्रीसुग्रीवजी ने कार्य-सम्बन्ध में ऐसा ही कहा भी है; यथा—"रामचंद्र कर काज सँवारेहु।" (कि० दो० २२)।

(४) 'तलफत मीन पाव···'—इस उपमा से सूचित किया गया कि श्रीहनुमान्‌जी ने ही इनके प्राण बचाये; यथा—"नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना" (दो २८); पहले इनको देखकर सुखी हुए थे; यथा—"हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" अब इनसे मिलकर भी सुखी हुए; यथा—'मिले सकल अति···' पहले श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था; यथा—"तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।···" तदनुसार उन्होंने परखा था और आप आ गये।

"आये कपि सब जहँ रघुराई"—प्रकरण

चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत-कहत नवल इतिहासा ॥६॥
तब मधुबन भीतर सब आये। अंगद संमत मधुफल खाये ॥७॥
रखवारे जब बरजन लागे। मुष्टि-प्रहार हनत सब भागे ॥८॥

दोहा—जाइ पुकारे ते सब, बन उजार जुवराज ।
सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु - काज ॥२८॥

अर्थ—सब हर्ष-पूर्वक श्रीरघुनाथजी के पास चले, नवीन इतिहास पूछते और कहते जाते हैं ॥६॥ तब सब मधुवन के भीतर आये और श्रीअंगदजी के सम्मत से मीठे-मीठे फल खाये ॥७॥ जब रखवाले मना करने लगे, तब घूँसों का प्रहार करते ही वे सब (रखवाले) भाग गये ॥८। उन सबों ने जाकर पुकार की कि युवराज अंगदजी वन को उजाड़ रहे हैं, यह सुनकर श्रीसुग्रीवजी हर्षित हुए कि वानर प्रभु का कार्य करके आये हुए हैं ॥२८॥

विशेष—(१) 'चले हरषि ···'—यहाँ दर्शन, स्पर्श और समागम यथाक्रम कहा गया है ; यथा—'हरषे सब बिलोकि हनुमाना ।'—दर्शन, 'मिले सकल अति भये सुखारी ।'—स्पर्श और यहाँ—'पूछत कहत' समागम है । कहा भी है—"जब द्रवहिं दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये । जेहि दरस परस समागमादिक पाप-रासि नसाइये ॥" (वि० ११५), इन (संत-दर्शनादि)-से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है, अतएव 'चले रघुनायक पासा' कहा गया है । ऐसा नहीं कहा गया कि श्रीसुग्रीवजी के पास चले, यद्यपि ये लोग पहले श्रीसुग्रीवजी से मिलकर तब श्रीरामजी के पास जायँगे । 'चले हरषि'—(क) राम-दर्शन की उत्कंठा से । (ख) इसलिये भी कि श्रीरामजी हम सबों पर प्रसन्न होंगे । (ग) यात्रा में हर्ष का होना शकुन भी है । 'नवल इतिहासा'—लंका का वर्त्तमान वृत्तान्त , यथा—"सीय को सनेह सील, तथा कथा लंक की, कहत चले चाय सों, सिरानो पंथ छन मे ।" (क० सुं० ३१) । 'पूछत कहत'—जितना लोग पूछते जाते हैं, उतना ही ये कहते जाते हैं, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी अपना पुरुषार्थ स्वयं नहीं कहना चाहते ।

वाल्मी० ५।५८।१–६ में जाम्बवान्‌जी का पूछना कहा गया है कि तुमने श्रीसीता देवी को कैसे देखा ? वे वहाँ किस प्रकार रहती हैं ? क्रूरकर्मा रावण उनके साथ कैसा वर्त्ताव करता है ? हे महाकपि ! हमसे सभी बातें ठीक-ठीक कहो । श्रीसीताजी को तुमने किस तरह ढूँढ़ा, उन्होंने क्या उत्तर दिया है ? तब हमलोग शेष विचार करेंगे । श्रीरामजी से कौन बात कही जाय और कौन नहीं, यह सब निश्चय कर लें ।

(२) 'तब मधुवन भीतर सब आये ।' ···—कथा कहते-सुनते मार्ग शीघ्र समाप्त हो गया ; 'सिरानो पंथ छन में' यह ऊपर कहा ही गया है; यथा—"बरनत पंथ बिबिध इतिहासा । बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥" (बा० दो० ५७) । "पंथ कहत निज भगति अनूपा । मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा ॥" (आ० दो० ११) । इससे उपदेश भी है कि राम-कथा कहते-सुनते हुए मार्ग में चलना चाहिये ।

'भीतर सब आये'—अर्थात् यह वन बहुत भारी था । 'अंगद संमत'—दीपदेहली है । वन-प्रवेश और उसके फल खाने में भी श्रीअंगदजी की सम्मति है ; यथा—"कह्यो जुवराज बोलि बानर-समाज आज खाहु फल सुनि पेलि पैठे मधुवन में । मारे बागवान, ते पुकारत देवान गे, उजारे बाग अगद दिखाये घाय तन मे ॥" (क० सु० ११), सभी वानरों ने समुद्र-तट पर अनशन व्रत किया था और तभी से भूखे थे, तो भी श्रीअंगदजी की आज्ञा से खाया, क्योंकि वे युवराज हैं, अतएव इसके मालिक ही हैं ।

(३) 'रखवारे जब ·· ······'—'रखवारे' और 'लागे' शब्द से रक्षकों का बहुत होना सूचित किया गया है । वानरों ने उन्हें मारा, क्योंकि उन्होंने युवराज की आज्ञा नहीं मानी । इस सुरक्षित वन के भोगने

में वानरों को तीन प्रकार के बल हैं—(क) युवराज की आज्ञा। (ख) राम-कार्य करने का ; यथा—"जौ न होति सीता-सुधि पाई। मधुवन के फल सकहिं कि खाई॥" आगे कहा ही है। (ग) क्षुधार्त थे। अतः, धर्म-दृष्टि से भी फल खा सकते हैं।

(४) 'जाइ पुकारे ते सब'……'—'ते सब' से वन के बहुत विभागों के बहुत रक्षकों का अपनी-अपनी हद में वानरों को मना करना और फिर उनसे मार खा-खाकर जा पुकारना जनाया गया। कोई यदि नहीं जाता तो उससे उत्तर माँगा जाता कि तुमने खबर क्यों नहीं दी। इन रखवालों का दारोगा दधिमुख था। उसे श्रीअंगदजी ने स्वयं ही पीटा। ऐसा वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है। 'जुवराज'—पहले अंगद-सम्मत कहा गया था, यहाँ युवराज कहा गया, इससे सूचित किया गया कि सब दोष श्रीअंगदजी के ही हैं, जब उन्होंने मालिक (युवराज) होकर आज्ञा दी, तब सबने फल खाया ; यथा—"सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्याम पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान्॥" (वाल्मी॰ ५।६१।१२); अर्थात् सभी दोष श्रीअंगदजी के विषय में ही कहूँगा, तो क्रोधी राजा वानरों को मारेंगे। 'सुनि सुग्रीव हरष'……'—अभी तक श्रीसुग्रीवजी इसके लिये चिन्तित थे, अब अभीष्ट कार्य का होना समझकर उन्हें हर्ष हुआ। इसीसे उन्होंने अपने प्रिय उपवन के नाश पर भी इसे सुख ही माना।

जौं न होति सीता-सुधि पाई। मधुवन के फल सकहिं कि खाई॥१॥
येहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गये कपि सहित समाजा॥२॥
आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा॥३॥
पूछी कुसल कुसल पद देखी। राम-कृपा भा काज बिसेखी॥४॥

अर्थ—जो श्रीसीताजी की सुधि नहीं पाये होते, तो मधुवन के फल क्या खा सकते थे ? अर्थात् कभी नहीं॥१॥ राजा मन में इस प्रकार विचार करते थे कि कपि अपने समाज सहित आ गये॥२॥ सबों ने आकर मस्तक नवाया, कपिराज सुग्रीव सबों से अत्यन्त प्रेम के साथ मिले॥३॥ और कुशल पूछी, (उन्होंने उत्तर दिया कि) आपके चरणों के दर्शनों से कुशल है, श्रीरामजी की कृपा से विशेष कार्य हुआ॥४॥

विशेष—(१) 'जौं न होति सीता-सुधि'……'—इसका अनुमान इससे है कि यह वन श्रीसुग्रीवजी को बहुत प्रिय है; यथा—"नैवर्क्षरजसा राजन्न त्वया न च वालिना। वनं निसृष्टपूर्वं ते नाशितं तत्तु वानरैः॥" (वाल्मी॰ ५।६३।१५); ऐसे वन का उपभोग वानर लोग बिना राम-कार्य किये नहीं कर सकते।

वाल्मी॰ ५।६३ में श्रीसुग्रीवजी के विचार कहे गये हैं कि बिना कार्य किये वानरों को ऐसा साहस नहीं हो सकता। फिर जिस समाज में श्रीजाम्बवान्‌जी के समान संचालक, श्रीअंगदजी के समान नेता और श्रीहनुमान् जैसे बुद्धिवाले हों, वह दल अन्याय तो कर ही नहीं सकता। अवश्य ये वानर श्रीसीताजी का पता लगाकर आये हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने ही पता लगाया होगा, क्योंकि ऐसी बुद्धि और शक्ति केवल उन्हीं में है। इस मधुवन पर देवता भी दृष्टि नहीं डाल सकते। इसका उपभोग बिना कार्य किये वानर कभी न करते, इत्यादि।

यद्यपि रक्षकों ने वन का नाम नहीं कहा, तथापि श्रीसुग्रीवजी उन्हें एवं उनमें प्रधान दधिमुख को पहचानते हैं, इसीसे मधुवन के परिचय देने की आवश्यकता नहीं हुई। उत्तम विचार के सम्बन्ध

से एवं प्रसन्नता से ही उपयुक्त शब्द 'राजा' का प्रयोग किया गया, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी अभी अत्यन्त शोभा को प्राप्त हैं। 'राजृ-दीप्तौ' धातु से 'राजा' शब्द बनता है; अतएव प्रकाशित एवं सुशोभित व्यक्ति को राजा कहा जाता है। 'राजा' इसलिये भी कहा गया है कि आतुरता में स्वयं सिपाहियों के पास नहीं चले गये, किन्तु गंभीरता से बैठे विचार ही करते रहे, तब तक वानर-समाज आ गये। 'आइ गये' अर्थात् इन लोगों ने फल खाने और आने में शीघ्रता की।

(२) 'आइ सबन्हि नावा···'—चलते समय वानरों ने श्रीसुग्रीवजी को प्रणाम नहीं किया था, आतुरता में भूल गये थे; यथा—"वचन सुनत सब वानर, जहँ तहँ चले तुरंत।" (कि॰ दो॰ २२); प्रधान-प्रधान वानरों ने तो प्रणाम किया ही था; यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले···" (कि॰ दो॰ २३); इस समय सबने प्रणाम किया। 'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति···'—भाव यह है कि बराबर का मानकर उन्हें आदर देते हुए सबसे गले लगकर मिले, क्योंकि ये राम-कार्य कर आये हैं, श्रीसुग्रीवजी ने कहा ही था; यथा—"यश्च मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति। मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥···मम बन्धुर्भविष्यति।" (वाल्मी॰ ४।४१।४८–४९)। नीति है; यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं॰ दो॰ २३); अतः, बराबर मानने से ही 'अति प्रीति' से मिलना लिखा है।

'नावा'—एकवचन है, क्योंकि सबने एक साथ ही प्रणाम किया है। यद्यपि समुद्र-तट से सब श्रीरघुनाथजी के पास को चले थे; यथा—'चले सकल रघुनायक पासा।' ऊपर कहा गया है, तथापि यहाँ पहले श्रीसुग्रीवजी के पास इसलिये आये कि इससे श्रीसुग्रीवजी की कीर्त्ति बढ़ेगी कि इन्होंने समाचार मँगाकर श्रीरामजी की सेवा की। नहीं तो यही कहा जाता कि श्रीसुग्रीवजी ने क्या किया? कार्य तो केवल वानरों ने ही किया है। 'मिले सबन्हि अति···'—जैसे श्रीरामजी प्रायः अनन्त रूप से सबसे एक साथ मिल लेते हैं वैसा यहाँ कुछ कहा नहीं गया। इससे ऐसा समझना चाहिये कि सब सेना भीतर राजा के समीप नहीं गई, मुख्य-मुख्य परिमित संख्या में लोग गये और उन सबों ने एक साथ ही प्रणाम किया और श्रीसुग्रीवजी सबसे मिले।

(३) 'राम-कृपा भा काज बिसेषी'; यथा—"प्रभु की कृपा भयउ सब काजू।" यह आगे कहा है। 'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' यह कार्य है। राक्षसों का मारना, शत्रु का नगर जलाना आदि विशेष है। 'राम-कृपा' कहा गया, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी राम-कृपा ही से सब कुछ होना मानते हैं; यथा—"नाथ कृपा मन भयउ अलोला।"; "अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती (कि॰ दो॰ ६); इत्यादि। यदि श्रीसुग्रीवजी से कहते कि आपकी कृपा से हुआ, तो वे इससे अप्रसन्न होते। प्रत्यक्ष भी है—स्वयंप्रभा, संपाती एवं विभीषण का मिलना आदि दैव-योग ही कहे जा सकते हैं। स्वयं रावण के द्वारा ही तेल-पट से आग का प्रबन्ध एवं उससे सोने की लंका का जलकर खाक होना भी वैसा ही है। हाँ, श्रीसुग्रीवजी के सम्मान के लिये 'कुसल पद देखी' कहा गया है।

(४) 'पूछी कुसल' में वचन, 'मिलेउ सबन्हि' में कर्म और 'मन विचार कर राजा' में श्रीसुग्रीवजी के मन की वृत्ति वानरों के प्रति कही गई है। इससे वानरों के प्रति श्रीसुग्रीवजी की प्रीति मन, वचन और कर्म से दिखलाई गई है।

नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना ॥५॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्हसहित रघुपति पहिं चलेऊ ॥६॥

राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरष बिसेखा ॥७॥
फटिकसिला बैठे दोउ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई ॥८॥

दोहा—प्रीति-सहित सब भेटे, रघुपति करुना-पुंज।
पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद-कंज ॥२९॥

अर्थ—हे नाथ! श्रीहनुमान्‌जी ने कार्य किया और सब वानरों के प्राणों की रक्षा की ॥४॥ यह सुनकर श्रीसुग्रीवजी उनसे फिर मिले और वानरों के साथ श्रीरघुनाथजी के समीप चले ॥६॥ श्रीरामजी ने वानरों को कार्य किये हुए (अतएव) मन में विशेष आनंदित आते देखा, तब (उनके) मन में विशेष हर्ष हुआ (या, वे लोग कार्य किये हुए हैं अतएव उनके (ही) मन में विशेष हर्ष है) ॥७॥ (गुफा से निकलकर) दोनों भाई स्फटिकशिला पर आकर बैठे, सब वानर जाकर चरणों पर पड़े ॥८॥ करुणा के समूह श्रीरघुनाथजी सबसे प्रीतिपूर्वक मिले और कुशल पूछी, (उन्होंने कहा कि) हे नाथ! आपके चरण-कमलों के दर्शनों से अब कुशल है ॥९॥

विशेष—(१) 'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।···'—पूर्व इतना ही कहा था कि 'भा काज बिसेषी' अब कार्यकर्त्ता भी कहे जाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी ने कार्य किया। 'राखे सकल···'—"अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवे···" इस प्रतिज्ञा से रक्षा की। और भी; यथा—'मरन चहत सब बिनु जलपाना।' इस अवसर पर जल पिलाकर सबको बचाया था।

(२) 'सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि···'—यह दोबारा मिलना, कृतज्ञता का द्योतक है कि इनके द्वारा हम सत्यप्रतिज्ञ हुए। सब वानर प्रिय हैं, इससे उनसे मिले और श्रीहनुमान्‌जी अति प्रिय हैं, इसलिये इनसे दोबारा मिले। 'कपिन्ह सहित···'—जैसे सब वानर समाज-सहित इनसे मिले, वैसे ही ये भी अपने समाज सहित श्रीरघुपति के पास चले, क्योंकि जैसे वानरों के स्वामी कपिपति श्रीसुग्रीवजी हैं, वैसे ही कपिपति के भी स्वामी रघुपति हैं। 'चलेऊ'; यथा—"हरषि चले सुग्रीव तब, अंगदादि कपि साथ।···" (कि० दो० २०)।

(३) 'राम कपिन्ह जब···'—श्रीरामजी तो वानरों की राह देख रहे थे कि कब सीता-शोध मिले और फिर इसका उपाय करूँ, इसलिये पहले उन्हीं का देखना कहा गया है। 'किये काज मन···'—यों तो श्रीरामजी सदा हर्षित ही रहते हैं, पर इस समय उन्हें विशेष हर्ष हुआ। कार्य-सिद्धि पर ऐसे ही सबको हर्ष हुआ है; यथा—"हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना ॥" (दो० २७); "सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु-काज ॥" (दो० २८)।

(४) 'फटिकसिला बैठे···'—गुफा से निकलकर बैठे कि जिससे सबसे मिलने में कठिनाई न हो। इससे यह भी जनाया गया कि दिन एक पहर रह गया है; यथा—"सिय संग·· बैठे प्रभु भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम ॥" (बा० दो० २१७); 'परे···चरनन्हि' अर्थात् साष्टाङ्ग दंडवत् की। श्रीसुग्रीवजी को केवल शिर नवाया था; यथा—"आइ सबन्हि नावा पद सीसा।" पुनः यहाँ चरणों का विशेषण 'कंज' भी है, यह अधिकता है। पहले जाते समय चरणों में शिर नवाना-मात्र कहा गया है; यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई।" (कि० दो० २२); क्योंकि उस समय आतुरता में थे, अब सावधान हैं। 'जाई' शब्द से जान पड़ता है कि कवि भक्तों के पक्ष में हैं।

(५) 'प्रीति सहित सब भेंटे'…'—सबसे एक साथ ही अनंत रूप से मिले ; यथा—"अस कपि एक न'''यह कछु नहिं प्रभु कै अधिकाई। विश्वरूप व्यापक रघुराई ॥" (कि॰ दो॰ २१) ; 'भेंटे', क्योंकि सखा मानते हैं ; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ॰ दो॰ ७) ; 'करुनापुंज'—क्योंकि जिनका ध्यान मुनियों को भी दुर्लभ है, वे ही करुणा करके वानरों को बराबर का पद देकर उनसे मिल रहे हैं ; यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहिं'''कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक विनोद ॥" (लं॰ दो॰ ११६) । 'कुसल देखि पद कंज' : यथा—"अब मैं कुसल'''देखि राम पद कमल तुम्हारे ॥" (दो॰ ४६) ।

"वैदेही के कुसल सुनाई"—प्रकरण

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया ॥१॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर-नर-मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥२॥
सोइ बिजई बिनई गुन-सागर। तासु सुजस त्रैलोक उजागर ॥३॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी कहते हैं—हे रघुराज ! सुनिये, हे नाथ ! जिसपर आप कृपा करें ॥१॥ उसको सदा ही शुभ और निरंतर उसकी कुशल है, देवता, मनुष्य और मुनि सभी उसपर निरन्तर प्रसन्न रहते हैं ॥२॥ वही विजयी, विनयी एवं गुणसागर है और उसीका सुयश तीनों लोकों में प्रकाशित रहता है ॥३॥

विशेष—(१) 'जामवंत कह'''—ऊपर वानरों की उक्ति थी। अब श्रीजाम्बवान्‌जी कहते हैं। अतः, श्रीसुग्रीवजी के यहाँ—'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।''' यह भी इन्हीं की उक्ति थी। 'जा पर नाथ'''—भाव यह है कि हमलोगों पर आपकी दया है। 'ताहि सदा सुभ'''—भाव यह कि औरों की प्रसन्नता में यह बात नहीं है ; यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि॰ दो॰ ११) ; पर, श्रीरामजी की दया से सभी अनुकूल हो जाते हैं ; यथा—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहिं सुहातो ॥" (वि॰ १५२), तथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥" (भाग॰ ११।५।४१) ; अर्थात् शरणागत पर भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब जीव सुर, नर, मुनि सम्बन्धी देव, पितृ और ऋषि-ऋण से मुक्त हो जाता है। 'सोइ बिजई बिनई'''—विजय की शोभा विनय से और गुणों की शोभा उनसे यश प्राप्त करने में है, ऐसे ही क्रम से कहे गये हैं ; तथा—विजयी, विनयी ही नहीं, किंतु वह तो सब गुणों का सागर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि हम सबमें विशेषकर श्रीहनुमान्‌जी पर आपकी दया है ; यथा—"कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी।''''" इसीसे उनमें सभी गुण आ गये। जैसे कि लंका में उन्होंने सबपर विजय पाई, उसपर भी अभिमान नहीं, प्रत्युत् विनयी हैं। मैनाक, सुरसा, लंकिनी एवं रावण-संवाद आदि प्रसंगों में इनकी गुण-सागरता प्रसिद्ध है और लंका-दहन आदि का सुयश तीनों लोकों में देदीप्यमान् है।

प्रभु की कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सुफल भा आजू ॥४॥
नाथ पवन-सुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी ॥५॥
पवन-तनय के चरित सुहाये। जामवंत रघुपतिहि सुनाये ॥६॥

अर्थ—प्रभु (आप) की कृपा से सब कार्य हुए, आज हमलोगों के जन्म सुफल हुए ॥४॥ हे नाथ ! पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने जो करनी की है, उसका वर्णन हजारों मुखों से नहीं किया जा सकता ॥५॥ श्रीजाम्बवान्‌जी ने पवनपुत्र के सुन्दर चरित श्रीरघुनाथजी को सुनाया ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु की कृपा भयउ '–आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अत, आपकी कृपा से ही सभी कार्य हुए। नहीं तो हमलोगों में ऐसी योग्यता नहीं थी। पहले भी कहा था, यथा—"राम कृपा भा काज बिसेषी।" 'सब काजू'—श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा होनेवाले सब चरित। 'जनम हमार सफल '—यात्रा के समय श्रीसुग्रीवजी ने कहा ही था, यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० ११), तदनुसार अब हम जन्म की सार्थकता मानते हैं। 'आजू'—कार्य यह सौंपा गया था—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु॥" (कि० दो० ११) उसकी पूर्ति आज ही हुई, क्योंकि श्रीसीताजी से समाचार लेकर आज स्वामी से कह रहे हैं।

(२) 'नाथ पवन-सुत कीन्हि '—'करनी, अर्थात् पुरुषार्थ, यथा—"जूझे सकल सुभट करि करनी।" (बा० दो० १७४) पुरुषार्थ बल से होता है, इस सम्बन्ध में 'पवन सुत' कहा है, यथा—"पवन-तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० १६), 'सहसहुँ मुख '—क्योंकि भक्तचरित भी अनन्त हैं, यथा—"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते" (बा० दो० ४५), प्रभु के पराक्रम में इससे भी अधिकता है, यथा—"राम-तेज-बल-बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥" (दो० ५५), यह श्रीगोस्वामीजी की सँभाल है।

(३) 'पवन-तनय के चरित '—रुद्रावतार वायुपुत्र के चरित्र हैं, ब्रह्मावतार श्रीजाम्बवान्‌जी वक्ता और स्वयं भगवान् श्रीरामजी श्रोता हैं। अत, सभी अंग योग्य हैं, यथा—"श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि, कथा राम कै गूढ़" (बा० दो० ३०), रामचरित के समान ही भक्त-चरित भी गूढ़ है। 'जामवंत रघुपतिहि सुनाये '—श्रीजाम्बवान्‌जी ने पूछ-पूछकर जान लिया है, यथा—"पूछत कहत नवल इतिहासा।" (दो० २१), स्वामी के सामने सकोच से श्रीहनुमान्‌जी न कहते, इसीसे श्रीजाम्बवान्‌जी ने सुनाया।

सुनत कृपानिधि मन अति भाये। पुनि हनुमान हरषि हिय लाये ॥७॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की ॥८॥

दोहा—नाम पाहरू राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट ॥३०॥

अर्थ—सुनते ही वे (चरित एवं उनके कर्ता श्रीहनुमान्‌जी) कृपासागर श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय लगे और हर्षित होकर उन्होंने श्रीहनुमान्‌जी को फिर हृदय से लगाया। ७॥ (और कहा—) हे तात ! कहो, श्रीजानकीजी किस प्रकार रहती और अपने प्राणों की रक्षा करती हैं ? ॥८॥ (श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—) आपका नाम रात दिन का पहरा देनेवाला और आपका ध्यान किंवाड़ा है। नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं यही ताला लगा हुआ है, (तब कहिये कि) प्राण किस मार्ग से जा सकते हैं ? ॥३०॥

विशेष—(१) 'सुनत कृपानिधि मन '—एक बार सब वानरों के साथ मिल चुके हैं यथा—"प्रीति सहित सब भेंटे, रघुपति करुनापुंज" यह ऊपर कहा गया है। अब श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा अपना

उपकार होना मानकर श्रीरामजी उनसे पृथक् मिले, यह कृतज्ञता-ज्ञापन है ; यथा—"हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना ॥" (लं० दो० १०) ; पहली भेंट में श्रीरामजी को 'करुनापुंज' कहा गया था और अब 'कृपानिधि' कहा, क्योंकि इन लोगों के द्वारा जो कार्य हुए, वे आपकी ही शक्ति एवं प्रेरणा से हुए हैं ; यथा—"पौरुषं नृपु।" (गी० ७।८); अर्थात् मनुष्यों में पुरुषार्थ भगवदंश से है। तथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥" (गी० ११।३३) ; अतः, वानरों को बड़ाई देना इनकी कृपा ही है। 'अति भाये'—पहले जो श्रीजाम्ववान्‌जी ने कहा था; यह—"जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।' से 'जनम हमार सुफल भा आजू ॥" तक, यह 'भाया' और ये पवन-तनय के चरित 'अति भाये' क्योंकि आप अपने चरित की अपेक्षा भक्त-चरित को बहुत अधिक मानते हैं ; यथा—"निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत-प्रनाम-प्रनत-जस बरनत सुनत कहत फिरि-गाउ ॥" (वि० १००) ; पुनः इससे स्वामी और सेवक की अन्योन्य प्रीति भी दिखाई गई। जैसे श्रीहनुमान्‌जी को राम-चरित अति भाया था; यथा—"जामवंत के वचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय अति भाये ॥" (दो० १); वैसे ही यहाँ—'सुनत कृपानिधि मन अति भाये।' कहा है, क्योंकि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); ऐसा ही नियम श्रीमुख-कथित है।

(२) 'केहि भाँति जानकी। रहति करति'''—दुष्टों के बीच में वे कैसे रहती हैं ? यथा—"खल-मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती ॥" (दो० ४५); पुनः प्राणों की रक्षा कैसे करती हैं, श्रीअवध में तो कहती थीं—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।" (अ० दो० ६६); अतः, मुझे तो विश्वास नहीं होता कि वे मेरे वियोग में जीती होंगी; यथा—"मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्वमे ॥ दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी।" (वाल्मी० ५।६६।१५)।

(३) 'नाम पाहरू राति-दिन'''; यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम ॥" (आ० दो० २६); श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी को ऐसी ही दीन दशा में देखा था; यथा—"निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन। परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन ॥" (दो० ८); तथा—"रघुकुल-कमल बियोग तिहारे। मैं देखी जब जाइ जानकी मनहुँ बिरह मूरति मन मारे ॥ चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन कर, मढ़े से श्रवन नहिं सुनति पुकारे। रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहै नित, निज पद कमल निहारे ॥ दरसन-आस-लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान रखवारे। तुलसिदास पूजति त्रिजटा नीके रावरे गुन-गान-सुमन सँवारे ॥" (गी० सुं० १८)। 'राति दिन'—निरंतर इसी वृत्ति से रहती हैं ; यथा—"बैठेहि बीति जात निसि जामा ॥" (दो० ७); तथा—"रामेति रामेति सदैव बुद्धया विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥" (वाल्मी० ५।३२।१३), अर्थात् मैं सर्वदा श्रीरामजी ही को अपने मन में सोचा करती हूँ, मुँह से राम-राम ही कहा करती हूँ, इसी से अपने विचारों के अनुरूप यह वचन सुन रही हूँ और देख रही हूँ।

भाव यह है कि वे आपकी मूर्त्ति और नाम से निरंतर संयोग रखती हैं, उनका आपमें ऐसा प्रेम है कि क्षण-भर के वियोग में भी प्राण निकल जायँ, पर ऐसा होने नहीं पाता। आगे स्पष्ट है, यथा—"अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥ नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ॥" इत्यादि।

(४) 'प्रान जाहिं केहि बाट'—भाव यह कि प्राण कैदी की तरह देह में बने हैं। इसी विषय पर श्रीकौशल्याजी ने भी कहा है—"लगेइ रहत मेरे नयनन्हि आगे राम लखन अरु सीता। तदपि न मिटत

दाह या उर को विधि जो भयो बिपरीता ॥ दुख न रहे रघुपतिहिं बिलोकत तन न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे ॥" (गी० सु० ५१)।

यहाँ मन, कर्म और वचन से श्रीजानकीजी की भक्ति दिखाई गई है—'नाम पाहरू'—वचन की, 'ध्यान तुम्हार'—मन की और 'लोचन निज पद जंत्रित' में कर्म की भक्ति है। इनमें क्रमशः वैराग्य, भक्ति और योग के भी अंग हैं।

वानरों का व्यवहार श्रीसुग्रीवजी और श्रीरामजी के साथ समान हुआ।

	श्रीसुग्रीवजी	श्रीरामजी
१	सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु-काज।	राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरष बिसेषा ॥
२	आइ सबन्हि नावा पद सीसा।	परे सकल कपि चरनन्ह जाई।
३	मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा	प्रीति सहित सब भेंटे, रघुपति०।
४	पूछी कुसल कुसल पद देखी	पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद कंज।
५	राम-कृपा भा काज बिसेखी	प्रभु की कृपा भयउ सब काजू।
६	नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना	नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी।
७	सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ	पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही ॥१॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक-कुमारी ॥२॥

अर्थ—चलते समय मुझको चूडामणि दिया, (यह कहते हुए श्रीहनुमान्‌जी ने उसे श्रीरामजी को दे दिया) श्रीरघुनाथजी ने उसे हृदय से लगा लिया ॥१॥ हे नाथ ! दोनों नेत्रों में जल भरकर श्रीजानकीजी ने कुछ वचन कहे हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही।'—'चलत'—इनके चलते समय श्रीजानकीजी विह्वल हो गई थीं। इसीसे माँगने पर उन्होंने मणि दी थी। पर श्रीहनुमान्‌जी ने माँगने पर देना नहीं कहा, क्योंकि उससे उनके प्रेम में न्यूनता पाई जाती। सँभालकर कहा कि चलते समय उन्होंने इसे मुझे दिया है। 'मोहि दीन्ही' कहकर अपनेको उनका कृपा-पात्र जनाया; यथा—"कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।" (कि० दो० २२)।

'रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही।'—प्रिय का पदार्थ प्रिय के तुल्य होता है, ऐसा समझकर श्रीरामजी ने उसे हृदय से लगाया; यथा—"कनक-बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥" (अ० दो० १९८); पहले जब श्रीसुग्रीवजी ने वस्त्राभूषण दिये थे, उसे पाकर श्रीरामजी ने बहुत शोच किया था, क्योंकि उस समय श्रीजानकीजी की सुधि नहीं मिली थी। अब सुधि पा जाने से उतनी व्याकुलता नहीं है, इससे शोच नहीं हुआ, प्रत्युत् संतोष हुआ। अब अवसर पाकर चूड़ामणि दिया।

(२) 'नाथ जुगल लोचन भरि बारी।'—आगे श्रीजानकीजी का दुःख कहते हैं, इससे उनके हृदय का दुःख पहले आँसू द्वारा ही कहा, अब आगे वचन द्वारा उनका दुःख कहना और तन से प्रणाम करना भी कहेंगे।

'वचन कहे कछु'—'कछु' का भाव—(क) व्याकुलता के कारण विशेष नहीं कह सकीं; यथा—"कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह। थकित वचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह॥" (अ० दो० १५२)। (ख) मणि देने के अतिरिक्त कुछ वचन भी कहा है, जो चिह्न-रूप है यह जयंत की कथा है—"तात सक्रसुत कथा सुनायहु।···" उसे यहाँ कहा नहीं, क्योंकि वह गुप्त रहस्य है। संकेत से ही जना दिया। इस तरह कि जब 'जुगल लोचन भरि बारी' कहा, तब श्रीरामजी ने इनके नेत्रों की ओर देखा, क्योंकि समझा कि श्रीजानकीजी की दशा को स्मरण कर श्रीहनुमान्‌जी के भी नेत्रों में आँसू अवश्य ही आ गये होंगे। उस अवसर पर श्रीहनुमान्‌जी ने एक आँख मूँदकर इस संकेत से जयंत को एकाक्ष करने की कथा जना दी। यह इनकी परम बुद्धिमत्ता है, और भी जो कुछ वचन हैं, वे आगे कहते हैं—

अनुज-समेत गहेहु प्रभु-चरना। दीनबंधु प्रनतारति-हरना॥३॥
मन क्रम बचन चरन-अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥४॥
अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥५॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहि हठि बाधा॥६॥

अर्थ—(कहना कि) अनुज-सहित प्रभु के चरण पकड़े हैं (इस प्रकार प्रणाम करते हुए कहा है कि प्रभो!) आप दीनबंधु हैं और शरणागतों के दुःख हरनेवाले हैं। (वा, हे दीनबन्धो! हे प्रणतार्त्ति हरण!) ॥३॥ मैं मन, कर्म, वचन से आपके चरणों की अनुरागिणी हूँ, हे नाथ! किस अपराध से मैं त्याग दी गई? ॥४॥ मैं मानती हूँ कि मेरा यह एक अवगुण है कि आपसे वियोग होते ही मेरे प्राण नहीं निकल गये (यह दोष त्यागने के योग्य है) ॥५॥ (पर) हे नाथ! वह अपराध नेत्रों का है (इन्हें दर्शनों की लालसा एवं आशा है, इसीसे ये) प्राण निकलने देने में बाधक होते हैं। ६॥

विशेष—'अनुज-समेत गहेहु प्रभु-चरना।'—श्रीलक्ष्मणजी भक्त एवं पार्षद हैं, प्रभु की पूजा पार्षदों सहित होती है, इस तरह प्रभु के अंग मानकर साथ में उनके भी चरण पकड़े हैं, जैसा श्रीभरतजी ने कहा है—"सोक समाज राज केहि लेखे। लखन-राम-सिय-पद बिनु देखे॥" (अ० दो० १७७); पुनः स्नेह की व्याकुलता से छोटे के भी चरण गहे; यथा—"बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी" (अ० दो० ५६)। यह श्रीकौशल्याजी के विषय में कहा ही गया है।

'दीनबंधु प्रनतारति हरना'—ऐसा कहकर प्रणाम करने की रीति है—"त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥ अस कहि करत दंडवत देखा" (दो० ४५)। भाव यह है कि मैं दीन हूँ, मेरी सहायता कीजिये। आर्त्त हूँ, अतः, मेरा दुःख निवारण कीजिये, इसके लिये मैं आपकी शरण हूँ।

(२) 'मन क्रम बचन चरन···'—मन, कर्म, वचन की भक्ति के उदाहरण ऊपर के दोहे में लिखे गये हैं। 'केहि अपराध···'—भाव यह कि आप तो अपने जनों के अवगुण को मानते ही नहीं; यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।" (उ० दो० १); फिर मेरा दोष क्यों दृष्टि में बसा है? नाथ!

(३) 'अवगुन एक मोर'...'—पहले कहा था—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।" (अ० दो० ६६) उसे मैंने चरितार्थ नहीं किया, यह मेरा अपराध हुआ। उसे मैं मानती हूँ। भाव यह है कि अपराध हो जाने पर उसे मानकर प्रभु से प्रार्थना करे, तो वे उसे क्षमा कर देते हैं। अपराध करके फिर न मानना ढिठाई एवं भारी दोष है। यहाँ 'अवगुन' कहकर इसे ही आगे 'अपराधा' कहा गया है। इस तरह दोनों को पर्याय वाचक जनाया।

(४) 'निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।'—भाव यह कि वियोग में प्राण तन में रहना नहीं चाहते, पर नेत्रों ने ही उन्हें हठ करके रोक रक्खा है। आगे तन को भी कहती हैं। भाव यह है कि देह और प्राण दोनों अति प्रिय पदार्थ हैं; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७)। पर आपके वियोग में मैं दोनों को नहीं रखना चाहती, पर नेत्रों ने इन्हें हठात् रक्खा है। तन को आगे कहती हैं—

विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा ॥७॥
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी ॥८॥
सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला ॥९॥

दो०—निमिष निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुज-बल-खल-दल जीति ॥३१॥

अर्थ—विरह अग्नि है, शरीर रुई और श्वास वायु है (इनसे) शरीर क्षण भर में जल जाय ॥७॥ (पर) नेत्र अपने हित के लिये (दर्शनाकांक्षा से) जल गिराते रहते हैं, जिससे विरहाग्नि से देह जलने नहीं पाती ॥८॥ श्रीसीताजी की विपत्ति अत्यन्त विशाल है, उसे बिना कहे ही भला है (भाव यह कि कहना भला नहीं, किंतु उपाय द्वारा उसका निवारण करना ही भला है) ॥९॥ हे करुणानिधि! उन्हें निमिष-निमिष कल्प के समान बीत रहे हैं। हे प्रभो! शीघ्र चलिये और भुजाओं के बल से दुष्टों के दल को जीत कर उन्हें ले आइये ॥३१॥

विशेष—(१) 'विरह अगिनि'......'; यथा—"पावक-विरह, समीर-स्वास, तनु-तूल मिले तुम्ह जारनि हारे। तिन्हहि निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे॥" (कृ० गी० ५६); "विरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ। ये अँखियाँ दोउ वैरिनि देहिं बुझाइ॥" (बरवा ३६); भाव यह है कि विरह की ताप से शरीर के रक्त-मांस सूख गये, केवल रुई के समान सूखा शरीर अवशिष्ट है। विरहाग्नि आहों से भरी श्वासा के सहित यह शरीर रुई की तरह जल सकता है। पर आँखें आपके दर्शनों की आशा से आँसू (पानी) द्वारा विरह को कम किया करती हैं, इसीसे प्राण बचे हुए हैं। रोने में आँसू गिरने से गर्मी शांत हो जाती है, नहीं तो मृत्यु हो जाय। यही प्राण बचाना है। अर्थात् विरहाग्नि से शरीर जलता है, ऊर्ध्वश्वास चलता है, निरंतर आँसू चलते हैं और प्राण निकलना चाहते हैं।

(२) 'नयन स्रवहिं जल'......'—दर्शनों के लिये ही प्राण रक्खे हुई हैं; यथा—"राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास। तजि-तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥" (अ० दो० ३२२)।

(३) 'सीता कै अति बिपति बिसाला ।'—दुष्टों के बीच में रहना विपत्ति है, उसपर भी आपका वियोग तो विशाल विपत्ति है फिर रावण के द्वारा उपद्रव होते ही रहते हैं, यह अति विशाल विपत्ति है। विपत्ति के साथ 'कराला' उचित था, पर 'बिसाला' कहा गया, क्योंकि यह विपत्ति वियोग-शृंगार-रूप में राम-स्नेह के कारण है, इसी से शोभा-सूचक विशेषण है। जैसा कि राम-स्नेह में देह-त्याग के सम्बन्ध से राजा दशरथ की चिता को भी 'सुहाई' कहा गया है; यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई ॥" (अ० दो० १६६); 'बिनहि कहे भलि...'—रावण ने जैसे-जैसे कटु वचन कहे हैं और मारने की धमकी दी है, यह सब कहने के योग्य नहीं। अतः, उन्हें न कहना ही अच्छा है। अथवा, दीन-दयाल विशेषण के साथ यह भी भाव है कि आप दीन-दयाल होने से अत्यन्त कोमलचित्त हैं, दीनता सुनकर उसे सह न सकेंगे। उन्हें देखकर मैं ही परम दुखी हो गया था; यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन ॥" (दो० ८); "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥" (दो० ११); इसीसे श्रीसीताजी ने भी कहा है; यथा—"सुनु हनुमंत अनंत-बंधु करुना सुभाव सीतल कोमल अति। तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौ प्रगट कहि न सकति ॥" (गी० सुं० ४)।

(४) 'निमिष-निमिष करुनानिधि......'—उनकी अति-व्याकुलता को देखकर श्रीहनुमान्जी को एक क्षण भी कल्प के समान व्यतीत हुआ था; यथा—"सो छन कपिहि कलप सम बीता।" (दो० ११); जब देखनेवाले के ही क्षण कल्प-समान बीते, तब भोगनेवाले को निमिष कल्प के समान बीतना युक्ति-संगत ही है। निमिष क्षण से भी कम होता है। 'बेगि चलिय'—भाव यह है कि चलने में विलम्ब करने से कहीं वे दसवीं दशा को न प्राप्त हो जायँ।

विरह की दस दशाएँ हैं—१—अभिलाष, २—चिन्ता, ३—स्मृति, ४—गुणकीर्तन, ५—उद्वेग, ६—प्रलाप, ७—उन्माद, ८—व्याधि (संताप), ९—जड़ता, १०—मरण। इनमें श्रीजानकीजी में नौ दशा तक देख आये हैं, इसीसे शीघ्र चलने को कहते हैं।

(५) 'भुजबल खलदल जीति'—भाव यह है कि वहाँ साम, दाम और भेद से काम न चलेगा, वहाँ दंड ही का काम है, यथा—"न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते न दानमर्थोपचितेषु युज्यते न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते ॥" (वाल्मी० ५।४१।३)। शत्रु की इच्छा युद्ध की ही है; यथा—"जिन्हकै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई।" (दो० १४); अतः, जीत कर ही श्रीसीताजी को लाने को कहते हैं। श्रीजाम्बवान्जी ने भी कहा है—"तब निज भुजबल राजिवनैना।..." (कि० दो० ३०) तदनुसार युद्ध ही के लिये इनका कहना भी युक्त है

सुनि सीता-दुख प्रभु सुख-अयना। भरि आये जल राजिव-नयना ॥१॥
बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति की ताही ॥२॥
कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन-भजन न होई ॥३॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी का दुःख सुनकर प्रभु (समर्थ) और सुख के स्थान श्रीरामजी के कमल के समान नेत्रों में जल भर आया ॥१॥ वचन, कर्म (देह) और मन से जिसे मेरी गति है, क्या स्वप्न में भी उसे विपत्ति समझ पड़ती है? ॥२॥ श्रीहनुमान्जी ने कहा—हे प्रभो! विपत्ति वही है कि जब तब (कभी-

कभी उस दुष्ट की बाधाओं से) आपका स्मरण-भजन नहीं होता (अथवा, जब-तब सुमिरण भी नहीं हो पाता और भजन—सेवा—तो होती ही नहीं) ।३। हे प्रभो ! राक्षसों की बात ही कितनी है, शत्रु को जीतकर श्रीजानकीजी को ले आयेंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सीता-दुःख प्रभु···'—श्रीरामजी 'प्रभु'—अर्थात् समर्थ हैं, पर असमर्थ की तरह दुखी हो गये ; यथा—"क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम् ।" (वाल्मी॰ ५।६६।१०) । 'सुख अयना' हैं, पर भक्त के दुःख से अत्यंत दुखी हो गये ; यथा—"तव दुख दुखी सुकृपा निकेता ।" (दो॰ ११); 'राजिवनैना'—यह विशेषण कृपासूचक है और दुःखहरण के अर्थ में आता है ; यथा—"राजिवनयन धरे धनु सायक । भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥" (बा॰ दो॰ १७) । यहाँ श्रीसीताजी के दुःखहरण में कृपा करके प्रवृत्त होंगे ।

(२) 'सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।'—भगवान् के दर्शन सुख रूप ही हैं, चाहे ध्यान से हों चाहे प्रत्यक्ष ; यथा—"जाग न ध्यान जनित सुख पावा ।" (आ॰ दो॰ ६) ; "कहँ दुख समय प्रानपति पेखे । " (अ॰ दो॰ ६६) ; मन, कर्म और वचन से राम-गतिक होने से मन निरंतर श्रीरामजी में ही लगा रहता है, तब दुःख का अनुभव होता ही नहीं ; यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तन दुःख सुख सुधि केही ॥" (अ॰ दो॰ २७४) ; 'सपनेहु' मुहावरा है, अर्थात कभी नहीं ।

(३) 'बिपति प्रभु सोई'—श्रीसीताजी मन, कर्म और वचन से आपमें अनुरक्त हैं, पर जब-तब राक्षसों के उपद्रव से उसमें विक्षेप पड़ता है, यही तो विपत्ति है ; यथा—"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः । यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत् ॥" यह प्रसिद्ध है । पुनः—"कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥" (उ॰ दो॰ ८७) । यह भी कहा है । इसका एक यह भी भाव है कि जब तब स्मरण में भी बाधा डालता है और भजन (सेवा) तो होता ही नहीं, क्योंकि आपके प्रत्यक्ष चरणों से वियोग है ।

(४) 'केतिक बात प्रभु जातुधान की'—आप प्रभु (समर्थ) हैं । आपके समक्ष तो राक्षस कोई चीज ही नहीं हैं; यथा—"रामबान रबि उये जानकी । तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥" (सुं॰ दो॰ १५) । 'आनबी' शब्द का प्रयोग श्रीहनुमान्जी ने अपने तईं भी किया है कि आपकी कृपा से मैं उन्हें लाऊँगा; यथा—"देखी मैं दसकंठ सभा सब मोते कोउ न सबल तो ।" (गी॰ सुं॰ १३) । अतः, उसका मारना कुछ बात नहीं है ।

सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥५॥
प्रति उपकार करउँ का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥६॥
सुनु सुत ! तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥७॥

अर्थ—हे कपि ! सुनो, तुम्हारे समान उपकारी सुर, नर और मुनि एवं कोई भी देहधारी नहीं हैं ।५॥ मैं तेरा क्या प्रत्युपकार करूँ ? (उपकार के बदले मे क्या करूँ ?) मेरा मन सम्मुख नहीं हो सकता ॥६॥ हे पुत्र ! सुनो, मैं तुमसे उऋण नहीं, मैंने मन मे विचार कर देख लिया ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनु कपि तोहि समान···'—(क) सुर-नर-मुनि-तनधारी उपकार करना विशेष जानते हैं, पर जो उपकार तुमने कपि-तन से किया, वैसा इन तीनों उत्तम शरीरवालों में से कोई करनेवाला

नहीं है। अन्य देहधारी जीव तो गौण ही हैं। श्रीमुख-वचन है; यथा—"हनूमान्यदि मे न स्याद्वानराधिपतेः सखा प्रवृत्तिमपि को वेत्तुं जानक्याः शक्तिमान्भवेत्।" (वाल्मी ७।५।१०)। (ख) सुर, नर और मुनि का ऋण जगत्-मात्र पर रहता है—देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण—ये तीन ऋण हैं; यथा—"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्॥" (मनुस्मृति)। इस कार्य से वे सब भी तुम्हारे ऋणी हुए, क्योंकि ये सभी रावण से दुखी थे। अतः, उसके मान-भंग से सब सुखी हुए।

(२) 'प्रति उपकार करउँ का···'—तुम्हारे उपकार के योग्य प्रत्युपकार हमसे कुछ नहीं बन पड़ता, इसीसे मन लज्जित हो जाता है; यथा—"कपि सेवा वस भये कनौड़े कहेउ पवनसुत आउ। देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ॥" (वि० १००)। मन लज्जित होने से सम्मुख नहीं हो सकता।

प्रभु ने यहाँ मन, वचन और कर्म से अपनी हार जनाई—'प्रति उपकार करउँ का'—'वचन'; 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा।'—मन और 'पुनि पुनि कपिहि चितव'—यह कर्म है। तथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मी० ७।४०।२३–२४); अर्थात् हे वानर! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, शेष उपकारों के लिये मैं तुम्हारा ऋणी रहूँगा। तुमने जो उपकार किये हैं, वे मेरे शरीर में ही पच जायँ; क्योंकि प्रत्युपकार का समय है—उपकारी का विपत्ति-ग्रस्त होना—यह तो मैं चाहता ही नहीं।

(३) 'सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।···'; यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। देखेउँ करि विचार कछु नाहीं॥ नाहिन तात उरिन मैं तोही।" (उ० दो० १)—श्रीभरतजी; यथा—"अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रैलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥" (उ० दो० १०७)—श्रीजानकीजी। ऐसे ही यहाँ भी विचार करके देख लिया। यहाँ कृतज्ञता की सीमा है।

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥८॥

दोहा—सुनि प्रभु-बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवंत॥३२॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥१॥

अर्थ—देवताओं के रक्षक प्रभु बार-बार कपि को देखते हैं, उनके नेत्र सजल हैं, शरीर अत्यन्त पुलकित है (रोमाञ्च हो आया है)॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर, उनके मुख एवं शरीर को देखकर श्रीहनुमान्जी शरीर से हर्षित एवं पुलकित और प्रेम से व्याकुल होकर "हे भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये" ऐसा कहते हुए प्रभु के चरणों पर पड़ गये॥३२॥ प्रभु बार-बार उठाना चाहते हैं, पर श्रीहनुमान्जी प्रेम में मग्न हैं, उन्हें उठना नहीं सुहाता॥१।

विशेष—(१) 'पुनि पुनि कपिहि चितव···'—(क) जैसे मन सम्मुख नहीं होता, वैसे नेत्र भी लज्जित हो जाते हैं। अतएव देखकर फिर दृष्टि नीची कर लेते हैं; इससे 'पुनि-पुनि' देखना कहा गया है।

(ख) अत्यन्त प्रेम है, उसकी दशा उत्तरार्द्ध में कही गई है। उससे भी बार-बार देखते हैं; यथा—कौसल्या पुनि पुनि रघुवीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥" (उ० दो० ६)। (ग) बार-बार देखने से भी तृप्ति नहीं होती, इससे भी; यथा—"पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥" (बा० दो० ११६)। 'सुरत्राता'—जो प्रभु देवताओं के उपकार करनेवाले हैं वे ही कपि के उपकार के वश हो रहे हैं। 'लोचन नीर पुलक अति गाता'—जैसे भगवान् मे प्रीति होने से भक्त पुलकित हों, वैसी ही दशा आप भक्त के प्रेमवश इस समय प्रकट कर रहे हैं; यथा—"मारत सुत तब मारुत करई। पुलक वपुष लोचन जल भरई॥" (उ० दो० ५१)। यह भक्त की दशा है।

जिसकी कृपादृष्टि के लिये इन्द्र, शिव और नारदजी आदि तरसते रहते हैं, वे ही प्रभु कनौड़े होकर श्रीहनुमान्जी को (लज्जित दृष्टि से) देख रहे हैं कि इसने हमारा बड़ा उपकार किया है, यथा—"अब करि कृपा विलोकि मोहि···" (लं० दो० ११२)—इन्द्र; "महिपाल विलोकय दीनजनम्" (उ० दो० १४)—शिवजी; "मामवलोकय पंकज लोचन, कृपा विलोकनि···" (उ० दो० ५०)—नारदजी, इत्यादि।

(२) 'सुनि प्रभु वचन विलोकि मुख···'—प्रभु ने कहा था—'सुनु सुत', 'सुनु कपि' इसीसे उनका वचन सुनना कहा गया। 'प्रभु' का भाव यह है कि आप समर्थ होकर भी दीनता के वचन कह रहे हैं। 'विलोकि मुख'—जब श्रीरामजी इनकी प्रशंसा करने लगे, इन्होंने शिर नीचा कर लिया था। सज्जनों की रीति यही है; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (अ० दो० ४५)। जब प्रभु के वचन समाप्त हुए, तब श्रीहनुमान्जी ने उनके मुख की ओर देखा कि वचनों के अनुसार ही प्रेम की दशा भी प्रत्यक्ष है, प्रभु का शरीर पुलकित हो गया है, इत्यादि।

तब अपने ऊपर प्रभु की निस्सीम कृपा समझकर श्रीहनुमान्जी को हर्ष हुआ और प्रभु के प्रशंसायुक्त वचनों के अनुसार कहीं अभिमान दबा न दे, इसलिये उत्तरार्द्ध में 'त्राहि त्राहि भगवंत' कहा है कि इस बाधा से रक्षा कीजिये, क्योंकि बड़ाई भक्ति मे बाधक है; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (कि० दो० ६); 'भगवंत' अर्थात् आप षडैश्वर्यवान् ईश्वर हैं, षडैश्वर्यों से जगत्-भर की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं। आपका उपकार कोई क्या कर सकेगा? प्रत्युत् जो कोई कुछ करता भी है, वह आपकी ही सत्ता से।

यहाँ श्रीहनुमान्जी की—मन, कर्म और वचन तीनों से-शरणागति हुई; यथा—'हरषि'—मन, 'त्राहि त्राहि···'—वचन और 'परेउ चरन' यह कर्म है। इसीसे यहाँ प्रभु ने अभिमान से इनकी रक्षा की; यथा—"बोला वचन विगत अभिमाना।" आगे कहा गया है। अन्यत्र अभिमान उपज आया है; यथा—"सुनि कपि मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ५८)।

(३) 'बार बार प्रभु चहहिं उठावा।'; यथा—"परे भूमि नहि उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ४); बार-बार नहीं उठाने से प्रभु की निष्ठुरता समझी जाती। यदि श्रीहनुमान्जी तुरत उठ जाते, तो भगवद्-प्रेम मे इनकी भी न्यूनता होती। फिर सेवक अपने परम प्राप्य चरणों को पाकर कैसे छोड़े? ऐसे सेवक को प्रभु हृदय से लगाते हैं। यही आगे कहा गया है; यथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।" श्रीहनुमान्जी प्रेम मे मग्न हैं, इस कारण से भी नहीं उठना चाहते। चरण पकड़े हुए हैं; यथा—"उतर न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।" (अ० दो० ७१)।

प्रभु-कर-पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥२॥

सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर ॥३॥
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ॥४॥

अर्थ—प्रभु का कर-कमल श्रीहनुमान्‌जी के शिर पर है, उस प्रेम की दशा को स्मरण करके गौरीशजी उस दशा में मग्न हो गये ॥२॥ फिर मन को सावधान करके श्रीशङ्करजी अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे ॥३॥ कपि को उठाकर प्रभु ने हृदय से लगाया, हाथ पकड़कर अत्यन्त समीप बिठा लिया (अर्थात् उठाकर अपनी बगल में शिला पर बैठा लिया और सब वानर नीचे बैठे हुए हैं।) ॥४॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'–श्रीशिवजी श्रीहनुमान् रूप हैं, इन्हें उस रूप में वह आनन्द प्राप्त हुआ था। उसका स्मरण कर उसी प्रेम में मग्न हो गये। क्योंकि यह परम लाभ है, तभी तो भक्त लोग ऐसी अभिलाषा करते हैं; यथा—"कबहुँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।" (वि० १३८); श्रीहनुमान्‌जी के जाते समय भी—'परसा सीस सरोरुह पानी।' से उपक्रम है और आने पर यहाँ भी—"प्रभु-कर-पंकज कपि के सीसा।' से उपसंहार है।

'मगन गौरीसा'—शब्द से गौरी और ईश (श्रोता-वक्ता) दोनों की मग्नता ध्वनि से कही गई है। प्रधान तो श्रीशिवजी (गौरीपति) ही की मग्नता है, क्योंकि आगे श्रीशंकरजी का ही मन सावधान होना कहा गया है, साथ ही गौरीजी भी सचेत हो गईं। कपि तो मग्न हैं ही, साथ ही ग्रन्थवर्त्ता भी। इसीसे विशेष्य (कथा) के अनुकूल अति सुंदरी न कहकर 'अति सुंदर' पुँल्लिंग विशेषण लिख दिया। इस प्रसंग के चरितनायक, श्रोता-वक्ता और कवि सभी प्रेममग्न हैं, इसी से इस कथा को 'अति सुंदर' कहा गया है।

(२) 'सावधान मन करि...'—पहले मग्न होने में मन का नाम नहीं है, क्योंकि वह तो मग्न हो चुका था, अब सावधान होने पर उसे प्रत्यक्ष पाकर कहा है। प्रेम मे मन मग्न हो जाता है; यथा—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (अ० दो० २४०); जबतक प्रभु शिर पर हस्त-कमल रक्खे हुए थे, तब तक श्रीहनुमान् निमग्न थे और तभी तक श्रीशिवजी भी। उधर कपि को उठाकर प्रभु ने अपने पास बिठाया और इधर श्रीशिवजी भी सावधान होकर कथा कहने लगे; यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनै लीन्ह॥" (बा० दो० १११); 'संकर'—शब्द का भाव यह है कि जगत् के कल्याण के लिये वे कथा में प्रवृत्त हुए। 'अति सुंदर'—सुंदर तो ध्यान भी था, पर कथा अति सुंदर है, तभी तो ध्यान छोड़कर सावधान हुए और कथा कहने लगे; यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरि कथा न करहिं रति, तिन्ह के हिय पाखान॥" (उ० दो० ४२)। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसे अति-प्रेम में निमग्न होकर कहा, इससे भी कथा अति सुंदरी हो गई।

(३) 'कपि उठाइ प्रभु...'—जब बहुत काल तक कपि नहीं उठे, तब प्रभु ने बलात् उठाकर उन्हें हृदय से लगाया; यथा—"बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपा निधान।" (अ० दो० २४०)। "परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ४)।

इस प्रसंग में तीन बार प्रभु ने इन्हें हृदय से लगाया–(क) 'प्रीति सहित सब भेटे।' (ख) 'पुनि हनुमान हरपि हिय लाये।' (ग) 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।' पहले आने पर, फिर जाम्बवान्‌जी से हाल जानने पर और यहाँ इनके प्रेमाकुल होकर चरण मे पड़ जाने पर यह तीसरी बार हृदय से लगाया।

'कर गहि परम निकट बैठावा ।'—हाथ पकड़कर 'परम निकट' बैठाना अत्यन्त आदर का सूचक है; यथा—"सुनि सनेह बस उठि नर नाहा । बैठारे रघुपति गहि बाँहा ॥" (अ० दो० ७६); "कर गहि प्रभु मुनिवर बैठारे ।" (उ० दो० १२) ।

कहु कपि रावन-पालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥५॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना ॥६॥

अर्थ—हे कपि ! कहो, रावण से रक्षित लंका और उसके अत्यन्त विकट किले को तुमने कैसे जलाया ? ॥५॥ श्रीहनुमान्जी ने प्रभु को प्रसन्न जाना, तब वे अभिमान रहित वचन बोले ॥६॥

विशेष—(१) 'केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ।'—लंका का रक्षक दिग्विजयी रावण है और उसका किला अत्यन्त बंका (टेढ़ा-मेढ़ा पेचीदा) है, इससे उसके जलाने की कोई विधि नहीं जान पड़ती, फिर तुमने उसे कैसे जलाया ? यथा—"त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी । कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने ॥" (हनुमन्नाटक); यद्यपि श्रीहनुमान्जी ने समुद्र का लंघन, अशोकवन का उजाड़ना और साथ ही भारी युद्ध भी किया है, तथापि श्रीरामजी ने लंका-दहन को ही आश्चर्य मानकर सर्व प्रथम पूछा, क्योंकि यह कार्य अत्यन्त कठिन है । इसी से राक्षस बहुत डर गये और सभी ने इसे आश्चर्यवत् माना है; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका । जबते जारि गयउ कपि लंका ॥" (दो० ३४); "आवा प्रथम नगर जेहि जारा ।" (लं० दो० ११); "जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा ।" (लं० दो० २४); "जारत नगर न कस धरि खाहू ।" (लं० दो० ८) ।

(२) 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना ।'—प्रभु की प्रसन्नता समझने के कई कारण हैं—(क) नगर जलाना आततायी का काम है, इसपर कहीं प्रभु अप्रसन्न हुए हों, इनके मन में इसकी शंका थी; यथा—"सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ । फिरि न गयउ निज नाथ पहिं, तेहि भय रहा लुकाइ ॥" (लं० दो० २३) । पर प्रभु इसी बात को आदरपूर्वक सबसे पहले पूछते हैं । अतः, इससे जाना गया कि प्रभु प्रसन्न हैं । (ख) हाथ से उठाकर परम निकट बैठाना भी प्रसन्नता का सूचक है । (ग) शिर पर हाथ रक्खा, प्रेम में मग्न हो, कृतज्ञता से कपि की सराहना कर रहे हैं, ऋणी बन रहे हैं, इत्यादि । 'बिगत अभिमाना'—अभिमान प्रभु को नहीं सुहाता; यथा—"सुनहुँ रामकर सहज सुभाऊ जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥" (उ० दो० ७२) । इसीसे विगत अभिमान वचन कहे और उसी को देखकर वक्ताओं ने भी 'बोला' यह एकवचन क्रिया दी । यदि साभिमान बोलते, तो आदरसूचक 'बोले' इस बहुवचन शब्द का प्रयोग किया जाता ।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई । साखा ते साखा पर जाई ॥७॥
नाघि सिंधु हाटक-पुर जारा । निसिचरगन बधि बिपिन उजारा ॥८॥
सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ॥९॥

दोहा—ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल ।
तव प्रभाव बड़वानलहिं, जारि सकइ खलु तूल ॥३३॥

अर्थ—वानर का यही बड़ा पुरुषार्थ है कि वह एक डाल पर से दूसरी डाल पर (कूद) जाता है ॥७॥ समुद्र को लाँघकर सोने का नगर जलाया, निशाचर समूह को मारकर वन को उजाड़ा ॥८॥ वह सब, हे रघुराई ! आपका प्रताप है (आपके प्रताप से हुआ है) हे नाथ ! इसमें मेरी कुछ भी प्रभुता नहीं है ॥९॥ हे प्रभो ! जिसपर आप प्रसन्न हो जायँ, उसे कुछ भी कठिन नहीं है, आपके प्रभाव से रुई वड़वानल (समुद्र में रहनेवाले अग्नि) को भी निश्चय जला सकता है ; अर्थात् ऐसा महान् असंभव कार्य भी हो सकता है, तब लंका-दहन कौन-सी बड़ी बात है ? ॥३३॥

विशेष—(१) 'साखामृग कै···'—इस शाखा से उस शाखा पर जाने एवं शाखा पर ही निवास करने के कारण वानरों का नाम ही शाखामृग है। यहाँ इसका प्रयोग उत्तम हुआ है। 'बड़ि मनुसाई'—बस, सारा पुरुषार्थ इतना ही है। आगे सब कार्यों का राम-प्रताप से होना कहेंगे, इसलिये अपना पुरुषार्थ इतने में ही कहकर समाप्त करते हैं।

(२) 'नाघि सिंधु हाटक पुर जारा।···'—एक डाल से दूसरी पर कूदनेवाला वानर समुद्र नहीं लाँघ सकता। सोने का नगर आग से नहीं जल सकता और जहाँ एक ही राक्षस समूह-के-समूह वानरों को खा सकता है, वहाँ केवल एक वानर निशाचरगण को भी नहीं मार सकता। रावण के जिस प्रिय बाग की ओर देवता तक नहीं भ्रूक्षेप कर सकते, तब एक साधारण वानर का क्या सामर्थ्य कि उसे उजाड़ डाले—अतः ये सब कार्य आपके प्रताप से ही हुए।

इस प्रसंग में नगर जलाना, बाग उजाड़ना आदि क्रम से नहीं कहे गये। क्रम-बद्ध कहने में कपि का वाचिक अभिमान समझा जाता। इसीलिये उल्टा-सीधा जैसे-जैसे याद पड़ता गया, कहते गये।

(३) 'सो सब तव प्रताप···'—श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी से लंका-दहन-मात्र पूछा था, परन्तु इन्होंने और सभी कार्यों को गिनाकर उनका राम-प्रताप से होना कहा, नहीं तो शेष कार्यों का होना इनके पुरुषार्थ से ही समझा जाता। 'कछुक'—अर्थात् इसमें मेरा किंचित् भी कर्त्तव्य नहीं है ; यथा—"राम कोह पावक, समीर सीय स्वास, कीस ईस वामता बिलोकु, वानर को व्याज है।" (क० सु० २२)। रुई रूप श्रीहनुमान्‌जी हैं और सोने की लंका वड़वानल है। रुई अनल को जला दे, यह असंभव बात है; इसीसे 'खलु' कहा है; यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो ॥" (वि० २२८)। अर्थात् प्रभु के प्रताप के समक्ष कुछ भी अगम नहीं है। श्रीहनुमान्‌जी की इतनी निरभिमानता भी श्रीप्रभु की प्रसन्नता का कारण है।

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी ॥१॥
सुनि प्रभु परम सरल कपि-बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी ॥२॥
उमा राम-सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥३॥

शब्दार्थ—अनपायनी (अन्-अपायिनी) = न नाश होनेवाली, अर्थात् स्थिर।

अर्थ—हे नाथ ! मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली निश्चल भक्ति कृपा करके दीजिये ॥१॥ श्रीशिवजी कहते हैं—हे भवानी ! कपि की परम सीधी वाणी सुनकर तब प्रभु ने एवमस्तु (=ऐसा ही हो) कहा ॥२॥ हे उमा ! जिसने श्रीरामजी का स्वभाव जाना है ; उसे उनका भजन छोड़कर और कुछ नहीं सुहाता ॥३॥

विशेष—(१) 'नाथ भगति अति···'—ज्ञान आदि सुख देनेवाले हैं और भक्ति अत्यन्त सुख देनेवाली है; यथा—"सब सुख खानि भगति तैं माँगी।" (उ० दो० ८४); प्रभु को अत्यन्त प्रसन्न पाकर श्रीहनुमान्‌जी ने उनसे भक्ति माँगी है; क्योंकि भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीरामजी बहुत प्रसन्न होने पर ही भक्ति देते हैं। प्रभु से उनकी भक्ति माँगने का एक यह भी कारण है कि इससे श्रीरामजी मेरे ऊपर सदा अनुकूल रहेंगे; यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।" (उ० दो० ११५)। एतदतिरिक्त यह भी कारण है कि श्रीरामजी ने कहा था; यथा—"प्रति उपकार करउँ का तोरा।···" उसी के उत्तर में भक्ति माँगकर चरितार्थ करते हैं कि मैं तो दास हूँ और यह दासता का भाव सर्वदा के लिये चाहता हूँ। आपकी सेवा करना तो मेरा स्वभाव ही है, फिर आपको प्रत्युपकार का क्या प्रयोजन ?

'देहु कृपा करि अनपायनी'—दास पर कृपा की जाती है, अतएव मुझपर आपकी कृपा हो और उससे मुझे आपकी भक्ति मिले। भक्ति सुकृत से भी मिलती है; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (आ० दो० ६); पर मुझमें जप योग आदि कुछ भी नहीं हैं। अतः, एक कृपा का ही अवलंबन है। पुनः धर्म से जो भक्ति मिलती है, वह इतनी दृढ़ नहीं रह सकती, क्योंकि पुण्य क्षीण होने से उसके परिणाम-स्वरूप भक्ति भी नहीं रह जाती। परन्तु आपकी कृपा का कभी नाश नहीं होता; यथा—"जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।" (बा० दो० २७); और इसीसे उस कृपा से प्राप्त भक्ति का भी नाश नहीं होता और सब लोग इसे ही चाहते हैं, यथा—"बाल बिनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।" (बा० दो० ३);—श्रीगोस्वामीजी। "अब करि कृपा देहु बर येहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥" (अ० दो० १०६);—श्रीभरद्वाजजी। "अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन-राती॥" (कि० दो० ६)—श्रीसुग्रीवजी। "अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥" (दो० ४८) —श्रीविभीषणजी। "परमानंद कृपायतन···प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम॥" (उ० दो० ३४); —श्रीसनकादिक। "नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु, जन्म जन्म प्रभु-पद-कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु॥" (उ० दो० ४९)—श्रीवसिष्ठजी। "भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥" (उ० दो० ८४)—श्रीभुशुंडीजी; इत्यादि।

(२) 'परम सरल कपि-बानी'—उपक्रम में—'बोला बचन बिगत अभिमाना।' और उपसंहार में—'परम सरल बानी' कहकर जनाया गया कि अभिमान रहित वाणी ही परम सरल है। 'एवमस्तु तब कहेउ'—'तब' का भाव यह है कि प्रभु ने इनको तीन बार हृदय से लगाया, शिर पर हाथ फेरा, इनके ऋणी बने; परन्तु स्वयं भक्ति देने को नहीं कहा, भक्ति ऐसी ही दुर्लभ वस्तु है; यथा—"मुनि दुर्लभ हरि भगति···" (उ० दो० ११६); "प्रभु कह देन सकल सुख सही, भगति आपनी देन न कही।" (अ० दो० ८३); जब श्रीहनुमान्‌जी ने परम सरल वाणी से अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट की, तब उन्हें भक्ति मिली।

(३) 'उमा राम-सुभाव जेहि जाना।···'—श्रीशिवजी के इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जी भी श्रीरामजी का स्वभाव जानते हैं; यथा—"राम रावरो सुभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत। जिन्हके हिये सुथल राम प्रेम सुरतरु, लसत सरस सुख फूलत फरत॥" (वि० १५१); श्रीमुख वचन भी है; यथा—"तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।" (उ० दो० ३७); 'सुभाव' अर्थात् ऐसे उदार, कृतज्ञ एवं पतित पावन आदि विशेषणों के युक्त होना, जिनसे सेवक की श्रद्धा बढ़े; यथा—"आत्मारामाश्च..." (भाग० १।७।१०); अर्थात् भगवान् के स्वभावभूत गुण ही ऐसे हैं कि जिनकी चिज्जड ग्रंथिपर्यन्त निर्मुक्त हो गई है, साधन से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, वे भी बिना प्रयोजन

उनका भजन करते हैं। तथा—"सुक सनकादि मुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥" (वि० ८६); "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९); स्वभाव-ज्ञाता श्रीभुशुंडीजी भी हैं; यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥" (दो० ४७); उन्होंने इसे यहाँ चरितार्थ करके दिखाया है; यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भजन हीन सुख कौने काजा। अस विचारि बोलेउँ खग राजा॥" (उ० दो० ८३); 'भाव न आना'—और ज्ञान-विवेक आदि गुण अन्य पदार्थ हैं, ये भी उसी प्रसंग में कहे गये हैं; यथा—"काकभुसुंडि माँग वर, अति प्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि॥ ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना। मुनिदुर्लभ गुन जे जग जाना॥" (उ० दो० ८३); भक्त को भक्ति की माधुरी के आगे और सब कुछ फीका लगता है; यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं हि वीक्षते॥" (आलवंदारस्तोत्र)। तथा—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता···" (बा० दो० ३५)।

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति-चरन भगति सोइ पावा॥४॥
सुनु प्रभु-बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥५॥

अर्थ—यह संवाद जिसके हृदय मे आया (अर्थात् जिसने इसे समझा और प्रेम से धारण किया), उसी ने श्रीरघुनाथजी के चरणों की भक्ति पाई॥४॥ प्रभु के वचन सुनकर कपिवृंद कह रहे हैं कि कृपालु सुख कंद (सुख बरसानेवाले मेघ रूप) श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो॥५॥

विशेष—(१) 'यह संवाद···'—'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।' से 'देहु कृपा करि मम अनपायनी॥' तक यह संवाद है, उसकी फलश्रुति कहते हैं। 'जासु उर आवा'—जिसके हृदय में आवेगा, वह रामस्वभाव जानेगा और फिर उपर्युक्त रीति से भक्ति पावेगा। पुनः उसे भक्ति के समान ज्ञान आदि अन्य कुछ भी नहीं भावेंगे। 'सोइ' शब्द दीपदेहली रूप से 'पावा'=पानेवाले और 'भगति' के साथ है। जैसे श्रीहनुमान्जी ने भक्ति पाई और जो भक्ति पाई, वैसे ही और वही भक्ति वह भी पावेगा। 'आवा' कि 'पावा' अर्थात् किंचित् विलंब नहीं होगा। शरण-आने के साथ ही पावेगा।

संवादों में जैसा विषय होता है, वैसी ही उसकी फलश्रुति भी होती है; यथा—"यह उमा संभु बिबाह जे नर नारि सुनहिं जे गावहीं। कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं॥" (बा० दो० १०३); इसमें विवाह मंगल का प्रसंग था, वैसा ही मंगल सुख आदि इसका फल भी कहा गया और सब कांडों की फलश्रुतियों में भी ऐसा ही लिखा जा चुका है। वैसे ही यहाँ श्रीहनुमान्जी को भक्ति मिली, संवाद के श्रवण-फल में भी वही बात कही गई है।

(२) 'सुनि प्रभु-बचन···'—श्रीहनुमान्जी को अनपायिनी भक्ति मिली। इसपर सब वानर प्रभु की जय-जयकार करने लगे। अपनी जाति की भलाई पर हरएक को हर्ष होता ही है; यथा—"रिपि निकाय मुनिबर गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेषी।" (आ० दो० ८); श्रीहनुमान्जी इन सभों के प्राणरक्षक भी हैं। इससे इनके उत्कर्ष पर सभी प्रसन्न हैं। पुनः ये लोग तो इस संवाद को प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं, अतएव राम-स्वभाव भी जान गये, इससे राम-चरण-भक्ति पाई और स्वामी की कृपा और भक्तसुख-दातृत्व आदि गुणों पर इनकी जय-जयकार करने लगे।

एक यह भी भाव है कि 'प्रभु-बचन'—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी।" से "देखेउँ करि बिचारि

मन माहीं।" को सुनकर श्रीहनुमान्‌जी चरणों पर पड़ गये और 'त्राहि-त्राहि' कहने लगे। शेष वानर प्रभु के ऐसे भक्त-वशीभूत स्वभाव की जय-जयकार करने लगे। इसीसे 'सुनि प्रभु-बचन' दोनों जगह रक्खा गया है; यथा—'सुनि प्रभु-बचन बिलोकि मुख···' और यहाँ भी। 'जय जय जय'—तीन बार बहुवचन कहकर सूचित किया गया कि प्रभु का स्वभाव समझ-समझकर बार-बार सब वानर जय-जयकार करते हैं। 'कृपालु'; यथा—"चितइ सबनि पर कीन्हीं दाया।" (लं॰ दो॰ ११६); 'सुख कंदा'; यथा—"तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥" (लं॰ दो॰ १०४)।

"सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥"—प्रकरण

तब रघुपति कपि-पतिहि बोलावा। कहा चलइ कर करहु बनावा॥६॥
अब बिलंब केहि कारन कीजै। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै॥७॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी। नभ तें भवन चले सुर हरषी॥८॥

दोहा—कपिपति बेगि बोलाये, आये जूथप जूथ।
नाना बरन अतुल बल, बानर-भालु-बरूथ॥३४॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीसुग्रीवजी को बुलाया और कहा कि चलने का प्रबंध कीजिये॥६॥ अब किस कारण से देर करते हैं, शीघ्र वानरों को आज्ञा दीजिये॥७॥ कौतुक देखकर बहुत फूल बरसा कर और हर्षित होकर देवता लोग आकाश मार्ग से अपने-अपने घरों को चले॥८॥ कपीश श्रीसुग्रीवजी ने सेनापतियों के समूहों को शीघ्र बुलाया, वे शीघ्र आये। वानरों और भालुओं के झुंड अनेक रंग एवं जाति के हैं, और उनमें अतोल बल है॥३४॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति कपि-पतिहि बोलावा।···'—'तब' अर्थात् जब परमार्थ की बातें हो चुकीं, तब स्वार्थ की बातें चलीं। सब कपियों पर श्रीसुग्रीवजी की आज्ञा चलती है, इससे उन्हें 'कपिपति' कहा गया और उनपर भी श्रीरामजी की आज्ञा है, इससे यहाँ 'रघुपति' शब्द कहा गया, क्योंकि रघुवंशि-चक्रवर्ती हैं। 'बोलावा'—ये बहुत दूर नहीं हैं, पर वानरों के जय-जयकार-शब्द से कुछ सुनाई नहीं पड़ता, इससे उन्हें निकट बुलाया। 'बनावा'—व्यूह रचना; यथा—"तुलसी दास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन॥" (गी॰ सुं॰ २१); अर्थात् सब यूथपति अपने-अपने यूथों की व्यूह रचना करके चलें।

(२) 'अब बिलंब केहि······'—भाव यह है कि अभी तक तो विलंब करने का कारण भी था—सीता-सुधि नहीं मिली थी; अब तो सुधि मिल गई तो फिर क्यों देरी कर रहे हो? यथा—"जौ रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई॥" (दो॰ १५); तात्पर्य यह है कि जब श्रीसीताजी की खबर मिलती तभी तैयारी करने। पुनः जब श्रीहनुमानजी ने कहा—'बेगि चलिय प्रभु···' तब प्रभु से आज्ञा लेकर चलने की शीघ्र तैयारी करना आवश्यक था। अब प्रभु को बुलाकर कहना पड़ा, यही विलंब है। 'तुरत कपिन्ह कहँ···'—क्योंकि श्रीहनुमानजी ने 'बेगि चलिय' कहा ही है।

(३) 'कौतुक देखि सुमन बहु बरषी ।'—परम समर्थ प्रभु का वानरों की सेना साथ लेना—कौतुक है ; यथा—"तव निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना ॥" (कि० दो० २६) ; पुनः रंग-बिरंग के वानरों का गर्जना-तर्जना आदि भी खेल ही है। देवताओं ने बहुत-से फूल बरसाये, क्योंकि वानरी सेना बहुत दूर में थी। अतः, सर्वत्र फूल बरसाये। यह प्रस्थान के समय मंगल के लिये देवताओं की सेवा है ; यथा—"समय-समय सुर बरषहिं फूला।" (बा० दो० ३१८) ; "गगन सुमन झरि अवसर जानी।" (बा० दो० ३२३) ; यहाँ भी देवताओं की स्वार्थ-परता साफ प्रकट है कि जब श्रीसीताजी की सुधि मिली एवं जब श्रीहनुमान्जी को प्रभु-भक्ति मिली, तब इन्होंने फूल की वर्षा नहीं की और जब सेना प्रस्थान की आज्ञा हुई, तब बहुत फूल बरसाये, क्योंकि इससे रावण मारा जायगा, और ये सुखी होंगे। इसी लाभ को समझकर देवताओं ने फूल बरसाये। कहा भी है; यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०८) ; 'नभ ते भवन चले'—अभी तक वर्षा और शरत् में ये लोग भूमि पर भ्रमर आदि के रूपों में प्रभु की सेवा में लगे थे ; यथा—"मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा ॥" (कि० दो० १२) ; प्रस्थान का समय निकट जानकर सब अपने-अपने स्वाभाविक रूपों में नभ को गये और फिर वहाँ से कौतुक देख-देखकर अपने-अपने घरों को चल दिये।

(४) 'कपिपति बेगि बोलाये···'—'बेगि बुलाये' अतएव सब तुरत ही आ गये। 'आये जूथप जूथ'—सेनापति बहुत हैं ; यथा—"पदुम अठारह जूथप बंदर।" (दो० ५४) ; 'बानर भालु' से जाति और 'बरूथ' से सेना कही गई। श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को आज्ञा दी, श्रीसुग्रीवजी ने यूथपों को और उन सबों ने अपनी-अपनी सेना को आज्ञा दी। तुरत सब आ गये, इसीसे 'बोलाये' और 'आये' साथ ही कहा गया।

प्रभु-पद पंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा ॥१॥
देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव-नैना ॥२॥
राम-कृपा-बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥३॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥४॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमलों में शिर नवाते हैं, महाबली वानर-भालु गरज रहे हैं ॥१॥ श्रीरामजी ने सब वानरी सेना देखी और कमल समान नेत्रों से उनपर कृपादृष्टि की ॥२॥ श्रीरामजी की कृपा का बल पाकर वानर श्रेष्ठ मानों पक्ष समेत श्रेष्ठ पर्वत हो गये (अर्थात् वे शरीर से भारी हो गये और उनमें उड़ने का भी सामर्थ्य आ गया, आगे कहा ही है, यथा—'चले गगन महि इच्छा चारी।') ॥३॥ तब श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर प्रस्थान किया, अनेक सुन्दर और शुभदायक शकुन हुए ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद पंकज···'—श्रीसुग्रीवजी जब अलग रहते, तब वानर लोग उन्हें भी प्रणाम करते हैं ; यथा—"आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा ॥" (दो० २८); परन्तु यहाँ श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी के पास बैठे हैं। इससे श्रीरामजी को प्रणाम करने से समाज भर को प्रणाम करना हो गया, क्योंकि प्रभु अंगी और सब अंग रूप हैं। 'गर्जहिं'—क्योंकि शत्रु पर चढ़ाई करते हुए वीर रस का आवेश है। ऊपर के दोहे में 'नाना बरन अतुल बल' कहा गया है और यहाँ 'महाबल'। इससे जनाया गया कि कोई अतुल बलवाले और कोई महाबली हैं। 'नावहिं सीसा'—जहाँ-तहाँ से बैठकर प्रभुके चरणों मे शिर नवाते हैं, क्योंकि साष्टाङ्ग दंडवत् का अवकाश नहीं है, अत्यन्त भीड़ है।

(२) 'देखी राम सकल '—जब सब प्रणाम कर चुके तब श्रीरामजी ने पहले सामान्य दृष्टि से देखा कि सेना कैसी और कितनी है। फिर बली एवं विशालकाय बनाने के लिये कृपादृष्टि से देखा। वही आगे श्रीगोस्वामीजी लिखते भी हैं, यथा—'राम कृपा बल पाइ '। 'राजिव-नैना'—यह विशेषण कृपा सूचक है, यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक॥" (बा० दो० १७), "देखी राम निकल कटकाई मैं देखउँ खल बल दलहिं, बोले राजिव-नयन॥" (लं० दो० ४४), जैसे राजा लोग सेना को पारितोषिक देकर उन्हें युद्ध में ले जाते हैं, वैसे यहाँ भी पारितोषिक-रूप कृपा का बल सबको मिला। 'भये'—दीपदेहली है, कपीन्द्र विशालकाय एवं बली हुए और पक्षयुत भी हुए। 'गिरिदा'—सब गिरि श्रेष्ठ सुमेरु के समान हो गये। अब रावण और उसकी सेना से लड़ने योग्य हो गये। पहाड़ों के समान युद्ध में अचल रहेंगे और इन सबके शरीर में शस्त्र न छिदेंगे। श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी के सामने सुमेरु के समान रूप दिखाकर सान्त्वना देते हुए कहा था कि सब वानर ऐसे ही हैं, यह मानों प्रभु ने उनके वचन को सत्य किया है।

(३) 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।'—जब प्रभु ने सेना को योग्य और बलिष्ठ बना लिया, तब हर्ष-पूर्वक वहाँ से चले। प्रस्थान के समय हर्ष का होना श्रेष्ठ शकुन है। यह तो भीतर का शकुन हुआ। बाहर भी नाना प्रकार के शकुन हुए। भीतर का शकुन श्रेष्ठ है, इसीसे उसे पहले कहा गया है। शकुन बा० दो० ३०२–३०३ में देखिये। यह अर्द्धाली—'हरषि राम ' यात्रा में कार्य सिद्धि के लिये मन्त्र-रूप मानी जाती है। अतएव यात्रा के समय इसका स्मरण करते हुए प्रस्थान करना चाहिये, इससे अवश्य मनोरथ-सिद्धि होती है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती॥५॥
प्रभु - पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं॥६॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहिं सोई॥७॥

अर्थ—जिसकी कीर्ति सर्व मङ्गलमय है, उसके प्रस्थान में शकुन होना यह नीति है (धर्मात्मा के धर्म-कार्य में शकुन होना नीति है और अधर्मी के अन्याय कार्य में शकुन होना अनीति है)॥५॥ प्रभु का प्रस्थान वैदेही श्रीजानकीजी ने जान लिया, उनके बायें अंग फड़ककर कहे देते हैं (कि प्रभु आ रहे हैं, तुम्हारे लिये मंगल है)। ६॥ जो-जो शकुन श्रीजानकीजी को होते हैं, वही-वही अपशकुन रावण को हुए, अर्थात् वाम अंग ही दोनों के फड़के, जो स्त्री के लिये शकुन और पुरुष के लिये अपशकुन हैं॥७॥

विशेष—(१) 'फरकि बाम अँग ', यथा—"राम सीय तन सकुन जनाये।' से 'भरत आगमन सूचक अहहीं॥" तक (अ० दो० ६), एवं—"सगुन होहिं सुन्दर जानि सगुन मन हर्ष अति " (उ० दो० १), देखिये। बायाँ अंग फड़कने से श्रीजानकीजी निश्चय-पूर्वक जान गईं कि प्रभु यहाँ के लिये प्रस्थान कर चुके—यही शकुन का कह देना है। 'बैदेही'—का भाव यह है कि वे विरह से व्याकुल होकर शरीर छोड़ना चाहती थीं कि उसी समय शकुनों ने उन्हें सान्त्वना दी कि घबड़ाओ नहीं, प्रभु आ रहे हैं। पुनः यह भी भाव है कि जब वे विदेह के समान देह-सुधि से रहित हो गईं, तब वे शकुन होने लगे कि जिनसे सचेत हों।

(२) 'असगुन भयउ रावनहिं सोई।'—श्रीसीताजी के शकुन के साथ मिलाकर रावण के

अपशकुन कहने के हेतु ये हैं कि उसके अपशकुन के हेतु श्रीसीताजी ही हैं, यथा—"जब ते तुम सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥" (लं० दो० ४६), पुन: ये ही हेतु उसके नाश के भी हैं; यथा—"कालराति निसिचर-कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (दो० ३१); "तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई सीता सीत-निसा-सम आई॥" (दो० ३५)

चला कटक को बरनइ पारा। गर्जहिं बानर-भालु अपारा॥८॥
नख आयुध गिरि-पादप-धारी। चले गगन महि इच्छाचारी॥९॥
केहरि-नाद भालु-कपि करहीं। डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं॥१०॥

अर्थ—कटक (सेना, दल) चला, उसका वर्णन कौन कर सकता है? अगणित वानर-भालू गरज रहे हैं॥८॥ नख (नाखून) उनके (मुख्य) हथियार हैं, वे पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए हैं, इच्छाचारी हैं, कोई आकाश में और कोई पृथिवी पर चल रहे हैं (जैसी जिसकी इच्छा है)॥९॥ रीछ और वानर सिंह का-सा गर्जन कर रहे हैं, दिशाओं के हाथी डगमगा रहे हैं और चिंघाड़ते हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'चला कटक ······'—पहले श्रीरामजी का प्रस्थान करना कहा गया तब पीछे कटक का—इस तरह कि श्रीरामजी श्रीहनुमान्‌जी की और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअंगदजी की पीठ पर सवार होकर आगे आगे चले और पीछे-पीछे कटक चला। 'को बरनइ पारा'; यथा—"वानर-कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥" (कि० दो० २१); अर्थात् असंख्य हैं।

(२) 'नख आयुध ·····'—नख शस्त्र और गिरि-पादप अस्त्र हैं; यथा—"एक नखन्ह रिपु बपुष बिदारी॥" (लं० दो० ६६), "गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं।" (लं० दो० ७१)। 'इच्छा चारी'—से अव्याहत गति भी सूचित की गई। आकाशगामी ही बहुत हैं, इसीलिये पहले 'गगन' शब्द दिया गया है।

(३) 'केहरि-नाद भालु-कपि करहीं। · ·'—वानर-भालू पारी-पारी से एवं बार-बार गरजते हैं, इसीसे प्रसंग में चार बार गरजना लिखा गया है। (क), यथा—"गर्जहिं भालु महाबल कीसा।"—इसमें भालू ही पहले गरजे। (ख) "गर्जहिं बानर-भालु अपारा।"—इस बार वानर पहले हैं। (ग) "केहरि-नाद भालु-कपि करहीं।" यहाँ भालू पहले हैं। (घ) "कटकटहिं मरकट बिकट भट बहु ·· ·" यहाँ वानर मुख्य हैं, इत्यादि। पुन: पहले प्रभु के पास आने पर गरजे। फिर चलते समय गरजे। पुन: मार्ग में सिंह-नाद करते हुए चलना कहा गया है और आगे कोटि-कोटि के धावा करने पर गरजना है, इस तरह क्रमश: चारों बार चार हेतुओं से गरजना कहा गया है।

छंद—चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हर्ष दिनकर सोम-सुर-मुनि-नाग-किन्नर दुख टरे॥
कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ-गुन-गन गावहीं॥

अर्थ—दिग्गज चिंघाड़ते हैं, पृथिवी हिलती है, पर्वत चंचल हो गये, समुद्र (के जल) में खलबली पड़ गई। सूर्य, चन्द्रमा, देवता, मुनि, नाग और किंपुरुषों के मन में हर्ष हुआ, उनके दुःख टले॥ भयङ्कर योद्धा वानर कटकटाते (क्रोध से दाँतों द्वारा शब्द करते) हैं और बहुत-से करोड़ों-करोड़ों मिलकर धावते हैं। श्रीरामचन्द्र की जय हो, जिनका प्रताप प्रबल है और जो कोशलपुरी के राजा हैं, इस तरह, कोसलनाथ श्रीरामजी के गुण-गण गा रहे हैं॥

विशेष—(१) 'चिक्करहिं दिग्गज···'—जब दिग्गज चिंघाड़ने लगे, तब पृथिवी डोल उठी और फिर उसपर के पर्वत और समुद्र हिलने लगे और उनमें खलबली पड़ गई। 'चिक्करहिं' और 'खरभरे' क्रियाएँ बहुवचन हैं, क्योंकि दिग्गज आठ और सागर सात हैं। 'मन हर्ष दिनकर-सोम-सुर···'—इनके मन में हर्ष है, क्योंकि रावण के अत्याचार से ये लोग बहुत दुखी थे; यथा—"रवि ससि पवन बरुन धन धारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहिं लागा॥" (बा० दो० १८१); सूर्य-चन्द्रमा के नामों के द्वारा पहले लोकपालों के नाम लिये गये। लोकपालों के नाम ही पहले कहे गये, क्योंकि इन्हें रावण अधिक दुःख देता था, यथा-"लोकप जाके बंदीखाना॥" (लं० दो० ८८); "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (दो० ११); 'टरे'—अभी इनके दुख केवल हट गये हैं, पर उनका समूल नाश तो रावण के साथ ही होगा।

(२) 'कटकटहिं मर्कट बिकट भट···'—वानरों का कटकटाना भारी क्रोध का सूचक है; यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" (दो० १८); "कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥" (लं० दो० ३६); 'कटकटहिं' से शब्द की भयंकरता, 'बिकट भट' से देह की भीषणता और 'कोटिन्ह धावहीं' से उनके कर्म की भयंकरता दिखलाई गई है।

(३) 'जय राम प्रबल प्रताप···'—'प्रबल प्रताप'; यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०), जैसे सूर्य के उदय से अंधकार का नाश होता है वैसे ही श्रीराम-प्रताप से निशिचर नाश को प्राप्त होंगे। इस समय जो वानर प्रबल हो गये हैं यह भी श्रीरामजी के प्रताप से ही, यथा—"राम-प्रताप प्रबल कपि-जूथा।" (लं० दो० ४०); तात्पर्य यह है कि प्रबल प्रताप से श्रीरामजी रावण आदि को मारकर जय पावें और कोशलपुर के राजा होकर अपने गुण-गणों से प्रजा को सुखी करें। 'गुण-गण'; यथा—"अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः।"; "दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो···"; "दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम्। गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।२।११, ४८, ४१)। 'राम' से नाम, 'प्रताप' से रूप, 'कोसलनाथ' से धाम और 'गुन-गन' से लीला का भी वर्णन है। सब उत्साहपूर्ण हैं, अतएव गुण गाते हुए जय-जयकार करते हैं।

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिं मोहई।
गह दसन पुनि-पुनि कमठ पृष्ठ कठोर सो किमि सोहई।
रघुबीर रुचिर प्रयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥

अर्थ—श्रेष्ठ और बड़े भारी शेषनाग भी इस भारी बोझ को नहीं सह सकते, बार-बार मोह (भ्रम

एवं चित्त-चिंता) को प्राप्त होते हैं। बार-बार कच्छप (भगवान्) की कठोर पीठ को दाँतों से पकड़ते हैं, वह कैसा शोभायमान हो रहा है ॥ कि मानों रघुवीर श्रीरामजी के सुन्दर प्रस्थान पर यात्रा-मुहूर्त्त को परम शोभायमान जानकर उसे अविचल और पवित्र रीति से कच्छप के खर्पर (पृष्ठ-भाग) पर सर्पराज शेषजी लिख रहे हैं ॥

विशेष—(१) 'सहि सक न भार···'—वे वानर-भालू पहले भी पृथिवी पर ही रहते थे, परन्तु वे पृथिवी पर सर्वत्र फैले हुए थे। अब सभी एकत्र हुए हैं, फिर श्रीरामजी की कृपा से अत्यन्त भारी और बली हो गये हैं। पुनः आवेश में भरे हुए 'कोटि कोटिन्ह धावहीं' कहा गया है, तब यह भार शेषजी से कैसे सहा जाय ; अतएव उनका गरजना दिग्गज नहीं सह सके और भार शेषजी भी नहीं सह सके। 'बार-बारहिं मोहहीं' अर्थात् सावधान होते हैं और फिर मोहित हो जाते हैं, वही आगे 'गह दसन···' से दिखाया गया है; यथा—"दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर। बारहिं बार अमरषत कर्षत करकैं परीं सरीर ॥" (गी॰ सुं॰ २२); इसमें उक्त 'मोहहीं' का अर्थ प्रकट है कि बार-बार आमर्ष (क्रोध) में भर जाते हैं कि आज यह क्यों हमारा अपमान हो रहा है, भार हमसे नहीं सहा जा रहा है और फिर बल लगाकर खींचते हैं, जिससे शरीर में पीड़ा हो आती है।

(२) 'गह दसन पुनि-पुनि···'—पृथिवी के नीचे पहले दिग्गज हैं, उनके नीचे शेषजी और शेषजी के नीचे आधारभूत कमठ भगवान् हैं, उसी क्रम से भार का अनुभव होना भी कहा गया है जब शेषजी के फण नीचे को झुकते हैं, तब वे दाँतों से कमठ-पृष्ठ का सहारा लेते हैं, फिर सावधान हो जाते हैं। जब कमठ-पृष्ठ पर दाँत नहीं ठहरता, तब वे मोहित हो जाते हैं और फिर से दाँत अड़ाते हैं। 'सो किमि सोहई'—राम-यश लिखना शोभा है और उससे सम्बन्धित मोहित होना भी शोभा ही है। यहाँ कमठ भगवान् की ही स्थिरता कायम रह सकी।

(३) 'रघुबीर रुचिर प्रयान-प्रस्थिति···'—त्रिलोक-विजयी रावण पर चढ़ाई करने के कारण से 'रघुबीर' शब्द का प्रयोग किया गया। 'प्रस्थिति'=यात्रा-मुहूर्त्त, एवं प्रकर्ष-स्थिति; अर्थात् जिससे प्रस्थान की स्थिति कि अमुक समय में अमुक भाँति से श्रीरामजी ने प्रस्थान किया है, इसकी कुंडली सदा बनी रहे—इसलिये लिख रहे हैं। 'जानि परम सुहावनी'—सुन्दर वस्तु प्रायः लिख (नोट कर) ली जाती है। पुनः सबको सुहावनी है और शेषजी की दृष्टि में परम सुहावनी है; क्योंकि मुख्यतया प्रभु उन्हीं का भार उतारने जा रहे हैं, इसलिये वे स्वयं लिख लेते हैं। कमठ-पृष्ठ वज्र से भी कहीं अधिक कठोर है, अतएव ये रेखाएँ कभी न मिटेंगी। जिससे यह कीर्त्ति सदा अचल रहेगी। यहाँ प्रयाण, कमठ और शेष इन तीनों की शोभा कही गई है।

(४) 'जनु कमठ-खर्पर···'—श्रीराम-यश पवित्र और अविनाशी है, इसीलिये उसे कठोर पृष्ठ पर लिख रहे हैं कि यह पावनी कीर्त्ति सदा अविचल रहे। दाँतों का एक बार कमठ-पृष्ठ पर से हट जाना मानों एक पंक्ति का पूरा होना है पुनः पीठ पकड़ना दूसरी पंक्ति का आरम्भ करना है। इस तरह के प्रसंग जिन कवियों ने—"असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधुपात्रे। सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।···" (शिवमहिम्न) इस रीति से वर्णन किया है, उनसे श्रीगोस्वामीजी का वर्णन कितनी उच्चकोटि का हुआ है, पाठक स्वयं विचार करें कि पृथिवी पर की रेखा शीघ्र मिटती है और काष्ठलेखनी की अपेक्षा शेषजी के दाँतों की लेखनी अत्यन्त कठोर है, इत्यादि।

दोहा—येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर - तीर ।
जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥३५॥

अर्थ—दयासागर श्रीरामजी इस तरह समुद्र-तट पर जाकर उतरे। बहुत वीर भालू-वानर जहाँ-तहाँ फल खाने लगे ।।३५।।

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—जैसे ऊपर—"देखो राम सकल कपि-सैना।" से "गह दसन पुनि-पुनि···" तक कहा गया। 'कृपानिधि'—क्योंकि प्रस्थान करते समय प्रभु ने वानरों पर कृपा की; यथा—"चितइ कृपा करि राजिव-नैना।" और यहाँ समुद्र-तट पर पहुँचकर समुद्र पर भी कृपा की—उसकी मर्यादा-रक्षा के लिये तट पर ही उतर गये, नहीं तो बाणों से समुद्र को सोखते हुए चले ही जाते ; यथा—"माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" (दो० ५५); पुनः सेनाओं पर भी कृपा करके उतरे कि जिससे वे फल खा लें, क्योंकि वानर भूखे हैं और इन्हें अब चार सौ कोसों का समुद्र पार करना है 'उतरे' शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी की पीठ से उतरे ; यथा—"यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन् । अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः ॥ अङ्गदे नैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः" (वाल्मी० ४।१८–१९)। दूसरा अर्थ 'उतरे' का—'डेरा डाला' है। प्रभु ने सोचा कि समुद्र तीर्थपति और अपना कुल-गुरु है। अतः, वे उसकी मर्यादा-रक्षा के लिये तट पर उतरे।

(२) 'जहँ-तहँ लागे खान फल···'—वानर-भालू बहुत हैं, सभी को एक ही जगह फल नहीं मिल सकते, इसलिये 'जहँ-तहँ' का प्रयोग किया गया है। उस पार भी कहा गया है ; यथा—"सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा ॥ खाहु जाइ फल-मूल सुहाये। सुनत भालु-कपि जहँ-तहँ धाये ॥" (लं० दो० ४)। श्रीराम-लक्ष्मणजी का फल खाना नहीं कहा गया, क्योंकि इन्होंने यहाँ आज तीर्थ-व्रत किया है।

"मिला बिभीषन जेहि बिधि आई"—प्रकरण

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका ॥१॥
निज-निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर-कुल केर उबारा ॥२॥
जासु दूत-बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवन भलाई ॥३॥

अर्थ—जबसे वानर लंका जलाकर गया, तबसे वहाँ निशाचर लोग सशंकित रहते हैं ॥१॥ सब अपने-अपने घरों में विचार करते हैं कि अब निशाचर-वंश का उबार (बचाव) नहीं है ॥२॥ जिसके दूत के बल का वर्णन नहीं हो सकता, उसके आने पर नगर की कौन भलाई होगी ? ॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।···'—लंका-दहन से राक्षसों का गर्व न रह गया ; यथा—"जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल-गर्ब तुम्हारा ॥" (लं० दो० २४); जलाने के समय का श्रीहनुमान्‌जी का वह भयंकर रूप सबके चित्त में बना रहता है, इसीसे वे सदा शंकित ही रहते हैं। 'रहहिं'—का यह भी भाव है कि रावण के डर से यहाँ बने हुए हैं। नहीं तो प्राण लेकर लंका से भाग जाते ; यथा—"देखि निकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई ॥"

(बा० दो० १७८), 'जारि गयउ'—का भाव यह है कि सोने के मकानों को जला डाला और फिर कुशल-पूर्वक यहाँ से चला भी गया, किसी से कुछ न बन पड़ा। इससे वह कोई अप्राकृत सामर्थ्यवान् जान पड़ता है। 'उहाँ'—से श्रीगोस्वामीजी की स्थिति इस पार श्रीरामजी के पक्ष में है, यह जाना गया।

(२) 'निज-निज गृह '—रावण के डर से सब अपने-अपने घरों में ही विचार करते हैं, किसी से कुछ कहते नहीं। विचार आगे कहा गया है, यथा—'जासु दूत-बल ' और विचार करते हुए आपस में कहते भी हैं। तभी तो आगे मंदोदरी-द्वारा इस बात का सुनना भी कहा गया है, यथा—"दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। "

(३) 'जासु दूत-बल बरनि ', यथा—"नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥" (दो० ३१), पुन —"समुझत जासु दूत की करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर-घरनी॥" आगे कहा गया है। 'बल'—वाटिका उजाड़ने और राक्षसों के मारने से प्रकट है। 'तेहि आये पुर'—वे उस पार आ गये हैं, इस पार पुरी में नहीं आवें, तभी सबकी भलाई है पुरजनों को पहले ही खबर मिल गई कि उस पार शत्रु-सेना आ गई। अब रावण को भी सभा में खबर मिलेगी।

मंदोदरी का उपदेश [१]

दूतिन्ह सन सुनि पुरजन-बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥४॥
रहसि जोरि कर पति-पद-लागी। बोली बचन नीति-रस-पागी॥५॥
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू॥६॥

अर्थ—दूतियों से पुरवासियों के वचन सुनकर मंदोदरी अधिक व्याकुल हुई॥४॥ एकान्त में हाथ जोड़कर पति के चरणों से लगकर वह नीति रस में पगी हुई वाणी बोली॥५॥ हे स्वामी! भगवान् से वैर छोड़ो, मेरा कहना अत्यन्त हितकर जानकर हृदय में धारण करो॥ ॥

विशेष—(१) 'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी'—जो वार्तालाप लोग घर घर करते थे, वे स्त्रियों के द्वारा प्रकट हुए, इसीसे दूतियों का सुनना कहा गया है। 'अधिक अकुलानी'–पुरवासियों की अपेक्षा मंदोदरी अधिक व्याकुल हुई, क्योंकि धर्मात्मा होने से यह प्रजा वत्सला है, यथा—"कोसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी॥" (अ० दो० १७४), इसीसे प्रजा के दुःख नहीं देख सकती। 'नीति-रस-पागी'—वचनों को नीति-रस में पागकर, अर्थात् मंदोदरी ने नीतिमय वचन कहे। 'रहसि'=एकान्त में, क्योंकि अभिमानी लोग किसी दूसरे के समक्ष शिक्षा नहीं मानते, परन्तु एकान्त में स्त्री के स्नेह से मान भी लेते हैं अथवा अपनी स्त्री द्वारा कही हुई एकान्त की बातें लोगों पर बहुत ज्यादा असर डालती हैं। 'जोरि कर पति पद लागी'—पाँव पड़कर समझाना स्त्री का धर्म है, यथा—"गहिकर चरन नारि समुझावा।" (कि० दो० ६), 'बोली बचन नीति-रस पागी।' क्योंकि रावण अनीति कर रहा है। बड़ों से वैर करना अनीति है, श्रीरामजी बड़े हैं, इसी को आगे कहती है, यथा–'कंत करष हरि सन ।' उचित नीति यह है कि जो शत्रु अपनेसे अधिक बलवान् हो, उससे साम (मेल) कर लेना चाहिये, यथा—"सुभट-सिरोमनि कुठार पानि मारिबेहू लरी औ लराई इहाँ किये सुभ सामै।" (गी० सु० २५), प्रीति और वैर समान से ही उचित है, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि॥" (लं० दो० २३)।

(२) 'कंत करष हरि सन...'—'कंत' संबोधन से मन्दोदरी अपने सौभाग्य-रक्षा को मुख्य दिखाती है। एवं वह भी कि प्रजा और कुटुम्ब के भी कान्त अर्थात् रक्षक हो। वैर करने से वे हरि (भगवान्) हैं, समर्थ हैं, सबरुद्ध हरण कर लेंगे। 'हिय धरहू'—क्योंकि अपने हित की बात रावण किसी के भी कहने से धारण नहीं करता; यथा—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं॰ दो॰ ६); इसी पर मन्दोदरी कहती है कि मैं आपकी प्रिया हूँ और मेरा कथन आपके लिये अति हितकर है, अतएव इसे धारण करो।

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर-घरनी ॥७॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई ॥८॥
तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई। सीता सीत-निसा-सम आई ॥९॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु-अज कीन्हे ॥१०॥

दोहा—रामबान अहिगन सरिस, निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि, जतन करहु तजि टेक ॥३६॥

अर्थ—जिनके दूत की करनी समझते ही निशाचरियों के गर्भ गिर जाते हैं ॥७॥ हे स्वामी! जो भलाई चाहो, तो अपने मंत्री को बुलाकर उनकी स्त्री भेज दो ॥८॥ तुम्हारे कुल रूपी कमलवन को दुख देनेवाली सीता शरद्-रात्रि के समान आई हैं, [अर्थात् अभी लंका रूपी सर में निशाचर कमल के समान प्रफुल्लित हैं, शरद निशा के समान श्रीसीताजी के संयोग से चन्द्रमा रूप श्रीरामचन्द्रजी क्रोधरूपी हिम बरसा करके निशाचरों का नाश करेंगे; यथा—"प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥" (बा॰ दो॰ १५),] ॥९॥ हे नाथ! सुनिये, बिना श्रीसीताजी को दिये, शिवजी और ब्रह्माजी के भी करने से तुम्हारा हित नहीं हो सकता ॥१०॥ श्रीरामजी के बाण सर्प के समूह के समान और राक्षसों के समूह मेढ़कों के समान हैं, जबतक वे इन्हें निगल नहीं लेते तभी तक हठ छोड़कर उपाय कर लो ॥३६॥

विशेष—'समुझत जासु दूत...'—भाव यह है कि पहले तो उसके गर्जन से ही निशाचरियों के गर्भ गिर गये थे; यथा—"चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥" (दो॰ २७); अब भी जो गर्भ धारण करती हैं, उस वानर की करनी का स्मरण होते ही उनके गर्भ गिर जाते हैं। 'करनी'; यथा—"बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति, पँवरि पगार प्रति, बानर बिलोकिये। अध-ऊर्ध्व बानर, बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये॥ मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो धाइ धाइ जहाँ तहाँ और कोउ कोकिये ..." (क॰ सुं॰ १७)। इससे अब वंशवृद्धि न होगी। मंदोदरी ने यह भी सुना है कि 'निसाचर रहहिं ससंका' पर उसने केवल स्त्रियों का ही भयभीत होना कहा है। क्योंकि वीरों एवं पुरुषों का डरना यदि रावण सुनता तो उन्हें खोज-खोज कर दंड देता; अतः, इसने संभालकर कहा।

(२) 'तासु नारि निज सचिव...'; यथा—"प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥" (लं॰ दो॰ ८), "जो आपन चाहइ कल्याना।...सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद

कि नाईं ॥" (दो० ३७); अर्थात भलाई सीता को दे देने में ही है। 'निज सचिव'—अपना खास मंत्री; यथा—"माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्रीवर।" (लं० दो० ४६); इनके अतिरिक्त मंत्री दुष्ट एवं अयोग्य हैं; यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती।" (लं० दो० ८); 'निज सचिव' के जाने से तुम्हारा ही जाना समझा जायगा। रावण को स्वयं जाने को नहीं कहती, क्योंकि वह अभिमानी प्रकृति का है, शत्रु से झुकना तो मानों वह जानता ही नहीं; यथा—"द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥" (वाल्मी० ६।३६।११), अर्थात् मैं दो टुकड़े हो जाऊँगा, पर नम्र न होऊँगा, यह मुझ में स्वाभाविक दोष है, क्या करूँ स्वभाव का उल्लंघन तो हो ही नहीं सकता—यह रावण ने ही कहा है। बिना नम्रता सहित जाने में उसे भय भी है; यथा—"दसन गहहु तृन कंठ कुठारी ...येहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥" (लं० दो० १९); 'बोलाई' और 'पठवहु' का भाव यह कि शीघ्र अभी बुलाकर ऐसा करो, नहीं तो यदि श्रीरामजी इस पार आ जायँगे, तो तुम्हारी भलाई नहीं है; यथा—"तेहि आये पुर कवनि भलाई।" अभी सुना ही गया है।

(३) 'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई ···'—'सीता' नाम यहाँ उनकी शीतलता पर दृष्टि रखकर कहा गया है। वे यदि चाहें तो क्रोध करके तुम्हें भस्म कर सकती हैं; यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥" (वाल्मी० ५।२२।२०); वे क्षमा-रूप शीतलता से तुम्हारे वंश भर का नाश कर देंगी 'आई' अर्थात् तुम्हारे नाश के लिये वे स्वयं आई हैं। तुम ले आये हो, ऐसा कहने से रावण क्रुद्ध होता है; यथा—"जब ते तुम्ह सीता हरि आनी।···ताके वचन बान सम लागे।···" (लं० दो० ४७–४८) इसीसे इस बात को मंदोदरी ने युक्ति से कहा है।

(४) 'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'—रावण ब्रह्माजी का प्रपौत्र (परपोता) और श्रीशिवजी का सेवक है। पर श्रीरामजी का द्रोही होने से इसे वे भी नहीं बचा सकते, क्योंकि वे दोनों ही श्रीरामजी के सेवक हैं; यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥" (उ० दो० १०५); तथा—"संकर सहस बिष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥" (दो० २२)।

(५) 'राम बान अहि गन ··'—श्रीरामजी के बाण सर्पों के समान चमकीले, विषैले, सपक्ष, ग्रासक एवं फुंकारयुक्त, भयंकर और मृत्युकर हैं। जैसे सर्प मेढ़कों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाते हैं, वैसे ही राम-*बाण भी निशाचरों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारेंगे और मेढ़क की तरह निशाचर उनका कुछ भी नहीं कर सकेंगे।* 'जतन करहु' अर्थात् बचने का ही यत्न करो, लड़ने का नहीं। यत्न पहले ही कह चुकी है कि श्रीसीताजी को लौटा दो। 'जब लगि ग्रसत न···'—राम-बाण अमोघ हैं, उनके छूटने के पहले ही यत्न कर लो; यथा—"जबहिं समर कोपिहिं रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक ॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा।" (लं० दो० ११)

मंदोदरी ने पुरजनों की वाणी सुनी थी। अतः, उन्हीं को लेकर उसने रावण को समझाया।

श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा जगत बिदित अभिमानी ॥१॥
सभय सुभाव नारि कर साँचा। मंगल महँ भय मन अति काँचा ॥२॥
जौं आवइ मर्कट-कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई ॥३॥

अर्थ—शठ और जगत्-प्रसिद्ध अभिमानी रावण उसकी वाणी कानों से सुनकर बहुत हँसा ॥१॥

(और गोला) स्त्रियाँ स्वभाव से ही डरपोक होती हैं, यह सत्य है, मङ्गल में भी भय ! बड़ा ही कच्चा मन है ॥२॥ जो बन्दरों की सेना आवेगी, तो विचारे निशाचर उन्हें खाकर जियेंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'श्रवन सुनी सठ ' —मंदोदरी ने कहा था—'सुनहु नाथ ' ' अत, इसने कानों से तो सुना, परन्तु उसे माना नहीं, इसीसे वक्ता लोग उसे 'सठ' कहते हैं। कहा ही है— "सठ सन विनय ऊसर बीज बये फल जथा " (दो० ५०), मंदोदरी ने श्रीरामजी की बड़ाई की थी, उसीके निरादर के लिये बहुत हँसा, क्योंकि रावण अभिमानी है - ऐसे लोग अपने आगे किसी को नहीं गिनते। जैसा कि उसके अगले वचनों से स्पष्ट है। 'जगत विदित ', यथा—"रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रति भट खोजत कतहुँ न पावा।" (बा० दो० १८१), अर्थात् जो (मैं) त्रिलोक विजयी है, उसे नर-वानरका भय दिखाती है। ऐसा कहने का कारण वह आगे स्वय कहता है—

(२) 'सभय सुभाव नारि कर साचा।'—स्त्रियों के आठ अवगुणों में 'सभय होना' भी एक है, यथा—"साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥" (लं० दो० १५), अभी तक यह कवियों से ही सुना जाता था। आज मैंने उसकी सत्यता प्रत्यक्ष पाई कि जिसे कहीं किसी से भी भय नहीं, वह मंदोदरी भी डर रही है अत, यह नारि-स्वभाव ही है।

(३) 'मगल महँ भय '—विना प्रयास के आहार मिलना मगल है, यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा " (लं० दो० ७), "गृह बैठे अहार विधि दीन्हा।" (लं० दो० ११)। शत्रु को देखकर भयभीत होना मन का कच्चा होना है और भक्ष्य को देखकर भय खाना तो मन का अति कच्चा होना है। उसी मगल विधान को आगे कहता है—

(३)'जौं आवइ मर्कट कटकाई। '—'जौं' अर्थात् आने में अभी संदेह है, भय के मारे नहीं आवेंगे। यदि काल की प्रेरणा से सम्भवत आ भी जायँ, तो विचारे निशाचरों के पेट भरेंगे। 'मर्कट कटकाई'—एक-दो से तो एक निशाचर को भी पूरा न पड़ता। 'कटकाई' आवे, तभी सब निशाचर जियेंगे। जो भूख के मारे दीन (विचारे) हो रहे हैं, यथा—"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥" (लं० दो० १८), श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के नाम उसने नहीं लिये, क्योंकि यहाँ वह आहार का वर्णन कर रहा है और ये दो तो एक भी निशाचर के पेट भरने योग्य नहीं हैं।

मंदोदरी ने जो 'निकर निसाचर भेक' कहकर इसकी सेना की निर्बलता कही थी, उसका उत्तर उसने यह दिया और जो उसने कहा था—'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे।' उसका उत्तर वह आगे— 'कंपहिं लोकप ' से देगा। पहले अपनी सेना का बल कहकर तब अपना कहता है—

कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥४॥
अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥५॥
मंदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता॥६॥

अर्थ—जिसके डर से लोकपाल काँपते हैं, उसकी स्त्री डरनेवाली हो, यह बड़ी हँसी की बात है॥४॥ ऐसा कह विहँसकर उसे छाती से लगाया और अधिक स्नेह एव अभिमान दिखाकर सभा को चला॥५॥ मंदोदरी हृदय में चिन्ता करने लगी कि स्वामी पर विधाता प्रतिकूल हो गये हैं॥६॥

विशेष—'कंपहिं लोकप···' यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (दो० १६); भाव यह कि तू हमें मनुष्य का भय दिखाती है, परन्तु मेरे डर से तो लोकपाल तक काँपते हैं। और निशाचरों की स्त्री नर-वानर से डरे, तो हँसी की बात है और उन निशाचरों के राजा रावण की रानी उनसे डरे, यह तो बड़ी हँसी की बात है।

(२) 'अस कहि बिहँसि···'—उपक्रम में भी रावण हँसा था; यथा—'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी।' और यहाँ उपसंहार में भी हँसा। तात्पर्य यह कि मंदोदरी की बात उसने हँसी में ही उड़ा दी। बिहँसकर हृदय से लगाया कि जिससे उसके वचन के निरादर का कष्ट उसे न हो। पुनः मंदोदरी पहले इसके पाँवों से लगी थी। उसीके प्रतिफल इसने भी चलते समय उसे हृदय से लगाया। 'चलेउ हृदय ममता अधिकाई'—मंदोदरी का ज्ञान-कथन यहाँ व्यर्थ हो गया, क्योंकि रावण के हृदय में ममता है; यथा—"ममता-रत सन ज्ञान कहानी।···ऊसर बीज बये फल जथा।" (दो० ५७); ममतारूपी अंधकार से इसे कुछ सूझता ही नहीं; यथा—"ममता तिमिर तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुख कारी॥" (दो० ४६); इसी ममता-वश इसने स्त्री से राग किया, अर्थात् उसे हृदय लगाया, श्रीरामजी के प्रति इसने द्वेष किया, यह यहीं चरितार्थ है।

ममता के स्नेह और अभिमान दो अर्थ होते हैं। रावण ने अपनी स्त्री से स्नेह किया और साथ ही अपना अभिमान भी प्रकट किया कि लोकपाल तक मेरे डर से काँपते है, तो नर-वानर मेरे सामने क्या वस्तु हैं? तीसरा अर्थ 'मेरापना' भी है, वह भी सभा जाते समय हृदय में जागरित है कि मेरे ऐसे-ऐसे कुटुंब एवं सुभट हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है; यथा—"कुंभ करन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि,···" (लं० दो० २७)।

(३) 'मंदोदरी हृदय कर चिंता।···'—अब इसे अपने अहिवात की चिन्ता हुई कि मेरा उसके बचाने का उद्योग नष्ट हो गया, इससे स्पष्ट हो गया कि विधाता इसके विपरीत है। अब इसकी भलाई नहीं है; यथा—"बिधि बिपरीति भलाई नाहीं।" (बा० दो० ५१); पहले इसने भलाई का उपाय किया; यथा—"तासु नारि···पठवहु कंत जो चहहु भलाई।" पर विधि विपरीतता से वह व्यर्थ हो गया।

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥७॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥८॥
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर-बानर केहि लेखे माहीं॥९॥

शब्दार्थ—मष्ट करना=चुप होकर रहना; यथा—"मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।"—(बा० दो० २७७)।

अर्थ—सभा में बैठा, तब यह खबर पाई कि सब सेना समुद्र पार आ गई है॥७॥ मंत्रियों से पूछा कि जो मत (सलाह) उचित हो, वह कहो। वे सब हँसे कि चुप होकर बैठे रहिये॥८॥ जब सुर-असुर को आपने जीता, तब तो कुछ श्रम हुआ ही नहीं, ये नर-वानर किस गिनती में हैं?॥९॥

विशेष—(१) 'बैठेउ सभा खबरि···'—ऐसी खबर देने का उचित स्थान सभा ही है, इसलिये रावण के वहाँ आ जाने पर दूतों ने कहा। पहले इन्हीं बातों को लेकर सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। इससे जान पड़ता है कि श्रीहनुमान्‌जी के लंका-दहन करके जाने के बाद से सबको यही चिंता लगी रहती थी, यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते··" ऊपर कहा ही गया है। अतः, सब इसीकी जासूसी

में रहते थे। 'सिंधु पार' = उस पार, दूसरी ओर का किनारा। एक तट के लोग दूसरे तट को उस पार कहते हैं।

(२) 'बूझेसि सचिव उचित मत ···'- उसके मत में 'श्रीसीताजी को दे दो, शत्रु से मेल कर लो'—यह अनुचित मत है। शत्रु मारे जायँ, श्रीसीताजी को नहीं देना पड़े—यही उचित मत है, यथा— "अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्र सुनीत चाभिधीयताम् ।" (वाल्मी० ६।१२।२५), अर्थात् जिससे श्रीसीताजी को नहीं देना पड़े और दोनों दशरथकुमार मारे जायँ, ऐसा विचार आपलोग निश्चित करें और उसके लिये निश्चित कर्तव्य बतलावें। आगे भी इसने ऐसा ही पूछा है, यथा—"सभा आइ मन्त्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सें जूझा॥" (लं० दो० ७), यहाँ उचित मत पूछने का भाव यह है कि उस पार चलकर लड़ें कि उन्हें इस पार उतर आने दें, या कैसे लड़ें ?

(३) 'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू'—इसलिये हँसे कि ऐसी बात कहने के योग्य नहीं है जो सुनेगा, क्या कहेगा ? कि राजा रावण लोकत्रय जीतकर आज नर-वानर से युद्ध करने के उपाय पूछते हैं ? देखिये, रावण ने मन्दोदरी की बात को हँसी में उड़ा दिया, और वही बात मन्त्रियों ने भी इसके साथ की, परन्तु इसपर रावण प्रसन्न ही हुआ कि जो बात मैंने मन्दोदरी से कही थी "जौं आवै मर्कट कटकाई ···" वही मन्त्रियों का भी मत है। मन्त्री लोगों ने हँसकर जनाया कि आप हमसे उचित कहने को कहते हैं और स्वयं अनुचित पूछते हैं, भला, नर-वानरों से लड़ाई के लिये भी सम्मति पूछी जाती है ?

(४) 'जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। ·'—जो सुर-असुर लेखे में हैं, अर्थात् उनमें बड़े-बड़े वीर हैं, उन्हें तो आपने जीत ही लिया। सुर से स्वर्ग लोक और असुर से पाताल लोक जीतना कहा, उसमें श्रम न हुआ, यथा—"रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये॥" (बा० दो० १८१)। तब ये मर्त्यलोक के नर-वानर किस गिनती में हैं, जिनके लिये उपाय सोचें।

दो०—सचिव बैद गुरु तीन जौं, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ बेगिहीं नास ॥३७॥

सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई ॥१॥

अर्थ—मन्त्री, गुरु और वैद्य ये तीन भय या आशा से, प्रिय बोलते हैं, तो राज्य, धर्म और शरीर, इन तीनों का शीघ्र ही नाश हो जाता है ॥३७॥ ये ही बातें रावण को सहायक हुई हैं, सब सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं ॥१॥

विशेष—'सचिव बैद गुरु ·'—यही दोहा दोहावली ५२४ में भी है, पर वहाँ 'मन्त्री गुरु अरु बैद ·' पाठ है। जिससे 'राज' धर्म, तन, तीनों के साथ क्रम ठीक बनता है। मन्त्री भय से ठकुर-सुहाती कहे, तो राज्य का नाश, गुरु अधर्म से न रोके तो धर्म का नाश और वैद्य भय से संयम न करावे और रोगी की हाँ में-हाँ मिला दे, तो रोगी के तन का शीघ्र ही नाश होता है। पर यहाँ पाठ में वैसा यथासंख्य अलंकार नहीं है, यह भी भाव गर्भित है कि जब ये तीनों रावण के विपरीत ही हैं, तब श्रीगोस्वामीजी ने शब्दों से भी वैषम्य प्रकट कर ही दिया।

मंत्री लोग पीछे तो कहते हैं—"जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥" "नहिं निसिचर कुल केर उबारा।" (दो० ५५)। और रावण के सामने भय से उसे सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं, यथा—"ते सन हँसे...जितेहु सुरासुर..." अतः, रावण का राज्य नाश होगा, यथा—"संग ते जती कुमंत्र ते राजा।...नासहिं बेगि..." अ० दो० २०); गुरु शिवजी डर से नित्य ही पुजाने आते थे; यथा—"संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवें।" (क० उ० २)। उन्होंने भी डर से इसे अधर्म करने से नहीं रोका, यथा—"संभु सेवक जान जग बहु बार दियो दस सीस। करत राम-बिरोध सो सपनेहुँ न हटकेउ ईस॥" (वि० २१६), इससे रावण का धर्म नाश होगा। यह राम-विमुख हो रहा है। वैद्य सुषेण इसी के यहाँ पला, पर संजीवनी द्वारा शत्रु पक्ष का कार्य किया, इत्यादि रीति से इसके सभी विपरीत हो रहे हैं। वही ग्रंथकार कहते हैं, यथा—'सोइ रावन कहँ बनी सहाई ...'—'बनी सहाई' अर्थात् संयोग आ बना है। कहा ही है—"भये निधि विमुख विमुख सब कोऊ" (अ० दो० १८१)।

अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता-चरन सीस तेहि नावा॥२॥
पुनि सिरनाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥३॥
जौ कृपाल पूछेहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता॥४॥

अर्थ—अच्छा अवसर जानकर श्रीविभीषणजी आये और भाई के चरणों में उन्होंने शिर नवाया॥२॥ फिर शिर नीचा करके (वा, शिर नवाकर) अपने आसन पर बैठे और आज्ञा पाकर वचन बोले॥३॥ हे कृपालु! जो आप मुझ से बात पूछते हैं तो हे तात! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार हित की बात कहता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'अवसर जानि'—(क) उचित उपदेश देने के योग्य अच्छा अवसर जानकर; यथा—"मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात॥" यह आगे स्पष्ट है। (ख) अभी तक इस कारण नहीं आये थे कि और-और मंत्रियों के मतों का खंडन करना पड़ता, जो रावण को न रुचता। जैसे आगे लं० दो० ८ में प्रहस्त ने खंडन किया तब रावण क्रुद्ध हुआ। या (ग) अपने नित्य के आने का अवसर जानकर।

बुद्धिमान् लोग अवसर जानकर ही कार्य करते हैं, इस समय रावण ने उचित उपाय के संबंध में प्रश्न किया है। ऐसा अवसर विशेषकर सभा के मध्य में ये चाहते थे और इन्हें पुलस्त्यजी के संदेशे का बल भी है अतः, संभवतः मेरी बात लग जाय और रावण का कल्याण हो जाय, यही विचार कर आये। 'भ्राता चरन सीस ...'—सबलोगों ने राजा मानकर प्रणाम किया। इन्होंने ज्येष्ठ भ्राता को पिता के तुल्य मानकर विशेष भक्ति सहित प्रणाम किया। आगे—'तुम्ह पितु सरिस भले ...' कहा ही है।

(२) 'पुनि सिर नाइ ...'—सब के आसन नियमित हैं। बड़ों के सामने प्रणाम करके और शिर नीचा करके आसन पर बैठना चाहिये, वैसे ही ये बैठे और यह भी नीति है कि बिना पूछे न बोले, इससे ये आज्ञा पाकर बोले। 'पाइ अनुसासन'—और मंत्रियों के मत से रावण को संतोष नहीं हुआ था, इसीसे इनके आते ही वही प्रश्न इनसे भी किया गया। ये सब मंत्रियों में प्रधान थे, इससे भी सबके पीछे इनसे पूछा जाना योग्य ही था।

(३) 'जौ कृपाल पूछेहु मोहिं ...'—भाव आप बहुत कुछ जानते हैं, पर मुझसे पूछा, यह आपने

कृपा करके मुझे बड़ाई दी। भाव यह कि मैं उपदेश देने योग्य नहीं हूँ, केवल अपनी मति के अनुसार आपके हित की बात ही कहता हूँ। उपदेश देना नहीं कहा, क्योंकि उससे रावण चिढ़ता है; यथा—"मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं॥" (दो० २१) "गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।" (आ० दो० २५); 'मति अनुरूप'—इस तरह कहने की रीति है; यथा—"मैं निजमति अनुसार, कहउँ उमा···" (बा० दो० १२०) ; इससे अपनी बुद्धिमत्ता का अभिमान नहीं पाया जाता

यह भी भाव है कि और लोगों की मति में—'नहिं निसिचर कुल केर उबारा।'; 'तेहि आये पुर कवनि भलाई।' है; पर आपके सामने आपकी मति के अनुरूप कहते हैं। मैं वैसा नहीं कहता, किन्तु अपनी ही मति के अनुरूप कहता हूँ। इनके वचन शुद्ध साधुता की रीति से हैं।

यही बात आगे शुक ने भी कही है ; यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥" (दो० ५१); पर उसमें 'मानहु' और 'क्रोध तजि' से पहले ही उसने रावण को हठी और क्रोधी सिद्ध किया।

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥५॥
सो परनारि - लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥६॥

अर्थ—हे गोस्वामी! जो अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुन्दर मति, शुभ गति और अनेक प्रकार के सुख चाहे; वह परस्त्री के ललाट को चौथ के चन्द्रमा की तरह त्याग दे ; क्योंकि इसके देखने में कलंक है॥५–६॥

विशेष—(१) 'जो आपन चाहइ···'ये सब सामान्य रीति से औरों पर लगाकर उपदेश देते हैं जिससे वह क्रोध न करे। रावण काम, क्रोध, लोभ तीनों के वश में है, इसलिये अभी उसे परोक्ष रीति से कहते हैं—'पर नारि लिलार' से काम, 'भूत द्रोह' से क्रोध और 'अलप लोभ' से लोभ को त्यागने के लिये कहते हैं; पर वह इस तरह के कथन को न समझने का ढोंग दिखाकर टाल देगा, क्योंकि वह अभिमानी है, अपनेमें दोष न मानेगा। तब दोहे में अपरोक्ष रीति से भी कहेंगे ; यथा—"काम क्रोध मद लोभ···"

यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में श्रीसीताजी के लौटाने की बात कहना है इसलिये 'पर नारि लिलार' प्रथम कहा है और दोहे में 'काम' दोष को। पर नारि लिलार (मुख देखना कामुकता-रूपी दोष है, इसको विस्तार से कहते हैं कि इससे पाँच बातों का नाश होता है—(१) सुयश का नाश; यथा—"कामी पुनि कि रहइ अकलंका।" (उ० दो १११); (२) सुमति का नाश; यथा—"मुनि अति विकल मोह मति नाँठी।" (बा० दो० १३४); (३) शुभगति का नाश; यथा—"सुभगति पाव कि परतिय गामी।" (उ० दो० १११) (४) नाना प्रकार के सुख का नाश, यथा—"अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।" (आ दो० ४४)। (५) कल्याण का नाश, यथा—"तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥" (दो० ३५); इन पाँचों बातों का परस्त्री-अनुरक्ति से नाश होता है और ये पाँचों सत्संग से प्राप्त होती हैं, देखिये बा० दो० २ चौ० ५–६ भी। श्रीविभीषणजी संत हैं। उन्होंने पर-स्त्री-चिंतन को इस तरह त्याग दिया है कि मुख से उसका नाम तक नहीं लेते, किन्तु 'लिलार' से जनाते हैं। स्त्री के मुख की उपमा चौथ के चन्द्रमा से दी जाती है। उसमें ललाट मात्र चन्द्रमा के आकार का रह जाता है। उसे भी देखना कलंक है। अतः, उसका त्यागना ही उचित है। यहाँ काम से पाँच बातों का नाश होना कहा। आगे क्रोध

और लोभ पर कहते हैं। 'गोसाईं' का भाव यह है कि आप राजा हैं, राजा का आचरण ही प्रजा के लिये आदर्श होता है। अतः, आप स्वयं पर-स्त्री का त्याग करें और जो दूसरा पर-स्त्री ग्रहण करे उसे दंड दें।

चौदह भुवन एक पति होई। भूत-द्रोह तिष्टइ नहिं सोई ॥७॥

गुन - सागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहइ न कोऊ ॥८॥

दोहा—काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।

सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि संत ॥३८॥

अर्थ—जो चौदहो भुवनों का अकेला ही स्वामी हो, वह भी भूत (जीव) द्रोह से ठहर नहीं सकता (नष्ट हो जाता है) ॥७॥ जो मनुष्य गुणों का सागर (सर्व गुण-पूर्ण) और चतुर हो, उसको भी चाहे थोड़ा ही लोभ क्यों न हो, तो भी कोई अच्छा नहीं कहता। ८ हे नाथ ! काम, क्रोध, मद, लोभ—ये सब नरक के मार्ग हैं, इन सबको छोड़कर रघुवीर श्रीरामजी को भजो, जिन्हें संत भजते हैं। ३८।

विशेष—(१) 'भूत द्रोह'—से यहाँ जीव-मात्र के द्रोह का भाव है, भूत-द्रोही ईश्वर का भी द्रोही है, क्योंकि ईश्वर सर्व भूतमय है; यथा—"जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई ॥" (उ० दो १०१); "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥" (गीता १६।१८) भूत द्रोह भारी पाप है; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३८) ऐसे पाप से नाश होता है; यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (लं० दो० १०८)।

(२) 'गुन सागर नागर नर जोऊ।...'—उपर्युक्त काम और क्रोध समय टल जाने पर शान्त भी हो जाते हैं, परन्तु लोभ थोड़ा भी हो तो वह बढ़ता ही जाता है; यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं० दो० १००); लोभ अल्प भी रहता है तो गुण-सागरों की भी निन्दा होती है; यथा—"लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति चित्रो रूपमिवोप्सितम्" (श्रीमद्भागवत); अर्थात् थोड़ा भी लोभ गुण-समूह को नष्ट कर देता है, जैसे थोड़ा-सा कुष्ट सुन्दर रूप को।

(३) 'काम क्रोध मद लोभ सब...'—अभी तक सबको पृथक्-पृथक् कहा गया था। अब एक साथ कहकर उनका त्यागना कहते हैं, अतएव युक्ति से रावण में इन सबका होना जना दिया। कहने का मुख्य प्रयोजन इनका त्याग कराने के लिये था। अतः, उसे प्रकट रूप में कहा। 'नरक कर पंथ'; यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत्॥" (गीता १६।२१); कामादि नरक के मार्ग हैं, इनका त्याग करो और हरि-भजन मोक्ष का मार्ग है, अतएव उसको ग्रहण करो; यथा—"संत-संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३); पहले कामादि से सुयश आदि का नाश होना कहा गया था और अब उन्हें नरक का मार्ग कहा जाता है। भाव यह है कि ये कामादि दोनों लोक का नाश करते हैं।

इसमें 'पंथ' और 'संत' में अनुप्रयास का मिलान नहीं है, क्योंकि नरक के मार्ग से संत का सम्पर्क भी नहीं रहता। अतः, इसी भाव से मिलान नहीं है। केवल एक ही मात्रा का मेल है। ऐसे ही—"चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं॥" इत्यादि अन्यत्र भी हैं।

(४) 'सब परिहरि'''—संत जब विचार करके निश्चय कर लेते हैं, तब सबको त्याग कर श्रीरामजी का भजन करते हैं; यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति।" (बृह० ३।५।१); अर्थात् उस आत्मा को जानकर; पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा त्याग कर ब्राह्मण भिक्षाचरण करते हैं। तथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिय तहँ भरता।'''सुत कहँ राज समर्पि बन, जाइ भजिय रघुनाथ।" (लं० दो० ६)। यहाँ तक अपनी मति के अनुरूप ही कहा, अब आगे श्रीपुलस्त्यजी का सँदेशा कहते हैं—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥१॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥२॥

अर्थ—हे तात! श्रीरामजी मनुष्य रूप राजा नहीं हैं, वे (समस्त) भुवनों (ब्रह्मांडों) के स्वामी और काल के भी काल हैं॥१॥ ब्रह्म हैं, अविद्या जन्य रोगों से रहित हैं, अजन्मा हैं, षडैश्वर्ययुक्त, व्यापक, जीतने के अयोग्य, आदि रहित और अन्त रहित हैं॥२॥

विशेष—(१) 'तात राम नहिं नर'''—श्रीविभीषणजी रावण को पहले विकारों का त्यागना कहकर तब उसे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं, यही नियम भी है; यथा—"करहु हृदय अति निर्मल बसहिं हरि कहि कहि सबहि सिखावौं। हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसावौं।" (वि० १४२)। रावण को श्रीरामजी के ईश्वरत्व में संदेह है, उसने श्रीरामजी को मनुष्य ही माना है; यथा—"नर कर करसि बखान" (लं० दो० २५); इसी पर कहते हैं; यथा 'राम नहिं नर भूपाला।' 'भुवनेश्वर'—भुवन का अर्थ ब्रह्मांड है; यथा—"देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥'''अवधपुरी प्रति भुवन निनारी।'''" (उ० दो० ७१-८०)। ब्रह्मांड अनेकों हैं, और श्रीरामजी इन सब के स्वामी हैं ब्रह्मांडों को भी काल खाता है; यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥'''ते फल भच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (आ० दो० १२); परन्तु श्रीरामजी काल के भी काल (भक्षक) हैं; यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई।" (लं० दो० ६७); इस तरह श्रीरामजी को भुवन (देश) और काल के भी प्रवर्तक एवं देश-कालातीत सिद्ध किया। अतः, उन्हें 'ब्रह्म' कहा गया है। फिर 'अनामय अज' ब्रह्म के विशेषण कहे गये हैं। प्रभु अनामय अर्थात् अविद्या आदि रोगों से रहित हैं, इसी से कर्मवश उनका जन्म नहीं होता, किन्तु अज हैं। जन्म तो देखा जाता है—इसका समाधान 'भगवंता' शब्द से करते हैं कि वे षडैश्वर्य से जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं, अतएव स्वेच्छा से अवतार लेते हैं; यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप" (उ० दो० ७२); 'व्यापक' हैं, अर्थात् व्याप्य-भूत जगत्-मात्र के आधार होते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। इसी से 'अजित' हैं, उन्हें कोई जीतकर अधीन नहीं कर सकता। पुनः 'अनादि अनन्ता' हैं; यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (बा० दो० ११७)।

गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी। कृपासिंधु मानुष-तनु-धारी॥३॥
जनरंजन भंजन खलब्राता। वेदधर्म रच्छक सुनु भ्राता॥४॥

अर्थ—पृथिवी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओं के हित करने वाले हैं; कृपा के सागर हैं (कृपा से)

मनुष्य-शरीर धारण करते हैं ।३॥ हे भाई ! सुनिये, श्रीरामजी जनों के आनन्द देनेवाले, दुष्टसमूह के नाशक वेद और धर्म के रक्षक हैं ।४।

विशेष—(१) 'गो द्विज धेनु···' उपर्युक्त 'नहिं नर भूपाला' की पुष्टि में कहते हैं कि प्रभु ने इस समय पृथिवी आदि के हित के लिये कृपा करके मनुष्य का शरीर धारण किया है ; यथा—"तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥ सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी " (बा० दो० १२) ; भाव यह है कि देखने में तो ये नर मालूम पड़ते हैं, परन्तु नर नहीं हैं, ब्रह्म हैं । गो-द्विज आदि के लिये कृपा करके इन्होंने अवतार लिया है । रावण ने भी पहले ऐसा अनुमान किया था; यथा—"सुररंजन भंजन महि-भारा । जौ भगवंत लीन्ह अवतारा " (आ दो० २२) ; पर जब वह कंचन-मृग द्वारा उनकी परीक्षा के लिये गया, तब उसने प्रभु का मनुष्य होना ही निश्चत किया ।

(२) 'जन रंजन भंजन खल ब्राता ।···' ; यथा "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।" (गीता ४।८) ; यहाँ श्रीविभीषणजी ने युक्ति से जना दिया कि जिनके तुम विरोधी हो, श्रीरामजी ने उन्हीं की रक्षा के लिये अवतार लिया है । अतः, वैर रक्खोगे तो उनसे बच नहीं सकोगे —

श्रीरामजी	रावण—(बा० दो० १८२–१८३) ।
गो-द्विज धेनु देव हितकारी	जेहि जेहि देस धेनु द्विज···आगि लगावहिं
जन रंजन	साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।
भंजन खल ब्राता	बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे···
वेद-रक्षक	तेहि बहु विधि त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना
धर्म-रक्षक	जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला । सो सब करहिं···

तात्पर्य यह है कि तुम्हारे मारने के लिये ब्रह्म ही नर-तन-धारण किये हुए है ; क्योंकि तुम्हारी मृत्यु मनुष्य के हाथ से निर्णीत है । अतः, इनसे वैर करोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है ।

ताहि बैर तजि नाइय माथा । प्रनतारति - भंजन रघुनाथा ॥५॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही । भजहु राम बिनु हेतु सनेही ॥६॥

अर्थ—वैर छोड़कर उनको शिर नवाइये, श्रीरघुनाथजी शरणागत के दुःख नाश करनेवाले हैं ॥५॥ हे नाथ ! प्रभु को वैदेही दे दीजिये और बिना कारण ही स्नेह करनेवाले श्रीरामजी को भजिये ॥६।

विशेष—(१) 'नाइय माथा'—बस, केवल इसी की आवश्यकता है, कुछ भेंट-पूजा की आवश्यकता नहीं है ; यथा "बलि पूजा चाहै नहीं चाहै एक प्रीति " (वि० १०७) । "भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है । ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है ।" (वि० १३५); "सकृत प्रनाम किये अपनाये ।" (अ० दो० २९८), 'प्रनतारति भंजन ··'—आर्त्त-वाणी सहित प्रणाम करो ; यथा —"प्रनत पाल रघुबंसमनि, त्राहि त्राहि अब मोहिं । आरत गिरा सुनत प्रभु , अभय करै गो तोहिं ॥" (सुं० दो० २०) ; अर्थात् 'त्राहि त्राहि' कहना ही आर्त्त-वाणी है, ऐसे ही श्रीविभीषणजी स्वयं

भी शरणागत हुए हैं ; यथा – "त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर अस कहि करत दंडवत देखा।" (दो॰ ४५) ; 'रघुनाथा' पद से उपर्युक्त ऐश्वर्य को इन्हीं रघुकुलोद्भव श्रीरामजी में घटित किया गया है , यथा—"जेहि निधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ।।" (बा॰ दो॰ २४१) ।

(२) 'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही'''—श्रीविभीषणजी ने हाथ जोड़कर याचना करते हुए 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है —'नाथृ-याचने' धातु से 'नाथ' शब्द निष्पन्न होता है 'प्रभु' अर्थात् वे समर्थ हैं, न दोगे, तो बल-पूर्वक ले लेंगे, फिर तुम्हारी कुछ न चलेगी 'राम बिनु हेतु सनेही' ; यथा – "अस प्रभु दीन बंधु हरि, कारन रहित दयाल " (बा॰ दो २११), "सहज सनेही राम सों ''" (वि १९५) ! 'देहु · बैदेही'—भाव यह है कि जैसे विदेहराज ने इन्हें श्रीरामजी को अर्पण करके यश पाया है, वैसे ही तुम भी अर्पण करो। देखिये दो॰ २१ चौ॰ १० भी।

सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा ।।७।।
जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन ।।८।।

अर्थ—शरण जाने पर प्रभु ने उसको भी नहीं त्यागा, जिसको संसार-भर से द्रोह करने का पाप लगा हो।७। जिनका नाम तीनों (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों का नाशक है, वही प्रभु प्रकट हुए हैं, हे रावण ! ऐसा हृदय में समझो ।८।।

विशेष—(१) 'सरन गये प्रभु ''—यदि रावण को अपने पापों के कारण यह भय हो कि मुझ ऐसे पापी को वे शरण में न रक्खेंगे। तो कहते हैं—'सरन गये ' ' रावण भी विश्वद्रोही है ; यथा —"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी " (लं॰ दो॰ १०८) ; 'प्रभु' अर्थात् शरण जाने पर ऐसे पापों को नष्ट करने में वे समर्थ हैं , यथा —"सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ।।" (दो॰ ४४) ; "जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।। ''करउँ सद्य तेहि साधु समाना ।।" (दो॰ ४७) ।

(२) 'जासु नाम त्रय ताप नसावन। ' '—रामनामाराधन से तीनों ताप नाश होते हैं ; यथा "राम-राम-राम जीह जौं लौं तू न जपि है। तौ लौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपि है ।।" (वि॰ ६८) , पुन "हेतु कृसानु भानु हिम कर को " (बा॰ दो॰ १८) ; के अर्थ में राम-नाम से वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का प्राप्त होना कहा गया है। उनमें वैराग्य से दैहिक ताप, ज्ञान से भौतिक और भक्ति से दैविक ताप दूर होते हैं।

'समुझु जिय रावन'—यह श्रीपुलस्त्यजी का कथन है, श्रीविभीषणजी तो तात, नाथ आदि ही कहते आये हैं।

दोहा—बार • बार पद लागउँ, बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस ।।
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात ।।३९।।

अर्थ—हे दशशीश ! मैं बार-बार चरणों में लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मद को छोड़कर कोशलाधीश श्रीरामजी का भजन करो। पुलस्त्य मुनि ने अपने शिष्य द्वारा यह बात कहला भेजी है हे तात ! सुन्दर अवसर पाकर उसे मैंने आप से कहा है ३६॥

विशेष—(१) 'बार-बार पद लागउँ ···'—संदेशा तो श्रीपुलस्त्यजी का कह रहे हैं, पर चरण-स्पर्श आदि नम्रता वे अपनी ओर से दिखाते हैं, क्योंकि नम्रता-युक्त उपदेश सफल होता है। अत, बड़े लोग ऐसा ही करते हैं, यथा "औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि " (उ दो॰ ४५) ; 'परिहरि मान मोह मद' काम, क्रोध, मद और लोभ का त्यागना पहले कहा ही था, यहाँ मान और मोह का त्यागना भी कहकर षड्विकारों की पूर्त्ति की। मान त्रिलोक विजय का, मोह श्रीरामजी में नर-दृष्टि का और अपने बल आदि का मद। 'भजहु'—भजन करना ही इनका सिद्धान्त है, इसी से बार-बार इसे ही कहते हैं ; यथा—'रघुबीर पद भजहु' 'भजहु राम' और यहाँ 'भजहु कोसलाधीस'। 'तुरत सो मैं · '— संदेशा शीघ्र कह देने का मुझे आदेश था, इसलिये शीघ्र मैंने सुना दिया संदेशा शीघ्र कह डालने की रीति भी है, यथा - "तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत · " (दो॰ ५१) ; ये दूत श्रीलक्ष्मणजी का संदेशा रावण के लिये ले गये हैं। श्रीपुलस्त्यजी ने शिष्य के द्वारा श्रीविभीषणजी को और श्रीविभीषणजी ने स्वयं यहाँ संदेशा पहुँचाया, क्योंकि श्रीपुलस्त्यजी जानते हैं कि रावण दुष्ट है, कहीं मैं कहने जाऊँ और उसने नहीं माना तो इससे मेरा अपमान होगा। दूत के द्वारा कहने से भी मेरा अपमान ही करेगा, श्रीविभीषणजी सुअवसर देखकर और समझाकर कहेंगे, इसीलिये उन्होंने ऐसा किया।

इस प्रसंग में नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों कहे गये हैं ; यथा—"तात राम नहि नर भूपाला।" से 'मानुष तनु धारी " तक रूप, "जन रंजन भंजन खल ··"—लीला, "जासु नाम · "—नाम और 'भजहु कोसलाधीस'—में ध्वनि से धाम-माहात्म्य है।

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना ॥१॥
तात अनुज तव नीति-बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन ॥२॥

अर्थ—माल्यवान् वयोवृद्ध एवं अत्यन्त चतुर मंत्री है, उसने श्रीविभीषणजी के वचन सुनकर अत्यन्त सुख माना ॥१॥ (और रावण से बोला—) हे तात ! तुम्हारे छोटे भाई नीति विभूषण हैं। अत, श्रीविभीषणजी जो कुछ कहते हैं, उसी को हृदय में धारण करो ॥२॥

विशेष—(१) 'माल्यवंत अति ', यथा—"माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्री बर॥" (लं॰ दो॰ ४६), यह वयोवृद्ध है और इसने देश-काल का बहुत अनुभव किया है और नीति शास्त्र को भी पढ़ा है यथा—"बोला बचन नीति अति पावन " (लं॰ दो॰ ४६), 'अति सयाना' है, अतएव 'अति सुख माना' और-और मंत्रियों के वचन से इसने अति दु ख माना था—यह भी इसमें गर्भित है। दूसरे-दूसरे मंत्रियों ने श्रीविभीषणजी के मत में 'हाँ' नहीं की, क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात रावण की प्रकृति के विरुद्ध है और उन्होंने श्रीविभीषणजी को राजा के भाई एवं प्रधान मंत्री मानते हुए इनके मत का खंडन भी नहीं किया। हृदय से तो वे भी ऐसा चाहते ही थे, पर रावण के भय से उन्होंने इसमें अपनी सम्मति नहीं दी।

(२) 'तात अनुज तव नीति-बिभूषन। ··'—माल्यवान् धर्म का ज्ञाता है, अत यदि इसका समर्थन

नहीं करता तो दोष का भागी होता। उसे रावण का उतना भय भी नहीं था, क्योंकि वह उसका नाना लगता था, इससे उसने इसका अनुमोदन किया। 'नीति विभूषन'—इनके द्वारा नीति शोभा पा रही है। यहाँ विभीषणजी ने उत्तम नीति कही है। बड़ों से वैर करना नीति-विरुद्ध है, इसी से इन्होंने श्रीरामजी की बड़ाई दिखाकर बार-बार वैर छोड़ने और उनसे प्रीति करने को कहा है। 'तव अनुज'—अर्थात् तुम्हारा छोटा भाई है, उत्तम नीति कहता है, इसका मान रक्खो, जैसा कि वे स्वयं भी आगे कहेंगे; यथा—"तात चरन गहि मागउँ, राखहु मोर दुलार।"। 'सो उर धरहु' दूसरे-दूसरे मंत्रियों का मत त्यागकर विभीषण का ही मत हृदय में धारण करो।

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ॥३॥
माल्यवंत गृह गयेउ बहोरी। कहइ विभीषन पुनि कर जोरी ॥४॥

अर्थ—दोनों शठ शत्रु की बड़ाई करते हैं, इन्हें दूर नहीं करता, यहाँ कोई है? ॥३॥ तब माल्यवान् तो घर चला गया, विभीषणजी हाथ जोड़कर फिर कहने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'रिपु उतकर्ष कहत···'—भाव यह है कि ये दोनों (विभीषण और माल्यवान्) शत्रु से मिले हुए हैं, इसी से उसकी बड़ाई करते हैं, अतएव ये इस सभा के योग्य नहीं है। 'रिपु उतकर्ष' कहकर विभीषण के वचनों को उड़ा दिया कि उधर मिले हुए हैं, इसी से उसकी झूठी बड़ाई करते हैं, यथा—"जिन्ह के कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई।" (दो॰ २४); 'इहाँ है कोऊ'—मानों यहाँ कोई है ही नहीं कि सभी ऐसी बातें सुनते हैं और कुछ बोलते नहीं। जब दूसरे-दूसरे मंत्रियों ने हमारी प्रशंसा की, तब तो यह बूढ़ा मंत्री कुछ नहीं बोला और जब इसने शत्रु की बड़ाई सुनी, तब प्रसन्न हो उठा।

शत्रु की बड़ाई सुनने पर रावण को क्रोध होता है; यथा—"आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं॰ दो॰ २८), इतना क्रुद्ध इससे भी हुआ कि अभी तो ये दो ही हैं, कहीं इनकी संख्या और न हो जाय।

(२) 'माल्यवंत गृह गयउ बहोरी।···'—यह सयाना है, इससे स्वयं उठ गया कि दूसरा पकड़कर उठायेगा तो अपमान होगा। 'बहोरी' का भाव यह कि जब कुमंत्रियों ने सलाह दी थी, तब भी यह उठकर चला गया था, क्योंकि इसे वह सलाह नहीं रुची थी। श्रीविभीषणजी को आते देखकर आया था कि ये अच्छी सम्मति देंगे तो मैं भी इनका समर्थन करूँगा। अब फिर दूसरी बार उठकर घर चला गया। श्री-विभीषणजी संत हैं, ये रावण का हित ही चाहते हैं, इनको अपने मानापमान का ध्यान नहीं है, इसी से फिर हाथ जोड़कर बोले। 'पुनि' से जाना गया कि पहले भी हाथ जोड़कर ही बोले थे।

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥५॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥६॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥७॥
कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥८॥

अर्थ—हे नाथ! वेदपुराण ऐसा कहते हैं कि सुमति और कुमति सबके हृदय में रहती हैं ॥५॥ जहाँ

सुमति है, वहाँ अनेक प्रकार की सम्पत्ति रहती है और जहाँ कुमति है, वहाँ अन्त में विपत्ति ही है ॥६॥ तुम्हारे हृदय मे कुमति बसी है, इसी से तुम उलटा ही मानते हो। हित को अनहित (शत्रु) और शत्रु को मित्र मानते हो ॥७॥ जो राक्षस कुल की कालरात्रि (नाश करनेवाली) है, उस सीता पर तुम्हें बहुत प्रीति है ॥८॥

विशेष—(१) 'सुमति कुमति सबके उर···'—रावण इन्हें (विभीषण और माल्यवान दोनों को) शठ कहकर कुमति कहा है। उसी पर कहते हैं कि कुमति-सुमति कहने-मात्र से नहीं होतीं, इनके ये चिह्न हैं। 'उर रहहीं' अर्थात् ऊपर से नहीं दिखलाई पड़तीं। 'विपति निदाना' का दुःख और नाश भी अर्थ है, यथा—"देहि अगिनि तन करहि निदाना।" (दो॰ ११); यहाँ पहले विपत्ति पड़ेगी, फिर नाश होगा। आगे—'काल राति निसिचर कुल···' से नाश का भाव कहा भी गया है।

(२) 'तव उर कुमति बसी···'—सबके हृदय में तो सुमति-कुमति दोनों रहती ही हैं, पर आपके हृदय मे कुमति ही आ बसी है, जिससे सब उलटा ही समझते हैं। मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र मान रहे हैं। हमलोग हित हैं, उन्हें आप अनहित समझते हैं और जो ठकुरसुहाती कहनेवाले कुमंत्री लोग हैं, उन्हें हित मानते हैं। इससे कुल-भर का नाश हो जायगा ; यथा—"हित पर बढ़ै विरोध जब, अनहित पर अनुराग। राम बिमुख बिधि बाम गति, सगुन अघाइ अभाग॥" (दोहावली ४२०)।

(३) 'काल राति निसिचर···', यथा—"यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलंकाविनाशिनीम्।" (वाल्मी॰ ५।५१।१७); भाव यह कि सब रातें निशाचरों को सुखदाइनी ही होती हैं, परन्तु काल-रात्रि मे तो उनका नाश ही होता है। उसी तरह और स्त्रियों का हरण तुम्हें सुखदाई हुआ, पर सीताहरण से तो तुम्हारा नाश ही होगा। यथा—"तव कुल कमल विपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई।" (दो॰ ३५) ; आगे नाश हुआ ही ; यथा—"रहा न कोउ कुल रोवनि हारा।" (लं॰ दो॰ १०२)।

दोहा—तात चरन गहि माँगउँ, राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ, अहित न होइ तुम्हार ॥४०॥

बुध पुरान श्रुति-संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी ॥१॥

अर्थ—हे तात। मैं आपके चरण पकड़कर माँगता हूँ, मेरा दुलार (प्यार) रखिये, श्रीरामजी के लिये श्रीसीताजी को दे दीजिये, जिससे आपका अनहित नहीं हो ॥४०॥ श्रीविभीषणजी ने बुध (पंडित), पुराण और वेदों के अनुकूल वचनों के द्वारा उत्तम नीति बखान कर कही ॥१॥

विशेष—(१) 'राखहु मोर दुलार'—जब रावण ने पुलस्त्यजी का भी उपदेश नहीं सुना, तब विभीषणजी अपना दुलार ही आगे रखते हैं। रावण कठोर है, इसलिये चरण पकड़कर माँगते हैं कि यह भी तो कहने को होगा कि छोटा भाई मचल गया, इसीलिये रावण ने उसके प्यारवश श्रीसीताजी को दे दिया। महात्मा लोग पाँव पकडकर भी दूसरे की भलाई करते हैं—यही यहाँ चरितार्थ है।

ये प्रत्येक अवस्था मे अपनी साधुता से रावण का हित ही करते रहे और इनके चित्त मे विकार नहीं आया। जैसे कि आदर मे—"भ्राता चरन सीस तेहि नावा।" और कहा—"मति अनुरूप कहउँ हित

ताता।" निरादर में—"तात चरन गहि मागउँ "सीता देहु अहित न होइ " मारने पर भी—"अनुज गहे पद " "राम भजे हित नाथ " यही इनकी साधुता आगे—'उमा संत कै ' से सराही जायगी।

(७) 'बुध पुरान श्रुति '—पहले के कथन की सराहना माल्यवान् ने की थी, इसबार कोई नहीं बोला, परन्तु यह वाणी भी प्रशंसा योग्य है। अत, वक्ता लोग ही सराहते हैं कि विभीषण की वाणी बुध आदि के अनुकूल है, इसके उपक्रम मे—'नाथ पुरान निगम अस कहहीं।' कहा गया है। यह वाणी बुध, बृहस्पति, शुक्राचार्य आदि के भी अनुकूल है। रावण वेद पुराणों से चिढता है, यथा—"तेहि बहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह वेद पुराना।" (बा॰ दो॰ १८१), इसी से वह श्रीविभीषणजी पर भी चिढ गया और उन्हें मारा एव अपने देशसे भी निकाल दिया।

सब वाणी बुध आदि-सम्मत है। विभाग करके यों भी कहा जा सकता है—अनुकूल अवसर समझ कर आना और पूछे जाने पर कहना बुध-सम्मत है। 'जो आपन चाहै कल्याना।' से 'भजहिं जेहि संत।' तक पुराण सम्मत, 'तातराम नहिं नर भूपाला।' से 'सोइ प्रभु प्रगट ' तक श्रुति-सम्मत, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन वेद-सम्मत है और 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं।' से 'सीता देहु राम कहँ ' तक नीति-शास्त्र का मत है।

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥२॥
जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ तोहि भावा॥३॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुज बल जाहि जिता मैं नाहीं॥४॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥५॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा॥६॥

अर्थ—उसे सुनकर रावण क्रुद्ध हो उठा (और बोला—) अरे दुष्ट! अब तेरे समीप मृत्यु आ गई॥२॥ अरे शठ! तू सदा से मेरे जिलाये जीता रहा (अर्थात् बचपन से मैंने ही तुझे पाला-पोसा), पर अरे मूढ! तुझे शत्रु का ही पक्ष प्रिय लगता रहा है॥३॥ अरे दुष्ट! कहता क्यों नहीं कि संसार मे ऐसा कौन है, अपनी भुजाओं के बल से जिसे मैंने न जीता हो॥४॥ मेरे नगर मे रहकर तपस्वियों से प्रीति रखता है, (तो) अरे शठ! उनसे ही जाकर मिल और उनसे ही नीति कह॥५॥ ऐसा कहकर लात मारी, छोटे भाई श्रीविभीषणजी ने बारबार चरण पकड़े। ६॥

विशेष—(१) 'सुनत दसानन उठा रिसाई। '—इससे पहिले रावण ने सभासदों से भी कहा था—'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ' परन्तु कोई उठा तक नहीं। इसीलिये अब की बार स्वय मारकर निकालने के लिये उठा। 'सुनत'—जिन बातों से माल्यवान् आदि नीति निपुणों को हर्ष हुआ, वे ही बातें रावण के क्रोध का कारण हुईं, क्योंकि यह काल-वश है, यथा—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं॰ दो॰ ६) 'उठा रिसाई'—क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा हो गया है कि जो कोई उसे श्रीसीताजी को वापस देने को कहता है, उसी पर वह क्रुद्ध होता है और उसे मारने पर तुल जाता है, यथा—"मारे कहे जानकी दीजै।" (दो॰ २१) यह श्रीहनुमान्जीने कहा था, उसपर भी इसने कहा—"मृत्यु निकट आई वेगि न हरहु मूढकर प्राना॥" पुन—"जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ

तेही ॥" (दो० ५७)—शुक को, तथा—"परिहरि बैर देहु बैदेही ।...ताके वचन बान सम लागे ।...बूढ़ भयेसि न त मरतेहुँ तोही ।" (लं० दो० ४७)—माल्यवान् को, इत्यादि ।

पहले भी श्रीविभीषणजी ने कहा था—"देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही '..." पर वह पुलस्त्यजी का वचन था, इसीलिये रावण ने इन्हें केवल अपने यहाँ से निकाल देने की आज्ञा दी थी और इस बार इन्होंने अपनी ओर से कहा, इसीसे वह इन्हें मारने चला । 'खल तोहि निकट मृत्यु...'—श्रीविभीषणजीने अभी ही कहा है; यथा—'तव उर कुमति बसी बिपरीता ।' वह अब प्रत्यक्ष हो रहा है कि मृत्यु इसकी निकट है, पर कहता श्रीविभीषणजी को है ।

(२) 'जियसि सदा सठ...'–मेरे ही जिलाने से जीता आया और मेरे मारने से मरेगा, तब मुझसे बैर करना तेरी मूढ़ता है, बैर का कारण रिपु का पक्ष लेना है, इसी से रावण ने इसके साथ ही 'मूढ़' कहा है ; यथा - "तासों तात बैर नहिं कीजै । मारे मरिय जियाये जीजै ॥" (.आ० .दो २४); रावण बुद्धि-विपर्यय से ऐसा कहता है, यथार्थतः श्रीविभीषणजी के द्वारा उसीका जीवन है; यथा "अस कहि चला बिभीषन जबहीं । आयु हीन भये सब तबही ॥" (दो० ४१) । और 'खल' 'सठ' 'मूढ़' रावण स्वयं है, परन्तु कहता विभीषणजी को है ।

(३) 'कहसि न खल अस...' तू मेरे पराक्रम की अवहेलना करके शत्रु का पराक्रम बखानता है, कह तो मैंने किसे नहीं जीता ? वह भी सेना के बल से नहीं 'भुजबल' से ; यथा "भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र ।" (बा० दो० १८२), "भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥" (लं० दो० ७); इत्यादि ।

(४)'मम पुर बसि...'—मेरे राज्य में सुख से रहता है, परन्तु तपस्वियों पर प्रीति रखता है, जहाँ कुछ सुख नहीं । इससे तू शठ है, राज्यसुख भोगने के योग्य नहीं है । तू अभी भी छली है और आगे भी छल करेगा ।.अतः, यहाँ से जा और उन्हीं तपस्वियों से मिलकर उन्हें नीति सिखा ; क्योंकि वे नीति नहीं जानते, इसी से एक स्त्री के कहने से राज्य छोड़कर वन-वन फिर रहे हैं, मैं तो नीति जानता ही हूँ, इसी से बहुत काल से राज्य करता आया हूँ । उपर्युक्त 'कही बिभीषन नीति बखानी ।' के उत्तर में यह वचन है—'तिन्हहिं कहु नीती ।' विभीषणजी के उत्तम भविष्य ने उससे ऐसा कहला दिया ।

(५) 'अस कहि किन्हेसि चरन प्रहारा···'—चरण प्रहार करने का भाव यह है कि शत्रु के पक्ष-समर्थन के लिये तू बार-बार चरण पकड़ता है, इससे तुझे उसी चरण से दंड देना चाहिये । श्रीविभीषणजी ने फिर भी बार-बार चरण पकड़ कर प्रणाम ही किया और आदि से अंत तक अपनी साधुता निबाही । देखिये दो० ४० भी ।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥७॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा । राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥८॥
सचिव संग लै नभ-पथ गयेऊ । सबहि सुनाइ कहत अस भयेऊ ॥९॥

दोहा—राम-सत्य संकल्प प्रभु, सभा काल-बस तोरि ।
मैं रघुबीर-सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि ॥४१॥

अर्थ—हे उमा! सन्त की यही बड़ाई है कि जो बुराई करने पर भी भलाई करे ॥७॥ (श्रीविभीषणजी ने कहा) आप पिता के समान हैं, जो मुझे मारा, अच्छा ही किया, पर हे नाथ! आपका भला श्रीरामजी के भजन से ही होगा ॥८॥ (ऐसा कहकर) मंत्रियों को साथ लेकर आकाश-मार्ग में गये और सबको सुना कर ऐसा कहने लगे ।.९॥ कि श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और तेरी सभा काल के वश है, (इससे) मैं अब रघुवीर श्रीरामजी की शरण में जाता हूँ, अब मुझे दोष न देना। ४१॥

विशेष—(१) 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई।···'— शत्रुता के बदले भलाई करने में औरों की निन्दा होती है ; यथा—"रिपु पर कृपा परम कदराई।" (आ० दो० १८) ; परन्तु सन्त की इसी में बड़ाई है ; यथा—"भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच।" (बा० दो० ५) ; तथा—"संत असंतन्हि कै असि करनी।···काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ताते सुर सीसन्ह चढ़त···" (उ० दो० ३६–३७) ; यहाँ पर रावण में खलता की और श्रीविभीषणजी में साधुता की सीमा निहित है। 'इहइ' अर्थात् यह निश्चय है, कि प्रतिकार में बड़ाई नहीं है, किंतु इसीमें है।

(२) 'तुम्ह पितु सरिस···'—रावण ने कहा था कि मेरे जिलाये जीता है, इन्होंने उस बात को भी 'पितु सरिस' कहकर स्वीकार किया। 'भलेहि मोहि मारा' से यह सूचित किया कि इससे भी मेरा भला ही होगा ; यथा—"अंतहु भाय भलो भाई को कियो अनभलो मनाइ कै। भइ कूबर की लात विधाता राखी बात बनाइ कै॥···जो सुनि सरन राम ताके मैं विधि वामता विहाइ कै॥" (गीता सुं० २८) ; 'राम भजे हित···'—फिर भी मैं यही कहता हूँ कि आपका हित श्रीरामजी के भजन से ही होगा। श्रीविभीषणजी उस जन्म में भी धर्मरुचि नामक मंत्री के रूप में इसके परम हितैषी थे ; यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरम रुचि सुक्र समाना॥" (बा० दो० १५३); इस जन्म में भी इनकी वही वृत्ति है, अतएव वहाँके हित को यहाँ खोला गया है; यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा।' यही उस जन्म के हितोपदेश में भी समझना चाहिये। पुनः रावण को 'पितु सरिस' कहकर साथ ही अपना भी कर्त्तव्य दिखाया है कि पुन् नाम नरक से त्राण (रक्षा) करना पुत्र का धर्म है, अतएव नरक के देने वाले कामादिकों से रोका और 'राम भजे हित नाथ···' से रावण के उद्धारार्थ यत्न किया। 'मति अनुरूप कहउँ हित' उपक्रम और 'राम भजे हित···' यह उपसंहार है। शुद्ध भाव से परमार्थ-शिक्षा करके लंका त्यागने में श्रीविभीषणजी वेद रीति से निर्दोष हुए। आगे लोक-रीति से भी अपनी शुद्धता प्रकट करते हैं—

(३) 'सचिव संग लै···'—राज्य के सात अंग हैं ; यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोपराष्ट्रदुर्गबलानि च।" (अमरकोश) ; अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, किला और सेना। इनमें मंत्री प्रधान अंग है, यह अंग रहने से शेष अंग गये हुए भी आ जाते हैं ; यथा—"तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।" (कि० दो० १) ; इसीसे उसने—"पावा राज कोष पुर नारी।" (कि० दो० १७) ; वैसे ही श्रीविभीषणजी के साथ भी चार मंत्री हैं ; यथा "तेचाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीम विक्रमाः।" (वाल्मी ६।१७।३) ; इन चारों के नाम अनल, अनिल, हर और सम्पाति थे, ये माली के पुत्र थे ; यथा "अनलश्चानिलश्चैव हरः सम्पातिरेव च। एते विभीषणामात्या मालेयास्ते निशाचराः॥" (वाल्मी० ७।५।४३)। 'नभ पथ गयऊ'—(क) देवता और राक्षस प्रायः आकाश मार्ग से ही चला करते हैं और इन्हें तो समुद्र के पार जाना है, यह नभ-पथ ही से सुगम होगा। (ख) भारी सभा को ऊँचे से अपना अभिप्राय सुनाने के लिये भी ऊपर गये। (ग) रावण ने कहा—'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।···' इसमें उसने अपने को सम्राट् और श्रीविभीषणजी को सामान्य प्रजा एवं 'तपसिन्ह' शब्द से श्रीरामजी को घर-बारहीन

कहकर सूचित किया कि तू भी वैसा ही हो जा। तब इनके मन में यह बात उत्पन्न हुई कि जो प्रभु जगत् भर के मालिक हैं, उन्हें घरहीन कहता है और अपने को राजा। अतः, इस हरि-विमुख का अवश्य त्याग करूँगा। यदि भगवान इस लंका को अपनी विभूति सिद्ध कर मुझ दास को देंगे, तभी मैं इसे प्रभु-प्रसाद-रूप मानकर इसमें अधिकारी होकर रहूँगा। इस वासना से प्रेरित हो मंत्रियों सहित आकाश मार्ग से चले, नहीं तो शरण जाने में राज्य-अंग रूप मंत्रियों को लेने की आवश्यकता नहीं थी। इसे ही आगे 'उर कछु प्रथम वासना रही।' से प्रकट किया गया है। तथा—"राम गरीब निवाज निवाजिहैं जानि हैं ठाकुर ठाउँगो।" (गो॰ सुं॰ ३०); इस पद से भी वही भाव निकलता है। पहले इन्होंने ब्रह्मा से 'भगवंत पद कमल अमल अनुराग' का वरदान ही माँगकर पाया है। फिर श्रीहनुमान्‌जी के संवाद एवं रावण को समझाने के समय इनमें लेश-मात्र भी राज्य-वासना नहीं थी, नहीं तो अपमान सह-सहकर रावण को श्रीसीताजी को लौटा देने और श्रीरामजी से प्रीति करने की शिक्षा न देते। अमोघ दर्शन प्रभु इस क्षणिक वासना को भी सत्य करेंगे। अभी इन्होंने 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' शरणागति के नियम से लंका का त्याग किया है आकाश में ठहरे हुए हैं और वहीं से बातें करेंगे।

'सबहि सुनाइ···'—लोक-रीति से भी निर्दोष होने के लिये।

(४) 'राम सत्य संकल्प प्रभु···'—श्रीरामजी ने जो 'निसिचर हीन करउँ महि' की प्रतिज्ञा की है, वह अवश्य सत्य होगी, इसी से तुझे मेरा उपदेश नहीं भाता। पुनः मेरे उपदेश से सभा भी सहमत न हुई, यह भी ठीक ही है, क्योंकि श्रीरामजी का संकल्प अकेले रावण को ही मारने का नहीं है; वरन् राक्षस-मात्र के मारने का है, यही विचार कर 'सभा काल बस तोरि' भी कहा है। हमने तुमलोगों को बचाने का उपाय करना चाहा। पर इसमें निष्फलता ही हुई; यथा—"हितमत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं॰ दो॰ ६); 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ हैं। पर उनकी प्रतिज्ञा तो निशाचर मात्र के लिये है और श्रीविभीषणजी भी निशाचर ही हैं। उसका उत्तर यों देते हैं; यथा—'मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ...'—भाव यह है कि शरण जाने पर वे नहीं मारेंगे, क्योंकि शरणागत-पाल हैं; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो॰ ३८); श्रीमुख वचन है; यथा—"आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥" (वाल्मी॰ ६।१८।३४); अर्थात् श्रीरामजी रावण के समान पापी को भी शरण में ले लेते हैं।

अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं॥१॥
साधु-अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥२॥
रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयेउ बिभवबिनु तबहि अभागा॥३॥

अर्थ—ऐसा कहकर जिसी समय श्रीविभीषणजी चले, उसी समय सब निशाचर आयुहीन हो गये (*अर्थात् 'सभा काल बस तोरि' यह श्रीविभीषणजी का कहना शाप-रूप हो गया,*) ॥१॥ हे भवानी! साधु का अपमान तुरत ही सम्पूर्ण कल्याण की हानि करता है।२॥ रावण ने जिसी समय विभीषण का त्याग किया, उसी समय वह भाग्यहीन एवं वैभव-रहित हो गया॥३॥

विशेष—(१) 'आयूहीन भये सब तबहीं।'—पारमार्थिक दृष्टि से देह ब्रह्मांड, प्रवृत्ति लंका और श्रीविभीषणजी जीव-रूप कहे गये हैं—वि॰ ५८ देखिये। जीव की सत्ता से ही दैवी और आसुरी संपत्ति का विलास रहता है; यथा—"मिले रहैं माखो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहहिं न मोरिये जारैं नित

छाती ॥" (वि०.१४७) ; अतः, जीव के निकल जाने से शेष आयुहीन कहे गये हैं। जीव जिस समय प्रभु शरणागत होने का दृढ़ संकल्प करता है, उसी समय भगवान् की ओर से उसके सब पापों के नाश का दृढ़ संकल्प हो जाता है। जैसे गीता ११।३३ में भगवान् ने पहले ही अर्जुन को दिखा दिया है कि इन सबों को मैंने पहले ही मार रक्खा है, तू निमित्त-मात्र होजा। यहाँ आगे कहा भी है—"सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥" (दो० ४३)। माधुर्य की रीति का समाधान ग्रंथकार स्वयं आगे कर रहे हैं—

(२) 'साधु अवज्ञा तुरत भवानी।···'—अखिल कल्याण में आयु प्रथम है ; यथा—"आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥" (श्रीमद्भागवते) ; 'तुरत' का भाव यह है कि और-और पापों का फल समय पाकर विलंब से मिलता है, पर इसका शीघ्र ही। पुनः अन्य पापों से एक-दो ही कल्याण नाश होते हैं और इससे सभी ; अर्थात् यह भागवतापराध भारी पाप है। साधुओं के आदर का भी फल तुरत ही मिल जाता है ; यथा—"देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।" "मज्जन फल पेखिय ततकाला।" (बा० दो० १–१)। इसी शीघ्र फल-दातृत्व को ऊपर 'जबहीं' और 'तबहीं' इन शब्दों से कहा गया है।

(३) 'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा।···'—पहले सभा-भर का आयुहीन होना कहा गया और बीच में उसका कारण कहा गया। अब रावण का अकल्याण कहते हैं; यथा—'भयउ बिभव बिनु···', 'अभागा'—क्योंकि बड़े भाग्य से साधु-संग मिलता है ; यथा—"बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२) ; और इसने अपने घर के ही साधु को निकाल दिया। वा, विभव नाश से अभाग्यता होती ही है ; यथा—"बेद-बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किये, सुरलोक उजारो। और कहा कहौं तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोप न धारो॥ सेवक छोह ते छाँड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर, जौ लौं बिभीषन लात न मारो ॥" (क० उ० ३)।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं ॥४॥
देखिहउँ जाइ चरन-जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥५॥
जे पद परसि तरी रिषि-नारी। दंडक-कानन पावनकारी ॥६॥

अर्थ—मन में बहुत मनोरथ करते हुए हर्ष-पूर्वक श्रीरघुनाथजी के पास चले ॥४॥ जाकर उन चरण-कमलों को देखूँगा, जो लाल, कोमल और सेवक को सुख देनेवाले हैं ॥५॥ जिन चरणों को छूकर ऋषि-नारी अहल्या तर गई और जो दण्डकवन को पवित्र करनेवाले हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'चलेउ हरषि रघुनायक···'—सभी रघुवंशी उदार होते हैं और ये तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं। अतः, सभी मेरे मनोरथ सिद्ध होंगे। इससे बहुत मनोरथ करते हुए चले। मनोरथ गी० सुं० २६–३० पदों में देखिये। कुछ मनोरथों को यहाँ भी कहते हैं। 'हरषि'—का भाव यह है कि पहले 'असकहि चला बिभीषन जबहीं।' में हर्ष का होना नहीं कहा गया था, पर जब माता के यहाँ गये और कुबेर के यहाँ भी आज्ञा पाई पुनः श्रीशिवजी ने दृढ़ कर दिया, तब चलने के समय शुभ शकुन भी हुए, जिनसे सिद्धि की आशा से हर्ष हुआ—जो गी० सुं० २६–२८ में कहा गया है, वही यहाँ (मानस में) 'हरषि' से सूचित किया गया है।

(२) 'देखिहउँ जाइ चरन'''—श्रीविभीषणजी ने पहले ही तपस्या करके ब्रह्माजी से वरदान पाया था, यथा—"तेइ माँगेउ भगवंत पद, कमल-अमल अनुराग।" (बा० दो० १७७); इसीसे प्रभु-चरण-सम्बन्धी मनोरथ ही करते जाते हैं। ऊपर 'हरषि' शब्द से मानसी शकुन द्वारा प्रभु-दर्शन पाने का विश्वास होना सूचित किया गया है। 'अरुन-मृदुल' से प्रभु-चरणों की शोभा कही गई और साथ ही यह भी कि दर्शनों से नेत्र सुखी होंगे और स्पर्श से त्वचा को आनंद मिलेगा। 'सेवक सुख दाता'—से फल कहा गया है। 'देखिहउँ' के साथ ही 'सेवकसुखदाता' कहा गया है; अर्थात् देखते ही शीघ्र सेवक को सुख मिलता है।

(३) 'जे पद परसि तरी'''—यहाँ स्पर्श का माहात्म्य कहते हैं, आगे दो अर्द्धालियों में ध्यान का और दोहे में पूजन का वर्णन है; यथा—"नित पूजत प्रभु पाँवरी।" (अ० दो० ३२५); अहल्या और दंडकवन साथ ही कहे गये हैं, क्योंकि ये दोनों व्यभिचार-दोष से शापित हैं, दोनों जड़ हैं और प्रभु ने जा-जाकर दोनों को तारा है; यथा—"सिला साप संताप विगत भइ परसत पावन पाउ।" (वि० १००); "दंडक वन पावन करन, चरन सरोज प्रभाउ।" (रामाज्ञा ३।१।१); यहाँ चरणों का पतित पावन गुण दिखाया गया।

जे पद जनकसुता उर लाये। कपट कुरंग संग धर धाये ॥७॥
हर - उर - सर - सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥८॥

दो०—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि, भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥४२॥

अर्थ—जिन चरणों को श्रीजानकीजी हृदय में लाईं (धारण किया), (जिन चरणों से) कपट मृग के साथ पकड़ने को दौड़े ॥७॥ जो चरण-कमल श्रीशिवजी के हृदय-रूपी सरोवर में निवास करते हैं, उन्हीं को मैं (प्रत्यक्ष) देखूँगा, अहो मेरा भाग्य धन्य है ॥८॥ जिन चरणों की पादुकाओं में श्रीभरतजी ने मन को लगा रक्खा है, उन चरणों को आज अब जाकर इन नेत्रों से देखूँगा ॥४२॥

विशेष—(१) 'जे पद जनक सुता ''कपट कुरंग'''; यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम ॥" (आ० दो० २९); "मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान। फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥" (आ० दो० २६); यहाँ माया की सीता और माया का ही मृग भी है, अतएव दोनों साथ-साथ कहे गये हैं। पुनः आगे श्रीशिवजी और श्रीभरतजी को साथ रक्खा है, क्योंकि दोनों ही परम विरक्त और उच्च कोटि के भक्त हैं; यथा—"राम रावरो सुभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत जिन्हके हिये-सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु लसत सरस सुख फूलत फरत।" (वि० २५१); इससे इन्हें साथ रक्खा।

(२) 'हर उर सर'''—चरण कमल के समान कहे गये, यहाँ यह दिखाते हैं कि ये कमल इस सर के हैं और यह भी दिखाया कि राम-चरण की भक्ति में सबका अधिकार है स्त्री, पुरुष, जड़, चेतन, छली, निश्छल इत्यादि, अहल्या और श्रीजानकीजी दोनों स्त्री हैं, इन दोनों से यह भी दिखाया कि चाहे व्यभिचारिणी हो चाहे पतिव्रता—दोनों को अधिकार है। मारीच छली है और श्रीशिवजी एवं श्रीभरतजी निश्छल हैं, किन्तु अधिकार दोनों को है। दंडकवन जड़ है और सब चेतन हैं, इत्यादि।

'भरत रहे मन लाइ'—श्रीभरतजी इसी आधार से जीवित रहे ; यथा—"मो अवलंब देय मोहि देई । अवधि पार पावउँ जेहि सेई ॥" (अ० दो० ३०६); 'मन लाइ'—मन, वचन, कर्म से पादुका में भक्ति थी ; यथा "नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति । माँगि-माँगि आयसु करत…" (अ० दो० ३२५); इसमें क्रमशः कर्म, मन और वचन कहे गये ।

चरण-दर्शन में श्रीविभीषणजी की अत्यन्त श्रद्धा है, इसी से इसे बारम्बार कहते हैं—(क) 'देखिहउँ जाइ चरन…' (ख) 'अहो भाग मैं देखिहउँ…' (ग) 'ते पद आजु बिलोकिहउँ…' । 'इन्ह नयनन्हि'—और सब ध्यान से देखते हैं, किन्तु मैं इन चर्मचक्षुओं से देखूँगा ।

व्यासजी ने भी लिखा है ; यथा—"मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥" (भाग०११।५।३४) । चरणों के ध्यान का विशेष वर्णन वि० २१८ में भी है, वहीं देखिये ।

'अहोभाग्य…'—कहाँ उपर्युक्त महान् लोग और कहाँ मैं अति तुच्छ, फिर भी मैं प्रभु को प्रत्यक्ष देखूँगा । अतः, मेरा परम धन्यभाग्य है ।

येहि बिधि करत सप्रेम बिचारा । आयउ सपदि सिंधु येहि पारा ॥१॥
कपिन्ह बिभीषन आवत देखा । जाना कोउ रिपुदूत बिसेखा ॥२॥
ताहि राखि कपीस पहिं आये । समाचार सब ताहि सुनाये ॥३॥

अर्थ—इस तरह प्रेम सहित विचार करते हुए शीघ्र ही समुद्र के इस पार आये ॥१॥ वानरों ने श्रीविभीषणजी को आते हुए देखा, तो जान गये कि यह शत्रु का कोई विशेष (खास) दूत है ॥२॥ उसे ठहराकर श्रीसुग्रीवजी के पास आये और उनको सब समाचार सुनाये ॥३॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करत…'—उपक्रम में 'करत मनोरथ' और उपसंहार में 'सप्रेम बिचारा' कहा गया है । अतः, यहाँ 'मनोरथ' और 'विचार' पर्याय हैं । उपर्युक्त मनोरथों में चरित क्रमबद्ध नहीं है, क्योंकि 'सप्रेम' विचार है, प्रेम में नेम नहीं भी रह पाता । 'आयउ सपदि'; यथा—"बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहि बार ।" (बा० दो० ३०६) ; विचार में जितनी देर लगी, उतनी ही में इस पार आ गये । राम-चरण-प्रेम तो भवसागर पार कर देता है, इस छोटे सागर की क्या बिसात ?

(२) 'कपिन्ह बिभीषन आवत…'—पहले वानरों ने ही देखा, क्योंकि ये लोग चारों ओर पहरे पर हैं । लंका की तरफ से आकाश-मार्ग से आये, समुद्र के इस पार भूमि में उतरकर वहाँ से पैदल चले, जब फाटक पर आये तब वानरों ने रोका । यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में आकाश से ही श्रीविभीषणजी से बात-चीत होना कहा गया है । पर यहाँ आगे 'ताहि राखि…' कहा गया है । पुनः प्रपत्ति स्वीकृत होनेपर भी उतरकर चलना नहीं कहा गया, इससे यहाँ पहले ही भूमि पर उतर आना लिखा गया है । 'जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा'—चार मंत्रियों के साथ बड़ा तेजस्वी एवं सुसज्जित देखकर इन्हें कोई विशेष दूत जाना और दूत ही समझकर मारा नहीं, यथा—"तेचाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः । तेऽपि सर्वायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः ॥" (वाल्मी० ६।१७।३), वानरों ने इन्हें लंका की ओर से आते देखकर रिपु-दूत जाना । 'कोउ' यद्यपि श्रीविभीषणजी ने अपना पूरा परिचय कह दिया कि मैं रावण का भाई हूँ, राघव श्रीरामजी के दर्शन एवं शरण में आया हूँ तथापि इन्हें विश्वास नहीं हुआ और इस से उन्हें बाहर ही रोका ।

(३) 'ताहि राखि कपीस पहिं आये ।'—श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी बीच सेना में हैं, यह प्रसंग से सूचित होता है। वानरों ने समाचार पूछा और उन्होंने बतलाया, वही आगे सुग्रीवजी के भाषण में कहा जायगा।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन-भाई ॥४॥
कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा ॥५॥
जानि न जाइ निसाचर-माया। कामरूप केहि कारन आया ॥६॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिय बाँधि मोहि अस भावा ॥७॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे रघुराई! रावण का भाई मिलने आया है ॥४॥ प्रभु ने कहा, हे सखा! आपका विचार क्या है? श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे राजन्! सुनिये ॥५॥ निशाचर की माया जानी नहीं जाती, ये काम-रूप (इच्छानुसार रूपधारी) होते हैं, यह न जाने किस कारण से आया है ॥६॥ यह शठ हमारा भेद लेने आया है, (अतएव) इसे बाँधकर रखिये, मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है ॥७॥

विशेष—(१) 'कह सुग्रीव···'—श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी से कुछ हटकर बैठे हुए हैं, इससे वानरों ने इनसे कहा और इन्होंने श्रीरामजी के पास जाकर निवेदन किया। श्रीसुग्रीवजी का जाना अध्याहार से लेना होगा, नहीं तो प्रभु यदि पास होते तो वानरों के कहने पर ये भी सुनते ही, तब सुग्रीवजी के कहने की आवश्यकता ही न थी। 'रघुराई' संबोधन से श्रीसुग्रीवजी का अभिप्राय है कि आप नीति पर दृष्टि रक्खें। 'आवा मिलन···'—भाव यह है कि रावण ने इसे छल से भेजा होगा, इससे हमारा क्या हित हो सकता है? इससे जान पड़ता है कि श्रीविभीषणजी ने जो समाचार कहा था वही वानरों से सुनकर ये भी प्रभु से कह रहे हैं; यथा—"रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः। तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥ तेन सीता जनस्थानाद् धृता हत्वा जटायुषम्। रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता॥··· सोऽहं परुषतस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥ निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने। सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥" (वाल्मी० ६।१७।१२–१७)। तथा—"जातुधानेस भ्राता विभीषन नाम बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। पतित पावन प्रनतपाल करुना सिंधु, राखिये मोहि सौमित्रि-सेवित-चरन॥" (गी० सुं० ४१)।

(२) 'कह प्रभु सखा···'—श्रीरामजी ने पूछा, तब श्रीसुग्रीवजी को उचित था कि श्रीरामजी की बड़ाई करके मंत्रणा कहते, यह नीति है; यथा—"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोहीं।" (आ० दो० १२); तब अगस्त्यजी ने पहले प्रभु श्रीरामजी की बड़ाई की; यथा—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी।···उमरि तरु विशाल ··" इत्यादि ऐश्वर्य कहकर तब मंत्र कहा गया है; यथा—"है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ।···" इत्यादि। इससे पूर्व श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीवाल्मीकिजी ने भी ऐसी ही प्रशंसा करके सलाह दी है। आगे श्रीविभीषणजी से भी समुद्र के पार करने का मंत्र पूछा गया है, तब उन्होंने भी पहले—"कोटि सिन्धु सोषक तव सायक। जद्यपि" कहकर तब कहा—"तदपि नीति असि···" इत्यादि। पुन लंका पहुँचकर प्रभु ने "पूछा मत सब सचिव बोलाई।" तब "जामवंत कह पद सिर नाई। सुनु सर्वज्ञ सकल उर वासी। बुधि बल तेज धर्म गुन रासी॥ मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालिकुमारा॥" इत्यादि, ऐसी नीति है। पर श्री-सुग्रीवजी श्रीरामजी को सरल प्रकृति का समझकर कि कहीं राक्षस के धोखे में न आ जायँ, आतुरता में पहले विभीषणजी के ही दोष कहने लगे। इससे इनका मत खंडित होगा, यथा—"सखा नीति तुम्ह नीकि विचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

श्रीसुग्रीवजी नीति कह रहे हैं, इससे 'कपीस' राजा-सूचक नाम कहा गया है और उन्होंने श्रीरामजी को भी 'नरनाह' कहा कि आप राजनीति जानते हैं, अतएव नीति को आदर दें।

(३) 'जानि न जाइ'—शब्द सबके साथ है—न निशाचरों की माया जान पड़े, न उनके इच्छित रूप का मर्म ही मिले और न उसके प्रयोजन का ही भेद समझ पड़े कि यह किस लिये आया है 'काम रूप' का भाव यह है कि यदि प्रभु कहें कि श्रीहनुमान्जी के द्वारा मालूम हुआ है कि यह हमारा हितैषी है; यथा—"मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती।···" (दो० ७५); तब श्रीसुग्रीवजी कहते हैं कि निशाचरों के इच्छित रूप धारण करने की क्षमता से मुझे इसमें भी तो संदेह है कि यह विभीषण ही है, हो सकता है कि रावण ने किसी अन्य राक्षस को विभीषणजी का रूप बनाकर प्रयोजन साधने के लिये भेजा हो। या यह उसका भ्राता बनकर मेरा भेद लेने आया हो कि मुझे रावण से तिरस्कृत जानकर भेद पाने के लोभ से अवश्य ग्रहण करेंगे और फिर विश्वास में डालकर यह न जाने क्या अनर्थ कर डाले ? हमारे दल के किसी का भी रूप धरकर न जाने कौन काम बिगाड़ दे, अथवा हमलोगों में फूट डाल दे। छली का विश्वास नहीं होता। अतएव 'राखिय बाँधि मोहिं अस भावा।'—बाँधकर रखने से इसकी माया नहीं लगेगी और इसका कामरूप होना भी कुछ काम न देगा। न भेद पावेगा, न तोड़-फोड़ ही करा सकेगा और न लौटकर रावण को ही सचेत कर सकेगा।

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत - भयहारी ॥८॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत - बच्छल भगवाना ॥९॥

दोहा—सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि ॥४३॥

अर्थ—हे सखा ! तुमने नीति अच्छी बिचारी, (पर) शरणागत का भय-हरण करना—मेरा प्रण है ॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर श्रीहनुमान्जी हर्षित हुए कि भगवान् शरणागत-वत्सल हैं ॥९॥ जो लोग अपना अनहित विचार कर शरणागत को त्याग देते हैं, वे नीच हैं, पापमय हैं, उन्हें देखने से भी हानि होती है ॥ ४३ ॥

विशेष—(१) 'सखा नीति तुम्ह···'—'सखा'—सहायं ख्यातीति सखा, अर्थात् तुम हमारे सहायक हो, इसीसे हमारे कल्याण के लिये तुमने नीति-शास्त्र की दृष्टि से उत्तम विचार किया है। ऐसा कहकर शरणागति का धर्म समझाते हैं कि शरणागत के भय-हरण करने का मेरा प्रण है; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् एक बार ही 'मैं आपका हूँ, इस प्रकार दीन होकर याचनेवाले सर्व प्राणियों के लिये एवं सब प्राणियों से मैं अभय देता हूँ—यह मेरा व्रत है। यह वचन सर्व तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य वानर-भालू-रूप पार्षदों के समक्ष श्रीरामजी ने कहा है कि ऐसा मेरा व्रत है।

'सकृत् एव' से इसमें पुनरावृत्ति का निषेध है, "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१) के अनुसार अन्य उपासनाओं के सदृश प्रपत्ति की आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये श्रीराघवेन्द्रजी ने 'सकृत्' पद का प्रयोग किया है। उसपर भी यदि कोई संदेह करे, उसकी निवृत्ति के लिये 'एव' भी स्वयं श्रीमुख से कहा है। और जैसे वर शास्त्र-विधि से कन्या का पाणिग्रहण एक ही बार करता है और

आजन्म उसका निर्वाह करता है, वैसे ही शास्त्र-विधि से शरणागत को ग्रहणकर भगवान् भी उसका निर्वाह करते हैं। वही आगे की 'ददामि' इस वर्त्तमान कालिक क्रिया से स्पष्ट किया गया है कि इसी जन्म की एक वार की ही प्रपत्ति से मैं रक्षा करता हूँ। 'प्रपन्नाय' के अनुसार दीन होगा तब हाथ जोड़ेगा ही—यह 'कायिकी' प्रपत्ति होगी। 'याचते' में 'याचकी' और 'तवास्मि' के अनुसंधान में 'मानसी' शरणागति का विधान है। सबसे अभय सबका स्वामी ही करेगा, इससे—'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः।" (बृ० ४।४ २२); इस श्रुति में कहा हुआ अपना ऐश्वर्य भी सूचित किया। 'सर्वभूतेभ्य': यहाँ चतुर्थी विभक्ति से सब प्राणियों के लिये, यथा—"पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः। तेनैव साकं ते सर्वे प्रयान्ति परमां गतिम्।" (वाल्मी० भूषणटीका), 'सर्वभूतेभ्यः' यह पंचमी विभक्ति भी है, उससे सर्व प्राणियों से अभय देना सूचित किया। पुनः संसार के शत्रु, कामादि, यमराज आदि से और सब भय के भी भय-रूप अपने से भी अभय देना जनाया। 'अभय' शब्द मोक्षपरक है; यथा—"अथ सोऽभयं गतो भवति" (तै० २।७); यह श्रुति प्रमाण है। 'एतद्-व्रतं-मम'—यहाँ प्रभु ने अपने सामर्थ्य और व्रत का महत्व कहा है कि सामान्य मनुष्य भी अपना व्रत (प्रतिज्ञा) नहीं छोड़ता और मैं तो सत्यप्रतिज्ञ चक्रवर्त्ति-कुमार एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वर हूँ। अतः, मेरा व्रत खंडित हो नहीं सकता। श्रीमुख का वचन है; यथा—"अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥ न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।" (वाल्मी० ३।१०।१८); अर्थात् मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, श्रीलक्ष्मणजी के साथ तुमको भी छोड़ सकता हूँ, पर विशेषकर ब्राह्मणों के सम्बन्ध की प्रतिज्ञा करके उसे नहीं छोड़ सकता। तथा च "रामो द्विर्नाभिभाषते।" (वाल्मी २।१८।३०); इस तरह अपना सर्वशरण्यत्व कहा है।

इसी प्रकार दंडकवन के ऋषियों की भी शरणागति कही गई है; यथा—"ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः। नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः॥ न्यस्तदण्डा वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः। रक्षणीयास्त्वया शश्वद्गर्भभूतास्तपोधनाः॥" (वाल्मी० ३।१।१०-२१); अर्थात् ऋषियों ने श्रीरामजी को फल मूलादि अर्पण कर स्तुति करते हुए इस प्रकार प्रपत्ति की है कि हम लोग आपके हैं, क्योंकि आपके राज्य में बसनेवाले हैं; अतएव आपके द्वारा रक्षा किये जाने योग्य हैं। चाहे आप नगर में रहें और चाहे वन में, आप हमलोगों के राजा और सम्पूर्ण प्रजा के शासक हैं, एवं अपने जनों (भक्तों) के ईश्वर हैं। हमलोगों ने जितेन्द्रिय एवं क्रोधजित होने के कारण दंड एवं शाप देना छोड़ दिया है क्योंकि हमलोगों के पास तपस्या ही धन है इसी से हमलोग उसकी गर्भस्थ बालक की तरह रक्षा करते हैं (शाप देने में क्रोध करने से तप का नाश होता है।) अतएव हम लोग आपके द्वारा निरन्तर रक्षा किये जाने योग्य हैं।

इसपर श्रीरामजी ने सम्पूर्ण राक्षसों के वध करने की प्रतिज्ञा कर उन ऋषियों की रक्षा की है।

आगे प्रतिज्ञा-भंग के दोष को 'सरनागत कहँ जे तजहिं···' से कहा है। यदि कहा जाय कि नीति-विरुद्ध चलने से हानि होगी, उसका समाधान भी आगे करेंगे; यथा—"भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥"

(२) 'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।···'—श्रीहनुमान्जी ने श्रीविभीषणजी से प्रभु का भक्तवत्सल स्वभाव कहा था; यथा—"अस मैं अधम सखा सुनु, मोहूँ पर रघुबीर। कीन्ही कृपा।" (दो० ७); अतः, श्रीसुग्रीवजी के वचन पर ये दुखी हुए थे। जब श्रीरामजी ने उनका मत खंडन कर शरणागति-धर्म को मुख्य कहा, तब इन्हें हर्ष हुआ, क्योंकि ये श्रीविभीषणजी की साधुता जानते भी हैं। इस विषय का प्रभु-प्रतिज्ञा सुनकर आनंदित हुए।

(३) 'सरनागत कहुँ जे तजहिं '—इसमे यह भी ध्वनि है कि जो अपने हित की हानि भी करके शरणागत की रक्षा करते हैं, उनके दर्शनों से बड़ा पुण्य होता है। श्रीसुग्रीवजी ने नीति-दृष्टि से हित की हानि कही है, इसी पर कहते हैं कि यदि अनहित का अनुमान करके उसे शरण में नहीं रक्खें तो बड़ा भारी दोष होगा। रक्षा नहीं करनेवाले को देखने से भी पाप कहा गया है, सो शरणागत के त्यागनेवाले के पाप का तो अन्दाजा ही नहीं हो सकता। इसीको उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि ऐसे मनुष्य पामर और पापमय हैं। क्योंकि वह तो बड़ा समझकर रक्षा के लिये आया और इन्होंने रक्षा नहीं की, तो बड़प्पन कहाँ रहा और शरणागत का विश्वास व्यर्थ हुआ, यदि वह मारा गया, तो और भी भारी पाप हुआ। इसी को वाल्मी० ६।१८ में विस्तार से कहा गया है। 'ते नर' कहकर वहाँ की कपोत की कथा को सूचित किया, यथा—"श्रूयते हि कपोतेन ... किं पुनर्मद्विधो जनः ॥" (२४–२५); अर्थात् तिर्यग्योनि के पक्षी ने भी अपनी स्त्री के मारनेवाले शत्रु को, शरण में आने पर, अपना मांस दे उसकी रक्षा की। फिर मैं तो मनुष्य हूँ, उसमें भी धर्मज्ञ, कुलीन एवं चक्रवर्त्ति-कुमार हूँ कैसे न इसकी रक्षा करूँ? 'पामर पापमय ...'—से वहाँ की कण्डु-गाथा का भाव ले लिया गया है, यथा—"बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।" से "एव दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे। अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥" (२७—३१), तक अर्थात् हाथ जोड़ दीन होकर यदि शत्रु भी दया के लिये शरण में आवे, तो उसे नहीं मारना चाहिये। आर्त्त हो, चाहे अहंकारी हो, यदि शत्रु शरण में आ जाय, तो श्रेष्ठ मनुष्य को अपने प्राणों का भी मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि वह भय से, मोह से अथवा किसी प्रकार की इच्छा से उस शत्रु की रक्षा अपनी शक्ति से नहीं करता, तो उसे पाप होता है और वह पाप सब लोकों में निंदित है। शरण में आया हुआ मनुष्य यदि रक्षक के सामने ही नाश को प्राप्त हो जाय, तो वह अरक्षित शरणागत उसके समस्त पुण्यों को लेकर चला जाता है। इस प्रकार शरण में आये की रक्षा न करने में बड़ा दोष है, उससे अपकीर्ति होती है, परलोक नाश होता है और बल वीर्य की हानि होती है'।

कोटि बिप्र-बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥१॥
सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥२॥

अर्थ—जिसे करोड़ों ब्राह्मणों का वध (हत्या) भी लगा हो, शरण आने पर मैं उसका भी त्याग नहीं करता ॥१॥ जीव जिस समय मेरे सम्मुख (शरण) होता है, उसी समय उसके करोड़ों जन्मों के पाप नाश हो जाते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'कोटि बिप्र बध '—शरणागत के त्यागनेवाले 'पामर पापमय' का तो मैं मुँह भी नहीं देखता, पर कोटि-विप्र-वध वाले भी शरणागत को ग्रहण कर लेता हूँ, उसके पाप छुड़ा सकता हूँ। इसपर गी० सुं० ४५ पूरा पद देखिये।

शंका—वध से तो आपने कहा है; यथा—"मोहिं न सोहाइ ब्रह्म कुल द्रोही।" (आ० दो० ३३), और यहाँ कोटि-विप्र-वध वाले को ग्रहण करते हैं, यह विरोध क्यों?

समाधान—वहाँ सामान्य धर्म की दृष्टि से प्रवृत्ति-मार्ग पर कहा गया है और यहाँ सर्व धर्म-परित्याग-पूर्वक शरणागत के लिये कहा गया है। कबंध तो शरणागत नहीं था अन्यत्र भी कहा है, यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥" (गीता ९।३०–३१); अर्थात् कैसा भी दुराचारी क्यों न हो जो मुझे अनन्य भाव से भजे उसे साधु ही समझना चाहिये, वह

तो सम्यक् प्रकार से व्यवसित है कि भगवान् के भजन के समान और शुद्ध नहीं है, ऐसा जिसने भलीभाँति जान लिया है वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, और निरंतर शांति को पाता है, हे अर्जुन ! तू निश्चय पूर्वक जान कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। अनन्य भक्ति ही शरणागति है। अनन्य भक्त जगत को निज प्रभुमय देखेगा; यथा—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" (कि॰ दो॰ ३); तब फिर पाप नहीं होगा। पूर्व के पाप शरणागत होते ही नाश हो जायँगे। शरणागति पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित का एक बृहद्रूप है।

(२) 'सनमुख होइ जीव···'—यहाँ शरणागति का सद्य: फल-दातृत्व कहा जाता है। ऊपर 'कोटि विप्र वध' कहा गया था, उसमें 'अघ' शब्द नहीं था। किंतु यहाँ 'जन्म कोटि अघ नासहिं' भी कहा गया है। इस तरह दोनों को मिलाकर अर्थ करना चाहिये कि यदि कोटि जन्मों से कोटि-विप्र-वध के पाप करता आया हो तो वे सब पाप उसी क्षण नाश हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि शरणागत होने से पूर्व पापों का नाश हो जाने पर हृदय शुद्ध होगा, तब हरि-भजन में मन लगेगा, फिर प्रभु की प्राप्ति होगी।

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥३॥
जौं पै दुष्ट-हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई ॥४॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥५॥

अर्थ—पापी का यह सहज स्वभाव है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं भाता ॥३॥ जो वह निश्चय ही वैसा दुष्ट हृदय होगा (जैसा तुमने कहा है ; यथा—'जानि न जाइ निसाचर माया।···') तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता है ? ॥४॥ जो निर्मल मन का भक्त है, वही मुझे पाता है, मुझे कपट, छल, छिद्र अच्छे नहीं लगते ॥५॥

विशेष—(१) 'पापवंत कर सहज सुभाऊ।···' ; यथा—"न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।" (गीता ७।१५) ; भाव यह है कि शरण आने पर मैं पापी को भी नहीं त्यागता, किंतु वह आता ही नहीं। क्योंकि पाप प्रेम का बाधक है और प्रेम विना भजन नहीं होता ; यथा—"तुलसी राम प्रेम कर बाधक पाप।" (बरवा ६४) ; अर्थात् विभीषण शुद्ध है, तभी आया है।

(२) 'जौं पै दुष्ट हृदय ···'—हृदय की दुष्टता क्या है, इसे आगे हृदय की निर्मलता के विपर्यय में 'कपट छल छिद्र' कहकर प्रकट किया है। कपट का अर्थ—स्वार्थ-साधन के लिये हृदय की बात को छिपाने की वृत्ति, छल-छिद्र का अर्थ—कपट व्यवहार, धोखेबाजी, धूर्त्तता। 'सनमुख होना' = शरणागत होना। शरणागत होने में अपने पापों को कहकर दीनतापूर्वक आत्म समर्पण करना पड़ता है। यह दुष्ट हृदय से नहीं हो सकता जब तक वह हृदय के 'कपट-छल-छिद्र' को न दूर कर दे ; यथा—"छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहयजान सों" (गी॰ सु॰ ३१)। इनके छोड़ने में विचार की ही आवश्यकता है। जब अपने पापों को समझकर पश्चात्ताप एव ग्लानि होती है, तब यह दुष्टता दूर हो जाती है और तभी शरणागत होने की भी वृत्ति उदित होती है, फिर उस शरणागत के सब पापों को भगवान् उसके शरणागति परक सत्य-संकल्प के साथ ही नाश कर देते हैं। देखिये दो० ४१ भी।

(३) 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।···'—श्रीसुग्रीवजी ने उसे छली कहा था, उसी पर कहते हैं कि जब शरण में नि:शंक भाव से आया है, तो उसमें छल नहीं है।

प्रसंग का सारांश यह कि कोटि जन्म के कोटि विप्र-वध के भी पाप हों, परन्तु यदि वह पापों से डरकर पश्चात्ताप-पूर्वक दीनता-सहित (निर्मल हृदय से) शरण में आवे, तो उसके पुराने पाप नाश हो जाते हैं, फिर उसे मेरे भजन में मन लगता है और अनंतर वह मुझे पाता है।

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥६॥
जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महँ तेते ॥७॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥८॥

अर्थ—रावण ने इसे भेद लेने को भेजा हो तो भी, हे कपीश ! कुछ भय और हानि नहीं है ॥६॥ (क्योंकि) हे सखा ! जगत्-भर में जितने भी निशाचर हैं, उन सबको श्रीलक्ष्मणजी निमेष-भर में मार सकते हैं ॥७॥ (अतएव) जो वह भयभीत होकर शरण में आया है, तो उसे प्राणों की तरह रक्खूँगा ॥८॥

विशेष—(१) 'भेद लेन पठवा...'—यह सुग्रीव के मत को लेकर कहते हैं कि जब जगत्-भरके निशाचरों को लक्ष्मणजी पल-भर में मार सकते हैं, तब भेद लेकर भी लंका-मात्र के राक्षस हमारा क्या बिगाड़ सकेंगे, यथा—"न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः ।" (वाल्मी० ५।११।३)।

(२) 'लछिमन हनइ निमिष महँ तेते।'—यहाँ ऐश्वर्य दिखाते हैं; यथा—"लक्ष्मणस्तु ततः क्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत्। ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम् ॥" (वाल्मी० ६।८०।३७), अर्थात् क्रोध-पूर्वक श्रीलक्ष्मणजी ने समस्त राक्षसों के वध के लिये भाई श्रीरामजी से ब्रह्मास्त्र प्रयोग करने को कहा। इसपर श्रीरामजी ने समझाकर मना किया है। तथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारि दस आसू ॥" (लं० दो० ५३); दुष्ट-निशाचरों के वध के लिये ही श्रीलक्ष्मणजी का अवतार है; यथा—"जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल नसिचर अनी ॥" (अ० दो० १२६), तब राक्षसों से कोई भय नहीं है।

यहाँ प्रभु ने अपना पराक्रम नहीं कहा, एक तो उन्होंने आत्मश्लाघा दोष बचाया, दूसरे इनका पराक्रम तो वालि-वध आदि से श्रीसुग्रीवजी जानते ही थे, इसीसे अवसर पाकर प्रभुने श्रीलक्ष्मणजी का ही बल कहा।

(३) 'जौं सभीत आवा.. '—यदि भय-पूर्वक शरण में आया है, तो मैं उसका भय-हरण करूँगा, क्योंकि—"मम पन सरनागत भय हारी।" ऊपर कहा ही गया है। भय—चाहे शत्रुका, पापों का और चाहे संसार का हो। 'प्रान की नाईं', यथा—"देह-प्रानते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७), अर्थात् शरणागत मुझे अत्यन्त प्रिय है। प्रभु ने प्राणों से भी अधिक मानकर आगे इनकी रक्षा की भी है; यथा—"आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा ॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला ॥" (लं० दो० ९३)।

वाल्मी० ६।१८।२२-२३, ३४ में यह प्रसंग कहा गया है, किन्तु वहाँ सम्पूर्ण राक्षसों के वध में प्रभु ने अपना ही पराक्रम कहा है, और शेष भाव ऐसे ही हैं।

दोहा—उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपानिकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले, अंगद हनू समेत ॥४४॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि दोनों प्रकार से उसे ले आओ (अर्थात् चाहे भेद लेने आया हो और चाहे ठीक शरण में आया हो)। 'जय कृपाल' (कृपालु श्रीरामजी की जय हो) ऐसा कहकर अंगद और श्रीहनुमान्‌जी के साथ सभी वानर चले ॥४४॥

विशेष—(१) 'कृपा निकेत' 'जय कृपाल' का भाव यह है कि श्रीविभीषणजी पर अत्यन्त कृपा देखकर वानर लोग जय-जयकार करने लगे, यथा—"सुनि प्रभु वचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा ॥" (दो॰ ३३), 'हँसि कह'—कि जिससे सुग्रीवजी को बुरा न लगे। हँसकर अपनी प्रसन्नता भी श्रीविभीषणजी पर प्रकट की; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा॰ दो॰ ११७)।

(२) 'अंगद हनू समेत'—श्रीविभीषणजी राजा रावण के छोटे भाई हैं, छोटा भाई पुत्र के समान होता है, अतएव उनके लाने के लिये श्रीसुग्रीवजी के पुत्र अंगद और श्रीरामजी के पुत्र के समान श्रीहनुमान्‌जी (यथा—'सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।') भेजे गये। यहाँ 'हनू' मात्र छन्दानुरोध से लिखा है। यह भाव भी है कि भक्त से मिलने चले, तो श्रीहनुमान्‌जी ने अपना मान नहीं रक्खा, अतएव अपने नाम से इन्होंने 'मान' शब्द तक निकाल दिया, इसीलिये गोस्वामीजी ने नहीं लिखा। 'कपि चले'—चलने में अप्रधान वानर प्रधान-रूप में कहे गये हैं, और अंगद-हनुमान्‌जी प्रधान हैं, पर ये गौण-रूप में कहे गये, क्योंकि अप्रधान श्रीविभीषणजी को प्रधान बनाना है। श्रीविभीषणजी को राजा बनाना है।

सादर तेहि आगे करि वानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर ॥१॥
दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दान के दाता ॥२॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी ॥३॥

अर्थ—आदर-सहित उसे आगे करके वानरगण वहाँ चले, जहाँ करुणा की खान श्रीरघुनाथजी हैं ॥१॥ नेत्रों को आनंद-रूपी दान देनेवाले दोनों भाइयों को श्रीविभीषणजी ने दूर से ही देखा ॥२॥ फिर छवि के स्थान श्रीरामजी को देखकर पलक रोक एकटक खड़े देखते रह गये ॥३॥

विशेष—'सादर तेहि आगे करि...'—पहले श्रीविभीषणजी को अनादर-पूर्वक रोका था, अब उनपर रामजी की कृपा जानकर आदर-पूर्वक आगे करके ले चलते हैं, क्योंकि श्रीरामजी की अनुकूलता से सभी अनुकूल हो जाते हैं। यहाँ यह भी भाव है कि ये वानरगण देवताओं के अंश हैं। देवतागण पहले भगवान् की शरण होने में बाधा करते हैं, फिर प्रभु की प्रसन्नता जानकर सहायक भी हो जाते हैं। आदर से इसलिये भी ले जा रहे हैं कि जिससे इन्हें बाँधे जाने आदि की शंका न हो।

(२) 'दूरहि ते देखे दोउ भ्राता।...' वानरगण मार्ग से हट गये हैं, इससे सामने बैठे हुए दोनो भाइयों के दर्शन हो रहे हैं। 'नयनानंद दान के दाता' - नेत्रधारी-मात्र को इनके दर्शनों से आनंद मिलता है। ये दर्शन किसी के भी सुकृत के फल-रूप में नहीं हो सकते। क्योंकि प्रभु अप्रमेय हैं और सबके सुकृत परिमित ही होते हैं, यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक ।१।२।१२)। प्रभु अपनी कृपा से दानरूप में दर्शन देते हैं; यथा—"नाहि त हम कहँ सुनहु सखि, इन्हकर दरसन दूरि। यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि ॥" (बा॰ दो॰ २२२)। "लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी ॥" (अ॰ दो॰ १०६)। अनुकूल कृपामयी चितवनि से विभीषणजी को तृप्त करते हैं, यथा- "लोचनाभ्यां पिबन्निव" (वाल्मी॰ ६।१९।७)।

(३) 'बहुरि राम छबि धाम'''—पहले दोनों भाइयों को देखा, फिर श्रीरामजी को देखकर अपनी देह-दशा भूल गये, क्योंकि सब भाइयों में भी श्रीरामजी अधिक सुखसागर हैं; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १९७); इसी तरह दोनों के दर्शनों की व्यवस्था और जगह भी कही गई हैं—

(१) "भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता।'''मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह बिदेह बिसेषी॥"—जनक समाज

(२) "लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥ थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकनिहूँ'''"—श्रीसीताजी

(३) "राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्ह असीस जानि भल जोटा॥ रामहि चितइ रहे भरि लोचन। रूप अपार'''"—परशुरामजी

(४) "मरकत कनक बरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी॥ पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे'''"—देवगण

(५) "प्रेम वारि दोउ जन अन्हवाये॥ देखि राम छबि नयन जुड़ाने।"—अत्रिजी।

(६) 'रहे ठठुकि'''; यथा—"एकटक रहे निमेष न लावहिं।"—सनकादिक।
दोनों भाइयों के दर्शनों से आनन्द मिलता है, पर श्रीरामजी को देखकर तो लोग अत्यन्त आनन्द से विदेह दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

भुज - प्रलंब कंजारुन - लोचन। स्यामल गात प्रनत-भय-मोचन॥४॥
सिंह-कंध आयत उर सोहा। आनन अमित-मदन-मन मोहा॥५॥
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता॥६॥

अर्थ—भुजाएँ विशाल हैं, लाल कमल के समान नेत्र हैं, साँवला शरीर है, (ये सब) शरणागत के भय के छुड़ानेवाले हैं॥४॥ सिंह के कंधे के समान कंधे हैं, छाती चौड़ी शोभित है, मुख असंख्य कामदेवों के मन को मोहित करता है॥५॥ श्रीविभीषणजी के नेत्र सजल हैं और उनका शरीर पुलकित है, मन में धैर्य धरकर उन्होंने कोमल वचन कहे॥६॥

विशेष—(१) 'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन।'''—श्रीविभीषणजी रावण से रक्षा पाने के लिये रघुवीर-शरण में आये हैं, यथा—"मैं रघुबीर सरन अब जाउँ''" अतः, यहाँ उन्हें श्रीरामजी के वीर रस-प्रधान स्वरूप के दर्शन हुए। वे शत्रु से सभीत हैं और शत्रु का नाश भुज-बल से ही होगा, इसीलिये पहले उन्होंने 'भुज प्रलंब' ही देखा; यथा "पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले'''अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तन स्याम तमाला॥" (बा० दो० २०८); तथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ'''छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछुयक लाला॥" (लं० दो० ५१); यहाँ प्रभु के आयुध का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि—(क) यहाँ मिलने का प्रसंग है, अतः, प्रभु ने धनुष-बाण उतार दिये हैं। (ख) श्रीविभीषणजी भव-भय से डरे हुए हैं; यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर।" आगे कहा गया है। इनके लिये भुजाओं का ही प्रयोजन है; यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव

उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं'॥···सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहैं। करि आईं करिहैं, करती हैं, तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥" (गी० उ० १३)।

'कंजारुन लोचन'—से नेत्र कृपायुक्त सूचित किये गये; यथा—"राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक॥" (बा० दो० १७)।

'प्रनत भय मोचन'—अंत में कहे जाने से यह सबका विशेषण है, प्रभु के सब अंग भव-भय मोचन हैं; यथा—"पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव-भय मोचनं॥" (आ० दो० ३१)। यहाँ भी उपर्युक्त 'भय' का अर्थ भव-भय खुल गया है।

(२) 'सिंह कंध आयत उर'···—सिंह के समान ऊँचे और सुढार कंधों से गज-गण के समान राक्षसों का नाश करेंगे—यह प्रकट होता है। 'आनन अमित'···; यथा—"मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (बा० दो० २३२)।

(३) 'नयन नीर पुलकित अति गाता।'—श्रीरामजी की छवि को देखकर यह दशा हो गई, अधीरता आ गई। इसी से 'मन धरि धीर कही मृदु बाता॥' कहा है; यथा—"देखि भानु कुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरजु यक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥" (बा० दो० २३३) "पुलकित तनु मुख आव न बचना।···पुनि धीरजु धरि स्तुति कीन्ही।" (कि० दो० १), इत्यादि बहुत उदाहरण हैं।

श्रीविभीषणजी तन, मन और वचन से प्रेम में मग्न हैं, यथा—"नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता॥"

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर-बंस जनम सुरत्राता॥७॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥८॥

दोहा—श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव-भीर।
त्राहि त्राहि आरति-हरन, सरन सुखद रघुबीर॥४५॥

अर्थ—हे नाथ! मैं रावण का भाई हूँ, हे देवताओं के रक्षक! मेरा जन्म निशाचर-कुल में है॥७॥ मेरा शरीर तामसी है, (अतः) मुझे पाप स्वाभाविक ही प्रिय है, जैसे उल्लू को अंधकार से स्नेह रहता है॥८॥ कानों से आपका सुन्दर यश सुनकर आया हूँ कि प्रभु (आप) भव-भय के भंजन करनेवाले और समर्थ हैं। हे आर्त्तों के दुःख हरनेवाले! हे शरणागत को सुख देनेवाले!! हे रघुवीर!!! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥४५॥

विशेष—(१) 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।···'—शरणागति में कार्पण्य मुख्य है। इससे अपनी अधमता दिखाने के लिये रावण का भाई कहकर अपना परिचय देते हैं। पिता के नाम-सहित प्रणाम करने की रीति है, परन्तु इनके पिता ऋषि श्रीविश्रवाजी हैं। अतः, उस परिचय से कुलीनता पाई जाती। इसी कारण से बड़े भाई का नाम कहकर परिचय दिया, बड़ा भाई भी पिता के तुल्य है।

(उ० दो० ४); और श्रीहनुमानजी भी—"प्रेम मगन तेहि उठन न भावा।" (दो० ३१); अर्थात् ये दोनों शीघ्र नहीं उठे, परन्तु यहाँ श्रीविभीषणजी तुरत उठ गये—यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि उन दोनों के कारण उन प्रसंगों मे कहे गये हैं, और यहाँ ये तो चाहते ही थे कि प्रभु मुझे अंगीकार करें, अतएव केवल भुजावलम्बन-मात्र से ही उठ आये।

(३) 'अनुज सहित मिलि...'—जिसे प्रभु जिस प्रकार अंगीकार करते हैं, उसे श्रीलक्ष्मणजी भी वैसा ही मानते हैं, इससे मिले, यथा—"सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥" (कि० दो० १), उनके आदर के लिये भाई के साथ मिले। 'ढिग बैठारी'— यह अत्यन्त आदर है; यथा "अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि..." (लं० दो० ११), तथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। करगहि परम निकट बैठावा॥" (दो० ३३)। पास में ही अपनी दाहिनी ओर बैठाया; यथा—"उठि दाहिनी ओर ते सन्मुख सुखद माँगि बैठक लई।" (गी० सुं० ३८)। 'बोले बचन'—'हरष निसेषा' मे मन, 'हृदय लगावा' में तन और यहाँ 'बोले बचन' मे अपने वचन का प्रेम प्रकट किया है।

(४) 'कहु लंकेस...'—श्रीविभीषणजी को लंका का राजा बनाने की इच्छा है, इसी से प्रभु ने इन्हें अभी से लंकेश कहा। वचन से लंकेश बना दिया, प्रभु का वचन सत्य ही होता है; यथा—"सखा बचन मम मृषा न होई॥" (कि० दो० ६); ये लंकेश बनाये जायँगे। परिवार-सहित इनकी कुशल पूछी, क्योंकि "प्रनत कुटुंबपाल रघुराई" हैं। 'कुठाहर बास' अर्थात् तुम दुष्टों की मंडली में रहते हो, (उसी को आगे स्पष्ट करेंगे) जहाँ सज्जनों के लिये बहुत से विघ्न रहते हैं; यथा—"सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥" (दो० ६)—यह श्रीविभीषणजी का ही वचन है।

खल-मंडली बसहु दिन-राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥५॥
मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नयनिपुन न भाव अनीती॥६॥
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥७॥

अर्थ—हे सखे! तुम दिन-रात दुष्टों की मंडली मे रहते हो, तुम्हारे धर्मों का निर्वाह कैसे होता है?॥५॥ मैं तुम्हारी सब रीति जानता हूँ, तुम नीति मे अत्यन्त निपुण हो, तुम्हें अनीति नहीं अच्छी लगती।६। हे तात! नरक का वास चाहे हो भी, तो भला है, पर विधाता दुष्ट का संग नहीं दे॥७॥

विशेष—(१) 'खल मडली बसहु···'—उपर्युक्त कुशल का अर्थ यहाँ खोला गया कि धर्म का निर्वाह कैसे होता है? श्रीहनुमान्जी ने भी ऐसा ही अनुमान किया है; यथा "लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥" (दो० ५); दुष्टों मे धर्म सुनाई भी नहीं देता; यथा—"अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।" (बा० दो० १८३), "जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सोइ सब करहिं बेद प्रतिकूला।" (बा० दो० १८२), 'दिन-राती'—कुछ भी अवकाश धर्म का नहीं मिलता। श्रीविभीषणजी न बोले, तो प्रभु स्वयं उत्तर मे कहते हैं

(२) 'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती···'—श्रीविभीषणजी लंका मे रहते हुए भी श्रीरामजी की रीति जानते थे, जो रावण को उपदेश भी दिया है, वैसे ही श्रीरामजी भी उनकी रीति जानते हैं। 'सब रीति'—लोक-रीति, धर्म-रीति, वेद-रीति एवं राज-रीति आदि। पहले 'खल-मंडली' के बीच वास कह कर फिर 'न भाव अनीती' कहकर जनाया कि तुममे उनके दोषों का स्पर्श नहीं हुआ; यथा—"निधि बस

सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥" (बा० दो० २); "अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई।" (अ० दो० १८३); यह श्रीविभीषणजी के 'सहज पापप्रिय तामस देहा।···' का उत्तर है कि तुम पापी नहीं, किन्तु धर्मात्मा हो।

(३) 'बरु भल वास नरक···'—विधाता कर्म-फल के रूप में दुष्ट-संग भी देता है, उसी पर कहते हैं कि उसके बदले में नरक का वास देकर कर्म-दंड चुका दे, परन्तु विधाता दुष्ट का संग नहीं दे। श्रीविभीषणजी ने अपनेको दशानन का भाई कहा था, उसी का समाधान श्रीरामजी विधि-वश कहकर करते हैं। श्रीहनुमान्‌जी से तो इन्होंने कहा था; यथा—"सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ विचारी॥" पर यहाँ ऐसा नहीं कहा, यहाँ यह उपदेश है कि स्वामी से प्रपंच की बात न कहनी चाहिये ; यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि॥" (अ० दो० ३००)।

अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥८॥

दोहा—तब लगि कुसल न जीव कहँ, सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ, सोक-धाम तजि काम॥४६॥

अर्थ—हे रघुराज ! अब (आपके) चरणों के दर्शनों से कुशल है, जो आपने अपना जन जानकर मुझपर दया की (भाव—आप दया करते हैं, तो अपना जन जानते हैं, और फिर दर्शन देते हैं, तब कुशल होती है) ॥८॥ तब तक जीव की कुशल नहीं है और न स्वप्न में उसके मन को विश्राम है, जब तक शोक-धाम (शोकमय) काम (काम-विकार एवं कामनाओं) को छोड़कर वह श्रीरामजी को नहीं भजता॥४६॥

विशेष—(१) 'अब पद देखि···'—क्योंकि आपके पद ही कुशल के मूल हैं ; यथा—"कुसल मूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥" (अ० दो० १९४), यहाँ अपनी कुशल कही। 'जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन···' से परिवार की भी ; यथा—"अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे॥" (अ० दो० १९४); यदि शत्रु का भाई, एवं निशाचर जानकर आप मुझपर दया नहीं करते तो मेरी कुशल न थी, किन्तु 'अब' हुई। यह भाव 'जौं' में है।

'अब पद देखि···' उपक्रम है और आगे 'देखेउँ नयन विरंचि···' उपसंहार है।

(२) 'सोक-धाम तजि काम'—काम भजन में बाधक है, यथा—"करम वचन मन मोरि गति, भजन करहिं नि काम। तिन्ह के हृदय ··" (आ० दो० १६); जब तक निष्काम भजन नहीं हो, हृदय को विश्राम नहीं मिलता, यथा—"पाकारिजित-काम-विश्राम हारी।" (वि० ५८)। तथा—"भजिय राम सब काम तजि, अस विचारि मन माहिं॥" (उ० दो० १०४); यहाँ वासनाएँ 'काम' शब्द से कही गई हैं, ये शोकमय हैं ; यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, विमुख भये विश्राम।" (दोहावली २५८)।

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥१॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप-सायक कटि भाथा॥२॥

रूप भाग्य है कि ब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिन चरणों की सेवा (ध्यान से) करते हैं, मैंने उन्हीं को आँखों से देखा ॥४७॥

यहाँ श्रीविभीषणजी अपना अहोभाग्य आदि कहकर प्रत्यक्ष चरण-दर्शनों की प्रशंसा करते हैं, भाव यह है कि चरणानुरागी 'बड़ भागी' कहाते हैं, देखिये—"अतिसय बड़ भागी चरनन लागी" (बा दो० २१०); मैंने उन्हीं चरणों को प्रत्यक्ष देखा, इससे मेरा 'अहोभाग्य' है; यथा—"अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई।" (दो० ४१); फिर उन्होंने सोचा कि मुनि लोग सर्व साधारण जीवों से ऊपर हैं, जो उनके ध्यान में भी दुर्लभ हैं, उन्होंने ही मुझे हर्ष-पूर्वक हृदय से लगाया है, अतः मेरा 'अमित अहोभाग्य' है। फिर सोचा कि ब्रह्मा और शिवजी ईश्वर हैं, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हैं, वे भी जिन्हें ध्यान से ही पाते हैं उन्हें मैंने प्रत्यक्ष देखा, तो मेरा 'अति अमित अहोभाग्य' है। 'राम कृपा-सुख-पुंज'—प्रभु कृपा के पुंज हैं, इससे उन्होंने अति कृपा की और सुख के पुंज हैं, इससे अमित सुख दिया। पुनः अति कृपा की, तभी अति सुख भी दिया। जो सुख मुझे दिया, वह अति सुकृत से भी नहीं मिल सकता—यह अति कृपा का ही फल है।

इस प्रसंग पर कुछ आवृत्तियाँ

१—शरणागति के अंग—प्रथमावृत्ति

भरताचार्य ने शरणागति के ये लक्षण कहे हैं; यथा—"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" अर्थात् अपने अभीष्ट को अन्य उपायों से सिद्ध होता न देखकर महा विश्वासपूर्वक 'आप ही मेरे उपाय हैं' ऐसी प्रार्थना करना शरणागति है। इस प्रकार की प्रपत्ति से जीव माया से मुक्त होता है; यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते।" (गीता ७।१४) "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो···" (कठो० १।२।२२); एवं "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक० १।२।१२), इत्यादि श्रुतियाँ भी भगवत्प्राप्ति में भगवान् को ही उपाय कहती हैं। जीवों के पुरुषार्थ से इसे असाध्य कहती हैं। अतएव महा विश्वास-पूर्वक भगवान् को ही उपाय-रूप में वरण करना प्रपत्ति है। श्रुति भी कहती है—"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः···" (कठो० १।२।२२)। वही प्रपत्ति श्रीविभीषणजी ने भी की है। उन्होंने जब श्रीहनुमान्जी के द्वारा श्रीरामजी का प्रभाव सुना और फिर अपनी आँखों से भी देखा कि उनके भेजे हुए एक वानर ने सोने की लंका को राख कर दिया, इसे उन्हींका तेज समझकर श्रीरामजी की शरण में आये। शरणागति के छः अंग हैं; यथा—"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥" ऐसा 'श्रीनारद-पंचरात्र' में कहा गया है; अर्थात् अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग करना, प्रभु रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास रखना, प्रभु को रक्षक-रूप में वरण करना कि मैं असमर्थ हूँ आप मेरी रक्षा करें, अपनी आत्मा को प्रभु को अर्पण कर देना और दीनता निवेदन करना—ये छः हैं ये सब श्रीविभीषणजी में चरितार्थ हैं—

अनुकूलता का संकल्प—"चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ···"
प्रतिकूलता का त्याग—"मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ···अस कहि चला···"
रक्षा में विश्वास—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ···"
गोप्तृत्ववरण—"श्रवन सुजस सुनि···त्राहि त्राहि आरति हरन···"

आत्मनिक्षेप—"अस कहि करत दंडवत देखा।"

कार्पण्य—"नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" से "जथा उलूकहि तम···" तक।

२—द्वितीयावृत्ति—दर्शन की सफलता

श्रीविभीषणजी ने तीन बार दर्शनों की अभिलाषा की थी, यथा—"देखिहउँ जाइ चरन ··" "अहो भाग्य मैं देखिहों तेई" "ते पद आजु बिलोकिहउँ · "। अतः, तीन ही बार उसकी सफलता भी कही गई है; यथा—'अब पद देखि ··' 'देखि राम पद कमल तुम्हारे।' 'देखेउँ नयन बिरंचि सिव···'।

३—तृतीयावृत्ति—अंग दर्शन और उनके प्रतिकृत्य

श्रीविभीषणजी ने प्रभु के छः अंग देखे— (१) भुज प्रलंब। (२) कंजारुन लोचन। (३) श्यामल गात। (४) सिंह कंध। (५) आयत उर। (६) आनन अमित मदन···। अतएव प्रभु ने छहों अंगों से उनपर कृपा की—

(१) लंबी भुजा से उठाया—'भुज बिसाल गहि...'

(२) कंजारुण लोचन से देखा—'अस कहि करत दंडवत देखा।'

(३) श्यामल गात से भय मिटाया—'श्यामल गात प्रनत भय मोचन।'

(४-५) सिंह कंध—आयत उर से भेंटे—'हृदय लगावा'

(६) आनन अमित मदन··से बोले—'बोले बचन भगत भय हारी।'

४—चतुर्थावृत्ति—प्रश्नोत्तर

प्रश्न	उत्तर
(१) कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥	अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥
(२) खल मंडली बसहु दिन राती।	तब लगि हृदय बसत खल नाना।···
(३) सखा धर्म निबहै केहि भाँती।	मैं निसिचर...सुभ आचरन ··'
(४) बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥	तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भव-सूला॥

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥१॥
जौं नर होइ चराचर - द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥२॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥३॥

अर्थ—हे सखे! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ, जिसे भुशुंडीजी, शिवजी और गिरजाजी भी

जानते हैं ॥१॥ जो मनुष्य चराचर-मात्र का द्रोही हो, वह भी यदि भयभीत होकर मेरी शरण तककर आवे ॥२॥ तो उसके मद, मोह और अनेकों कपट छल को छोड़कर (अर्थात् उसके दोषों पर दृष्टि न देकर) मैं उसे शीघ्र साधु के समान कर देता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनहु सखा निज...'—मेरे स्वभाव से परिचित होने से अत्यन्त प्रीति बढ़ेगी, इसलिये प्रभु कहते हैं; यथा—"उमा राम सुभाउ जेहि जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ॥" (दो॰ ३३); 'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ'—शिवजी को मध्य में कहा गया है, क्योंकि इन्हीं से दोनों ने मालूम किया है; यथा—"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥ सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा ।" (बा॰ दो॰ ३१); श्रीरामजी के स्वरूप और स्वभाव जानने में ये लोग प्रामाणिक माने जाते हैं; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माही।...जो भुसुंडि मन मानस हंसा।...देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा॰ दो॰ १४५);—यह मनु ने कहा है। ये लोग श्रीरामजी के स्वभाव के भी ज्ञाता हैं; यथा—"उमा राम सुभाय जेहि जाना।..." (उपर्युक्त); "अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥" (उ॰ दो॰ १२३)। इसी तरह अन्यत्र भी प्रभु-स्वभाव-वर्णन किया गया है, यथा—"सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ। सुनहुँ सखा कपिपति लंकापति तुम्हसन कौन दुराउ ॥ सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाकहुँ कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं...(गी॰ सुं॰ ४५)।

(२) 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ...'—पहले कहा गया है; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा ॥" (दो॰ ३८); उसका अवशिष्ट रहस्य यहाँ खुल गया कि अपने पापों से डरकर शरण में आवे। 'तकि मोहीं'—अर्थात् विश्वासपूर्वक मुझमें ही अनन्य होकर आवे।

(३)'तजि मद मोह...'—मैं उसके पापों से घृणा करके उसे त्यागता नहीं, किंतु उसे शुद्ध करके साधु बना देता हूँ। 'छल नाना'—मन, वचन, कर्म के; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल..." (अ॰ दो॰ १०७)।

(४) 'करउँ सद्य तेहि...', यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।..." (गीता ९।३०-३१)। यहाँ शरण आने पर पापी को सुकृती बनाना कहा गया है। अतः, यहाँ कर्मकांड का फल आया।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥४॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ॥५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे ॥७॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र (और) परिवार ॥४॥ इन सबके ममत्व रूपी तागे बटोर कर (इन सब को मिलाकर) डोरी बाँटकर उससे मन को मेरे चरणों में बाँधे ॥५॥ समदर्शी हो, कुछ इच्छा न हो और न मन में कोई हर्ष, शोक और भय हो ॥६॥ ऐसे सज्जन मेरे हृदय में कैसे बसते हैं, जैसे लोभी के हृदय में धन ॥७॥

विशेष—(१) 'जननी जनक बंधु...'; यथा—"सुत, दार, अगार, सखा, परिवार, बिलोकु महा

कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संत सभा न विराजहि रे।...तुलसी 'भजु कोशल-राजहि रे॥" (क० उ० ३०)। तथा—"या जग में जहँलगि या तनु की प्रीति प्रतीत सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहि सिमिटि यकठाई॥" (वि० १०३)।

तात्पर्य यह है कि युपर्युक्त जननी आदि दशो श्रीरामजी के शरीर हैं, इन रूपों से श्रीरामजी ने ही उप-कार किये हैं; यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" (गीता ९।१७); "गर्भवास दस मास पालि पितु मातु रूप हित कीन्हों।" (वि० १७१). अतएव जिन उपकारों के बदले जननी आदि की भक्ति की जाती है, वे उपकार श्रीरामजी ने ही किये हैं, ऐसा समझकर इनसे ममता हटाकर सर्वात्मना श्रीरामजी में ही ममता करे, उनके चरणों में 'दृढ़ प्रीति करे' और मनको उन्हीं में बाँध दे। श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा ही किया भी है; यथा—"जहँलगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१); और भी देखिये आ० दो० १५ चौ० १० इत्यादि।

(२) 'सबकै ममता ताग...'—जगत् की ममता को ताग (कच्चा धागा) कहा गया है, क्योंकि सब स्वार्थ के ही स्नेही हैं; यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० २७७); अतएव विचार करने पर ये शीघ्र टूट जानेवाले हैं, इन सब रूपों से प्रभु ही सच्चे हितैषी हैं, इस ज्ञान से जो सर्वात्मना प्रीति प्रभु में होगी, वह रस्सी के दृढ़ बंधन के समान होगी।

(३) 'समदरसी इच्छा कछु नाहीं ...'—उपर्युक्त दृष्टि से जगत् श्रीरामजी का शरीर है, इस दृष्टि में जगत् के सब जड़-चेतन रूपों द्वारा हुए एवं होनेवाले उपकार और अपकार हमारे कर्मानुसार श्रीरामजी ने किये एवं कर रहे हैं, ऐसा समझने से न किसी से राग होगा और न द्वेष, क्योंकि फिर शत्रु-मित्र कोई नहीं रह जायगा। सर्वज्ञ भगवान् यथायोग्य ही बर्त्ताव करते हैं। जैसे मनुष्य अपना शरीर पालता है, वैसे ही वे भी जगत् के अनेक रूपों एवं भावों से प्रत्येक जीवों को पालते हैं, जैसे मनुष्य शरीर के व्रण आदि को चिराता भी है, वैसे वे भी चेतनों के पाप कर्मों का दंड देते हैं, उसे शुद्ध करते हैं और भविष्य के लिये शिक्षा देते हैं कि फिर वह दुष्कर्म न करे। अतएव समदर्शिता भी रहेगी। जैसे शरीर की इच्छा-पूर्ति शरीरी (शरीरवाला) ही करता है, वैसे श्रीरामजी भी सबका पालन करते हैं और करेंगे तो इच्छा भी कुछ न होगी और न किसी घटना पर हर्ष अथवा शोक ही होगा। क्योंकि ये सभी कार्य प्रभु पर ही निर्भर रहेंगे।

(४) 'अस सज्जन मम उर बस...'—जिस तरह लोभी को धन अत्यन्त प्रिय होता है; यथा—"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३०) उसी तरह यह मुझे प्रिय होता है। क्योंकि यह सर्वथा मेरी सत्ता को मानता हुआ उसी में संतुष्ट है; यथा—"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षा-मर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥" (गीता १२।१५)।

यहाँ ज्ञानी भक्त का वर्णन है, जो समदर्शिता और ममता-त्याग आदि लक्षणों से स्पष्ट है, समदर्शी; यथा—"समदरसी मुनि बिगत बिभेदा।" (उ० दो० ३१); "देख ब्रह्म समान सब माहीं। (आ० दो० १४); "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः॥" (गीता ६।३२); तथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५)।

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहि आन निहोरे॥८॥

दोहा—सगुन-उपासक पर-हित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान-समान मम, जिन्हके द्विज-पद-प्रेम॥४८॥

अर्थ—तुम्हारे ऐसे संत मेरे प्रिय हैं, दूसरे के निहोरे (कारण से) मैं शरीर नहीं धरता (अर्थात् संतों के लिये ही अवतीर्ण होता हूँ) ।८। जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, परोपकार और नीति में तत्पर हैं, नियम के पक्के हैं और जिनका विप्र-चरणों में प्रेम है—वे मनुष्य मुझे प्राण के समान (प्रिय) हैं ॥४८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह सारिखे संत···'—संत कहकर आगे के दोहे में उनके लक्षण कहे हैं—'सगुन उपासक···' और फिर 'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे।···' से सर्व-लक्षण-सम्पन्न इन्हीं को कहा है। ऐसे संतों का दुःख मैं देख नहीं सकता इसीसे देह धारण करता हूँ और उनकी रक्षा करता हूँ; यथा—"अंत-रीप हित दयानिधि सोइ जनमे दस बार" (कि० १८); "सो केवल भगतन हित लागी।" (बा० दो० १२); भी देखिये। 'द्विज-पद-प्रेम'—को अंत में कहकर इसे सब साधनों की जड़ सूचित करते हैं। अन्यत्र इसे आदि में कहा है; यथा—"प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती।" (आ० दो० १५); अर्थात् इसे आदि से अंत तक निबाहना चाहिये—यहाँ उपासक का वर्णन हुआ।

(२) यहाँ भक्ति की तीनि कोटियाँ कही गई हैं; यथा—(१) 'जौं नर होइ···साधु समाना।' (२) 'जननि जनक···बसै धन जैसे।' (३) 'तुम्ह सारिखे···द्विज-पद-प्रेम' इनमें क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासना की वृत्तियाँ कही गई हैं। पुनः क्रमशः निकृष्ट, मध्यम और उत्तम कोटि के भक्तों की वृत्तियाँ भी जाननी चाहिये। इन्हें क्रमशः साधारण प्रिय, अधिक प्रिय और प्राण समान प्रिय भी यहाँ के 'ते नर प्रान-समान' कहने से जनाया गया है। पहले को असाधु से साधु बनाया वह साधारण प्रिय है। दूसरे संत को लोभी के धन की तरह हृदय में बसाया, इससे अधिक प्रिय माना और तीसरे सर्व-लक्षण-सम्पन्न उपासक को प्राण-समान प्रिय कहा है, यह प्रियत्व की चरम सीमा है; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २००)।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे ॥१॥

अर्थ—हे लंकेश ! सुनो, तुममें सब गुण हैं, इसीसे तुम मेरे अतिशय प्यारे हो ॥१॥

विशेष—(१) उपर्युक्त सब गुण इनमें हैं, ये सबकी ममता त्याग करके आये हैं। समदर्शी हैं, इसीसे रावण के आदर, निरादर और मारने पर भी इन्होंने उसका हित ही कहा है। यह पहले ही कहा जा चुका है। इच्छा कुछ नहीं है; यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।" आगे कहा गया है। लंका छूटने का शोक, लंकेश होने का हर्ष और विपक्ष से आने पर रावणादि का भय कुछ भी नहीं है। 'संत' हैं, इसीसे पराये हित के लिये कहने में अपमान का भी सामना करना पड़ा; यथा—"परउपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया।" (उ० दो० १२०); सगुन उपासक हैं; यथा—"हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा।" (दो० ४); पर-हित-निरत हैं; यथा—"मति अनुरूप कहउँ हित ताता।···राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥" (दो० ३७–४०); नियम में दृढ़ हैं; यथा—"तेही समय बिभीषन जागा। राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा।" (दो० ५); द्विज-पद-प्रेम है; यथा—"करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥" (दो० ५)।

इन्होंने अपने को कांड-त्रय-हीन बतलाया था; यथा—'सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ।'—कर्म-हीन, 'तामस देहा'—ज्ञान-हीन, क्योंकि ज्ञान का उदय सत्वगुण से होता है। 'सहज पाप प्रिय' से उपासनाहीन, क्योंकि "पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥" (दो० ४३); इसपर यहाँ श्रीरामजी ने उपर्युक्त तीनों कोटि के गुण इनमें कहकर इन्हें कांडत्रययुक्त कहा।

(२) आदि (उपक्रम) में 'कहु लंकेस सहित परिवारा।···' से इन्हें 'लंकेस' कहा था और यहाँ उपसंहार में भी 'सुनु लंकेस' कहकर इन्हें लंका का राज्य देना ध्वनित किया। इसी पर आगे श्रीविभीषणजी कहेंगे; यथा—'उर कछु प्रथम वासना रही।···' इत्यादि। साथ ही 'अतिसय प्रिय' कहकर समझाया भी कि यह न समझो कि मुझे प्रवृत्ति में फँसाते हैं, किन्तु मैं यह कार्य अत्यन्त प्रियत्व की दृष्टि से करता हूँ। मैं भक्त के हृदय की सूक्ष्म वासना भी शुद्ध कर देता हूँ, यही मेरा अभिप्राय है। अतः, मेरा यह अतिशय प्रियत्व तुम्हारे लंकेश होने पर भी रहेगा, सार-सँभार करूँगा।

राम - वचन सुनि वानर - जूथा। सकल कहहिं जय कृपा-वरूथा ॥२॥
सुनत विभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी ॥३॥
पद - अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर सब वानरों के यूथ कह रहे हैं कि कृपा के समूह श्रीरामजी की जय हो ॥२॥ प्रभु की वाणी सुनकर, उसे कानों के लिये अमृत (समान) जानकर श्रीविभीषणजी तृप्त नहीं होते ॥३॥ बार-बार चरण कमल को पकड़ते हैं, उनके हृदय में अपार प्रेम है, इससे वह नहीं समाता ॥४॥

विशेष—(१) 'जय कृपा-वरूथा'—प्रभु ने अत्यन्त कृपा करके श्रीविभीषणजी को सर्व-गुण-सम्पन्न कहा, नहीं तो निशाचरों में सर्वगुण-सम्पन्नता कहाँ ? यथा—"रिपु को अनुज विभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी ॥" (वि॰ १६६); कृपा करके सखा बनाया, उनका सम्मान किया, इत्यादि बातों पर सभी जय-जयकार करते हैं। पहले इनकी शरणागति-स्वीकृति पर सबने जय-जय शब्द कहा था; यथा—"जय कृपाल कहि कपि चले···" और अब प्रभु का शरणागत-वत्सल स्वभाव सुनकर जय-जयकार करते हैं। श्रीविभीषणजी इस जय-जयकार के रव में सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि उक्त प्रसंग में इनकी प्रशंसा है, इससे ये सकुच गये हैं, यह साधु-वृत्ति है; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ॰ दो॰ ४५)।

(२) 'नहिं अघात श्रवनामृत जानी'—जी नहीं भरता, इच्छा है कि सुनता ही रहूँ, क्योंकि तृप्ति नहीं होती। प्रभु के ये वचन अमृत के समान जन्म, जरा, मरण छुड़ानेवाले हैं, और साथ ही मीठे भी हैं; यथा—"प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ ॥ सो सुख जानै मन अरु काना।" (उ॰ दो॰ ८७); तथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई ···हृष्ट पुष्ट तनु भये सुहाये।··· श्रवन सुधा सम वचन सुनि, ··बोले मनु ··" (बा॰ दो॰ १४५)। 'पद अंबुज गहि बारहिं बारा।···'—प्रेम में मग्न हैं, इसीसे बार-बार चरण-कमल पकड़ते हैं; यथा—"प्रेम मगन मुख वचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥" (आ॰ दो॰ ११); अपार प्रेम है, इससे रोमांच एवं अश्रुपात द्वारा मानों उमड़ा पड़ता है, हृदय में नहीं समाता। कृतज्ञता प्रकट करने की ऐसी रीति भी है; यथा—"सुनत सुधा सम वचन राम के। सबन्हि गहे पद कृपाधाम के ॥" (उ॰ दो॰ ४६); "मोपहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥" (उ॰ दो॰ १२४)।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरयामी ॥५॥
उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो वही ॥६॥

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव - मन - भावनी ॥७॥

अर्थ—हे देव ! हे चराचर जगत् के स्वामी ! हे शरणपाल ! हे अंतर्यामी ! सुनिये ॥५॥ पहले कुछ वासना हृदय में थी, वह प्रभु के चरणों की प्रीति-रूपी नदी में बह गई ॥६॥ हे कृपालु ! अब सदा श्रीशिवजी के मन को रुचनेवाली अपनी पवित्र भक्ति मुझे दीजिये ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनहु देव···'—आप दिव्यदृष्टि हैं, चराचर-मात्र के स्वामी हैं और शरणागत के पालनेवाले हैं ; यथा—"जग-पालक बिसेषि जन-त्राता।" (बा० दो० १६) ; अतएव मेरा भी पालन कीजिये। अंतर्यामी हैं अतः, सब जानते ही हैं कि मेरे हृदय में अब और वासना नहीं है, इसकी पुष्टि करके आगे भक्ति माँगेंगे ; यथा—"पेट भरि तुलसिहि जेवाइय भगति सुधा सुनाज।" (वि० २१६) ; इसीसे पालन कीजिये।

(२) 'उर कछु प्रथम बासना रही।···'—प्रभु ने आदि और अंत में इन्हें लंकेश कहा, इससे ये समझ गये कि प्रभु मुझे लंका का राज्य देंगे, इससे कहते हैं कि अब मेरे हृदय में इसकी वासना नहीं है। 'कछु' का भाव आगे श्रीरामजी खोलेंगे; यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।···" आगे—"अस कहि राम तिलक तेहि सारा।" इससे स्पष्ट होगा। राज्य को 'कछु' कहा, क्योंकि भक्ति-वैभव के आगे यह राज्य-वैभव अति तुच्छ है। भक्ति-सुख के आगे तो ब्रह्मानंद भी तुच्छ कहा गया है, तब राज्य-वैभव क्या चीज है ? इसपर ऊपर चौ० १ और दो० ४० चौ० ९ भी देखिये।

(३) 'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु···'—'अब'—वासना-रहित होने पर ही भक्त उत्तम भक्ति का पात्र होता है ; यथा—"बहुत कीन्ह सिय लपन प्रभु, नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ ॥" (अ० दो० १०१) ; मं० श्लो० २ भी देखिये। तथा—"तुलसी जौं लौं बिषय की, मुधा, माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम-भगति सुठि सीठि॥" (दोहावली ८६)। 'कृपाल'—कृपा करके दीजिये, क्योंकि मैं साधनहीन हूँ। 'निज भगति'—अपनी अनन्य भक्ति, इसी (राम) रूप की भक्ति। शिवजी ने काम को भस्म कर दिया है अतः, उनके निर्विकार हृदय में जैसी पावन भक्ति है, वैसी ही मुझे भी दीजिये। 'सदा...भावनी'—अचल-रूप से एकरस रहनेवाली। शिवजी उत्तम भक्ति के आचार्य हैं; यथा—"रिषि पूछी हरि-भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥" (बा० दो० ४७); अतएव उन्हीं का प्रमाण दिया गया।

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा ॥८॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं ॥९॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन-वृष्टि नभ भई अपारा ॥१०॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' कहकर रणधीर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने तुरत समुद्र का जल माँगा (इच्छित वस्तु देकर फिर जो इच्छा पूर्व होकर निवृत्त हो गई थी, उसे पूरी करेंगे, क्योंकि आप 'गई बहोर' हैं,) ॥८॥ (और कहा—) हे सखा ! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तथापि हमारे दर्शन संसार में निष्फल नहीं होते (उसे सफल करो, अब हमारी इच्छा से लो) ॥९॥ ऐसा कहकर श्रीरामजी ने उनका तिलक किया, आकाश से फूलों की अपार वृष्टि हुई ॥१०॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु कहि...'—पहले श्रेष्ठ भक्ति का वरदान देकर, पीछे पूर्व की वासना-शुद्धि के लिये लंका का राज्य भी देंगे। 'प्रभु रनधीरा'—समर्थ हैं और रण में धीर हैं, अतः, दृढ़ विश्वास है कि हम अवश्य रावण को मारेंगे और इन्हें राज्य देंगे। इसी दृढ़ता पर रावण के मरने के पहले ही इन्हें तिलक देते हैं। 'तुरत'—क्योंकि आप की प्रसन्नता का फल शीघ्र ही मिलता है। 'सिंधु कर नीरा'—इसमें सभी तीर्थों के जल रहते हैं। इससे यह भी सूचित किया गया कि जहाँ तिलक के और सामान न भी हों, तो केवल तीर्थ-जल से भी कर सकते हैं।

(२) 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।...'—हमारी शरण में चलते समय जो वासना अंकुरित हो आई, वह फलीभूत होकर ही रहेगी ; क्योंकि हमारे दर्शन सफल हैं, यथा—"अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।" (वाल्मी ६।११७।३१) ; इससे दर्शनोद्देश्य के समय जो वासना हो आई, वह सफल होगी। अतः, मैं तिलक करूँगा। 'जगमाहीं—का भाव यह है कि यदि यह न दें, तो जगत् में यह भी प्रवाद होगा कि विभीषण रावण-द्वारा अपमानित होकर श्रीरामजी के यहाँ गया, परन्तु उन्होंने उसका कुछ उपकार नहीं किया। अतएव उक्त वासना की पूर्ति करके फिर मेरी भक्ति का फल-रूप मेरा धाम भी मिलेगा; यथा—"करहु कलप भरि राज तुम्ह,...पुनि मम धाम पाइहहु..." (लं॰ दो॰ ११५) ; यथा—"ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्। प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च।" (वाल्मी॰ ६।११७।३२) ;

(३) 'अस कहि राम तिलक...'—सिंधु-जल लाना नहीं कहा, किन्तु तिलक करना ही कहा गया, इससे अत्यन्त शीघ्रता दिखाई गई। श्रीरामजी बहुत प्रसन्न हैं, इससे सभी कार्य तुरत हो गये; यथा—"जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥" (अ॰ दो॰ ६), श्रीविभीषणजी ने प्रभु को 'अंतरजामी' कहकर 'उर कछु प्रथम वासना रही' कहा था। अतः, अंतर्यामी ने हृदय की बात जानकर उसे खोल दिया कि 'कुछ' का अर्थ—लंका का राज्य—था। श्रीविभीषणजी ने इसे नहीं खोला था, क्योंकि जब उसकी इच्छा रह ही नहीं गई, तो व्यर्थ क्यों खोलकर कहें ?

'सुमन-बृष्टि नभ भई अपारा।'—क्योंकि देवताओं को निश्चय हो गया कि अब रावण अवश्य मारा जायगा, नहीं तो श्रीविभीषणजी को राज्य कैसे मिलेगा? इसी से उन्होंने बहुत फूल बरसाये। आगे जब रावण मारा गया और इनका स्वार्थ सिद्ध हो गया, तब श्रीविभीषणजी का राज्याभिषेक लंका में विधान-पूर्वक किया गया, परन्तु वहाँ इनलोगों ने फूल नहीं बरसाये और न सुग्रीव के राज्य-तिलक पर ही पुष्पवर्षा की थी। इसी से तो कहा है—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं॰ दो॰ १०८)।

परमार्थ-पक्ष में श्रीविभीषणजी जीवरूप हैं और रावण मोहरूप है, वि॰ ५८ देखिये। जीव के शरण होते ही भगवान् उसे संसार से अभय कर देते हैं, जैसे श्रीविभीषणजी को अभी से ही रावण से विजय पाने का तिलक कर दिया। फिर स्वयं उपाय-द्वारा सेतु बाँधकर वानरों के साथ रावण का नाश कर इन्हें राजा बनावेंगे। वैसे ही जीव का देहाभिमान बाँध (नाश) कर विवेक-विरागादि के सहित इसके मोह-परिवार को नाश कर इसे अपने शुद्धस्वरूप का राज्य देंगे, जिससे यह च्युत हुआ है; यथा—"निष्काज राज बिहाइ नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्यो॥" (वि॰ १३६) ; तथा—"स स्वराड् भवति।" (छां॰ ७।२५।२) ; अर्थात् यह कर्म-बन्धनों से छूटकर स्वतन्त्र राजा हो जाता है। और फिर प्रारब्ध-भोग समाप्त कराकर अपना धाम भी देंगे। जैसे श्रीविभीषणजी श्रीरामजी के ही पक्ष में रहे, वैसे ही यह भी शरण होनेपर नाम, रूप, लीला, धाम की आराधना-द्वारा श्रीरामजी के पक्ष का बना रहे, (नहीं तो चित्तवृत्ति जगत् की ओर जायगी ही) यही श्रीरामजी का उपाय होना है, और अंत में अपना ही पार्षद बनावेंगे, तो फलरूप भी स्वयं हैं। उपाय और उपेय (फल) ईश्वर को ही मानना शरणागति है।

दो०—रावन क्रोध अनल निज, श्वास समीर प्रचंड।
जरत विभीषण राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥४९॥

अर्थ—रावण का क्रोध अग्नि है, अपनी (श्रीविभीषणजी की) साँस प्रचंड वायु है, प्रभु ने श्रीविभीषणजी को जलने से बचाया और उन्हें अखंड राज्य दिया॥ जो सम्पत्ति श्रीशिवजी ने रावण को दस शिर चढा देने पर दी थी, वही संपत्ति श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी को सकुचकर दी।

विशेष—(१) 'निज श्वास'—रावण क्रोध से जला करता था; क्योंकि श्रीविभीषणजी को उसकी अनीति अच्छी नहीं लगती थी। जब मंत्री लोग रावण के अनीति-कार्य पर उसकी प्रशसा करते थे, तब ये ऊर्ध्वश्वास ले-लेकर चुप रह जाते थे, यथा—"जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी।" (दो॰ ६);—यह इन्होंने अपने लिये कहा ही है। इसपर रावण का क्रोध इस तरह बढ़ता था, जैसे वायु से अग्नि। उसे यह भान होता था कि यह हमारा विभव नहीं देख सकता। जब श्रीरामजी के पक्ष का समर्थन करते देखता तो वह क्रोध से अधिक जल उठता कि मेरी प्रशंसा सुनकर मौन हो जाता है और शत्रु की प्रशंसा का वक्ता बन जाता है। 'जरत'—यदि श्रीरामजी शरण मे न रखते, तो ये रावण की क्रोधाग्नि का शिकार हो जाते; यथा—"रावन-रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै।" (गी॰ सुं॰ ४४); श्रीविभीषणजी पर उसने ब्रह्म-दत्त अमोघ-शक्ति भी आगे छोड़ी ही है। उसकी प्रतिज्ञा भी है; यथा—"होइहि जब कर कीट अभागी।" (दो॰ ५२), 'राज्य अखंड'—रावण का राज्य खंडित हो गया, पर इनका कल्पान्त-पर्यन्त रहेगा; यथा—"करेहु कलप भरि राज तुम्ह···" (ल॰ दो॰ ११५)।

(२) 'जो संपति सिव ···'; यथा—"जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं। सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥" (वि॰ १६१); तथा—"या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शङ्करात्। दर्शनाद्रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे॥" (हनुमन्नाटक), पुन —"बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई॥" (गी॰ सुं १८)।

तात्पर्य यह है कि इतनी बड़ी तपस्या के फल से भी शरणागति का महत्त्व अधिक है। श्रीविभीषणजी के एक प्रणाम के बदले मे इतना देने पर भी श्रीरामजी को संकोच ही रहा कि यह देने योग्य नहीं है, अयोध्या मे होते तो और बहुत देते, यथा—"बलकल भूषन, फल असन, तृन सय्या, द्रुम प्रीति। तिन्ह समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति।।" (दोहावली १६२); यहाँ श्रीगोस्वामीजी किसी की छोटाई-बड़ाई नहीं कह रहे हैं, किंतु प्रपत्ति (सकृत प्रणाम) का फल कह रहे हैं, यथा—"एकोऽपि कृष्णस्य कृत. प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्य। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥" (विष्णु-पुराण), भाव यह है कि दशाश्वमेध पुण्य है, इसका फल क्षीण होने पर जीव पुन मर्त्यलोक मे जन्म लेता है, पर कृष्णप्रणामी का पुनर्जन्म नहीं होता, यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ॰ दो॰ २९६)। तथा - "त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलि.। तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषत. शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते।"—(आलवंदार-स्तोत्र)

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ विषाना ॥१॥
निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपिकुल-मन भावा ॥२॥

अर्थ—ऐसे (शरणपाल एवं परम उदार) प्रभु को छोड़कर जो किसी दूसरे को भजते हैं, वे मनुष्य विना सींग और पूँछ के पशु हैं [भाव यह कि वे पशु के समान (विचार-हीन) हैं, उनके सींग-पूँछ ही नहीं है, शेषांश में पशुता ही है] ॥१॥ अपना जन जानकर उन्हें अपना लिया, प्रभु का स्वभाव कपियों के मन में अच्छा लगा ॥२॥

विशेष—(१) 'अस प्रभु छाड़ि'''—'अस' अर्थात् निशाचर, शत्रु का भाई शरण में आया, उसे भी इतना आदर दिया, उसके लोक-परलोक दोनों बनाये। भक्तों के लिये परम उदार और शरणपाल एवं पतित-पावन ऐसा दूसरा नहीं है ; यथा—"*तुलसी जाके होइगी, अंतर-बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो, केवटपालहि पीठि ? ॥*" (दोहावली ४६) "वालमीकि केवट कथा, कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों, तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १६३); इन्हें जानकर भी जो दूसरे को भजते हैं, वे बिल्कुल अज्ञानी हैं। जैसे विना सींग-पूँछ पशु की अशोभा होती है, वैसे ही ज्ञान विना मनुष्यों की अशोभा है। पुन: वे नर-पशु हैं, न केवल नर और न केवल पशु ही हैं। प्राकृत शोभाहीन हैं। क्योंकि नर-तनु का उद्देश्य परलोक-साधन है; यथा—"बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन्ह गावा॥ साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र'''" (उ० दो० ४२–४३); *अर्थात् हरि-भजन-विना नर-तन निन्दित ही है ; यथा—"नहिं सत्संग भजन नहिं हरि को* श्रवन न राम कथा अनुरागी।'''सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥" (वि० १४०)।

(२) 'निज जन जानि ताहि'''—'निज जन' अर्थात् अपना अनन्य भक्त ; यथा—"देखि दसा निज जन मन भावा।"—सुतीक्ष्ण, वे कैसे थे; यथा—"मन क्रम वचन राम-पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥" (आ० दो० ६)। इसी प्रसंग पर श्रीमुख-वचन है ; यथा—"जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहि न और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ॥" (गी० सुं० ४५)।

'प्रभु सुभाउ कपिकुल मन भावा।'—वानर-गण अपनेको धन्य मानते हैं कि हमलोग ऐसे शरणपाल, उदार एवं समर्थ स्वामी के सेवक हैं। ये लोग श्रीरामजी का स्वभाव ऐसा नहीं जानते थे, क्योंकि उसके ज्ञाता कोई-कोई हैं; यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरजाऊ॥" (दो० ४०); प्रभु ने श्रीमुख से अपने स्वभाव की सुलभता कही। इसपर गी० सु० ४५–४६ पद भी देखने योग्य हैं। सुनकर मन भाया कि हम सबके निर्वाह-योग्य स्वामी का सरल स्वभाव है, यथा—"तुलसी सुभाय कहै नहीं कछू पच्छपात, कौन ईस किये कीस भालु खास माहली ?॥" (क० उ० २३)।

'सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ।' उपक्रम है और 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा।' यह उपसंहार है।

"सागर-निग्रह-कथा"—प्रकरण

पुनि सर्वज्ञ सर्व - उर - वासी। सर्वरूप सवरहित उदासी ॥३॥
बोले वचन नीति - प्रतिपालक। कारन मनुज दनुज-कुल-घालक ॥४॥

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा ॥५॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती ॥६॥

अर्थ—फिर सब जाननेवाले, सबके हृदय में बसनेवाले, सर्वरूप (विश्वरूप) और सबसे रहित उदासीन ॥३॥ (प्रभु) नीति-प्रतिपालक वचन बोले। इसका कारण यह है कि वे मनुष्य-रूप धारण किये हुए हैं और राक्षस-कुल के नाश करनेवाले हैं (अर्थात् नर-राज-तनु के अनुरूप) नीति-परक वचन बोले, [यथा—"सोचिय नृपति जो नीति न जाना।" (अ॰ दो॰ १७१)] ॥४॥ हे वीर कपीश सुग्रीव! हे वीर लंकेश विभीषण!! सुनो, यह गहरा समुद्र कैसे पार किया जाय? ॥५॥ यह मगर, सर्प और अनेक जातियों की मछलियों से भरा हुआ है, अत्यन्त गहरा है (अतः) इसका पार करना सब प्रकार से कठिन है ॥६॥

विशेष—(१) 'पुनि सर्वज्ञ···'—'पुनि' शब्द से दूसरे प्रसंग का प्रारंभ सूचित किया। यह भी भाव है कि पहले भक्त का कार्य करके तब अपने स्वार्थ की बात करते हैं। जैसे कि पहले श्रीसुग्रीवजी का कार्य करके पीछे अपने कार्य की बात उनसे की। फिर श्रीहनुमान्‌जी को वर देकर पीछे से सेना-सहित लंका की चढ़ाई की बात की। रावण-वध पर श्रीविभीषणजी का अभिषेक करके श्रीसीताजी को बुलाया और अपने राज्याभिषेक पर पहले सखाओं को स्नान करा के स्वयं स्नान किया। भाव यह कि भक्त लोग भगवान् को अर्पण करके स्वयं कुछ ग्रहण करते हैं, उनके प्रति प्रभु भी वैसा ही बरतते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); तथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥" से "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥" तक (भाग॰ ९।४।६३-६८)।

'सर्वज्ञ'—से बाहर की सब जाननेवाले और 'सर्व-उर-वासी' से अंतर्यामी अर्थात् सबके भीतर की भी जाननेवाले हैं; यथा—"अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥" (नारायणोपनिषद् १); तथा—"ज्ञान हूँ गिरा के स्वामी बाहर-भीतर जामी यहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की॥" (वि॰ २५३); अर्थात जो कुछ आगे होनहार है, सब जानते हैं, मंत्री लोगों के भी भीतर की जानते हैं, जो वे कहेंगे। 'सर्व-रूप' अर्थात् सब उन्हीं के शरीर हैं, अतएव नियाम्य हैं, सागर भी उन्हीं का शरीर है, जिसे बाँधना है। यह भी नियाम्य है, जैसा चाहेंगे उससे करा लेंगे। इसपर कहा जा सकता है कि तब तो सागर का बाँधा जाना इन्हीं का बँधना होगा। उसपर कहते हैं, 'सर्व-रहित' हैं; अर्थात् सबसे निर्लिप्त हैं, अतः शरीर-रूप सागर के बँधने पर भी आपसे सम्पर्क नहीं है। पुनः समुद्र को बाँधने, रावण को मारने और श्रीविभीषणजी का हित करने से तो आप बड़े प्रपंची मालूम पड़ते हैं, इसपर कहते हैं कि वे 'उदासी' हैं, अर्थात् शत्रु-मित्र आदि भावों से रहित हैं यह तो नर-नाट्य कर रहे हैं, सर्वज्ञ एवं सर्व-उरवासी होकर पूछ रहे हैं, सर्वरूप होने से सागर-रूप भी हैं, मकर, सर्प, मीन आदि भी वे ही हैं। सब उन्हीं के शरीर एवं नियाम्य हैं, तब ग्रास कौन कर सकेगा? सर्व-रहित होकर सबमें लिप्त की तरह पूछ रहे हैं, उदासी होकर भी प्रपंच की बातें कर रहे हैं, यह सब क्यों? कारण आगे कहते हैं—

(२) 'बोले बचन नीति···'—रावण ने श्रीब्रह्माजी से वर पाया है कि वह मनुष्य के हाथ मरेगा। अतः, मनुष्य की तरह अज्ञानी बनकर राजनीति के अनुसार उपाय में प्रवृत्त हैं, यथा—"प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा।" (बा॰ दो॰ ४८); "जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर-त्राता॥" (कि॰ दो॰ २१)।

(३) 'सुनु कपीस लंकापति बीरा।···'—श्रीसुग्रीवजी पहले के सखा हैं, इससे इनका नाम पहले कहा है। 'बीरा'—आप दोनों वीर हैं, समुद्र-पार करना भी वीरता का काम है। इसी से उत्तर में श्रीविभीषणजी

पहले वीरता की बात कहेंगे; यथा—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक।" सुग्रीवजी सेना का बलाबल जानते हैं कौन कैसे जा सकता है, कूदकर, तैरकर या पुलसे। श्रीविभीषणजी सागर की मर्यादा, उसकी दुर्गमता आदि जानते हैं, क्योंकि निकटवर्त्ती हैं। इससे इन्हीं दो से पूछा। 'गंभीरा'—गहराई ही दुःसाध्य है।

(४) 'संकुल मकर उरग झख···'—समुद्र मकर आदि हिंसक भयानक जीवों से भरा है। 'अति अगाध दुस्तर'—पहले 'गंभीरा' से अगाधता कही ही थी, फिर उसे 'अति' कहा, भाव यह कि गहराई ही अधिक बाधक है। 'सब भाँती'—गहराई से, चौड़ाई से और मकर आदि जीवों की बाधा से उतरकर जाना कठिन है, न पैदल, न कूदकर और न तैरकर ही जा सकते हैं।

कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक ॥७॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिय सागर सन जाई ॥८॥

दोहा—प्रभु तुम्हार कुल-गुरु जलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालु-कपि-धारि ॥५०॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी ने कहा—हे रघुनायक! सुनिये, यद्यपि आपका बाण करोड़ों समुद्रों का सोखनेवाला है; तथापि नीति ऐसी कही गई है कि [पराक्रम के पहले साम-नीति बरते; यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ।" (दोहावली ४३३); अतः,] सागर से जाकर प्रार्थना कीजिये ॥७–८॥ हे प्रभो! समुद्र आपके कुल का गुरु (बड़ा एवं पुरुषा) है, वह विचारकर उपाय कहेगा, तो सब भालु-वानर की सेना बिना परिश्रम सागर के पार हो जायगी ॥५०

विशेष—(१) 'कह लंकेस···'—प्रश्न में पहले श्रीसुग्रीवजी का नाम है, उन्होंने क्यों न कहा? उत्तर—(क) श्रीसुग्रीवजी ने सोचा कि अभी श्रीविभीषणजी के विषय में मैंने बाँध रखने की सलाह दी थी, पर वह न मानी गई सागर में पुल बँधे बिना पार उतरना अशक्य है। यदि समुद्र से प्रार्थना करने को कहूँ, तो वीर के लिये शोभाप्रद नहीं है। फिर समुद्र रावण का एक जलदुर्ग है, उससे प्रार्थना रावण ही से प्रार्थना करनी है। अच्छा हो कि मैं न कुछ कहूँ। श्रीविभीषणजी अभी आये हैं, इनका भी मत देख लिया जाय। (ख) पहले श्रीसुग्रीवजी ने राय दी थी, अब पारी श्रीविभीषणजी की है, आगे सेतु बाँधने में जाम्बवान् की पारी होगी। इसी से श्रीविभीषणजी ही बोले। 'सुनहु रघुनायक'—आप रघुवंश में श्रेष्ठ हैं। अतः, कुल की मर्यादा रखते हुए कार्य करें, यह भाव है। 'कोटि सिंधु-सोषक···'—श्रीरामजी ने समुद्र को दुस्तर कहा था, श्रीविभीषणजी उसे अत्यन्त तुच्छ दिखा रहे हैं और प्रभु के बाण का महत्त्व कहते हैं। यह नीति है कि मंत्री प्रथम राजा की प्रशंसा करे, तब सलाह दे। देखिये दो० ४२ चौ० ५ भी। यह प्रशंसा यथार्थ है; यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (दो० ५५)।

(२) 'जद्यपि तदपि नीति···'—यद्यपि बाण से इसे आप सोख सकते हैं, तथापि पहले साम-नीति ही का पालन करें, सागर से विनय करें। विनय-रूपा साम-नीति अपने से बड़े के साथ की जाती है, मैं तुच्छ समुद्र से क्यों करूँ? इसका उत्तर 'सागर' शब्द में है कि आपके पूर्वज सगर के द्वारा यह खोदा गया है, तब इसका नाम सागर हुआ है, इससे यह आपका कुल-गुरु है; यथा—"समुद्रं राघवोराजा शरणं गन्तुमर्हति ॥ खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। कर्त्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महोदधिः॥"

(वाल्मी० ६।२१।१०-२) यही आगे यहाँ भी कहते हैं, यथा—"प्रभु तुम्हार कुल गुरु जलधि,···" 'जाई'—उसके समीप तट पर जाकर, तभी उसपर भार पड़ेगा, नहीं तो वह समझेगा कि अपनी सेना में बैठे हैं, मुझे क्या पड़ी है ?

(३) 'प्रभु तुम्हार कुल गुरु · '—कुल-गुरु है। अतः, उसे मान देना चाहिये, उल्लंघन करना या सोख लेना दंड है, यह उचित नहीं। वह अपने कुल का उपाय स्वयं समझकर करेगा। 'कहिहि उपाय बिचारि'—भाव यह कि मेरे विचार में कुछ नहीं आ रहा है। ये संत हैं, इससे न बाँधना कह सके और न सोखना, किंतु उसे मान देना ही कहा, क्योंकि संत "सबहि मान प्रद आप अमानी" (उ० दो० ३०), होते हैं। वह कहेगा, क्योंकि उसने श्रीहनुमान्‌जी के मार्ग में मैनाक के द्वारा सहायता की है, यथा—"जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥" (दो० १ की ४); की भी टीका देखिये। विचार कर कहेगा, भाव यह कि अभी उसने निश्चय नहीं किया, नहीं तो आकर कह देता। वह कुल-गुरु है, इससे वात्सल्य में मोहित हो गया है, पराक्रम देखकर सुख पूर्वक उपाय कहेगा। वह रावण के पराक्रम को जानता है, बिना समझे-बूझे अपने बालक को काल के पास नहीं जाने देगा, यह भी ध्वनि है।

(४) 'बिनु प्रयास·· '—उसके बतलाये हुए उपाय में परिश्रम न होगा, यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माँही। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥" (लं० दो० १); अन्य उपायों से पार करने में प्रयास होगा।

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिय दैव जौं होई सहाई ॥१॥
मंत्र न यह लछिमन-मन भावा। राम-बचन सुनि अति दुख पावा ॥२॥

अर्थ—हे सखा ! तुमने अच्छा उपाय कहा है, उपाय करें, देखें जो दैव सहायक हो ॥१॥ यह सलाह श्रीलक्ष्मणजी के मन में न रुची, श्रीरामजी के वचन सुनकर उन्होंने अत्यन्त दुःख पाया ॥२॥

विशेष—(१) 'सखा कही तुम्ह·· '—'सखा' अर्थात् 'सहायं स्यातीति सखा' आप हमारे सहायक हैं, अतएव वैसा ही उपाय कहा है। 'नीकि'—सात्त्विक भाव की साम-नीति ही कही। 'करिय दैव जौ ··'—'जौं' शब्द से दैव की सहायता में संदेह प्रकट करते हैं, क्योंकि आप सर्वज्ञता से जानते हैं कि बिना दंड-विधान के कार्य न होगा। आगे स्पष्ट है, यथा—"ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।" माधुर्य की दृष्टि से ध्वनित किया कि साम-नीति से काम न होगा। जगत् के लिये उपदेश भी है कि विहित उपायों में प्रवृत्त हो और दैव का भरोसा रक्खे, यथा—"तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौं दैव सहाई॥" (बा० दो० ६८)।

शंका—श्रीरामजी को निश्चय था कि इससे कार्य न होगा, तब इस मत का खंडन क्यों न कर दिया ?

समाधान—भगवान् के चरित कई अभिप्राय से होते हैं—(क) श्रीविभीषणजी का यह पहला मत है, उन्होंने सात्त्विक भाव से कहा है। उनका मान भी रखना है और सागर का सन्देह भी मिटा देना है कि वह इनका बल-पौरुष देख ले। (ख) श्रीविभीषणजी की शरणागति से प्रपत्ति की उत्तम विधि कही गई। श्रीरामजी सागर की शरणागति से यह दिखाते हैं कि जो शरणागत की रक्षा न कर सके, ऐसे अयोग्य की शरण में न जाना चाहिये। यह भी जान लेने से लोग शरण्य-योग्यता देखकर उसकी शरण होंगे। (ग) सागर के उत्तर-तटवासी पापियों का भी इसी व्याज (बहाना) से वध करना है। (घ) सागर सोखनेवाला बाण-प्रताप भी प्रकट करना है, जो श्रीविभीषण जी ने कहा है—'कोटि सिंधु सोषक "।

(२) 'मंत्र न यह लछिमन···'—जिस कार्य में श्रीरामजी की न्यूनता होती देखते हैं, उसे श्रीलक्ष्मणजी नहीं सह सकते। सागर के समीप धरना देने में उनकी न्यूनता है ; यथा—"सहज भीरु कर मंत्र दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई ॥" (दो ५५)—यह रावण ने उपहास किया है। ऊपर दो० ४९ चौ० ७ भी देखिये। श्रीरामजी के अपमान पर इन्होंने श्रीजनकजी को, श्रीपरशुरामजी को, श्रीपिताजी एवं श्रीभरतजी को भी कुछ नहीं समझा है। वैसे यहाँ पर भी श्रीविभीषणजी की और कुल-गुरु सागर की एवं दैव की भी अवहेलना की है, यथा—"मंत्र न यह लछिमन मन भावा।"—यह श्रीविभीषणजी की, "नाथ दैव कर कौन भरोसा।"—यह दैव की और "सोखिय सिंधु ··"—यह कुलगुरु की अवहेलना है 'अति दुख पावा' - श्रीविभीषणजी का मत सुनते ही दुख हुआ था। जब श्रीरामजी ने उसे स्वीकार कर लिया, तब उनके वचन पर अत्यन्त दुख हुआ कि ऐसे परम समर्थ के लिये यह कार्य योग्य नहीं इसमें बल की हीनता पाई जाती है। फिर यह उपाय संदिग्ध भी है, इससे न सह सके, अत कहते हैं—

> **नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिय मन रोसा ॥३॥**
> **कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा ॥४॥**
> **सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसेहि करब धरहु मन धीरा ॥५॥**
> **अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधु-समीप गये रघुराई ॥६॥**

अर्थ—हे नाथ ! दैव का क्या भरोसा है ? मन में क्रोध कीजिये और समुद्र को सोख लीजिये। (भाव यह कि आप निश्चय कहते, तो दैव विवश होकर वैसा ही करता, पर आप स्वयं संदिग्ध कह रहे हैं तो उसका क्या भरोसा ?) ॥३॥ कायर के मन का एक यही (दैव) आधार है और आलसी (अनुत्साही, सुस्त) लोग 'दैव ! दैव !!' पुकारा करते हैं (इससे आलस प्रकट होने पर निन्दा नहीं होती,) ॥४॥ सुनते ही हँसकर रघुवीर श्रीरामजी बोले कि ऐसा ही करेंगे, मन में धैर्य रक्खो ॥५॥ ऐसा कहकर प्रभु ने भाई को समझाया, फिर वे रघुराज श्रीरामजी समुद्र के समीप गये ॥६॥

विशेष—(१) 'नाथ दैव कर ···'—श्रीरामजी ने दैव का आधार लिया है, इसी से श्रीलक्ष्मणजी प्रार्थना करके उसका खंडन करते हैं कि आप प्रार्थना न कीजिये, किन्तु क्रोध कीजिये और समुद्र को सोख लीजिये। यह वीरता ही आपके योग्य है। भाव यह कि वीर पुरुषार्थ करते हैं, कादर मन में दैव का भरोसा करते हैं और आलसी 'दैव ! दैव !!' चिल्लाया करते हैं। यहाँ कर्म, मन और वचन तीनों कहे गये—"सोखिय सिंधु करिय मन रोसा।"—वीर-कर्म है। "कादर मन कहुँ एक अधारा।"—मन और "दैव दैव आलसी पुकारा।"—वचन है।

शंका—श्रीरामजी ने यहाँ दैव का अवलंब लिया और उसे श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा दूषित किया, यह तो इष्ट की अवहेलना-सी है, जो कि श्रीलक्ष्मणजी ऐसे योग्य अनुचर के लिये अयोग्य है।

समाधान—श्रीलक्ष्मणजी श्रीमहारानीजी की व्यवस्था सुन चुके हैं ; यथा—"निमिषि निमिषि करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति।" यह श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है और "अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। ··" यह प्रार्थना श्रीलक्ष्मणजी के हृदय में बिंध गई है कि इष्ट देवी ने मुझ से भी प्रार्थना की है और यहाँ व्यर्थ के काम में कई दिन धरना देकर बितायेंगे, माताजी के दुख की ओर नहीं देखते। अत., इस प्रणय के क्रोध से उन्होंने ऐसे कठोर वचन भी कह डाले, जिन्हें समझ हँसकर प्रभु ने इन्हें सांत्वना देकर समझाया है कि हम वहीं करेंगे।

(२) 'बोले रघुबीरा'—वीरता करने को कहते हैं, इससे रघुवीर कहा गया।

(३) 'अनुजहि समुझाई'—ऐसी नीति है कि कोई भी कार्य इष्ट-मित्रों का रुख रखकर करे। इसलिये श्रीलक्ष्मणजी को समझाया कि श्रीविभीषणजी की सम्मति के अनुसार करने में कुलगुरु समुद्र का मान रहेगा और श्रीविभीषणजी का भी। समुद्र न सुनेगा, तब उसे दंड देना भी योग्य होगा। फिर समुद्र के समीप गये, क्योंकि जल-स्वरूप सागर से प्रार्थना करनी है। पहले तीर पर उतरना कहा गया था ; यथा— 'उतरे सागर तीर' अब बिल्कुल जल के पास गये।

प्रथम प्रनाम कीन्ह सिर नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई ॥७॥
जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आये। पाछे रावन दूत पठाये ॥८॥

दोहा—सकल चरित तिन्ह देखे, धरे कपट कपि-देह।
प्रभु-गुन हृदय सराहहिं, सरनागत पर नेह ॥५१॥

अर्थ—(श्री रामजी ने) पहले तो शिर नवाकर प्रणाम किया, फिर कुशासन बिछाकर बैठ गये ॥७॥ जिस समय श्रीविभीषणजी प्रभु के पास आये, उसी समय उनके पीछे रावण ने दूत भेजे ॥८॥ माया से नकली वानर-देह धरे हुए उन्होंने सब चरित देखे। वे लोग शरणागत पर स्नेह एवं (और भी) प्रभु के गुण हृदय में सराह रहे हैं ॥५१॥

विशेष—(१) 'प्रथम प्रनाम कीन्ह···'—कुलगुरु हैं; इसलिये सागर को प्रणाम किया, तब पीछे प्रार्थना के लिये बैठे, ऐसी ही रीति है ; यथा—"सीस नवहिं सुर-गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी ॥" (अ० दो० १२८); 'बैठे तट पुनि दर्भ डसाई।'—आयुध (धनुष-बाण) अलग श्रीलक्ष्मणजी के पास देकर अपने हाथों से कुशासन बिछाकर बैठे, मौन-व्रत धारण करके अनशन-व्रत-सहित बैठे हैं। निरायुध, यथा—"लछिमन बान सरासन आनू।" यह आगे कहा है। मौन-व्रत, क्योंकि शुक अपना मुनि-तनु पाकर श्रीरामजी के पास गया और बार-बार प्रणाम किया, पर वे कुछ नहीं बोले। यथा— "बंदि राम-पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा ॥" (दो० ५६); उपवास; यथा— "तीसरे उपास बनवास सिंधु पास···" (क० सुं० ३१)। स्वयं दर्भ बिछाया, क्योंकि बड़ों के समक्ष निरभिमानता चाहिये। आसन पर बैठकर अनुष्ठान करना विधि है।

(२) 'दर्भ डसाई'—आसनों के भेद ; यथा—"कृष्णाजिने धनं पुत्रा मोक्षः श्रीर्व्याघ्रचर्मणि। कुशासने ज्ञानवृद्धिः कम्बले चोत्तमा गतिः ॥ काष्ठासने व्याधिभयं पाषाणे हानिरेव च। वस्त्रासने वृथा पूजा धरण्यां निर्धनो भवेत् ॥"

(३) 'पाछे रावन दूत पठाये'—दूतों का चलना नहीं कहा गया था, जब वे यहाँ प्रकट हुए, तब ग्रन्थकार भी प्रकट करते हैं।

(४) 'सकल चरित तिन्ह देखे···'—जब से श्रीविभीषणजी यहाँ आये, तब से अब तक के सब चरित देखे। चरित—श्रीविभीषणजी को आदर से बुलाना, हृदय लगाना, अनुज-सहित मिलकर पास बैठाना, कुशल पूछना, अपना स्वभाव कहना, भक्ति देना, राज-तिलक करना और मंत्र पूछकर सागर से विनय करने

बैठना। 'प्रभुगुन हृदय…'—हृदय में ही सराहते हैं; क्योंकि कपट-रूप में हैं, प्रकट सराहने से कपट खुल जाता, जैसे आगे कहा ही है। ग्रन्थकार प्रभु के गुण अभी नहीं कह रहे हैं, जब दूत रावण से कहेगा, तब खोलेंगे; यथा—"राम तेज बल बुधि बिपुलाई।…माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" आदि। 'सरनागत पर नेह'—सम्पूर्ण गुणों में 'शरणागत पर स्नेह' की प्रधानता है, इसी से इसे यहाँ प्रकट कहा है। शरणागत-स्नेह को कानों से सुना और आँखों से देखा; यथा—(१) मम पन सरनागत भय हारी। (२) कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू॥ (३) सनमुख होइ जीव मोहि… (४) जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥ इत्यादि, सुने। और—'अस कहि करत दंडवत देखा' से 'ग्रह भल बास…' तक देखा।

प्रगट बखानहिं राम-सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥१॥
रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि कपीस पहिं आने॥२॥
कह सुग्रीव सुनहु सब बानर। अंग-भंग करि पठवहु निसिचर॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी का स्वभाव प्रत्यक्ष (राक्षस-रूप से) अत्यन्त प्रेम से सराहते हैं, कपट भूल गया।१॥ तब वानरों ने जाना कि ये शत्रु के दूत हैं और वे इन सबको बाँधकर श्रीसुग्रीवजी के पास लाये ॥२॥ श्रीसुग्रीवजी ने कहा, हे सब वानरो सुनो, इन निशाचरों को अंग-भंग करके भेजो॥३॥

विशेष—(१) 'अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ'—अत्यन्त प्रेम की विह्वलता में कपट नहीं रह जाता; यथा—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगट प्रीति उर छाई।" (कि० दो० १); गुण सराहने में सँभाल रहा, किंतु स्वभाव सुनकर तो अत्यन्त प्रेम में मुग्ध हो गये, तब न रहा गया और प्रकट होकर सराहने लगे। स्वभाव; यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।" से "प्रभु सुभाउ कपि कुल मन भावा" तक। महा कपटी राक्षसों का भी कपट खुल गया—यह प्रभु-गुण का प्रभाव है। 'सकल बाँधि'—कई हैं, क्योंकि 'पाछे रावन दूत पठाये' 'तिन्ह देखे' आदि सर्वत्र बहुवचन में कहे गये हैं। वाल्मीकीय में एक बार शुक-सारण दो भेजे गये हैं और दूसरी बार शार्दूल के साथ और कई दूत भेजे गये हैं, उन सबको यहाँ एक ही बार में जना दिया पुनः वहाँ शुक का दो बार बाँधा जाना कहा गया है, यह भी यहाँ—'सकल बाँधि' और आगे 'बाँधि कटक चहुँ पास फिराये।' से सूचित कर दिया गया है। 'अंग-भंग करि'—श्रीसुग्रीवजी नीति के ज्ञाता है, इससे इन्होंने दूतों को मारना नहीं कहा। अंग-भंग का दंड भी इससे कहा कि वे गुप्त-रूप से चार बनकर आये थे, अतएव दंडनीय थे। कौन अंग भंग किया जाय, यह नहीं कहा, क्योंकि प्रथम से श्रीलक्ष्मणजी ने मार्ग खोल दिया है, उन्होंने शूर्पणखा के नाक-कान काटे थे, वही नियम हो गया; यथा—"जहँ कहुँ फिरत निशाचर पावहिं।…दसनन्हि काटि नासिका काना।…" (लं० दो० ४); "काटेसि दसन नासिका काना। गर्जि अकास चलेउ तेहि जाना॥" (लं० दो० ६४)। वही यहाँ भी करेंगे; यथा—"जो हमार हर नासा काना।…" आगे कहा है। 'पठवहु'—उसने जैसा मेरे दूत के साथ किया है, वैसा ही करके मैं भी इन्हें भेजूँगा।

सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये। बाँधि कटक चहुँ पास फिराये॥४॥
बहु प्रकार मारन कपि लागे। दीन पुकारत तदपि न त्यागे॥५॥
जो हमार हर नासा काना। तेहि कोसलाधीस कै आना॥६॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी के वचन सुनकर वानर दौड़े, उनको बाँधकर सेना के चारों ओर फिराया ॥४॥ वानर लोग उन्हें बहुत तरह से मारने लगे, वे दीन होकर पुकार रहे हैं, तो भी नहीं त्याग करते ॥५॥ (तब वे पुकारकर कहने लगे—) जो हमारे नाक-कान काटे, उसे कोशलाधीश की शपथ है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि सुग्रीव बचन···'—श्रीसुग्रीवजी ने कड़ी आज्ञा दी, इससे वानर दौड़ पड़े। 'बाँधि'—पहले साधारणतः बाँधा, अब विशेष दृढ़-रूप में बाँधा कि जिससे नाक-कान काटने के समय वेग करके छूट न जायँ। श्रीहनुमान्‌जी को भी उनलोगों ने दो बार बाँधा था। एक बार नागपाश से और दूसरी बार पटों से पूँछ बाँधी थी। 'बहु प्रकार', यथा—"जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहतो भृशम्।" (वाल्मी० ६।२०।८), अर्थात् जानु, मुक्का, दाँत तथा थप्पड़ से क्रोधी वानरों ने बहुत मारा। 'दीन पुकारत···'—दीन को नहीं मारना चाहिये, पर कपट-रूप से आने के कारण तब भी मारा।

(२) 'जो हमार हर नासा काना।···'—जब दीन होकर आर्त्त स्वर से पुकार करने लगे, तब नाक-कान काटने में प्रवृत्त हुए, जो सुग्रीव की आज्ञा थी। वानर लोग नीति से कार्य कर रहे हैं, ये दूत छिपकर भेद लेने आये थे और पकड़े गये, तो दंड देना ही चाहिये। पर वे प्रेम में मग्न होकर राम-गुण-स्वभाव कीर्तन करने लगे, उसी में पकड़े गये। राम-प्रेम पर दृष्टि करके उन्हें दंड की आज्ञा नहीं देनी थी, पर अंग-भंग की आज्ञा हुई, इसी से यह आज्ञा भंग होगी। श्रीसुग्रीवजी की आज्ञा से राम-शपथ भारी है, इसपर श्रीलक्ष्मणजी छुड़ा देंगे।

'कोसलाधीस कै आना'—दोहाई राजा की ही दी जाती है। भाव यह कि जो इनकी शपथ न मानेगा, उसकी कुशल नहीं है। या, हमारी कुशल हो, नाक-कान बचें। यहाँ वानरों ने श्रीहनुमान्‌जी का बदला लिया है—

श्रीहनुमान्‌जी	राक्षसदूत
१. नाग पास बाँधेसि लै गयऊ।	सकल बाँधि कपीस पहिं आने।
२. अंग-भंग करि पठइय बन्दर।	अंग-भंग करि पठवहु निसिचर।
३. सुनत निसाचर मारन धाये।	सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये।
४. मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी।	बहु प्रकार मारन कपि लागे।
५ नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी।	बाँधि कटक चहुँ···श्रवन नासिका काटन ··।
६. × × ×	दीन पुकारत तदपि न त्यागे।—यह अधिक है।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाये। दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये ॥७॥
रावन कर दीजहु यह पाती। लछिमन-बचन बाँचु कुलघाती ॥८॥

दोहा—कहेउ मुखागर मूढ़ सन, मम संदेस उदार।
सीता देइ मिलहु न त, आवा काल तुम्हार ॥५२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने सुनकर सबको निकट बुलाया, दया लगी, इससे हँसकर (उन्हें) छुड़ा दिया ॥७॥ (और उनसे कहा—) रावण के हाथ में यह पत्रिका देना और कहना कि हे कुल के नाश करनेवाले! श्रीलक्ष्मणजी के वचनों को पढ़ो (अर्थात् यह चिट्ठी श्रीलक्ष्मणजी ने दी है, इसे पढ़ो) ॥८॥ उस मूर्ख से मेरा

श्रेष्ठ सँदेश मौखिक रूप में कहना कि श्रीसीताजी को देकर मिलो, नहीं तो तुम्हारा काल (मरण-काल) आ गया ॥५२॥

विशेष—(१) 'निकट बुलाये'—क्योंकि संदेश कहना है। 'दया लागि'—क्योंकि आर्त्त स्वर से श्रीरामजी की दोहाई सुनी। 'हँसि'—कृपा करके; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)। 'तुरत'—देरी करने में राम-शपथ का महत्त्व कम होता, इसलिये शीघ्र छुड़ा दिया। श्रीरामजी इस समय समुद्र-तट पर हैं, इससे उनकी जगह में ये ही हैं। अतः, इन्हीं ने छुड़ाया।

(२) 'रावन कर दीजहु···'—दूसरे के हाथ में देने से वह शत्रु की फटकार समझकर मानी रावण को उसके डर के मारे न देगा। 'बाँचु'—कहना कि वह स्वयं पढ़े, जिससे अच्छी तरह समझ जाय। 'कुल घाती'—भाव यह कि तेरे ही कृत्य से कुल का नाश होगा। अतः, ऐसा न कर, कुल की रक्षा का उपाय कर। आगे स्पष्ट पढ़ा जायगा, यथा—"बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस" (दो० ५६), श्रीलक्ष्मणजी ने उपदेश दिया, ऐसे ही औरों ने भी समझाया है। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीपुलस्त्य मुनि की बातें आ चुकीं। आगे जाम्बवान्‌जी और श्रीरामजी भी श्रीअंगदजी के द्वारा उसके बचने की शिक्षा देंगे, यथा—'तासु हित होई।' (लं० दो० १६), क्योंकि किसी की भी रक्षा करना धर्म है, उसका नाश देखते हुए न समझाते, तो इन्हें दोष होता।

(३) 'कहेहु मुखागर···'—कुल का नाश तो चिट्ठी में लिखा और रावण की मृत्यु मौखिक रूप से कहलाई, क्योंकि वह शत्रु की चिट्ठी दूसरे से पढ़ावेगा, तब वह डर से रावण की मृत्यु न बाँचेगा। 'मूढ़'—क्योंकि उसे अपनी भलाई नहीं सूझ रही है। 'संदेस उदार'—क्योंकि इससे सब के प्राण बचेंगे। पहले 'कुल घाती' कहा है और अब 'आवा काल तुम्हार' कहते हैं, भाव यह कि मैं मेघनाद को मारकर तेरा कुल (वंश) नाश करूँगा और सीताहरण के प्रतिकार में श्रीरामजी तुम्हें मृत्यु-वश करेंगे, आगे स्पष्ट है; यथा—"राम बिरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस।" (दो० ५६)।

तुरत नाइ लछिमन - पद माथा। चले दूत बरनत गुनगाथा ॥१॥
कहत राम - जस लंका आये। रावन - चरन सीस तिन्ह नाये ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी के चरणों मे शिर नवाकर गुण-समूह वर्णन करते हुए दूत तुरत चले ॥१॥ श्रीरामजी का यश कहते हुए लंका आये और उन्होंने रावण के चरणों में शिर नवाया (क्योंकि राजा है और उसी के द्वारा श्रीरामजी के दर्शन हुए, जिससे इनका कल्याण हुआ, आगे स्पष्ट है) ॥२॥

विशेष—(१) 'तुरत नाइ···'—तुरत चले, क्योंकि सँदेश तुरत कहना चाहिये; यथा—"तुरत सो मैं प्रभु सन कही···" (दो० ३१); लोक में भी प्रसिद्ध है कि लोग चिट्ठी लेकर शीघ्र चलते हैं 'तुरत' का सम्बन्ध 'चले' से है। 'गुन गाथा'—को आगे स्पष्ट किया है; यथा—'कहत राम जस···' पहले हृदय में सराहते थे, अब प्रकट कहते जाते हैं, क्योंकि अब कोई डर नहीं है। श्रीलक्ष्मणजी प्रधान हैं और श्रीसुग्रीवजी समाज से पृथक् हैं (अतः) उन्हीं को प्रणाम करके जाना कहा गया है।

(२) 'कहत राम जस लंका आये···'—कई हैं, एक दूसरे से कहते जाते हैं इसी से तुरत लंका पहुँच गये; यथा—"सीय को सनेह सील तथा कथा लंक की कहत चले चाप सों सिरानो पंथ छन में।" (क० सुं० ३१)।

बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न सुक आपनि कुसलाता ॥३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी ॥४॥
करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी ॥५॥

अर्थ—रावण ने बिहँस कर बात पूछी कि अपनी कुशल क्यों नहीं कहता ? ॥३। फिर विभीषण का समाचार कह कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गई है ॥४॥ राज्य करता था सो ऐसी लंकापुरी का राज्य उस सठ ने त्याग दिया, (अतः) भाग्यहीन है, वह अभागा अन्न जव का कीड़ा होगा; अर्थात शत्रु-रूपी अनाज (यव) को मैं पीसूँगा, उनमें मिला हुआ, वह भी पिस जायगा अर्थात् तपस्वियों के साथ वह भी मरेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'बिहँसि दसानन पूछी...'—हँसना शत्रु के निरादर के लिये है, आगे स्पष्ट है, यथा—"मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।" 'कहसि न सुक...'—अर्थात एकबार कुशल पूछने पर दूत न बोले थे, तब ऐसा कहा। दूत चाहते हैं कि इसे और जो कुछ पूछना हो, पूछले, तब हम उत्तर दें। दूतों में शुक प्रधान है, इससे उसे ही सम्बोधन करके पूछ रहा है।

(२) 'पुनि कहु खबरि...' श्रीविभीषणजी की कुशल नहीं पूछता, क्योंकि उनकी मृत्यु को तो अति निकट आना कह रहा है, तब कुशल कहाँ ? मृत्यु निकट तो तभी आई थी, जब उसने शत्रु की बड़ाई की और श्रीसीताजी के देने को कहा था; यथा—"खल तोहिं निकट मृत्यु अब आई" (दो० ४०), अब वह शत्रु से जा मिला, तो उसकी मृत्यु 'अति नेरी' आगई 'अति नेरी' का स्वरूप आगे कहता है।

(३) 'करत राज लंका सठ त्यागी।...'—लंका-राज्य के समान तीनों लोक मे कोई राज्य नहीं है, इसे त्यागा, अतएव शठ है। राज्य-सुख तो उसने स्वयं छोड़ा, पर अब उसके प्राणों पर भी आ बनेगी। वैसे तो हम उसे न भी मारते, पर शत्रुओं से जा मिला है, तो अवश्य मारेंगे राज्य खोया और प्राण भी खोवेगा, इससे अभागा है।

वास्तव मे रावण ही आयुहीन और अभागा हुआ है, यथा—"आयु हीन भये सब तबहीं ॥...रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहि अभागा॥" (दो० ४१), और श्रीविभीषणजी ने तो अखंड राज्य पाया और उनके प्राण भी बचे, यथा—"रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउँ राज अखंड॥" (दो० ४९)। रावण की मृत्यु निकट होने से उसे मति-भ्रम है, इससे उल्टा ही सूझता है।

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल-प्रेरित चलि आई ॥६॥
जिन्हके जीवन कर रखवारा। भयउ मृदुल-चित सिंधु बिचारा ॥७॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी ॥८॥

दोहा—की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवन सुजस सुनि मोर।
कहसि न रिपुदल तेजबल, बहुत चकित चित तोर ॥५३॥

अर्थ—फिर भालु-वानरों की सेना (का समाचार कि कितनी है) कह, जो कठिन काल की प्रेरणा

से चलकर आई है ॥६॥ जिनके प्राणों का रक्षक कोमल चित्तवाला विचारा समुद्र हुआ है; अर्थात् समुद्र मार्ग दे सकता था, यथा—"अपर जलचरन्ह ऊपर, बिनु श्रम पारहिं जाहिं।" (लं० दो० ४); पर उस बेचारे को करुणा आ गई कि इन्हें उस पार जातेही राक्षस खा जायँगे, इससे वह मार्ग नहीं देता ७॥ फिर तपस्वियों की बात कह, जिनके हृदय में मेरा बड़ा डर है ॥८॥ उनसे भेंट हुई या वे कानों से मेरा सुयश सुनकर लौट गये ? शत्रु की सेना और उनका तेज-बल क्यों नहीं कहता ? तेरा चित्त बहुत चकित (आश्चर्यान्वित) देखता हूँ ॥५३॥

विशेष—(१) 'पुनि कहु भालु कीस···'—इनकी सेना कितनी है, जितनी अधिक हो, उतनी ही अच्छी, हमारे राक्षस बहुत भूखे हैं ; यथा – "आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे।" (लं० दो० १८) ; 'कठिन काल'—सामान्य काल की प्रेरणा से आये होते, तो चाहे कुछ भागकर बच भी जाते, पर उन्हें कठिन काल लाया है, नहीं तो तपस्वियों को पृथिवी भर के वानर कैसे मिलते ? ; यथा— "देखो काल कौतुक पिपीलिकन्ह पंख लागो भाग मेरे लोगन के भई चित चही है ॥" (गी० सुं० २४)। 'चलि आई'—कठिन काल की प्रेरणा से राक्षसों के मुख में पैठने वे स्वयं चलकर आ रहे हैं, नहीं तो एक राक्षस को देखकर सहस्रों वानर भाग जाते थे।

(२) 'भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा।'—मृदुल-चित्त होने से करुणावश सागर ने अभी रक्षा की है, नहीं तो काल उन्हें सीधा यहीं लाता, पर वह भी तो बिचारा (अल्प सामर्थ्य का) है, काल के आगे उसकी क्या चलेगी, वह कब तक बचावेगा ? अतः, बचाना समुद्र की मूर्खता है। वा, कहीं हमारे राक्षस उसी पार जाकर उन्हें खा लें, तो सागर क्या करेगा ? वह तो बिचारा है।

(३) 'कहु तपसिन्ह कै बात ··'—बात में क्या आशय है, इसे आगे दोहे में स्पष्ट किया है कि 'की भइ भेंट···'। 'त्रास अति'– भाव यह कि त्रास तो सब तपस्वियों को है, पर उन्हें 'अति' है ; क्योंकि उनका मैं भारी शत्रु हूँ। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की बात अंत में पूछी, जिससे यह कोई न जाने कि उनका उसे भारी भय है, इसी से पहले पूछता है। 'त्रास अति मोरी'—यह उनपर डालकर कहता है, वस्तुतः इसीके हृदय में उनका अत्यन्त डर है ; यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥" (दो० ५६); यहाँ कुशल, खबर, कटक और बात, ये चार शब्द चार वर्गों के लिये कहे गये हैं, इनके भाव—हमने उनके दूत को दंड दिया था। इससे उन्होंने भी इन्हें मारा होगा, अतः, दूतों से कुशल पूछी। श्रीविभीषणजी की खबर पूछी, खबर जानकर वैसा विचार करेगा, इसीलिये दूतों को भेजा ही था। भालुओं और वानरों का भय है। अतः, कटक को पूछा कि कितना है और श्रीराम-लक्ष्मणजी का इसे अति त्रास है, इसलिये उनकी बात में कई भेद पूछे क्योंकि रिपु के दल और तेज-बल से उसे भय है।

(४) 'की भइ भेंट कि···'—पहले भी कहा था 'कहसि न सुक' और यहाँ भी—'कहसि न' कहता है, इससे जान पड़ता है कि दूत डर के मारे शत्रु का दल और तेज-बल कह नहीं सकते, क्योंकि शत्रु की बड़ाई पर रावण चिढ़ता है ; यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हैं कोऊ॥" (दो० ११) ; इसी से क्षमा माँगकर कहेगा; यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा···"। बार-बार प्रश्न पर प्रश्न करता जाता है, दूत कह नहीं पाते, इससे रावण के हृदय की घबड़ाहट भी जान पड़ती है। पहले शत्रु के दल को पूछा था, यहाँ भी दल को लेकर तेज-बल पूछ रहा है। दूतों को चकित देखकर दो प्रकार से कहता है कि या तो शत्रु मेरे डर से चले गये, इससे तू चकित है कि मैं किस का क्या हाल कहूँ, वहाँ तो कोई है ही नहीं। अथवा शत्रु का बहुत दल और उसका अत्यन्त तेज-बल देखकर तू चकित हो गया है। जो हो कह। अब उसे अवसर मिला, तो क्षमा माँगकर कहेगा।

नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे ॥१॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा। जातहि राम तिलक तेहि सारा ॥२॥
रावन-दूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना ॥३॥
श्रवन-नासिका काटइ लागे। राम-सपथ दीन्हे हम त्यागे ॥४॥

अर्थ—हे नाथ! जैसे आपने कृपा करके पूछा है, वैसे ही क्रोध छोड़कर मेरा कहना (यथार्थ) मानिये ॥१॥ जब आपका भाई जाकर मिला, तब जाते ही श्रीरामजी ने उसका तिलक कर दिया ।२॥ हमें रावण-दूत कानों से सुनकर वानरों ने बाँधकर अनेक दुःख दिये ॥३॥ कान और नाक काटने लगे थे, जब हमने राम-शपथ दी, तब उन्होंने हमें छोड़ा ।४॥

विशेष—(१) 'नाथ कृपा करि पूछेहु······'—पूछना यह है कि हमारी कुशल प्रसन्नता से (विहँसकर) पूछी, यह कृपा की। 'मानहु तैसे' अर्थात् जैसे कृपाकर कुशल पूछी, वैसे क्रोध छोड़कर मेरे वचन सत्य मानिये। आपके पूछने पर कहता हूँ, नहीं तो न कहता।

(२) 'मिला जाइ जब अनुज···'—रावण ने पहले दूतों की कुशल पूछी थी। पर वे जिस क्रम से वहाँ जो बातें हुईं, वैसे कहते हैं। पहले श्रीविभीषणजी का तिलक हो गया, तब दूत पहचाने गये और उन्हें दण्ड दिया गया। 'अनुज तुम्हारा' भाव यह कि श्रीविभीषणजी ने ऐसा ही कहा था; यथा—"नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" (दो० ४४); शरण आया हुआ जानकर शत्रु के भाई का भी उन्होंने इतना आदर किया। शरणागत उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं और उनका स्वभाव बड़ा कोमल है, भाव यह कि आप भी जाकर मिलें तो वैसी ही कृपा करेंगे। आगे स्पष्ट कहा है; यथा—"अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।···मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करि हैं।···" (दो० ५६); तिलक सारना = विधिवत तिलक करना; यथा–"तिलक सारि अस्तुति अनुसारी।" (लं० दो० १०४); इसके प्रथम 'सारेहु तिलक कहेहु रघुनाथा', कहा गया था, तब जाकर 'तिलक सारि अर्थात् तिलक करना कहा गया।

(३) 'रावन दूत हमहिं सुनि···'—भाव यह कि कपट खुलने पर राक्षस जानकर हमें पकड़ लिया, तब श्रीविभीषणजी के वर्ग से पूछा गया, उन्होंने कह दिया कि ये रावण के दूत हैं, बस, सुनते ही बाँध कर वानरों ने नाना दुःख दिये—तुम्हारे ऊपर इतना क्रोध है। हमने उनका कोई अपराध नहीं किया, केवल तुम्हारे दूत होने के सम्बन्ध से मारे गये। भाव यह कि छिपकर तुम्हारा दौत्य कार्य साधते हुए जानकर हमें मारा। नहीं तो तुम्हारा भाई भी तो गया, पर उसे राज्य दिया, क्योंकि वह अपने रूप से और फिर शरण होने गया था।

(४) 'श्रवन नासिका···'—भाव यह कि हमलोगों ने बहुत सहा, आपके निहोरे पहले राम-शपथ नहीं दी थी, जब नाक-कान काटने लगे तब राम-शपथ दी, जिससे उन्होंने छोड़ दिया।

पूछेहु नाथ राम-कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई ॥५॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी ॥६॥
जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा ॥७॥
अमित नाम भट कठिन कराला। अमित-नाग-बल बिपुल बिसाला ॥८॥

दोहा—द्विविद मयंद नील नल, अँगद गद विकटासि ।
दधिमुख केहरि निसठ सठ, जामवंत बलरासि ॥५४॥

अर्थ—हे नाथ ! आपने श्रीरामजी की सेना को पूछा । उसका वर्णन सौ करोड़ मुखों से भी नहीं किया जा सकता ।५। भालु-वानरों की सेना अनेक वर्ण (रंग एवं जाति) की है, उनके मुख विकट हैं, वे विशाल और भयंकर हैं ।६॥ जिसने आपका नगर जलाया और आपके पुत्र को मारा, उसका बल तो सब वानरों से थोड़ा है ।७॥ वे अमित नाम के संख्या-रहित भट हैं, (देह से) कठिन और भयंकर हैं, उनमें अमित हाथियों के बल से भी अत्यन्त भारी बल है एवं वे अत्यंत विशाल हैं ।८॥ (उनमें से कुछ के नाम) द्विविद, मयंद, नील, नल, अंगद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निसठ, सठ और जाम्बवान् हैं—ये सब बल की राशि हैं (ये सब वानर श्रीसुग्रीवजी के पास बैठे थे, वहीं इसे वानर लोग ले गये थे, इससे इसने सबके नाम कहे और उन्हें श्रीसुग्रीवजी के समान कहा) ॥५४॥

विशेष—(१) 'बदन कोटि सत···'—श्रीविभीषणजी का और अपना हाल मैंने कहा, पर वानरों की सेना कितनी है, यह मैं नहीं कह सकता, मेरे तो एक ही मुख है, करोड़ मुखों से भी यह नहीं कही जा सकती ; यथा —"बानर कटक उमा मैं देखा । सो मूरुख जो करन चह लेखा ।" (कि० दो० २१) ।

(२) 'नाना बरन···'—अनेक देशों के और अनेक जातियों के हैं । विशाल (भारी) शरीरवाले हैं और उनके मुख विकट हैं, इसी से भयंकर हैं । 'धारी'—लूट-मार करनेवाली सेना को धारि कहते हैं ।

(३) 'जेहि पुर दहेउ···'—इन दोनों कठिन कार्मों में भी पुर-दहन अत्यन्त कठिन था, इससे पहले कहा, क्योंकि इनका बल थोड़ा कह कर औरों का बल इनसे अत्यन्त अधिक दिखाना था ।

शंका—श्रीहनुमान्जी तो यहाँ प्रधान वीर हैं, फिर इन्हें थोड़े बल का क्यों कहा ?

समाधान—(क) जब उसने देखा तब श्रीहनुमान्जी दीनता-पूर्वक हाथ जोड़े हुए प्रभु के पास चुपचाप खड़े थे । वानरों में इनकी कुछ प्रधानता नहीं दीख पड़ी, न तो श्रीरामजी ने इनसे कोई राय पूछी, न ये गर्जते-कूदते देखे गये और न सब वानरों की तरह—"मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा ।" आदि अपनी वीरता ही कहते थे, इसी से उसने इन्हें थोड़ा बल कहा । औरों के बल इसने पूछ-ताछ करके जाने, पर इनका बल तो वह लंका में देख ही चुका था, इससे किसी से पूछा भी नहीं । (ख) श्रीरामजी के गुण और स्वभाव उसकी दृष्टि में बस गये हैं, वह चाहता है कि रावण भी इनकी शरण आ जाय, तो अच्छा हो । यह तभी होगा जब श्रीरामजी को एवं उनकी सेना को अत्यन्त अमित और दुर्जेय समझे, तब डरकर शरण में आवे । इसी में उसका हित होगा । अतः, राम-सेना का अपरिमित बल दिखाते हुए वैसा कहा ; यथा—"जो अति सुभट सराहेहु रावन । सो सुग्रीव केर लघु धावन ॥ चलै बहुत सो बीर न होई । पठवा खबरि लेन हम सोई ॥" (लं० दो० २२) ; इसमें भी वही अभिप्राय है ; यथा—"काज हमार तासु हित होई ।" (सुं० दो० १६) ; यह श्रीरामजी की आज्ञा थी । श्रीसीताजी को धैर्य देने के लिये राम-सेना का अपरिमित बल दिखाते हुए श्रीहनुमान्जी ने भी ऐसा ही कहा है ; यथा—"मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः । मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ ॥ अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः । नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥" (वाल्मी० ५।३६।१८–१६) ; अर्थात् श्रीसुग्रीवजी की सेना में मेरे तुल्य और मुझ से बड़े ही सब वानर हैं, मुझसे छोटा कोई नहीं । जब मैं ही यहाँ आ गया, तब उन महाबल वानरों का क्या कहना है ? मैं सबसे छोटा हूँ, तभी तो दौत्य में भेजा गया हूँ ।

(४) 'द्विविद मयंद नील···'—इनमें श्रीहनुमान्‌जी को नहीं कहा, क्योंकि उन्हें थोड़े बल का कह चुका है और यहाँ बल-राशि की गणना कर रहा है।

ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥१॥
राम-कृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन-समान त्रैलोकहि गिनहीं ॥२॥
अस मैं सुना श्रवन दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर ॥३॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं ॥४॥

अर्थ—ये सब वानर श्रीसुग्रीवजी के समान (बलवान्) हैं, इनके समान करोड़ों हैं, अनेक हैं, उन्हें कौन गिन सकता है ? ॥१॥ राम कृपा से उनमें अतोल बल है, वे लोक-त्रय को तृन के समान गिनते हैं ॥२॥ हे दशानन ! मैंने कानों से ऐसा सुना है कि वानरों के यूथपतियों की संख्या अठारह पद्म है ॥३॥ हे नाथ ! उस सेना में ऐसा कोई एक भी वानर नहीं है कि जो तुमको रण में नहीं जीत सकता हो ॥४॥

विशेष—(१) 'ये कपि सब सुग्रीव···'—यहाँ 'कोटिन्ह' कहकर फिर 'नाना' भी कहा है। भाव यह कि इनके समान 'कोटिन्ह' हैं। फिर उन कोटिन्ह के समान 'कोटिन्ह' हैं। पुनः उनके समान 'कोटिन्ह' हैं। इस प्रकार नाना कोटिन्ह हैं। ऐसा कहने का अभिप्राय यह कि मुख्य यूथपों को श्रीसुग्रीवजी के समान कहा। उपमान से उपमेय में न्यूनता होती ही है, इस युक्ति से कुछ न्यूनता दिखाकर श्रीसुग्रीवजी की श्रेष्ठता भी रक्खी। इसी तरह क्रमशः न्यून भटों के लिये कहा गया है। पर सामान्य दृष्टि से सभी श्रीसुग्रीवजी के बराबर ही कहे जा रहे हैं, पर युक्ति से न्यूनाधिक्य का सँभाल है।

(२) 'राम कृपा अतुलित बल···'; यथा—"राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा।" (दो० १४); अतुलित बल का स्वरूप दिखाते हैं कि वे त्रयलोक को तृण के समान गिनते हैं। पहले इन्हें बल-राशि कहा था, अब राम-कृपा से अतुलित बल कहा। रावण के सुभटों से यहाँ इनकी अधिकता है; यथा—"कुमुख अकंपन···एक-एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (बा० दो० १८०); वे एक-एक जगत को जीत सकते हैं। पर ये वानर लोग तो तीनों लोकों को तृण के समान तुच्छ समझते हैं। जीतना-हारना तो कुछ ही न्यूनाधिक्य में कहा जाता है।

(३) 'पदुम अठारह जूथप···'—'पहले समूह वानरों को असंख्य कहा था कि 'बदन कोटि सत···' 'सो मूरुख जो···' और यहाँ मुख्य-मुख्य यूथपों की गणना है, उसने औरों से सुनी है। स्वयं इन्हें भी नहीं गिन सका। एक-एक यूथ में कितने-कितने हैं, यह तो जान नहीं सका अतः, सेना यहाँ के कथन में भी असंख्य ही है।

'अस कपि एक न···'—जो सबसे थोड़ा बलवाला है, वही तुम्हें जीतकर चला गया, तब उन विशाल बली वानरों के बल के सामने तुम क्या कर सकोगे ? दूत निर्भय होकर कह रहा है, रावण ने यहाँ क्रोध नहीं किया, क्योंकि उसने पहले ही विनय से निश्चित कर लिया है; यथा—"मानहु कहा क्रोध तजि तैसे।" (दो० ५२)।

परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा ॥५॥
सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला ॥६॥

मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसइ वचन कहहिं सब कीसा ॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका ॥८॥

अर्थ—परम क्रोध से वे सब हाथ मींजते हैं, पर श्रीरघुनाथजी उन्हें आज्ञा नहीं देते ॥५॥ समुद्र को मछली और सर्प सहित हम सोख लेंगे, नहीं तो बड़े-बड़े पर्वतों से भरकर उसे पूर (पाट) देंगे ॥६॥ दशशीश को मसलकर धूल में मिला देंगे, ऐसे ही वचन सब वानर कह रहे हैं ॥७॥ सब स्वाभाविक ही निःशंक हैं, गरज रहे हैं, डाँट (फटकार) रहे हैं, मानों लंकापुरी को निगल जाना चाहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'परम क्रोध मीजहिं' —तुम्हें पा जायँ, तो जीत ही लें, पर नहीं पाते हैं, इसीसे सब हाथ मींजते हैं, क्योंकि बीच में अभी समुद्र है। उसके लिये भी अभी श्रीरघुनाथजी आज्ञा नहीं दे रहे हैं, नहीं तो—

(२) 'सोषहिं सिंधु ···'—सोख सकते हैं, पाट सकते हैं, पर क्या करें, प्रभु-आज्ञा बिना विवश हैं। रावण ने कहा था, यथा—"जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥" उसका यहाँ उत्तर है। पहले तो वे झष-ब्यालों के सहित समुद्र को सोखना ही चाहते हैं, इससे उनके स्वरूप का अनुमान कर लो। सम्पूर्ण समुद्र को पर्वतों से पाट देना चाहते हैं, इससे उनके पराक्रम को समझ लो।

(३) 'मर्दि गर्द मिलवहिं ···'—जब तक इस पार नहीं आ पाते, तभी तक हाथ मलते हैं। वे कहते हैं कि जैसे ही प्रभु-आज्ञा मिली कि उस पार आकर हम रावण को मसल कर धूल में मिला देंगे। 'सब कीसा'—एक कहता है, हम रावण का मर्दन कर देंगे, तो दूसरा कहता है, नहीं, हम ही उसे धूल में मिला देंगे ऐसे ही सब कहते हैं।

(४) 'गर्जहिं तर्जहिं' —तुम्हारी शंका उन्हें कुछ नहीं है, जब लंका की ओर क्रोध करके मुख फैलाते हैं, तब जान पड़ता है कि वे लंका को निगल ही लेंगे। जब सैकड़ों योजन के झष-ब्यालों के सहित समुद्र को सोख सकते हैं, तब लंका का निगलना उनके लिये कुछ अयुक्त नहीं।

दोहा—सहज सूर कपि भालु सब, पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम ॥५५॥

अर्थ—सब वानर-भालु स्वभाविक ही शूर-वीर हैं, फिर उनके शिर पर (सरक्षक) समर्थ श्रीरामजी हैं, जो रावण क्या करोड़ों कालों को भी संग्राम में जीत सकते हैं ॥५५॥

विशेष—(१) रावण ने कहा था—"पुनि कह भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥" उसका उत्तर दूत दे रहे हैं कि वे काल की प्रेरणा से नहीं आये, किन्तु उन श्रीरामजी की प्रेरणा से आये हैं कि जो करोड़ों कालों को भी जीत सकते हैं। रावण ने यह भी कहा था, यथा 'की भइ भेंट कि फिरि गये ··' यहाँ उसका उत्तर भी है कि वे डरकर फिर जानेवाले नहीं हैं, किन्तु उनके दलका एक-एक वानर भी रावण को जीत सकता है और वे तो करोड़ों कालों को भी संग्राम में जीत सकते हैं। 'संग्राम' का भाव यह कि काल ज्ञान और योग से भी जीता जाता है; यथा—"तुम्हहिं न ब्यापत काल, अति कराल ज्ञान प्रभाव कि जोग बल॥" (उ० दो० ९४), उसका यहाँ निषेध करते हैं कि योग ज्ञान से नहीं, किंतु संग्राम में जीत

सकते हैं; यथा—"काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।" (६० दो० ४१); रावण ने कहा था, वे कठिन काल के वश होकर आये, उसपर दूत कहते हैं कि उनके ऐसे रक्षक हैं'। 'पुनि सिर पर प्रभु राम'— वे स्वयं शूर हैं; फिर समर्थ स्वामी को पाकर अत्यन्त शूरवीर हो गये हैं।

आवृत्तियों द्वारा सिंहावलोकन

प्रथमावृत्ति

दूतवाक्य—	तात्पर्य—
(१) पूछेहु नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत'''	सेना की असंख्यता
(२) नाना बरन भालु कपि धारी।	सेना की विचित्रता
(३) विकटानन बिसाल भय कारी।	वानरों की आकृति की भीषणता
(४) द्विविद मयंद नील ' बलरासि।	प्रसिद्ध वीरों के नाम
(५) अमित नाग बल बिपुल बिसाला।	वीरों का बल
(६) परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।	वीरों का उत्साह
(७) पदुम अठारह जूथप बंदर।	यूथपों की संख्या
(८) सोखहिं सिंधु सहित झख व्याला। पूरहिं ''	वीरों के भारी रूप और पराक्रम
(९) मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा।	वानरों की शूरता
(१०) गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका	वानरों की निःशंकता
(११) सिर पर प्रभु राम	वानरों की सनाथता

द्वितीयावृत्ति

प्रश्न	उत्तर
(१) कहसि न सुक आपनि कुसलाता	रावन दूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह'''
(२) पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। ''	जातहि राम तिलक तेहि सारा।
(३) पुनि कहु भालु कीस कटकाई।	'पूछेहु नाथ कीस कटकाई' से 'सहज सूर '' तक
(४) जिन्हके जीवन कर ''भयउ मृदुल ''	सोखहिं सिंधु सहित झख व्याला। पूरहि ।
(५) कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।	राम तेज बल'''सेस सहस० रामानुज दीन्हीं ''
(६) 'जासु मृत्यु आई अति नेरी।	'रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम।'
कठिन काल प्रेरित चलि आई।	तब उनके आश्रितों की मृत्यु क्यों होगी ?
जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी।	वे तो निश्शंक हैं।

तृतीयावृत्ति

'सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा।' का शाब्दिक निर्वाह—

श्रीहनुमान्‌जी	अन्य वानर
समुद्र लाँघा—'बारिधि पार गयउ'	सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला।
कछु मारेसि कछु मर्देसि	मर्दि गर्द मिलवहिं दस सीसा।
इन्होंने प्रभु-आज्ञा पाई थी, अतः वैसा किया	इन्हें आज्ञा नहीं मिली, नहीं तो सत्य करें।
उलटि पलटि लंका सब जारी	मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका।
इन्होंने लंका के वीरों को जीता	ये—'तृन समान त्रैलोकहि गिनहीं।'

राम - तेज - बल - बुधि - बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥१॥
सक सर एक सोखि सत सागर। तव भ्रातहि पूछेउ नयनागर ॥२॥
तासु बचन सुनि सागर पाहीं। माँगत पंथ कृपा मन माहीं ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के तेज, बल और बुद्धि की अधिकता को लाखों शेष भी नहीं कह सकते। १॥ वे एक बाण से सैकड़ों समुद्र सोख सकते हैं, पर नीति में चतुर हैं इससे तुम्हारे भाई से उन्होंने (सिंधु उतरने का उपाय) पूछा ॥२॥ उसका वचन सुनकर वे सागर से मार्ग माँग रहे हैं, उनके मन में कृपा है ॥३॥

विशेष—(१) 'राम तेज बल बुधि बिपुलाई।···' श्रीरामजी का तेज, यथा "यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥" (गीता १५।१२); 'बल'; यथा—"मरुत कोटि सत बिपुल बल···"—'बुधि'; यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई॥" (उ० दो० ९१), ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज" (लं० दो० १५); अतः ब्रह्माजी से कोटि गुणी निपुणता में इनकी बुद्धि का वैभव है। 'सेष सहस सत' उनके दूत की करनी को भी शेषजी नहीं कह सकते, यथा—"नाथ पवन सुत कीन्हि जो करनी सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥" (दो० ३१), तब स्वामी के तेज आदि के वर्णन में लाखों शेषों का असमर्थ होना योग्य ही है।

(२) 'सक सर एक सोषि···'—श्रीविभीषणजी ने कहा था—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक।" (दो० ४९); (सत और 'कोटि' पर्याय हैं अनेक वाची हैं।) वही सुनकर दूतों ने यहाँ कहा। भाव यह कि श्रीविभीषणजी से समुद्र उतरने का उपाय पूछा, तब यह न समझो कि वे समुद्र उतरने में असमर्थ हैं, वे तो एक बाण से ही करोड़ों सागर सोख सकते हैं। पर अपने कुल-गुरु सागर की मर्यादा रखते हैं। 'तव भ्रातहि पूछेउ···'—श्रीविभीषणजी से मंत्र पूछा है तो यह न समझो कि वे नीति नहीं जानते, किंतु वे तो नीत में निपुण हैं; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५४)। तुम्हारे भाई को प्रतिष्ठा देने के लिये उनसे मंत्र पूछा।

तेज, बल और बुद्धि की विपुलता के उत्तर क्रमशः—'सक सर एक सोषि सत सागर।' 'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम।' और 'तव भ्रातहि पूछेहु नयनागर।'—मंत्री से विचार करना बुद्धिमानी है।

(३) 'तासु वचन सुनि '—भाव यह कि जिससे पूछे, उसकी उचित बात को मानना चाहिये। इसी बात की प्रार्थना इसने भी पहले ही कर ली थी यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥"। 'माँगत पथ कृपा '—मन में कृपा है, उसका मान रखना है, नहीं तो इसे सोख लेते। श्रीविभीषणजी पर भी कृपा है, इसी से उनके वचन को आदर दिया, नहीं तो इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने विरोध किया ही था कि सामर्थ्य से काम लीजिये।

सुनत वचन विहँसा दससीसा। जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥४॥
सहज भीरु कर वचन दृढाई। सागर सन ठानी मचलाई॥५॥
मूढ मृपा का करसि वडाई। रिपु-बल-बुद्धि थाह मैं पाई॥६॥
सचिव सभीत विभीषन जाके। विजय-विभूति कहाँ जग ताके॥७॥

अर्थ—वचन सुनते ही रावण बहुत हँसा (और बोला) जब ऐसी बुद्धि है, तभी तो वानरों को सहायक बनाया॥४॥ स्वाभाविक ही डरपोक विभीषणजी के वचन को दृढ कर सागर से मचले हुए हैं (कि राह न देगा, तो डूब मरेंगे—इससे बाल-बुद्धि है)॥५॥ अरे मूर्ख! झूठ ही क्या बडाई करता है? मैंने शत्रु के बल-बुद्धि की थाह पा ली॥६॥ जिनके विभीषण-से डरपोक मंत्री हैं, उसको संसार में विजय और ऐश्वर्य कहाँ?॥७॥

विशेष—(१) 'सुनत वचन विहँसा '—अभी इसे बोलने की राह मिली, इसी को लेकर निरादरार्थ खूब हँसा। 'जौं असि मति' अर्थात् विभीषण को मंत्री बनाया, इससे बुद्धि की थाह मिली। वानरों को सहायक बनाया, इससे बल की थाह मिली। अर्थात् उनमें बल-बुद्धि कुछ नहीं है, सागर से मचलने से भी बल-बुद्धि की हीनता सिद्ध की।

(२) 'सहज भीरु कर मंत्र '—नीति है कि डरपोक को मंत्री न बनावे, विभीषण डरपोक है, यथा—"अनुज हमार भीरु अति सोऊ।" (लं० दो २१)।

(३) 'मूढ मृपा का करसि वडाई। '—जिसमें कुछ भी बल-बुद्धि नहीं, उन्हें 'बलराशि' एवं 'तेन बल बुधि विपुलाई' कहता है और मैं जो बल-बुद्धि में अगाध हूँ, उसे कुछ नहीं गिनता है, इससे तू मूढ है। 'थाह मैं पाई'—तू तो अथाह कहता था, पर मैंने अपनी बुद्धि से थाह ले ली (बल होता तो समुद्र सोख लेते, वानरों को सहायक न बनाते। बुद्धि होती तो विभीषण ऐसे डरपोक को मंत्री न चुनते।)

(४) 'सचिव सभीत विभीषन जाके। '—डरपोक मंत्री संग्राम से भगाता है, तब विजय कहाँ और फिर शत्रु सब ऐश्वर्य ले लेता है, तब विभूति कहाँ? विभीषण वहाँ गया, तो उनसे भी कहा कि सागर से विनती करो। यहाँ रहा तो मुझ से कहता था कि शत्रु से विनती करो, इसी से तो उसे मैंने निकाल दिया। पर उन्होंने उस डरपोक को रक्खा है और उसकी मति पर चल रहे हैं, तब उनका पता लग गया। राजा को अच्छी सेना और अच्छे मंत्रियों से विजय और विभूति मिलती हैं। उनमें ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं।

सुनि खल-वचन दूत रिस वाढ़ी। समय विचारि पत्रिका काढ़ी॥८॥

रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ॥९॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन ॥१०॥

अर्थ—दुष्ट रावण के वचन सुनकर दूत का क्रोध बढ़ा और समय विचार कर उसने पत्रिका निकाली (और बोला) ॥८॥ श्रीरामजी के छोटे भाई ने यह पत्रिका दी है, हे नाथ! इसे पढ़ाकर छाती ठंढी कीजिये ॥९॥ हँसकर रावण ने उसे बायें हाथ में लिया और मंत्री को बुलाकर वह शठ उसे पढ़वाने लगा ॥१०॥

विशेष—(१) 'रिसि बाढ़ी'—श्रीरामजी की निन्दा सुनकर क्रोध बढ़ गया; यथा—"जब तेइ कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत तब भयउ कपिंदा ॥" (लं॰ दो॰ ३०); रिस तो पहले से ही थी, जब उसने हँसकर प्रश्न किया था, अब क्रोध बढ़ गया। राम-निंदक को तलवार से मारना चाहिये। इस लिफाफे रूप म्यान से पत्रिका रूपी तलवार निकाली, इससे उसका हृदय विदीर्ण होगा; यथा—"सुनत सभय मन···" आगे कहा है। 'समय विचारि'—जब उसने दूत के सब वचनों को काट दिया, तब इसने पत्रिका देने का अवसर देखा कि जिससे इसके वचन सत्य हों।

(२) 'रामानुज दीन्हीं यह पाती।···'—श्रीलक्ष्मणजी ने अपना परिचय-सहित पत्र देने को कहा था; यथा—'लछिमन बचन बाँचु कुल घाती।' इसी से उनका नाम कहकर दिया। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था 'बाँचु', पर दूत कहता है—'बँचाइ'; इसका अभिप्राय यह है कि वह जानता है कि दुष्ट ठीक-ठीक न बाँचेगा, इससे दूसरों से बँचवाना कहा कि सब सभावाले भी सुन लें, जिससे रावण को लज्जा भी हो। और मंत्री लोग भी सुनें तो लज्जित हों, जो कहते हैं—"नर वानर केहि लेखे माहीं।" ऊपर से यह भी दिखाया कि शत्रु की चिट्ठी है। अतः, आप दूसरे से पढ़ावें। 'जुड़ावहु छाती'—यह व्यंग्य है, इससे उसकी छाती जलेगी, यथा—"सुनत सभय मन···" आगे कहा है।

(३) 'बिहँसि बाम कर लीन्ही···'—वाम (शत्रु) की पत्री है, अतएव निरादर के लिये हँसकर और बायें हाथ से ली, पुनः उसको दूसरे से बँचवाया। पत्रिका की बात न मानेगा, किंतु शठता से उड़ा देगा, इसी से शठ कहा है।

दोहा—बातन्ह मनहि रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस।
राम-बिरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस ॥

दोहा—की तजि मान अनुज इव, प्रभु - पद - पंकज - भृंग।
होहि कि राम सरानल, खल कुल - सहित पतंग ॥५६॥

अर्थ—अरे शठ! बातों से ही मन को प्रसन्न करके कुल का नाश न कर। श्रीरामजी से विरोध करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भी शरण जाने पर भी न बचेगा॥ या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाई की तरह प्रभु के चरण-कमलों का भ्रमर बन और या तो, अरे दुष्ट श्रीरामजी के बाण-रूपी

अग्नि में कुल-सहित पतंग (शलभ) हो ; अर्थात् शरण न आने से कुल-समेत नाश होगा। अतः, दो में एक जो रुचे, कर ॥५६॥

विशेष—(१) 'बातन्ह मनहि रिझाइ···'—भाव यह कि वचन और मन से ही शूर बना बैठा है, कर्म (करनी) कुछ न हो सकेगा। कुल-सहित नाश हो। पुलस्त्य ऋषि का उत्तम कुल है। इसलिये कुल-नाश पर भी खेद होता है, इसी से कहते हैं। 'राम बिरोध न उबरसि···' यहाँ 'बिष्णु अज ईस' कहा है। विष्णु को पहले कहा है, क्योंकि रक्षण-धर्म उन्हीं का मुख्य है। अन्यत्र रावण ही के प्रसंग में शिव-ब्रह्मा भी प्रथम कहे गये हैं ; यथा—"संकर सहस बिष्णु अज तोहीं। राखि न सकहिं···" (दो २२)। तथा—"ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोहीं॥" (लं दो० २१); तीन बार में एक-एक को प्रधान लिखकर तीनों को समान भी सूचित किया। अन्यत्र भी कहा है ; यथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रोमहेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य।" (वाल्मी० ५/५१.४१)।

(२) 'की तजि मान···'—या तो भ्रमर जैसे सुख रूपी मकरंद पानकर, अन्यथा पतंग बनकर ताप सह। भ्रमर के जोड़ में पतंग कहा है, दो ही गति हैं।

बातों में मन का रिझाना यह कि मैंने शिव-ब्रह्मा से ऐसे-ऐसे वर पाये हैं, हमारे अमुक-अमुक वीर हैं। दिक्पाल अधीन हैं, नर-वानर किस गणना में हैं ? मैंने कैलास तक को उठा लिया, त्रिदेव मुझसे डरते हैं, इत्यादि।

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥१॥
भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग-बिलासा॥२॥
कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समुझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी॥३॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा॥४॥

अर्थ—सुनकर मन में डरा, पर (डर छिपाने के लिये) मुख से हँसकर और सबको सुनाकर रावण कहता है कि जैसे कोई पृथिवी पर पड़ा हुआ हाथ से आकाश को पकड़ता हो, वैसे इस छोटे तपस्वी की वाणी का विलास (वचन-चातुरी-मात्र) है।२। शुक ने कहा कि हे नाथ ! अभिमानी प्रकृति को छोड़कर समझिये, 'सब वाणी सत्य हैं ॥३॥ क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिये, हे नाथ ! श्रीरामजी से वैर छोड़िये ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनत सभय मन···'—मन का भय चेहरा से प्रकट हो जाता, उसे छिपाने के लिये मुख से मुसकुराया, किंतु मुसकुराना भी थोड़े ही लोगों ने देखा होगा, इसलिये सब को सुनाकर 'दशानन' दसों मुखों से बोल उठा ; यथा—"दसमुख बोलि उठा अकुलाना।" (लं० दो० ७); जहाँ घबड़ाकर बोलना कहा गया है, वहाँ ही इसप्रकार बोलना है।

(२) 'भूमि परा कर···'—पृथिवी पर से बैठकर या खड़े होकर तो कोई आकाश पकड़ ही नहीं सकता, फिर भूमि में पड़े हुए की क्या बात ? इसी तरह कोई समर्थ राजा अपनी सेना-सहित तो हमें जीत ही नहीं सकता, इन राज्य-भ्रष्ट तपस्वियों की क्या बात है, केवल बातों की डींग है। 'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ' का उत्तर 'लघु तापस कर बाग बिलासा' है।

(३) 'सत्य सब बानी'—उसने वाग्विलास कह दिया, यह उसका खंडन करता है कि सब वचन सत्य हैं, ऐसा ही इस शुक ने भी मुखाग्र कहा था, उसे भी पुष्ट कर रहा है। 'समुझहु छांड़ि···' - अभिमानी किसी की शिक्षा नहीं मानता; यथा "मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।" (कि० दो० ८); इसलिये अभिमान छोड़कर समझना कहा। वचन का आशय गंभीर है, इससे भी समझना कहा है।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ ॥५॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही ॥६॥
जनकसुता रघुनाथहि दीजे। एतना कहा मोर प्रभु कीजे ॥७॥
जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन - प्रहार कीन्ह सठ तेही ॥८॥
नाइ चरन सिर चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ ॥९॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव अत्यन्त कोमल है, यद्यपि वे सम्पूर्ण लोकों के राजा हैं ॥५॥ मिलते ही वे प्रभु तुमपर कृपा करेंगे, तुम्हारे एक भी अपराध वे अपने हृदय में नहीं धरेंगे ॥६। श्रीरघुनाथजी को जनक-सुता दे दीजिये, हे प्रभो ! इतना मेरा कहना कीजिये ॥७॥ जब उसने श्रीवैदेहीजी को देने के लिये कहा, तब उस शठ ने उसे लात मारी ॥८॥ वह चरणों में शिर नवाकर वहाँ चला गया, जहाँ दया-सागर रघुनायक श्रीरामजी (समुद्र-तट पर बैठे हैं) ॥९॥

विशेष—(१) 'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।···'—श्रीरामजी का स्वभाव दूतों के चित्त में प्रविष्ट हो गया है; यथा—"प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥" (दो० ५१); इसी से यहाँ भी कह रहे हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष देखा और सुना है; यथा—"जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै···" इत्यादि। थोड़ा भी आधिपत्य पाकर लोग रजोगुणी होकर निष्ठुर हो जाते हैं, पर वे सम्पूर्ण लोकों के राजा होते हुए अति कोमल स्वभाव के हैं।

(२) 'मिलत कृपा तुम्ह पर···'—इसने श्रीरामजी के श्रीमुख वचन सुने हैं; यथा "कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू ॥" वही कह रहा है। और राजाओं का अपराध करके उनसे मिलने जाय, तो वे बदले में क्रोध करते हैं, पर श्रीरामजी एक भी तुम्हारे अपराध न देखेंगे। अपराध बहुत हैं—सुर-मुनियों से द्रोह, चराचर-मात्र से द्रोह, श्रीसीताजी का हरण, जटायु-वध, श्रीहनुमान्‌जी की पूँछ जलाना, श्रीविभीषणजी का अपमान इत्यादि।

(३) 'जनक सुता रघुनाथहि दीजे।···'—यह संदेश श्रीलक्ष्मणजी का था; यथा—'सीता देइ मिलहु' उन्होंने इसे मुखाग्र कहने को कहा था ! पर इसने अपनी ओर से कहा, क्योंकि जानता है कि जो कोई भी इससे श्रीसीताजी के देने की बात कहता है, उसी पर वह बिगड़ता है। श्रीलक्ष्मणजी की ओर से कहूँगा, तो यह उन्हें गाली देगा, जो मुझे न सुनना चाहिये; यथा—"हरिहर निंदा सुनहिं जो काना। होइ पाप गोघात समाना ॥" (लं० दो० ३०); इसलिये अपनी ओर से कहा; यथा—'एतना कहा मोर प्रभु कीजै।' तब 'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।' यह भी यदि वह श्रीलक्ष्मणजी की ओर से कहता तो न मारा जाता। जैसे श्रीविभीषणजी ने जब श्रीपुलस्त्यजी की ओर से श्रीसीताजी के देने को कहा था,

तब उसने नहीं मारा। जब अपनी ओर से कहा—'राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ...' तब उसने मारा है।

(४) 'जब तेहि कहा देन...'—शत्रु की बड़ाई की, रावण की न्यूनता कही, यहाँ तक कि उस दल का एक वानर भी तुम्हें जीत सकता है, गर्द में मिला सकता है, पर उसपर क्रोध नहीं किया, क्योंकि पहले ही वचनबद्ध हो चुका था। पर जैसे ही इसने उधर की बात पूरी कर अपनी ओर से श्रीसीताजी के देने की बात कही कि 'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।' यद्यपि इसने विनय पूर्वक कहा था तथापि उसने नहीं माना, इसी से शठ कहा गया। शठ से विनय करना व्यर्थ हो जाता है; यथा—"सठ सन बिनय...ऊसर बीज..." यह आगे कहा है।

(५) 'नाइ चरन सिर...'—इसने पहले भी आकर प्रणाम किया था; यथा—"रावन चरन सीस तिन्ह नाये।" और अपमान होने पर भी यहाँ 'नाइ चरन सिर' कहा गया है इसने अपना धर्म निबाहा है। जैसे श्रीविभीषणजी ने आदि-अंत में प्रणाम करते हुए लंका त्याग किया है। श्रीरामजी को 'कृपा-सिंधु' कहा, क्योंकि इसपर वे कृपा करेंगे।

करि प्रनाम निज कथा सुनाई। राम-कृपा आपनि गति पाई ॥१०॥
रिषि अगस्ति कि स्राप भवानी। राछस भयेउ रहा मुनि ग्यानी ॥११॥
बंदि राम-पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा ॥१२॥

दोहा—बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति ॥५७॥

अर्थ—प्रणाम करके अपनी कथा सुनाई और श्रीरामजी की कृपा से अपनी गति पाई, (अर्थात् अपने पूर्व के मुनि-स्वरूप को प्राप्त हुआ) ॥१०॥ हे भवानी! यह ज्ञानी मुनि था, अगस्त्य ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था ॥११॥ बार-बार श्रीरामजी के चरणों की वंदना करके मुनि अपने आश्रम को चला गया ॥१२॥ जड़ समुद्र विनती नहीं मानता, तीन दिन बीत गये, तब श्रीरामजी कोप-सहित बोले कि बिना भय के प्रीति नहीं होती ॥५७॥

विशेष—(१) 'निज कथा सुनाई'—कथा यह कि मैं रावण का दूत हूँ, विभीषणजी के पीछे उसने मुझे भेजा था, वानरों ने यहाँ पहचान लिया और मेरे नाक-कान काटने लगे, तब मैंने आपकी शपथ दी। इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने मुझे छुड़ा दिया और रावण के लिये मुझे पत्रिका दी और मुख से भी सदेश कहा। मैंने जाकर उसे पत्रिका दी और विनती की कि श्रीसीताजी को दे दीजिये और श्रीरामजी की शरण हो जाइये। इसपर उसने मुझे लात मारी, तब मैं भागकर आपकी शरण में आया हूँ।

इतना कहते ही वह राम-कृपा से मुनि हो गया। प्रणाम-मात्र में प्रभु ने उसे कृतार्थ किया; यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८), "मंगल मूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै।" (गी० सुं० ४०), "भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (वि० १३५)।

(२) 'रिपि अगस्ति की स्राप...'—प्राचीन कथा है कि पूर्व जन्म में यह शुक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण था। राक्षसों के नाश के लिये इसने वन में वसकर वहुत-से यज्ञ और तप किये, इसी से राक्षस इससे वैर रखते थे। वज्रदन्त राक्षस इसके पीछे पड़ा। एक दिन अगस्त्यजी इस (मुनि) के आश्रम में आये। मुनि ने उनको भोजन के लिये निमंत्रित किया। अगस्त्यजी स्नान करने गये। शुक मुनि ने भोजन वनाया। जव अगस्त्यजी आ गये और भोजन करने के लिये वैठे, तव उस राक्षस ने मुनि की स्त्री को मोहित कर दिया और स्वयं उसकी स्त्री वनकर मनुष्य का मांस भोजन में मिलाकर अगस्त्यजी के आगे परोस कर अंतर्धान हो गया। मुनि अगस्त्यजी ने अभक्ष्य देखकर शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा और मनुष्यों का मांस खाया कर। शुक मुनि ने प्रार्थना की कि मेरा दोप नहीं है, तव अगस्त्यजी ने ध्यान करके सव जान लिया और फिर अनुग्रह किया कि तुम राक्षस होकर रावण के सहायक होगे। वह तुम्हें गुप्तचर वनाकर भेजेगा, लौट कर तुम उसे तत्त्वोपदेश करोगे, तव तुम शाप से मुक्त होगे। यह कथा अध्यात्म रामायण में इसी प्रसंग पर है।

'रहा मुनि ज्ञानी'—ज्ञानका अभिमानी था, भक्त न था, इसी से इसका पतन हुआ; यथा—"जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ..." (उ० दो०१२); मुनि-स्वरूप पा जाने परग्रंथकार अव उसे 'मुनि' कहते हैं। इसने वार-वार वंदना की, पर श्रीरामजी मुख से नहीं वोले, क्योंकि मौन-व्रत में हैं।

(३) 'विनय न मानत जलधि...'—तीन दिन का संकल्प करके वैठे थे। वीत जानेपर कोप किया। विनय न मानने से उसे 'जड़' कहा, क्योंकि वह जड़त्व करनी में ही स्थित है; यथा—"गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी॥" (दो० ५८); 'वोले राम सकोप तव'—अव भी पहले वचन-मात्र का कोप प्रकट कर रहे हैं, क्योंकि मन में उसपर कृपा है; यथा—"माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" (दो० ५५); नहीं तो ऐसा कहने की आवश्यकता न थी। जड़ प्राणी भय से प्रीति करते हैं, विनय से नहीं, यह भी जाना गया।

श्रीहनुमान्‌जी राम-दूत हैं, तव भी उनकी सेवा इसने की थी, क्योंकि उनका पुरुपार्थ पहले ही इसी किनारे देख लिया था। पर श्रीरामजी के माधुर्य में उसे मोह हो गया। जैसे गंगाजी का मोह होना कहा गया था, इसी से यह पुरुपार्थ देखना चाहता है। तव कालरूप रावण के समीप जाने देगा। इसी से आगे श्रीरामजी का भारी वल-पौरुप देखकर इसे हर्प होना कहा गया है; यथा—"देखि राम वल पौरुप भारी। हरपि पयोनिधि भयो सुखारी॥" (दो० ५६); पहले भी इसपर लिखा जा चुका है। 'भय विनु होइ न प्रीति'—इस कथन से पाया गया कि प्रीति होने के लिये ऊपर से उसपर क्रोध करते हैं, भीतर से क्रोध नहीं है; यथा—"भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव।" (कि० दो० १८)।

लछिमन वान - सरासन आनू। सोखउँ वारिधि विसिख कृसानू॥१॥
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥२॥
ममतारत सन ज्ञान - कहानी। अति लोभी सन विरति वखानी॥३॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि - कथा। ऊसर वीज वये फल जथा॥४॥

अर्थ—हे लक्ष्मणजी ! धनुप-वाण ले आओ, अग्निवाण से समुद्र को सोख लूँ॥१॥ मूर्ख से विनय,

कुटिल से प्रीति, स्वाभाविक कृपण से सुन्दर नीति ॥२॥ जो ममता में अनुरक्त है उससे ज्ञान कहना, अत्यन्त लोभी से वैराग्य बखान करना ॥३॥ क्रोधी से समत्व और कामी से हरि-कथा कहने का वैसा ही फल होता है, जैसा ऊसर में बीज बोने का; अर्थात् व्यर्थ जाता है, जहाँ तृण नहीं जमता, वहाँ और बीज कैसे जमेगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'लछिमन बान सरासन आनू।...'—श्रीलक्ष्मणजी सदा सेवा में सन्नद्ध रहते हैं। अतः, श्रीरामजी के पास थे, श्रीरामजी का धनुष-बाण भी उन्हीं के पास था; क्योंकि वे निरायुध होकर व्रत में बैठे थे। वारि का सोखना कहना है, इसी से समुद्र को वारिधि कहा। यहाँ वचन-द्वारा भय दिखाते हैं।

(२) 'सठ सन बिनय···'—शठ से विनय करना यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है, इससे इसे प्रथम कहा, शेष इसी की पुष्टि के लिये उदाहरण हैं। श्रीविभीषणजी की सम्मति से आपने तीन दिनों तक प्रार्थना की, पर इसने नहीं सुनी, इसी से इसे शठ कहते हैं; यथा—"अचन सुनी सठ ताकी बानी। बिहँसा···" (दो० ५६); कुटिल से प्रीति व्यर्थ है; यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहहिं न मोहि सुहाई॥" (उ० दो० १०५); सहज कृपण वह है, जिसकी कृपणता स्वतः स्वभाव से ही है, वह नहीं छूटती, उससे सुन्दर नीति कहना व्यर्थ है। जिसकी कृपणता किसी के संग से हुई रहती है, वह सुन्दर नीति से छूट जाती है।

(३) 'ममता रत सन···'—ममता अँधियारी-रूप है; यथा—"ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥" (दो० ४६)। ज्ञान प्रकाश रूप है; यथा—"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥" (गीता १४।११); इससे दोनों एकत्र नहीं रह सकते; यथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५); पूर्ण ममतावाले से ज्ञान-कथन व्यर्थ हो जाता है। वैराग्यवान् को ज्ञानोपदेश लगता है; यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥" (अ० दो० १७७), वैराग्य का बाधक लोभ है, वही—"अति लोभी सन बिरति बखानी।" यहाँ पर कहा गया है। ऊपर कृपण कहा गया और फिर यहाँ लोभी कहा गया, दोनों में यह अंतर है कि कृपण अपनी वस्तु दूसरे को नहीं देता और लोभी दूसरे की भी वस्तु ले लेता है। कृपणता न देने में और लोभ धन जुटाने में है। 'क्रोधिहि सम'—क्रोध द्वैत-बुद्धि से ही होता है; यथा—"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दो० १११); 'कामिहि हरि कथा'—कामी को हरि-कथा सुहाती ही नहीं; यथा—"इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे।" (बा० दो० ३७), लोभी के साथ 'अति' विशेषण भी दिया है, क्योंकि यह अत्यंत बढ़ता जाता है; यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं० दो० १००); लोभके विषय में 'निन्नानबे का फेर' प्रसिद्ध है। 'बखानी' क्रिया को सबोंके साथ लगा लेना चाहिये। अथवा, क्रिया न देकर कवि ने यह भी लक्षित किया है कि इनकी क्रिया करे ही नहीं, जैसे कि शठ से विनय करना। इसमें 'करना' क्रिया नहीं दी है, अतः, शठ से विनय करनी ही नहीं चाहिये। ऐसे ही औरों में भी लगा लेना चाहिये। ऊसर भूमि कठोर होती है, उसमें बीज उगानेवाला जल प्रवेश नहीं कर पाता। ऐसे ही शठता एवं ममता आदि हृदय में पूर्ण रहती हैं, तो तद्विरोधी बातों के उपदेश हृदय को रुचते ही नहीं।

यहाँ शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, अति लोभी, क्रोधी और कामी ये सात ऊसर भूमि हैं। विनय, प्रीति, सुनीति, ज्ञान-बखानी, विरति, सम और हरि-कथा ये सात बीज हैं। बीज सात कहे गये, क्योंकि सप्त धान्य प्रसिद्ध है। सात ही दृष्टान्त शठ आदि के इससे हैं कि सागर सात हैं। और ये सब सागर के प्रति ही कहे जा रहे हैं।

कवि लोग एक विषय की पुष्टि के लिये लोकशिक्षात्मक कई दृष्टान्त देते हैं, जैसे शूर्पणखा ने रावण के प्रति 'राजनीति त्रिनु' की पुष्टि में कई उदाहरण दिये हैं। यह आवश्यक नहीं कि सब बातें प्रस्तुत प्रसंग में ही घटित हों। इससे यहाँ पर सागर में ही शठता के अतिरिक्त सबों के घटाने का श्रम करना अनावश्यक है।

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥५॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि - उर अंतरज्वाला ॥६॥
मकर उरग झखगन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने ॥७॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आयेउ तजि माना ॥८॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी ने धनुष चढ़ाया, यह मत श्रीलक्ष्मणजी के मन को अच्छा लगा। ॥५॥ प्रभु ने कठिन भयंकर बाण धनुष पर चढ़ाया, तब समुद्र के हृदय में अग्नि की ज्वाला उठी ।६॥ मगर, सर्प और मछलियों के समूह व्याकुल हो गये, जब समुद्र ने जीवों को जलते जाना ॥७॥ तब वह सोने के थाल में अनेकों मणियों को भरकर और अभिमान छोड़कर ब्राह्मण-रूप से आया ॥८॥

विशेष—(१) 'असकहि रघुपति चाप चढ़ावा।···'—प्रभु ने सागर पर मन, वचन कर्म से कृपा की, यथा—'बैठे तट प्रभु दर्भ डसाई।'—कर्म से उसे प्रतिष्ठा दी। 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'—मन से कृपा है और यहाँ 'अस कहि' यह वचन से कृपा की कि डरकर अब भी मार्ग दे दे।

जब न आया, तब दंड देने पर उद्यत हुए। कराल बाण अभी छोड़ा नहीं, केवल अनुसंधानमात्र से उसमें ज्वाला प्राप्त कर दी कि जिससे घबड़ाकर आ जाय, अन्यथा बाण छूटते ही सागर सूख जायगा; यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (दो० ५५), यहाँ तक कृपा है।

यह मत श्रीलक्ष्मणजी को रुचा। श्रीलक्ष्मणजी के मन में तो यह भाव पहले ही से था ; यथा—"सोखिय सिंधु करिय मन रोसा।" वही यहाँ घटित हुआ, इससे इनके मन को भाया। समुद्र ने श्रीरामजी का अपमान किया, विनय पर न आया। तब इन्हें क्रोध हुआ, पर प्रभु उसे मान दे रहे हैं। अतएव उनके विरुद्ध उसे दंड न दे सकते थे, जब प्रभु ने ही वैसा कहा तब प्रसन्न हुए। पूर्व कहा गया था यथा "मंत्र न यह लछिमन मन भावा।" उसी के जोड़ में यहाँ कहा गया ; यथा "यह मत लछिमन···"।

(२) 'संधानेउ प्रभु बिसिख···'—यहाँ सामर्थ्य प्रदर्शन सम्बन्ध से प्रभु कहा गया है। 'कराला' कह कर उसका कार्य 'उठी उदधि उर··' से दिखाया। 'अंतर'—उसके सर्वांग में, समुद्र भर में।

(३) 'मकर उरग झखगन अकुलाने।···'—समुद्र का जल खौलने लगा, तब उसमें के जीव व्याकुल हो उठे। इन आश्रितों की पुकार से उसके कान खुले। जब श्रीरामजी ने व्रतपूर्वक विनय की, तब उसने नहीं सुना था।

(४) 'कनक थार भरि मनिगन नाना।···'—मणि गण अत्यन्त मूल्य वाले थे, इसीसे सोने के थाल में रखकर लाया। समुद्र में रत्न होते हैं ; यथा—"डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।" (उ० दो० २२)। इसी से वह इन्हें भेंट के लिये लाया, क्योंकि राजा के सामने खाली हाथ न जाना चाहिये ; यथा "रिक्त

पाणिर्न गच्छेत राजानं देवतां गुरुम्।" यह प्रसिद्ध है। मणि ही लाया, क्योंकि १४ रत्न निकले थे, तब भगवान् ने कौस्तुभमणि और लक्ष्मी को ही लिया है। समझा कि हम नाना मणि देंगे तो अवश्य प्रसन्न होंगे। पर श्रीरामजी तो दीनता पर रीझते हैं, इससे इनके विनीत वचन पर ही प्रसन्न होंगे। 'विप्र रूप आयउ'—क्योंकि इनका कुल ब्रह्मण्य है; यथा—"सुर महिसुर हरिजन अरुगाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥" (बा० दो० २७२); भगवान् नररूप में हैं, इससे नररूप में आया।

'तजि माना'—क्योंकि मान छोड़कर शरण होने से प्रभु प्रसन्न होते हैं; यथा—"की तजि मान अनुज इव, प्रभु-पद-पंकज भृंग। होहि···" (दो० ५६); यह भी भाव है कि प्रभु मान देते थे, तब न सुना। अब मान गँवाकर आया।

दोहा—काटेहिं पइ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु, डाटेहिं पइ नव नीच॥५८॥

अर्थ—केला काटने ही पर फलता है, चाहे कोई करोड़ों यत्न से उसे सींचे। हे खगेश गरुड़जी! सुनिये, नीच विनय से नहीं मानता, वह तो डाँटने पर ही नम्र होता है। तात्पर्य यह कि नीचों से विनय न करे, डाँट कर काम ले। 'फरइ' का तात्पर्य उत्तम फल लगने का है, केले का वृक्ष जो फल जाय, उसे जड़ से खोदकर निकाल देने पर उसकी संतान रूप और वृक्षों में उत्तम फल पूर्व वृक्षवत् लगते हैं, अन्यथा छोटे होते हुए उसके दो तीन पुश्त में कुछ नहीं फलते। यहाँ 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस नियम को लेकर दृष्टान्त है कि सन्तानों का फलना उसी का फलना है॥५८॥

विशेष—श्रीरामजी तीन दिनों तक बैठे रहे, विनती की, फिर वचन मात्र से डर भी दिखाया, पर सब उपाय व्यर्थ ही हुए। जब दंड देने पर तुल गये तब वह नम्र होकर आया। जब उपाय व्यर्थ हुए, तब ऊसर बीज की उपमा दी और जब दंड से सफलता देखी, तब सफल केले की भी उपमा दी।

'कोटि जतन कोउ सींच'—विनती और सेवा करना, मान देना यही सींचना है। साम नीति सींचना और दंड नीति काटना है। 'खगेस' सम्बोधन का भाव यह कि इस समुद्र ने एक पक्षी के अंडे भी बहा दिये थे। अगस्त्यजी के दंड देने पर उन्हें (सोखने पर) लौटाया, यही है। कहा भी है; यथा—"नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदरी बदरी बिटप गति, पेखहु पनस रसाल॥" (दोहावली ५५१)।

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥१॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥२॥
तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये॥३॥
प्रभु-आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥४॥

अर्थ—समुद्र ने डर से प्रभु के चरण पकड़ लिये (और बोला) हे नाथ! मेरे सब अवगुण क्षमा कीजिये॥१॥ आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथिवी इन सब की, हे नाथ! स्वाभाविक ही जड़

करनी है (अर्थात् ये पाँचो जड़ हैं) ॥२॥ सब ग्रंथ कहते हैं कि सृष्टि के लिये आपकी प्रेरणा से माया ने इनको उत्पन्न किया है ॥३॥ हे प्रभो ! जिसको जैसी आपकी आज्ञा है, वह उसी प्रकार रहते हुए सुख पाता है ; अर्थात् पाँचो यदि अपना स्वभाव छोड़ दें तो सभी इन्हें दंड देने लगें कि हमें मार्ग दो, हमें न जलाओ, इत्यादि ॥४।

विशेष—(१) 'सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे।···'—अभी प्रभु बाण को संधान किये हुए हैं, इससे समुद्र डरा हुआ है कि कहीं छोड़ न दें और मैं सूख जाऊँ। इसलिये मन, वचन, कर्म से शरण हुआ। 'सभय'—मन की, 'गहि पद'—कर्म की और 'छमहु नाथ···' यह वचन की शरणागति है। 'सब अवगुन'–आपका गौरव न समझा, विनय न मानी, तीन दिन प्रतीक्षा कराई, सेवा में न आया, इत्यादि। अपराधों को स्वीकार करके क्षमा चाहता है, फिर आगे अपनी सफाई भी दी है कि मेरा दोष नहीं है—

(२) 'गगन समीर अनल जल···'—यहाँ ये पाँचो सृष्टि-क्रम से कहे गये हैं कि इस क्रम से पाँचो की उत्पत्ति होती है ; यथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः॥ आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः॥ अग्नेरापः॥ अद्भ्यः पृथिवी॥ पृथिव्या ओषधयः॥···" (तैत्त० २।१) उत्पत्ति-क्रम का विशेष वर्णन भूमिका में देखिये। इसीसे जल (समुद्र) का प्रसंग होते हुए भी उसे पहले नहीं कहा गया। 'सहज जड़ करनी'—पृथिवी पापी-धर्मात्मा सभी को धारण करती और समान गंधवती है, इसे यह विवेक नहीं कि कौन धारण किये जाने के योग्य है और कौन नहीं। ऐसे ही जल सभी को डुबा देता है,अग्नि जला देती है, वायु स्पर्श करता और आकाश अवकाश देता है, योग्यायोग्य का विचार ये सब कोई नहीं करते।

(३) 'तव प्रेरित माया उपजाये।···' ; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥" (आ० दो० १४) ; 'सृष्टि-हेतु', ये पाँचो ही सृष्टि के कारण हैं आपने इन्हें जड़ ही बनाया है।

(४) 'प्रभु आयसु जेहि···' ; यथा—"ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के॥" (अ० दो० २८१) ; आपकी आज्ञा से नियत मर्यादा को छोड़ दूँ तो सभी दंड देने लगेंगे, कोई मार्ग माँगेगा, कोई तरह-तरह के कार्य कराना चाहेगा, तब दुःख ही होगा। यों तो सदा एक रस जड़ रहने से कोई कुछ नहीं कहता।

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिय कीन्ही ॥५॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी, फिर रही मर्यादा, वह तो आपकी ही बनाई हुई है (भाव यह कि मेरे लिये जो मर्यादा आपने सदा से बाँध रक्खी है कि मैं अगाध रहूँ, जड़ बना रहूँ, किसी के उतरने में सहायक न होऊँ—इसे मैंने अभी तक पाला है, अब आप चाहे इसे रक्खें चाहे मिटा दें) ॥५॥ ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री, ये सब ताड़ना के अधिकारी हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु भल कीन्ह मोहिं···'—आपने दंड देकर मुझसे सेवा कराई, सेवा से भला होता है। अतः, आपने मेरी भलाई की। दंड न कहकर शिक्षा कही है, क्योंकि यह मेरी भलाई के उद्देश्य से है। मर्यादा आपकी ही दी हुई है, इसकी रक्षा करनी ही चाहिये ; यथा—"काटिये न नाथ बिषहू को रूख लाइ कै।" (क० उ० ६१)। मैं ताड़ना के योग्य हूँ। अतः, आपने भले ही ताड़ना की। 'प्रभु भल कीन्ह···' की व्याख्या 'ढोल गँवार···' में और 'मरजादा पुनि···' की 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई···' में है।

(२) 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।…'—इसने अपने (जल-तत्त्व के) वर्णन में पाँचो तत्त्वों को कहा था। इसीसे अपनी गँवारता के साथ भी पाँच दृष्टान्त कहे हैं। इनमें ढोल पहले है, यह जड़ है, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग जड़तत्त्व जल का है। शेष चार चेतन हैं, इन्हें ढोल के पीछे कहकर ढोल के समान जड़ (अज्ञ) सूचित किया। अतः, ये भी ढोल की तरह ताड़ना के अधिकारी हैं। यहाँ ढोल को ताड़ना का नियत अधिकार और ताड़ना का स्वरूप समझना चाहिये। ढोल पहले चढ़ाया जाता है, कसा जाता है; जब तक ठीक स्वर नहीं देता, ठोंका-पीटा भी जाता है। जब वह ठीक ताल-स्वर में मिल गया, तब उसके बजाये जाने से (उसके गुण-विकाश से) लोगों को आनंद मिलता है। सब कहते हैं, बहुत अच्छा ढोल है, इत्यादि प्रशंसा होती है। अतः, बजाया जाना तो उसका गुण-विकाश है, वह ताड़ना नहीं है। ताड़ना चढ़ाये जाने के उपर्युक्त कृत्य हैं, बस, उतनी ही ताड़ना है, वह भी प्रयोजन भर की जाती है। जब ढोल ठीक मिला हुआ होता है तब उसे कोई भी हथौड़ी लेकर नहीं ठोकता। ऐसे ही गँवार, शूद्र, पशु और स्त्रियों में समझना चाहिये कि जब तक ये अपने योग्य गुण-विशिष्ट नहीं होते, इन्हें श्रेष्ठ बनाने की दृष्टि से उचित ताड़ना दी जा सकती है, जैसे पढ़नेवाले बच्चों को अध्यापक लोग समय पर ताड़ना देते हैं। बच्चे ताड़ना के अधिकारी हैं, पर कितने बच्चे ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें पाठशाला से उत्तीर्ण होते समय अध्यापकों को कहना पड़ता है कि यह लड़का हमारे हाथ से कभी नहीं मारा गया, इत्यादि।

यहाँ गँवार, शूद्र और पशु के साहचार्य मे कही हुई नारि-समूह से मूर्ख स्त्री-वर्ग पर तात्पर्य है। गँवार शब्द से मूर्ख पुरुष-वर्ग भी साथ ही कहा गया है।

इसके जोड़ की चौपाई; यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥" (उ० दो० १२४); है, उसमें पहले 'संत' मात्र चेतन है, शेष चार जड़ हैं, उनका तात्पर्य यह कि परोपकार मे संत जड़ के समान कष्ट सहते हैं, और परोपकार करने से शेष चार जड़ होते हुए भी चेतन के समान हैं।

प्रभु - प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई॥७॥
प्रभु - आज्ञा अपेल स्रुति गाई। करउ सो बेगि जो तुम्हहिं सोहाई॥८॥

दोहा—सुनत बिनीत बचन अति, कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटक, तात सो कहहु उपाइ॥५९॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रताप से मैं सूख जाऊँगा, सेना उतर जायगी, इसमें कुछ मेरी बड़ाई नहीं है॥७॥ (परन्तु) वेद ने आपकी आज्ञा को अपेल (अकाट्य) कहा है, जो आपको अच्छा लगे, वही शीघ्र कीजिये॥८। उसके अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर कृपालु श्रीरामजी मुसकरा कर बोले, कि हे तात ! जिस प्रकार वानर-सेना पार उतरे, वह उपाय कहिये॥५९॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई।…प्रभु आज्ञा…'—प्रभो ! आपकी आज्ञा पूर्व से मुझे जैसे रहने की थी, मैं वैसा ही जड़ बना। उस आज्ञा को अपेल मानकर भंग नहीं किया, अभी तक किसी को मार्ग नहीं दिया। अब आज्ञा दूसरी हो रही है कि नहीं मार्ग देगा, तो सोख लूँगा। तो जैसा रुचे वैसा कीजिये। चाहे पूर्व की आज्ञा को रखिये और चाहे मिटाइये। मैं दोनों का साथ ही कैसे पालन

कर सकता हूँ ? या तो जड़ ही रहूँगा और या तो चेतन ही। आपका प्रताप बड़वानल-रूप है, उससे मैं तुरत सुखा सकता हूँ; यथा—"प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥" (लं॰ दो॰ १); पर इसमें मेरी कुछ बड़ाई न रहेगी। भाव यह कि मेरी मर्यादा भी आपकी दी हुई है, वह भी रहे, ऐसी कुछ कृपा हो। 'श्रुति गाई'—; यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥" (कठो॰ २।६।२ ; वेद मर्यादा की भी रक्षा करनी ही चाहिये। जिसमें उपर्युक्त बातें सब रहें, ऐसी कुछ कृपा हो : आपकी आज्ञा कोई मिटा नहीं सकता। मुझे भी अब जो आज्ञा हो, वह शीघ्र हो, क्योंकि हृदय में ज्वाला उठी है। इसीसे 'करौ सो बेगि' कहा है।

(२) 'सुनत बिनीत बचन अति...'—विनीत वचन से आप शीघ्र प्रसन्न होते हैं; यथा—"सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी॥" (कि॰ दो॰ ४); 'मुसुकाइ'—से अपनी कृपालुता दिखाई; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा॰ दो॰ १९७); कि जिससे उसका भय दूर हो, क्योंकि शरणागत को अभय देना आपका व्रत है; यथा—"मम पन सरनागत भय हारी।" (दो॰ ४२); वा, इसपर भी मुसकाये, कि कहता तो है अपनेको जड़ और काम पंडिताई का कर रहा है, श्रुति आदि के प्रमाणों को आगे कर मुझे ही निरुत्तर करना चाहता है। 'कृपाल'—पहले उसपर क्रोध किया था, अब कृपालु हो गये। 'जेहि बिधि उतरइ...' उसने कहा था—'उतरिहि कटक न मोरि बड़ाई।' उसपर कहते हैं कि ऐसा कोई उपाय कहो, जिसमें मुझे सोखना न पड़े और तुम्हारी बड़ाई बनी रहे, सेना उतर जाय। 'तात' शब्द विभीषण के वचनानुसार उसे कुलगुरु मानने में आदरार्थ है। इस दोहे के प्रथम चरण में एक मात्रा कम है, वह 'अति' के 'ति' को गुरु के रूप में पढ़ने से आ जाती है, ऐसा नियम है।

नाथ नील-नल कपि दोउ भाई। लरिकाईं रिषि-आसिष पाई॥१॥

तिन्हके परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥२॥

अर्थ—हे नाथ ! नील और नल दोनों वानर भाई हैं, इन्होंने लड़कपन में ऋषि से आशिष पाई है॥१॥ उनके स्पर्श करने से भारी पर्वत भी आपके प्रताप से समुद्र पर तैरेंगे॥२॥

विशेष—(१) 'नाथ नील नल···'—सम्यक प्रकार से परिचय बतलाया—'नील नल'—नाम, 'कपि'—जाति, 'दोउ भाई' से उनका परस्पर सम्बन्ध जनाया। नील को पहले कहकर ज्येष्ठ और नल को छोटा भाई सूचित किया; यथा—"नाम राम लछिमन दोउ भाई।" (कि दो॰ १); "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।" (कि॰ दो॰ ५)। 'लरिकाईं' से सूचित किया कि इन्होंने लड़कपन से ऋषि का अपराध किया, उनके स्नान करने का पत्थर जल में डुबा दिया। तब ऋषि ने कहा कि आज से जो पत्थर तुम दोनों जल में डालोगे वह नहीं डूबेगा। यह आशिष हो गई। 'पाई'—अकस्मात् ही पा गये, कुछ करके नहीं प्राप्त किया। लड़कपन की बात है, अतएव नील-नल को भी स्मरण न होगी। पर मैं जल-रूप हूँ, मेरे ऊपर न डूबने की आशिष है, इसलिये मुझे मालूम है। ऋषि लोगों ने बालक जानकर इनपर क्रोध नहीं किया, किन्तु बाल-चपलता पर प्रसन्न होकर आशिष दी।

(२) 'तिन्ह के परस किये···'—छोटे-छोटे पत्थरों के उतराने का ही वरदान था, किन्तु भारी-भारी पर्वत उतरायेंगे, यह आपका प्रताप है। पुनः ऋषि की आशिष केवल तैरने की है, यह नहीं कि एक जगह स्थिर रहें एवं एक-दूसरे में मिलकर पुल बने तथा उनपर अपरिमित बोझे की वानरी सेना चले, यह सब प्रभु-प्रताप ही से होगा, इसलिये निमित्त मात्र ऋषि-आशिष रहेगी और सब कार्य राम-प्रताप से ही होगा;

यथा—"महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान। ते मति मंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥" (लं॰ दो॰ ३)।

मैं पुनि उर धरि प्रभु-प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥३॥
येहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥४॥

अर्थ—फिर मैं भी हृदय में प्रभु (आप) की प्रभुता धारण करके अपने बल के अनुकूल सहायता करूँगा॥३॥ हे नाथ! इस प्रकार समुद्र बँधाइये जिससे तीनों लोकों में आपका यह सुन्दर यश गाया जाय॥४॥

विशेष—'करिहउँ बल अनुमान सहाई।'—सहायता यह कि ज्वार-भाटा में जल को स्थिर रक्खूँगा बड़े-बड़े जीव जल पर उतरायँगे, उनपर वानर लोग चढ़-चढ़कर पार जायँगे। यह भी मुझ में योग्यता नहीं, किन्तु आपकी प्रभुताई में से ही जितना अंश मुझे प्राप्त होगा उतने ही अंशों में सहायता करूँगा 'जेहि यह सुजस···'—समुद्र पर सेतु बाँधना यह अपूर्व बात होगी। तीनों लोक यश गावेगा; यथा—त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानि हैं।" (कि॰ दो॰ ३०); इस कीर्ति से लोगों के लिये एक भव-सागर का भी सेतु हो जायगा। इसे गा-गाकर लोग तरेंगे; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (लं॰ दो॰ ९७)।

येहि सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी॥५॥
सुनि कृपाल सागर-मन पीरा। तुरतहिं हरी राम रनधीरा॥६॥
देखि राम-बल-पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयेउ सुखारी॥७॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा॥८॥

अर्थ—हे नाथ इस बाण से मेरे उत्तर तटवासी पाप की राशि दुष्ट मनुष्यों को मारिये, ॥५॥ सागर के मन की पीड़ा सुनकर कृपालु और रणधीर श्रीरामजी ने उसे तुरत हर लिया॥६॥ श्रीरामजी का भारी बल और पुरुषार्थ देखकर समुद्र हर्षित होकर सुखी हुआ॥७॥ सब (उत्तर तट के दुष्टों के एवं दक्षिण तट के रावण आदि के) चरित कहकर प्रभु को सुनाया और चरणों की वन्दना करके समुद्र चला गया।८॥

विशेष—(१) 'येहि सर मम···'—इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजी ने पूछा है कि हम बाण अनुसंधान कर चुके, यह अमोघ है, इसको कहाँ छोड़ा जाय? क्योंकि यह व्यर्थ नहीं हो सकता। तब समुद्र ने उन दुष्टों को बतलाया। श्रीरामजी दुष्टों का वध करते ही हैं; यथा—"तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (आ॰ दो॰ १८)।

(२) 'सुनि कृपाल सागर···'—इसने अपना सब दुःख सुनाया, पर ग्रंथकार ने सूक्ष्म में जना दिया। सुनकर तुरत पीड़ा हरण की, इससे 'कृपालु' कहा; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ॰ दो॰ ८१), 'तुरतहि हरी'—क्योंकि समुद्र ने शीघ्रता की प्रार्थना भी की थी; यथा—"करहु सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई।" बाण का जब तक संहार नहीं किया गया, सम्पूर्ण समुद्र खौलता रहा। पुनः उन दुष्टों की पीड़ा भी उसे असह्य थी ही। श्रीरामजी ने दोनों पीड़ाएँ दूर कीं।

(३) 'रनधीरा' कहे जाने से पाया गया कि उन दुष्टों का मारना बड़ा दुष्कर था, वे दुष्ट प्रबल एवं बहुत थे; यथा—"उग्र दर्शन कर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः। आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम॥" (वाल्मी॰ ६।२२।३०)।

(४) 'देखि राम बल पौरुष भारी ।'''—शरीर का बल धनुष के खींचने से जाना गया और पुरुषार्थ अग्नि-बाण के प्रयोग एवं उन दुष्टों के वध करने से देखा। सागर श्रीरामजी के माधुर्य में पहले मोहित हो गया था, अब भारी बल-पौरुष देखकर हर्षित हुआ और मन की पीड़ा मिटी, इससे सुखी हुआ। वा, हर्ष का अर्थ रोमांच होना भी होता है; अतः, सुखी हुआ और उसको रोमांच हो आया। वा, 'हरषि' प्रीति करके; यथा—"मत्प्रीती प्रमुदो हर्ष इत्यमरः।" अतः, श्रीरामजी की प्रीति करके सुखी हुआ। इसे अपनी पीड़ा मिटने पर हर्ष न हुआ, किन्तु श्रीरामजी का भारी बल-पौरुष देखकर हर्ष हुआ। यह पूर्व के भाव को प्रकट करता है कि जो पहले माधुर्य में मोहित हो गया था।

(५) 'सकल चरित कहि'''—उत्तर तट के दुष्टों का और रावण का। यह रावण को चारों तरफ से घेरे हुए है, इससे उसका भेद जानता है। अभी तक नहीं सुनाया था कि ये हमारे कुल के हैं, कहीं रावणादि इन्हें ही न जीत लें, जब इनका भारी बल-पौरुष देख लिया तब सुनाया। उपक्रम में—'सभय सिंधु गहि पद''' में इसकी मन, कर्म, वचन की भक्ति कही गई। वैसे यहाँ उपसंहार में भी है—'भयउ सुखारी'—मन की, 'चरित कहि'—वचन की और 'चरन बंदि' यह कर्म की भक्ति है।

छन्द—निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलिमल-हर जथामति दास तुलसी गायऊ।
सुख-भवन संसय-समन दमन बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठमना।

अर्थ—समुद्र अपने घर गया, श्रीरघुनाथजी को यह मत अच्छा लगा, यह चरित कलि के पापों का हरने वाला है। श्रीतुलसीदासजी ने (अपनी) बुद्धि के अनुसार इसे कहा॥ श्रीरघुनाथजी के गुण-गण सुख के धाम संशय के निवृत्त करनेवाले और दुःखों के नाश करनेवाले हैं। अरे शठ मन! सब आशा-भरोसा छोड़कर इन्हें निरंतर गा और सुन॥

विशेष—(१) 'निज भवन गवनेउ'''—समुद्र के रहने का कोई नियत स्थान भी है, जहाँ को चला गया, इस प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है। 'रघुपतिहि यह मत भायऊ'—पूर्व कहा गया था—"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥" और यहाँ कहते हैं—'रघुपतिहि यह मत भायऊ' इसका भाव यह कि वह मत (चाप चढ़ाने का) रघुपति को न भाया था और यह मत भाया; क्योंकि समुद्र की मर्यादा रखने में आप शोभा मानते हैं, इसीसे 'श्री' विशेषण भी है। इसमें आपके भक्त नील-नल की भी कीर्त्ति होगी।

(२) 'यह चरित कलिमल हर'''—'जथामति' से चरित की अनंतता सूचित की; यथा—"हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु॥" (बा० दो० १२०)। 'कलि मल हर' अर्थात् पापी लोगों के पाप हरता है और जिस तरह भक्तों का हितकारी है, वह आगे कहते हैं—

(३) 'सुख-भवन संसय-समन'''—ज्ञानी के लिये 'सुख-भवन' है; जिज्ञासु के लिये 'संसय-समन' है, आर्त्त के लिये 'दमन बिषाद' है और अर्थार्थी भक्त के लिये 'सकल सुमंगल दायक' आगे कहा गया है।

पुनः 'कलि-मल-हर'—कलियुग का फल कहा है। कलियुग का प्रधान धर्म राम-चरित-गान है और

कवि का भी वर्त्तमान युग है, इसीसे इसे प्रथम कहा है। 'सुख-भवन'—त्रेता का फल कहा है, क्योंकि—"सब विधि सुख त्रेता कर धरमा।" (उ० दो० १०२); 'संसय-समन' होना ज्ञान का कार्य है और यह सतयुग का धर्म है; यथा—"कृत युग सब जोगी विज्ञानी।" (उ० दो० १०२); 'दमन विषाद'—पूजा का फल है, इससे द्वापर का धर्म है; यथा—"द्वापर करि रघुपति पद पूजा।" (उ० दो० १०२); इस तरह चारों युगों का फल चरित से प्राप्त होना कहा गया है। 'तजि सकल आस भरोस'...'अर्थात् सब कामना-पूर्ति की आशा और अन्य देवता का भरोसा छोड़कर निरन्तर अनध्याय-रहित चरित को कहना सुनना चाहिये; यथा—"और आस विश्वास भरोसो हरु जिय की जड़ताई।...हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥" (वि० १०३)। 'संतत'; यथा—"रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि।" (उ० दो० १२६); 'सठ मना'—क्योंकि बारम्बार उपदेश सुनकर भी मन मूढ़ता नहीं छोड़ता।

दोहा—सकल सुमंगलदायक, रघुनायक-गुन-गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव-सिंधु बिना जलजान ॥६०॥

॥ इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने ज्ञानसम्पादनो नाम ॥

॥ पञ्चमः सोपानः समाप्तः ॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का गुण-गान समस्त सुन्दर मङ्गलों का देनेवाला है, जो इसे आदर-सहित सुनते हैं, वे बिना किसी जलयान (नाव आदि जल की सवारियों) के भव-सागर तर जाते हैं ॥६०॥

इस रामचरितमानस में कलि के सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाला ज्ञान-प्रापक नाम का पाँचवाँ सोपान समाप्त हुआ। ५।

विशेष—(१) यहाँ ग्रंथकार वक्ता लोगों की ओर से फल-श्रुति कहते हैं—'सकल सुमंगलदायक' अर्थात् अर्थ, धर्म और काम का देनेवाला है। पुनः 'तरहिं भव' अर्थात् मोक्ष भी देता है। इस प्रकार चारों फलों के द्वारा लोक-परलोक दोनों का सुख देता है। 'बिना जलजान'—क्योंकि श्रीरामजी ने समुद्र पर सेतु-निर्माण का निश्चय किया, जिससे बिना जलयान के लोग पैदल ही समुद्र पार कर लेंगे। इससे इस चरित के द्वारा भी लोग बिना किसी कर्म, ज्ञान आदि सवारियों पर आरूढ़ हुए ही भवसिंधु को तर जायँगे। वा, रघुनायक-गुणगान के समक्ष भवसिंधु को बिना जल का ही जानो, मानो उसमें जल है ही नहीं, वह ऐसा सूख जाता है; यथा—"नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।" और इस कांड में नाम-माहात्म्य प्रधान है, महारानीजी इसी के आधार पर जीती हैं। यथा—'नाम पाहरु...।' (दो० ३०)

पहले गाना और सुनना दोनों कहा था, यथा—"गावहिं सुनहिं संतत" अब क्रमशः पृथक्-पृथक् दोनों का फल कहते हैं कि गुणगान 'सकल सुमंगल दायक' है और सादर श्रवण 'तरहिं भव' के अनुसार भव-तारक है।

(२) इस कांड को ज्ञान-सम्पादक कहा है, क्योंकि ऊपर भव-तरण इसका फल कहा गया है। पुनः इस कांड में श्रीहनुमानजी के चरित के द्वारा श्रीरामजी का तेज प्रभाव जानकर श्री विभीषणजी दुःसंग छोड़कर श्रीरामजी की शरण हुए, यह ज्ञान का गुह्यतर तात्पर्य है; यथा—"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया" (गीता १८।६२-६३)। इसीसे इसका माहात्म्य भी ज्ञान-प्रापक है, इसके द्वारा जीव श्रीरामजी की शरण होंगे—यही उन्हें ज्ञान-प्राप्त होना है।

—०—

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक-सहित)

षष्ठ सोपान (लंकाकाण्ड)

दोहा—लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदंड ॥

शब्दार्थ—परमानु (परमाणु) अत्यन्त सूक्ष्म काल भेद, एक परमाणु पदार्थ अपनी गति में जितना समय लेता हो। पलक लगना भर निमेष कहा जाता है, ऐसे-ऐसे १६ निमेषों का एक लव होता है, यथा—"अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः" (इति हेमचन्द्रः) = १८ निमेषों की काष्ठाओं और दो काष्ठाओं का लव होता है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है। चारों युगों के १००० बार बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। चंड - तीक्ष्ण, काल यह संबंधसत्ता जिसके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान की प्रतीति होती है। एक घटना दूसरी से आगे-पीछे समझी जाती है वेदान्त के मत से काल अनित्य और वैशेषिक मत से नित्य द्रव्य माना गया है। कोदंड = धनुष। युग = चार हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि। सतयुग १७२८००० वर्षों का, त्रेता १२९६००० वर्षों का, द्वापर ८६४००० वर्षों का और कलि ४३२००० वर्षों का होता है। कलि के अब तक ५००० से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

अर्थ—लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प ही जिनके प्रचंड बाण हैं, और काल जिनका धनुष है, उन श्री रामजी को, हे मन! तू क्यों नहीं भजता?

विशेष—इस लंकाकांड में युद्ध होने के सम्बन्ध से श्रीरामजी की नित्य वीर-रस-मूर्ति का मंगलाचरण किया गया है। महत् (अखंड, समष्टि) काल प्रभु का धनुष है और उसके अंतर्गत परमाणु से कल्प तक के जो छोटे-बड़े काल-भेद हैं, वे उनके बाण हैं, जो उसमें (धनुष) से निकल-निकलकर कीट से ब्रह्मादि-पर्यंत को लगा करते हैं। इनमें परमाणु, निमेष और लव, ये छोटे-छोटे तथा वर्ष, युग और कल्प बड़े-बड़े बाण हैं। कीट पतंग आदि कोई-कोई तो जन्मते ही—परमाणु में ही मर जाते हैं, कोई निमेष में और कोई लव में; इसी तरह घड़ी, प्रहर, दिन, मास आदि को भी समझना चाहिये। कोई-कोई तो बड़े बाण से अर्थात् वर्षों, युगों एवं कल्पों की संख्या में मरते हैं। ये बाण निरन्तर चला ही करते हैं। कभी ब्रह्मांडों का भी नाश हो जाता है, यथा "ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (आ० दो० १२)।

यहाँ 'काल' उपमान और 'कोदंड' उपमेय है, तथा 'चंड सर' उपमेय और लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प उपमान हैं। काल को कोदंड कहा गया है, क्योंकि दोनों का धर्म वक्रता और नाश

करना है। काल किसी पर दया नहीं करता अर्थात् इससे कोई बच नहीं सकता; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (उ० दो० ६३); यही इसकी वक्रता और नाश-कर्तृत्व है। जैसे महत् काल में अगणित लव एवं कल्प आदि बीतते हैं, वैसे ही धनुष से भी अगणित छोटे-बड़े बाण निकला करते हैं। 'सर चंड' क्योंकि ये बाण अव्यर्थ होते हैं; यथा—"जिमि अमोघ रघुपति के बाना।" (सुं० दो० १); कहा ही गया है।

काल ही समष्टि और व्यष्टि भेद से धनुष और बाण दोनों है; यथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥" (बा० दो० २५६); आगे काल ही को तर्कश भी कहा गया है; यथा—"सरन्हि भरा मुख सनमुख धावा। कालत्रोन सजीव जनु आवा॥" (दो० ९१)।

काल से बचने के लिये यहाँ श्रीगोस्वामीजी राम-भजन करने का उपदेश देते हैं; यथा—'भजसि न मन···' अर्थात् श्रीरामजी के भजन करने से काल-रूपी बाणों से बार-बार नहीं छेदा जायगा, क्योंकि भजन से भय छूट जाता है; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोहीं॥" (उ० दो० ८७); श्रीरामजी ने लंका के और-और निशाचरों को काल के वश किया, परन्तु भजन के प्रभाव से भक्त श्रीविभीषणजी को बचा लिया।

यहाँ लव, निमेष आदि व्यष्टि काल यथाक्रम नहीं लिखे गये, जैसे 'जुग' कह कर 'बरष' कहा और फिर कल्प कहा गया है। क्रमानुसार युग के पहले वर्ष कहा जाना चाहता था। क्योंकि कालरूपी बाण नियमित एवं क्रम से नहीं चलते। जिसकी जभी आयु पूरी हो जाती है, तभी वह मारा जाता है। एक योनि के भी जीवों की आयु का निश्चित काल नहीं रहता कि वे अपने काल को जानें और तदनुसार ही मरें।

सब कांडों के आदि के मङ्गलाचरण श्लोकों में हैं, परन्तु इस कांड का दोहे में ही है। यह ग्रन्थ प्रेम-प्रधान है अतः, इसमें कोई नियम-निर्वाह नहीं पाया जाता है। बहुत-सी प्राचीन प्रतियों में यह दोहा श्लोकों के नीचे भी है और बहुतों में ऊपर। नीचेवालों का भाव यह है कि इस कांड को ग्रंथकार ने अग्निबीज 'रा' से संपुटित किया है। क्योंकि आदि में 'रामं कामारिसेव्यं' और अंत में 'आन अधार' है। श्लोक के ऊपर दोहे का पाठ माननेवालों का भाव यह है कि इस कांड के प्रारंभ में कवि के हृदय में शंका हुई कि श्रीरामजी ब्रह्मण्यदेव हैं, और रावण ब्राह्मण-कुल का है। अतः, इसका वध करना कैसे युक्ति-संगत होगा? इसी पर श्रीहनुमान्‌जी ने यह दोहा लिख दिया कि श्रीरामजी तो दिन-रात चराचर का नाश किया ही करते हैं, एक दुष्ट रावण के परिवार का नाश करने में संदेह की कौन बात है? अतएव श्रीगोस्वामीजी ने इसे अपने नियम से भिन्न आदि में रक्खा और आगे लिख चले। अथवा, यहाँ वीर-रस-प्रधान मंगलाचरण किया गया, क्योंकि युद्ध-कांड में यह आवश्यक है।

इस दोहे के ऊपर रहने से १ दोहा और उसके नीचे के १ श्लोक में श्रीरामजी का मंगलाचरण साथ ही में हो जाता है और इनके नीचे के दो श्लोकों में श्रीशिवजी का मंगलाचरण है। दोहे को श्लोकों के नीचे कर देने से यह क्रम भंग हो जाता है।

इस छठे सोपान की प्रसिद्धि लंकाकांड के नाम से भी है, क्योंकि इसमें लंकाक्रमण से चरित का उपक्रम है। वाल्मीकीय रामायण में इसे युद्ध-कांड कहा गया है, क्योंकि वहाँ युद्ध के उद्योग से चरित लेकर उपक्रम है। किष्किंधा से ही सेना सजाकर समुद्र-तट पर आना, श्रीविभीषणजी का लंका त्याग कर मिलना, शुक-सारन की कथा, समुद्र के ऊपर कोप आदि के प्रसंग की कथायें युद्ध की ही भूमिका-रूप में हैं।

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥१॥

शब्दार्थ—मत्तेभ = मत्त + इभ = मतवाला हाथी। कंदावदातं = कंद + अवदातं (कं = जल, द = देनेवाले = बादल, बरसनेवाले श्याम मेघ, अवदात = शुभ्र, सुंदर) = श्याम मेघ के समान सुंदर ; यथा—"सान्द्रानंदपयोद-सौभगतनुम् ।" (श्रा० मं०) ।

अर्थ—काम के शत्रु श्रीशिवजी के द्वारा सेवा के योग्य, जन्म-मरण के भय हरनेवाले, काल-रूपी मतवाले हाथी के लिये सिंह-रूप, योगियों के स्वामी, ज्ञान से जानने योग्य, गुणों के सागर, किसी से न जीते जाने योग्य, सत्त्व, रज और तम से रहित, विकार-रहित, माया से परे, देवताओं के स्वामी, दुष्टों के वध में तत्पर, ब्राह्मण-समूह के एकमात्र देवता, मेघ के समान (श्याम) सुन्दर, कमल-नयन, पृथिवीपति राजा के रूप में देव श्रीरामजी की मैं वंदना करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) यह स्रग्धरावृत्त है, इसके चारों चरण २१–२१ अक्षरों के होते हैं, प्रत्येक चरण में क्रमशः 'म र भ न य य य' गण होते हैं, आदि में मगण है, इसका देवता भूमि है और फल श्रीप्राप्ति है। इस कांड में श्रीरामजी निज श्रीजी को तथा विजय-श्री को प्राप्त करेंगे। यह वृत्त मानस-भर में केवल दो ही जगह है। एक यह और दूसरा उत्तर कांड के मंगलाचरण में है।

(२) 'कामारिसेव्यं' ; यथा—"सिव विरंचि सुर जाके सेवक।" (दो० ६२) ; "ब्रह्मादि संकर सेव्य राम···" (दो० ११३) ; 'सेव्य' के योग से कामारि पद युक्ति-सिद्ध है। भाव यह है कि जीव कामनाओं का शत्रु हो जाय, उन्हें जीत ले, तब उसका हृदय भजन करने के योग्य होता है ; यथा—"जब लगि भजत न राम कहँ, सोक धाम तजि काम।" (सुं० दो० ४६) ; "केहि प्रकार पाइय हरि हृदय बसहिं बहु काम।" (वि० २०३) ।

'भव-भय-हरणं'—जन्म-मृत्यु का दुःख ही भव-भय है ; यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई। यहि स्वल्पहु नहिं व्यापिहि सोई।" (उ० दो० १०८) ; अर्थात् हरिभक्त को जन्म-मृत्यु के दु.ख व्याप्त नहीं होते। यथा—"राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन-माल जिमि कंठ ते, गिरत न जानै नाग॥" (कि० दो० १०) ।

'कालमत्तेभसिंहं'—जिस तरह मतवाला हाथी यदि किसी पर धावा करता है, तो किसी के भी फेरे नहीं फिरता। वैसे ही काल की गति भी अनिवार्य है ; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी" (उ० दो० १३) ; इसी से इसे मत्त गज कहा गया है। सिंह मत्त गज का भी नाश करनेवाला है, इसीसे श्रीरामजी को सिंह-रूप कहा गया, क्योंकि वे काल के भी काल हैं ; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहुँ के काला॥" (सुं० दो० ३८) ; "काल ब्याल कर भच्छक जोई।" (दो० ५०) ; तब श्रीरामजी के लिये रावण-वध कुछ भी कठिन नहीं है।

(३) 'योगीन्द्र' ; यथा—"महायोगेश्वरो हरिः ।" (गीता ११।६) ; "योगेश्वरात्कृष्णात्"

(गीता १०।७५); 'ज्ञानगम्यं'; यथा—"ज्ञान गम्य जय रघुराई।" (बा० दो० २१०); 'गुणनिधिं'–श्रीरामजी करुणा, क्षमा, सौशील्य आदि दिव्य गुणों के सागर हैं; यथा—"विनय-सील-करुना-गुन-सागर।" (बा० दो० १८७); "गुन-सागर नागर बर बीरा।" (बा० दो० २४०); "गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।२७); 'अजितं'; यथा—"समदरसी अनवद्य अजीता॥" (उ० दो० ७१); 'निर्गुणं'; यथा—"जय सगुन निरगुन रूप···" (उ० दो० १२); 'निर्विकारं' अर्थात् षड्विकार-रहित; यथा—"सकल बिकार-रहित गत भेदा।" "चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)।

यहाँ के सभी विशेषण साभिप्राय हैं कि जिससे इस कांड के चरित में किसी को संशय नहीं हो और इन विशेषणों के द्वारा आगे की कथा का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है।

'कमारि सेव्यं' का भाव यह है कि जिसे काम का जीतनेवाला सेवेगा, वह काम-वश कैसे हो सकता है? अतः प्रभु का सीता-विरह से पीड़ित होकर सेतु-बाँधने के लिये उतावली करना उनकी लीला-मात्र है। पुनः वे श्रीशंकरजी से सेवित हैं; तो लिंग-स्थापना पर शंका नहीं, यह तो उन्होंने माधुर्य-रूप से श्रीशिवजी को बड़ाई दी है; यथा—"गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥" (दो० २); श्रीशिवजी ने अपना सेव्य मानकर ही रावण-वध पर आकर स्तुति की और वरदान माँगा है। 'भव भय हरणं' और 'कालमत्तेभसिंहं' से सूचित किया गया कि जो प्राणि-मात्र का भव-भय छुड़ाता है, उसे कोई भय में पड़ा हुआ प्राणी क्या भय दे सकता है? और जो काल का भी नाशक है, उसे काल के समान कोई भी प्राणी क्या दुःख दे सकता है? अतः, मेघनाद के द्वारा नागपाश-बंधन, काल के समान कुंभकर्ण का आक्रमण एवं मेघनाद की ब्रह्म-शक्ति-द्वारा उत्पन्न बाधा उन्हें क्या कर सकती है? आपने केवल रण-शोभा के लिये ही वैसा अभिनय किया है। ये सब ऊपर से खेल-मात्र हैं; यथा—"प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई।" (दो० ३३); "बेहि पापिहि मैं बहुत खेलावा।" (दो० ७५); "अब जनि राम खेलावहु येही।" (दो० ८५)। 'योगीन्द्रं'—परम योगीश्वर हैं, अतएव रावण के नाभिकुंड के अमृत की व्यवस्था भी जानते हैं, केवल श्रीविभीषणजी की प्रीति की परीक्षा के लिये आपने इसके विषय में उनसे पूछा है; यथा—"सो प्रभु कर जन प्रीति परीछा।" (दो० १०१); योगीन्द्र भी माधुर्य में हैं, नहीं तो ये तो स्वयं योगियों के ज्ञान के विषय हैं 'ज्ञान गम्य' हैं। 'अजितं' अजेय हैं, तो इन्हें कोई कैसे जीत सकता है? यथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू।···सक संग्राम जीति को ताही।···यह कौतूहल जानइ सोई···" (दो० ५४)।

'निर्गुणं'—रण में क्रोध आदि लीला भी करेंगे, वह ऊपर से दिखावट-मात्र ही होगी, क्योंकि आप तो सभी गुणों से परे हैं। 'निर्विकारं'—श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर आपने जो प्रलापादि अभिनय किये हैं वे मोह आदि विकार से नहीं हैं, केवल नर-नाट्य दिखाने के लिये हैं। 'मायातीतं'—माया से अतीत (परे) हैं, तब आप पर मेघनाद और रावण की माया कैसे लग सकती है? यथा—"जासु प्रबल माया बस···ताहि दिखावै निसिचर···" (दो० ५१); 'सुरेशं'—देवताओं के स्वामी हैं। अतः, उनके शत्रु राक्षसों को मारेंगे और तब इन्द्रादि आकर इनकी स्तुति भी करेंगे। इसीसे 'सुरेशं' के साथ ही 'खलवध-निरतं' भी कहा गया है। पुनः 'ब्रह्मवृंदैकदेवं' भी कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण और देवताओं के लिये ही तो ये खलों का वध करते हैं। 'कंदावदातं सरसिजनयनं'–से अभयप्रद और कृपालु जनाये गये; यथा—"श्यामल गात प्रनत भय मोचन।" (सुं० दो० ४४); "कृपा दृष्टि करि वृष्टि प्रभु, अभय किये सुर वृंद।" (दो० १०३)।

'उर्वीश रूपं'—आप चक्रवर्त्ती राजा के रूप में हैं। अतः, रावण को दंड देकर श्रीविभीषणजी को राजा बनावेंगे। 'देवं'—इससे देवता ब्रह्मा, शिवजी एवं इन्द्रादि भी आकर स्तुति करेंगे और वरदान माँगेंगे।

इस श्लोक में १६ विशेषण देकर श्रीरामजी को सोलहो कलाओं से पूर्ण ब्रह्म प्रकट किया गया है। 'ब्रह्म वृंदैकदेवं' से यह भी जनाया गया कि जो इन्हें इष्टदेव नहीं मानकर और देवों की आराधना करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हैं।

शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं
कालव्यालकरालभूषणधरं गङ्गाशशाङ्कप्रियम् ।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं
नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शङ्करम् ॥२॥

शब्दार्थ—शार्दूल = सिंह, शशाक = चन्द्रमा, ओघ = समूह, ईड्यं = वंदनीय।

अर्थ—शंख और चन्द्रमा की कान्ति के समान अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले, सिंह के चर्म जिनके वस्त्र हैं, काल के समान भयंकर सर्प एवं मुण्डमाल आदि भयंकर भूषण धारण करनेवाले, गंगा और चन्द्रमा जिनके प्रिय हैं, काशी के स्वामी, कलि के पाप-समूह को नाश करनेवाले, कल्याण के कल्पवृक्ष गुणों के समुद्र, काम को भस्म करनेवाले, (जगत्) वंदनीय, श्रीपार्वतीजी के पति श्रीशंकरजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) शंख स्वच्छ सचिक्कण होता है, चन्द्रमा उज्ज्वल और प्रकाशयुक्त होता है। इनसे सचिक्कण, कान्तियुक्त और गौर वर्ण कहा गया है; यथा—"कुंद इंदु दर गौर सरीरा॥" (बा० दो० १०५), 'शार्दूलचर्माम्बरं कालव्यालकरालभूषणधरं' से वैराग्यवान् और समर्थ भी जनाया, 'गंगाशशाङ्कप्रियम्'—गंगाजी श्रीरामजी के चरण से उत्पन्न हुई हैं। अतः, चरणामृत-रूपा हैं, उन्हें शिर पर धारण करने से ये उच्च कोटि के राम-भक्त हैं। द्वितीया का चन्द्रमा क्षीण तथा कलाहीन है, अपने ललाट पर धारण करके उसे जगद्वन्द्य कर दिया। अतएव आश्रितपाल एवं दीनदयालु हैं; यथा—"यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते।" (बा० मं०); "जटा मुकुट सुर सरित सिर''सोह बाल बिधु भाल।" (बा० दो० १०६); तथा—"भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।" (अ० मं०) भी देखिये। श्रीशिवजी को गंगाजी और चन्द्रमा दोनों प्रिय हैं, इसीसे काशी में चन्द्रग्रहण का विशेष कर सोमवती अमावास्या में गंगास्नान का अधिक माहात्म्य है।

इसमें श्रीशिवजी के बारह विशेषण दिये गये हैं, इससे इन्हें द्वादशांग-पूर्ण दिखाया गया है। शिवजी के लिंग-स्वरूप भी द्वादश ही हैं। अंग भी द्वादश माने गये हैं, इसी से वैष्णवों में द्वादश-तिलक का विधान कहा जाता है। इसी तरह चन्द्रमा को सर्वांग-दूषित करते हुए प्रभु ने उसमें द्वादश अवगुण कहे हैं—देखिये बा० दो० २३७ भी। यह शार्दूलविक्रीड़ित छंद है।

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम् ।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु मे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सतां=सत् (सज्जन) को । अपि= निश्चय । शं = कल्याण ।

अर्थ—जो शङ्करजी सज्जनों को निश्चय ही दुर्लभ कैवल्य मुक्ति देते हैं और दुर्जनों को दंड देनेवाले हैं, वे मेरे कल्याण का विस्तार करें ।

विशेष—कैवल्य मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है ; यथा—"अति दुर्लभ कैवल्य परम पद । संत पुरान निगम आगम बद ॥" (उ० दो० ११८) ; यह बड़े सुकृत एवं साधनों का फल है ; अर्थात् श्रीशिवजी पुण्यों के फलदाता हैं । पुनः—'खलानां दण्डकृद्यो······' ; यथा—"जौ नहिं दण्ड करउँ खल तोरा । भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ॥" (उ० दो० १०९) ; अर्थात् पापी के फलदाता हैं । पुण्य-पाप दोनों के फल-दातृत्व से इनमें 'ईश्वरत्व' कहा गया है ।

सेतुबंध-प्रकरण

सो०—सिंधु बचन सुनि राम, सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ ।
अब बिलंब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक ॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र के वचन सुनकर मंत्रियों को बुलाकर ऐसा कहा कि अब किस कार्य के लिये देर कर रहे हो ? (शीघ्र) पुल बाँधो, जिससे सेना पार उतरे ।

विशेष—(१) 'सिंधु बचन' ; *यथा—"नाथ नील नल कपि द्वौ भाई ।"* से "*जेहि यह सुजस* लोक तिहुँ गाइय ॥" तक (सुं० दो० ५६) ; यह सुन्दरकांड के अन्त में है । इसे लंकाकांड के आदि में देकर इस कांड का उससे सम्बन्ध मिलाया गया है । 'राम' शब्द का भाव यह है कि भक्तों को रमानेवाले हैं, उन्हें बड़ाई देने के लिये उनसे भी पूछते हैं ; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई । ताते मोहि पूछेहु रघुराई ॥" (आ० दो० १२) ; 'प्रभु' का भाव यह है कि आप स्वयं सभी कामों के लिये समर्थ होते हुए भी राजा हैं, अतएव राजनीति-रक्षा के लिये मंत्रियों से पूछकर कार्य करते हैं ; यथा—"जद्यपि प्रभु जानत सब बाता । राजनीति राखत सुर त्राता ॥" (कि० दो० १२), राजा को उचित है कि वह राजनीति के कार्य मंत्रियों की सम्मति से ही करे । 'प्रभु' से जानने में भी समर्थ जनाया, पर नर-नाट्य से ऐसा कहते हैं, मानों समुद्र के कहने से ही आपने जाना है ।

(२) 'अब बिलंब केहि काम······'—जब तक समुद्र पार करने का कोई उपाय निश्चित नहीं हुआ था, तब तक तो देर हुई ही । अब तो उपाय का निश्चय हो गया, अतः, किस कार्य के लिये देर है ? भाव यह कि शीघ्र सेतु का कार्य प्रारंभ होना चाहिये । श्रीहनुमान्जी ने कहा था—"जौं रघुबीर होति सुधि पाई । करते नहिं बिलंब रघुराई ॥" (सुं० दो० १५) ; वे वचन यहाँ चरितार्थ हुए । आतुरता का कारण श्रीमहारानीजी की दशा की स्मृति है, यथा—"निमिषि निमिषि करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति ॥" (दो० ३१) ।

'करहु सेतु उतरइ कटक'—भाव यह है कि ऐसा भारी सेतु रचो, जैसा कटक है, सेना बहुत भारी है ; यथा—"द्वितीय इव सागर." (वाल्मी० ६।४।१०७) ; अतएव वानरों ने वैसे ही सेतु की रचना भी की है—४० कोस चौड़ा और ४०० कोस लंबा ।

सुनहु भानु-कुल-केतु, जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भव-सागर तरहिं॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी हाथ जोड़कर बोले, हे सूर्यकुल के ध्वजा-रूप (श्रेष्ठ) श्रीरामजी सुनिये, हे नाथ! आपका (तो) नाम (ही) पुल है, (उसपर) चढ़कर मनुष्य भवसागर पार होते हैं।

विशेष—(१) श्रीजाम्बवान्‌जी श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं, अतएव बुद्धि में ब्रह्माजी के तुल्य हैं, इसीसे बहुत-से मंत्रियों में से केवल इन्होंने ही कहा। मंत्री को हाथ जोड़कर राजा की स्तुति करके तब सलाह देनी चाहिये। इसलिये पहले हाथ जोड़कर बड़ाई करते हैं। रचना करना ब्रह्माजी का कार्य है, इससे भी इस विषय में ये ही प्रधान वक्ता हुए। 'भानु-कुल-केतु'—सूर्य-वंश तेज-प्रताप में प्रसिद्ध है, उस कुल के भी आप सुशोभित करनेवाले हैं; क्योंकि आपने धनुर्भंग एवं परशुराम-पराजय आदि कठिन कार्य किये हैं। फिर समुद्र पर सेतु रचने का उद्योग भी आप ही के योग्य है।

(२) 'नाथ नाम तव सेतु······'; यथा—"जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भव-सिंधु अपारा॥ सोइ कृपालु केवटहि निहोरा।" (अ० दो० १००); यह—'करहु सेतु उतरइ कटक' का उत्तर है कि जब आपका नाम ही ऐसा प्रभावशाली है, तब जहाँ आप स्वयं उपस्थित हैं, वहाँ इस छोटे-से समुद्र का पार करना कौन-सी बड़ी बात है। यही आगे कहते भी हैं; यथा—'यह लघु जलधि तरत कति बारा।'

इस कांड का उपक्रम नाम-माहात्म्य से हो रहा है, उपसंहार में भी कहेंगे; यथा—"श्रीरघुनाथ नाम तजि, नहिं कछु आन अधार।" इसका भाव यह है कि यह सोपान 'विमल विज्ञान-सम्पादन' है, उसके लिये नाम से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है; यथा—"राम सकुल रन रावण मारा।···सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती॥ फिरत सनेह-मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने॥" (बा० दो० २४); यही विमल विज्ञान की अवस्था है।

श्रीरामजी ने कहा था—देर क्यों हो रही है? उसपर श्रीजाम्बवान्‌जी ने आश्वासन दिया कि यह काम तो बहुत सहल है, अभी हुआ जाता है—

यह लघु जलधि तरत कति बारा। अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा॥१॥

अर्थ—यह छोटा-सा समुद्र पार करने में कितनी देर लगेगी? (अर्थात् अति शीघ्र ही पार उतर जायँगे), ऐसा सुनकर फिर श्रीहनुमान्‌जी बोले॥

विशेष—(१) 'यह सागर' भव-सागर की अपेक्षा अत्यन्त छोटा है। इसे सगर के पुत्रों ने खोदा, और देवासुरों ने मथा, श्रीअगस्त्यजी ने इसे पी लिया और श्रीहनुमान्‌जी ने इसे लाँघा है, अतएव यह परिमित ही है। किंतु भवसागर का आदि-अंत अभी तक नहीं मिला; यथा—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी॥" (अ० दो० २८१), इसके पार होने में अनेक मत हैं, ऐसा दुस्तर सागर भी आपके नाम से शीघ्र ही सूख जाता है; यथा—"नामलेत भव सिंधु सुखाहीं।" (बा० दो० २४)।

(२) श्रीजाम्बवान्‌जी ब्रह्माजी के अवतार हैं, अतएव दोनों सागर के विधाता हैं, यथा—"बंदउँ बिधि पद रेनु, भवसागर जेहि कीन्ह जहँ।" (बा० दो० १४); इससे इन्होंने दोनों की सत्ता स्थिर रक्खी।

पर श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानघाट के आचार्य और श्रीशिवजी के अवतार हैं, इनकी दृष्टि ब्रह्ममय है, ब्रह्म के शरीर-रूप में देखने से जगत की स्वतंत्र सत्ता रह ही नहीं जाती। ज्ञान-दृष्टि में जो वस्तु आगे नाश होने को होती है, वह ब्रह्म के सत्य-संकल्प से पहले ही नाश हो जाती है, जैसे गीता में भविष्य-नाश भगवान् ने अर्जुन को पहले ही दिखा दिया है; यथा—"मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।" (गीता ११।३४); ये अपनी दृष्टि से कहते हैं। 'पवन-कुमारा'—क्योंकि बुद्धि-विवेक का विषय कहना है; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक बिग्यान निधाना॥" (कि॰ दो॰ ११); ज्ञानी श्रीशिवजी ने भी कहा है ; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥" (आ॰ दो॰ ३८)।

प्रभु-प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि-बारी॥२॥
तव रिपु-नारि-रुदन-जल-धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥३॥
सुनि अति उक्ति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी॥४॥

शब्दार्थ—अति-उक्ति (अत्युक्ति)=बढ़ा-बढ़ाकर वर्णन करने की शैली, एक अलंकार जिसमें शूरता, उदारता आदि गुणों का अद्भुत वर्णन होता है। तन=ओर, तरफ। हेरी=देखकर।

अर्थ—प्रभु का प्रताप भारी बड़वानल है। उसने प्रथम ही समुद्र के पहले का जल सोख लिया॥२॥ आपके शत्रुओं की स्त्रियों के रोने की जलधारा से वह फिर भर गया, इसीसे खारा हो गया॥३॥ पवन-पुत्र श्रीहनुमान्‌जी की अत्युक्ति सुनकर वानरगण रघुपति श्रीरामजी की ओर देखकर हर्षित हुए॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु-प्रताप बड़वानल भारी।...'—"बड़वानल समुद्र के भीतर की अग्नि या ताप। भूगर्भ में जो अग्नि है, उसके ताप से कहीं-कहीं समुद्र का जल खौलता रहता है। बड़वा का अर्थ घोड़ी है, इसपर कालिका-पुराण की कथा है कि काम को भस्म करने के लिये श्रीशिवजी ने जो क्रोधानल उत्पन्न किया था, उसे ब्रह्माजीने घोड़ी के रूप में बनाके समुद्र के हवाले कर दिया, जिसमें इससे लोक की रक्षा हो। पर वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि बड़वाग्नि और्व ऋषि का क्रोध-रूपी तेज है, जो कल्पान्त में फैलकर संसार को भस्म करेगा"—(हिन्दी शब्द-सागर);

प्रताप-रूपी बड़वानल को 'भारी' कहा गया, क्योंकि इसने समुद्र को सोख ही लिया। 'पयोनिधिबारी'—का भाव यह है कि पहले का जल 'पय' दूध की तरह स्वादिष्ट था, पर अब खारा हो गया ; क्योंकि यह आँसू से भरा है और आँसू खारा होता ही है। 'तव रिपुनारि...'—जो-जो शत्रु मारे गये, उनकी स्त्रियाँ तो रोती ही हैं और जो अभी नहीं मारे गये, उनकी स्त्रियाँ भी भय से रोती हैं। 'जलधारा'—आँसू की बूँदे टपकती हैं, पर यहाँ तो धाराएँ बह चलीं, तभी तो इतना बड़ा समुद्र भरा। हजारों स्त्रियाँ रोईं, उन्हीं के आँसू से यह भर गया। यह तो आँसू का ही समुद्र है।

(२) 'सुनि अति उक्ति...'—अत्युक्ति अलंकार के लक्षण—"अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्। त्वयि दातरि राजेन्द्र याचकाः कल्पशाखिनः॥ राजन् सप्ताप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः। त्वद्वैरिराजवनिताबाष्पपूरेण पूरिताः॥" इति चन्द्रालोके। यहाँ यह अलङ्कार स्पष्ट-रूप में कहा गया है। कारण से पहिले ही कार्य के कहे जाने से कोई-कोई यहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति' भी मानते हैं। सोख लिया तो यह जल से पूर्ण क्यों देख पड़ता है, इसे फिर युक्ति से समर्थन करना कि शत्रु की स्त्रियों के आँसू से भरा—यह 'काव्यलिंग' अलंकार है। उपमान-रूपी आँसू को ही खारे आदि लक्षणों से सत्य ठहराकर

उपमेय-रूपी समुद्र के जल का असत्य ठहराना—'हेत्वपह्नुति' अलंकार है। "देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा ॥" (सुं० दो० ११) इसमें भी 'हेत्वपह्नुति' है।

'हरपे कपि रघुपति तन हेरी'—वानर-गण श्रीरामजी की ओर देखकर अपनी-अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं कि हमारे ऐसे प्रतापी स्वामी हैं, अतः हम धन्य हैं। ईश्वर के विषय में अत्युक्ति हो नहीं सकती, इसलिये 'रघुपति' माधुर्य-पूर्ण नाम दिया गया कि राजकुमार के भाव में यह अत्युक्ति कही गई है। 'तन' का अन्वय 'कपि' शब्द के साथ भी करने से और कपि का अर्थ श्लेपार्थ से श्रीहनुमान्‌जी का ही लेने से श्रीहनुमान्‌जी को भी देखकर हर्पित हुए कि ऐसे बुद्धिमान् मंत्री भी अपने स्वामी के योग्य ही हैं।

इस तरह इन दोनों मंत्रियों ने श्रीरामजी की आतुरता देखकर उन्हें आश्वासन दिया कि यह सेतु-बंधन का कार्य तो बना बनाया है। इससे उत्साह भी बढ़ाया।

जामवंत बोले दोउ भाई। नल-नीलहि सब कथा सुनाई ॥५॥
राम-प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—बोले = बुलाया, यथा—"लिये बोलि अंगद हनुमाना।" (दो० ४६)।

अर्थ—जाम्बवान्‌जी ने नल-नील दोनों भाइयों को बुलाया और उन्हें सारी कथा सुनाई ॥५॥ (और कहा—) मन में श्रीरामजी का प्रताप स्मरण करके सेतु की रचना करो, कुछ परिश्रम नहीं होगा ॥६॥

विशेष—(१) 'सब कथा'—वही जो समुद्र ने श्रीरामजी से प्रार्थना की कि नल-नील को ऋपि की आशिप मिली है। उनके स्पर्श से पर्वत जल में तैरने लगेंगे और प्रभु की प्रभुता से मैं भी कुछ सहायता करूँगा, इत्यादि। इससे जान पड़ता है कि नील-नल सेना की रक्षा में बाहर नियुक्त थे, समुद्र के आने पर यहाँ उपस्थित नहीं थे, नहीं तो बुलाना और कथा सुनाना नहीं कहा जाता।

"नल विश्वकर्मा के पुत्र हैं, अपने पिता से इन्होंने वरदान पाया है, इससे पिता के समान ही कार्य में पटु हैं।" (वाल्मी० ६।२२।४०-४१); नील अग्नि के पुत्र हैं; यथा—"पुत्रो हुतवहस्यात्र नीलः सेनापतिः स्वयम्।" (वाल्मी० ६।३०।२४); नल और नील की माता एक ही हैं, सम्भवतः इसी से दोनों भाई कहे गये, अथवा, कल्प-भेद से मानस के कल्प में दोनों भाई हैं, और ऋपि की आशिप भी दोनों ने साथ-ही-साथ पाई है।

श्रीरामजी ने स्वयं नहीं कहा, किन्तु मंत्री से कहलाया, क्योंकि यह नीति है कि राजा मंत्रियों के द्वारा कार्य करवाते हैं। पुनः इस कार्य के आधार-रूप में राम-प्रताप कहना था, इसीसे श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा, इसे श्रीरामजी स्वयं न कहते।

(२) 'राम-प्रताप सुमिरि···'—क्योंकि समुद्र ने कहा था; यथा—"तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे ॥" फिर श्रीहनुमान्‌जी ने भी राम-प्रताप ही कहा; यथा—'तव प्रताप बड़वानल भारी।' आदि। श्रीजाम्बवान्‌जी वही प्रताप इन्हें धारण करने के लिये कहते हैं, जिससे इस कार्य में कुछ भी परिश्रम नहीं होगा; यथा—"तव प्रताप बड़वानलहि, जारि सकै खलु तूल।" (सुं० दो० ३१), यह श्रीहनुमान्‌जी ने सबके समक्ष कहा है, इसीसे प्रताप का समझाना नहीं कहा गया।

आगे श्रीअंगदजी भी प्रभु-प्रताप के बल से रावण की सभा में निःशंक जाकर अद्भुत कार्य करके लौटेंगे। ऊपर समुद्र और श्रीहनुमान्‌जी ने अभी राम-प्रताप कहा ही है।

यद्यपि श्रीविभीषणजी ने कहा था कि समुद्र के बतलाये हुए उपाय से बिना प्रयास ही सेना उस पार उतर जायगी—देखिये (सुं॰ दो॰ ५०); तथापि समुद्र ने उपाय कहते हुए श्रीराम-प्रताप ही को प्रधान कहा, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। अतएव यहाँ श्रीजाम्बवान्‌जी राम-प्रताप के ही बल पर प्रयास-हीनता कह रहे हैं।

बोलि लिये कपि - निकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु मोरी ॥७॥
राम - चरन - पंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु - कपि करहू ॥८॥
धावहु मर्कट बिकट बरूथा। आनहु बिटप-गिरिन्ह के जूथा ॥९॥

अर्थ—फिर वानर-समूह को बुला लिया और उनसे बोले कि आप सब मेरी कुछ विनती सुनिये ॥७॥ (विनती यह कि) अपने हृदय में श्रीरामजी के चरण-कमलों को धारण कीजिये और सब भालू-वानर एक कौतुक कीजिये ॥८॥ विकट वानरों के समूह! दौड़ जाइये और वृक्षों और पर्वतों के समूह ले आइये ॥९॥

विशेष—(१) 'बोलि लिये कपि'···—पहले नल और नील दोनों कारीगरों को तैयार करके अब उन्हें सामान (मसाला) देने का प्रबंध करते हैं। 'बोलि लिये' अर्थात् समीप बुलाया; क्योंकि विनती करनी है। विनती करने का भाव यह है कि सब वानरों से पत्थर ढुलवाने का कार्य कराना चाहते हैं। यह मजदूरों का काम है, इसी से प्रार्थना-पूर्वक कहते हैं कि वे अप्रसन्न न हों। ये वृद्ध हैं और साथ ही भालू-मात्र के राजा भी हैं, इसी से ये ही कहते हैं कि सभी प्रसन्नता-पूर्वक बात मान लें। इन्होंने अपने वर्ग-भालुओं को ही पहले कहा है। यथा—"भालु कपि करहू।"। 'राम-चरन-पंकज उर धरहू।' श्रीरामजी के चरण-कमल हृदय में धारण करने से अगम कार्य भी सुगम हो जाते हैं; यथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु" (सुं॰ दो॰ १७); रावण के बाग में फल खाना कठिन था वही श्रीहनुमान्‌जी को सुगम हो गया। पुनः; यथा—"राम-चरन-सरसिज उर राखी। चला प्रभंजन सुत बल भारी।।" (दो॰ ५५); यहाँ भी प्रभु-प्रताप से ६० लक्ष योजन से पर्वत ले आना सुगम हो गया।

(२) 'कौतुक एक···'='पत्थर और वृक्ष ढोओ'—यह कहना अशोभन होता, इसलिये इसे कौतुक करना कहते हैं कि जिस प्रकार गेंद आदि खेलने में उसे दौड़-दौड़कर उठा लेते और फिर फेंकते हो, उसी प्रकार ला-लाकर देते जाओ। इसी तरह इन उत्साही वानरों ने किया भी है; यथा—"लीलहिं लेहिं उठाइ" और "कंदुक इव नल नील ते लेहीं।" आगे कहा गया है।

(३) 'धावहु'=शीघ्रता होनी चाहिये, क्योंकि श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"अब बिलंब केहि काम···"। 'मर्कट बिकट बरूथा'—तुम सब भारी-भारी पराक्रमवाले हो। अतः, बड़े-बड़े वृक्ष पर्वत ला सकते हो, इसलिये मुण्ड-के-मुण्ड मिलकर उत्साह-पूर्वक जाओ और समूह-के-समूह वृक्ष-पर्वत लाओ कि नल-नील के पास सामान घटने न पावे। वृक्षों को बीच-बीच में देंगे, इन्हीं के बंधन भी बनावेंगे और पर्वतों से पुल बाँधेंगे। फल-फूल से लदे वृक्ष शोभा एवं छाया के लिये भी पुल पर रोपते जायेंगे।

सुनि कपि - भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप-समूहा ॥१०॥

दोहा—अति उतंग गिरि-पादप, लीलहिं लेहिं उठाइ।
आनि देहिं नल-नीलहिं, रचहिं ते सेतु बनाइ ॥१॥

शब्दार्थ—उतंग (उत्तुङ्ग) = ऊँचा; यथा—"कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी ॥ अति उतंग···" (सुं॰ दो॰ २) हूह = हर्ष-ध्वनि। पादप = पैर (जड़) से जल पीनेवाले = वृक्ष। लीलहिं = खेल-पूर्वक, क्रीडारूप में ही।

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी के वचन सुनकर वानर-भालू हूह (शब्द) करके चले, जिनका समूह प्रताप है, उन रघुवीर श्रीरामजी की जय हो (ऐसा कहते हुए चले) ॥१०॥ अत्यन्त ऊँचे पर्वतों और वृक्षों को खेल में ही उठा लेते हैं और नल-नील को लाकर देते हैं। वे अच्छी तरह बनाकर सेतु रचते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'करि हूहा'—वानर-भालुओं ने इसी हर्ष-ध्वनि से श्रीजाम्बवान्‌जी के वचन में श्रद्धा दिखाई; यथा "अभिषेतुर्महारण्यं हृष्टाः शतसहस्रशः।" (वाल्मी॰ ६।२२।५०), हर्ष-ध्वनि के साथ कहते हैं; यथा—'जय रघुबीर प्रताप समूहा।' अभी समूह प्रताप श्रीहनुमान्‌जी से सुन चुके हैं और समुद्र ने भी कहा है। प्रताप की जय-जयकार करते हैं कि जिससे पुरुषार्थ सिद्ध हो। ये सब वीररस से पूर्ण हैं, इसीसे 'रघुबीर' कहकर जय-जयकार करते हैं। रघुवीर-प्रताप से ही सब कार्य हुए भी; यथा—"श्रीरघु-बीर प्रताप ते सिंधु तरे पापान।" यह आगे कहा गया है। पहले कहा ही है, यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु···"।

(२) 'अति उतंग गिरि पादप···'—अत्यंत ऊँचे-ऊँचे पर्वत और वृक्ष लाते हैं कि एक ही बार में बहुत दूर तक पुल बँध जाय। 'रचहिं ते सेतु बनाइ' से अत्यन्त सुन्दर रचना सूचित की; यथा—"देखि सेतु अति सुंदर रचना।" आगे कहा गया है।

शंका—यहाँ चूना आदि मसाले नहीं कहे गये तो पत्थर एक दूसरे से किस तरह जोड़े गये? वृक्षों के बंधन-मात्र से वैसी दृढ़ता कैसे हो सकती है?

समाधान—आदि रामायण में कहा गया है कि श्रीहनुमान्‌जी ने वानरेश नल से कहा और वे पाषाणों पर राम-नाम लिखकर उन्हें सागर के जल में डालते गये, सेतु बँधता चला गया; यथा—"लिखित्वा दृषदां मध्ये नाम सीतापतेर्मुहुः। निचिक्षेप पयोराशौ बहूनुच्चावचान् गिरीन्॥ संतरन्तिस्म गिरयो रामनामांकिता जले।" (सीताराम-नाम-प्रताप-प्रकाश से उद्धृत), इत्यादि विस्तार से कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"मोको तो राम को नाम कलपतरु···स्वारथ औ परमारथहू को नहि कुंजरो नरो। सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो॥" (वि॰ २२६)।

सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नल-नील ते लेहीं ॥१॥
देखि सेतु अति-सुंदर-रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना ॥२॥

अर्थ—वानर लोग भारी-भारी पर्वत ला-लाकर देते हैं और नल-नील उन्हें गेंद की तरह लेते हैं ॥१॥ सेतु की अत्यन्त सुन्दर रचना देखकर दयासागर श्रीरामजी हँसकर वचन बोले ॥२॥

विशेष—(१) 'सैल बिसाल···'—ऊपर के दोहे में वानरों का पराक्रम कहा गया कि 'अति उतंग

गिरि पादप...' अब यहाँ नल-नील का पराक्रम कहते हैं कि ये उन्हें ऊपर-ही-ऊपर हाथ से गेंद की तरह रोक लेते हैं, कुछ भी श्रम नहीं होता। 'कंदुक इव' दीप-देहली-रूप से दोनों ओर लगता है।

शंका—उपर्युक्त दोहे की ही बातें प्रायः इस अर्द्धाली में हैं, तब इसका क्या प्रयोजन था ?

समाधान—श्रीजाम्बवान्‌जी ने नल और नील को पृथक् कहा था; यथा—'करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं।' और फिर वानरों को भी पृथक् कहा था, यथा—'कौतुक एक भालु कपि करहू।' उसी रीति से यहाँ दो जगहों में दोनों की श्रम-हीनता भी पृथक्-पृथक् दिखानी थी, इसलिये ऊपर के दोहे में वानरों की श्रम-हीनता और यहाँ अर्द्धाली में नल और नील की प्रयास-हीनता दिखलाई है।

(२) 'देखि सेतु अति...'—'देखि' का भाव यह है कि वानरों ने इसी अभिप्राय से सेतु को सुन्दर रचकर बनाया ही था कि स्वामी देखकर प्रसन्न हों, आगे कहा भी है ; यथा - "बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा ।" (दो॰ ३) 'बिहँसि कृपानिधि'—प्रभु ने विहँसकर वानरों पर प्रसन्नता प्रकट की। इस तरह उनपर कृपा प्रकट की, क्योंकि जिनकी माया क्षण-भर में ही करोड़ों ब्रह्मांड रच डालती है उनके लिये यह अल्प रचना क्या वस्तु है ? केवल वानरों पर कृपा दिखलानी है, इससे इमपर अपनी प्रसन्नता दिखाई ; यथा—"लव निमेष महँ भुवन...भगत हेतु सोइ दीन दयाला। चितवत...' (बा॰ दो॰ २२७)।

पुनः आगे जो वचन कहना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में भी बिहँसना और कृपा का भाव है, श्रीशिवजी की प्रतिष्ठा-वृद्धि में प्रसन्नता है। कृपा करके उन्हें माधुर्य-रूप से बड़ाई देनी है ; यथा—"गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती ।" (दो॰ २)।

परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी ॥३॥
करिहउँ इहाँ संभु-थापना। मोरे हृदय परम कलपना ॥४॥

शब्दार्थ—थापना (स्थापना करना) = मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करना। कलपना (कल्पना) भावना, संकल्प।

अर्थ—यह पृथिवी परम रमणीय है, परम उत्तम है। इसकी महिमा सीमा-रहित है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ मैं यहाँ श्रीशिवजी की स्थापना करूँगा, (यह) मेरे हृदय में परम कल्पना है ॥४॥

विशेष—(१) 'परम रम्य उत्तम...'—प्रायः नदियों के तट—विशेष कर पुण्य नदियों के तट - रमणीय माने जाते हैं और यह तो सर्व-नद-नदीपति समुद्र का तट है, सर्व-तीर्थमय है, इससे परम रम्य है। पुनः धरणी को परम उत्तम कहा गया है, क्योंकि द्राविड़-देश भक्ति की जन्मभूमि है ; यथा "उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता" (भाग॰ माहा॰ १।४८) ; तथा—"क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।" (भाग॰ ११।५।३९) ; अर्थात् द्राविड़ देश में भगवद्भक्त बहुत उत्पन्न होंगे। ऐसा श्रेष्ठ स्थल लोगों के निवास के योग्य होता है ; यथा—"आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा ॥" (बा॰ दो॰ १२८), "है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तेहि नाऊँ।" (बा॰ दो॰ १२) ; समुद्र का तट सर्वतीर्थमय होने से इसकी महिमा अमित है, इसी से अवर्ण्य है। यहाँ शिवजी का स्थापन करेंगे, इसलिये अभी स्थल का माहात्म्य कहते हैं, कि यह स्थल उनके योग्य है; यथा—"परमरम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू ॥" (बा॰ दो॰ १०५); फिर स्थापन करके उनका भी माहात्म्य कहेंगे; यथा—"जे रामेस्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि ममलोक सिधरिहहिं ॥" (दो॰ २); ऐसे ही

सेतु-निर्माण करके उसका भी माहात्म्य कहेंगे; यथा—"मम कृत सेतु...।" यह देश भारतवर्ष की दक्षिण सीमा पर स्थित है, अतः, यहाँ कोई विशाल तीर्थ अवश्य ही होना चाहिये। जिससे भविष्य में लोग तीर्थाटन के साथ ही देशाटन का भी लाभ उठावें। इससे देश-देशके लोगों का पारस्परिक प्रीति-व्यवहार होगा। यह उद्देश्य भी साथ है।

'करिहउँ इहाँ संभु-थापना।...'—यह अर्द्धाली १५-१५ मात्राओं की है, यह चपला छंद है और प्रायः चौपाई ही कहा जाता है। ऐसे ही अन्यत्र भी है; यथा—"मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर वमत धरनी ढनमनी॥" (सुं० दो० १); मैं यहाँ शिव-स्थापन करूँगा, इसके कई हेतु हैं—(क) राजनीति की दृष्टि से पहले तो शत्रु के मर्मज्ञ मंत्री श्रीविभीषणजी को मिला लिया। अब शत्रु के इष्ट देव एवं प्रबल सहायक श्रीशिवजी की भी पूजा करके उन्हें मिलाते हैं कि और उसकी सहायता न करें, जैसे बाणासुर की सहायता के लिये श्रीशिवजी ने श्रीकृष्ण भगवान् से युद्ध किया है। (ख) श्रीशिवजी संहारकर्त्ता हैं और संग्राम के देवता हैं, इसलिये युद्ध के लिये चढ़ाई करते समय उनकी पूजा करते हैं। (ग) प्रभु भविष्य मे शैव-वैष्णव विरोध को भी मिटाना चाहते हैं कि वैष्णव लोग शिवजी से और शैव लोग वैष्णवों से विरोध न करे। वैसा ही आगे माहात्म्य भी कहा गया है (घ) ऊपर भी कहा गया कि यह स्थान भारत की दक्षिणी सीमा और पुण्य-स्थल है, अतएव यहाँ एक प्रधान पुरुष द्वारा प्रतिष्ठित देवस्थल होना चाहिये।

'मोरे हृदय परम कलपना।'—मेरी बड़ी इच्छा है, बार-बार यह विचार उठता है।

सुनि कपीस बहु दूत पठाये। मुनिबर सकल बोलि लइ आये॥५॥
लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव-समान प्रिय मोहि न दूजा॥६॥
सिव-द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥७॥
संकर-बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥८॥

शब्दार्थ—लिंग = चिह्न, शिवजी की एक विशेष प्रकार की मूर्त्ति नारकी = नरक जाने के योग्य कर्म करनेवाले, पापी।

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीसुग्रीवजी ने बहुत-से दूत भेजे, जो सब श्रेष्ठ मुनियों को बुला लाये॥५॥ श्रीशिवजी की मूर्त्ति का स्थापन करके उनकी विधिपूर्वक पूजा की (और बोले—) शिवजी के समान मुझे दूसरा कोई प्रिय नहीं है॥६॥ जो शिवजीका द्रोही है और मेरा भक्त कहलाता है, वह मनुष्य मुझे स्वप्न मे भी नहीं पाता॥७॥ शंकरजी से विमुख होकर जो मेरी भक्ति की चाहना करे, वह नरक जाने के योग्य (पापी) है, मूर्ख है और तुच्छ-बुद्धि है॥८॥

विशेष—(१) 'सुनि कपीस बहु दूत पठाये।...'—पहले 'बिहँसि कृपानिधि बोले...' कहा गया था। उसका भाव यहाँ खुला कि यह श्रीसुग्रीवजी से कहा गया है। बहुत-से दूत भेजे गये, क्योंकि 'सकल मुनिवर' को बुलाना है। शीघ्रता का प्रयोजन है, इसी से एक-एक मुनिवर के यहाँ कम-से कम एक-एक दूत भेजे गये। बहुत-से मुनि इसलिये बुलाये गये कि शिव-स्थापन मे बहुत-से वेदपाठी ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है। सबको इसलिये भी बुलाया कि उस वन के कोई मुनि यह न समझें कि मैं नहीं बुलाया गया, अतएव मेरा अपमान हुआ।

(२) 'लिंग थापि बिधिवत् करि पूजा।...'—'विधिवत' शास्त्र की विधि से स्थापना के सभी विधान किये गये, पूजा भी विधिवत की गई। यहाँ मन, वचन और कर्मसे शिवजी में श्रीरामजी की प्रीति है; यथा—"मोरे हृदय परम कलपना"—मन की, 'लिंग थापि बिधिवत् करि पूजा।'—कर्म की और 'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'—यह वचन की प्रीति है।

'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा'—इस उत्तरार्द्ध से पूर्वार्द्ध का मर्म खोलते हैं कि श्रीशिवजी को अपना परम प्रिय भक्त मानकर प्रभु ने अपने क्षत्रिय राजकुमार-रूप से उन्हें प्रतिष्ठा दी है, जैसा कि आगे स्वयं श्रीशिवजी कहते हैं; यथा—"गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥" अन्यत्र भी भक्त-दृष्टि से ही श्रीरामजी ने इन्हें प्रिय कहा है; यथा—"पनकरि रघुपति भगति दृढ़ाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥" (बा० दो० १०४); तथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे॥ जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (बा० दो० १३०); श्रीशिवजी को यहाँ तक प्रिय मानते हैं कि उन्हें अपनी भक्ति का अधिकारी (खजांची) तक बना दिया है। 'प्रिय' शब्द का व्यवहार अन्यत्र भी भगवान् ने भक्त के लिये ही किया है; यथा—"भक्तिमान्यः स मे प्रिय.।"; "भक्तिमान्मे प्रियो नरः" "मद्भक्तः स मे प्रियः"; "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियः" (गीता अ० १२); गीता में और भी दो बार ऐसा ही कहा गया है। प्रिय शब्द छोटे के प्रति—पुत्र, शिष्य, भृत्य आदि में ही प्रायः प्रयुक्त होता है।

ऐसे ही श्रीसीताजी ने जब श्रीगंगाजी की स्तुति की है, तब गंगाजी ने कहा है; यथा—"सुनु रघुबीर-प्रिया बैदेही...। तुम्ह जो हमहि बडि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥" (अ० दो० १०३)।

श्रीगोस्वामीजी ने पहले ही सती-मोह-प्रसंग कहा और उसमें श्रीशिवजी की श्रीरामजी में अत्यन्त उच्च निष्ठा दिखलाई और सती की परीक्षा-द्वारा श्रीरामजी का पर-ब्रह्म-परत्व प्रकट किया। साथ ही श्रीशिवजी का जीवत्व भी; यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥" (बा० दो० ५५), श्रीशिवजी को जिन सती का चरित जानने के लिये ध्यान धरना पड़ा उन्हीं सती के कपट रूप को देखते ही श्रीरामजीने स्पष्ट कह दिया कि आप सती हैं, शिव-पत्नी हैं, इत्यादि।

पुनः जहाँ-तहाँ श्रीरामजी का श्रीशिवजी के प्रणाम करने आदि का वर्णन है, वहाँ स्तुतिवाद है। स्तुति में छोटे को बड़ा कहकर प्रशंसा की जाती है। परन्तु, जहाँ प्रशंसा में अधिकता कही गई है, वहीं समाधान भी दे दिया गया है; जैसे कि वैदिक मुनि श्रीशिवजी के अनन्य भक्त थे, वे स्तुति में श्रीशिवजी को कहते हैं; यथा—"निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम्। निराकार-मोंकारमूलं तुरीयं गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं॥" (उ० दो० १०७); इसमें उन्हें परब्रह्म कहकर स्तुति की गई है। इसी प्रसंग में पहले ही उन्हीं वैदिक मुनि ने कहा है; यथा—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई। रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कर केतिक बाता॥ जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥" (उ० दो० १०५)। इन वचनों में श्रीशिवजी जीव हैं और श्रीरामजी के भक्त हैं। इसमें स्तुतिवाद नहीं है, क्योंकि मुनि अपने शिष्य को तत्त्वोपदेश दे रहे हैं।

वैसे ही यहाँ श्रीरामजी ने अपने परम भक्त श्रीशिवजी को प्रतिष्ठा देने के लिये माधुर्य रूप से—लिंग-स्थापन-विधि से उनकी पूजा की है पूजावाद भी स्तुतिवाद का-सा आदर के लिये होता है। इस युक्ति से लिंगपुराण आदि का मत भी लेकर श्रीशिवजी को ब्रह्मतत्त्व भी दिखलाया है। परन्तु इस बड़ाई को श्रीशिवजी कब स्वीकार कर सकते हैं! उन्होंने इसी प्रसंग में आगे साफ कह दिया है; यथा—"गिरिजा

रघुपति कै यह रीती । संतत करहिं प्रनत पर प्रीती ॥" (दो० १); अर्थात् रघुपति मुझे शरणागत-भक्त जानकर ही मुझ पर प्रीति करते हैं (अतएव मुझे बड़ाई देते हैं।)।

श्रीगोस्वामीजी 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' लेकर चल रहे हैं। अत, स्तुतिवाद एवं पूजा-वाद के रूप मे और पुराणों के मत भी दिखा देते हैं। कल्प-भेद से अन्य पुराणों के मत भी युक्ति-युक्त ही हैं। जैसे पूजावाद की दृष्टि से यहाँ लिंगपुराण का मत कह दिया है। वैसे ही स्तुतिवाद मे ही शक्ति-परत्व कहकर देवीभागवत, कालिकापुराण आदि के भी मत कह दिये हैं। जैसे कि मनु-प्रसंग मे जहाँ तात्विक वर्णन है, वहाँ तो कहा है कि श्रीसीताजी के अंश से अगणित लक्ष्मी, उमा और सरस्वती उपजती हैं ; यथा—"उपजहिं जासु अंस गुन-खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (बा० दो० १४०); और स्तुतिवाद मे उमा का महत्व श्रीसीताजी से कहलाया है ; यथा—"नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना ॥ भव भव विभव पराभव कारिनि।···" (बा० दो० २३४)।

इसी प्रकार इन्हीं उमा को श्रीनारदजी ने भी मयना आदि से कहा है, यथा—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि ॥ जग-संभव-पालन-लय-कारिनि।" (बा० दो० ९७); । यहाँ भी उमा का ऐश्वर्य कहना था। कल्पभेद से कभी श्रीशिवजी के द्वारा ही सृष्टि होती है, तब उनकी शक्ति को यह महत्व देना यथार्थ ही है। वही यहाँ 'सर्वदा संकरप्रिया' कहकर युक्ति से और कल्पों का भाव लेकर गिरिजा का महत्व भी दिखा दिया गया है। यह भी स्तुति-वाद ही है। पर अन्यत्र श्रीपार्वतीजी राम-नाम जपती हैं, रामकथा सुनने की भक्ति करती हैं।

शंका—यदि कहा जाय कि लिंग-स्थापन-विधि मे सच्चिदानंद ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा लिंग-स्वरूप मे होती है और जब श्रीरामजी भी ब्रह्म हैं, तब उन्होंने श्रीशिवजी को ब्रह्म मानकर कैसे उनकी प्रतिष्ठा की ?

समाधान—प्रतिष्ठा विधान तो आप राजकुमार के रूप से ही कर रहे हैं। जैसे राजा एवं राजपुत्र सभी देवताओं को समय समय पर पूजते हैं, वैसे श्रीरामजी ने भी पूजा की। जैसे श्रीरामजी, माता-पिता एवं वशिष्ठ आदि को पूजते थे, उन्होंने गंगा, त्रिवेणी आदि की भी पूजा की है, वैसे ही श्री शिवजी की भी पूजा की। श्रीशिवजी आपकी एक विशिष्ट विभूति भी हैं। पुराणों में कल्पभेद से इनसे सृष्टि का भी विधान है, प्रभु ने यह महत्व लेकर पूजा की और लोकों में अपने भक्त की प्रतिष्ठा बढ़ाई जैसाकि ऊपर कहा गया है। जिस देवता का जो ऐश्वर्य किसी कल्प मे होता है, वह दूसरे कल्पों मे उसके उपासकों का विषय होता है। प्रमाण—"सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मन ।" (वाराहपुराण); श्रीवाल्मीकिजी ने भी श्रीरामजी का अश्वमेध यज्ञ करना लिखा ही है और—"जेपतु परम जपम्" (वाल्मी० १।२३।१); अर्थात् किसी परम जप का जपना भी कहा है। यह सब राजकुमार-दृष्टि से ही सगत होगा।

ऐतिहासिक दृष्टिवालों का कहना है कि दक्षिण मे शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची की सीमा मिलती है। शैवों और वैष्णवों मे परस्पर विरोध चलता रहता है। वहाँ एक विष्णु-विग्रह के माधुर्य रूप से श्रीशिवजी की स्थापना होने से वह विरोध कम होने की संभावना है। इस रामायण (मानस) का ही प्रभाव है कि शैवों की मुख्य पुरी काशीजी मे शैवों और वैष्णवों मे कुछ विरोध नहीं है। श्रीअयोध्याजी की ही तरह वहाँ भी रामायण का पूर्ण आदर है और शैवों की अपेक्षा वैष्णव भी कम नहीं हैं।

यह भी श्रीगोस्वामीजी की ही दिव्यबुद्धि का प्रभाव है कि उन्होंने सर्व शास्त्र पुराणों का समन्वय करते हुए भी श्रीराम-रूप मे परब्रह्मपरत्व प्राय सम्पूर्ण जगत् के चित्त मे बैठा दिया।

(२) 'सिवद्रोही मम भगत कहावा। ···'—वह मेरा भक्त कहलाता-भर है, परन्तु है नहीं, क्योंकि

शिव-द्रोही को मेरी भक्ति नहीं मिलती, वही आगे कहते हैं यथा—'संकर बिमुख'। 'सो नर सपनेहुँ'—क्योंकि श्रीशिवजी मेरे भक्त हैं अत, उनका द्रोही मेरा भी द्रोही ही है, यथा—"मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई ॥" (अ॰ दो॰ २१८); अन्यत्र भी कहा है, यथा—"सिव-पद-कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं ॥ बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। राम भगत कर लच्छन येहू ॥" (बा॰ दो॰ १०३)।

'संकर बिमुख भगति चह मोरी।'—ऊपर कहा है कि शिव विमुख मुझको नहीं पाता, यहाँ कहते हैं कि यह मेरी भक्ति भी नहीं पाता। 'सो नारकी मूढ़ मतिथोरी'—हमारे भक्त से विमुख है, इससे वह नरक में जायगा। यदि शास्त्र का ज्ञाता होता, तो ऐसा नहीं करता, अतएव उसे मूढ़ कहा। शिवजी परम वैष्णव हैं, यथा—"वैष्णवानां यथा शम्भु" (भाग॰ १२।१३।१६) यदि उसने कुछ शास्त्र पढ़ा भी है, तो भक्त-द्रोह करनेवाला मनुष्य उस शास्त्र का भाव ही नहीं समझता, इससे उसे 'मतिथोरी' कहा गया है।

दोहा—संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास ॥२॥

अर्थ—जिनको शंकर प्रिय हैं और जो मेरे द्रोही हैं, तथा जो शिव-द्रोही हैं और मेरे दास हैं—वे मनुष्य कल्प भर घोर नरक में वास करते हैं॥

विशेष—पूर्व कहा गया था, यथा—"सो नारकी मूढ़ मतिथोरी।" उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं कि वे कल्प भर नरक में रहते हैं। कल्प ब्रह्मा के एक दिन को कहते हैं, ब्रह्मा जी का सोना प्रलय है। घोर नरक और वह भी कल्प भर का होता है, इससे इसे घोर पाप जनाया। यह सबके लिये शिक्षा है इसीलिये आपका अवतार है, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य शिक्षणम्" (भाग॰ ५।१९।५) तब यदि कहा जाय कि राक्षस लोग तो श्रीरामजी के वैरी और श्रीशिवजी के पूजक थे, परन्तु वे तो मुक्त हुए। उसका समाधान यह है कि वे श्रीरामजी के हाथों से एवं उनके रामनामांकित बाणों से मरे। इससे उनके पाप शुद्ध हो गये, तब उन्हें मुक्ति हुई। वानरों में भी राम-प्रभाव ही था, और वे सब श्रीरामजी के पार्षद थे, इससे उनके द्वारा मारे जानेवाले भी वैसे ही मुक्त हुए।

जे रामेस्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ॥१॥
जो गंगाजल आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि ॥२॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि ॥३॥

शब्दार्थ—साजुज्य (सायुज्य)=जिसका भगवान् से निरंतर संयोग रहे। यह मुक्ति दो प्रकार की होती है—(१) परिकर (२) परिच्छद। परिच्छद वे हैं, जो भूषण-वस्त्र रूप से नित्य संयुक्त रहते हैं। परिकर वे हैं, जो सेवा करते हैं, क्षण-भर के लिये भी प्रभु से पृथक होते ही व्याकुल हो जाते हैं।

अर्थ—जो रामेश्वर महादेव के दर्शन करेंगे वे शरीर छोड़कर मेरे लोक को जायँगे ॥१॥ जो गंगाजल लाकर चढ़ायेगा, वह मनुष्य सायुज्य मुक्ति पायेगा ॥२॥ जो निष्काम होकर, छल छोड़कर श्रीशिवजी की सेवा करेगा, उसे श्रीशिवजी मेरी भक्ति देंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'जे रामेस्वर दरसन···'—पहले 'संभु' नाम कहा गया था; यथा—'करिहउँ इहाँ संभु- थापना।' फिर 'लिंग थापि' से लिंग नाम भी कहा गया। अब यहाँ 'रामेस्वर' कहकर नामकरण होना भी सूचित कर दिया कि इनका नाम रामेश्वर है। इस नाम के अर्थ से; "सेवक स्वामि सखा सिय-पीके।" (बा० दो० १४); चरितार्थ होता है। इस नाम की व्याख्या वहीं पर (बा० दो० १४ चौ० ४ में) हो चुकी है।

'ते तनु तजि मम लोक···'—ऊपर दोहे के साहचर्य से इस प्रसंग का यह भी भाव है कि वे पापी भी श्रीरामेश्वर के दर्शन करके मेरा लोक पावेंगे। यही उक्त पाप का भी प्रायश्चित्त है। मेरे लोक में वे मेरे दर्शन पावेंगे, अर्थात् रामेश्वर-दर्शन का फल मेरा दर्शन है। भगवद्दर्शन एवं उनके धाम की प्राप्ति सब सुकृत एवं साधनों का फल है; यथा—"राम समीप सुकृत नहिं थोरे।" (गी० अ० ११); "सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा " (अ० दो० २०६); अतएव यहाँ कर्म-फल कहा गया है।

(२) 'जो गंगाजल आनि···'—कहीं से गंगाजल लावें, इसमें सबसे उत्तम तो गंगोत्तरी का गंगोदक ही कहा जाता है, अथवा जहाँ कहीं भी गंगाजी की धारा हो, वहीं से लाकर चढ़ावें। इससे सायुज्य मुक्ति मिलती है। गंगाजी ब्रह्मद्रव हैं। अतः, जो रामेश्वर को ब्रह्मद्रव की प्राप्ति करावे, उसे ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति होगी। वह सच्चिदानंद रूप से—श्रीसीतारामजी के भूषण-वस्त्रादि रूप से उनके आनन्दमय विग्रह के स्पर्श-सुख का अनुभव करेगा। यह ज्ञान का फल है।

(३) 'होइ अकाम जो छल तजि···'—जबतक कुछ भी कामना रहती है, तब तक विमल भक्ति नहीं मिलती; यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥" (अ० दो० १०२)। 'छल तजि'—क्योंकि श्रीरामजी को छल नहीं भाता; यथा— "मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सुं० दो० ४३); पुनः "बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। राम-भगत कर लच्छन येहू॥" (बा० दो० १०३); अतः निष्काम हृदय से सरल भावपूर्वक सेवा करनी चाहिये। छल यह है कि श्रीशिवजी में पूरा प्रेम न हो—राम-भक्ति के लिये ऊपर से उनकी सेवा करे—ऐसा नहीं चाहिये, किन्तु श्रीशिवजी में भी प्रेम हो; यथा—"मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० २११)। तब श्रीशिवजी रामभक्ति देंगे; यथा—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥" (उ० दो० १०५), 'संकर देइहि'—श्रीशिवजी राम-भक्ति के भंडारी हैं। ऊपर दो (कर्म-ज्ञान के) प्रसंगों में फल देना कहा गया है। इसमें नहीं, क्योंकि उपासना फल-रूपा ही है इसका दूसरा फल नहीं है ; यथा—"परहुँ नरक फल चारि सिसु, मीचु डाकिनी खाहु। तुलसी राम-सनेह की, जो फल सो जरि जाहु॥" (दोहावली ९१); तथा—"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्। न योग सिद्धि न पुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥" (श्रीमद्भागवत) ; अर्थात् जो भगवान् के चरण-रज के भिखारी हैं, वे स्वर्ग, सम्राट् पद, ब्रह्मदेव का पद, चन्द्रलोक, योग सिद्धि या संसार में (श्रेष्ठ) पुनर्जन्म नहीं चाहते। 'सेइहि'-कुछ काल तक पास रहकर उनकी सेवा करे। इसी अर्थ में दूसरा भी श्लोक है ; यथा—"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥" (भाग० ११।१४।१४)।

कर्म से ज्ञान और ज्ञान से उपासना श्रेष्ठ है, वैसे ही उत्तरोत्तर अधिक फलदातृत्व कहा गया है। भक्तिवाले मुक्तावस्था में भी भगवान् के परिकर-भाव से सेवा में ही ब्रह्मानन्द पाते हैं; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तै० २।१); अर्थात् मुक्तात्मा, परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है। यह भी उपर्युक्त सायुज्य मुक्ति का ही एक भेद है; यथा—"सायुज्यं प्रति-

पन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥" (श्रीनारद पंचरात्र-परम संहिता) 'निरुपद्रवाः'—क्षुधा-पिपासादि उपद्रवों से रहित होकर···। यही श्रीगोस्वामीजी का भी मत है; यथा—"देखिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१); अर्थात् परम पद (मोक्ष) में भी किंकर-भाव से ही रहूँगा।

मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भव-सागर तरिही॥४॥
राम-बचन सब के जिय भाये। मुनिबर निज निज आश्रम आये॥५॥
गिरिजा रघुपति कइ यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥६॥

अर्थ—जो मेरे बनाये हुए सेतु के दर्शन करेगा, वह बिना परिश्रम भवसागर तर जायगा॥४॥ श्रीरामजी के वचन सबके हृदय में अच्छे लगे, सुनकर मुनिश्रेष्ठ अपने-अपने आश्रमों को लौट आये॥५॥ हे गिरिजे! रघुपति की यह रीति है कि वे शरणागत पर सदा प्रीति करते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'मम कृत सेतु······'—पहले रामेश्वर पड़ते हैं, तब आगे चलने पर सेतुबंध तीर्थ है। वैसे ही क्रम से दोनों के माहात्म्य भी कहे गये हैं। पहले रामेश्वर-माहात्म्य कहकर फिर सेतु-दर्शन का फल कहते हैं कि जिस तरह इस सेतु पर चढ़कर लोग इस लवण-सिंधु के उस पार जाते हैं। उसी तरह इसके दर्शनों से बिना श्रम भवसागर के पार चले जायँगे। भाव यह है कि इसपर पैदल चलने में भी कुछ श्रम अवश्य है, पर इसके दर्शनों से भव-पार होने में कुछ भी श्रम नहीं होगा।

(२) 'राम बचन सबके मन भाये।······'—अर्थात् दोनों तीर्थों के माहात्म्य को सबने माना। इससे सबने रामेश्वर-पूजन और सेतु दर्शन किये। 'मुनिबर निज निज······'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'मुनिबर सकल बोलि लै आये।' है। 'आये' अर्थात् श्रीसुग्रीवजी ने अपने चरों-द्वारा सम्मानपूर्वक सबको पहुँचाया, श्रीगोस्वामीजी भी मन से मानों सबके साथ हैं। सब मुनि अपने-अपने स्थानों को पहुँच गये, तब सेना आगे चली।

(३) 'गिरिजा रघुपति कै······'—इस मानस-रामायण की कथा का मूल कारण श्रीपार्वतीजी का मोह था कि श्रीशिवजी स्वयं जगत् के ईश्वर हैं, इन्होंने राजपुत्र को 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम क्यों किया? उसी मोह की यहाँ फिर शंका है कि राजा श्रीरामजी ने श्रीशिवजी की स्थापना की, पूजा की और रामेश्वर नामकरण किया। कहीं गिरिजा सचमुच ही न श्रीरामजी का ईश्वर मुझे मान बैठें, इसीलिये स्वयं श्रीशिवजी समाधान करते हैं कि राजा श्रीरामजी की यही रीति है कि वे अपने शरणागत पर प्रीति रखते हैं। भाव यह है कि मैं तो उनका दीन दास हूँ। श्रीपार्वती ने इसे सती-तन में स्वयं भी देखा है; यथा "देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा० दो० ५३); इससे श्रीरामजी ने अपना दास जानकर मुझे बड़ाई दी है, ऐसा उनका स्वभाव है; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई।" (आ० दो० १२)।

बाँधा सेतु नील-नल नागर। राम-कृपा जस भयउ उजागर॥७॥
बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई॥८॥
महिमा यह न जलधि कइ बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी॥९॥

अथ—'चतुर नील-नल ने सेतु बाँधा' (ऐसा) उज्ज्वल यश श्रीरामजी की कृपा से प्रसिद्ध हुआ ॥७॥ जो (पत्थर) स्वयं डूबते हैं और दूसरों को (जो उनमें लगे हुए वृक्ष-तृण आदि हैं, अलग होने से न डूबते, उनको) भी डुबा देते हैं । वे ही पत्थर जहाज के समान हो गये ॥८॥ यह महिमा (कवियों ने) समुद्र की नहीं वर्णन की, न यह पत्थर का ही गुण है और न यह नल-नील वानरों का ही कर्त्तव्य है ॥९॥

विशेष—(१) 'बाँधा सेतु नील नल नागर। ……'—पहले 'देखि सेतु अति सुंदर रचना।' से सेतु का प्रसंग छूट गया था, बीच में रामेश्वर-स्थापन कहा गया, अब फिर 'बाँधा सेतु' कहकर वहीं से प्रसंग उठाया गया। 'नागर'—का भाव यह है कि सभी कहते हैं, नील-नल बड़े चतुर कारीगर हैं, तभी तो उन्होंने सेतु की ऐसी सुन्दर रचना की, समुद्र पर पुल बाँधा। इनकी प्रशंसा रावण ने भी की है; यथा—"सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला।" (लं० दो० २१); इन्हें यह बड़ाई राम-कृपा से प्राप्त हुई, नहीं तो पत्थर नहीं जुड़ते, झकोरों में बिखर जाते, सेना के चढ़ने पर तो डूब ही जाते, क्योंकि वे बिना आधार के हैं, श्रीगोस्वामीजी स्वयं इसे आगे कहते हैं।

श्रीरामजी ने कृपा करके सेतु बँधाया, इससे समुद्र को, नल-नील को और सब वानरों को भी यश प्राप्त हुआ; यथा—"येहि विधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय ॥" (सुं० दो० ५९)।

उपर्युक्त 'संतत करहिं प्रनत पर प्रीती।' का उदाहरण तो श्रीशिवजी को बड़ाई देने में कहा गया है। तटस्थ होने से दूसरा यह भी उदाहरण हो सकता है कि सेतु बँधाकर नील-नल को भी यश दिया। इनपर श्रीरामजी की कृपा है; यथा—"जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।…सोइ बिजई बिनई गुन सागर। तासु सुजस त्रैलोक उजागर।।" (सु० दो० २१)।

(२) 'महिमा यह न जलधि कइ ……'—पानी के ऊपर शिलाओं का तैरना असम्भव बात है। इसमें समुद्र की महिमा नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि किसी अंश में उसकी सहायता भी है, तो वह प्रभु की ही प्रभुता है; यथा—"मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥" (सुं० दो० ५९); पाहन का भी गुण नहीं है, क्योंकि वह तो औरों को साथ लेकर डूब जाता है, जल पर उतराना उसका गुण नहीं है, पत्थर भी राम-प्रताप से ही जल पर उतराये हैं; यथा—"तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तिहारे ॥" (सु० दो० ५९); नील-नल के भी कर्त्तव्य नहीं हैं, इन्होंने भी राम-प्रताप के द्वारा ही इसकी रचना की है; यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥" (दो० १); ऋषि आशिष भी निमित्त-मात्र छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े तरने के लिये थी, भारी-भारी पर्वतों का तरना, आपस में जुड़ना, सेना के भार को भी थाम्हना इत्यादि नील-नल के कर्त्तव्य से बाहर की बातें हैं।

(३) 'भये उपल बोहित सम……'—वानरों की चंचल सेना पार उतर रही है, सामान्य नाव इनकी कूद-फाँद से डूब जाय, इसलिये जहाज के समान कहा गया है। इतना ही नहीं, इसके दर्शनों से लोग भवसागर भी पार हो जायँगे; यथा—"मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही ॥" ऊपर कहा गया है।

दोहा—श्रीरघुबीर-प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान;
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन ॥३॥

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा ॥१॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी के प्रताप से पत्थर समुद्र पर उतराये, वे लोग मंदबुद्धि हैं, जो श्रीरामजी को छोड़, जाकर (वा, व्यर्थ) दूसरे स्वामी को भजते हैं ॥३॥ सेतु को बाँधकर अत्यन्त सुन्दर और दृढ़ बनाया, (सुदृढ़ बनावट) देखकर वह सेतु कृपा-निधान श्रीरामजी के मन को भाया ॥१॥

विशेष—(१) 'श्रीरघुबीर-प्रताप ते'''—ऊपर से सेतु-बंध के अन्य उपकरणों का निषेध किया। यहाँ उसके मुख्य साधक रघुवीर-प्रताप को स्पष्ट किया। आपके नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल पैदा हो सकता है; यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।" (वि० २२८); तो रूप के प्रभाव से जल पर पत्थर का तैरना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) 'ते मति मंद जे''''''—मति के तुच्छ हैं, इसी से राम-प्रताप को नहीं जानते। अतः, श्रीरामजी में 'प्रतीति नहीं' है और सेतुबंध की व्यवस्था को समुद्र एवं नील और नल के द्वारा ही समझते हैं। इसीसे श्रीरामजी में उनकी प्रीति नहीं होती। अतः, दूसरे देवताओं को भजते हैं; यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥" (उ० दो० ८८); ऐसे ही राम-प्रभाव को जानकर भजन करनेवालों को प्रवीण एवं चतुर कहा गया; यथा—"मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन ॥" (उ० दो० १२२); तथा—"रामहि भजहिं ते चतुर नर।" (आ० दो० ६)।

(३) 'बाँधि सेतु अति'''—पहले "देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना ॥" (दो० १); से सेतु-बंध प्रसंग छूट गया था। बीच में रामेश्वर की स्थापना कही, फिर सेतु बाँधने में राम-प्रताप ही को प्रधान कारण बतलाया। नल और नील को कृपा करके प्रभु ने सुयश दिया—यह सूचित किया।

श्रीशिवजी के कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रभु ने लिंग-स्थापन-द्वारा मुझे बड़ाई दी, वैसे ही कृपा करके नल और नील को भी सुयश दिया। अब वहीं से पूर्व-प्रसंग फिर उठाया जाता है, इसीसे जैसे वहाँ—'देखि सेतु अति सुन्दर रचना। बिहँसि कृपानिधि'''' कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी—'सेतु अति सुदृढ़ सुहावा। देखि कृपानिधि''''पद कहे गये हैं।

'देखि कृपानिधि के मन भावा।'—सेतु देखकर मन प्रसन्न हुआ, इससे श्रीरामचन्द्रजी को कृपानिधि कहा गया, क्योंकि जिनकी माया क्षण-भर में करोड़ों ब्रह्मांड रच डालती है, उनको इस अल्प रचना से क्या हर्ष हो सकता है? यह तो आपने अपने भक्तों पर कृपा करके उनकी श्रम-सफलता के लिये प्रसन्नता प्रकट की है। पुनः 'सेतु अति सुदृढ़ बनावा' देखकर भी हर्षित हुए; यथा—"शुशुभे सुभगः श्रीमान्स्वातीपथ इवाम्बरे।'''तमचिन्त्यमसह्यं च ह्यद्भुतं लोमहर्षणम् ॥" (वाल्मी० ६।२२।७०-७२); अर्थात् वह सेतु ऐसा सुन्दर था, जैसी आकाश में आकाश-गंगा। अचिंतनीय तथा अशक्य, आश्चर्यकारक और साथ ही रोमाञ्चकारक भी था।

सेतु पाँच दिनों में तैयार हुआ—"पहले दिन १४ योजन, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन २१, चौथे दिन २२ और पाँचवें दिन २३ योजन बना; इस तरह वह १०० योजन लंबा और १० योजन चौड़ा था।" (वाल्मी० ६।२२।६८-७२)।

लंका-विजय हो जाने पर लौटते समय श्रीविभीषणजी की प्रार्थना से इस सेतु को श्रीरामजी ने तोड़ दिया। अपने धनुष से इसके १-१ योजन के टुकड़े कर दिये। ऐसा पद्मपुराण-सृष्टि-खंड अ० ३८ श्लोक २८-३२ में लिखा है।

"कपि सेन जिमि उतरी सागर पार"—प्रकरण

चली सेन कछु बरनि न जाई। गर्जहिं मर्कट-भट-समुदाई ॥२॥
सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु-बहुताई ॥३॥
देखन कहँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भये सब जल-चर-बृंदा ॥४॥

शब्दार्थ—बहुताई = अधिकता, प्रभाव, विस्तार। कंद = मेघ।

अर्थ—सेना चली, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता, वानर-योद्धाओं के झुंड-के-झुंड गरजते हैं ॥२॥ सेतुबंध के पास (ऊँचे पर) चढ़कर कृपालु श्रीरामजी समुद्र की अधिकता देखने लगे ॥३॥ करुणा-कंद समर्थ स्वामी श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सब जलचरों के झुंड-के-झुंड प्रकट हो गये ; अर्थात् जल के ऊपर उतराकर स्थिर हो गये ॥४॥

विशेष—(१) 'सेतुबंध ढिग चढ़ि···'—कौतुक देखने के सम्बन्ध से प्रभु को रघुराई कहा गया है, क्योंकि राजा लोग कौतुक देखते ही हैं ; यथा—"अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपालु रघुराई ॥" (दो॰ ४) ; प्रभु ने जलचरों को कृपा करके दर्शन दिये, इससे इन्हें 'कृपाल' कहा गया है ; यथा—"देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥" (बा॰ दो॰ १४५) ; वानरों पर भी कृपा है कि इन्हीं जलचरों पर चढ़-चढ़कर वे उस पार जायँगे, यह आगे स्पष्ट है।

(२) 'देखन कहँ प्रभु···'—करुणा के मेघ हैं। मुसकान दामिनी है, भाई से गंभीर स्वर में बात करना गर्जन है ; यथा—"भाई सों करत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं।" (गी॰ बा॰ ७१) ; कृपा-दृष्टि करना वृष्टि है। करुणा-कंद सामने हैं, इनकी कृपा-दृष्टि-रूपी मीठे जल की वृष्टि का सुख लेने के लिये सभी जलचर उतरा गये, क्योंकि प्रभु के सामने शत्रु का भय नहीं है। 'वृन्दा'—प्रत्येक जाति के—झुण्ड-के-झुण्ड जलचर एक साथ ही निकले हुए हैं।

मकर नक्र नाना झख ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला ॥५॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं ॥६॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे ॥७॥

शब्दार्थ—मकर = मगर, नक्र = घड़ियाल। झख = मछली।

अर्थ—अनेक जातियों के मगर, घड़ियाल, मछली, सर्प, जो सौ-सौ योजन के बड़े लंबे, चौड़े और ऊँचे शरीरवाले हैं ॥५॥ ऐसे भी कोई हैं जो उन्हें भी खा जाते हैं, एक कोई ऐसे हैं कि जिनके डर से वे (दूसरे) भी डरते हैं ॥६॥ (पर ये सब विषमता छोड़कर) प्रभु को देख रहे हैं, टाले नहीं टलते। सबके मन में हर्ष है, सभी सुखी हो गये ॥७॥

विशेष (१) 'अइसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं।···', यथा—"जलचर वृन्द जाल अंतर्गत होत सिमिटि यक पासा। एकहि एक खात लालच बस नहिं देखत निज नासा॥" (वि॰ ११)। तीन जातियों की मछलियाँ बहुत विशाल कही गई हैं; यथा—"अस्ति मत्स्यरतिमिर्नाम शतयोजनविस्तर'। तिमिंगल गिलोऽप्यस्ति तद्गिलोप्यस्ति राघव.॥" (हनु॰ अं॰ ८), अर्थात् शतयोजन का तिमि नाम का मत्स्य है, उसको भी निगलनेवाला तिमिंगल है और उसे भी राघवमत्स्य निगल जाता है। इन्हीं तीनों का यहाँ भी वर्णन है।

'प्रभुहि विलोकहिं टरहिं न टारे।'—श्रीरामजी के छवि-समुद्र-रूप के दर्शनों से सभी एकटक हो रहे हैं और इसीसे परस्पर की विषमता भी मिट गई है; यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। विगत बैर विचरहिं सब संगा॥" (अ॰ दो॰ १३७); क्योंकि श्रीरामजी सब की आत्मा होने से सर्वप्रिय हैं; यथा—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा॰ दो॰ २१५), इसीसे इनके दर्शनों से सभी को सुख होता है; यथा—"देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥" (बा॰ दो॰ २४१); यहाँ सभी जलचर परमानंद में निमग्न हैं, शरीर की सुधि भुला गई है। मन में हर्ष है, तन से सुखी हैं।

तिन्ह की ओट न देखिय बारी। मगन भये हरिरूप निहारी॥८॥
चला कटक प्रभु-आयसु पाई। को कहि सक कपि-दल-बिपुलाई॥९॥

दोहा—सेतबंध भइ भीर अति, कपि नभ-पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर, चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं॥४॥

अर्थ—उन जलचरों की आड़ में जल नहीं दिखाई देता, वे भगवान् का रूप देखकर मग्न हो गये॥८॥ प्रभु की आज्ञा पाकर सेना चली, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वानर सेना की बहुतायत अपार है; अतएव अवर्ण्य है॥९॥ सेतु-बंध पर बहुत ही भीड़ हुई। (इससे चलने को रास्ता नहीं मिलता, अतएव कुछ) वानर आकाश-मार्ग से उड़ते जा रहे हैं और कितने जलचरों के ऊपर चढ़-चढ़कर पार जा रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'तिन्ह की ओट न···'—श्रीरामजी का रूप ऐसा ही मनोहर है कि उसे देखकर सभी मोह जाते हैं, देखने से तृप्ति नहीं होती; यथा—"खग मृग मगन देखि छवि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोहीं॥" (अ॰ दो॰ १२१), "छवि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन-पट रोकी॥ ·· तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥" (बा॰ दो॰ १४७); तथा—"जाइ समीप राम छवि देखी। रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥" (बा॰ दो॰ २६४)। ऐसे ही जलचर भी नहीं हिलते-डुलते।

(२) 'चला कटक प्रभु आयसु पाई।···'—पहले 'चली सेन कछु···' कहकर समुद्र की बहुतायत एवं जलचरों का हरि-दर्शन करना कहा गया, क्योंकि सेना के चलने में इनका भी प्रयोजन है। अब फिर वहीं (पूर्व) से प्रसंग उठाया—'चला कटक···'

(३) 'सेतुबंध भइ भीर अति ··'—ऊपर सेना की अपारता कही गई है; यथा—"को कहि सक कपि दल बिपुलाई।" उसे ही यहाँ दिखाते हैं कि ४० कोस चौड़े और ४०० कोस लंबे सेतु पर भी तिल-

भर जगह नहीं है और सभी पहले पहुँचना चाहते हैं। इससे कितने आकाश मार्ग से ही उड़ चले और कितने जलचरों पर ही चढ़कर जा रहे हैं।

यहाँ सिंधु के पार जाने के तीन मार्ग कहे गये हैं—सेतु-द्वारा, नभ-मार्ग से और जलचरों पर चढ़कर। ऐसे ही संसार-सागर के भी पार जाने के तीन मार्ग हैं। कर्म जलचरोंवाला मार्ग है, क्योंकि इसमें देव-पितृ-सम्बन्ध से कर्म होते हैं, वे सब विषय-वारिचर हैं; यथा—"विषय वारि मन मीन···" (वि० १०२); "हम देवता···भव-प्रवाह संतत हम परे। (लं० दो० १०८); ज्ञान आकाश-मार्ग है, क्योंकि इसमें मन को कोई आधार नहीं रहता; यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥" (उ० दो० ४४); उपासना सेतु-मार्ग है, क्योंकि इसमें कोई भय नहीं, इसपर से बड़े छोटे सभी जा सकते हैं; इससे डूबने का भय नहीं रहता; अर्थात् कोई विघ्न नहीं है; यथा—"अति अपार जे सरित बर, जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकौ परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं॥" (बा० दो० १३); तथा—"कहहु भगति पथ कवनि प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५); "सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान स्रुति गाई॥" (उ० दो० ४४)। "ताते नास न होइ दास कर" (उ० दो० ७८); "न,मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ६।३१)

अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥१॥
सेनसहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि-जूथप-भीरा॥२॥

अर्थ—ऐसा कौतुक देखकर दोनों भाई हँसे और हँसकर कृपालु श्रीरामजी चले॥१॥ रघुवीर श्रीरामजी सेना-सहित समुद्र के पार उतरे, वानर यूथपों की भीड़ कही नहीं जा सकती; अर्थात् वे असंख्य हैं॥२॥

विशेष—(१) 'अस कौतुक बिलोकि···'—कौतुक का उपक्रम—"सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥" से हुआ और यहाँ—'अस कौतुक···' पर उपसंहार हुआ। 'दोउ भाई'—कौतुक देखने के लिये साथ ही श्रीलक्ष्मणजी भी चढ़े हुए थे। सेना का आगे और दोनों भाइयों का पीछे चलना कहा गया है, क्योंकि प्रभु के आगे चलने से संभव था कि उनके दर्शक जलचर चलायमान हो जाते जिससे उनके ऊपर चलनेवाले वानर जल में गिर जाते। पहले विशेष सेना को पार करके तब आप उतरे। आगे लिखते ही हैं; यथा - "सेन सहित उतरे रघुबीरा।" आपके उतरने का प्रकार यों है—"श्रीसुग्रीवजी ने प्रार्थना की कि आप श्रीहनुमान्‌जी की पीठ पर और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअंगदजी की पीठ पर चढ़कर चलें। अतः, प्रभु ने वैसा ही किया"–(वाल्मी० ६।२२।७८ ८०)।

'सेन सहित उतरे'—'उतरे'-मात्र का यह भी भाव है कि श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी की पीठ पर से उतरे। पुन. सेना-समेत उतरे, अर्थात् समुद्र-पार हुए। जो आकाश-मार्ग से आये, वे भूमि पर उतरे। पुनः उतरने का अर्थ टिकने का भी है, वह इस प्रकार है—"रामजी ने कहा कि सेना (पुरुष) व्यूह के नियम से रहे। नील के सहित अंगदजी अपनी सेना-सहित उर (मध्य) की रक्षा करें। दाहिने ऋषभ और बायें गंधमादन रहें। आगे लक्ष्मणजी और मैं (रामजी) (शिर पर) रहूँगा। जाम्बवान्, सुषेण और वेगदर्शी कुक्षि-भाग की रक्षा करें और श्रीसुग्रीवजी इस सेना के जघन देश की रक्षा करें।" (वाल्मी० ६।२४।१३-१८)।

यहाँ तक कपि-सेना के उस पार उतरने का मुख्य प्रसंग पूरा हुआ।

सिंधु - पार प्रभु डेरा कीन्हा । सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा ॥३॥
खाहु जाइ : फल - मूल सुहाये । सुनत भालु-कपि जहँ तहँ धाये ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने समुद्र-पार डेरा डाला (ठहरे) और उन्होंने सब वानरों को आज्ञा दी ॥३॥ कि जाकर सुन्दर फल-मूल खाओ, यह सुनते ही भालु-वानर जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े ॥४॥

विशेष—(१) 'सिंधु पार प्रभु'''—ऊपर जो डेरा का विधान लिखा गया है, वह समुद्र-तट का है और यहाँ 'डेरा कीन्हा' सुवेल पर्वत पर टिकने को कहा गया है ; यथा—"ततस्तमक्षोभ्यबलं लंकाधिपतयेचराः । सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन् ॥" (वाल्मी० ६।३०।१) ; यहाँ गरुड़-व्यूह से सेना टिकाई गई है ; यथा—"द्वारमाश्रित्य लङ्काया रामस्तिष्ठति सायुधः ॥ गरुड़व्यूहमास्थाय सर्वतो हरिभिर्वृतः ।" (वाल्मी० ६।३०।११-१२) ; 'प्रभु'—पूर्ण समर्थ हैं, इसीसे शत्रु के देश में भी वानरों को जहाँ-तहाँ फल-मूल खाने की आज्ञा दे दी, क्योंकि ये सर्वत्र उनकी रक्षा कर सकते हैं । समुद्र के उत्तर तट पर फल खाने के लिये आज्ञा देना नहीं लिखा गया, क्योंकि वहाँ शत्रु का देश नहीं होने से कोई भय नहीं था । ऐसे ही रावण के बाग में श्रीसीताजी से आज्ञा लेकर श्रीहनुमान्‌जी ने भी फल खाये हैं । 'धाये'—स्वामी की आज्ञा से निर्भय हो गये हैं, अतएव जिसने जिधर पाया उत्साह-पूर्वक दौड़ पड़ा ।

समुद्र के उत्तर तट पर तो फल खाये ही थे ; यथा—"जहँ तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥" (सुं० दो० ३५) ; फिर सेतु बाँधकर इस पार आने में कुछ परिश्रम हुआ । अतः सभी भूखे होंगे यह जानकर प्रभु ने उन्हें फल खाने की आज्ञा दी, यह प्रभु का सेवकों पर स्नेह है । 'सुहाये' अर्थात् स्वादिष्ठ, मधुर फल ; यथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥" (सुं० दो० १७) ।

सब तरु फरे राम - हित - लागी । रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी ॥५॥
खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं । लंका सनमुख सिखर चलावहिं ॥६॥

अर्थ—सब वृक्ष श्रीरामजी के हित के लिये ऋतु और कुऋतु (फसल, बेफसल) तथा काल की गति (समय की चाल) को छोड़कर फले ।५॥ वानर और रीछ मीठे-मीठे फल खाते हैं, वृक्षों को हिलाते और लंका की ओर (पर्वतों के) शिखरों को फेंकते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'सब तरु फरे राम-हित लागी ।'''—श्रीरामजी का हित यह कि उनकी सेना फल खाकर तृप्त हो । दूसरा यह भी हित है कि अकाल मे फल-फूल का होना अनिष्टकारक है, ऐसा होने से उस देश के राजा का नाश होता है; यथा—"भय दायक खल कै प्रिय बानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥" (आ० दो० २१) ; अत, रावण का नाश होगा, इसमें श्रीरामजी का हित है । 'रितु'—जिस ऋतु मे जितने फल पेड़ मे लगने का नियम है, उनसे अधिक लगे, यह ऋतु-त्याग है । 'कुरितु'—जो वृक्ष जिस ऋतु मे नहीं फलते, उसमे भी वे फलों से लद गये ।

'काल गति त्यागी'—का भाव यह है कि कोई फल, जैसे इमली आदि वर्षा मे पकते हैं, कोई दो-तीन महीने मे इत्यादि, वे सब उसी समय परिपक्व हो गये, उन्होंने अपने नियत काल की प्रतीक्षा नहीं की ।

ये सब बातें श्रीरामजी की कृपा-दृष्टि से हुईं ; यथा—"बिनही रितु तरुवर फरैं, सिला द्रवैं जल जोर । राम लखन सिय करि कृपा, जब चितवहिं जेहि ओर ॥" (दोहावली १०६), क्योंकि सब स्थावर-जंगम-सृष्टि श्रीरामजी की आज्ञा मे है; यथा—"ईस रजाइ सीस सबही के ।" (अ० दो० १८१) ।

(२) 'खाहिं मधुर फल···'—श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी—'खाहु जाइ फल मूल सुहाये।' इससे सब मधुर फल ही खाते हैं, श्रीरामजी की कृपा से उनमें मधुर फल फले भी हैं। 'बिटप हलावहिं'—अपने चंचल स्वभाव से वृक्षों को हिलाते हैं, मानों अपने को प्रकट करते हुए खाते हैं, चोरी से नहीं। जब कोई रोकनेवाला नहीं आता, तब लंका की ओर पर्वतों के शिखर फेंक-फेंककर रावण को ललकारते हैं। इस तरह अपने-अपने बल और श्रीरामजी का आगमन जनाते हैं।

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं ॥७॥
दसनन्हि काटि नासिका - काना। कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना ॥८॥

अर्थ—जहाँ-कहीं फिरते हुए निशाचर को पा जाते हैं, वहीं पर सब उसे घेरकर बहुत नाच नचाते हैं ॥७॥ दाँतों से उसके नाक-कान काट प्रभु का सुयश कहकर (वा प्रभु का सुयश उसके कहने पर) उसे जाने देते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'जहँ कहुँ फिरत निशाचर···'—प्रायः निशाचर इधर नहीं आते, क्योंकि लंका-दहन के समय से ही उनके हृदय में वानरों का भय समा गया है; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका ॥" (सुं० दो० १५); यदि कहीं कोई भूला-भटका निशाचर मिल भी जाता है तो उसे पकड़ लेते हैं। 'नाच नचाना' अर्थात् दिक करना, यह मुहावरा है।

(२) 'काटि नासिका काना।'—यह श्रीलक्ष्मणजी का चलाया हुआ चुनौती देने का नियम है कि जिससे नकटा-बूचा होने पर वह अपने जीवन की ग्लानि से अवश्य जाकर रावण से कहेगा; यथा—"तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ।" (आ० दो० २१), और रावण पहले-पहल नकटे-बूचे से ही शत्रु के आने का समाचार सुनेगा, यह भी उसके लिये अमङ्गल-जनक ही होगा। 'कहि प्रभु सुजस'; यथा—"कपि भालु चढ़ि मंदिरन्हि जहँ तहँ राम जस गावत भये।" (दो० ४१); सुयश में वालि-वध खर-दूषणादि-वध, शूर्पणखा की दुर्गति आदि कहते हैं। अथवा श्रीरामजी की जय बोलाकर उसे जीते छोड़ देते हैं।

जिन्ह कर नासा - कान निपाता। तिन्ह रावनहि कही सब बाता ॥९॥
सुनत श्रवन बारिधि - बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥१०॥

दोहा—बाँध्यो बननिधि नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोध नदीस ॥५॥

शब्दार्थ—निपाता = काटकर गिराया। बन, कं, उद्, पय, तोय—सबका अर्थ जल है।

अर्थ—जिनके नाक-कान काट डाले गये, उन्होंने रावण से सब बातें कहीं ॥९॥ समुद्र पर सेतु का बाँधा जाना कानों से सुनते ही रावण घबड़ाकर दशो मुखों से बोल उठा ॥१०॥ क्या सत्य ही बन-निधि, नीर-निधि, जलधि, सिंधु, बारीश, तोय-निधि, कंपति, उदधि, पयोधि और नदीश को बाँध लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'सब बाता'—सेतु-बँधना, शत्रु का सेना-सहित सुवेल पर आना, अपार सेना, वानरों का वृक्ष तोड़ना, अपनी दुर्दशा, नाक-कान काटा जाना और रावण को चुनौती देना, इत्यादि।

(२) 'बोलि उठा अकुलाना ।'—क्योंकि उसकी दृष्टि में यह बात आश्चर्यजनक है, यथा—"समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम् । अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम् ॥" (वाल्मी॰ ६।१५।२), ये रावण ही के वचन हैं कि सेतु बंधन का कार्य श्रीरामजी ने आश्चर्य कर दिया है। तथा "सुंदर सहज अगम अनुमानी कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥" (बा॰ दो॰ १७८), अर्थात् रावण के अनुमान में दूसरों के लिये लंका अगम्य थी, इससे श्रीरामजी का यह कर्म उसे आश्चर्यजनक हुआ। एक साथ ही दशो मुखों से बोल उठा, इसीसे 'दसमुख' कहा गया ।

(३) 'बाँध्यो बननिधि···'—रावण के दस मुख थे, पर बात चीत सदा एक ही मुख से करता था। इस समय समुद्र पर पुल का बँधना सुनते ही इस आश्चर्य-जनक कार्य से घबड़ा गया, इससे कहनेवालों से यह घबड़ाहट में दसो मुखों से एक साथ ही बोल उठा। पूछने लगा, क्या यह सत्य है ? 'सत्य' शब्द से जाना जाता है, उसके हृदय में ऐसा विश्वास नहीं होता; यथा—"सागरे सेतुबन्धं तु न श्रद्दध्यां कथंचन ।" (वाल्मी॰ ६।१५।३) ।

एक ही बात को दस बार कहे जाने में यहाँ व्याकुलता की वीप्सा है। प्राय, आश्चर्यजनक मरण आदि की बात सुनकर लोग ऐसे ही कहते हैं—अरे कौन ? अमुक के पुत्र, अमुक के भाई, अमुक जगह के मास्टर ? इत्यादि ।

निज बिकलता बिचारि बहोरी । बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी ॥१॥
मंदोदरी सुनेउ प्रभु आयउ । कौतुक हीं पाथोधि बँधायउ ॥२॥
करगहि पतिहि भवन निज आनी । बोली परम मनोहर बानी ॥३॥

शब्दार्थ—भोरी करना = भुलाना । पाथोधि = समुद्र ।

अर्थ—फिर अपनी व्याकुलता को विचार डर को भुला और हँसकर वह घर को चला गया ॥१॥ मंदोदरी ने सुना कि प्रभु आये हुए हैं और खेल ही में उन्होंने समुद्र बँधा लिया ॥२॥ हाथ पकड़कर पति (रावण) को अपने महल में लाकर अत्यन्त सुन्दर वाणी बोली ॥३॥

विशेष—(१) 'बिचारि बहोरी'—रावण एकाएक घबड़ा गया, जिससे वह दशो मुखों से एक बारगी बोल उठा। फिर पीछे विचारने लगा कि मेरी इस घबड़ाहट को लोग ताड़ गये होंगे। अत., वे अधिक भयभीत होंगे। इसीसे अपना भय छिपाने के लिये उसने ऊपर से हँस दिया कि इस छोटे-से सेतु के बाँधने से क्या होता जाता है ? इस प्रकार उसने शत्रु के इतने बड़े कार्य का भी निरादर किया, यथा—"यदि बानरसमुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम् ॥" (वाल्मी॰ ६।३६।११), अर्थात् यदि पहले श्रीरामजी ने अकस्मात् सिंधु में पुल बाँध लिया, तो इसमें आश्चर्य क्या हुआ, जिससे तुम सभी डर गये। ऐसा कहकर वह घर चला गया कि ऐसा न हो कि भय की कोई और बात अनायास निकल पड़े। पुन यहाँ यह भी भाव है कि इतने प्रबल भय का कारण होने पर भी वह भय को भूल गया और निर्भय हो भोग विलास में निमग्न हो गया, यथा—"परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न सोच न त्रास ॥" (दो॰ १०),'भय भोरी' यह भी सुना जाता है कि रावण को किसी तरह यह बात मालूम थी कि जब वह एक साथ ही दसों मुखों से एक ही बात के लिये बोल उठे, तब उसकी मृत्यु शीघ्र ही होगी।

(२) 'मदोदरी सुन्यो '—सुना, यथा—"दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मदोदरी अधिक अकुलानी।" (सुं० दो ३५), इसने पहले सेना के साथ प्रभु का आना सुना, तब सेतु का बधन। अत, उसी प्रकार यहाँ भी यथाक्रम कहा गया है। वानरों की सेना को आकर फल खाते देख राक्षसों ने श्रीरामजी का आना कहा। कैसे आये ? इसका पता लगाने पर उन्होंने आ-आकर सेतु का बाँधा जाना, मन्दोदरी से कहा। 'कौतुकही पाथोधि. .'—सेतु-रचना में कुछ भी श्रम नहीं हुआ, खेल मे ही बँध गया, यथा—"करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं।"। 'लीलहि लेहि उठाइ' 'कदुक इव नल नील ते लेहीं' इत्यादि रचना-प्रसग मे कहा ही गया है। खेल ही खेल में उन्होंने ऐसा दुष्कर कार्य वानरों के द्वारा कर डाला, इससे उन्हें 'प्रभु' कहा कि वे सब कुछ करने मे समर्थ हैं।

(३) 'कर गहि पतिहि भवन '—मन्दोदरी ने उपदेश का सुन्दर अवसर जानकर और यह विचारकर कि किसी और रानी के महल मे न चला जाय, उसका हाथ पकड (प्यार एव सम्मान के साथ) अपने घर मे ले आई। इस समय रावण के हृदय मे डर बना हुआ है, सम्भवत वह उपदेश मान ले, इसीलिये उसे एकान्त मे ले गई।

बालि वध, खरादि-वध, लका-दहन और सेतु-बधन आदि से भी इसने श्रीरामजी की प्रभुता नहीं देखी (समझी), इससे अधे की तरह हाथ पकडकर ले जाना योग्य ही है, श्रीगोस्वामीजी ने यह भी ध्वनित किया है, यथा—"तुलसीदास सो स्वामि न सूझ्यो नयन बीस मंदिर केसे मोखे।" (गी० सु० १२)

मंदोदरी का उपदेश [२]

चरन नाइ सिर अंचल रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा ॥४॥
नाथ बयर कीजै ताही सो। बुधि बल सकिय जीति जाही सो ॥५॥
तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥६॥

शब्दार्थ—रोपना = फैलाना, पसारना। अतर = बीच। खलु = निश्चय।

अर्थ—चरणों मे मस्तक नवाकर आँचल पसारा (और बोली) हे प्राणप्रिय! क्रोध छोडकर मेरे वचन सुनिये ॥४॥ हे नाथ! वैर उसीसे करना चाहिये, जिससे बुद्धि और बल से जीत हो सकती हो ॥५॥ तुममे और श्रीरघुनाथजी मे कैसा बडा अन्तर है जैसा निश्चय ही जुगनू और सूर्य मे (अंतर होता है) ॥६॥

विशेष—(१) 'चरन नाइ सिर . '— मन्दोदरी चरणों पर शिर रखकर माँग की रक्षा और अचल पसारकर कोख की कुशल चाहती है कि ये दोनों आपकी सुमति के अधीन हैं। यहाँ इसने पतिव्रताओं की-सी रीति भी दिखाई है कि वे ऐसे ही पति को प्रसन्न करें। 'प्रिय'—मदोदरी को अपने पत्नीत्व के स्वत्व पर पूरा विश्वास है, वह पति के भावों के उभाड़ने के लिये 'पिय' = प्यारे, शब्दों का प्रयोग करती है। 'सुनहु बचन' हमारा प्यार रखने के लिये भी इन वचनों को अवश्य सुनो। 'परिहरि कोपा'—मदोदरी देख चुकी है कि जो रावण से श्रीरामजी का उत्कर्ष एव सीता देने की बात कहता है, उसपर वह जल उठता है, यथा—"जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥" (सु० दो० ५६), "रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ॥.. सुनत दसानन उठा

रिसाई।" (सुं० दो० ३९-४०)। इसीसे वह पहले क्रोध छोड़ने के लिये उसे वाग्बद्ध कर लेती है, क्योंकि यही दोनों बातें इस समय भी कहनी हैं।

(२) 'नाथ बयर कीजे...'—'नाथ' कहने का भाव यह है कि मेरी प्रार्थना न मानने से आपका अमंगल होगा, तो अनाथ की-सी दशा होगी; यथा—"भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेउ अनाथ की नाईं॥" (दो० १०३); और मैं तो आपके रहते हुए भी अनाथिनी के समान हो जाऊँगी, यथा—"धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं।" (दो० ८५); 'बुधिबल...'—शत्रु से जय प्राप्त करने के लिये ये ही दो मुख्य हैं; इसीलिये सुरसा ने श्रीहनुमान्‌जी की इन्हीं दो बातों के लिये परीक्षा ली है; यथा—"जानै कहँ बल बुद्धि बिसेषा" एवं "बुधि बल मरम तोर मैं पावा।" कहा ही गया है। तथा "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।" (सुं० दो० १७); अर्थात् बुद्धि और बल में अधिक जानकर शत्रु से मेल कर लेना चाहिये। बैर और प्रीति समान से ही करने योग्य है, यथा "प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (दो० २३)।

(३) 'तुम्हहि रघुपतिहि...'—अंतर 'रघुपति' शब्द से जनाया है कि तुम जीव हो और वे ईश्वर हैं। तुमने जिनपर विजय प्राप्त की है वे सब भी जीव थे और वे रघुपति अर्थात् जीव-मात्र के रक्षक (स्वामी) हैं। रघु संज्ञा जीव की है; यथा—"रघुजीवात्मबुद्धिश्च भोक्ता भुक् चेतनस्तथा॥" (विश्वकोश); जीव ईश्वर का अंश है, अतएव उसमें किंचित प्रकाश है। अतः, जुगनू के समान है, ईश्वर प्रकाश घन है, इससे सूर्य के समान कहा जाता है; यथा—"ईश्वर अंस जीव..." (उ० दो० ११६); "राम सच्चिदानंद दिनेसा।" (बा० दो० ११५); जीवों के प्रकाशक श्रीरामजी ही हैं; यथा—"विषय करन सुर जीव समेता।...सब कर परम प्रकाशक जोई। राम..." (बा० दो० ११६)। अतः, उन्हीं से किंचित् प्रकाश पाया हुआ यह जीव उनसे कैसे सामना कर सकता है? श्रीसीताजी ने भी कहा है; यथा—"सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।...आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहि भानु समान।" (सुं० दो० ९); यहाँ मंदोदरी उसीकी पुष्टि करती है। इसीलिये 'खलु'=निश्चय कहा है कि इसमें कुछ भी झूठ नहीं है। वहाँ श्रीसीताजी पर रावण कुपित हुआ था, पर यहाँ मन्दोदरी पर नहीं हुआ, क्योंकि इसने पहले ही उससे क्रोध नहीं करने की प्रतिज्ञा करा ली है। जैसे असंख्य खद्योत भी सूर्य की समता नहीं कर सकते; यथा—"जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।" (उ० दो० ९१)। वैसे ही तुम्हारे समान करोड़ों रावण भी श्रीरामजी की समता नहीं कर सकते। जैसे सूर्योदय से पहले ही जुगनुओं की चमक रहती है, वैसे ही तुम्हारा भी प्रकाश तभी तक है, जब तक श्रीरामजी सामने नहीं आते; यथा—"राम बान रवि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (सुं० दो० १५); भाव यह है कि अभी अवसर है, उपाय कर लो, जिससे श्रीरामजी बाण नहीं चलावें। आगे श्रीरामजी के ईश्वर होने के प्रमाण देती है—

अति बल मधुकैटभ जेहि मारे। महाबीर दिति-सुत संहारे॥७॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि-भारा॥८॥

शब्दार्थ—मधु-कैटभ—ये दोनों भाई दैत्य थे, मधु बड़ा और कैटभ छोटा था।

अर्थ—जिन्होंने अत्यन्त बलवान् मधु और कैटभ दैत्यों को मारा है और बड़े भारी वीर दिति के

पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप का नाश किया है ॥ ७ ॥ जिन्होंने वलि को बाँधा और सहस्रबाहु को मारा है, उन्होंने ही पृथिवी का भार हरने के लिये अवतार लिया है ॥८॥

विशेष—(१) 'अति बल मधु कैटभ'''—सृष्टि की आदि के महाबलवानों को क्रम से गिनाती है कि इन वीरों के तुल्य उनके अपने-अपने समय में दूसरा नहीं था, इसीसे उनके वध के लिये भगवान् को अवतार लेना पड़ा।

मधु-कैटभ—"ये दोनों दैत्य प्रलय के बाद हुए, श्रीमन्नारायण के नाभि-कमल पर विराजमान ब्रह्मा को देखकर उन्हें बार-बार डराने लगे। डरकर श्रीब्रह्माजी ने कमल को हिलाया, जिससे भगवान् योगनिद्रा से जग पड़े और उन दोनों दैत्यों से स्वागत-प्रश्न करके बोले कि मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, मुझसे तुम इच्छित वरदान माँग लो। तब वे दोनों बोले कि हम स्वयं वरदान दे सकते हैं, तुम जो चाहो हमसे ही माँग लो। (अन्यत्र यों भी कथा है, कि ५००० वर्ष भगवान् के लड़ने पर मधु कैटभ प्रसन्न होकर बोले कि वर माँगो,) तब भगवान् ने लोक-हित के लिये उनसे वर माँगा कि तुम्हारी मृत्यु हमारे ही हाथों से हो। एवमस्तु कहकर उन्होंने भी भगवान् से वरदान माँगा कि आप हमें खुले मैदान में मारें और हम आपके पुत्र हों। भगवान् ने उन्हें अपनी जाँघों पर रखकर चक्र से उनका शिर काटा।" (महाभारत वनपर्व अ० १०३, इंडियन प्रेस)।

'दिति-सुत' की कथाएँ देखिये बा० दो० २७ और दो० १२२ चौ० ३–६।

(२) 'बलि'—इनकी कथा भी अ० दो० २६ चौ० ७ में आ गई है।

'सहसभुज'—इन्हें श्रीपरशुरामजी ने मारा है, जो दश अवतारों में एक हैं। इनकी कथा भी अ० दो० २७१ चौ० ८ में आ गई है।

'अति बल' और 'महावीर' शब्दों से सूचित किया गया कि तुम बली और वीर हो और वे लोग अतिबली और महावीर थे। तब उनके मारनेवाले को तुम कैसे जीत सकते हो? 'सहसबाहु' एक साथ ही ५०० धनुष चलाता था, प्रभु के सामने उसकी भी कुछ न चली। तब तुम बीस भुजाओं से दश धनुष का क्या गर्व रखते हो? सहस्रबाहु से भी तुम हार ही चुके हो, तब उसके जीतनेवाले से क्या लड़ोगे?

मधुकैटभ को नारायण रूप से, हिरण्याक्ष को वराह, हिरण्यकशिपु को नृसिंह, बलि को वामन और सहस्रबाहु को परशुराम अवतार लेकर मारा है। 'सोइ अवतरेउ हरन'''—उन्होंने ही अब पृथिवी का भार उतारने के लिये अवतार लिया है। यह मंदोदरी ने श्रीहनुमान्जी और श्रीविभीषणजी के कथन से जाना है; यथा—"धरइ जो बिबिध देह सुर त्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता॥" (सुं० दो० २०); तथा—"तात राम नहिं नर-भूपाला।'''कृपासिंधु मानुष तन धारी।'''सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥" (सुं० दो० ३८), वर्त्तमान समय में भी राक्षस ही पृथिवी के भार हैं, यथा—"गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहिं गरुअ एक पर द्रोही॥" (बा० दो० १८३); इस गरुआई के हरण के लिये ही यह अवतार हुआ है; यथा—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।" (बा० दो० १८६), फिर इस रूप से प्रतिज्ञा भी कर ली है; यथा—"निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९), बहुत से प्रमाण देकर इसने श्रीरामजी का ईश्वरत्व कहा, नहीं तो यह इसे हँसकर ही उड़ा देता। इसपर गी० लं० १ पूरा पद पढ़ने योग्य है।

तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा ॥९॥

दोहा—रामहि सौंपि जानकी, नाइ कमल - पद माथ।
सुत कहँ राज समर्पि बन, जाइ भजिय रघुनाथ ॥६॥

अर्थ—हे नाथ ! उनसे विरोध न कीजिये कि जिनके हाथ में काल, कर्म और जीव (की व्यवस्था) है ॥५॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों में शिर नवा उनको श्रीजानकीजी सौंपकर लड़के को राज्य दे वन में जाकर श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिये ॥६॥

विशेष—(१) 'काल करम जिव जाके हाथा।'; यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (ह० बाहुक ११); कालवश मनुष्य आदि सभी प्राणी मरते हैं और कर्मवश जन्म लेते हैं; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल···" (उ० दो० ११); "जेहि जोनि जनमउँ कर्म बस···" (कि० दो० १०); अर्थात् चराचर जीवों की गति-अगति (सुगति-दुर्गति) प्रभु के ही हाथ में है, यथा—"काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तिहारे" (वि० ११२)। तथा—"परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥" (उ० दो० ७७), भाव यह है कि उनसे वैर करोगे, तो वे तुम्हें काल-वश करेंगे, शरण होगे तो तुम्हारे कर्म सुधार कर तुम्हें सद्गति दे देंगे। गीता अ० ९।३०–३१ देखिये।

(२) 'रामहि सौंपि जानकी···'—पहले उनसे विरोध करना रोका; यथा—"तासु विरोध न कीजिय···" अब विरोध मिटाने का उपाय कहती है कि उनकी जानकीजी उन्हें सौंप दो। 'सौंपि' से जनाया कि वे उन्हीं की शक्ति हैं, तुम्हारी नहीं हैं। अतः, उन्हें ही समर्पण करो; यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरहि श्रीसागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥" (बा० दो० ३२१) इस तरह तुम्हें भी कीर्त्ति प्राप्त होगी, यह भाव 'जानकी' शब्द में है। 'नाइ कमल-पद माथ'—प्रणाम-मात्र से वे तुम्हारे अब तक के सब अपराध क्षमा करेंगे, यथा—"भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (वि० १३५); तथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८); "मंगल मूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै।" (गी० सुं० ४०)।

(३) 'सुत कहँ राज समर्पि···'—तुम्हारा चौथापन आ गया, अतएव यही उचित है; यथा—"संत कहहि असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन। तासु भजन कीजिय तहँ भर्ता।" यह आगे कहा ही है। घर में रहते हुए विषयों से वैराग्य नहीं होता और बिना वैराग्य के भजन नहीं होता; यथा—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु॥" (बा० दो० १४२); *"राम प्रेम पथ पेखिये, दिये बिषय तनु पीठि। तुलसी केंचुलि परिहरे, होति साँपहू डीठि॥"* (दोहावली ७२); पुत्र अपना ही प्रतिरूप है, उसे राज्य देकर राज्य की ममता छोड़ो और वन जाकर कुटुम्ब की ममता छोड़ो। राज्य को पुत्र चलावेगा, तब प्रजा की भी चिंता तुम्हें नहीं रहेगी। 'भजिय रघुनाथ' अर्थात सगुण रूप का भजन करो।

नाथ दीन - दयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई॥१॥
चाहिय करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर-असुर-चराचर जीते॥२॥
संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥३॥

शब्दार्थ—सनमुख गये = शरण हुए, देखिये—"सनमुख होइ जीव···" (सुं० दो० ४४); करि बीते = कर चुके। पन = अवस्था।

अर्थ—हे नाथ ! श्रीरघुनाथजी दीनदयालु हैं, बाघ भी शरण होने (की मुद्रा से लंबा पड़ जाने) पर नहीं खाता। (वह तो स्वतः मरे हुए का माँस नहीं खाता, उसे छोड़ देता है, जानता है कि मरा हुआ है, पर कवियों के द्वारा शरण का यह भाव ग्रहण किया जाता है,) ॥१॥ जो कुछ भी करना चाहिये था; वह सब तुम कर चुके (अर्थात् यहाँ अब तुम्हारे लिये और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, जिसके लिये भजन न कर सको,) तुमने सुर-असुर एवं चराचर-मात्र को जीत लिया ॥२॥ हे दशानन ! संत ऐसी नीति कहते हैं कि राजा चौथेपन में वन को जाय ॥३॥

विशेष—(१) 'नाथ दीन दयाल···'—यदि वह कहे कि मैं तो उनसे विरोध कर ही चुका और वे मेरे नाश की प्रतिज्ञा एवं श्रीविभीषणजी को तिलक भी कर चुके, तो कैसे क्षमा करेंगे ? उसीपर कहती है कि वे रघुराई दीनदयालु हैं ; यथा—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहिं कारन सकल उपाधी ॥ तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥ अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (अ० दो० १८२) ; इसे रानी स्वयं दृष्टान्त से पुष्ट करती है।

'बाघउ सनमुख गये···'—कोई-कोई यहाँ बाघ का सिंह अर्थ करते हैं, सिंह, केसरी उसे कहते हैं, जिसकी गर्दन पर बड़े-बड़े बाल होते हैं, उसे शेरबबर भी कहते हैं यहाँ पर बाघ (सं० व्याघ्र) कहा गया है। यह नव हाथ तक लंबा होता है। नैपाल-राज्य मिथिला देश के पँड़ौल ग्राम में एक बार जमीन का सरकारी बंदोबस्त हो रहा था। लोगों ने दिन में पास में ही एक भारी बाँस की आड़ में छिपे हुए दो बड़े-बड़े बाघों को देखा। शीघ्र ही उन्होंने बन्दूकवाले राज्य-कर्मचारियों से आकर कहा। उन्होंने आधे फर्लांग की दूरी से उनपर गोलियाँ चलाईं, पर बाँसों के कारण निशाना चूक गया। निदान दोनों बाघ उधर को ही वेग से टूट पड़े। वहाँ कुल ४–५ राज्य-कर्मचारी और करीब २५ मजदूर वगैरह थे। उनमें कुछ भागकर बच गये। दो, तीन मरे और छः-सात घायल हुए, परन्तु एक कुली मारे डर के घबड़ाकर चार अंगुल गहरी नाली में लंबा गिर पड़ा। बाघों ने औरों को झपट-झपटकर मार डाला। पीछे एक आकर इसकी पीठ पर अपने अगले पाँव (हलके से) रखकर खड़ा हो, हाँफने लगा। फिर दोनों जंगल की ओर (जो वहाँ से ५ मील दूर था) भाग गये। उस पड़े हुए मजदूर को एक नख भी नहीं गड़ा और न उसपर कुछ दबाव ही पड़ा। उसीने मुझसे कहा और वहाँ के रईसों ने भी कहा कि हमलोगों ने भी इसे प्रत्यक्ष देखा है।

जंगली वीर पशुओं के इस प्राकृतिक नियम से कवियों ने ये गुण ग्रहण किये हैं, जैसे चातक के विषय में श्रीगोस्वामीजी ने ३६ दोहे लिखे हैं।

(२) 'तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।'—सुरों में श्रेष्ठ इन्द्र को जीत ही लिया, सभी दिक्पालों को भी जीता। श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी भी आपके यहाँ नित्य हाजिरी बजाते हैं। असुरों में विद्युज्जिह्व को मारा, शेष ने आपको अपना स्वामी ही बनाया है। अचर में कैलास तक को उठा लिया। चर प्राणि-मात्र को वश में कर लिया ; यथा—"ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्त्ती नर नारी ॥" (बा० दो० १८१) ; ऐश्वर्य का भोग भी ऐसा किसी ने नहीं किया होगा ; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (दो० १२) ; एक ही इन्द्र भोग-विलास में बहुत माना जाता है ; यथा—"सक्र कोटि सत सरिस बिलासा।" (उ० दो० ९०) ; आपने तो सैकड़ों इन्द्रों के समान भोग भोगा है। अब आपको केवल परमार्थ बनाना ही शेष रह गया है। यही आगे कहती है—

(३) 'संत कहहिं असि नीति'''—संत=सत्पुरुष, जैसे कि मनु, पुलस्त्य, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य आदि। नीति ; यथा—"गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥" (मनुस्मृति) ; अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि सिर के बाल पक गये और बेटे (बेटी) के भी बच्चे हो गये, तब वह वन में रहकर हरि-भजन करे। 'संत कहहिं' का भाव यह है कि मैं अपने से यह बनाकर नहीं कहती हूँ।

तासु भजन कीजिय तहँ भरता। जो करता पालक संहरता॥४॥
सोइ रघुबीर प्रनत-अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी॥५॥

शब्दार्थ—भरता (भर्त्ता) = स्वामी, पति। करता (कर्त्ता) = उत्पन्न करनेवाला।

अर्थ—हे स्वामिन्! वहाँ (वन में जाकर) उनका भजन कीजिये, जो जगत् के उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले हैं॥४॥ हे नाथ! सब ममत्व छोड़कर उन्हीं (कर्त्ता, पालक, संहर्त्ता एवं) शरणागत पर प्रेम करनेवाले रघुवीर का भजन कीजिये॥५॥

विशेष—(१) 'करता पालक संहरता'—श्रीरामजी ही तीनों कार्य करते हैं ; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥" (सुं॰ दो॰ २०) ; तथा—"विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥ विष्णु कोटि-सम पालन कर्त्ता। रुद्र कोटि सत सम संघर्त्ता॥" (उ॰ दो॰ ९१) ; जिससे ये तीनों कार्य होते हों, वही संसार का स्वामी एवं उपास्य है। जिस तरह खेत को जो बोता, सींचता एवं रक्षा करता है और जो उस अन्न को काटकर अपने घर ले जाता है, वही उसका स्वामी होता है, खेत का अन्न उसीका भोग्य है। उसी तरह संसार श्रीरामजी का ही भोग्य है-शेष है और श्रीरामजी ही जगत् के भोक्ता है। अतः, जगत् को उनके लिये ही रहना चाहिये। अतः, पदार्थों से एवं शरीर से जीव उनके लिये रहे ; अर्थात् नेत्रों से उनके दर्शन, हाथों से कैंकर्य, पगों से प्रदक्षिणा आदि रीति से उनमें ही लगा रहे। पदार्थों को उनकी सेवा में लगावे, यही भक्ति है। इसीसे श्रीरामजी के द्वारा तीनों कार्य कहकर मंदोदरी ने भजन करने को कहा है। ऐसा ही श्रुतियाँ भी कहती हैं ; यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयंत्यभिसंविशंति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्त॰ ३।१)। यह ब्रह्म का असाधारण लक्षण कहा गया है, फिर इसीको उपास्य भी कहा गया है। यथा—"तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छांदो॰ ३।१४।१) ; अर्थात् उसीसे जगत् उत्पन्न होता है और उसीमें लय होता है, उसीमें चेष्टा करता है, इसलिये शान्त होकर (उसकी) उपासना करे। राम-नामार्थ से भी ये तीनों कार्य श्रीरामजी के द्वारा होना लिखा गया है, देखिये बा॰ दो॰ १८ चौ॰ २)।

ब्रह्मा आदि देवता एक ही कार्य में नियुक्त हैं, क्योंकि परतंत्र हैं। दूसरे कार्य में उनका अधिकार कुछ भी नहीं है, इसी से वे स्वतंत्र-रूप से उपास्य नहीं हो सकते।

(२) 'सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी।'—ऊपर प्रभु का ऐश्वर्य कहा गया, यहाँ मन्दोदरी उनमें सौलभ्य गुण भी कहती हैं कि वे इतने बड़े होते हुए भी शरणागतों पर अनुराग रखते हैं ; यथा—"प्रनतपाल रघुवंस मनि,'''गये सरन प्रभु राखिहहिं, तव अपराध बिसारि॥" (सुं॰ दो॰ २२)—यह श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है। तथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। विस्व द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥" (सु॰ दो॰ ३८) ;—यह श्रीविभीषणजी ने कहा है।

'ममता सब त्यागी'—सब की ममता त्यागकर; यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी।" (सुं॰ दो॰ ४७); इन जननी आदि रूपों से श्रीरामजी ने ही हित किया है; यथा—"जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचानि।" (वि॰ १६०); "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।" (गीता ९।१७)। यह जानकर श्रीरामजी की ही भक्ति करनी चाहिये; यथा—"येहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि यक ठाईं॥" (वि॰ १०१)।

अतः, संसार के लोगों एवं पदार्थों की ममता छोड़कर श्रीरामजी का भजन करना चाहिये; यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सब की ममता तजि कै समता सजि संत सभा न बिराजहि रे।" (क॰ उ॰ ३०); इससे जीव श्रीरामजी का प्रिय होता है, श्रीरामजी उसके हृदय में बसते हैं और फिर कभी भी उसका त्याग नहीं करते; यथा—"अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥" (सुं॰ दो॰ ४७); "जाति पाँति धन धर्म बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥ सब तजि तुम्हहि रहै लौ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥" (अ॰ दो॰ १३०); "ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥" (भाग॰ ९।४।६५); मन्दोदरी आगे इसके उदाहरण भी देती है—

मुनिबर जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी॥६॥
सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया॥७॥

अर्थ—जिनके लिये बड़े-बड़े मुनि यत्न करते हैं और राजा लोग राज्य छोड़कर वैरागी हो जाते हैं॥६॥ वही कोशलराज के स्वामी श्रीरघुनाथजी तुमपर दया करने आये हैं॥७॥

विशेष—'मुनिबर जतन करहिं...'—'मुनिवर'—शरभंग, वाल्मीकि, अगस्त्य आदि इन्हीं प्रभु के लिये यत्न (साधन) किया करते हैं (सामान्य मुनियों की कौन बात?) जिनसे तुम भी डरते हो तब तुम्हें भी उन्हीं का भजन करना चाहिये। जतन; यथा—"जनम जनम मुनि जतन कराहीं।" (कि॰ दो॰ ९); यत्न करने पर भी उनकी प्राप्ति दुर्लभ ही है; यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं" (कि॰ दो॰ १०)।

'भूप राज तजि होहिं बिरागी।'—मनु और सत्यकेतु आदि राजाओं ने भी यही किया है; यथा—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।...बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥" (बा॰ दो॰ १४१);—मनु। "जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि हित आप गवन बन कीन्हा॥" (बा॰ दो॰ १५२)—सत्यकेतु। तुम भी राजा हो, अतः वैसा ही करो।

(२) 'सोइ कोसलाधीस रघुराया...'—जिनके लिये मुनिवर और वैराग्यवान् राजा लोग उपाय करते हैं, वे ही प्रभु कोशलाधीश के रूप में प्रकट हुए हैं। 'आयउ करन तोहि पर दाया।'—जो मुनियों को साधनों से भी ध्यान में दुर्लभ है, वे ही प्रभु तुम्हें कृतार्थ करने को घर बैठे साक्षात् दर्शन देने आये हैं। अतः, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं; यथा—"मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि अस प्रभु बनिहिं बनावा॥" (कि॰ दो॰ ९); 'कोसलाधीस' का भाव यह है कि वे तुम्हारा लंका का राज्य लेने को नहीं आये हैं, क्योंकि वे कोशल के राजा हैं। केवल तुमपर दया करने के लिये ही आये हैं।

यदि रावण हठ छोड़ने में अपनी निन्दा समझता हो, तो उस पर कहती है—

जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजस होइ तिहुँ पुर अतिपावन ॥८॥

दोहा—अस कहि नयन नीर भरि, गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात ॥७॥

अर्थ—हे प्राणप्रिय! जो तुम मेरा कहा मानो तो तुम्हारा तीनों लोकों में अत्यन्त पवित्र सुंदर यश होगा ॥८॥ ऐसा कहकर नेत्रों में जल भर पति के चरण पकड़ लिये, उसका सारा शरीर काँपने लगा। (वह कहने लगी) हे नाथ! श्रीरघुनाथजी को भजो, जिससे मेरा सोहाग (सौभाग्य, सधवापन) अचल हो जाय ॥७॥

विशेष—(१) 'जौं पिय मानहु···'—'जौं' शब्द से मन्दोदरी संदेह प्रकट करती है। रावण की चेष्टा से यह समझ रही है कि यह मेरा उपदेश नहीं मानेगा। 'सुजस होइ तिहुँ पुर'—भाव यह है कि प्रभु से मिलने पर वे तुमपर कृपा करेंगे; यथा—"मिलत कृपा प्रभु तुम्ह पर करिही। उर अपराध न एकउ धरिही ॥" (सुं० दो० ५६); प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसका सुयश तीनों लोकों में फैल जाता है; यथा—"जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम्ह दाया॥ ताहि सदा सुभ...सोइ विजई बिनई गुनसागर। तासु सुजस तिहुँ लोक उजागर॥" (सुं० दो० २६); 'अति पावन'—भाव यह कि उसे सुनकर और लोग तरेंगे, यथा—"जाको हरि दृढ करि अंग करेउ। सोइ सुसील पुनीत...उत्पति पाँडुसुतनि की करनी सुनि सतपंथ डरेउ। ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोक तरेउ।" (वि० २३६); सब लोग कहेंगे कि रावण ने अपने प्रबल प्रताप से तीनों लोक-विजय करके राज्य किया और अंत में उसने प्रभु को अवतरित हुआ जानकर उनका शरणागत होकर अपना परलोक भी बना लिया, अतएव वह बड़ा ज्ञाता था, इत्यादि रीति से लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे।

'अस कहि नयन नीर भरि...'—'असकहि'—पूर्व वचनों के साथ है और दोहे के उत्तरार्द्ध के साथ भी। मन्दोदरी इसलिये अधीर हो रही है कि यह नहीं मानेगा और मैं विधवा होऊँगी। इसीसे आँखों में आँसू भरे, पति के पैर पकड़े हुई काँप रही है; यथा—"कँप पुलक तन नैन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥" (अ० दो० ६६)—यह श्रीलक्ष्मणजी की अधीर दशा है।

इस तरह से दीन दशा ज्ञापन कर पतिदेव को प्रसन्न कर रही है कि आप श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिये। जिससे मेरा अहिवात अचल होजाय, क्योंकि भगवान् के भक्तों का नाश नहीं होता, यथा—"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गी० ९ ३१), श्रीहनुमानजी ने भी कहा है; यथा—"राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥" (सुं० दो० २२)।

इन वचनों में यह भाव भी गर्भित है कि श्रीरामजी से वैर करने पर मेरा अहिवात नहीं रह सकता; यथा—"सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी। संकर सहस विष्णु अज तोही। राखि न सकहिं राम कर द्रोही॥" (सुं० दो० २२); मंदोदरी इसे श्रीहनुमान्जी से सुन चुकी है।

तब रावन मयसुता उठाई। कहइ लाग खल निज प्रभुताई ॥१॥
सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना ॥२॥

बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥३॥
देव दनुज नर सब बस मोरे। कवन हेतु उपजा भय तोरे ॥४॥

अर्थ—तब मय दानव की कन्या मंदोदरी को उठाकर दुष्ट रावण अपनी प्रभुता (महिमा) कहने लगा ॥१॥ हे प्रिये ! सुनो, तुमने व्यर्थ ही डर मान रक्खा है (कहो तो सही-) संसार भर में मेरे समान योद्धा कौन है ? ।२॥ वरुण, कुबेर, पवन, यमराज, काल आदि सभी दिक्पालों को मैंने अपनी भुजाओं के बल से जीत लिया ॥३॥ देवता, दैत्य, मनुष्य सभी मेरे अधीन हैं, तब तुझे किस कारण डर पैदा हो गया ? ॥४॥

विशेष—(१) 'तब रावन मयसुता···'—'रावन' अर्थात् यह जगत-भर को रुलानेवाला है, यहाँ मंदोदरी को भी रुलावेगा, मानेगा नहीं। 'मय सुता' —जैसे मय-दानव नीति-कुशल था, वैसे ही यह भी नीति जानती है। अतः, इसने वही नीति कही है; यथा—"मय तनया कहि नीति बुझावा।" (सुं० दो० १), पुनः रावण पर मय का बड़ा उपकार है, उसने इसे यह कन्या-रत्न और साथ ही एक अमोघ शक्ति भी दी है—वाल्मी० ७ १२ १८–२२ में लिखा है। अतः, संकोच से मंदोदरी का आदर कर रहा है, नहीं तो ऐसी ही बातों पर तो इसने श्रीविभीषणजी को लात मारकर निकाल दिया।

(२) 'कहइ लाग खल···'—अपने मुँह से अपनी बड़ाई कहता है, इसीसे निरादर के लिये वक्ता लोग उसे 'खल' कहते हैं; यथा—"इन्द्रोपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।" तथा—"अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥" (बा० दो० २७१)।

(३) 'वृथा भय माना'—तुमने अपने-आप डर की कल्पना कर ली है, नहीं तो तुम्हीं कहो कि जगत् में मेरे समान प्रतापी कौन है ? (यह मंदोदरी के—"तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहिं जैसा ॥" का उत्तर है)। आगे रावण इसे विस्तार से कहता है कि जब दिक्पाल आदि सब मेरे वश में हैं, तब एक असहाय तपस्वी-मनुष्य-मात्र से मुझे क्या डर है ? (रावण का कहना ठीक भी है, जगत् में तो इसके तुल्य कोई नहीं था, परन्तु श्रीरामजी तो इस जगत् से परे हैं)।

(४) 'बरुन कुबेर पवन···'—'भुजबल जितेउँ' भाव यह है कि इन्हें लोग मंत्र से भी वश में करते हैं। परन्तु मैंने तो अपनी भुजाओं के बल से इन्हें जीता है, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्व।" (बा० दो० १५१)। "भुज बल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र। (बा० दो० १८२) 'सकल दिगपाला'; यथा—"रबि ससि पवन बरुन धन धारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥··· राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (बा० दो० १८२); 'देव दनुज नर' से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्यलोक के विषय में कहा गया है।

शंका—रावण ने काल को भी जीता था, तो पीछे उसकी मृत्यु क्यों हुई ?

समाधान—रावण ने सब दिक्पालों में काल को भी जीता था; यथा "भुजबल जितेहु काल जम साँई।" (लं० दो० १०१)। परन्तु प्रभु तो काल के भी काल हैं; यथा—"भुवनेश्वर कालहुँ कर काला।" (सुं० दो० ३८); अतः, वरदान के कारण वह उन्हीं के हाथों से मरेगा।

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभा बहोरि बैठ सो जाई ॥५॥

मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना ॥६॥
सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सें जूझा ॥७॥

अर्थ—अनेक प्रकार से उसने समझाकर कहा, फिर वह जाकर सभा में बैठ गया ॥५॥ मंदोदरी ने हृदय में ऐसा जान लिया कि काल के वश होने से पति को अभिमान उत्पन्न हो गया है ॥६॥ सभा में आकर उसने मंत्रियों से पूछा कि किस प्रकार शत्रु से युद्ध करना होगा ? (युद्ध का निश्चय तो है ही, वह किस प्रकार किया जाय—किलेबंदी करके अथवा व्यूह-रचना करके इत्यादि, जिसमें सीता नहीं देनी पड़े और शत्रु का नाश हो, वही उपाय सोचो) ॥७॥

विशेष—(१) 'सभा बहोरि बैठ सो जाई।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी।" (दो० ५); है। 'बहोरि'—का भाव यह है कि सभा से लज्जित होकर घर चला गया था, परन्तु वहाँ भी विश्राम नहीं मिला। अपनी ही स्त्री ने वाग्बाणों की वर्षा की। अतः, वहाँ अपनी दाल गलती न देख फिर सभा में चला आया, सत्य है—"राम-बिमुख थल नरक न लहहीं।" (अ० दो० २५१)।

(२) 'करब कवनि बिधि रिपु···'—रावण यहाँ साम, दाम, भेद आदि की सम्मति नहीं लेता, क्योंकि साम आदि पर तो यह चिढ़ता ही है। इसने युद्ध का निश्चय कर ही लिया है। इसीलिये युद्ध का ही विधान पूछता है ; यथा—"अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मंत्रः सुनीतं चाभिधीयताम् ॥" (वाल्मी० ६।१२।१५); अर्थात् आप लोग ऐसा सुन्दर निश्चित उपाय बतलायें कि मुझे सीताजी को नहीं देना पड़े और दशरथ के दोनों पुत्र मारे जायँ। रावण हृदय से घबड़ाया हुआ है, इसीसे मंत्रियों से मंत्र पूछता है। साथ ही यह भी दिखाता है कि राजा को मंत्रियों की सम्मति से कार्य करना चाहिये। यह अपने मत के अनुसार ही सभी बातें सुनना चाहता है, तद्विरुद्ध चिढ़ता है।

कहहिं सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार-बार प्रभु पूछहु काहा ॥८॥
कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर-कपि-भालु अहार हमारा ॥९॥

दोहा—सब के बचन श्रवन सुनि, कह प्रहस्त कर जोरि।
नीति-बिरोध न करिय प्रभु, मंत्रिन्ह मति अति थोरि ॥८॥

अर्थ—यह सुनकर मंत्री बोले कि हे राक्षसराज ! सुनिये, आप बार-बार क्या पूछते हैं ? ॥८॥ कहिये तो क्या भय है जिसके लिये विचार किया जाय ? मनुष्य और वानर-भालु तो हमारे अहार (भक्ष्य) ही हैं ॥९॥ सबके वचन कानों से सुनकर प्रहस्त हाथ जोड़कर कहने लगा कि हे प्रभो ! नीति के विरुद्ध न कीजिये, मंत्रियों में अत्यन्त थोड़ी बुद्धि है (भाव यह कि ये मंत्र देने के योग्य नहीं हैं) ॥८॥

विशेष—(१) 'कहहिं सचिव सुनु···'—मंत्री लोग भय के मारे ठकुरसोहाती कहते हैं, क्योंकि देख चुके हैं कि नीति-युक्त मत कहने पर इसने परम पूज्य नाना का और परम प्रिय छोटे भाई का भी अपमान किया और उन्हें निकाल दिया, तब दूसरों की यह क्या सुनेगा ? श्रीगोस्वामीजी ने पहले ही सुं० दो० ३७ पर इसका समाधान किया है कि इसके राज्य का शीघ्र ही नाश होनेवाला है, इसीसे मंत्री लोग भय से

उसकी ही प्रिय बातें कहते हैं। 'निसिचर नाहा'—का भाव यह है कि आपके यहाँ ऐसे-ऐसे निशाचर हैं जो कि अकेले ही जगत्-भर को जीत सकते हैं; यथा—"कुमुख अकंपन कुलिस रद, धूम केतु अतिकाय। एक-एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (ब० दो० १८०); पुनः आप हम सब निशाचरों के नाथ हैं, इसलिये हमारे भले के लिये ही आप का विचार रहता है। इस समय यह वानरों की सेना मानों हमारे भोजन के लिये ही आ रही हैं; यथा—"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥" (दो० ३६); अतः, चुप ही रहिये, उन्हें आने दीजिये। 'प्रभु' का भाव यह कि आप स्वयं समर्थ हैं, कुछ हमलोगों के ही भरोसे नहीं हैं; यथा—"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (बा० दो० १८२); 'बार-बार प्रभु पूछहु काहा'—भाव यह कि एक बार तो (सुं० दो० ३९ में) आपने पूछा था, तब भी हमलोगों ने जो उत्तर दिया था, वही उत्तर यहाँ भी है कि सुरासुर जीतने में हमें श्रम हुआ ही नहीं, तो भला नर-वानर किस गिनती में हैं?

(२) 'कहहु कवन भय···'—सुरासुर से भय की संभावना थी, उसमें तो विचार की आवश्यकता ही नहीं हुई, तो नर-वानर के आने पर क्या भय है? वे आते जायँगे और हम लोग उन्हें खाते जायँगे, बस।

(३) 'सबके बचन श्रवन सुनि···'—'कर जोरि'—सभा में बड़ों के समक्ष नीति-शिक्षा कहनी है, इसलिये हाथ जोड़ता है, यह शिष्टाचार है और ढिठाई क्षमा के लिये भी; क्योंकि लड़का है और पिता को समझाता है।

(४) 'नीति बिरोध न करिय···'—श्रीरामजी का एक दूत आया, जिसे कोई नहीं जीत सका, तो उन सबसे कैसे जीतेंगे? फिर वे समुद्र बाँधकर चढ़ आये, हमारे युद्ध मैदान (सुवेल) पर आ टिके हैं। अतएव वे प्रबल हैं, हमे उनसे मेल कर लेना चाहिये, यह नीति है। किंतु मंत्री लोग विरोध करने की ही सलाह दे रहे हैं, अतएव उनकी मति अत्यन्त थोड़ी है, सत्य है—"लोचन सहस न सूझ सुमेरू।" इतनी स्पष्ट बात भी इन्हें नहीं सूझती, अतएव इनकी मति अत्यन्त तुच्छ है।

मंत्री अत्यन्त बुद्धिमान् होना चाहिये; यथा—"नृप हित कारक सचिव सयाना। नाम धरम रुचि सुक्र समाना॥···नृप हित हेतु सिखव नित नीती॥" (बा० दो० १५३–१५४); वैसे ही यहाँ माल्यवान् हैं; यथा—"माल्यवंत अति सचिव सयाना।···" (सुं० दो० ३९); भाव यह कि ऐसे मंत्रियों से सलाह लेनी चाहिये।

आगे रावण के मंत्रियों की बुद्धि-हीनता को प्रकट करता है—

कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव येहि भाँती॥१॥
बारिधि नाँघि एक कपि आवा। तासु चरित मन महँ सब गावा॥२॥
छुधा न रही तुम्हहि तब काहू। जारत नगर न कस धरि खाहू॥३॥

शब्दार्थ—ठकुर सोहाती = लल्लो-चप्पो, खुशामद, चाटु, चापलूसी। पूर आव = पूरा पड़ना, कार्य सम्पन्न होना। चरित = करनी, लीला।

अर्थ—सब मंत्री मुँह-देखी (चाटु) बात कह रहे हैं, हे नाथ! इस प्रकार (की चाटु बातों-मात्र से) कार्य सम्पन्न न होगा॥१॥ एक वानर समुद्र लाँघकर आया, सब कोई उसके चरित मन-ही-मन गाया

(सराहा) करते हैं ॥२॥ (सभा के समक्ष रख करके बोला—) *तुममें से किसीको भी तब भूख नहीं थी ? नगर जलाते समय उसे पकड़कर क्यों नहीं खा लिया ?* ॥३॥

विशेष—'कहहिं सचिव सब ···'—'ठकुर सोहाती'—चाटु कहनेवाले बुद्धि-हीन हैं, ऐसा कहकर ठाकुर (रावण) को भी तुच्छ-बुद्धि जनाया, क्योंकि इसीका अभीष्ट वैसा जानकर डर के मारे मन्त्री भी हाँ में हाँ मिलाते हैं। 'न पूर आव' ; यथा—"जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥" (आ॰ दो॰ २४), न पूरा पड़ने को आगे कहता है—

(२) 'बारिधि नांघि एक···'—एक ही वानर आया, तब तो युद्ध कर ही न सके और जब वैसे असंख्य वानरों की सेना और फिर उनके स्वामी भी आकर युद्ध करेंगे, तब कोई क्या करेगा ? उस अकेले के कर्म को सब घर-घर में सराहते हैं ; यथा—"समुझि तुलसीस कपि कर्म घर-घर घैरु *बिकल सुनि सकल* पाथोधि बाँध्यो। बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो॥" (क॰ ल॰ ४)। 'कपि' शब्द छोटा सा देकर जनाया कि एक छोटा-सा वानर आया ; यथा—"जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥" (सुं॰ दो॰ ५९) ; 'तासु चरित मन ···'—'सब' शब्द दीप-देहली-रूप से 'चरित' और 'गावा' दोनों के साथ है। सब चरित—समुद्र-लाँघना, अशोक-वन उजाड़ना, चौथाई सेना मारना, *अक्षय कुमार-वध एव लंक-दहन आदि और उसकी निर्भीकता एव* उसके दण्ड देने मे रावण की असमर्थता। 'सब गावा' ; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥ निज-निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥" (सु॰ दो॰ ३५)। पुन सब मन मे ही गाते हैं, डर के मारे आपके सामने प्रकट नहीं करते, इससे ये धूर्त भी हैं। अत, *विश्वास के योग्य नहीं।*

(३) *'छुधा न रही तुम्हहि ·'*—यह मन्त्रियों से कहते हुए रावण के प्रति भी कटाक्ष है कि आप और आपके वीर-समूह ने उसे क्यों नहीं खा लिया ? 'जारत नगर'—जनाया कि उसने सबके सामने ललकारकर एव गरज-गरजकर नगर जलाया, तब उसे क्यों न पकड़कर खा लिया कि नगर बच जाता। यह—"कहहु कौन भय ··नर कपि भालु अहार हमारा॥" का उत्तर है। औरों ने भी कहा है—"जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा॥" (दो॰ ३५) ;—मंदोदरी-वचन। "देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा।···" (दो॰ ५५) ;—कालनेमि-वचन।

भाव यह कि उस अकेले को न खा सके, तो औरों के साथ उसे कैसे खाओगे ?

सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥४॥
जेहि बारीस बँधायेउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला॥५॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥६॥

शब्दार्थ—हेला खेल-पूर्वक। भनु (भणन = कथन) = कहते हो। गाल फुलाना = अभिमान-सूचक आकृति बनाना, गाल फुलाकर बचन कहना, डींग मारना, शेखी बघारना।

अर्थ—इन मन्त्रियों ने प्रभु (आप) को यह मंत्र सुनाया है कि जो सुनने मे अच्छा लगता है, पर उससे आगे दुःख प्राप्त होगा॥४॥ जिसने खेल-पूर्वक समुद्र बँधा लिया और जो सेना-समेत सुबेल पर्वत पर आ उतरा॥५॥ उसे मनुष्य कहते हो, हे भाइयो ! हम उसे खा जायँगे ? आप सब मंत्री लोग गाल फुला-फुलाकर डींग हाँकते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'सुनत नीक आगे···'—यहाँ तक वानरों को अहार कहने का खंडन किया, आगे 'नर' के प्रति कहता है।

(२) 'जेहि वारीस बँधायेउ···'—समुद्र बाँधना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर का कार्य है। इससे रावण एवं उसकी सभा-भर को आश्चर्य हुआ है; यथा—"दसमुख बोलि उठा अकुलाना।" पर कहा गया। 'सो मनु मनुज' अर्थात् तुम सच कहते हो, पर वे मनुष्य नहीं है। 'सुबेला'—यह रावण का युद्ध-मैदान है, वहाँ आकर पहले ही उतरे अर्थात् अपना अधिकार उसपर जमा लिया।

तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर ॥७॥
प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर-निकाय जग अहहीं ॥८॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥९॥
प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती ॥१०॥

दोहा—नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढ़ाइय रारि।
नाहि त सनमुख समर महि, तात करिय हठि मारि ॥९॥

अर्थ—हे तात! मेरे वचन अत्यन्त आदर से सुनिये। मुझे मन मे कादर एवं डरपोक न समझिये ॥७। संसार मे ऐसे मनुष्य बहुत हैं, जो प्रिय वाणी (चाटु वचन) सुनते हैं और जो कहते हैं ॥८॥ (किन्तु) हे प्रभो! सुनने मे कठोर, पर (परिणाम मे) परम हितकारी वचन जो सुनते हैं और जो कहते हैं—वे मनुष्य बहुत थोड़े हैं ॥९। नीति सुनिये, पहले दूत भेजिये, सीताजी को देकर फिर मेल कर लीजिये ॥१०॥ यदि वे स्त्री पाकर लौट जायँ तो झगड़ा न बढ़ाइये, नहीं तो हे तात! रणभूमि मे हठ-पूर्वक सम्मुख उनसे मार-काट कीजिये ॥९॥

विशेष—(१) 'जनि मन गुनहु···'—कादर के वचन न सुनने चाहिये; यथा—"सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग ताके॥" (सुं० दो० ५५), रावण ने बार-बार विभीषणजी को कादर, भीरु एवं सभीत कहा है। वही वचन यह भी कहेगा, इसलिये पहले सँभाल करता है कि मेरे वचनों की अवहेलना न करिये, किन्तु आदर-पूर्वक सुनिये। यदि आप मेरा मत न भी मानेंगे, तो भी मैं कादर की तरह छोड़कर न भागूँगा, किन्तु आपका साथ दूँगा, शूरता-पूर्वक लड़ूँगा। रावण इसे कादर कहेगा ही, यथा—"बेनु मूल सुत भयेसि घमोई।" इत्यादि। पर यह तो नीति कहता है।

(२) 'प्रिय बानी जे सुनहिं ··बचन परम हित···', यथा—"सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥" (वाल्मी० ६।१६।२१), अर्थात् विभीषणजी ने कहा है कि हे राजन! सदा प्रिय बोलनेवाले पुरुष सुलभ हैं, पर अप्रिय हितकारी वचन कहनेवाले और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं। भाव यह कि मंत्रियों के वचनों के परिणाम मे दुःख है और मेरे वचन का परिणाम परम हितकर है, यद्यपि यह पहले सुनने मे आपके कानों को कठोर लगेगा।

(३) 'प्रथम बसीठ पठव···'—भाव यह कि पहले दूत जाकर अवसर देख शत्रु से संधि की

घात करें। यदि वे स्त्री पाकर लौटने पर प्रस्तुत हों, तो सीताजी को दे दें। फिर आगे के लिये प्रीत्यात्मक संधि कर लें।

आप मिलकर कहें कि आपसे शूर्पणखा की अवज्ञा हुई और मुझसे श्रीसीताजी की। अब परस्पर दोष क्षमा करें और सदा के लिये दोनों सुहृद् हो जायँ, काम पड़ने पर मैं आपकी और आप मेरी सहायता करें।

प्रीति करना साम और सीता देना दान-नीति है।

(४) 'नारि पाइ फिरि···'—यदि अपनी स्त्री पाकर भी वे न लौटने की इच्छा करें तो फिर हठ करके मार कीजिये कि जिससे उन्हें भी सदा स्मरण रहे कि कोई मिला था। दंड-नीति अंतिम उपाय कही गई है, इसलिये इसे अंत में बरतिये।

यह मत जौं मानहु प्रभु मोरा। उभय प्रकार सुजस जग तोरा ॥१॥
सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असिमति सठ केहि तोहि सिखाई ॥२॥
अबहीं ते मन संसय होई। बेनु-मूल सुत भयहु घमोई ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो ! यदि आप मेरी यह सलाह मानें तो दोनों प्रकार से संसार में आपका सुयश ही होगा ॥१॥ दशानन क्रोधित होकर पुत्र से कहने लगा कि अरे शठ ! तुझे ऐसी बुद्धि किसने सिखाई है ॥२॥ अभी से मन में संदेह होने लगा, हे सुत ! तू तो बाँस की जड़ में 'घमोई' उत्पन्न हुआ है ।३॥

विशेष—(१) 'उभय प्रकार···'—साम और दंड दोनों में आपका ही यश होगा, अर्थात् सीताजी को देकर मिलने में सुयश होगा—इस तरह कि पहले शत्रु ने दूत भेजा, उसने विनय की—"मोरे कहे जानकी दीजै।" (सुं० दो० ११), फिर उनके भाई ने संधि का सदेशा भेजा, यथा—"सीता देइ मिलहु ··" (सु० दो० ५२); और शास्त्र-दृष्टि से भी साम-नीति प्रथम है। इससे विचारवान् रावण ने सीताजी को देकर संधि कर ली।

लड़ने में भी सुयश यों होगा कि शत्रुता का कारण सीता-हरण था। श्रीसीताजी के लौटाने पर फिर युद्ध का कोई कारण नहीं रह गया था। पर श्रीरामजी ने नहीं माना, उसका राज्य छीनने पर तुल गये, तब अपने जान-माल की रक्षा के लिये रावण लड़ा, अन्यथा वह क्या करता ? जीते तो अच्छा, श्रीरामजी को ही लोग दोष देंगे कि अपनी सीताजी को पाने पर भी उन्होंने नहीं माना, तो उसका फल पाया कि आप भी गये। यदि आप न भी जीतेंगे, तो भी लोग उन्हीं को दोष देंगे, कि उन्होंने नीति का आदर नहीं किया।

(२) 'अस मति सठ केहि···'—इसने नीति कही और फिर श्रीसीताजी के देने को कहा, इसी पर इसे 'सठ' कहा ; यथा—"सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती।" (सुं० दो० ४०), "रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ।" (सुं० दो० ११) ; रावण का ऐसा स्वभाव ही पड़ गया है। 'केहि तोहि सिखाई'—इसे शंका है कि माल्यवान् एवं श्रीविभीषणजी के पक्षवालों ने सिखाया होगा अथवा इसकी माँ ने अपनी बात सिद्ध करने के लिये सभा में कहलवाया होगा कि यहाँ औरों की लाज से भी कुछ प्रभाव-विशेष पड़ेगा। शठ शब्द सिखानेवाले के लिये भी है कि हमारे कुटुम्ब में ही भेद डालता है, अतएव वह शठ है।

(३) 'अबहीं ते उर संसय होई···'—अभी युद्ध का प्रारंभ भी नहीं हुआ, अभी से ऐसे वचन

कहता है तो लड़ेगा क्या ? तू कादर है। हमारे वंश का स्वभाव तुझमें नहीं है, उसे दृष्टान्त से पुष्ट करता है कि तू बाँस की जड़ में सत्यानाशी (कटीला वा भडभड़ा) पैदा हुआ है। बाँस की जड़ के पास घासों में यह भी होता है। यह बहुत कोमल एवं तुच्छ होता है, छड़ी मार देने से ही कट जाता है। बाँस के कल्ले कठोर एवं दृढ़ होते हैं, पर इसमें बाँस के विपरीत ही बातें होती हैं। यही रावण के कहने का अभिप्राय है कि तू हमारे वंश के अनुकूल गुण-स्वभाव का नहीं है। घमोय का यही अर्थ अन्यत्र भी है; यथा—"बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोय। कहत मन तुलसीस लंका करउँ सघन घमोय ॥" (गी॰ सुं॰ ५)। हिन्दी शब्द-सागर में 'घमोई' का यह भी अर्थ किया गया है—"कटंगी बाँस का एक प्रकार का रोग जिसके पैदा होने से उस बाँस में नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इस बाँस की जड़ में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बढ़ती और नये कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं।" किन्तु उपर्युक्त अर्थ विशेष संगत है।

सुनि पितु-गिरा परुष अति घोरा। चला भवन कहि बचन कठोरा ॥४॥
हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥५॥
संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुज बीसा ॥६॥

अर्थ—पिता की अत्यन्त कड़ी और बुरी वाणी सुनकर वह यह कठोर वचन कहकर घर चला ॥४॥ कि तुम्हें हित की सलाह उसी तरह नहीं लगती, जैसे मरने वाले रोगी को दवा नहीं लगती ॥५॥ संध्या समय जानकर दशानन रावण अपनी बीसो भुजाओं को देखता हुआ घर को चला ॥६॥

विशेष—(१) 'परुष अति घोरा'—'अस मति सठ केहि तोहिं सिखाई' यह परुष है। 'अब हीं ते उर संसय होई।' यह घोर है और 'बेनु मूल सुत भयेहु घमोई।' यह अति परुष एवं अति घोर है। 'चला भवन'—कि जिससे फिर कुछ न कहे। जैसे माल्यवान् को कहा है; यथा—"करिया मुँह करि जाहि अभागे।" तब सुनकर—"सो उठि गयेउ कहत दुर्बादा।" वैसे यह भी कठोर वचन कहते हुए चल दिया। कठोर वचन आगे—'हित मत···' है।

(२) 'हित मत तोहि न लागत···'—दवा का असर करना—लगना कहाता है। काल विवश मनुष्य ओषधि को पीता है, पर वह उसे नहीं लगती। वैसे ही रावण वचनों को सुनता है, पर वे हितकर वचन भी उसके हृदय में असर नहीं करते; यथा—"स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः। उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम् ॥" (वाल्मी॰ ६।१७।१५)।

(३) 'संध्या समय जानि···'—सभा सवेरे से शाम तक हुआ करती है। सवेरे सभा में आया, तब सेतु-बंधन आदि सुना, तब अपनी विकलता सँभालने के लिये घर चल दिया। वहाँ रानी ने भी बहुत-कुछ कहा, तब फिर सभा मे ही आया। अब संध्या समय सभा विसर्जन हुई। तब अखाड़ा देखने जायगा। 'निरखत भुज बीसा'—बीस भुजाओं को बीसों नेत्रों से देखता हुआ चला, इसी से 'दस सीसा' कहा है। अपने भुजबल का इसे बड़ा गर्व है; यथा—"मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा ॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा ॥" (दो॰ २७)। इसी से इनको देखता हुआ चला कि इनके आगे दो भुजावाला शत्रु हमारा क्या कर सकता है ? पुनः यह भी कि मैंने इन भुजाओं के बल पर बैर बढ़ाया है; यथा—"निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा। देइहउँ उतर जो

रिपु चढ़ि आवा ॥" (दो॰ ७१); मुझे दो भुजावाले प्रहस्त की क्या परवाह है ? लोगों को यह भी दिखाता है कि मुझे शत्रु का कुछ भी भय नहीं है। यही दिखाने को नाच के अखाड़े में भी जायगा।

लंका सिखर उपर आगारा। अति बिचित्र तहँ होइ अखारा ॥७॥
बैठ जाइ तेहि मंदिर रावन। लागे किन्नर गुन-गन गावन ॥८॥
बाजहिं ताल पखाउज बीना। नृत्य करहिं अपछरा प्रबीना ॥९॥

दो०—सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।
परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न सोच न त्रास ॥१०॥

शब्दार्थ—अखाड़ा = तमाशा दिखानेवालों और गाने बजानेवालों की मंडली। आगार = भवन, घर। ताल = मंजीरा। पखावज = मृदंग से कुछ छोटा एक बाजा। बीन = एक सितार की तरह का बाजा, इसमें दोनों ओर तुँबे होते हैं, प्रायः इसमें पाँच या सात तार होते हैं; यह प्राचीन एवं उच्चकोटि का बाजा है।

अर्थ—लंका के शिखर के ऊपर एक अत्यन्त विचित्र भवन था, वहाँ बड़ा ही विलक्षण नृत्य-गान हो रहा था ॥७॥ रावण उस मकान में जाकर बैठ गया, किन्नर लोग उसके गुण-गण गाने लगे ॥८॥ ताल, पखावज और वीणा बज रहे हैं, नृत्य में कुशल अप्सरायें नाच रही हैं ॥९॥ सौ इन्द्रों के समान वह (रावण) सदा भोग-विलास करता है। परम प्रबल शत्रु शिर पर है, तो भी उसे न सोच है और न डर ही ॥१०॥

विशेष—(१) 'लंका सिखर उपर···'—लंका में तीन शिखर हैं—सुन्दर, सुवेल और नील। इनमें से नील शिखर पर लंका बसी है, उसी के शिखर पर रावण का राज-प्रासाद है, वहीं पर ऊपर यह अखाड़ा भी लगा हुआ है। वहाँ पर गुणियों के गुणों की पहचान होती है। 'अति बिचित्र'—विचित्र उसके सभी भवन हैं; यथा—"कनक कोट बिचित्र मनिकृत···" (सुं॰ दो॰ २); पर रावण का यह निज भवन अति विचित्र है; यथा—"गयेउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं"(सुं॰ दो॰ ४)।

(२) 'लागे किन्नर गुन गन गावन।'—किन्नर लोग देवताओं की एक जाति हैं, ये गवैये होते हैं। देवता रावण के वश में हैं ही। 'गुन गन'—रावण के दिग्विजय आदि गुणों को सुनाते हैं।

(३) 'अपछरा प्रबीना'; यथा—"रंभादिक सुर नारि नबीना। सकल असम सर कला प्रबीना ॥ करहिं गान बहु तान-तरंगा।···" (बा॰ दो॰ १२५); ये सब इन्द्र के यहाँ की हैं, अब इसी के यहाँ गाती-नाचती हैं, इसी से आगे इन्द्र के भोग-विलास की उपमा दी है।

(४) 'सुनासीर सत···'—सुनासीर शब्द इन्द्र के लिये रूढ़ है, यह मानस-भर में दो ही स्थलों पर आया है—एक यहाँ और दूसरा—"सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा ॥" (बा॰ दो॰ १२४); वहाँ त्रास में और यहाँ निःशंकता में प्रयुक्त हुआ है।

यह पूर्व का भानुप्रताप राजा है, उस जन्म में इसने सहस्र-सहस्र यज्ञ किये थे; यथा—"जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप, किये सहित अनुराग ॥" (बा॰ दो॰ १५५); सौ यज्ञों से इन्द्र-पद प्राप्त होता है। इसे दश हजार यज्ञों के प्रतिफल में १०० इन्द्रों का भोग्य प्राप्त है। सब भोग करके मुक्त होगा। अब इसके विलास का अंत आ गया है, इसी से यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने कहा है।

(५) 'परम प्रबल रिपु सीस पर'—'परम प्रबल' शब्द से बली, महाबली और परम प्रबल, इन तीनों का भाव निकलता है। वानर सब बली हैं; यथा—"सहज सूर कपि भालु सब" (सुं० दो० ५५); श्रीहनुमान्‌जी महाबली हैं; यथा—"है कपि एक महाबल सीला।" (दो० ११); और श्रीरामजी परम प्रबल हैं; यथा—"खर दूपन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल साली॥" (सुं० दो० २०)।

इनकी प्रबलता को रावण खर-दूषण-वध आदि से निश्चय कर चुका है; यथा—"खर दूपन मोसम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥" (आ० दो० ११); मारीच से भी सुना है—"जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥" (आ० दो० २४); तब भी इसे कुछ चिन्ता नहीं है; क्योंकि मोह में फँसे हुए मनुष्य अपने भोग-विलास को अति अधिक मानते हैं और मृत्यु को शिर पर देखकर भी चिन्ता नहीं करते कि अपने उद्धार का यत्न करें। रावण तो महामोह का स्वरूप ही कहा गया है; यथा—"महा मोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं।" (वि० १४१)।

सुवेल पर्वत की झाँकी

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥१॥
सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेखी॥२॥

शब्दार्थ—उतंग = ऊँचा। सुभ्र (शुभ्र) = श्वेत। सम=समतल।

अर्थ—यहाँ रघुवीर श्रीरामजी सुवेल पर्वत पर सेना के साथ अत्यन्त भीड़ सहित उतरे ।१। सुवेल पर्वत पर एक अत्यन्त ऊँचा, परम रमणीय, समतल और बहुत ही उज्ज्वल शिखर देखकर ॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ सुबेल सैल···'—पूर्व—"सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा।" (दो० ४); से प्रसंग छोड़ा था, वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं। 'इहाँ'-शब्द के द्वारा श्रीगोस्वामीजी अपना ममत्व एवं अपनी स्थिति इस पक्ष में सूचित करते हैं। प्रायः वक्ता सर्वत्र अपनी स्थिति श्रीरामजी एवं राम-भक्त के पक्ष में रखते हैं। पर जहाँ रामभक्त का और श्रीरामजी का चरित एक ही समय पर दो जगह होता है, वहाँ भक्त ही के पक्ष में 'इहाँ' लिखते हैं और श्रीरामजी की तरफ के वर्णन में 'उहाँ' लिखते हैं; यथा—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे······" (अ० दो० २२५); तथा—"इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये॥" (अ० दो० १३१)। जब एक ही समय में दोनों जगह के चरित होते हैं, तब दोनों के आगे-पीछे वर्णन करते हुए 'इहाँ' 'उहाँ' के प्रयोग होते हैं। रावण-पक्ष मे भी दोबार 'इहाँ' शब्दके प्रयोग आये हैं। वे भी साभिप्राय हैं; यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाये॥" (दो० ५२)। इस प्रसंग में मेघनाद और श्रीलक्ष्मणजी का द्वंद्व-युद्ध है, मेघनाद की सहायता के लिये रावण ने सेना भेजी है। जिनके साथ मेघनाद ने वैर-भाव की सेवा से श्रीलक्ष्मणजी को बाणोंसे तृप्त किया है और उसी से उसने परम लोक पाया है, यथा—"गतः स परमाँल्लोकाञ्शरैः संतर्प्य लक्ष्मणम्।" (वाल्मी० ६।९२।३) अतः श्रीगोस्वामीजी ने उस पक्ष में भी निजत्व दिखाया है। पुनः—"इहाँ अर्ध निसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥" (दो० ९६) इस प्रसंग मे भी रावण अपने पराक्रम से श्रीरामजी को प्रसन्न करना चाहता था; यथा—"शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः। पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया॥" (वाल्मी० ६।१०४।६)। अर्थात् प्रख्यात पराक्रमी शत्रु को मैं अपने पराक्रम से प्रसन्न करना चाहता था, मैं उससे

दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना ॥६॥
बड़ भागी अंगद हनुमाना। चरन-कमल चापत विधि नाना ॥७॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने कपीश श्रीसुग्रीवजी की गोद में अपना शिर रक्खा है। बाईं ओर धनुष और दाहिनी ओर तर्कश रक्खा हुआ है ॥५॥ (प्रभु) दोनों हस्त-कमलों से बाण सुधार रहे हैं। लंकेश श्रीविभीषणजी कानों से लगकर मंत्र कह रहे हैं ॥६॥ बड़े भाग्यवान् श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी अनेक प्रकार से प्रभु के चरण-कमलों को दबा रहे हैं ॥७॥

विशेष—(१) यह ध्यान इसी क्रम से अर्थात् श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी, श्रीअंगदजी, श्रीहनुमान्‌जी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ और इसी मृगचर्म पर प्रभु का लेटना आदि हनुमन्नाटक में भी कहा गया है, (वहीं देखें)।

श्रीसुग्रीवजी प्रथम के सखा हैं और सेनापति हैं। सीता-प्राप्ति के साधन का सारा भार इनपर है, इसीसे इन्हें कपीश कहा है और इनकी गोद में शिर रक्खा है कि इसकी रक्षा तुम्हारे हाथ है। अधिक सम्मान के लिये इनका नाम पहले दिया गया है। इनके बाद श्रीविभीषणजी का पद है, ये दाहिनी ओर कान के समीप बैठे हैं और उचित मंत्र कहते हैं। शत्रु के समाचार और तदनुसार उचित सलाह का भार इनपर है। ये भी राजा हैं। मंत्र गुप्त रखना चाहिये, इसलिये कान में लगकर कहते हैं, यथा—"श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा॥" (अ० दो० १); कहा भी है—"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ॥" (बा० दो० १६७); इसीसे ग्रंथकार ने भी यहाँ उस मंत्र को प्रकट नहीं किया है।

(२) 'बाम दहिनि दिसि चाप निषंगा।'—यथासंख्यालंकार की रीति से बाईं तरफ धनुष और दाहिनी ओर तर्कश रक्खा हुआ है। बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ से बाण का प्रयोग होता है, इसलिये दोनों वैसे क्रम से रक्खे हुए हैं।

(३) 'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना।'—श्रीलक्ष्मणजी ने यह बाण प्रभु के हाथों में दे दिया है; यथा—"बाणं रक्ष कुलक्ष्णं प्रगुणितमनुजेनार्पितम्।" (हनुमन्नाटक), इस से उपर्युक्त रीति से श्रीलक्ष्मणजी की त्वरा स्पष्ट होती है। 'सुधारत बाना'—बाण का सीधापन नेत्रों के कोनों से देखते हैं, दोनों हाथों से उसे कान के समीप ले जाकर जाँच रहे हैं। एक हाथ से लिये हुए दूसरे से उसकी नोक आदि पोंछ रहे हैं।

(४) 'बड़ भागी अंगद हनुमाना।...'—जो श्रीराम पदानुरागी हैं, वे सातों कांडो में बड़भागी कहे गये हैं, देखिये—"अतिसय बडभागी चरनन्हि लागी" (बा० दो० २१०)। उपर्युक्त रीति से श्रीसुग्रीवजी की बगल में दाहिनी ओर श्रीविभीषणजी कहे गये। उसी क्रम से दाहिने चरण को अंगद और बायें को श्रीहनुमान्‌जी प्रेम की उमंग में अनेक प्रकार से दबा (सेवा कर) रहे हैं। प्रभु ने इन दोनों को चरण सौंपा है। चरणों का काम आगे बढ़ना है, वह इन दोनों के हाथ है, युद्ध में सहयोग देने की इन दोनों ने सेवा की है।

श्रीसुग्रीवजी को शिर देकर और श्रीविभीषणजी को कान देकर अधिकार दिया। इन दोनों को ...ण दिये गये, इसपर लघुता समझी जाती, उसकी पूर्ति में इन्हें बड़भागी कहा गया है कि प्रभु के

समीप में इनका सम्मान कम नहीं है, चरण ही सेवकों का सर्वस्व है। श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी राजा हैं, इससे उन्हें प्रथम कहा, तब युवराज अंगदजी और पीछे मंत्री श्रीहनुमान्‌जी कहे गये— यह भी क्रम है।

सख्य रस का मान

भगवान् के चरित अनेक आशय-गर्भित होते हैं। वे अपने भक्तों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा करते हैं और उन्हें गौरव देते हैं। इस झाँकी में एक रहस्यात्मक भाव भी है कि जब श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीविभीषणजी को शरण में ग्रहण किया, तब श्रीसुग्रीवजी से मंत्र पूछा गया और उन्होंने नीति-दृष्टि से उनके स्वीकार करने में विरोध किया। यह सब उस प्रसंग में कहा गया। उसपर अंत में प्रभु ने कहा; यथा—"जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिषि महँ तेते॥"..."उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपानिकेत।..." (सु० दो० ४३–४४)। इसपर श्रीसुग्रीवजी का कुछ अनुमोदन आदि रीति से बोलना नहीं कहा गया। प्रत्युत तब से अभी तक किसी सलाह में उनका कुछ बोलना नहीं कहा गया। (यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में उसी समय श्रीसुग्रीवजी का अनुमोदन और फिर श्रीविभीषणजी से सलाह पूछना लिखा है, तथापि मानस में नहीं आया है,) इससे पाया गया कि वे मन में उदास हो गये, कि इस दरबार में मेरी क्या गिनती ? श्रीलक्ष्मणजी ही पल मात्र में सब कुछ कर सकते हैं। मेरी बात कुछ क्यों सुनी जायगी ? खैर, मैं तो आज्ञानुसार सेवा करता ही हूँ, इत्यादि। प्रभु कैसी युक्ति से उन्हें प्रसन्न कर रहे हैं, यदि खोल कर कहते, तो श्रीसुग्रीवजी की लघुता पाई जाती। यहाँ प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी को तो पीछे कर दिया और अपने धनुष और तर्कश को दोनों दिशाओं में डाल दिया। फिर अपना शिर श्रीसुग्रीवजी की गोद में रख दिया। भाव यह कि अब यहाँ शत्रु के देश में आये हैं, न तो मुझे श्रीलक्ष्मणजी का भरोसा है और न अपने धनुष-बाण का, किंतु इस शिर की रक्षा तुम्हारे अधीन है।

इसपर श्रीसुग्रीवजी के हर्ष का पारावार न रह गया। यह समझकर कि जिन्होंने हमारे परम प्रबल शत्रु वाली को एक ही बाण से मारा वे हमें इस तरह मनाते हैं, मुझे इतनी बड़ाई देते हैं। (श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में तो श्रीसुग्रीवजी का यहीं से उछलकर रावण पर टूटना और उससे घोर संग्राम (द्वन्द्व युद्ध) करना लिखा है कि मैं ही रावण को मारकर आपके द्रोही का नाश कर दूँ।) इसपर श्रीविभीषणजी ने समझा कि यदि मैं न कुछ कहूँगा, तो प्रभु मुझे भी न मनाने लगें, इससे वे बिना पूछे ही मंत्र कहने लगे और श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी चरण-सेवा से अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान-सरासन॥८॥

दोहा—येहि बिधि कृपा-रूप-गुन-धाम राम आसीन।
धन्य ते नर येहि ध्यान जे, रहत सदा लयलीन॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी कमर में तर्कश कसे और हाथों में धनुष-बाण लिये हुए वीरासन से प्रभु के पीछे विराजमान हैं। ८॥ इस प्रकार कृपा, रूप और गुणों के धाम श्रीरामजी विराजमान् हैं। वे मनुष्य धन्य हैं, जो इस ध्यान में सदा निमग्न रहते हैं॥

युद्ध करने के लिये उत्सुक था, पर तुमने उसके सामने मुझे कापुरुष (कायर, डरपोक) बना दिया। इसलिये यहाँ ग्रंथकार ने इस ओर भी निजत्व दर्शाया है। रण भी श्रीरामजी की क्रीड़ा है।

•'रघुबीरा' श्रीरामजी पराक्रम में वीर हैं, तभी शत्रु के देश में भी निर्भय हैं। 'उतरे सेन सहित'—से सूचित किया कि वह शैल-शृंग बहुत बड़ा था; यथा—"ततो रामः सुवेलाग्रं योजनद्वयमण्डलम्। उपारोहत्ससुग्रीवो हरियूथैः समन्वितः॥" (वाल्मी ६।४०।१); अर्थात् श्रीरामजी दो योजन विस्तारवाले सुवेल पर्वत पर श्रीसुग्रीव एवं अन्य सेनापतियों के साथ चढ़े। इस पर्वत पर से शत्रु के सब देश देख सकते हैं और उनपर निशाना भी लग सकेगा। अतः, इसका दखल करना बुद्धिमानी है। 'अति भीरा' का भाव यह कि छिपकर नहीं दखल किया, किंतु धूमधाम से उतरे, क्योंकि वीर हैं, इसी से 'रघुवीरा' भी कहा गया है। अति भीर शब्द सेतु-बंध पर उतरते समय कहा था; यथा—"सेतु बंध भइ भीर अति..." क्योंकि वहाँ उतरने के लिये सब एकत्र हुए थे। बीच में जहाँ तहाँ फल खाने लगे थे, अब यहाँ फिर एकत्र हुए हैं, इसी से 'अति भीरा' फिर कहा गया है। पूर्व—"सेन सहित उतरे रघुवीरा। कहि न जाइ कपि-जूथप भीरा॥" (दो० ४); कहा गया था, वही प्रसंग लेकर यहाँ भी 'उतरे सेन सहित अति भीरा।' कहा गया है। इस पूर्वापर-प्रसंग मिलान से यह जाना गया कि सुवेल के ऊपर केवल यूथपों की भीड़ है। सेना सुवेल की चारों ओर है।

(२) 'सिखर एक उतंग...'—दूसरी ओर भी ऊँचे शृंग थे, पर यह अति ऊँचा था। इसी के सामने नील कूट पर ऐसेही ऊँचे दूसरे शृंगपर लंका पुरी भी बसी थी; यथा—"अति उतंग जलनिधि चहुँपासा।" (सुं० दो० २), अतः सुवेल के अति उत्तंग शृंग से लंका पुरी को अच्छी तरह देखेंगे। इसलिये भी उसपर चढ़े। तथा—"सुवेलं साधुशैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्। अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम्॥ लंकां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।" (वाल्मी० ६।३८।१-४); महर्षिजी ने भी इसे सुन्दर और सब धातुओं से विभूषित एवं चित्रित कहा है, वही यहाँ भी 'परम रम्य सम...' से कहा गया है। 'सम'—समतल भूमि दो योजन तक है। 'सुभ्र बिसेषी'—श्वेत स्फटिक-मणि का है, इसपर चाँदनी का प्रकाश भी अधिक पड़ेगा। इसपर कुश-कंटक आदि भी नहीं हैं, यह भी शुभ्र शब्द से जनाया है। चित्रकूट और किष्किंधा में भी आपका स्फटिक-शिला पर ही बैठना कहा गया है। देखिये अ० दो० १ और सुं० दो० २८।

तहँ तरु-किसलय-सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥३॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥४॥

अर्थ—उसपर श्रीलक्ष्मणजी ने वृक्षों के नये कोमल पत्ते और सुन्दर फूल अपने हाथों से रचकर बिछाये (अर्थात् नीचे किसलय और ऊपर से पुष्पों की शय्या रची) ॥३॥ फिर उसपर रुचिर कोमल मृगछाला बिछा दी, उसी आसन पर कृपालु श्रीरामजी विराजे ॥४॥

विशेष—(१) 'तहँ तरु-किसलय...'—लंका में पूस-माघ में गर्मी पड़ती है, इसी से ठंढी शय्या बिछाई गई और संध्या-समय चाँदनी देखने बैठे। रामाश्वमेध के अनुसार पौष-पूर्णिमा को सुवेल पर निवास हुआ है, वाल्मी० ६।२८।१३–१४ से भी पूर्णिमा ही सिद्ध होती है, यथा—"ततोऽस्तमगमत्सूर्यः संध्यया प्रतिरञ्जितः। पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तते ॥.. सुवेलपृष्ठे न्यवसद्यथासुखम्॥" यही

श्रीगोस्वामीजी का भी मत है, यथा—"पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।" आगे कहा गया है। पूर्ण चन्द्र संध्याकाल में और पूर्व दिशा में पूर्णिमा को ही उदित होता है।

मानसकारके मत में आज ही सेना उतरी। रावण को खबर मिली, उसकी दो बार सभा हुई और इधर श्रीरामजी सायंकाल सुबेल पर विराजे। क्योंकि बीच में प्रातः एवं संध्या-समय आदि शब्द नहीं आये। 'इहाँ' शब्द की ध्वनि से उधर रावण का संध्या-समय नाच-गान में जाना और इधर श्रीरामजी का सुबेल पर जाना एक ही समय का वर्णन किया गया है।

'लछिमन रचि······'—यह श्रीलक्ष्मणजी की नित्य-सेवा है, इसलिये इसे उन्होंने अपने ही हाथों से रचा। पहले सम किसलय डसाकर ऊपर से बराबर पुष्प बिछाये कि चौरस और गुलगुली हो।

(२) 'तापर रुचिर मृदुल मृग छाला।'—यह रुचिर मृगछाला माया-मृग मारीच की है, क्योंकि वही 'रुचिर' विशेषण यहाँ भी दिया गया है; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।···सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥" (आ॰ दो॰ २६); (इस प्रसंग में यहाँ भी यह लिखा जा चुका है कि यह मृगचर्म माया-मृग का ही है)। श्रीरामजी को 'सत्यसंध' और 'प्रभु' कहकर उसी मृगचर्म को लाने की प्रार्थना की गई थी। तब वह कैसे अन्यथा होती? कहा भी है; यथा—"राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (बा॰ दो॰ १२७); प्रमाण भी है—"हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुलमनि लखन ललित कर लिये मृग छाल।" (गी॰ आ॰ ४)। तथा—"भूसौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्यांगशेषं निधाय।" "विष्टस्ते मातुलस्य त्वचि···" (हनुमन्नाटक); यह भी स्पष्ट है कि मानस में वनवास से अभी तक बराबर कुशासन ही का वर्णन है, इससे दूसरा मृगचर्म साथ रहा हो—इसका कोई प्रमाण नहीं। मारीच-वध के बाद वहाँ पहुँचकर श्रीलक्ष्मणजी ने वह मृगचर्म ले लिया है। फिर जिनके लिये वह मृगचर्म लाया गया था, उन श्रीजानकीजी से वियोग ही रहा। इसलिये यह कहीं बिछाया नहीं गया कि इसे देखकर प्रभु को विरह का उद्दीपन होगा। जैसे कि श्रीजानकीजी के पट-भूषण पाने पर शोक अत्यन्त हो गया था; यथा—"पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।" (कि॰ दो॰ ४); पुनः 'कनकबिंदु' एवं 'सीय साथरी' देखने पर श्रीभरतजी का विरह बढ़ गया था।

जबसे श्रीसीताजी का समाचार मिला और उन्होंने 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।' कहा है। तब से इसका प्रभाव श्रीलक्ष्मणजी के हृदय पर बहुत पड़ा, सेतुबंध प्रसंग पर—'नाथ दैव कर कवन भरोसा।··· कादर मन कहँ एक अधारा।' पर कहा गया कि इन्होंने स्वामी को ही कैसा कठोर वचन कह डाला? क्योंकि वे समुद्र से राह माँगने का बिलंब कर रहे थे। अब यहाँ शत्रु के देश में प्रभु पहुँच गये हैं, इस समय प्रभु रावण की निर्भीकता पर क्रुद्ध भी हैं; यथा—"एवं संमन्त्रयन्नेव सक्रोधो रावणं प्रति। रामः सुवेलमासाद्य चित्रसानुमुपारुहत्॥" (वाल्मी॰ ६।१८।६); अर्थात् ऐसा कहते हुए श्रीरामजी ने रावण पर क्रोध किया, वे सुवेल पर्वत के ऊपर जाकर उसके शिखर पर चढ़े, जो अनेक धातुओं से चित्रित था। बस, प्रभु का क्रोधावेश जानकर सीता-प्राप्ति के साधन में शीघ्रता कराने के लिये श्रीलक्ष्मणजी ने वही मृगचर्म बिछा दिया कि विरह उत्तेजित हो और शीघ्र रावण को मारें। वही प्रभु करेंगे भी अभी ही उसके छत्र, मुकुट आदि काटकर सबको उसके वध की प्रतीति करा देंगे।

'कृपाला'—विशेषण का भाव यह कि समीपवर्त्ती सखाओं पर यहाँ बड़ी कृपा करेंगे। वार्त्तालाप करके मनोरथ जानेंगे, फिर तदनुसार समय पर उनकी सुव्यवस्था करेंगे।

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु पाछे लछिमन···'—पीछे की ओर पहले श्रीसुग्रीवजी हैं, उनसे कुछ और पीछे श्रीलक्ष्मणजी बैठे हुए हैं। वीरासन से रक्षा में सावधान हैं; यथा—"कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन ॥" (अ० दो० ८९);—इसमें के कहे हुए भाव यहाँ भी हैं। यहाँ जितने मुख्य-मुख्य सेवक हैं, उनका ध्यान प्रभु की ओर है और यहाँ पर शत्रु की पुरी है, राक्षस-गण रात में विशेष प्रबल हो जाते हैं, किसी ओर से एवं किसी प्रकार प्रभु पर आक्रमण न करें, इसलिये सावधान होकर सब ओर देखते हुए धनुष-बाण साजे हुए रक्षा करते हैं।

'बीरासन'; यथा—"वामपादे निधायैकं मूलं पादं च दक्षिणम्। वामाङ्कामे कृतं ह्येतद्वीरासन-मुदीरितम्॥" (अगस्त्य सं० अ० १८)।

यहाँ सुवेल पर सखाओं के साथ श्रीरामजी की स्थिति और वहाँ लंका के शिखर पर अखाड़े में रावण की स्थिति दिखाकर दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्ति—इन दोनों को दिखाया है कि एक शांत और दूसरी चंचल है।

(२) 'येहि विधि कृपा···'—यहाँ इस ध्यान का संपुट करते हैं, इसका उपक्रम—'तेहि आसन आसीन कृपाला।' है और यहाँ "येहि विधि कृपा रूप···" उपसंहार है। 'कृपा'—किसीको शिर, किसी को कान और किसी-किसी को चरण के अधिकार दिये हैं। यह इन सब पर कृपा ही है। इन सब को आपने अपने अंतरंग गोष्ठी में मिलाया; यथा—"को साहिब सेवकहि नेवाजी। आप समाज साज सब साजी ॥" (अ० दो० ११८); 'रूप गुन धाम'; यथा—"बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह सम एइ अहहिं।" (बा० दो० ३११); "भजहु प्रनत प्रति पालक रामहिं। सोभा सील रूप गुन धामहिं।" (उ० दो० २९)। ध्यान करते समय इन सबपर प्रभु की कृपा और प्रभु के रूप एवं उनके भक्तवत्सलतादि गुणों को विचारना चाहिये। इस ध्यान की प्रशंसा भी करते हैं—

(३) 'धन्य ते नर··'—जब ध्यान करनेवाले धन्य हैं, तब उस ध्यान के अंगभूत श्रीसुग्रीवजी आदि तो परम धन्य हैं।

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति-सरिस असंक ॥११॥

अर्थ—पूर्व दिशा की ओर देखकर, चन्द्रमा को उदित हुआ देखा, (तब) प्रभु सब से कहने लगे कि चन्द्रमा को देखो, कैसा सिंह के समान निःशंक है ? ॥११॥

विशेष—यहाँ से उपर्युक्त ध्यान में दिशाओं की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। आज पूर्णिमा है, पूर्व में पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ। तब श्रीरामजी की दृष्टि उसपर पड़ी। अतः, आपका शिर पच्छिम दिशा की ओर है, श्रीसुग्रीवजी भी पूर्व-मुख ही हैं। श्रीविभीषणजी दक्षिण ओर हैं, इनका मुख उत्तर है। श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण) मुख करके चरण-सेवा में हैं, इससे चन्द्रमा को ये भी देखते हैं। चन्द्रमा को निःशंक कहते हुए सिंह की उपमा दी। आगे पूरा रूपक कहेंगे ?

भाव यह कि हमें बिरही जानकर भी यह अपनी किरणें फैलाता है, हमें ताप पहुँचाता है; यथा—"काल निसा सम निसि ससि भानू।" (सुं० दो० १४); इसे हमारे बाणों का डर नहीं है, तभी तो निःशंक

होकर उदित हुआ है। उपर्युक्त रीति से रुचिर मृगछाला से विरह का आधिक्य उद्दीप्त हुआ, जिससे चन्द्रमा तप्त लगता है।

पूरब दिसि गिरि-गुहा-निवासी। परम-प्रताप-तेज - बल - रासी ॥१॥
मत्त - नाग - तम - कुंभ - बिदारी। ससि-केसरी गगन-बन - चारी ॥२॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥३॥

शब्दार्थ—कुंभ = हाथी के उमड़े हुए मस्तक का उभय भाग। हल = समूह।

अर्थ—यह (चन्द्रमा-रूपी सिंह) पूर्व दिशा-रूपी पर्वत की गुफा का रहनेवाला है, परम प्रताप, तेज और बल की राशि है ॥१॥ अंधकार-रूपी मतवाले हाथी के मस्तक के उभड़े हुए भाग को विदीर्ण कर यह चन्द्र-सिंह आकाश-रूपी वन में विचर रहा है ॥२॥ आकाश में छिटके हुए तारागण मुक्ता-समूह हैं, जो रात्रि-रूपी सुंदरी स्त्री के शृंगार-रूप हैं। ३॥

विशेष—(१) 'पूरब दिसि गिरि गुहा···'—चन्द्रमा को सिंह कहा, सिंह कंदरा में रहता है, वन में विचरता है और मत्त गजगण के मस्तक विदीर्ण करता है। इसी से यह प्रताप, तेज और बल की राशि कहाता है। वैसे ही चन्द्रमा पूर्व दिशा में रहता है, क्योंकि उधर से ही उसका उदय होता है। आकाश-रूपी वन में विचरता है और मत्त नाग-रूपी तम को नाश करता है। जिससे तारा-गण-रूपी मुक्ता-गणों से रात्रि-रूपी सुन्दरी (स्त्री) का शृंगार होता है। स्त्रियाँ मस्तक पर मोती गुहा करती हैं; यथा—"मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥ नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहि सकल सोभा अधिकाई॥" (बा॰ दो॰ १०); वैसे तारागणों से रात की शोभा होती है।

कह प्रभु ससि महँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई ॥४॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई ॥५॥
मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई ॥६॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने कहा कि हे भाइयो! अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कहो कि चन्द्रमा में जो श्यामता है, यह क्या है? ॥४॥ श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि हे रघुराज श्रीरामजी! सुनिये, चन्द्रमा में पृथिवी की परछाईं प्रकट हो रही है ॥५॥ किसीने कहा कि चन्द्रमा को राहु ने मारा, वही काला धब्बा उसके हृदय पर पड़ा है, (गहरी चोट लगने पर चोट की जगह पर काला चिह्न पड़ जाता है) ॥६॥

विशेष—(१) 'कह प्रभु ससि महँ ·····'—उस तरफ रावण नाच-गान के विनोद में मग्न है। इधर प्रभु अपने भक्तों के साथ कुछ वाग्विनोद कर रहे हैं। ऊपर सख्य-रस का मान-प्रसंग भी कहा गया था, तदनुसार श्रीरामजी श्रीसुग्रीवजी की अनुकूलता जानने के लिये भी यह प्रश्न करते हैं, इसपर पहले ही श्रीसुग्रीवजी ने कहकर अपनी प्रसन्नता जनाई। चन्द्रमा सबके मन का देवता है, उसके लांछनविषयक प्रश्न से प्रभु सब के मन का भाव भी जानना चाहते हैं। इससे 'मति भाई'—के दो अर्थ हैं, एक तो भाई संबोधन-रूप में है, क्योंकि ये सब सखा हैं; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ॰ दो॰ ७); दूसरा यह कि जिसकी बुद्धि में जो रुचता हो, वह कहे।

(२) 'कह सुग्रीव सुनहु'''—श्रीसुग्रीवजी अपने हृदय की परिस्थिति के अनुसार कहते हैं; इन्हें अपनी छिनी हुई भूमि प्राप्त हुई है। पुनः राजा की वृत्ति भूमि बढ़ाने पर रहती ही है। अतएव इनके हृदय पर भूमि की छाया पड़ी हुई है, वही चन्द्रमा मे कहते हैं। यह पहला उत्तर हरिवंश के अनुसार है। भास्कराचार्य आदि प्राचीन ज्योतिषकारों का भी यही मत है, वे चन्द्रमा को जलमय मानते हैं, उसमे पृथिवी की अप्रकाशित (श्याम) छाया पड़ती है, वही श्यामता दीखती है।

(३) 'मारेहु राहु ससिहि'' '''—पहले श्रीसुग्रीवजी का नाम दिया गया है और अंत में श्रीहनुमान्‌जी को स्पष्ट कहा गया है। बीच में 'कोई' और 'कोउ' के द्वारा उपर्युक्त झाँकी के क्रमानुसार श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदजी के मत उनके हृदय की परिस्थिति से भी कहे गये हैं। श्रीलक्ष्मणजी पीछे दूरी पर हैं। अतः, वे इस प्रश्नोत्तर मे सम्मिलित नहीं हैं, परन्तु रक्षा मे दत्त-चित्त हैं।

यहाँ 'कोई' से श्रीविभीषणजी का मत कहा गया है। रावण ने इन्हें लात मारी है; यथा—"तात लात रावन मोहि मारा।" (दो॰ ६१), यह चोट इनके हृदय से नहीं गई है। इसे कुंभकरण के आने पर भी इन्होंने कहा है। आगे भी इसके बदले मे उसकी छाती पर गदा का प्रहार करेंगे। इससे इनका यह वाक्य जान पड़ता है, राहु के प्रहार की ओट से इन्होंने अपने हृदय की बात कही है।

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥७॥
छिद्र सो प्रगट इंदु - उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं ॥८॥

अर्थ—'किसी ने कहा कि जब ब्रह्मा ने कामदेव की स्त्री रति का मुँह बनाया (उसके योग्य सुन्दरता की सामग्री चन्द्रमा मे ही पाई गई, अतएव) तब चन्द्रमा का सार भाग निकाल लिया ॥७॥ वही छेद चन्द्रमा के हृदय मे दिखाई पड़ता है, उसकी राह से (उस पार) आकाश की (नीली) परछाईं उसमें देख पड़ती है ॥८॥

विशेष—झाँकी के क्रम से श्रीविभीषणजी के पश्चात् श्रीअंगदजी की पारी है। यहाँ की व्यवस्था भी उनमें घटित है। वालि के बाद उसके राज्य पर श्रीअंगदजी का हक था; यथा—"सस्कार्यो हरिराजस्तु अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्। सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि॥" (वाल्मी॰ ४।२१।११), अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी ने तारा को समझाते हुए कहा है कि वालि का संस्कार करना चाहिये, फिर तुम अंगदजी का अभिषेक करो और सिंहासन पर बैठे हुए पुत्र को देखकर शान्ति पाओगी। पर श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को दिया। वह केवल युवराज ही बनाया गया। यही उसके सार भाग का हरा जाना है। इससे इसके हृदय मे मानो छेद हो गया। उससे 'नभ परिछाहीं' अर्थात् शून्यता ही प्रतीत होती है कि जब कहीं श्रीसुग्रीवजी के पुत्र होगा, तब ये मेरा यौवराज्य क्यों रहने देंगे?; यथा—"राज्ञे पुत्र' प्रतिष्ठाप्य' सगुणो विगुणोऽपिवा। कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति।" (वाल्मी॰ ४।५५।८)

प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा ॥९॥
बिष - संजुत कर - निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर - नारी ॥१०॥

दोहा—कह हनुमंत सुनहु प्रभु, सास तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति, सोइ स्यामता अभास ॥

शब्दार्थ—संजुत (संयुक्त) = मिला हुआ। कर = किरण। अभास (आभास) = झलक।

अर्थ—प्रभु ने कहा कि विष चन्द्रमा का अत्यन्त प्यारा भाई है, इसी से उसने विष को अपने हृदय में ठहराया है ॥९॥ विष-संयुक्त अपने किरण-समूह को फैलाकर विरही स्त्री-पुरुषों को जलाता है ॥१०॥ श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—हे प्रभो! सुनिये, चन्द्रमा तो आपका प्यारा दास है, आपकी (साँवली) मूर्त्ति चन्द्रमा के हृदय में बसती है, वही श्यामता झलकती है ॥

विशेष—(१) 'कह प्रभु...'—श्रीअंगदजी के पीछे श्रीहनुमान्‌जी के बोलने की पारी थी, पर प्रभु बोल उठे। कारण यह कि प्रभु ने चन्द्रमा को निःशंक आदि कहकर उसमें मेचकताई की बात पूछी है; अर्थात् विरह के कारण वह प्रतिकूल भासता है, अतएव आप उसके दोष पूछ रहे हैं। पर तीन मंत्रियों ने उसे अमल, चोट खाया हुआ और सार छीना हुआ कहकर उसे दीन एवं निर्दोष कहा। अतएव अपना अभिप्राय प्रकट कहकर अवशिष्ट वक्ता श्रीहनुमान्‌जी को अपने अनुकूल करना चाहते हैं। इसलिये प्रभु बीच ही में बोल उठे—'कह प्रभु गरल बंधु ससिकेरा' अर्थात् विष चन्द्रमा का सहोदर भाई है, क्योंकि एक ही क्षीरसागर के मंथन से दोनों प्रकट हुए हैं; यथा—"जनम सिंधु पुनि बंधु विष..." (बा० दो० २३०); सहोदर भाई अतिप्रिय भी होता ही है; यथा—"मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता।" (दो० ६०)। अति प्रिय वस्तु हृदय से नहीं जाती, इसी से विष इसके हृदय में है, बस, वही काला-सा देख पड़ता है। यह भी गर्भित है कि इसके पिता समुद्र पर मैंने सेतु बाँधा है। उसका ही वैर मानकर भाई को सहायक बना मुझे जला रहा है। चन्द्रमा अमृतमय है, पर विरह के कारण प्रभु को यह विषमय भासता है। इस तरह प्रभु ने भी अपने हृदय की स्थिति कही। अन्यत्र भी कहा है—"चन्द्रं वीक्ष्य जगाद चन्द्रवदनां श्रीरामचन्द्रः स्मरन्, चन्द्र त्वं विषसोदरो हि गरलोऽतिप्रच्चयि प्रेमतः। तच्छक्के विषसंयुतैः स्वकिरणैः कान्ताविहीनान् जनान्, कष्टं संजनयत्यपि त्वयि ततस्सद्धर्मता स्यात्कुतः।" (सीतश्रृंगारचंपू)।

(२) 'कह हनुमंत सुनहु प्रभु...'—'प्रभु' का भाव यह कि आप समर्थ हैं, अमर को भी मारकर फिर उसे जिला सकते हैं; यथा—"प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई।" (दो० ११३); पर चन्द्रमा तो आपका प्यारा दास है। इसी से वह आपकी मूर्त्ति (परमात्मभाव से) हृदय में बसाये रहता है, वही श्यामता झलकती है। श्रीहनुमान्‌जी के हृदय में श्रीरामजी सदा बसते हैं; यथा—"प्रनवउँ पवन कुमार...जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचापधर।" (बा० दो० १७) और ये प्रभु के प्रियदास हैं। वैसे ही ये दूसरों को भी प्रभु के प्रिय दास मानते हैं और उनके हृदय में प्रभु का निरन्तर निवास मानते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने वही कहा है। इनके ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि प्रभु हाथों से बाण सुधार रहे हैं और चन्द्रमा को निःशंक आदि कह चुके हैं, विरह के कारण उससे दुखी भी हैं। कहीं यह बाण उसी पर न छोड़ दें। (पर सर्वज्ञ प्रभु ऐसा करेंगे नहीं, केवल मंत्रियों का भाव ले रहे हैं) अतः, हमें उचित है कि राजा को उचित नीति का ही मत दें। दैवी संपत्ति की रक्षा के लिये आपका अवतार है, अतः, ऐसी बात कहें कि चन्द्रमा निर्दोष सिद्ध हो। इससे इन्होंने उसे प्रिय दास कहा कि जिससे उसकी रक्षा ही करें। साथ ही दक्षिण की ओर मुहँ करके ये बैठे ही हैं। अतः, उधर भी इशारा है कि विरह के कारण चन्द्रमा दाहक लग रहा है, उस विरह का कारण तो रावण है, चन्द्रमा बेचारा तो आपका दास है। श्रीविभीषणजी ने भी अपनी दुर्दशा का संकेत कर ही दिया था। बस; प्रभु ने दक्षिण की ओर दृष्टि फेरी और फिर श्रीविभीषणजी से पूछने लगे। लंका की ओर की इन्हीं दो की जानकारी थी। इनकी प्रेरणा से वह बाण उधर ही सार्थक किया जायगा।

चन्द्रमा श्रीरामजी का मन है; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।"

(दो॰ १५), ज्ञानी का मन इन्द्रियों के साथ उसका दास बना रहता है और प्रभु अखंड-ज्ञान हैं ही, इससे श्रीहनुमान्‌जी ने उसे उनका प्रिय दास कहा ; क्योंकि ये भी तो 'ज्ञानघन' हैं, देखिये बा॰ दो॰ १७। प्रिय दास इससे भी कहा कि आपके दिव्य रास-विहार आदि में पुरुष-वर्गों में केवल चन्द्रमा ही रहता है, क्योंकि इसपर श्रीमहारानीजी का वात्सल्य है।

पवन-तनय के, बचन सुनि, बिहँसे राम सुजान।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु, बोले कृपानिधान ॥१२॥

अर्थ—पवन-पुत्र श्रीहनुमान्‌जी के वचन सुनकर सुजान श्रीरामजी हँसे, और दक्षिण दिशा की ओर देखकर वे दयासागर प्रभु श्रीविभीषणजी से बोले ॥१२॥

विशेष—(१) श्रीहनुमान्‌जी की परम चतुरता पर आपने विहँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की ; यथा—"परम चतुरता श्रवन सुनि, बिहँसे राम उदार।" (दो॰ ३८)। हँसकर इनके मत की स्वीकृति भी जनाई। *'राम सुजान', यथा—"स्वामि सुजान जान सनही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥"* (अ॰ दो॰ ३११)। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी के हृदय की वृत्ति जानकर तदनुसार कार्य कर रहे हैं, इससे 'सुजान' कहा गया है। 'पवन-तनय' शब्द का भाव यह कि इन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के वचन कहे हैं ; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥" (कि॰ दो॰ २९)।

(२) 'दच्छिन दिसि अवलोकि'''—पूर्व का विनोद समाप्त कर अब प्रभु ने दक्षिण दिशा की ओर रुख किया। चन्द्रमा पर से दृष्टि हटा ली। उसी ओर लंका नगरी है। यह बाण भी उसी के उद्देश्य से हाथ में लिया गया था, अथवा, श्रीलक्ष्मणजी ने दिया था। 'प्रभु' शब्द भी सूचित करता है कि जिस कार्य के उद्देश्य से बाण लिये हुए हैं और पूछ रहे हैं, उसमें आप पूर्ण समर्थ हैं। 'बोले कृपा-निधान'— क्योंकि श्रीविभीषणजी पर कृपा है, बाण-द्वारा रावण के छत्र आदि काटकर इन्हें सान्त्वना देंगे। पुनः रावण पर भी कृपा है कि बाण-प्रताप को समझकर और मंदोदरी आदि के कहने पर अब भी समझ जाय और शरण होकर वह बच जाय।

चन्द्र परीक्षा-रहस्य

यहाँ का यह विनोद गूढ़ अभिप्राययुक्त है। परमार्थ पक्ष में श्रीसुग्रीवजी ज्ञान स्वरूप हैं, इसीसे ज्ञानमय सूर्य के पुत्र कहाते हैं। विभीषणजी जीव-रूप और श्रीहनुमान्‌जी प्रबल वैराग्य-रूप हैं। सब वानर शम-दमादि साधन रूप एवं उनके नेता श्रीअंगदजी सत्वगुण रूप हैं—इनके प्रमाण—"ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।'''जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण ''प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय ''कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट''" (वि॰ ५८)। श्रीसुग्रीवजी ने अपने हृदय पर भूमि की छाया कही है। इससे रक्षा के लिये युद्धोपरान्त (उ॰ दो॰ १६ में) श्रीरामजी इन्हें श्रीभरतजी से भूषण वस्त्र पहनवाकर राज्य करने के लिये भेजेंगे। तब इन्हें शुद्ध कर इसका भय मिटावेंगे। पृथिवी के अंश सहित बुद्धि की उत्पत्ति कही गई है ; *यथा—"बुद्धिर्जाताक्षितेरपि" (जिज्ञासापंचके)* ; बुद्धि के द्वारा ज्ञान होता है। बुद्धि का *ज्ञातृत्वाभिमान* ही यहाँ भूमि की छाया है। श्रीभरतजी परम विवेकी हैं, उनकी माता ने उनके लिये भूमि का भोग माँगा, पर अपनी वृत्ति से वे उसके वर को पूरा करके भी निर्विकार बने रहे। वैसी वृत्ति सहित रहने के लिये श्रीभरतजी का सारूप्य बनाकर श्रीसुग्रीवजी को किष्किंधा भेजेंगे। श्रीविभीषणजी जीव रूप हैं। इन्हें

पूर्व जन्म में कालकेतु रूपी राहु ने हरण करके इस राक्षस योनि में प्राप्त कराया ; यथा—"जनु वन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।" (बा० दो० १५५); उसी काल-बाधा को राहु के प्रहार रूप में इन्होंने ऊपर कहा है। इनकी इस बाधा से रक्षा के लिये आगे (उ० दो० १६ में) श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी से वस्त्राभूषण पहनवाकर श्रीलक्ष्मणजी की-सी वृत्ति से रहने के लिये इन्हें लंका भेजेंगे कि वहाँ अहर्निशि प्रभु-सेवा-परायण होकर रहें, तब काल-बाधा न व्यापेगी ; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोहीं॥" (उ० दो० ८७) ; "न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गीता ९।३१) ; पुनः सत्त्वगुण में प्रकाशकत्व श्रीरामजी का है ; यथा—"सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।" (गीता १०।३६) ; पर ज्ञानी यदि इसका अभिमानी होता है, तो उसमें विकार प्राप्त होता है। यही अंगदजी को सुग्रीवजी का भय है। इससे श्रीरामजी ने अंगदजी को अपना भूषण-वस्त्र स्वयं पहनाकर अपना-सारूप्य करके भेजा। उ० दो० १८ देखिये कि इससे सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखेंगे, तब उक्त भय न होगा। पुनः ऊपर जो सार भाग हरण एवं राज्य से निराशता का संदेह था, उसे भी दूर करेंगे कि सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखते हुए यौवराज्य हरण न कर सकेंगे। शेष जाम्बवान् नील आदि अंगदजी के अनुयायी हैं, ये भी सत्त्वांश हैं ; यथा—"कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट···" (वि० ५८) ; इसीसे अंगदजी की तरह मानकर इन्हें भी श्रीरामजी ने स्वयं वस्त्राभूषण पहनाकर अपना सारूप्य करके भेजा—उ० दो० १७ देखिये। श्रीहनुमान्‌जी के हृदय में अनन्य भक्ति ही यहाँ पाई गई, इसीसे आगे उ० दो० १६-१९ में प्रभु ने इन्हें विदा नहीं किया, सेवा में ही रक्खा है।

देखु बिभीषन दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥१॥
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा॥२॥
कहत बिभीषन सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिद-माला॥३॥
लंका-सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥४॥

शब्दार्थ—आसा (आशा) = दिशा। दामिनी बिलासा = बिजली का चमकना।

अर्थ—हे विभीषणजी ! दक्षिण दिशा की ओर देखो, बादल गर्व सहित उमड़े हुए हैं, बिजली चमक रही है॥१॥ भयंकर बादल मधुर-मधुर गर्ज रहे हैं, कहीं घोर वर्षा न हो और कठोर पत्थर (ओले) न पड़ें॥२॥ विभीषणजी कहते हैं कि हे कृपालु ! सुनिये, यह न तो बिजली है और न मेघों का समूह॥३॥ (किन्तु) लंका के शिखर (कँगूरे) पर एक भवन है, वहाँ दशकंधर रावण अखाड़ा (नाच-गान-तमाशा) देख रहा है॥४॥

विशेष—'(१) देखु बिभीषन दच्छिन आसा।······'—श्रीविभीषणजी दक्षिण दिशा के मर्मी हैं। अत, उन्हीं से पूछा। प्रभु सर्वज्ञ हैं, पर अज्ञ की तरह पूछ रहे हैं, सखा को बड़ाई देते हैं। 'घन घमंड' अर्थात् उमड़े हुए काली घटावाले बादल ; यथा—"धूप धूम नभ मेचक भयऊ। सावन घन घमंड जनु ठयऊ॥" (बा० दो० २४९) ; मेघ घमंड में भरे हैं कि हम वृष्टि करके भूमि को डुबा देंगे।

(२) 'मधुर मधुर गरजइ······'—पहले घनघमंड कहा, फिर गर्जना कहा। उसी क्रम से 'होइ बृष्टि' और 'उपल कठोरा' भी कहा है। भाव यह कि घनघमंड से बहुत वर्षा की संभावना है और भयंकर गर्जन से ओलों के गिरने की शंका है। 'होइ बृष्टि जनि'—का भाव यह कि हमलोग मैदान में ही पड़े हैं, यदि वर्षा की संभावना हो तो शीघ्र कोई उपाय करना चाहिये। फिर श्रीविभीषणजी अपने उत्तर से इसका निराकरण करते हैं—'होइ न तड़ित···'

(३) 'लंका-सिखर उपर आगारा ।······'—सुवेल के शिखर पर लेटे हुए प्रभु नील-शिखर पर रावण के महल का दृश्य देख रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि ये दोनों शिखर ऊँचाई मे बराबर हैं ।

छत्र मेघडंबर सिर धारी । सोइ जनु जलद घटा अति कारी ॥५॥
मंदोदरी – श्रवन – ताटंका । सोइ प्रभु जनु दामिनी-दमंका ॥६॥
बाजहिं ताल - मृदंग अनूपा । सोइ रव मधुर सुनहु सुर भूपा ॥७॥
प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना । चाप चढ़ाइ बान संधाना ॥८॥

शब्दार्थ—मेघडंबर=बड़ा चँदोवा, दल बादल, यह मेघ के समान काला और विशाल होता है । जल-वृष्टि-निरोधक होने से इसका यह नाम पड़ा ।

अर्थ—सिर पर मेघडंबर नामक छत्र धारण किया है, वही मानों बादलों की अत्यन्त काली घटा है ॥५॥ हे प्रभो ! मंदोदरी के कानों में कर्णफूल है, वही मानों बिजली चमक रही है ॥६॥ हे देवताओं के स्वामी ! सुनिये, अनुपम ताल-मृदंग बज रहे हैं, (या, वे अनुपम ताल से बज रहे हैं) वही मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है ॥७॥ रावण के इस अभिमान को समझकर प्रभु ने मुस्कुराया (कि घमंड से इसे मेरा कुछ भी भय नहीं है) और धनुष चढ़ाकर उस पर बाण का अनुसंधान किया; अर्थात् निशाना लगाया ॥८॥

विशेष—(१) '*मंदोदरी श्रवन*···'—काला रावण मंदोदरी को गोद में लिये हुए बैठा है । वह अत्यन्त काली घटा में बिजली के समान शोभा दे रही है ।

(२) 'सुर भूपा'—का भाव यह कि आप देवताओं के स्वामी हैं, देवता लोग ही दिव्य बुद्धिवाले होते हैं, आप तो उनके भी स्वामी हैं । अतः, सब कुछ जानते ही हैं ; यथा—"सती कपट जानेउ सुर स्वामी । सब दरसी सब अंतरजामी ।" (बा॰ दो॰ ५२), तथा—"सो सब कहहि देव रघुबीरा । जानतहू पूछहु मति धीरा ॥" (आ॰ दो॰ ३५), पुनः देवता सब रावण के बंदीखाने में हैं । आप उनके स्वामी हैं, *उनकी रक्षा के लिये इसके गर्व का नाश कीजिये ।*

(३) 'समुझि अभिमाना ।'—यह मुझे तृण के समान समझकर मेरे आने पर भी निडर है और नाच रंग के द्वारा मुझे गर्व दिखा रहा है । उसके निरादर के लिये मुस्कुराया । श्रीलक्ष्मणजी ने उसी रुख से शय्या बिछाई थी कि जिससे चन्द्रमा सामने पड़े और रुचिर (माया) मृगचर्म भी बिछाया कि विरह का उद्दीपन हो और बाण भी प्रभु के हाथों में क्रीड़ा के लिये दे दिया था । अब वह उनकी युक्ति सफल हुई, यह दुलराया हुआ बाण आज ही युद्ध का प्रारम्भ कर पूर्ण सफलता दिखायेगा ।

दोहा—छत्र मुकुट ताटंक तब, हते एक ही बान ।
सबके देखत महि परे, मरम न कोऊ जान ॥
अस कौतुक करि राम-सर, प्रबिसेउ आइ निषंग ।
रावन - सभा ससंक सब, देखि महा - रस - भंग ॥१३॥

शब्दार्थ—रसभंग=आनन्द क्रीड़ा में विघ्न ; यथा—"जेहि बिधि राम राजरस भंगू ॥" (अ॰ दो॰ २११) ।

अर्थ—तब (निशाना लगाकर) एक ही बाण से छत्र, मुकुट और कर्णफूल सब पर प्रहार किया। सबके देखते हुए वे सब पृथिवी पर गिर पड़े, परन्तु इसका भेद किसी ने नहीं जाना॥ ऐसा तमाशा (एवं आश्चर्य) करके श्रीरामजी का बाण आकर तर्कश में प्रवेश कर गया (समा गया)। इस बड़े आनन्द में बड़ा भारी विघ्न देखकर रावण की सभा में सब-के-सब शंका सहित एवं भयभीत हो गये ॥१३॥

विशेष—(१) 'छत्र मुकुट···'—क्षण-भर में सबको काट गिराया। इससे उसका अभिमान चूर्ण किया कि अब तुम्हारा छत्र भंग हुआ और मंदोदरी का अहिवात गया। अब लंका के राजा श्रीविभीषणजी हुए।

(२) 'कौतुक'—इधर के लोगों की दृष्टि में तमाशा है, उधरवालों को आश्चर्य हुआ। 'महारस भंग' एक तो रसराज शृङ्गार का आनंद नष्ट हुआ। उसके उद्दीपक नृत्य-गान आदि में विघ्न हुआ। दूसरे रावण के मुकुटों का गिरना उसके शिर गिरने के समान है; यथा—"आइगो कोसलाधीस तुलसीस जेहि छत्र मिस मौलि दस दूरि कीन्हों।" (क० लं० ११); मुकुट गिरने से रावण का शिर गिरना और मंदोदरी के ताटंक गिरने से उसका वैधव्य सूचित हुआ। छत्र-भंग से राज्य का नाश होना जाना गया। 'ससंक'—एक तो महारस-भंग से शंकित हुए, दूसरे यह भी भय है कि अभी और न जाने क्या हो ?

कंप न भूमि न मरुत बिसेखा। अस्त्र-सस्त्र कछु नयन न देखा ॥१॥
सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी ॥२॥

शब्दार्थ—अस्त्र = जो फेंककर चलाये जाते हैं—बाण आदि। शस्त्र = जो हाथ से पकड़े हुए प्रहार किये जाते हैं—तलवार आदि। वा, अस्त्र जो मंत्र प्रयोग सहित छूटते हैं। शस्त्र जो विना मंत्र के चलाये जाते हैं।

अर्थ—न तो पृथिवी काँपी, न बहुत हवा ही चली और न कोई अस्त्र-शस्त्र आँखों से देखे गये; अर्थात् उक्त महारस-भंग का कोई कारण नहीं देखा गया ॥१॥ सभी अपने हृदय में सोच रहे हैं कि बड़ा भयंकर अपशकुन हुआ है ॥२॥

विशेष—(१) 'असगुन भयउ···'—इस विघ्न के कोई कारण देखे जाते, तब अपशकुन की कल्पना न होती। सब हृदय में ही शोक करते हैं, क्योंकि प्रकट करने मे रावण का डर है; यथा—"तासु चरित मन महँ सब गावा।" (दो० ८); 'ससंक' शब्द से निशाचर-मात्र के नाश की भी ध्वनि है; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।···नहिं निसिचर कुल केर उबारा ॥" (सुं० दो० ३५)।

दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई ॥३॥
सिरउ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही ॥४॥
सयन करहु निज निज गृह जाई। गवने भवन सकल सिर नाई ॥५॥

अर्थ—रावण ने देखा कि सभा भयभीत हो गई, तब उसने हँसकर युक्ति से बनाकर वचन कहे ॥३॥ कि जिसके शिरों का कटना भी सदा शुभ (शकुन) ही होता आया है, उसके लिये मुकुटों का गिरना कैसे अपशकुन हो सकता है ? ॥४॥ अपने-अपने घर जाकर शयन करो (चिन्ता की कोई बात नहीं है) तब सब लोग प्रणाम करके (अपने-अपने) घरों को गये ॥५॥

विशेष—(१) 'दसमुख देखि ···'—दसों मुखों के बीसों नेत्रों से चारों तरफ देखा और फिर दसों मुखों से खिलखिलाकर हँसा कि सबको मालूम हो जाय। हँसकर सभा को डरने से कायर सूचित किया और अपने प्रति अपशकुन का हँसकर स्वयं निराकरण किया कि लोग चिंता छोड़ दें कि जिसके लिये अपशकुन हुआ। जब वही प्रसन्न है तब हमलोग क्यों चिन्ता करें। युक्ति भी शीघ्र ही स्फुरित हो आई। इससे हँसकर कहा।

(२) 'सिरउ गिरे संतत ···'—भाव यह कि शिर काट-काटकर श्रीशिवजी को चढ़ाया, तब मुझे दिग्विजय कीर्त्ति, इन्द्र से कोटि गुणा ऐश्वर्य एवं भोग प्राप्त हुए, तो मुकुट आदि का गिरना कब अमंगलकारी हो सकता है ? प्रत्युत् अधिक लाभकारी होगा, क्योंकि यह तो शिर से भी ऊपर की वस्तु है, अर्थात् इससे श्रीरामजी से जय और श्रीसीताजी की प्राप्ति होगी—यह गर्भित है।

(३) 'सयन करहु ···'—यह भी लोगों की कायरता पर उनके निरादर के लिये ही कहा है। आशय यह भी है कि कोई प्रसन्न नहीं है, यहाँ रहेंगे तो अमङ्गल की ही कल्पना सुनायँगे, अच्छा हो कि सभा विसर्जन हो जाय। 'सिर नाई' के दो भाव हैं—प्रणाम करके और शोक की मुद्रा से, शोक में प्राय. लोग शिर नीचा कर लेते हैं।

मन्दोदरी का उपदेश [३]

मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ ॥६॥
सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी ॥७॥

शब्दार्थ—श्रवनपूर (श्रवणपूर) = कर्णफूल, ताटक, कान की तरकी।

अर्थ—जब से मंदोदरी के कानों की तरकी पृथिवी पर गिर पड़ी, तब से उसके हृदय में सोच बस गया, अब सोच न मिटेगा, बना ही रहेगा ॥६॥ नेत्रों में जल भरकर, दोनों हाथ जोड़कर वह रावण से कहने लगी कि हे प्राणपति ! मेरी विनती सुनिये ॥७॥

विशेष—(१) 'जब ते श्रवनपूर ···'—यह इसके वैधव्य का स्पष्ट सूचक है, यह न होता, तो मुकुट और छत्र के भंग से राज्य-मात्र का नाश समझा जाता तो भी इसका अहिवात तो रहता। 'बसेऊ' अर्थात् पहले कुछ समय पर भूल भी जाता था, किन्तु अब शोक स्थिर हो गया।

(२) 'सजल नयन कह ···'—सुहाग की चिन्ता से अति दीन हो गई है, यथा—"हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना।" (आ॰ दो॰ ३३), 'प्रानपति बिनती मोरी'—आप मेरे प्राणों के रक्षक हैं। आपके बिना मैं मृतक तुल्य हो जाऊँगी। अतएव मैं अपने कल्याण के लिये प्रार्थना करती हूँ। कुछ आपको उपदेश नहीं देती।

कंत राम - बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू ॥८॥

दोहा—बिस्वरूप रघुबंस - मनि, करहु बचन बिस्वास।
लोक कल्पना बेद कर, अंग - अंग प्रति जासु ॥१४॥

शब्दार्थ—कंत (कान्त)=स्वामी। कल्पना=अनुमान, भावना। प्रति = में।

अर्थ—हे स्वामिन्! श्रीरामजी से वैर छोड़िये, उन्हें मनुष्य समझकर मन में हठ न धारण कीजिये ॥८॥ मेरे वचनों पर विश्वास कीजिये कि रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी विश्व (विराट्) रूप हैं, (सारा जगत् उन्हीं का अंग या शरीर है, वे अंगी या शरीरी हैं) जिनके अंग-अंग में वेद लोकों की कल्पना करते हैं।

विशेष (१) 'राम-बिरोध परिहरहू'—श्रीरामजी से वैर करने को रोकती है; क्योंकि जानती है कि उससे यह न बचेगा; यथा—"संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥" (सुं॰ दो॰ २२), "राम-बिरोध न उबरसि, सरन बिष्नु अज ईस।" (सुं॰ दो॰ ५६)। 'जानि मनुज'—क्योंकि रावण ने कनक-मृग की परीक्षा से श्रीरामजी को मनुष्य ही निश्चय कर लिया है। इसपर मारीच, विभीषण, प्रहस्त, मंदोदरी और कुंभकरण ने बहुत कहा कि वे नर नहीं है, पर यह हठ नहीं छोड़ता और जीवन पर्यन्त नहीं छोड़ेगा। इसी हठ के कारण यह किसी की शिक्षा भी नहीं सुनता; यथा—"मन हठ परा न सुनइ सिखावा।" (बा॰ दो॰ ७७)।

(२) 'करहु बचन बिस्वास···'—रानी ने पहले दो बार समझाया, पर रावण ने नहीं माना। इससे वह जानती है कि इन्हें मेरे वचनों पर विश्वास नहीं है, इसीसे नहीं मानते ; यथा—"तजउँ न नारद कर उपदेसू।···गुरु के बचन प्रतीति न जेही।···" (बा॰ दो॰ ७९); भाव यह कि प्रतीति होती तो ये हठ-पूर्वक शिक्षा मानते। इसीलिये पहले ही प्रतीति करने को कहती है।

यदि रावण कहे कि स्त्री के वचन के विश्वास पर कितने नष्ट हुए ; यथा—"गयउँ नारि बिस्वास।" (अ॰ दो॰ २९) ; यह राजा श्रीदशरथजी ने कहा है। उसपर अपने इन वचनों पर वेद का प्रमाण देती है कि मेरा कथन वेद का कहा हुआ है। यजुर्वेद संहिता के ३१ वें अध्याय में और ऋग्वेद एवं उपनिषदों में भगवान् का विराट् रूप कहा गया है। वाल्मी ६।११७ में देवताओं के साथ ब्रह्मा ने भी कहा है। पर यहाँ का विराट् वर्णन भाग॰ स्कं॰ २ अ॰ १ श्लोक २३–३७ से बहुत अंशों में मिलता है। 'कल्पना' ; यथा—"मति॰ अनुमान निगम अस गावा।" (बा॰ दो॰ ११७); 'रघुबंस मनि'—भाव यह कि ये ही श्रीरामजी विश्व-रूप हैं, कोई दूसरे नहीं।

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा ॥१॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन-माला ॥२॥
जासु घ्रान अश्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥३॥

शब्दार्थ—अजधामा=ब्रह्मा का लोक। घ्राण=नासिका। अश्विनीकुमार=ये दोनों भाई हैं, सूर्य के यमज पुत्र हैं, देवताओं के वैद्य हैं—देखिये बा॰ दो॰ ३१ चौ॰ ३।

अर्थ—(विश्व-रूप का) चरण पाताल है, शिर ब्रह्मा का लोक है और अन्य सब लोकों का (ब्रह्मलोक और पाताल के मध्यवर्त्ती लोकों का) एक-एक अंग मे विश्राम (निवास-स्थान) है ॥१॥ भौं का फेरना भयंकर काल है। नेत्र सूर्य हैं, केश मेघमाला हैं ॥२॥ जिनकी नासिका अश्विनी कुमार हैं। रात और दिन अपार पलकों का मारना है ॥३॥

विशेष—'पद पाताल···'—चरण को पाताल कहा है, चरण का तल भाग सम्पूर्ण शरीर का आधार है। वैसे ही पाताल मे आप सूक्ष्म (वामन) रूप हैं, वह सूक्ष्म रूप व्यापक सत्ता का उपलक्षक है,

उसी सत्ता पर विश्व-रूप शरीर भी स्थित है। इसीसे सबके चरण के देवता वामन (विष्णु) अर्थात् व्यापक कहे गये हैं। (जो देवता भगवान् के जो अंग कहे गये हैं, वे ही और जीवों के उन-उन अंगों के देवता कहे जाते हैं जैसे नासिका के देवता अश्विनीकुमार और बुद्धि के ब्रह्मा, इत्यादि)। 'भृकुटी बिलास' को भयकर काल कहा है, यथा—"भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १७); तेज धर्म के सम्बन्ध से नेत्र को सूर्य कहा है; यथा—"भानु कमल कुल पोषनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा॥" (आ० दो० १६); "चक्षोः सूर्यो अजायत।" (पुरुषसूक्त); बाल और मेघ श्याम हैं, और इनमें सघनता की भी समता है। नासिका मे दो छिद्र होते हैं, वैसे अश्विनीकुमार भी जोड़ुवा (दो) भाई हैं। पलकें बराबर खुलती-मुँदती हैं, वैसे ही लगातार दिन और रात हुआ करते हैं।

श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥४॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥५॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति-पालन-प्रलय-समीहा॥६॥

अर्थ—वेदों ने कहा है की कान दसो दिशाएँ हैं पवन श्वास है, वेद खास वाणी है॥४॥ ओष्ठ लोभ है, कराल दाँत कठिन यमराज हैं, हँसी माया और बाहु दिक्पाल हैं॥५॥ मुख अग्नि और जिह्वा वरुण हैं। उत्पत्ति, पालन और प्रलय उनकी चेष्टाएँ हैं॥६॥

विशेष—(१) 'वेद बखानी'—यह पद दीपदेहली रूप से दोनों ओर है। *'मारुत स्वास निगम निज बानी।'*; यथा—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः ..." (बृह० २।४।१०), अर्थात् चारों वेद, इतिहास पुराण आदि—ब्रह्म के श्वास हैं। 'माया हास'—हँसते ही आप सबको मोह लेते हैं। इसके उदाहरण इस ग्रन्थ में कई जगह दिखाये गये हैं कि आपने हँसकर माया-प्रयोग किया है।

(२) 'उतपति-पालन प्रलय-समीहा।'—ये तीनों काम आपके सकल्प मात्र से हो जाते हैं। इनके लिये श्रम नहीं करने पड़ते, यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ..." (छांदो० ६।२।३), "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।" (गीता १०।४२)।

रोम-राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥७॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना॥८॥

दोहा—अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान॥
अस बिचारि सुनु प्रानपति, प्रभु सन बयर बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर-पद, मम अहिवात न जाइ॥१५॥

शब्दार्थ—रोम राजि = रोमावलि। भार = यह १२ करोड़ ३० लाख १ हजार ६ सौ साठ वृक्षों की संख्या है। जांरा (जाल) = समूह। अधगो = गुदा, यातना = नरक, यम के द्वारा तीव्र वेदना—"यातना तीव्र वेदना"—इत्यमरः।

अर्थ—अठारह भार वनस्पतियाँ उनकी रोमावलियाँ हैं। पर्वत हड्डियाँ हैं, नदियाँ नसों के समूह हैं ॥७॥ उनका पेट समुद्र है, नीचे की इन्द्रिय (गुदा) नरक है। (कहाँ तक कहा जाय?) जगत्-मय प्रभु की (ऐसी ही) बहुत कल्पनाएँ हैं या, प्रभु जगन्मय हैं, तब बहुत कल्पना करने से क्या (प्रयोजन) है? ॥८॥ श्रीशिवजी उनके अहंकार हैं, ब्रह्माजी बुद्धि हैं, मन चन्द्रमा और चित्त विष्णु हैं, चर-अचर सहित विश्वरूप भगवान् श्रीरामजी ने मनुष्य रूप में निवास किया है; अर्थात् सुर-मुनि की प्रार्थना से मनुष्य रूप हुए हैं॥ हे प्राणपति! सुनिये, ऐसा विचार कर प्रभु से वैर छोड़िये और रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में प्रीति कीजिये, जिससे मेरा सुहाग न जाय ॥१५॥

विशेष—(१) 'रोम राजि अष्टादस भारा।···'—६ भार कंटकवाले, ६ भार फूलवाले और ६ भार सब फलवाले वनस्पति हैं। नदियाँ बहुत हैं, कोई-कोई ७२००० कहते हैं। 'बहु कल्पना'—अर्थात् और भी बहुत-से अंगों के लिये भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। शरीर भर में रोएँ होते हैं, वैसे ही वनस्पतियाँ पृथिवी भर में सर्वत्र हैं। हड्डियाँ बड़ी-बड़ी और दृढ़ होती हैं, वैसे ही पर्वत भी बड़े-बड़े लंबे-चौड़े और दृढ हैं। नदियाँ छोटी-बड़ी जाल की तरह फैली रहती हैं, वैसे ही शरीर में नसें भी रहती हैं, जिनसे खून शरीर भर में चला करता है। जैसे नदियों में जल बहा करता है। उदर में ही नाभि है, जिसकी गहराई की थाह ब्रह्माजी भी नहीं पा सके; यथा—"नाभि गँभीर जान जिन्ह देखा।" (बा० दो० १९८); समुद्र भी बहुत अगाध होता है। 'अधगो'—अर्थात् नीचे की मल-मूत्र की इन्द्रियों से शरीर की मल-शुद्धि होती है, वैसे नरक से जगत् के जीवों के पाप (मल) कर्मों की शुद्धि होती है। अधगो में मल-मूत्र, नरक में भी विष्टा-पीव आदि—यह समता है।

(२) 'अहंकार सिव···'—यद्यपि मन को इन्द्रिय ही बहुत स्थलों पर कहा गया है, तथापि अन्तःकरण चतुष्टय भी कहे जाते हैं; यथा—"चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहँकार।" (वि० २०३), इसीसे यहाँ साथ ही चारो कहे गये। अतः, मन अन्तःकरण में माना गया है, वेद में भी कहा गया है; यथा—"इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि।" (अथर्व वेद १९।९।५)। 'महान्' अर्थात् व्यापक, विष्णु।

(३) 'मनुज बास सचराचर···', यथा—"जग निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक बिश्राम।" (बा० दो० १९१)।

(४) 'अस बिचारि सुनु···'—सारा जगत् भगवान् का शरीर है, सबके वे ही प्रवर्तक हैं। जीवों के कर्मानुसार अपने शरीर एवं नियाम्य रूप जीवों को व्यवहार में नियुक्त करते हैं अतएव सब रूपों से जीव मात्र के पालक-पोषक वे ही हैं। पाप कर्म निवृत्ति की शिक्षा के लिये नाना रूपों से दंड विधान भी करते हैं। उसमें भी उनकी दया-दृष्टि ही है। यह समझने से जीवों की जगत् के प्रिय वर्ग में जितनी प्रीति फैली हुई है, वह सर्वत्र से बटुरकर भगवान् में ही होती है। इसीसे दोहे के उत्तरार्द्ध में 'प्रीति करहु रघुबीर पद' भी कहा है। अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहुँ रति मानी॥" (उ० दो० ११); पर अभिमानी रावण ने इसे भी हँसी में उड़ा दिया।

'प्रभु सन बैर बिहाइ'—वे प्रभु = बलवान् हैं। अत, वैर छोड़ो, क्योंकि बलवान् से वैर न करना चाहिये, देखिये दो० ५ चौ० ५ भी। 'प्रीति करहु रघुबीर पद···'; यथा—"नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात।" (दो० ७)—यह बात मंदोदरी ने पहले भी कह दी है।

'सुनहु प्रानपति बिनती मोरी।' उपक्रम है और यहाँ—'अस बिचारि सुनु प्रानपति…' यह उपसंहार है।

बिहँसा नारि - बचन सुनि काना। अहो मोह - महिमा बलवाना ॥१॥
नारि - सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥२॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिवेक असौच अदाया ॥३॥

शब्दार्थ—अनृत = झूठ। मोह = अज्ञान या प्राकृत प्रेम।

अर्थ—स्त्री के वचन कानों से सुनकर बहुत हँसा और कहा कि अहो (आश्चर्य की बात है) मोह की महिमा बड़ी बलवती है ॥१॥ कवियों ने स्त्री का स्वभाव सत्य ही कहा है कि उनके हृदय में आठ दोष सदा रहते हैं ॥२॥ साहस, झूठ, चंचलता, माया, भय, अज्ञान, अपवित्रता और निर्दयता ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि काना'—मंदोदरी ने विनती की—'सुनहु प्रानपति…' इससे उसने कानों से सुना। 'बिहँसा'—हँसकर उसके वचनों का निरादर किया। 'अहो मोह…'—मोह जीव को अंधा कर देता है; यथा—"मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (उ० दो० ११); वही बलात् हमारी रानी को भी अंधी बना दिया, आश्चर्य है कि मुझ दिग्विजयी की स्त्री को भी दबा लिया। देखो न, मुझ लोकत्रय के जीतनेवाले को तो जीव कहती है, असमर्थ मानती है और जो मनुष्य है, राज्य से भी निकाला हुआ है। वानर मात्र ही जिसके अधीन हैं, उन्हें ईश्वर एवं समर्थ कहती है। यह भी जानती है कि मैंने चराचर को जीता है, सब मेरे वश में हैं। उन्हीं चराचर को शत्रु का रूप भी कहती है, जिससे शत्रु का सर्वात्मना मेरे वश में होना स्पष्ट है, किन्तु फिर भी मुझे असमर्थ और शत्रु को समर्थ कहती है। यही तो अज्ञान की महिमा है।

(२) 'नारि सुभाव सत्य…'—कवि लोग प्रशंसा एवं अत्युक्ति आदि में झूठ भी कहा करते हैं। वैसे ही उनके कहे हुए स्त्री-स्वभाव के आठ दोषों को भी मैं झूठ ही समझता था, पर तुझे देखकर मुझे प्रतीति हो गई कि यह तो उन्होंने सत्य ही कहा है।

अपनी मति के अनुसार रावण ने आठों अवगुणों को मंदोदरी में समझा है। (१) साहस—किसी काम को कर ही डालने का जिद करना। यहाँ श्रीसीताजी को लौटाने का जिद कर रही है। (२) झूठ—राम मनुष्य हैं, उन्हें ईश्वर कहती है। (३) चपलता—कभी हाथ जोड़ती है, कभी पाँव पड़ती है, इत्यादि अभीष्ट सिद्धि के लिये अनेक उपाय करती है। (४) माया—आँचर पसारती है, रोती है, सौभाग्य का ममत्व दिखाती है, शत्रु का भय दिखाती है और कभी शत्रु का विराट् रूप कहती है, यह सब इसकी माया है। (५) भय—भक्ष्य रूप नर-वानरों से भी डरती है, (६) अविवेक—मेरे गुणों को नहीं मानती, किन्तु उलटा शत्रु में उन्हें आरोपण कर मुझे डरवाती है, (७) अशौच; यथा—"सहज अपावनि नारि।" (आ० दो० ५), और (८) अदाया—नर, वानर और भालु राक्षसों के आहार हैं, दैवयोग से वे स्वयं घर बैठे मिल रहे हैं, उन्हें पास से हटाना चाहती है, बिचारे भूखे राक्षसों पर इसे दया नहीं है।

रानी ने बार-बार उसके प्रति उसकी दृष्टि से बहुत कड़े-कड़े शब्दों का प्रयोग किया है। उसपर रावण ने यहाँ उन्हें परिहास के रूप में शुद्ध प्राकृत स्त्रियों के दोष कहकर उड़ा दिया है। पुनः आगे कोई मिस बनाकर रानीकी चतुराई की प्रशंसा कर उसका आश्वासन भी किया है।

रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा ॥४॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे ॥५॥
जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। येहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई ॥६॥

अर्थ—तूने शत्रु का अत्यन्त बड़ा (विराट्) सम्पूर्ण रूप विस्तार पूर्वक कहकर मुझे अत्यन्त बड़ा भय सुनाया ॥४॥ हे प्रिये! वह स्वाभाविक ही मेरे वश में है, अब तेरी कृपा से मुझे समझ पड़ा ॥५॥ हे प्रिये! तुम्हारी चतुरता मैं समझ गया, इस बहाने तूने मेरी प्रभुता कही है (कि विश्वरूप शत्रु मेरे वश में है) ॥६॥

विशेष—(१) 'रिपु कर रूप···सो सब प्रिया···'—इन्द्र, वरुण, कुबेर, ब्रह्मा, शिव आदि को शत्रु का अंग कहा। वे सब मेरे वश में हैं ही। तुम्हारे कहने से अब मैं यह भी जान गया कि शत्रु तो पहले ही से मेरे वश में है।

(२) 'समुझि परा'—गंभीर स्वभाव से मैं अपने गुणों पर ध्यान नहीं देता था, तेरे कहने से समझा। अतएव यह तुम्हारा प्रसाद (कृपा) है। यह भी समझा कि जिसका विराट् रूप मेरे वश में है, उसके नरतन को वश करना कौन बड़ी बात है?

(३) 'येहि बिधि'—मुख पर किसी की प्रशंसा करना अनुचित होता है, इसलिये तुमने इस युक्ति से शत्रु का विराट् रूप कहा कि जिससे मैं समझ जाऊँ कि वस्तुतः यह मेरी सुयश कह रही है। क्योंकि सभी चरा-चर जगत् मेरे वश है, यह सुस्पष्ट है। यह तुम्हारी गंभीरता एवं चातुरी है।

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि ॥७॥
मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहि कालबस मतिभ्रम भयऊ ॥८॥

अर्थ—हे मृगनयनी! तेरी बतकही (वाणी) गूढ़ (गंभीर आशय युक्त) है। समझने में सुख देनेवाली और सुनने से भय छुड़ानेवाली है; अर्थात् शत्रु के गूढ़ स्वरूप कथन द्वारा तूने मुझे अत्यन्त प्रबल कहकर निर्भयता दी और उससे अपना प्रभावात्मक स्वरूप जानकर मुझे सुख मिला ॥७॥ मंदोदरी ने मन में ऐसा ठान लिया (निश्चय किया) कि काल-वश होने से पति को मतिभ्रम हो गया है, ('सो सब प्रिया सहज बस मोरे।' यह कहना उसकी बुद्धि का भ्रम है) ॥८॥

विशेष—(१) 'तव बतकही गूढ़···'—'बतकही' पर बा० दो० ८ चौ० १ देखिये। 'मृग-लोचनि'—मृगा के-से सुन्दर नेत्रवाली एवं मृगा के समान भय एवं भ्रमयुक्त नेत्रोंवाली; यथा—"चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत।" (बा० दो० २२६), "मृग भ्रम बारि सत्य जिय जानी···" (वि० १३६)।

परमार्थ पक्ष में अर्थ है कि यह विराट् रूप समझने में सुख होगा और इसको सुनकर धारण करने से भव-भय न रहेगा।

दोहा—यहि बिधि करत बिनोद बहु, प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति, सभा गयउ मद अंध ॥

सो०—फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदय न चेत, जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सिव ॥१६॥

शब्दार्थ—मद अंध = गर्व के कारण विचार हीन। विनोद = क्रीड़ा, हँसी।

अर्थ—इस प्रकार बहुत हास-विलास करते सवेरा हो गया, स्वाभाविक निडर मदांध लंका-पति रावण सभा में गया॥ यद्यपि मेघ-जल (सर्वत्र ही) बरसते हैं, तथापि बेत फूलता-फलता नहीं, (ऐसे ही) मूर्ख के हृदय में चेत (ज्ञान) नहीं होता, चाहे ब्रह्मा और श्रीशिवजी ही उसे गुरु (क्यों न) मिल जायँ ? ॥१६॥

विशेष—(१) 'मूरख हृदय न चेत'...'—पहले कहा गया है ; यथा—"सठ सुधरहिं सत संगति पाई।" (बा॰ दो॰ ३) ; और यहाँ कहते हैं—'मूरुख हृदय न चेत ...'—भाव यह कि जो अनजान हैं, वे तो सत्संग से यथार्थ बोध प्राप्त होने पर सुधर जाते हैं। पर जो जान-मानकर अज्ञान-रत रहनेवाले मूर्ख हैं, वे श्रेष्ठ उपदेष्टा मिलने पर भी नहीं सुधरते।

रावण श्रीब्रह्माजी का प्रपौत्र (परनाती) है और श्रीशिवजी उसके इष्ट एवं गुरु हैं। अतएव इनका प्रभाव उसपर विशेष पड़ना चाहिये। ये लोग यथार्थ-ज्ञाता भी हैं। ब्रह्माजी वेद के आदि वक्ता हैं और श्रीशिवजी ज्ञान के स्वरूप ही हैं। जब इसे हठी जानकर इन दोनों ने सुधारने का प्रयत्न नहीं किया ; यथा—"संभु सेवक जान जग बहु बार दियो दस सीस। करत राम विरोध सो सपनेहुँ न हटक्यो ईस॥" (वि॰ २१६) ; तब यह स्त्री की शिक्षा क्या सुनेगा ? इसे ही दृष्टान्त-द्वारा दिखाते हैं—

(२) 'फूलइ फरइ न बेत'...'—बेत दो प्रकार का होता है—(१) जल-बेत, (२) स्थल-बेत। जल-बेत को संस्कृत में 'अम्बु-वेतस्' कहते हैं। यह नदियों या तालाबों के किनारे पर होता है। यह फूलता-फलता है। किन्तु स्थल-बेत जिसे संस्कृत में 'वञ्जुल' कहते हैं, पर्वतों पर होता है; यह फूलता-फलता नहीं। श्रीगोस्वामीजी चित्रकूट के आस-पास विशेषतः रहे हैं, विशेषकर पहाड़ों पर स्थल बेत देखते थे ; इससे यहाँ उसीका वर्णन जानना चाहिये। इसकी पुष्टि में यह भी प्रमाण है कि 'बरषहिं जलद' से जल-वर्षा की आवश्यकता कहते हैं। यह स्थल-बेत के लिये ही विशेष संगत है ; क्योंकि जल-बेत के लिये तो नदी-तट की सर्दी भी पर्याप्त रहती है। स्थल-बेत की जीवन-रक्षा केवल मेघ के ही जल से होती है। दूसरे देश के कवि शेख शादी ने भी लिखा है ; यथा—"अब्र गर आबे जिन्दगी बारद। हरगिज अज शाखे बेद बर न खुरी॥" अर्थात् यदि बादल अमृत भी बरसे तथापि बेत वृक्ष से कदापि फल खाने को न मिलेगा। शेखशादी फारस देश के कवि हैं। अलबुर्ज के पहाड़ों को नित्य देखते थे। उन्होंने भी स्थल-बेत ही को लिखा है। कुछ बेत ही में ऐसे भेद नहीं होते, किन्तु कमल में भी इस तरह के दो भेद होते हैं। जल-कमल विशेष प्रसिद्ध है, इसमें फल (कमलगट्टा) होता है। और, स्थल-कमल भी होता है, यह जल-कमल की अपेक्षा बड़ा होता है। उसमें फल नहीं होता। अशोक वृक्ष के भी दो भेद सुने जाते हैं। एक फूलता-फलता है और एक केवल फूलता है, फलता नहीं।

इसका जो 'वियत' = आकाश अर्थ करते हैं, वह यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि आकाश में फल-फूल होने का आकार ही नहीं है और न उसे मेघ की वर्षा का ही कोई प्रयोजन है। यहाँ रावण के मनुष्य के समान बुद्धि आदि इन्द्रियाँ हैं। फिर भी वह श्रीरामजी का ऐश्वर्य नहीं मानता। यद्यपि उपदेशों की वर्षा बराबर होती है। इसने मृग-परीक्षा करके जो निश्चय कर लिया कि श्रीरामजी राजा हैं, बस, यह

यही हठ पकड़े हुए है। जो अज्ञान को ही ज्ञान-रूप में निश्चय कर लेता है, फिर वह और की नहीं सुनता—यही मूर्खता है।

"गयउ बसीठी बीरबर, जेहि बिधि बालि कुमार।"—प्रकरण

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥१॥
कहहु बेगि का करिय उपाई। जामवंत कह पद सिर नाई ॥२॥
सुनु सर्बज्ञ सकल उर बासी। बुधि-बल-तेज-धरम-गुन-रासी ॥३॥

अर्थ—यहाँ प्रातःकाल श्रीरघुनाथजी जगे और उन्होंने सब मंत्रियों को बुलाकर सलाह पूछी ॥१॥ कि शीघ्र कहिये, क्या उपाय किया जाय, तब चरणों में शिर नवाकर श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा ॥२॥ हे सर्वज्ञ! हे सर्व-उर-वासी! हे बुद्धि, बल, तेज, धर्म और गुणों की राशि! सुनिये ॥३॥

विशेष—(१) 'इहाँ प्रात जागे···'—'इहाँ' के भाव दो० १० चौ० १ में देखिये। 'रघुराई'—शब्द से मंत्र बूझने का यह भाव कहा कि राजा हैं, अतएव मंत्रियों की सम्मति से कार्य करते हैं; यथा—"बोले बचन नीति-प्रतिपालक।" (सुं० दो० ४१); 'सब सचिव'—"सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण, जाम्बवान्, अंगद, शरभ, परिवार-सहित सुषेण, मयन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल, पनस इत्यादि।" (वाल्मी० ६।३७।१-३)।

(२) 'कहहु बेगि का करिय उपाई।'—'बेगि'—क्योंकि शत्रु के देश में आ गये। अतः, शीघ्रता करनी ही चाहिये, जिससे शत्रु को विशेष प्रबंध का अवसर न मिले; यथा—"अब बिलंब केहि कामा" (दो० १); देखिये। 'का करिय उपाई'—किस तरह कार्य-सिद्धि हो; यथा—"कार्य-सिद्धि पुरस्कृत्य मंत्रयध्वं विनिर्णये।" (वाल्मी० ६।३७।५)।

(३) 'जामवंत कह···'—यहाँ सबसे पहले जाम्बवान्‌जी ने कहा, क्योंकि श्रीरामजी के तीन प्रधान मंत्रियों में श्रीसुग्रीवजी का मत विभीषण-शरणागति पर और श्रीविभीषणजी का मत सेतु-बंध-प्रसंग में हो चुका। अबकी बार जाम्बवान्‌जी की पारी है, इसी से ये प्रथम बोले। पुनः इनके मत का सबने समर्थन भी किया, इससे यह सर्वमत हो जायगा।

(४) 'सुनु सर्बज्ञ···'—सर्वज्ञ हैं, इससे आप बाहर की बातें सब जानते हैं, 'सकल उरबासी' हैं, इससे सबके हृदय की भी जानते हैं; यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।" (अ० दो० २५७); 'बुधि-बल' से जीत होती है—देखिये दो० ५ चौ० ५। 'तेज' से शत्रु को भय होता है। 'धर्म' से विजय होती है; यथा—"सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।" (दो० ७१); आप इन सब गुणों की राशि है, फिर आपके लिये शत्रु क्या है? आपने मर्यादा-पालन के लिये ही हम लोगों से पूछा है। यह नीति है कि मंत्री पहले राजा की स्तुति करके मंत्र कहे, उसी नीति का जाम्बवान्‌जी ने पालन किया है।

मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालि-कुमारा ॥४॥
नीक मंत्र सबके मन माना। अंगद सन कह कृपानिधाना ॥५॥

वालितनय बुधि-बल-गुन-धामा। लंका जाहु तात मम कामा ॥६॥

अर्थ—मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सलाह कहता हूँ। वालि के पुत्र श्रीअंगदजी को दूत बनाकर भेजिये ॥४॥ मंत्र अच्छा है, यह सबके मन को अच्छा लगा, तब कृपासागर श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी से कहा ॥५॥ कि हे बुद्धि, बल और गुणों के धाम वालिकुमार! हे तात! तुम मेरे कार्य के लिये लंका जाओ ॥६॥

विशेष—(१) 'दूत पठाइय बालिकुमारा।'—नीति है कि पहले दूत भेजकर प्रतिपक्षी से अपना प्रयोजन माँगे, जब वह न माने तब युद्ध करे; यथा—"प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती।" (दो० ८); 'बालि-कुमारा'—बालि के साथ रावण की संधि थी, इससे श्रीअंगदजी को वह जानता है। उस सम्बन्ध से श्रीअंगदजी अपनी ओर से भी उसे समझा सकेंगे। दूत प्रभावशाली भी चाहिये, यह वालि के समान बली और विशेष नीति का ज्ञाता है; यथा—"यह तनय मम सम बिनय बल···" (कि॰ दो॰ १०); रावण वालि के प्रभाव को जानता है, उसके पुत्र को आपके दूत-कर्म में देखकर आपके प्रभाव को जानेगा और भयभीत होगा।

(२) 'नीक मंत्र सबके मनमाना।'—पहले श्रीसुग्रीवजी का मंत्र श्रीरामजी को और श्रीहनुमान्‌जी को नहीं भाया था; यथा—"सखा नीति तुम्ह···मम पन सरनागत-भय-हारी॥ सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।" (सुं॰ दो॰ ४२); फिर श्रीविभीषणजी का मत श्रीलक्ष्मणजी को नहीं सुहाया था; यथा—"मंत्र न यह लछिमन मन भावा।" श्रीरामजी को भी हृदय से नहीं भाया था, तभी तो उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी से सहमत होते हुए कहा था—"ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।" पर जाम्बवान्‌जी का मत सबको अच्छा लगा। अतः, ये मंत्रियों में श्रेष्ठ हैं।

'अंगद सन कह कृपानिधाना।'—श्रीअंगदजी को भेजकर इन्हें यश देंगे। वालि ने रावण को अकेले में जीता था, ये उसके समाज में परिवार-समेत उसका मान-मर्दन करेंगे; यथा—"सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि बरूथ महँ मृगपति जथा॥" (दो० ३६); इनकी कीर्त्ति फैलेगी—यह इनपर कृपा है। इन्हें दूत-रूप में भेजकर रावण पर भी कृपा कर रहे हैं; यथा—"कारुनीक दिनकर-कुल-केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू॥" (दो॰ ३६); पुनः "तासु हित होई" आगे कहा ही है। इन हेतुओं से 'कृपा निधाना' कहा गया है।

(३) 'बालितनय बुधि···'—श्रीअंगदजी में वालि के सब गुण हैं; यथा—"यह तनय मम सम बिनय बल···" (कि॰ दो॰ १०); इससे तत्सम्बन्धी नाम कहा गया है। 'बुधि बल गुन धामा'—दूत में ये सब गुण चाहिये, इनमें तुम पूर्ण हो, आगे भी कहते हैं; यथा—"परम चतुर मैं जानत अहऊँ।" यह मानों श्रीअंगदजी के लिये आशीर्वाद है। इसी से श्रीअंगदजी में इन गुणों की पूर्णता आ गई; यथा—"सोइ गुन सागर ईस, रामकृपा जापर करहु।" यह आगे स्वयं श्रीअंगदजी ने कहा है।

'लंका जाहु तात मम कामा।'—'तात' का भाव यह कि तुम मेरे पुत्र हो। अतः, यह काम तुम्हारा ही है। अपना काम अपने ही हाथों से ठीक बनता है, इसलिये तुम्हें कहता हूँ। अतः, इस दूत-कर्म से तुम्हारी मर्यादा-हानि नहीं है। 'मम कामा'—मेरे काम के लिये जाओ, अन्यथा दुष्ट के यहाँ न जाना चाहिये। 'लंका जाहु'—कहा है, क्योंकि केवल रावण से बात ही करना तो नहीं है, किन्तु गढ़ का समाचार लाना है और उसके पुत्र का वध भी करेंगे, इत्यादि ऐसा कहने में सभी कामों का समावेश है।

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहउँ। परम चतुर मैं जानत अहउँ ॥७॥
काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥८॥

अर्थ—तुम्हें बहुत समझाकर क्या कहूँ, तुम परम चतुर हो, यह मैं जानता हूँ ॥७॥ जिसमें हमारा कार्य बने और उसका हित हो, शत्रु से वही बातचीत करना ॥८॥

विशेष—(१) 'परम चतुर मैं···'—दूत में बुद्धिमत्ता, वाक्पटुता, पांडित्य, दूसरे की चित्त-वृत्ति का ज्ञान, धीरता और जैसा कहा जाय वैसी ही कहनेवाली वृत्ति होनी चाहिये। ये सब बातें तुममें हैं, यह मैं जानता हूँ। यह कैसे जाना ? उत्तर—(क) अपनी सर्वज्ञता से, (ख) बालि एवं तारा के पुत्र होने से बालि ने स्वयं कहा है कि यह पुत्र मेरे समान बली और विनयी है—देखिये कि० दो० १०। तारा की मति कभी अन्यथा नहीं होती, यह वाल्मीकीय रामायण में बालि ने ही कहा है। पुनः भगवान् का ऐसा कहना ही उसे परम चतुर बनाना है; यथा—"पुनि पठवा बल देइ बिसाला।" (कि० दो० ७); वैसे यहाँ इन्हें परम चातुर्य देकर भेजा, यही—'सोइ गुन सागर···' से श्रीअंगदजी ने आगे कहा है।

(२) 'काज हमार तासु हित होई···'—यदि सर्वान्तर्यामी प्रभु की इच्छा थी कि उसका हित हो; अर्थात् वह मारा न जाय, तब उसने संधि क्यों नहीं कर ली। जब कि ऐसा नियम अकाट्य है; यथा—"राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (बा० दो० १२७), इससे वाक्य में कुछ गूढ़ भाव अवश्य है, वह यह कि रावण ने स्वयं अपने हित का निश्चय किया है; यथा—"तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥ होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ येहा॥" (आ० दो० २२); श्रीरामजी का कार्य भी इसी रीति से होगा कि निशाचर-वध से भू-भार हरण हो, श्रीसीताजी प्राप्त हों और उनकी प्रतिज्ञा सत्य हो; यथा—"निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९), इसी आशय से 'रिपु' शब्द दिया गया है, अन्यथा 'नृप' आदि कहते। वैसी ही शर्त्त श्रीअंगदजी रक्खेंगे, जिससे वह तामसी प्रकृति से कभी नहीं मान सकता। युद्ध ही करेगा; यथा—"अब सुभ कहा सुनेहु तुम्ह मोरा।···दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।···" (दो० १९–२०); यही वाल्मीकीय रामायण में भी कहा गया है—

"ब्रवीमि त्वां हितं वाक्यं क्रियतामौर्ध्वदेहिकम्।···निष्पत्य प्रतियुद्धयस्व नृशंस पुरुषो भव।···न चेत्सत्कृत्य वैदेहीं प्रणिपत्य प्रदास्यति॥" (वाल्मी० ६।४१।७१+७८–८१), अर्थात् हे निशाचर ! हम तुम्हारे हित के वचन कहते हैं, तुम अपना श्राद्ध कर डालो (भाव यह कि तुम्हारे वंश में कोई न बचेगा, जो तुम्हारे मरने पर श्राद्ध करे) तुम्हारा जीवन मेरे हाथ में है।···युद्ध करो, पुरुषार्थ दिखाओ। पुत्र, भाई, परिवार और मंत्रियों के साथ मैं तुम्हें मारूँगा और तीनों लोकों को सुखी करूँगा···लंका का ऐश्वर्य विभीषणजी पावेंगे ; यदि सत्कार-पूर्वक चरणों पर गिरकर श्रीजानकीजी को न दोगे।

सो०—प्रभु अज्ञा धरि सीस, चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुन-सागर ईस, राम कृपा जा पर करहु॥
स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियउ।
अस बिचारि जुबराज, तन पुलकित हरषित हियउ॥१७॥

अर्थ—प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर चरणों की वंदना करके श्रीअंगदजी उठे (और बोले-) हे ईश श्रीरामजी ! आप जिसपर कृपा करें वही गुणों का समुद्र और समर्थ हो जाता है ॥ आपके सब कार्य स्वयं सिद्ध (स्वतः किये हुए हैं, हे नाथ ! यह तो आपने मुझे आदर दिया है—ऐसा विचारकर युवराज अंगदजी का शरीर पुलकित हो गया और वे हृदय में हर्षित हुए ॥१७॥

विशेष—(१) 'प्रभु आज्ञा धरि सीस···'—आप प्रभु (समर्थ) स्वामी हैं, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है ; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई ।" (सुं॰ दो॰ ५८); एवं—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा । परम धरम यह नाथ हमारा ॥" (अ॰ दो॰ ७६); इससे आज्ञा शिरोधार्य की । 'चरन बंदि···' बड़ों को प्रणाम करके कार्यारम्भ करना एवं बोलना शिष्टाचार है ; यथा—"जामवंत कह पद सिर नाई ।" ऊपर कहा गया।

(२) 'सोइ गुन-सागर ईस···'—श्रीरामजी ने इन्हें 'गुन धामा' कहा था, ये कहते हैं कि आप जिसपर कृपा करें, वह तो गुणों का सागर हो जाता है, धाम तो छोटा ही शब्द है। 'ईस'-शब्द स्वामी का संबोधन और अपने लिये भी है कि आपकी कृपा से मैं 'बलधामा' ही नहीं, किन्तु ईश (परम समर्थ) हो जाऊँगा।

तात्पर्य यह कि आपने श्रीहनुमान्जी पर कृपा की थी, उनका यश हुआ, वैसे ही इस बार मुझपर कृपा है, आदर दे रहे हैं तो मुझे भी यश मिलेगा।

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिर नाई ॥१॥
प्रभु-प्रताप-उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥२॥

शब्दार्थ—बाँकुरा = चतुर, बंका = पराक्रमी।

अर्थ—चरणों की वंदना कर और हृदय में (प्रभु की) प्रभुता को धारण करके श्रीअंगदजी सबको शिर नवाकर चले ॥१॥ रण में बाँका पराक्रमी बालि-पुत्र प्रभु का प्रताप हृदय में रखकर स्वाभाविक निःशंक है ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रताप उर······'—प्रभु का प्रताप हृदय में आने से निर्भयता आ जाती है ; यथा—"*प्रभु प्रताप कहि सब समझाये। सुनत कोपि कपि-कुंजर धाये॥*" (दो॰ १८); तथा—"नानव परम दुर्ग अति लंका। प्रभु-प्रताप कपि चले असंका॥" (दो॰ ३८)। प्रताप; यथा—"जासु कीरति सुजस सुनि, होत सत्रु उर ताप। जग डेरान सब आपही, कहिये ताहि प्रताप॥" इसीसे श्रीअंगदजी से भी सब डरेंगे। 'रन बाँकुरा बालि सुत बंका।'—यह बालि के समान बली है। अतः, बालि की तरह यह भी रावण को हरावेगा। ऐसा ही मंदोदरी ने भी कहा है; यथा—"अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके॥" (दो॰ ३६); निश्शंकता के तीन हेतु हैं—राम-प्रताप हृदय में है, बालिपुत्र है और स्वयं रणबाँकुरा एवं बाँका है।

पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो होइ गै भेटा ॥३॥
बातहि बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई ॥४॥
तेहि अंगद कहँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई ॥५॥

शब्दार्थ—कर्ष=लड़ाई का जोश; यथा—"एकहि एक बढ़ावहिं करषा।" (अ॰ दो॰ १६०); भँवाई=भ्रमाकर, घुमाकर।

अर्थ—नगर में प्रवेश करते ही (मार्ग में) रावण के बेटे से भेंट हो गई, जो वहाँ खेल रहा था ॥३॥ बातों-बात में कर्ष बढ़ गया, क्योंकि दोनों ही अतुलित बली और युवावस्थावाले थे ॥४॥ उसने अंगदजी पर लात उठाई (अंगदजी ने वही) पैर पकड़ उसे घुमा पृथ्वी पर पटककर मार डाला ॥५॥

विशेष—(१) 'बातहिं बात करष बढ़ि आई।'—मार्ग में रावण का पुत्र (प्रहस्त ?) कुश्ती, दाव-पेंच आदि खेलता हुआ मिला। अंगदजी ने पूछा—अरे ! रावण का दरबार किधर है ? उसने कहा—अरे वानर ! तू कौन है ? अंगदजी ने कहा—मैं वालि-पुत्र एवं राम-दूत हूँ। उसने कहा—तेरे बाप को जिसने मार डाला, अरे, तू उन्हीं का दूत बनता है, तुझे धिक्कार है; यथा—"अंगद तहीं बालि कर बालक।···गर्भ न गयउ व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु।" (दो॰ २०); यह रावण ने कहा है, तब अंगदजी ने कहा कि मैं उस वालि का पुत्र हूँ, जिसने तेरे बाप को काँख में दबा रक्खा था और जिन श्रीरामजी ने तेरी फूफू के नाक-कान काटे हैं, मैं उनका दूत हूँ। नकटी-बूची फूआ को देखकर तुझे लज्जा नहीं आती ? तुझे धिक्कार है; यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहि लाज बिसेखी॥" (दो॰ ३५)—यह मंदोदरी ने कहा है। तब उसने कहा कि वे ही राम हैं न, जिनकी स्त्री को मेरा बाप हर लाया है ? तब अंगदजी ने कहा—वे ही राम हैं, जिनके पास तुम्हारे बाप की बहन कामातुर होकर उन्हें खसम बनाने गई थी। जिनके रहते पर्णकुटी के पास भी जाने का साहस तेरे बाप को नहीं पड़ा, तब चोरी से कुत्ते की तरह यती बनकर छल से श्रीसीताजी-का हरण किया है। अरे, तू उसी का बेटा है ? तुझे धिक्कार है, इत्यादि रीति की बातें अनुमान से जानी जाती हैं।

'जुगल अतुल बल······' अतुल बल ही बहुत था, ये तो तरुण भी हैं, फिर क्यों न लड़ पड़ें ? कहा भी है; यथा—"यौवनं धन-संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥" (पंचतंत्र)। उसने पहले लात उठाई, क्योंकि वह अपने नगर में है।

(२) 'गहि पद पटकेउ····'—पूर्व कहा था—'जुगल अतुल-बल' तो अंगदजी की जीत कैसे हुई ? उत्तर यह है कि अंगदजी के हृदय में प्रभु-प्रताप है, वह इस रीति से प्रकट हुआ। जिधर भगवान् का बल रहता है, उसी की जय होती है; यथा—"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥" (गीता १८।७८)।

निसिचर - निकर देखि भट भारी। जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी ॥६॥
एक एक सन मरम न कहहीं। समुझि तासु बध चुप करि रहहीं ॥७॥
भयउ कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी ॥८॥
अब धौं कहा करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा ॥९॥

अर्थ—निशाचर-समूह (जो उसके साथ के थे) भारी भट को देखकर जहाँ-तहाँ चल दिये, (भय से) पुकार भी नहीं सकते ॥६॥ एक दूसरे से भेद नहीं कहते, उसका वध (मन-ही-मन) समझ कर चुप साधकर रह जाते हैं ॥७॥ (यह देखकर) नगर में हल्ला और खलबली मच गई कि जिसने

लंका जलाई थी, वही वानर फिर आया है ॥८॥ अत्यन्त भयभीत होकर मन विचारते हैं कि न जाने अब विधाता क्या करेंगे ? ॥९॥

विशेष—(१) 'जहँ तहँ चले···'—'चले' भगे नहीं कि रावण-पुत्र के साथी जानकर कहीं वानर हमारा पीछा न करे। उधर पीठ देकर चुपचाप चल दिये, मानों वे कुछ जानते ही नहीं। 'न सकहिं पुकारी'—डरते हैं कि और बलवानों को पुकारने लगूँगा, तो यह वानर तुरत ही झपटकर मुझे भी मार डालेगा। यह भी डर है कि पुकारने से लोग कहेंगे कि तू रहा और देखा तो बचाया क्यों नहीं ? फिर रावण यह जानकर मार ही डालेगा कि मेरे पुत्र की रक्षा नहीं की। भय से चुप रहना ग्रंथकार स्वयं कहते हैं—'एक एक सन...'

(२) 'भयउ कोलाहल नगर मँझारी।...'; यथा—"आयो आयो आयो सोइ बानर बहोरि भयो सोर चहुँ ओर लंक आये जुवराज के।...सहमि सुखात बात-जात की सुरति करि, लवा ज्यों लुकात तुलसी लपेटे बाज के॥" (क० लं० ६); 'अति सभीत' - श्रीहनुमान्‌जी के लंका-दहन से सब सभीत थे, यथा—"जहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जबते जारि गयउ कपि लंका॥" (सुं० दो० ३५); अब वही वानर फिर आया, तो कुछ और भारी अनर्थ करेगा—यह समझकर सब 'अति सभीत' हो गये। पुनः प्रहस्त-वध से सभीत थे, आगे न जाने और क्या करे ? यह समझकर 'अति सभीत' हैं।

बिनु पूछें मग देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई॥१०॥

दोहा—गयउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम - पद - कंज।
सिंह-ठवनि इत उत चितव, धीर बीर बलपुंज॥१८॥

शब्दार्थ—दरबार = द्वार, जहाँ ड्योढ़ी लगती है या० दो० २०१ देखिये। ठवनि = अवस्थिति का ढंग।

अर्थ—बिना पूछे ही (लोग रावण-सभा का) मार्ग दिखा देते हैं, जिसकी ओर अंगदजी देखने लगते हैं, वही सूख जाता है॥१०॥ तब अंगदजी श्रीरामजी के चरण-कमलों का स्मरण करके सभा-भवन के द्वार पर गये। धीर, वीर और बलराशि अंगदजी इधर-उधर सिंह के ढंग पर (निर्भयता-पूर्वक) देखने लगे॥१८॥

विशेष—(१) 'बिनु पूछें मग ..'—लोग बिना पूछे मार्ग दिखा देते हैं कि सीधे रावण के यहाँ चला जाय, हमलोगों की हानि न करे। इसपर प्रसन्न होकर कृतज्ञता सूचक दृष्टि से जिसकी ओर अंगदजी देखते हैं, वह डरकर सूख जाता है कि कहीं मेरे प्राण लेने के लिये न देखना हो। क्योंकि पूर्व के कर्म अक्षवध, लंकादहन एवं अभी का प्रहस्त-वध सब देख चुके हैं। तब इस चितवन में प्रसन्नता का अनुमान कैसे कर सकते हैं ? यथा—"जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी॥" (बा० दो० २१८), यहाँ भी परशुराम के पूर्व कर्म समझने से ऐसी ही शंका थी। 'जेहि बिलोक ..'—से अंगदजी का तेज दिखाया गया है, यथा—"तेज निधान लखन पुनि तैसे॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोर के ताके॥" (बा० दो० २४१); यहाँ अंगदजी को भी सिंह कहा ही है, यथा—'सिंह ठवनि...'।

(२) 'गयउ सभा दरबार...'—'दरबार', यथा—"करि मज्जन सरजू जल, गयउ भूप दरबार।" (बा दो० २०६)। वहाँ इसके उदाहरण भी देखिये। अभी द्वार पर हैं, सभा के भीतर तो रावण के बुलाने पर जायँगे। 'सिंह ठवनि'—सिंह थोड़ा चलता है, फिर अकड़कर खड़ा हो इधर-उधर देखकर फिर चलता है। निर्भयता पर यह दृष्टान्त है। इसी पर 'सिंहावलोकन' की ख्याति भी है। इधर-उधर इसलिये देखते हैं कि द्वारपालों में प्रधान कौन है जिसे रावण के पास भेजें। 'धीर'—क्योंकि अभी राज-पुत्र का वध करके आये हुए हैं, पर शंका नहीं है। 'वीर'—क्योंकि समर का उत्साह है कि कोई और बोले तो उसी की तरह इसे भी पटक मारूँ। 'बलपुंज'—क्योंकि अभी 'अतुल-बल' राजपुत्र को मार आये हैं।

तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा ॥१॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा ॥२॥
आयसु पाइ दूत बहु धाये। कपि-कुंजरहि बोलि लै आये ॥३॥

अर्थ—शीघ्र ही एक निशाचर भेजकर (अपने आने का) समाचार रावण को सूचित किया ॥१॥ सुनते ही दशशीस रावण ने (दूत के निरादर के लिये) हँसकर कहा कि उसे बुला लाओ, कहाँ का वानर है? ॥२॥ आज्ञा पाकर बहुत से दूत दौड़े और वानर श्रेष्ठ को बुलाकर ले आये ॥३॥

विशेष—(१) 'निसाचर एक' अर्थात् जो द्वारपालों में प्रधान था। पुन यह भी भाव है कि द्वार पर कई थे, उनमें से एक ही को भेजा। 'दूत बहु धाये' से रावण की आज्ञा के पालन में सावधानता एव आज्ञा की उत्कर्षता है। इस घटना से अगदजी का अधिक सम्मान भी हुआ।

अंगद दीख दसानन बैसे। सहित प्रान कज्जलगिरि जैसे ॥४॥
भुजा बिटप सिर शृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना ॥५॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरिकंदरा खोह अनुमाना ॥६॥

शब्दार्थ—बसे (स० वेशन)=बैठे हुए, यथा—"जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा।" (दो० ७५), खोह=दो पहाड़ों के बीच का गहरा गड्ढा। अनुमाना=अदाजा।

अर्थ—श्रीअगदजी ने दशानन को बैठे हुए ऐसा देखा कि जैसे कोई प्राणों-समेत काजल का पहाड़ बैठा हो ॥४॥ भुजाएँ वृक्ष और शिर शिखर के समान हैं, शरीर की रोमावलियाँ मानों बहुत-सी लताएँ हैं ॥५॥ मुख, नाक, नेत्र और कान पर्वत की कदराएँ और खोह से लगते हैं ॥६॥

विशेष—'यहाँ रावण के शरीर से पहाड़ का साग रूपक है कज्जल गिरि अत्यत काला होता है, वैसे रावण भी बहुत काला है। पहाड़ पर वृक्ष, शिखर और लताएँ होती हैं। वैसे इसके भुजा, शिर और रोएँ हैं। मुख और नासिका भीतर की ओर गहरी होती हैं, इससे वे कदराओं के समान हैं। नेत्र और कान बाहर के गढे (खोह) के समान हैं। प्राण-सहित कहकर इसे चेतन कहा गया, अन्यथा जड़ ही समझा जाता। श्रीअगदजी उसे कज्जल गिरि के समान निस्सार समझते हैं कि थोड़े प्रहार से ही

छिन्न भिन्न हो जायगा, इसीसे निर्भय हैं—यह भी भाव है। पहाड़ों पर हाथी और सिंह विचरते हैं, वैसे निर्भय श्रीअंगदजी को भी यहाँ—'कुंजर' और 'पचानन' कहा गया है। रावण जड़ की तरह बैठा रहा, हाथ तक न उठाया ; इससे भी जड़ की उपमा दी गई है।

गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि-तनय अति बल बाँकुरा ॥७॥
उठे सभासद कपि कहुँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेखी ॥८॥

दोहा—जथा मत्त-गज-जूथ महँ, पंचानन चलि जाइ।
राम-प्रताप सुमिरि मन, बैठ सभा सिर नाइ ॥१९॥

शब्दार्थ—मुरना = मुड़ना, दबना, डरना। पंचानन = सिंह, क्योंकि यह चार पञ्जों से भी मुख के चीड़-फाड़ आदि कार्य करता है। मत्त = मतवाला।

अर्थ—अत्यन्त बाँका, बली बालि-पुत्र अंगद सभा में गया, उसका मन (रावण का प्रभाव देखकर) कुछ भी न दबा ॥७॥ सभासद-गण कपि को देखकर उठ खड़े हुए, (यह देखकर) रावण के हृदय में बड़ा क्रोध हुआ ॥८॥ जैसे मतवाले हाथियों के झुण्ड में सिंह चला जाता है, (वैसे ही—'गयउ सभा मन नेकु न मुरा।') हृदय में श्रीरामजी के प्रताप का स्मरण कर श्रीअंगदजी सभा को शिर नवा (प्रणाम) कर बैठ गये ॥१९॥

विशेष—(१) 'गयउ सभा मन'—रावण की सभा, यथा—"दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (सु० दो० ११), वैसी सभा में और पर्वताकार रावण के समक्ष भी श्रीअंगदजी का मन न मुड़ा, इसका कारण ग्रंथकार ने 'बालि तनय अति बल बाँकुरा।' कहकर सूचित किया कि यह बालि का पुत्र है, जिससे रावण हार चुका है। यह स्वयं भी बाँका, बली है। पुन 'राम प्रताप सुमिरि उर बैठ' कहा गया है, इससे भी जनाया कि ये निःशंक हैं। श्रीहनुमान्जी भी ऐसे ही निःशंक थे, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥" (सुं० दो० ११)

'उठे सभासद'—सभासदों के उठने का कारण श्रीअंगदजी का तेज है। तेजस्वी को देखकर देखनेवालों के हृदय में सम्मान का भाव स्वतः आ जाता है, यथा—"राजत राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे॥" (बा० दो० २१२), इनका भी तेज देखकर जनक-समाज ने बिना जाने ही इन्हें उत्थापन दिया है, यथा—"उठे सकल जब रघुपति आये" (बा० दो० २१५)। इसपर रावण के हृदय में बड़ा क्रोध हुआ कि हमारे ही सभासदों ने हमारे सामने ही शत्रु के दूत का इतना सम्मान किया। यह हमारे तेज का अपमान हुआ, क्योंकि रावण अपने सामने दूसरे का उत्कर्ष नहीं सह सकता। इसपर भी क्रोध हुआ कि एक वानर को देखकर सब डर गये, तो युद्ध में ये लोग क्या करेंगे?

(२) 'जथा मत्त गज'—पहले सभा में प्रवेश करते समय 'कपि कुंजरहि' से हाथी के समान इनकी चाल की उपमा दी गई थी। यहाँ श्रीअंगदजी की निर्भीकता में सिंह की उपमा देते हैं कि मतवाले हाथियों से सिंह नहीं डरता, प्रत्युत् यह साहस रखता है कि यह सबों को अकेले ही चार-पञ्जों और मुख से भी

(=पाँचों अंगों से) चीड़-फाड़ डालेगा। वैसे ही श्रीअंगदजी का पराक्रम दिखाते हुए इन्हें 'पंचानन' कहा गया है। यथा—"जथा मत्त गज गन निररिि, सिंह-किसोरहिं चोप।" (बा० दो० ११०)। पूर्व 'सिंह ठवनि' से निर्भय अकड़ की उपमा दी थी। जहाँ जो गुण दिखाना होता है, वहाँ वैसी ही उपमा देते हैं।

(३) 'राम प्रताप सुमिरि मन···'—शत्रु की सभा ने भी इनका तेज देखकर अभ्युत्थान दिया, इसे देखकर इन्होंने मन में इसे राम-प्रताप माना और ये उसी का बार-बार हृदय में स्मरण करते हैं, भक्तों की ऐसी ही धारणा होती है; यथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।" (अ० दो० १२०)।

'बैठ सभा सिरनाइ'—सभा ने इन्हें अभ्युत्थान देकर आदर दिया था, अतएव सभा को सम्मान देते हुए इन्होंने भी प्रणाम किया – यह शिष्टाचार है। रावण भी राज्य-सिंहासनासीन है, राजा का शरीर देवमय कहा गया है और अभी उसने इनका आह्वान ही किया है। इससे सबके साथ में उसे भी प्रणाम *किया है, आगे उसके वर्त्ताव के अनुसार स्वयं भी वर्त्तेंगे।*

कह दसकंठ कवन तैं बंदर। मैं रघुबीर - दूत दसकंधर ॥१॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई ॥२॥

अर्थ—दशग्रीव रावण ने कहा—बंदर ! तू कौन है ? (श्रीअंगदजी ने कहा—) दशकंधर ! मैं रघुवीर का दूत हूँ ॥१॥ मेरे पिता से और तुमसे मित्रता थी, इससे, हे भाई ! मैं तेरी भलाई के लिये आया हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'कह दसकंठ कवन तैं···'—यह ज्यों-का-त्यों उत्तर है, रावण राक्षस है, उसी स्वभाव से बातें करता है। तब तदनुसार श्रीअंगदजी को भी बातें कहनी पड़ीं, क्योंकि ये श्रीरामजी की तरफ से पूर्ण अधिकार के साथ गये हुए हैं और रावण से इनका भी बराबरी का नाता है, क्योंकि युवराज हैं। फिर इनके दबने से श्रीरामजी के पक्ष की न्यूनता भी थी। इसलिये आगे भी उसके अनुसार ही उत्तर देंगे। 'रघुबीर दूत'—से दिखाया कि श्रीरामजी के समान वीर तीनों लोकों में नहीं है, मैं उन्हीं का दूत हूँ।

(२) 'तव हित कारन···'—हित के कारण अपना आना कहा, इससे 'भाई' कहा। मैत्री-सम्बन्ध में प्रायः ऐसा कहा जाता है। आगे तदनुसार रावण ने भी कहा है; यथा—'कहु निज नाम जनककर भाई।' भाव यह कि मैं श्रीरामजी का दूत हूँ, उनकी आज्ञा से आया हूँ। पर तू मेरे पिता का मित्र है। अतः, मैं स्वयं भी तेरा हित चाहता हूँ। मैं इसी से दूत बनकर आया कि तू मेरा कहा मानेगा। 'तव हित···' से यह भी कहते हैं कि इस मेरे दौत्य से न तो श्रीरामजी का प्रयोजन है और न मेरा, केवल तेरे ही हित के लिये मैं आया हूँ। यही मंदोदरी ने भी कहा है; यथा—"कारुनीक दिनकर-कुल-केतू। दूत पठायउ तब हित हेतू॥" (दो० ३६); हित के वचन आगे कहते हैं—

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती ॥३॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा ॥४॥
नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा ॥५॥

शब्दार्थ—किंबा = अथवा, यदि वा, वा, तो।

अर्थ—तुम्हारा उत्तम कुल है, तुम पुलस्त्य मुनि के नाती हो। तुमने श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी की बहुत प्रकार से पूजा की (उन्हें प्रसन्न किया) ॥३॥ उनसे बहुत तरह के वर पाये और उनसे सब कार्य किये। सब लोकपालों और सब राजाओं को जीता ॥४॥ राज्य-मद अथवा मोह-वश तुम जगत् की माता श्रीसीताजी को हर लाये ॥५॥

विशेष—(१) 'उत्तम कुल ···'– ब्रह्माजी के मानसी पुत्र श्रीपुलस्त्यजी हैं, उनके पुत्र विश्रवा मुनि हैं, उनका पुत्र रावण है, यथा—"उपजे जदपि पुलस्ति कुल, पावन अमल अनूप।" (बा० दो० १७६)।

(२) 'सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती।'—जप, तप, यज्ञ करके एवं शिरों का हवन करके, इत्यादि बहुत प्रकार से पूजा की। 'बहु भाँती' शब्द दीप-देहली-रूप पूजा और वर दोनों के साथ है। नर-वानर छोड़कर सबसे अभय एवं दीर्घायु तथा अमोघ खड्ग एवं शक्ति आदि बहुत प्रकार के वर भी पाये।

पहले कुल की श्रेष्ठता एक चरण में कही, फिर उसके निज कर्म की श्रेष्ठता तीन चरणों में कही है। 'सब काजा'—दिग्विजय की, चराचर को वश किया, इत्यादि।

कुल की श्रेष्ठता कहकर समझाने का भाव यह है कि उत्तम कुलवाले श्रेष्ठ ही कार्य करते हैं, इसी में उनकी शोभा होती है। अभी तक तुमने अच्छे ही कर्म भी किये, श्रीशिवजी आदि की पूजा की, उनसे वर पाये, बहुत काल अखंड राज्य किया, इत्यादि अच्छे ही काम करते आये। किन्तु, यही एक काम तुमसे छोटा हुआ कि छिपकर पर-स्त्री हरण किया, उसके भी कारण कहते हैं—

(३) 'नृप अभिमान मोहबस ···'—भाव यह कि यह छोटा काम तुमने जान-बूझकर नहीं किया होगा, किन्तु राज्य-मद से अथवा बुद्धि के मोहित हो जाने से तुमसे यह अयोग्य काम हो गया होगा, यथा—"श्रीमद नृप अभिमान मोह बस जानत अनजानत हरि लायो।" (गी० लं० २); राज्य-मद से अनुचित कार्य होते हैं; यथा—"सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" (अ० दो० २२८), मोह-वश भी; यथा—"बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई॥" (अ० दो० २२७), तुमसे यह कार्य ऐसा हो गया कि इससे उत्तम कुल को कलंक लगेगा; यथा—"रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहि कलंका।" (सुं० दो० २२)।

'हरि आनेहु सीता जगदंबा।'—बस, यही अनुचित कार्य किया कि अपने आराध्य देव शिवजी और ब्रह्माजी की भी माता का तुमने हरण किया। यह भारी अधर्म है। सामान्य परस्त्री-हरण भी बहुत अयोग्य है, यथा—"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं।" (सुं दो० ३८); तुम तो जगदंबा को हर लाये, यह महान् अपराध किया, यथा—"जगदंबा हरि आनि अब, सठ चाहसि कल्यान।" (दो० ६२)—यह कुंभकर्ण ने भी कहा है।

अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा ॥६॥
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन-सहित संग निज नारी ॥७॥
सादर जनकसुता करि आगे। येहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥८॥

दोहा—प्रनतपाल रघुबंस-मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहि ॥२०॥

अर्थ—अब तुम मेरा कल्याणकारी वचन सुनो। प्रभु तुम्हारे सब अपराध क्षमा करेंगे ॥६॥ दाँतों तले तृण दाबो, कंठ में कुठार बाँधो, कुटुम्बियों सहित और अपनी स्त्रियों के साथ ॥७॥ श्रीजानकीजी को आदर-पूर्वक आगे कर इस तरह सब भय छोड़कर चलो ॥८॥ "हे शरणागत पाल! हे रघुवंशशिरोमणि! अब मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।" (ऐसा कहने से) तुम्हारी आर्त्त-वाणी सुनते ही प्रभु तुमको अवश्य निर्भय करेंगे ॥२०॥

विशेष—(१) 'अब सुभ कहा सुनहु···'—'अब' का भाव कि अभी तक जो हुआ सो हुआ, अब भी काम सुधर सकता है। 'सुभ कहा'—का भाव यह कि इस कथन को सुनो, तो श्रीरामजी पौलस्त्य-वध के पाप से बचेंगे, मंदोदरी आदि का सोहाग रहेगा, तुम्हारा राज्य अचल होगा, श्रीसीताजी सुखी होंगी और मुझे भी यश होगा। 'सब अपराध' जैसे कि—सीता-हरण, जटायु वध, विभीषण का अपमान एवं ब्राह्मण, गौ, ऋषि और देवता आदि को दु:ख देना इत्यादि। इस शर्त में—"काज हमार तासु हित" (दो० १९); की दोनों बातें हैं, देखिये दो० १६ चौ० ८ भी।

(२) 'दसन गहहु तृन···'—दाँत-तले तृण दाबने का भाव यह कि मैं अज्ञ हूँ, पशुवत् हूँ, गो-रूप में आया हूँ। 'कंठ कुठारी' का भाव यह कि मैंने स्वयं अपना गला कटाने का काम किया है। अत, यह कुठारी है, मेरा गला काटिये और चाहे रखिये। ये हीनता-दीनता प्रकट करने की रीतियाँ हैं। अभिमानी लोग बाहर चाहे नम्र भी हों, पर अपने कुटुम्बियों के सामने विशेषकर स्त्रियों के आगे कसूरी बनकर दीनता नहीं प्रकट करते। इसलिये साथ ही ये दो बातें भी कही गई हैं, क्योंकि शरण होने को कहना है, उसमें तो मन, वचन, कर्म से अभिमान का सर्वथा त्याग होना चाहिये। वाचिकी अभिमान-त्याग के लिये आर्त्त-वचन कहने को दोहे में कहा है।

यह अपराधी के लिये शरण होने की रीति है, मंदोदरी ने भी कहा है, यथा—"चलु मिलु बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहिं। तुलसिदास प्रभु सरन सबद सुनि अभय करैगो तोहिं॥" (गी० लं० १) "रे कंत! तृन दंत गहि, सरन श्रीराम कहि, अजहुँ येहि भाँति लै सौंपु सीता॥" (क० लं० १०), स्त्रियों के सहित चलने का यह भी भाव है कि मैंने आपकी स्त्री का हरण किया है। अत, मेरी सब स्त्रियाँ उपस्थित हैं, इन्हें सेवा में लीजिये। परिजनों को साथ लेने में भी यह भाव है कि इनके सहित मैं दंडनीय हूँ, अत, सबके साथ आपकी शरण में आया हूँ, रक्षा कीजिये।

(३) 'सादर जनकसुता···'—श्रीजानकीजी को सुसज्जित पालकी पर चढ़ाकर आगे करो। उनकी सेवा में अपनी स्त्रियों को रक्खो और उनके पीछे माता के साथ बालक की तरह तुम चलो। श्रीजानकीजी को आगे देखकर और तुम्हें स्त्रियों की ओट लिये हुए देखकर प्रभु का कोप शान्त हो जायगा। 'जनकसुता' का भाव यह कि ये जैसे श्रीजनकजी के यहाँ रहीं, वैसे ही मेरे यहाँ रहीं, अब मैं इन्हें आपको समर्पण करता हूँ। 'येहि विधि'—जैसा क्रम ऊपर कहा गया। 'सकल भय त्यागे'—भाव यह कि फिर तुम्हें कोई भय न रहेगा, क्योंकि शरणागत को अभय देना प्रभु का विरद है, यथा—"मम पन सरनागत भय हारी।" (सु० दो० ४३)।

(४) 'प्रनतपाल'···'—यद्यपि मैं विश्व-द्रोही हूँ, तथापि आपकी शरण हूँ, आप सर्वलोक-शरण्य हैं, अतएव मेरी भी रक्षा करें, श्रीमुख-प्रतिज्ञा है; यथा—"जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥···करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥" (सुं० दो० ४७)। 'रघुबंस मनि'—रघुवंशी सभी शरणपाल होते आये हैं, आप तो उस कुल में शिरोमणि हैं, अतः मेरी रक्षा करें। 'आरत गिरा'—दोहे का पूर्वार्द्ध आर्त्त वाणी है; यथा—"अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥ सुनि कृपाल अति आरत बानी ।" (आ० दो० १)

रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी ॥१॥
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नाते मानिये मिताई ॥२॥

शब्दार्थ—पोत = पशु-पक्षी आदि का छोटा बच्चा।

अर्थ—अरे वानर के बच्चे! सँभालकर बोल। अरे मूर्ख, तू मुझको नहीं जानता कि मैं देवताओं का शत्रु हूँ ॥१॥ अरे भाई! अपना और अपने बाप का नाम बता, किस नाते से मित्रता मानता है? ॥२॥

विशेष—(१) 'सुरारी'—भाव यह कि मैंने इन्द्रादि देवताओं को भी जीत लिया है। मेरी इस प्रभुता को नहीं जानता? कि मुझे मनुष्य की शरण होने को कहता है? भाव यह कि मनुष्य को तो मैं कुछ समझता ही नहीं। अंगदजी को अपने प्रभाव का अनभिज्ञ मानकर उन्हें मूढ़ कहा।

(२) 'कहु निज नाम ·····'—अंगदजी की बातें अपने प्रतिकूल समझकर पहले डाँट-फटकार दिखाकर फिर उनके वचनों के अनुसार पूछने लगा। 'मम जनकहि तोहि···' के अनुसार पूछता है कि अपना नाम, अपने बाप का नाम और मित्रता का स्वरूप कह। 'केहि नाते मानिये'—मित्रता अनेक हेतुओं से होती है। तेरे पिता की मित्रता किस हेतु को है? ध्वनि यह कि तू वानर और मैं राक्षस हूँ, मित्रता कैसी? 'मानिये'—प्रायः मित्र को मित्र जानता है, पर मैं नहीं जानता और तू मिताई माने हुए है; अतः, नाता कह।

अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही भेटा ॥३॥
अंगद-बचन सुनत सकुचाना। रहा बालि बानर मैं जाना ॥४॥

अर्थ—मेरा नाम अंगद है, मैं बालि का पुत्र हूँ। उससे तेरी कभी भेंट हुई थी? ॥३॥ अंगदजी का वचन सुनते ही वह सकुच गया और बोला—(हाँ) बालि वानर था, मैं उसे जानता हूँ ॥४॥

विशेष-(१) 'अंगद नाम ·····'—श्रीअंगदजी ने तीनों बातों के उत्तर दे दिये कि मेरा नाम अंगद है, बाप का नाम बालि है और 'भई ही भेटा' से उस घटना की स्मृति कराई कि जब तुमसे बालि की भेंट हुई थी। उसने तुझे काँख में दबा रक्खा था, तब हारकर तूने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की थी और एक मास तक किष्किंधा में उनके छोटे भाई की तरह रहा था, यह सब याद है कि नहीं; यथा—"अगन त्रिदिन अति बीर बालि बल जानत हो किधौं अब बिसरायो ॥" (गी० छं० ४), बालि से इसके हारने की यह कथा वाल्मी० ७।३३ में है।

(२) 'अंगद वचन सुनत······'—सकुच गया कि यह मेरे उस भेद को पूरा जानता है। इसी से शीघ्र ही उत्तर दिया कि स्पष्ट में मेरी पराजय मेरी सभा में न कह दे। इसलिये अपनी जानकारी कहकर फिर भेद-नीति की बातें करने लगा। 'मैं जाना'—मानों बहुत थोड़ी बात है, अब इसे स्मरण हो आया। यह इसकी धूर्तबाजी है, यह श्रीहनुमान्जी से वालि-वध सुन चुका है, इससे उसकी ओर से निर्भय है, तभी उसके प्रतिकार का डर नहीं है। इसी से यहाँ गर्व के सहित केवल उससे जान-पहचान मात्र को स्वीकार करता है।

अंगद तहीं वालि कर बालक। उपजेहु बंस-अनल कुलघालक ॥५॥
गर्भ न गयहु व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख, तापस-दूत कहायहु ॥६॥
अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन तब अंगद कहई ॥७॥

अर्थ—अरे अंगद! तू ही वालि का पुत्र है? कुल का नाश करनेवाला तू वंश में कुलरूपी बाँस के लिये अग्निरूप पैदा हुआ है? ॥५॥ तेरी माता का गर्भ न गिर गया? अरे, तू व्यर्थ ही पैदा हुआ कि अपने मुख से तपस्वी का दूत बनता है ॥६॥ अब वालि की कुशल कह, वह कहाँ है? तब हँसकर श्रीअंगदजी ने वचन कहा ॥७॥

विशेष—(१) 'अंगद तहीं······'—यहाँ 'वंस' शब्द के श्लेषार्थ-रीति से दो अर्थ हैं—कुल और बाँस। बाँसों में परस्पर रगड़ से ही अग्नि पैदा होती है, फिर वह सम्पूर्ण वन को जला देती है। वैसे ही तू अपने वंश-भर का नाशक हुआ। तेरे ही रहते हुए सुग्रीव राज्य पर बैठा, जिससे वालि ने उसे निकाला, वैर किया कि मेरे पुत्र के रहते हुए यह क्यों राजा बना? उसी पर श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी से मित्रता की, और वालि मारा गया। अब तुम दोनों उन्हीं श्रीरामजी की सहायता करने आये हो, तो मेरे द्वारा सपरिवार मारे जाओगे। अतः, तुम कुल-घालक हो।

(२) 'गर्भ न गयउ······'—ऐसे कुल-घालक के होने से न होना ही अच्छा है कि तूने वालि की कीर्त्ति का नाश किया, उसके मारनेवाले का दूत बना। ऐसे कुपूत से तो बिना पुत्र ही अच्छा था। कुल की कीर्त्ति तो रहती; यथा—"जिमि कुपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं।।" (कि० दो० १५); भाव यह कि मुझसे मिल जा और बाप का बदला लेकर सुपूत बन। सुपूतपना इसी में है कि बाप की कीर्त्ति की रक्षा कर, किष्किंधा का राज्य ले।

(३) 'अब कहु कुसल···'—रावण ने 'कुल घालक' कहकर प्रकट कर भी दिया है कि मैं सब हाल जानता हूँ। श्रीहनुमान्जी से भी सुन चुका है यथा—"खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली ॥" (सुं० दो० २०); फिर भी अज्ञ की तरह व्यङ्ग से कुशल पूछता है और इसे अपने पक्ष में खींचने के लिये ऊपर से सौहार्द दिखाता है। इसकी इस धूर्त्तता को जानकर श्रीअंगदजी बिहँसे कि यहाँ तेरी माया न लगेगी। फिर वक्रोक्ति से उत्तर देते हैं।

दिन दस गये बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥८॥
राम-बिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई ॥९॥
सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके ॥१०॥

अर्थ—दस दिन (कुछ दिन) बीतने पर वालि के पास जा अपने सखा को हृदय से लगाकर उससे ही कुशल पूछ लेना ।। भाव यह कि तुम भी थोड़े ही दिनों में राम-बाण से मरकर वहीं जाओगे, जहाँ वालि गया है ।।८।। श्रीरामजी से वैर करने से जैसी कुशल होती है वह सब तुझे वही सुनावेगा ।।९।। अरे शठ ! सुन, भेद उसके मन में होता है, जिसके हृदय में श्रीरघुवीर नहीं हैं ।।१०।।

विशेष—(१) 'दिन दस गये···'—यदि श्रीअंगदजी सीधे कह देते कि वालि को तो श्रीरामजी ने मार डाला तब वह बहुत हँसता और इन्हें धिक्कारता कि अपने बाप के शत्रु के तुम दूत बने, ऐसे निर्लज्ज हो। यदि छिपाते तो वह जानता तो है ही, इससे इन्हें झूठा कहता। इसलिये युक्ति से उत्तर देते हैं कि जब तुम्हारी ऐसी ही नियत है, तब जल्दी ही मारे जाओगे, तुम्हारी भी वही गति होगी; यथा—"राम बालि निज धाम पठावा।" (कि॰ दो॰ १०), और—"तुम्हहूँ दियो निज धाम राम···" (दो॰ १०२)।

'सखा'—क्योंकि दोनों समान पापी हैं। परस्त्री-हारी और राम-विरोधी दोनों हैं और अग्नि की साक्षी से सखा भी बने ही हैं।

(२) 'राम विरोध कुसल···'—श्रीरामजी से विरोध कर के वालि मारा गया, वैसे तुम भी उनसे वैर के कारण मारे जाओगे; यथा—"राम विरोध न उबरसि, सरन विष्णु अज ईस।" (सुं॰ दो॰ ५६); राम-विरोधी की कुशल होती ही नहीं; यथा—"राम विरोध विजय चह, सठ हठ बस अति अज्ञ ।।" (दो॰ ८४)।

(३) 'सुनु सठ-भेद होइ···'—रावण ने भेद-नीति से श्रीअंगदजी को फोड़ना चाहा, ऊपर लिखा गया। उसे श्रीअंगदजी स्पष्ट-रूप में कहते हैं कि यह भेद तेरा तब चलता, जब मेरी सत्य निष्ठा श्रीरघुवीर में न होती। मैं भीतर-बाहर दोनों प्रकार से श्रीरघुवीर का दास हूँ। वे रघुकुल-श्रेष्ठ परम वीर और शरण-पाल हैं और अपनी प्रतिज्ञा में पूर्ण हैं। उन्होंने मेरे पिता के सामने ही मुझे अपना दास बनाने की प्रतिज्ञा कर ली है, अत-एव उनमें मेरी सत्य निष्ठा है। मैं वीर का अनुयायी होकर कायर की बातों में कैसे आ सकता हूँ ? श्रीअंगदजी को श्रीरामजी ने 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ।' इस वचन से चातुर्य-प्रदान कर दिया है, इससे वे इसकी माया को तुरत समझ गये।

दोहा—हम कुल-घालक सत्य तुम्ह, कुल-पालक दससीस।
अंधउ बधिर न अस कहहिं, नयन कान तव बीस ।।२१।।

सिव-बिरंचि-सुर-मुनि-समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई ।।१।।
तासु दूत होइ हम कुल बोरा। अइसिहु मति उर बिहर न तोरा ।।२।।

अर्थ—अरे दशशीस ! हम कुल के नाश करनेवाले हैं और तुम सत्य ही कुल के पालन-पोषण करने-वाले हो ! अंधे और बहरे भी ऐसा नहीं कहते, तेरे तो बीस नेत्र और बीस कान हैं ।।२१।।शिवजी, ब्रह्माजी, देवता और मुनियों का समुदाय जिसके चरणों की सेवा चाहते हैं ।।१।। उसका दूत होकर हमने कुल को डुबा दिया ? अरे ! ऐसी बुद्धि होने पर भी तेरी छाती फट नहीं जाती ! ।।२।।

विशेष—(१) 'हम कुल घालक···'—यहाँ काकु-द्वारा विपरीत अर्थ है कि हम राम-भक्त होने से कुल-रक्षक हैं; यथा—"धर्म परायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन राता ।।" (उ॰ दो॰

१६); तथा—"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुंधरा भागवती च धन्या। स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनाम ध्येयम् ॥" (पद्मपुराण); और तुम सत्य ही कुलपालक नहीं हो, किन्तु कुलघालक हो; यथा—"राम निमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनि हारा।" (दो० १०२); 'अंधउ बधिर ...'– जो अंधा होता है वह कान से सुनकर जान लेता है। जो बहिरा होता है वह देखकर जान लेता है, इस तरह वे भी ऐसे अनभिज्ञ की तरह नहीं कह सकते और तेरे तो आँख-कान बीस-बीस हैं, तब भी ऐसा कहता है। अतः, ये आँख-कान व्यर्थ ही हैं, यथा—"जासु प्रसाद जनमि जग पुरपति सागर सृजे, खने अरु सोखे। तुलसिदास सो स्वामि न सूझ्यों नयन बीस मंदिर के से मोखे॥" (गी० सुं० १२), "सो नर क्यों दसकंध, घालि वध्यो जेहि एक सर। बीसहु लोचन अंध, धिग तव जनम कुजाति जड़॥" (दो० ३२)।

(२) 'सिव बिरंचि सुर...'—ये सब उनके चरण की सेवा चाहते हैं; यथा—"बार बार बर मागउँ, हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग॥" (उ० दो० १४)—शिवजी। "नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज-प्रेम सदासुभदं॥" (दो० ११०)—ब्रह्माजी। "मोहि जानिये निज दास। दे भक्ति रमा निवास॥" (दो० ११२)—इन्द्रजी। "मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहि सिद्धमुनि प्रभु की सेवा॥" (कि० दो० १२); और भी अत्रि, भरद्वाज, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि का भक्ति चाहना, इसी ग्रन्थ में जगह-जगह लिखा है।

यदि श्रीरामजी की भक्ति से कुल डूबता, तो शिवजी आदि उसकी चाहना क्यों करते ? 'ऐसिउ मति उर...'—हृदय फट जाना चाहता था, यथा—"जब ते कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥" (अ० दो० १६१)।

सुनि कठोर बानी कपि केरी। कहत दसानन नयन तरेरी॥३॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति - धरम मैं जानत अहऊँ॥४॥
कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर त्रिय चोरी॥५॥
देखी नय न दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धरम - ब्रत-धारी॥६॥

शब्दार्थ—तरेरना = नेत्रों से असंतोष प्रकट करना, घुड़कना। नय न = नीति न।

अर्थ—कपि की कठोर वाणी सुनकर रावण आँखें तरेर कर बोला॥३॥ अरे खल! मैं तेरे कठोर वचन सहता हूँ, (क्योंकि) मैं नीति और धर्म जानता हूँ॥४॥ कपि अंगदजी ने कहा कि तेरी धर्मशीलता हमने भी सुनी है कि तूने परस्त्री की चोरी की॥५॥ और दूत की रक्षा में नीति न देखी। अरे धर्म व्रतधारी! तू डूब नहीं मरता ?॥६॥

विशेष—(१) 'रावण कहता है कि तेरे कठोर वचन—'ऐसिउ मति उर बिहरु न तोरा।' सहता हूँ, क्या करूँ मैं नीति और धर्म का ज्ञाता हूँ, इसी से विवश हूँ। नीति में लिखा है कि दूत यथार्थ वादी चाहिये और वह अवध्य है। और धर्म-दृष्टि में क्षमाशीलता परम धर्म है। इससे मैं तुझे छोड़ता हूँ।

(२) श्रीअंगदजी धर्म-शीलता में तो 'पर तिय चोरी' का और नीति-शीलता में 'दूत रखवारी' का उदाहरण देते हैं। परस्त्री-हरण आततायी के छ: दोषों में है। अत:, भारी अधर्म है; यथा—"अग्निदो

गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥" (वसिष्ठस्मृति ३।१९) ; पुनः 'दूत-रखवारी' की कथा वाल्मी० ७।१३।८-४० में है कि इसके अन्याय को सुनकर भाई समझकर कुबेरजी ने दूत-द्वारा सँदेशा भेजा कि हमारे कुल के विरुद्ध पापाचरण न करो, अन्यथा देवता और ऋषिगण तुम्हारे विरुद्ध उपाय कर रहे हैं। इसपर रावण क्रुद्ध होकर तीनों लोकों एवं चारों लोकपालों के जीतने की प्रतिज्ञा की और उस दूत को स्वयं तलवार से काट दिया और दुरात्मा ने राक्षसों को खाने के लिये दे दिया, तब त्रिलोक-विजय के लिये चला। उसी बात को लेकर श्रीअंगदजी कहते हैं कि आज तो तुम नीतिज्ञ बने हो, पर उस समय नीति नहीं देखी थी। इन दो उदाहरणों से तुम महा अधर्मी और महा अन्यायी हो, इस तरह सप्रमाण उत्तर पर यदि तुममें कुछ भी लज्जा होती, तो चुल्लू भर पानी में डूब मरते, किन्तु तुम तो महा निर्लज्ज हो। यहाँ 'धर्मव्रत धारी' में 'वक्रोक्ति' है।

कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी ॥७॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़ भागी ॥८॥

अर्थ—बहन को नाक-कान-रहित देखकर तूने धर्म ही विचार कर तो क्षमा की है ? ॥७॥ तेरी धर्म-शीलता संसार-भर में जगमगा रही है, हम भी बड़े भाग्यवान् हैं कि तेरे दर्शन पाये ॥८॥

विशेष—भाव यह कि जहाँ तुम प्रतिकार में असमर्थ होते हो, वहाँ निर्लज्ज होकर अधर्म को धर्म मान लेते हो। शूर्पणखा के अपमान का बदला न ले सके, तो उसे क्षमा धर्म में प्रकट किया। पर जहाँ (उपर्युक्त) दूत-रक्षा में क्षमा की आवश्यकता थी, वहाँ नहीं की। परस्त्री-हरण को तो तुमने धर्म ही मान लिया है। तात्पर्य यह कि तुम महा अधर्मी और निर्लज्ज हो ; यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी ॥" (दो० १९) ; 'पावा दरस हमहुँ बड़ भागी।'—इस व्यंगोक्ति का भाव यह कि तुम ऐसे पापी के देखने से मैं भी पाप का भागी हुआ ; यथा—"तत्संसर्गी च पंचम." (मनु०) ; अतः, मैं हतभागी हुआ। यहाँ अत्यन्त गूढ़ उपहास है।

दोहा—जनि जलपसि जड़ जंतु कपि, सठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल - बल - बिपुल-ससि, ग्रसन हेतु सब राहु ॥
पुनि नभ सर मम कर निकर, कमलन्हि पर करि बास।
सोभत भयउ मराल इव, संभु सहित कैलास ॥२२॥

शब्दार्थ—जलपना = व्यर्थ बकवाद, डींग हाँकना। जंतु = छोटा कीड़ा, तुच्छ जीव।

अर्थ—अरे जड़ ! कीड़े ! वानर ! व्यर्थ बकवाद न कर, अरे शठ ! मेरी भुजाओं को देख, ये सब लोकपालों के भारी बल-रूपी बहुत-से चन्द्रमाओं को ग्रसने के लिये राहु-रूप हैं॥ फिर (और सुन—) आकाश-रूपी तालाब में मेरे भुज-समूह-रूपी कमलों पर कैलास-समेत श्रीशिवजी वास करते हुए हंस के समान शोभित हुए थे ॥२२॥

विशेष—(१) 'जड़, जंतु, कपि' कहकर अंगदजी को अज्ञानी एवं पशु जनाया। 'बिलोकु'—का

भाव यह कि अभी भी इनपर चिह्न बने हैं; यथा—"ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणम्। वक्षोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ॥" (वाल्मी ५।१०।१६); लोकपाल कई हैं, इसलिये कई चन्द्रमाओं की उपमा दी और फिर उनके ग्रसने के लिये भुजा-रूपी राहु भी बीस कहे गये हैं।

(२) 'पुनि नभ सर मम···'—हंस और कैलास श्वेत-वर्ण हैं, इससे रूपक बाँधा है। हंस कमल-पत्र के वन पर सोहता है; यथा—"सुर-सर-सुभग वनज वन चारी। डाबर जोग कि हंस-कुमारी।" (बा० दो ५१); अन्यत्र कमल के फूल पर हंस नहीं ठहर सकता;-पर मेरे कर-कमलों पर श्रीशिवजी के साथ कैलास ठहरा हुआ शोभित हुआ। (तब इन भुजाओं के आगे तुम्हारा स्वामी क्या चीज है? यह ध्वनि है)।

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद। मो सन भिरिहि कवन जोधा बद॥१॥
तव प्रभु नारि-बिरह बलहीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥२॥
तुम्ह सुग्रीव कूल-द्रुम दोऊ। अनुज हमार भीरु अति सोऊ॥३॥

शब्दार्थ—बद=(१) कह, (२) बदकर, बाजी लगाकर। कूल द्रुम=तट के वृक्ष।

अर्थ=अरे अंगद! सुन, तेरे दल में कौन योद्धा है जो मुझसे बदकर लड़ेगा? कह॥१॥ तेरा स्वामी स्त्री-विरह से बल-हीन हो गया है। उसका भाई उसके दुःख से दुखी और मलिन (उदास) रहता है॥२॥ तू और सुग्रीव दोनों तट के वृक्ष हैं और जो हमारा भाई विभीषण है, वह भी अत्यन्त डरपोक है॥३॥

विशेष—'तासु दुख दुखी मलीना'—मलिनता से उसके चित्त का उत्साह जाता रहा, तब वह भी बल-हीन ही है। 'तुम्ह सुग्रीव कूल-द्रुम दोऊ।'—नदी-तट के वृक्ष जड़-सहित उखड़कर बह जाते हैं; यथा—"बिषम बिषाद तोरावति धारा।···धीरज तट तरुवर कर भंगा॥" (अ० दो० २७५); वैसे ही तुम दोनों संग्राम-रूपी नदी की धारा में समूल नाश हो जाओगे। भाव यह कि कगन के कारण नदी की धारा एक ओर ऊँची और दूसरे किनारे पर नीची देख पड़ती है, उसी किनारे के वृक्ष कटते हैं। वैसे भेद-नीति से मैं एक का पक्ष करके दूसरे को उखाड़ फेंकूँगा तुम दोनों मे हार्दिक भेद है ही; यथा—"सुग्रीवोऽगदशल्यभेदकतया निर्मूलकूलद्रुमः।" (हनुमन्नाटक ८।१) अर्थात् सुग्रीव शल्य (वृद्ध होने से) और अंगद भेद की शंका से उत्साह-रहित हो मूल-रहित नदी तट के वृक्ष के समान हैं। अंगदजी का पदारोपण भी इस भाव का पोषक है कि मैं निर्मूल हूँ, तो मेरा पैर उखाड़ दे, तब तो तेरी बात सत्य हो। 'अनुज हमार भीरु···'—वह तो नर-वानरों को आते ही देखकर डर गया, जिससे यहाँ से भाग गया तो वीर राक्षसों के समक्ष कब खड़ा हो सकेगा?

जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥४॥
सिल्पि कर्म जानहिं नल-नीला। है कपि एक महा बलसीला॥५॥
आवा प्रथम नगर जेहि जारा। सुनत बचन कह बालिकुमारा॥६॥

अर्थ—जाम्बवान् मंत्री बहुत बूढ़ा है, वह क्या अब रण मे ठहर सकता है? अर्थात् नहीं॥४॥

नल-नील थवई का काम जानते हैं, (ईंटा-पत्थर जोड़नेवाले युद्ध क्या जानें ?) हाँ, सेना में एक वानर महा बलवान् है ॥५॥ जो पहले आया था और जिसने लंका जलाई थी—यह वचन सुनते ही वालि-कुमार श्रीअंगदजी बोले ॥६॥

विशेष—'जामवंत मंत्री···'—अत्यन्त वृद्ध मृतक-तुल्य होता है—देखिये दो० ३० चौ० २-४। श्रीहनुमान्जी के अद्भुत कर्म सब सभा के प्रत्यक्ष हुए। उन्हें ज्यों-के-त्यों कहकर अन्य लोगों की उपर्युक्त हीनता को सत्य दिखलाना चाहता है कि मैं झूठ नहीं कहता। इसी पर श्रीअंगदजी को उसकी सब बातों के काटने का अच्छा अवसर मिल गया, इससे वे तुरत ही बोले।

यहाँ इसने जिन-जिनकी निंदा की है, वे सब आगे पृथक्-पृथक् युद्ध में इसकी दुर्दशा करेंगे और अपना-अपना बल दिखलावेंगे।

सत्य वचन कहु निसिचर-नाहा। साँचेहु कीस कीन्ह पुर-दाहा ॥७॥
रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस वचन सत्य को कहई ॥८॥
जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन ॥९॥
चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई ॥१०॥

अर्थ—हे राक्षसराज रावण ! सत्य वचन कह, क्या सत्य ही वानर ने नगर को जला दिया ? ॥७॥ रावण का नगर एक छोटा-सा वानर जलावे, यह वचन सुनकर भला इसे कौन सत्य कहेगा ? अर्थात् कोई विश्वास न करेगा ॥८॥ हे रावण ! तुमने अत्यन्त उत्तम योद्धा कहकर जिसकी प्रशंसा की है, वह तो श्रीसुग्रीवजी का एक छोटा दूत (हरकारा) है ॥९॥ जो बहुत चलता है, वह वीर नहीं होता, उसे तो हमने खबर लेने के लिये भेजा था ॥१०॥

विशेष—(१) 'सत्य वचन कहु···'—यह विश्वास योग्य बात नहीं है, इसी से बार-बार "साँचेहु कीस···" "सत्य को कहई", आदि से प्रकट किया है; यथा—"कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (सु० दो० ३२), श्रीअंगदजी ने श्रीहनुमान्जी से सुना था, पर इन्होंने आश्चर्य मानकर विश्वास नहीं किया था। जब रावण ने स्वयं कहा है, तब सत्य जानना कहा। 'अलप कपि'—एक तो वानर, दूसरे छोटा-सा, फिर वह ऐसा कार्य करे, तो महान् आश्चर्य की बात है। 'निसिचर-नाहा'-भाव यह कि सामान्य निशाचर भी वानरों को खा जाते हैं, तू तो उन सबका राजा एवं त्रय-लोक-विजयी है। तेरे नगर पर इन्द्रादि देवता भी दृष्टि नहीं डाल सकते। किन्तु, तेरे देखते हुए उसने कैसे उसे जला डाला और जीता हुआ लौट गया ? भाव यह कि तुझमें एक तुच्छ वानर के समान भी बल नहीं है। 'रावन' शब्द का भाव यह कि जो तीनों लोकों को रुलानेवाला है, उसे भी उसने रुला दिया।

यहाँ रावण-कृत व्यङ्ग्योक्ति-निन्दा का तदनुसार गूढ़ोत्तर है, नीति है कि 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।' इस युक्ति से श्रीअंगदजी ने सम्पूर्ण राम-सेना की प्रशंसा की है। झूठ कथन का दोष यहाँ नहीं है; केवल वाग्युद्ध हो रहा है। श्रीअंगदजी तो आगे साफ कहते हैं; यथा—"सत्य पवन सुत मोहि सुनाई।" पुनः श्रीहनुमान्जी का महत्त्व भी आगे कहा है; यथा—"कस रे सठ हनुमान कपि, गयउ जो तव सुत मारि।" इत्यादि।

(२) 'लघु धावन'—उसने तो सौ योजन ही लाँघा है, यहाँ ऐसे-ऐसे वानर हैं, जिन्होंने दो ही

घड़ी में पृथिवी-भर की सात प्रदक्षिणाएँ की हैं। 'पठवा खबर लेन'—उसकी वीरों में गिनती नहीं है, केवल खबर लेने के लिये ही भेजा गया था। 'हम' अर्थात् उसे तो हमने भेजा था, श्रीसुग्रीवजी ऐसे लघु को न भेजते।

(३) 'चलइ बहुत सो···'—यह पवन का पुत्र है, इससे चलने में तेज है। इसलिये उसे हमने ही भेजा है। बहुत चलने से एवं समुद्र लाँघने से तुमने उसे वीर समझ लिया है, यह तो धावन (चलनेवाला) है, वीर नहीं है।

दोहा—सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं, तेहिं भय रहा लुकाइ॥
सत्य कहहि दसकंठ सब, मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारे कटक अस, तो सन लरत जो सोह॥

अर्थ—सत्य ही वानर ने विना प्रभु की आज्ञा पाये नगर जला डाला ? इसी डर से वह लौटकर श्रीसुग्रीवजी के पास नहीं गया, छिप रहा॥ हे दशग्रीव ! तुम सत्य कहते हो, मुझे सुनकर कुछ क्रोध नहीं है। हमारी सेना में कोई भी ऐसा नहीं है कि जो तुमसे लड़ने में शोभा पावे, (भाव यह कि तुम-ऐसे तुच्छ से लड़ने में सब अपनी हीनता समझेंगे)॥

विशेष—'बिनु प्रभु आयसु पाइ'—प्रभु ने तो उसे इतनी ही आज्ञा दी थी—"बहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥" (कि॰ दो॰ २२); यह कार्य उसने अपनी ओर से कर डाला। इसी डर से वह श्रीसुग्रीवजी के सामने नहीं गया, छिप रहा था। सत्य ही श्रीहनुमान्‌जी इस कार्य से डरे हुए थे, तभी पहुँचने पर श्रीजाम्बवान्‌जी के पीछे थे, पीछे जब प्रभु ने उसी कार्य की प्रशंसा की, तब श्रीहनुमान्‌जी ने प्रभु की प्रसन्नता जानी; यथा—"··· प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।···" (सुं॰ दो॰ ३२) —यह भी भाव है। 'मोहि न सुनि कछु कोह'—यद्यपि तुम्हारे वचन ललकार के हैं; यथा—'मो सन भिरिहि कौन जोधा बद' पर मुझे सुनकर क्रोध नहीं है, इसलिये कि तुमपर क्रोध करने से अपयश ही होगा। वही आगे कहते हैं—

प्रीति-बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।
जौ मृगपति बध मेढ़कन्हि, भल कि कहइ कोउ ताहि॥
जद्यपि लघुता राम कहँ, तोहि बधे बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु, छत्र जाति कर रोष॥

अर्थ—प्रीति और विरोध बराबरवाले से करना चाहिये—ऐसी नीति है। यदि सिंह मेढ़क को मारे तो क्या उसे कोई भला कहेगा ?॥ यद्यपि तेरे वध में श्रीरामजी की लघुता और बड़ा दोष है, तथापि हे दशग्रीव ! सुनो, क्षत्रिय-जाति का क्रोध कठिन होता है; अर्थात् क्रोधवश वे ऐसे अनुचित कार्य भी कर बैठते हैं॥

विशेष—(१) 'जौ मृगपति बध'''—अपने दल के वीरों को सिंह और रावण को मेढ़क कहा। क्योंकि उसने मारे डर के छिपकर परस्त्री की चोरी की है। तब वे आये ही क्यों? इसपर कहते हैं—

(२) 'जद्यपि लघुता'''—तेरे वध में शोभा नहीं ही है, इसी से तुझे बार-बार समझाया गया, पर यदि तू नहीं ही मानेगा और चरणों पर पड़कर श्रीसीताजी को सादर समर्पण नहीं करेगा तो उन्हें क्रोध आयेगा, क्योंकि वे क्षत्रिय हैं फिर क्रोध आने पर यश-अपयश, उचित-अनुचित का विचार न रहेगा; यथा—"लखन कहेउ हँसि सुनहुँ मुनि, क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं बिस्व प्रतिकूल॥" (बा० दो० २७७)। इस कार्य में उनको कोई भला न कहेगा, अपयश होगा—यही 'बड़ा दोष' है, पर वे क्रोधवश होने पर फिर विचार न करेंगे, तुझे मार ही डालेंगे। क्षत्रिय-जाति में क्रोध अधिक होता है।

> बक्र उक्ति धनु बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस।
> प्रतिउत्तर सड़सिन्ह मनहु, काढ़त भट दससीस॥
> हँसि बोलेउ दसमौलि तब, कपि कर बड़ गुन एक।
> जो प्रतिपालइ तासु हित, करइ उपाय अनेक॥२३॥

शब्दार्थ—बक्र-उक्ति (वक्रोक्ति) = यह एक अलंकार है, जिसमें काकु या श्लेष से वाक्य का और का और अर्थ किया जाता है।

अर्थ—वक्रोक्ति-रूपी धनुष से वचन-रूपी बाण मारकर वानर अंगदजी ने शत्रु का हृदय जला दिया। योद्धा रावण प्रत्युत्तर-रूपी सँड़सियों से उन बाणों को मानों निकाल रहा है॥ तब रावण हँसकर बोला कि वानर का एक बड़ा गुण यह है कि जो उसका पालन करता है, उसका यह अनेक उपायों से हित करता है॥ २३॥

विशेष—(१) वक्रोक्ति को धनुष कहा है, क्योंकि दोनों में टेढ़ाई होती है। धनुष से निकलकर बाण शत्रु का हृदय वेध डालता है, वैसे ही वक्रोक्ति ने भी शत्रु रावण के हृदय को जला दिया। यह वक्रोक्ति की प्रशंसा है। बाण-रूपी वचन सीधे हैं, पर वक्रोक्ति रूपी धनुष के द्वारा उनसे आघात हुआ है।

(२) 'प्रतिउत्तर'''—प्रबल उत्तर तो आता नहीं, केवल हँसी आदि के द्वारा हृदय की जलन निकालता है। 'भट' क्योंकि क्षुभित न होकर चुभे हुए बाणों को निकालता है।

(३) 'हँसि बोलेउ दसमौलि'''—हँसकर श्रीअंगदजी के वचनों का निरादर किया। 'कपि कर बड़ गुन एक।''' यही सँड़सी है, इससे उक्त वचन-रूपी बाणों को निकालता है। उसका भाव यह है कि इसने अपने स्वामी के हित के लिये बनाकर ये वचन कहे हैं—सत्य नहीं हैं। 'दसमौलि' का भाव यह है कि दसों मुखों से हँसा कि जिससे दसों दिशाओं के लोग जान लें कि श्रीअंगदजी के वचन व्यर्थ हैं।

> धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा॥१॥
> नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति-हित करइ धर्म निपुनाई॥२॥
> अंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभु-गुन कस न कहसि येहि भाँती॥३॥

मैं गुनगाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करउँ नहिं काना ॥४॥

अर्थ—वानर धन्य हैं, जो अपने स्वामी के कार्य के लिये लज्जा छोड़कर जहाँ-तहाँ नाचते हैं ॥१॥ नाच-कूदकर लोगों को रिझाकर के स्वामी का हित करते हैं, यह उनकी धर्म की निपुणता है ॥२॥ रे अंगद ! तेरी जाति ही स्वामि-भक्त है, तब तू अपने स्वामी का गुण इस प्रकार कैसे न कहे ? (अर्थात् स्वामिभक्त अपने स्वामी की प्रशंसा करते ही हैं) ॥३॥ मैं गुण-ग्राहक और परम सुजान हूँ इसी से तेरी कड़वी रटन पर कान नहीं देता; अर्थात् उपेक्षा कर देता हूँ कि यह तो इसका जातीय स्वभाव है, छूट नहीं सकता। प्राकृतिक दोष उपेक्षणीय कहा गया है ॥४॥

विशेष—(१) 'धन्य कीस'''नाचि कूदि'''—यह उपर्युक्त 'स्वामि हित करइ उपाइ अनेक' का ही विस्तार है कि तू अपने स्वामी के हित के लिये यहाँ के लोगों को नाच-कूदकर रिझा रहा है। तुम्हारा स्वामी नट है, इशारा करके यहाँ तुम्हें नचा रहा है, अपना गुण कहवा रहा है, अच्छी जगह आया है, क्योंकि यहाँ मैं गुण-ग्राहक हूँ। अपनी न्यूनता आदि पर ध्यान न देकर केवल तेरे स्वामि-भक्ति-रूप गुण को देखकर प्रसन्न होता हूँ। व्यंग्य में 'धन्य' से धिक्कार का भाव है।

(२) 'परम सुजाना'—सुजान लोग व्यर्थ बातों पर ध्यान नहीं देते; यथा—"सुनहुँ नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचन करिय नहिं काना ॥" (बा० दो० १७८), इसी से मैं तेरी कटु रटन पर कान नहीं देता। पुनः सुजान लोग सुजानता से सबके गुण जानकर उसका आदर करते हैं; यथा—"साधु सुजान सुसील नृपाला।'''सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी।'''" (बा० दो० २७); और मैं तो दिग्विजयी राजा हूँ, अतएव 'परम सुजान' हूँ, तो गुण का आदर क्यों न करूँ ? उसी गुण पर तेरी कटु रटन को क्षमा करता हूँ, यही गुण का आदर करना है। इस युक्ति से उसने अंगदजी को व्यर्थ बकवादी लक्षित किया।

कह कपि तव गुन-गाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई ॥५॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा ॥६॥
सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई ॥७॥

अर्थ—वानर अंगदजी ने कहा कि तेरी गुण-ग्राहकता सत्य है, श्रीहनुमान्जी ने उसे हमें सत्य ही सुनाया है ॥५॥ कि अशोक वन को नाश कर, पुत्र को मारकर, उसने नगर को जलाया, तो भी (तुम्हारे विचार में) उसने तुम्हारा कुछ अपकार नहीं किया ॥६॥ वही तुम्हारी सुहावनी प्रकृति (स्वभाव) विचार करके, रे दशकंधर ! मैंने ढिठाई की ॥७॥

विशेष—(१) 'सत्य पवनसुत मोहि सुनाई।'—जब श्रीहनुमान्जी की लघुता कहते थे, तब उन्हें 'कपि', 'अल्प कपि', 'कीस' आदि छोटा नाम देते थे। यहाँ प्रशंसा में 'पवन-सुत' यह उनका बड़ा नाम दिया।

(२) 'तदपि न तेहि कछु कृत अपकारा।'- अब गुण-ग्राहकता दिखाते हैं कि श्रीहनुमान्जी ने अशोक-वन का विध्वंस किया। अक्ष को मारा और नगर को जलाया। तब तुमने उनके इन गुणों का आदर ही किया। उक्त कार्यों को अपकार नहीं माना, अन्यथा उन्हें दंड देते। व्यंग्य का भाव यह है कि अपने बस-भर तो तुमने सब कुछ किया। उस अकेले से लड़ने को उत्तरोत्तर पाँच-छः बार श्रेष्ठ योद्धा भेजे और उसका कुछ न कर सके। तब गुण-ग्राहक बनकर अपना गाल बजाते हो। वैसे ही मेरा भी कुछ कर तो सकते नहीं, तब गुण-ग्राहक बनकर परम सुजानता कहते हो।

(३) 'सोइ विचारि तव ...'—भाव यह कि जब पवन-सुत के उक्त कार्यों को तुमने भलाई ही माना तो तुम्हारे उसी सुहावने-स्वभाव पर मैंने भी तुम्हारे एक पुत्र को मारा और तुम्हें भी सभा के बीच में खरी-खोटी सुनाई, यह सब ढिठाई की कि तुम कुछ प्रतिकार तो करोगे नहीं। 'सुहाई' का व्यंग्य में यहाँ 'असुहाई' अर्थ है कि तुम बड़े कायर और असमर्थ एवं निर्लज्ज हो। अत, मेरा भी कुछ न कर सकोगे, इसी से मैंने भी वैसा ही निश्शंक बर्ताव किया।

देखेउँ आइ जो कछु कपि भाखा। तुम्हरे लाज न रोष न माखा ॥८॥
जौं असि मति पितु खायहु कीसा। कहि अस बचन हँसा दससीसा ॥९॥

शब्दार्थ—माखा = असहनशीलता, (यहाँ अमर्ष का अर्थ है)।

अर्थ—जो कुछ श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था, वह आकर मैंने देखा कि तुम्हें न लज्जा है, न रोष है और न माख है ॥८॥ (तब रावण ने कहा) अरे वानर, ऐसी बुद्धि है तभी तो तूने अपने बाप को खा लिया (मरवा डाला), ऐसे वचन कहकर दशशीश रावण (दसों मुखों से) हँसा ॥९॥

विशेष—(१) 'देखेउँ आइ जो ...'—सुनकर मुझे विश्वास न होता था कि त्रिलोक-विजयी रावण लाज, रोष और माख से रहित है, पर आकर देखा तो सत्य ही पाया। परस्त्री-हरण कर्म लज्जाजनक है, इसपर तुम्हें डूब मरना था; यथा—"हमहुँ सुनी कृत पर तिय चोरी ॥ देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्मव्रत धारी ॥" (दो॰ २१), पर तुम बैठे हुए हँसते हो। अत, निर्लज्ज हो। पुन 'रोष' होता तो बहन की नाक और कान काटे जाने का बदला लेते, चुपचाप घर में बैठे न रहते। श्रीहनुमान्‌जी के कर्मों का प्रतिकार करते, पर न कर सके। अत, तुम्हें रोष भी नहीं है। फिर 'माख' होता, तो मेरे कटु वचन न सुनते, पर तुम सुनते हो और कुछ करते नहीं हो।

(२) 'जौं अस मति ...'—रावण ने उलटकर उन्हीं दोषों को श्रीअंगदजी पर डाल दिया कि तुम्हें लज्जा होती तो अपनी माता को श्रीसुग्रीवजी की पत्नी देख डूब मरते। रोष होता तो बाप के मारने-वाले से बदला लेते और माख होता तो पितृ-घाती के दूत अपने मुख से न बनते। ये तीनों दोष तुम्हारे पिता के मरने से प्रकट हुए। इन्हीं दोषों के लिये तुमने पिता को मरवा डाला। 'हँसा'—प्रत्युत्तर की खुशी पर प्रसन्नता दिखाता हुआ हँसा।

पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। अबही समुझि परा कछु मोही ॥१०॥
बालि बिमल जस भाजन जानी। हतउँ न तोहि अधम अभिमानी ॥११॥
कहु रावन रावन जग केते। मैं निज श्रवन सुने सुनु जेते ॥१२॥
बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला ॥१३॥
खेलहि बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई ॥१४॥

अर्थ—(श्रीअंगदजी ने कहा—) पिता को खाकर फिर तुमको भी खाता, पर अभी-अभी कुछ मुझे समझ पड़ा (जिससे नहीं खाया) ॥१०॥ अरे अधम और अभिमानी! बालि के निर्मल यश का पात्र जानकर मैं तुझे नहीं मारता ॥११॥ अरे रावण! कह तो (सही) कि जगत् में कितने रावण हैं, मैंने जितने अपने

कानों से सुने हैं, उनको सुन ॥१२॥ एक तो चलि को जीतने के लिये पाताल गया था, तब बच्चों ने उसे घोड़साल में बाँध रक्खा था ॥१३॥ बालक खेलते थे और जा-जाकर उसे (लातों से) मारते थे। बलि को दया लगी, तब उन्होंने छुड़ा दिया ॥१४॥

विशेष—(१) 'खातेउँ पुनि तोही'—तुम पिता के सखा हो, इससे उसके बाद तुम्हें खाने को चाहता था। 'बालि बिमल जस···'—जब तक तू जीता है, तभी तक लोग मेरे पिता की कीर्त्ति बखान करते हैं कि यही दिग्विजयी पर्वताकार दशशीस और बीस भुजाओं का रावण है, जिसे बालि ने काँख मे दबा रक्खा था। अतः, बालि बल की सीमा है।

यदि तू मर जायगा, तो फिर यह यश न रह जायगा और न कोई बालि के भुज-बल का कुछ अन्दाजा ही कर सकेगा।

(२) 'रावन जग केते'—रावण तो यह एक ही है और इसी के ये सब चरित हैं। पर श्रीअंगदजी मर्यादा से ढँककर कहते हैं कि स्पष्ट कह देने से वह संकुचित होगा। 'सुनु ते ते' अर्थात् इनमें एक को भी स्वीकार करेगा, तो भी शूरता प्रकट हो जायगी। इसी युक्ति से उसके हारने ही के सब प्रसंग सभा में कहते हैं।

अंगद और रावण-संवाद के बहुत अंश हनुमन्नाटक से मिलते हैं। विस्तार-भय से वे यहाँ उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं।

(३) 'बलिहि जितन······'—दिग्विजय के समय रावण ने सुना कि पाताल में बलि के यहाँ उनकी ड्योढ़ी पर एक बड़ा बली व्यक्ति रहता है। उसे जीत लेने से फिर बलि को जीत लूँगा। इसका अभिप्राय जानकर वामन भगवान् ने अपना बल छोटे बालकों को दे दिया, उन्होंने रावण को बाँध लिया, और घोड़साल मे रख दिया। इससे घोड़ों की लीद उठवाते थे। बालक लोग खेलते हुए नित्य इसे लात मारते थे। बलि ने देखा तो उन्हें दया लगी और फिर उन्होंने उसे छुड़ा दिया। श्रीअंगदजी का आशय यह कि तुम बच्चों से न जीत सके, तब बलि के जीतने की कौन बात?

वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड के प्रक्षिप्त में यह कथा और प्रकार से है। मानसकार का यह प्रसंग कल्पभेद से है और कहीं अन्यत्र का है।

(४) 'दया लागि···'—का आशय यह भी है कि तुम्हारे पुत्र, सेना आदि भी तुम्हें नहीं छुड़ा सके। अतः, सभी पुरुषार्थ-हीन हैं। तभी तो तुम्हें बलि की दया का भिखारी बनना पड़ा।

एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेखा ॥१५॥
कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा ॥१६॥

दोहा—एक कहत मोहि सकुच अति, रहा बालि की काँख।
इन्ह महँ रावन तैं कवन, सत्य बदहि तजि माख ॥२४॥

अर्थ—फिर एक रावण को सहस्रबाहु ने देखा, तब जैसे कोई विचित्र जन्तु को पकड़े, उसी तरह उसने उसको दौड़कर पकड़ लिया ॥१५॥ कौतुक के लिये उसे घर ले गया, तब उसे पुलस्त्य मुनि ने

जाकर छुड़ाया ॥१६॥ एक के कहने में मुझे अत्यन्त संकोच होता है, क्योंकि यह वालि की काँख में दबा रहा। इनमें से तू कौन रावण है? 'खास' छोड़कर सत्य कह, (क्या ये सब घटनाएँ तुम्हारे ही सम्बन्ध की तो नहीं हैं?) ॥२४॥

विशेष—(१)—'एक बहोरि सहसभुज देखा।···'—'जंतु बिसेषा'—वर्षाकाल में प्रायः तरह-तरह के विचित्र जीव (कीड़े-मकोड़े) देखने में आते हैं। लड़के लोग खेल के लिये उन्हें पकड़ लेते हैं। वैसे ही इसे उसने दस शिर का विलक्षण जन्तु जानकर पकड़ लिया। इस तरह रावण को अत्यन्त तुच्छ जनाया; यथा—"सहसोत्पत्य जग्राह गरुत्मानिव पन्नगम्।" (वाल्मी० ७ ३२।६३); अर्थात् गरुड़ जैसे सर्प को पकड़ें, वैसे सहस्रार्जुन ने इसे पकड़ लिया। रावण ने श्रीअंगदजी को 'जंतु' कहा था; यथा—'जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि' उसका यहाँ प्रत्युत्तर भी है। 'भवन लै आवा'—इसलिये कि लड़के लोग विचित्र जन्तु जानकर खेलेंगे। 'कौतुक लागि' से कोई यह भी भाव कहते हैं कि सभा में जब कोई कौतुक होता था तब इसके दस शिरों और बीसों हाथों पर ३० दीपक रक्खे जाते थे।

वाल्मीकीय उत्तर-कांड सर्ग ३१–३३ में सहस्रार्जुन की कथा है कि वह माहिष्मती का राजा था। एक दिन स्त्रियों के साथ नर्मदा में जल-विहार कर रहा था। उस समय रावण वहाँ समीप में पहुँचा और नर्मदा में स्नान करके श्रीशिवजी का पूजन करने लगा, इसके पास पुष्पों का ढेर रक्खा था। सहस्रार्जुन ने अपनी सहस्र भुजाओं के द्वारा जल के प्रवाह को रोक दिया, जिससे जल उलट पड़ा। रावण के पुष्प आदि भी बह गये। यह पता लगाकर उससे युद्ध करने के लिये गया। पहले इसने अर्जुन की सेना से युद्ध कर उनका नाश किया। पीछे सहस्रार्जुन आया उसने राक्षसों का नाश करना प्रारंभ किया। प्रहस्त के गिरने पर शेष भगे। तब रावण से युद्ध होने लगा। अंत में उसने रावण को ऐसी गदा मारी कि यह घायल होकर बैठ गया। इसी बीच में अर्जुन ने इसे पकड़कर बाँध लिया, पीछे घर लाया। फिर पुलस्त्य मुनि ने आकर सहस्रार्जुन से कहकरके इसे छुड़ाया।

(२) 'एक कहत मोहि सकुच अति···'—क्योंकि इसमें अपने ही घर की प्रशंसा है। यह आत्म-श्लाघा-रूप दोष है; यथा—"अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥" (बा० दो० २७४); यह परशुरामजी की तुच्छता पर कहा गया है।

यह कथा वाल्मीकीय रामायण ७।३४ में है। वालि दक्षिण समुद्र-तट पर संध्या करता था। रावण दिग्विजय के समय उसे जीतने के लिये चुपके से पीछे से जा रहा था कि उसे पकड़ लूँ, पर वह लख गया। फिर इसके पहुँचने पर फिरकर फुर्ती से इसे ही पकड़कर काँख में दबा लिया और संध्या पूरी कर नभ-मार्ग से ले उड़ा, फिर शेष तीन दिशाओं के समुद्रों पर संध्या की और किष्किंधा पुरी में आ इसे छोड़कर इससे पूछने लगा कि तुम कौन हो, कहाँ से आये हो? इसने परिचय कहकर वालि के बल की प्रशंसा की और प्रार्थना कर अग्नि की साक्षी देकर उससे संधि कर ली। सखा बनकर श्रीसुग्रीवजी की तरह एक महीना रहा, तब लंका को गया।

'तजि खास'—यहाँ 'खास' का अर्थ 'मस' धातु के अनुसार है। जिसका अर्थ है—'दंभ या चातुरी से अपने दोष छिपाना'। उपर्युक्त—'तुम्हरे लाज न रोष न माखा' का 'माख' दूसरे अर्थ में है। यों भी यह नहीं है कि जब उसमें माख है ही नहीं, तब यहाँ 'तजि माख' कैसे कहते? अतएव यहाँ का 'माख' दूसरे ही अर्थ में है जो ऊपर लिखा है।

सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हर-गिरि जान जासु भुज-लीला ॥१॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई ॥२॥
सिर-सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी ॥३॥
भुज-बिक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्हके उर साला ॥४॥

शब्दार्थ—बिक्रम = पराक्रम · साल = कसक, पीड़ा।

अर्थ—(रावण ने कहा—) अरे शठ ! सुन, मैं वही बल-पूर्ण रावण हूँ, जिसकी भुजाओं का चरित श्रीशिवजी और कैलास जानते हैं ॥१॥ जिसकी शूरता को उमापति जानते हैं कि जिनकी पूजा मैंने अपने शिर-रूपी पुष्प चढ़ा-चढ़ा कर की है ॥२॥ शिर-रूपी कमलों को अपने हाथों से उतार-उतारकर अगणित बार मैंने त्रिपुर दैत्य के शत्रु श्रीशिवजी की पूजा की है ॥३॥ अरे शठ ! मेरी भुजाओं का पराक्रम दिक्पाल जानते हैं कि जिनके हृदय में अब भी पीड़ा हो रही है ॥४॥

विशेष—(१) 'हर-गिरि जान...'—यहाँ 'हर' और 'हर-गिरि' दोनों का अर्थ है। 'भुज-लीला'—का भाव यह कि मैंने गेंद की तरह कैलास को उठा लिया। तब पीछे श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और उन्होंने वर भी दिया। इसकी कथा वाल्मी० ७।१६ में है। आगे—'हरगिरि मथन निरखु मम बाहू।' भी कहा है, वहाँ केवल कैलास का ही अर्थ है, और 'मथन' का अर्थ पीड़ा पहुँचाने का है; यथा—"तोलयामास तं शीघ्रं स शैलः समकंपत ॥" (वाल्मी० ७।१६।२५)।

(२) 'जान उमापति जासु...'—'उमापति' का भाव यह कि मैंने श्रीशिवजी की शक्ति सहित पूजा की है। शिरों को अपने हाथों से काटने में अपनी शूरता समझता है; यथा—"सूर कौन रावन सरिस, स्वकर काटि जेहिं सीस।" (दो० २८), अपने हाथ शिर काटते हुए उत्साह बना रहता था, फिर व्यथा-रहित स्वयं पूजा भी करता था। जैसे पुष्प उतारने में कष्ट नहीं होता, वैसे शिरों के उतारने में पीड़ा नहीं होती थी, इससे इसे अपनी शूरता कही है। विभीषणजी ने भी कहा है ; यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये।" (दो० १३), 'जान' का भाव यह कि वे इस कर्म के साक्षी हैं, इसी पर उन्होंने वर दिया है।

(३) 'सिर-सरोज निज करन्हि.. '—देवताओं को कमल विशेष प्रिय होता है। इससे शिरों को कमल कहा। पुन. पूजा का फूल अपने ही हाथों से उतारना श्रेष्ठ होता है और पुष्प तोड़ने को उतारना कहा जाता है। वैसे ही शब्द यहाँ दिये गये हैं। 'अमित बार'—क्योंकि जो शिर चढ़ाता था उसकी जगह फिर नवीन शिर हो जाता था। उत्साह की अधिकता से अगणित बार चढ़ाया। यही श्रद्धा-युक्त उत्तम धर्म है; यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।" (उ० दो० ८९); 'सुमन'—का श्लेषार्थ से 'प्रसन्न मन' भी अर्थ है।

(४) 'भुज बिक्रम जानहिं दिगपाला। ..'—दिक्पालों को भुजबल से जीता है; यथा—"भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला।" (दो० ७); 'अजहूँ जिन्हके उर साला'—क्योंकि अब भी देवता लोग दुखड़ा रोते हैं, यथा—"इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्हीं। दारुन बिपति हमहि यहि दीन्हीं ॥" (दो० ८५)।

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरेउँ जाइ बरियाई ॥५॥
जिन्हके दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे ॥६॥

जासु चलत डोलति इमि धरनी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥७॥
सोइ रावन जग विदित प्रतापी । सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी ॥८॥

दोहा—तेहि रावन कहँ लघु कहसि, नर कर करसि बखान ।
रे कपि बर्बर खर्व खल, अब जाना तव ज्ञान ॥२५॥

शब्दार्थ—धँसे, छाती फोड़कर भीतर धँसे । अलीक = झूठा । प्रलापी = निरर्थक बकनेवाला । तरनी = नाव । बर्बर = जंगली, असभ्य ।

अर्थ—दिशाओं के हाथी मेरे हृदय की कठोरता को जानते हैं, (क्योंकि) जब-जब मैं उनसे जबर्दस्ती जा-जाकर भिड़ा हूँ ॥५॥ तब-तब उनके कराल (निकले हुए भीषण) दाँत मेरी छाती में नहीं धँसे, प्रत्युत् लगते ही मूली की तरह टूट गये ; अर्थात् मुझे कुछ श्रम न हुआ, लगते ही टूट गये जैसे मूली शीघ्र टूट जाती है ॥६॥ जिसके चलते समय पृथिवी इस तरह डोलती है जैसे मतवाले हाथी के चढ़ते समय छोटी नाव ॥७॥ मैं वही जगत्-प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ। अरे झूठे, व्यर्थ बकवादी ! क्या तूने मुझे कभी कानों से नहीं सुना ? ॥८॥ उस रावण को तू छोटा कहता है और मनुष्य की बड़ाई करता है । अरे असभ्य तुच्छ वानर ! अरे दुष्ट ! अब मैंने तेरा ज्ञान जाना (बुद्धि की थाह पाली) ॥२५॥

विशेष—(१) 'जाइ बरियाई'—वे भागते थे, तब भी मैं घेरकर उनसे युद्ध करता था। 'फूटना'—गुजरात देश में धसने के अर्थ में बोला जाता है ।

(२) 'जासु चलत डोलति;...' यथा—"चलत दसानन डोलति धरनी । गरजत गर्भ स्रवहिं सुर-रवनी ॥" (बा० दो० १८१), "तव बल नाथ डोल नित धरनी ।" (दो० १०१), पृथिवी-भर के लोग इससे काँपते थे तथा यों भी कहा गया है कि इसके पाप के भार को पृथिवी नहीं सह सकती थी; यथा—"गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही । जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥" (बा० दो० १८३), इसे रावण अपना बल एवं प्रताप कहता है, क्योंकि तामसी लोग पर-पीड़ा में ही गौरव मानते हैं।

श्रीअंगदजी ने कहा था, यथा-"मैं निज श्रवन सुने सुनु तेते।" उसी का उत्तर है कि मैं उनमें नहीं हूँ। तेरी सुनी हुई बात का क्या ठिकाना ? यदि श्रीअंगदजी ने 'देखे' कहा होता, तो उनके वचन का यह उत्तर न होता ।

(३) 'रे कपि बर्बर...'—शरीर से पशु, वाणी से बर्बर, आकृति में छोटा अतएव खर्व (तुच्छ) और स्वभाव का दुष्ट है । इस तरह श्रीअंगदजी को सब तरह से दूषित कहा। यह प्रसंग गी० लं० ३ से मिलान करने योग्य है ।

सुनि अंगद सकोप कह बानी । बोलु सँभारि अधम अभिमानी ॥१॥
सहसबाहु - भुज गहन अपारा । दहन अनल-सम जासु कुठारा ॥२॥

अर्थ—रावण के वचन सुनकर श्रीअंगदजी ने क्रोधपूर्वक वचन कहा। अरे अधम ! अरे अभिमानी ! सँभालकर बोल ॥१॥ जिसका फरसा सहस्रबाहु की सहस्र भुजा-रूपी अपार वन को जलाने के लिये अग्नि के समान था ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि अंगद सकोप···'—रावण ने श्रीरामजी को नर कहा, यह भी हीनता की दृष्टि से, इसी से श्रीअंगदजी क्रुद्ध हुए। देखिये दो० ३० चौ० १–३। श्रीअंगदजी समर्थ हैं, इससे डाँटकर कहते हैं कि सँभालकर बोल, नहीं तो जीभ काट ली जायगी। पुनः प्रमाणों से उसकी वाणी को खंडन करते हैं। यह वाणी का खंडन करना भी जीभ काटना है।

रावण ने कहा था—'रे कपि पोत बोल संभारी।' वैसे श्रीअंगदजी भी कहते हैं; यथा—'बोलु सँभारि अधम···'। श्रीरामजी को नरमात्र मानने से अधम अभिमानी कहा गया है; यथा—"कहहि सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।" (बा० दो० ११४); पहले एक दोहे में रावण ने अपना प्रभाव कहा। वैसे एक दोहे मे श्रीअंगदजी भी श्रीरामजी का प्रभाव कहते हैं।

(२) 'सहसबाहु भुज···'—सहस्र भुजा होने से उन्हें अपार वन कहा कि उनमे पड़कर कोई निकल नहीं पाया; अर्थात् वहाँ जो गया वह मारा ही गया। उसे कोई जीत नहीं सका था। पुनः वन के सम्बन्ध से परशु को अग्नि कहा कि उसने विना श्रम ही उसकी सारी भुजाएँ काट डालीं। परशु (कुठार) ही वन को काट सकता है, पर उसे अग्नि कहा, क्योंकि कुठार से कटे हुए वन का पुनर्विकाश हो सकता है, पर अग्नि से जलने पर नहीं।

जासु परसु-सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा॥३॥
तासु गर्ब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥४॥
राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा॥५॥
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा॥६॥

शब्दार्थ—बंगा (सं० वङ्क) = टेढ़ा, उद्दंड। कस = क्यों, कैसे।

अर्थ—जिसके फरसा-रूपी समुद्र की तीव्र धारा मे अगणित राजा अनेक बार डूबे॥३॥ उन श्रीपरशुरामजी का गर्व जिसे देखते ही भग गया, क्यों रे, अभागे दशशीस! वह (सामान्य) मनुष्य कैसे?॥४॥ क्यों रे उद्दंड! श्रीरामजी मनुष्य कैसे? क्या कामदेव (जो पुष्पवाण और धनुष से संसार को वश कर लेता है, वह सामान्य) धनुर्धर है? और क्या गंगाजी (त्रिपथगामिनी एवं शिव-ब्रह्मा से भी पूज्य, परम पावनी सामान्य) नदी हैं?॥५॥ क्या कामधेनु (अर्थ, धर्म, काम की देनेवाली सामान्य) पशु है? क्या कल्पवृक्ष (मनोवांछित-दाता सामान्य) रूख (वृक्ष) है? क्या अन्नदान (जिससे प्राणों की रक्षा होती है, वह सामान्य) दान है? और (प्राणियों को अमर कर देनेवाला) अमृत क्या सामान्य रस है?॥६॥

विशेष—(१) 'जासु परसु-सागर···'—फरसा सागर है, उसकी धारा सागर की तीक्ष्ण धारा है। अगणित नृप अगणित जहाज हैं। 'बहु बारा' अर्थात् २१ बार; यथा—"जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूरि कीन्हे पैयत न छत्री खोज खोजत खलक मे। माहिष्मती को नाथ साहसी सहसबाहु समर समर्थ, नाथ! हेरिये हलक मे॥ सहित समाज महाराज सो जहाज राज बूड़ि गयो जाके बल बारिधि छलक मे। टूटत पिनाक के मनाक बाम राम से, ते नाक बिनु भये भृगुनायक पलक मे॥" (क० छं० १५); 'जेहि देखत···'—युद्ध भी नहीं करना पड़ा, बात-ही-बात मे हार मानी; यथा—

"सुनि सरोप भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥ देखि राम बल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥" (बा॰ दो॰ १११), हथियार धर देना और विनय करना पूरी हार है। 'गरब'''भागा'—क्षत्रियों के विनाश करने का गर्व तब से फिर नहीं हुआ, नहीं तो पहले रह-रह कर नाश करते थे। श्रीपरशुरामजी का चरित ही कहा गया, उनका नाम यहाँ नहीं खोला गया। कारण यह कि इनका चरित ही इतना प्रसिद्ध था कि नाम कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

यहाँ क्रम से दिखाया कि सहस्रबाहु श्रीपरशुरामजी से हारा और श्रीपरशुरामजी श्रीरामजी से हारे। तब तू श्रीरामजी के सामने क्या है ? जो सहस्रबाहु से ही हार गया था। 'दससीस अभागा'—तेरे हैं तो दस शिर, पर सभी भाग्य-रहित हैं। राम-विमुख होने से जीव अभागी होता है; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन पद विमुख अभागी।" (वि॰ १४०); "सुनहुँ उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥" (अ॰ दो॰ ३२)।

(२) 'अन्न दान''''''—अन्न-दान की अधिकता वाल्मी॰ ७।७७ में विस्तार से कही गई है कि विदर्भ देश के राजा श्वेत ने अनेक दान किये थे, पर उन्होंने अन्न का दान नहीं किया था। इससे स्वर्ग प्राप्त होने पर भी वे क्षुधित होते थे और उन्हें अपना ही मांस भक्षण करना पड़ता था। अगस्त्यजी के द्वारा उनका उद्धार हुआ।

बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन॥७॥
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा॥८॥

दोहा—सेन-सहित तव मान मथि, बन उजारि पुर जारि।
कस रे सठ हनुमान कपि, गयउ जो तव सुत मारि॥२६॥

अर्थ—श्रीगरुड़जी (जो भगवान् के वाहन और सखा हैं, परम समर्थ हैं, जिनके पंखों से सामवेद की ध्वनि होती है, वे क्या सामान्य) पक्षी हैं ? (एक ही फण पर सब ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले) सहस्र मुखवाले शेषजी क्या (सामान्य) सर्प हैं ? और, अरे दशानन ! सुन, (मन-वांछित देनेवाला) चिन्तामणि क्या (सामान्य) पत्थर है ? ॥७॥ अरे मंदबुद्धि ! सुन, क्या वैकुंठ (जहाँ से जीवों की पुनरावृत्ति नहीं होती, वह सामान्य) लोक है ? क्या श्रीरघुनाथजी की अविचल (दृढ़) भक्ति (सामान्य) लाभ है ? ॥८॥ क्यों रे शठ ! जो सेना-सहित तेरा मान मथकर, अशोक वन उजाड़, लंका नगर जला और तेरे पुत्र को मारकर (सुख-पूर्वक गरजकर) यहाँ से लौट गया, वे श्रीहनुमान्‌जी क्या (सामान्य) वानर हैं ? ॥२६॥

विशेष—(१) 'सुनु मतिमंद'''—रावण इधर-उधर रार करके टालना चाहता है, इससे कहते हैं—'सुनु'। 'मति मंद'—का भाव यह कि तू लोगों के समझाने से भी नहीं समझता, यथा—"अति विचित्र रघुपति चरित, जानहिं परम सुजान। जे मतिमंद विमोह बस, हृदय धरहिं कछु आन॥" (बा॰ दो॰ ४१); 'लाभ कि रघुपति भगति'''; यथा—"लाभ कि कछु हरि भगति समाना।" (उ॰ दो॰ १११)। 'सुनु' शब्द को दीप-देहली-रूप से उपर्युक्त 'दसानन' के साथ भी लेना चाहिये।

(२) 'हनुमान कपि'—रावण ने लोक पाल आदि के जीतने का गर्व प्रकट किया था। उसपर कहते

हैं कि तुम ऐसे का भी गर्व चूर्ण करनेवाला क्या सामान्य वानर हो सकता है ? अर्थात् वे रुद्रावतार हैं, वैसे श्रीरामजी भी साक्षात् परब्रह्म रूप से अवतीर्ण हैं। यहाँ तक 'नर कर करसि बखान' का ही उत्तर दिया। सर्वत्र काकु-द्वारा विपरीत अर्थ का बोध कराया। रावण अपनी हठ नहीं छोड़ता, इसपर उसे 'सठ' कहा है।

सुनु रावन परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई ॥१॥
जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥२॥

अर्थ—अरे रावण ! चतुराई (धूर्त्तता) छोड़कर सुन, चालाकी छोड़कर कृपा-सागर श्रीरघुनाथजी का भजन क्यों नहीं करता ? ॥१॥ अरे दुष्ट, यदि तू श्रीरामजी का द्रोही हुआ तो ब्रह्माजी और शिवजी भी तुझे नहीं रख सकते ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु'—डाँटकर फिर उसे अपनी ओर लाये कि इधर-उधर क्यों देखता है ? 'परिहरि चतुराई'—क्योंकि कपट-चतुराई सर्वथा त्यागने से ही राम-कृपा होती है; यथा—"मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥" (बा० दो० १११); राम-भजन करना ही शुद्ध चातुरी है; यथा—"रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥" (आ० दो० ६); 'कृपासिंधु' का भाव यह कि वे अगाध कृपा से पूर्ण हैं, इससे आश्रितों के दोष भूल जाते हैं; यथा—"दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की।" (वि० ४२); 'रघुराई'—वे चक्रवर्त्ति-कुल में श्रेष्ठ हैं, इससे उनके आश्रित होने में तेरी लघुता न होगी।

(२) 'ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही।'—क्योंकि इन सबमें श्रीरामजी से ही सामर्थ्य है; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा ॥" (सुं० दो० २०); और ये सब श्रीरामजी के सेवक हैं; यथा—"देखे सिव विधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका। बंदत चरन करत प्रभु सेवा।" (बा० दो० ५३); जबतक तू और चराचर प्राणियों से वैर करता रहा, वे लोग रक्षा करते थे, अब उनके स्वामी से ही द्रोह करता है, तो वे कैसे रक्षा करने का साहस करेंगे ? सुं० दो० २२ चौ० ८ भी देखिये। ब्रह्म-रुद्र का इसे विशेष बल है, तप करके उनसे वर पाया है, इससे इन्हें ही कहा गया।

मूढ़ वृथा जनि मारसि गाला। राम - बयर अस होइहि हाला ॥३॥
तव सिर - निकर कपिन्ह के आगे। परिहहिं धरनि राम-सर लागे ॥४॥
ते तव सिर कंदुक - सम नाना। खेलिहहि भालु कीस चौगाना ॥५॥

शब्दार्थ—गाल मारना = व्यर्थ बकवाद करना, डींग हाँकना। चौगान = (१) एक खेल जिसमें लकड़ी के बल्ले से गेंद को मारते हैं, (२) = खेलने का मैदान।

अर्थ—अरे मूर्ख ! व्यर्थ डींग न हाँक, श्रीरामजी से वैर करने से ऐसा हाल होगा ॥३॥ कि तेरे शिर-समूह राम-बाण के लगने से आगे पृथिवी पर गिरेंगे ॥४॥ वानर-भालु उन गेंद के समान तेरे अनेक शिरों से चौगान खेल खेलेंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'मूढ़ वृथा जनि'''' 'मूढ़' कहा, क्योंकि यह अभिमान के कारण किसी की शिक्षा

नहीं सुनता; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि० दो० ८); और अभिमान एवं गर्व से गाल मारना भी होता है; यथा—"कहाँ रहा बल गर्व तुम्हारा॥ अब पति मृषा गाल जनि मारहु।" (दो० १४); 'सिर-निकर' इसके दस शिर हैं, वे बार-बार कट-कटकर गिरेंगे, तब समूह होंगे, तभी वानरों को गेंद खेलने के लिये होंगे। शिर गेंद की तरह गोलाकार होते हैं। पुनः वे कट-कटकर वानरों के पैरों के पास गिरेंगे। तब वे लातों के प्रहार से खेलेंगे। वानरों के पैर ही बल्ले होंगे।

जबहि समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥६॥
तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। अस विचारि भजु राम उदारा॥७॥
सुनत बचन रावन परजरा। जरत महानल जनु घृत परा॥८॥

दोहा—कुंभकरन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि, जितेउँ चराचर झारि॥२७॥

शब्दार्थ—परजरा = बहुत क्रुद्ध हुआ, अत्यन्त जल उठा।

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी समर में क्रोध करेंगे और फिर उनके अत्यन्त तीक्ष्ण बहुत-से बाण छूटेंगे॥६॥ तब क्या तुम्हारा इस तरह गाल चलेगा? (अर्थात् यह डींग भूल जायगी), ऐसा विचार कर उदार श्रीरामजी को भजो॥७॥ वचन सुनते ही रावण अत्यन्त जल उठा, मानों जलती हुई प्रचंड अग्नि में घी पड़ गया हो॥८॥ कुंभकर्ण ऐसा तो मेरा भाई है और इन्द्र का जीतनेवाला विख्यात इन्द्रजित् मेरा पुत्र है और क्या तूने मेरा पराक्रम नहीं सुना कि मैंने सारे चराचर जगत् को जीत लिया है?॥२७॥

विशेष—(१) 'तब कि चलिहि···'—तुम्हें प्रहार करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। 'अस बिचारि'; 'जौं खल भयेसि···' से यहाँ तक की बातों को विचारकर। भाव यह कि अभी शरण होने पर यह गाल बजाई (शेखी) रह भी जायगी। 'उदारा'—वे श्रेष्ठ एवं महान् दाता हैं। तुम्हारा राज्य अचल कर देंगे। अपराध भी क्षमा करेंगे; यथा—"तजि व्यलीक भजु कारुनीक प्रभु दे जानकिहि सुनहि समुझायो। जाते तव हित होइ कुसल कुल अचल राज चलिहै न चलायो॥" (गी० लं० २)। तथा—"ऐसो को उदार जगमाहीं।" (वि० १६२)—यह पूरा पद पढ़िये।

इस कथन के उपक्रम में कहा; यथा—"भजसि न कृपासिंधु रघुराई।" और उपसंहार में भी यहाँ "भजु राम उदारा" कहा है। भाव यह कि वे समुद्र के समान कृपा करेंगे और सब कुछ देंगे, मान भी रक्खेंगे।

(२) 'सुनत बचन रावन परजरा।···'—जलता तो पहले से भी था; यथा—"हृदय दहेउ रिपु कीस।" (दो० २२)। इन वचनों से अब अधिक जल उठा। रावण का हृदय यज्ञकुंड है, उसका कोप महानल है और श्रीअंगदजी के वचन घृत की आहुतियाँ हैं; यथा—"लखन उतर आहुति सरिस, भृगुपति कोप कृसानु, बढ़त देखि ··" (बा० दो० २७६); 'सुनि अंगद सकोप कह बानी।' उपक्रम है और यहाँ 'सुनत बचन···' उपसंहार है।

(३) 'कुंभ करन अस बंधु'''', यथा—"अति बल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुँ नहि प्रति भट जग जाता॥ · जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा।" (बा० दो० १७१), तथा—"भ्राता कुंभकरन रिपु घातक सुत सुर पतिहिं बंदि करि लायो।" (गी० छं० ६), 'जितेउँ चराचर झारि'; यथा—"ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबरती नर नारी॥" (बा० दो० १८१)।

सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई ॥१॥
नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहि ते सुनु सब कीसा ॥२॥
मम भुज - सागर बल - जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर - नर सूरा ॥३॥
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा ॥४॥

अर्थ—अरे शठ! वानरों की सहायता जुटाकर समुद्र (मे सेतु) बाँधा, यही शूरता है (क्या)? ॥१॥ अनेकों पक्षी समुद्रों को लाँघ जाते है, पर, अरे शठ वानर! वे (इस कर्म से) शूर नहीं हो सकते ॥२॥ मेरे भुजा-रूपी-सागर बल रूपी जल से पूर्ण हैं, जिनमे बहुत-से शूरवीर देवता और मनुष्य डूब गये ॥३॥ ऐसा कौन शूर-वीर है जो मेरे इन अगाध और अपार बीस समुद्रों को पार पावेगा? ॥४॥

विशेष—(१) 'सठ साखामृग '''—पुरुषार्थ होता तो समुद्र को सोख लेते। वानरों से सहायता ली। तुच्छ, बुद्धि-हीन वानरों को सहायक बनाना बड़ी हीनता है।

(२) 'नाघहिं खग '''—पक्षी समुद्र को लाँघ जाते हैं, तब भी वे शूर नहीं कहाते। तुम सब तो उनसे भी गये-बीते हो, तब तो सेतु के आश्रित होकर उतरे। यदि श्रीअंगदजी सेतु बाँधकर आने को ही शूरता कहें, तो उसपर दूसरा रूपक समुद्र का कहता है—

(३) 'मम भुज सागर बल '''—तुमको एक ही क्षुद्र समुद्र के बाँधने पर शेखी है। यहाँ अभी अगाध, अपार बीस सागर हैं। वह समुद्र परिमित था, इससे थोड़े पर्वतों, वृक्षों से बँध गया। पर इन बीस समुद्रों की अभी तक किसी ने थाह एवं अन्दाज ही नहीं पाया। अगणित सुर, नर, मुनि आये और डूब ही गये, यथा—"कहा भयो बानर सहाइ मिलि करि उपाय जो सिंधु बँधायो। जो तरिहै भुज बीस घोर निधि ऐसो को त्रिभुवन मे जायो॥" (गी० छं० ३)। श्रीअंगदजी ने श्रीपरशुरामजी के फरसे को सागर कहा था। यह उससे अधिकता दिखाते हुए अपनी भुजाओं को सागर कहता है। वहाँ 'नृप अगनित' का डूबना कहा गया है। यहाँ 'सुर नर सूरा' का डूबना कहा है। वहाँ फरसा एक और यहाँ भुजाएँ बीस हैं। वहाँ नर-मात्र डूबे, उन्हें भी शूर नहीं कहा गया और यहाँ सुर भी हैं और वे सब शूर भी कहे गये।

दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। भूप-सुजस खल मोहि सुनावा ॥५॥
जौ पै समय - सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुनगाथा ॥६॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहि लाजा ॥७॥
हरगिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू ॥८॥

दोहा—सूर कवन रावन - सरिस, स्वकर काटि जेहिं सीस।
हुने अनल अति हरष बहु, बार साखि गौरीस ॥२८॥

अर्थ—अरे दुष्ट! मैंने लोकपालों से जल भरवाया और तू एक राजा का सुयश मुझे सुनाता है! अर्थात् मुझसे अधिक तेज-प्रतापवाले का यश सुनाता तो ठीक था ॥५॥ यदि तेरा स्वामी युद्ध में सुभट है, जिसका तू बार-बार यश कहता है ॥६॥ तो दूत किस कार्य के लिये भेजता है? शत्रु से प्रीति (संधि) करते लज्जा नहीं लगती? ॥७॥ अरे मूर्ख वानर! कैलास के मथन करनेवाली मेरी भुजाओं को देखकर फिर अपने स्वामी की सराहना करना; अर्थात् इनपर दृष्टि देने से इनके आगे उसकी प्रभुता युद्ध न ठहरेगी ॥८॥ रावण के समान कौन शूर है कि जिसने अत्यन्त हर्ष-पूर्वक बहुत बार अपने हाथों से अपने शिर काट-काटकर अग्नि में हवन कर दिये, गौरीपति श्रीशिवजी इसके साक्षी हैं ॥२८॥

विशेष—(१) 'दिगपालन्ह मैं नीर'...—मनुष्यों की अपेक्षा देवता बहुत अधिक बली होते हैं, उनमें भी श्रेष्ठ दिक्पाल-गण हैं, वे तो मेरे यहाँ नीच टहल करते हैं तो भूप किस गिनती में है, जिसका यश तू मुझे सुनाता है। मनुष्य तो हमलोगों का आहार है।

(२) 'पुनि पुनि कहसि'...; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (दो० ११); "जद्यपि लघुता राम कहँ, तोहि बधे बड़ दोष।" (दो० २१); "जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥" (दो० २१)।

(३) 'जौं पै समर-सुभट'...—भाव यह कि शूर होते तो करनी करके दिखाते। दूत भेज-भेजकर प्रताप न कहलाते; यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु। विद्यमान रन'... (बा० दो २७४); व्यंग्य से अपनेको शूर जनाता है कि मैंने न दूत भेजा और न संधि की बात की। संधि की बात अपनेसे प्रबल से की जाती है। मेरा बल अधिक मानकर ही तो बार-बार दूत भेजते हैं, नहीं तो एक दूत से पता ले लिया कि युद्ध-बिना कार्य की सिद्धि न होगी, तो फिर क्यों दूत भेजते हैं, इससे वे समर-सुभट नहीं हैं।

(४) 'रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।'; यथा—"रन चढ़ि करिय कपट चतुराई॥ रिपु पर कृपा परम कदराई॥" (अ० दो० १८); यह श्रीअंगदजी के 'भजसि न कृपा सिंधु रघुराई।' इस कथन के प्रति है।

(५) 'हरगिरि मथन'...—मथन का तात्पर्य उठाने में है, उठाने पर पर्वत काँप उठा, इसी से मथन कहा। उपर्युक्त दो० २४ चौ० १-३ भी देखिये। पहले कहा था—'बिलोकु मम बाहु' तब श्रीअंगदजी ने नहीं देखा था, इसी से फिर देखने को कहता है।

(६) 'सूर कवन रावन-सरिस'...—इसके भाव दो० २४ चौ० १-३ में आ गये।

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥१॥
नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥२॥
सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरे। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे॥३॥
आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥४॥

अर्थ—जब शिरों के जलते समय ब्रह्माजी के लिखे हुए अक्षर अपने ललाटों पर देखे ॥१॥ तब मनुष्य के हाथों से अपना बध बाँचकर ब्रह्माजी की वाणी असत्य जानकर हँसा ॥२॥ वह भी समझकर मेरे मन

में डर नहीं है कि बुढ़ापे के कारण बुद्धि भोरी (बावली) हो जाने से बुड्ढे ब्रह्मा ने ऐसा लिख दिया होगा ॥३॥ अरे शठ ! तू लज्जा और प्रतिष्ठा छोड़कर मेरे आगे बार-बार दूसरे वीर का बल (क्या) कहता है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'विधि के लिखे अंक...'—ललाट पर की हड्डियों पर रेखाएँ होती हैं, वे ही ब्रह्मा की भविष्यवाणी हैं, इसी से इन्हीं अंकों को आगे 'विधि-गिरा' कहा है। 'हँसेउँ...'—इसपर हँसी आई कि काल जिसके वश और मृत्यु दासी है, तीनों लोक अधीन हैं। उस रावण की मृत्यु हो, वह भी उसके भक्ष्य-रूप मनुष्य के हाथ। ऐसी बावली बात का क्या ठिकाना ?

(२) 'सोउ मन समुझि...'—अंक पढ़ने पर भी मैं वैसा ही निर्भय हवन करता ही रहा, मैं ऐसा वीर हूँ।

(३) 'पुनि पुनि कहसि...'—जिसकी बात एक बार न सुनी जाय, उसे फिर न कहना चाहिये। फिर-फिर कहने से उसकी अप्रतिष्ठा होती है। जैसे कि "रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु..." (सुं० दो० ३९); ऐसा रावण के कहने पर माल्यवान् अपनी प्रतिष्ठा बचाकर चला गया। विभीषणजी ने फिर-फिर से कहा, तो अपमानित होकर निकाले गये। तब उनकी लोक-लाज और प्रतिष्ठा की हानि हुई।

कह अंगद सलज्ज जग माहीं। रावन तोहि समान कोउ नाहीं ॥५॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥६॥
सिर अरु सैल कथा चित रही। ताते बार बीस तैं कही ॥७॥
सो भुज-बल राखहु उर घाली। जीतेहु सहसबाहु बलि बाली ॥८॥

अर्थ—श्रीअंगदजी ने कहा कि अरे रावण ! तेरे समान लज्जावान् संसार में कोई नहीं है ॥५॥ तेरा सहज स्वभाव ही लाजवन्त है, (इसी से तो) तू अपना गुण अपने मुख से कभी कहता ही नहीं ॥६॥ अरे ! शिर (काटने) और पर्वत (कैलास उठाने) की कथा चित में रह गई, इससे बीसों बार उसी को कहा ॥७॥ वह अपना भुजबल (क्या) हृदय में डाल (छिपा) रक्खा था, जब सहस्रबाहु, बलि और बालि ने (तुमको) जीता था ॥८॥

विशेष—(१) 'लाजवंत तव सहज...'—अपने मुख से अपने गुण कहना निर्लज्जता है, इससे तू कभी कहता ही नहीं; यथा—"अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥" (बा० दो० २७३). यह धिक्कारते हुए श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीपरशुरामजी को कहा है। यह व्यंग्य है, इसे ही आगे स्पष्ट करते हैं।

(२) 'सिर अरु सैल कथा...'—बस, ये ही दो कथाएँ रह गई हैं, इन्हें ही हेर-फेरकर बीसो बार कहा है। बीस (२०) दो के आगे शून्य रखने से बनता है, भाव यह कि इन्हीं दो कथाओं के अतिरिक्त और कुछ कर्म तुम्हारे नहीं हैं, शून्य ही है। ये ही दो दिमाग में भरे हैं, उन्हीं को बार-बार कहता है। भाव यह कि एक बार भी अपना गुण कहना निर्लज्जता है, तू तो बार-बार कहता है। अतः,

महान् निर्लज्ज है। सुनते हुए कान झाँमर हो गये, अब बस कर। यदि दूसरा कोई पुरुषार्थ किया हो तो भले ही कह। यह 'पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।' का उत्तर है।

(३) 'सो भुज-बल राखेहु'''—इसका यों भी अर्थ किया जाता है कि जैसे शिर और शैल की कथाएँ बार-बार कही हैं, वैसे सहस्रबाहु, बलि और बालि के जीतने का महत्त्व नहीं कहा, हृदय में ही छिपा रक्खा। क्योंकि तुम लाजवंत हो, इसी से उक्त दो सामान्य बातों को तो कह दिया, पर भारी-भारी विजय के ये तीनों कर्म अपनी प्रशंसा विचारकर नहीं कहा। व्यंग्य यह है, तुम महान् निर्लज्ज हो, इससे हारनेवाली बातों को छिपाते हो, केवल अपनी प्रशंसा ही बड़-बड़ाते हो।

सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइय सूरा ॥९॥
इंद्रजालि कहँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा ॥१०॥

दोहा—जरहिं पतंग मोह - बस, भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं, समुझि देखु मतिमंद ॥२९॥

शब्दार्थ—पूरा देना = उत्तर देना, प्रश्न की कांक्षा उत्तर से पूरी होती है, जैसे समस्या-पूर्त्ति। बहना = लादकर ले चलना। विमोह = अज्ञान, प्रेम।

अर्थ—अरे मंदबुद्धि! अब उत्तर दे, शिर काटने से क्या कोई शूर होता है? ॥९॥ इन्द्रजाली (जादूगर) को कोई वीर नहीं कहता, (यद्यपि) वह अपने ही हाथों से अपना सारा शरीर काट डालता है, (तब तू शिर-मात्र अपने हाथों काटकर शूर क्यों बनता है?) ॥१०॥ अरे मंदबुद्धि! मन में समझ देख कि मोहवश फतिंगे अग्नि में जल जाते हैं और गधों के झुंड (पत्थरों के) बोझा लादकर चलते हैं, पर वे शूर नहीं कहे जाते ॥२९॥

विशेष—रावण ने कहा था—"नाचहिं खग अनेक'''" और "सूर कवन रावन सरिस '''" उन्हीं का यहाँ उत्तर है। रावण ने शिरों का हवन करना कहा था, उसपर फतिंगे का, और कैलास उठाना कहा था उसपर गधों के पत्थर ढोने का उदाहरण दिया गया। पुन रावण ने—'सुनु जड कीसा' 'निरखु मम बाहु' के प्रति 'समुझि देखु मतिमंद' कहा है। 'मतिमंद'—मंदबुद्धि है, इसी से इस कर्म में शूरता मानी है।

अब जनि बतबढ़ाव खल करही। सुनु मम बचन मान परिहरही ॥१॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। अस बिचारि रघुबीर पठायउँ ॥२॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जसु बधे सृकाला ॥३॥
मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥४॥
नाहिं त करि मुख-भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा ॥५॥

शब्दार्थ—बतबढ़ाव = बात को बढ़ाकर विवाद रूप कर देना, झगड़ा = बखेड़ा। सृकाला (शृगाल) = गीदड़। बसीठी = दौत्य-कर्म के लिये।

अर्थ—रे दुष्ट ! अब वाद-विवाद न बढ़ा, मेरा वचन सुन और मान छोड़ दे (कि मेरे भाई-पुत्र ऐसे हैं, मैं ऐसा हूँ इत्यादि के गर्व छोड़ ॥१॥ दशमुख ! मैं दौत्य-कर्म के लिये नहीं आया, रघुवीर श्रीरामजी ने यह विचार कर मुझे भेजा है—॥२॥ वे दयालु बारम्बार ऐसा कहते हैं कि गीदड़ को मारने में सिंह का यश नहीं होता ॥३॥ अरे शठ ! प्रभु के वचन मन में समझकर मैंने तेरे कठोर वचन सुने और सहे ॥४॥ नहीं तो तेरे मुँह तोड़कर श्रीसीताजी को जबरदस्ती ले जाता ॥५॥

विशेष—(१) 'मान परिहरही'—क्योंकि जबतक मान रहता है, किसी की शिक्षा नहीं धारण होती; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि० दो० ८); इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने भी कहा है ; यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन।" (सुं० दो० ११)।

(२) 'रघुबीर पठायउँ' और 'कृपाला' का भाव यह है कि वे पराक्रम-वीर हैं, निर्बल नहीं हैं कि दूत भेजकर संधि की बात करें। किंतु तुम्हारी तुच्छता पर उन्हें तरस आती है, वे कृपावीर भी हैं ही, इससे उन्होंने दया करके तुझे उपदेश देने के लिये मुझे भेजा है, मैं कुछ दौत्य-कर्म में नहीं आया। 'नहिं गजारि जस···'—भाव यह कि तू गीदड़ के समान और वे सिंह के समान हैं। तब तेरे वध पर भी उन्हें अपयश ही होगा। 'मन महँ समुझि···'—प्रभु ने अपने प्रतिकारी को स्वयं मारने की प्रतिज्ञा की है, नहीं तो मैं ही तुझे मार डालता। ये तेरे कठोर वचन न सहता। यह भी वचन का भाव है कि प्रभु ने तुझे गीदड़ के समान कहा है, तो गीदड़ को क्या मारूँ ?

जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी ॥६॥
तैं निसिचर-पति गर्ब बहूता। मैं रघुपति सेवक कर दूता ॥७॥
जौं न राम अपमानहिं डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ ॥८॥

दोहा—तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाउँ।
तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनक-सुतहि लै जाउँ ॥३०॥

अर्थ—रे सुरारि, अरे अधम ! मैंने तेरा बल जान लिया कि जो तू सूने में पर-स्त्री चुरा लाया (भाव-बल होता तो श्रीरामजी से अथवा श्रीलक्ष्मणजी से ही छीनकर लाता)॥६॥ तू राक्षसों का स्वामी है और तुझे बहुत गर्व है। मैं श्रीरघुनाथजी के दास का दूत हूँ ॥७॥ पर जो मैं श्रीरामजी के अपमान से न डरूँ, तो तेरे देखते हुए ऐसा तमाशा करूँ॥८॥ कि तुझे पृथ्वी पर पटक, सेना को मार और तेरा गाँव चौपट (नष्ट-भ्रष्ट) करके, अरे शठ ! तेरी स्त्रियों के साथ जनक-सुता को लेकर जाऊँ ॥३०॥

विशेष—(१) 'तैं निसिचर पति···'—कहाँ तो तू राक्षसों का राजा और दिग्विजयी एवं सेना-समेत है और कहाँ मैं श्रीरामजी के दास का दास, जिसे अभिमान ही क्या ; अर्थात् मैं राम-दल का एक तुच्छ सेवक हूँ। और तू बल का अभिमानी है। तो भी तेरे वध में मैं अपनी हीनता समझता हूँ। (यह उपर्युक्त 'नहिं गजारि जस···' की पुष्टि में है) यदि कुछ करूँ तो इसमें श्रीरामजी का अपमान है, क्योंकि वे अपने कुल की मर्यादा की रक्षा स्वयं करना चाहते हैं। अपने स्त्री-हारी का वध अपने ही बाणों से करना चाहते हैं, इसकी प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं। यदि मैं तुझे मारकर उनकी स्त्री को

ले जाऊँ, तो इसमें उनका अपमान है ; यथा—"सव मोनिन की प्यास, तृषित राम सायक निकर। तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम॥" (दो० ११)। 'तोहि देखत···'—का भाव यह कि तू तो उनके सूने में चोरी से उनकी स्त्री का हरण किया और मैं तेरे देखते हुए तेरे समाज के सामने ही ऐसा करूँ। 'कौतुक'—का भाव यह कि इसमें मुझे कुछ श्रम न होगा। यह भी भाव है कि तू गुन-ग्राहक है ही ; यथा—"मैं गुन गाहक परम सुजाना।" (दो० २१)। अतः, यह भी कौतुक देख ले।

(२) 'तव गाउँ'—लंका की तुच्छता दिखाने के लिये उसे 'गाउँ' कहा। 'तव जुवतिन्ह समेत···'—तू एक को ही चुराकर लाया और मैं तेरे देखते हुए तुझे जीतकर तेरी भी सब स्त्रियों को श्रीजानकीजी की दासी बनाने के लिये ले जाऊँ। एक के हरण के बदले में तुम्हारी सब स्त्रियों को बलात् ले जाऊँ।

जौं अस करउँ तदपि न बड़ाई। मुयेहि बधे नहिं कछु मनुसाई॥१॥
कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥२॥
सदा रोग-बस संतत क्रोधी। बिष्णु-बिमुख श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥
तनु-पोषक निंदक अघ-खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥४॥
अस बिचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही॥५॥

शब्दार्थ—कौल = वाममार्गी ; यथा—"मद्यं मांसं तथा मुद्रा मैथुनं मत्स्यमेव च। मकाराः पंच विख्याताः कौलानां सिद्धिदायकाः॥" तथा—"स्रुति सुचि पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं॥" (अ० दो० १६७); और भी कहा है; यथा—"अन्तः शाक्ताः बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नानावेषधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥" सव = शव, मृतक।

अर्थ—जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई नहीं है, (क्योंकि) मरे हुए को मारने में कुछ पुरुषार्थ नहीं कहा जाता॥१॥ वाममार्गी, कामी, सूम (कंजूस), अत्यन्त मूढ, अत्यन्त दरिद्र, कलंकी, अत्यन्त बुड्ढा॥२॥ सदा रोगी रहनेवाला, निरंतर क्रोध से भरा रहनेवाला, विष्णु-विमुख, श्रुति और संत का विरोधी॥३॥ और अपना ही शरीर (वा, शरीर को आत्मा मानकर) पोषण करनेवाला, निन्दा करनेवाला, (सब) पाप की खान है—ये चौदह प्राणी जीते ही मृतक के समान हैं॥४॥ अरे दुष्ट! ऐसा विचार कर मैं तेरा वध नहीं करता, (पर) अब मुझमें क्रोध न पैदा करवा॥५॥

विशेष—(१) 'जौं अस करउँ···'—यदि रावण कहे कि ऐसा समर्थ है, तो अपना पुरुषार्थ कर दिखा। इसपर कहते हैं कि मुए को मारने में कोई पुरुषार्थ नहीं।

(२) 'कौल कामबस कृपिन···'—ऐसे ही व्यासजी ने पाँच को गिनाया है ; यथा—"जीवितोपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्त्तिताः। दरिद्रो व्यथितो मूर्खो प्रवासी नृपसेवकः॥" (नीतिः) ; अर्थात् दरिद्र, व्यथित (रोगी), मूर्ख, परदेश में रहनेवाला और राजा का सेवक ये पाँचो जीते ही मरे के समान हैं। (राज सेवक से यहाँ उन सेवकों का तात्पर्य है। जिन्हें थोड़ी चूक हो जाने पर शूली का डर रहता है।)

कौल अपने कर्मों से नरक-गामी होंगे। कामी कलंकी होंगे, इन दोनों की अकीर्ति होती है, इससे मृतक-तुल्य हैं; यथा—"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४), कृपण'—कंजूस का संकुचित-हृदय रहता है, जिससे बुद्धि का विकाश नहीं होता। 'बिमूढ़ा'—ज्ञान-रहित। 'अति दरिद्र' सदा तृष्णा-

युक्त रहता है, चिंता में ही लगा रहता है, इससे वह पारमार्थिक विचार का अवकाश ही नहीं पाता। 'अजसी'—मरे से भी बदतर है, ऊपर प्रमाण दिया गया। 'अति बूढ़ा'- मरणोन्मुख होने से एवं नाना क्लेश-भाजन होने से मृतक-तुल्य है, सभी से अनादृत भी होता है। 'सदा रोग बस'; यथा—"असाध्यः स तु विज्ञेयस्तेन युक्तं मृतं वदेत् ॥"—वाग्भट्ट। 'संतत क्रोधी'- क्रोध से सदा हृदय अंधा रहता है, इससे विवेक नहीं रहता। 'बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी'—विवेक-धाम विष्णु के शत्रु हैं, तभी ऐसे हैं। विष्णु भगवान् ज्ञान-धाम हैं। श्रुति और संतों के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। 'तनु पोषक' नरक के भागी हैं; यथा—"नरक प्रद उदर भरउँ" (वि० १४१); 'निंदक'; यथा—"सब कै निंदा जे नर करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥" (उ० दो० १२०); इससे ये शव के समान हैं। इनमें 'अघखानी' सबके साथ है। श्रुति-विरोधी और संत विरोधी को दो गिनने से १४ होते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोषों में एक भी होता है, तो श्रीरामजी में सच्ची प्रीति नहीं होती और उसके विना जीव जीते ही मरे हुए के समान हैं; यथा—"जीयत राम मुये पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जग में तुलसी न तु डोलत और मुये धरि देही॥" (क० उ० ३६)।

श्रीअंगदजी के कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें एक दोषवाला भी मृतक-तुल्य होता है। तुझमें तो सभी बातें हैं—

'कौल'; यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती।"—यह शूर्पणखा ने इसे कहा है। पुनः—"आवा निकट जती के वेषा।" (आ० दो० २७); 'काम बस'—इसीसे इसने पर-स्त्रियों का हरण किया है। 'कृपन' है, इसी से भोगैश्वर्य में आसक्त है और कर्म-फल की वासनावाला है; यथा—"कृपणाः फलहेतवः।" (गीता २।४९); तथा—मनुष्य-तन का मुख्य उद्देश्य है कि 'भगवान् को तत्त्वतः जानकर उन्हें प्राप्त कर ले' जो मनुष्य उन्हें भुलाकर विषय में ही आसक्त रहता है, वह भी कृपण है; यथा—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।" (बृह० ३।८।१०); यह दोष भी पूर्णतया रावण में है ही। 'बिमूढ़'—मूढ़ है, क्योंकि श्रीरामजी को मनुष्य मानकर ही उनका अपमान करता है; यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गीता ९।११), 'अति दरिद्र' है, क्योंकि ऋषियों से भी रक्त-रूपी कर लिया। 'अजसी' तो प्रत्यक्ष है, 'अति बूढ़ा'—बुढ़ापे में मति-भ्रम हो जाता है, वैसे इसकी बुद्धि भी भ्रमित है; यथा—"निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (दो० ३५); इसे बहुत काल तक राज्य करते भी हो गया, इससे अति बूढ़ा है ही। 'सदा रोगबस'—मानस रोग कामादि के वश सदा रहता ही है। मोह सब व्याधियों का मूल है, यह मोह-रूप है ही; यथा—"मोह दस मौलि···" (वि० ५८), 'संतत क्रोधी'—क्योंकि जो हित भी कहता है, उसे भी यह दुर्वचन ही कहता है। 'बिष्णु बिमुख'—विष्णु भगवान् के चक्राघात के दागों से प्रकट है; यथा—"विष्णुचक्र परिक्षतौ।" (वाल्मी० ३।१०।१६) । श्रुति-संत बिरोधी'; यथा—"तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना॥" (बा० दो० १८३); 'तनु पोषक'; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (दो० १०); 'निंदक'; यथा—"जब तेहि कीन्हि राम कै निन्दा।" (दो० ३०); पुनः यह सब प्रकार से पाप की खान है; यथा—"आजन्म ते पर-द्रोह-रत पापौघ मय तव तनु अयं॥" (दो० १०२)।

सुनि सकोप कह निसिचर-नाथा। अधर दसन दसि मीजत हाथा॥६॥
रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी॥७॥
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल-प्रताप बुधि तेज न ताके॥८॥

महान् निर्लज्ज है। सुनते हुए कान झाँझर हो गये, अन बस कर। यदि दूसरा कोई पुरुषार्थ किया हो तो भले ही कह। यह 'पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।' का उत्तर है।

(३) 'सो भुज-बल राखेहु…'—इसका यों भी अर्थ किया जाता है कि जैसे शिर और शैल की कथाएँ बार-बार कही हैं, वैसे सहस्रबाहु, बलि और बालि के जीतने का महत्त्व नहीं कहा, हृदय में ही छिपा रक्खा। क्योंकि तुम लाजवंत हो, इसी से उक्त दो सामान्य बातों को तो कह दिया, पर भारी-भारी विजय के ये तीनों कर्म अपनी प्रशंसा विचारकर नहीं कहा। व्यंग्य यह है, तुम महान् निर्लज्ज हो, इससे हारनेवाली बातों को छिपाते हो, केवल अपनी प्रशंसा ही बढ़-चढ़ाते हो।

सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइय सूरा ॥९॥
इंद्रजालि कहँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा ॥१०॥

दोहा—जरहिं पतंग मोह-बस, भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं, समुझि देखु मतिमंद ॥२९॥

शब्दार्थ—पूरा देना = उत्तर देना, प्रश्न की कामा उत्तर से पूरी होती है, जैसे समस्या-पूर्ति। वहना = लादकर ले चलना। विमोह = अज्ञान, प्रेम।

अर्थ—अरे मंदबुद्धि! अब उत्तर दे, शिर काटने से क्या कोई शूर होता है?॥९॥ इन्द्रजाली (जादूगर) को कोई वीर नहीं कहता, (यद्यपि) वह अपने ही हाथों से अपना सारा शरीर काट डालता है, (तब तू शिर-मात्र अपने हाथों काटकर शूर क्यों बनता है?)॥१०॥ अरे मंदबुद्धि! मन में समझ देख कि मोहवश फतिंगे अग्नि में जल जाते हैं और गधों के झुंड (पत्थरों के) बोझा लादकर चलते हैं, पर वे शूर नहीं कहे जाते॥२९॥

विशेष—रावण ने कहा था—"नाचहिं रंग अनेक…" और "सूर कवन रावन सरिस…" उन्हीं का यहाँ उत्तर है। रावण ने शिरों का हवन करना कहा था, उसपर फतिंगे का, और कैलास उठाना कहा था उसपर गधों के पत्थर ढोने का उदाहरण दिया गया। पुन रावण ने—'सुनु जड़ कीसा' 'निरखु मम बाहु' के प्रति 'समुझि देखु मतिमंद' कहा है। 'मतिमंद'—मंदबुद्धि है, इसी से इस कर्म में शूरता मानी है।

अब जनि बतबढ़ाव खल करही। सुनु मम बचन मान परिहरही ॥१॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। अस बिचारि रघुबीर पठायउँ ॥२॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जसु बधे सृकाला ॥३॥
मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥४॥
नाहिं त करि मुख-भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा ॥५॥

शब्दार्थ—बतबढ़ाव = बात को बढ़ाकर विवाद रूप कर देना, झगड़ा = बखेड़ा। सृकाला (शृगाल) = गीदड़। बसीठी = दौत्य-कर्म के लिये।

अर्थ—रे दुष्ट ! अब वाद-विवाद न बढ़ा, मेरा वचन सुन और मान छोड़ दे (कि मेरे भाई-पुत्र ऐसे हैं, मैं ऐसा हूँ इत्यादि के गर्व छोड़ ॥१॥ दशमुख ! मैं दौत्य-कर्म के लिये नहीं आया, रघुवीर श्रीरामजी ने यह विचार कर मुझे भेजा है—॥२॥ वे दयालु बार-बार ऐसा कहते हैं कि गीदड़ को मारने में सिंह का यश नहीं होता ॥३॥ अरे शठ ! प्रभु के वचन मन में समझकर मैंने तेरे कठोर वचन सुने और सहे ॥४॥ नहीं तो तेरे मुँह तोड़कर श्रीसीताजी को जबरदस्ती ले जाता ॥५॥

विशेष—(१) 'मान परिहरही'—क्योंकि जबतक मान रहता है, किसी की शिक्षा नहीं धारण होती; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि० दो० ८); इसी से श्रीहनुमान्जी ने भी कहा है ; यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन।" (सुं० दो० ११)।

(२) 'रघुबीर पठायउँ' और 'कृपाला' का भाव यह है कि वे पराक्रम-वीर हैं, निर्बल नहीं हैं कि दूत भेजकर संधि की बात करें। किंतु तुम्हारी तुच्छता पर उन्हें तरस आती है, वे कृपावीर भी हैं ही, इससे उन्होंने दया करके तुझे उपदेश देने के लिये मुझे भेजा है, मैं कुछ दौत्य-कर्म मे नहीं आया। 'नहिं गजारि जस···'—भाव यह कि तू गीदड़ के समान और वे सिंह के समान हैं। तब तेरे वध पर भी उन्हें अपयश ही होगा। 'मन महँ समुझि···'—प्रभु ने अपने प्रतिकारी को स्वयं मारने की प्रतिज्ञा की है, नहीं तो मैं ही तुझे मार डालता। ये तेरे कठोर वचन न सहता। यह भी वचन का भाव है कि प्रभु ने तुझे गीदड़ के समान कहा है, तो गीदड़ को क्या मारूँ ?

जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी॥६॥
तैं निसिचर-पति गर्ब बहूता। मैं रघुपति सेवक कर दूता॥७॥
जौं न राम अपमानहिं डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥८॥

दोहा—तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाउँ।
तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनकसुतहि लै जाउँ॥३०॥

अर्थ—रे सुरारि, अरे अधम ! मैंने तेरा बल जान लिया कि जो तू सूने मे पर-स्त्री चुरा लाया (भाव-बल होता तो श्रीरामजी से अथवा श्रीलक्ष्मणजी से ही छीनकर लाता)॥६॥ तू राक्षसों का स्वामी है और तुझे बहुत गर्व है। मैं श्रीरघुनाथजी के दास का दूत हूँ ॥७॥ पर जो मैं श्रीरामजी के अपमान से न डरूँ, तो तेरे देखते हुए ऐसा तमाशा करूँ॥८॥ कि तुझे पृथ्वी पर पटक, सेना को मार और तेरा गाँव चौपट (नष्ट-भ्रष्ट) करके, अरे शठ ! तेरी स्त्रियों के साथ जनक-सुता को लेकर जाऊँ ॥३०॥

विशेष—(१) 'तैं निसिचर पति···'—कहाँ तो तू राक्षसों का राजा और दिग्विजयी एवं सेना-समेत है और कहाँ मैं श्रीरामजी के दास का दास, जिसे अभिमान ही क्या ; अर्थात् मैं राम-दल का एक तुच्छ सेवक हूँ। और तू बल का अभिमानी है। तो भी तेरे वध मे मैं अपनी हीनता समझता हूँ। (यह उपर्युक्त 'नहिं गजारि जस···' की पुष्टि में है) यदि कुछ करूँ तो इसमें श्रीरामजी का अपमान है, क्योंकि वे अपने कुल की मर्यादा की रक्षा स्वयं करना चाहते हैं। अपने स्त्री-हारी का वध अपने ही बाणों से करना चाहते हैं, इसकी प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं। यदि मैं तुझे मारकर उनकी स्त्री को

ले जाऊँ, तो इसमें उनका अपमान है ; यथा—"तव सोनित की प्यास, तृषित राम सायक निकर। तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम॥" (दो० ११)। 'तोहि देखत···'—का भाव यह कि तू तो उनके सूने में चोरी से उनकी स्त्री का हरण किया और मैं तेरे देखते हुए तेरे समाज के सामने ही ऐसा करूँ। 'कौतुक'—का भाव यह कि इसमें मुझे कुछ श्रम न होगा। यह भी भाव है कि तू गुन-ग्राहक है ही ; यथा—"मैं गुन गाहक परम सुजाना।" (दो० १२)। अतः, यह भी कौतुक देख ले।

(२) 'तव गाउँ'—लंका की तुच्छता दिखाने के लिये उसे 'गाउँ' कहा। 'तव जुवतिन्ह समेत···'—तू एक को ही चुराकर लाया और मैं तेरे देखते हुए तुझे जीतकर तेरी भी सब स्त्रियों को श्रीजानकीजी की दासी बनाने के लिये ले जाऊँ। एक के हरण के बदले में तुम्हारी सब स्त्रियों को बलात् ले जाऊँ।

जौं अस करउँ तदपि न बड़ाई। मुयेहि बधे नहि कछु मनुसाई॥१॥
कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥२॥
सदा रोग-बस संतत क्रोधी। बिष्णु-बिमुख श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥
तनु-पोषक निंदक अघ-खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥४॥
अस बिचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही॥५॥

शब्दार्थ—कौल = वाममार्गी ; यथा—"मद्यं मांसं तथा मुद्रा मैथुनं मत्स्यमेव च। मकाराः पंच विख्याताः कौलानां सिद्धिदायकाः॥" तथा—"तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं॥" (अ० दो० १६७); और भी कहा है; यथा—"अन्तः शाक्ताः बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नानावेषधराः कौलाः विचरन्ति मही-तले॥" सव = शव, मृतक।

अर्थ—जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई नहीं है, (क्योंकि) मरे हुए को मारने में कुछ पुरुषार्थ नहीं कहा जाता॥१॥ वाममार्गी, कामी, सूम (कंजूस), अत्यन्त मूढ़, अत्यन्त दरिद्र, कलंकी, अत्यन्त बुड्ढा॥२॥ सदा रोगी रहनेवाला, निरंतर क्रोध से भरा रहनेवाला, विष्णु-विमुख, श्रुति और संत का विरोधी॥३॥ और अपना ही शरीर (वा, शरीर को आत्मा मानकर) पोषण करनेवाला, निन्दा करने-वाला, (सब) पाप की खान हैं—ये चौदह प्राणी जीते ही मृतक के समान हैं॥४॥ अरे दुष्ट! ऐसा विचार कर मैं तेरा वध नहीं करता, (पर) अब मुझमें क्रोध न पैदा करवा॥५॥

विशेष—(१) 'जौं अस करउँ···'—यदि रावण कहे कि ऐसा समर्थ है, तो अपना पुरुषार्थ कर दिखा। इसपर कहते हैं कि मुए को मारने में कोई पुरुषार्थ नहीं।

(२) 'कौल कामबस कृपिन···'—ऐसे ही व्यासजी ने पाँच को गिनाया है ; यथा—"जीवि-तोपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्त्तिताः। दरिद्रो व्यथितो मूर्खो प्रवासी नृपसेवकः॥" (नीतिः) ; अर्थात् दरिद्र, व्यथित (रोगी), मूर्ख, परदेश में रहनेवाला और राजा का सेवक ये पाँचो जीते ही मरे के समान हैं। (राज सेवक से यहाँ उन सेवकों का तात्पर्य है। जिन्हें थोड़ी चूक हो जाने पर शूली का डर रहता है।)

कौल अपने कर्मों से नरक-गामी होंगे। कामी कलंकी होंगे, इन दोनों की अकीर्ति होती है, इससे मृतक-तुल्य हैं; यथा—"संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४), कृपण'—कंजूस का संकु-चित-हृदय रहता है, जिससे बुद्धि का विकाश नहीं होता। 'बिमूढ़ा'—ज्ञान-रहित। 'अति दरिद्र' सदा तृष्णा-

युक्त रहता है, चिंता में ही लगा रहता है, इससे वह पारमार्थिक विचार का अवकाश ही नहीं पाता। 'अजसी'—मरे से भी बदतर है, ऊपर प्रमाण दिया गया। 'अति बूढ़ा'— मरणोन्मुख होने से एवं नाना क्लेश-भाजन होने से मृतक-तुल्य है, सभी से अनादृत भी होता है। 'सदा रोग बस'; यथा—"असाध्यः स तु विज्ञेयस्तेन युक्तं मृतं वदेत् ॥"—वाग्भट्ट। 'संतत क्रोधी'– क्रोध से सदा हृदय अंधा रहता है, इससे विवेक नहीं रहता। 'बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी'—विवेक-धाम विष्णु के शत्रु हैं, तभी ऐसे हैं। विष्णु भगवान् ज्ञान-धाम हैं। श्रुति और संतों के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। 'तनु पोषक' नरक के भागी हैं; यथा—"नरक प्रद उदर भरउँ" (वि॰ १७१); 'निंदक'; यथा—"सन के निंदा जे नर करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥" (उ॰ दो॰ १२०); इससे ये शव के समान हैं। इनमें 'अघखानी' सबके साथ है। श्रुति-विरोधी और संत विरोधी को दो गिनने से १४ होते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोषों में एक भी होता है, तो श्रीरामजी में सच्ची प्रीति नहीं होती और उसके बिना जीव जीते ही मरे हुए के समान हैं; यथा—"जीयत राम मुये पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जिये जग में तुलसी न तु डोलत और मुये धरि देही ॥" (क॰ उ॰ १६)।

श्रीअंगदजी के कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें एक दोषवाला भी मृतक-तुल्य होता है। तुममें तो सभी बातें हैं—

'कौल'; यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती।"—यह शूर्पणखा ने इसे कहा है। पुनः—"आवा निकट जती के बेषा।" (आ॰ दो॰ २७), 'काम बस'—इसीसे इसने पर-स्त्रियों का हरण किया है। 'कृपन' है, इसी से भोगैश्वर्य में आसक्त है और कर्म-फल की वासनावाला है, यथा—"कृपणाः फलहेतवः।" (गीता २।४९); तथा—मनुष्य-तन का मुख्य उद्देश्य है कि 'भगवान् को तत्त्वतः जानकर उन्हें प्राप्त कर ले' जो मनुष्य उन्हें भुलाकर विषय में ही आसक्त रहता है, वह भी कृपण है; यथा—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।" (बृह॰ ३।८।१०); यह दोष भी पूर्णतया रावण में है ही। 'बिमूढ़ा'—मूढ़ है, क्योंकि श्रीरामजी को मनुष्य मानकर ही उनका अपमान करता है; यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥" (गीता ९।११), 'अति दरिद्र' है, क्योंकि ऋषियों से भी रक्त-रूपी कर लिया। 'अजसी' तो प्रत्यक्ष है, 'अति बूढ़ा'—बुढ़ापे में मति-भ्रम हो जाता है, वैसे इसकी बुद्धि भी भ्रमित है; यथा—"निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (दो॰ २९), इसे बहुत काल तक राज्य करते भी हो गया, इससे अति बूढ़ा है ही। 'सदा रोगबस'—मानस रोग कामादि के वश सदा रहता ही है। मोह सब व्याधियों का मूल है, यह मोह-रूप है ही. यथा—"मोह दस मौलि ··" (वि॰ ५८), 'संतत क्रोधी'—क्योंकि जो हित भी कहता है, उसे भी यह दुर्वचन ही कहता है। 'बिष्णु बिमुख'—विष्णु भगवान् के चक्राघात के दागों से प्रकट है; यथा—"विष्णुचक्र परिक्षतौ।" (वाल्मी॰ ३।३०।१६) । श्रुति-संत बिरोधी', यथा—"तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना ॥" (बा॰ दो॰ १८३); 'तनु पोषक', यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (दो॰ १०); 'निंदक'; यथा—"जब तेहि कीन्हि राम कै निन्दा।" (दो॰ ३०); पुन. यह सब प्रकार से पाप की खान है, यथा—"आजन्म ते पर-द्रोह-रत पापौघ मय तव तनु अयं ॥" (दो॰ १०४)।

सुनि सकोप कह निसिचर-नाथा। अधर दसन दसि मीजत हाथा ॥६॥
रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी ॥७॥
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल-प्रताप बुधि तेज न ताके ॥८॥

शब्दार्थ—दसन दसि = दाँतों से काटकर। जल्पना = डींग हाँकना, व्यर्थ बकना।

अर्थ—श्रीअंगदजी के वचन सुनकर राक्षस-राज रावण क्रुद्ध हो दाँतों से होठों को काटकर हाथ मलता हुआ बोला ॥६॥ अरे नीच वानर! अब तू मरना ही चाहता है? (क्योंकि) छोटे मुँह बड़ी बात कहता है ॥७॥ अरे जड़ वानर! तू जिसके बल पर कड़वे वचन बकता है, उसमें बल, प्रताप, बुद्धि और तेज (कुछ भी) नहीं है ॥८॥

विशेष—सकोप कहकर फिर दूसरे चरण में उसका स्वरूप दिखाया कि वह हाथ मलता होठ चबाता है, ये क्रोध के चिह्न हैं; यथा—"परम क्रोध मींजहि सब हाथा।···" (लं॰ दो॰ ५४); तथा—"कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥" (दो॰ ४०); दुरुक्तियों के उत्तर न आने से ओठ काटता है और दंड का वश नहीं चलता, इससे हाथ मलता है। किन्तु ऊपर से दिखाता है कि दूत अवध्य है, इसलिये मैं हाथ मलकर रह जाता हूँ।

दोहा—अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनबास।
सो दुख अरु जुबती-बिरह, पुनि निसिदिन मम त्रास॥
जिन्हके बल कर गर्ब तोहि, अइसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवस-निसि, मूढ़ समुझु तजि टेक॥३०॥

शब्दार्थ—अगुन = गुण-हीन, मूर्ख अथवा निर्गुन। अमान = अप्रतिष्ठित, आत्म गौरव-रहित अथवा ज्ञानी। टेक = हठ, जिद।

अर्थ—गुण-हीन और आत्म-गौरव-रहित जानकर उसे पिता ने वनवास दिया। एक तो वह दुःख, फिर उसपर भी युवती-स्त्री का विरह (दुःख) और फिर रात-दिन मेरा डर बना रहता है। जिनके बल का तुझे गर्व है, ऐसे अनेक मनुष्यों को तो रात-दिन राक्षस खाया करते हैं, अरे मूढ! जिद छोड़कर समझ ॥३०॥

विशेष—(१) 'अगुन अमान···'—राजा को स्वात्माभिमानी और गुणवान् होना चाहिये। ये गुण श्रीरामजी में न देखकर पिता ने उत्तराधिकारी होने पर भी उन्हें वनवास दे दिया। यदि आत्म-गौरव होता, तो लड़कर अपना हक ले लेते और गुण होता तो पिता को ही प्रसन्न कर लेते अथवा प्रजा को अनुकूल करके राज्य ले लेते। घर छूटने का दुःख तो था ही, फिर स्त्री-वियोग भी हो गया और उसपर भी मेरा डर रहता है। तब वे स्वयं मृतक के समान हो रहे हैं, मुझसे क्या लड़ेंगे? यह उसने श्रीअंगदजी के 'जीवत सव सम चौदह प्रानी।' के जोड़ में दोष बनाकर कहा है।

रावण तो निन्दा करता है, पर वाणी की अधिष्ठातृ-देवी सरस्वती दूसरा ही अर्थ मानकर कहती है—अगुण अर्थात् निर्गुण। अमान = देश-काल-वस्तु के प्रमाणों से रहित, अपरिमित। या, ज्ञान-पूर्ण; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (आ॰ दो॰ १४); ऐसे जानकर पिता (जगत्पिता) ब्रह्मा ने वनवास की रचना कर दी कि भू-भार-हरण करेंगे। 'सो दुःख'—इसमें अवधवासी भक्तों के वियोग का दुःख और 'युवती विरह'—परम अनन्या प्रियाजी का विरह, पुनः मुझे सपरिवार उद्धार करने की चिंता (डर) है।

(२) 'खाहिं निसाचर···'—स्तुति-पक्ष—वे रात-दिन निशाचरों का नाश करते हैं, यथा—"खोजहि निसिचर दिन अरु राती।" (दो॰ ७१); 'मूढ़ समुझु तजी टेक'—मुझे मूढ़ समझकर सन्धि की हठ छोड़ दे।

वाल्मी ६।३६।४ में भी रावण ने माल्यवान् से कुछ ऐसा ही कहा है ; यथा—"मानुषं कृपणं राममेव शाखामृगाश्रयम्। समर्थं मन्यसे केन त्यक्तं पित्रा वनाश्रयम् ॥" अर्थात् राम मनुष्य हैं, दीन हैं, केवल वानरों के आश्रित हैं फिर भी पिता के द्वारा त्यागे गये हैं, जिससे वन-वन फिरते हैं, उन्हें किस कारण से समर्थ मानते हो ?

प्राचीन प्रतियों में इस ३१वें दोहे पर ही अंक मिलता है और लंका-कांड के १२१ दोहों के होते हुए भी १२० ही संख्या दी हुई मिलती है। प्रतिलिपियों के लेखकों ने भी इसपर ध्यान न-देकर केवल पूर्व लेखकों की भूल समझकर इस दोहे की संख्या ३० को ३१ कर दिया, फिर वैसे ही बढ़ाते हुए अंत में १२१ रक्खा है। वस्तुतः इसे मानसकार ने ही परम भक्ति की दृष्टि से नहीं गिना, क्योंकि इसमें अपने इष्ट-देव श्रीरामजी की निन्दा है। आगे—"हरि हर निंदा सुनहि जे काना। होइ पाप गोघात समाना ॥" कहा है। उससे बचने का उपाय भी कहा है, यथा—"काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि नत चलिय पराई ॥" (बा० दो० ६३) ; इसे ग्रंथकार ने स्वयं चरितार्थ भी करके दिखाया है कि इस प्रसंग को ग्रन्थ-संख्या से निकाल दिया है, मानों निन्दक की वाणी (जिह्वा) ही निकाल दी है।*

जब तेहि कीन्हि राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा ॥१॥
हरि-हर-निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गो-घात समाना ॥२॥

अर्थ—जब उसने श्रीरामजी की निन्दा की, तब कपि-श्रेष्ठ श्रीअंगदजी अत्यन्त क्रोधित हो गये ॥१॥ (क्योंकि) जो हरि और हर की निन्दा कानों से सुनता है उसे गो-वध के समान पाप होता है ॥२॥

विशेष—'राम कै निंदा'—जो झूठ बनाकर किसी का दोष कहा जाय, वही अपवाद (निंदा) कहाता है और जो वास्तविक दोष कहा जाय, उसे परिवाद कहते हैं ; यथा—"बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्। परिवादोपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥" (वाल्मी० ४।१२।२७) ; अर्थात् बहुत हजारों स्त्रियाँ हैं, और बहुत उपजीवी हैं, पर श्रीरामजी के विषय में सकारण निन्दा और निष्कारण निंदा नहीं सुनी गई है।

यहाँ रावण ने झूठा दोष बनाकर कहा, इसी से निंदा करना कहा गया। पहले श्रीरामजी को प्राकृत नर कहा, क्रोध तो तभी से था। जब झूठ ही दोष भी लगाया, तब अति क्रोध हुआ। इससे इस पाप को गोहत्या के समान कहा, इसका प्रायश्चित्त भी कहा है, वह ऊपर कहा गया कि वश चले तो निंदक की वाणी का खंडन करे अन्यथा कान मूँदकर वहाँ से चल दे, तब पाप से बच सकता है।

यहाँ पर श्रीअंगदजी समर्थ हैं इसीसे 'कपिंदा', अर्थात् कपीन्द्र कहा है। अतएव ये उसके वचनों का सप्रमाण खंडन करेंगे ; यथा—"राम मनुज बोलत · सो नर क्यों ··" इत्यादि।

कटकटान कपि-कुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी ॥३॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे ॥४॥

* कितने ही लोग अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर इन पाँच कांडों में श्रीसद्गुरुसदन गोलाघाट, अयोध्या की प्रति का पाठ लेना तो लिखते हैं, पर वे उस प्रति को आँख से भी नहीं देखते। मैंने देखा तो उसमें भी इस निंदा के दोहे पर ३० अंक है और इस कांड की अंत तक में १२० ही संख्या है।

गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर ॥५॥
कछु तेहि लै निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पवारे ॥६॥

शब्दार्थ—ग्रसना = दृढ़ पकड़ा जाना। पवारना = फेंकना, चलाना।

अर्थ—कपि श्रेष्ठ श्रीअंगदजी बहुत जोर से कटकटाये (क्रोध से दाँत पीसे जिससे कटकट शब्द हुआ,) और क्रोधित होकर अपने दोनों भुज-दंड पृथिवी पर दे मारे ॥३॥ पृथिवी के हिलते ही सभासद-गण गिर पड़े और भय-रूपी वायु से ग्रस्त होकर भाग चले ॥४॥ रावण गिरते गिरते सँभलकर उठा, (पर) उसके अत्यन्त सुन्दर मुकुट पृथिवी पर गिर पड़े ॥५॥ कुछ (छः) तो उसने लेकर अपने शिरों पर सजाया और कुछ (चार) श्रीअंगदजी ने (उठाकर) प्रभु के पास फेंक (चला) दिया ॥६॥

विशेष—(१) 'दुहु भुज दंड तमकि ···'—*इष्टदेव की निन्दा पर श्रीअंगदजी क्रोध विवश* हो गये। रावण उनके हाथों से अवध्य था। इस कारण क्रोध से दाँत पीसकर लाचारी प्रकट करते हुए अपने दोनों हाथ भूमि पर पटके। इसकी तात्कालिक घटना से इनका अभीष्ट भी सिद्ध हो गया। रावण का मुकुट गिरना, उसके शिर गिरने के समान हुआ। सभासदों पर भी धाक जमी।

(२) 'कछु तेहि लै ···'—बीस हाथों से भी उसने छः ही उठा पाये और श्रीअंगदजी ने दो ही हाथों से चार को उठा लिया। यह भी इनकी जीत हुई। कछु = चार, यथा—"तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये।" (दो० ३७), प्रभु के पास भेज दिये कि वहाँ वानर-गण प्रसन्न होंगे और इधर रावण के चार शिर नंगे रह जायँगे। तब वह अत्यन्त लज्जित होगा। इस कार्य पर प्रभु प्रसन्न होंगे।

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिन ही लूक परन बिधि लागे ॥७॥
की रावन करि कोप चलाये। कुलिस चारि आवत अति धाये ॥८॥
कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहिं राहू ॥९॥
ये किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे ॥१०॥

शब्दार्थ—लूक = टूटा हुआ तारा, उल्का। कुलिस = वज्र, बिजली। असनि = वज्र।

अर्थ—मुकुटों को आते देखकर वानर भगे। (सोचते हैं कि) हे विधाता! क्या दिन में ही तारे टूटकर गिरने लगे? ॥७॥ या कि रावण ने क्रोध करके चार वज्र चलाये हैं जो बड़े वेग से दौड़े हुए आते हैं ॥८॥ प्रभु श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि मन में न डरो, ये न लूक हैं, न वज्र हैं, न केतु और न राहु ॥९॥ ये दशानन रावण के मुकुट हैं और बालि कुमार श्रीअंगदजी के भेजे हुए आ रहे हैं ॥१०॥

विशेष—पहले तेजयुक्त और वेग से आते देखकर लूक का अनुमान किया, फिर सोचा कि दिन में तो लूक पड़ना असंभव है, तब वज्र की कल्पना की। इतने ही में प्रभु उनको सभीत देख समाधान करने लगे, तब तक उनके मन में केतु और राहु की भी कल्पना आ गई। तो उन्हें भी सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया और चारों बातों का निराकरण कर यथार्थ बात बतलाई कि ये रावण के मुकुट हैं। 'हँसि'—हँसना वानर-भालुओं के भागने पर विनोद के लिये एवं श्रीअंगदजी के श्रेष्ठ कर्म पर प्रसन्नता के लिये है।

दोहा—तरकि पवन-सुत कर गहे, आनि धरे प्रभु पास।
कौतुक देखहिं भालु - कपि, दिनकर - सरिस प्रकास ॥
उहाँ सकोप दसानन, सब सन कहत रिसाइ।
धरहु कपिहि धरि मारहु, सुनि अंगद मुसुकाइ ॥३१॥

अर्थ—पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने उछलकर उन्हें हाथों से पकड़ लिया और लाकर प्रभु के पास रख दिया। उनकी चमक सूर्य के प्रकाश के समान थी, रीछ और वानर तमाशा एवं आश्चर्य-रूप में देखने लगे ॥ वहाँ (रावण की सभा में इसी समय) दशानन कुपित हो सबसे क्रोधित होकर कहने लगा कि वानर को पकड़ लो और पकड़कर मार डालो, यह सुनकर श्रीअंगदजी मुस्कुराने लगे ॥३१॥

विशेष—(१) श्रीहनुमान्‌जी ने उछलकर शीघ्र पकड़ लिया कि वली श्रीअंगदजी ने फेंका है, कहीं समुद्र के उस पार न चले जायँ। पुनः भूमि में गिरने से मुकुटों के कुछ अवयव टूट न जायँ, अतएव ऊपर से लोक कर श्रीअंगदजी की भेजी हुई भेंट को प्रभु के पास लाकर रख दिया।

(२) 'उहाँ कहत'—एक ही समय में दोनों जगहों के चरित्र हुए। वक्ता एक हैं, पहले यहाँ (सुवेल) का चरित कहकर तब वहाँ की बात कहते हैं। ग्रंथकार ने अपनी स्थिति 'इहाँ' के पक्ष में सूचित की। 'मुसुकाइ'—रावण की निर्लज्जता और डींग पर निरादर के लिये हँसे कि अभी भी मुझे निर्बल ही समझता है कि जिसके एक थपेड़े की चोट पर यह दशा हुई।

येहि विधि वेगि सुभट सब धावहु। खाहु भालु कपि जहँ जहँ पावहु ॥१॥
मर्कटहीन करहु महि जाई। जियत धरहु तापस दोउ भाई ॥२॥
पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा ॥३॥
मरु गर काटि निलज कुल-घाती। वल बिलोकि बिहरति नहिं छाती ॥४॥

शब्दार्थ—गर = गला, गर्दन। विहरना = विदरना, विदीर्ण होना, फटना।

अर्थ—(इसे मार कर) इसी तरह शीघ्र ही सब योद्धाओ ! शीघ्र धावा करो और जहाँ-जहाँ भी वानर-भालुओं को पाओ, खा लो ॥१॥ जाकर पृथिवी को वानर-रहित कर दो और तपस्वी दोनों भाइयों को जीता ही पकड़ लो; अर्थात् वे भागने न पावें और न मरने ही पावें। यहाँ मैं ही उनकी दुर्दशा करके उन्हें मारूँगा ॥२॥ युवराज श्रीअंगदजी फिर क्रोध के साथ बोले, अरे! तुझे गाल बजाते हुए लज्जा नहीं आती? ॥३॥ अरे निर्लज्ज! अरे कुलनाशक! (स्वयं अपना) गला काट कर मरजा, मेरा बल देखकर तेरी छाती भी नहीं फटती? ॥४॥

विशेष—(१) वानरों को मार डालने को कहा, क्योंकि वे सब श्रीअंगदजी की ही सेना हैं और श्रीअंगदजी ने इसका अपमान किया है। 'तापस दोउ भाई' को और अधिक शत्रु मानता है, क्योंकि उन्हीं ने इसे भेजा है, अतएव उन्हें विशेष दुःख देकर मारने का उपाय कर रहा है।

(२) 'कुलघाती'—का भाव यह कि तेरे ही कारण तेरे कुल-भर का नाश होगा; यथा—"बातन्ह

मनहिं रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस।" (सु० दो० ५१) भाव यह कि अभी भी तू आत्म-घात करके मर जा, तो तेरा कुल बच जाय।

'बल बिलोकि '—देख तो कि एक वानर के थपेड़े के धक्के से समाज सहित तेरी क्या दशा हुई ? तू गिरा और तेरे मुकुट भी, और मैंने चार मुकुट भी छीन लिये। इसपर तो तुझे लज्जा से स्वयं गला काटकर मर जाना चाहता था कि अब संसार में कौन मुँह दिखावेगा ?

रे त्रिय - चोर कुमारग - गामी। खल मल - रासि मंदमति कामी ॥५॥
सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि काल-बस खल मनुजादा ॥६॥
याको फल पावहिगो आगे। बानर - भालु चपेटन्हि लागे ॥७॥
राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी ॥८॥
गिरिहहिं रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समर महि माहीं ॥९॥

अर्थ—अरे स्त्री-चोर ! अरे कुमार्ग पर चलनेवाले ! अरे दुष्ट, पापराशि, मन्द-बुद्धि और कामी ! ॥५॥ तू त्रिदोष में दुर्वचन बक रहा है ? अरे दुष्ट राक्षस ! तू काल के वश हो गया ॥६॥ इसका फल भविष्य में पावेगा, जब वानर-भालुओं की चपेटें (थप्पड़ें) लगेंगी ॥७॥ श्रीरामजी मनुष्य हैं, ऐसा वचन बोलते ही, अरे अभिमानी ! तेरी जीभें नहीं गिर पड़तीं ? ॥८॥ तेरी जीभें गिरेंगी, इसमें संशय नहीं, (पर वे तेरे) शिरों को लेकर गिरेंगी और समर भूमि में गिरेंगी (इसी से विलम्ब हो रहा है। देर में पाप का फल मिलता है, तो अधिक मिलता है—यह नियम है।) ॥९॥

विशेष—(१) 'त्रिय चोर' कहकर साथ ही 'कुमारग गामी' भी कहा। भाव यह कि यही कुमार्ग गमन है, यथा—"सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥ इमि कुपथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥" (आ० दो० २०); 'मल रासि', यथा—"आजन्म ते परद्रोह रत पापौघ मय तव तनु अयम्।" (दो० १०३), 'मनुजादा' - क्योंकि राक्षस मनुष्यों को खाते हैं, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।" (दो० ७१), 'मंदमति', क्योंकि समझाने पर भी नहीं समझता, यथा—"सुनु खल मैं तोहिं बहुत बुझायो। पतो मान सठ भयो मोहबस जानत हूँ चाहत बिष खायो॥" (गी० लं० ४)।

(२) 'सन्यपात जल्पसि'—से प्रलापक सन्निपात कहा। 'भयेसि काल बस'—से उसे असाध्य सूचित किया, यथा—"बातुल भूत बिबस मतवारे। ये नहिं बोलहिं बचन सँभारे॥" (बा० दो० ११४)।

(३) 'गिरहिं न तव रसना ' कहने पर जीभें उसकी न गिरीं, तब वह कह सकता है कि मेरा कथन ठीक ही निकला। इसपर कहते हैं—'गिरिहहिं '।'

सोरठा—सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहिं एक सर।
बीसहु लोचन अंध, धिग तव जन्म कुजाति जड़ ॥

तव सोनित की प्यास, तृषित राम-सायक निकर।
तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम ॥३२॥

अर्थ—अरे दशकंधर! वे मनुष्य कैसे हैं जिन्होंने एक बाण से वालि का वध किया? अरे कुजाति! अरे जड़! तू बीसों आँखों का अंधा है, तेरे जन्म को धिक्कार है॥ अरे कटुजल्पक! अरे अधम निशाचर! (मुझे) तेरे खून की प्यास है (पर उसके तो) श्रीरामजी के बाण समूह प्यासे हैं। इसी डर से पापी और कड़वे वचन बकनेवाले तुझ निशाचर को मैं छोड़े देता हूँ, (कि उनके बाणों की प्यास न बुझेगी, तो श्रीरामजी अप्रसन्न होंगे)॥३२॥

विशेष—(१) 'बालि बध्यो जेहि एक सर'; यथा—"एकहि बान बालि मारयो जेहि जो बल-उदधि अगाध॥" (गी॰ लं॰ १); "बालि एक सर मारेउ, तेहि जानहु दसकंध।" (दो॰ १५) अर्थात् बालि का मनुष्य के एक बाण से मारा जाना असंभव है। 'कुजाति' का भाव यहाँ 'कुजाती' = जिसका बुरी तरह से जन्म हो, इस तरह का लिया जायगा। इसकी माता विश्रवा मुनि के यहाँ कुसमय में पुत्र की इच्छा से गई, मुनि के समझाने से भी उसने नहीं माना। इसी से यह राक्षस पैदा हुआ। एक तो मातृपक्ष और फिर राक्षसों के आचरण से कुजाति कहा गया, नहीं तो यह उत्तम कुल का है।

(२) 'राम सायक निकर'—रावण को जीतनेवाले बालि को तो श्रीरामजी ने एक ही बाण से मारा। तब रावण के लिये उनके बाण-समूहों का प्यासा होना क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि बालि एक श्रीसुग्रीवजी को ही दुःख देनेवाला था। इसने तो असंख्य जीवों को दुःख दिया है, इससे वैसे ही अनेकों बाणों से अनेकों बार दुःख देकर सबका बदला चुकाते हुए फिर इसे मुक्त करेंगे। वाल्मी॰ ६।१०७ में स्पष्ट कहा गया है कि जिन बाणों से मैंने बालि आदि को मारा है, उन्हीं बाणों से बार-बार प्रहार किया जाता है, पर क्या कारण है कि वे ही बाण मंद-तेज हो रहे हैं?

यदि इसपर रावण समझे कि इस युक्ति से यह बचना चाहता है, इसमें वैसी शक्ति नहीं है—इसपर आगे कहते हैं—

मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥१॥
असि रिस होति दसउ मुख तोरउँ। लंका गहि समुद्र महँ बोरउँ॥२॥
गूलरि-फल-समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका॥३॥
मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥४॥

अर्थ—मैं तेरे दाँत तोड़ने के योग्य हूँ, पर श्रीरघुनाथजी ने आज्ञा नहीं दी॥१॥ ऐसा क्रोध आता है कि तेरे दसो मुखों को तोड़ डालूँ और लंका (नगरी) को पकड़कर समुद्र में डुबा दूँ॥२॥ तेरी लंका गूलर के फल के समान है, तुम सब जंतु (भुनगे, छोटे-छोटे कीड़े) हो, जो उसमें निर्भय बसते हो॥३॥ मैं बानर हूँ (अतएव) फल खाते देर नहीं, (पर क्या करूँ?) उदार श्रीरामजी ने आज्ञा नहीं दी॥४॥

विशेष—(१) 'मैं तव दसन…'; यथा—"हौं ही दसन तोरिबे लायक कहा करउँ जो न

आयसु पायो ॥" (गी० सं० ४); आज्ञा-पालन ही सेवक का मुख्य धर्म है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००); अर्थात् तुझे मारने पर मैं अपने स्वामी से ही विमुख हो जाऊँगा।

(२) 'अस रिस होति···'—इससे अपने क्रोध का कार्य कहा। पुनः - 'गूलर फल समान···'—से अपना विलक्षण सामर्थ्य और अत्यन्त शीघ्रता से लंका का नाश करना कहा कि जिसमें तुम कुछ कर ही न सकोगे। जैसे गूलर-फल का भुनगा वानर का प्रतिकार नहीं कर सकता। गूलर-फल खाना वानरों का सहज स्वभाव है, उसके कीड़ों पर वानर को दया नहीं, वैसे ही समस्त लंका के निशाचरों का वध करना मुझे स्वाभाविक इष्ट है। अतएव वध में दया न करूँगा।

पहले लंका को समुद्र में डुबाना कहा, फिर गूलर फल के समान भक्षण करना कहा, अर्थात् चाहे समुद्र में डुबा दूँ और चाहे खा जाऊँ, दोनों में समर्थ हूँ।

(३) 'असंका'—तुम यह समझकर निर्भय थे कि यहाँ समुद्र के बीच में कोई आ ही न सकेगा। 'मैं वानर'—मनुष्य के लिये भले ही गूलर का फल अभक्ष्य हो, पर मैं तो वानर हूँ। 'उदारा'—उदार चरित हैं, शीलवान् हैं, इसीसे वे आज्ञा नहीं देते। पुनः, उदार अर्थात् श्रेष्ठ हैं, तुझे मारने में हीनता समझते हैं; यथा—"नहिं गजारि जस बधे सृकाला।" (दो० २१), उदारता यह भी है कि वे रण-लीला करके तुझे मारेंगे, तो उस यश को गा-गाकर जगत्-भर के लोगों का उपकार होगा, सभी भव-सिंधु से तरेंगे; यथा—"चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु।" (ल० दो० ८७)।

श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम चारों उदार हैं—

नाम—"येहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन···" (बा० दो० ६)

रूप—"सुनहुँ उदार सहज रघुनायक।" (आ० दो० ४१)।

लीला—"कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार।" (दो० ११५)।

धाम—"नृप गृह कलस सो इंदु उदारा।" (बा० दो० ११४)।

जुगुति सुनत रावन मुसुकाई। मूढ़ सिखिहि कहँ बहुत झुठाई ॥५॥

बालि न कबहुँ गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह तैं भयसि लबारा ॥६॥

साँचेहु मैं लबार भुजबीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा ॥७॥

अर्थ—श्रीअंगदजी की युक्ति सुनकर रावण मुस्कुराया, (और बोला) अरे मूढ़! बहुत झूठ बोलना कहाँ सीखा? ॥५॥ वालि ने तो कभी ऐसा गाल नहीं मारा, (पर) तपस्वियों के साथ मिलकर तू लबार (गप्पी) हो गया ॥६॥ अरे बीस भुजावाले! मैं सत्य ही गप्पी हूँ, जो तेरी दसो जीभें न उखाड़ लीं ॥७॥

विशेष—(१) 'रावन मुसुकाई'—विलक्षण युक्ति सुन और उसकी व्यवस्था असंभव मानकर इस कथन के निरादर के लिये हँसा, पुनः उसे वचन से भी झूठ कहा। 'बालि न कबहुँ···'—झूठ कविता की अत्युक्ति आदि में होती है, वालि वैसा कवि नहीं था। "गूलर फल···" से 'फल खात न बारा।" तक कविताई है। रावण ने देखा कि बातों से इससे जीतना कठिन है, तब इसके पिता की प्रशंसा करते हुए उसका गंभीर स्वभाव कहकर इसे अपने पक्ष में करना चाहता है कि जैसा वह था, वैसा ही तू भी गंभीर बन। वह मेरा मित्र था, तू भी मित्र हो जा, जिनके संग-प्रभाव से यह दोष तुझमें आ गया, उनका संग छोड़ दे।

यह भी आशय है कि पिता के प्रतिकूल कहकर श्रीअंगदजी की, और उनके संग से तुझमें दोष हुए, यह कह कर उससे भी अधिक श्रीरामजी की निन्दा की।

समुझि राम-प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥८॥
जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी ॥९॥

शब्दार्थ—रोपा = रोपना, जमाना, दृढ़ता के साथ रखना।

अर्थ—श्रीरामजी का प्रताप समझकर श्रीअंगदजी ने कोप कर सभा के बीच में प्रतिज्ञा करके पैर जमा दिया।।८।। अरे शठ! जो तू मेरा चरण टाल (हटा) सके तो श्रीरामजी लौट जायँगे, मैं श्रीसीताजी को हारता हूँ ॥९॥

विशेष–(१) 'समुझि राम-प्रताप···'—पूर्व कहा गया; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालि सुत बंका॥" (दो० १७)। इसमें अपना बल, पिता का सम्बन्ध और राम-प्रताप का हृदय में होना, ये तीन हेतु इनकी निर्भीकता के थे। इनमें अपना बल और पिता का सम्बन्ध तो इन्होंने दिखला दिया, अब राम-प्रताप का स्मरण करके उसका बल दिखाते हैं।

पुनः हाथ और पैर इनके विशेष आयुध हैं; यथा—"लागे मर्दइ भुज बल भारी॥ काहुहि लात चपेटन्हि केहू।···" (दो० ४३); इनमें हाथ का बल भूमि में पटक कर दिखा चुके। अब पैर का बल भी दिखाते हैं। यह भी भाव है कि योद्धाओं का बल भुजाओं में होता है, पैर में कम ही बल होता है। पिता ने भुजा से जीता है, तो मैं पैर से ही तुझे जीतकर तेरी वह वाणी—'बालि न कबहुँ गाल···' को खंडन करूँगा कि मैं ठीक बालि का पुत्र हूँ और ठीक इसी तरह तेरी दसों जीभें उखड़ेंगी; क्योंकि तेरी वाणी सर्वथा मिथ्या होगी। पुनः मेरा उक्त कथन कि लंका को सर्वथा नाश कर सकता हूँ, सत्य ही निकलेगा कि जब तू मेरा पैर ही नहीं उठा सकता तब लड़कर मुझसे कब जीतेगा?

बाजी में लेना और देना दोनों होते हैं, यहाँ देना तो स्पष्ट कहा है कि मैं श्रीसीताजीजी को हारता हूँ। पर लेना इस प्रकार से जनाया है कि यदि तू मेरा चरण न हटा सका, तो लंका में मेरा चरण गड़ गया अर्थात् लंका मेरी ही होगी।

पैर रोपने पर यह भी कहा जाता है कि श्रीअंगदजी ने इसे बातों से बहुत समझाया, पर इसने गाल बजाना नहीं ही छोड़ा। अब इसे लात से हरावेंगे, फिर चुप हो, लज्जित होकर बैठ जायगा। कहावत है कि—"लातों के देवता बातों से नहीं मानते" एवं "तसि पूजा चाहिय जस देवता।" (अ० दो० २१२); इत्यादि।

(२) 'फिरहिं राम सीता मैं हारी।'—श्रीअंगदजी श्रीरामजी का प्रताप बालि-वध-प्रसंग, समुद्र पर कोप करने और सेतु-प्रसंग आदि से देख चुके हैं। उसी प्रताप को लक्ष्य करके बड़ा कठिन प्रण करते हैं; यथा—"तेहि समाज कियो कठिन पन, जेहि तौल्यो कैलास। तुलसी प्रभु महिमा-कहौं, सेवक को विश्वास॥" (दोहावली १६७); अर्थात् इस कठिन प्रतिज्ञा का कारण प्रभु के प्रताप की महिमा और उसमें श्रीअंगदजी का दृढ़ विश्वास है।

श्रीरामजी ने इन्हें अपनी ओर से प्रतिनिधि रूप में दूत बनाकर भेजा है और इनपर उन्हें पूर्ण विश्वास है कि इनसे कोई कार्य अन्यथा नहीं होगा; यथा—"बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥" (दो० १६); और इसी से इन्हें पूरा अधिकार भी दिया है; यथा—"काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥" (दो० १६)।

श्रीअंगदजी को दृढ़ विश्वास है कि श्रीरामजी के प्रताप से तृण भी वज्र हो सकता है; यथा—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥" (दो० ३४); इनके हृदय के व्यवस्था-कथन में श्रीशिवजी ने उमा से यह वचन कहा है। इसी विश्वास पर ऊपर दोहा भी कहा गया है। इसी निश्चय पर इन्होंने अत्यन्त कठिन प्रण कर डाला है और ऐसे भारी विजय से ही श्रीरामजी के प्रताप की महिमा भी अपरिमित-रूप में प्रकट होगी।

श्रीअंगदजी को यहाँ वैसा ही निश्चय है कि जैसे कोई दो बरस के बालक से कहे कि तू मेरा पैर हटा दे, तो मैं तुझे चन्द्रमा ला दूँगा। न वह पैर उठा सकेगा, और न उसे चन्द्रमा लाना पड़ेगा।

शंका—आगे जब रावण उठाने आया तब श्रीअंगदजी ने उसे बातों से क्यों लौटा दिया? जब कि इन्हें पक्का विश्वास था।

समाधान—श्रीअंगदजी पैर रोपे ही रहे और इन्होंने उसे वचन से लज्जित किया, वह यही किंचित् बहाना पाकर लौट गया, क्योंकि मेघनाद आदि के द्वारा हृदय में जान चुका था कि मुझसे भी न उठेगा, किन्तु श्रीअंगदजी के ललकारने से ही उठा था।

श्रीअंगदजी ने वैसा इसलिये कहा कि यदि यह मेरा पैर उठाकर हार जायगा तो फिर इसके मारने पर श्रीरामजी का कौन यश रह जायगा? सब यही कहेंगे कि जो रावण श्रीअंगदजी से ही हार गया, उसे मारने में श्रीरामजी की कौन बड़ाई है? श्रीअंगदजी के हृदय में राम-प्रताप है, यह तो गूढ़ बात है।

इस प्रण को ऊपर कठिन प्रण कहा गया है कि जिन श्रीसीताजी के लिये इतना प्रयास करके सेना लेकर, सेतु बाँध श्रीरामजी आये, उन्हीं को बाजी में रक्खा गया और फिर विभीषणजी को श्रीरामजी ने लंकेश पद का तिलक किया है, और राक्षस-मात्र के वध की प्रतिज्ञा की है। ये सब बातें श्रीअंगदजी के प्रण-विजय पर ही अवलंबित हैं। पुनः भक्त श्रीअंगदजी को जगन्माता की बाजी रखने की बुद्धि क्यों कर हुई? इन सबका एक-मात्र समाधान यही प्रतीत होता है कि सर्व-उर-प्रेरक रघुवंश-विभूषण ने ही श्रीअंगदजी को ऐसा दृढ़ विश्वास देकर कहलाया और फिर स्वयं उन्हें विजय देकर यश दिया। जिसके परिणाम को समझकर श्रीअंगदजी ने—'पुलक शरीर नयन जल, गहे रामपद कंज।' का बर्त्ताव किया है।

कोई प्रतिज्ञा के उक्त रूप को अयोग्य मानकर और प्रकार भी अर्थ करते हैं; यथा—"राम-सीता फिर जायँ, मैं (अपनेको) हारा; अर्थात् मैं तुझसे न लड़ूँगा।" इसमें पहले तो व्याकरण-विरोध पड़ता है। क्योंकि फिर हारना क्रिया के लिये कोई कर्म न रह जायगा। 'मैं' श्रीअंगदजी के लिये सर्वनाम है, वे ही हारनेवाले हैं, वे पुरुष हैं, तदनुसार 'हारा' ही क्रिया होगी।

यदि इस दोष को मान भी लें, तो सबसे भारी दोष यह होगा कि इसमें राम-प्रताप का कोई महत्त्व ही न रहेगा। न तो श्रीअंगदजी के हट जाने से श्रीरामजी के पक्ष की विशेष हानि ही है और न इससे रावण को कोई लाभ ही है, जब कि इधर श्रीहनुमान्-सुग्रीव आदि ऐसे बहुत योद्धा हैं, फिर रावण एवं उसके सब लोग पैर उठाने को क्यों उठेंगे? अतः, प्रतिज्ञा का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा और ग्रंथकार ने तो इसे कठिन प्रण कहा है; और इस प्रण को बहुत महत्त्व दिया है; अतः, उक्तार्थ ही युक्त है।

सुनहु सुभट सब कह दससीसा। पद गहि धरनि पछारहु कीसा ॥१०॥
इंद्रजीत आदिक बलवाना। हरषि उठे जहँ तहँ भट नाना ॥११॥
झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहिं सिर नाई ॥१२॥
पुनि उठि झपटहिं सुर-आराती। टरइ न कीस-चरन येहि भाँती ॥१३॥
पुरुष कुयोगी जिमि उरगारी। मोह-बिटप नहि सकहि उपारी ॥१४॥

शब्दार्थ—पछारना (पछाड़ना) = पटकना, गिराना। आराती = शत्रु।

अर्थ—रावण ने कहा—हे सब सुभटो ! सुनो, पैर पकड़कर वानर को पृथिवी पर पछाड़ दो ॥१०॥ इन्द्रजित आदि अनेक बलवान् योद्धा जहाँ-तहाँ से प्रसन्न होकर उठे ॥११॥ बहुत बल और बहुत उपाय करके झपटते हैं, पर पाँव नहीं टलता, तब शिर नीचा करके बैठ जाते हैं ॥१२॥ वे देव-शत्रु (राक्षस) फिर उठकर झपटते हैं, (पर) हे सर्पों के शत्रु गरुड़जी ! वानर का चरण उनके द्वारा इस प्रकार नहीं टलता, जैसे कुयोगी पुरुष मोह-रूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता ॥१३–१४॥

विशेष—(१) 'हरषि उठे'—हर्षित होकर उठने के हेतु कई हैं—(क) अभी तक स्वामी को इसने बहुत बुरा-भला कहा, बातों से न हारता था। हमलोग बोल न सकते थे। अब सब बदला चुका लूँ, इसे पछाड़ मारूँ, यह है ही क्या ? (ख) जिन श्रीसीताजी के लिये बड़े भारी युद्ध की संभावना थी, वे सहज ही में प्राप्त हो जायँगी। क्योंकि हमलोगों के सामने बल में यह है ही क्या ? (ग) रावण मेरे इस कर्म से बहुत ही प्रसन्न होंगे।

(२) 'बिपुल उपाई'—बल से नहीं उठता, तब बहुत तरह के दाव-पेंच से काम लेते हैं। 'बैठहिं सिरनाई'—शिर नीचा कर लेते हैं, लज्जा से किसी की ओर नहीं देखते कि वह धिक्कारेगा। रावण एवं श्रीअंगदजी की ओर तो फिर भूलकर भी नहीं देखते कि धिक्कारेंगे। 'इन्द्रजीत' ने इन्द्र को भी जीत लिया था, जब वह भी हार गया, तब अब और कौन है ? इस तरह लंका के सब वीरों पर इनकी विजय हुई। 'पुनि उठि······'—दोबारा भी प्रयास के लिये उठते हैं। 'सुर आराती'—इन्हीं ने देवताओं को जीता है और बराबर उन्हें दुःख दिया करते हैं, ये सब ऐसे प्रबल हैं। 'पुरुष कुयोगी······'—यहाँ कुयोगी पुरुष निशाचर हैं। अंगद-चरण मोह-विटप है, चरण का हटाना वृक्ष-उखाड़ना है। कुयोगी = असंयमी, विषयी; यथा—"कबिहि अगम जिमि ब्रह्म सुख, अह मम मलिन जनेषु।" (अ० दो० २२५); तथा—"सब नृप भये जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥" (बा० दो० २५०); 'बैठहिं सिरनाई'; यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये शरीर।" (गी० बा० ८७)।

दोहा—कोटिन्ह मेघनाद-सम, सुभट उठे हरषाइ।
झपटहिं टरइ न कपि-चरन, पुनि बैठहिं सिर नाइ ॥
भूमि न छाँड़त कपि-चरन, देखत रिपु-मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग ॥३३॥

अर्थ—मेघनाद के समान करोड़ों उत्तम योद्धा प्रसन्न होकर उठे और झपट रहे हैं, पर वानर का पैर नहीं टलता, तब फिर शिर नीचा करके बैठ जाते हैं ॥ वानर का चरण पृथिवी को नहीं छोड़ता, यह देखकर शत्रु का गर्व दूर हो गया। जैसे करोड़ों विघ्न होने पर भी संत का मन नीति को नहीं छोड़ता ॥३३॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह मेघनाद सम······'—पहले इन्द्रजित आदि एक-एक करके उठे थे। अब सब मिलकर करोड़ों एक साथ लगकर उठाने लगे, पर चरण न उठा। जैसे धनुष-भंग प्रसंग पर कहा गया था कि पहले एक-एक ने उठाया था, फिर दस हजार एक साथ ही उठाने में लगे, पर वह न उठा। दोनों प्रसंगों की व्यवस्था मिलती है, क्योंकि दोनों जगह श्रीसीताजी ही बाजी में हैं। वहाँ भी दो दृष्टान्त प्रवृत्ति-निवृत्ति के दिये गये थे—"कामी बचन सती मन जैसे"; "जैसे बिनु बिराग संन्यासी।" (बा॰ दो॰ २५०); वैसे यहाँ भी वैसे ही दो दृष्टान्त दो प्रकार के हैं—'पुरुष कुजोगी······' और 'कोटि बिघ्न ते······।' 'कोटिन्ह' यहाँ निश्चित संख्यावाची नहीं है। गणनातीत एवं बड़ी संख्या का बोधक है।

(२) 'भूमि न छाँड़त······'—यहाँ अंगद संत, चरण मन, भूमि नीति और कोटि निशाचर विघ्न हुए। संतों के पक्ष में कामादि कोटि विकार विघ्न हैं, नीति अर्थात् जिस धर्म पर वे आरूढ़ हैं। 'भूमि न छाँड़त······' पर क॰ लं॰ १५, १६ पद भी देखने योग्य हैं।

कपि-बल देखि सकल हिय हारे। उठा आपु कपि के परचारे ॥१॥
गहत चरन कह बालि-कुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा ॥२॥
गहसि न राम-चरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई ॥३॥
भयउ तेज-हत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई ॥४॥
सिंहासन बैठेउ सिर नाई। मानहुँ संपति सकल गँवाई ॥५॥

शब्दार्थ—उबार = बचाव। परचारना (सं॰—प्रचारण) = ललकारना। श्री = शोभा।

अर्थ—कपि का बल देखकर सब हृदय से हार गये, (तब) वानर श्रीअंगदजी के ललकारने पर वह स्वयं उठा ॥१॥ चरण पकड़ते समय बालि-पुत्र श्रीअंगदजी ने कहा—"मेरा चरण पकड़ने से तेरा बचाव नहीं होगा, अरे शठ! तू जाकर श्रीरामजी के चरण क्यों नहीं पकड़ता?" यह सुनकर वह मन में अत्यन्त सकुचाकर लौट पड़ा ॥२-३॥ उसका तेज नष्ट हो गया, सब शोभा चली गई, जैसे मध्याह्न समय (या, दिन में) चन्द्रमा सोहता है ॥४॥ (जाकर) शिर नीचा करके सिंहासन पर बैठ गया, मानों सारी सम्पत्ति खो बैठा है ॥५॥

विशेष—(१) 'कपि के परचारे'—श्रीअंगदजी ने पहले इसी को कहा था, यथा—"जौं मम चरन सकसि सठ टारी।" पर इसने श्रीअंगदजी को तुच्छ समझकर और वीरों को कह दिया था। जब वे सब हार गये, तब इन्होंने उसको ही ललकारा कि अब मैं जाता हूँ, तुझमें कुछ साहस हो तो उठ, वह इसे नहीं सह सका, अतएव उठकर चला।

(२) 'गहत चरन कह ···'—श्रीअंगदजी जानते हैं कि यह सबको देखकर हृदय से हारा हुआ है, पर मेरे ललकारने से उठा है। राम-प्रताप के समक्ष यह हार तो जायगा ही, पर फिर श्रीरामजी की

कीर्त्ति की हीनता होगी कि जो श्रीअंगदजी के द्वारा ही हार गया था, उसे मारा तो श्रीरामजी ने क्या वीरता की ? फिर युद्ध की शोभा ही मिट जायगी। इस विचार से इसे बात ही से लजाकर लौटा दूँ, तो अच्छा है, थोड़ा भी बहाना पावेगा, तो लौट जायगा, क्योंकि उसके हृदय का उत्साह तो चला ही गया है, वैसा ही हुआ भी। यदि उसके हृदय में कुछ भी भरोसा होता तो वह कदापि न लौटता और न पीछे ऐसा लज्जित होता।

(३) 'मम पद गहे न तोर उबारा।'—पर यह भी भाव कहा जाता है कि यदि तू मेरा चरण पकड़ लेगा तब हार तो जायगा ही। फिर तुम-सहित लंका हमारे स्वामी की हो जायगी। तब फिर तेरी पैरवी मैं नहीं कर सकूँगा, अभी तो जाकर श्रीरामजी के चरण पकड़, तो मैं भी कह दूँगा कि इसने मेरे चरण नहीं छुए।

(४) 'भयउ तेजहत···'; यथा—"श्री हत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥" (बा॰ दो॰ २६१); वहाँ (धनुषयज्ञ में) राजाओं को दीपक कहा और यहाँ रावण को चन्द्रमा, क्योंकि वे सब मनुष्य राजा थे और यह दिग्विजयी और बड़ा प्रतापी है। 'सोहई' विपर्यय अर्थ में है; अर्थात् अपने वाच्यार्थ को छोड़कर 'अशोभ' को लक्षित करता है; यथा—"उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा॰ दो॰ ४); यहाँ अंगद-रूपी सूर्य के समक्ष तेजहीन, नष्टश्री रावण चन्द्रमा की तरह अत्यंत फीका पड़ गया। यथा—"भ्रष्टश्रीकं गतैश्वर्यं मुमूर्षानष्टचेतनम्।" (वाल्मी॰ ६।४१।६१); यह श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी से संदेशा में कहा था—वह यहाँ चरितार्थ है।

(५) 'सिंहासन बैठेउ सिर नाई।···'—सभासदों की-सी दशा इसकी भी हो गई। 'मानहुँ संपति सकल गँवाई।'—'सकल संपति'—दिग्विजय-द्वारा प्राप्त कीर्त्ति एवं तपस्या के द्वारा वर से पाये हुए बल, प्रताप आदि। 'गँवाई' का भाव यह है कि अपनी ही मूर्खता से खो बैठा। पछताता है कि मैं नाहक उठकर गया, यों ही बातों से टाल दिया होता, तो अच्छा था, श्रीसुमंत्रजी के पछताने से मिलान कीजिये; यथा—"फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।" (अ॰ दो॰ ९८), "मनहुँ कृपन धनरासि गँवाई॥··· चलेउ समर जनु सुभट पराई॥" (अ॰ दो॰ १४३)।

जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥६॥
उमा राम की भृकुटि-बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥७॥
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत-पन कहु किमि टरई॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी जगत्-भर की आत्मा हैं और प्राणों के स्वामी हैं, उनसे प्रतिकूल होनेवाला कैसे विश्राम (आराम, सुख) पा सकता है ?॥६॥ हे उमा! श्रीरामजी के भ्रू-विलास (इच्छा-मात्र) से संसार उत्पन्न होता और फिर नाश को प्राप्त होता है॥७॥ जो तृण को वज्र और वज्र को तृण कर देता है, कहो तो (भला) उसके दूत का प्रण कैसे टल सकता है ?॥८॥

विशेष—(१) 'जगदातमा प्रानपति रामा।', यथा—"एष सर्वभूतान्तरात्मा" (मुं॰ २।१।४); "स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः···एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः॥" (बृह॰ २।५।१५); अर्थात् श्रीरामजी जगत्-भर की आत्मा

हैं, जगत्-भर उनका शरीर है, जगत्-भर से द्रोह करना उन्हीं से द्रोह करना है। फिर वे ही सबके प्राणों के पति हैं, अर्थात् उन्हीं से सबको पौरुष भी प्राप्त होता है, जिससे जय-पराजय भी उन्हीं के हाथ है; यथा – "पौरुषं नृषु" (गीता० ७।८)। रावण विश्व-द्रोह-रत है, इसी से इसकी ऐसी दुर्दशा हुई, यथा—"ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहु मन बिश्राम। भूत द्रोहरत मोह बस, राम बिमुख रति काम॥" (दो० ७८)। "प्रान प्रान के जीव के, जिय सुख के सुख राम।" (अ० दो० २९०)। 'प्रानपति'; यथा—"यस्य प्राणः शरीरम्" (बृ० ३।७।१७), यथा—"प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८)।

'तासु बिमुख किमि···'; यथा—"राम बिमुख थल नरक न लहहीं।"—कैकेई। "सब जग ताहि अनलहुँ ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥"—जयंत-प्रसंग। "राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा।"—भुशुंडीजी।

ऐसे ही रावण को सेतुबंध-प्रसंग से रातोदिन बिश्राम नहीं मिल रहा है। सभा में विभीषण, माल्यवान् और प्रहस्त आदि ने चैन नहीं लेने दिया और घर जाता है तो मंदोदरी वाग्बाणों से बेधती है—ये सब प्रसंग ऊपर लिखे गये।

(२) 'उमा राम की भृकुटि······'—उमा को संदेह हो सकता है कि सृष्टि में कोई भी उत्कृष्ट विभूति का सहसा ऐसा अपकर्ष दिखाना भी तो जगदात्मा के लिये युक्त नहीं प्रतीत होता। इसके लिये श्रीशिवजी स्वयं कहते हैं कि उमा, यह तो श्रीरामजी की नित्य-लीला है; यथा—"भृकुटि बिलास-सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १०), जब देवता प्रमादवश हो जाते हैं, तब असुरों को वज्र के समान कर इन्हें तृण के समान कर देते हैं। फिर जब वे आर्त्त होकर शरण होते हैं, तब देवताओं को वज्र के समान और असुरों को तृण के समान करते हैं; यथा—"सतरंज कैसो राज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ! बहु बेष बहु मुख सारदा कहति" (वि० २४९); श्रीअंगदजी इन्द्र के अंशभूत वालि के पुत्र होने से इन्द्ररूप ही हैं। आज इन्हें वज्र के समान बना कर पूर्व के पराभव का बदला दिलाया। ये ही पहले तृण के समान थे, अब वज्र हो गये। वज्र गिरने से पर्वत टूट जाता है। वैसे इनके हाथ के थप्पड़- द्वारा पृथिवी के हिलने से पर्वताकार भी रावण गिरने से बचा, सभासद् गिर पड़े, जैसे वायु के झकोर से तृण उड़ जाय, वैसे सब भग चले; यथा - "चले भाजि भय मारुत ग्रसे।" (दो० ३१); कारण यह है कि रावण की विमुखता से श्रीरामजी भी उसके विमुख हैं और श्रीअंगदजी की सम्मुखता से इनके सम्मुख हैं, कहा भी है, यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुर तरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति॥" (वि० १९१); अत —'तृन ते कुलिस ···' में सम्मुखता का फल और 'जगदातमा ' में विमुखता का फल कहा गया है।

और भी—वालि के समक्ष में श्रीसुग्रीवजी तृण के समान थे, यथा—"तृन समान सुग्रीवहिं जानी।" (कि० दो० ७), उन्हें भी श्रीरामजी ने वज्र के समान कर दिया, यथा—"तृन भा कुलिस गई सब पीरा॥" (कि० दो० ७); श्रीविभीषणजी रावण के समक्ष तृण के समान थे, उन्होंने उससे काल के समान होकर युद्ध किया—देखिये दो० ९३। आगे वानर-राक्षस-युद्ध में कहा है; यथा—"जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस ते तृन कर सही।" (दो० ८०)।

पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि काल नियराना॥९॥
रिपु-मद-मथि प्रभु-सुजस सुनायो। यह कहि चल्यो बालि नृप जायो॥१०॥

हतौं न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहि का करउँ बड़ाई ॥११॥

शब्दार्थ—जायौ = उत्पन्न। खेत = रणक्षेत्र, रणभूमि। खेलाइ खेलाई = दौड़ा-दौड़ाकर, साँसति करके—इस अर्थ में यह मुहावरा है।

अर्थ—फिर वानर श्रीअंगदजी ने अनेक प्रकार की नीतियाँ कहीं, पर उसका (तो) काल समीप आ गया है, इससे उसने नहीं माना ॥९॥ शत्रु के गर्व को मथकर (नाशकर) प्रभु के सुयश सुनाये और राजा वालि के पुत्र श्रीअंगदजी यह कहकर चल दिये ॥१०॥ कि रणभूमि मे खेला-खेलाकर जबतक मैं तुझे न मारूँ, तबतक अभी क्या बड़ाई करूँ ? ॥११॥

विशेष—(१) 'नीति विधि नाना'—जैसी नीति श्रीहनुमान्‌जी, मंदोदरी एवं श्रीविभीषण आदि ने कही है ; यथा—"जदपि कही कपि अति हित बानी। · नय सानी ॥" (सुं॰ दो॰ २१) ; "बोली बचन नीति रस पागी।" (सुं॰ दो॰ ३५) ; "कही बिभीषन नीति बखानी ॥" (सुं॰ दो॰ ४०)। 'पुनि कपि कही'—यद्यपि पहले भी कह चुके थे, तथापि अब लज्जित हो गया है, सम्भवतः मान जाय, इससे इन्होंने फिर कहा। 'मान न ताहि···' ; यथा—"सुनु सुत भयउ काल बस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥" (दो॰ ४१) ; शिक्षा न मानने पर माल्यवान् ने भी ऐसा ही अनुमान किया है ; यथा—"तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत येहि कृपा निधाना ॥" (दो॰ ४७) ; श्रीरामजी ही इसके काल हैं, वे समीप ही सुबेल पर आ गये हैं ; यथा—"सीता देइ मिलहु नत, आवा काल तुम्हार।" (सुं॰ दो॰ ५१); "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त।" (गीता ११।३२)।

(२) 'रिपु मद मथि'—यहाँ समाज-सहित रावण मत्त-गज-समूह के समान है, अंगदजी सिंह-रूप हैं ; यथा—"यथा मत्त गज जूथ महँ, पंचानन चलि जाइ।" (दो॰ १८), यह उपक्रम मे ही कहा गया है। यहाँ उपसंहार मे—'रिपु मद मथि ·····' से उन्हीं गज-गण के मद-मंथन (नाशन) का भाव है, यथा—"सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि बरूथ महँ मृगपति जथा ॥" (दो॰ ३५)—यह मंदोदरी ने इसी प्रसंग पर कहा है। 'प्रभु सुजस सुनायो'—श्रीरामजी का पराक्रम कहा कि उनके कोप से त्रिदेव भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते ; यथा—"संकर सहस बिष्णु अज तोही। राखि न सकहिं राम कर द्रोही ॥" (सुं॰ दो॰ २२) ; पुनः श्रीरामजी के पराक्रम के उदाहरण कहे ; यथा—"खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल साली ॥" (सुं॰ दो॰ २०) ; इत्यादि। यह भी कहा कि शरण होने पर वे सब प्रकार से रक्षा करते हैं ; यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयों सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृति समन सोक श्रम सींव सुग्रीव आरति हरन ॥" (गी॰ सुं॰ ४२) ; इत्यादि।

'बालि नृप जायो'—श्रीअंगदजी ने प्रथम ही कहा था—"साँचेहु मैं लबार ··" अर्थात् मैं बालि के अनुरूप ही कार्य करके तेरे वचनों को खंडित कर दिखाऊँगा—देखिये दो॰ ३२ चौ॰ ८ भी। वही यहाँ तक चरितार्थ किया, बालि की तरह ही नहीं, प्रत्युत उससे अधिक पराजित किया, उसी बात का लक्ष्य कराते हुए—'बालि नृप जायो' कहा गया है।

(३) 'हतौं न खेत ··'—वीर लोग करनी करके अपना पौरुष दिखाते हैं, कहकर अपनेको प्रकट करने मे लघुता मानते हैं ; यथा—"देखि निजु करतूति कहिबो जानि हैं लघु लोइ।" (गी॰ सुं॰ ५) ; तथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप।" (बा॰ दो॰ २७४), बिना कहे ही कर

दिखाना उत्तम है ; यथा—"एक कहहिं कहहिं, करहिं अपर, एक करहिं कहत न बाग ही।" (दो० ८६); अर्थात् तूने बहुत कहा, पर कर्त्तव्य कुछ न बना और मैंने कर्त्तव्य कर दिखाया। इस तरह रावण को नीच और अपनेको उत्तम जनाया।

प्रथमहि तासु तनय कपि मारा। सो सुनि रावन भयउ दुखारा ॥१२॥
जातुधान अंगद - पन देखी। भय व्याकुल सब भये बिसेखी ॥१३॥
दोहा—रिपु-बल धरषि हरषि कपि, बालि-तनय बलपुंज।
पुलक सरीर नयन - जल, गहे राम-पद-कंज ॥

शब्दार्थ—धरषि (सं० धर्षण) = दबाकर, मर्दन कर।

अर्थ—वानर श्रीअंगदजी ने पहले (सभा में आने के पूर्व) ही उसके पुत्र को मार डाला था, वह सुनकर रावण दुखी हुआ ॥१२॥ श्रीअंगदजी की प्रतिज्ञा देखकर सब राक्षस डर से बहुत व्याकुल हो गये ॥१३॥ बल की राशि वालि के पुत्र कपि श्रीअंगदजी ने शत्रु के बल को मर्दन कर हर्षित हो श्रीरामजी के (पास आकर उनके) चरण-कमल पकड़ लिये, उनका शरीर पुलकित है और नेत्रों में जल भरा है ॥

विशेष—(१) 'सो सुनि रावन···'—अभी तक किसी ने नहीं कहा था, इसका कारण दो० १७ चौ० ७ में कहा गया था। अब यह डर नहीं रह गया, इससे लोगों ने कह दिया। अब यदि रावण कहेगा भी कि तुमलोगों ने क्यों नहीं बचाया ? तो कह सकेंगे कि जिसपर सभा-समेत आपका भी वश नहीं चला, तो हमलोग उसका क्या कर लेते ? 'रावन' का भाव कि जो जगत् का रुलानेवाला था, उसने भी रो दिया। आगे 'बिलखाइ' कहा भी है। अक्ष-वध पर पहले क्रोध किया था, क्योंकि प्रतिकार का अवसर था और पीछे विषाद किया था। पर यहाँ तो अब कुछ कर नहीं सकता, अतएव केवल दुखी हुआ।

(२) 'जातुधान अंगद पन देखी।···'—'अंगद-पन'—'जौं मम चरन···' इससे सबको निश्चय हो गया कि जिस दल में ऐसे-ऐसे वीर हैं, उससे राक्षसों का बचना दुर्लभ है। फिर जिनके दूत ऐसे हैं उन स्वामी के बल का क्या ठिकाना ? ; यथा—"जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई ॥" (सुं० दो० ३५); इस भय से सब विशेष व्याकुल हो गये। व्याकुल तो श्रीहनुमान्‌जी के ही कर्मों से थे, अब विशेष व्याकुल हो गये। पुनः व्याकुल तो अक्षकुमार-वध पर ही हुए थे ; यथा—"अब धौं काह करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा ॥" (दो० १७); अब श्रीअंगदजी की प्रण-सफलता देखकर और भी व्याकुल हो गये। प्रण करके चरण रोप गये और कह भी गये—'हतौं न खेत···' अतः, बचना दुर्लभ मानकर राक्षस लोग विशेष डर गये।

(३) 'रिपु बल धरषि···' ; यथा—"व्यथयन्राक्षसान्सर्वान्हर्षयंश्चापि वानरान्। स वानराणां मध्ये तु रामपार्श्वमुपागतः ॥" (वाल्मी० ६४।१।६१) ; अर्थात् राक्षसों को व्यथित और वानरों को प्रसन्न करते हुए वे (अंगदजी) वानरों के बीच में श्रीरामजी के पास आये। 'रिपु बल धरषि' के सम्बन्ध से बालि तनय कहा ; यथा—"बालि तनय अति बल बाँकुरा।" (दो० १८); 'हरषि'—मनोरथ-सफलता से कहा है। 'पुलक सरीर···'—प्रेम की अधिकता से कहा गया है ; यथा—"अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा···जुगल

नयन, जलधार बही॥" (बा॰ दो॰ २१०); जैसे उपक्रम में—"चरन बंदि अंगद उठेउ··· जुवराज, पुलकित तन हरषित हियेउ।" (दो॰ १७); कहा गया। वैसे ही लौटने पर उपसंहार में भी—'पुलक सरीर नयन जल, गहे राम पद कंज' कहा गया है। भक्त लोग कार्यारंभ में इष्ट को प्रणाम आदि प्रेम-पूर्वक करते हैं और कार्य-सिद्धि पर भी कृतज्ञता-रूप में वैसे ही प्रेम रखते हैं; यथा—"आयेसु माँगि चरन सिर नाई। चले···" (कि॰ दो॰ ११); पुनः लौटने पर भी—"परे सकल कपि चरनन्हि जाई।" (सुं॰ दो॰ २८); कहा गया है।

मंदोदरी का उपदेश [४]

साँझ जानि दसकंधर, भवन गयउ बिलखाइ।
मंदोदरी रावनहि, बहुरि कहा समुझाई ॥३४॥

अर्थ—संध्या समय जानकर दशकंधर रावण रोकर घर गया। मंदोदरी ने रावण (रोनेवाले) को फिर समझाकर कहा ॥३४॥

विशेष—इस दोहे के पहले और तीसरे चरण में १२-१२ मात्राएँ हैं, अतएव यह 'दोही' छंद है। 'साँझ समय'—नित्य के सभा-विसर्जन समय पर। 'भवन गयउ बिलखाइ'—आज सभा के बीच में एक वानर के बालक ने मान-मर्दन कर दिया। इससे रावण ने रो दिया, उसे अत्यन्त दुःख हुआ। पुनः भवन में भी जाने से सुख न मिलेगा, जानता है कि रानी बेटे का वध और सभी की व्यवस्था सुन चुकी होगी, इससे वह भी वाग्बाणों से बेधेगी, श्रीअंगदजी से भी अधिक लज्जित करेगी। अतः, भवन जाते हुए रो दिया। इसपर भी रोया कि अब राक्षस-गण डर से वानरों का सामना कैसे करेंगे?

पहले सभा से जाकर नाच-गान के अखाड़े में जाता था। पर जब से श्रीरामजी के अदृश्य बाण ने महारस भंग कर दिया, उसी दिन से (संभवतः) वह बंद हो गया, क्योंकि सब सभा डर गई थी; यथा—"रावन सभा ससंक सब, देखि महारस भंग।" (दो॰ १३); अथवा, यह भी हो सकता है कि आज भरी सभा में भारी अपमान हुआ है, इस शोक से वहाँ नहीं गया। 'बहुरि'—क्योंकि तीन बार समझा चुकी है, फिर समझाती है। 'समुझाइ' का भाव यह कि विस्तार से कहेगी।

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही ॥१॥
रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेउ असि मनुसाई ॥२॥

अर्थ—हे स्वामिन्! मन में समझकर कुमति छोड़ दो। तुममें और श्रीरघुनाथजी में युद्ध नहीं शोभा देता; अर्थात् तुम उनसे सामना करने के योग्य नहीं हो ॥१॥ श्रीरामजी के छोटे भाई ने छोटी-सी लकीर खींची थी, वह भी तुम नहीं लाँघ सके, यही तो तुम्हारा पुरुषत्व है न? ॥२॥

विशेष—(१) 'तजहु कुमतिही'—क्योंकि तुम्हारे हृदय में दुर्बुद्धि बस गई है, इसी से हितैषियों की शिक्षा नहीं मानते; यथा—"तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥" (सुं॰

दो० ३१), यह शिक्षा देना चाहती है, इसी से पहले कुमति छोड़ना पड़ती है। यह कुमति न छोड़ोगे तो समर-द्वारा विपत्ति पड़ेगी, यथा—"जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।" (सुं० दो० ४०)। रघुपति से समर की इच्छा ही कुमति है।

(२) 'रामानुज लघु रेख खचाई।' —पहले जो कहा था कि तुम श्रीरामजी से लड़ने योग्य नहीं हो, इसी को प्रमाणों से पुष्ट करती है कि जब सीता-हरण के समय श्रीलक्ष्मणजी ने पर्णशाला की चारों ओर अपने धनुष से रेखा खींच दी थी कि इसके भीतर यदि कोई भी निशाचर प्रवेश करे, तो भस्म हो जाय। (यह घटना 'सरम सयान जब सीता बोला।' —आ० दो० २७ के समय की है, ग्रंथकार ने यहाँ कहकर जनाया है) तुम यती वेष से रेखा देखकर भीतर न जा सके और कहा कि मैं बँधी भिक्षा न लूँगा। जब वे बाहर निकलीं, तब उनका हरण किया। जब उनके छोटे भाई की खींची रेखा भी नहीं लाँघ सके तो उनके बड़े भाई के सामने शस्त्र प्रहार करने पर तुम कैसे ठहरोगे ? 'असि मनुसाई' अर्थात् बस, परीक्षा तो हो चुकी है, यही पुरुषार्थ है कि और कहीं से लाये हो ?

मंदोदरी रावण को अत्यन्त प्रिय थी, इससे उससे कुछ छिपाता न था। अथवा, हो सकता है कि दूतियों द्वारा श्रीजानकीजी से यह बात ज्ञात हुई हो।

पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा ॥३॥
कौतुक सिंधु नाघि तव लंका। आयउ कपि - केहरी असंका ॥४॥
रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहिं मारा ॥५॥
जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल - गर्व तुम्हारा ॥६॥

अर्थ—हे प्राणप्रिय ! तुम उसे संग्राम में जीतोगे, जिसके दूत के ये काम हैं ॥३॥ कि खेल से ही समुद्र लाँघकर तुम्हारी लंका में कपि सिंह निर्भय आया ॥४॥ रखवालों को मारकर उसने अशोक वन उजाड़ डाला और तुम्हारे देखते हुए उसने अक्षयकुमार को मार डाला ॥५॥ सम्पूर्ण नगर जलाकर उसने राख कर दिया, तब तुम्हारा बल का घमंड कहाँ रहा ? अर्थात् उस समय उसे पकड़कर क्यों नहीं मारा ?॥६॥

विशेष—(१) 'पिय तुम्ह ताहि जितब' —एक प्रमाण लक्ष्मण रेखा का देकर फिर दूसरा देती है। यह चरित भी उसके पीछे का है, वैसे क्रम से कहती है कि तुम उस रेखा को उनके सूने में भी नहीं लाँघ सके और उनका दूत तुम्हारी तरफ की सिंहिका, लंकिनी और काल के रहते हुए भी तुम्हारे जल-दुर्ग-रूप विशाल समुद्र को खेल में लाँघ आया, यथा—'कौतुक सिंधु' एक से रावण की निर्बलता और दूसरे प्रमाण से श्रीरामजी की प्रबलता कही। 'तव लंका'—तुम्हारी दृष्टि में जो लंका दुर्धर्ष थी, यथा—"सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥" (बा० दो० १७८), 'केहरी असंका'—पहले तो वह लंकिनी और काल आदि से ही नहीं डरा, फिर तुम्हारे सामने बँधे होने पर भी अशंक ही था, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥" (सु० दो० १९), 'आयउ'—जहाँ इन्द्र आदि नहीं आ सकते, वहाँ आकर निर्भीकता से सब कार्य कर गया।

(२) 'रखवारे हति' —अब उसकी अशक्तता के प्रमाण देती है कि तुम्हारा प्राण प्रिय वन उजाड़ा और उसके बहुत रक्षकों को मारा, सब भट मारे गये। पुन इतने रक्षकों के भीतर भी वह कैसे

चला गया और श्रीजानकी को देखा, उनसे बातें भी कीं। 'देखत तोहिं' दीप-देहली-रूप से दोनों ओर है ; अर्थात् ये सब काम उसने तुम्हें ललकार-ललकारकर किये हैं। अब तुम्हारा पुत्र आत्मा-रूप ही था, उसका वध भी तुम्हें ललकारकर किया और वैसे ही नगर भी जलाया। इन सब कर्मों का बदला लिये होते, तो भी तुम्हारा बल-गर्व रह गया होता, पर न ले सके। 'कीन्हेसि छारा'—घृत, तेल और वस्त्र से भी तुम उसकी पूँछ नहीं जला सके और उसने तुम्हारी सोने की लंका जलाकर राख कर दी।

(३) 'कहाँ रहा बल गर्व...'—भाव यह कि तुम्हारा गर्व भी नगर के साथ ही जल गया, अब व्यर्थ गाल न मारो, यथा "उदधि अपार उतरत नहिं लागी बार, केसरी कुमार सो अदंड कैसो डाँड़िगो। वाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट, भारी भारी रावरे के चाउर से काँड़िगो॥ तुलसी तिहारे विद्यमान जुवराज आजु, कोपि पाँव रोपि बस कै छोड़ाइ छाँड़िगो। कहे की न लाज पिय! अजहूँ न आये बाज, सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो॥" (क० लं० १७)। पुनः 'कहाँ रहा बल गर्व...'; यथा—"सो भुजबल राखेउ उर घाली।···" (दो० २८)।

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥७॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग-जग-नाथ अतुल बल जानहु॥८॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब झूठ ही गाल न मारो (शेखी न बघारो) मेरे कहे हुए को कुछ हृदय मे विचार करो॥७॥ हे पति! श्रीरघुनाथजी को नर-पति (ही) मत मानो (प्रत्युत्) चराचर के स्वामी और निस्सीम बलवाला जानो॥८॥

विशेष—(१) 'अब पति मृषा...'—जब कि उपर्युक्त प्रमाणों से तुम्हारा बलगर्व नाश हो गया, तो अब वृथा डींग न हाँको ; अर्थात् इसे कोई सत्य न मानेगा, तब कहना व्यर्थ ही है। 'कछु हृदय...'—भाव यह कि कुछ भी हृदय मे सोचोगे तो निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी मनुष्य नहीं हैं। इसी से उनके पक्ष के सब अद्भुत कार्य हो रहे हैं, और इधर के सब कार्य बिगड़ते ही जाते हैं—यह ईश्वरी घटना ही हो सकती है।

(२) 'नृपति जनि मानहु'—रावण ने मृग-परीक्षा से नर निश्चय कर लिया, वही हठ वह पकड़े हुए है; यथा—"भूप सुजस खल मोहि सुनावा।"; "नर कर करसि बखान" आदि श्रीअंगदजी से कहा है। रानी प्रमाणों द्वारा उसे छोड़ाना चाहती है। 'अग-जग-नाथ ..'—मनुष्य-मात्र के ही राजा नहीं हैं, किंतु चराचर के स्वामी हैं, और इसी से वे 'अतुल बल' हैं, क्योंकि सब जगत् के नियंता हैं। इसके और भी प्रमाण आगे देती है—

बान-प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा॥९॥
जनक-सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥१०॥
भंजि धनुष जानकी बियाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥११॥

अर्थ—मारीच उनके बाण के प्रताप को जानता था, तुमने उसे नीच मानकर उसका कहा नहीं माना॥९॥ श्रीजनकजी की सभा में अगणित राजा थे, अतोल भारी बलवाले तुम भी (तो) वहाँ थे॥१०॥ धनुष तोड़कर उन्होंने श्रीजानकीजी को ब्याहा, तब तुमने रण में उन्हें क्यों नहीं जीत लिया?॥११॥

विशेष—(१) 'बान-प्रताप जान मारीचा ।'—श्रीरामजी को ऊपर 'अतुल बल' कहा था। उसे पहले बाण-प्रताप से कहती है, क्योंकि वह जानती है कि श्रीरामजी ने विराध, खर-दूषण और बालि आदि को बाण ही से मारा है, इसे भी उसी से मारेंगे। पहले भी इसने कहा है, यथा—"राम बान अहिगन सरिस ··" (सुं॰ दो॰ ३६); मारीच का बाण-प्रताप जानना मुनि-मख-रक्षा प्रसंग का है; यथा—"मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन, आयउँ छन माहीं। तिन्हसन बैर किये भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥" (आ॰ दो॰ २४); मुनि-मख-रक्षा के पीछे धनुर्भंग-प्रसंग हुआ था, इसी से आगे उसे भी कहेगी।

'तासु कहा नहिं मानेहि नीचा।'—इसमें 'मानेहि' शब्द को दीप-देहली-रूप मानना चाहिये। तब उपर्युक्त अर्थ बनता है। इस तरह 'नीचा' मारीच का विशेषण होता है, प्रमाण—"सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन सो दियो, गीधराज मारीच॥" (दोहावली ३३१); "कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रगट्यो निसिप-प्रताप॥" (गी॰ सं॰ १); "लीन्ह नीच मारीचहिं संगा।" (आ॰ दो॰ ४८), (यह रावण में भी लग सकता है)।

'नीचा' रावण का भी विशेषण हो सकता है—हे नीच! प्रमाण—"रे नीच! मारीच बिचलाइ हति ताड़का, भंजि सिव चाप सुख सबहिं दीन्हेउँ।" (क॰ सं॰ १८); इस चौथी बार रानी कड़े शब्दों में सब बातें कह रही है। अतः, यह भी युक्त हो सकता है।

(२) जनक सभा अगनित भूपाला।'; यथा—"दीप-दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो प्रन ठाना॥" (बा॰ दो॰ २५०); वे सब एक-से-एक बली थे; यथा—"सीय स्वयंबर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक-ते-एका॥" (बा॰ दो॰ २३१), 'रहे तुम्हउँ'; यथा—"जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा परा भव पावा॥" (बा॰ दो॰ २३१); 'बल अतुल बिसाला'—रावण ने अपने भुज-बल को स्वयं कहा है, यथा "लोक-पाल बल बिपुल ससि, ग्रसन हेतु सब राहु।" (दो॰ २२), इससे अपनेको उनसे अधिक कहा है। पुन "निज भुज बल अति अतुल कहउँ क्यों कहुँक ज्यों कैलास उठायो।" (गी सं १); उसी को यहाँ रानी व्यंग्य में कहती है, भाव यह है कि ऐसा अतुलित विशाल बल था, तो धनुष को क्यों नहीं उठा लिया? जिससे न्याय से ही श्रीजानकीजी को पाते। 'तब संग्राम जित्यो किन···'—यदि कहो कि मुझे संग्राम का ही बल है, तो उस समय तो श्रीरामजी कुमार ही थे, तब संग्राम से भी जीतकर श्रीजानकीजी को क्यों नहीं ब्याह लिया। अब तो वे अधिक प्रौढ़ हो गये हैं, तब कैसे लड़ोगे?
इस तरह रानी ने श्रीरामजी को इससे अधिक अतुल बलवाला सिद्ध किया।

सुरपति-सुत जानइ बल थोरा। राखा जियत आँखि गहि फोरा॥१२॥
सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी॥१३॥
दोहा—बधि बिराध खरदूषनहि, लीला हत्यौ कबंध।
बालि एक सर मारयो, तेहि जानहु दसकंध॥३५॥

अर्थ—इन्द्र के पुत्र जयन्त ने उनका कुछ बल जाना है, (जब) उन्होंने उसे पकड़कर (एक) आँख फोड़कर जीवित रक्खा है॥१२॥ शूर्पणखा की दशा भी तुमने देखी है, तब भी तुम्हारे हृदय में

विशेष लज्जा नहीं आई ॥१३॥ (खेल से) विराध और खर-दूषण का वध कर खेल से ही कबंध को मारा और वालि को एक ही बाण से मारा—हे दशकंध ! उसको तो तुम जानते ही हो (या, उसे जान लो) ॥३५॥

विशेष—(१) 'सुरपति सुत जानेउ ···'—मारीच को विना फल का बाण मारा था, अब कुशास्त्र का प्रताप दिखाती है कि जो न बाण ही था और न फल-सहित। वह बल की परीक्षा लेने आया था; यथा "सठ चाहत रघुपति बल देखा।" (आ॰दो॰ ५); तब उसे सींक के बाण-द्वारा थोड़ा-सा बल दिखा दिया, जिससे उसे तीनों लोकों मे ठौर नहीं मिली। 'राखा जियत ···'; यथा—"एक नयन करि तजा भवानी॥ कीन्ह मोह बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर वध उचित। प्रभु छाँड़ेउ करि छोह···" (आ॰ दो॰ २)। 'सुरपति सुत' का भाव यह कि वह उनके पिता के सखा का पुत्र था; यथा—"ससुर सुरेस सखा रघुराऊ।" (अ॰ दो॰ १०); "आगे होइ जेहि सुरपति लेई।" (अ॰ दो॰ १०), तब भी किंचित् भक्तापराध के कारण उसे कैसा कड़ा दंड दिया कि शरण होने पर भी उसकी एक आँख फोड़ दी। तब उनका द्रोही भारी भक्तापराध करके कब बच सकता है ? इस कथा से भी बाण-प्रताप ही दिखाया; यथा—"तात सक्र सुत कथा सुनायहु। बान प्रताप प्रभुहि समझायहु॥" (सुं॰ दो॰ २६)।

(२) 'सूपनखा कै गति तुम्ह देखी।···' उसने ही सभा मे आकर अपनी दशा दिखाते हुए कहा है; यथा—"तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ॥" (आ॰ दो॰ २१); उसे स्त्री एवं अवध्य समझ कर नकटी-बूची करके छोड़ दिया। वह कुछ न कर सकी; यद्यपि बडी बलवती भी थी। तब कोई भी अनीति करके उनसे कैसे बच सकता है ? यह भी समझना चाहिये। 'तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी'—भाव यह कि लज्जा होती, तो सम्मुख जाकर युद्ध करके बदला लेते। पर तुममे बल था नहीं, इससे युद्ध नहीं कर सके। अतः, कुछ भी लज्जा होती, तो डूब मरते। श्रीअंगदजी ने भी ताना मारा था; यथा—"नाक कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्ह तुम्ह धर्म बिचारी॥" (दो॰ २१)।

(३) 'बधि बिराध खरदूषनहि '—इसमे 'लीला' शब्द दीप-देहली है। विराध को एक ही बाण से लीला-पूर्वक मारा, यथा—"आवत ही रघुबीर निपाता" कहा गया है। खर-दूषन-वध भी लीला से ही हुआ; यथा- "माया नाथ अति कौतुक करयो।" कबंध वध पर भी—"आवत पंथ कबंध निपाता।" कहा है। 'बालि एक सर मारयो'—देखिये दो॰ ३२ भी। इनमे सब एक-से-एक बली थे। खर-दूषन तुम्हारे समान और बालि तुमसे भी अधिक बली था। इन्हें मनुष्य इस तरह कैसे मार सकता ? तो उनकी पराजय के साथ तुम्हारी पराजय भी हो ही गई। बालि ने तो उनके मित्र का अपराध किया था, तुमने तो उन्हीं का अपराध किया है तो कैसे बचोगे ? 'तेहि जानहु'—इन प्रमाणों से जान लो कि वे मनुष्य नहीं है। फिर उनकी शरण होकर अपनी रक्षा करो। इसपर क॰ लं॰ १७–२१ भी देखिये।

जेहि जल नाथ बँधायउ हेला। उतरे प्रभु दल-सहित सुबेला॥१॥
कारुनीक दिनकर - कुल - केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू॥२॥
सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि-बरूथ - महुँ मृगपति जथा॥३॥

अर्थ—जिसने खेल से ही समुद्र को बँधाया और जो प्रभु सेना-सहित सुबेल पर उतरे॥१॥ उन दयालु सूर्य-कुल की ध्वजा-रूप श्रीरामजी ने तुम्हारे कल्याण के लिये दूत भेजा॥२॥ जिसने बीच सभा मे तुम्हारा बल इस तरह मथ डाला जैसे हाथियों के दल को सिंह मथ डालता है॥३॥

विशेष—(१) 'जेहि जलनाथ ···'—समुद्र बंधन अद्भुत कार्य है, सुनकर रावण भी घबड़ा उठा था, दो० ५ देखिये। प्रहस्त ने भी कहा है, यथा—"जेहि वारीस बँधायेउ हेला। उतरे सेन समेत सुबेला॥" (दो० ८), इसे भी कहकर राम प्रताप ही दिखाया, यथा—"श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान।" (दो० ३), और सुबेल रावण का युद्ध-मैदान है, इसे शत्रु का दखल कर लेना भी राजनैतिक दृष्टि से लंका के लिये विशेष हानिकारक है। इसे कहकर भी प्रभु-प्रताप ही दिखाया। यह श्रीहनुमान्‌जी के विषय में कहा गया था, यथा—"सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥ उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई॥" (सुं० दो० २), कहा जाता है कि इस पर्वत पर रावण की ओर से काल का पहरा रहता था, उसपर प्रभु प्रताप से ही श्रीहनुमान्‌जी को भय नहीं हुआ था और अब तो उसपर प्रभु स्वयं ठहरे ही हैं।

(२) 'कारुनीक दिनकर '—यह न समझो कि वे हमसे डरते हैं, इससे बार-बार दूत भेजते हैं, उन्होंने दया करके तुम्हारे हित के लिये ही दूत भेजा है, यथा--"तव हित कारन आयउँ भाई।" (दो० १६), "दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। · बार-बार अस कहइ कृपाला। नहि गजारि जस बधे सृकाला॥" (दो० २६)।

(३) 'सभा माँझ जेहि '—श्रीहनुमान्‌जी ने तो बाहर बाहर ही तुम्हारे योद्धाओं का बल-मर्दन किया है। पर इसने तो बीच सभा में तुम्हें ललकार कर पराजित किया कि अब भी राम प्रताप समझकर उनकी शरण हो।

अंगद हनुमत अनुचर जाके। रनबाँकुरे बीर अति बाँके॥४॥
तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥५॥
अहह कंत कृत राम - बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥६॥

शब्दार्थ—बहहू = प्रवाह में बहना, या वहन करना = धारण करना, बोझ ढोना।

अर्थ—रण में बाँके और अत्यन्त विकट वीर श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी जिनके सेवक हैं॥४॥ हे प्रिय! उनको बार-बार तुम मनुष्य कहते हो और झूठे ही मान, ममता और मद के प्रवाह में बह रहे हो एवं इनका बोझा ढो रहे हो॥५॥ हा कान्त! खेद की बात है कि तुमने श्रीरामजी से विरोध किया, काल के विशेष वश होने से तुम्हारे मन में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता॥६॥

विशेष—(१) 'अंगद हनुमत '—इन दोनों के कर्म स्वामी के विशेष प्रताप बोधक हैं। इनमें भी अंगदजी के कर्म से तो रावण ने रो दिया था, यथा—'भवन गयउ बिलखाइ।' यह कहा ही है। इसीसे अंगदजी का नाम पहले कहती है।

(२) 'तेहि कहँ पिय '—भाव यह कि ऐसे बली दूत अपनेसे कमजोर की सेवा नहीं कर सकते इससे वे 'अगजग नाथ' ही हैं। ऐसा ही कुम्भकर्ण ने भी कहा है, यथा—"हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (दो० ६१), 'पुनि पुनि , यथा—"नर कर करसि बखान।' 'भूप सुजस खल मोहि सुनावा।' इत्यादि अंगदजी से कहा है। भाव यह कि तुम नर कहते हो, पर वे 'अगजग नाथ' ही हैं।

'मुधा मान ममता मद बहहू।'—रावण इन तीनों में पड़ा हुआ है, यथा—"अति अभिमान त्रास सब भूलो।" (दो० ११), "चलेउ सभा ममता अधिकाई।" (सु० दो० ३६), "सहज असंक लुलकपति, सभाँ गयउ मद अंध।" (दो० १६), "परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सु० दो० ३१) इत्यादि।

इसे मान है कि हम लोकत्रय के विजय करनेवाले हैं। चराचर हमारे वश है। हम मनुष्य से क्यों डरें? ममता यह कि मेरे कुंभकर्ण ऐसे भाई और मेघनाद आदि समर्थ पुत्र हैं, लोकपाल आदि मेरे वश में होने से मेरे पक्ष में हैं, तब मनुष्य से मेरी हार कैसे होगी? मद यह कि मेरी बीस भुजाएँ बल के अगाध अपार समुद्र हैं, इनका तरना शत्रु के लिये असंभव है तो मेरे समक्ष मनुष्य क्या हैं? इन्हीं बातों में यह चूर रहता है, उसीको रानी 'मुधा' कहती है।

(३) 'अहह कंत'' ' रानी ने रावण का रुख देख लिया कि मेरा कथन यह न मानेगा। अतएव खेद प्रकट करती हुई उसने 'अहह' कहा। 'कंत' का भाव यह कि आप ही से मेरा अहिवात है, वह राम-विरोध करने से नहीं रहेगा; यथा—"राम विरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस।" सुं॰ दो॰ ५६), अतएव 'काल बिवस' कहा। और इसी से 'उपजन बोधा' भी कहा; यथा—"मरन काल विधि मति हरि लीन्हीं।" (अ॰ दो॰ १६१) 'काल बिवस' कहने के और प्रमाण आगे देती है—

काल - दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म - बल - बुद्धि बिचारा ॥७॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥८॥
दोहा—दुइ सुत मारे दहेउ पुर, अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु ॥३६॥

अर्थ—काल किसी को दंड लेकर नहीं मारता, प्रत्युत् वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है ॥७॥ हे स्वामिन्! जिसके समीप काल आता है, उसे तुम्हारे ही समान भ्रम होता है, अर्थात् वह कुछ-का-कुछ समझने लगता है, जैसे तुम ईश्वर को मनुष्य समझ रहे हो ॥८॥ दो पुत्र मारे गये, नगर जल गया। हे प्रान प्रिय! अब भी (कमी की) पूर्ति कर दे सकते हो, हे नाथ! कृपा-समुद्र श्रीरघुनाथजी का भजन करके निर्मल यश लीजिये ॥३६॥

विशेष—(१) 'काल दंड गहि······'—यहाँ काल विवश के लक्षण कहती है कि काल सदेह नहीं है कि यह शस्त्र लेकर किसी का वध करने आवे। किन्तु उसका प्रभाव इसी तरह जाना जाता है—'हरइ धर्म···' रावण में चारों का हरण; यथा—"कह कपि धर्म सीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर-तिय चोरी॥ देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म ब्रतधारी॥" (दो॰ २१) धर्म, "जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी॥" (दो॰ २६), "इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥" (आ॰ दो॰ २७)—बल, "तव उर कुमति बसी बिपरीता।" (सु॰ दो॰ ३६)—बुद्धि और—"हित, अनहित मानहुँ रिपु प्रीता।" (सु॰ दो॰ ३६)—यह विचार हरण है।

(२) 'साईं' और 'जेहि' एवं 'तेहि' से इसकी चतुरता प्रकट है कि कहती उसे ही है, पर इस तरह कि आप तो मेरे स्वामी हैं, जिसका काल आता है, उसे ऐसे ही भ्रम होता है। स्त्री पति के प्रति अमंगल शब्द स्पष्ट कैसे कहे?

यहाँ यह भी सूचित किया कि जिसकी धर्म आदि में निष्ठा बनी है और जिसे ईश्वर श्रीरामजी में मनुष्यत्व का भ्रम नहीं है, वह काल-धर्म से पृथक् है, यथा—"काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति

चरन प्रीति अति जाही ॥" (उ० दो० १०१); "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥" (गीता ४।९)

(३) 'दुइ सुत मारे दहेउ पुर ···'—इस हानि की पूर्त्ति अब भी हो सकती है, पुत्र फिर भी हो सकते हैं, नगर भी सुधर सकता है, जब कि आप कृपालु श्रीरामजी की शरण होकर उनका भजन करें। 'कृपासिंधु'—वे बराबर तुम्हारे ऊपर कृपा करते ही आये। दो दूत भेजकर और सेतु-बंध दिखाकर एवं छत्र, मुकुट और ताटंक काटकर तुम्हें अपना प्रभाव जना दिया—यह कृपा ही है। आगे रावण-वध पर भी यह राम-कृपा ही का अनुभव करेगी; यथा—"अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिंधु को आन। जोगिवृन्द दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान ॥" (दो० १०४); 'विमल जस लेहु'—राम-विमुख होने से कुल-कलंक कहे जाते हो; यथा—"रिषि पुलस्ति जस विमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका ॥" (सुं० दो० २२)। राम-भजन से सुयश होगा, यथा—"धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचरकुल-भूषन ॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥" (दो० ६१)।

यहाँ तक मंदोदरी ने पति के हित के लिये चार बार उपदेश देकर उसकी रक्षा का प्रयत्न किया। सफलता न होने पर अब यह कुछ नहीं कहेगी, इसने निश्चय कर लिया कि पति कालवश है। अतः, प्रयत्न करना व्यर्थ है।

मंदोदरी ने पहले तीन बार रावण के वचनों के प्रत्युत्तर नहीं दिये थे। इस बार उसे काल से बचाने के लिये उसने तीनों बार के रावण के उत्तरों के प्रत्युत्तर दिये हैं—

उत्तर (१)—"जो आवइ मरकट कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई ॥" (सुं० दो० ३६)।

प्रत्युत्तर —'दुइ सुत मारे दहेउ पुर' 'रखवारे हति बिपिन उजारा। 'अब पति मृषा गाल जनि मारहु।'

उत्तर (२)—"कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।" (सुं० दो० ३६)।

प्रत्युत्तर —'आयउ कपि केहरी असंका।'; 'सभा माँझ जेहि तव बल मथा।'—भाव यह कि इन्हें क्यों न कँपाया ?

उत्तर (३)—"जग जोधा को मोहिं समाना।" (दो० ७)।

प्रत्युत्तर —'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई ॥'; 'बधि बिराध······ तेहि जानहु दसकंध।'; 'सुधा मान ममता मद बहहू।'

उत्तर (४)—"भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला।" (दो० ७)।

प्रत्युत्तर —'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत······'; 'जनक सभा अगनित ······तव संग्राम जितेहु किन ताही।'

उत्तर (५)—'अहो मोह महिमा बलवाना।' (दो० १५)।

प्रत्युत्तर —'निकट काल जेहि···तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं।' अर्थात् मुझे मोह नहीं है, तुम्हीं भ्रम में पड़े हो, इत्यादि।

मंदोदरी कृत उपदेश पर आवृत्तियाँ

प्रथम उपदेश श्रीहनुमान्जी के लौटने पर हुआ, उसमें श्रीहनुमान्जी के उपदेश की छाया है। दूसरा सेतु-बंधन पर हुआ, उसमें पूर्वकृत विभीषण और शुकसारन के उपदेश की छाया है। तीसरा छत्र-

मुकुट-ताटंक गिरने के पीछे हुआ। उसमे सभा और मदोदरी आदि सभी डर गये थे, अत', उसमे भयानक रस विराट् रूप का उसने वर्णन किया और चौथी बार श्रीअगदजी के द्वारा मानमर्दन होने पर उपदेश दिया, उसमे अगद-रावण-सवाद की छाया है—प्रथमावृत्ति ।

मंदोदरी के बर्त्ताव मे भी क्रमश अतर पड़ता गया। पहली बार एकान्त मे पति के चरण मे लगकर उसने नीति-रस मे पागे हुए वचन कहे। दूसरी बार 'कर गहि पतिहि भवन निज आनी।' और वह 'परम मनोहर बानी' बोली। तब सगुण-रूप कहा और श्रीरामजी का भजन करना कहा। तीसरी बार केवल हाथ जोडे और नेत्र सजल हुए। चौथी बार सीधे-सीधे बातें करने लगी—द्वितीयावृत्ति।

रावण ने पहली बार समझाया कि स्त्री-स्वभाव से तू डरती है इसमें तेरी हँसी होगी। दूसरी बार अपनी प्रभुता कहकर आश्वासन दिया। तीसरी बार उसीके उपदेश को अपनी प्रभुताई मे लगाकर उसकी बात को हँसी मे उडा दिया। चौथी बार उत्तर ही न दिया, क्योंकि उत्तर की जगह नहीं थी। इसने सब बातें बीती हुई और देखी हुई कही हैं—तृतीयावृत्ति।

पहली बार इसके न मानने पर मदोदरी को चिंता हुई—"मदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता॥" दूसरी बार नहीं माना, तब—"मदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना॥" तीसरी बार पति के कालवश होने का निश्चय कर लिया, यथा—"मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहिं कालबस मतिभ्रम भयऊ॥" चौथी बार रावण से कह भी दिया कि तुम कालवश हो। यह उसपर उत्तरोत्तर अधिक बुरा प्रभाव पड़ा—चतुर्थावृत्ति।

रावण ने भी उत्तरोत्तर इसका मान कम किया, पहली बार हँसकर हृदय लगाया; यथा—'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ··।' दूसरी बार—'तब रावन मय सुता उठाई।' पर हृदय से नहीं लगाया। तीसरी बार स्त्रियों के अवगुण कहे और चौथी बार बोला भी नहीं, यथा—"नारि-बचन सुनि बिसिख समाना। सभा गयउ उठि होत बिहाना॥"—पचमावृत्ति।

नारि-बचन सुनि बिसिख समाना। सभा गयउ उठि होत बिहाना॥१॥
बैठ जाइ सिंहासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली॥२॥

अर्थ—बाण के समान स्त्री के वचन सुनकर वह सवेरा होते ही उठकर सभा मे चला गया॥१॥ सारा डर भुलाकर अत्यन्त अभिमान से फूलकर सिंहासन पर जा बैठा॥२॥

विशेष—(१) 'नारि-बचन सुनि ···'—इस बार मदोदरी ने सब सच्ची-सच्ची घटनाएँ कहीं, जहाँ-जहाँ रावण के मान-मर्दन हुए। दोनों ही सब जानते थे। इससे उत्तर की राह नहीं थी। वे वचन इसे बाण के समान लगे, क्योंकि इनमें रावण के गर्व-चूर्ण करनेवाले भाव थे।

"मदोदरी रावनहि बहुरि कहा ··" (दो० १४) उपक्रम है और यहाँ—'नारि बचन सुनि ··' उपसहार है। 'भवन गयउ बिलखाइ' उपक्रम और 'सभा गयउ उठि' उपसहार है।

(२) 'अति अभिमान त्रास सब भूली।'—अगद संवाद पर मान मर्दन होने से भय हुआ था। फिर मदोदरी के वचनों से और बढ गया था। पर सभा में जाकर उस डरको भूल गया। उसका कारण 'अति अभिमान' है। अभिमान से शत्रु का भय हृदय मे नहीं रह पाता, यथा—"अस कहि चला महा अभिमानी। तृन-समान सुग्रीवहि जानी॥" (कि० दो० ७)।

इहाँ राम अंगदहि बोलावा। आइ चरन-पंकज सिर नावा ॥३॥
अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी ॥४॥

अर्थ—यहाँ श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी को बुलवाया। उसने आकर चरण-कमलों में शिर नवाया ॥३॥ बड़े ही आदर से पास बैठाकर कृपालु खरारि श्रीरामजी हँसकर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'इहाँ' शब्द से प्रसंग बदलना सूचित किया। रावण की सभा से श्रीअंगदजी का लौटना कहकर फिर उधर ही का प्रसंग मंदोदरी का समझाना कहने लगे थे। जब वहाँ रावण सभा को गया, तभी यहाँ श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी को बुलवाया। सायंकाल को जब श्रीअंगदजी आये थे, उस समय रात में श्रीरामजी ने नहीं पूछा था, क्योंकि—(१) वार्त्ता में बहुत समय लगता। उधर श्रीअंगदजी दिन-भर के श्रमित थे और इधर श्रीरामजी के भी संध्या-वंदन आदि नित्य नियम का समय था। (२) प्रभु को शत्रु की वैसी चिंता भी नहीं है कि शीघ्र ही बूझकर उपाय विचारें; यथा—"जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते ॥" (सुं॰ दो॰ ४३); (३) रात में सब यूथप नियत स्थानों पर चले गये थे। उन्हें रात में बुलाना ठीक नहीं था और यह समाचार सबके सामने पूछा जाना चाहिये; क्योंकि साथ ही वैसा प्रबन्ध विचारा जायगा। पुनः उस समय श्रीअंगदजी को भी अपने नियत स्थान पर जाना चाहिये था।

'आइ चरन पंकज सिर नावा।'—यह सेवक धर्म के योग्य ही है।

(२) 'अति आदर···'—समीप बैठाना ही अति आदर है; यथा—"जानि प्रिया आदर अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा ॥" (बा॰ दो॰ १०६); यह भी सूचित किया कि हाथ पकड़कर हृदय से लगाकर बगल में बैठाया; यथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ॥" (सुं॰ दो॰ ३२) इत्यादि। 'बोले बिहँसि···'—हँसकर बोलना आपका स्वभाव है। श्रीअंगदजी के कार्य पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भी हँसकर बोले। साथ ही 'कृपाल' भी कहकर हँसने में अनुग्रह भी सूचित किया; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा॰ दो १९७)। पुनः कृपालुता से श्रीअंगदजी को सम्मान दे रहे हैं। 'खरारी' हैं, इससे शत्रु के समाचार पूछकर दुष्टों के वध का उपाय विचारेंगे।

बालि-तनय कौतुक अति मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही ॥५॥
रावन जातुधान - कुल - टीका। भुज-बल अतुल जासु जग लीका ॥६॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये। कहहु तात कवनी बिधि पाये ॥७॥

शब्दार्थ—टीका = श्रेष्ठ, शिरोमणि। लीक = प्रसिद्धि, साख, यश।

अर्थ—हे बालिपुत्र! मुझे बड़ा ही आश्चर्य है, इसी से, हे तात! मैं तुमसे पूछता हूँ, तुम सत्य-सत्य कहो ॥५॥ जो रावण राक्षस कुल में शिरोमणि है और जिसके अतुल बल की संसार में प्रसिद्धि है ॥६॥ उसके चार मुकुट तुमने मेरे पास फेंके, हे तात! कहो, तुमने उन्हें किस प्रकार पाया? ॥७॥

विशेष—(१) 'बालि तनय' कहने का भाव यह कि तुमने बालि के समान ही आश्चर्य का कार्य किया है। 'कौतुक अति मोही'—पहले सेतुबंध कौतुक हुआ; यथा—"कौतुक ही पाथोधि बँधायो।"

(दो० ५); पानी पर पत्थरों का उतराना आश्चर्य कार्य हुआ। पुनः जलचरों का पानी पर स्थिर होकर पुल का काम देना भी वैसा ही कौतुक है; यथा—"अस कौतुक विलोकि दोउ भाई।" (दो० ४); तीसरा कौतुक राम-बाण ने किया; यथा—"छत्र मुकुट ताटंक सब, हते···अस कौतुक करि राम सर···" (दो० १३); चौथा यह 'अति कौतुक' है; यथा—"बालि तनय कौतुक अति मोही।"

भाव यह कि और तो सब आश्चर्य ही थे, पर यह अत्यंत आश्चर्य का कार्य है। इस वचन से भी श्रीरामजी ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

'तात सत्य कहु'—'तात'- शब्द प्रियत्व का बोधक है। 'सत्य कहु' कहा, क्योंकि यहाँ सत्य न कहने का अवसर है, सज्जन लोग तो अपनी बड़ाई दूसरों से सुनकर भी सकुचाते हैं; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आं० दो० ४५); तब स्वयं कहेंगे कैसे? मुकुट गिराना और शीघ्र लेकर फेंकना श्रीअंगदजी का बड़ाई-सूचक कार्य है। इससे ये फिर भी नहीं ही कहेंगे। और ही कुछ कहकर टाल देंगे।

(२) 'रावन-जातुधान-कुल···'—रावण का नामार्थ ही जगत् का रुलानेवाला है, वह स्वयं अतुलित बली भी है। पुनः वह 'जातुधान-कुल-टीका' है, तब सम्पूर्ण राक्षस सेना उसका पराभव देख नहीं सकती। 'जासु जग लीका'—जगत् भर में उसकी प्रसिद्धि है। अतः, सभा में अपमान होना अपने पुरुषार्थ भर वह न सह सका होगा। फिर तुमने उसके शिर के चार मुकुट कैसे लेकर यहाँ फेंक दिये? यह अत्यन्त आश्चर्य है। 'कवनी विधि पाये'—विना युद्ध किये कैसे मिले होंगे? 'कहहु तात'—इसमें प्रिय भक्त की प्रशंसा है। इसलिये प्रभु इसे सुनना चाहते हैं; यथा—"निज करुना करतूति भक्त पर चपत चलत चर चाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥" (वि० १००)।

सुनु सर्वज्ञ प्रणत - सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥८॥
साम - दाम - अरु - दंड - बिभेदा। नृप-उर बसहिं नाथ कह बेदा॥९॥
नीति - धर्म के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये॥१०॥

अर्थ—(श्रीअंगदजी ने कहा—) हे सर्वज्ञ! हे शरणागतों को सुखी करनेवाले! सुनिये, ये मुकुट नहीं हैं, किन्तु राजाओं के चार गुण हैं॥८॥ ये (चारों) साम, दान, दंड और भेद हैं, हे नाथ! वेद ऐसा कहते हैं कि ये चारों गुण राजा के हृदय में निवास करते हैं॥९॥ ये नीति-धर्म के सुन्दर (चार) चरण ऐसा जी में जानकर स्वामी के पास आये हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'सुनु सर्वज्ञ प्रनत सुखकारी।'—उत्तर तो इतने ही में हो गया कि आप तो सब कुछ जानते हैं, इससे मुकुट आने की व्यवस्था भी जानते ही हैं। यदि वे कहें कि हम जानते तो पूछते क्यों? उसपर कहते हैं कि प्रणत सुखकारी हैं, शरणागतों की प्रतिष्ठा बढ़ाकर सुख देने के लिये पूछते हैं कि और लोग जानकर प्रशंसा करें; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई॥" (आ० दो० १२); वहाँ का कर्तव्य भी आपकी ही लीला है, मुझ प्रणत को यश देकर सुख देने के लिये की गई है।

(२) 'नृप-उर बसहिं'—भाव यह कि रावण अब राजा नहीं है, तब ये उसके पास कैसे रहते? आपने तो श्रीविभीषणजी को राजा बनाया, अतएव नीति-धर्म के चारों अंग भी आपकी ही शरण में सनाथ होने आये हैं।

रावण के यहाँ ये अनाथ थे, इनका निरादर होता था। क्योंकि नीति कहनेवालों पर रावण चिढ़ता है। जैसे कि श्रीहनुमान्‌जी, मंदोदरी, श्रीविभीषणजी, प्रहस्त आदि के नीति कहने पर वह बिगड़ गया। आप चक्रवर्त्ती राजा हैं, अपना नाथ जानकर ये चारों आपके पास आये हुए हैं।

दोहा—धर्महीन प्रभु-पद-बिमुख, कालबिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आये, सुनहु कोसलाधीस॥
परम चतुरता श्रवन सुनि, बिहँसे राम उदार।
समाचार पुनि सब कहे, गढ़ के बालिकुमार॥३७॥

अर्थ—हे कोशलराज! सुनिये, दशशीस रावण धर्महीन, प्रभु (आपके) चरणों से विमुख और काल के विशेष वश है, (अतएव) ये गुण उसको छोड़कर आपके पास आये हुए हैं॥ उदार श्रीरामजी श्रीअंगदजी की परम चतुरता (की वाणी) सुनकर हँसे, फिर बालि-कुमार श्रीअंगदजी ने किले के सब समाचार कहे॥३७॥

विशेष—(१) 'धर्महीन प्रभु-पद-बिमुख ···'—'धर्महीन'; यथा—"अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥" (बा० दो० १८१); "अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।" (बा० दो० १८१); धर्म से वैराग्य और फिर उससे प्रभु-पद-प्रेम होता है; यथा—"धर्म ते बिरति···तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥" (अ० दो० १५)। वह धर्म-हीन है, इसीसे 'प्रभु-पद-बिमुख' हुआ ही चाहे। प्रभु-पद-विमुख होने ही से 'काल बिबस' भी है; यथा—"बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।" (सुं० दो० २२)। इसलिये क्रम से कहा गया है। 'कोसलाधीस'—राज-नीति वर्णन के प्रसंग से कहा गया है।

राजनीति के चारों गुणों ने रावण को त्याग दिया है, यह सत्य ही है। राजा को साम (संधि) तो सभी से चाहिये, पर विरोध आ पड़ने पर भी बड़े से तो साम ही करना चाहिये। पर वह परम समर्थ जानते हुए भी आपसे विरोध ही करता है। दाम (दान) दूसरा गुण है, कुछ देकर मिलाने की कौन कहे, वह आपकी श्रीसीताजी को भी देना नहीं चाहता। तीसरा गुण दंड है। श्रीहनुमान्‌जी और मुझ दास के द्वारा दंडित होने पर भी वह हम दोनों को दंड न दे सका। अतएव इस नीति ने भी उसे त्याग दिया। और विभीषण उसका भाई ही फूटकर यहाँ आकर मिला, यहाँ उसका भेद दे रहा है। इस प्रकार चारो नीतियों ने उसे त्याग दिया।

(२) 'परम चतुरता श्रवन सुनि '—वचन-रचना की चातुरी पर हँसे। 'परम' विशेषण इससे कहा गया कि इस युक्ति से इन्होंने अपना कर्तृत्वाभिमान दूर किया है। दूसरे के गुण पर प्रसन्न होनेसे श्रीरामजी को 'उदार' कहा है। भक्तों को विनोद से रमाते हैं, इससे 'राम' कहा है। गढ़ से समाचार लाकर कहने से 'बालि-कुमार' कहा है, क्योंकि यह राज्य-व्यवहार की निपुणता है। बालि इन बातों में बड़ा निपुण था। किले के समाचार यह कि उसमें किस प्रकार प्रवेश हो सकता है? किधर क्या प्रबंध है।

वाल्मी० ६।३७।८—८ में लिखा है कि श्रीविभीषणजी के चारों मंत्री पक्षी बनकर शत्रु सेना में गये थे। रावण के किये हुए प्रबंध को जानकर लौट आये। वही समाचार श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी से कहा

कि किले के पूर्व द्वार पर प्रहस्त रक्षा कर रहा है, दक्षिण द्वार पर महाबली, महापार्श्व और महोदर हैं। पश्चिम द्वार पर इन्द्रजित् है और उत्तर द्वार पर रावण स्वयं है। विरूपाक्ष मध्य गुल्म की रक्षा में नियुक्त है। इन सबके साथ असंख्य सेनाएँ हैं। वही समाचार यहाँ श्रीअंगदजी के द्वारा कहा जाना जान पड़ता है।

रावण की सभा एवं नगर सभी किले के भीतर हैं, अतएव सभा में जो कुछ बात-चीत हुई, वह भी समाचार में कही गई।

"निसिचर-कीस-लड़ाई"—प्रकरण

रिपु के समाचार जब पाये। राम सचिव सब निकट बोलाये ॥१॥
लंका बाँके चारि दुआरा। केहि बिधि लागिय करहु बिचारा ॥२॥
तब कपीस रिच्छेस बिभीषन। सुमिरि हृदय दिनकर-कुलभूषन ॥३॥
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा। चारि अनी कपि कटक बनावा ॥४॥
जथाजोग सेनापति कीन्हे। जूथप सकल बोलि तब लीन्हे ॥५॥

शब्दार्थ—अनी (सं॰ अणि)=सेना, सेना का अग्र भाग; यथा="आगे अनी चली चतुरंगा।" (अ॰ दो॰ २११)। लागना=घेरना।

अर्थ—जब श्रीरामजी ने शत्रु के समाचार पाये, उन्होंने तब सब मंत्रियों को पास बुलाया ॥१॥ (और उनसे कहा कि) लङ्का में बड़े विकट चार फाटक हैं, उनको किस प्रकार घेरा जाय ? इसपर विचार करो ॥२॥ तब सुग्रीवजी, जाम्बवान्‌जी और विभीषणजी ने सूर्य-कुल-भूषण श्रीरामजी का हृदय में स्मरण किया ॥३॥ और उन्होंने विचार करके मंत्र निश्चित किया, (तब) वानर सेना के चार दल बनाये ॥४॥ जो जिस अनी (विभाग) के योग्य था, उसे सेनापति बनाया, तब सब यूथ-पतियों को बुला लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'लंका बाँके चारि दुआरा।', यथा—"सासुरोरगगंधर्वैः सर्वैरपि सुदुर्जया।" (वाल्मी॰ ६।३७।४); अर्थात् लंका देव, असुर, नाग, गंधर्व आदि सभी से दुर्जय है। 'केहि बिधि लागिय' जब समाचार मिल गया तो उसे घेरने का उपाय पूछते हैं।

(२) 'तब कपीस रिच्छेस बिभीषन। ...'—उधर के राक्षसों का बल श्रीविभीषणजी जानते हैं। इधर के वानरों का बल श्रीसुग्रीवजी और रीछों का बल श्रीजाम्बवान्‌जी जानते हैं। इसीसे ये विचार में प्रवृत्त हुए। 'सुमिरि हृदय दिनकर...'—श्रीरामजी के स्मरण से अत्यन्त गूढ़ विषय भी समझ में आ जाता है; यथा—"सुमिरत राम हृदय अस आवा।" (बा॰ दो॰ ५६) और दिनकर कुलभूषण उरप्रेरक भी हैं; यथा—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।" (उ॰ दो॰ ११२); अतः, प्रेरणा करके योग्य विचार प्रकट कर देते हैं।

(३) 'करि बिचार...'—प्रभु ने कहा था—'करहु बिचारा' उसीपर 'करि बिचार' कहा गया। 'चारि अनी...'—प्रभु ने चार द्वार कहे थे, तदनुसार इधर की सेना के भी चार भाग किये गये।

(४) 'जथाजोग सेनापति कीन्हे।'—वाल्मी॰ ६।३७।२६-३५ में जो श्रीरामजी के विचार किये गये हैं, वे ही यहाँ भी अभिप्रेत हैं कि पूर्व द्वार में प्रहस्त के जोड़ में श्रीनीलजी, दक्षिण में महापार्श्व औ

-महोदर के जोड़ में श्रीअंगदजी, पश्चिम में मेघनाद के जोड़ में श्रीहनुमान्‌जी और उत्तर में रावण के प्रति श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी स्वयं रहेंगे। बीच गुल्म की रक्षा में श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी और श्रीजाम्बवान्‌जी रहेंगे। इनमें एक द्वार के प्रति स्पष्ट भी कहा है ; यथा—"निज दल बिचल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना॥ मेघनाद तहँ करइ लराई।" (दो० ४१); इसके पीछे वाल्मी० ६।४२।२१–३१ में कुछ परिवर्त्तन भी हुआ है। वाल्मी० ६।३६।१९ में रावण ने यह भी कहा है कि उत्तर द्वार पर शुक-सारण रहेंगे, मैं भी उसी द्वार पर रहूँगा। इधर भी उत्तर द्वार पर श्रीरामजी के न जाने पर कभी श्रीसुषेणजी वा श्रीसुग्रीवजी आदि रहते थे। 'मंत्र दृढ़ावा' में यह भी भाव है कि कोई युद्ध से न फिरे और—"वानर-भालु कोई दूसरा रूप नहीं धारण करें। हम दो भाई और श्रीविभीषणजी और उनके चार मंत्री, ये सात ही मनुष्य रूप में रहेंगे"—ऐसा वाल्मी० ६।३७।३४–३५ में श्रीरामजी ने कहा है।

प्रभु-प्रताप कहि सब समुझाये। सुनि कपि सिंहनाद करि धाये॥६॥
हरषित राम-चरन सिर नावहिं। गहि गिरि-सिखर बीर सब धावहिं॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं भालु-कपीसा। जय रघुबीर कोसलाधीसा॥८॥
जानत परम दुर्ग अति लंका। प्रभु-प्रताप कपि चले असंका॥९॥

अर्थ—प्रभु का प्रताप कहकर सबको समझाया, यह सुनकर वानर सिंह के समान गर्जन करके दौड़े॥६॥ वे प्रसन्न होकर श्रीरामजी के चरणों में शिर नवाते हैं और सब वीर पर्वत शिखर लेकर धावा करते हैं॥७॥ रीछ और वानर श्रेष्ठ गर्जते और उछलते हैं, कोशलाधीश रघुवीर श्रीरामजी की जय पुकारते हैं॥८॥ वे जानते हैं कि लंका अत्यंत दुर्गम किला है, तो भी वे प्रभु के प्रताप से निर्भय चले॥९॥

विशेष—(१) 'प्रभु-प्रताप कहि ···'—'प्रभु' अर्थात् श्रीरामजी समर्थ ईश्वर हैं, इनके प्रताप से राक्षसों को मरे ही समझो। श्रीरामजी की भृकुटि-विलास से तो सृष्टि और प्रलय होते हैं। ये जब राक्षस-वध का संकल्प कर चुके तब राक्षसगण मर चुके हैं, तुम सब निमित्त मात्र होकर यश के भागी बनो "मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" (गीता० ११।३३) देखो प्रभु के प्रताप से श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी ने कैसे-कैसे आश्चर्य कर्म किये ? देखो तो प्रभु के प्रताप से ही समुद्र में पहाड़ तरे, देखिये दो० ३।

'सुनि कपि सिंह···'—वानर सिंह हैं, उनका नाद गर्जन है, मत्तगज रूपी बली राक्षसों को विदीर्ण करेंगे।

(२) 'हरषित राम-चरन···'—उत्साह है, इससे हर्षपूर्वक प्रस्थान करते हैं, यह कार्य-सिद्धि का शकुन भी है ; यथा—"होइहि काज मोहि हरष बिसेषी॥" (सुं० चौ० १)। श्रीरामजी के प्रणाम करने में भी हर्ष चाहिये ही ; यथा—"रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न हरष मन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(३) 'परम दुर्ग······' ; यथा—"कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी।" (सुं० दो० २) ; तथा—"जोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा।" (दो० ४०) ; अर्थात् दुर्गम ही दुर्घट है, जिसपर दुःख से भी पहुँचना कठिन हो। 'प्रभु-प्रताप कपि चले असंका।'—प्रभु-प्रताप के हृदय में आने से निर्भीकता आ जाती है। जैसे—"प्रभु-प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल।" (सुं० दो० १६) ; यह कहकर श्रीहनुमान्‌जी चले।

फिर रावण का प्रताप देखकर नहीं डरे ; यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका ॥" (सुं॰ दो॰ ११) ; श्रीअंगदजी भी ; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका ।" कहे गये हैं। इसीसे ये वानर भी स्वाभाविक नि.शंक हैं।

घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी । मुखहि निसान बजावहिं भेरी ॥१०॥

दोहा—जयति राम जय लछिमन, जय कपीस सुग्रीव ।
गर्जहिं सिंहनाद कपि, भालु महाबल सींव ॥३८॥

शब्दार्थ—घटाटोप = मेघघटा की तरह घेरकर। निसान (निःस्वन्)= जिससे ऊँचा शब्द हो = नगाड़ा। भेरी = बड़ा ढोल।

अर्थ—चारों ओर घिरे हुए मेघ घटा के समान चारों दिशाएँ घेरकर मुख से ही नगाड़े और भेरी बजाते हैं (उन बाजाओं के-से शब्द करते हैं) ॥१०॥ महा बल की सीमा वानर-भालु सिंह के समान शब्द से—'श्रीरामजी की जय हो, श्रीलक्ष्मणजी की जय हो और वानरराज श्रीसुग्रीवजी की जय हो'—ऐसा गर्जन करते हैं ॥३८॥

विशेष—(१) 'घटाटोप करि...' ; यथा—"सर्वतः संवृता लंका दुष्प्रवेशापि वायुना ।" (वाल्मी॰ ६।४१।५३) अर्थात् लंका सब ओर से घिर गई, जिसमें वायु का भी गम-गुजर नहीं है। रावण के दल में नगाड़े आदि जुझाऊ बाजे बज रहे हैं; यथा—"बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ।...बाजहिं भेरि नफीरि अपारा।..." (दो॰ १९), वैसे ही शब्द ये लोग मुख से ही करते हैं।

(२) 'जयति राम जय लछिमन...'—सुंदरकाण्ड में श्रीहनुमान्जी ने ऐसी ही गर्जना बार-बार की है। पुनः इस प्रसंग में भी महर्षिजी ने लिखा है, यथा—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ इत्येवं घोषयन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः।" (वाल्मी॰ ६।४१।१०—११)—यह इनके उत्साह का सूचक है।

लंका भयउ कोलाहल भारी । सुना दसानन अति अहँकारी ॥१॥
देखहु बनरन्ह केरि ढिठाई । बिहँसि निसाचर-सेन बोलाई ॥२॥
आये कीस काल के प्रेरे । छुधावंत सब निसिचर मेरे ॥३॥
अस कहि अट्टहास सठ कीन्हा । गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा ॥४॥

अर्थ—लंका में भारी कोलाहल हुआ, उसे सुनकर अत्यंत अहंकारी रावण (बोला) ॥१॥ कि वानरों की ढिठाई तो देखो, फिर हँसकर राक्षसी सेना बुलाई ॥२॥ वानर काल की प्रेरणा से आये हुए हैं,और मेरे राक्षस (भी) भूखे हैं ॥३॥ ऐसा कहकर वह मूर्ख खिलखिला कर हँसा कि विधाता ने घर बैठे ही भोजन दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कोलाहल भारी।'—पहले सामान्य कोलाहल हुआ था, यथा—"भयउ कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी॥" (दो॰ १७), अब 'भारी' हुआ, क्योंकि अब तो

करोड़ों वानर चारों तरफ से घेरे हुए हैं। उधर वानरों के गर्जने के शब्द और इधर लंका निवासियों की भय की खलबली थी, यथा—"हाहाकारमकुर्वन्त राक्षसा भयमागताः।" (वाल्मी० ६।४१।६४), 'अति अहँकारी'—का स्वरूप आगे प्रकट है।

(२) 'बिहँसि'—शत्रुसेना के निरादर के लिये हँसा कि जो हमारे भोजन हैं, वे क्या लड़ेंगे? और अपने पक्ष की उत्साह-वृद्धि के लिये भी हँसा।

(३) 'काल के प्रेरे'; यथा—"कठिन काल प्रेरित चलि आई।" (सु० दो० ५१)

(४) 'अट्टहास सठ कीन्हा'—जोर से हँसा कि मेरी निर्भीकता सब जान लें। शठ कहने का भाव यह कि अभी कल ही इसी सभा में एक वानर ने दुर्दशा की है, देख चुका है कि वानर ही राक्षसों के काल हैं, तब भी विपरीत बुद्धि नहीं छोड़ता।

सुभट सकल चारिहु दिसि जाहू। धरि धरि भालु कीस सब खाहू ॥५॥
उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना ॥६॥
चले निसाचर आयसु माँगी। गहि कर भिंडिपाल वर साँगी ॥७॥
तोमर मुद्गर परसु प्रचंडा। सूल कृपान परिघ गिरि-खंडा ॥८॥

शब्दार्थ—भिंडिपाल (भिंदिपाल)=ढेलबाँस, (१) रस्सी का एक फंदा जिससे ढेला फेंकते हैं;, गोफना (२) एक छोटा डंडा जो प्राचीन काल में फेंककर मारा जाता था—संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ। साँगि=शक्ति। तोमर=शर्पला, शापत्र। परिघ=लोहाँगी, वह लाठी जिसके सिरे पर लोहा लगा रहता है।

अर्थ—सब योद्धाओ! चारो दिशाओं में जाओ और रीछों वानरों को पकड़ पकड़ कर खा लो॥५॥ (शिवजी कहते हैं—) हे उमा! रावण को ऐसा अभिमान है, जैसे टिट्टिभ (टिटिहरी) पक्षी को, जो पैर ऊपर करके सोता है॥६॥ आज्ञा माँगकर और हाथों में उत्तम ढेलवाँस, शक्ति, तोमर, मुग्दर, तीक्ष्ण फरसा, शूल, दुधारा खड्ग, परिघ और पर्वत के टुकड़े लेकर राक्षस लोग चले॥७–८॥

विशेष—(१) 'उमा रावनहि अस अभिमाना।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'सुना दसानन अति अहँकारी।' है। इतने में उसका अति अहंकार कहा गया।

(२) 'जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना।'—टिटिहरी जिसे कुररी भी कहते हैं, वह जलाशयों के पास रहती है और टीं टीं कड़वे शब्द बोलती है। इसके विषय में ऐसा प्रवाद है कि यह रात को पैर ऊपर उठाये हुए चित्त सोती है, इस भय से कि कहीं आकाश टूट पड़े तो मैं दोनों पैरों पर रोक लूँगी।

यहाँ श्रीरामजी का अपरिमित बल आकाश है, रावण टिट्टिभ है, उन्हें थाम्हेगा क्या? इसका डींग हाँकना मात्र है।

(३) 'आयसु माँगी'—रावण तो आज्ञा दे ही चुका है, पर इन लोगों के हृदय में भय है, क्योंकि श्रीहनुमान् के कर्म देख चुके हैं। इसी से फिर आज्ञा माँगते हैं। ऊपर से यह दिखाते हैं कि आपकी आज्ञा बिना ही हमलोग रुके थे, बस, आज्ञा पाते ही हमलोग वानर-भालुओं को खा लेंगे।

जिमि अस्नोपल-निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस-अहारी ॥९॥

चोंच-भंग-दुख तिन्हहि न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा ॥१०॥

दोहा—नाना-युध - सर-चाप-धर, जातुधान बलवीर।
कोट-कँगूरन्हि चढ़ि गये, कोटि - कोटि रनधीर ॥३९॥

शब्दार्थ—अरुनोपल = लाल पत्थर। अबूझ = नासमझ।

अर्थ—जैसे मांस खानेवाले मूर्ख पक्षी लाल पत्थरों का समूह देखकर उसपर टूटते हैं ॥९॥ चोंच के टूटने का दुःख उन्हें नहीं सूझता; वैसे ही नासमझ राक्षस दौड़े ॥१०॥ धनुष-बाण और अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए करोड़ों-करोड़ों (अगणित) बलवान और रण में धीर वीर निशाचर किले के कँगूरों पर चढ़ गये ॥३९॥

विशेष—(१) 'जिमि अरुनोपल···'—मांसाहारी हैं, इससे लाल-पत्थरों को मांस समझकर उनपर टूटते हैं। मांस लाल, वैसे लाल पत्थरों के समूह और वैसे लाल वानरों के समूह भी लंका भूमि भर में फैले हुए हैं। 'सठ'—श्रीहनुमान्जी अकेले ही चौथाई राक्षसों को मार गये हैं, यह सब देख चुके हैं, फिर भी भूल गये हैं और दौड़ रहे हैं। इसीसे इन्हें शठ (मूर्ख) कहा है।

(२) 'अबूझा'—यही शब्द परशुरामजी के प्रति भी कहा गया है; यथा—"अयमय खाँड़ न ऊख मय, अजहुँ न बूझ-अबूझ॥" (बा० दो० २७५), वहाँ वे ब्राह्मण हैं, इससे ऊख की खाँड़ का समझना कहा, क्योंकि ब्राह्मण मधुर-प्रिय होते हैं। यहाँ पर मांसाहारी राक्षस हैं, इससे मांस के प्रियत्व का रूपक है।

(३) 'कोट कँगूरन्हि चढ़ि गये'—कँगूरों पर इससे चढ़े कि ऊपर से मारने पर चोट अधिक पड़ेगी। वानर लोग बदले में प्रहार न कर सकेंगे और न मार के भय से ऊपर चढ़ने ही पावेंगे।

कोट-कँगूरन्हि सोहहिं कैसे। मेरु के शृंगन्हि जनु घन बैसे ॥१॥
बाजहिं ढोल - निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ ॥२॥
बाजहिं भेरि नफीरि अपारा। सुनि कादर उर जाहिं दरारा ॥३॥
देखिन्ह जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा ॥४॥
धावहिं गनहिं न अवघट घाटा। पर्वत फोरि करहिं गहि बाटा ॥५॥

अर्थ—किले के कँगूरों पर वे कैसे शोभित हो रहे हैं, मानों सुमेरु पर्वत के शिखरों पर बादल बैठे हुए हैं ॥१॥ ढोल, नगाड़े आदि युद्ध के बाजे बज रहे हैं जिनका शब्द सुनकर योद्धाओं के मन में उत्साह होता है ॥२॥ अगणित भेरी और नफीरी (तुरही) बाजे बज रहे हैं, सुनकर कादरों (डरपोकों) की छाती फट जाती है ॥३॥ अत्यन्त लंबे-चौड़े शरीरवाले वानर और रीछ योद्धाओं के समूहों को उन्होंने जाकर देखा ॥४॥ वे सब दौड़ रहे हैं, अवघट या घाट कुछ नहीं गिनते, पर्वतों को हाथ से पकड़ फोड़-कर मार्ग बना लेते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'मेरु के शृंगन्हि जनु घन बैसे।'—सोने की लंका सुमेरु, कँगूरे, शिखर और

निशाचर काले मेघ के समान लगते हैं। 'भटन्हि मन चाऊ' क्योंकि जीतने से ऐश्वर्य पावेंगे और मर जायँगे तो स्वर्ग; यथा—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।" (गीता २।३७)। जुझाऊ बाजे उत्साह बढ़ानेवाले होते हैं; यथा—"भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥" (दो० ७७); "कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना।" (दो० ८४); "कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू।" (अ० दो० १९१); इत्यादि। बाजे उत्साह बढ़ाने के लिये ही बजाये जाते हैं, पर कादरों को सुनकर भय होता है कि अरे, अब तो मृत्यु के दिन आ गये।

(२) 'गनहिं न अवघट घाटा'—नदी-नद में भी जहाँ ही से पाते हैं, दवा लेते हैं, बीच में कहीं पहाड़ भी पड़ जाते हैं तो उन्हें तोड़कर मार्ग बना लेते हैं। लौटकर दूसरे मार्ग से नहीं जाते, क्योंकि युद्धोत्साह की आतुरी है।

कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥६॥
उत रावन इत राम-दोहाई। जयति जयति जय परी लराई॥७॥
निसिचर सिखर-समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥८॥

अर्थ—करोड़ों योद्धा कटकटाते (दाँतों से क्रोध-वश कट-कट शब्द करते) हैं, गर्जते हैं, दाँतों से ओठ काटते हैं और अत्यन्त उछलते हैं॥६॥ उधर रावण की और इधर श्रीरामजी की दुहाई हो रही है, जय हो, जय हो, जय हो (इस तरह जय-जयकार पूर्वक दोनों ओर से) लड़ाई छिड़ गई॥७॥ राक्षस लोग पहाड़ों के शिखर समूह-के-समूह गिराते हैं। वानर लोग कूदकर उन्हें पकड़ लेते हैं और उन्हीं को लौटाकर ऊपर को फेंकते हैं॥८॥

विशेष—'कटकटाहिं कोटिन्ह···'—निशाचर लोग ऊपर कँगूरों पर हैं, पकड़ में नहीं आते, इसीसे क्रोध के मारे दाँत पीसते हैं कि पावें तो चीड़-फाड़ फेंके। 'जयति जयति···'—देखिये दो० ३८। तथा—"राजा जयति सुग्रीव इति शब्दो महानभूत्। राजञ्जय जयेत्युक्त्वा स्वस्वनाम कथां ततः॥" (वाल्मी० ६।४२।४४), अर्थात् इधर वानरी सेना में श्रीसुग्रीव राजा की जय-ध्वनि होती है और उधर राक्षसी सेना में अपना-अपना नाम कहकर 'राजन्! आपकी जय हो' ऐसा कह रहे हैं।

छंद—धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं।
झपटहिं चरन गहि पटकि महि भाज चलत बहुरि प्रचारहीं॥
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गये।
कपि-भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ राम-जस गावत भये॥

दोहा—एक-एक निसचर गहि, पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आपु हेठ भट, गिरहिं धरनि पर आइ॥४०॥

अर्थ—प्रचंड वानर-भालू पहाड़ों के टुकड़े ले-लेकर किले पर डालते हैं। निशाचरों पर झपटकर उनके पैर पकड़कर पृथिवी पर पटक देते हैं और जब वे भाग चलते हैं, तब उनको ललकारते हैं॥ अत्यन्त फुर्तीले, पूर्ण प्रतापवाले वानर-भालू क्रोधपूर्वक तड़पकर किले पर चढ़-चढ़ गये और जहाँ-तहाँ घरों पर चढ़-चढ़कर राम-यश गाने लगे। फिर एक-एक राक्षस को पकड़कर वानर भाग चले, ऊपर आप और हेठ (नीचे) निशाचरभट—इस प्रकार पृथिवी पर आ गिरते हैं ॥४०॥

विशेष—(१) 'चरन गहि पटकि'— पहले जब रावण ने श्रीअंगदजी के चरण पकड़कर फेंकने की आज्ञा दी, तब सब निशाचर मिलकर भी न हटा सके थे और इधर एक-ही-एक वानर एक-एक राक्षस के पैर पकड़कर फेंकते हैं। यह श्रीरामजी का प्रताप है। 'राम-जस गावत भये'—युद्ध-स्थल में गाने से इनकी निर्भीकता और युद्धोत्साह दिखाया गया है। गान, यथा—"जय ताड़का-सुबाहु-मथन, मारीच-प्रान हर।···जय जयंत-जयकर, अनंत, सज्जन-जन-रंजन···जय माया-मृग-मथन, गीध-सबरी-उद्धारन···" (क० उ० ११२–११४) -ये तीनों पूरे पद इस प्रसंग के अनुकूल हैं।

(२) 'एक-एक निसिचर गहि···'—बड़े ऊँचे से, पथरीली भूमि पर राक्षसों को अपने नीचे करके गिरते हैं कि विना श्रम ही राक्षस चूर्ण हो जायँ और उनके ऊपर होने से आप बच जाते हैं, यह वानरों की चातुरी है। 'चले पराइ'—किसी को पकड़ पाते हैं, तो शीघ्र ही कगारे पर भाग आते हैं, जहाँ से नीचे कूदना है। जिसमे उसके पक्ष का दूसरा उसे छुड़ाने के लिये न पहुँच जाय। पकड़ लाने और उन्हें अपने नीचे करके कूदने में वानरों की प्रबलता दिखलाई गई है; यथा—"राक्षसान्पातयामास खमाप्लुत्य स्वबाहुभिः ॥" (वाल्मी० ६ ४४।४६); अर्थात् वानर आकाश मे कूदकर, अपने बाहु से पकड़कर राक्षसों को भूमि में गिरा देते हैं। पर यहाँ (मानस मे) उन्हें गिराकर मारने की रीति कही गई है।

राम-प्रताप प्रबल कपि - जूथा। मर्दहिं निसिचरसुभट - बरूथा ॥१॥
चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर। जय रघुबीर - प्रताप - दिवाकर ॥२॥
चले निसाचर - निकर पराई। प्रबल पवन जिमि घन-समुदाई ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के प्रताप से वानर-दल प्रबल है, वे राक्षस योद्धाओं के समूह को मर्दन करते हैं ॥१॥ फिर वानर जहाँ-तहाँ किले पर चढ़ गये और सूर्य के समान प्रतापवाले रघुवीर की जय बोलने लगे ॥२॥ निशाचर-समूह भाग चले, जैसे प्रबल वायु से मेघ-समूह (छिन्न-भिन्न हो जाते हैं) ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-प्रताप प्रबल ···'; यथा—"प्रभु-प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल ॥" (सुं० दो० १६); 'रघुबीर-प्रताप-दिवाकर', यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥" (उ० दो० ३०); प्रताप-सूर्य के समक्ष में निशाचरों को तम रूप जनाया; यथा—"राम-बान-रबि उये जानकी। तम-बरूथ कहँ जातुधान की ॥" (सुं० दो० १५)।

(२) 'चढ़े दुर्ग पुनि'—पहले जब चढ़े थे, तब एक-एक निशाचर को ले-लेकर गिरे थे, अब नीचे से फिर ऊपर को चढ़े। पुनः पहले जब चढ़े हुए थे, तब—'राम-जस गावत भये' कहा गया था और अब रघुवीर-प्रताप की जय बोलते हैं।

(३) 'चले निसाचर-निकर ···'—पहले कहा गया—'मर्दहिं निसिचर-निकर-बरूथा।' अब राक्षसों

का भागना कहते हैं कि प्रचंड मार देखकर शेष राक्षस भाग चले। यहाँ 'प्रबल पवन' वानर लोग हैं और 'घन-समुदाय' राक्षस लोग हैं ; यथा—"कोट कँगूरन्हि सोहहिं कैसे। मेरु के शृंगन्हि जनु घन बैसे ॥" (दो॰ ३९) ; घन कहकर इन्हें असंख्य और काले एवं घना होना सूचित किया गया। क्षण-मात्र में सब इधर-उधर भाग गये, जैसे प्रचंड वायु से मेघ विलीन हो जाते हैं; यथा—"कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ-तहँ मेघ बिलाहिं।" (कि॰ दो॰ १५)।

हाहाकार भयउ पुर भारी। रोवहिं बालक आतुर नारी ॥४॥
सब मिलि देहिं रावनहिं गारी। राज करत येहि मृत्यु हँकारी ॥५॥

अर्थ—नगर में भारी हा-हाकार मच गया, लड़के और स्त्रियाँ आर्त्त (अधीर) होकर रो रहे हैं ॥४॥ सब मिलकर रावण को गाली देते हैं कि राज्य करते हुए इसने मृत्यु बुलाई है ॥५॥

विशेष—(१) 'हाहाकार भयउ पुर ···'—हा ! हमारा पुत्र मारा गया, हा ! हमारा भाई मारा गया, हा ! हमारा पति मारा गया, इत्यादि रो-रोकर स्त्रियाँ कह रही हैं। बच्चे भी हा ! तात, हा ! मातु, कह-कह कर रो रहे हैं, यथा—"तातमातु हा सुनिय पुकारा।" (सुं॰ दो॰ २५); तथा—"मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्त्ता रणे हतः। इत्येव श्रूयते शब्दो राक्षसीनां कुले कुले ॥" (वाल्मी॰ ६।१३।१२) ; 'रोवहिं बालक आतुर नारी।'—यहाँ उन छोटे बालकों का रोना कहा गया है, जिनके पिता-भ्राता आदि मारे गये हैं। और वे स्त्रियाँ रो रही हैं जिनके पति-पुत्र आदि मारे गये हैं। युवा वीर लोग नहीं रोते ; यथा—"वीर अधीर न होहिं।" (अ॰ दो॰ १११), उन्हें तो उत्साह है।

(२) 'सब मिलि देहिं रावनहिं गारी।'—प्राकृत (नीच) स्त्रियों का स्वभाव होता है कि दुःख पड़ते ही गाली देने लगती हैं। वाल्मी॰ ६।९४ में राक्षसियों का एकत्र होकर रोना पूरे सर्ग-भर में लिखा है। वहाँ अरण्यकांड से लेकर यहाँ तक के चरित्रों का स्मरण करती हुई कहती हैं कि रावण श्रीसीताजी को नहीं पा सकता—वह अवश्य मारा जायगा, इत्यादि।

'मृत्यु हँकारी'; यथा—"तुम्ह तौ काल हाँकि जनु लावा।" (बा॰ दो॰ २७१)। श्रीसीताजी को हरकर लाना ही काल का बुलाना है ; यथा—"तव कुल-कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई ॥" (सुं॰ दो॰ ३९) ; मृत्यु-रूपी श्रीसीताजी को यह जबरदस्ती हरकर लाया।

निज दल बिचल सुना तेहि काना। फेरि सुभट लंकेस रिसाना ॥६॥
जो रन-बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना ॥७॥
सर्बस खाइ भोग करि नाना। समर-भूमि भये बल्लभ प्राना ॥८॥

शब्दार्थ—बल्लभ = अत्यन्त प्रिय। भोग = सुख विलास। बिचलना = भागना।

अर्थ—रावण ने अपने दल को हारते हुए कानों से सुना, तब सुभटों को (भागने से) लौटाकर लंकापति रावण क्रोधित हुआ ॥६॥ (और बोला कि) जिसे मैं रण से विमुख होकर लौटा हुआ जानूँगा, उसे मैं कठिन कृपाण से मारूँगा ॥७॥ मेरा सर्वस्व (सारी संपत्ति) खाकर और तरह-तरह के भोग-विलास करके (भी) अब रण-भूमि में प्राण प्यारे लग रहे हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'रन-विमुख फिरा···'—भाव यह कि सन्मुख लड़ना जीतकर लौटना, विमुख अर्थात् पीठ दिखाकर (हारकर) न लौटना। मर जाना या तो जीतकर लौटना। 'कराल कृपाना' अर्थात् चन्द्रहास से; यथा—"तो मैं मारब काढ़ि कृपाना।"; "कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।" (सुं० दो० ६); उसे ही वहीं पर कहते हैं; यथा—"चंद्रहास हर मम परितापं।।" 'मैं हतब'—मैं स्वयं अपने हाथों से ही मारूँगा, जिसमें मुझे संदेह न रहे कि यह मारा गया कि नहीं।

(२) 'सर्वस खाइ···'—जिसकी संपत्ति से भोग और विलास किया, समय पड़ने पर उसे धोखा देना कृतघ्नता है। इसपर वह वध के योग्य है; यथा—"भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहिं। सुनि सरोष बोले सुभट, वीर अधीर न होंहि।।" (आ० दो० १८१)।

उग्र बचन सुनि सकल डेराने। चले क्रोध करि सुभट लजाने ॥९॥
सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा ॥१०॥

दोहा—बहु आयुध धर सुभट सब, भिरहिं प्रचारि प्रचारि।
ब्याकुल किये भालु कपि, परिघ त्रिसूलन्हि मारि ॥४१॥

अर्थ—क्रोध भरे कठोर वचन सुनकर वे सब सुभट डर गये और लज्जित होकर क्रोध करके (लड़ने को) चले ॥९॥ रण में सन्मुख लड़कर मरना वीर की शोभा है, (यह सोचकर) तब उन्होंने प्राणों का लोभ छोड़ा ॥१०॥ बहुत-से आयुध धारण किये हुए वे सब सुभट ललकार-ललकार कर भिड़ने लगे और उन्होंने रीछ-वानरों को परिघों और त्रिशूलों से मारकर व्याकुल कर दिया ॥४१॥

विशेष—(१) 'उग्र बचन सुनि···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'फेरि सुभट लंकेस रिसाना।' है। इसके बीच में उग्र वचन है। ऐसा ही खरदूषण ने भी कहा है; यथा—"भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन ते जाइ॥ तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महँ ठानि।।" (अ० दो० १९); 'सकल डेराने'—डरे कि यह मारेगा। तब इसके हाथ क्यों मरें ? रण में सन्मुख शत्रु के हाथ क्यों न मरें कि परलोक भी बने और वीर-शोभा को प्राप्त हों। 'फिरे'–पहले कहा गया था; यथा—"चले निसाचर-निकर पराई।" अब उन्हीं का फिर लौटना कहा गया।

(२) 'सनमुख मरन बीर···'—शूरता की शोभा भी हो और शरीर की कुशल भी रहे, यह नहीं हो सकता; यथा—"होइ कि खेम कुसल रौताई।" (अ० दो० २४); यह सोचकर वे प्राण देने को उद्यत हो गये कि जीतेंगे तो ऐश्वर्य भोगेंगे, अन्यथा स्वर्ग को प्राप्त होंगे; यथा—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।।" (गीता २।३७)।

रावण के वचन का प्रभाव सुभटों पर पड़ा—

रावण	सुभट
(१) जो रन बिमुख फिरा मैं जाना।	फिरे क्रोध करि सुभट लजाने।
(२) सो मैं हतब कराल कृपाना।	सन्मुख मरन बीर कै सोभा।
(३) समर भूमि भये वल्लभ प्राना।	तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा।

भाव यह कि हमलोग रण-विमुख न होंगे, किन्तु जीतकर आवेंगे अन्यथा नहीं। तुम्हारे हाथ मरकर नरक को न जायेंगे, किन्तु वीर-शोभा को प्राप्त होंगे। हम नमकहराम नहीं हैं, किंतु तुम्हारे लिये प्राण दे देंगे।

(३) 'बहु आयुध धर '—प्रास, मुद्गर, परिघ, भिंडिपाल, पट्टिश, त्रिशूल, तोमर, ऋष्टि, मूशल, चाप, गदा, शक्ति, भाला, आयस, दंड, चक्र, बाण, खड्ग इत्यादि—वाल्मी० ६।४१–४२ में कहे गये हैं।

(४) 'व्याकुल किये भालु कपि ···'— भाव यह कि वे लोग शस्त्रों के प्रयोग में भी निपुण हैं, तभी तो उन्होंने भालु-वानरों को व्याकुल कर दिया, यथा—"बलवन्तो ऽस्त्रविदुषो नाना प्रहरणा रणे। जघ्नुर्वानर-सैन्यानि राक्षसा क्रोधमूर्च्छिता ॥" (वाल्मी० ६।५३।११), 'व्याकुल किये' - उपर्युक्त अस्त्र-शस्त्रों से नाना प्रकार से घायल किये गये, जैसा कि वाल्मी० ६ ५८।१२–१४ में विस्तार से कहा गया है। 'परिघ त्रिसूलन्हि मारि'—आयुध सभी चलाये गये, उनमें ये दो प्रधान रहे, इनसे बहुत वानर भालु मारे गये।

भय आतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे ॥१॥
कोउ कह कहँ अंगद-हनुमंता। कहँ नल-नील दुविद बलवंता ॥२॥
निज दल विकल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना ॥३॥
मेघनाद तहँ करइ लराई। टूट न द्वार परम कठिनाई ॥४॥
पवनतनय मन भा अति क्रोधा। गर्जेउ प्रबल काल-सम जोधा ॥५॥

अर्थ—हे उमा ! यद्यपि वानर आगे जीतेंगे, तथापि (अभी) वे व्याकुल होकर भय से शीघ्र भागने लगे ॥१॥ कोई कहता है कि श्रीअगदजी कहाँ हैं, कोई कहता है कि श्रीहनुमान्जी कहाँ हैं और कोई-कोई कहते हैं कि बलवान् नल, नील और द्विविद कहाँ हैं ॥२॥ श्रीहनुमान्जी ने अपने दल को व्याकुल सुना। वह बलवान् पश्चिम फाटक पर था ॥३॥ वहाँ मेघनाद युद्ध कर रहा था, द्वार टूटता नहीं था, अत्यन्त कठिनाई थी ॥४॥ तब पवनपुत्र के मन में अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ और वह योद्धा (श्रीहनुमान्जी) प्रबल काल के समान बड़े जोर से गर्जा ॥५॥

विशेष—(१) 'जद्यपि उमा '—पार्वतीजी को संदेह हुआ कि अभी तो आप कहते थे, यथा—"राम प्रताप प्रबल कपि जूथा।", "गर्जहिं सिंह नाद कपि " फिर यह दशा क्यों हो गई ? उसपर शिवजी कहते हैं कि इस समय अत्यन्त भारी मार से व्याकुल हो गये हैं, इससे डर गये हैं, फिर आगे जीतेंगे। बराबर एक ही ओर की जीत होने में रण-शोभा नहीं होती, यथा—"रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो।" (दो० ७१), आगे वानरों की दशा कहते हैं—

(२) 'कोउ कह कहँ '—इन वीरों के नाम से स्पष्ट है कि दक्षिण द्वार की सेना ने श्रीअगदजी की दोहाई दी, पश्चिम की सेना ने श्रीहनुमान्जी की और पूर्व की सेना ने नल आदि की पुकार की। इनलोगों ने सहायता भी की। श्रीहनुमान्जी ने मेघनाद को मूर्च्छित किया, श्रीअगदजी ने अपने प्रतिपक्षियों को मारा और नल आदि ने अपनी ओर रक्षा करते हुए शत्रुओं को मारा। तब पीछे अवकाश पाकर श्रीअगदजी और श्रीहनुमान्जी ने जो कार्य किये, वे आगे कहे गये हैं।

(३) 'सुना हनुमाना'—इनका देखना नहीं कहा गया, क्योंकि ये सावधानी से इन्द्रजित् के साथ लड़ रहे थे। विस्तृत मोर्चे पर सर्वत्र दृष्टि नहीं थी, इससे सुनना ही कहा गया। आर्तस्वर सुनकर जाना।

(४) 'मेघनाद तहँ करइ लडाई ।'—मेघनाद परम शस्त्रास्त्र कोविद, बली और मायावी है, इससे यह द्वार को रोके हुए है, तोड़ने में बडी कठिनाई है। यदि उधर सहायता में न जायँ, तो अपनी सेना मारी जाती है।

(५) 'पवनतनय मन...'—'पवनतनय' कहकर उनकी शीघ्रता कही और बल भी कहते हैं। 'अति क्रोधा' 'परम कठिनाई' कहकर अति क्रोध कहने का कारण यह कि वीर को जितना ही अधिक क्रोध होता है, वह उतना ही भारी पुरुषार्थ कर दिखाता है। जैसे कि ऊपर कहा गया कि 'चले क्रोध करि सुभट लजाने।' तब 'व्याकुल किये भालु कपि, परिघ त्रिसूलन्हि मारि।' इसी तरह ये भी अति क्रोध से मेघनाद को पराजित करेंगे। पहले जब इनका मेघनाद से सामना हुआ था, तब सामान्य ही क्रोध किया था; यथा—"कटकटाइ गर्जा अरु धावा।" (सुं॰ दो॰ १८); पर इस बार वह गढ़ पर ऊपर है और ये नीचे हैं, अतः, सामान्य क्रोध से द्वार टूटता न देखकर इन्होंने अत्यन्त क्रोध किया। 'गर्जेउ प्रबल काल सम'—यहाँ पूर्णोपमा है। इनकी सेना भीतर चली गई थी, वहाँ राक्षसों की मार से व्याकुल थी, जब तक ये द्वार तोडकर भीतर न जा पावें, तब तक उनकी रक्षा कैसे हो? और प्रथम ही दिन आज यदि हार हो तो सेना का उत्साह भंग होगा। अत., इन्होंने भारी वेग किया।

कूदि लंक गढ़-ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनाद कहँ धावा ॥६॥
भंजेउ रथ सारथी निपाता। ताहि हृदय महँ मारेसि लाता ॥७॥
दूसरे सूत बिकल तेहि जाना। स्यंदन घालि तुरत गृह आना ॥८॥

दोहा—अंगद सुना पवनसुत, गढ़ पर गयउ अकेल।
रनबाँकुरा बालि-सुत, तरकि चढ़ेउ कपि-खेल ॥४२॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी कूदकर लंका-किले के ऊपर आ पहुँचे और एक पहाड़ लेकर मेघनाद की ओर दौडे ॥६॥ इन्होंने उसका रथ चूर-चूर कर दिया, सारथी को मार डाला और मेघनाद के हृदय में लात मारी ॥७॥ दूसरा सारथी उसे व्याकुल जानकर रथ में डालकर तुरत घर ले गया ॥८॥ श्रीअंगदजी ने सुना कि पवनपुत्र अकेले ही किले पर गये हुए हैं। (तब) वह रण में बाँका बालि कुमार वानर क्रीडा से कूद-उछलकर किले पर चला गया ॥४२॥

विशेष—(१) उपर्युक्त 'अति क्रोधा' का कार्य दिखाते हैं कि पवन पुत्र हैं, इससे इन्होंने ऐसी शीघ्रता की कि एक ही पर्वत से सब काम साथ ही कर लिये। उसे रोकने एवं प्रतिकार का अवसर ही न मिला। सुंदरकाड के युद्ध में सामान्य क्रोध था, इससे वहाँ 'महाबिटप' से मारा और उससे उसको एक क्षण ही मूर्च्छा रही। यहाँ 'अति क्रोध' है, इससे पर्वत से मारा, जिससे भारी आघात होने से उसकी मूर्च्छा देर तक रहेगी, यहाँ सारथी भी मारा गया।

(२) 'दूसरे सूत बिकल...'—सुंदरकांड के युद्ध में श्रीहनुमान्‌जी को उसने मूर्च्छित होने पर भी बाँधा था, इस डर से राक्षस लोग उसे शीघ्र लेकर भागे कि कहीं यह वानर पूर्व का बदला न ले। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा भी था, यथा—"तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे।" (सु॰ दो॰ २१)। अर्थात् उसका बदला लेना

अभी शेष है। 'मेघनाद तहँ करइ लराई।' उपक्रम है और—'दुसरे सूत निकल तेहि जाना।' उपसंहार है। पाँच अर्द्धालियों में इनका युद्ध कहा गया, इसमें श्रीहनुमान्‌जी की जीत हुई।

(३) 'अंगद सुना...'—अब यहाँ दक्षिण द्वार को श्रीअंगदजी का तोड़ना कहते हैं। 'रनबाँकुरा'; 'बालिसुत' विशेषण देकर जनाया कि यह अपने मोरचे के महापार्श्व और महोदर को पराजित करके इधर आया है। क्योंकि यह बालि की तरह फुर्तीला है, रावण बालि के पकड़ने की घात में ही था कि बालि ने उसे पकड़कर काँख में दाब लिया था, वैसे ही आश्चर्य कार्यकर्त्ता यह भी है। तुरत उछलकर ऊपर चढ़ गया। सहज ही निःशंक भी है, यथा—"प्रभु-प्रताप उर सहज असंका। रनबाँकुरा बालि सुत बंका॥" (दो० १७), जैसे मायावी को मारने के लिये बालि निःशंक अँधेरी गुफा में चला गया, वैसे यह भी निःशंक शत्रु के किले के मध्य भाग की ओर चला गया। 'कपि-खेल' का भाव यह कि बिना परिश्रम इस डाल से उस डाल पर कूदने की तरह निकल गये। 'गढ़ पर गयउ'—किले के भीतरी आवरण में यह युद्ध हुआ है।

जुद्ध-बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर। राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर॥१॥
रावन-भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥२॥
कलस-सहित गहि भवन ढहावा। देखि निसाचरपति भय पावा॥३॥

अर्थ—दोनों वानर युद्ध में विरोध भाव से क्रोधित हो श्रीरामजी का प्रताप हृदय में स्मरण कर॥१॥ रावण के महल पर दोनों दौड़कर चढ़ गये और श्रीअयोध्याजी के स्वामी श्रीरामजी की शपथ करते हैं॥२॥ कलश समेत महल को पकड़कर ढहा (गिरा) दिया, यह देखकर निशाचर राज डर गया॥३॥

विशेष—(१) 'जुद्ध-बिरुद्ध ...'—एक युद्ध क्रीड़ारूप में भी होता है, यहाँ वह नहीं है, किन्तु विरोध भाव का युद्ध है, क्योंकि अपनी सेना का विचलित होना सुन चुके हैं, यथा—"अन्योन्यं बद्धवैराणां" (वाल्मी० ६।७७।२); इसीसे दोनों क्रोध में भरे हैं; यथा—"दोउ भिरे अतिबल मल्लजुद्ध बिरुद्ध एक एकहि हनै।" (दो० ३३); तथा—"कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा॥" (दो० ६५)।

'राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर'—श्रीरामजी का प्रताप स्मरण करके कार्य करने से सफलता होती है और उसमें निर्भीकता, बल और उत्साह बढ़ता है। जैसे—"राम-प्रताप समुझि कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥" (दो० ३३); इसका फल यह हुआ; यथा—"भयउ तेज-हत श्री सब गई।" (दो० ३४); पुनः "प्रभु प्रताप कहि सब समुझाये। सुनि कपि सिंहनाद करि धाये॥" (दो० ३८), इसका फल यह हुआ; यथा—"चले निसाचर निकर पराई।...हाहाकार भयो पुर भारी।" वैसे यहाँ भी; यथा—"राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर।" कहा है, इसका फल भी आगे विस्तार से दो दोहों में कहा गया है। अभी ही राक्षसराज देखकर डर गया, यथा—"देखि निसाचर पति भय पावा।" कहा है।

(२) 'करहिं कोसलाधीस दोहाई।'—शपथ करके (प्रतिज्ञापूर्वक) जो कार्य करने को कहते हैं, वह कर ही डालते हैं। शपथ का भाव यह कि वे श्रीरामजी सत्य संकल्प हैं, अतएव हमारे संकल्प भी सत्य करेंगे; यथा—"मोहिं राम राउरि आनि दसरथ सपथ सब साँची कहउँ।" (अ० दो० १००); "जौ न करउँ प्रभु पद सपथ, कर न धरउँ धनु भाथ।" (बा० दो० २५३); दोहाई का यहाँ यही अर्थ

संगत है। दोहाई शब्द विजय-घोषणा सहित दखलदिहानी की पुकार का भी बोधक है, पर उसमें 'दोहाई फिरना' कहा जाता है ; यथा—"नगर फिरी रघुबीर दोहाई।" (सुं० दो० १०) ; "जब प्रताप-रवि भयो नृप, फिरी दोहाई देस॥" (बा० दो० १५२) ; और दोहाई सहायता के लिये कही जाती है, पर ये दोनों अर्थ यहाँ नहीं हैं।

(३) 'देखि निसाचर पति भय पावा।'—रावण अपने भवन से बाहर है, मोरचों की देख-भाल करता है, इसीसे पहले उसने भागनेवालों को ललकार कर लौटाया है और आगे भी कहा गया है कि अंगदजी और हनुमान्‌जी मुखिया राक्षसों को उसके आगे फेंकते हैं। अतः, यहाँ भी उसी का देखना और भय पाना कहा गया है, क्योंकि इन दोनों वानरों के पराक्रम से यह खूब परिचित है। अन्यत्र भी कहा है ; यथा—"हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।" (वि० ३२)।

नारि-बृंद कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आये उतपाती॥४॥
कपिलीला कर तिन्हहिं डेरावहिं। रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं॥५॥

शब्दार्थ—कपिलीला = घुड़कना, काटने को दौड़ना आदि। उत्पाती = उपद्रवी।

अर्थ—स्त्री-समूह हाथों से छाती पीटती हैं कि अब तो दोनों उपद्रवी वानर एक साथ ही आये हैं (न जाने क्या उपद्रव करें ?)॥४॥ दोनों कपि वानर-लीला करके उनको भय देते हैं और श्रीरामजी का सुन्दर यश सुनाते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'नारि-बृंद कर···'—यह रावन का रनिवास है। सब रानियाँ भय और व्याकुलता से छाती पीटती हैं। 'अब'—पहले श्रीहनुमान्‌जी अकेले ही आये थे, अब दो हो गये। 'दुइ कपि'—भाव यह कि पहले अकेले-अकेले ही आये थे, तब भारी-भारी उत्पात कर गये और अब तो दोनों मिलकर आये हुए हैं, तब न जाने क्या कर डालें ? दोनों के पूर्व-पूर्व आगमन से नगर में अत्यन्त भय से हाहाकार मचा था ; यथा—"तात मातु हा सुनिय पुकारा।" (सुं० दो० २५), "भयउ कोलाहल नगर मँझारी।···अति सभीत सब करहिं बिचारा॥" (दो० १७) ; इत्यादि। उन्हीं बातों को समझकर अत्यन्त डरी हुई हैं।

'कर पीटहिं छाती'—जब इन लोगों ने देख लिया कि इनको रावण भी निवारण नहीं कर सकता ; यथा—"देखि निसाचर पति भय पावा।" तब छाती पीटने लगीं कि जिससे आर्त्त जानकर वानर लोग कोई दुर्दशा न करें।

(२) 'कपिलीला करि···'—वीर लोग स्त्रियों और आर्त्तों पर प्रहार नहीं करते, ये स्त्रियाँ हैं और आर्त्त भी हैं। फिर भी कपि-लीला से डरवाते हैं, यह श्रीजानकीजी का बदला लेते हैं ; यथा—"इहाँ पिसाचिनि-बृंद। सीतहि त्रास देखावहिं, धरहि रूप बहु मंद॥" (सुं० दो० १०)।

'रामचंद्र कर सुजस सुनावहि।'—'सुजस' ; यथा—"जयत्यति बलो रामो···न रावण सहस्रं मे···" ये वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकांड के श्लोक श्रीहनुमान्‌जी के युद्ध-गर्जन प्रसंग में कहे गये हैं। उन्हीं को यहाँ यश-रूप में भी सुनाते हैं। पुनः सुयश सुनाने के और प्रसंग भी देखिये ; यथा—"रिपु मद मथि प्रभु सुजस सुनायो।" (दो० ३३) ; "कपि भालु चढ़ि मंदिरन्हि जहँ-तहँ राम जस गावत भये।" (दो० ४०)।

पुनि कर गहि कंचन के खंभा। कहेन्हि करिय उतपात अरंभा ॥६॥
गर्जि परे रिपु कटक मझारी। लागे मर्दइ भुज बल भारी ॥७॥
काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजहु न रामहि सो फल लेहू ॥८॥

दोहा—एक एक सों मर्दहिं, तोरि चलावहिं मुंड।
रावन आगे परहिं ते, जनु फटहि दधि-कुंड ॥४३॥

अर्थ—फिर सोने के खंभे को हाथ से पकड़कर (परस्पर) बोले कि अब उपद्रव प्रारंभ करें ॥६॥ (यह सम्मत कर) वे शत्रु-सेना के मध्य गर्जन करके कूद पड़े और उसे अपने भारी भुजबल से मर्दन करने लगे ॥७॥ किसी को लात से, किसी को थप्पड़ों से मारकर कहते हैं कि श्रीरामजी का भजन नहीं करते, उसका फल लो ॥८॥ एक राक्षस को दूसरे से रगड़कर मल देते हैं, फिर (मरने पर) सिर को धड़ से तोड़कर फेंकते हैं, वे जाकर रावण के आगे गिरकर ऐसे फूटते हैं, जैसे दही के कुंडे (भाँड़) फूटें ॥४३॥

विशेष—(१) पहले भवन गिराना कहा गया, उन्हीं में सोने के खंभे भी गिरे। उन्हीं खंभों को पकड़कर उत्पात आरंभ करना कहा है। 'कटक मँझारी'—यहाँ सेना के मध्य भागवाले गुल्म से तात्पर्य है। जहाँ का अध्यक्ष विरूपाक्ष था, वहीं से चारों ओर सेना भेजी जाती थी—यह वाल्मी० ६।३७।१४ में कहा गया है।

(२) 'रावन आगे परहिं ते'—रावण के आगे फेंकते हैं कि जिन सुभटों का तुझे बड़ा गर्व था, उनकी दशा देख, इन्हें पहचानता जा। इस कर्म से उसे ललकार भी है कि तू भी आ जा तो तेरी भी ऐसी ही दशा करूँ। दही के कुंडे पृथिवी में गिरकर फूटने में शब्द करते हुए बिखर जाते हैं, वैसी ही इन शिरों की दशा होती है। यह देखकर रावण की छाती जलती है।

महा महा मुखिया जे पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं ॥१॥
कहइ बिभीषन तिन्हके नामा। देहिं राम तिन्हहू निज धामा ॥२॥
खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी ॥३॥
उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर ॥४॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी ॥५॥

अर्थ—जिन बड़े-बड़े प्रधान सरदारों को पाते हैं, उनके पैर पकड़कर प्रभु के पास फेंक देते हैं ॥१॥ श्रीविभीषणजी उनका नाम बतलाते हैं और श्रीरामजी उन्हें भी अपना धाम देते हैं ॥२॥ दुष्ट मनुष्यों के खानेवाले और ब्राह्मण-मांस-भोगी वे निशाचर वह उत्तम गति पाते हैं, जिसे योगी लोग माँगते हैं ॥३॥ हे उमा! श्रीरामजी कोमल चित्त और करुणा की खान हैं। निशाचर मुझे बैर भाव से स्मरण करते हैं ॥४॥ ऐसा जी में समझकर उन्हें परमगति (मुक्ति) देते हैं, हे भवानी! कहो तो, ऐसा कृपालु कौन है? ॥५॥

विशेष—(१) 'महा महा मुखिया जे···'—पहली कोटि के मुखिया थे, जिन्हें लातों और चपेटों से मर्दन किया, जिन्हें 'एक-एक सों' रगड़कर मारा और उनका सिर रावण के पास फेंका, वे महा मुखिया थे और जिनके पैर पकड़कर श्रीरामजी के पास फेंकते हैं, ये महा-महा मुखिया हैं। 'पद गहि···' इसलिये कि पैर की तरफ हलके और लंबे होते हैं, इससे फेंकने में सुभीता पड़ता है दूर तक जाते हैं।

(२) 'कहइ बिभीषन···'—प्रभु पूछते हैं, तब वे कहते हैं। यहाँ पूछना मुक्ति देने के सम्बन्ध में है। पर वाल्मीकीय रामायण में बड़े-बड़े योद्धाओं के आगमन पर उनसे युद्ध के प्रारम्भ में पूछना लिखा है, वहाँ प्रहस्त, कुंभकर्ण, अतिकाय आदि के नाम प्रभाव इत्यादि पूछे गये हैं। 'तिन्हहूँ' अर्थात् ऐसे-ऐसे महापापियों को भी—इन्हें ही अगली अर्द्धाली में कहा है। 'निज धामा'; यथा—"न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता १५।६); अर्थात् वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का प्रकाश नहीं है (वह धाम स्वयं प्रकाश है।) जहाँ पहुँचकर जीव फिर संसार में नहीं आता, वही मेरा परम धाम है।

पूर्व कहा गया—'कहेन्हि करिय उत्पात अरंभा।' उसका कार्य 'गर्जि परे रिपु कटक मँझारी।' से 'ते पद गहि प्रभु पास चलावहि।' तक कहा गया।

(३) 'खल मनुजाद···'—'खल'; यथा—"खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥" (उ० दो० १२०); दुष्ट अधम भी होते हैं; यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृत जुग त्रेता नाहिं।" (उ० दो० ४०); ये सब दोष इनमें हैं। 'जो जाँचत जोगी'—योगी; यथा—"निर्मान मोहा जित संग दोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्॥" (गीता १५।५), अर्थात् मान-मोह रहित, संग दोष को जीते हुए, अध्यात्म निष्ठ, कामना रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित ज्ञानी लोग उस अविनाशी पद को पाते हैं। ऊपर 'निज धाम' कहा, उसे ही यहाँ गति और आगे परम गति भी कहते हैं। अतः, ये नाम पर्यायवाचक हैं। 'जाँचत जोगी'; यथा—"जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥" (आ० दो० ३५); "जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥" (कि० दो० १०)।

यहाँ मांसाहारी महापापियों को गति देने में जो शब्द कहे गये हैं, प्रायः वही शब्द गृद्धराज के सम्बन्ध में भी आमिष भोगी को मुक्ति देने मे आये हैं; यथा—"गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी॥ कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥" (आ० दो० ३३)।

(४) 'बैर भाव सुमिरत मोहि···'—श्रीरामजी ही अपने मृदु एवं करुण स्वभाव से ऐसा मिस (बहाना) बना लेते हैं कि ये तो मुझे बैर भाव से स्मरण करते थे। यदि ऐसा न माने तो इन अधमों को उत्तम गति कैसे देते ? अधमों की अधोगति होती है ; यथा—"रहु अधमाधम अध गति पाई।" (उ० दो० १०९) 'सो जिय जानी'—उस बैर भाव के स्मरण को ही जी मे जानकर (उनके पापों की ओर न देखकर)। 'कहहु भवानी'– भाव यह कि तुम भी दिव्य ज्ञानयुक्ता हो, कहीं कोई हो तो, कहो।

अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥६॥
अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा॥७॥
लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे। मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे॥८॥

दोहा—भुजबल रिपुदल दलि-मलि, देखि दिवस कर अंत ।
कूदे जुगल बिगत श्रम, आये जहँ भगवंत ॥४४॥

अर्थ—ऐसा सुनकर जो भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभु को नहीं भजते, वे मनुष्य मंद बुद्धि और परम भाग्य हीन हैं ॥६॥ अवध-नरेश श्रीरामजी ने (सुग्रीव आदि से) कहा कि श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी किले में घुस गये ॥७॥ दोनों वानर लंका में कैसे शोभित होते हैं जैसे दो मंदराचल समुद्र को मथते हों ॥८॥ बाहुबल से शत्रु-सेना को दलमल (नष्ट) कर और दिन का अन्त (संध्या) समय देखकर दोनों बिना परिश्रम (खेल से) कूदे और वहाँ आये जहाँ भगवान् श्रीरामजी थे ॥४४॥

विशेष—(१) 'असप्रभु सुनि···'—'सुनि'—सन्तों एवं सद्ग्रंथों से सुनकर 'भ्रम त्यागी' क्योंकि भ्रम छूटने पर ही भजन होता है; यथा—"होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥" (अ० दो० ९१), 'न भजहिं' ते 'मति मंद' और 'अभागी' हैं; यथा—"गिरिजा ते नर मंद मति जे न भजहिं श्रीराम ।" (उ० दो० ७१); "सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥" (आ० दो० ३२) । और जो प्रभु का स्वभाव सुनकर भी उन्हें नहीं भजते, वे ही यहाँ 'परम अभागी' कहे गये हैं। इसी तरह जिस अधम ने प्रभु के लिये शरीर दे दिया, प्रभु जिसके कनौड़े बने, वे 'परम बड़ भागी' हैं; यथा—"राम काज कारन तन त्यागी । हरिपुर गयउ परम बड़ भागी ॥" (कि० दो० २६) ।

(२) 'अंगद अरु हनुमंत प्रवेसा ।···'—उधर कहा गया—"रावन-भवन चढ़े दोउ धाई । करहिं कोसलाधीस दोहाई ॥" इसी को सुवेल पर से देखते हुए श्रीरामजी कहते हैं—'अंगद अरु···' । पुनः—"गर्जि परे रिपु-कटक मँझारी । लागे मर्दइ भुजबल भारी ॥" को देखकर यहाँ कहते हैं—"लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे ।···"

(३) 'मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे ।'—यहाँ शोभा दिखाना उत्प्रेक्षा का विषय है। दुर्ग की गहराई सिंधु की गहराई है, शत्रु-सेना जल है, जैसे समुद्र-जल गहरा होने से काला देख पड़ता है, वैसे ही राक्षस-सेना काली है। अंगदजी और हनुमान्‌जी कनक वर्ण मंदराचल-रूप हैं। चारों ओर हाथ घुमाते हैं, यही मंदराचल का घूमना है। मंदराचल के आधार कच्छप भगवान् थे, यहाँ भी इन दोनों का आधार राम-प्रताप है; यथा—"राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर ।" ऊपर कहा गया है। सेना का मंथन समुद्र-मंथन है। महा-महा मुखिया रत्न-रूप निकले जिन्हें प्रभु ने ग्रहण किया। वहाँ केवल चौदह रत्न निकले और यहाँ अनेक। दोनों का मंथन सुर-साधु-हित ही हुआ।

यहाँ के 'मथहिं सिंधु' के भाव क० लं० ३६—४२ पदों के देखने से स्पष्ट हो जाते हैं, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखे गये, वहीं पर देखें।

(४) 'भुजबल रिपुदल दलिमलि···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'लागे मर्दइ भुजबल भारी ।' है। पुनः 'कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा ।' एवं 'तरकि चढ़ेउ कपि खेल' उपक्रम है और यहाँ—'कूदे जुगल बिगत श्रम' उपसंहार है। 'भुजबल रिपुदल दलिमलि' कर लौटे, नहीं तो समझा जाता कि किसी डर से चले आये; पुनः दूसरा कारण 'दिवस कर अंत' भी कहा गया है। संध्या से एवं रात में लड़ाई बंद रहती है; यथा—"दिन के अंत फिरी दोउ अनी ।" (दो० ७०); "संध्या भई फिरी दोउ बाहनी ।" (दो० ५१) ।

(५) 'बिगत श्रम'—यह कूदने का ही विशेषण है कि कूदने में श्रम नहीं हुआ, दिनभर के थके होने से कूदने में श्रम होना संभव था। क्योंकि सेना-मर्दन के श्रम का निवारण होना कहा है ; यथा—"राम कृपा करि जुगल निहारे। भये बिगतश्रम परम सुखारे ॥" यह आगे कहा गया है।

प्रभु-पद-कमल सीस तिन्ह नाये। देखि सुभट रघुपति मन भाये ॥१॥
राम कृपा करि जुगल निहारे। भये बिगत श्रम परम सुखारे ॥२॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमलों में उन्होंने शिर नवाया, देखकर कि ये अच्छे योद्धा हैं, (या, इन सुभटों को देखकर) वे श्रीरघुनाथजी के मन में अच्छे लगे ॥१॥ श्रीरामजी ने कृपा-दृष्टि से दोनों को देखा, वे श्रम-रहित और परम सुखी हुए ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-कमल सीस···'—विशेष कार्य करने के लिये गये हुए थे, अतएव वहाँ से लौटने पर प्रणाम करना कहा गया। जब कभी युद्ध के बीच में किसी कार्य से जाते हैं और लौटते हैं, तब तो साथ ही रहते हैं। अतः, प्रणाम करना नहीं कहा जाता।

'देखि सुभट'—श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी के अभी तक के कार्य सुनने पर जाने गये थे, आज स्वयं अपनी आँखों देखा। अतः, इन्हें उत्तम योद्धा माना। वा, महा-महा-मुखिया लोगों को मार-मारकर इतनी दूर फेंकना देखकर इन्हें सुभट जानते हैं, पूछने की आवश्यकता नहीं है।

(२) 'राम कृपा करि···'- शत्रु-सेना के मर्दन की थकावट प्रभु की कृपा-दृष्टि से दूर हुई, पुनः परम सुखी भी हुए। कहा भी है ; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत-बिपति-भंजन सुख-दायक ॥" (बा० दो० १७) ; अर्थात् आपकी कृपा-दृष्टि मे ये दोनों गुण सहज ही रहते हैं।

गये जानि अंगद हनुमाना। फिरे भालु-मर्कट भट नाना ॥३॥
जातुधान प्रदोष-बल पाई। धाये करि दससीस दोहाई ॥४॥
निसिचर-अनी देखि कपि फिरे। जहँ तहँ कटकटाइ भट भिरे ॥५॥
दोउ दल प्रबल प्रचारि-प्रचारी। लरत सुभट नहिं मानहिं हारी ॥६॥

शब्दार्थ—प्रदोष = संध्याकाल ; यथा—"प्रदोषो रजनी मुख इत्यमरः।"

अर्थ श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी को (रणभूमि से) गये हुए जानकर अनेक भालू और वानर योद्धा लौट पड़े ॥३॥ राक्षस लोग संध्या-काल का बल पाकर दशशीस रावण की दोहाई करते हुए दौड़े ॥४॥ निशाचर-सेना को देखकर वानर लौट पड़े और जहाँ-तहाँ दाँत कटकटाकर (क्रोध से) वे योद्धा भिड़ गये ॥५॥ दोनों दल प्रबल हैं और ललकार-ललकारकर वे सुभट भिड़ते हैं, हार नहीं मानते ॥६॥

विशेष–(१) 'गये जानि अंगद···' पहले इन सुभटों का फिरना कहा गया ; यथा—'देखि सुभट रघुपति मन भाये।' अब यहाँ भटों का फिरना कहते हैं यथा—'फिरे भट नाना' 'गये जानि' का भाव यह कि अभी तक ये इन्हीं के सहारे से लड़ते थे। नहीं तो पहले ही लौट आये होते ; यथा—"भय-आतुर कपि भागन लागे।···कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता।" (दो० ४१) ; जब ये दोनों सहायक हुए, तब सब डट गये थे।

(२) 'प्रदोप-बल पाई'—प्रदोप-काल में राक्षसों का बल बढ़ जाता है, इसीसे रावण का हर्षित होना कहा गया है ; यथा—"पाइ प्रदोष हरष दसकधर।" (दो० ४६) ; राक्षस प्रदोप-बल पाकर दौड़े, इससे जान पड़ता है कि वे लोग वानरों से हार जाने पर प्रदोप-काल की प्रतीक्षा में थे कि कब प्रदोष आवे और हमलोग इनसे प्रबल हो जायँ ; यथा—"निहन्यमाना हरिपुंगवैस्तदा निशाचराः शोणित गंध-मूर्च्छिताः। पुनः सुयुद्धं तरसा समाश्रिता दिवाकरस्यास्तमयाभिकांक्षिणः ॥" (वाल्मी० ६।४४।६)।

'धाये करि दससीस दोहाई।'—"रावन भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥" (दो० ४२) यहाँ उसीका उत्तर है।

रात में वानरों को कम दिखाई पड़ता है और काले राक्षस अँधेरे में मिल जाते हैं। अब वे वानरों के कमजोर पड़ने पर छल से काम लेना चाहते हैं।

(३) 'दोउ दल प्रबल···'—निशाचर प्रदोप-बल पाकर प्रबल हो गये हैं और वानर जयशील होने से प्रबल हैं। अतः, दोनों ओर से ललकारें होती हैं। 'नहिं मानहिं हारी।'—शूरता की उमंग में दोनों पक्ष अपनी-अपनी जय चाहते हैं ; यथा—"अन्योन्यं बद्धवैराणां घोराणां जयमिच्छताम्। संप्रवृत्तं निशा युद्धं तदा वानर रक्षसाम्॥ अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तदस्मिंस्तमसि दारुणे॥" (वाल्मी० ६।४४।२-३) तथा क० लं० ३४-३५ भी देखिये।

महावीर निसिचर सब कारे। नाना बरन बलीमुख भारे॥७॥
सबल जुगल दल समबल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा॥८॥
प्राविट - सरद - पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे॥९॥

शब्दार्थ—बलीमुख (सं० बलिमुख)= वानर ; यथा—"चली बलीमुखसेन पराई।" (दो० ४६)। प्राविट (प्रावृट्)= वर्षा-ऋतु। प्रेरे = चलाये हुए।

अर्थ—सब निशाचर महावीर और काले हैं। वानर भारी-भारी और नाना रंग के हैं॥६॥ दोनों दल बलवान् हैं, योद्धा बराबर बलवाले हैं, (अतः) क्रोध करके लड़ते और कौतुक करते हैं॥७॥ वानर और निशाचर परस्पर लड़ते हुए ऐसे मालूम होते हैं मानों वर्षा और शरद्-ऋतु के मेघ वायु से प्रेरित होकर लड़ते हैं॥८॥

विशेष—(१) नाना बरन बली मुख भारे।'—'नाना बरन'—देखिये कि० दो० २१। 'बली-मुख'—वानरों का भारी आकार प्रकट करते हुए यह भारी शब्द कहा गया।

(२) 'सबल जुगल दल'—ये समष्टि में बलिष्ट कहे गये। पर इसमें यह संदेह रह ही गया कि प्रत्येक योद्धा बली है कि नहीं। इसपर 'सम बल' भी कहा गया—यह व्यष्टि-बल-कथन है।

(३) 'प्राविट सरद···'—जैसे वर्षा के मेघ काले होते हैं, वैसे सब निशाचर काले हैं। जैसे शरद के मेघ अनेक रंग के होते हैं, वैसे वानर अनेक रंग के हैं। जिस प्रकार मेघ बहुत होते हैं, उसी प्रकार दोनों दल के सैनिक भी बहुत हैं, इसीसे 'घनेरे' कहा गया है। जैसे मेघ पवन के झकोरे से आपस में लड़ते हैं, वैसे ही ये लोग भी वीर-रस की उमंगों से लड़ रहे हैं। दोनों ऋतुओं के समागम का रूपक देकर निशाचरों का अंत और वानरों का अभ्युदय सूचित किया गया है।

(२) 'प्रदोष-बल पाई'—प्रदोष-काल मे राक्षसों का बल बढ़ जाता है, इसीसे रावण का हर्षित होना कहा गया है, यथा—"पाइ प्रदोष हरष दसकधर।" (दो० ३९); राक्षस प्रदोष-बल पाकर दौड़े, इससे जान पडता है कि वे लोग वानरों से हार जाने पर प्रदोष-काल की प्रतीक्षा मे थे कि कब प्रदोष आवे और हमलोग इनसे प्रबल हो जायँ, यथा—"निहन्यमाना हरिपुङ्गवैस्तदा निशाचरा शोणित गंध-मूर्च्छिता । पुन सुयुद्ध तरसा समाश्रिता दिवाकरस्यास्तमयाभिकाङ्क्षिण ॥" (वाल्मी० ४१।७९)।

'धाये करि दससीस दोहाई।'—"रावन भवन चढे दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥" (दो० ४२) यहाँ उसीका उत्तर है।

रात मे वानरों को कम दिखाई पड़ता है और काले राक्षस अँधेरे में मिल जाते हैं। अब वे वानरों के कमजोर पडने पर छल से काम लेना चाहते हैं।

(३) 'दोउ दल प्रबल '—निशाचर प्रदोष-बल पाकर प्रबल हो गये हैं और वानर जयशील होने से प्रबल हैं। अत, दोनों ओर से ललकारें होती हैं। 'नहिं मानहिं हारी।'—शूरता की उमग मे दोनों पक्ष अपनी-अपनी जय चाहते हैं, यथा—"अन्योन्य बद्धवैराणा घोराणा जयमिच्छताम्। सम्प्रवृत्त निशा युद्ध तदा वानर रक्षसाम्॥ अन्योन्य समरे जघ्नुस्तदस्मिंस्तमसि दारुणे॥" (वाल्मी० ६।४४।२-३) तथा क० ल० ३४-३५ भी देखिये।

महाबीर निसिचर सब कारे। नाना बरन बलीमुख भारे॥७॥
सबल जुगल दल समबल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा॥८॥
प्राविट - सरद - पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे॥९॥

शब्दार्थ—बलीमुख (स० बलिमुख)= वानर, यथा—"चली बलीमुखसेन पराई।" (दो० ४१)। प्राविट (प्रावृट्)= वर्षा-ऋतु। प्रेरे = चलाये हुए।

अर्थ—सब निशाचर महावीर और काले हैं। वानर भारी भारी और नाना रग के हैं॥७॥ दोनों दल बलवान् हैं, योद्धा बराबर बलवाले हैं, (अत) क्रोध करके लड़ते और कौतुक करते हैं॥८॥ वानर और निशाचर परस्पर लडते हुए ऐसे मालूम होते हैं मानों वर्षा और शरद् ऋतु के मेघ वायु से प्रेरित होकर लड़ते हैं॥९॥

विशेष—(१) नाना बरन बली मुख भारे।'—'नाना बरन'—देखिये कि० दो० २१। 'बलीमुख'—वानरों का भारी आकार प्रकट करते हुए यह भारी शब्द कहा गया।

(२) 'सबल जुगल दल'—ये समष्टि में बलिष्ट कहे गये। पर इसमें यह सदेह रह ही गया कि प्रत्येक योद्धा बली है कि नहीं। इसपर 'सम बल' भी कहा गया—यह व्यष्टि-बल-कथन है।

(३) 'प्राविट सरद '—जैसे वर्षा के मेघ काले होते हैं, वैसे सब निशाचर काले हैं। जैसे शरद के मेघ अनेक रग के होते हैं, वैसे वानर अनेक रग के हैं। जिस प्रकार मेघ बहुत होते हैं, उसी प्रकार दोनों दल के सैनिक भी बहुत हैं, इसीसे 'घनेरे' कहा गया है। जैसे मेघ पवन के झकोरे से आपस मे लड़ते हैं, वैसे ही ये लोग भी वीर-रस की उमगों से लड़ रहे हैं। दोनों ऋतुओं के समागम का रूपक देकर निशाचरों का अत और वानरों का अभ्युदय सूचित किया गया है।

अनिप अकंपन अरु अतिकाया। बिचलत सेन कीन्ह इन्ह माया ॥१०॥
भयउ निमिष महँ अति अँधियारा। वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा ॥११॥

दोहा—देखि निबिड़ तम दसहु दिसि, कपि-दल भयउ खँभार।
एकहि एक न देखई, जहँ तहँ करहिं पुकार ॥४५॥

अर्थ—अनिप, अकंपन और अतिकाय ने अपनी सेना को विचलते (हारते) हुए देखकर माया की ॥९॥ पल-भर में अत्यन्त अँधेरा हो गया, खून, पत्थर और राख की वृष्टि होने लगी ॥१०॥ दसो दिशाओं मे घोर सघन अंधकार देखकर कपिदल मे खलबली पड़ गई। एक को एक (दूसरे) नहीं देख पाता, सब जहाँ-तहाँ पुकार करते हैं ॥४५॥

विशेष—(१) 'अति अँधियारा'—प्रदोप-काल होने से अँधेरा होता ही जा रहा था, माया के प्रभाव से 'अति अँधियारा' हो गया। राक्षसों ने माया से अत्यन्त अँधेरा किया कि वानरों को आँखों से नहीं सूझे। अंग मे लगकर ग्लानि होने के लिये उन्होंने रुधिर की वर्षा की। चोट लगने के लिये पत्थर और नेत्र बंद हो जाने के लिये राख की वर्षा की।

(२) 'देखि निबिड तम···'—जब उपर्युक्त 'अति अँधियारा' और फिर राख आदि का संयोग हुआ, तब 'निबिड़ तम' हो गया। केवल शब्द-मात्र सुनाई पड़ता था, कुछ दिखलाई नहीं देता था, इसीसे अपने दलवालों ही से परस्पर लड़ जाते थे; यथा—"संवृतानि च भूतानि ददृशुर्नरणाजिरे।···शब्दश्च सुमहांस्तेषां नर्दतामभिधावताम्॥ श्रूयते तुमुले युद्धे न रूपाणि चकाशिरे। हरीनेव सु संरुष्टा हरयो जघ्नू राहवे॥· राक्षसा राक्षसांश्चापि निजघ्नुस्तिमिरे तदा।" (वाल्मी० ६।५५।११-११)—यह घटना अकंपन के युद्ध मे कही गई है।

सकल मरम रघुनायक जाना। लिये बोलि अंगद-हनुमाना ॥१॥
समाचार सब कहि समुझाये। सुनत कोपि कपि-कुंजर धाये ॥२॥
पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा। पावक-सायक सपदि चलावा ॥३॥
भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं ॥४॥

अर्थ—सब मर्म श्रीरघुनाथजी ने जान लिया, श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी को उन्होंने बुला लिया ॥१॥ और सब समाचार कहकर समझाया सुनकर दोनों कपिश्रेष्ठ कोप करके दौड़े ॥२॥ फिर कृपालु श्रीरामजी ने हँसकर धनुष चढ़ाया और शीघ्र ही अग्निबाण चलाया ॥३॥ जिससे उजाला हो गया, कहीं अँधेरा न रह गया, जैसे ज्ञान के उदय पर संदेह जाते रहते हैं ॥

विशेष—(१) 'सकल मरम···'—श्रीविभीषणजी से उनकी माया का भेद जानकर श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी को समझाया। इन्हीं दोनों को बुलाया, क्योंकि इनके पुरुषार्थ अभी-अभी देख चुके हैं। सम्भवतः यह पुकार दक्षिण-पश्चिम द्वार की थी, जिधर के युद्ध मे ये दोनों नेता थे। क्योंकि इनके चले आने पर ही उधर हल्ला भी हुआ है। अकंपन का युद्ध श्रीहनुमान्जी के साथ पश्चिम

द्वार पर ही श्रीवाल्मीकीय रामायण में है भी। 'समाचार'—यही जो आगे करना है कि हम अग्निवाण से उजाला कर देते हैं, तुम दोनों जाकर वानरों की सहायता करो।

(२) 'पुनि कृपाल हँसि···'—राक्षसों की माया को तुच्छ दिखलाते हुए उनके निरादर के लिये हँसे। 'पावक सायक'—अग्नि देवता से अभिमंत्रित किया हुआ बाण। वानरों के दुःख निवारण के सम्बन्ध से 'कृपाल' कहा गया है।

(३) 'भयउ प्रकास···'—माया-कृत अंधकार को तो नाश किया ही प्रत्युत् रात के भी अंधकार को हटाकर प्रकाश कर दिया। साथ ही अंधकार के कारण जो राक्षसों का बल बढ़ा था, उसे भी नष्ट कर दिया। 'ज्ञान उदय जिमि···'यथा—"होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।" (अ० दो० ९२)।

भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरषि बिगत श्रम त्रासा ॥५॥
हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥६॥
भागत भट पटकहिं धरि धरनी। करहिं भालु-कपि अदभुत करनी ॥७॥
गहि पद डारहिं सागर माहीं। मकर उरग झष धरि धरि खाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—हाँक = ललकार, गर्जन, उत्साह दिखाने का शब्द।

अर्थ—रीछ और वानर प्रकाश पाकर श्रमरहित और भय-रहित होकर हर्ष-पूर्वक दौड़े ॥५॥ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी रण में गरजे, उनकी हाँक सुनते ही राक्षस भागे ॥६॥ भागते हुए योद्धाओं को पकड़ कर वे पृथिवी पर धर पटकते हैं। रीछ और वानर अद्भुत करनी कर रहे हैं ॥७॥ उन्हें पाँव पकड़कर समुद्र में डाल देते हैं, वहाँ मगर, सर्प और मीन पकड़-पकड़कर खाते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'भालु बलीमुख पाइ···'—प्रकाश पाते ही, रीछ-वानर जो जहाँ-तहाँ खड़े थे, दौड़ पड़े। दुखी थे, हर्षित हो गये। डर गये थे, वह डर चला गया और उत्साह से कुछ भी श्रम नहीं रह गया।

(२) 'हनूमान अंगद रन गाजे।···'—पहले लोग दौड़े, तब प्रभु ने बाण चलाया जब उसने पहले पहुँचकर उजाला कर दिया, तब ये दोनों वहाँ पहुँच पाये और गरजे; इस तरह यहाँ बाण का अत्यन्त वेग दिखाया गया है। 'हाँक सुनत···'—क्योंकि इनके पुरुषार्थ को सब लोग कई बार देख चुके हैं।

(३) 'करहिं भालु-कपि अद्भुत करनी'; यथा—"स संप्रहारस्तुमुलो मांसशोणितकर्दमः। रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥" (वाल्मी० ६।४२।४७) अर्थात् वानरों और राक्षसों का अद्भुत और भयानक युद्ध होने लगा, मांस और रुधिर का कीचड़ हो गया। पुन. जो वानर राक्षसों के आहार थे, वे ही आज उन्हें पाँव पकड़-पकड़कर समुद्र में फेंक रहे हैं, यही उनकी अद्भुत करनी है।

(४) 'मकर उरग झष धरि-धरि खाहीं।'—जलचरों ने समुद्र पार होने के समय पुल का काम दिया था। अत, उसी उपकार के बदले में वानर लोग उन्हें आहार दे रहे हैं कि धर-धरकर खायें, यह वानरों की कृतज्ञता है।

दोहा—कछु मारे कछु घायल, कछु गढ़ चढ़े पराइ।
गर्जहिं भालु बलीमुख, रिपु-दल-बल बिचलाइ ॥४६॥

निसा जानि कपि चारिउ अनी। आये जहाँ कोसला-धनी ॥१॥
राम कृपा करि चितवा सबही। भये बिगतश्रम बानर तबही ॥२॥

अर्थ—कुछ मार डाले गये, कुछ घायल हुए और कुछ भागकर गढ़ पर चढ़ गये। शत्रु-सेना का तितर-बितर करके रीछ और वानर गरज रहे हैं ॥४६॥ वानरों की चारों सेनाएँ रात जानकर वहाँ आईं, जहाँ कोशल-पति श्रीरामजी थे ॥१॥ श्रीरामजी ने कृपा करके सबको ज्योंही देखा त्योंही वानर लोग थकावट-रहित हो गये ॥२॥

विशेष—(१) 'कछु मारे ···'—तीन प्रकार से शत्रुओं को हराया—मार डाला, घायल किया और कुछ को भगा दिया, इससे वानरों की जीत हुई। पूर्वोक्त—'जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे।' का यहाँ चरितार्थ हुआ।

(२) 'गर्जहिं भालु···'—यह विजय की ललकार है कि और कोई हो तो आवे, हम खड़े हैं। किस तरह गरजते हैं, यह आज के युद्ध के उपक्रम में ही कह दिया गया है ; यथा—"गर्जहिं तर्जहिं भालु कपीसा। जय रघुबीर कोसलाधीसा॥" बस, यही—'जय रघुबीर कोसलाधीसा' कहकर गरजते हैं। कपि-दल का आदि-अंत दोनों में गरजना कहा गया है।

(३) 'निसा जानि···'—अभी तक लड़ते ही थे, जब कोई शत्रु नहीं रह गया, तब रात होने के लक्षणों पर ध्यान दिया। अतः, रात का होना जानकर लौटे। बाण के प्रकाश से दिन की तरह उजाला हो गया था, इससे उन्होंने सहसा रात का होना नहीं जाना था ; यथा—"आँगन में निब तापै आदित दिखायो वाहि भोजन करायो पाछे निसि चिह्न पायो है॥" (भक्तमाल-भक्ति-रस-बोधिनी टीका)।

(४) 'भये बिगतश्रम बानर तबहीं।'—पहले माया-रहित होने पर कहा गया था, यथा—"धाये हरषि बिगतश्रम त्रासा।" फिर 'अद्भुत करनी' में भी श्रम हुआ, वह भी यहाँ निवृत्त हो गया, यथा—"राम कृपा करि जुगल निहारे। भये बिगतश्रम परम सुखारे॥" (दो॰ ४४)।

आज के युद्ध का उपक्रम; यथा—"चारि अनी कपि कटक बनावा।" (दो॰ ३९) और यहाँ 'निसा जानि कपि चारिउ अनी। आये···' यह उपसंहार है—कुल नौ दोहों में आज का युद्ध कहा गया।

द्वितीय दिन के युद्ध का प्रारम्भ

उहाँ दसानन सचिव हँकारे। सब सन कहेसि सुभट जे मारे ॥३॥
आधा कटक कपिन्ह संहारा। कहहु बेगि का करिय बिचारा ॥४॥
माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्रीबर ॥५॥
बोला बचन नीति अति पावन। सुनहु तात कछु मोर सिखावन ॥६॥

अर्थ—वहाँ दशानन रावण ने मंत्रियों को बुलाया और जो सुभट मारे गये (उनके नामों को) सभी से बतलाया ॥३॥ (और कहा) वानरों ने (जो लड़ने गये हुए थे उनमें) आधी सेना का नाश कर दिया, शीघ्र कहो, क्या विचार करते हो ? ॥४॥ माल्यवान् जो अत्यन्त बूढ़ा राक्षस था और रावण की माता का पिता (उसका नाना) तथा श्रेष्ठ मंत्री था ॥५॥ वह अत्यन्त पवित्र नीति के वचन बोला कि हे तात ! कुछ मेरी शिक्षा सुनिये ॥६॥

विशेष—(१) 'सन सन कहेसि' '—युद्ध के लिये रावण बड़ा सावधान था, इसीसे स्वयं देख-भाल करता था। युद्ध बन्द हुए अभी थोड़ी ही देर हुई और इसने सभी बातों का पता लगा लिया। कुछ सुभटों के शिर श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी ने फेंके थे, उन्हें भी जान गया और पीछे बड़े-बड़े मुखियों का भी पता लगा लिया।

(२) 'आधा कटक कपिन्ह' '—अभी २७ दिन और युद्ध होना है, इससे आधे का अर्थ यही है कि जितनी सेना आज मोरचे पर गई थी, उसमें से आधी ही बच रही, इस तरह—"कछु मारे कछु घायल, कछु गढ़ चढ़े पराइ।" (दो० ४६), इनमें से आधे तो मरे हैं और आधे में घायल और भागकर आये हुए हैं। 'कहहु बेगि'—क्योंकि रात-भर में ही इसका उपाय करना है, इससे इसकी घबड़ाहट भी स्पष्ट जानी गई।

(३) 'माल्यवंत अति जरठ' '—यहाँ माल्यवान् के लिये चार विशेषणों के प्रयोग किये गये हैं—(क) अति जरठ, (ख) निशाचर, (ग) रावण मातु-पिता और (घ) मंत्रीवर, इनसे उसकी नीति-योग्यता दिखलाई गई है—

(क) अति जरठ=उपदेश बूढ़े ही देते हैं; यथा—"मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा।" (अ० दो० १); क्योंकि ये देश-काल की बहुत व्यवस्था देखे-सुने हुए होते हैं। इसीसे इधर भी—'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा' है।

(ख) निशाचर—इससे सजातीय अतएव अपने पक्ष का जनाया।

(ग) वह रावण का नाना है। अतः रावण का हित ही कहेगा और निडर होकर भी कह सकेगा, डर के मारे ठकुरसुहाती नहीं कहेगा।

(घ) मंत्रीवर, इससे श्रेष्ठ मंत्री के गुण इसमें सूचित किये गये, यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरम रुचि सुक्र समाना॥" (बा० दो० १५१); तथा—"माल्यवंत अति सचिव सयाना।" (सुं० दो० ३६), शुक्र की तरह यह भी एक बार अपमानित होने पर हितोपदेश करने के लिये फिर आया है। श्रीविभीषणजी के मत का समर्थन करने पर रावण ने इसका अपमान किया था, यथा—"दूरि न करहु इहाँ है कोऊ।" (सुं० दो० ३९)।

(४) 'बोला बचन नीति'''—रावण से तीन प्रकार की नीति कही गई—(क) अपावन, (ख) पावन और (ग) अति पावन—

(क) अपावन वह है जो नीति-शास्त्र के विरुद्ध ठकुरसुहाती कही जाय, यथा—"कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर कपि-भालु अहार हमारा॥'''कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती।" (दो० ७८)।

(ख) पावन वह है जो नीति-शास्त्र के अनुकूल हो, यथा—"प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता

देइ करहु पुनि प्रीती ॥ नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढ़ाइय रारि। नाहित सन्मुख समर...'' (दो० ८-६)—प्रहस्त ने यह नीति कही है।

(ग) अति पावन नीति वह है जिसमें परमार्थ सहित स्वार्थ-साधन की व्यवस्था हो; यथा—''सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥ जगत पिता रघुपतिहि विचारी। भरि लोचन छवि लेहु निहारी ॥'' (बा० दो० १४५)। ऐसी ही अति पावन नीति यहाँ पर माल्यवान् भी कहेगा।

'सुनहु तात...'—माल्यवान् ने स्नेहपूर्वक वात्सल्य से 'तात' कहा कि जिससे वह इसको सुने। 'कछु मोर सिखावन'—भाव यह कि औरों से बहुत कुछ सुनकर ही इस परिणाम को पहुँचे हो, यदि मेरा भी कुछ सुनो अर्थात् धारण करो तो सभी बातें सुधर जायँ।

जब ते तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी ॥७॥
बेद-पुरान जासु जस गायो। रामबिमुख काहु न सुख पायो ॥८॥

अर्थ—जब से तुम श्रीसीताजी को हरकर लाये हो, तब से (ऐसे, एवं इतने) अपशकुन हो रहे हैं कि वर्णन नहीं किये जा सकते ॥७॥ वेद-पुराणों ने जिनका यश गाया है, उन श्रीरामजी के प्रतिकूल होने से किसी ने सुख नहीं पाया है ॥८॥

विशेष—(१) 'जब ते तुम्ह सीता...'—भाव यह है कि श्रीसीताजी के हरण के पूर्व कभी ऐसे-ऐसे अपशकुन नहीं हुए थे और न श्रीसीताजी के आने के बहुत दिन पीछे ही, किंतु उसी समय से ये अपशकुन होने लगे हैं। इससे स्पष्ट है कि कारण श्रीसीताजी ही हैं, उन्हीं के यहाँ आने से ये सब हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीसीताजी लौटा दी जायँ, तो ये अपशकुन भी नहीं होंगे।

'असगुन होहिं ..'—इन अपशकुनों का वर्णन वाल्मी० ६।१०।१४-२१ में तथा ६।३५।२५-३४ में विस्तार से किया गया है। जैसे होम की खीर में चींटियाँ चढ़ती हैं। गायों के दूध सूख गये। हाथी मदविहीन हो गये।...गधे भयंकर शब्द से रेंकते हैं। मेघ रुधिर बरसाते और घोर शब्द से गरजते हैं। दिशाएँ और विदिशाएँ धूल से छाई हैं। महाकालीगण हँसती हुई चलती हैं, गाय से गधे और न्योले से चूहे पैदा होते हैं। इत्यादि। 'न जाहिं बखानी'—ये अगणित होते हैं; और मृत्युसूचक एवं भयानक हैं, इससे कहे नहीं जा सकते।

(२) 'रामबिमुख काहु न सुख पायो'; यथा—''रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥'' (सुं० दो० २१)। तथा—दो० १०२ चौ० १०-१२ भी देखिये।

दोहा—हिरन्याच्छ भ्राता-सहित, मधु कैटभ बलवान।
जेहि मारे सोइ अवतरेउ, कृपासिंधु भगवान ॥
कालरूप खल-बन-दहन, गुनागार घनबोध।
सिव बिरंचि जेहि सेवहिं, तासों कवन बिरोध ॥४७॥

अर्थ—बलवान् मधुकैटभ और भाई हिरण्यकशिपु सहित हिरण्याक्ष को जिन्होंने मारा, उन्हीं दयासागर भगवान् ने अवतार लिया है ॥ जो कालरूप, दुष्ट रूपीवन के भस्म करनेवाले, गुणधाम, पूर्ण (सम्यक्) ज्ञानवाले हैं और जिनकी सेवा श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी करते हैं, उनसे क्या वैर (करना)? ॥४७॥

विशेष—(१) 'पहले वेद-पुराणों का यश गाना कहा गया था, उसे ही कहते हैं कि मधुकैटभ आदि को जिन्होंने मारा है, वे ही भगवान् कृपासिंधु श्रीरामजी हैं। *वेदादि ब्रह्म का यश गाते हैं; यथा*—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२); वही यहाँ कहते हैं कि वे 'भगवान्' अर्थात् षडैश्वर्ययुक्त हैं; *यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥"* (विष्णुपुराण); अर्थात् ऐश्वर्य-वीर्य से उत्पत्ति, शक्ति-तेज से पालन और ज्ञान-बल से संहार करनेवाले हैं। वे ही 'कृपासिंधु' भक्तों के लिये अवतार लेते हैं; यथा—"कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।" (बा० दो० १२१); "भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२)। 'कृपासिंधु' का यह भी भाव है कि और नृसिंह आदि अवतारों में प्रभु ने शत्रु पर दया नहीं की। परन्तु श्रीरामजी तो तुमपर भी कृपा करने के लिये आये हैं; यथा—"कारुनीक दिनकर कुल केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू ॥" (दो० २५)।

(२) 'कालरूप खल-बन-दहन...'—'कालरूप', यथा—"कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फल-दाता ॥" (उ० दो० ४०); तथा—"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।" (*गीता* ११।३२); 'खल बन दहन'—जैसे वन में अग्नि स्वतः पैदा होकर वन को जला देती है, वैसे दुष्ट भी अपने कर्म से ही नाश होते हैं, पर उस कर्म के नियामक प्रभु हैं, इससे वे 'खल-बन-दहन' हैं।

'गुनागार'—प्रणतपाल, पतित पावन, सौशील्य, क्षमा आदि गुणों के एक-मात्र स्थान हैं। भाव यह है कि यदि तुम भी उनकी शरण हो जाओ तो वे स्वीकार करके तुम्हें पालेंगे, तुम्हारे अपराध को क्षमा कर देंगे। 'घनबोध', यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर।" (उ० दो० ७७)।

तात्पर्य यह है कि वैरी के लिये वे काल-रूप हैं, खल-समूह के नाश करने में उन्हें कुछ भी श्रम नहीं होता। शरणागत-रक्षक हैं। अतः, उसके वैर को वे चित्त में नहीं रखते, क्योंकि 'घनबोध' हैं।

(३) 'सिव बिरंचि जेहि...'—तुम्हारे इष्ट भी जिनकी सेवा करते हैं, उनकी सेवा में तो तुम्हारी बड़ाई ही होगी। फिर शिव-ब्रह्मा भी जिनके सेवक हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं?

परिहरि बैर देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही ॥१॥
ताके बचन बान-सम लागे। करिया मुँह करि जाहि अभागे ॥२॥
बूढ़ भयसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही ॥३॥

अर्थ—वैर छोड़कर वैदेही श्रीसीताजी को (श्रीरामजी को) दे दो और परम स्नेही कृपासागर श्रीरामजी का भजन करो ॥१॥ उनके वचन बाण के समान लगे, (वह बोला) अरे अभागे! काला मुँह करके निकल जा ॥२॥ तू बुड्ढा हुआ नहीं तो तुझे मारता, अब मेरी आँखों के सामने अपनेको न दिखाना (सामने न आना) ॥३॥

विशेष—(१) 'देहु बैदेही'—विदेहजी की तरह श्रीसीताजी को उन्हें समर्पण करो।

'भजहु कृपानिधि···'—कृपानिधि हैं; अतः, मिलते ही तुमपर कृपा करेंगे और तुम्हारे अपराध भूल जायँगे, यथा—"मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहीं। उर अपराध न एकउ धरिहीं॥" (सुं० दो० ५६), परम स्नेही हैं; यथा—"रामसनेही सों तैं न सनेह कियो।···दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है।" (वि० १३५); इनका तो जीव-मात्र पर सहज स्नेह है; यथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा० दो० २११)।

(२) 'ताके वचन बान सम लागे।···'—इसी तरह के अंतिम वचन मंदोदरी के भी हैं, वहाँ भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"कृपासिंधु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु॥ नारि-बचन सुनि बिसिष समाना।" (दो० ३६); परन्तु वहाँ सवेरा होने पर उठकर चुपचाप चला गया और यहाँ इसे बहुत कड़ा दंड दिया। अपमान करके त्याग करना सज्जनों की दृष्टि में वध के तुल्य है। इसका कारण यह है कि मंदोदरी ने एकान्त में कहा है और इसने सभा के बीच में कहा है। ऐसा कड़ा दंड न देने से संभव था कि और भी मंत्री इसका पक्ष लेते। इसीसे श्रीविभीषणजी को भी ऐसा ही कड़ा दंड दिया है। पुन. एक बार इसे रावण ने मना कर दिया था कि रिपु-उत्कर्ष और फिर उसके समक्ष अपना अपकर्ष मैं नहीं सुनना चाहता। पर इसने फिर वही कहा, इससे रावण ने इसको ऐसा दंड दिया।

(३) 'बूढ़ भयेसि···'—बुड्ढों को रावण तुच्छ मानता था; यथा—"जाना जरठ जटायू एहा।" (आ० दो० २८); "जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।···" (दो० २२), तुच्छ जानकर ही इसने युद्ध में जाम्बवान् पर बाण नहीं चलाया था। 'अब जनि ···'—फिर यदि दिखलाई पड़ा, तो नहीं छोड़ूँगा।

'बोला बचन नीति अति पावन।' उपक्रम है और यहाँ—'ताके बचन बान सम लागे।' उपसंहार है।

तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत येहि कृपानिधाना॥४॥
सो उठि गयउ कहत दुर्बादा। तब सकोप बोलेउ घननादा॥५॥
कौतुक प्रात देखियहु मोरा। करिहउँ बहुत कहउँ का थोरा॥६॥
सुनि सुत बचन भरोसा आवा। प्रीति-समेत अंक बैठावा॥७॥
करत बिचार भयउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥८॥

अर्थ—उसने अपने मन में ऐसा अनुमान किया कि इसे कृपानिधान श्रीरामजी अब मारना ही चाहते हैं॥४॥ वह दुर्वचन कहता हुआ, या कहते ही उठ गया, तब मेघनाद क्रोध-पूर्वक बोला॥५॥ प्रातःकाल ही मेरा कौतुक देखना, बहुत कुछ करूँगा, थोड़ा क्या कहूँ? (भाव यह कि करके ही दिखा दूँगा, कहने में उसका अल्पांश ही कहा जा सकेगा)॥६॥ पुत्र के वचन सुनकर उसे भरोसा हुआ, पुत्र को प्रीति सहित गोद में बैठाया॥७॥ विचार करते-करते सवेरा हो गया, वानर फिर चारों द्वारों पर जा लगे॥८॥

विशेष—(१) 'कृपा-निधाना'—कृपा करके इसे वधकर शीघ्र मुक्ति देना चाहते हैं, क्योंकि श्रीविभीषणजी को भी कृपा करके राज्य दे चुके हैं।

(२) 'कहत दुर्बादा'—यह मन्त्रीवर और नाना भी था, अत, कठोर वचन कहते हुए चल दिया, यथा—"चला भवन कहि वचन कठोरा ॥ हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥" (दो० ३),—यह प्रहस्त का वचन है। ऐसे ही मदोदरी ने भी कहा है, यथा -"काल दड गहि ' निकट काल जेहि ' दुइ सुत मारेउ ' " (दो० ३५-३६), कोई यों भी अर्थ करते हैं कि दुर्वाद कहते ही वह उठकर चला गया, क्योंकि प्रतापी रावण के सामने फिर उसे दुर्वाद कहने की हिम्मत कैसे हो सकती है ? दोनों ही पक्ष सगत हैं। 'घननादा'—मेघ के समान गभीर वाणी से गरजकर कहा।

(३) 'सुनि सुत-बचन '—माल्यवान् के बाण-समान वचनों से जो हृदय मे घाव हो गया, उसे इसने मानों पूरा किया—भर दिया। क्योंकि निराशा आ गई थी, इसने भरोसा दिया। गोद में बैठाकर उसे शाबाशी दी और अपना प्यार भी दिखाया।

(४) 'करत बिचार भयउ '— रात-भर विचार होता ही रहा। 'उहाँ दसानन कहहु बेगि का करिय बिचारा।' उपक्रम है और यहाँ—'करत बिचार ' यह उसका उपसहार हुआ।

'लागे कपि पुनि ' जैसे पहले चारों तरफ लगे हुए थे, वैसे 'पुनि' लगे, यथा—"घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी।" (दो० ३०)।

कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा। नगर कोलाहल भयउ घनेरा ॥९॥
बिबिधायुध-धर निसिचर धाये। गढ ते पर्वत-सिखर ढहाये ॥१०॥

छद—ढाहे महीधर सिखर कोटिन्ह बिबिध बिधि गोला चले।
घहरात जिमि पबि पात गर्जत जनु प्रलय के बादले।
मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।
गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहिं जहँ सो तहँ निसिचर हये ॥

अर्थ—वानरों ने कोप करके दुर्धर्ष (दुर्गम) किले को जा घेरा। नगर में भी भारी कोलाहल हुआ ॥९॥ अनेकों प्रकार के हथियार धारण किये हुए राक्षस दौड़े और किले पर से पहाड़ों के शिखर गिराये ॥१०॥ अगणित पर्वत शिखर गिराये और अनेकों प्रकार के गोले चले। उनमे वज्रपात का-सा शब्द होता है। ऐसे गरज रहे हैं, मानों प्रलयकाल के मेघ हों ॥ भयकर वानर योद्धा भिडते हैं, उनके शरीर कट-कटकर छिन्न भिन्न होते हैं, शरीर जर्जर (झाँझर-चलनी सरीखे) होने पर भी वे लटपटाते नहीं (हटते नहीं)। पर्वत हाथों से पकडकर किले पर फेंकते हैं, उससे जो निशाचर जहाँ है, वहीं मरकर रह जाते हैं ॥

विशेष—'दुर्घट गढ़', यथा—"कहु कपि रावन पालित लका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बका ॥" (सु० दो० ३३), "इय सा लक्ष्यते लका पुरी रावणपालिता। सा सुरोरगगन्धर्वैः सर्वैरपि सुदुर्नया ॥" (वाल्मी० ६।३०।३) 'घहरात जिमि पबि '—तोपों से तरह-तरह के गोले छूटते हैं, उनका शब्द वज्रपात और प्रलय के मेघगर्जन के समान होता है, मानों अब प्रलय होना ही चाहता है। त्रेता-युग में भारी-

भारी तोपें थीं; यथा—"परिखाश्च शतघ्न्यश्च यन्त्राणि विविधानि च। शोभयन्ति पुरीं लङ्कां रावणस्य दुरात्मनः ॥" (वाल्मी० ३।३१); अर्थात् दुरात्मा रावण की उस लंका नगरी में परिखाएँ, शतघ्नियाँ (तोपें) और अनेक प्रकार के यंत्र शोभित हैं। 'न कटत तनु जर्जर भये'—इसमें 'न' और 'तनु' दीपदेहली हैं। भाव यह कि तनु घावों से विंध जाने पर भी कटता नहीं है। 'जहँ सो तहँ…' अर्थात् निशाना चूकता नहीं।

यहाँ तक सेना-सेना का युद्ध कहा गया। उपक्रम—'लागे कपि पुनि…' और उपसंहार—'गढ़ पुनि छेंका आइ' यह आगे कहा है। जब सेना कुछ विशेष पुरुषार्थ न कर सकी तब आगे मेघनाद का बल दिखाते हैं।

मेघनाद-युद्ध [१]

दोहा—मेघनाद सुनि श्रवन अस, गढ़ पुनि छेंका आइ।
उतर्‍यो बीर दुर्ग ते, सन्मुख चल्यौ बजाइ ॥४८॥

कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक विख्याता ॥१॥
कहँ नल नील दुविद सुग्रीवा। अंगद हनूमंत बलसींवा ॥२॥
कहाँ बिभीषन भ्राता-द्रोही। आजु सबहि हठि मारउँ ओही ॥३॥

शब्दार्थ—छेंकना = घेरना बजाइ—यह मुहावरा है = डंका बजाकर, खुल्लमखुल्ला।

अर्थ—मेघनाद ने कानों से ऐसा सुना कि (वानरों ने) गढ़ को फिर आकर घेर लिया है तब यह वीर किले पर से उतरकर डंके की चोट सहित सामने चला ॥४८॥ (और बोला) कोशलाधीश दोनों भाई जो सब लोकों में वीर और धनुर्धर प्रसिद्ध हैं, वे कहाँ हैं? ॥१॥ नल, नील, द्विविद, सुग्रीव और बल की सीमा अंगद और हनुमान् कहाँ हैं? ॥२॥ भाई का वैरी विभीषण कहाँ है? आज सबको और उसको तो हठ (प्रतिज्ञा) पूर्वक मारूँगा ॥३॥

विशेष—(१) 'उतर्‍यो बीर दुर्ग ते…'—यह वीर है, पिता से प्रतिज्ञा भी कर चुका है। अतः, उसकी पूर्ति के लिये उतरा। सेना पीछे आवेगी, इसने साथ नहीं ली; क्योंकि इसे वीरता का मद है, इससे सहायक नहीं चाहता। सामने के कपि-दल को हटाता हुआ चला और ललकारकर कहने लगा।

(२) 'कहँ कोसलाधीस…'—यहाँ इसने नौ व्यक्तियों को नाम लेकर ललकारा है। कारण यह है कि पहले दिन के युद्ध में नाम सुनकर आठ को इसने मुख्य माना है; यथा—"जयति राम जय लछिमन, जय कपीस सुग्रीव।" (दो० ३८); अर्थात् श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसुग्रीवजी की तो सब जय बोलते थे और "कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील द्विविद बलवंता ॥" (दो० ४१); इन पाँच को सहायता के लिये पुकारते थे। इस पुकार को पश्चिम द्वार पर श्रीहनुमान्जी ने सुना, तब इसने भी सुना था, क्योंकि साथ ही युद्ध करता था। श्रीविभीषणजी को तो 'भ्राता-द्रोही' कहकर ललकारने का कारण स्पष्ट कहता ही है।

'कोसलाधीस' का भाव यह कि श्रीअयोध्या के सभी राजा पराक्रमी होते आये हैं, ये भी वैसे

ही होंगे। 'दोउ भ्राता'— दोनों भाई प्रसिद्ध धनुर्धर हैं; *यथा*—"देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना ॥ अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता।" (आ॰ दो॰ २१) ; यह शूर्पणखा ने रावण की सभा में कहा है। इसने भी सुना ही है। पुनः विराध, कबंध, वालि एवं खर-दूषणादि के वध से सकल लोक की प्रसिद्धि भी स्पष्ट है। ऐसा कहकर ललकारने का भाव यह कि मैं अभी तक इन्द्रजित् ही प्रसिद्ध था, अब तुम सबको मारकर 'सकल लोक' - विजयी प्रसिद्ध हूँगा।

शंका— दोनों भाई तो कोशलाधीश नहीं हैं, फिर क्यों कहा गया ?

समाधान—पाठक्रम से अर्थ-क्रम बली होता है, यहाँ कोशलाधीश श्रीरामजी को कहा है, वे अकेले नहीं, किन्तु दोनों भाई साथ हैं और धन्वी भी दोनों ही तुल्य हैं। इसलिये 'दोउ भ्राता' कहा है। ऐसा ही और जगह भी कहा है; *यथा*—"हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई।" (दो॰ ७७)। अर्थ में सँभाल करना। पहले और जगह भी दिखाया गया है; *यथा*—"हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई॥" (बा॰ दो॰ २३६); *स्यामल गौर किसोर सुहावे॥ देखि रूप लोचन ललचाने।"* (बा॰ दो॰ २११)।

(३) 'कहँ नल नील'···—श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी को पीछे कहा, क्योंकि इनके बल की परीक्षा यह कर चुका है और नल आदि को अभी सुना ही है, इससे प्रथम कहा। 'बल सींवा'—श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी को कहा है, क्योंकि इन्हें उसने बल की सीमा स्वीकार किया है। शेष को लड़कर जानेगा। प्रशंसा करके ललकारने का भाव यह कि आज मैं सबके पराक्रम को भुला दूँगा। पुनः 'बल सींवा' शब्द अंत में होने से सबका विशेषण हो सकता है, क्योंकि इसने भी शुक से सुना ही है; *यथा*—"द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि। दधिमुख केहरि निसठ सठ, जामवंत बल रासि। ये कपि सब सुग्रीव समाना।" (सुं॰ दो॰ ५१)।

(४) 'कहाँ बिभीषन'··· 'भ्राता-द्रोही' कहकर मानसकार ने वाल्मी॰ ६।८७।११-१८ के भाव जना दिये। वहाँ मेघनाद ने बहुत बातें कही हैं - 'तुममें जातित्व नहीं है, न सौहार्द्र···सत्पुरुषों में तेरी निंदा होगी। अपने वर्ग के (भाइयों) को छोड़कर शत्रु वर्ग में जाकर टहलुआ बना है,···अरे शत्रु गुणवान् भी हो और स्वजन निर्गुण भी हो, तो भी स्वजन ही अच्छा है। स्वजनों के नष्ट होने पर वह शत्रु के द्वारा मारा जाता है। अरे तू हमारा पितृव्य होकर भी हमारे साथ निर्दयता करता है, इत्यादि। इसपर वहाँ श्रीविभीषणजी ने फिर उत्तर देकर खंडन किया है। 'हठि मारउँ ओही'- कोई भी सहायता करे पर उसे नहीं छोड़ूँगा।

अस कहि कठिन बान संधाने। अतिसय क्रोध श्रवन लगि ताने ॥४॥
सर-समूह सो छाँड़ै लागा। जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा ॥५॥
जहँ तहँ परत देखियहिं बानर। सन्मुख होइ न सके तेहि अवसर ॥६॥

अर्थ—ऐसा कहकर इसने कठिन बाणों का संधान किया और अत्यन्त क्रोध से धनुष को कान तक खींचा ॥४॥ वह बाण समूह छोड़ने लगा जो चलते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों बहुत-से पंख-युक्त सर्प दौड़ते हों ॥५॥ वानर जहाँ-तहाँ गिरते दिखाई पड़ते हैं, उस समय कोई उसके सम्मुख न हो सके ॥६॥

विशेष—(१) 'श्रवन लगि ताने'—जिससे भारी आघात हो। 'जनु सपच्छ धावहिं बहु

नागा।'—सर्प यों ही तीव्र गति होते हैं, फिर पक्ष सहित हों, तो क्या कहना? बाण पंख समेत हैं और सर्पों के तनु की तरह चमकीले भी हैं। लगते ही शीघ्र मूर्च्छित कर देते हैं, इससे सर्प की उपमा दी गई है। पक्ष-युक्त सर्प उड़कर मलयागिरि के चन्दन वृक्ष मे जा लपटते हैं। वैसे ही ये बाण भी वेग से जाकर लगते हैं, यथा—"संधानि धनु सर निकर छाँडेसि उरग जिमि उडि लागहीं।" (दो॰ ८१)।

(२) 'सन्मुख होइ न सके...'—उस समय लडने का अवसर ही नहीं पाते।

जहँ तहँ भागि चले कपि-रीछा। बिसरी सबहि जुद्ध कै ईछा ॥७॥
सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेखा ॥८॥

दोहा—दस दस सर सब मारेसि, परे भूमि कपि-बीर।
सिंहनाद करि गर्जा, मेघनाद बलधीर ॥४९॥

अर्थ—वानर और रीछ जहाँ-तहाँ (इधर-उधर) भाग चले, सबकी युद्ध की इच्छा ही भूल गई ॥७॥ रणभूमि मे ऐसा एक भी वानर-भालु न देखा गया कि जिसे उसने प्राणावशेष (मृततुल्य) न कर दिया हो ॥८॥ दस-दस बाण सबको मारे, वीर वानर पृथिवी पर गिर पड़े, तब प्रबल और धीर मेघनाद सिंह-समान शब्द करके गरजा ॥४९॥

विशेष—(१) 'भागि चले कपि रीछा' भाग चलने के सम्बन्ध से 'कपि रीछा' कहा, क्योंकि इन नामों का यही अर्थ है—'कपि-कम्पने' और 'रि-गतौ' इन धातुओं से ये शब्द बनते हैं।

(२) 'दस-दस सर ...'—असंख्य वानर हैं, किन्तु सबों को दस-दस बाण मारे कि वे दसों इन्द्रियों से अचेत हो जायँ। इससे उसके बाण संख्या-रहित हैं। 'सिंह नाद करि गर्जा, मेघनाद...'—मत्त गजगण रूपी वीर वानर-भालुओं को विदीर्ण करके विजय के गर्व से गरजा, साथ ही यह औरों को ललकारने का भी सूचक है। जय का गरजना; यथा—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।" (सु॰ दो॰ १७), ललकार का; यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" (सु॰ दो॰ १८)। इसका मेघनाद नाम यहाँ चरितार्थ हुआ कि इसने मेघ के समान बाण की वृष्टि की और गरजा भी है।

देखि पवनसुत कटक बेहाला। क्रोधवंत धायउ जनु काला ॥१॥
महा-सैल एक तुरत उपारा। अति रिस मेघनाद पर डारा ॥२॥
आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ-सारथी तुरग सब खोई ॥३॥
बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना ॥४॥

अर्थ—सेना को व्याकुल देख पवनकुमार क्रोधित होकर दौड़े, मानों काल ही दौड़ा हो ॥१॥ शीघ्र ही एक भारी पर्वत उखाड़ा और बहुत ही क्रोध से उसे मेघनाद पर डाल दिया ॥२॥ पर्वत को आते देखकर वह आकाश मे उड़ गया, रथ, सारथी और घोड़े, सब नष्ट हो जाने दिये (इन्हें बचा न सका) ॥३॥ श्रीहनुमान्जी बार-बार ललकारते हैं, पर वह मर्म जानता है, इससे इनके पास नहीं आता ॥४॥

विशेष—(१) 'क्रोधवंत, धायउ…'—श्रीहनुमान्‌जी काल (रुद्र) रूप हैं ही, पुनः उसके प्राणों का हरण करने के लिये दौड़े, इससे 'जनु काला' कहा गया। 'गयउ नभ'—पहले दुर्ग से उतर रथ पर चढ़कर युद्धभूमि में आया था। जब इनका भारी पर्वत शीघ्रता से आते देखा, तब प्राण लेकर भागा। आकाश में चला गया, रथ आदि की रक्षा पर ध्यान नहीं दिया। इस चातुरी का कारण ग्रंथकार आगे कहते हैं—'मरम सो जाना' मर्म (भेद) वह जानता था। पहले दो बार इनसे पाला पड़ चुका है। एक बार एक घूँसे से मूर्च्छित हो गया था। दूसरी बार लात खाने पर गहरी मुर्च्छा आई थी। इस बार जानता है कि भिड़ने पर यह प्राण ही ले लेगा। मल्लयुद्ध से बल देख चुका है और यह भी जानता है कि इसपर ब्रह्मास्त्र भी नहीं लगता और न कोई माया। 'बार-बार प्रचार…'—मेघनाद ने पहले इन्हें एक बार ललकारा था, वे उसे बार-बार प्रचारते हैं।

हनुमान्-मेघनाद-युद्ध तीन बार हुआ। तीनों में उत्तरोत्तर अधिकता है, यह आवृत्तियों से दिखाते हैं—

प्रथम बार का युद्ध अशोक-वाटिका (सुंदरकाण्ड) में हुआ। द्वितीय बार का, प्रथम दिवस के युद्ध में और तृतीय बार का यहाँ पर है। प्रथम बार में श्रीहनुमान्‌जी के प्रहार से वह रथ-हीन मात्र हुआ; यथा—"विरथ कीन्ह…" द्वितीय बार रथ और सारथी-रहित हुआ—"भंजेउ रथ सारथी निपाता।" और तृतीय बार में रथ, सारथी और घोड़े भी नाश हुए; यथा—"रथ सारथी तुरँग सब खोई।"—प्रथमावृत्ति।

इन्होंने उत्तरोत्तर मेघनाद पर अधिक आघात किये और उसका अपमान किया। प्रथम बार मुष्टिका मारी, तब उसे एक क्षण मूर्च्छा आई; यथा—"मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरछा आई॥" द्वितीय बार लात मारी, तब देर तक मूर्च्छा रही; यथा—"दुसरे सूत विकल तेहि जाना। स्यन्दन…" तीसरी बार भागा; यथा—"निकट न आव मरम सो जाना।"—द्वितीयावृत्ति।

प्रथम बार सामान्य क्रोध और गर्जन था; द्वितीय बार प्रलय-काल के समान गरजे, पर वैसे धाये नहीं थे और तृतीय बार काल के समान क्रोध किया और वैसे ही धाये भी। प्रथम के गर्जन से मेघनाद वैसा नहीं डरा था, इसीसे द्वितीय बार भी सामने आया, पर तृतीय बार इन्हें रौद्र रस पूर्ण काल रूप देख कर ऐसा डरा कि बार-बार ललकारने पर भी सामने नहीं आया—तृतीयावृत्ति।

प्रथम बार—'अति बिसाल तरु एक उपारा।' द्वितीय बार—'गहि गिरि मेघनाद पर धावा।' और तृतीय बार—'महा सैल एक तुरत उपारा। अति रिसि मेघनाद पर डारा॥'—यह उत्तरोत्तर प्रशस्त आयुध का प्रहार है - चतुर्थावृत्ति।

रघुपति निकट गयउ घननादा। नाना भाँति करेसि दुर्बादा॥५॥
अस्त्र-सस्त्र आयुध सब डारे। कौतुकहीं प्रभु काटि निवारे॥६॥
देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना। करइ लाग माया बिधि नाना॥७॥
जिमि कोउ करइ गरुड़ सैं खेला। डरपावइ गहि स्वल्प सपेला॥८॥

दोहा—जासु प्रबल माया बस, सिव-बिरंचि बड़-छोट।
ताहि देखावइ निसिचर, निज माया मति खोट॥५०॥

अर्थ—मेघनाद श्रीरघुनाथजी के समीप गया और उसने अनेक तरह के दुर्वचन कहे ॥५॥ अस्त्र और शस्त्र-भेद के सब हथियार चलाये। प्रभु ने उन्हें खेल (सहज) में ही काटकर निवारण किया (पास तक भी नहीं आ सके) ॥६॥ वह मूर्ख प्रताप देखकर लज्जित हुआ और अनेक प्रकार की माया करने लगा ॥७॥ जैसे कोई गरुड़ से खेल करे और छोटा-सा सर्प का बच्चा लेकर उसे डरवाये ॥८॥ जिसकी अत्यन्त बलवती माया के वश शिव-ब्रह्मा (आदि) सभी बड़े-छोटे जीव हैं, उसीको क्षुद्र-बुद्धि राक्षस अपनी माया दिखाता है। (उसे डरवाना चाहता है) ॥५०॥

विशेष—(१) 'रघुपति निकट···'—'घननादा' शब्द से क्रोध सहित गरज-गरज कर दुर्वचन कहना जनाया ; यथा—"तब सकोप बोलेउ घननादा ॥" (दो० ४७) ; तथा "व्याकुल कटक कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहे दुर्वादा ॥" (दो० ७२) ; इसका दुर्वाद कथन वाल्मी० ६।८८।६-११ में कहा गया है। मानस में दुर्वादों को संकेत मात्र से कहा है ; यथा—"आज बैर सब लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिं जाहीं ॥ आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले ॥ सुनि दुर्वचन···" (दो० ८८)। दुर्वचनों के एक प्रकार का उदाहरण स्पष्ट कह दिया है।

पहली ललकार में इसने उत्तम विशेषण दिये थे और इस बार दुर्वाद कहा, इसका कारण यह है कि यह श्रीहनुमान्‌जी से हार जाने से खिसियाया हुआ है। वहाँ कुछ न चली तब यहाँ दुर्वचनों से मानों उसका बदला ले रहा है। प्रायः हारे हुए लोग ही गालियाँ बकते हैं।

(२) 'देखि प्रताप मूढ़···'—मूढ़ है, इसीसे अभिमानी है, यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना।" (कि० दो० ८), और इसीसे प्रताप देखकर भी प्रभु की शरण नहीं हुआ, किन्तु माया से उन्हें जीतना चाहता है।

(३) 'जिमि कोउ करइ गरुड़···'—श्रीरामजी गरुड़ हैं और मेघनाद की माया छोटा सपेला है। माया दिखाना डरवाना है। 'स्वल्प सपेला' मेघनाद की माया स्वल्प सपेला, त्रिदेवों की माया सपेला *और प्रभु की अपनी माया बड़ी नागिनि है। जब वही प्रभु से डरती है, तब छोटे सपेलों की क्या बात ?* यथा—"जो माया सब जगहिं नचावा।···सोइ प्रभु भ्रू बिलास···" (उ० दो० ७१)।

श्रीरामजी का तो कहना ही क्या, उनके भक्तों पर भी त्रिदेवों तक की माया नहीं लगती ; यथा "बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी ॥" (अ० दो० २९४)।

(४) 'जासु प्रबल माया बस ··', यथा—"*यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुरा।*" (बा० म० श्लोक)। मेघनाद को यह माया श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी से मिली है और ब्रह्मा-शिव को वह सामर्थ्य श्रीरामजी ने दिया है। वे शिव-ब्रह्मा भी श्रीरामजी की माया से डरते हैं ; यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥" (उ० दो० ७०) ; उन श्रीरामजी को अपनी तुच्छ माया से मोहित करने का प्रयास करना मूर्खता है, इसीसे 'मति खोट' कहा है।

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा। महि ते प्रगट होहिं जल-धारा ॥१॥
नाना भाँति पिसाच-पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची ॥२॥
बिष्टा-पूय-रुधिर-कच-हाड़ा। बरषइ कबहुँ उपल बहु छाड़ा ॥३॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा ॥४॥
कपि अकुलाने माया देखे। सब कर मरन बना येहि लेखे ॥५॥

शब्दार्थ—विष्ठा = मल, मैला। पूय = पीव, मवाद। छार = राख।

अर्थ—आकाश में चढ़कर बहुत अंगारे बरसाने लगा। पृथिवी से जल की धाराएँ प्रकट होने लगीं (भाव यह कि वानर ऊपर जायँ तो आग में जलें और नीचे रहें तो जल धारा में डूबें) ॥१॥ अनेक प्रकार की पिशाच-पिशाचिनियाँ नाच-नाचकर अनेक प्रकार से 'मारो, काटो' यह शब्द बोलती हैं ॥२॥ कभी विष्ठा, मवाद, रुधिर, बाल और हड्डियाँ बरसाता है और कभी-कभी बहुत पत्थर और राख बरसाता है ॥३॥ धूल बरसाकर ऐसा अँधेरा कर देता है कि अपना ही फैलाया हुआ हाथ नहीं सूझता (देख पड़ता) ॥४॥ मेघनाद की माया देखकर वानर व्याकुल हो गये कि इस प्रकार से (ऐसा ही रहा तो) सबकी मृत्यु बनी-बनाई है ॥५॥

विशेष—'करइ लाग माया···' कहकर फिर—'नभ चढ़ि···' से—"*कीन्हेसि अँधियारा।*" तक माया करना कहा है। पिशाच-पिशाचिनियाँ यक्षों और राक्षसों से भी हीन कोटि में हैं, ये अशुचि और गंदे होते हैं, रण-क्षेत्रों के वीभत्स कांडों में ही प्राय इनका वर्णन आता है—खोपड़ी में रक्त पीना आदि चरित्र इनके कहे जाते हैं। इन्हें मार-काट में आनन्द होता है। इसीसे यहाँ भी 'नाची' पद दिया गया है। '*मारु काटु* ···'—*ध्वनि भय उत्पन्न करने के लिये बोलती हैं।*

कौतुक देखि राम मुसुकाने। भये सभीत सकल कपि जाने ॥६॥
एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर-निकाया ॥७॥
कृपादृष्टि कपि-भालु बिलोके। भये प्रबल रन रहहिं न रोके ॥८॥

अर्थ—यह कौतुक देखकर श्रीरामजी ने मुस्कुरा दिया और वे जान गये कि सब वानर डर गये हैं ॥६॥ उन्होंने एक बाण से सब माया काट दी, जैसे (एक) सूर्य अंधकार समूह को हर लेता है ॥७॥ कृपा-दृष्टि से भालु वानरों को देखा, जिससे वे ऐसे प्रबल हो गये कि रण में रोकने से भी नहीं रुकते (अर्थात् उनमें इतना बल आ गया कि मेघनाद के प्रति युद्ध के लिये जाने में रोकने पर भी नहीं रुके) ॥८॥

विशेष—(१) 'कौतुक देखि ··'—उसने तो डरवाने के लिये माया की, पर प्रभु श्रीरामजी ने उसे खेल की तरह देखा, कुछ भय न माना। पुन निरादर के लिये मुस्कराये कि हमें अपनी माया से डरवाना चाहता है। झूठी माया पर वानरों के डरने पर भी हँसे। पुन वानरों पर अनुग्रह प्रकट करते हुए हँसे, यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)। यही आगे कहते हैं—'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके।···'

(२) 'एक बान काटी...'—एक ही सूर्य सब प्रकार के अंधकार को हर लेते हैं, वैसे ही एक ही बाण ने उसकी 'माया बिधि नाना' को हर लिया। मेघनाद पर बाण न चलाया, क्योंकि यह रावण का पुत्र है। अत, इसके जोड़ में श्रीलक्ष्मणजी को भेजेंगे। प्रभु के जोड़ में रावण और कुम्भकर्ण ही लड़ेंगे।

(३) 'कृपादृष्टि कपि...'—पहले अकंपन आदि की माया निवृत्त होने पर वानर और भालू तुरत लड़ने के लिये दौड़े थे, यथा—"भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरष बिगत श्रम त्रासा॥" (दो० ४५)। पर यहाँ नहीं दौड़े, क्योंकि पहली बार की लड़ाई में मेघनाद ने सबको प्राणावशेष कर दिया था और फिर माया से भी व्याकुल कर दिया था, इससे सबका उत्साह भंग हो गया है। ऐसा देखकर श्रीरामजी

ने इन्हें कृपा- दृष्टि से देखा, जिससे प्रबल हो गये, फिर तो रोकने से भी नहीं रुकते, इतना युद्धोत्साह हो गया ; यथा—"रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥" (सुं॰ दो॰ १७)।

पूर्व अनिप और अकंपन आदि की माया अग्नि बाण से हरी गई थी, वैसे ही यहाँ भी वही बाण जानना चाहिये।

लक्ष्मण-मेघनाद का प्रथम युद्ध (शक्ति-बाधा-प्रकरण)

दोहा—आयसु माँगि राम पहिं, अंगदादि कपि साथ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान सरासन हाथ ॥५१॥

छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछु एक लाला ॥१॥

शब्दार्थ—छतज = रक्त, लाल। निभ = समान, तुल्य। कछुएक = कुछ ही।

अर्थ - श्रीरामजी से आज्ञा माँग और अंगद आदि वानरों को साथ ले श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित होकर हाथ में धनुष बाण लिये हुए चले ॥५१॥ उनके नेत्र लाल हैं, छाती चौड़ी और भुजाएँ लंबी हैं, शरीर हिमाचल के समान गौरवर्ण है, पर कुछ ललाई के साथ है ॥१॥

विशेष—(१) 'आयसु माँगि...'—यहाँ श्रीरामजी ने इन्हें जाने को नहीं कहा ; पर जब मेघनाद ने आकर प्रभु को दुर्वचन कहा, उसे ये नहीं सह सके, इससे इन्होंने आज्ञा माँगी। यह भी विचार कर आज्ञा माँगी कि मेरे रहते स्वामी को युद्ध का प्रयास क्यों करना पड़े ? जब आज्ञा मिली, तब गये।

पहले दो बार आज्ञा माँगने पर आज्ञा नहीं पाई थी तब उन कार्यों को नहीं किया था—जैसे कि धनुर्भंग की आज्ञा माँगी थी, यथा—"नाथ जानि अस आयसु होऊ।" पर वहाँ आज्ञा नहीं मिली। फिर चित्रकूट में श्रीभरतजी के प्रति भी—"उठि कर जोरि रजायसु माँगा।" पर वहाँ भी आज्ञा नहीं पाई थी।

'अंगदादि कपि साथ'—आगे इन्हें गिनाया है, यथा—"अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत।" (दो॰ ७४), यह इनके दूसरे युद्ध में स्पष्ट कहा गया है। इसी से यहाँ संकेत में ही कहा है। 'क्रुद्ध होइ'—स्वामी को राक्षस ने दुर्वचन कहे हैं, इसीसे उसपर अत्यन्त क्रुद्ध हैं। क्रोध में धर्म का ज्ञान नहीं रह जाता ; यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" (कि॰ दो॰ १४), इसी से ये स्वामी को प्रणाम करना भूल गये, उसी का फल शक्ति का लगना है। साथ ही—'बान सरासन हाथ' भी पुरुषार्थभिमान का सूचक है। दूसरे युद्ध में प्रणाम करके जायँगे, यथा—"रघुपति चरन नाइ सिर, चलेउ तुरंत अनंत।" (दो॰ ७४) ; तब विजय सहित लौटेंगे। इस प्रसंग में श्रीलक्ष्मणजी का बार-बार क्रोध कहा गया है, क्योंकि प्रारंभ में ही क्रुद्ध होकर चले हैं।

किसी-किसी का यह भी मत है कि यहाँ रणभूमि में ही दोनों भाई थे, इससे प्रणाम करके जाना नहीं कहा गया। दूसरी बार के मेघनाद-युद्ध में अन्यत्र (निकुंभिला) की रणभूमि में जाना है, इससे वहाँ प्रणाम कर के जाना कहा गया है।

(२) 'छतज नयन उर...'—पहले 'क्रुद्ध होइ चले' कहा गया, यहाँ उस क्रोध के लक्षण कहते

है कि नेत्र लाल हैं, शरीर यद्यपि स्वच्छ गौर वर्ण है, तथापि कुछ लाल हो गया है, यथा—"रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा। भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते।" (बा॰ दो॰ २६०); धनुष-बाण भी लिये हुए हैं—यह वीर-शोभा है।

इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये ॥२॥
भूधर नख बिटपायुध धारी। धाये कपि जय राम पुकारी ॥३॥
भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी ॥४॥
मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं। कपि जयसील मारि पुनि डाँटहिं ॥५॥

अर्थ—यहाँ रावण ने बड़े-बड़े योद्धा भेजे, जो अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़े ॥२॥ पहाड़, नाव और वृक्ष रूप आयुध धारण किये हुए वानर 'रामजी की जय हो' ऐसा पुकारते हुए दौड़े ॥३॥ सब (वानर और राक्षस) जोड़ी-से-जोड़ी भिड़ गये, इधर और उधर दोनों दलों में जीत की इच्छा थोड़ी नहीं थी, अर्थात् बहुत थी ॥४॥ घूँसों-लातों से मारते और दाँतों से काटते हैं, वानर जयशील हैं (प्रथम दिन के युद्ध में जीते हुए हैं, वा उनमें राम-कृपा से जीतने की योग्यता प्राप्त है, इससे) वे मार कर और फिर डाँटते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'इहाँ दसानन सुभट ···'—'इहाँ' शब्द राक्षसों की ओर क्यों कहा? इसपर दो॰ १० चौ॰ १ देखिये। रण की व्यवस्था जानने में चतुर रावण ने जब सुना कि उधर से अब श्रीलक्ष्मणजी प्रधान वानरों के साथ युद्ध के लिये आ रहे हैं, तब उसने मेघनाद की सहायता के लिये नाना सुभट भेजे। पहले यह भी कहा गया था कि मेघनाद चलते समय सेना की अपेक्षा नहीं की, पर रावण तो उसकी रक्षा के लिये सावधान है।

(२) 'भूधर नख बिटपायुध धारी। '—राक्षसों को तो रावण ने भेजा, पर इधर से वानरों का भेजा जाना नहीं कहा गया, क्योंकि ऊपर इन्हें कहा गया है—'भये प्रबल रन रहहिं न रोके।' उसीका यहाँ चरितार्थ है कि वे स्वयं उत्साह से दौड़े हैं। राक्षसों के अस्त्र शस्त्र कहे गये थे, इससे वानरों के भी आयुध 'भूधर, नख, बिटप' आदि कहे गये, यथा—"गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।" (बा॰ दो॰ १८७)।

(२) 'भिरे सकल जोरिहि सन जोरी।'—ऊपर दोनों ओर से आयुध ले-लेकर दौड़ना कहा गया है। उसके अनुसार यहाँ जोड़ी-जोड़ी से मल्ल-युद्ध नहीं लिया जा सकता। यहाँ भाव यह है कि सेनापतियों से सेनापति, सुभटों से सुभट और सामान्य सैनिकों से सामान्य सैनिक युद्ध करने लगे।

(३) 'मुठिकन्ह लातन्ह '—घूँसा, लात और दाँत कहकर सभी अंगों से युद्ध करना दिखाया। मारकर फिर डाँटते हैं, यथा—"काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजेहु न रामहि सो फल लेहू॥" (दो॰ ४२), अर्थात् मारकर डाँटते हैं कि श्रीरामजी का भजन नहीं किया, उसका फल लो।

मारु मारु धरु धरु धरु मारू। सीस तोरि गहि भुजा उपारू ॥६॥
असि रव पूरि रही नव खंडा। धावहिं जहँ तहँ रुंड प्रचंडा ॥७॥
देखहिं कौतुक नभ सुर-बृंदा। कबहुँक बिसमय कबहुँ अनंदा ॥८॥

दोहा—रुधिर गाड़ भरि भरि जम्यो, ऊपर धूरि उड़ाइ।
जनु अँगार रासिन्ह पर, मृतक धूम रह्यो छाइ ॥५२॥

शब्दार्थ—नव खंड = पुराणों के अनुसार द्वीप सात हैं और उन प्रत्येक के भी सात-सात खंड हैं, केवल इस जम्बू द्वीप में नव खंड हैं, उन्हीं में एक यह भरत खंड है। गाड़ = गड्ढे। मृतक धूम = राख, भस्म।

अर्थ—मारो, मारो, पकड़ो, पकड़ो, मार डालो, पकड़कर शिर तोड़ डालो, भुजा उखाड़ लो—ऐसी ध्वनि (शोर) द्वीप के नवो खण्डों में व्याप्त हो गई है (पूर्ण भर गई है), रुंड (धड़) बड़े वेग से जहाँ तहाँ दौड़ रहे हैं ॥६-७॥ आकाश में देव-वृन्द कौतुक देख रहे हैं, कभी (राक्षसों की जीत पर) विस्मित होते हैं और कभी (वानरों की जीत पर) आनंदित होते हैं ॥८॥ गड्ढों में रुधिर भर-भरकर जम गया है और उसपर धूल उड़ रही है, मानों अंगार की ढेरियों पर राख छा रही है ॥५२॥

विशेष—(१) 'मारु-मारु···'—इससे योद्धाओं का पूर्ण उत्साह प्रकट होता है।

(२) 'पूरि रही नव खंडा'—युद्ध की उत्कर्षता प्रकट करने के लिये ऐसा कहा गया है, यह अत्युक्ति अलंकार है। 'धावहिं जहँ-तहँ रुंड प्रचंडा'—से रण-भूमि की भयंकरता कही गई है।

(३) 'देखहिं कौतुक नभ सुर बृंदा।···'—अभी तक सेना का साधारण युद्ध समझकर देवता नहीं आये थे। जब श्रीलक्ष्मणजी युद्ध में आये, तब ये लोग विशेष युद्ध देखने के लिये आये और इससे भी कि इनके सामने मेघनाद हम सबों पर आक्रमण नहीं कर सकेगा। परन्तु जब तक मेघनाद जीवित है, इसके युद्ध को देवता लोग छिपकर ही देखते हैं, इसीसे यहाँ विस्मय पर 'हा-हा' आदि शब्दों से दुःख प्रकट नहीं करते। जैसा आगे रावण-युद्ध में कहा गया है; यथा—"हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा।" (दो॰ ९१); इत्यादि।

यहाँ दो बार मेघनाद का युद्ध हुआ, दोनों में उसकी सफलता पर देवता डर गये, इससे तीसरे युद्ध में आवेंगे ही नहीं, उसके मरने पर आवेंगे और अत्यन्त हर्ष भी प्रकट करेंगे।

(४) 'रुधिर गाड़ भरि भरि···'—घोड़ों की टापों और रथों आदि से ये गड्ढे हो गये हैं। उनमें रुधिर जम गया, ऊपर से उड़कर पड़ी हुई धूल उसपर छाई हुई है, बीच-बीच में रुधिर की लालिमा अंगार की चमक-सी दीखती है।

घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे ॥१॥
लछिमन मेघनाद दोउ जोधा। भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा ॥२॥
एकहि एक सकइ नहिं जीती। निसिचर छल-बल करइ अनीती ॥३॥

शब्दार्थ—किंसुक (किंशुक) = पलाश, टेसू। भिरना = समीप से लड़ना, सटकर लड़ना।

अर्थ—घायल वीर कैसे शोभित हो रहे हैं, जैसे फूले हुए टेसू (ढाक) का वृक्ष शोभित होता है ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी और मेघनाद दोनों योद्धा अत्यन्त क्रोध कर-करके एक-दूसरे से भिड़ते हैं ॥२॥ एक दूसरे को जीत नहीं सकते। निशाचर मेघनाद छल, बल और अधर्म युद्ध करता है ॥३॥

विशेष—(१) 'कुसुमित किंसुक...'—यहाँ वीर पलाश वृक्ष हैं, उनके शरीरों में घावों से जहाँ-तहाँ खून निकले हुए हैं, लाल रंग होने से वे टेसू के फूल के समान लगते हैं; यथा—"अंग-अंग दलित ललित फूले किंसुक से हने भट लाखन लखन जातुधान के।" (क० लं० ४८); तथा—"तयोः कृतव्रणौ देहौ शुशुभाते महात्मनो.। सुपुष्पाविव निष्पत्रौ वने किंशुक शाल्मली ॥" (वाल्मी० ६।८८।७३), (शाल्मली =सेमल वृक्ष)।

'इहाँ दसानन सुभट पठाये।' से यहाँ तक सेना-सेना का युद्ध हुआ, आगे मेघनाद-लक्ष्मण-युद्ध कहते हैं—

(२) 'निसिचर छल बल करइ अनीती।'—यहाँ छल और बल का अर्थ अदृश्य हो जाने और कभी प्रकट होने का है; यथा—"तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥ प्रगट दुरत जाइ मृग भागा।" (बा० दो० १५६), तथा—"निमिष वेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥" (दो० ७४), छिपकर आघात करना कि प्रतिपक्षी देख न सके, यह छल (अधर्म) है; यथा—"धर्म-हेतु अवतरेउ गोसाई। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥" (कि० दो० ८), यहाँ मेघनाद छिपकर प्रहार करता था, जिसे श्रीलक्ष्मणजी देख नहीं सकते थे, यही अनीति थी, यथा—"अंतर्धानगतेनाजौ यत्त्वया-चरितस्तदा। तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः॥" (वाल्मी० ६।८८।१५), बुद्धि के उपाय को भी छल-बल कहते हैं, यथा—"सो मति मोरि भरत महिमाहीं। कहइ काह छलि छुअति न छाहीं॥" (अ० दो० २८७) तथा—"सोहहिं नभ छल-बल बहु करहीं। कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं॥ बुधि बल निसिचर परइ न पारा।" (दो० ११), यह अनीति नहीं है, इसीसे यहाँ 'सोहहिं' कहा है।

क्रोधवंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता॥४॥
नाना विधि प्रहार कर सेषा। राक्षस भयउ प्रान अवसेषा॥५॥
रावनसुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥६॥

शब्दार्थ—अनंत = यह शेषजी और श्रीलक्ष्मणजी का भी एक नाम है।

अर्थ—तब श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित हुए, उन्होंने तुरत उसके सारथी और रथ को तोड़ डाला॥४॥ शेष (श्रीलक्ष्मण) जी उसपर अनेकों प्रकार से वार करने लगे, उससे राक्षस प्राणावशेष (मृततुल्य) हो गया॥५॥ रावण-पुत्र ने मन में जान लिया कि संकट आ गया, ये मेरे प्राण हरेंगे॥६॥

विशेष—(१) यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने इससे वानरों का बदला चुकाया है—

मेघनाद—	श्रीलक्ष्मणजी
सो कपि भालु न रन महँ देखा।	राच्छस भयउ प्रान अवसेषा।
कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा।	
दस दस सर सब मारेसि।	नाना बिधि प्रहार कर सेषा।
परे भूमि कपि बीर	भंजेउ रथ सारथी निपाता।
सब कर मरन बना	संकट भयउ हरिहि मम प्राना।
येहि लेखे	रावनसुत निज मन अनुमाना।

(२) 'रावन-सुत' का भाव यह कि जैसे रावण तीनों लोकों को रुलानेवाला है, वैसे यह भी अभी जो

कर्म करना चाहता है, इससे सेना के साथ श्रीरामजी तक को रोना पड़ेगा। पुनः श्रीअयोध्याजी में भी श्रीभरतजी और माताओं को भी इससे दु.ख पहुँचेगा। दूसरा यह भी भाव है कि लक्ष्मणजी यहाँ जैसी इसकी दशा कर रहे हैं और फिर जैसा इसने प्रतिकार किया है। वैसा ही (दो० ८१ में) रावण के साथ भी करेंगे, तब वह भी ऐसे ही व्याकुल होने पर वरदानी शक्ति छोड़ेगा।

वीरघातिनी छाँड़िसि साँगी। तेजपुंज लछिमन उर लागी ॥७॥
मुरुछा भई सक्ति के लागे। तब चलि गयउ निकट भय त्यागे ॥८॥

दोहा—मेघनाद सम कोटि सत, जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि, उठइ चले खिसियाइ ॥५३॥

शब्दार्थ—साँगी=बरछी, शक्ति; यथा—"लागति साँग बिभीषन ही पर···" (गी० लं० ५)।

अर्थ—(ऐसा अनुमान कर) उसने वीरों को नाश करनेवाली शक्ति चलाई जो तेजोमय थी, वह श्रीलक्ष्मणजी की छाती में लगी ॥७॥ शक्ति के लगने से मूर्च्छा आ गई, तब वह भय छोड़कर समीप चला गया ॥८॥ मेघनाद के समान अगणित योद्धा उठाते रह गये (थक गये), पर जगत् के आधार शेष रूप श्रीलक्ष्मणजी कैसे उठ सकते ? (तब) लज्जित होकर चल दिये ॥५३॥

विशेष—(१) 'छाँड़िस साँगी' कहा और फिर उसे ही 'सक्ति के लागे' कहा है। अत, शक्ति को साँगी का अर्थ जनाया। 'भय त्यागे'—क्योंकि पहले भय था, यथा—"संकट भयउ हरिहि मम प्राना।" ऊपर कहा है। जब अमोघशक्ति के द्वारा मूर्च्छित अथवा मरा हुआ जान लिया, तब पास गया कि उठाकर लंका को ले जाऊँ और अपनी की हुई प्रतिज्ञानुसार पिता को प्रसन्न करूँ। पिता सीताजी को लाये, हम भाई को ले जायँ। अब दूने दुःख से श्रीरामजी भी प्राण छोड़ देंगे।

'तेज पुंज'—यह वज्र के समान तेजवाली थी, उससे प्रज्वलित अग्नि की-सी ज्वाला निकलती थी; यथा—"इत्येवमुक्त्वा तां शक्तिमष्टघण्टां महास्वनाम्। मयेन मायाविहिताममोघां शत्रुघातनीम्॥ लक्ष्मणाय समुद्दिश्य ज्वलन्तीमिवतेजसा। जिह्वेवोरगराजस्य दीप्यमाना महाद्युतिः॥" (वाल्मी० ६।१००।३०-३५) अर्थात् आठ घंटियोंवाली अतएव भारी शब्द करनेवाली, माया के द्वारा मय-राक्षस की बनाई हुई शत्रुघातिनी वह अमोघ शक्ति श्रीलक्ष्मणजी पर उसने चलाई, वह तेज से अग्नि की तरह प्रज्वलित थी।··· बड़े प्रकाशवाली चमकीली सर्पराज की जीभ के समान मालूम होती थी।

वाल्मी० ६। ५६ और १०० सर्गों में लक्ष्मण-रावण युद्ध है। दोनों जगह शक्ति प्रहार करना कहा गया है। सर्ग ५९ वाली शक्ति का कुछ अंश यहाँ से मिलता है, शेष दो० ८१-८३ से मिलता है। सर्ग १०० वाली में बहुत अंश यहाँ से मिलता है और कुछ दो० ८१-८२ से भी। मेघनाद द्वारा शक्ति से श्रीलक्ष्मणजी पर प्रहार मानसकार का ही मत है—यह कल्पभेद है।

(२) 'मेघनाद सम कोटि···'—सब योद्धा मेघनाद के समान थे, उन्होंने पहले पृथक्-पृथक् उठाया, फिर बहुत लोगों ने उसे मिल-मिलकर भी उठाया, पर नहीं उठा सके। क्यों न उठा सके ? इसका समाधान उत्तरार्द्ध में कहा है—'जगदाधार···' अर्थात् ये जगत्-भर के आधार हैं और साक्षात् शेषजी ही हैं जो

ब्रह्मांड को शिर पर धारण किये रहते हैं। इन्हें वही उठा सके, जो इनसे अधिक प्रभाववाला हो, अथवा, जिसपर इनकी कृपा हो।

(३) 'जगदाधार' और 'शेष' कहकर चारों कल्पों के श्रीलक्ष्मणजी के अवतार जना दिये; यथा—"लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥" (बा० दो० १९७); तथा—"जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी।" (अ० दो० १२६)। बा० दो० १६ चौ० ५–७ भी देखिये।

> सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारिदस आसू॥१॥
> सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर-नर अग जग जाही॥२॥
> यह कौतूहल जानइ सोई। जा पर कृपा राम कै होई॥३॥
> संध्या भई फिरी दोउ बाहिनी। लगे सँभारन निज निज अनी॥४॥

शब्दार्थ—आसू (आशु) = शीघ्र, तुरत। अग = स्थावर, जड़। जग = जंगम, चेतन।

अर्थ—हे गिरिजे! जिसका क्रोध रूपी पावक चौदहों भुवनों को शीघ्र जला डालता है॥१॥ और देवता, मनुष्य एवं चराचर मात्र जिसकी सेवा करते हैं, उसको रण में कौन जीत सकता है? अर्थात् कोई नहीं॥२॥ इस खेल (एवं रहस्य) को वही जान सकता है, जिसपर श्रीरामजी की कृपा हो॥३॥ संध्याकाल होने पर दोनों ओर की सेनाएँ लौटीं, यूथपति लोग अपनी-अपनी सेना का सँभाल (गिनती) करने लगे (कि कितने धचकर आये और कितने घायल हुए एवं कितने मरे)॥४॥

विशेष—(१) 'क्रोधानल जासू'; यथा—"जुग-पट भानु देखे, प्रलय कृसानु देखे, सेप मुख अनल निलोके बार-बार हैं।" (क० सु० २०): अर्थात् शेषजी के मुख से अग्नि प्रकट होने से प्रलय भी होता है। 'भुवन चारि दस'—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्यम्—ये सात क्रमशः ऊपर के हैं और तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल और पाताल—ये सात नीचे के हैं।

(२) 'यह कौतूहल......'—इस चरित में गूढ़ता क्या है? इसपर वाल्मी० ६।७४ में श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के मूर्च्छित होने पर जब श्रीसुग्रीवजी और अंगदजी आदि व्याकुल हुए तब श्रीविभीषणजी ने कहा है कि "ब्रह्मा का सम्मान करने, ब्रह्मा के अस्त्र की अमोघता रखने एवं मर्यादा रखने के लिये आप भूमिशायी हुए हैं, अर्थात् आपने स्वेच्छा से जान-बूझकर यह लीला की है।" जैसे श्रीहनुमान्जी ने ब्रह्मास्त्र को माना है; यथा—"जौं न ब्रह्म सर मानउँ, महिमा मिटइ अपार।" (सुं० दो० १९); ब्रह्मा के वरदान की रक्षा के लिये ऐसा नर-नाट्य करते हैं। नर-तन में शक्ति से घायल होना और प्रभु का भाई के स्नेह में व्याकुल होना और प्रलाप करना आवश्यक है। नहीं तो आपका ब्रह्म का अवतार स्पष्ट हो जायगा, क्योंकि इस शक्ति को मनुष्य क्या देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते। ब्रह्मा ने नर के हाथ से ही रावण-वध कहा है। पुनः इस लीला में कालनेमि और मकरी को भी शाप से मुक्त करना है। श्रीलक्ष्मणजी का अत्यन्त प्रेम सर्वत्र कहा गया, यहाँ स्वामी श्रीरामजी का भी अत्यन्त प्रेम उनमें प्रकट करना है कि जैसे श्रीलक्ष्मणजी प्रभु के बिना नहीं रह सकते, वैसे प्रभु भी श्रीलक्ष्मणजी के बिना नहीं रह सकते; यथा—"हौं पुनि अनुज सँघाती।" (गी० लं० ७); इस तरह—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११) की उक्ति को चरितार्थ करना है। पुनः साथ ही

श्रीहनुमान्‌जी को भी विशेष प्रेम की शिक्षा के लिये भरत-सुमित्रा आदि से समागम कराना है। इत्यादि रहस्य इस चरित्र के द्वारा ही प्रकट हुए हैं।

शंका—ऐसा दुर्लभ रहस्य फिर ग्रंथकार ने कैसे जाना ?

समाधान—गुरु-पद-रज-भक्ति से; यथा—"सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (बा॰ दो॰ १), रामकृपा से ; यथा—"जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥" (बा॰ दो॰ १०४) ; "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा॰ दो॰ ३०)।

यहाँ तक दूसरे दिन का युद्ध और लक्ष्मण-मेघनाद का प्रथम युद्ध समाप्त हुआ।

व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेश्वर। लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर॥५॥
तब लगि लै आयउ हनुमाना। अनुज देखि प्रभु अति दुख माना॥६॥

अर्थ—व्यापक, ब्रह्म, किसी से न जीते जाने के योग्य, सब लोकों के स्वामी, करुणा की खान श्रीरामजी पूछने लगे कि श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं ? ॥५॥ तब तक (त्योंही) श्रीहनुमान्‌जी उनको ले आये, छोटे भाई को देखकर प्रभु ने अत्यन्त दुःख माना ॥६॥

विशेष—(१) 'व्यापक ब्रह्म ···'—सर्वज्ञ प्रभु ने पूछकर क्यों जाना ? इसपर समाधान के लिये उन्हें चार विशेषण दिये गये हैं कि वे सर्वत्र व्यापक हैं ; यथा—"देस काल पूरन सदा बद वेद पुरान।" (वि॰ १०७) ; "जहँ न होहु तहँ देहु कहि···" (अ॰ दो॰ १२०), अतः, युद्ध स्थल पर भी थे। अतएव, जानते हैं। 'ब्रह्म' हैं, इससे सहज सर्वज्ञ हैं, उनका अखंड ज्ञान सदा एकरस रहता है। अतः, उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं है। 'अजित' हैं। इससे उन्हें एवं उनके अंशभूत भाई को अमोघ शक्ति आदि से भी कोई कैसे जीत सकता है ? 'भुवनेश्वर' हैं। अतएव ब्रह्मा के स्वदत्त महत्व की भी रक्षा करनी है। 'करुणाकर' हैं, भाई के स्नेह में करुणा प्रकट करेंगे। स्नेह से ही पूछ भी रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी के आने में कुछ विलम्ब हुआ। इससे अनुमान किया कि उन्हें कुछ कष्ट हो गया होगा, इसीसे करुणा करके पूछने लगे।

(२) 'तब लगि'—पूछते ही श्रीहनुमान्‌जी उनको लेकर आ गये। अतः, किसी को बतलाने की आवश्यकता नहीं रह गई। पहले भी शोक-समाचार प्रभु के कान में डालना किसी ने उचित नहीं समझा था, इसीसे नहीं कहा था। जिससे प्रभु को पूछना पड़ा। 'करुनाकर' से यह भी जनाया गया कि करुणा-वश पूछा है, अज्ञता वश नहीं।

'अति दुख माना' ; यथा—"अयं स समरश्लाघी भ्राता मे शुभ लक्षणः। यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन वा॥ लज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद्धनुः। सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता॥ अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव॥ चिन्ता मे वर्त्तते तीव्रा मुमूर्षा चोपजायते॥···परंविषादमापन्नो विललापाकुलेन्द्रियः॥" (वाल्मी॰ ६।१०१।५-६)। अर्थात् समरप्रिय ये मेरे शुभ लक्षणवाले भाई यदि मृतक हो गये, मेरे प्राण रहने से क्या और सुख से क्या है ? इनकी दशा देखकर मेरा बल लज्जित हो रहा है, हाथ से धनुष-बाण गिरे जाते हैं, आँसुओं से दृष्टि बंद हो जाती है। दुःस्वप्नवाले मनुष्य के समान सब अंग काँपते हैं, मुझे तीव्र चिंता उत्पन्न हुई है और मरने की इच्छा हो उठी है।··· इत्यादि कहते हुए परम दुःख से व्याकुलेन्द्रिय होकर विलाप करने लगे। (वाल्मीकीय रामायण में समर-भूमि में ही श्रीरामजी थे, वहीं के ये वचन हैं।)

जामवंत कह बैद सुषेना। लंका रहइ को पठई लेना ॥७॥
धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउ भवन समेत तुरंता ॥८॥

दोहा—रामपदारबिंद सिर, नायउ आइ सुषेन।
कहा नाम गिरि-औषधी, जाहु पवनसुत लेन ॥५४॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा कि सुषेण वैद्य लंका में रहता है, उसे ले आने के लिये किसको भेजा जाय ? ॥७॥ श्रीहनुमान्‌जी छोटा रूप धरकर वहाँ गये और शीघ्र ही उसको घर समेत ले आये ॥८॥ सुषेण ने आकर श्रीरामजी के चरण-कमलों में शिर नवाया, उसने पर्वत और (उसपर की) ओषधि का नाम कहा, (तब श्रीरामजी ने अथवा उसी ने कहा कि) हे पवन-सुत ! ओषधि लेने जाओ ॥५४॥

विशेष—(१) 'जामवंत कह बैद···'—वाल्मीकीय रामायण में सुषेण वानर को ही वैद्य कहा गया है, परन्तु मानस के सुषेण वैद्य लंका के रहनेवाले हैं। श्रीजाम्बवान्‌जी ने जब नाम और स्थान बतलाया, तब श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी को जाने और वैद्य को लाने की आज्ञा दी; यथा—"सुनि हनुमंत बचन रघुबीर। सत्य समीर सुवन सब लायक कह्यो राम धरि धीर। चाहिय बैद, ईस आयसु धरि सीस, कीस बल ऐन। आन्यों सदन सहित सोवत ही जौं लौं पलक परे न॥" (गी० लं० ८); 'धरि लघु रूप'—छोटा रूप; यथा—"मसक समान रूप कपि धरी।" (सुं० दो० ३); छोटे रूप से गये कि जिससे कोई देखे नहीं, नहीं तो कार्य में विघ्न होगा। राक्षस युद्ध करने लग जायँ, और उतने समय में कहीं सुषेण को ही छिपा दें। लौटते समय जब उसे भवन समेत लाना पड़ा, तब बड़े रूप में हो गये, क्योंकि अब इन्हें दौड़कर कोई नहीं पा सकता, इनका वेग पवन और गरुड़ के समान हो गया। 'आनेउ भवन समेत'—क्योंकि चिकित्सा की वस्तु तो घर में थी ही, उनके लिये फिर दोबारा जाना पड़ता, तो सम्भवतः राक्षस सावधान हो जाते, युद्ध होने लगता और फिर वहाँ तक पहुँचना कठिन हो जाता।

(२) 'कहा नाम गिरि··' वाल्मी० ६।१०१।३० में तो सुषेण ने यही कहा है कि पूर्व जिस पर्वत को श्रीजाम्बवान्‌जी ने तुम्हें बतलाया है। वह प्रसंग वाल्मी० ६।७४।२६–३३ में है कि समुद्र के ऊपर दूर तक जाते हुए हिमवान् पर पहुँचोगे, तब स्वर्ण का ऋषभ पर्वत देख पड़ेगा, फिर वहाँ से कैलास पर्वत देखोगे। इन दोनों के बीच में सर्वौषधि युक्त प्रकाशित ओषधि-पर्वत देखोगे। उस पर्वत के शिखर पर चार ओषधियाँ हैं, जो अपने प्रकाश से दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हैं। उनके नाम ये हैं—"मृत-संजीवनी (मरे हुए को जीवित करनेवाली), विशल्यकरणी (घाव भरनेवाली), सुवर्णकरणी (शरीर के रंग पूर्ववत् करनेवाली) और संधानी (टूटे अंगों को जोड़नेवाली), ये ही चारों महौषधियाँ हैं।"

'जाहु पवनसुत लेन'—पवनसुत कहने का भाव यह कि तुम वायु के समान तीव्र गति हो, अतएव तीव्र गति से जाओ कि तुम्हारे मार्ग को कोई रोक नहीं सके; यथा—"ज्येष्ठः केशरिणः पुत्रो वातात्मज इति श्रुतः।···अनिवार्य गतिश्चैव यथा सततगः प्रभुः॥" (वाल्मी० ४।२८।१०–११); तथा—"तासु पंथ को रोकन पारा।" (दो० ५४); पुनः तुम्हारी सहायता पवन भी करेंगे; यथा—"पवन राख्यो गिरि···" (गी० लं० १०)।

राम-चरन-सरसिज उर राखी। चला प्रभंजन-सुत बल भाखी ॥१॥
उहाँ दूत एक मरम जनावा। रावन कालनेमि-गृह आवा ॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरण-कमलों को हृदय में रखकर और अपना बल बखानकर श्रीहनुमान्‌जी चले ॥१॥ वहाँ एक दूत (गुप्तचर) ने रावण को यह भेद बता दिया, तब वह कालनेमि के घर आया ॥२॥

विशेष—(१) 'बल भाखी'—स्वामी करुणा रस में डूबे हुए हैं, उन्हें धैर्य देने के लिये पवनकुमार में वीररस जागृत हुआ, तब उन्होंने अपना बल कहा ; यथा—"जौ हौं अब अनुसासन पावौं। तौ चन्द्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥ कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत कुंड महि लावौं। भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥ विबुध बैद बर बस आनउँ धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं। पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं॥ तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं। दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं॥" (गी० लं० ८) ; इसपर श्रीरामजी को धैर्य हुआ और उन्होंने कार्य करने की आज्ञा दी; यथा —"सत्य समीर सुवन सब लायक कह्यो राम धरि धीर।" (गी० लं० ९) श्रीहनुमान्‌जी इसी भावोद्वेग में और 'पवन सुत' संबोधन से शीघ्र कार्य सम्पन्न की आज्ञा का अनुमान कर चलते समय प्रणाम करना तक भूल गये जिसका फल यह हुआ कि मार्ग में कई विघ्न हुए और जैसी शीघ्रता से कार्य करना इन्होंने कहा है, वैसा नहीं होगा। परन्तु 'राम-चरन-सरसिज' को हृदय में रखकर चले हैं, इसलिये कार्य अवश्य सम्पन्न होगा, "रामचरन पंकज उर धरहू।···" (दो० १) ; भी देखिये। यद्यपि बल का बखान करना स्वामी की सेवा के रूप में था, तथापि साथ ही प्रणाम नहीं करना गर्वसूचक अपराध हुआ। वैसा ही 'प्रभंजन-सुत' विशेषण दिया गया ; अर्थात् प्रकर्ष भंजन करनेवाले का पुत्र। ऐसा ही इन्होंने 'दलौं', 'पटकौं', 'बरबस धरि आनौं' आदि से उपर्युक्त पद में कहा भी है।

पूर्व कहा गया है कि क्रोधावेश में श्रीलक्ष्मणजी भी युद्ध में जाते समय प्रभु को प्रणाम करना भूल गये थे, जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें शक्ति लगी। वैसे ही ये भी प्रणाम करना भूल गये, तो इन्हें भी कालनेमि आदि के विघ्नों को पार करने के बाद पीछे श्रीभरतजी की शक्ति (शक्ति के समान तीर) लगी और श्रीलक्ष्मणजी की तरह इनका भी नया जन्म हुआ, लक्ष्मणजी ; यथा—"तुलसी आइ पवन सुत विधि मानों फिरि निरमिये नये हैं।" (गी० लं० ५) हनुमान्‌जी , यथा—"जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज जीवन-दान दियो है।" (गी० लं० १०)।

इन दोनों की अनवधानता भी स्वामी की लीला-विधायिनी-इच्छा से ही हुई है ; यथा— "त्वदाश्रितानां ··· ··॥" मनोनुसारिणः (आलवंदारस्तोत्र)। लोक-शिक्षा के लिये ऐसी लीलाएँ होती रहती हैं।

(२) 'रावन कालनेमि-गृह आवा।'—जैसे मारीच मृग का रूप बनने में निपुण था, वैसे ही कालनेमि भी मुनि का रूप बनने में चतुर था, इस बात को रावण जानता था। अतः, वह उसी के पास गया। 'रावन' शब्द का भाव यह है कि यह कालनेमि को रुलावेगा ; यथा—"पुनि-पुनि कालनेमि सिर धुना।" यह आगे कहा गया है। फिर पीछे उसके प्राण भी जायँगे।

दसमुख कहा मरम तेहि सुना। पुनि पुनि कालनेमि सिर धुना ॥३॥

देखत तुम्हहि नगर जेहिं जारा। तासु पंथ को रोकन पारा ॥४॥
भजि रघुपति करु हित आपना। छाँड़हु नाथ मृषा जल्पना ॥५॥
नीलकंज तनु सुंदर स्यामा। हृदय राखु लोचनाभिरामा ॥६॥

अर्थ—दशमुख रावण ने उससे सब मर्म कहा और उसने सुना, कालनेमि ने बार-बार अपना शिर पीटा ॥३॥ (और कहा कि) तुम्हारे देखते हुए जिसने नगर जला डाला, उसका मार्ग कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥४॥ (ऐसे बली से विरोध करना ठीक नहीं। अतः,) श्रीरघुनाथजी का भजन करके अपनी भलाई करो। हे नाथ ! झूठा व्यर्थ का बकवाद छोड़िये ॥५॥ और, नेत्रों को आनन्द देनेवाले नील कमल के समान सुन्दर श्याम-शरीर को हृदय में रखिये ॥६॥

विशेष—(१) 'दसमुख कहा मरम...'—'दसमुख' का भाव यह है कि अभिमान सहित ऐसा कहा, मानों दसो मुखों से कहता हो ; यथा—"दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे ॥" (आ० दो० २४)—यह मारीच से कहने का प्रसंग है। पुनः यह भी भाव है कि व्याकुलता से एक साथ ही दसो मुखों से बोल उठा ; यथा—"दसमुख बोलि उठा अकुलाना।" (दो० ४) ; 'मरम'—एक तो यह कि जो श्रीहनुमान्‌जी श्रीलक्ष्मणजी को अच्छा करने के लिये अमुक मार्ग से औषधि लेने को जा रहे हैं। दूसरा यह कि तुम मुनि-वेष करके मंदिर आदि उपकरणों से उस भक्त-कपि को मोहित करो कि जिससे रात बीत जाय ; क्योंकि वैद्य ने कहा है—"जियै कुँवर निसि मिलै मूलिका, कीन्ही विनय सुषेन।" (गी० लं० ६) ; पुनः—"काज नसाइहि होत प्रभाता।" (दो० ५८)—यह भी कहा गया है।

'पुनि पुनि कालनेमि सिर धुना।'—बार-बार शिर पीटा कि कहाँ से यह मेरे प्राण लेने को आ गया। माया में निपुण होना ही मुझे प्राण-घातक हुआ, इस पश्चात्ताप से शिर पीटने लगा कि मेरे सिर पर काल आ गया। जिस प्रकार मारीच और सिंहिका के प्राण गये, उसी प्रकार मेरे भी प्राण जायँगे, इत्यादि समझकर उसने अत्यन्त दुःख से अपना शिर पीटा ; यथा—"अति बिषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊँ।" (दो० ३१)—रावण।

(२) 'देखत तुम्हहि नगर...'—इसपर दो० ३४ चौ० ५ और दो० ५४ भी देखिये।

(३) 'भजि रघुपति...'—'रघु' संज्ञा जीव-मात्र की है, अतः 'रघुपति' का भाव यह है कि वे जीव मात्र के स्वामी एवं उपास्य हैं अतएव उन्हीं के भजन से आपका लोक और परलोक दोनों प्रकार का हित होगा। राज्य अचल रहेगा और अंत में मुक्ति भी मिलेगी। आगे भजन की विधि भी कहता है—

(४) 'नील कंज तनु...' अर्थात् वे नेत्रों और हृदय को आनंद देनेवाले हैं, अतः, उनके भजन-काल ही में परमानंद मिलेगा ; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि...सोई सुख लवलेस ..." (उ० दो० ८८)।

अहंकार ममता मद त्यागू। महा मोह-निसि सूतत जागू ॥७॥
काल ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहु समर कि-जीतिय सोई ॥८॥

दोहा—सुनि दसकंठ रिसान अति, तेहि मन कीन्ह बिचार।
रामदूत कर मरउँ बरु, यह खल रत मल-भार ॥५५॥

अर्थ—अहंकार, ममता और मद को छोड़ो, महामोह रूपी रात्रि में सोने से जागो ॥७॥ जो काल-रूपी सर्प का खानेवाला है, उसे क्या स्वप्न में भी कोई युद्ध से जीत सकता है ? अर्थात् वे लड़कर जीते नहीं जा सकते, भक्ति ही से वश होते हैं ॥८॥ दशग्रीव रावण सुनकर बहुत ही क्रोधित हुआ, (तब) उसने मन में विचार किया कि यह दुष्ट तो पाप समूह में लिप्त है, (अतः, मरना ही है तो) भले ही राम-दूत के हाथों मरूँ ॥५५॥

विशेष—(१) 'अहंकार ममता मद···'—तुम्हें अहंकार है कि मैं त्रिलोक-विजयी हूँ। नर-वानर मेरे आगे क्या चीज हैं ? तुम्हें ममता है कि मुझे कुंभकर्ण के ऐसे भाई और मेघनाद के ऐसे पुत्र हैं और मद यह है कि मैंने कैलास उठा लिया, मेरे ऐसे भुजबल के सामने कोई प्राणी क्या कर सकता है ? इत्यादि इन सबका त्याग करो, तथा—"मुधा मान ममता मद बहहू।" (दो० १५); और "परि-हरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस ॥" (सुं० दो० २१)—भी देखिये।

'महा मोह-निसि···'– ईश्वर में मनुष्यत्व का भ्रम होना महा मोह है; यथा – "महा मोह उपजा उर तोरे।···" (उ० दो० ५८); "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥" (गीता ९।११); देह-सम्बन्धी सुत-वित आदि में आसक्त रहना ही मोह रात्रि में सोना है और इनसे अनासक्त होकर श्रीरामजी का भजन करना जागना है ; यथा—"मोह निसा सब सोवनि हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा ॥ जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा ॥ होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा ॥" (अ० दो० ९२)—इसका तिलक देखिये, वही बातें यहाँ थोड़े में ही कही गई हैं।

(२) 'काल ब्याल कर···'—काल निर्दयता से सर्प की तरह सबको खा लेता है ; यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई ॥" (सुं० दो० २१) ; प्रभु उस काल के भी काल हैं; अतः, मनुष्य नहीं हैं। तब इनको कोई लड़कर कैसे जीत सकता है ?

(३) 'सुनि दसकंठ रिसान अति···'—उसने दसो मुखों से क्रोध की चेष्टा प्रकट की, उसके दसो मुख और बीसो नेत्र लाल हो गये। तब "क्रोध के परुष वचन बल" (आ० दो० ३८)—इस नियम से उसने गालियाँ भी दीं ; यथा—"सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी ॥ गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।···" (आ० दो० २५); इत्यादि बातें यहाँ भी जना दीं।

(४) 'रामदूत कर मरउँ बरु···'—भाव यह है कि रावण ने यह भी कहा कि यदि मेरी आज्ञा नहीं मानेगा तो मैं अभी मारता हूँ, वहाँ से तो चाहे बच भी जाओ। इसी पर यह कहता है कि इस पापी के हाथों से क्यों मरूँ ? रामदूत के हाथ से ही मरना भला है। इसी तरह मारीच ने भी सोचा था; यथा—"उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकेसि···" राम-दूत के दर्शन भी पुण्य-प्रद और पाप-हरण करनेवाले हैं ; यथा—"तात मोर अति पुन्य बहुता। देखेउँ नयन राम कर दूता ॥" (सुं० दो० ६), "कपि तव दरस भयउँ निष्पापा।" (दो० ५६)।

अस कहि चला रचिसि मग माया। सर-मंदिर बर बाग बनाया ॥१॥
मारुतसुत देखा सुभ आश्रम। मुनिहि बूझि जल पियउँ जाइ श्रम ॥२॥

अर्थ—ऐसा कहकर चला, मार्ग में माया रची, सर पर सुन्दर मंदिर और बाग बनाये ॥१॥ पवन-

पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने पवित्र एवं सुन्दर आश्रम देखा, तो मन में विचार किया कि मुनि से पूछकर जल पी लूँ, जिससे थकावट दूर हो ॥२॥

विशेष (१) 'अस कहि चला···' ऊपर विचार करना ही कहा गया है, परन्तु यहाँ के 'अस कहि' से स्पष्ट है कि इसने कहा भी कि अच्छा, जो आप नहीं मानते तो मैं चलता हूँ जैसा कहते हो, वही करूँगा। चला और श्रीहनुमान्‌जी से आगे पहुँचकर इसने माया भी रच ली। यह शीघ्रता दिखाने के लिये एक ही चरण मे ग्रन्थकार 'कहना', 'चलना' और 'माया रचना' तीनों कहते हैं।

'सर-मंदिर वर बाग बनाया।'—सर प्राचीन था, जिसमे शापित मकरी भी रहती थी, यह तो कालनेमि को मालूम था ही और साथ ही उसे यह भी मालूम था कि वह जल में पैठनेवाले को पकड़ा करती है। वहीं पर इसने मुनि बनकर आसन जमाया और माया से मंदिर और बाग भी बनाये। मकरी माया की नहीं थी, नहीं तो मरते समय इसका भी राक्षसी तन छूटकर दिव्य तन होता, जैसा मारीच और कालनेमि का हुआ है। परन्तु इसका वैसा नहीं हुआ। पुनः इसने कालनेमि का भेद भी बतलाया है, इससे भी यह उसके पक्ष की नहीं प्रतीत होती। 'वर' शब्द कहकर उसे ही 'सुभ आश्रम' भी कहा गया है; यथा—"बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥" (बा॰ दो॰ २०५); "राम दीख मुनि बास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन॥...सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिव नयन।" (अ॰ दो॰ १२४); यही सब रचनाएँ कीं।

(२) 'मारुतसुत देखा...'—प्रभु की इच्छा है, इसी से इन्हें प्यास और श्रम हो आये। देखिये, पहले इन्होंने ही कहा है—"राम-काज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ बिश्राम।" (सुं॰ दो॰ १); वहाँ सबको प्यास लगी थी, पर इन्हें नहीं लगी और यहाँ थोड़ी ही देर मे प्यास भी लग आई, पहले का भी इनका अपना बल-भाषण और साथ ही प्रणाम करना भूल जाना, यह सब लीला-विधान के लिये प्रभु की रचना है। कालनेमि और मकरी को शाप से मुक्त करना है। पुनः आगे भी श्रीभरतजी के यहाँ इन्हें बहुत कुछ लाभ कराना है।

(३) 'मुनिहि बूझि'—रात का समय था, इससे इन्होंने वहाँ तालाब को नहीं देखा, तब विचारा कि यहाँ कोई मुनि रहते हैं, तालाब आदि जलाशय भी अवश्य ही होंगे। अतः, उनसे पूछकर जल पी लूँ।

राच्छस - कपट बेष तहँ सोहा। मायापति - दूतहि चह मोहा ॥३॥
जाइ पवनसुत नायउ माथा। लाग सो कहइ राम-गुन-गाथा ॥४॥
होत महारन रावन - रामहिं। जितिहहिं राम न संसय या महिं ॥५॥
इहाँ भये मैं देखउँ भाई। ग्यान-दृष्टि - बल मोहि अधिकाई ॥६॥

अर्थ—कालनेमि राक्षस वहाँ बनावटी मुनि-वेष से शोभित होता था। यह (अपनी माया से) माया के स्वामी श्रीरामजी के दूत को मोहित करना चाहता था ॥३॥ पवनपुत्र ने जाकर शिर नवाया, वह श्रीरामजी के गुणों की कथा कहने लगा ॥४॥ कि रावण और श्रीरामजी से घोर युद्ध हो रहा है, इसमे संदेह नहीं है कि श्रीरामजी ही जीतेंगे ॥५॥ भाई! मैं यहाँ ही से देख रहा हूँ, (क्योंकि) मुझे ज्ञान-दृष्टि का अधिक बल है ॥६॥

विशेष—(१) 'मायापति-दूतहि चह मोहा ।'—मायापति का दूत कहते हैं, क्योंकि वह इनको मोहने की रचना करने से स्वयं मारा जायगा, यथा—"मायापति-सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया ॥" (अ० दो० २१७), 'मायापति' अपने आश्रित की रक्षा करते हैं, उसपर और की माया नहीं लगने देते, यथा—"सीम कि चापि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥" (बा० दो० १२५), 'चह'—चाहता है, पर सफल नहीं होगा।

(२) 'जाइ पवनसुत नायउ माथा ।'—श्रीहनुमान्‌जी ने साधु-वेष देखकर प्रणाम किया; यथा—"लखि सुवेष जग वंचक जेऊ। वेष-प्रताप पूजियहि तेऊ ॥" (बा० दो० ६), 'लाग सो कहइ . '—वह अपने वेष की महत्ता दृढ करने का और भक्त-कपि को 'राम-गुण-गाथा' मे मोहित करके रात-भर रोक रखने का उपाय करने लगा। श्रीहनुमान्‌जी राम-गुण के रसिक हैं; यथा—"जयति रामायण-श्रवण-सजात-रोमाच-लोचन सजल-सिथिल बानी।" (वि० २१); इसी से विना इनके पूछे ही स्वयं इन्हें राम-गुण सुनाने लगा कि कहीं प्रणाम करके चले न जायें; यथा—"राम काज कीन्हे विना, मोहिं कहाँ विश्राम।" (सु० दो० १)।

(३) 'होत महारन रावन-रामहिं ।'—उपर्युक्त राम-गुण-गान यहाँ कहते हैं कि वह युद्धारंभ से ही कथा कहने लगा। 'जितिहहिं राम न ..'—इसका अभिप्राय यह है कि तुम निश्चिंत होकर यहीं सो रहो, मैं तो सब जानता हूँ, इससे भविष्य की बात भी जानता हूँ कि श्रीरामजी ही जीतेंगे। श्रीहनुमान्‌जी राम-गुण सुनकर प्यास भूल गये थे। परन्तु उसने साथ ही, अपनी प्रशंसा प्रारंभ की, और यह सत-स्वभाव के विरुद्ध है, यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५), अत, जब इसने 'मैं', 'मोहि' कहा, तब इनका चित्त हट गया।

माँगा जल तेहिं दीन्ह कमंडल। कह कपि नहि अघाउँ थोरे जल ॥७॥
सर मज्जन करि आतुर आवहु। दिच्छा देउँ ज्ञान जेहि पावहु ॥८॥

दोहा—सर पैठत कपि पद गहा, मकरी अति अकुलान।
मारी सो धरि दिव्य तनु, चली गगन चढ़ि जान ॥५६॥

अर्थ—उससे इन्होंने जल माँगा, तब उसने कमंडल दे दिया। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा कि मैं थोड़े जल से नहीं अघाऊँगा (न तृप्त होऊँगा) ॥७॥ तब उसने कहा कि तालाब मे स्नान करके शीघ्र आ जाओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँ, जिससे तुमको ज्ञान हो जाय ॥८॥ तालाब मे प्रवेश करते ही एक मकरी (मगरी) ने अकुलाकर (अति शीघ्रता से) कपि श्रीहनुमान्‌जी का पैर पकडा, उन्होंने उसे मार डाला। (तब) वह दिव्य देह धरकर विमान मे चढकर आकाश को चली ॥५६॥

विशेष—(१) 'नहिं अघाउँ थोरे जल'—इतने थोडे जल से मेरी प्यास नहीं बुझेगी। अत, मुझे कोई जलाशय, तालाब आदि दिखलाइये। तब उसने तालाब बतला दिया, किन्तु सोचा कि कहीं जल पीकर ये उधर से ही चले न जायँ, इसलिये स्नान कर आने और ज्ञान दीक्षा देने का लोभ सुनाकर लौट आने को कहा कि जिससे बातों मे फँसाकर रात बिता दूँ। 'आतुर आवहु'—इससे कोई बड़ी दुर्लभ ब्रह्म-विद्या देने का लोभ ध्वनित किया। 'ज्ञान दृष्टि बल मोहिं अधिकाई।' पहले कह ही चुका है। भाव यह कि वैसा ही त्रिकाल का ज्ञान मैं तुम्हें भी दूँगा।

(२) 'सर पैठत कपि···'—'अकुलान'—श्रीहनुमान्‌जी का कहीं भी विघ्न से घबड़ाना नहीं पाया जाता। इससे अकुलाने का अर्थ मकरी में ही लगाना होगा। वह खाने के लिये अकुलाकर (आतुरता से) दौड़ी।

(३) 'मारी'—उसका मुँह पकड़कर फाड़ डाला ; यथा—"मकरी ज्यों पकरि कै बदन बिदारियै।" (हनु० बाहुक) ; 'दिव्य तनु' अर्थात् देवताओं का-सा दिव्य शरीर (अप्सरा) धारणकर वह आकाश को चली गई।

कपि तव दरस भइउँ निष्पापा। मिटा तात मुनिवर कर सापा ॥१॥
मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन कपि मोरा ॥२॥
अस कहि गई अपछरा जबहीं। निसिचर निकट गयउ कपि तबहीं ॥३॥
कह कपि मुनि गुरु-दछिना लेहू। पाछे हमहि मंत्र तुम्ह देहू ॥४॥

अर्थ—हे कपि ! आपके दर्शनों से मैं निष्पाप हुई, हे तात ! मुनि-श्रेष्ठ का शाप मिट गया ॥१॥ हे कपि ! यह मुनि नहीं है, घोर निशाचर है, आप मेरा वचन सत्य मानें ॥२॥ ऐसा कहकर ज्योंही वह अप्सरा गई, त्यों ही कपि निशाचर के समीप गये ॥३॥ (और उससे बोले कि) हे मुनि ! पहले गुरु-दक्षिणा ले लीजिये, तब पीछे आप हमें मंत्र-दीक्षा दीजियेगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कपि तव दरस ···'—संतों के दर्शनों से पाप दूर होते हैं ; यथा—"संत दरस जिमि पातक टरई।" (कि० दो० १६), मुनिवर ने शापानुग्रह करते हुए कहा था कि राम-दूत के दर्शनों से तू निष्पाप होगी, फिर तुझे अपना दिव्य (अप्सरा) रूप मिल जायगा। यह चरितार्थ होने पर इसने कहा कि अब मुनिवर का शाप मिट गया। मुनिवर ने किसी अवज्ञा पर शाप दिया होगा, उसे यहाँ नहीं कहा गया।

(२) 'मानहुँ सत्य बचन कपि मोरा'—प्रायः लोग असंस्कृत स्त्रियों के वचन पर विश्वास नहीं करते; यथा—"गयउँ नारि बिस्वास।" (अ० दो० २१)। इसपर कहती है कि 'मोरा' अर्थात् मैं दिव्य तन से कहती हूँ, देवी-देवता झूठ नहीं बोलते। श्रीहनुमान्‌जी ने भी विश्वास कर लिया ; क्योंकि पहले तो उस मुनि की बातों पर ही इन्हें उसके मुनि होने में सदेह था, फिर इसने सामने ही दिव्य-तन पाया और इनका उपकार मानती हुई कृतज्ञता के रूप में इनसे सत्य वचन कहा।

(३) 'निसिचर निकट गयउ···'—अप्सरा की बातों से प्रतीति हो गई, इसीसे उसे अब निशाचर ही कहते हैं।

(४) 'कह कपि मुनि···'—उसकी बातों के अनुकूल ही श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है। जब इन्होंने जल माँगा, तब उसने अपने कमंडल का जल देना चाहा। जब इन्होंने नहीं लिया तब उसने समझा कि वैष्णव साधु अपने ही कमंडल का जल शुद्ध मानते हैं, इससे देह-भेद की दृष्टि से इन्होंने नहीं लिया, तब उसने कहा कि तुम्हें अभी ब्रह्म-ज्ञान नहीं है। वह शुष्क ज्ञानी मुनि बना था, जिसमें साधक वाक्य-ज्ञान मात्र से जीवन्मुक्त होकर अपनेको ब्रह्म मानने लगते हैं और फिर किसी में देह-भेद नहीं रखते ; यथा—'जे ब्रह्म मय देखत रहे।' उस ज्ञान-दीक्षा में मंत्र-दीक्षा के पश्चात् गुरु-शिष्य भाव नहीं रह जाता।

इसलिये गुरु-दक्षिणा पहले ही देना योग्य है। इस दृष्टि से श्रीहनुमान्‌जी उसे पहले ही गुरु-दक्षिणा देने को कहते हैं। वह इन्हें जीवन्मुक्त बनाने को दीक्षा देता, ये उसे पहले ही मुक्त कर देते हैं, यह योग्य दक्षिणा है, वह भी पीछे इन्हें 'राम राम' कहकर महामन्त्रोपदेश करेगा ही, जिससे सभी प्रकार की मुक्ति हो सकती है।

सिर लंगूर लपेटि पछारा। निज तनु प्रगटेसि मरती बारा ॥५॥
राम राम कहि छाँड़ेसि प्राना। सुनि मन हरषि चलेउ हनुमाना ॥६॥

अर्थ—उसका शिर पूँछ मे लपेटकर उसको पछाड़ (पटक) दिया। मरते समय उसने अपना (राक्षसी) शरीर प्रकट कर दिया ॥५॥ 'राम-राम' कहकर उसने प्राण छोड़े, यह सुनकर श्रीहनुमान्‌जी मन मे प्रसन्न होकर चल दिये ॥६॥

विशेष—(१) 'सिर लंगूर······'—यही गुरु-दक्षिणा दी। मरते समय जब वह व्याकुल हो गया, तब उसकी माया छूट गई और उसका असली रूप प्रकट हो गया। इससे वह छल-रहित हो गया। छल रहता तो मुक्ति नहीं होती। यह भी उत्तम संयोग बन गया।

(२) 'राम-राम कहि···'—अंत समय मे राम नाम कहने से अवश्य मुक्ति होती है; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमी मुकुति होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०); इसीसे यहाँ इसकी मुक्ति स्पष्ट नहीं लिखी गई। मारीच ने मन-ही-मन राम नाम का स्मरण किया था। इससे वहाँ उसका मुक्त होना स्पष्ट कहा गया है, नहीं तो लोगों को संदेह होता कि मुक्त हुआ या नहीं। मारीच की मुक्ति पर देवगण प्रसन्न हुए और यहाँ इसकी मुक्ति पर श्रीहनुमान्‌जी।

'सुनि मन हरषि ······'—अंत मे उसके मुख से राम नाम सुना। इसपर श्रीहनुमान्‌जी प्रसन्न हो गये। पुनः निशाचरों को और उनमें भी राम-कार्य बाधकों को मारना आपका अभीष्ट ही है, उसकी सिद्धि पर हर्षित हुए कि विघ्न निवृत्त हुआ, अब राम-कार्य के लिये चलें।

देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा ॥७॥
गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ। अवधपुरी ऊपर कपि गयऊ ॥८॥

दोहा—देखा भरत बिसाल अति, निसिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सायक मारेउ, चाप श्रवन लगि तानि ॥५७॥

अर्थ—जाकर पर्वत को देखा, पर ओषधि नहीं पहचान सके, तब श्रीहनुमान्‌जी ने एकदम पर्वत को ही उखाड़ लिया ॥७॥ पर्वत लेकर रात मे ही आकाश मे दौड़ते हुए श्रीहनुमान्‌जी श्रीअवधपुरी के ऊपर गये ॥८॥ श्रीभरतजी ने अत्यन्त विशाल स्वरूप आकाश मे देखा, मन मे यह अनुमान कर कि यह कोई बड़ा विशाल निशाचर है, उन्होंने कान तक धनुष तानकर बिना फर का एक बाण मारा ॥५७॥

विशेष—(१) 'देखा सैल······'—कालनेमि को मारकर बहुत वेग से गये और शीघ्र ही पर्वत को देखा। परन्तु इन्होंने ओषधियों को नहीं पहचाना। इसका कारण वाल्मी० ६।७४।५६-६५ मे

कहा गया है—"सब प्रकाशमान ओषधियों से यह पर्वत प्रकाशित था, अग्नि के समान प्रकाशित उस पर्वत को देखकर श्रीहनुमान्‌जी विस्मित हुए। यह जानकर कि ये हमें लेने आये हैं, वे दिव्य ओषधियाँ अदृश्य हो गईं, तब श्रीहनुमान्‌जी ने क्रोध किया और उस पर्वत को फटकारकर अपने बाहु-बल से उसे उखाड़ लिया और नभ-मार्ग से द्वितीय सूर्य की नाईं चले।" तथा—"कालनेमि दलि वेगि बिलोक्यो द्रोनाचल जिय जानि। देखी दिव्य ओषधी जहँ-तहँ जरी न परी पहिचानि॥ लियो उठाय कुधर कंदुक ज्यों वेग न जाइ बखानि। ज्यों धायो गजराज उधारन सपदि सुदरसन पानि॥" (गी॰ लं॰ ९); इसमें दिव्य ओषधियों को जहाँ-तहाँ देखना (ढूँढ़ना) कहा गया है, पर वे तो इन्हें देख अदृश्य हो गईं तो कैसे पहचानी जायँ? क॰ लं॰ ५५ से यह भी जाना जाता है कि उसपर भट रखवाले थे, श्रीहनुमान्‌जी उन्हें मारकर ही पहाड़ उखाड़ सके; यथा—"रखवारे मारे भारे भूरि भट दलि कै।"

(२) 'अवधपुरी ऊपर कपि गयऊ।'—अवधपुरी जाने का हेतु हनुमन्नाटक आदि से जाना जाता है कि श्रीलक्ष्मणजी के घायल होने पर शोकातुर होकर श्रीरामजी ने कहा कि श्रीहनुमान्‌जी के रहते हुए भी तुम (लक्ष्मण) पर आपत्ति आई। यदि भाई भरत यहाँ होते तो वे अवश्य तुम्हारी रक्षा करते। इसपर श्रीहनुमान्‌जी के मन में गर्व हुआ कि न जानें श्रीभरतजी का बाहुबल कैसा है? तब सर्वज्ञ श्रीरामजी ने चलते समय यह भी कहा कि अवधपुरी का भी समाचार लेते आना; यथा—"वेग बल साहस सराहत कृपानिधान, भरत की कुसल अचल ल्यायो चलि कै॥" (क॰ लं॰ ५५); वहाँ जाने से इन्हें अपने बल का गर्व दूर हो गया। भगवान् अपने भक्त के हृदय में गर्व आदि विकार नहीं आने देते; यथा—"उर अंकुरेउ गर्व-तरु भारी॥ वेगि सो मैं डारिहउँ उखारी।" (बा॰ दो॰ १२८)।

(३) 'देखा भरत बिसाल अति···'—'बिसाल अति' का भाव यह है कि श्रीहनुमान्‌जी का सुमेरु-गिरि के समान कान्तिमान और विशाल शरीर है और वे प्रकाशित विशाल द्रोणगिरि को भी लिये हुए हैं, इसी से रात में भी दिखलाई पड़े। वेग से जा रहे थे। अतः, शब्द सुनकर भी श्रीभरतजी ने उधर देखा।

'देखा भरत'—आधी रात में श्रीभरतजी ने क्यों और किस तरह देखा? पुनः श्रीहनुमान्‌जी भी नंदिग्राम से श्रीअवधपुरी को रात में क्यों गये? इसका कारण भी हनुमन्नाटक आदि में कहा गया है कि उसी रात को श्रीसुमित्राजी ने स्वप्न देखा कि मेरी बाईं भुजा को सर्प निगल रहा है। तुरत उन्होंने यह बात श्रीकौशल्याजी से कही। पुनः गुरु-वसिष्ठजी से भी कहा गया, तब उन्होंने शान्ति के लिये यज्ञ करना निश्चित कर श्रीभरतजी को बुलाकर रक्षा करने के लिये बैठाया। ये धनुष-बाण लेकर पास में बैठ गये, तब वे यज्ञ करने लगे। इसी समय में उक्त रीति से श्रीहनुमान्‌जी दिखलाई पड़े। तब इन्हें विघ्न करनेवाला जानकर उन्होंने बिना फर का ही बाण चलाया कि हिंसा भी न हो और यहाँ विघ्न भी नहीं हो। अभी निशाचर का अनुमान मात्र था, इससे भी सफल बाण नहीं चलाया। अथवा, श्रीरामजी की प्रेरणा से भी बिना फर का ही बाण छोड़ा कि इसी से श्रीहनुमान्‌जी को श्रीभरतजी के बल की परीक्षा भी अच्छी तरह मिल जायगी। आगे दो॰ ५८ चौ॰ ५-६ भी देखिये।

परेउ मुरुछि महि लागत सायक। सुमिरत राम राम रघुनायक॥१॥
सुनि प्रिय बचन भरत तब धाये। कपि समीप अति आतुर आये॥२॥
बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिं बहु भाँति जगावा॥३॥
मुख मलीन मन भये दुखारी। कहत बचन भरि लोचन बारी॥४॥

शब्दार्थ—जागना = चैतन्य होना। जगाना = होश में लाना।

अर्थ—बाण लगते ही श्रीहनुमान्‌जी मूर्च्छित होकर 'राम राम, रघुनायक' का स्मरण करते हुए पृथिवी पर गिर पड़े ॥१॥ ये प्रिय वचन सुनकर श्रीभरतजी दौड़े और बहुत दुखी होकर बड़ी शीघ्रता से श्रीहनुमान्‌जी के समीप आये ॥२॥ वानर को व्याकुल देखकर उन्होंने हृदय से लगा लिया और बहुत तरह से उसे जगा रहे हैं, पर वह होश में नहीं आता ॥३॥ तब श्रीभरतजी मन में दुखी हो गये, उनका मुँह उदास हो गया, आँखों में वे आँसू भरकर ये वचन बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'परेउ मुरुछि···'—यहाँ श्रीभरतजी के बाण का प्रताप और उनका बाहु बल प्रकट किया गया। बिना फर के बाण से मूर्च्छित होने में बाण का प्रताप है; यथा—"बिनु फर बान राम तेहि मारा।" (बा० दो० २०९); "बान प्रताप जानि मारीचा।" (दो० ३४), और श्रीहनुमान्‌जी ऐसे वीर भी थोथे बाण से गिर गये, यही बाहुबल है। 'सुमिरत राम राम रघुनायक' इससे श्रीभरतजी ने इन्हें सच्चा राम-भक्त जाना, क्योंकि व्याकुलता में सहसा वे ही शब्द निकलते हैं जो जिसके स्वाभाविक होते हैं।

(२) 'सुनि प्रिय बचन···'—अपने बड़े भाई का भक्त जानकर और उनके 'राम राम रघुनायक' इस नाम कीर्तन रूप प्रिय वचन को सुनकर श्रीभरतजी उठकर दौड़े। 'प्रिय बचन'; यथा—"राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात।" (उ० दो० १), अर्थात् इसी नाम को श्रीभरतजी स्वयं भी जपते हैं। 'अति आतुर' के यहाँ 'अत्यन्त शीघ्र' और 'व्याकुल होकर' दोनों अर्थ हैं।

शंका—जब श्रीहनुमान्‌जी गिरे, तब पर्वत कहाँ रहा?

समाधान—पवनदेव ने अपने चक्र से उसे घुमाकर रक्खा था कि उनके मूर्च्छित पुत्र पर उसका दबाव न पड़े; यथा—"देख्यो जात जानि रजनीचर बिनु फर सर हयो हियो है। पर्‍यो कहि राम, पवन राख्यो गिरि पुर तेहि तेज पियो है॥" (गी० लं० १०); अर्थात् बाण ने श्रीहनुमान्‌जी का पूरा तेज पी लिया, वे जब राम-राम कहकर गिरे, तब पवन ने गिरि को रक्खा।

(३) 'बिकल बिलोकि···'—श्रीभरतजी ने इन्हें हृदय में लगाकर राम-भक्त में अपना प्रेम प्रकट किया। 'बहु भाँति जगावा'—मुख पर जल के छींटे दिये, ओषधि सुँघाई, ऐसे ही और भी उपाय किये जो वैद्यक शास्त्र में कहे गये हैं।

(४) 'मुख मलीन मन···'—भागवतापराध मुझसे हो गया, यह समझकर श्रीभरतजी के हृदय में विषाद हुआ, उसीसे उनके मुख पर भी उदासी छा गई। इसीसे आगे दीन वचन भी कहे हैं; यथा—"हृदय दाहु अति बदन मलीना। कहकर जोरि बचन अति दीना॥" (अ० दो० ६६); 'मुख मलीन' से तन, 'मन भये दुखारी' से मन और 'कहत बचन···' से वचन का दुःख प्रकट हुआ।

जेहि बिधि रामबिमुख मोहि कीन्हा। तेहि पुनि यह दारुन दुख दीन्हा ॥५॥
जौं मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम-पद-कमल अमाया ॥६॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम-सूला। जौं मो पर रघुपति अनुकूला ॥७॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा ॥८॥

सोरठा—**लीन्ह कपिहि उर लाइ, पुलकित तनु लोचन सजल।**
प्रीति न हृदय समाइ, सुमिरि राम रघुकुल-तिलक ॥५८॥

अर्थ—जिस विधाता ने मुझे राम-विमुख किया, उसीने फिर यह मुझे कठिन दुःख दिया ॥५॥ यदि मन, वचन और शरीर से राम-चरण-कमल में मेरा निष्कपट प्रेम हो ॥६॥ और जो श्रीरामजी मुझपर प्रसन्न हों तो हे वानर ! तुम श्रम (मूर्च्छा) और पीड़ा से रहित हो जाओ ॥७॥ वचन सुनते ही कपिराज श्रीहनुमान्जी 'कोशलपति श्रीरामजी की जय हो, जय हो' ऐसा कहते हुए उठ बैठे ॥८॥ श्रीभरतजी ने कपि को हृदय से लगा लिया, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों मे जल भर आया। रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी का स्मरण करके उनके हृदय में प्रीति नहीं समाती ॥५८॥

विशेष-(१) 'जेहि बिधि रामबिमुख···'; यथा—"बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा ॥" (अ० दो० २६०), अर्थात् सरस्वती के द्वारा ब्रह्मा का कर्त्तव्य तो मुझे राम-विमुख करने का था ही, परन्तु स्वामी ने अपनी भलाई से मुझे बचा लिया, फिर भी वियोग तो है ही। 'पुनि यह दारुन दुख'—भागवत-वध रूपी भारी पाप लगा।

(२) 'जौं मोरे मन बच···'—'जौं' का भाव यह है कि भक्त लोग अपनी निष्ठा आदि के अभिमानी नहीं होते, इसीसे ये यह संदिग्ध वचन कहते हैं।

यह शपथ करने की रीति भी है ; यथा—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ ॥" (दो० ७१)—श्रीलक्ष्मणजी। "जौं मन बच क्रम उर मम माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥ तौ कृसानु···" (दो० १०७)—श्रीसीताजी। वैसे ही यहाँ श्रीभरतजी ने भी दो शपथें कीं ; यथा "जौं मोरे मन ··"; "जौं मोपर रघुपति अनुकूला।" एक में अपनी निष्ठा को रक्खा और दूसरी में श्रीरामजी की कृपा को। 'तौ कपि होउ बिगतश्रम-सूला।' यह चरण दीपदेहली है, दोनों शपथें इसी के प्रति की गई हैं।

इन्हें अपनी निष्ठा पर विश्वास है जिसकी साक्षी अयोध्याकांड में त्रिवेणी आदि ने दी है। स्वामी की अनुकूलता पर भी हृदय मे दृढ़ता है ; यथा—"जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला।" (अ० दो० २११); इसी से इन दो बातों को कपि के जीवनोद्देश्य मे शपथ पर रक्खा कि जिससे वे अवश्य स्वस्थ हो जायँ।

(३) 'सुनत बचन उठि···'—यहाँ 'सुनत' शब्द से कहा जाता है कि श्रीहनुमान्जी ने ऊपर से ही मूर्च्छा की चेष्टा की थी, किन्तु परीक्षा के लिये चुप थे, जब इनकी शपथ से निष्ठा देखी, तब उठ बैठे। अन्यथा यदि मूर्च्छा थी, तो सुना कैसे ? इस अर्थ पर न तो श्रीभरतजी के बाण का प्रभाव रह जाता है और न श्रीभरतजी को शपथ का ही कुछ मूल्य रहता है। यथार्थ अर्थ यह है कि श्रीहनुमान्जी पहले तो यथार्थ मूर्च्छित थे ही। जैसे ही श्रीभरतजी ने शपथ द्वारा जिलाने का मन मे संकल्प किया कि राम-कृपा से चैतन्यता आने लगी। फिर जो इन्होंने वचन से कहा, वह सुनते-सुनते श्रीहनुमानजी उठ बैठे ; यथा—"जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज जीवन-दान दियो है।" (गी० लं० १०); अर्थात् श्रीभरतजी ने प्रार्थना की कि मेरी आयु इसको दी जाय। परन्तु यहाँ उक्त दो शपथ द्वारा जीवन देना कहा गया है।

(४) 'लीन्ह कपिहि उर लाइ···'—पहले कहा गया था 'बिकल बिलोकि कीस उर लावा।' बीच मे मूर्च्छा छुड़ाने का उपाय करने लगे, तब उन्हें लिटा दिया था। अब जागकर उठ बैठे तब फिर आनन्द से हृदय लगाया। तनु पुलकित होना और नेत्रों का सजल होना ये प्रीति की दशाएँ हैं। 'प्रीति न हृदय समाइ' के दो कारण हैं। एक श्रीहनुमान्जी का स्वस्थ होना और दूसरा रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना कि वे बड़े कृपालु हैं, उन्होंने मुझे भारी पाप से बचाया, नहीं तो मेरे द्वारा कुल ही कलंकित होता, पर वे तो 'रघुकुल तिलक' हैं। अतः, इस कुल में कलंक कैसे आने दें ?

तात कुसल कहु सुख-निधान की। सहित अनुज अरु मातु जानकी ॥१॥
कपि सब चरित समास बखाने। भये दुखी मन महँ पछिताने ॥२॥
अहह दैव मैं कत जग जायउँ। प्रभु के एकहु काज न आयउँ ॥३॥
जानि कुअवसर मन धरि धीरा। पुनि कपि सन बोले बलबीरा ॥४॥

शब्दार्थ—समास = संक्षेप, थोड़े में। कत = क्यों। बलवीर = जो बल में औरों से बढ़कर हो।

अर्थ—हे तात! छोटे भाई और माता श्रीजानकीजी के साथ सुखसागर श्रीरामजी की कुशल कहो ॥१॥ (शीघ्रता के कारण) कपि ने सम्पूर्ण चरित संक्षेप में ही कहा, (सुनकर) वे दुखी हुए और मन में पछताने लगे ॥२॥ हा दैव! मैं जगत् में (व्यर्थ ही) क्यों पैदा हुआ, जो प्रभु के एक (किसी) भी काम में नहीं आया ॥३॥ फिर कुसमय जानकर मन में धैर्य धरकर बलबीर श्रीभरतजी श्रीहनुमान्‌जी से फिर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'तात कुसल कहु सुख-निधान की।'—जब उन्हें सुख-निधान कहते हैं, तब कुशल पूछना कैसा? पर यह प्रीति की रीति है; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। राम पुरी मंगल मय पावनि॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥" (बा० दो० २९५)।

(२) 'सब चरित'—श्रीसीताजी के हरण से लेकर इस शक्ति-प्रसंग तक। 'भये दुखी'—क्योंकि श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की कुशल पूछी थी, उन्हीं पर विपत्ति है और इसी कारण श्रीरामजी भी दुखी ही हैं। यहाँ दुखी होने में श्रीभरतजी उपलक्षण-मात्र हैं, साथ में श्रीकौशल्याजी और श्रीसुमित्राजी आदि माताएँ भी हैं। गी० लं० १० से १४ तक देखिये। जिसके द्वारा यह दिखाया गया है कि जैसे कृष्ण भगवान् ने प्रिय भक्त उद्धवजी को गोपिकाओं के पास प्रेम की दीक्षा लेने के लिये ज्ञानोपदेश के मिस भेजा है। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी ने इन्हें प्रेम की पराकाष्ठा प्राप्त कराने के लिये प्रेरणा करके श्रीअयोध्या भेजा है।

(३) 'प्रभु के एकउ···'—प्रभु तो स्वयं समर्थ हैं, उन्हें सहायक की अपेक्षा नहीं है, पर सेवक का काम है सेवा करना; यथा—"सेवक सो जो करइ सेवकाई।" (आ० दो० २७०); स्वामी की सेवा से सेवक कृतार्थ होता है, अन्यथा उसका जन्म ही व्यर्थ है; यथा—"कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते। कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते॥" (वाल्मी० २।३१।२४); "स्वामि संकट हेतु हौं, जड़ जननि जायो जाय। समय पाइ कहाइ सेवक घट्यो तौ न सहाय॥" (गी० लं० १४); इसपर श्रीभरतजी पछता रहे हैं और अधीर हो गये।

(४) 'जानि कुअवसर मन···'—'कुअवसर'—उधर श्रीलक्ष्मणजी घायल पड़े हैं, रात ही में ओषधि जानी चाहिये। मैं शोकमग्न रहूँगा, तो सभी शोक ही करेंगे और फिर श्रीलक्ष्मणजी के प्राण चले जायँगे। अतएव यह शोक का समय नहीं, किन्तु कर्त्तव्य करने का है; यथा—"तात हृदय धीरज धरहु, करहु जो अवसर आजु।" (अ० दो० १६६); "धीरज धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदुबानी॥" (अ० दो० ७३)।

'पुनि कपि सन बोले बलबीरा।'—'पुनि' अर्थात् धैर्य धारण कर अथवा, एकबार पहले बोल चुके हैं, यथा—"तात कुसल कहु ." अब फिर बोले। 'बलबीरा'—का भाव आगे कहेंगे। वह अन्य वीर के सामर्थ्य से बाहर है कि बाण पर शैल समेत श्रीहनुमान्‌जी को क्षण-भर में लंका पहुँचा दे।

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता ॥५॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता ॥६॥
सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना ॥७॥
राम-प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥८॥

शब्दार्थ—गहरु (गहर) = देर, विलंब।

अर्थ—हे तात ! तुमको जाने में देर होगी और सवेरा हो जाने पर काम बिगड़ जायगा ॥५॥ पर्वत सहित मेरे बाण पर चढ़ जाओ, मैं तुमको वहाँ पहुँचाता हूँ, जहाँ कृपा के स्थान श्रीरामजी हैं ॥६॥ श्रीभरतजी के वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चलेगा ? ॥७॥ फिर श्रीरामजी का प्रभाव विचार कर वे हाथ जोड़कर और चरणों की वंदना करके बोले ॥८॥

विशेष—(१) 'तात गहरु होइहि...'—श्रीहनुमान्‌जी ने यह भी कहा था कि प्रभात हो जाने पर फिर यह दवा काम न देगी—ऐसा वैद्य ने कहा है ; यथा—"समाचार कहि गहरु भो तेहि ताप तयो है।" (गी॰ लं॰ १८) ; इसपर भरतजी कहते हैं—'चढ़ु मम सायक...'। 'कृपानिकेता' का भाव यह है कि प्रभु ने मुझपर बड़ी कृपा की, तुम्हारे द्वारा समाचार दिया और मुझे भागवतापराध से बचाया। पुनः यह किंचित् सेवा भी इसी बहाने मुझे दी।

(२) 'सुनि कपि-मन...'—संजीवनी लेने के लिये चले, तब बल-बखान करने पर अभिमान उपजा था। वह कई विघ्नों से और एक ही बाण से मूर्च्छित होने पर चूर्ण हो गया। यहाँ वह फिर उपजा तब राम-प्रभाव के स्मरण से दूर हुआ।

(३) 'राम-प्रभाव बिचारि...'; यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहि, जारि सकइ खलु तूल ॥" (सुं॰ दो॰ ३३) ; और श्रीभरतजी पर श्रीरामजी की अनुकूलता अभी शपथ द्वारा देख चुके हैं और उसी से इनकी मूर्च्छा भी दूर हुई। अतएव निश्चय किया कि ये अवश्य मुझे पर्वत के साथ बाण पर वहाँ भेज सकते हैं।

गी॰ लं॰ ११ में गर्व होने पर तीर पर चढ़ना भी कहा है ; यथा—"कुधर सहित चढ़ौ बिसिष, बेगि पठवौं, सुनि हरि हिय गर्व गूढ़ उपयो है। तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है ॥" इत्यादि। पर यहाँ ग्रंथकार ने परीक्षा की बात ध्वनि से ही जना दी है। श्रीहनुमान्‌जी का भक्ति-भाव भी बना रहा। 'बंदि चरन'—यह बिदाई माँगने का प्रणाम है।

दोहा—तव प्रताप उर राखि प्रभु, जैहउँ नाथ तुरंत।
असि कहि आयसु पाइ पद, बंदि चलेउ हनुमंत ॥
भरत-बाहुबल सील गुन, प्रभु-पद-प्रीति अपार।
मन महँ जात सराहत, पुनि पुनि पवनकुमार ॥५९॥

अर्थ—हे नाथ! हे प्रभो! आपका प्रताप हृदय में रखकर मैं तुरत जाऊँगा, ऐसा कहकर, आज्ञा पा, चरणों को प्रणाम कर श्रीहनुमान्‌जी चल दिये॥ श्रीभरतजी के अपार बाहु बल, शील, गुण और प्रभु-पद-प्रेम को मन में बार-बार सराहते हुए पवनकुमार चले जाते हैं॥५६॥

विशेष—(१) 'तव प्रताप उर···'—राम-प्रताप स्मरण से बड़े-बड़े कार्य सहज में ही हो जाते हैं। पूर्व कई जगह कहा गया है। वैसे श्रीहनुमान्‌जी भी कहते हैं कि आपका प्रताप स्मरण करते हुए तुरत चला जाऊँगा। 'पद बंदि'—यह आज्ञा पाने पर बिदाई का प्रणाम है।

(२) 'भरत बाहुबल सील···'—'बाहुबल'; यथा—'बिनु फर सायक मारेउ···परेउ मुरछि···' 'चढ़ मम सायक···'। 'सील'; यथा—'कीस उर लावा'; 'आतुर धाये'; तात कहा; यथा—'तात कुसल कहु'। 'प्रभु-पद-प्रीति'—यह शपथ से जाना, पुनः, यथा—'प्रीति न हृदय समाइ ··'।

(३) 'मन महँ जात सराहत' का भाव यह है कि श्रीभरतजी के अपार गुणगणों ने वाणी को जीत लिया है, वाणी हार गई है; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै गुन-गनन्हि जयो है। धनि भरत! धनि भरत! करत भयो मगन, मौन रह्यो मन अनुराग रयो है॥ यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसि दास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है॥" (गी० लं० ११)।

जब से श्रीहनुमान्‌जी श्रीअवधपुरी के ऊपर आये, तभी से ग्रन्थकार इन्हें कपि, कीस आदि संबोधन ही देते आये। मान दूर होने से यहाँ 'हनुमंत' शब्द दिया है। 'पवनकुमार'—शब्द भी अत्यन्त तेज चाल के सम्बन्ध से और बुद्धि, विवेक, विज्ञान-निधानता के सम्बन्ध से कहा गया है। नहीं तो और किसी की शक्ति नहीं कि श्रीभरतजी के यश में प्रवेश करे; यथा—"और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई॥" (अ० दो० २५६); 'सराहत पुनि पुनि'—से प्रेम की अधिकता जनाई गई है; यथा—"राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं।···तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी॥" (अ० दो० २०१)।

श्रीरामजी का विलाप

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥१॥
अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥२॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥३॥

शब्दार्थ—अनुसारी = समान, सदृश।

अर्थ—वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को देखकर श्रीरामजी मनुष्यों के समान वचन बोले॥१॥ आधी रात बीत गई, कपि नहीं आया (ऐसा कहते हुए) श्रीरामजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को उठाकर छाती से लगा लिया॥२॥ (और बोले—) हे भाई! तुम्हारा स्वभाव सदा कोमल रहा है, इससे तुम मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ राम लछिमनहि···'—'उहाँ' शब्द से ग्रन्थकार अपनी स्थिति भक्त श्रीहनुमान्‌जी के साथ सूचित करते हैं। और यह भी कि श्रीरामजी का स्थल यहाँ से दूर है एवं जिस समय यहाँ

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता ॥५॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता ॥६॥
सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना ॥७॥
राम - प्रभाव विचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥८॥

शब्दार्थ—गहरु (गहर) = देर, विलंब।

अर्थ—हे तात ! तुमको जाने में देर होगी और सवेरा हो जाने पर काम बिगड़ जायगा ॥५॥ पर्वत सहित मेरे बाण पर चढ़ जाओ, मैं तुमको वहाँ पहुँचाता हूँ, जहाँ कृपा के स्थान श्रीरामजी हैं ॥६॥ श्रीभरतजी के वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चलेगा ? ॥७॥ फिर श्रीरामजी का प्रभाव विचार कर वे हाथ जोड़कर और चरणों की वंदना करके बोले ॥८॥

विशेष—(ता)त गहरु होइहि...'—श्रीहनुमान्‌जी ने यह भी कहा था कि प्रभात हो जाने पर फिर यह दवा काम न देगी—ऐसा वैद्य ने कहा है; यथा—"समाचार कहि गहरु भो तेहि ताप तयो है।", (गी॰ छं॰ १८); इसपर भरतजी कहते हैं—'चढ़ु मम सायक...'। 'कृपानिकेता' का भाव यह है कि प्रभु ने मुझपर बड़ी कृपा की, तुम्हारे द्वारा समाचार दिया और मुझे भागवतापराध से बचाया। पुनः यह किंचित् सेवा भी इसी बहाने मुझे दी।

(२) 'सुनि कपि-मन...'—संजीवनी लेने के लिये चले, तब बल-बखान करने पर अभिमान उपजा था। वह कई विघ्नों से और एक ही बाण से मूर्च्छित होने पर चूर्ण हो गया। यहाँ वह फिर उपजा तब राम- प्रभाव के स्मरण से दूर हुआ।

(३) 'राम-प्रभाव विचारि...'; यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल। तब प्रभाव बड़वानलहि, जारि सकइ खलु तूल ॥" (सुं॰ दो॰ ३३); और श्रीभरतजी पर श्रीरामजी की अनुकूलता अभी शपथ द्वारा देख चुके हैं और उसी से इनकी मूर्च्छा भी दूर हुई। अतएव निश्चय किया कि ये अवश्य मुझे पर्वत के साथ बाण पर वहाँ भेज सकते हैं।

गी० लं० ११ में गर्व होने पर तीर पर चढ़ना भी कहा है; यथा—"भुधर सहित चढ़ो बिसिष, बेगि पठवौं, सुनि हरि हिय गर्व गूढ़ उपयो है। तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है॥" इत्यादि। पर यहाँ ग्रंथकार ने परीक्षा की बात ध्वनि से ही जना दी है। श्रीहनुमान्‌जी का भक्ति-भाव भी बना रहा। 'बंदि चरन'—यह विदाई माँगने का प्रणाम है।

दोहा—तव प्रताप उर राखि प्रभु, जैहउँ नाथ तुरंत।
असं कहि आयसु पाइ पद, बंदि चलेउ हनुमंत ॥
भरत-बाहुबल सील गुन, प्रभु-पद-प्रीति अपार।
मन महँ जात सराहत, पुनि पुनि पवनकुमार ॥५९॥

अर्थ—हे नाथ ! हे प्रभो ! आपका प्रताप हृदय मे रखकर मैं तुरत जाऊँगा, ऐसा कहकर, आज्ञा पा, चरणों को प्रणाम कर श्रीहनुमान्‌जी चल दिये ॥ श्रीभरतजी के अपार बाहु बल, शील, गुण और प्रभु-पद-प्रेम को मन मे बार-बार सराहते हुए पवनकुमार चले जाते हैं ॥५९॥

विशेष—(१) 'तव प्रताप उर···'—राम-प्रताप स्मरण से बड़े-बड़े कार्य सहज में ही हो जाते हैं। पूर्व कई जगह कहा गया है। वैसे श्रीहनुमान्‌जी भी कहते हैं कि आपका प्रताप स्मरण करते हुए तुरत चला जाऊँगा। 'पद बंदि'—यह आज्ञा पाने पर विदाई का प्रणाम है।

(२) 'भरत बाहुबल सील···'—'बाहुबल'; यथा—'बिनु फर सायक मारेउ···परेउ मुरछि···' 'चढ़ मम सायक···'। 'सील'; यथा—'कीस उर लावा'; 'आतुर धाये'; तात कहा ; यथा—'तात कुसल कहु'। 'प्रभु-पद-प्रीति'—यह शपथ से जाना, पुनः, यथा—'प्रीति न हृदय समाइ ···'।

(३) 'मन महँ जात सराहत' का भाव यह है कि श्रीभरतजी के अपार गुणगणों ने वाणी को जीत लिया है, वाणी हार गई है; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै गुन-गननि्ह जयो है। धनि भरत ! धनि भरत ! करत भयो मगन, मौन रह्यो मन अनुराग रयो है ॥ यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसि दास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है ॥" (गी० लं० ११)।

जब से श्रीहनुमान्‌जी श्रीअवधपुरी के ऊपर आये, तभी से ग्रन्थकार इन्हें कपि, कीस आदि संबोधन ही देते आये। मान दूर होने से यहाँ 'हनुमंत' शब्द दिया है। 'पवनकुमार'—शब्द भी अत्यन्त तेज चाल के सम्बन्ध से और बुद्धि, विवेक, विज्ञान-निधानता के सम्बन्ध से कहा गया है। नहीं तो और किसी की शक्ति नहीं कि श्रीभरतजी के यश मे प्रवेश करे ; यथा—"और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई ॥" (अ० दो० २५६), 'सराहत पुनि पुनि'—से प्रेम की अधिकता जनाई गई है ; यथा—"राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं।···तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी ॥" (अ० दो० २०१)।

श्रीरामजी का विलाप

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी ॥१॥
अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ ॥२॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥३॥

शब्दार्थ—अनुसारी = समान, सदृश।

अर्थ—वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को देखकर श्रीरामजी मनुष्यों के समान वचन बोले ॥१॥ आधी रात बीत गई, कपि नहीं आया (ऐसा कहते हुए) श्रीरामजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को उठाकर छाती से लगा लिया ॥२॥ (और बोले—) हे भाई ! तुम्हारा स्वभाव सदा कोमल रहा है, इससे तुम मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे ॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ राम लछिमनहि···'—'उहाँ' शब्द से ग्रन्थकार अपनी स्थिति भक्त श्रीहनुमान्‌जी के साथ सूचित करते हैं। और यह भी कि श्रीरामजी का स्थल यहाँ से दूर है एवं जिस समय यहाँ

भरत-संवाद हुआ उसी समय यहाँ श्रीरामजी का विलाप-प्रसंग भी प्रारंभ हुआ। 'लछिमनहि निहारी'—का भाव यह है कि ये शुभ लक्षणों के धाम हैं; यथा—"लच्छन धाम राम प्रिय···गुरु बसिष्ठ···" (बा० दो० १९७) उन्हीं गुणों को स्मरण करके विलाप करेंगे। 'निहारी' का भाव यह कि अभी तक सावधान रहे जब, आधी रात बीत गई और ओषधि लेकर श्रीहनुमान्जी नहीं आये, तब भाई की ओर देखकर विशेष दुःख बढ़ा।

'मनुज अनुसारी'—इससे आगे उठनेवाली शंकाओं की निवृत्ति होती है। मनुष्य अत्यन्त प्रिय के वियोग में विह्वल हो जाता है। उसके रोने में वचनों की सँभाल नहीं रहती। आप भी यहाँ वैसा ही नर-नाट्य कर रहे हैं; यथा—"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (अ० दो० १२१)।

(२) 'अर्ध राति गइ···'—भाव यह कि रात रहते यदि ओषधि न आई, तो भाई का जीवन नहीं रहेगा। 'कपि'—वानर चंचल स्वभाव के होते हैं; यथा—"कपि चंचल सबही बिधि हीना।" (सुं० दो० ६); इससे कहीं रुक तो नहीं गया? क्योंकि उसने तो अत्यन्त शीघ्र आने को कहा था।

'अनुज' का भाव यह कि छोटे भाई को पीछे मरना चाहिये और बड़े को पहले, पर तुम यह विपरीत क्यों करते हो?

(३) 'सकहु न दुखित देखि···'—तुम कभी मेरा दुःख नहीं देख सकते थे, इसी से वन के दुःख-निवारण के लिये साथ आये। माता सुमित्रा का यही उपदेश भी था; यथा—"जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥" (अ० दो० ७४); वैसा ही इन्होंने समय-समय पर किया भी है; यथा—"आश्रम देखि जानकी-हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना॥···लछिमन समुझाये बहु भाँती।" (आ० दो० ११) 'सकहु न दुखित देखि···' के साथ 'बंधु' कहा है—भाव यह कि ऐसे समय में भाई ही काम देते हैं; यथा—"होहिं कुठाँय सुबंधु सहाये।···" (अ० दो० ३०५); दुखी नहीं देख सकने का कारण भी आगे कहा है—'सदा तव मृदुल सुभाऊ।'; मृदुल स्वभाव; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसांई। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४)।

मम हित लागि तजेउ पितु-माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥४॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥५॥
जौं जनतेउँ बन बंधु-बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥६॥

अर्थ—मेरे हित के लिये तुमने पिता और माता का त्याग किया और वन में शीत (पाला), धूप और वायु, सभी सहन किये॥४॥ हे भाई! तुम्हारा वह प्रेम अब कहाँ है? मेरी व्याकुलता के वचन सुनकर उठते क्यों नहीं?॥५॥ जो मैं जानता कि वन में भाई का वियोग होगा तो पिता के उन वचनों को भी नहीं मानता॥६॥

विशेष—(१) 'मम हित लागि···'—तुम मेरे हित के लिये पिता-माता को त्याग कर वन में आये और विपत्ति के भागी हुए। ध्वनि यह है कि इसी तरह ही तुम्हारे लिये मैं भी सर्वस्व और प्राणों का त्याग करूँगा; यथा—"पुर पितु-मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई। ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यों न प्रान पठाई॥" (गी० लं० ६); तथा—"यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः। अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥" (वाल्मी० ६।४९।१७); अर्थात् जैसे तुमने वन आते समय मेरा अनुगमन किया, वैसे ही परलोक जाते समय मैं तुम्हारा अनुगमन करूँगा (साथ दूँगा)।

'सहेहु विपिन हिम···'—इसमें 'बाता' शब्द अंत में दिया गया है, वह दोनों के साथ है। वायु के सम्बन्ध से जाड़ा और गर्मी दोनों अत्यन्त दुःखद होते हैं। यहाँ वर्षा नहीं कही गई, पर अन्यत्र कहा है; यथा—"बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात॥" (अ० दो० २११); तो यहाँ भी अध्याहार से लगा लेना चाहिये। अथवा यहाँ श्रीभरतजी का वर्षा के भी दुःखों का अनुमान करना है। पर श्रीरामजी वर्षा में प्रायः एकत्र पर्णकुटी आदि में रहते थे, इससे यहाँ इन्होंने नहीं कहा है।

(२) 'सो अनुराग कहाँ ··'; यथा—"उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा। शोकार्त्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च॥ विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम।" (वाल्मी० ६।१०१।२१–२२); अर्थात् उठो! क्यों सो रहे हो? मुझ दीन को देखो। पर्वतों और वनों में जब मैं शोक से पीड़ित होकर उन्मत्त हो जाता था, तब हे महाबाहो! मुझ विषादयुक्त को, तुम्हीं धैर्य देते थे।

(३) 'जौं जनतेउँ बन ··'—यहाँ आदि में कहा गया है—"बोले बचन मनुज अनुसारी।" और अंत में भी कहा है—"नर-गति भगति कृपाल देखाई॥ प्रभु-प्रलाप सुनि कान ··" अर्थात् इस प्रसंग में श्रीरामजी ने भाई की वियोग-संभावना से करुणा-वश होकर प्राकृत मनुष्य की तरह प्रलाप किया है। प्रलाप का अर्थ है निरर्थक वचन। किन्तु, यहाँ श्रीरामजी के मुख से कुछ ठीक और साथ ही कुछ निरर्थक वचन भी निकले हैं। वे उनकी विरह-व्याकुलता के सूचक हैं। यही कारण है कि इसी एक दोहे में तीन चार बातें ऐसी आ गई हैं कि जिनका ठीक-ठीक अर्थ शब्दों से नहीं बन पाता।

यहाँ पाठकों को विषय की सरलता पर ध्यान नहीं देकर श्रीरामजी के नर-नाट्य और काव्य के करुणा-रस के अंग पर ध्यान देना चाहिये। यदि ऐसे भाई के वियोग में भी मनुष्य को व्याकुलता नहीं आ जाय, तो वह 'आदर्श भ्राता' नहीं कहा जा सकता।

यहाँ 'ओहू' शब्द का अर्थ 'येहू' की तरह लगाना होगा। श्रीरामजी पिता के जिस वचन पर आरूढ़ हैं, वह सन्निकटवाचक 'येहू' में लिया जायगा। यह वचन १४ वर्ष वनवास का है। इसके अतिरिक्त पिता का दूसरा वचन भी है, यथा—"रथ चढ़ाइ देखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि।" (अ० दो० ८१); फिर इसी को सुमंत्रजी ने भी राजा की आज्ञा कही है, यथा—"लखन राम सिय आनेहु फेरी" (अ० दो० ९१); इस दूसरे वचन को 'ओहू' के अर्थ में लेना चाहिये। तब भाव यह होगा कि यदि हम जानते कि वन (जाने) में भाई का वियोग होगा, तो १४ वर्ष वनवासवाला यह वचन तो बहुत है, मैं उस (दूसरे) चार दिन की वन-यात्रा के वचन को भी नहीं मानता।

पिता के वचन को आपने चक्रवर्त्ति पद से, समस्त गृह-सुखोपभोग से और पिता-माता आदि स्वजनों के एवं भरत ऐसे आदर्श भाई के वियोग से कहीं अधिक महत्त्व दिया है। ऐसा महत्त्वपूर्ण धर्म भी मैं ऐसे भाई की वियोग-संभावना पर नहीं मानता। यहाँ बंधु-प्रेम की पराकाष्ठा दिखाने में एवं शोकावेश की पूर्णता प्रकट करने में पुरुषोत्तमता का पूर्ण आदर्श दिखाया गया है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम बंधु प्रेम को किस तरह निबाहते हैं और वह शोक एवं प्रलाप में कैसे-कैसे आचरण एवं भाषण करते हैं?

ईश्वरत्व में प्रलाप युक्ति-युक्त नहीं है, इसी से आदि और अंत में भी 'मनुज' और 'नर' का अनुसरण करना कहा गया है। रावण की मृत्यु नर के हाथ से होना है। और, ब्रह्मा का यह वचन सत्य करना है, इसलिये प्रभु ने नर के समान प्रलाप किया है। पिता का वचन-पालन धर्म है और भ्रातृ-स्नेह स्वार्थ है, फिर भी इसे ही ऊपर कर रहे हैं, क्योंकि लक्ष्मण सामने हैं और उनपर करुणा है, इसकी प्रबलता से धार्मिक वृत्ति दब गई है। यही करुणा-रस का महत्त्व भी है।

आगे पिता के वचन न मानने के कारण-रूप में ऐसे भाई की दुर्लभता कहते हैं—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥७॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥८॥

शब्दार्थ—सहोदर=एक पेट से, एक माता से उत्पन्न; यथा—"समानोदर्ये सोदर्य सगर्भ्य सहजाः समाः"—इत्यमरः।

अर्थ—पुत्र, धन, स्त्री, घर, परिवार (कुटुंब) संसार में बार-बार होते और जाते हैं ॥७॥ पर, हे तात! जगत् में सहोदर भ्राता (बार-बार) नहीं मिलते—ऐसा जी में विचारकर चैतन्य हो जाओ (होश में आ जाओ) ॥८॥

विशेष—(१) 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।' यथा—"देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बांधवाः। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥" (वाल्मी० ६।१०१।१४); उपर्युक्त रीति से यहाँ भी व्याकुलता में ही यह भी कहा गया है; अन्यथा आप दोनों भाइयों की माताएँ दो हैं। कोई-कोई इसका ऐसे भी समाधान करते हैं कि इनके लिये पायस का भाग श्रीकौशल्याजी के द्वारा श्रीसुमित्राजी को मिला है, मुख्य भाग श्रीकौशल्याजी का ही है। इससे प्रभु ने इन्हें सहोदर भ्राता कहा है। इनमें (श्रीलक्ष्मणजी में) रामानुज पद की रूढ़ि भी पाई जाती है, जैसे कि भरत-शत्रुघ्न के साथ रहते हुए भी जब विश्वामित्रजी ने कहा; यथा—"अनुज समेत देहु रघुनाथा।" (बा० दो० २०६); तब श्रीलक्ष्मणजी ही अनुज के अर्थ में लिये गये। कोई-कोई एक पिता का पक्ष लेकर इन्हें श्रीरामजी का सहोदर कहते हैं कि यदि पिता जीते होते, तो सहोदर भ्राता हो सकते थे, परन्तु अब वे नहीं हैं, इससे ये अब नहीं मिल सकेंगे।

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर कर हीना ॥९॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जियावै मोही ॥१०॥

अर्थ—जैसे पंख के बिना पक्षी, मणि के बिना सर्प और सूँड़ के बिना श्रेष्ठ हाथी अत्यन्त दीन दुखी रहते हैं ॥९॥ हे भाई! तुम्हारे बिना मेरा जीवन ऐसा ही होगा, जो कहीं जड़ विधाता ने मुझे जीता रक्खा ॥१०॥

विशेष—(१) 'जथा पंख बिनु खग···'—'पंख बिनु खग'; यथा—"कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥" (अ० दो० ८५); "लेत सोच भरि छिन-छिन छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥" (अ० दो० १४७); 'मनि बिनु फनि'; यथा—"प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥" (अ० दो० १५६); "मनि बिना फनि जियै ब्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७); 'करिवर करि हीना' सूँड़ के बिना हाथी आहार ही नहीं पा सकता। अतः, मर जाता है।

(२) 'अस मम जिवन···'—अर्थात् मैं बिना तुम्हारे यदि जीता भी रहा, तो पक्ष-हीन पक्षी की तरह पराक्रम-हीन और व्याकुल रहूँगा। बिना मणि के सर्प की तरह तड़पता रहूँगा और सूँड़-रहित

हाथी की तरह पुरुषार्थहीन होकर आहार त्याग करके प्राण दे दूँगा ; यथा—"हौं पुनि अनुज सँघाती।" (गी० लं० ७) ; जैसे पक्ष-हीन जटायु पराक्रमहीन हो गया, वैसे ही संपाती की भी दशा थी। हाथी का भी सारा पुरुषार्थ सूँड़ से ही रहता है, इसीसे सूँड़ से भुजा की उपमा दी जाती है ; यथा—"काम कलभ कर भुजबल सींवाँ।" (बा० दो० २१२) ; सूँड़ के बिना हाथी पुरुषार्थ-रहित हो जाता है, वैसे ही तुम्हारे बिना मैं पुरुषार्थ-हीन हो जाऊँगा ; यथा—"मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपति बँटावन बंधु बाहु बिनु करउँ भरोसो काको॥" (गी० लं० ७) इत्यादि।

'जौ जड़ दैव···'—मैं तो जीना नहीं चाहता, पर मरण अपने हाथ में नहीं कहा गया है ; यथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥" (अ० दो० १७१) ; "जौ पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा॥" (अ० दो० ८५) ; अतः, दैव के बलात् जीवित रखने पर उपर्युक्त रीति से ही रहूँगा। मुझे वैसी दशा में जीवित रखना उसे उचित नहीं है, पर यदि रक्खेगा भी, तो वह विवेक-शून्य ही है, यही समझकर दैव को जड़ कहा गया है। श्रीमयनाजी ने भी ऐसे ही कार्यों पर उसे जड़ कहा है ; यथा—"जेहि बिधि तुम्हहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा॥" (बा० दो० ९५) ; यहाँ शोक की व्याकुलता से दैव को जड़ कहा गया है, नहीं तो दैव तो जीवों के कर्मानुसार ही विधान करता है। व्याकुलता का नर-नाट्य तो है ही।

जैहउँ अवध कौन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥११॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि-हानि बिसेष छति नाहीं॥१२॥
अब अपलोक सोक सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥१३॥

अर्थ—स्त्री के कारण प्यारे भाई को खोकर मैं कौन मुँह लेकर अवध जाऊँगा ?॥११॥ मैं भले ही संसार में अपयश सहता (कि असमर्थ थे, नहीं तो रावण को जीतकर पतिव्रता स्त्री को ले आते) क्योंकि स्त्री की हानि (इसकी अपेक्षा) कुछ विशेष हानि नहीं है॥१२॥ हे पुत्र ! अब मेरा निर्दय कठोर हृदय अपयश और तेरा शोक सहेगा॥१३॥

विशेष—(१) 'जैहउँ अवध कौन मुँह लाई···'—ऐसा ही वाल्मी० ६।१०१।१६–१८ में भी कहा है, यथा—"किं नु राज्ये न दुर्द्धर्ष लक्ष्मणेन विना मम।" से "इहैव मरणं श्रेयो···" तक ; अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी के बिना राज्य मेरे किस काम का ? सुमित्रा से मैं कैसे बात करूँगा ? पुत्र-नाश से सुमित्राकृत निंदा मैं कैसे सहूँगा ? पुनः श्रीकौशल्याजी, श्रीकैकेयीजी एवं श्रीभरतजी से क्या कहूँगा ? वे पूछेंगे कि श्रीलक्ष्मणजी के साथ गये और अकेले क्यों लौटे ? इससे तो यहाँ मर जाना ही अच्छा है ; किंतु भाईवर्ग की निन्दा सुनना अच्छा नहीं, इत्यादि।

श्रीसुमंत्रजी का अवध लौटते समय का पछतावा भी ऐसा ही है ; यथा—"अवध काह मैं देखब जाई॥ धाइ पूछिहहिं मोहिं जब, बिकल नगर नर नारि।" से "जाइ अवध अब यह सुख लेबा॥" तक (अ० दो० १४५)।

(२) 'अब अपलोक सोक···'—'सुत' शब्द यहाँ अत्यंत स्नेहपूर्ण वात्सल्य प्रकट कर रहा है, छोटा भाई पुत्र के समान होता ही है। कुंभकर्ण ने भी श्रीविभीषणजी को ऐसा ही कहा है ; यथा—"सुनु सुत भयो कालबस रावन।" ((दो० ६२) ; श्रीसुमित्राजी ने कहा भी था ; यथा—"पिता राम सब

भाँति सनेही।" श्रीलक्ष्मणजी ने भी कहा है; यथा—"मोरे प्रभु तुम्ह गुरु पितु माता।" इन वचनों की स्वीकृति भी यहाँ जना दी गई है।

'अपलोक सोक'; यथा—"जानत हौं या उर कठोर ते कुलिस कठिनता पाई। सुमिरि सनेह सुमित्रा सुत को दरकि दरार न आई॥ तात मरन तिय हरन गीध बध भुज दाहिनी गँवाई। तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥" (गी० लं० ६)।

तात्पर्य यह कि बिना तुम्हारे मैं पुरुषार्थ हीन हो गया। अतः, शत्रु से न जीत पाने पर मेरा कुल पर्यन्त कलंकित होगा; यथा—"रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः। प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जिता॥" (वाल्मी० ६।११५।१६), अर्थात् अपने चरित की रक्षा करते हुए, अपवाद को दूर करते हुए, तथा अपने प्रसिद्ध कुल का कलंक हटाते हुए, यह युद्ध मैंने मित्रों के पराक्रम से जीता है। यह श्रीरामजी ने लंका-विजय पर कहा है।

(३) 'नारि-हानि बिसेष···'; यथा—"सुत बित नारि···" ऊपर देखिये।

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान-अधारा॥१४॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परमहित जानी॥१५॥
उतर काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥१६॥

शब्दार्थ—एक = प्रधान, मुख्य, अद्वितीय, एकलौता; यथा—"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥" (दिनकरी)।

अर्थ—हे तात! तुम अपनी माता के एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो॥१४॥ सब प्रकार से सुख देनेवाले और परम हितकारी जानकर मुझे उसने तुम्हारा हाथ पकड़कर सौंपा था॥१५॥ उसे जाकर मैं क्या उत्तर दूँगा? हे भाई, तुम उठकर मुझे सिखाते क्यों नहीं॥१६॥

विशेष—(१) 'निज जननी के एक···'—श्रीसुमित्राजी के दो पुत्र हैं; यथा—"सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सुनेम। सुवन लखन रिपुदमन से, पावहिं पति-पद-प्रेम॥" (रामाज्ञा ७।३।७), तथा गी० लं० १३ से भी स्पष्ट है (यहाँ माता के प्राणाधार होने के योग से एकलौता ही अर्थ मुख्य लिया जायगा तो यह भी उपर्युक्त रीति से प्रलाप में ही है। दूसरा अर्थ मुख्य (प्रधान) अर्थात् ज्येष्ठ का भी होता है, पर इसमें इनकी उतनी दुर्लभता नहीं रह जाती कि यह माता का एकमात्र प्राणाधार समझा जाय। जैसे कि श्रीसुमित्राजी स्वयं कहती हैं; यथा—"रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धन दुसरे हैं॥ तात! जाहु कपि सँग रिपुसूदन ···" (गी० लं० १३), अर्थात् माता कहती हैं कि अभी मेरे एक दूसरे धन भी हैं, ऐसा कहकर वे श्रीशत्रुघ्नजी को कपि के साथ जाने की आज्ञा देती हैं। उन्होंने जो श्रीलक्ष्मणजी के पुत्रत्व की प्रशंसा की है, वह उन्हें निष्ठा में दृढ़ करने के लिये है। कुछ उससे श्रीशत्रुघ्नजी की अवहेलना नहीं हुई। श्रीशत्रुघ्नजी भी परम-भागवत-नैष्ठिक हैं और माता को प्रिय हैं। इस दूसरे अर्थ में श्रीशत्रुघ्नजी की अवहेलना होगी। अतः, ठीक नहीं।

यहाँ अत्यन्त विह्वलता में स्मृति भूल गई है, यही करुणा की पूर्णता है और बहुत तरह के अर्थों की आवश्यकता नहीं है। नर-नाट्य ही प्रधान है।

(२) 'सौंपेसि मोहि'''—यहाँ श्रीसुमित्राजी के इन वचनों पर लक्ष्य है ; यथा—"तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥'''तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू॥" (अ० दो० ७३-७४); इनमें श्रीरामजी को सब प्रकार सुख देनेवाला और परम हितैषी जानना भी कहा गया है। 'तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम'''; इन वचनों के द्वारा सौंपना ही हाथ पकड़कर सौंपना है, प्रत्यक्ष हाथ पकड़ाने से तात्पर्य नहीं है। क्योंकि वन-यात्रा के समय श्रीसुमित्राजी का श्रीरामजी के पास आना मानस में नहीं कहा गया है। यदि यह माना जाय कि उन्होंने आकर सौंपा होगा, परन्तु यह बात वहाँ नहीं लिखी जाकर यहाँ लिखी गई है, जैसे—"रामानुज लघु रेख खेंचाई।" इस अरण्यकांड के कार्य को ग्रंथकार ने मंदोदरी द्वारा लंकाकांड में कहलाया है, तो इसमें विरोध यह पड़ता है कि जब श्रीसुमित्राजी ने उपर्युक्त वचन 'तात तुम्हारि मातु वैदेही।' द्वारा अपना मातृत्व रक्खा ही नहीं, तो फिर किस अधिकार को लेकर वे सौंपने आवेंगी। अतएव उपर्युक्त वचनों के द्वारा सौंपना ही यहाँ युक्ति-संगत है, व्याकुलता से प्रभु उसे ही हाथ पकड़कर सौंपने की भाँति कहते हैं। 'प्रलाप' की दृष्टि से तो सब युक्त ही है।

(३) 'उतर काह देहउँ तेहि जाई।'''; यथा—"कथमम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम्॥ विवत्सां वेपमानां च वेपन्तीं कुररीमिव। कथमाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना॥" (वाल्मी० ६।४१।८।); अर्थात् पुत्र दर्शन की लालसावाली सुमित्रा माता से मैं क्या कहूँगा ? बिना श्रीलक्ष्मणजी के श्रीअवध जाकर पुत्र-रहित कुररी के समान काँपती हुई माता को कैसे समझाऊँगा ?

बहु बिधि सोचत सोच-बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन॥१७॥
उमा एक अखंड रघुराई। नर-गति भगत कृपाल देखाई॥१८॥

अर्थ—शोच के छुड़ानेवाले श्रीरामजी बहुत प्रकार से शोच कर रहे हैं, उनके कमल-दल के समान नेत्रों से जल (आँसू) गिर रहे हैं॥१७॥ हे उमा ! रघुराई श्रीरामजी एक (अद्वितीय) हैं, अखंड हैं, भक्तों पर कृपा करनेवाले उन श्रीरामजी ने (प्राकृत) मनुष्यों की-सी दशा दिखाई है॥१८॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि सोचत'''—'बहु बिधि सोचत' कहकर वाल्मी० ६।४९।५-३०, एवं ६।१०१, १०२ के शोक प्रकट करने के सभी भाव सूचित कर दिये गये। गी० लं० ५-७ के भी सभी भाव इसमें अंतर्भूत हैं।

'बहु बिधि सोचत' कहने पर लोगों को प्रभु के प्राकृत होने का संदेह नहीं हो जाय, इसलिये साथ ही—'सोच-बिमोचन' पद भी कह दिया गया है कि जो औरों के शोक छुड़ानेवाले हैं, वे कब शोकवश हो सकते हैं ? फिर आगे ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान करते हैं—'उमा एक''' प्रायः ग्रन्थकार की यह शैली है कि जहाँ अत्यन्त माधुर्य देखते है वहाँ कुछ ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान कर देते हैं।

(२) 'उमा एक अखंड'''—'एक'; यथा—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" (श्वे० ६।११); इसीसे उनमें किसी का शोक नहीं होता ; यथा—"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (ईश० ७); अर्थात् एकत्व दृष्टि से शोक-मोह नहीं होता। 'अखंड'; यथा—ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥" (ईश० १), अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है। इस तरह के अखंड भगवान् में संयोग-वियोग का विकार कैसे आ सकता है। यह तो 'नर-गति' = मनुज-लीला है।

(३) 'भगत कृपाल' का भाव यह है कि यह लीला भी भक्त पर अपनी कृपालुता दिखाने के लिये की गई है कि भक्त समझें कि प्रभु हमारे दुःख से स्वयं दुखी होते हैं; यथा—"मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपानिकेता ॥" (सुं॰ दो॰ १३); यहाँ की भक्त-कृपालुता गी॰ लं॰ १५ में कही गई है; यथा—"हृदय घाव मेरे पीर रघुबीरै। पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम-पुलकि बिसराय सरीरै ॥ मोहिं कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै। सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ, केवल कांति मोल हीरै ॥ तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै। उपमा राम-लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरै-नीरै ॥"। अन्यत्र भी कहा है—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ९।२२)।

सोरठा—प्रभु-प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर-निकर।
आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीर-रस ॥६०॥

अर्थ—प्रभु का प्रलाप कानों से सुनकर वानर-समूह विकल हो गये, उसी समय श्रीहनुमान्‌जी ऐसे आ गये, मानों करुणा में वीर रस आ गया हो ॥६०॥

विशेष—(१) 'प्रलाप'; तथा—"बिनु समुझे कछु कहि उठे, कहिये ताहि प्रलाप। देह घटै मन में बढ़ै, बिरह-व्याधि-संताप ॥" (भाषा-भूषण); यथा (१) वार्त्तालाप, (२) व्यर्थ की बकवाद और (३) विलाप, (संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ)। इस दोहे-भर में प्रलाप की प्रधानता है। इसीसे तीन चार बातें ऐसी आ गई हैं कि जिनके अर्थ ठीक नहीं बनते। जैसे किसी का अति प्रिय कोई मृततुल्य दशा में हो और वह बेसुध होकर रोवे, तो उसपर कोई ऐसा नहीं कहता कि तुम क्यों अशुद्ध रोते हो? वैसे ही यहाँ ऐश्वर्य-भाव लेकर कोई तर्क करे तो ठीक नहीं। ग्रन्थकार ने स्वयं उपक्रम में 'मनुज-अनुसारी' और उपसंहार में 'नर-गति' कहकर माधुर्य को ही प्रधान रक्खा है।

'प्रलाप' का अर्थ यदि ऊँचे स्वर से रोना लें, तो भी रोने की व्याकुलता में बेसुध-चित्त रहना स्वाभाविक है, जिससे उक्त बातों में हेरफेर हो जाना ठीक ही है। अन्यथा करुणा की पूर्णता ही नहीं समझी जायगी। अत्यन्त करुणा एवं विरह में प्रलाप-कथन स्वाभाविक है; यथा—"येहि बिधि करत प्रलाप कलापा। आये अवध भरे परितापा ॥" (अ॰ दो॰ ८५); यह श्रीअवधवासियों के रोने का प्रसंग है।

'बिकल भये बानर-निकर'—श्रीरामजी का करुण-रुदन सुनकर सब वानर रोते-रोते व्याकुल हो गये, उनके हृदय में शोक समा गया, सबके मुख सूख गये। आँसू बह रहे हैं; यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥" (अ॰ दो॰ ४६); यथा—"सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवमहाबलाः। परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः ॥" (वाल्मी॰ ६।०१।२)।

यहाँ करुणा के स्थायी भाव शोक में सब मग्न हैं, उसी समय श्रीहनुमानजी आ गये, उनको देखकर सबके हृदय में उत्साह हुआ जो वीररस का स्थायी भाव है। साथ ही यह भी सूचित किया कि यहाँ सब करुणारस था, अब आगे वीररस कहा जायगा।

हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना ॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी हर्षपूर्वक श्रीहनुमान्‌जी से गले लगकर मिले, क्योंकि प्रभु अत्यन्त कृतज्ञ और परम सुजान हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'अति कृतज्ञ'—कृतज्ञ तो और लोग भी होते हैं, पर आप अति कृतज्ञ हैं, यथा—"प्रति उपकार करउँ का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥" (सुं० दो० ३१); "त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥" (वि० १००); "कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० २।१।११); "एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥..." (वाल्मी० ७।४०।२३); 'परम सुजाना'; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५३); "जान सिरोमनि कोसल राऊ।" (बा० दो० २७)।

(२) प्रायः अन्यत्र श्रीहनुमान्‌जी के चरण पड़ने पर उन्हें हृदय लगाना पाया जाता है; यथा—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई।" (कि० दो० २)—"तब रघुपति उठाइ उर लावा।"; "चरन परेउ प्रेमाकुल" (सुं० दो० ३२)—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा॥" पर यहाँ श्रीहनुमान्‌जी प्रणाम भी नहीं कर सके, प्रभु ने तुरत उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया, क्योंकि इन्होंने उनका कार्य प्रत्यक्ष देखा है, किसी के बतलाने से जानने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ कृतज्ञता की हद है।

तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरषाई॥२॥
हृदय लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता। हरषे सकल भालु-कपि-व्राता॥३॥
कपि पुनि बैद तहाँ पहुँचावा। जेहि बिधि तबहि ताहि लइ आवा॥४॥

अर्थ—तब शीघ्र ही वैद्य ने उपाय किया, श्रीलक्ष्मणजी प्रसन्न होकर उठ बैठे॥२॥ प्रभु ने भाई को हृदय से लगाकर भेंट की, भालू-वानर के सब समुदाय हर्षित हुए॥३॥ तब श्रीहनुमान्‌जी वैद्य को, जिस प्रकार जहाँ से पूर्व ले आये थे, उसी प्रकार उन्होंने उसे वहाँ पहुँचा दिया॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत बैद तब कीन्हि उपाई।'—उपाय में किसी का मत ओषधि को लेपन करने का, किसी का सुँघाने का है, सभी आ गये। वाल्मी० ६।१०१।४३ में चूर्ण बनाकर नास देना (सुँघाना) लिखा है; यथा—"लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युतिः॥" 'हरषाई' मानों सोये हुए थे। अतः, सुखपूर्वक उठ बैठे।

(२) 'हृदय लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता।'; यथा—"एह्येहीत्यब्रवीद्रामो लक्ष्मणं परवीरहा। सस्वजे गाढमालिङ्ग्य बाष्पपर्याकुलेक्षणः॥" (वाल्मी० ६।१०१।४८), अर्थात् 'आओ, आओ' ऐसा कहकर शत्रुहंता श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी का गाढ़ आलिंगन किया, उस समय उनकी आँखें आँसू से भरी हुई थीं।

'हरषे सकल भालु कपि व्राता', यथा—"तमुत्थितं तु हरयो भूतलात्प्रेक्ष्य लक्ष्मणम्। साधुसाध्विति सुप्रीता लक्ष्मणं प्रत्यपूजयन्॥" (वाल्मी० ६।१०१।४५); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी के उठ खड़े होने पर वानर साधु-साधु कहने लगे, प्रीति पूर्वक इनपर प्रसन्नता प्रकट की। तथा—"मुदित भालु-कपि कटक लस्यो जनु समर पयोनिधि पार॥" (गी० लं० ६)।

(३) 'कपि पुनि बैद'…'—जैसे भवन-समेत ले आये थे, वैसे ही उसे यहाँ (लंका में) पहुँचा आये। "धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउँ भवन समेत तुरंता॥" उपक्रम है और यहाँ—"पुनि कपि बैद तहाँ पहुँचावा।" यह उपसंहार है। ऐसे ही दवा का पर्वत भी यथास्थान रख आये; यथा—"बहुरि ठौर ही राखि महीधर आयउ पवनकुमार।" (गी० लं० ११)।

यहाँ सच्चे वैद्य का लक्षण भी कहा गया है कि वह शत्रु-मित्र के साथ समान व्यवहार रखता है। सुषेण रावण के यहाँ के राज-वैद्य हैं, परन्तु इस पक्ष में भी उन्होंने सच्चे भाव से ओषधि की है। जैसा श्रीजाम्बवान्जी और श्रीरामजी का इनपर पहले ही पूर्ण विश्वास था। वैसा ही इन्होंने कार्य भी किया। वैद्यक की सुषेण-संहिता इन्हीं की बनाई हुई कही जाती है—ये सुप्रसिद्ध वैद्य थे।

"कुंभकर्ण-बल-पौरुष संहार"—प्रकरण

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊ॥५॥
ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥६॥

अर्थ—यह समाचार रावण ने सुना। वह अत्यंत दुःख से बार-बार अपना शिर पीटने लगा॥५॥ व्याकुल होकर कुंभकर्ण के पास आया और अनेक उपाय करके उसको जगाया॥६॥

विशेष—(१) 'दसानन सुनेऊ', यथा—"उहाँ दूत एक मरम जनावा।" दो० ५४)।

'अति बिषाद …', यथा—"जो जहँ सुनै धुनै सिर सोई। बड़ बिषाद नहि धीरज होई॥ मुख सुखाहिं लोचन श्रवहिं, सोक न हृदय समाइ।" (अ० दो० ४६), यही दशा रावण की हुई, आगे कहा भी है—"काहे तव मुख रहे सुखाई।" रावण ने समझा था कि स्त्री का विरह है ही, भाई से भी रहित होने पर शत्रु स्वयं प्राण छोड़ देगा, उसका वह मनोरथ नाश हुआ। इसीसे उसे अत्यन्त विषाद हुआ। पुन इससे भी विषाद हुआ कि मेरे इतने सुभट मरे, कोई नहीं पुनर्जीवित हुआ, परन्तु उधर एक श्रीलक्ष्मणजी ही मरे थे, वे भी हमारे ही वैद्य द्वारा जिलाये गये। हम जानते तो सुषेण उधर जाने ही न पाता। अब तो उधर जो मरेगा, उसी दवा से जीवित कर लिया जायगा। अमोघशक्ति कृत बाधा व्यर्थ होने पर भी रावण को अत्यन्त विषाद हुआ।

(२) 'ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। …'—व्याकुलता में कुंभकर्ण ही के द्वारा दुःख निवृत्ति की आशा है, यथा—"भविष्यति न मे शोकः कुंभकर्णे विबोधिते॥" (वाल्मी० ६।६०।१०) ; अर्थात् कुंभकर्ण के जागने पर मुझे शोक नहीं रह जायगा, तथा—"कुंभकरन अस बंधु मम॥" (दो० २०) उसके जागने तक इसकी व्याकुलता बनी रही, इसी से उसने पूछा है—'काहे तव मुख रहा सुखाई।'यह आगे कहा गया है। व्याकुलता में इसने जो-जो कारण अनुमान किये हैं, वे वाल्मी० ६।६०।५-१२ में कहे गये हैं ब्रह्माजी ने कहा था कि मनुष्य से तुम्हें भय होगा, अनरण्य के शाप से ही श्रीरामजी का जन्म हुआ है। वेदवती ने ही मेरे नाश के लिये सीता रूप से जन्म लिया है। उमा, नदीश्वर, रम्भा और वरुणपुत्री ने भी मुझे शाप दिया है। उन लोगों ने जैसा कहा वैसा ही हो रहा है।

वाल्मीकीय रामायण में रावण का कुम्भकर्ण के पास स्वयं जाना नहीं कहा गया, पर मानस में इसका स्वयं जाना कहकर इसकी विशेष व्याकुलता जनाई गई है।

'बिबिध जतन करि···'—बहुत उपाय करना, वाल्मी० ६।६०।२२-६६ में विस्तार से कहा गया है। इतना उपाय करना पड़ा; क्योंकि उसने तपस्या करके ब्रह्माजी से छः महीने की नींद माँगी है; यथा—"माँगेसि नींद मास षट केरी" (बा० दो० १७६) उसमें अभी कुछ ही दिन बीते हैं।

जागा निसिचर देखिय कैसा। मानहु काल देह धरि बैसा ॥७॥
कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई ॥८॥
कथा कही सब तेहि अभिमानी। जेहि प्रकार सीता हरि आनी ॥९॥
तात कपिन्ह सब निसिचर मारे। महा महा जोधा संहारे ॥१०॥

अर्थ—राक्षस कुम्भकर्ण जागा, वह कैसा दीखता है? मानों काल ही (विकराल) शरीर धरकर बैठा है ॥७॥ कुम्भकर्ण ने पूछा—हे भाई! तुम्हारे मुख क्यों सूख रहे हैं? ॥८॥ अभिमानी रावण ने उससे अभिमानपूर्वक सारी कथा कही, जिस प्रकार वह श्रीसीताजी को हर लाया था ॥९॥ (फिर कहा-) हे तात! वानरों ने सब राक्षस मार डाले, महान्-महान् योद्धाओं का संहार हो गया ॥१०॥

विशेष—(१) 'कथा कही सब तेहि···'—'सब' अर्थात् विस्तार-पूर्वक कही! शूर्पणखा से राम-लक्ष्मण का परिहास करना, उसकी नाक और कान काटा जाना और उसके प्रतिकार रूप में खर आदि का वध होना और फिर मारीच की सहायता से सीता-हरण विस्तार से कहा। और शेष (यहाँ तक की) कथा संक्षेप में कही। 'अभिमानी'—का भाव यह है कि यदि बहन के अपमान के बदले मैं उनकी स्त्री का हरण न करता, तो लोक में मेरा मान कैसे रहता?

(२) 'तात कपिन्ह सब···'—ये दीनता के वचन—'काहे तव मुख रहा सुखाई।' के उत्तर में हैं कि हमारे मुख्य-मुख्य योद्धा मारे गये और प्रतिपक्षी सब बचे हुए हैं, उनके भय से मेरी यह दशा है, इससे तुम अपने पराक्रम से हमारी रक्षा करो, आज ही सबका बधकर मुझे सुखी करो। आगे उक्त महा-महा योद्धाओं के कुछ नाम कहता है—

दुर्मुख सुर-रिपु मनुज-अहारी। भट अतिकाय अकंपन भारी ॥११॥
अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा ॥१२॥

दोहा—सुनि दसकंधर बचन तब, कुंभकरन बिलखान।
जगदंबा हरि आनि अब, सठ चाहत कल्यान ॥६१॥

अर्थ—दुर्मुख, देवान्तक, नरान्तक, भारी योद्धा अतिकाय और अकंपन ॥११॥ और भी महोदर आदि रणधीर वीर सभी रण क्षेत्र में मारे गये ॥१२॥ रावण के वचन सुन वह बहुत दुखी होकर बोला कि अरे शठ! जगज्जननी श्रीसीताजी को हर लाकर अब तू कल्याण चाहता है? अर्थात् अब तेरा कल्याण नहीं है ॥६१॥

(३) 'कपि पुनि बैद ...'—जैसे भवन-समेत ले आये थे, वैसे ही उसे यहाँ (लंका में) पहुँचा आये। "धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउँ भवन समेत तुरंता॥" उपक्रम है और यहाँ—"पुनि कपि बैद तहाँ पहुँचावा।" यह उपसंहार है। ऐसे ही दवा का पर्वत भी यथास्थान रख आये, यथा—"बहुरि ठौर ही राखि महीधर आयउ पवनकुमार।" (गी० ६० १)।

यहाँ सच्चे वैद्य का लक्षण भी कहा गया है कि वह शत्रु-मित्र के साथ समान व्यवहार करता है। सुषेण रावण के यहाँ के राज-वैद्य हैं, परन्तु इस पक्ष में भी उन्होंने सच्चे भाव से ओषधि की है। जैसा श्रीजाम्बवानजी और श्रीरामजी का इनपर पहले ही पूर्ण विश्वास था। वैसा ही इन्होंने कार्य भी किया। वैद्यक की सुषेण-संहिता इन्हीं की बनाई हुई कही जाती है—ये सुप्रसिद्ध वैद्य थे।

"कुंभकर्ण-बल-पौरुष-संहार"—प्रकरण

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊ॥५॥
ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥६॥

अर्थ—यह समाचार रावण ने सुना। वह अत्यंत दुःख से बार-बार अपना शिर पीटने लगा॥५॥ व्याकुल होकर कुंभकर्ण के पास आया और अनेक उपाय करके उसको जगाया॥६॥

विशेष—(१) 'दसानन सुनेऊ', यथा—"उहाँ दूत एक मरम जनावा।" दो० ५४)।

'अति बिषाद ...', यथा—"जो जहँ सुनै धुनै सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥ मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ।" (अ० दो० ४६); यही दशा रावण की हुई, आगे कहा भी है—"*काहे तव मुख रहे सुखाई।" रावण ने समझा था कि स्त्री का विरह है ही, भाई से भी रहित* होने पर शत्रु स्वयं प्राण छोड़ देगा, उसका वह मनोरथ नाश हुआ। इसीसे उसे अत्यन्त विषाद हुआ। पुनः इससे भी विषाद हुआ कि मेरे इतने सुभट मरे, कोई नहीं पुनर्जीवित हुआ, परन्तु उधर एक श्रीलक्ष्मणजी ही मरे थे, वे भी हमारे ही वैद्य द्वारा जिलाये गये। हम जानते तो सुषेण उधर जाने ही न पाता। अब तो उधर जो मरेगा, उसी दवा से जीवित कर लिया जायगा। अमोघशक्ति कृत बाधा व्यर्थ होने पर भी रावण को अत्यन्त विषाद हुआ।

(२) 'ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। ...'—व्याकुलता में कुंभकर्ण ही के द्वारा दुःख निवृत्ति की आशा है, यथा—"भविष्यति न मे शोकः कुंभकर्णे विबोधिते॥" (वाल्मी० ६।६०।१०); अर्थात् कुंभकर्ण के जागने पर मुझे शोक नहीं रह जायगा, यथा—"कुंभकरन अस बंधु मम॥" (दो० १०) उसके जागने तक इसकी व्याकुलता बनी रही, इसी से उसने पूछा है—'काहे तव मुख रहा सुखाई।'यह आगे कहा गया है। व्याकुलता में इसने जो-जो कारण अनुमान किये हैं, वे वाल्मी० ६।६०।५-१२ में कहे गये हैं ब्रह्माजी ने कहा था कि मनुष्य से तुझे भय होगा, अनरण्य के शाप से ही श्रीरामजी का जन्म हुआ है। वेदवती ने ही मेरे नाश के लिये सीता रूप से जन्म लिया है। उमा, नंदीश्वर, रम्भा और वरुणपुत्री ने भी मुझे शाप दिया है। उन लोगों ने जैसा कहा वैसा ही हो रहा है।

वाल्मीकीय रामायण में रावण का कुम्भकर्ण के पास स्वयं जाना नहीं कहा गया, पर मानस में इसका स्वयं जाना कहकर इसकी विशेष व्याकुलता जनाई गई है।

'जाके हनूमान-से पायक ।'—कुंभकर्ण ने श्रीहनुमान्‌जी के कर्म सुने और अभी-अभी द्रोणाचल लाकर श्रीलक्ष्मणजी को जिलाया, जिससे व्याकुल होकर रावण यहाँ आया, इससे इनका नाम लिया, नहीं तो श्रीअंगदजी के विषय में भी कहता। 'कीन्हि खोटाई'—के प्रति आगे कहता है—

कीन्हेउ प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक ॥५॥
नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निर्बहा ॥६॥
अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करउँ मैं जाई ॥७॥
श्याम गात सरसीरुह लोचन। देखउँ जाइ तापत्रय-मोचन ॥८॥

शब्दार्थ—निर्बहा = बीत गया। देवक = देव का। अंक = अँकवार, अंक भर भेंटना = प्रेम से हृदय लगाकर मिलना।

अर्थ—हे प्रभो! आपने उस देवता का विरोध किया, जिसके शिव-ब्रह्मा आदि देवता सेवक हैं ॥५॥ नारद मुनि ने मुझसे जो ज्ञान कहा, वह मैं तुमसे कहता (पर) अब समय जाता रहा ॥६॥ हे भाई! अब गले लगकर मुझसे मिल ले (भाव—अब जीता नहीं लौटूँगा, यह अंतिम भेंट है) मैं जाकर नेत्र सफल करूँ ॥७॥ जाकर (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों तापों के नाश करनेवाले श्याम शरीर और कमल-नयन श्रीरामजी के दर्शन करूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्हेउँ प्रभु बिरोध···'; यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥" (उ० दो० १०५); अर्थात् श्रीरामजी से विरोध करते ही तुम्हारा भाग्य नष्ट हो गया।

(२) 'नारद मुनि मोहि···'—कहा जाता है कि एक-समय विशाला पुरी में श्रीनारदजी इससे मिले। तब इसके पूछने पर उन्होंने कहा कि मैं देव-समाज से आ रहा हूँ। वहाँ तुम दोनों भाइयों से पीड़ित होकर देवताओं ने विष्णु भगवान् से प्रार्थना की। वे इनकी प्रार्थना मानकर राम-नाम से रघुकुल में अवतीर्ण हुए हैं, वे तुम सबका वध करेंगे। और यह भी किसी-किसी का मत है कि श्रीनारदजी ने कहा था कि जब तुम छः महीने की नींद पूरी होने के पहले जगाये जाओगे, तब निश्चय तुम सबका मरण होगा। वह घटना घट गई, तो अब कहना व्यर्थ है। न मैं असमय में जगाया जाता और न सबका नाश होता।

(३) 'अब भरि अंक···'—'अब' अर्थात् जो हुआ सो हुआ। मैं युद्ध करने जाता ही हूँ। वहाँ पर मुझे और भी लाभ होंगे, उन्हें आगे कहा है। 'भाई' का भाव यह है कि तुम्हारे अनीति रत होने पर भी मैं भाईपना निबाहूँगा; यथा—"सबंधुर्योऽपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते ॥" (वाल्मी० ६।६३।२७); यह रावण से कुंभकर्ण ही का वचन है।

'लोचन सुफल करउँ मैं जाई'—भाव यह कि श्रीरामजी के दर्शनों से ही नेत्र सफल होते हैं; यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन ॥" (आ० दो० ९)—श्रीसुतीक्ष्णजी; तथा—"निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी ॥" (उ० दो० ७५)—श्रीभुशुंडीजी।

(४) 'श्याम गात सरसीरुह लोचन···'—ये दोनों ही तापत्रय के नाशक हैं; यथा—"भुज-प्रलंब कंजारुन लोचन। श्यामलगात प्रनत-भयमोचन ॥" (सुं० दो० ४४)।

विशेष—(१) 'दुर्मुख सुर-रिपु···'—इन सबके युद्ध वाल्मीकीय रामायण में विस्तार से कहे गये हैं। प्रहस्त के मंत्री नरांतक को द्विविदजी ने मारा। देवान्तक और अकंपन को श्रीहनुमान्जी ने, अतिकाय को श्रीलक्ष्मणजी ने और महोदर को श्रीसुग्रीवजी ने मारा है। 'परे समर महि···'—ये रणधीर थे, इससे पीछे को पाँव नहीं दिये, परन्तु सभी मारे गये। 'परे' से यह भी सूचित किया कि इतने मारे गये कि उनका उठाकर फेंकना कठिन पड़ गया है, अभी भी कितने पड़े हुए ही हैं। इन सबके नाम गिनाकर रावण उसे उत्तेजित करना चाहता है।

(२) 'बिलखान'—रोने के कई हेतु हैं—(क) स्वजनों का नाश सुनकर, (ख) जगदंबा के प्रतिकूल बर्त्ताव पर, क्योंकि उनकी कृपा से 'सबका कल्याण होता है; यथा—"सर्वश्रेयस्करीं सीतां" (बा॰ मं॰), अब इसका नाश अवश्य होगा, यह समझकर और इसी कर्म पर मान्य होने पर भी इसे शठ कहा। (ग) भावी की प्रबलता पर रोया कि होनहार तो हुआ ही चाहे, नहीं तो पहले मैं जानता, तो श्रीनारदजी के दिये हुए ज्ञान से रक्षा करता, पर अब क्या होगा, समय चला गया। पूर्व विभीषण, मंदोदरी, माल्यवान् आदि ने श्रीरामजी का ही परत्व कहा था। इसने श्रीसीताजी का भी महत्व कहा।

भल न कीन्ह तैं निसिचर-नाहा। अब मोहि आइ जगायेहि काहा ॥१॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना ॥२॥
हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान-से पायक ॥३॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहि मोहि न सुनायेहि आई ॥४॥

अर्थ—हे राक्षसराज! तूने अच्छा नहीं किया, अब आकर मुझे क्यों जगाया है? ॥१॥ हे तात! अब भी अभिमान छोड़कर श्रीरामजी का भजन कर, (तो) कल्याण होगा ॥२॥ हे दशानन! जिनके श्रीहनुमान्जी सरीखे दूत एवं सेवक हैं, वे रघुनायक क्या मनुष्य हैं? ॥३॥ अहह (खेद की बात है)! हे भाई! तूने बुरा किया कि पहले ही आकर मुझको यह बात नहीं सुनाई ॥४॥

विशेष—(१) 'अब मोहि आइ···'—भाव यह कि सीता-हरण के पूर्व जगाता और मुझसे सलाह पूछता, तो मैं तुम्हें रोक देता, जिससे इस कुल का नाश नहीं होता। यह तुमने भला नहीं किया।

(२) 'अजहूँ तात त्यागि अभिमाना।'—पहले उसकी मूर्खता पर उसे डाँटा था। 'शठ', 'तैं' इत्यादि कहा था, पर अब उपदेश देते समय 'तात' प्रिय संबोधन दिया, जिससे रावण उपदेश माने। उसे अभिमान है; यथा—"कथा कही सब तेहि अभिमानी।" इससे 'त्यागि अभिमाना' कहा है। अभिमान ही से इसने श्रीविभीषणजी के वचन भी नहीं माने, इससे अभिमान त्यागना कहा कि जिससे मेरा कहा माने। 'अजहूँ'—अभी तक जो हानि हुई सो हुई, आगे नहीं होगी। अथवा, इतने पर भजन करने से श्रीरामजी कल्याण ही करेंगे। श्रीविभीषणजी ने भी कहा है, यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥" (सु॰ दो॰ ४०)।

(३) 'हैं दससीस मनुज···'; यथा—"लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः। वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो युधि ॥" (वाल्मी॰ ६।३७।२२); अर्थात् श्रीहनुमान्जी का समुद्र लाँघना, श्रीसीताजी का देखना और युद्ध में राक्षसों का मारना—कौन मनुष्य कर सकता है?—अर्थात् दूत द्वारा ऐसा ईश्वर ही कर सकते हैं।

नहीं रहे। श्रीविभीषणजी यह भी जानते हैं कि यह यद्यपि रावण की भक्ति से युद्ध में प्रवृत्त हुआ है, तथापि वह राम-विमुख नहीं है। अतः, उससे मिलकर आशीर्वाद भी ले लें। जैसे भीष्म-द्रोण को शत्रु पक्ष के जानते हुए भी पांडव लोग सुहृद् भाव से प्रणाम करके आशीर्वाद लेते थे। और फिर अब उसका अंत समय है। अतः, उन्होंने इससे मिल लेना उचित समझा।

(२) 'निज नाम सुनायेउ'—प्रणाम के समय परिचय देना उचित है, यद्यपि कुम्भकर्ण इन्हें जानता है, पर इस समय मतवाला है ; यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि···" यह आगे इसने स्वयं कहा है। इसी से श्रीविभीषणजी ने अपना नाम कहा। 'परेउ चरन' से श्रीविभीषणजी की भक्ति और 'अनुज उठाइ···' से कुम्भकर्ण का प्रेम इनपर प्रकट हुआ।

(३) 'रघुपति भगत जानि···'—इसी से इसने आगे इनकी प्रशंसा की है ; यथा—"धन्य धन्य तैं···बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।···"

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा ॥५॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥६॥

अर्थ—हे तात ! अत्यन्त हितकर सलाह विचारपूर्वक कहने पर रावण ने मुझे लात मारी ॥५॥ उसी ग्लानि से मैं श्रीरघुनाथजी के पास आया, दीन देख कर प्रभु के मन को भाया ; अर्थात् प्रभु को प्रिय लगा ॥६॥

विशेष—(१) 'कहत परम हित मंत्र बिचारा।' ; यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा।" (सुं० दो० ४०) ; "सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार।" (सुं० दो० ४०) ; इसे ही प्रहस्त ने भी परम हित कहा है ; यथा—"बचन परम हित सुनत कठोरे।" यह कहने की प्रतिज्ञा करके—"सीता देइ करहु पुनि प्रीती।" (दो० ८) ; कहा है। इसी से लोक-परलोक दोनों का सुख होता।

(२) 'तेहि गलानि···', यथा—"गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति।" (गी० सुं० २६) ; उसने मुझे धिक्कारा और लात मारी, उसकी ग्लानि मैं नहीं सह सका, यथा—"ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते॥" (वाल्मी० ६।१६।१६)।

'देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।' गृह, परिवार, कोश आदि छोड़कर प्रभु की शरण में आया, यही श्रीविभीषणजी की दीनता है, यथा—"दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥" (सुं दो ४५) ; "कृत भूप बिभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०१), प्रभु दीनता से ही रीझते हैं, यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। जो भक्त श्रीरामजी को भाता है, वह औरों को भी भाता है, यथा—"राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो।" (वि० १५१) ; इसीसे श्रीविभीषणजी कुम्भकर्ण को भी प्रिय लगे, यथा—"रघुपति भगत जानि मन भायो।" ऊपर कहा ही गया है।

सुनु सुत भयउ कालबस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥७॥
धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचर-कुल-भूषन ॥८॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥९॥

दोहा—राम-रूप-गुन सुमिरत, मगन भयउ छन एक।
रावन माँगेउ कोटि घट, मद अरु महिष अनेक ॥६२॥

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना ॥१॥
कुंभकरन दुर्मद रनरंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा ॥२॥

शब्दार्थ—दुर्मद= उन्मत्त, गर्वपूर्ण। रनरंगा = युद्ध के उत्साह युक्त, रणधीर।

अर्थ—श्रीरामजी के रूप और गुणों को स्मरण करते हुए वह एक क्षण के लिये मग्न हो गया। रावण ने करोड़ों घड़े मदिरा के और अनगिनत भैंसे मँगाये ॥६२॥ भैंसे खा और मदिरा पीकर वह वज्र गिरने (के शब्द) के समान गर्जा ॥१॥ उन्मत्त, रणोत्सुक कुम्भकर्ण किला छोड़कर चला, उसने सेना भी साथ नहीं ली ॥२॥

विशेष—(१) 'रावन माँगेउ कोटि···'—रावण ने विचारा कि इसके हृदय में ज्ञान उदय हुआ है। कहीं इसे युद्ध से वैराग्य न हो जाय, अथवा, वहाँ जाने पर यह शत्रु से न मिल जाय। इसलिये उसने इसके ज्ञान को नष्ट करने का यह उपाय रचा। मांस और मदिरा ज्ञान के नाशक हैं, यह यहाँ चरितार्थ है। मद और महिष का वाल्मीकिजी ने भी विस्तार से वर्णन किया है। कुम्भकर्ण का सारा ज्ञान महिष और मदिरा से नष्ट हो गया। जो कोई इनका सेवन करते हुए भी राम-भक्ति चाहते हों, उनकी यह दुराशा व्यर्थ है।

(२) कुंभकरन दुर्मद रनरंगा।···'—और राक्षस लोग वरदान आदि से बली हैं, परन्तु यह प्रकृति से ही महाबली और तेजस्वी है, यथा—"प्रकृत्या ह्येष तेजस्वी कुम्भकर्णो महाबलः। अन्येषां राक्षसेन्द्राणां वरदान कृतं बलम् ॥" (वाल्मी॰ ६।६१।१२); यह श्रीविभीषणजी ने कहा है। वहीं पर और भी कहा गया है कि इसने इन्द्र को हराया और ऐरावत के दाँत उखाड़ लिये। जब यह युद्ध में सन्नद्ध होता है, तब इसे साक्षात् काल समझकर डर से देवता भी इसके सामने नहीं आते—इत्यादि। 'चला'-पैदल चला; यथा—"सलङ्घयित्वा प्राकारं पद्भ्यां पर्वतसन्निभः।" (वाल्मी॰ ६।६५।५१); 'सेन न संगा'—सेना को अपनी सहायता के लिये लेने में यह अपना अपमान मानता था, इसी से अकेले ही चल दिया; यथा—"कुम्भकर्णो महातेजा रावणं वाक्यमब्रवीत्। गमिष्याम्यहमेकाकी तिष्ठत्विह बलं महत् ॥" (वाल्मी॰ ६।६५।२१)।

देखि बिभीषन आगे आयउ। परेउ चरन निज नाम सुनायउ ॥३॥
अनुज उठाइ हृदय तेहि लायो। रघुपति-भगत जानि मन भायो ॥४॥

अर्थ—उसे देखकर श्रीविभीषणजी (मिलने के लिये) आगे आये और चरणों पर पड़कर (साष्टांग प्रणाम करके) अपना नाम बतलाया ॥३॥ छोटे भाई को उठाकर उसने हृदय से लगा लिया, श्रीरघुनाथजी का भक्त जान कर मन को प्रिय लगा ॥४॥

विशेष—(१) श्रीरामजी की शरण आते समय श्रीविभीषणजी ने अपनी माता और बड़े भाई कुबेर से सम्मति ली थी और यह भी बड़ा भाई है, परन्तु यह उस समय सोया हुआ था, अब उससे मिलकर अपनी निर्दोषता प्रकट करेंगे, जिससे रावण के कहने से उसके मन में इनके प्रति खेद

नहीं रहे। श्रीविभीषणजी यह भी जानते हैं कि यह यद्यपि रावण की भक्ति से युद्ध में प्रवृत्त हुआ है, तथापि वह राम-विमुख नहीं है। अतः, उससे मिलकर आशीर्वाद भी ले लें। जैसे भीष्म-द्रोण को शत्रु पक्ष के जानते हुए भी पांडव लोग सुहृद् भाव-से प्रणाम करके आशीर्वाद लेते थे। और फिर अब उसका अंत समय है। अतः, उन्होंने इससे मिल लेना उचित समझा।

(२) 'निज नाम सुनायेउ'—प्रणाम के समय परिचय देना उचित है, यद्यपि कुम्भकर्ण इन्हें जानता है, पर इस समय मतवाला है ; यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि···" यह आगे इसने स्वयं कहा है। इसी से श्रीविभीषणजी ने अपना नाम कहा। 'परेउ चरन' से श्रीविभीषणजी की भक्ति और 'अनुज उठाइ···' से कुम्भकर्ण का प्रेम इनपर प्रकट हुआ।

(३) 'रघुपति भगत जानि···'—इसी से इसने आगे इनकी प्रशंसा की है ; यथा—"धन्य धन्य तैं···बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।···"

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र विचारा ॥५॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥६॥

अर्थ—हे तात ! अत्यन्त हितकर सलाह विचारपूर्वक कहने पर रावण ने मुझे लात मारी ॥५॥ उसी ग्लानि से मैं श्रीरघुनाथजी के पास आया, दीन देख कर प्रभु के मन को भाया ; अर्थात् प्रभु को प्रिय लगा ॥६॥

विशेष—(१) 'कहत परम हित मंत्र विचारा।' ; यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा।" (सुं० दो० ४०) ; "सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार।" (सुं० दो० ४०) ; इसे ही प्रहस्त ने भी परम हित कहा है ; यथा—"वचन परम हित सुनत कठोरे।" यह कहने की प्रतिज्ञा करके—"सीता देइ करहु पुनि प्रीती।" (दो० ८) ; कहा है। इसी से लोक-परलोक दोनों का सुख होता।

(२) 'तेहि गलानि···' ; यथा—"गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति।" (गी० सुं० २६) ; उसने मुझे धिक्कारा और लात मारी, उसकी ग्लानि मैं नहीं सह सका, यथा—"ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते ॥" (वाल्मी० ६।१६।१२)।

'देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।' गृह, परिवार, कोश आदि छोड़कर प्रभु की शरण में आया, यही श्रीविभीषणजी की दीनता है ; यथा—"दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज विसाल गहि हृदय लगावा॥" (सुं दो० ४५) ; "कृत भूप विभीषन दीन रहा।" (छं० दो० १०६) ; प्रभु दीनता से ही रीझते हैं ; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। जो भक्त श्रीरामजी को भाता है, वह औरों को भी भाता है, यथा—"राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो।" (वि० १५१) ; इसीसे श्रीविभीषणजी कुम्भकर्ण को भी प्रिय लगे ; यथा—"रघुपति भगत जानि मन भायो।" ऊपर कहा ही गया है।

सुनु सुत भयउ कालबस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥७॥
धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचर-कुल-भूषन ॥८॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥९॥

दोहा—बचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ काल-बस बीर ॥६३॥

शब्दार्थ—बीर=भाई ; यथा—"जो जैहउँ बीते अवधि, जियत न पावउँ बीर ॥" (दो० ११५)।

अर्थ—हे पुत्र ! सुन, रावण कालवश हो गया है, इससे वह अब उत्तम शिक्षा क्या मान सकता है ? ॥७॥ विभीषण ! तू धन्य है ! धन्य है ! ! धन्य है !!! हे तात ! तुम निशाचर कुल के भूषण हुए हो ॥८॥ हे भाई ! तुमने वंश को प्रकाशित कर दिया, जो शोभा और सुख के सागर श्रीरामजी का भजन किया ॥९॥ मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर रणधीर श्रीरामजी का भजन करना ॥ हे भाई ! मैं काल के वश हो गया हूँ, (इससे) मुझे अपना-पराया नहीं सूझता। अतः, अब तुम जाओ ॥६३॥

विशेष—(१) 'सुनु सुत भयउ···'—छोटा भाई पुत्र के समान होता है ; यथा—"तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा।" (सुं० दो० ४०) ; इससे 'सुत' कहकर उसपर अपना वात्सल्य जनाया। 'भयउ कालबस रावन'—ऐसा ही औरों ने भी कहा है—"काल बिबस पति कहा न माना।" (दो० १०२)—मंदोदरी; "सभा काल बस तोरि" (सुं० दो० ४१)—श्रीविभीषणजी, इत्यादि।

(२) 'धन्य धन्य तैं धन्य···'—यहाँ प्रशंसा में वीप्सा है। तीन शब्द बहुवचन है, तीन बार कहकर बहुत-बहुत धन्यवाद सूचित किया गया।

रावण ने इन्हें धिक्कारा था ; यथा—"त्वां तु धिक्कुलपांसन।" (वाल्मी० ६।१६।१६) उसकी ग्लानि इनके हृदय में बनी हुई थी, 'धन्य धन्य···' कहकर कुम्भकर्ण ने उसे दूर किया। जिसके पक्ष के लिये ही रावण ने इन्हें धिक्कारा था, उसी के लिये कुम्भकर्ण ने प्रशंसा की।

(३) 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।'—भाव यह है कि इस कुल में एक तुम ही महा भागवत हुए, इससे इस वंश की संसार में सराहना होगी, अन्यथा इसका कोई नाम भी न लेता। राम-भक्त का कुल-भर धन्य माना जाता है ; यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥" (उ० दो० १२७)।

'भजेहु राम सोभा-सुख-सागर।'—भाव यह है कि श्रीरामजी का भजन करते रहोगे, तो तुम्हारा सुख-साज बना रहेगा। श्रीरामजी अपनी शोभा से भक्त को अपनेमें आकर्षित किये रहते हैं और फिर उसके प्रेम पर प्रसन्न होकर उसे सुख भी देते हैं। शोभा, यथा—"सोभाधाम राम अस नामा।" (बा० दो० २१) ; सुख—"तदपि अधिक सुखसागर रामा।" (बा० दो० ११०)।

(४) 'बचन कर्म मन कपट तजि···'—सुख की स्थिरता इसी तरह रहेगी ; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥" (अ० दो० १००) ; प्रभु को कपट नहीं भावा ; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ॥" (सुं० दो० ४४) ; इसीसे कपट छोड़कर भजन करना कहा गया। कपट=छल ; स्वार्थ ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००)। अतः, स्वार्थ-भावना का त्याग करना कहा गया है। 'राम रनधीर'—कहने का भाव यह है कि श्रीरामजी अवश्य रावण को मारेंगे, इसी विश्वास पर उनमें निष्ठा करना और रावण का भय नहीं करना।

(५) 'जाहु न निज पर सूझ···'—एक तो मद का पान किया ही है, फिर कालवश भी है, इसीसे

इसे अपना और पराया नहीं सूझता ; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवइ सांई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (दो० ३५)।

बंधुवचन सुनि चला बिभीषन। आयउ जहँ त्रैलोक - बिभूषन ॥१॥
नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा ॥२॥
एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना ॥३॥
लिये उठाइ बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर ॥४॥

अर्थ—भाई के वचन सुनकर श्रीविभीषणजी चल दिये और जहाँ त्रैलोक के विभूषण श्रीरामजी थे, वहाँ आये ॥१॥ (और कहा) हे नाथ ! पर्वताकार देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है ॥२॥ जैसे ही वानरों ने इतना सुना वे बलवान् किलकिलाकर दौड़े ॥३॥ वृक्षों और पर्वतों को उठा लिया, और क्रोध से दाँत कटकटाकर उसके ऊपर डालने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'बंधुबचन सुनि···'—'बंधु' कहा गया, क्योंकि इसने भाई के समान हितकर वचन कहे हैं। 'त्रैलोक बिभूषन'—क्योंकि रावण को मार तीनों लोकों को सुख सम्पन्न करके सुशोभित करेंगे।

(२) 'नाथ भूधराकार सरीरा।···'—वाल्मी० ६।६१।३–३३ में श्रीरामजी ने इसे आते देखकर पूछा है कि यह पर्वताकार कौन आ रहा है ? इसपर श्रीविभीषणजी ने इसकी रणधीरता विस्तार से कही है ; यथा—"कोऽसौ पर्वत संकाश.···" से "विभीषण वचः श्रुत्वा···" तक वही सब बातें यहाँ 'रनधीरा' कहकर जना दीं। मानस में बिना श्रीरामजी के पूछे ही श्रीविभीषणजी का कहना कहकर इनकी अधिक कार्य-तत्परता दिखलाई गई है, क्योंकि मंत्र-भाग इन्हें सौंपा गया है। उसकी रणधीरता कहकर उन्होंने सूचित किया कि इससे सँभलकर युद्ध किया जाय, यह और राक्षसों के समान-सामान्य नहीं है।

(३) 'किलकिलाइ धाये···'—किलकिला शब्द वानरों के उत्साह का सूचक है ; यथा—"सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" (सुं० दो० २७) ; प्रथम तो युद्ध में ये लोग जीते हुए हैं, इससे उत्साह है। पुनः इसे रावण का भाई और महाबली सुनकर उत्साह से दौड़े कि इसको जीतने से बड़ा यश होगा।

(४) 'लिये उठाइ···'—पूर्व के संग्राम के उखाड़े पड़े थे, उन्हीं में से जिसने जो पाया, उठा लिया। 'कटकटाइ डारहिं···'—कटकटाना वानरों की क्रोध-मुद्रा है ; यथा—"कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि डारी ॥" (दो० ३०)।

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा ॥५॥
मुर्यो न मन तनु टर्यो न टार्यो। जिमि गज अर्क फलनि को मार्यो ॥६॥
तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। पर्यो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यौ ॥७॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता ॥८॥

दोहा—बचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ काल-बस बीर ॥६३॥

शब्दार्थ—बीर = भाई ; यथा—"जो जैहउँ बीते अवधि, जियत न पावउँ बीर ॥" (दो० ११५)।

अर्थ—हे पुत्र ! सुन, रावण कालवश हो गया है, इससे वह अब उत्तम शिक्षा क्या मान सकता है ? ॥७॥ विभीषण ! तू धन्य है ! धन्य है ! ! धन्य है !!! हे तात ! तुम निशाचर कुल के भूषण हुए हो ॥८॥ हे भाई ! तुमने वंश को प्रकाशित कर दिया, जो शोभा और सुख के सागर श्रीरामजी का भजन किया ॥९॥ मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर रणधीर श्रीरामजी का भजन करना ॥ हे भाई ! मैं काल के वश हो गया हूँ, (इससे) मुझे अपना-पराया नहीं सूझता । अतः, अब तुम जाओ ॥६३॥

विशेष—(१) 'सुनु सुत भयउ···'—छोटा भाई पुत्र के समान होता है ; यथा—"तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा ।" (सुं० दो० ४०) ; इससे 'सुत' कहकर उसपर अपना वात्सल्य जनाया । 'भयउ कालबस रावन'—ऐसा ही औरों ने भी कहा है—"काल बिवस पति कहा न माना ।" (दो० १०२)—मंदोदरी; "सभा काल बस तोरि" (सुं० दो० ४१)—श्रीविभीषणजी, इत्यादि ।

(२) 'धन्य धन्य तैं धन्य···'—यहाँ प्रशंसा में वीप्सा है । तीन शब्द बहुवचन है, तीन बार कहकर बहुत-बहुत धन्यवाद सूचित किया गया ।

रावण ने इन्हें धिक्कारा था ; यथा—"त्वां तु धिक्कुलपांसन ।" (वाल्मी० ६।१६।१६) उसकी ग्लानि इनके हृदय में बनी हुई थी, 'धन्य धन्य···' कहकर कुम्भकर्ण ने उसे दूर किया । जिसके पक्ष के लिये ही रावण ने इन्हें धिक्कारा था, उसी के लिये कुम्भकर्ण ने प्रशंसा की ।

(३) 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर ।'—भाव यह है कि इस कुल में एक तुम ही महा भागवत हुए, इससे इस वंश की संसार में सराहना होगी, अन्यथा इसका कोई नाम भी न लेता । राम-भक्त का कुल-भर धन्य माना जाता है ; यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत । श्रीरघुबीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥" (उ० दो० १२७) ।

'भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ।'—भाव यह है कि श्रीरामजी का भजन करते रहोगे, तो तुम्हारा सुख-साज घना रहेगा । श्रीरामजी अपनी शोभा से भक्त को अपनेमें आकर्षित किये रहते हैं और फिर उसके प्रेम पर प्रसन्न होकर उसे सुख भी देते हैं । शोभा, यथा—"सोभाधाम राम अस नामा ।" (बा० दो० २१) ; सुख—"तदपि अधिक सुखसागर रामा ।" (बा० दो० ११०) ।

(४) 'बचन कर्म मन कपट तजि···'—सुख की स्थिरता इसी तरह रहेगी ; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार । तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥" (अ० दो० १०७) ; प्रभु को कपट नहीं भावा ; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा । मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ॥" (सुं० दो० ४४) ; इसीसे कपट छोड़कर भजन करना कहा गया । कपट = छल ; स्वार्थ ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।" (अ० दो० ३००) । अतः, स्वार्थ-भावना का त्याग करना कहा गया है । 'राम रनधीर'—कहने का भाव यह है कि श्रीरामजी अवश्य रावण को मारेंगे, इसी विश्वास पर उनमें निष्ठा करना और रावण का भय नहीं करना ।

(५) 'जाहु न निज पर सूझ···'—एक तो मद का पान किया ही है, फिर कालवश भी है, इसीसे

इसे अपना और पराया नहीं सूझता ; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (दो॰ ३५)।

बंधुबचन सुनि चला बिभीषन। आयउ जहँ त्रैलोक - बिभूषन ॥१॥
नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा ॥२॥
एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना ॥३॥
लिये उठाइ बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर ॥४॥

अर्थ—भाई के वचन सुनकर श्रीविभीषणजी चल दिये और जहाँ त्रैलोक के विभूषण श्रीरामजी थे, वहाँ आये ॥१॥ (और कहा) हे नाथ ! पर्वताकार देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है ॥२॥ जैसे ही वानरों ने इतना सुना वे बलवान् किलकिलाकर दौड़े ॥३॥ वृक्षों और पर्वतों को उठा लिया, और क्रोध से दाँत कटकटाकर उसके ऊपर डालने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'बंधुबचन सुनि…'—'बंधु' कहा गया, क्योंकि इसने भाई के समान हितकर वचन कहे हैं। 'त्रैलोक बिभूपन'—क्योंकि रावण को मार तीनों लोकों को सुख सम्पन्न करके सुशोभित करेंगे।

(२) 'नाथ भूधराकार सरीरा।…'—वाल्मी० ६।६१।३-३३ में श्रीरामजी ने इसे आते देखकर पूछा है कि यह पर्वताकार कौन आ रहा है ? इसपर श्रीविभीषणजी ने इसकी रणधीरता विस्तार से कही है ; यथा—"कोऽसौ पर्वत संकाशः…" से "विभीषण वचः श्रुत्वा…" तक वही सब बातें यहाँ 'रनधीरा' कहकर जना दीं। मानस में बिना श्रीरामजी के पूछे ही श्रीविभीषणजी का कहना कहकर इनकी अधिक कार्य-तत्परता दिखलाई गई है, क्योंकि मंत्र-भाग इन्हें सौंपा गया है। उसकी रणधीरता कहकर उन्होंने सूचित किया कि इससे सँभलकर युद्ध किया जाय, यह और राक्षसों के समान सामान्य नहीं है।

(३) 'किलकिलाइ धाये…'—किलकिला शब्द वानरों के उत्साह का सूचक है ; यथा—"सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" (सुं॰ दो॰ २७) ; प्रथम तो युद्ध में ये लोग जीते हुए हैं, इससे उत्साह है। पुन. इसे रावण का भाई और महाबली सुनकर उत्साह से दौड़े कि इसको जीतने से बड़ा यश होगा।

(४) 'लिये उठाइ…'—पूर्व के संग्राम के उखाड़े पड़े थे, उन्हीं में से जिसने जो पाया, उठा लिया। 'कटकटाइ डारहिं…'—कटकटाना वानरों की क्रोध-मुद्रा है, यथा—"कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि डारी ॥" (दो॰ ३०)।

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा ॥५॥
मुर्‍यौ न मन तनु टर्‍यो न टार्‍यो। जिमि गज अर्क फलनि को मार्‍यो ॥६॥
तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। पर्‍यो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यौ ॥७॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता ॥८॥

अर्थ—भालू और वानर एक-एक बार में ही कोटि-कोटि (अगणित) पर्वत-शिखरों को चलाकर मारते हैं ॥७॥ पर इसका न तो मन ही मुड़ा और न वह तन से ही टाले टला, जैसे मदार (अकवन) के फलों से मारे जाने पर हाथी (टस-से-मस न करे = चलायमान न हो) ॥६॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने घूँसा मारा, (तब) वह व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ा और शिर पीटने लगा ॥७॥ फिर उठकर उसने श्रीहनुमानजी को मारा, जिससे वे चक्कर खाकर तुरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥८॥

विशेष—(१) 'मुखो न मन···'—यहाँ इसकी उपर्युक्त 'रणधीरता' चरितार्थ है। जैसे रुईमय मंदार का फल हलका होने से हाथी को उसका स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता, वैसे ही इनलोगों का भी प्रहार उसे कुछ नहीं जान पड़ा। यहाँ उसके 'मन' और 'तन' की धीरता कही गई है। वचन की नहीं, क्योंकि वीर लोग कर्त्तव्य ही कर दिखाते हैं, अपना बल नहीं कहते; *यथा*—"एक करहिं कहत न बागहीं।" (दो० ८१)।

(२) 'तब मारुत सुत···'—'तब' जब इनके सजातियों के प्रहार को उसने कुछ नहीं माना। 'व्याकुल सिर धुनेऊँ'—उसने अपने पराक्रम को धिक्कारते हुए शिर पीटा। 'घुर्मित भूतल···'—इससे कुम्भकर्ण के समान ही इनकी भी दशा हुई। दोनों बल में समान ही हैं। इन्हें मूर्च्छा से चैतन्य होने की प्रतीक्षा उसने नहीं की, वरन् नल-नील आदि वीरों की ओर चल पड़ा, इनका चैतन्य होना पीछे कहेंगे; *यथा*—"मुरछा गइ मारुत सुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा।"

पुनि नल-नीलहिं अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट डारेसि ॥९॥
चली बलीमुख-सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई ॥१०॥

दोहा—अंगदादि कपि मुरछित, करि समेत सुग्रीव।
काँख दाबि कपिराज कहँ, चला अमित बलसींव ॥६४॥

अर्थ—फिर नल-नील को पृथिवी पर पछाड़ा (पटका) और योद्धाओं को जहाँ-तहाँ पटक-पटककर डाल दिया ॥९॥ वानर-सेना भाग चली, सब वानर डर से अत्यन्त डरे हुए हैं, इससे कोई भी सामने नहीं आते ॥१०॥ श्रीसुग्रीवजी के साथ सब वानरों को मूर्च्छित करके अपरिमित बल की सीमा कुम्भकर्ण वानर-राज श्रीसुग्रीवजी को काँख (बगल) में दबाकर ले चला ॥६४॥

विशेष—(१) 'चली बलीमुख-सेन पराई।'—यहाँ सारी सेना का भागना कहा गया, आगे इसकी दूसरी लड़ाई में व्यक्तिगत सुभट भी भागेंगे; *यथा*—"मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे।" (दो० ६५); 'अति-भय-त्रसित न कोउ समुहाई'।—वाल्मी० ६।६६।१२-१७ में कहा है कि रुधिर से भीगकर वानर पृथिवी पर सो गये।···लाँघते और दौड़ते हुए वानर किसी ओर न देख सके। अतः, कई तो समुद्र में गिरे, कई आकाश में उड़ गये और पर्वत पर चले गये। कोई गुहा में छिप गये, कोई पृथिवी पर मृतक की तरह सो गये। यहाँ श्रीअंगद आदि भी मूर्च्छित हो गये हैं, इससे सेना का लौटना नहीं कहते। दूसरी लड़ाई में 'सब फिरहिं न फेरे' कहा जायगा।

(२) 'काँख दाबि कपिराज कहँ···'—उसने सबको मूर्च्छित करके छोड़ दिया, परन्तु श्रीसुग्रीवजी

को काँखों तले दबाकर ले चला। उसका अभिप्राय यह था कि बालि ने जैसे मेरे भाई को काँख में दाबा था, मैं बालि के भाई को वैसे ही दबाकर बदला चुका लूँ। इसपर रावण भी बहुत ही प्रसन्न होगा। पुनः वहाँ ले जाकर सुग्रीवजी को मार डालूँगा, जिससे श्रीरामजी प्राण छोड़ दें, फिर तो श्रीलक्ष्मणजी उनके बिना नहीं जियेंगे और फिर सारी सेना मरी हुई ही है; यथा—"अस्मिन्हते सर्वमिदं हतंस्यात्सराघवे सैन्यमितीन्द्रशत्रुः ॥" (वाल्मी० ६।६७।७२); पुनः वाल्मी० ६।४१।४-८ में श्रीरामजी ने कहा भी है कि तुम्हारे (सुग्रीवजी के) शरीर त्याग करने से मैं भी शरीर त्याग देता। 'अमित बल सींव'—क्योंकि इसने श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअंगदजी और श्रीसुग्रीवजी आदि को भी मूर्च्छित कर दिया।

उमा करत रघुपति नर-लीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला ॥१॥
भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई ॥२॥
जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं ॥३॥

शब्दार्थ—भंग = टेढ़ा करने का भाव, भृकुटि-भंग = भौं फेरने मात्र से।

अर्थ—हे उमा! श्रीरघुनाथजी मनुष्य-लीला कर रहे हैं, जैसे गरुड़ सर्पों के समूह में मिलकर खेले ॥१॥ जो भौंह के फेरने मात्र से काल को भी खाता है, क्या उसे ऐसी लड़ाई शोभा देती है? अर्थात् नहीं ॥२॥ जगत् को पवित्र करनेवाली कीर्त्ति फैलावेंगे, जिसे गा-गाकर मनुष्य भवसागर पार होंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'उमा करत रघुपति नर-लीला।...'—श्रीरामजी के रहते हुए श्रीहनुमान्‌जी आदि मूर्च्छित कर दिये गये, श्रीसुग्रीवजी को दाबकर एक राक्षस ले चला, यह कैसे संभव है, श्रीशिवजी उसी का समाधान करते हैं कि हे उमा! जैसे गरुड़ छोटे सपेलों के साथ मिलकर खेले, और सर्प की फुफकार से डरे, तो कोई यह नहीं कह सकता कि गरुड़ डर गया किंवा हार गया, क्योंकि सर्प तो गरुड़ के भक्ष्य हैं, वैसे ही श्रीरामजी चाहें, तो भ्रू-क्षेप मात्र से काल को भी नाश कर दें; यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई ॥" (सु० दो० ११): उसके आगे एक राक्षस क्या चीज है? 'ताहि कि सोहइ'—भाव यह है कि ऐश्वर्य दृष्टि से तो ऐसी लड़ाई नहीं सोहती, परन्तु रघुपति तो नर-लीला कर रहे हैं, मनुष्य को हारना और जीतना ये दोनों ही शोभा देते हैं। बराबर एक ही ओर की जीत होने से रण की शोभा नहीं होती और फिर इस लीला में भी लाभ है, वह आगे प्रकट होगा।

(२) 'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं।...'—भाव यह कि इसे रोचक इतिहास की तरह लोग प्रेम पूर्वक गावेंगे और उससे भवसागर पार हो जायँगे, यथा—"जग बिस्तारहिं, बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥" (बा० दो० १२१), यह कार्य योग-ज्ञान आदि कठिन साधनों से भी दुर्लभ है।

मुरुछा गइ मारुतसुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा ॥४॥
सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती। निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती ॥५॥
काटेसि दसन नासिका-काना। गरजि अकास चलेउ तेहि जाना ॥६॥
गहेउ चरन गहि भूमि पछारा। अति लाघव उठि पुनि तेहि मारा ॥७॥
पुनि आयउ प्रभु पहिं बलवाना। जयति जयति जय कृपानिधाना ॥८॥

शब्दार्थ—निबुकना = बंधन से छूटना। लाघव = फुर्ती से, शीघ्रता से।

अर्थ—मूर्च्छा जाती रही, तब श्रीहनुमान्‌जी सावधान हुए और वे श्रीसुग्रीवजी को ढूँढ़ने लगे ॥४॥ (वहाँ) श्रीसुग्रीवजी की भी मूर्च्छा निवृत्त हुई, वे बन्धन से छूट गये, उसने इन्हें मृतक जाना ॥५॥ दाँत से नाक-कान काट लिये और गरजकर आकाश को चले, तब उसे कुंभकर्ण ने जाना ॥६॥ उसने श्रीसुग्रीवजी का पैर पकड़कर भूमि पर दे पटका, फिर श्रीसुग्रीवजी ने बड़ी फुर्ती से उठकर उसे मारा ॥७॥ फिर बलवान् श्रीसुग्रीवजी प्रभु के पास आये और कृपासागर श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो (इस तरह जय-जयकार करने लगे) ॥८॥

विशेष—(१) 'सुग्रीवहि तब खोजन लागा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने सूर्य से विद्या पढ़ी थी, तब इन्होंने उनसे गुरु-दक्षिणा माँगने को कहा, तो सूर्य ने अपने पुत्र श्रीसुग्रीवजी की रक्षा करना इनसे माँगा। इसीलिये वे श्रीसुग्रीवजी को खोजने लगे। वाल्मी० ६।६७ में इनका शोच करना लिखा है, फिर इन्होंने सोचा कि अभी यदि मैं पर्वताकार होकर कुंभकर्ण को मारकर श्रीसुग्रीवजी को छुड़ा लाऊँ तो वानर प्रसन्न होंगे। पर इससे श्रीसुग्रीवजी नाराज होंगे, क्योंकि इसमें उनके यश की हानि है, फिर चिन्ता क्या है? श्रीसुग्रीवजी अभी बेहोश हैं, चैतन्य होने पर वे स्वयं छूटकर आवेंगे। अतएव थोड़ी देर तक प्रतीक्षा कर लूँ। पर यहाँ मानस में श्रीहनुमान्‌जी के मूर्छित रहने पर कुंभकर्ण का श्रीसुग्रीवजी को ले जाना लिखा है और पीछे जागने पर इनका उक्त सोच करना एवं खोजना कहा गया है।

(२) 'सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती ..'—जब इन्हें लेकर कुंभकर्ण लंका के राजमार्ग से चला, तब राक्षसों ने विजयी होने से उसपर फूल, अक्षत और चन्दन के साथ जल की धीमी-धीमी वर्षा ऊपर महलों से की, उससे एवं मार्ग की सीतल वायु के संयोग से शीतलता पाकर श्रीसुग्रीवजी की मूर्च्छा टूट गई—ऐसा वाल्मी० ६।६७।८३-८४ में कहा है।

'निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती।'—श्रीसुग्रीवजी चैतन्य होने पर देह ढीली कर भारी हो नीचे की ओर खिसलने को हुए, तब उसने जाना कि अब मर गया होगा, अतएव उसने काँख ढीली कर दी। ढीली काँख पाते ही श्रीसुग्रीवजी उसके कंधे पर चढ़ गये और शीघ्रता से अपने नखों और दाँतों से उसके नाक-कान काट गरजकर आकाश को चले, तब उसने जाना। वह इतना मतवाला हो रहा था कि नाक कान काटते समय भी उसने नहीं जाना, किंतु गरजने पर जाना।

(३) 'गर्जि अकास चलेउ...'—श्रीसुग्रीवजी ने गरज कर अपनी जीत सूचित की।

(४) 'गहेउ चरन गहि...'—जब उसे मालूम हुआ कि श्रीसुग्रीवजी अभी जीवित हैं, तब उसने इनका पैर पकड़कर पृथिवी पर दे पटका, पर इन्होंने 'अति लाघव' अर्थात् गेंद की तरह पृथिवी पर पड़ते ही शीघ्र उछलकर उसे मारा और फिर श्रीरामजी के पास आ गये; यथा—"स भूतले भीमबलाभिपिष्टः सुरारिभिर्स्तैरभिहन्यमानः। जगाम खं कन्दुकवज्जवेन पुनश्च रामेण समाजगाम ॥" (वाल्मी० ६।६७।८१)।

(५) 'पुनि आयउ प्रभुपहिं...'—ऐसे प्रबल शत्रु से छूटकर और उसके नाक-कान काटकर आये, इससे 'बलवाना' कहा गया है। 'कृपा निधाना' का भाव यह है कि आपकी ही कृपा से मैं शत्रु से बचकर और कुशल पूर्वक लौटा, ऐसे आपकी तीनों कालों में जय हो। तीन बहुवचन हैं, तीन बार जय से बहुत बार जय सूचित की।

नाक कान काटे जिय जानी। फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी ॥९॥
सहज भीम पुनि बिनु श्रुति नासा। देखत कपिदल उपजी त्रासा ॥१०॥

दोहा—जय जय जय रघुबंसमनि, धाये कपि दै हूह।
एकहि बार तासु पर, छाँड़ेन्हि गिरि-तरु-जूह ॥६५॥

शब्दार्थ—भीम = भयानक। हूह = हर्षध्वनि। जूह = झुंड।

अर्थ—हमारे नाक-कान काट लिये गये। इस बात को समझकर उसके मन में ग्लानि हुई (कि नकटा-बूचा होकर जीवन को और ऐसे पुरुषार्थ को धिक्कार है,) और वह क्रोध करके (मार्ग से) लौट पड़ा ॥९॥ एक तो वह स्वाभाविक ही भयंकर था, फिर अब नकटा-बूचा भी हो गया। अतः, उसे देखते ही वानर-सेना में भय उत्पन्न हो गया ॥१०॥ 'जय, जय, जय रघुवंशमणि' ऐसा हर्षसूचक नाद करके वानर दौड़े और सबों ने उसपर पर्वतों और वृक्षों के समूह एक साथ ही छोड़ दिये ॥६५॥

विशेष—(१) 'फिरा क्रोध करि...'—पहले हर्ष पूर्वक विजयी होकर जा रहा था। अब श्रीसुग्रीवजी के द्वारा पराजय हुई, वह भी ऐसी कि जिससे प्रतिष्ठा ही चली गई। नकटा-बूचा लाकर किसी को कौन मुँह दिखाऊँगा, लोग हँसेंगे कि बड़ी डींग हाँक कर गया और नाक-कान कटाकर वापस आया। इससे अब तो सबको मार कर ही लौटूँगा, अथवा स्वयं मर जाऊँगा—ऐसी ग्लानि और क्रोध-सहित वह लौटा।

(२) 'सहज भीम पुनि...'; यथा—"नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥" (आ० दो० १७), यह तो स्वाभाविक ही भयंकर था, अब विशेष विकराल हो गया। 'देखत...' —पहले बड़े-बड़े सुभट नल-नील आदि के पटके जाने पर और वानर लोग भागे थे, अब तो उसे देखते ही सब भयभीत हो गये।

(३) 'रघुबंस मनि'—मणि के समान वज्रांग शरीर सूचित करते हुए 'मणि' कहा। 'एकहि बार'—सब डरे हुए हैं, इससे साथ मिलकर एक बारगी प्रहार किया।

कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा ॥१॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टिड्डी गिरि-गुहा समाई ॥२॥
कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मींजि मिलव महि गर्दा ॥३॥
मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा। निसरि पराहिं भालु-कपि-ठाटा ॥४॥

अर्थ—कुंभकर्ण वीररस में रँगा हुआ, विरोधभाव से सामने चला, मानों क्रोधित होकर काल आ रहा हो ॥१॥ करोड़ों-करोड़ों वानरों को पकड़-पकड़कर खाने लगा, मानों टिड्डियाँ पर्वत की गुफा में समा रही हों ॥२॥ करोड़ों को पकड़कर देह से मसल डाला, करोड़ों को हाथों से मलकर पृथिवी की धूल में मिला दिया ॥३॥ रीछों और वानरों के झुंड-के-झुंड उसके मुँह, नाक और कानों की राह से निकलकर भाग रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'काल जनु क्रुद्धा' प्रलय के समय जैसे प्राणिमात्र को काल खा जाता है, वैसे ही यह भी क्रोध करके वानरों की ओर चला ; यथा—"यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते स भक्षयामास हरीश्च मुख्यान ।" (वाल्मी० ६।६७।६४) ।

(२) 'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई ।···'; यथा—"शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत्तथैव च । संपरिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति ॥" (वाल्मी० ६।६७।६८); अर्थात् वह सौ, सात, आठ, बीस, तीस को अपने हाथों से पकड़-पकड़ कर खाता हुआ आगे दौड़ता है ।

'जनु टिड्डी'—जैसे टिड्डियाँ पर्वत-गुफा में छिपकर बचती हैं, वैसे ही वानर-गण भी उसके मुख में जाकर नाक, कान आदि के द्वारा निकल-निकल कर बचेंगे ।

(३) 'कोटिन्ह गहि सरीर···'—; यथा—"कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि ।" (सुं० दो० १८), ऐसा श्रीहनुमान्‌जी ने किया था, वैसा ही इसने भी किया ।

(४) 'मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा ।···'; यथा—"प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे । नासापुटाभ्यां संजग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः ॥" (वाल्मी० ६।६७।६५) ।

रन - मदमत्त निसाचर दर्पा । बिस्व-ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा ॥५॥
मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे । सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे ॥६॥
कुंभकरन कपि - फौज बिडारी । सुनि धाई रजनीचर - धारी ॥७॥
देखी राम बिकल कटकाई । रिपु अनीक नाना बिधि आई ॥८॥

शब्दार्थ—दर्पा = गर्वित हुआ । अर्पा = अर्पण किया । टेरना = पुकारना ।

अर्थ—रन-मद से मतवाला होकर कुंभकर्ण गर्वित हुआ, मानों संसार को विधाता ने इसे अर्पण कर दिया, अतः, उसे यह ग्रसेगा ॥५॥ सब बड़े-बड़े योद्धाओं ने मुँह मोड़ लिये, वे लौटाने से भी नहीं लौटते, उनके नेत्रों से देख नहीं पड़ता और वे पुकारने से भी नहीं सुनते ॥६॥ कुंभकर्ण ने वानर-सेना को विडार (तितर-बितर कर) दिया, यह सुनकर राक्षसों की सेना दौड़ी ॥७॥ श्रीरामजी ने देखा कि सेना व्याकुल है और नाना प्रकार की शत्रु-सेना आ गई है ॥८॥

विशेष—(१) 'बिस्व-ग्रसिहि जनु···'—संसार-भर को विधाता की आज्ञा से सदा काल खाया करता है ; यथा—"काल बिलोकत ईस रुख · " (दोहावली ५०४); यह काल रूप है ही, यथा 'काल जनु क्रुद्धा' । इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों विधाता ने आज इसे विश्व भर को खाने के लिये अर्पण कर दिया अर्थात् दे दिया है कि ले खा ले, इसीसे यह बेधड़क खाने को दौड़ रहा है ।

'दर्पा'—पहले की जीत से घमंड है कि जिस तरह उस बार सबको मूर्च्छित किया था, उसी तरह अब भी मार लूँगा ।

(२) 'मुरे सुभट सब···'—पहले की लड़ाई में केवल सेना भगी थी, इस बार सुभटों ने भी मुँह मोड़ दिये । 'फिरहिं न फेरे' पहले के युद्ध में प्रधान-प्रधान लोग सब मूर्च्छित हो गये थे, इससे सेना को कोई लौटानेवाला नहीं था, पर इस बार लौटाई जा रही है, बहुत समझाने पर लौटी है । वाल्मी० ६।६६। १८–३२ में श्रीअंगदजी का समझाना लिखा है । वही यहाँ संकेत-मात्र से कह दिया गया है ।

विशेष—(१) 'काल जनु क्रुद्धा' प्रलय के समय जैसे प्राणिमात्र को काल खा जाता है, वैसे ही यह भी क्रोध करके वानरों की ओर चला ; यथा—"यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते स भक्षयामास हरींश्च मुख्यान् ।" (वाल्मी० ६।६७।१४) ।

(२) 'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई ।'''; यथा—"शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत्तथैव च । संपरिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्तिपरिधावति ॥" (वाल्मी० ६।६७।१८) ; अर्थात् वह सौ, सात, आठ, बीस, तीस को अपने हाथों से पकड़-पकड़ कर खाता हुआ आगे दौड़ता है ।

'जनु टिड्डी'—जैसे टिड्डियाँ पर्वत-गुफा में छिपकर बचती हैं, वैसे ही वानर-गण भी उसके मुख में जाकर नाक, कान आदि के द्वारा निकल-निकल कर बचेंगे ।

(३) 'कोटिन्ह गहि सरीर'''—; यथा—"कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि ।" (सुं० दो० १८) ; ऐसा श्रीहनुमान्‌जी ने किया था, वैसा ही इसने भी किया ।

(४) 'मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा ।'''; यथा—"प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे । नासापुटाभ्यां संजग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः ॥" (वाल्मी० ६।६७।१५) ।

रन - मदमत्त निसाचर दर्पा । बिस्व-ग्रसिहि जनु येहि बिधि अर्पा ॥५॥
मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे । सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे ॥६॥
कुंभकरन कपि - फौज बिडारी । सुनि धाई रजनीचर - धारी ॥७॥
देखी राम बिकल कटकाई । रिपु अनीक नाना बिधि आई ॥८॥

शब्दार्थ—दर्पा = गर्वित हुआ । अर्पा = अर्पण किया । टेरना = पुकारना ।

अर्थ—रन-मद से मतवाला होकर कुंभकर्ण गर्वित हुआ, मानों संसार को विधाता ने इसे अर्पण कर दिया; अतः, उसे यह ग्रसेगा ॥५॥ सब बड़े-बड़े योद्धाओं ने मुँह मोड़ लिये, वे लौटाने से भी नहीं लौटते, उनके नेत्रों से देख नहीं पड़ता और वे पुकारने से भी नहीं सुनते ॥६॥ कुंभकर्ण ने वानर-सेना को विडार (तितर-बितर कर) दिया, यह सुनकर राक्षसों की सेना दौड़ी ॥७॥ श्रीरामजी ने देखा कि सेना व्याकुल है और नाना प्रकार की शत्रु-सेना आ गई है ॥८॥

विशेष—(१) 'बिस्व-ग्रसिहि जनु'''—संसार-भर को विधाता की आज्ञा से सदा काल खाया करता है ; यथा—"काल बिलोकत ईस रुख'''" (दोहावली ५०४) ; यह काल रूप है ही; यथा 'काल जनु क्रुद्धा' । इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों विधाता ने आज इसे विश्व भर को खाने के लिये अर्पण कर दिया अर्थात् दे दिया है कि ले खा ले, इसीसे यह बेधड़क खाने को दौड़ रहा है ।

'दर्पा'—पहले की जीत से घमंड है कि जिस तरह उस बार सबको मूर्च्छित किया था, उसी तरह अब भी मार लूँगा ।

(२) 'मुरे सुभट सब'''—पहले की लड़ाई में केवल सेना भगी थी, इस बार सुभटों ने भी मुँह मोड़ दिये । 'फिरहिं न फेरे' पहले के युद्ध में प्रधान-प्रधान लोग सब मूर्च्छित हो गये थे, इससे सेना को कोई लौटानेवाला नहीं था, पर इस बार लौटाई जा रही है, बहुत समझाने पर लौटी है । वाल्मी० ६।६६। १८-३२ में श्रीअंगदजी का समझाना लिखा है । वही यहाँ संकेत-मात्र से कह दिया गया है ।

दोहा—सुनु सुग्रीव विभीषन, अनुज सँभारेहु सैन।
मैं देखउँ खलबल दलहिं, बोले राजिव-नयन ॥६६॥

कर सारंग साजि कटि-भाथा। अरि-दल दलन चले रघुनाथा ॥१॥
प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष - टँकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा ॥२॥

शब्दार्थ—देखना = प्रतिकार करना, दंड देना। टंकोर = धनुष की प्रत्यंचा का शब्द।

अर्थ—राजीवलोचन श्रीरामजी ने कहा—हे श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी और श्रीलक्ष्मणजी! सुनो, तुम सेना को सँभालना, मैं इस दुष्ट के बल और दल को तो देखूँ; अर्थात् बल और दल दोनों का नाश करूँ ॥६६॥ हाथ में शार्ङ्ग धनुष और कमर में तर्कश सजाकर श्रीरघुनाथजी शत्रु की सेना को नष्ट करने के लिये चले ॥१॥ पहले प्रभु ने धनुष का टंकोर किया, उस शब्द के हल्ले को सुनकर शत्रु का दल बहरा हो गया ॥२॥

विशेष—(१) 'मैं देखउँ खल···बोले राजिव नयन।'—ऊपर कहा गया—'देखी राम बिकल कटकाई।'—अपनी सेना को व्याकुल देखकर उनका दुःख निवारण करने के लिये बोले, इसलिये 'राजिव नयन' पद दिया गया है। यह विशेषण ऐसे ही कार्य के सम्बन्ध में दिया जाता है, यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७)। श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी और श्रीलक्ष्मणजी पर भी करुणा है। ये लोग मेघनाद और कुंभकर्ण से युद्ध करके श्रान्त हैं और सेना भी श्रान्त है। अतएव सेना के साथ साथ इन्हें भी ठहरने को कहा। ये सेना की रक्षा भी करेंगे 'मैं मारउँ' न कहकर 'देखउँ' कहा, क्योंकि उसपर भी करुणा ही है, बाणों से पवित्र करके उसे मोक्ष देना है।

(२) 'कर सारंग ···'—शार्ङ्ग धनुष श्रीरामजी का मुख्य आयुध है, 'शार्ङ्गपाणि' श्रीरामजी का ही नाम है, यथा—"सुमिरत श्रीसारंगपानि छन में सब सोच गयो।" (गी० बा० ४५)। 'रिपुदल बधिर भयो···'—क्योंकि धनुष टंकोर बड़ा कठोर एवं भयंकर था। 'प्रथम'—युद्धारंभ में पहले।

'अरिदल दलन चले रघुनाथा।'—यहाँ शूरता के सम्बन्ध से रघुवंश सम्बन्धी नाम कहा। 'प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा।'—प्रतिपक्षी वीरों को सावधान करने के लिये प्रत्यंचा से शब्द किया जाता है; यथा—"रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम्। शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव॥" (वाल्मी० ५।२१।२२), यह श्रीसीताजी ने रावण से कहा है कि इन्द्र के द्वारा चलाये हुए वज्र के शब्द के समान ही श्रीरामजी के धनुष का महा शब्द तुम सुनोगे। 'रिपु दल बधिर भयो', यथा—"प्रभु कीन्ह धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा॥" (आ० दो० १८)।

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। काल सर्प जनु चले सपच्छा ॥३॥
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा ॥४॥

शब्दार्थ—नाराच = वह तीर जो समूचा लोहे का बना हुआ होता है, इसमें पाँच पंख होते हैं, इसीसे इसका चलाना कठिन है और बाणों में चार ही पंख होते हैं।

अर्थ—सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामजी ने एक लाख बाण छोड़े, वे इस तरह चले मानों काल रूपी पक्षयुक्त सर्प चले हों ॥३॥ जहाँ तहाँ बहुत-से नाराच् बाण चले, उनसे विकट राक्षस कटने लगे ॥४॥

विशेष—'पिसाचा'—राक्षसों को पिशाच इससे कहा है कि ये बड़े भयंकर हैं। पुनः कटकर गिरते हैं और फिर उठ-उठकर लड़ते हैं, इससे भी पिशाच कहे गये हैं। 'सत्य संध'—श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा की है—'मैं देखउँ खल बल दलहिं' उसे पूरा करेंगे, इसलिये लाख बाण छोड़े। एक साथ ही लाख बाण कैसे चलाये ? इसके समाधान में प्राचीन श्लोक है; यथा—"तूणेनैकशराङ्करेण दशधा संधानकाले शतम्। चापेऽभूत सहस्र लक्ष गमने कोटिश्च कोटिर्वधे ॥ अन्ते अर्वनिखर्वि बाणनिकरैर्लीलापतेः शोभितम्। एतद्बाणपराक्रमस्य महिमा सत्पात्रदाने यथा ॥" अर्थात् जैसे सत्पात्र में दान देने से उसकी फल-वृद्धि होती है वैसे श्रीरामजी का बाण तर्कश में एक रहता है, हाथ में लेते ही दस हो जाता है, संधान के समय सौ हो जाता है और धनुष पर रखते ही हजार हो जाता है, चलते समय लाख और वध के समय कोटि-कोटि हो जाता है तथा अंत समय में वह अर्ब-खर्ब बाणों का समूह हो जाता है। यह उनके बाण की महिमा है। यहाँ तो ग्रंथकार ने 'छाँड़े' ही कहा है। भाव यह कि छोड़े जाने पर लक्ष हो जाते हैं।

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सत खंडा ॥५॥
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं। उठि संभारि सुभट पुनि लरहीं ॥६॥
लागत बान जलद जिमि गाजहिं। बहुतक देखि कठिन सर भाजहिं ॥७॥
रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं ॥८॥

अर्थ—किसी के पैर, किसी की छाती, किसी का शिर और किसी के भुजदंड कटते हैं। बहुत-से वीरों के तो सौ-सौ टुकड़े हो रहे हैं ॥५॥ घूम-घूम (चक्कर खा-खा) कर घायल पृथिवी पर गिरते हैं जो अच्छे योद्धा हैं, वे सँभलकर उठकर फिर लड़ते हैं ॥६॥ बाण लगते ही वे मेघ की तरह गर्जते हैं और बहुत-से कठिन बाण देखकर भागते हैं ॥७॥ बिना शिर के बड़े वेगवान एवं भयंकर धड़ दौड़ते हैं। 'धरो, धरो; मारो, मारो' शब्द कर रहे हैं (ऊँचे स्वर से अलाप रहे हैं) ॥८॥

विशेष—'जलद, जिमि गाजहिं'—शब्द की गंभीरता दिखाने को मेघ की उपमा दी गई है। 'धुनि गावहिं'—इन शब्दों के उच्चारण में उत्साह के कारण उन्हें सुख होता है, इससे गाना कहा है। प्रतिपक्षियों को भय उत्पन्न करने के लिये 'धरु धरु···' आदि कहते हैं।

दोहा—इन महँ प्रभु के सायकन्हि, काटे बिकट पिसाच।
पुनि रघुबीर निषंग महँ, प्रबिसे सब नाराच ॥६७॥

कुंभकरन मन दीख बिचारी। हति छन माँझ निसाचर-धारी ॥१॥
भा अति क्रुद्ध महा बलबीरा। कियो मृगनायक नाद गँभीरा ॥२॥

अर्थ—प्रभु के बाणों ने क्षण मात्र में विकट पिशाचों को काट डाला, फिर सब बाण आकर रघुवीर श्रीरामजी के तर्कश में प्रवेश कर गये ॥६७॥ कुंभकर्ण ने मन में विचारकर देखा कि (मेरे देखते हुए) क्षण मात्र में निशाचर सेना मार डाली गई ॥१॥ वह महा बलवीर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने गंभीर सिंहनाद किया ॥२॥

विशेष—(१) 'भा अति क्रुद्ध'—पहली बार आया, तब इसे क्रोध नहीं था, दूसरी बार इसे क्रोध हुआ; यथा—"नाक कान काटे जिय जानी। फिरा क्रोध करि-भइ मन ग्लानी॥" (दो० ६४), तब इसे 'काल जनु क्रुद्धा' कहा गया था। अब उससे भी अत्यन्त अधिक क्रोध किया, क्योंकि अपने आश्रितों की रक्षा नहीं कर सका, तब 'अति क्रुद्ध' कहा गया—क्रोध उत्तरोत्तर बढ़ा।

(२) 'मृगनायक नाद'—वीर वानरों को मत्त गज मानकर उन्हें नाश करने का उत्साह दिखाते हुए सिंह की तरह गर्जा अर्थात् निर्भीकता से गर्जा।

अरण्यकाण्ड के खरदूषण युद्ध और यहाँ कुम्भकर्ण के युद्ध-वर्णन के भाव एवं शब्दों के प्रबन्ध एक-से हैं। वहाँ के 'धारि' 'विकट पिसाच' और 'विपुल नाराच' आदि शब्द यहाँ भी आये हैं, तात्पर्य यह कि यहाँ की सेना भी उन्हीं की तरह भयंकर एव मायावी है।

कोपि महीधर लेइ उपारी। डारइ जहँ मर्कट भट भारी॥३॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे। सरन्हि काटि रज सम करि डारे॥४॥
पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक। छाँड़े अति कराल बहु सायक॥५॥
तनु महँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं। जिमि दामिनि घन माँझ समाहीं॥६॥

अर्थ—क्रोधित हो पर्वत उखाड़ लेता है और जहाँ भारी वानर योद्धा होते हैं, वहीं डाल देता है॥३॥ भारी पर्वतों को आते देखकर उन्हें प्रभु ने बाणों से काटकर धूल के समान कर डाले॥४॥ फिर धनुष को तानकर श्रीरघुनाथजी ने क्रोधित होकर बहुत-से अत्यन्त भयंकर बाण छोड़े॥५॥ बाण उसके शरीर मे घुसकर (उसपार) निकल जाते हैं, जैसे बिजलियाँ मेघ मे समा रही हों॥६॥

विशेष—(१) 'भट भारी'—भारी योद्धाओं पर पर्वत चलाता है, सामान्यों से नहीं लड़ता। 'सैल प्रभु भारे'—ऐसे भारी पर्वत हैं कि उनके गिरने पर दूर तक की सेना नाश हो जाती है। 'सरन्हि मारि'—पर्वतों को विदीर्ण करने के लिये वज्रास्त्र बाण चलाये। 'पुनि'—क्योंकि ऊपर—'सरन्हि काटि ···' मे प्रहार कहा गया है। 'अति कराल ···', यथा—"तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल॥··· अवलोकि खर तर तीर।" (आ० दो० १६)।

(२) 'जिमि दामिनि घन माँझ समाहीं।'—यहाँ कुम्भकर्ण का काला शरीर मेघ है और श्रीरामजी के सुवर्ण भूषित बाण बिजली हैं, यथा—"नीलाञ्जनचयप्रख्य शरैः काञ्चनभूषणैः। आपीड्यमान शुशुभे मेघैः सूर्यइवांशुमान्॥" (वाल्मी० ६।६७।१०४), अर्थात् सुवर्ण लगे हुए बाणों से पीड़ित अजन राशि के समान कुम्भकर्ण मेघों से ढँके हुए सूर्य के समान शोभित होने लगा।

सोनित स्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जलगिरि गेरु पनारे॥७॥
बिकल बिलोकि भालु कपि-धाये। बिहँसा जबहि निकट कपि आये॥८॥

दोहा—महा नाद करि गर्जा, कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव, सपथ करइ दससीस॥६८॥

अर्थ—काले शरीर में रुधिर बहता हुआ ऐसा शोभा देता है, मानों काजल के पर्वत में गेरू के पनाले बह रहे हों ॥७॥ उसे व्याकुल देखकर वानर और भालू दौड़े, ज्योंही सब समीप आये, वह विशेष हँसा ॥८॥ बड़ा घोर शब्द करके गर्जा और करोड़ों-करोड़ों वानरों को पकड़-पकड़कर पृथिवी पर गजराज की तरह पटकता है और रावण की दोहाई देता है ॥६८॥

विशेष—(१) 'जनु कज्जलगिरि'''—काला पर्वताकार कुंभकर्ण कज्जल गिरि के समान है। धारा प्रवाह खून बह रहा है, इससे पनाले की उपमा दी है और गेरू और रुधिर लाल रंग के होते हैं, यह समता है। कज्जल-गिरि की तरह यह शीघ्र ही नाश भी होगा।

(२) 'बिहँसा'—निरादर के लिये हँसा कि पहले भय से भगे थे, अब मुझे घायल एवं निर्बल जान कर फिर आये हैं, इसका फल चखाता हूँ। पहले कुंभकर्ण ने कपि-सेना को तितर-बितर किया, तब सुनकर निशाचर सेना दौड़ी थी। वैसे ही इधर श्रीरामजी ने कुंभकर्ण को घायल किया, तब देखकर कपि सेना दौड़ी। वे सुनकर आये थे, क्योंकि पास नहीं थे और ये देखकर आये, क्योंकि पहले के डरे हुए हैं, इससे वानरों ने जब उसे विकल देखा, तब वे दौड़ पड़े।

(३) 'गजराज इव'—इसका पुरुषार्थ क्रमशः घटता जाता है, जैसे कि पहले यह 'बज्राघात समान' गर्जा था, दूसरी बार 'मृगनायक नाद' कहा गया। यहाँ तीसरी बार 'गजराज इव' महानाद कहा गया। दशशीस की शपथ करके प्रतिज्ञा-पूर्वक प्रहार करता है और उसे सत्य करता है। इस तरह रावण में अपनी भक्ति भी दिखाता है।

भागे भालु बलीमुख - जूथा। बृक बिलोकि जिमि मेष-बरूथा ॥१॥
चले भागि कपि-भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी ॥२॥
यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपि-कुल-देस परन अब चहई ॥३॥
कृपा-बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी ॥४॥

शब्दार्थ—बृक = भेड़िया, हुँडार। मेष = भेड़। दुकाल (दुष्काल) = अकाल।

अर्थ—भालुओं और वानरों के यूथ ऐसे भगे जैसे भेड़ों का झुंड भेड़िये को देखकर भागता है ॥१॥ हे पार्वती! वानर और भालू व्याकुल होकर आर्त्त वाणी से पुकारते हुए भाग चले ॥२॥ (वे आर्त्त स्वर से कहते हैं कि) यह निशाचर अकाल के समान है जो वानर कुल-रूपी देश पर अब पड़ना चाहता है ॥३॥ हे कृपा रूपी मेघ! हे खर एवं दुष्टों के शत्रु श्रीरामजी!! हे शरणागत के दुःख हरनेवाले!!! हमारी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥४॥

विशेष—(१) 'जिमि मेष-बरूथा'—भालू और वानर एक के पीछे एक एवं झुंड-के-झुंड भगे, इसलिये उन्हें भेड़ की उपमा दी, इधर-उधर देखते भी नहीं।

(२) 'आरत बानी'—वही है जो आगे कहते हैं—

(३) 'दुकाल'; यथा—"कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।" (उ॰ दो॰ १००); "परेउ दुकाल बिपत्ति बस, तब मैं गयउँ बिदेस।" (उ॰ दो॰ १०४); कुंभकर्ण को अकाल कहा, तब 'कपि कुल' को देश कहा, जिसपर पड़ना चाहता है। अकाल में देश की प्रजा बहुत

मरती है, वैसे ही इससे वानर वंश ही नाश हो जायगा ; यथा—"ते भक्ष्यमाणा हरयो रामं जग्मुस्तदा-गतिम्। कुम्भकर्णो भृशं क्रुद्धः कपीन्खादन्प्रधावति ॥" (वाल्मी० ६।६७।१७) ; अर्थात् कुंभकर्ण के खाये जाने के भय से वानर श्रीरामजी की शरण गये, क्योंकि वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सब वानरों को खाता हुआ घूमता था।

(४) 'कृपा-बारिधर राम खरारी।'—मेघ वर्षा द्वारा अन्न उपजाकर लोगों को जिलाते हैं, वैसे आप कृपा-दृष्टि की वृष्टि करके हमें जिलाइये। मेघ सदा जल बरसाते हैं, वैसे आप सदा से आश्रितों के संकट पर कृपा करते आये हैं ; यथा—"कपि अकुलाने माया देखे।···कृपा दृष्टि कपि भालु बिलोके। भये प्रबल रन रहहिं न रोके॥" (दो० ५०) ; तथा—"देखि निबिड़ तम दसहुँ दिसि, कपि दल भयउ खँभारा।···पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा।···भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरषि···" (दो० ४५)।

'खरारी' का भाव यह कि खर आदि महामायावी थे और बड़े-बड़े वर पाये थे, उन्हें भी आपने कौतुक मात्र में मार डाला, तो यह क्या है ? पुनः आप दुष्टों के नाशक हैं। अतः, इस दुष्ट को भी मारिये।

'पाहि पाहि···'—आप शरणागत रक्षक हैं। आपने श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी आदि शरणागतों की भी रक्षा की है, वैसे हमारी भी रक्षा करें, यहाँ 'पाहि पाहि' में दुःख की वीप्सा है।

सकरुन बचन सुनत भगवाना। चले सुधारि सरासन बाना ॥५॥
राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महा बलसाली ॥६॥

अर्थ—करुणा भरे वचनों को सुनते ही धनुष-बाण सुधार कर भगवान् श्रीरामजी चले ॥५॥ महा बलवान् श्रीरामजी ने सेना को अपने पीछे कर दिया और क्रोध के साथ चले (आगे बढ़े) ॥६॥

विशेष—(१) 'सकरुन बचन सुनत···'—ऊपर 'बिकल पुकारत आरत बानी' कहा और यहाँ उसे 'सकरुन बचन' कहकर उपसंहार किया ; अर्थात् इनके बीच का आर्त्त वचन है। 'भगवाना'—क्योंकि दुकाल से भगवान् ही रक्षा करते हैं। 'चले सुधारि···'—यहाँ चलना सेना से आगे बढ़ने को कहा है। पहले भी वानरों ने प्रभु का स्मरण किया था, तब उन्होंने चल कर रक्षा की थी ; यथा—"अरि दल दलन चले रघुनाथा।" (दो० ६१) ; पर इस बार आर्त्त होकर पुकार की, इससे 'चले सकोप···' कहा गया है। जब आश्रितों पर विपत्ति देखते हैं और वे पुकार करते हैं, तब आपको कोप होता है और आश्रितों पर तुरत कृपा करते हैं ; यथा—"सभय देव करुना निधि जान्यो।···तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा॥" (दो० ६६)। तथा—"तब सत बान सारथी मारेसि। परेउ भूमि जय राम पुकारेसि॥ राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा॥" (दो० ८८)। 'सेन निज पाछे घाली'—इसमें प्रणतपालकता है ; यथा—"आवत देखि सक्ति खर धारा। प्रनतारति हर बिरद सँभारा॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सही सो सेला॥" (दो० ९२) ; 'महा बल-साली'—का यह भी भाव है कि महाबल (कुम्भकर्ण) के भी शालक (दुःख देनेवाले) हैं ; यथा—"खल सालक बालक।" (आ० दो० १८)।

(२) कुम्भकर्ण के तीन बार के युद्ध में यह दिखाया गया है कि जीव जब तक अपने बल के भरोसे रहते हैं, प्रभु उनसे बेपरवाह रहते हैं और जब वे शरण होकर रक्षा चाहते हैं, तब प्रभु सहायक होते हैं, जैसे कि पहले युद्ध में—'एतना कपिन्ह' सुना···किलकिलाइ धाये बल बाना ॥" (दो० ६३) ; तब—'अंगदादि कपि मुर्छित करि···" (दो० ६४) ; पर प्रभु रक्षा के लिये नहीं आये।

दूसरी वार प्रभु की जय-जयकार करके चले—"जय जय जय रघुबंस मनि, धाये···" (दो• ६५), तब प्रभु ने स्वयं देखकर रक्षा की ; यथा—"देखी राम बिकल कटकाई।···मैं देखउँ खल बल दलहि, बोले राजिव नयन॥" (दो• ६६)।

तीसरी बार कुंभकर्ण को व्याकुल जानकर फिर सब अपने बल पर दौड़े ; यथा—"बिकल बिलोकि भालु कपि धाये।" तब उसने सबको फिर पटका ; यथा—"महि पटकै गजराज इव···" तब देखते हुए भी प्रभु ने रक्षा नहीं की, जब फिर ये लोग अपने बल का भरोसा छोड़कर प्रभु की शरण गये और कहा—"पाहि पाहि प्रनतारति हारी।" तब शीघ्र ही प्रभु ने रक्षा की ; यथा—"राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप···"

खैंचि धनुष-सर सत संधाने। छूटे तीर सरीर समाने॥७॥
लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा॥८॥
लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी। रघुकुल-तिलक भुजा सोइ काटी॥९॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी। प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी॥१०॥
काटे भुजा सोह खल कैसा। पच्छ-हीन मंदर गिरि जैसा॥११॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहुँ त्रैलोका॥१२॥

शब्दार्थ—उपाटना (उत्पाटन)=उखाड़ना। पारना = डालना, गिराना।

अर्थ—धनुष खींचकर उसपर सौ बाण संधान किये, वे तीर छूट कर उसके शरीर में समा गये॥७॥ बाणों के लगते ही वह क्रोध भरा हुआ दौड़ा (उससे) पर्वत डग मगाने और पृथिवी हिलने लगी॥८॥ उसने एक पहाड़ उखाड़ लिया, रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी ने वह भुजा काट डाली॥९॥ (तब वह) बायें हाथ में पहाड़ लेकर दौड़ा, प्रभु ने वह भुजा भी काटकर पृथिवी पर गिरा दी॥१०॥ भुजाओं के कटने पर वह दुष्ट कैसा शोभित है, जैसे पक्ष हीन होने पर मंदराचल शोभा पावे॥११॥ उसने कड़ी दृष्टि से प्रभु को देखा, मानों वह त्रैलोक्य को ग्रसना चाहता है॥१२॥

विशेष—(१) 'रघुकुल तिलक···'—जिस अंग के द्वारा अपराध हुआ उसीको काटा ; अर्थात् उचित दंड दिया, इसपर कुल संबंधी नाम लिखा है ; क्योंकि यह कुल न्यायशील है। 'काटे भुजा सोह खल ··'—जब पर्वतों के पक्ष थे, तब वे उड़ा करते थे, जिससे सृष्टि में हानि पहुँचती थी, इसीसे इंद्र ने उनके पक्ष काट डाले, तब वे अचल हो गये, और हानिकर न रह जाने से वे शोभा को प्राप्त हुए। वैसे इसकी भुजा कट गई, तब यह कोई पुरुषार्थ न कर सकेगा और न सेना को हानि पहुँचेगी, इससे इसका सोहना कहा गया।

(२) 'उग्र बिलोकनि···'—महा तीक्ष्ण दृष्टि से। पहले लंका से चला था, तब भक्ति भाव से देखने की वृत्ति थी ; यथा—"लोचन सुफल करउँ मैं जाई।" (दो• ६३), अब इसके स्वभाव के अनुकूल वैर-भाव की दृष्टि आ गई, क्योंकि इसी भाव से इसे मुक्त होना है। 'त्रैलोका'—क्योंकि यह त्रिलोकीनाथ को ही निगलना चाहता है।

दोहा—करि चिक्कार घोर अति, धावा बदन पसारि।
गगन सिद्ध सुर त्रासित, हा हा हेति पुकारि ॥६९॥

सभय देव करुनानिधि जान्यो। श्रवन प्रजंत सरासन तान्यो ॥१॥
बिसिख निकर निसिचर मुख भरेऊ। तदपि महाबल भूमि न परेऊ ॥२॥
सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा। काल त्रोन सजीव जनु आवा ॥३॥
तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त घोर चिक्कार करके मुँह फैलाकर दौड़ा। आकाश में सिद्ध और देवता डर कर 'हा, हा, हा' पुकार करने लगे ॥६९॥ करुणासागर श्रीरामजी ने देवताओं को भयभीत जानकर धनुष को कान तक तानकर ॥१॥ बाण समूह से निशाचर का मुँह भर दिया, तब भी वह महा बलवान् पृथिवी पर नहीं गिरा ॥२॥ बाणों से मुख भरा हुआ वह प्रभु के सामने दौड़ा, मानों जीव सहित काल रूपी तर्कश आ रहा है ॥३॥ तब प्रभु ने कोप करके तीव्र बाण लिया और उसका शिर धड़ से अलग कर दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'करि चिक्कार'—इसे पूर्व 'गजराज' कहा गया है, गज का गर्जन चिक्कार कहाता है, यथा—"चिक्करहिं दिग्गज डोल महि..." (सुं॰ दो॰ ३५), इसी से यहाँ 'चिक्कार' कहा है। 'हा, हा, हा-इति'—यह अत्यंत कष्ट सूचक है।

(२) 'महाबल'—क्योंकि इतने राम-बाणों से भी नहीं गिरा। 'काल त्रोन सजीव...'—श्रीरामजी के बाण कालरूप हैं, यथा—"सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। काल सर्प जनु चले सपच्छा॥" (दो॰ ६६); और इसका मुँह बाणों से भरा हुआ है। अतः, उसे कालरूप बाणों से भरा तर्कश कहा है। 'तर्कश दौड़ता नहीं' पर यह दौड़ता हुआ आता है, इससे 'सजीव' भी कहा कि मानो प्राण युक्त है, इससे चल रहा है।

सो सिर परेउ दसानन आगे। विकल भयउ जिमि फनि मनि त्यागे ॥५॥
धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा ॥६॥
परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर ॥७॥
तासु तेज प्रभु-बदन समाना। सुर मुनि सबहि अचंभव माना ॥८॥

अर्थ—वह शिर रावण के आगे गिरा, उसे देखकर रावण ऐसा व्याकुल हुआ, जैसा मणि के खो जाने से सर्प ॥५॥ धड़ बड़े वेग से दौड़ता था, जिससे पृथिवी धँसी जाती थी, तब प्रभु ने काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये ॥६॥ अपने नीचे वानरों, रीछों और निशाचरों को दबाते हुए दोनों टुकड़े पृथिवी पर गिरे, जैसे आकाश से पर्वत गिरे ॥७॥ उसका तेज प्रभु के मुख मे समा गया, (देखकर) सुर-मुनि सभी ने आश्चर्य माना ॥८॥

विशेष—(१) 'सो सिर परेउ दसानन आगे।'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी पर लगी हुई शक्ति का

बदला चुकाया गया है कि तुमने हमारे भाई को मूर्च्छित करके हमें रुलाया है, वैसे ही अपने भाई की दशा देखकर तुम भी रो लो। भाई का बदला भाई से ही दिया गया, इसी से मेघनाद का शिर उसके आगे नहीं भेजा गया, केवल शरीर ही लंका-द्वार पर भेजा गया। क्योंकि अब बदला चुक गया है, अधिक क्यों करें ? 'धरनि धसे ..'– यह उसके पैर का बल है।

(२) 'तासु तेज प्रभु बदन समाना।'—यहाँ तेज से कोई-कोई जीवात्मा का अर्थ करते हैं, यह ठीक नहीं। 'तेजस्' अग्नि का नाम है, यहाँ अग्निलपट के समान उसके तेज-प्रताप आदि से तात्पर्य है। यह श्रीरामजी के तेज के अंश से था ; यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥" (गीता १०।४१); अतः, उसका तेज अपने परम कारण रूप श्रीरामजी के मुख में प्रवेश कर गया, अग्नि का परम कारण श्रीरामजी का मुख है; यथा—"मुखादग्निरजायत।" (पुरुषसूक्त)।

जीवात्मा तेज से भिन्न वस्तु है, वह अणु है। अतः, वह किसी को भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकता। बालाग्र (बाल की नोक) के सौ भाग करे, फिर एक-एक के भी सौ भाग करे, वैसा सूक्ष्म जीव का स्वरूप है; यथा—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।" (मुं० ३।१); "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥" (श्वे० ५।६।९), अर्थात् यह जीवात्मा अणु है, चित्त से जानने योग्य है। केश के अग्रभाग का सौ भाग करो, पुनः उस शतांश का सौ भाग करो, उतने ही परिमाण वाला, जीव को जानना चाहिये, जीव अनन्त हैं। इसका अनुभव ज्ञान-दृष्टि से होता है; यथा—"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥" (गीता २।२९) ; और यहाँ तो 'सुरमुनि सबहिं अचंभव माना।' कहा गया है। ऐसा ही रावण के मरण-प्रसंग में भी—'हरषे देखि संभु चतुरानन' कहा गया है। इन सबों ने देखा और इनका आश्चर्य मानना लिखा है। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्। पश्यतां सर्व भूताना-मुल्केव भुविखाच्च्युता ॥" (भाग० १०।७४।४५); अर्थात् शिशुपाल की देह से उठा हुआ तेज सब प्राणियों के देखते हुए वासुदेव भगवान् के मुख में प्रवेश कर गया, जैसे आकाश से गिरी हुई उल्का पृथिवी में प्रवेश करती है। तथा—"ज्याद्योपमकरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशत् ॥" (नृसिंहपुराण); अर्थात् सब देवताओं के देखते हुए परशुरामजी का वैष्णव तेज उनकी देह से निकलकर श्रीरामजी के मुख में समा गया। इन दोनों जगह के प्रमाणों में भी 'सर्व भूतानां, और 'सर्व देवानां' का देखना कहा गया है। तब यह तेज जीवात्मा नहीं हो सकता। पुनः यह भी परशुराम प्रसंग से स्पष्ट है कि जब इनका तेज श्रीरामजी के मुख में चला गया, तब पीछे भी परशुरामजी जीते जागते रहे। तब तो उक्त तेज को जीव से भिन्न ही मानना होगा।

यदि कहें कि फिर सुर मुनि आदि को आश्चर्य क्यों हुआ, तो उत्तर यह है कि औरों का तेज प्राकृत तेज में ही मिलता है, पर इसका तेज परम कारण रूप रामजी के मुख में मिला, अतः, जीवात्मा भी अपने परम कारण (अंशी) के धाम को निस्संदेह प्राप्त हुआ; यथा—"ताहि दीन्ह निज धाम।" (दो० ७०) ; श्रीरामबाण से शुद्ध होकर इसका जीवात्मा अर्चिरादि मार्ग से परमगति (साकेतधाम) को गया; यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमांगतिम् ॥" वाल्मी० ३। ७।८) ; अर्थात् वह अस्त्र उस वीर को स्वर्ग (साकेत) में ले जानेवाला हुआ, श्रीरामजी के धनुष से छूटे हुए उस बाण ने उसको परम गति (मुक्ति) दी।

मुक्त जीवों की परधाम यात्रा अर्चिरादि मार्ग से होती है, वह आँख से नहीं देखी जाती, शास्त्र

द्वारा जानी जाती है। इसे भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने निर्णय करके लिखा है; यथा—"ततश्चार्य क्रमः सम्पन्न. – नाड़ीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युताद्वारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां (प्राप्य) तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति (प्राप्नोतीति) ॥" (ब्रह्मसूत्र-आनंदभाष्य ४।३।१); अर्थात् इससे यह क्रम सिद्ध हुआ, कि नाड़ीरश्मि के प्रवेश के अनन्तर (१) अर्चिप= अग्निलोक में जीव जाता है, वहाँ से (२) दिन में, वहाँ से (३) शुक्लपक्ष में, वहाँ से (४) उत्तरायण मासों में, वहाँ से (५) संवत्सर में, वहाँ से (६) वायु में, वहाँ से (७) आदित्य में, वहाँ से (८) चन्द्रमा में, वहाँ से (९) वैद्युत में, वहाँ से (१०) वरुण में, वहाँ से (११) इन्द्रलोक में, वहाँ से (१२) ब्रह्माजी के लोक में पहुँचकर उसके पश्चात् विरजा नदी में स्नान करके (सूक्ष्म शरीर छोड़ दिव्य देह प्राप्त कर दिव्यालङ्कारों से अलंकृत हो) श्रीसाकेत लोक को प्राप्त होता है।

अर्चिरादि शब्दअर्चिरादि अभिमानी देवताओं के अर्थ को कहते हैं; यथा—"अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानिनिदेवतापरत्वमिति प्रागेवाभिहितम् ॥" (ब्रह्मसूत्र-आनंदभाष्य ४।३।१)।

विद्युत् लोक से आये हुए देव के साथ ही ज्ञानी ब्रह्मलोक पर्यन्त जाता है; यथा—"वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेनामानवेनैवातिवाहिकेन विद्युत उपरिष्टाद्ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्गमनम् ।" (ब्रह्मसूत्र आनंदभाष्य ४।३ ५); अर्थात् अर्चि आदि अपने लोक पर्यन्त ही रहते हैं। विद्युत् लोक का देवता ब्रह्म प्राप्ति तक जीव के साथ जाता है। उसके आगे के वरुण और इन्द्र भी अपनी-अपनी सीमा से लौट आते हैं। अपने लोक से प्राप्त होकर ब्रह्माजी वैद्युत के साथ-साथ अंत तक जाते हैं।

यहाँ तेज मात्र का मुख में प्रवेश करना स्पष्ट कहा गया है, जीवात्मा की मुक्ति उपर्युक्त शास्त्रप्रमाण एवं अनुमान से जानी गई, स्पष्ट नहीं कही गई, क्योंकि चार कल्पों की कथा एक साथ चल रही है। उनमें जय-विजय के कल्पवाले कुंभकर्ण की मुक्ति अभी नहीं हुई, अगले जन्म में होगी।

कुंभकर्ण के साथ श्रीलक्ष्मणजी का युद्ध होना नहीं कहा गया। इसका कारण वाल्मी० ६।६७।१०७-११४ में कहा गया है कि श्रीलक्ष्मणजी ने युद्ध के लिये बाण चलाये, तब कुंभकर्ण ने इनकी प्रशंसा कर इनसे अनुमति लेकर श्रीरामजी से ही लड़ना चाहा, तब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, अच्छा, जाओ श्रीरामजी वहाँ स्थित हैं।

सुर दुंदुभी बजावहिं हरपहिं। अस्तुति करहिं सुमन बहु बरपहिं ॥९॥
करि बिनती सुर सकल सिधाये। रुचिर बीररस प्रभु मन भाये ॥१०॥
गगनोपरि हरि-गुनगन गाये। तेही समय देवरिषि आये ॥११॥
बेगि हतहु खल कहि मुनि गये। राम समर-महि सोभत भये ॥१२॥

अर्थ—देवता नगाड़े बजाते और प्रसन्न होते हैं। स्तुति करते और बहुत फूल बरसाते हैं ॥९॥ विनती करके सब देवता चले गये, उसी समय देवर्षि नारदजी आये ॥१०॥ उन्हों ने आकाश में ऊपर से भगवान् के सुन्दर वीररस के गुण समूह का गान किया, वे प्रभु के मन को अच्छे लगे ॥११॥ मुनि यह कहकर चले गये कि दुष्ट को शीघ्र मारिये, श्रीरामजी समर भूमि में शोभित हो रहे हैं ॥१२॥

विशेष—'सुमन बहु बरषहिं'—प्रभु की जीत और अपने शत्रु-नाश के हर्ष में एवं अपनी सेवा प्रकट करने में फूल बरसते हैं। 'देव रिषि आये'—क्योंकि ये कुंभकर्ण के ज्ञानोपदेष्टा हैं और रुद्र-गण वाले कल्प के आशीर्वाद दाता भी हैं; यथा—"होइहउ मुकुत न पुनि संसारा।" (बा॰ दो॰ १२८); दो में एक यहाँ मुक्त हुआ, दूसरे के लिये भी कहकर जाते हैं—'बेगि हतहु खल...'। 'रुचिर बीररस...'—समय के अनुसार वीररस के गुण हैं, इससे प्रभु को प्रिय लगे। 'हरि गुन गन'—से जनाया कि इस समय जो पृथिवी के भार हरण एवं भक्तों के क्लेश हरणवाले गुण हैं उन्हीं को गाया है। 'बेगि हतहु खल'—यहाँ 'खल' से रावण और मेघनाद दोनों को लेना चाहिये। 'सोभत भये'—विजय श्री से शोभित हुए।

छंद—संग्राम-भूमि बिराज रघुपति अतुलबल कोसलधनी।
श्रम-बिंदु मुख राजीव-लोचन अरुन तन सोनित-कनी॥
भुज जुगल फेरत सर-सरासन भालु-कपि चहुँदिसि बने।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि सेष जेहि आनन घने॥
दोहा—निसिचर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंदमति, जे न भजहिं श्रीराम॥७०॥

शब्दार्थ—श्रम = पसीना। सोनित (शोणित) = रक्त, खून। कनी (कण) = बहुत छोटा टुकड़ा, शोणित कण = खून के छींटे। फेरना = घुमाना।

अर्थ—अतुलित बलवाले कोशल राज रघुकुल के स्वामी रण-भूमि में विराजमान हैं। उनके मुख पर पसीने की बूँदें, नेत्र लाल कमल के समान और शरीर पर रक्त के छींटें हैं॥ दोनों हाथों से धनुष-बाण फेर रहे हैं और (उनके) चारों ओर वानर और भालू सुशोभित हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु की छवि का शेष भी नहीं वर्णन कर सकते, जिनके बहुत-से मुख हैं॥ हे गिरिजे! निशाचर कुंभकर्ण अधम और पापों की खान था, उसे श्रीरामजी ने अपना धाम दिया, वे मनुष्य मंद बुद्धि हैं, जो श्रीरामजी का भजन नहीं करते॥७०॥

विशेष—(१) 'तन सोनित कनी'—ये रक्त बिन्दु कुंभकर्ण आदि के तन के हैं, बाण लगने पर उड़कर आ पड़े हैं। 'भुज जुगल फेरत...', यथा—"कर कमलन्हि धनु-सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥" (अ॰ दो॰ ११८); यह क्रीड़ा रूप में एवं विजय सूचक मुद्रा है।

(२) 'निज धाम'—यह शब्द चारों कल्पों में घटित होगा। धाम के लोक, तेज, स्वरूप आदि अर्थ हैं। जिस कल्प में अगले युग में मुक्त होना है, उसमें 'स्वरूप' अर्थ लेना चाहिये, अर्थात् उसने अपने उपयुक्त स्वरूप को पाया और तीन कल्पों के लिये वैकुंठ, साकेत आदि तो 'लोक' अर्थ में हैं ही।

दिन के अंत फिरीं दोउ अनी। समर भई सुभटन्ह श्रम घनी॥१॥
रामकृपा कपिदल-बल बाढ़ा। जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा॥२॥

अर्थ— दिन के अंत होने पर दोनों ओर की सेनाएँ फिरीं, (आज की) लड़ाई में सुभटों को बहुत बड़ी थकावट हुई ॥१॥ श्रीरामजी की कृपा से वानर सेना का बल ऐसा बढ़ा, जैसे तृण का सहारा पाकर डाढ़ा (आग) खूब लगती है ; अर्थात् ज्वाला सहित भभकती है ॥२॥

विशेष—(१) 'दिन के अंत फिरीं···'—कुंभकर्ण का वध कुछ दिन रहते ही हुआ, ऐसा जान पड़ता है। इसी से बाद में दिन का अंत होना कहा गया। उसके मरने के पीछे उसकी बची हुई सेना को वानर सेना हटाती रही। अथवा दोनों पक्ष अपनी-अपनी सेना सँभालते रहे, अब दोनों का-लौटना कहा गया। कुंभकर्ण की सहायता में जो सेना रावण ने भेजी थी उसमें से जो बची थी, उसका यहाँ लौटना कहा गया है। पुनः इधरवाली इधर लौटी।

पहले दिन की युद्ध-समाप्ति पर कहा गया था ; यथा—"निसा जानि कपि चारिउ अनी। आये जहाँ कोसला धनी॥" (दो॰ ४६) । उस दिन वानर-राक्षसों का युद्ध हुआ। उसमें अंत में वानर विजयी होकर लौटे, क्योंकि वे राम-प्रताप समझकर और श्रीरामजी के चरणों में प्रणाम करके गये थे।

दूसरे दिन की युद्ध-समाप्ति पर कहा गया था ; यथा—"संध्या भई फिरी दोउ बाहिनी।···" (दो॰ ५३) ; उसमें मेघनाद से युद्ध हुआ, जिसमें पहले वह श्रीहनुमान्‌जी से हारा था, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी के हृदय में सदा ही-'बसहिं राम सर-चाप-धर' की व्यवस्था है। पीछे उसने वरदानी शक्ति से श्रीलक्ष्मणजी को मूर्च्छित कर विजय के साथ गया, क्योंकि उस दिन युद्ध में प्रस्थान के समय क्रोधावेश में श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी को प्रणाम करना भूल गये थे।

आज तीसरे दिन के युद्ध की समाप्ति यहाँ—'दिन के अंत···' पर कही गई। आज तीन बार सेना लड़ने को दौड़ी, पर तीनों बार उसे पराजित नहीं कर सकी। क्योंकि एक बार भी प्रभु को प्रणाम करके जाना नहीं कहा गया है। अंत में प्रभु ने उसे मारा।

'समर भई सुभटन्ह श्रम घनी।'—क्योंकि कुंभकर्ण ऐसे महा बलवान् से तीन बार लड़ना पड़ा है, इन्हें अत्यन्त श्रम की प्रतीति इससे भी हुई कि इन लोगोंने उसे एक बार भी जीत नहीं पाया था।

(२) 'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा।···'—श्रीरामजी की कृपा से सब श्रम मिट गया और बल भी बढ़ा। जैसे कि मंद अग्नि तृण पाकर लहर उठती है, वैसे ही कुंभकर्ण के युद्ध से इनका उत्साह मंद पड़ गया था, पर राम-कृपा से फिर बल और उत्साह पूर्ण हो गये। यहाँ 'कपि दल बल' मंद आग और राम-कृपा तृण है।

छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती ॥३॥
बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई ॥४॥
रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज बल बिपुल बखानी ॥५॥

शब्दार्थ—छीजना = नाश होना, क्षीण होना ; यथा—"मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजइ निसिचर सुनु भाई॥" (दो॰ ७३)।

अर्थ—राक्षस दिन और रात इस तरह क्षीण होते (घटते) जाते हैं, जैसे अपने मुँह से कहने से अपना पुण्य घटता है ॥३॥ दशानन बहुत विलाप कर रहा है, भाई का शिर बारम्बार छाती पर रखता है ॥४॥ स्त्रियाँ उसका विपुल बल और उसके विपुल तेज की बहुत प्रशंसा करके हाथों से छाती पीट-पीट कर रोती हैं (कि यह निष्ठुर छाती फट क्यों न गई ?) ॥५॥

विशेष—(१) 'छीजहिं निसिचर···'—रात की घटना इस तरह है कि दिन में कितने ही घायल होते हैं और रात में मर जाते हैं। निशाचरों के बढ़ने के विषय में पहले कहा गया था ; यथा—"नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई॥" (बा० दो० १७१) ; और यहाँ घटने के विषय में 'निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती।" कहा गया है। लाभ से लोभ बढता है, पर उसमें कुछ अधिक समय लगता है और सुकृत कितना भी क्यों न हो, अपनेसे कहने पर वह शीघ्र ही नाश हो जाता है। जैसे राजा ययाति को अनेक जन्मों के सुकृत के फल रूप में प्राप्त किया हुआ स्वर्ग-राज्य उनके अपने मुख से सुकृत-कथन से उसी क्षण में नाश हो गया और वे भूमि पर आ गिरे।

(२) 'बहु बिलाप दसकंधर करई।'—वाल्मी० ६।६८।९-२४ में १६ श्लोकों में इसका विलाप कहा गया है। पूर्व लिखा गया कि कुंभकर्ण का वध करके श्रीरामजी ने रावण से भ्रातृ-शोक का बदला चुकाया है। श्रीरामजी ने मानस की १६ चौपाइयों (अर्द्धालियों) में विलाप किया है। वैसे ही रावण ने भी वाल्मीकीय रामायण के १६ श्लोकों में विलाप किया है। 'रामचरितमानस' के अनुसार वहाँ—'बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन, और यहाँ—'बहु बिलाप दसकंधर करई।' तथा वहाँ—'राम उठाइ अनुज उर लायउ।' यहाँ—'बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई।' कहा गया है।

'पुनि पुनि' का भाव यह है कि जब रावण मूर्च्छित हो जाता है, तब भाई का शिर गिर जाता है, फिर चैतन्य होने पर उसे उठाकर हृदय से लगाता है।

(३) 'रोवहिं नारि हृदय हति पानी।···'—राजाओं के मरने पर उनके तेज, प्रताप आदि कहकर रोने की रीति है ; यथा—"सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥" (अ० दो० १५५) ; परन्तु यहाँ 'तेज बल' ही कहा गया, क्योंकि राक्षसों में 'रूप सील' की विशेषता नहीं होती। छाती पीटना भी स्त्रियों का स्वभाव ही है ; यथा—"उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥" (दो० १०२)—यह रावण के वध होने पर और "मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी।" (दो० ७५)—यह मेघनाद के वध पर कहा गया है।

मेघनाद-बल-पौरुष-संहार

मेघनाद तेहि अवसर आयउ। कहि बहु कथा पिता समुझायउ॥६॥
देखेहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई॥७॥
इष्टदेव सैं बल रथ पायउँ। सो बल तात न तोहि देखायउँ॥८॥

अर्थ—मेघनाद उसी समय आया और बहुत-सी कथाएँ कहकर उसने पिता को समझाया॥६॥ कल मेरा पराक्रम देखिये, अभी मैं बहुत बड़ाई क्या करूँ ? ॥७॥ हे तात ! जो बल और रथ मैंने इष्टदेव से पाया था, वह बल तो मैंने आपको दिखाया ही नहीं (भाव यह कि अब उसके दिखाने का अवसर आया है। अब, दिखाऊँगा)॥८॥

विशेष—(१) 'अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई ।'—भाव यह कि अब तो कर्त्तव्य रूप में करके ही दिखाने का अवसर है, तो कहूँ क्यों ? उससे शत्रु को सर्वात्मना नाश कर ही दूँगा।

(२) 'इष्टदेव सें बल रथ पायउँ ।'—वाल्मी० ७।२५।७–१३ में कहा गया है कि जिस समय रावण दिग्विजय में था, उस समय शुक्राचार्य की सहायता से मेघनाद ने सात यज्ञ किये—अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध, वैष्णव और माहेश्वर। इनसे उसे बहुत-से वरदान मिले—आकाशगामी अविनाशी कामगामी विमान पाया है और तामसी माया जिससे अंधकार फैलाया जाता है। उसके प्रभाव से यह सुरासुर से भी अदृश्य हो जाता है। और अक्षय तर्कश, अजीत धनुष और भी शत्रुघाती अस्त्र इसने पाये हैं। पुन वाल्मी० ७।३०।१–१५ में कहा है कि जब इसने माया करके इन्द्र को जीत लिया है, तब देवताओं के साथ ब्रह्माजी ने इन्द्र के छुड़ाने के बदले में इससे वरदान माँगने के लिये कहा, तब इसने अमरत्व माँगा, पर इसे ब्रह्माजी ने प्राकृत-नियम के विरुद्ध कहा, तब इसने यह माँगा—शत्रु से विजय के लिये जब मैं संग्राम में जाना चाहूँ, मंत्र एवं हाथों से अग्निदेव की पूजा करूँ। उस समय सदा घोड़ों के साथ अग्नि का रथ मेरे लिये प्राप्त हो, उसपर जब तक मैं बैठा रहूँ, अमर होऊँ, किसी से न मारा जाऊँ। युद्ध के उपयुक्त जप और होम के समाप्त किये विना ही यदि मैं युद्ध करूँ तो मेरा नाश हो ; अर्थात् मैं मारा जाऊँ। ब्रह्माजी ने यही वरदान दिया और इन्द्र को छुड़ाकर इसे इन्द्रजित् नाम देकर वे चले गये।

इस होम का विधान वाल्मी० ६।७३।१७–२६ में कहा गया है। इस यज्ञ का नियमित स्थल निकुंभिला कहा जाता है। वहाँ एक वट-वृक्ष है, उसी के नीचे यह भूतों की बलि देकर युद्ध करने के लिये जाता है। यह वाल्मी० ६।८७।३–४ में कहा गया है।

येहि विधि जल्पत भयउ बिहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना ॥ ९ ॥
इत कपि-भालु काल सम बीरा। उत रजनीचर अति रनधीरा ॥१०॥
लरहिं सुभट निज निज जय-हेतू। बरनि न जाइ समर खग-केतू ॥११॥

दोहा—मेघनाद मायामय, रथ चढ़ि गयउ अकास।
गर्जेउ अट्टहास करि, भइ कपि कटकहि त्रास ॥७१॥

अर्थ—इस प्रकार बड़बड़ाते हुए सवेरा हो गया, लंका के चारों द्वारों पर बहुत-से वानर जा लगे ॥९॥ इधर काल के समान वीर वानर-भालू और उधर राक्षस अत्यन्त रणधीर हैं ॥१०॥ योद्धा अपनी अपनी जय के लिये लड़ते हैं, हे गरुड़ ! वह समर वर्णन नहीं किया जा सकता ॥११॥ मेघनाद मायामय रथ पर चढ़कर आकाश में गया और जोर से ठठाकर हँसा, जिससे वानर सेना को भय हुआ ॥७१॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि जलपत भयउ बिहाना ।'—जल्पना व्यर्थ बकवाद को कहते हैं। यह जितना कहता है, वह पूरा नहीं हो सकेगा—इसी तरह रावण के बकने पर भी कहा गया है, यथा—"जनि जल्पना करि सुजस नासहि ···" (दो० ८८)।

(२) 'इत कपि भालु काल सम बीरा।···' पूर्व कहा गया है—'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा।' वही यहाँ चरितार्थ है कि जो कल कुंभकर्ण के डर से भागते थे, वे आज काल के समान होकर पहले ही जाकर

युद्ध के लिये प्रस्तुत हैं। राक्षसों को 'अति रनधीरा' और वानरों को 'काल सम' कहने का भाव यह है कि राक्षस लोग बहुत पुरुषार्थ करेंगे, परन्तु काल-रूप वानरों के आगे उनका कुछ भी वश नहीं चलेगा। राक्षस रणधीर इससे भी कहे गये कि कितने जूझ गये, फिर भी लड़ने से मुँह नहीं मोड़ते।

'खगकेतू' का भाव यह है कि वही प्रसंग नाग पाशवाला आ रहा है, जिसमे गरुड़जी को मोह हुआ था, उसीसे पहले ही काकजी सावधान करते हैं कि देखना फिर न भूल जाना। ऐसे ही सीता-हरण प्रसग के आदि में उमा को भी सावधान किया गया है—"उमा राम गुन गूढ़ " अरण्यकाण्ड के आदि मे देखिये।

(२) 'मेघनाद मायामय ...'—'मायामय रथ' वही है जिसका उपर्युक्त यज्ञ द्वारा प्राप्त होना कहा गया है। निकुंभिला से प्राप्त करके आया और आकाश मे अदृश्य रूप मे स्थित हुआ, ऊपर से सारी सेना पर बाणवृष्टि करेगा। अट्टहास करके शत्रु का निरादर और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास सूचित किया जो कि आगे दो० ७२ चौ० ३ पर चरितार्थ है। 'भइ कपि कटकहिं त्रास'—क्योंकि पूर्व "कपि अकुलाने माया देखे।" (दो० ५०), पर इसके कर्म से शंकित हैं कि इस बार तो यह दुष्ट प्रथम ही से अदृश्य होकर आया है, न जाने क्या करे ?

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र - सस्त्र कुलिसायुध नाना ॥१॥
डारइ परसु परिघ पाषाना। लागेउ वृष्टि करइ बहु बाना ॥२॥
दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई ॥३॥
धरु धरु मारु सुनिय धुनि काना। जो मारइ तेहि कोउ न जाना ॥४॥

अर्थ—शक्ति, त्रिशूल, तलवार, कृपाण (दुधारा खड्ग), अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वज्र के समान हथियार; फरसे, परिघ और पत्थर फेंकने लगा और बहुत बाणों की भी वृष्टि करने लगा ॥१-२॥ आकाश में दसों दिशाओं मे बाण छा रहे हैं, मानों मघा नक्षत्र के बादलों ने वर्षा की झड़ी लगा दी है ॥३॥ 'धरो, धरो, मारो' ये शब्द कानों से सुनाई देते हैं, पर जो मार रहा है, उसे किसी ने नहीं जान पाया ॥४॥

विशेष—(१) 'लागेउ वृष्टि करइ'—मेघनाद है। अतएव, मेघ के समान कर्म भी करता है, आकाश मे ठहरा हुआ है और बाणों की वृष्टि भी करता है; यथा—"अदृश्यमान. शरजालमुग्र ववर्ष नीलांबुधरो यथाम्बु ॥" (वाल्मी० ६।७३।५०)। अर्थात् अदृश्य होकर तीक्ष्ण बाण समूह बरसाने लगा, जैसे काले मेघ जल बरसावें।

(२) 'मघा मेघ झरि'—जैसे मघा की झड़ी लगातार ही लगी रहती है, वैसे ही यह एक क्षण भी बाणों की वृष्टि बन्द नहीं करता, एक साथ ही सभी दिशाओं मे बाण बरसा रहा है। जैसे मघा की वृष्टि किसानों को लाभदायक होती है वैसे यह बाण-वृष्टि राक्षसों को सुखदायी है।

पहले दो० ५० मे इसने जो माया की थी, उसे श्रीरामजी ने एक ही बाण मे काट दिया था और फिर यह सबको दिखाई देने लगा था। इसलिये इसबार इसने दूसरी माया की और वरदानी रथ में अदृश्य होकर आया है। पुन वरदान से प्राप्त अमोघ आयुध डाल रहा है कि एक साथ ही सबको मारकर तब लंका को लौटूँ।

(३) 'जो मारइ तेहि कोउ न जाना ।'; यथा—"ते केवलं संददृशुः शिताग्रान्बाणान्रणे वानरवाहिनीषु। मायाविगूढं च सुरेन्द्रशत्रुं न चात्र तं राक्षसमभ्यपश्यन् ॥" (वाल्मी० ६।७३।५१); अर्थात् वे वानर अपनी सेना पर गिरते हुए केवल तीखे बाणों को ही देखते हैं, माया से छिपे हुए उस इन्द्रशत्रु मेघनाद को नहीं देख पाते ।

गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं । देखहिं तेहि न दुखित फिरि आवहिं॥५॥
अवघट घाट बाट गिरि-कंदर । माया-बल कीन्हेसि सर-पंजर ॥६॥
जाहिं कहाँ व्याकुल भये बंदर । सुरपति बंदि परे जनु मंदर ॥७॥

शब्दार्थ—अवघट = दुर्घट, अटपट । पंजर = पिंजड़ा ।

अर्थ—पर्वत, वृक्ष लेकर वानर आकाश में दौड़कर जाते हैं, परन्तु उसे नहीं देख पाते, तब दुखी होकर लौट आते हैं ॥५॥ मेघनाद ने माया के बल से अटपट मार्गों, घाटों और पर्वत-कंदराओं को बाणों से पिंजड़े बना दिये ॥६॥ अब कहाँ जायँ (मार्ग नहीं मिलता, इससे) वानर व्याकुल हो गये, मानों पर्वत इन्द्र की कैद मे पड़े हों ॥७॥

विशेष—(१) 'गहि गिरि तरु···'।—श्रीरामजी की आज्ञा से वानरों ने उसे ढूँढ़ा, परन्तु नहीं पाया। वाल्मी० ६।४५।१-६ में कहा गया है कि प्रतापवान् श्रीरामजी ने दस वानर यूथपों को आज्ञा दी, वे प्रसन्नता से वृक्षादि आयुध लेकर आकाश में जाकर खोजने लगे। परन्तु अंधकार में उन्होंने उसे नहीं देख पाया, जैसे मेघ से ढँके हुए सूर्य नहीं दिखलाई पड़ते।

(२) 'अवघट घाट···'—माया के बल से उसने यह सब क्षण-मात्र में कर डाला, उसे कोई रोक नहीं सका, तथा वानरों के बचने का कोई उपाय नहीं रह गया।

(३) 'सुरपति बंदि परे जनु मंदर'—जैसे इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काटते समय पहले उन्हें सर-पंजर बनाकर रोक दिया कि कोई कहीं भाग न जायँ, तब पीछे उनके पक्ष काटे हैं। वैसे ही ये लोग भी डर गये हैं कि हमलोगों के बचने के मार्ग इसने रोक दिये। अब अवश्य यह तीक्ष्ण बाणों से हम सबों को मारेगा, इससे व्याकुल हो गये। 'मंदर' यहाँ पर्वत-मात्र का उपलक्षक है।

मारुत-सुत अंगद नल-नीला । कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला ॥८॥
पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन । सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन॥९॥
पुनि रघुपति सैं जूझै लागा । सर छाँड़इ होइ लागहिं नागा ॥१०॥
ब्याल-पास-बस भये खरारी । स्वबस अनंत एक अबिकारी ॥११॥

अर्थ—उसने हनुमान्‌जी, अंगदजी, नलजी, नीलजी आदि सभी बलवानों को व्याकुल कर दिया ॥८॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को बाणों से मारकर उनके शरीर को छेदकर झाँझर कर दिया ॥९॥ फिर श्रीरघुनाथजी से लड़ने लगा, जो बाण छोड़ता है, वे सर्प होकर लगते हैं ॥१०॥ स्वतंत्र, आदि-अंत-रहित, अद्वितीय, अखंड एवं सकल विकार रहित, खरारि श्रीरघुनाथजी नागपाश के वश हुए ॥११॥

विशेष—(१) 'सकल बलसीला'—ये सब भारी-भारी बलवान् हैं, तो भी उसने इन्हें विकल कर दिया, इन्हें कुछ करने का अवसर ही न मिला। पुनः बलवानों को ही मारा तथा औरों को हीन समझकर छोड़ दिया ; यथा—"बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोहीं। लागेसि अधम पचारइ मोहीं॥" (दो० ७२)।

वाल्मी० ६।४६।१७–२१ में सब यूथपों पर प्रहार करना लिखा है, वही यहाँ 'सकल बलसीला' कहकर जनाया गया है। वहाँ जाम्बवान्‌जी को भी मार कर व्याकुल करना लिखा है।

यहाँ तक योद्धाओं की चार कोटियाँ दिखलाई गई हैं—(१) "जाहिं कहाँ व्याकुल भय बंदर।"—सामान्य भट ; (२) "मारुतसुत अंगद नल-नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥"—सुभट ; (३) पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीपन।···"—महाभट (क्योंकि ये राजा की कोटि में हैं) और (४) "पुनि रघुपति सैं जूझै लागा।"—दारुण भट।

ऐसे ही चार कोटियाँ सुं० दो० १७–१९ में दिखाई गई हैं।

उसने इन चारों कोटियों के भटों की गति रोकी, वे दसों दिशाओं में कहीं भी जा नहीं सकते। सुभटों को विकल किया। महाभटों को जर्जर तन कर दिया और दारुण भट को नागपाश से बाँध लिया। पुनः भटों को मारा नहीं, सुभटों को नाना आयुधों से व्याकुल किया, महाभटों को बाणों से छेदा और दारुण भट को नाग-बाणों से बाँधा।

(२) 'ब्याल-पास-बस भये खरारी ; यथा—"रामञ्च लक्ष्मणञ्चैव घोरैर्नागमयैः शरैः॥ बिभेद समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवौ।···बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥" (वाल्मी० ६।४४।३७।३८) ; अर्थात् घोर सर्पमय बाणों से क्रोधपूर्वक श्रीराम-लक्ष्मणजी के सारे शरीर को वेध डाला, दोनों भाइयों को बाण-बंधन से बाँध दिया।

इसपर शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म तो बन्धन आदि की पीड़ाओं से रहित कहा गया है ; यथा—"असितो न व्यथते न रिष्यति" (बृह० ४।२।२१) ; अर्थात् वह ब्रह्म बन्धन-रहित है, क्योंकि वह पीड़ित नहीं होता और न हत होता है। इसलिये अर्द्धाली के उत्तरार्द्ध से उसका समाधान करते हैं—

'स्वबस अनंत एक अबिकारी।'—ऊपर कहा गया था ; यथा—"बरनि न जाइ समर खगकेतू।" उससे यहाँ भुशुंडि-गरुड़ संवाद प्रधान है, क्योंकि इस लीला में श्रीगरुड़जी को मोह हुआ था ; यथा—"भव-बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" (उ० दो० ५८) ; इसलिये यहाँ कई विशेषणों के द्वारा मोह-निवृत्ति कर रहे हैं—

'स्वबस'—जो स्वतंत्र हैं, किसी के वश नहीं हैं ; यथा—"परबस जीव स्वबस भगवंता।" (उ० दो० ७७) ; "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।" (बा० दो० १३१) ; "निज तंत्र नित रघुकुलमनी।" (बा० दो० ५०) ; अर्थात् जीव काल, कर्म, गुण, स्वभाव आदि के वश होते हैं, परन्तु भगवान् किसी के वश नहीं हैं। ऐसे स्ववश को कौन वश में कर सकता है ?

'अनंत'=जिसकी सीमा नहीं, जो देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न हो ; यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (बा० दो० १८४) ; "देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सब में बसै सबकी गति जान॥" (वि० २०७) ; "राम अनंत अनंत गुन···" (बा० दो० ३३) ; "आदि अंत कोउ जासु न पावा॥" (बा० दो० ११७) ; ऐसे अनंत को कौन बाँध सकता है ?

'एक'—, यथा—"एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः···" (श्वे॰ ६।११); तथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम।" (छां॰ ६।२।१); अर्थात् सारा जगत् उसी एक ब्रह्म का परिणाम-स्वरूप है, उसके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं, तो उसे बाँधेगा कौन ? पुन: जो बाँधना चाहेगा, उसमें भी तो व्यापक वे हैं ही, उन्हीं की सत्ता से उसकी वृत्ति का विकास है, तो वह उनको कैसे बाँधेगा ?

'अविकारी'—अर्थात् वे जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित हैं; यथा—"सकल विकार रहित गत भेदा।" (अ॰ दो॰ ६२); तब उन्हें बंधन की खिन्नता आदि विकार कैसे हो सकते हैं ? पुन. उनकी देह भी सच्चिदानंद-स्वरूप है अतएव अप्राकृत होने से विकार-रहित है; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ॰ दो॰ १२६); अतः, व्यालपाशवश होने से रुधिर-प्रवाह आदि देह-विकार उन्हें नहीं हुआ।

'खरारी'—खर आदि महामायावी थे, उनकी माया तो इनपर लगी ही नहीं; किंतु क्षणमात्र के कौतुक में इन्होंने उन्हें नाश किया, तब इसकी माया इनपर कैसे लग सकती है ? इत्यादि।

यहाँ तक पाँच विशेषणों से इनका बँधना असंभव कहा गया है, तब फिर बँधे हुए क्यों पड़े हैं ? इसका उत्तर आगे स्वयं ग्रन्थकार दे रहे हैं।

नट-इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥१२॥
रन-सोभा लगि प्रभुहि बँधायो। नाग-पास देवन्ह भय पायो॥१३॥

अर्थ—भगवान् श्रीरामजी सदा स्वतंत्र, एक और षड़ैश्वर्य पूर्ण हैं, वे नट की तरह अनेकों प्रकार के बनावटी (दिखाऊ) चरित करते हैं॥१२॥ रण की शोभा के लिये प्रभु ने ही अपनेको नाग-पाश से बँधाया, (जिससे) देवताओं को भय प्राप्त हुआ॥१३॥

विशेष—(१) 'नट इव कपट चरित···', यथा—"जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ॥ असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज-बिमोहनि जन-सुखकारी॥" (उ॰ दो॰ ७२)।

अर्थात् जैसे दिखाने के लिये नट अपने सारे शरीर को काट देता है और वह देखनेवालों को सत्य मालूम होता है। पर वस्तुत. वह ज्यों-का त्यों रहता है, यह भेद उसके सेवक लोग ही जानते हैं; यथा—"इंद्रजालि कहँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा॥" (दो॰ २८); तथा "नट-कृत बिकट कपट खगराया। नट-सेवकहि न ब्यापइ माया॥" (उ॰ दो॰ १०३); अर्थात् भगवान् श्रीरामजी असुरों को मोहने के लिये यह नर-नाट्य करते हुए अपनेको बँधा हुआ दिखलाते हैं कि जिससे वे इन्हें नर मानकर ब्रह्मा के वचन को सत्य मानें। पर आपके भक्त लोग तो उन्हें 'सदा स्वतंत्र एक भगवाना।' ही मानते हैं।

(२) 'रन-सोभा लगि···'—रण में मारना और मरना दोनों ही में सुभटों की शोभा है, भागना ही निंदित है। एक ही ओर की जीत होने से भी रण की शोभा नहीं होती। बराबर हारनेवाले का उत्साह भंग हो जाता है। इसलिये यहाँ उसके तप से प्राप्त अस्त्रों को आपने माना है, जिन्हें देवताओं ने अमोघ कहकर दिया था। उन्हें मानकर उनके वचन सत्य किये हैं। इसलिये ऐसे कपट-चरित किये हैं। 'देवन्ह भय पायो'—स्वाँग की निपुणता अच्छी निबही कि देवताओं ने भी बंधन को सत्य मानकर भय किया,

क्यों न हो ? कहा ही है; यथा—"तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा ॥" (अ० दो० १२६)।

दोहा—गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भव-पास।
सो कि बंधतर आवइ, व्यापक बिस्व - निवास ॥७२॥

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी ॥१॥
अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहि भजहिं तर्क सब त्यागी ॥२॥

शब्दार्थ—तर्क = सोच-विचार, अनुमान करना। तज्ञ = तत्त्वज्ञाता, ज्ञानी।

अर्थ—हे गिरिजे ! जिसका नाम जपकर मुनि जन्म-मरण रूपी बंधन को काटते हैं, क्या वे व्यापक और विश्वनिवास भगवान् बंधन में आ सकते हैं ? (कभी नहीं) ॥७२॥ हे भवानी ! श्रीरामजी के सगुण रूप के चरित्र, बुद्धि के बल और वाणी से तर्क नहीं किये जा सकते ; अर्थात् तर्क में नहीं आते ॥१॥ ऐसा विचार कर जो तत्त्व-ज्ञानी और वैराग्यवान् हैं, वे सब तर्क छोड़कर श्रीरामजी को भजते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'व्यापक' अर्थात् अखिल ब्रह्मांड का उनमें निवास है और 'विश्व निवास' अर्थात् सब जगत् में वे ही बसे हुए हैं, वे ही विराट् रूप हैं। इस प्रकार जगत् में भीतर-बाहर वे ही विराजमान् हैं। उनसे भिन्न कुछ नहीं है ; यथा—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।" (बा० दो० ११६); तथा—"मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान।" (दो० १५)।

(२) 'गिरिजा जासु...' ऊपर भुशुंडि-गरुड़-संवाद था, परन्तु यहाँ से बदल कर शिव-पार्वती का हुआ, क्योंकि आगे गरुड़ का आना और बंधन काटना कहा जायगा। यह भी भाव है कि संवाद वही है, उसे ही श्रीशिवजी भी पार्वतीजी से कहते हैं। 'नाम जपि' ; यथा—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बंधन काटहिं नर ज्ञानी ॥ तासु दूत कि बंध तर आवा।" (सुं० दो० १९); जब उनका दूत भी बंधन में नहीं आ सकता, तब स्वयं उनकी क्या बात ? जिसके नाम का ऐसा प्रभाव है, वे परमात्मा ही हैं ; यथा—"सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥ राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी ॥" (बा० दो० ११८); यहाँ भी 'जपि' से सादर स्मरण ही कहा गया है।

तात्पर्य यह कि व्यापक और विश्वनिवास परमात्मा का बंधन हो नहीं सकता। यह नाग-पाश-बंधन केवल दिखावा-मात्र एवं लीला है।

(३) 'चरित राम के सगुन...'—यहाँ सगुण के चरित को अतर्क्य कहा है। भगवान् के चरित अगाध हैं, उनके विषय में अपने तर्क से यह नहीं कहना चाहिये—'ऐसा करना था, ऐसा नहीं करना था'—क्योंकि उनकी अगाधता को कोई परख नहीं सकता।

अन्यत्र निर्गुण के भावों को भी अतर्क्य ही कहा है ; यथा—"व्यापक ब्रह्म अलख ...मन समेत जेहि जान न बानी। तर्कि न सकहिं सकल अनुमानी ॥ महिमा निगम नेति करि कहई। जो तिहुँ काल एक

रस अहई ॥ नयन विषय मोकहँ भयो,···" (बा० दो० १४०); "राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहु भवानी ॥" (बा० दो० १२०); तथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्त० २।४); इत्यादि । मनुष्य की बुद्धि और वाणी सब प्राकृत एवं परिमित हैं, इनमें अपरिमित ब्रह्म के अगाध चरित आदि कैसे आ सकते हैं ? व्यासजी ने इसपर सूत्र भी लिखा है ; यथा—"तर्काप्रतिष्ठानादपि···।" (ब्र० सू० २।१।११); अर्थात् उसके विषय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है, वह मनुष्यों के तर्क से बाहर है । "अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिक निषेधोऽपि दृश्यते ।" (ब्र० सू०-आनन्दभाष्य २।१।११); अर्थात् अपनी परिमित बुद्धि से अचिन्त्य वस्तु में तर्क-योजना नहीं करनी चाहिये । तथा—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठो० १।२।९); अर्थात् बुद्धि के तर्क से उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती । वह ब्रह्मतत्त्व तो शुद्ध-चित्त सात्विक उपासक के समक्ष स्वयं आविर्भूत होता है; यथा –"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।" (कठो० १।२।२३) ।

यदि कहा जाय कि तर्क के विना जिज्ञासा ही कैसे की जायगी ? कहा भी है—"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" इसका उत्तर यह है कि यह तर्क और ही है कि श्रद्धालु शिष्य गुरु के समक्ष तर्क उपस्थित करे और गुरुजी उसकी शङ्का का निवारण कर और भी प्रबल तर्क से उसे सिद्धान्त समझावें । गुरु वर्ग में श्रौत-परम्परा द्वारा आया हुआ ज्ञान परमात्मा का ही है । अतएव उनके ज्ञान से उन्हें प्राप्त करना युक्त ही है, यथा—"*तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्*" (मुं० १।२।१२) ।

सात्विक भाव से जिज्ञासु रूप में तर्क-द्वारा तत्त्व जानना चाहिये ; यथा—"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥" (मनु० १२ १०५); इसमें 'अनुमान' भी स्पष्ट कहा गया है जो तर्क का ही पर्याय वाचक है ।

(४) 'तज्ञ विरागी'—जो तत्त्वज्ञान पुरस्सर वैराग्यवान् हैं, वे तर्क त्याग कर श्रीरामजी को भजते हैं, क्योंकि तर्क से संशय उत्पन्न होता है, तब रहे-सहे ज्ञान-वैराग्य आदि भी चले जाते हैं ; यथा—"अस संसय आनत उर माहीं । ज्ञान विराग सकल गुन जाहीं ॥" (बा० दो० ११८); 'तर्क सब त्यागी'; यथा—"अस बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल । भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुंदर सुखद ॥" (उ० दो० ९०) ।

तात्पर्य यह है कि भजन करते हुए क्रमशः चित्त शुद्ध होता जायगा, तब संसय भी निवृत्त होते जायँगे यथा—"*राग राम-नाम सों बिराग जोग जागि है ।*" (वि० ७०); केवल तर्क से पक्का निश्चय नहीं होगा ।

ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा । पुनि भा प्रगट कहे दुर्बादा ॥३॥
जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा । सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा ॥४॥
बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही । लागेसि अधम प्रचारइ मोही ॥५॥
अस कहि तरल त्रिसूल चलायो । जामवंत कर गहि सोइ धायो ॥६॥

शब्दार्थ—तरल = कान्ति युक्त, बिजली की तरह द्युतिमान ।

अर्थ—मेघनाद ने सेना को व्याकुल कर दिया, फिर प्रकट होकर वह दुर्वचन कहने लगा ॥३॥ (तब) जाम्बवान्‌जी ने कहा—अरे दुष्ट खड़ा तो रह ! यह सुनकर उसका क्रोध अत्यन्त बढ़ा ॥४॥ (और बोला) अरे मूर्ख ! मैंने बुड्ढा जानकर तुझे छोड़ दिया था ; अरे अधम ! तू मुझे ललकारने लगा ? ॥५॥ ऐसा कहकर प्रदीप्त त्रिशूल चलाया, जाम्बवान्‌जी उसी को हाथ से पकड़कर दौड़े ॥६॥

विशेष—(१) 'व्याकुल कटक···'—पूर्व सेना को व्याकुल करना कहकर श्रीरामजी का 'व्याल पास बस' होना कहा गया, फिर श्रीशिवजी उसपर समाधान करने लगे थे। अब पुनः वहीं से प्रसंग लिया। 'घननादा' का भाव यह कि मेघ की तरह यह गरज-गरजकर गर्व से दुर्वचन कहने लगा। 'भा प्रगट'—जब देख लिया कि अब कोई भी वीर मेरा सामना करने के योग्य नहीं है, तब प्रकट हुआ कि प्रकट में कहकर मैं विजय-समेत लौटूँ। क्योंकि अभीतक तो वरदानी रथ से अदृश्य होकर उसने अधर्म युद्ध किया है। जब तक यह स्वयं न प्रकट होता, उसे कोई देख ही नहीं पाता। अब प्रकट हो गया तो जब तक पूर्व के समान फिर यज्ञ करके वैसा मायामय रथ न लावेगा, छिप नहीं सकता। 'कहत दुर्बादा'—इसपर दो० ४९ चौ० ४ भी देखिये। वाल्मी० ६।४७।१०-१२ में स्पष्ट कहा है—"मेघनाद ने राम-लक्ष्मणजी से कहा कि अदृश्य होकर युद्ध करते हुए मुझे इन्द्र भी नहीं देख सकते, तुम दोनों कौन होते हो? कंकपत्र वाले बाणों से मैंने तुम दोनों को बाँध दिया है, अभी क्रोध करके तुम-लोगों को यमराज के घर भेजता हूँ।"

(२) 'जामवंत कह···'—पूर्व कहा गया—'कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला।' उस समय उसने इन्हें बलशील नहीं माना था, बूढ़ा जानकर तिरस्कार की दृष्टि से छोड़ दिया था; यथा—"बूढ़ जानि सठ···" यह स्वयं कहता है। रावण भी बूढ़े को वीर नहीं मानता था; यथा—"जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥" (दो० ११); तथा—"जाना जरठ जटायू येहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा॥" (आ० दो० २८)। श्रीराम-लक्ष्मणजी को उसने जो दुर्वाद कहा, उस निंदा को ये नहीं सह सके; यथा—"हरि-हर निंदा सुनै जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥" (दो० ३०); अतः, श्रीजाम्बवान्‌जी उसे उचित दंड देंगे।

(३) 'बूढ़ जानि सठ···'—'सठ' और 'अधम' इनकी कृतघ्नता समझकर कहा है। 'कर गहि सोइ धायो'—जाम्बवान्‌जी ने अपनी फुर्ती और बल दिखाया कि उसके आते हुए आयुध को पकड़ लिया और उसीसे उस दारुण भट को मूर्च्छित किया, फिर और भी उसकी दुर्दशा की। उसके तिरस्कार का बदला इन्होंने कर्म द्वारा दिया कि देख, इतनी फुर्ती और इतना बल क्या बूढ़े में होता है? तब तुमने मुझे प्राकृत बूढ़ा मानकर मेरी क्यों निन्दा की है?

मारेसि मेघनाद कै छाती। परा भूमि घुर्मित सुर-घाती॥७॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निज बल देखरायो॥८॥
बर प्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा॥९॥
इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो॥१०॥

अर्थ—मेघनाद की छाती में (वही) त्रिशूल मारा, वह देवताओं का घातक मेघनाद चक्कर खाकर पृथिवी पर गिर पड़ा॥७॥ फिर जाम्बवान् ने क्रोध में होने से उसका पैर पकड़कर उसे घुमाया और पृथिवी पर पटक कर अपना बल दिखाया॥८॥ वर के प्रभाव से वह इनके मारने से नहीं मरता था तब पकड़कर उसे लंका के ऊपर फेंक दिया॥९॥ इधर देवर्षि नारदजी ने गरुड़जी को भेजा, वे श्रीरामजी के पास शीघ्र आये॥१०॥

विशेष—(१) 'पुनि रिसान···'—एक बार उसके दुर्वाद पर क्रोधित हुए थे, तब उसे दुष्ट कहकर ललकारा था; यथा—"क्रोध के पकर बचन बल।" (आ० दो० १८); फिर उसने इनका भी अप-

मान किया, तब इन्होंने उसे मारा और क्रोधित होने के कारण मूर्च्छा-निवृत्ति की प्रतीक्षा न करके उसे और भी दंड दिया, क्योंकि उसने अधर्म युद्ध से इधर के सभी वीरों को मूर्च्छित किया है। अतः, 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' इस लोक-नीति के अनुसार इन्होंने उसे बेहोशी में भी मारा कि जिससे यह पापात्मा मर ही जाय।

(२) 'बर प्रसाद'—किसी-किसी का मत है कि जिसने १२ वर्ष निद्रा और भोजन छोड़ा हो, उसीके हाथों से मेघनाद मरे। मानस में शबरीजी के यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का फल खाना स्पष्ट नहीं कहा गया। पर गीतावली में स्पष्ट कहा गया है कि दोनों भाइयों ने वहाँ फल खाये हैं। इससे यहाँ पर जो वाल्मी० ६।८५ १४-१५ में श्रीविभीषणजी ने कहा है—"हे इन्द्र शत्रो ! निकुम्भिला स्थान पर जाने एवं वहाँ हवन समाप्त होने के पहले, हे आततायी ! तुमसे जो शत्रु युद्ध करेगा, उसी के हाथ तुम्हारा वध होगा।"—उसे ब्रह्माजी ने यह वरदान दिया है। यहाँ वही वर-प्रसंग सगत है।

(३) 'इहाँ देवरिषि गरड़···'—कुम्भकर्ण के वध पर श्रीनारदजी आये थे और कह गये थे कि दुष्टों को शीघ्र मारिये। इससे रणभूमि में ये आये भी थे; यथा—"देखि दसा देवन्ह दुख पायो।" कहा गया है, जब स-सैन्य श्रीरामजी को नाग-पाश में बँधा हुआ देखा, तब इन्होंने जाकर गरुड़जी से कहा और वे यहाँ आये। किन्तु गरुड़जी जाम्बवान्‌जी के द्वारा मेघनाद के फेंके जाने पर आये, नहीं तो पहले आते तो संभव था कि यह इनसे भी युद्ध करने लगता।

'इहाँ'—का भाव यह कि जब 'ब्याल पास बस भये खरारी।' कहा गया, तभी उधर श्रीनारदजी गये और इधर जाम्बवान्‌जी का मेघनाद से युद्ध होने लगा। जैसे मेघनाद फेंका गया वैसे इधर श्रीगरुड़जी भी आ गये।

दोहा—खगपति सब धरि खाये, माया - नाग - बरूथ।
माया-बिगत भये सब, हरषे बानर - जूथ ॥
गहि गिरि पादप उपल नख, धाये कीस रिसाय।
चले तमीचर बिकलतर, गढ़ पर चले पराइ ॥७३॥

अर्थ—पक्षिराज गरुडजी ने सब माया के सर्प समूह को पकडकर खा लिया। सब माया रहित हो गये, वानर-यूथ प्रसन्न हुए॥ पर्वत, वृक्ष और पत्थर के टुकड़े लेकर एवं नख सहित वानर क्रोधित होकर चले। राक्षस अत्यन्त व्याकुल होकर भाग चले और किले पर चढ़ गये ॥७३॥

विशेष—'हरषे वानर जूथ', यथा—"नीरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानर यूथपाः। सिंहनादं तदा नेदुर्लांगूलं दुधुवुश्चते॥" (वाल्मी० ६।५०।६१), अर्थात् वानर-यूथप, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को नीरोग देखकर, सिंहनाद करने लगे, तथा पूँछ पटकने लगे।

मेघनाद कै मुरुछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी ॥१॥
तुरत गयउ गिरिबर कंदरा। करउँ अजय मख अस मन धरा ॥२॥

इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा। सुनहु नाथ बल अतुल उदारा ॥३॥
मेघनाद मख करइ अपावन। खल मायावी देव-सतावन ॥४॥

अर्थ—मेघनाद की मूर्च्छा निवृत्त हुई, पिता (रावण) को देखकर उसे अत्यन्त लज्जा लगी ॥१॥ वह तुरत पर्वत की बड़ी गुफा में गया और मन में निश्चय किया कि अजेय-यज्ञ करूँ ॥२॥ यहाँ (राम-दल में) श्रीविभीषणजी ने विचारकर यह सलाह दी कि हे उदार एवं अतुल बलवाले स्वामी ! सुनिये ॥३॥ दुष्ट, मायावी और देवताओं को सतानेवाला मेघनाद अपावन यज्ञ कर रहा है ॥४॥

विशेष—(१) 'मेघनाद कै मुरछा जागी।'—पहले इसने कहा था—'देखेहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई ॥' और आज देखने में आया कि एक बुड्ढे ने पछाड़ मारा और सूखी लकड़ी की तरह घुमाकर फेंक दिया, इससे इसको अति लज्जा लगी कि कहाँ तो पिता के सामने अपनी 'मनुसाई' दिखलाने को कहा था और उसके विपरीत दशा हो गई।

(२) 'तुरत गयउ'—कि जिसमें शत्रु को पता न लगे, अभी सेना रणभूमि में ही है, और युद्ध हो ही रहा है, क्योंकि दिन का अंत होना एवं सेना का लौटना नहीं कहा गया, जैसे पूर्व से कहते आते हैं। 'गिरिवर कंदरा'—यह वही पूर्वोक्त निकुम्भिला स्थान है, जहाँ वट का वृक्ष है, और जिस स्थान पर यह यज्ञ करने से उक्त माया-मय-रथ पाता है; यथा—"निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित्" (वाल्मी० ६।८२।२४)।

(३) 'इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा।'—वाल्मी० ६।३७।८ से स्पष्ट है कि श्रीविभीषणजी के चारों मंत्री पक्षी बनकर लंका के गुप्त समाचार ला-लाकर कहते थे। उनकी पत्नी सरमा भी गुप्तचरी का काम करती थी—यह वाल्मी० ६।३४।३-४ से स्पष्ट है।

'सुनहुँ नाथ बल अतुल उदारा।'—मंत्री का धर्म है कि स्वामी की प्रशंसा करके मंत्रणा दे, इसलिये श्रीविभीषणजी कहते हैं कि आप अतुल बलवाले हैं, वह चाहे कितना ही यज्ञ आदि उपाय करे, पर आपको जीत नहीं सकता। फिर भी मैं अपने कर्त्तव्यरूप में शत्रु का समाचार सुनाता हूँ, कुछ आपको निर्बल जानकर नहीं।

(४) 'मख करइ अपावन'—क्योंकि उसमें भैंसा आदि जीवों की हिंसा होती है और वह औरों को छिपकर मारने के साधन रूप में है। अतः, अपवित्र है। 'खल, मायावी, देव सतावन'—दुष्ट है, इसीसे माया करके देवताओं को दुःख देता है। ऐसा कहने का कारण यह है कि आप दुष्टों को मारनेवाले और देवताओं की रक्षा करनेवाले हैं। अतः, इसे शीघ्र मारें। इसी प्रसंग पर वाल्मी० ६।८८।४ में भी ये ही विशेषण कहे गये हैं; यथा—"जहि वीर दुरात्मानं माया परमधार्मिकम्। रावणं क्रूरकर्माणं सर्वलोक भयावहम् ॥" यह श्रीविभीषणजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा है।

यहाँ यह भी भाव है कि सम्भवतः यज्ञ को सत्कर्म समझकर उसे श्रीरामजी नष्ट करना नहीं चाहेंगे, इसलिये कहते हैं कि वह दुष्ट माया से छिपकर अधर्म युद्ध करने के उपाय में प्रवृत्त है, अतएव उसमें विघ्न डालना धर्मयुक्त ही है।

'मायावी' कहकर वाल्मी० ६।८४ में कहा हुआ माया-सीता के वध का प्रसंग भी संकेत से जना दिया, जो उसने इधर के लोगों को धोखा देकर अपने उक्त यज्ञ करने का अवसर निकाला था।

जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि। नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि ॥५॥
सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना ॥६॥
लछिमन संग जाहु सब भाई। करहु बिधंस जग्य कर जाई ॥७॥
तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही। देखि सभय सुर दुख अति मोही ॥८॥
मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजै निसिचर सुनु भाई ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि वह यज्ञ सिद्ध होने पावेगा, तो हे नाथ! वह (मेघनाद) शीघ्र पराजित नहीं किया जा सकेगा ॥५॥ श्रीरघुनाथजी ने सुनकर अत्यन्त सुख माना और अंगद आदि अनेक वानरों को बुलाकर कहा ॥६॥ कि हे भाइयो! सब भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ जाओ और जाकर यज्ञ का विध्वंस करो ॥७॥ लक्ष्मण! तुम संग्राम में उसे मारना, देवताओं को भयभीत देखकर मुझे अत्यन्त दुःख है ॥८॥ बल-बुद्धि के द्वारा उपाय से उसे मारना जिससे, हे भाई, निशाचर का नाश हो जाय ॥९॥

विशेष—(१) 'जौं प्रभु…'—'जौं' शब्द से सिद्ध होने में संदेह जनाया, उसका कारण 'प्रभु' शब्द से व्यक्त किया गया कि आप समर्थ हैं, उसका वह यज्ञ विध्वंस कर देंगे। 'नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि'—पहले 'बल-अतुल' और 'प्रभु' कह चुके हैं, इससे यह तो नहीं हो सकता कि वह उक्त यज्ञ से अजेय ही हो जाय, किंतु आप मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, वरदान की मर्यादा भी रक्खेंगे। अतः, उसके जीतने में फिर देर लगेगी। पर वह 'खल' और 'देव सतावन, है। अतः, उसके वध में शीघ्रता होनी चाहिये। वाल्मी० ६।८५।१३ में कहा है; यथा—"स एष किल सैन्येन प्राप्तः किल निकुंभिलाम्। यद्युत्तिष्ठेत्कृतं कर्म हतान्सर्वांश्च विद्धि नः ॥" अर्थात् वह सेना के साथ निकुंभिला में गया है, यदि वहाँ वह निर्विघ्न यज्ञ समाप्त करके उठा तो हम सभी को मार डालेगा, यह आप निश्चित समझें।

(२) 'सुनि रघुपति…'—श्रीरामजी गुणग्राही हैं; अतः, श्रीविभीषणजी के इस उत्तम कृति पर इन्होंने अत्यंत सुख मानकर कृतज्ञता प्रकट की, क्योंकि उचित अवसर पर सँदेशा मिला है। अभी विघ्न डालने का उपाय हो सकता है।

'बोले अंगदादि कपि'—इन वानरों को आगे के दोहे में स्पष्ट कहा है। यहाँ श्रीअंगदजी को आदि में कहने का हेतु एक तो यह है कि कहीं श्रीहनुमान्‌जी को आदि में कहते हैं और कहीं श्रीअंगदजी को, इस तरह दोनों को तुल्य गौरव देते हैं। दूसरा यह भी कारण है कि मेघनाद ने इन्द्र को जीता है और श्रीअंगदजी इन्द्र के नाती हैं। अतः, इन्हें प्रधान करके इन्हीं के द्वारा उसे मारकर इन्द्र का बदला भी चुकाना है।

(३) 'लछिमन संग जाहु'—श्रीलक्ष्मणजी को प्रधान रक्खा। 'सब भाई'—यद्यपि वानर लोग अपनेको प्रभु का सेवक ही मानते हैं, तथापि प्रभु उन्हें 'सखा' एवं 'भाई' ही कहते हैं और वैसी ही प्रतिष्ठा भी देते हैं; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ० दो० ७), "आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत ॥" (वि० २५१); 'भाई'—इस संकट के समय में सहायता के लिये इन्हें भेजते हैं, इससे भी सबको भाई कहा है, क्योंकि संकट में भाई ही सहायक होते हैं; यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।" (अ० दो० १०५)।

(४) 'तुम्ह लछिमन मारेहु…'—श्रीअंगद आदि को यज्ञ विध्वंस करने की और श्रीलक्ष्मणजी

को उसके वध करने की आज्ञा दी। 'रन'—का भाव यह है कि यज्ञ करते समय नहीं मारना, क्योंकि यज्ञ-दीक्षित को मारना अधर्म है, जब यज्ञ-विध्वंस हो जाने पर वह लड़ाई ठाने-तब मारना।

'देखि सभय सुर···'—श्रीविभीषणजी ने मेघनाद को 'मायावी-देव-सतावन' कहा था। अतः, 'देव-सतावन' के प्रति 'देखि सभय सुर···' कहते हैं और 'मायावी' के प्रति—'तेहि मारेहु बल बुद्धि उपाई'– कहा है।

(४) 'मारेहु तेहि बल···'—'तुम्ह लछिमन मारेहु' से ऐश्वर्य प्रकट होने का संदेह है, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी काल के भी भक्षक हैं; यथा--"तुम्ह कृतान्त भच्छक सुर त्राता।" (दो० ८१)। कहीं ऐश्वर्य रीति से न मार दें, इसीलिये कहते हैं कि मनुष्य की रीति से—बल-बुद्धि और उपाय से उसे मारना, क्योंकि—'जेहि छीजै निसिचर···'--अर्थात् रावण आदि की मृत्यु मनुष्य और वानरों के हाथों से होना है। अतः, ब्रह्मा का वचन भी सत्य होना चाहिये, और साथ ही निशाचर (रावण आदि) का वध भी हो जाय, क्योंकि मेघनाद ही रावण का परम सहायक है। इसके मरने पर सेना समेत वह मरा हुआ ही है; यथा—"निरमित्रः कृतोऽस्यत्र निर्यास्यति हि रावणः। बलव्यूहेन महता श्रुत्वा पुत्रं निपातितम्।" (वाल्मी० ६।११।।१)

श्रीलक्ष्मणजी को ही उसे मारने के लिये क्यों कहा? उत्तर—(क) वह रावण का पुत्र है। अतः जोड़ में इधर से भी पुत्र के समान छोटे भाई ही हैं। (ख) उसने श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति मारी थी। अतः, बदले में उसे इनसे ही मरवाना है। (ग) प्रभु जानते हैं कि इन्हीं के हाथों उसका वध होगा, इसी से इन्हें भेजा, जैसे श्रीहनुमान्जी को ही मुद्रिका दी थी। (घ) वाल्मीकीय रामायण में श्रीविभीषणजी ने श्रीलक्ष्मणजी को ही भेजने के लिये कहा है, यहाँ वह भाव भी हो सकता है।

जामवंत सुग्रीव बिभीषन। सेन समेत रहेहु तीनिउ जन ॥१०॥
जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन। कटि निखंग कसि साजि सरासन ॥११॥

अर्थ—जाम्बवान्जी, सुग्रीवजी और विभीषणजी! आप तीनों व्यक्ति सेना-सहित (साथ) रहियेगा ॥१०॥ जब रघुवीर श्रीरामजी ने आज्ञा दी, तब कमर में तर्कश कसकर और धनुष पर रोदा सजकर ॥११॥

विशेष—(१) 'जामवंत सुग्रीव बिभीपन।···'—पहले 'अंगदादि' प्रधान-प्रधान वानरों के विषय में कहा गया। अब तीनों राजाओं के विषय में कहते हैं, तीनों क्रमशः रीछों, वानरों और राक्षसों के राजा हैं। वृद्ध जाम्बवान्जी मंत्री हैं। अतः, पहले उन्हें ही कहा, पुनः श्रीविभीषणजी से पहले के सखा श्रीसुग्रीवजी हैं, इसलिये उन्हें कहा। श्रीविभीषण को भी कहा, क्योंकि ये उसकी माया जानते हैं और यज्ञशाला आदि के भेद बतलायेंगे।

'सेन समेत रहेहु'—भाव यह है कि सेना से अलग रहने पर तुम लोगों पर वह पहले ही चोट करेगा; क्योंकि जाम्बवान्जी ने अभी-अभी उसे पछाड़कर फेंका है, श्रीसुग्रीवजी ने उसके चाचा के नाक-कान काट डाले हैं और श्रीविभीषणजी के मारने की उसने पहले ही से प्रतिज्ञा कर रक्खी है; यथा—"आजु सबहिं हठि मारउँ ओही।" (दो० ४८); इन तीनों को एक साथ इसी युद्ध में भेजा गया ऐसा और कहीं नहीं हुआ, इससे अनुमान होता है कि मेघनाद से युद्ध करना अत्यंत कठिन था, इसीसे सब तरह से इनलोगों को सावधान करते हैं। वाल्मी० ७।१ में श्रीअगस्त्यजी ने इसे रावण-कुंभकर्ण से भी अधिक बलवान् कहा है।

श्रीलक्ष्मणजी प्रधान हैं, उनपर चोट करने की विशेष संभावना है, इसलिये तीनों बगल की रक्षा के

लिये तीनों को नियुक्त किया है। इससे पूर्व इन्हें शक्ति लग चुकी है और फिर उसीसे युद्ध करने के लिये भेज रहे हैं। इसलिये उनकी रक्षा के लिये वात्सल्य भाव से इतना उपाय कर रहे हैं। कहा ही है; यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥" (अ० दो० १४१)।

(२) 'जब रघुबीर दीन्ह अनुसासन।…'—प्रभु की आज्ञा अकाट्य है; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८); प्रभु ने जिसे जिस कार्य के लिये आज्ञा दी है, वह अवश्य सिद्ध हुआ है, जैसे श्रीहनुमान्जी को मुद्रिका देकर आज्ञा दी ; यथा—"बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु ॥ हनुमत जनम सुफल करि माना।" (कि० दो० २१); वह कार्य सिद्ध हुआ। ऐसे ही श्रीअंगदजी को भी आज्ञा दी यथा—"लंका जाहु तात मम कामा।" और यह कार्य भी सिद्ध हुआ। अब श्रीलक्ष्मणजी को भी आज्ञा मिली, तो ये भी इस कार्य को 'स्वयं सिद्ध' मान रहे हैं और इसीसे मेघनाद के वध के लिये दृढ़ शपथ करके चल रहे हैं।

प्रभु प्रताप उर धरि रन धीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा ॥१२॥
जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ ॥१३॥
जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई ॥१४॥

दोहा—रघुपति-चरन नाइ सिर, चलेउ तुरंत अनंत।
अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत ॥७४॥

अर्थ—रणधीर श्रीलक्ष्मणजी प्रभु का प्रताप हृदय में रखकर मेघ के समान गंभीर वाणी बोले ॥१२॥ यदि आज उसे बिना मारे आऊँ तो श्रीरघुनाथजी का सेवक न कहाऊँ ॥१३॥ जो सैकड़ों शंकर भी उसकी सहायता करें, तो भी उसे मार ही डालूँगा, रघुवीर की शपथ करता हूँ ॥१४॥ श्रीरघुनाथजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीलक्ष्मणजी तुरत चले। साथ में अंगदजी, नीलजी, मयंदजी, नलजी और श्रीहनुमान्जी, ये सब उत्तम योद्धा थे ॥७४॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रताप उर धरि…'—भक्त लोग प्रभु-प्रताप के ही भरोसे पर सारा कार्य करते हैं। 'रनधीरा'—स्वयं रणधीर हैं, ऐसा नहीं कि भय से प्रभु का आश्रय लेते हों। 'घन इव'—वाणी की गंभीरता प्रकट करने के लिये यह उपमा दी जाती है। पुनः मेघनाद के जोड़ में वैसी (मेघ-गर्जन के समान गम्भीर) वाणी भी होनी ही चाहिये। इनकी वाणी वैसी ही गम्भीर है ; यथा—"भाई सों करन बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं।" (गी० बा० ७१)

(२) 'जौं तेहि आजु बधे…'—श्रीजनकपुर में श्रीजनकजी के द्वारा वीरता पर आक्षेप किया गया था; यथा—'बीर बिहीन मही मैं जानी।' तब वहाँ भी वैसी ही शपथ इन्होंने की थी; यथा 'जौं न करउँ प्रभु पद सपथ, कर न धरउँ धनु भाथ।' भाव यह है कि ऐसा न करूँ तो वीरता का चिह्न ही न धारण करूँ। और यहाँ आज्ञा रूपी सेवा मिली है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००); अतएव वैसी ही शपथ भी करते हैं ; यथा—'तौ रघुपति सेवक न कहावउँ।' यह बड़ी भारी शपथ है, सेवक का सर्वस्व तो प्रभु-सेवा ही है ; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥" (आ० दो० १०) ; आज ही श्रीमुख से सेवा की आज्ञा मिली है, यदि नहीं कर सकूँ तो फिर सेवक कैसा ? क्योंकि—"सेवक सोइ जो करइ सेवकाई ॥" (बा० दो० २७०) इसीसे इन्होंने शपथ की।

(३) 'जौं सत संकर करहिं सहाई।...'—'जौं' का भाव यह है कि शंकरजी आपके भक्त हैं। वे आपके विरोधी का पक्ष नहीं लेंगे, इसीसे संदेहात्मक शब्द 'जौं' कहा गया है। 'सत संकर'—श्रीभरतजी पर जब इन्होंने भ्रम से कोप किया था, तब एक ही शंकर की सहायता के विषय में कहा था; यथा—"जौं सहाइ कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम-दोहाई॥" (अ० दो २११); क्योंकि वहाँ प्रभु की आज्ञा नहीं मिली थी और यहाँ तो पहले ही आज्ञा मिल चुकी है। इसीसे 'सत संकर' कहा है। मेघनाद श्रीशंकरजी के ही वरदान से दर्पित है। उससे, अथवा श्रीशंकरजी रण के देवता हैं और बड़े समर्थ संहारकर्त्ता हैं, इससे उन्हें कहा, इस तरह प्रभु-प्रताप का गौरव दिखाया कि उसके बल पर मैं ऐसा-ऐसा कार्य भी कर सकता हूँ।

ये श्रीरामजी के ऐसे अनन्य भक्त हैं कि सर्वत्र इन्होंने उन्हीं की शपथ की है; यथा—"जौं न करउँ प्रभु पद सपथ" (बा० दो० २५३)—धनुष यज्ञ में। "तौ मारउँ रन राम दोहाई।"—श्रीभरतजी के प्रति, तथा यहाँ भी—"तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई।" कहा है।

(४) 'रघुपति-चरन नाइ सिर...'—श्रीरामजी के चरणों का प्रणाम सिद्धि देने में कल्पवृक्ष है; यथा—"प्रभु पद प्रेम प्रनाम कल्पतरु सब विभीषन को फलो।" (गी० सुं० ४२)। जहाँ-जहाँ प्रणाम करके कार्यारंभ करना कहा गया है, वहाँ-वहाँ अवश्य सफलता मिली है।

जैसे कि पहले दिन के युद्ध में वानर लोग प्रभु को प्रणाम करके चले थे। अतः, अंत में विजय प्राप्त करके लौटे। दूसरे दिन के युद्ध में यों ही उन्होंने दौड़कर लंका को घेर लिया, तब उसमें सफलता नहीं पाई। श्रीलक्ष्मणजी ने भी प्रणाम नहीं किया था, अतएव शक्ति से घायल होकर लौट आये। तीसरे दिन तीन बार वानर लोग लड़ने के लिये गये, पर प्रभु को प्रणाम करके नहीं गये, इसलिये वे तीनों बार सफल नहीं हुए। चौथे दिन के युद्ध में भी प्रणाम करना नहीं कहा गया है, इससे—'ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा' कहा गया है।

आज श्रीलक्ष्मणजी प्रणाम करके जा रहे हैं, अतएव अवश्य कार्य करके आवेंगे।

जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥१॥
कीन्ह कपिन्ह सब जज्ञ बिधंसा। जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा॥२॥

अर्थ—वानरों ने जाकर उसे देखा कि वह बैठा हुआ अग्नि में रुधिर और भैंसों की आहुति दे रहा है॥१॥ वानरों ने सब यज्ञ विध्वंस कर दिया (तब भी) जब वह नहीं उठा तब उसकी सराहना करने लगे॥२॥

विशेष—(१) 'जाइ कपिन्ह सो...'—पहले वानरों को ही यज्ञ-विध्वंस करने की आज्ञा मिली थी। इसीसे यज्ञ-स्थल में वे ही गये। श्रीलक्ष्मणजी कुछ सेना सहित बाहर ही रहकर रक्षक सेना का विध्वंस करते थे जैसा कि आगे के वचन से स्पष्ट है; यथा—"लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आये जहँ रामानुज आगे॥" यज्ञ-विध्वंस की रीति आगे दो० ८३ में देखिये, वहाँ रावण-यज्ञ-विध्वंस का प्रसंग है।

(२) 'करहिं प्रसंसा'—कहते हैं कि अरे! तू तो वीरों में प्रसिद्ध है, तूने इन्द्र को जीता है, अरे! बड़ी लज्जा की बात है कि बलवान् रावण का बेटा होकर हमारे ललकारने पर भी कायर की तरह बैठा हुआ है उठता नहीं, इत्यादि प्रशंसा के वचन भी निन्दा रूप में ही कहे गये हैं।

तदपि न उठइ धरेन्हि कच जाई। लातन्हि हति हति चले पराई ॥३॥
लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आये जहँ रामानुज आगे ॥४॥
आवा परम क्रोध कर मारा। गर्ज घोर रव बारहि बारा ॥५॥
कोपि मरुत-सुत अंगद धाये। हति त्रिसूल उर धरनि गिराये ॥६॥
प्रभु कहँ छाँड़ेसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा ॥७॥
उठि बहोरि मारुति जुवराजा। हतहिं कोपि तेहि घाव न बाजा ॥८॥

शब्दार्थ—बाजना = आघात पहुँचना, लगना। घाव न बाजा = घाव नहीं लगा।

अर्थ—प्रशंसा करने पर भी नहीं उठा तब जाकर उन्होंने उसके बाल पकडे और उसे लातों से मार-मार कर भाग चले ॥३॥ वह त्रिशूल लेकर दौडा, वानर भागकर वहाँ आये जहाँ आगे श्रीलक्ष्मणजी खड़े थे ॥४॥ अत्यन्त क्रोध का मारा हुआ आया और भयंकर कठोर शब्द से बार-बार गरजने लगा ॥५॥ अंगदजी और हनुमान्जी कोप करके दौडे। उसने छाती मे त्रिशूल से मारकर (इन दोनों को) पृथिवी पर गिरा दिया ॥६॥ प्रभु श्रीलक्ष्मणजी पर प्रचंड त्रिशूल छोड़ा (चलाया)। अनंत श्रीलक्ष्मणजी ने बाण मार कर उसके दो टुकडे कर दिये ॥७॥ श्रीहनुमान्जी और श्रीअंगदजी फिर उठकर उसे क्रोध करके मारने लगे, पर उसे घाव नहीं लगा ॥८॥

विशेष—(१) 'गर्ज घोर रव'—परम क्रोध के मारे आया। अत, वैसे ही घोर शब्द से प्रलय के मेघ की तरह गर्जता भी है।

(२) 'उठि बहोरि मारुति..'—इनके घूँसे से रावण और कुंभकर्ण भी गिर गये हैं, पर आज मेघनाद पर इनके प्रहार निष्फल हो रहे हैं, यह क्यों? इसका कारण यह है कि श्रीरामजी की यह रणलीला है। यदि एक ही ओर का उत्कर्ष रहे तो वीररस फीका-सा पड़ जाता है। निर्बल और सबल का संग्राम नीरस हो जाता है। इसलिये उस पक्ष का भी उत्कर्ष होना चाहिये, इसलिये प्रभु की इच्छा से वैसा ही होता है। आज श्रीलक्ष्मणजी इसके वध की प्रतिज्ञा करके आये हुए हैं, उन्हें सुयश भी देना है कि जिसे श्रीहनुमान्जी और श्रीअंगदजी ने भी नहीं गिरा पाया, उसे श्रीलक्ष्मणजी ने मारा। ऐसे ही आगे जब राम-रावण-समर होगा, तो वहाँ—"लछिमन कपीस समेत। भये वीर सकल अचेत॥" (दो० ६६); अर्थात् माया के प्रभाव से रावण ने श्रीलक्ष्मणजी को भी अचेत कर दिखाया। यह उसका उत्कर्ष होगा और फिर उसका भी वध करने पर सर्वोपरि श्रीरामजी का उत्कर्ष प्रसिद्ध होगा। यह वक्ताओं का भी अभीष्ट है।

फिरे बीर रिपु मरइ न मारा। तब धावा करि घोर चिकारा ॥९॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला। लछिमन छाड़े बिसिख कराला ॥१०॥
देखेसि आवत पवि सम बाना। तुरत भयउ खल* अंतरधाना ॥११॥
बिबिध बेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई ॥१२॥
देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा ॥१३॥

लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा। येहि पापिहि मैं बहुत खेलावा ॥१४॥

अर्थ—जब वीर लोग मुड़ चले कि शत्रु मारे नहीं मरता, तब वह बड़े जोर से चिंघाड़कर दौड़ा ॥९॥ मानों क्रोधित काल हो, उसे इस तरह आते देखकर श्रीलक्ष्मणजी ने काल के समान क्रुद्ध होकर कराल बाण छोड़े ॥१०॥ वज्र के समान बाण को आते देखकर वह दुष्ट तुरत अंतर्धान हो गया ॥११॥ अनेकों वेष बना-बनाकर लड़ाई करता था, कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता था ॥१२॥ शत्रु को अजेय देखकर वानर डरे, तब शेष (श्रीलक्ष्मण) जी अत्यन्त क्रोधित हुए ॥१३॥ श्रीलक्ष्मणजी ने मन में ऐसा विचार निश्चय किया कि इस पापी को मैंने बहुत खेलाया (बढ़ने दिया) ॥१४॥

विशेष—(१) 'क्रुद्ध जनु काला ।'—दीपदेहली है । 'अहीसा ।—सर्प में क्रोध बहुल होता है, वैसे कोप के सम्बन्ध से यह नाम कहा गया । 'बहुत खेलावा'—उपर्युक्त 'अहीसा' विशेषण का यह भी भाव है, यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।" (दो० ८१); उनका एक तुच्छ राक्षस के साथ युद्ध करना कौतुक ही है । उसे इतने काल तक अपने साथ लड़ने का गौरव दिया, यही खेलाना है। किंतु, अब न बढ़ने पावेगा, यह निश्चय किया, क्योंकि संध्याकाल समीप आ गया और इन्होंने आज ही प्रभु के समक्ष उसके वध की प्रतिज्ञा की है। यही समझकर वानर लोग डरे, वही 'डरपे कीसा' कहा गया है ।

सुमिरि कोसलाधीस - प्रतापा । सर संधान कीन्ह करि दापा ॥१५॥
छाड़ा बान माँझ उर लागा । मरती बार कपट सब त्यागा ॥१६॥

दोहा—रामानुज कहँ राम कहँ, अस कहि छाँड़ेसि प्रान ।
धन्य धन्य तव जननी, कह अंगद हनुमान ॥७५॥

अर्थ—श्रीअयोध्या के स्वामी श्रीरामजी के प्रताप का स्मरण करके दर्पित होकर बाण का निशाना किया ॥१५॥ छोड़ा, वह उसकी छाती के बीच में लगा । मरते समय उसने सारे कपट छोड़ दिये ॥१६॥ रामानुज कहाँ हैं ? श्रीरामजी कहाँ हैं ? ऐसा कहते हुए उसने प्राण छोड़े । श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी बोले कि तेरी माता धन्य है ! धन्य है ! ॥७५॥

विशेष—(१) 'सुमिरि कोसलाधीस-प्रतापा ।'—राम-प्रताप स्मरण से दुर्गम कार्य भी सुगम हो जाता है । यह पूर्व में कई जगह लिखा गया है, यथा—"समुझि राम-प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ..." (दो० ३१); तथा—"रामप्रताप सुमिरि उर अंतर।" (दो० ४१); इत्यादि प्रसंग देखिये । प्रताप स्मरण यथा—"धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ॥ पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम् ॥" (वाल्मी० ६।९०।७०), अर्थात् यदि दाशरथी श्रीरामजी धर्मात्मा, सत्यसंध और पौरुष में अद्वितीय हैं तो, हे बाण ! तू रावण के पुत्र इस मेघनाद का वध कर । 'करि दापा'—भक्तों का दर्प भी प्रभु-प्रताप के बल पर ही होता है । 'कपट सब त्यागा'—यदि कपट रहता तो प्रभु इसे नहीं अपनाते, इससे इसका एवं मारीच, और कालनेमि का भी अंत में कपट का त्याग करना कहा गया है । 'सब'—मन, वचन, कर्म का । रावण की तरह इसने शरीर नहीं बढ़ाया, यह कपट का त्यागना है । कपट हृदय से होता है, बाण ने हृदय को बेधकर उसे शुद्ध कर दिया ।

(२) 'रामानुज कहँ राम कहँ···'—यह युद्धोत्साह से भरा था। इसीसे मरते समय उसी तरह के शब्द उसके मुख से निकले कि रामानुज कहाँ हैं ? मैं उनको मारूँ। रामजी कहाँ हैं ? मैं उनको मारूँ। ऐसा ही रावण ने भी कहा है ; यथा—"कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी।" (दो० १०१) ; इसको भी वैर-भाव से स्मरण करना मानकर प्रभु उत्तम गति देते हैं। क्योंकि यह अनख भाव का नाम जप है ; यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥" (बा० २७)।

(३) 'धन्य धन्य तव जननी'—इसकी माता को इसलिये धन्य कहा कि जिसने ऐसा पुत्र पैदा किया कि जो रामनाम कहते हुए वीरगति को प्राप्त करे। वीरों की माताएँ इसी में अपनेको धन्य मानती हैं। श्रीलक्ष्मणजी उसके सामने उपस्थित थे, इन्हीं से उसका युद्ध होता था और इन्हीं के द्वारा उसका वध भी हुआ। इससे पहले इन्हीं का नाम लिया। फिर अंत समय में रामनाम का उच्चारण होना परम श्रेयस्कर है; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०) ; 'कह अंगद हनुमान'—ये दोनों उसकी वीरता को जानते हैं। इनसे उसका युद्ध हो चुका है और उसकी अंतिम गति भी प्रत्यक्ष देखी, इससे कहते हैं।

बिनु प्रयास हनुमान उठायो। लंका द्वार राखि पुनि आयो॥१॥
तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा। चढ़ि बिमान आये नभ सर्बा॥२॥

अर्थ—बिना परिश्रम श्रीहनुमान्जी ने उसे उठा लिया और लंका के द्वार पर रखकर फिर लौट आये॥१॥ उसका मरण सुनकर देवता और गंधर्व सभी विमानों में चढ़-चढ़कर आकाश में आये॥२॥

विशेष—(१) 'बिनु प्रयास हनुमान उठायो।...'—स्वयं मेघनाद अपने बहुत-से सुभटों के साथ श्रीलक्ष्मणजी के मूर्च्छित शरीर को नहीं उठा सका था। पर श्रीहनुमान्जी ने उसके पर्वताकार शरीर को बिना परिश्रम उठा लिया और शत्रु के पुर-द्वार पर उसे रख आये। यह रावण को उसके कर्म का बदला दिया कि तू श्रीलक्ष्मणजी को ले जाना चाहता था। उनके बदले में इसे ले और इसकी दशा देखकर छाती ठंढी कर। इसका रावण को बड़ा गर्व था। इसकी यह दशा देखकर संभवतः मन में कुछ विचार आवेगा, इससे भी वहाँ रख आये। श्रीहनुमान्जी ही ले गये, क्योंकि ऐसा दुष्कर कर्म दूसरों से होना असंभव था, इनका और उसका मोर्चा भी रहता था। शत्रु के पुत्र को मारकर उसे उसके पुर-द्वार पर रख आना बड़े पराक्रम एवं निर्भीकता का ही काम है।

(२) 'सुर...सर्बा'—अभी तक उसके डर के मारे सब देवता प्रत्यक्ष रूप में कभी नहीं आये थे। 'सुनि' शब्द से भी जाना जाता है कि दो बार उसकी जीत देख इस बार छिपकर भी देखने नहीं आये थे, ऐसा उसका डर था।

बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल जस गावहिं॥३॥
जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥४॥
अस्तुति करि सुर-सिद्ध सिधाये। लछिमन कृपासिंधु पहिं आये॥५॥

शब्दार्थ—निस्तारा = उद्धार किया, छुड़ाया।

अर्थ—फूल बरसाकर नगाड़े बजाते हैं और श्रीरघुनाथजी का निर्मल यश गाते हैं ॥३॥ हे अनंत ! आपकी जय हो, हे जगत् के आधार ! आपकी जय हो। हे प्रभो ! आपने सब देवताओं का उद्धार किया ॥४॥ स्तुति करके देवता और सिद्ध सभी चले गये, तब श्रीलक्ष्मणजी कृपासागर श्रीरामजी के पास आये ॥५॥

विशेष—(१) 'श्रीरघुनाथ निमल जस गावहिं ।'—यहाँ श्रीरघुनाथ श्रीलक्ष्मणजी को ही कहा गया है ; यथा—"मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ" (कि० मं०) ; यह स्तुति का प्रसंग है। अतः, इसमें श्रेष्ठ विशेषण ही दिया जाता है। साथ ही उन्हें 'प्रभु' भी कहा गया है। अथवा, मेघनाद के वध मे प्रभु-प्रताप ही मुख्य है, यथा—"सुमिरि कोसलाधीस-प्रतापा। सर संधान कीन्ह ···" कहा गया है, अतएव उसके वध का श्रेय श्रीरामजी को ही देते हैं। 'अनंत' और 'जगदाधारा' के भाव पूर्व दो० ७४ और दो० ५३ में आ गये हैं।

यहाँ 'अनंत' का यह भी भाव है कि आपकी महिमा भी अंत-रहित ही है, कोई कैसे कह सके ? 'जगदाधारा'—जगत् आपके ही आधार पर टिका हुआ है, इसीसे आपने इसका वध करके जगत् की रक्षा की। 'देवन्ह निस्तारा, यथा—"अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः। हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः ॥" (वाल्मी० ६।९१।१०) ; अर्थात् आज देवता, सब लोकपाल तथा महर्षि, इन्द्रजित् का मरण सुनकर सुख की नींद सोवेंगे।

(२) 'लछिमन कृपासिंधु पहिं आये'—वाल्मीकीय रामायण में तीन दिन और तीन रात युद्ध का होना लिखा है। पर मानस के कल्प मे केवल आज ही भर में युद्ध समाप्त हो गया, क्योंकि—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ।" ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। वैसा ही कार्य सम्पन्न हुआ। 'कृपासिंधु'—का भाव यह है कि श्रीलक्ष्मणजी उक्त स्तुति का श्रेय स्वामी की कृपा से ही मानते हैं कि आपकी ही कृपा से वह मारा गया और मैं सत्यप्रतिज्ञ हुआ। 'जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। ···' उपक्रम है और 'लछिमन कृपा-सिंधु पहिं आये।' यह उपसंहार हुआ। वाल्मीकीय रामायण मे श्रीरामजी का बहुत प्रसन्न होना कहा गया है, वह भी एक 'कृपासिंधु' शब्द में जना दिया गया।

सुत-बध सुना दसानन जबहीं। मुरछित भयउ परेउ महि तबहीं ॥६॥
मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी ॥७॥
नगर लोग सब ब्याकुल सोचा। सकल कहहिं दसकंधर पोचा ॥८॥

अर्थ—रावण ने ज्योंही पुत्रवध का समाचार सुना त्योंही वह मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥६॥ मंदोदरी बड़ा विलाप करने लगी, बहुत प्रकार से (उसका नाम) पुकार-पुकारकर एवं शोक से चिल्लाकर छाती पीटती है ॥७॥ सब पुरवासी शोक से व्याकुल हैं। सभी कहते हैं कि दशानन नीच है ॥८॥

विशेष—(१) 'सुतबध सुना···'—मन्त्रियों से सुना, ऐसा वाल्मी० ६।९३।१ में कहा है। अक्षकुमार और प्रहस्त छोटे पुत्र थे और उनपर रावण की ऐसी ममता नहीं थी। इससे उनके वध पर इसे इतना दुःख नहीं हुआ था ; यथा—"उपजा हृदय बिषाद।" (सुं० दो० २०), "रावन भयउ दुखारी।" (दो० ११) ; परन्तु यह तो माता-पिता दोनों को प्राणप्रिय था, इससे रावण तो सुनते ही मूर्च्छित हो गया और मंदोदरी ने बहुत विलाप किया और अपनी छाती पीटी। 'नगर लोग सब···' —यह लंका का

युवराज था। वाल्मी० ६।६२।१२ में कहा गया है। इसीसे इसके मरने पर पुरवासियों को भी बड़ा शोक हुआ। लोकोक्ति है कि पिता के ही पाप से उसके समस्त पुत्र मरता है, इसीसे सब रावण की निन्दा करते हैं; यथा—"रावणस्यापनीतेन दुर्विनीतस्य दुर्मतेः। अयं निष्ठानको घोरः शोकेन समभिप्लुतः॥" (वाल्मी० ६।६४।१७); अर्थात् दुर्विनीत और मूर्ख राक्षस-राज रावण की दुर्नीति और शोक से युक्त यह घोर नाश हमलोगों पर आया।

दोहा—तब दसकंठ बिबिध बिधि, समुझाईं सब नारि।
नश्वररूप जगत सब, देखहु हृदय बिचारि॥७६॥

तिन्हहि ज्ञान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा शुभ पावन॥१॥
पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥२॥

अर्थ—तब रावण ने अनेक प्रकार से सब स्त्रियों को समझाया और कहा कि तुम मन में विचार कर देखो तो यह सारा जगत् ही नाशवान् है॥७६॥ रावण ने उन सबको ज्ञानोपदेश किया, वह स्वयं तो नीच है, परन्तु (उसकी कही) कथाएँ कल्याण-रूप और पवित्र हैं॥१॥ (कहावत है) दूसरों को उपदेश देने में बहुत लोग निपुण होते हैं पर जो (स्वयं) उसपर चलते भी हों, ऐसे लोग बहुत नहीं होते॥२॥

विशेष—(१) 'तब दसकंठ बिबिध बिधि···'—'तब'—जब स्त्रियों के विलाप के शब्द कानों में पड़ने पर उसकी मूर्च्छा दूर हुई। 'बिबिध बिधि'; यथा—"जनम-मरन सब दुख-सुख-भोगा। हानि-लाभ प्रिय-मिलन-बियोगा॥ काल-करम-बस होहिं गोसाईं। बरबस राति-दिवस की नाईं॥ सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं।···" (अ० दो० १६१); तथा कि० दो० १० चौ० ४–५ भी देखिये और गीता २।११–३० के भाव भी इसके अनुकूल ही हैं। 'दसकंठ' का भाव यह है कि इसका यह ज्ञान-कथन कंठ किया हुआ तोता-रटन-सा है।

(२) 'तिन्हहि ज्ञान···'—यह दूसरों को तो उपदेश देता है कि देखो, अमुक-अमुक बड़े प्रतापी थे, वे भी अंत में नाश को ही प्राप्त हुए। एक दिन सभी के नाश होते ही हैं। अतः, इसके लिये शोच करना व्यर्थ है। 'आपुन मंद···' रावण अभिमान-वश अपनेको अमर माने हुए है; यथा—"नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउ···" (दो० २८); इत्यादि। इसीसे इसे 'मंद' कहा गया है। दोहा ७ चौ० ३–४ भी देखिये।

"रघुपति-रावन समर"—प्रकरण

निसा सिरानि भयउ भिनुसारा। लगे भालु-कपि चारिहु द्वारा॥३॥
सुभट बोलाइ दसानन बोला। रन सन्मुख जाकर मन डोला॥४॥
सो अबहीं बरु जाउ पराई। संजुग-बिमुख भये न भलाई॥५॥
निज भुज-बल मैं बयरु बढ़ावा। देहउँ उतर जो रिपु चढ़ि आवा॥६॥

अर्थ—रात बीती, सवेरा हुआ, भालू-वानर चारों द्वारों पर जा लगे ॥३॥ सुभटों को बुलाकर रावण बोला कि जिसका मन रणभूमि में जाकर शत्रु के सामने डावाँडोल हो (डरे) ॥४॥ वह अभी भले ही भाग जाय, परन्तु रण से विमुख होने (लौटने) पर भला नहीं होगा ॥५॥ मैंने अपनी भुजाओं के बल पर वैर बढ़ाया है। अतः, जो शत्रु चढ़ आया है उसे मैं (अकेले) उत्तर दूँगा ॥६॥

विशेष—(१) 'निसा सिरानि भयउ···'—विलाप और उपदेश में सारी रात बीत गई। 'लगे भालु कपि ···' यह इनका नित्य का नियम-सा हो गया था; यथा—"करत बिचार भयउ भिनसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥" (दो० ४७), "येहि विधि जलपत भयउ बिहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना॥" (दो० ७०); इत्यादि।

(२) 'सो अबहीं बरु···'—अभी भाग जाने से मैं स्वयं वध नहीं करूँगा, किंतु रणभूमि से भागने में मेरी हँसी होगी कि ऐसे ही कायरों को लेकर लड़ने आया है, इससे मैं उस समय अवश्य ही उसका वध करूँगा। रावण यहाँ इसलिये चेतावनी देता है कि बहुत-से बड़े-बड़े वीर मारे गये हैं, जिससे बहुतों के हृदय का उत्साह चला गया है। 'न भलाई'—का यह भी भाव है कि रणभूमि से भागनेवालों का इहलोक तो मेरे द्वारा ही बिगड़ेगा, किन्तु परलोक का भी नाश होगा।

(३) 'निज भुज-बल मैं···'—यह न समझो कि भाई, पुत्रों एवं सेनापतियों के मर जाने से मैं हताश हो गया हूँ। मैं स्वयं शत्रु-दमन में समर्थ हूँ। मैंने बहुत तपस्या करके अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये हैं, जिनके द्वारा युद्ध करने पर स्वयं इन्द्र भी मेरे सम्मुख नहीं हो सकेगा, तो औरों की बात ही क्या है?—यही सब वाल्मी० ६।६२।२६–३० का सारांश है।

अस कहि मरुत-बेग रथ साजा। बाजे सकल जुझाऊ बाजा ॥७॥
चले बीर सब अतुलित बली। जनु कज्जल कै आँधी चली ॥८॥
असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनइ न भुज-बल-गर्ब बिसाला ॥९॥

अर्थ—ऐसा कहकर वायु के समान तेज चलनेवाला रथ सजाया, सब लड़ाई के बाजे बजने लगे ॥७॥ अतुल बलवान् सब वीर योद्धा चले, मानों काजल की आँधी चली हो ॥८॥ उस समय अगणित अपशकुन होने लगे, पर उसे अपने भुजबल का बड़ा अभिमान है, इससे उन्हें कुछ नहीं गिनता ॥९॥

विशेष—(१) 'जुझाऊ बाजा' पर दो० ३६ चौ० २–३ देखिये। 'जनु कज्जल कै आँधी चली।' का भाव यह है कि सभी राक्षस अत्यन्त काले एवं विशाल शरीरवाले हैं और बड़े वेग से चल रहे हैं, पर युद्ध में शीघ्र ही नाश भी होंगे, क्योंकि काजल के समान नि सार हैं।

(२) 'गनइ न भुज-बल···'—रावण कालवश है, इसीसे इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है और अभिमान भी उपज आया है; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा।" (दो० ३५), "काल बरय उपजा अभिमाना।" (दो० ७), तथा—"ततो नष्टप्रभः सूर्यो···" से "एतानचिन्तयन्घोरा नुत्पातान्समवस्थितान्। निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः॥" (वाल्मी० ६।९५।४२–४८) तक; अर्थात् रावण अज्ञानवश इन घोर उत्पातों की ओर दृष्टिपात न कर काल की प्रेरणा से मृत्यु के लिये चला। यहाँ आगे कुछ अपशकुनों को स्वयं ग्रंथकार भी लिखते हैं।

छंद—अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन स्रवहिं आयुध हाथ ते।
भट गिरत रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ ते।
गोमाय गीध करार खर रव स्वान बोलहिं अति घने।
जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥

दोहा—ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहु मन बिश्राम।
भूतद्रोह - रत मोहबस, राम - बिमुख रति काम॥७७॥

शब्दार्थ—गोमायु = गीदड़, सियार। करार = कराल = कौआ; यथा—"ररहिं कुभाँति कुखेत करारा।" (अ० दो० १५७)।

अर्थ—अत्यन्त अभिमान के कारण वह शकुन-अपशकुन का विचार नहीं करता, हथियार उसके हाथ से गिरते हैं। योद्धा रथ से गिर पड़ते हैं, घोड़े और हाथी चिंघाड़ मारकर साथ से भाग जाते हैं॥ बहुत-से सियार, गृद्ध, कौए और गधे कठोर शब्द करते हैं और बहुत-से कुत्ते बोल रहे हैं। उल्लू अत्यन्त भयावने वचन बोल रहे हैं, मानों काल के दूत हों। (मृत्यु का सँदेशा लेकर आये हुए कह रहे हैं)॥ क्या उसको सम्पत्ति, शकुन, कल्याण और मन का विश्राम स्वप्न में भी हो सकता है जो मोहवश होकर जीव-मात्र से द्रोह करने को तत्पर है, राम विमुख और कामासक्त है? (कभी नहीं)॥७७॥

विशेष—(१) 'गनइ न सगुन असगुन···'—'सगुन-असगुन' ऐसा द्वंद्व बोलने का लौकिक मुहावरा है, तात्पर्य अपशकुन से ही है, यथा—"बाल दोष गुन गनहिं न साधू।" (बा० दो० २७४); इसमें तात्पर्य 'दोष' से ही है। "निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (बा० दो० ८४) इसमें तात्पर्य 'निसि' से ही है; इत्यादि। यदि यथाश्रुत ही अर्थ लिया जाय तो रावण श्रीरामजी के पक्ष के शकुन और अपने पक्ष के अपशकुन को कुछ भी नहीं गिनता, अर्थात् नहीं देखता—ऐसा अर्थ होगा।

रावण अत्यन्त अभिमान में भरा हुआ है, इससे वह कुछ भी नहीं देखता कि शकुन हो रहे हैं कि अपशकुन—इधर वह ध्यान ही नहीं देता।

(२) 'गोमाय गीध···'—इन्हें एक पंक्ति में देकर सूचित किया कि ये सब एक साथ मिलकर अमंगल शब्द कर रहे हैं; यथा—"विनेदुरशिवा गृध्रा वायसैरभिमिश्रिताः॥" (वाल्मी० ६।६५।४७); अर्थात् गृद्ध और कौए मिलकर अमंगल शब्द करते हैं।

(३) 'जनु काल दूत···'—इनका बोलना निश्चय ही शीघ्र आसन्न मृत्यु का सूचक है।

(४) 'ताहि कि संपति···'—सब जीवों का द्रोही, मोहवश, राम-विमुख और कामी, इन चारों को संपत्ति, शकुन, शुभ और मनोविश्राम कभी नहीं होता, यथा—"चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥" (सुं० दो० ३७); "करहिं मोह बस द्रोह परावा।" (उ० दो० ४१); "राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा।" (उ० दो० ६५); "सुभगति पाव कि परतियगामी।" (उ० दो० १११)। "जो आपन चाहइ कल्याना।···सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजौ··" (सुं० दो० ३७) इत्यादि।

कामी हरि विमुख होते हैं, क्योंकि काम हरि-भजन का बाधक है, यथा—"जब लगि भजत न राम पद, सोक धाम तजि काम।" (सु॰ दो॰ ४६) हरि-विमुख मोह के वशीभूत होते हैं, यथा—"ग्रसे जे मोह पिसाच, पाखंडी हरि पद बिमुख।" (बा॰ दो॰ ११४), और मोह से द्रोह होता है, यथा—"करहिं मोह बस द्रोह परावा।" (उ॰ दो॰ ३६), इस तरह सबका मूल काम है, क्रम से एक-दूसरे के कारण हैं।

कोई-कोई यथासख्य से भी अर्थ करते हैं कि 'भूत-द्रोह-रत' को सम्पत्ति, 'मोहबस' को 'सगुन' 'राम बिमुख' को 'सुभ' और 'रति काम' को 'मन बिश्राम' स्वप्न में भी नहीं होते।

रावण में तो ये सब दोष हैं, यथा—"निश्च द्रोह रत यह खल कामी।" (दो॰ १०८), मोह का तो यह स्वरूप ही है, यथा—"मोह दस मौलि" (वि॰ ५८)। "राम बिमुख अस हाल तुम्हारा।" (दो॰ १०२)। इससे इसको सपत्ति आदि स्वप्न में भी नहीं मिल सकते।

चलेउ निसाचर-कटकु अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा ॥१॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना। बिपुल बरन पताक ध्वज नाना ॥२॥
चले मत्त-गज-जूथ घनेरे। प्राबिट-जलद मरुत जनु प्रेरे ॥३॥
बरन बरन बिरदैत निकाया। समर सूर जानहिं बहु माया ॥४॥

अर्थ—राक्षसों की अपार सेना चली, चतुरंगिनी सेना की बहुत धाराएँ (श्रेणियाँ) थीं ॥१॥ अनेक प्रकार की सवारियाँ, रथ और विमान थे, रंग बिरंग की पताकाएँ और बहुत-सी ध्वजाएँ थीं ॥२॥ मतवाले हाथियों के अनेकों झुंड चले, मानों पवन से प्रेरित होकर वर्षाऋतु के बादल चल रहे हों ॥३॥ रंग बिरंग के बानेबन्द वीरों के समूह हैं, वे सब समर में शूर हैं और बहुत माया जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कटक अपारा', यथा—"चला कटक को बरनइ पारा।" (सु॰ दो॰ ३४), 'बहु धारा' का यह भी भाव है कि वे सेनाएँ नदी-प्रवाह की तरह उमड़ती हुई चलीं। तथा—वे अनेक गुल्मपतियों से युक्त हो-होकर कई विभागों में चलीं।

(२) 'बिपुल बरन पताक ध्वज नाना।'—अनी अनी की पताकाएँ और ध्वजाएँ भिन्न भिन्न रंगों की हैं कि जिससे युद्ध के समय भी पहचानी जा सकें और उनको बहादुरी के अनुसार उन्हें पदक प्रदान किये जायँ।

(३) 'प्राबिट-जलद मरुत जनु प्रेरे।'—जैसे वर्षा के मेघ काले और सघन होते हैं, वैसे ही हाथी एवं राक्षस भी काले और बहुत हैं। सब मत्त गजों की तरह बलवान् और अपने-अपने बल से मतवाले हैं। बड़े वेग से चल रहे हैं, इससे उनको पवन के झकोरे से उड़ाये हुए मेघों की उपमा दी गई है। यहाँ मारुत-रूपी रावण प्रेरक है। 'बरन-बरन बिरदैत'—सब रंग बिरंग की वर्दियाँ पहने हुए हैं, जिन में प्रत्येक ने बहादुरी करके अपना रंग निश्चित कर रक्खा है।

(४) 'समर सूर'—वे सब युद्ध के योद्धा हैं, बात के नहीं, यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।" (बा॰ दो॰ २७४), 'जानहिं बहु माया' अर्थात् ये 'अनिप अकपन' आदि एवं 'खर दूषन' आदि से भी अधिक मायावी हैं।

अति बिचित्र बाहिनी बिराजी। बीर बसंत सेन जनु साजी ॥५॥
चलत कटक दिग-सिंधुर डगहीं। छुभित पयोधि कुधर डगमगहीं ॥६॥
उठी रेनु रबि गयउ छपाई। मरुत थकित बसुधा अकुलाई ॥७॥
पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं ॥८॥

अर्थ—सेना अत्यन्त विचित्र शोभित हो रही है, मानों वीर वसन्त ने अपनी सेना सजाई हो ॥५॥ सेना के चलने से दिशाओं के हाथी डिगने लगे, समुद्र खलबला उठा, पर्वत डगमगाने लगे ॥६॥ ऐसी धूल उठी कि सूर्य छिप गये। वायु रुक गया, पृथिवी व्याकुल हो उठी ॥७॥ ढोल और भारी नगाड़े बज रहे हैं, प्रलय-काल के बादल गरज रहे हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'बीर बसंत सेन जनु साजी।'—वीर वसंत की सेना को श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥" आदि कहते हुए आगे इसे काम की सेना कही है; यथा—"लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्हकै जग लीका।" (आ० दो० ३७); ऊपर मेघनाद-वध कहा गया है, मेघनाद विनयपत्रिका में काम रूप कहा गया है; यथा—"पाकारि जित काम···" (वि० ५६), और वसंत काम का सेनापति एवं सहायक है। अतः, मित्र का बदला लेने के लिये मानों वसंत आ रहा है। इसीसे इसे वसंत की उपमा दी गई है। इस सेना के सामने बड़े-बड़े वीरों के धैर्य छूट जाते हैं; यथा—"रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।" ऊपर कहा ही है। जैसे वसंत ऋतुराज है वैसे यह भी राज-सेना है।

(२) 'उठी रेनु···पनव निसान···'—यहाँ रावण सेना के द्वारा पाँचो तत्त्वों का क्षुब्ध होना कहा गया है; यथा—'दिग-सिंधुर डगहीं' से पृथिवी तत्व, 'छुभित पयोधि' से जल, 'उठी रेनु रबि गयउ छपाई' से तेज या अग्नि (क्योंकि रवि तेजोमय है), 'मरुत थकित' से पवन और 'घोर रव बाजहिं' से आकाश-तत्व का क्षुभित होना जाना गया, सारा आकाश गूँज उठा, शब्द आकाश का गुण भी है।

सेना इतनी अधिक और घनी है कि उनके पैरों की ठोकरों से धूल उड़कर आकाश में छा गई, पवन को मार्ग नहीं मिलता, इसीसे वह भी स्थगित हो गया, सेना के भार से पृथिवी अकुला उठी। 'प्रलय-समय के घन···'—यह युद्ध भी एक प्रकार का प्रलय ही है।

भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई ॥९॥
केहरि-नाद बीर सब करहीं। निज निज-बल-पौरुष उच्चरहीं ॥१०॥
कहइ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा ॥११॥
हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सन्मुख फौज रेंगाई ॥१२॥

शब्दार्थ—मारू राग = मारू श्रीराग का पुत्र माना जाता है, यह युद्ध के समय गाया जाता है।

अर्थ—भेरी, तुरही और शहनाई सुभटों को सुख देनेवाले मारू राग में बज रहे हैं ॥९॥ सब वीर सिंहनाद करते हैं और अपना-अपना बल-पुरुषार्थ कहते हैं ॥१०॥ रावण ने कहा—हे सुभटो! सुनो, तुम भालू-वानर के समुदायों को मारो ॥११॥ और मैं दोनों भाई राजकुमारों को मारूँगा, ऐसा कहकर उसने अपनी सेना सामने चलाई ॥१२॥

विशेष—'भेरि नफीरि···'—लघु दुंदुभी, तुरही और शहनाई से मारू राग बजाया जाता है। इस राग के सुनने से सुभटों का उत्साह बढ़ता है; यथा—"बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि-सुनि होई भटन्ह मन चाऊ॥" (दो० १९)।

(२) 'निज-निज बल-पौरुष उचरहीं।'—इससे सबों का उत्साह बढ़ता है, एक दूसरे से अधिक पौरुष दिखाने को उत्सुक होता है; यथा—"एकहिं एक बढ़ावहिं करषा।" (अ० दो० १९०); एक कहता है कि मैं ऐसा-ऐसा करूँगा, दूसरा और बढ़-बढ़कर कहता है इत्यादि।

(३) 'हौं मारिहउँ भूप···'—रावण ने सेना से सेना को मारने के लिये कहा और स्वयं राजा है। अतः, भूप दोनों भाइयों को स्वयं मारने को कहा।

'रेंगाई'—चित्रकूट के आस-पास रेंगना चलने के अर्थ में व्यवहृत होता है। पर श्रीअवध-प्रांत में छोटे-छोटे कीड़ों के धीरे-धीरे चलने को रेंगना कहते हैं। इससे यह भी भाव होगा कि सेना बड़ी सघन है। अतः, धीरे-धीरे चल रही है। भूमि नहीं दिखाती। पुनः जैसे कीड़े शीघ्र नाश किये जा सकते हैं, वैसे ही ये राक्षस भी शीघ्र ही नाश को प्राप्त होंगे।

यह सुधि सकल कपिन्ह जब पाई। धाये करि रघुबीर दोहाई॥१३॥

छंद—धाये बिसाल कराल मर्कट-भालु काल समान ते।
मानहु सपच्छ उड़ाहिं भूधर-बृंद नाना बान ते।
नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं।
जय राम रावन-मत्तगज मृगराज सुजस बखानहीं॥

दोहा—दुहुँ दिसि जय-जयकार करि, निज निज-जोरी जानि।
भिरे बीर इत राम-हित, उत रावनहि बखानि॥७८॥

शब्दार्थ—बान (वर्ण) = रंग; यथा—"कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।" (अ० दो० २०४)।

अर्थ—जब वानरों ने यह सारा समाचार पाया (कि रावण सेना सहित धूमधाम से आ रहा है,) तब श्रीरघुवीर की शपथ करके दौड़े॥१३॥ वे विशाल (शरीर) और काल के समान भयंकर वानर-भालू दौड़े। मानों अनेक रंगों के पक्षयुक्त पर्वत-वृन्द उड़ रहे हों॥ बड़े-बड़े नख, दाँत, पर्वत और वृक्ष उनके आयुध हैं, वे सब बलवान् हैं एवं वे बलवान् का डर नहीं मानते। रावण-रूपी मतवाले हाथी के लिये सिंह रूप श्रीरामजी की जय-जयकार करके उनका सुन्दर यश बखान करते हैं॥ दोनों ओर के वीर जय-जयकार करके अपनी-अपनी जोड़ी जानकर—इधर के वीर श्रीरामजी का और उधर के रावण का बखान करते हुए परस्पर भिड़ गये॥७८॥

विशेष—(१) 'नाना बान ते'—वानर और भालू अनेक रंगों के हैं; यथा—"नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस-बरूथ॥" (कि० दो० २१); "नाना बरन भालु कपि धारी।" (सुं० दो० ५१) वैसे ही

पर्वतों को भी नाना वर्णों का कहा गया है। पर्वत उड़ते नहीं, परन्तु ये उड़ते हुए जाते हैं, इसलिये 'सपच्छ' कहे गये हैं, पूर्व भी कहा गया है; यथा—"राम-कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छ-जुत *मनहुँ गिरिंदा।।*" (सुं० दो० ३४); उड़ते हुए विशाल पर्वत की तरह ये काल के समान भयानक लगते हैं, इससे इन्हें 'काल समान' कहा गया है।

(२) 'दुहुँ दिसि जय-जय···'—अपने-अपने स्वामी के बल प्रताप आदि का बखान करते हुए जय-जयकार करते हैं; यथा—"अन्योन्यमाह्वयानानां क्रुद्धानां जयमिच्छताम्।" (वाल्मी० ६।९५।५०); अर्थात् दोनों (वानर-राक्षस) दलवाले क्रोध से अपने-अपने प्रतिपक्षी को ललकार रहे थे और वे दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते थे। 'निज निज जोरी जानि'; यथा—"भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी।।" (दो० ५१)।

"धर्ममय-रथ"—प्रकरण

(श्रीराम-गीता)

रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा ॥१॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा ॥२॥

अर्थ—रावण को रथ पर सवार और रघुवीर श्रीरामजी को बिना रथ के देखकर श्रीविभीषणजी अधीर हो गये (घबड़ा गये) ।।१।। बहुत प्रीति होने के कारण उनके मन में संदेह हो गया। अत., वे चरणों की वंदना करके स्नेहपूर्वक बोले ।।२।।

विशेष—(१) 'रावन रथी बिरथ रघुबीरा।'—ऊपर कहा गया—'निज निज जोरी जानि। भिरे बीर' वैसे ही यहाँ जोड़ी में रथारूढ़ रावण आ रहा है और इधर से श्रीरामजी पैदल ही उसके साथ युद्ध करेंगे, इस जोड़ी में यह विषमता है, यह श्रीविभीषणजी से नहीं देखा गया; अतः, वे अधीर हो गये।

यद्यपि कुंभकर्ण से भी पैदल ही युद्ध हुआ है, पर वहाँ विषमता नहीं थी, क्योंकि कुंभकर्ण भी पैदल ही था। श्रीविभीषणजी पहले से भी जानते थे कि इस सेना में रथ आदि सवारी कुछ भी नहीं है; किंतु फिर भी समरभूमि में देखने से वे अधीर हो गये। यह बात वानरों को भी खटकती थी; यथा—"रथा-रूढ़ रघुनाथहि देखी। धाये कपि बल पाइ बिसेषी।" यह आगे कहा गया है। परन्तु, वे लोग पैदल-युद्ध के अभ्यस्त हैं, इससे अधीर नहीं हुए और श्रीविभीषणजी रथ के अभ्यस्त हैं, वे रथी के सुभीते को जानते हैं, इससे अधीर हो गये। देवता लोग भी इस विचार से सहमत हैं; यथा—"देवन्ह प्रभुहिं पयादे देखा। उर उपजा अति छोभ बिसेखा।। सुरपति निज रथ तुरत पठावा। ··" (दो० ८७)।

इन सबके विचारों से भी श्रीविभीषणजी का विचार न्यायपूर्ण है। श्रीविभीषणजी युद्ध-विषयक प्रधान मंत्री हैं, इसीसे इस त्रुटि पर विशेषकर इन्हीं का ध्यान गया।

यद्यपि श्रीविभीषणजी श्रीरामजी का ऐश्वर्य जानते थे; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला।" से "जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट···" (सुं० दो० ३८); तक। ये सब इन्हीं के वचन हैं। पर इस समय की अधीरता एवं संदेह का कारण 'अधिक प्रीति' है। सरकार की माधुरी ऐश्वर्य-दृष्टि को दबा देती है। जैसे परम ज्ञानी श्रीजनकजी ने पहले श्रीरामजी को परब्रह्म कहा और श्रीविश्वामित्रजी से निश्चित भी

करा लिया, पर धनुर्भंग के समय सरकार पर माधुर्यदृष्टि से वात्सल्य हो आया और उन्होंने श्रीविश्वामित्रजी से अपनी दुविधा कही। गी० बा० ८४ देखिये। और भी कहा है, यथा—"नैर अध प्रेमहि न प्रबोधू।" (अ० दो० २६१) 'अधिक प्रीति' दीपदेहली-न्याय से 'अधीरा' और 'मन भा संदेहा' दोनों के साथ है। अधीरता के साथ मन का संदेह प्रकट करने से ये आर्त्त अधिकारी सिद्ध हुए, यथा—"गूढउ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥" (बा० दो० १०१)।

(२) 'बंदि चरन कह सहित सनेहा।'—जिज्ञासा के पूर्व प्रणाम करना शास्त्र विधि है। सख्यभाव के स्नेह से बोले।

नाथ न रथ नहिं तनु पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥३॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥४॥

अर्थ—हे नाथ! न तो रथ है, न शरीर की रक्षा करनेवाला (कवच) है और न चरण की रक्षा करनेवाली (जूती) ही है, तब वीर और बलवान् रावण को किस तरह जीतियेगा?॥३॥ कृपासागर श्रीरामजी ने कहा कि हे सखे! सुनो, जिस रथ से जय होती है, वह रथ तो और (दूसरा) ही है॥४॥

विशेष—(१) 'नाथ न रथ ''—'नाथ'—मैं लंका से बहिष्कृत होने से अनाथ हो गया था, तीनों लोकों मे और कोई रक्षक नहीं हो सकता था, आपने नाथ होना स्वीकार किया, तब मैं सनाथ हुआ; यथा—"राखि बिभीषन को सके अस काल गहा को।" (वि० १५१), "रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवनपति पाइहै।" (गी० सं० ३४), पुन श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर भी आप मेरी ही चिंता करते थे, ऐसा नाथ होना दुर्लभ है।

'केहि बिधि जितब'—युद्ध मे जय प्राप्त करने के लिये रथ, कवच और जूती बहुत आवश्यक हैं। पहले तो रथ का भारी अवलम्ब रहता है, सारथी रथी और रथ की रक्षा मे सावधान रहता है। रथी को शत्रु से लडने का पूरा अवकाश रहता है। अस्त्र-शस्त्र भी रथ पर पर्याप्त रूप से रक्खे जा सकते हैं। यदि अचानक कोई आघात आ ही जाय, तो कवच से रक्षा होती है। पुन कहीं पैदल चलना हुआ तो पदत्राण भी आवश्यक है, क्योंकि रणभूमि मे 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्' तो हो नहीं सकता, वहाँ तो दृष्टि शत्रु पर एवं उसके प्रहार के रोकने पर रहती है, तब भूमि के काँटे, कंकड़ एवं रुधिर आदि से बचाने के लिये पदत्राण भी आवश्यक है।

आपके इन सब मे एक भी नहीं हैं, तब शरीर की रक्षा कैसे होगी? शत्रु तो ऊपर है और आप नीचे भूमि पर, यह विषमता है। 'बीर बलवाना'—फिर रावण कोई सामान्य वीर भी नहीं है, वह त्रिलोकविजयी है।

(२) 'सुनहु सखा कह कृपानिधाना।'' '—'कृपानिधान' का भाव यह है कि श्रीरामजी कृपा करके इसी बहाने श्रीविभीषणजी को धर्मोपदेश करेंगे, यथा—"येहि मिस मोहि उपदेसेहु, राम कृपा-सुख-पुंज।" (दो० ८१), 'सखा' का भाव यह है कि तुम सखा भाव के भक्त हो, इससे गूढ़ रहस्य जानने के भी अधिकारी हो, यथा—"सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ।" (गी० सु० ४५), तथा "भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।" (गीता ४।३)।

'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।'—जो रथ तुम रावण के पास देखते हो, इस पार्थिव रथ से

जय नहीं होती। जय देनेवाला तो और ही रथ है, वह आध्यात्मिक है, उसका नाम धर्ममय रथ है; यथा—"सखा धर्ममय अस रथ जाके।" यह आगे कहा है। इसे ही साग-रूपक से कहते हैं—

इसी तरह निषादराजजी भी श्रीरामजी के माधुर्य मे भूलकर अधीर हो गये थे, उसका कारण भी अति-स्नेह ही था, यथा—"सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥" (अ० दो० ८६), "भयउ बिषाद निषादहि भारी।" (अ० दो० ९१), तब उन्हें श्रीलक्ष्मणजी ने समझाया है, यथा—"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-बिराग-भगति-रस-सानी॥" से "सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय-रघुबीर-चरन-रत होहू॥" (अ० दो० ९१–९३) तक क्योंकि उसने अपना दुःख उन्हीं से कहा है और श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी से कहा। अत, यहाँ इन्होंने ही समझाया है। अतएव उसका 'लक्ष्मण-गीता' नाम पड़ा और इसका 'राम-गीता'। यहाँ रथी-रूपी जीव का महा अजेय ससार रूपी शत्रु पर विजय करने का साधन दिखावेंगे।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा-पताका॥५॥

शब्दार्थ—सौरज (शौर्य)=शूरता। चाका=पहिया, चक्र।

अर्थ—शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं (अर्थात् ये ही धर्मरथ के आधार और गतिदाता हैं) सत्य और शील उसके दृढ ध्वजा और पताका हैं॥५॥

विशेष—(१) 'सौरज धीरज' और 'चाका' मे अचलता एव दृढता सार है, इसी मे समता है। शूर और धीर रण मे पीछे नहीं हटते और न अधीर होते हैं, यथा—"चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अति कोपी॥" (दो० ८०), "सुनि सरोप बोले सुभट, बीर अधीर न होहिं।" (अ० दो० १९१), धर्मरथ के चक्के पीछे नहीं हटते। इसका भाव यह है कि जिस रथ पर श्रीरामजी सवार हैं। वह अर्जुन, कर्ण आदि के रथ की तरह पीछे हटनेवाला नहीं है। युद्ध के रथ मे दो ही पहिये होते हैं, क्योंकि उसे इधर-उधर शीघ्रता से फिराना पडता है, इसी से यहाँ दो ही पहिये कहे गये हैं। परमार्थ पक्ष मे स्वभाव विजय ही शूरता है, यथा "स्वभाव विजय शौर्यम्" (श्रीमद्भाग० ११।१९।३७), अर्थात् स्वभाव को बलात् धर्म के अनुकूल रखना शूरता है। और चाहे कितना ही दुःख एव विघ्न उपस्थित हो, पर धर्म से नहीं हटे—यह धीरता है।

'सत्यसील दृढ ध्वजा पताका।'—ध्वजा पताका दृढ होनी चाहिये, अन्यथा उनके कट जाने से पराजय समझी जाती है, यथा—"रथ बिभंजि हति केतु पताका। गर्जा अति अंतर बल थाका।" (दो० ९०), वैसे ही धर्म रथ मे भी सत्य और शील मे दृढता चाहिये, अन्यथा इनके खण्डित होने से ससार रूपी शत्रु से हार समझी जायगी। जैसे रथ मे ध्वजा पताका ऊँची रहती है, वैसे ही धर्म मे भी सत्य और शील श्रेष्ठ हैं, यथा—"धर्म न दूसर सत्य समाना।" (अ० दो० ९५), तथा—"धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥ सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः। सत्य मूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥ दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च। वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥" (वाल्मी० २।१०९।१२–१४), अर्थात् लोक मे सत्य मे ही धर्म की स्थिति है, इसीसे सत्य सबका मूल कहाता है॥ सत्य ही ईश्वर है, सज्जनों के द्वारा आश्रित धर्म सत्य में वर्त्तमान है। सब जगत् का मूल सत्य (ईश्वर) ही है, सत्य से बढकर दूसरा श्रेष्ठ पद नहीं है॥ दान, यज्ञ, हवन, तपस्या, वेद, इन सबों का मूल सत्य ही है, अतएव मनुष्य को सत्यपरायण होना चाहिये।

सत्य और शील मुख (वाणी) और नेत्र द्वारा जाने जाते हैं (ये दोनों अंग शरीर में ऊँचे हैं) यथा—"करम वचन मानस विमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।" (अ० दो० ३०४), अर्थात् सत्य-निष्ठ होने से तुम सर्वश्रेष्ठ हो, यथा—"पुन्यसिलोक तात तर तोरे।" (अ० दो० २६२), यह श्रीरामजी ने श्रीभरतजी को कहा है। शील नेत्र द्वारा, यथा—"सुखमा-सुख-सील-अयन नयन निरखि निरखि नील कुंचित कच, कुंडल कल नासिक चित पोहैं।" (गी० उ० ४), इस तरह उच्च-स्थलता की भी समता हुई (जैसे ध्वजा पताका देखकर रथ का अनुमान हो जाता है, वैसे ही सत्यवादी और शीलवान् होना धर्मात्मा का चिह्न है।

यहाँ पहले चक्र कहकर नीचे का भाग कहा गया और फिर शिरोभाग में ध्वजा और पताका कही गई। बीच के भाग धुरी, किंकिणी, घंटी आदि को भी प्रत्याहार की रीति से जना दिया गया। विस्तार-भय से सबको नहीं कहा।

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे ॥६॥

अर्थ—बल, विवेक, दम और पर-हित घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समता रूपी डोरी से रथ में जोड़े गये हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'बल' से यहाँ देह बल अभिप्रेत नहीं, किन्तु प्रसंगानुसार आत्मबल का तात्पर्य है, यथा—"आत्मवान्कोजितक्रोध" (मूलरामायण), धर्म में आत्मबल नहीं होने से वह नहीं चलता, मनुष्य उसे अधूरा ही (किंचित् विघ्न आदि से) छोड़ बैठता है। आत्मबल बुद्धि आदि से परे जीवात्मा को अंतर्यामी से प्राप्त कर्त्तव्य-शक्ति को कहते हैं, यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥" (गीता० ७।२१–२२)। कोई-कोई बल से प्राणायाम रूपी बल का अर्थ करते हैं, यथा—"प्राणायाम परं बलम्।" (भाग० ११।१६।३६)।

'विवेक'—सत् और असत् को जानकर सत् का ग्रहण करना, यथा—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥" (गीता २।१६), अर्थात् असत् वह है जिसकी सदा स्थिति नहीं है और सत् वह है जिसका कभी नाश नहीं हो, जीवात्मा नित्य सत्य होने से यहाँ सत् पदार्थ है और देह अनित्य होने से असत् है। धर्म में विवेक की आवश्यकता इसलिये है कि धर्म का तात्पर्य जीवोत्सर्ग में रहे न कि देह-सुख-वृद्धि में, अर्थात् निष्काम कर्म करे सकाम नहीं। निष्काम कर्म से हृदय शुद्ध होने पर ज्ञानोपासना द्वारा जीव का कल्याण होना है। यही सत्-ग्रहण रूपी विवेक है।

'दम'—बाह्यवृत्ति निग्रह, श्रवण आदि बाह्य इन्द्रियों को विषयों से रोकना इससे धर्म-कार्यों में सकामता नहीं आने पाती। इसीसे धर्म के अंगों में इसकी सराहना की गई, यथा—"दमेन सदृशो धर्मोनान्यो लोकेषु विश्रुतः॥" (भारत शांति पर्व)।

'परहित', यथा—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०)।

यहाँ कोई-कोई—"आपने बय बल रूप गुन गति ..." से भी मिलान करते हैं। पर उनकी संगति लगाने में प्रसंग विस्तार होगा। उसकी इतनी आवश्यकता भी नहीं है।

प्रश्न—कौन घोड़ा किस रस्सी में बँधा हुआ है?

उत्तर—रथ मे दो घोड़े आगे और दो पीछे जोते जाते है। आगे के घोडे दो रस्सियों मे बंधे रहते हैं, उन्हीं से वे दाहिने बायें फेरे जाते हैं और पीछेवाले दोनों घोड़े एक ही रस्सी मे बँधे रहते हैं, क्योंकि ये आगेवालों के अधीन चलते हैं।

यहाँ बल और परहित आगे के घोडे हैं। क्षमा रूपी रस्सी से बल बँधा है और कृपा से परहित; क्योंकि बल क्षमा के अधीन है और परहित कृपा के अधीन है। विवेक और दम पीछे के घोड़े हैं, ये समता-रूपी रस्सी मे बँधे हैं। समता; यथा—"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ॥" (गीता १२।१८); समता से ही विवेक और दम की वृत्ति रहती है। क्षमा, यथा—"क्षमा द्वन्द्व सहिष्णुत्वम्।" (भारत); बल के पीछे विवेक चलता है, क्योंकि आत्म-बल रहता है, तब विवेकवृत्ति भी रहती है और परहित के पीछे दम है; क्योंकि इन्द्रिय दमन से मनुष्य की दया वीरता बनी रहती है। जैसे पीछेवाले घोडों से आगे वालों को भी सहारा रहता है और आगे वालों के अनुसार पीछे वाले चलते हैं; अर्थात् वे अन्योन्य सापेक्ष रहते हैं; वैसे ही ये बल आदि भी उसी तरह अन्योन्य सापेक्ष हैं।

रस्सी स्त्रीलिंग है और बाँधना उसका धर्म है। स्त्री भी बंधन होती है। इसीसे यहाँ बाँधनेवाली अर्थात् पुरुष वाचक बल, विवेक आदि को एकत्र करके धर्म रंग मे निमंत्रित रखनेवाली क्षमा, कृपा और समता, ये तीनों भी स्त्रीलिंग रूप मे ही कही गई हैं।

ईस - भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥७॥

अर्थ—ईश्वर का भजन चतुर सारथी है, वैराग्य ढाल है और संतोष द्विधारा खड्ग है ॥७॥

विशेष—(१) 'जैसे सारथी रथ को रथी के अनुकूल चलाता है, उसे लक्ष्य पर पहुँचाता है और सब काल में उसकी रक्षा करता है। वैसे ही ईश्वर का भजन सभी विघ्नों का नाश करता है यथा—"सकल विघ्न नहिं व्यापहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही ॥" (बा॰ दो॰ ३८); और उसके धर्म को परिणाम तक निबाह देता है। यही रथ का मनोनुकूल चलाना है। ईश-भजन ही बल-विवेक आदि को यथार्थ उद्देश्य मार्ग पर चलाता है। नहीं तो ये घोडे रथी, रथ और अपने को भी विपत्ति मे डाल दें। 'सारथी सुजाना'—जो सारथ्य-कर्म एवं रथी की रक्षा मे प्रवीण हो, जैसे सुमंत्र और मातलि क्रमश श्रीदशरथजी और इन्द्र के सारथी थे। वैसे ईश्वर भजन मे सुजानता यह है कि ईश्वर स्वयं जान-जानकर भक्त को बाधाओं से बचाता है। धर्म का निबाहना अनुकूल चलाना है।

(२) 'बिरति चर्म'—रथ, घोडे, सारथी आदि हुए, फिर भी रथी की रक्षा के लिये रथ पर ढाल तलवार आदि भी रक्खी रहनी चाहिये। जैसे ढाल से देह-रक्षा होती है, वैसे ही वैराग्य से रथी (जीव) की कामादि विघ्नों से रक्षा होती है। अन्यत्र भी कहा है, यथा—"बिरति चर्म असि ज्ञान···" (उ॰ दो॰ १२॰); 'संतोष कृपाना'—संतोष का अर्थ इच्छा से रहित होना है, यथा—"गज धन रथ धन बाजि धन, चिंतामनि धन आन। जब आयो संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥" निकट आये हुए शत्रु पर कृपाण से चोट की जाती है। यहाँ संतोष कृपाण है, जितनी सामग्री अनायास अति निकट प्राप्त है, उसमे ही सतुष्ट रहना चाहिये; यथा—"आठवँ जथा लाभ सतोषा।" (आ॰ दो॰ ३५), जैसे कृपाण दाहिने, बाएँ और सामने, तीनों ओर प्रहार करती है। वैसे ही दाहिनी ओर का शत्रु लोभ है, क्योंकि लेन-देन लोभ का साधन है, वह दाहिने हाथ से होता है। काम बाईं ओर का शत्रु है, क्योंकि काम का बल स्त्री है, वह बायें रहती है, और क्रोध का बल परुष वचन है, वह सामने से कहा जाता है, यथा—"जो क्रोध

कोप भरइ मुख बैना। मन्मुख इतइ गिरा सर पैना॥" (वैराग्यसंदीपनी ४१); संतोष रूपी कृपाण से ये तीनों मारे जाते हैं; यथा—"जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा।" (कि० दो० १५); "बिनु संतोष न काम नसाहीं।" (उ० दो० ८९); "नहिं संतोष तौ पुनि कछु कहहू। जनि रिसि रोकि दुसह दुख सहहू॥" (बा० दो० २७२)।

यहाँ धोखे से प्रहार करनेवाले तीन ओर के शत्रु कहे गये। संसार प्रकट शत्रु है, उससे तो प्रत्यक्ष युद्ध हो ही रहा है। उसपर प्रहार के लिये उपयुक्त आयुध आगे कहते हैं।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥८॥

अर्थ—दान फरसा, बुद्धि प्रचंड शक्ति और श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है॥८॥

विशेष—(१) 'दान परसु'—धर्म के प्रकरण से यहाँ सात्विक दान ही का तात्पर्य है; यथा—"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥" (गीता १७।२०); अर्थात् दान देना ही कर्त्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश (पुण्य स्थल), काल (पर्व आदि) और पात्र (सदाचारी ब्राह्मण एवं साधु आदि) के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार नहीं करनेवालों के लिये दिया जाता है, वह दान सात्विक कहा गया है। जैसे फरसे से शत्रु के अंग एवं वन-पर्वत आदि कटते हैं, वैसे ही दान से भी पाप-रूपी वन-पर्वत कटते हैं; यथा—"पाप पहार प्रगट भइ सोई।" (अ० दो० ३३); "तौ क्यों कटत सुकृत नखते मो पै बिपुल बृन्द अघ बन के।" (वि० ८६); पाप संसार शत्रु का अंग है। पाप से ही सांसारिक नाना क्लेश भोगने पड़ते हैं।

'बुधि सक्ति'-बुद्धि भी यहाँ उक्त प्रसंग से सात्विक ही ली जायगी; यथा—"प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धंमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥" (गीता १८।३०); अर्थात् हे पार्थ! प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को एवं भय और अभय को तथा बंधन और मोक्ष को जो बुद्धि यथार्थ जानती है, वह सात्त्विकी है। ऐसी बुद्धि शक्ति रूपा है। शक्ति की अनी-पैनी होना उत्तम है, वैसे ही बुद्धि भी पैनी (तीक्ष्ण) ही उत्तम होती है; यथा—"जनक जुवति मति पैनी।" (गी० बा० ७१); बुद्धि के देवता ब्रह्मा हैं; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज।" (दो० १५); इसी से ब्रह्मदत्त शक्ति की तरह यह भी अमोघ एवं प्रचंड है; यथा—"सो ब्रह्म दत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही।" (दो० ८२)।

'बर बिग्यान कठिन कोदंडा।'—विज्ञान का स्वरूप उ० दो० ११७ के "तब बिग्यान निरूपिनी बुद्धि..." से "तेजरासि बिग्यानमय" में कहा गया है। वहाँ तीन अवस्थाओं और उनके आधार भूत तीनों गुणों की वृत्तियों से अपनेको पृथक् करना विज्ञान कहा गया है। किंतु उस विज्ञान का विघ्नों से बचना वहीं पर असंभव-सा कहा गया है। वही त्रिगुणातीत अवस्था भक्ति से भी प्राप्त होती है; यथा—"माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (गीता १४।२६); अर्थात् जो पुरुष अव्यभिचारी भक्ति योग के द्वारा मुझको निरंतर भजता है, वह इन तीनों गुणों को भली भाँति लाँघकर ब्रह्म को प्राप्त होने के योग्य बन जाता है। इस प्रकार की भक्ति के द्वारा जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह 'बर बिग्यान' है, क्योंकि इसमें भगवान् विज्ञानी भक्त की विघ्नों से रक्षा करते हैं; यथा—"अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाँचहिं भगति सकल सुख खानी॥" (उ० दो० ११५); भक्ति करने से शुक-सनकादि एवं नारदजी विज्ञानविशारद कहे गये हैं, यथा—"सुक सनकादि भगत

मुनि नारद । जे मुनिबर विज्ञान बिसारद ।।" (बा० दो० १७) ; श्रीशुकदेवजी ने स्वयं कहा है ; यथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ।।" (भाग० ११।५।४१-४२) ; अर्थात् जो सब प्रकार से और सब कर्त्तव्य छोड़कर सर्वशरण्य भगवान् की शरण जाता है, वह देव, ऋषि, आप्त पुरुष और पितृगण का न किंकर ही रह जाता है और न ऋणी ही, परमेश्वर अपने अनन्य भक्तों के उन सब पापों को जो उनसे असावधानी से हो जाते हैं, उनके हृदय में बैठकर नाश कर देते हैं। यही बात श्रीरामजी ने स्वयं भी कहा है ; यथा—"मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी ।" से "करउँ सदा तिन्हकी रखवारी ।" (आ० दो० ४१) तक ।

वर विज्ञान को यहाँ कठिन कोदंड (धनुष) कहा गया है । कोदंड श्रीरामजी का मुख्य आयुध है । इसीसे रावण आदि बड़े-बड़े शत्रु भी मारे गये हैं । यह दूर तक प्रहार करता है । यहाँ भी सम्मुख में महा अजय संसार शत्रु को मारना है । संसार मोह का विलास है, अतएव रावण-रूप है ; यथा—"मोह दसमौलि" वि० ५१) ; अतः, इससे यह भी अवश्य नाश को प्राप्त होगा । जैसे सामान्य कोदंड शत्रु-द्वारा काट दिया जाता है, वैसे ही सामान्य विज्ञान भी ऊपर सविघ्न कहा गया है । जैसे कठिन कोदंड सुदृढ़ होता है । वैसे ही यह वर विज्ञान भी विघ्नों से अकाट्य होता है ; यथा—"सोइ गुन गृह बिज्ञान अखंडित ।··· जाके पद सरोज रति होई ॥" (उ० दो० ४८) ।

अमल अचल मन त्रोन समाना । सम-जम-नियम सिलीमुख नाना ॥९॥

अर्थ—निर्मल अचल मन तर्कश के समान है, शम, यम और नियम अनेक बाण हैं ॥९॥

विशेष—'अमल अचल मन···'— विषय-रूपी मल से रहित मन अमल है ; यथा—"काई बिषय मुकुर मन लागी ।" (बा० दो० ११४) ; "निर्मल मन अहीर निज दासा ।" (उ० दो० ११६); 'अचल'=चंचलता रहित ; यथा—"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।" (गीता ६।१६) ; ऐसा मन तर्कश के समान है । जिस तरह तर्कश में बहुत-से बाण रहते हैं, उसी तरह शुद्ध मन में शम, यम और नियम के ही संकल्प हुआ करते हैं ; जैसे अशुद्ध मन में विषय सम्बन्धी मनोरथ हुआ करते हैं, यथा—"जिमि मन माँह मनोरथ गोई ।" (अ० दो० ३१५); शम का अर्थ संकल्पों का अभाव, अंतःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों का निग्रह । यम ; यथा—"अहिंसा सत्येमस्तेयंब्रह्मचर्यापरिग्रहः" । नियम ; यथा—"शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि-नियमः । शुद्ध मन से ये सब बाण छूटा करते हैं, तब संसार शत्रु सामने खड़ा नहीं रह सकता । यहाँ तर्कश और बाण कहे गये हैं, धनुष उपर्युक्त 'वर विज्ञान' है । अतः , भक्ति मय विज्ञान सहित शुद्ध मन से शम आदि में ही प्रवृत्ति रहे, यही संसार शत्रु से संग्राम करना है ।

कवच अभेद बिप्र - गुरु - पूजा । येहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥१०॥

शब्दार्थ—अभेद (अभेद्य)=जिसके भीतर आयुध न घुस सकें ।

अर्थ—ब्राह्मण और गुरु की पूजा अभेद्य कवच है, इसके समान विजय का दूसरा उपाय नहीं है ॥१०॥

विशेष—'बिप्र-गुरु-पूजा'; यथा—"पुन्य एक जग महँ नहि दूजा । मन क्रम बचन बिप्र-पद-पूजा ॥" (उ० दो० ४४)—यह कवच-रूप है; क्योंकि इससे इसके सब कोई रक्षक रहते हैं; यथा—"सानु-

मूल तेहि पर मुनि देया। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥" (उ० दो० ४४); विष्णु भगवान् ने विप्र-पद चिह्न (भृगुलता) को हृदय में धारण किया, इससे उन्होंने समस्त दैत्यों को जीत लिया। प्रथम विप्र-पद की पूजा कर उनके प्रसाद से निष्काम कर्म द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि रूपी कवच प्राप्त करेगा। उसमें विषय-स्पृहा रूपी वाण न बेधेंगे। फिर गुरु-पद-पूजा से ज्ञानोपासना के द्वारा उसमें अभेदता प्राप्त करेगा। तब उसमें मोह आदि के प्रबल आघात नहीं व्यापेंगे।

'येहिसम विजय उपाय न दूजा।'—विजय के उपाय में दुर्ग, सेना और भौतिक रथ आदि बहुत हैं। पर वे इसके बराबर एक भी नहीं हैं। क्योंकि उन सबके रहते हुए भी पराजय होना देखा जाता है।

सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥११॥

अर्थ—हे सखे! ऐसा धर्ममय रथ जिसके हो, उसके लिये जीतने को कहीं भी शत्रु नहीं हैं॥११॥

विशेष—'धर्ममय अस रथ'—इसमें जो-जो अंग कहे गये, सब धर्म ही हैं। 'जाके'—आशय यह है कि ये सब अंग मुझमें हैं, आगे दिखाये जायेंगे। 'जीतन कहँ न···'—कोई शत्रु रह ही नहीं जाता कि उसे जीतने का प्रयत्न करना पड़े। भाव यह है कि मेरे समक्ष रावण को मरा हुआ ही समझो।

वीरों के रथ में ये सब अंग होते हैं—

(१) दो पहिये। (२) ध्वजा-पताका। (३) घोड़े। (४) घोड़े रस्सी में जुते हुए। (५) सुजान सारथी। (६) ढाल। (७) कृपाण। (८) फरसा। (९) शक्ति। (१०) कोदंड (११) सर्कश। (१२) बाण। (१३) कवच।

वैसे ही क्रमशः धर्म-रथ के भी अंग होते हैं—

(१) शौर्य, धैर्य। (२) सत्य, शील। (३) बल, विवेक, दम, परहित। (४) क्षमा, कृपा, समता। (५) ईश-भजन। (६) वैराग्य। (७) संतोष। (८) दान। (९) बुद्धि। (१०) वर विज्ञान। (११) अमल अचल मन। (१२) शम, यम, नियम। (१३) विप्र-पूजा और गुरु-पूजा।

श्रीरामजी में ये सब अंग हैं—

(१) शौर्य—"जौ नर तात तदपि अति सूरा।" (आ० दो० २९), पुनः स्वभाव विजय रूपी शूरता; यथा—"मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहुँ···" (बा० दो० २३०)।
धैर्य—"जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्य संध दृढ़ व्रत···" (अ० दो० ८१)।
(२) सत्य—"राम सत्य संकल्प प्रभु।" (सुं० दो० ४१)।
शील—"सील सिंधु सुनि गुरु आगमनू।" (अ० दो० २४२)।
(३) बल (आत्मबल)—"जौं मैं राम तो कुल सहित, कहहि दसानन आइ।" (आ० दो० ११); ईश्वर में सब प्रकार के बल स्वाभाविक हैं; यथा—"परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।" (श्वे० ६।८)।
विवेक—"गत क्रोध सदा प्रभु बोध मयं।" (दो० १०४)।
दम—"सब कोउ कहै राम सुठि साधू।" (अ० दो० ३१)।
परहित—"विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (बा० दो० १९२)।

(४) क्षमा—"छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता।" (बा० दो० २८४)।
कृपा—"कृपासिंधु मति धीर, अखिल बिस्व कारन करन।" (बा० दो० २०८)।
समता—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।" (अ० दो० २१८)।
(५) ईस भजन—"पूजि पारथिव नायउ माथा।" (अ० दो० १०२)।
(६) बिरति—"नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान। छूट जानि बन गमन सुनि, उर अनंद अधिकान॥" (अ० दो० ५१)।
(७) संतोष—"तुम्ह परिपूरन काम···" (बा० दो० १३६)।
(८) दान—"जो संपति सिव रावनहि, दीन्हि दिये दस माथ। सो संपदा बिभीषनहि, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (सुं० दो० ४९)।
(९) बुद्धि "राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत···" (सुं० दो० ५५)।
(१०) बर बिज्ञान—"विज्ञान धामावुभौ" (कि० मं०)।
(११) अमल मन—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु···" (उपर्युक्त)।
अचल मन—"हिमिगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि···" (उ० दो० ९१)।
(१२) शम, यम, नियम—"योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं" (मं०)।
श्रीरामजी के वनवास-चर्या में ये सब गुण स्वाभाविक हैं।
(१३) विप्रपूजा—"बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले···" (अ० दो० ७९)।
गुरुपूजा—"गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ महि नायउ माथा॥
···सोरह भाँति पूजि सनमाने॥" (अ० दो० ८)।
'सुनहु सखा कह कृपा निधाना।' उपक्रम है और यहाँ—'सखा धर्ममय···' उपसंहार है।

दोहा—महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर॥
सुनि प्रभु-बचन बिभीषन, हरषि गहे पद-कंज।
येहि मिस मोहि उपदेसेहु, राम - कृपा-सुख-पुंज॥

अर्थ—जिस वीर के पास ऐसा दृढ़ रथ हो वह महा अजेय संसार शत्रु को (भी) जीत सकता है, (तब रावण का जीतना कौन बात है?) हे मति धीर! हे सखे! सुनिये॥ प्रभु के वचन सुन श्रीविभीषणजी ने हर्षित होकर उनके चरण-कमलों को पकड़ लिया और बोले कि हे कृपा और सुख के समूह श्रीरामजी! आपने इस बहाने मुझे (धर्म का) उपदेश किया॥

विशेष—(१) 'महा अजय संसाररिपु···'—रावण तो केवल अजेय है; यथा—"तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीतेउँ अजय निसाचर राऊ॥" (दो० ११०)। अतः, इसका जीतना कोई बड़ी बात नहीं। संसार रूपी शत्रु तो महा अजेय है; क्योंकि यहाँ तो देश के देश सब सेना ही है; यथा—"ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाखंड॥" (उ० दो० ७१), 'सो बीर' अर्थात् जो संसाररूपी शत्रु को जीते, वही वीर है।

(२) 'जाके अस रथ होइ दृढ़'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।' है। दृढ़ का भाव यह कि ऐसा रथ हो भी, परन्तु यदि वह ढीला-ढाला हो तो ऐसे शत्रु के सामने नहीं ठहर सकेगा।

'सुनहु सखा मति धीर'—यह कहकर अधिकारी भी जनाया कि जो मेरे भक्त सखा हैं और बुद्धि के धीर हैं, वे ही इसे धारण कर सकेंगे। इससे भिन्न तो इसे सुनकर भी नहीं धारण कर सकेंगे। उपक्रम में कहा गया था—'देखि बिभीषन भयउ अधीरा।' अब उपदेश सुनने से उनकी वह अधीरता मिट गई, इससे वे 'मति धीर' कहे गये ; यथा—"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गत-संदेह···" (गीता १८। ७१)।

(३) 'सुनि प्रभु-बचन'—प्रभु अर्थात् परम समर्थ हैं। अतः, संग्राम के जय-साधन का इन्हें यथार्थ निश्चय है। इसीसे ऐसा उपदेश देते हैं कि जिससे जीतने को कहीं शत्रु रह ही न जाय। 'बिभीषन हरषि गहे पद कंज'—इनका संदेह निवृत्त हो गया, इससे इन्होंने कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में प्रणाम किया ; यथा—"भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा॥" (आ० दो० १६)—श्रीलक्ष्मणजी। "सुनत सुधा सम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपा धाम के॥" (उ० दो० ४९)—पुरवासी। ऐसे ही बहुत उदाहरण हैं — विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखे गये।

(४) 'येहि मिस'—रावण से विजय की विधि बतलाने के बहाने आपने मुझे उपदेश दिया। संसार से मुक्त होने का उपाय बतलाया। स्वयं कृपा करके सुख दिया, इससे 'कृपा-सुख-पुंज' कहा है। मिस करके उपदेश का यह भी भाव है कि श्रीविभीषणजी पहले कह चुके हैं ; यथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" फिर भी इन्हें रावण-विजय की ही चिंता है। अतः, इन्हें निवृत्ति धर्म में आरूढ़ किया। 'मोहि उपदेसेहु'—उपदेश की सब बातें धर्म के अंग ही हैं ; यथा—"सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमार्जवम्। . ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्मः सनातनः॥" (भारत)। इस गीता में निवृत्ति-लक्षण-धर्म कहा गया है।

'अस रथ'—इस प्रसंग में रथ के अंग के अतिरिक्त ये सब आयुध भी कहे गये हैं। जो रथी के उपयोग के लिये रथ पर रक्खे जाते हैं कि एक आयुध टूट जाय, तो वह दूसरा ले ले। इससे ये सब रथ के अंग ही हैं।

ऐसा ही रथ श्रुतियों में भी कहा गया है—

आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेवतु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन. प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥" (क० १।३।३-४)। अर्थात्—आत्मा को रथी जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी और मन को बागडोर जानो। इन्द्रियाँ को घोड़े और विषयों को मार्ग कहते हैं। विवेकी पुरुष इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं॥ इसके आगे दो श्रुतियों में यह भी कहा गया है कि जिसकी बुद्धि भोरी होती है उसकी इन्द्रियाँ दुष्ट अश्वों की तरह इधर से उधर ले भागती हैं और जिसकी बुद्धि सयानी होती है और सबको वश में रखती है, तब वे इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ों की तरह अनुकूल रहती हैं।

पुनः "यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥" (क० १।३।८-९);

अर्थात् जो विज्ञानवान् होता है, जिसका मन वश में है, जो सदा पवित्र है। वही उस पद को पाता है, जहाँ से फिर जन्म न हो। जिसका सारथी बुद्धि और मन लगाम है, वह मनुष्य भगवान् के परम श्रेष्ठ धाम के, मार्ग के पार तक पहुँचता है।

उत प्रचार दसकंधर, इत अंगद हनुमान।
लरत निसाचर भालु कपि, करि निज निज प्रभु आन ॥७९॥

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना ॥१॥
हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत राम-चरित रन रंगा ॥२॥

अर्थ—उधर से रावण ललकारता था और इधर से श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी ललकारते थे। निशाचर और भालू-वानर अपने अपने स्वामी की दोहाई कर-करके लड़ रहे थे ॥७९॥ ब्रह्मा आदि सब देवता और अनेक सिद्ध मुनि विमानों पर चढ़े हुए आकाश से युद्ध देख रहे थे ॥१॥ (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा! मैं भी उन सबों के साथ था और श्रीरामजी के वीर-रस के चरित देख रहा था ॥२॥

विशेष—(१) 'इत अंगद हनुमान'—श्रीरामजी अभी मोरचे से दूर थे, श्रीविभीषणजी से उक्त गीता-संवाद हो रहा था, इसीसे रावण के समक्ष श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी कहे गये हैं। पूर्व 'भिरे बीर इत रामहि, उत रावनहि बखानि' से प्रसंग छोड़ा था, वहीं से रण-प्रसंग फिर उठाया जाता है। 'उत प्रचार···'; यथा—"तुलसी उत हाँक दसानन देत अचेत भे बीर को धीर धरै। बिरुझो रन मारुत को बिरुदैत, जो कालहु काल सों बूझि परै ॥" (क० लं० ३१)।

(२) 'सुर ब्रह्मादि···'—जब तक मेघनाद का वध नहीं हुआ था, ये देवता लोग प्रत्यक्ष युद्ध देखने नहीं आते थे। अब राम-रावण युद्ध मे सभी आकर देख रहे हैं, क्योंकि पहले डर था कि कहीं रावण मेघनाद को भेजकर सतावे नहीं। अब तो रावण अकेला ही रह गया है। दूसरे राम-रावण युद्ध अप्रतिम है। अतः, देखने की लालसा से सभी आये, यथा—"गंधर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम्। सागरं चाम्बरं प्रख्यमंबरं सागरोपमम् ॥ राम-रावणयोर्युद्धं राम-रावणयोरिव। एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्तद्युद्धं राम-रावणम् ॥" (वाल्मी० ६।१०७।५१–५२)।

(३) 'हमहू उमा रहे तेहि संगा।'—श्रीशिवजी 'उमा' से कहते हैं कि उस समय तुम सती-तन में कैलास पर थीं, मैं तुम्हारा त्याग कर चुका था, इससे मैं अकेले ही वहाँ गया था। यहाँ यह शंका नहीं होनी चाहिये कि श्रीशिवजी तो उस समय ८७ हजार वर्ष की समाधि मे थे, तो युद्ध देखने कैसे आये? क्योंकि देवता लोगों को अनेक रूप धरने की शक्ति होती है। जैसे श्रीहनुमान्‌जी एक रूप से नित्य श्रीरामजी की सेवा मे रहते हैं और अन्य रूपों से सर्वत्र श्रीरामजी की कथा भी सुना करते हैं। इसपर बा० दो० ५६ चौ० २ भी देखिये। अन्य तीन कल्पों का यह भी भाव होगा कि श्रीशिवजी उमा को उस चरित की स्मृति कराते हैं कि तुम्हें भी याद होगा। 'रहे तेहि संगा' ऐसा कहने में श्रीशिवजी गौण हुए और देवता लोगों की प्रधानता है, यह श्रीशिवजी की शिष्टता है, स्वयं कथा कहते हैं, इससे अपना लाघव कहना शोभा है, अन्यथा ये तो सभी देवताओं में प्रधान हैं। अन्यत्र भी ऐसा कहा गया है, यथा—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" (बा० दो० १८४)।

ब्रह्मादि के विषय मे तो कहते हैं—'देखत रन नभ चढ़े बिमाना।' और अपने तई 'देखत राम-चरित रन-रंगा।' कहा है। इसका भाव यह है कि और लोग ऊपरी बातों पर भी ध्यान देते हैं और श्रीशिवजी सर्वत्र केवल राम रूप एव श्रीरामचरित पर ही दृष्टि रखते हैं। वैसे यहाँ भी देखते हैं कि प्रभु रण में कैसा नर-नाट्य कर रहे हैं ? कभी मूर्च्छित हो जाते हैं और कभी क्रोध करते हैं। ऐश्वर्य का छींटा भी नहीं रखते, इत्यादि।

श्रीशिवजी विवाह आदि लीलाओं मे भी देवताओं के साथ थे। वहाँ भी इनकी दृष्टि सबसे निराली ही थी, यथा—"देखि जनकपुर सुर अनुरागे। · निधिहि भयउ आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥" से "राम रूप नख सिख सुभग, बारहिं बार निहारि। पुलक गात लोचन सजल, उमा समेत पुरारि॥" (बा॰ दो॰ ३१५) तक ऐसे ही जब ये बाल-लीला और राज्य लीलाओं मे आये हैं, तब भी इनकी वृत्ति सबसे निराली ही रही है। ये केवल श्रीरामजी के रूप एव लीलाओं मे ही मुग्ध हुए हैं।

श्रीशिवजी रण के देवता भी हैं। अत, देखते हैं कि कैसा रण-रंग है ?

सुभट समर रस दुहु दिसि माते। कपि जयसील राम बल ताते॥३॥
एक एक सन भिरहिं प्रचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥४॥

शब्दार्थ—समर रस = वीर रस, यथा—"रन रस बिटप पुलक मिस फूला। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥" (अ॰ दो॰ २१८–२२१)। माते = मतवाले थे।

अर्थ—दोनों ओर के योद्धा वीर-रस में मतवाले थे, वानरों को श्रीरामजी का बल है, इससे वे जयशाली हैं॥३॥ एक-एक से भिड़ते और ललकारते हैं, और एक-एक (दूसरे) को मर्दन करके पृथिवी पर डाल देते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सुभट समर रस दुहु दिसि माते।'—ऊपर कहा था 'लरत निसाचर भालु कपि ' बीच मे देवताओं की बात कहने लगे, वहीं से फिर प्रसंग उठाते हैं कि दोनों तरफ के वीर रण रस मत्त थे। 'कपि जयसील · ', यथा—"कपि जयसील मारि पुनि डाँटहिं।" (दो॰ ५१), एव—"राम प्रताप प्रबल कपि जूथा।" (दो॰ ४०)।

(२) 'एक एक सन भिरहिं · ', यथा—"भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥" (दो॰ ५१), पुन —"मोड़ दल प्रबल प्रचारि प्रचारी। लरत सुभट नहिं मानहिं हारी॥" (दो॰ ४१)। 'एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं'—अपने शरीर से रगड़ डालते हैं, यथा—"गहि-गहि कपि मर्दइ निज अंगा।" (सुं॰ दो॰ १८)। अथवा, सेना हाथों से मसल देते हैं, यथा—"लागे मर्दइ भुजबल भारी।" (दो॰ ४१)।

मारहि काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥५॥
उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥६॥
निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर ढारि देहिं बहु बालू॥७॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे। देखियत बिपुल काल जनु क्रुद्धे॥८॥

अर्थ—मारते, फाटते, पकड़ते, पछाड़ते हैं और शिर तोडकर उन्हीं शिरों से (औरों को) मारते हैं ॥५॥ पेट फाड़ डालते हैं, भुजाएँ उखाड़ते हैं और योद्धाओं के पैर पकड़ पृथिवी पर पटककर डाल देते हैं ॥६॥ निशाचर योद्धाओं को भालू (एवं वे इनको) पृथिवी में गाड देते हैं और ऊपर से बहुत-सी बालू डाल देते हैं ॥७॥ युद्ध में विरोध भाव में प्राप्त वानर ऐसे देख पड़ते हैं मानो बहुत-से मूर्त्तिमान् क्रोधित काल हों ॥८॥

विशेष—(१) 'मारहिं काटहिं···उदर बिदारहिं···'—पूर्व कहा गया था—"नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं।" (दो० ७१); उसका यहाँ चरितार्थ है। पर्वत, वृक्ष और घूँसों से 'मारहिं', दाँतों से 'काटहिं', भुजाओं से 'धरहिं पछारहिं। सीस तोरि··' और 'भुजा उपारहिं' एवं नखों से 'उदर बिदारहिं'।

'जुद्ध बिरुद्धे'; यथा—"जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर।" (दो० ५२)।

(२) 'महि गाड़हिं'—जीता ही गाड़ देते हैं।

छंद—क्रुद्धे कृतांत समान कपि तनु स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहिं निसाचर कटक भट बलवंत घन जिमि गाजहीं।
मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिं मर्कट-भालु छल-बल करहिं जेहिं खल छीजहीं॥

अर्थ—काल के समान क्रोध को प्राप्त और रक्त बहते हुए शरीरों से वानर शोभित हैं। वे बली वानर-योद्धा बलवान् निशाचर सेना के योद्धाओं का मर्दन करते हैं, और फिर मेघ के समान गरजते हैं॥ चपेटों से मारते हैं, फिर डाँटकर दाँतों से काँटकर लातों से मसलते हैं। वानर-भालू चिघाड़ते हैं और छलबल करते हैं, जिससे दुष्टों का नाश हो॥

विशेष—(१) 'स्रवत सोनित राजहीं'—अन्यत्र रक्त का बहना वीभत्स देख पड़ता है, पर युद्धभूमि में इससे शोभा होती है, यथा—"घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसमित किंसुक के तरु जैसे॥" (दो० ५२)।

(२) 'मर्दहिं निसाचर '—पहले मर्दन करते हैं और जीतने पर गरजते हैं; यथा—"गरजहिं भालु बलीमुख, रिपुदल बल बिचलाइ॥" (दो० ४६)। दो० ४९ भी देखिये। 'चिक्करहिं' गजराज की तरह मत्त होकर चिंघाडते हैं। 'छल बल करहिं'—पहले मेघनाद के प्रसंग में कहा था—"निसिचर छल बल करइ अनीती।" (दो० ५२) वह प्रसंग भी देखिये। पर यहाँ वानर-भालुओं के 'छल बल' को अनीति नहीं कहते हैं, क्योंकि इनके छल को यहाँ बुद्धि का बल कहा गया है और बल को शारीरिक बल माना गया है। बुद्धि का बल भी छल ही कहाता है; यथा—"सो मति मोरि भरत महिमाहीं। कहइ काह छलि छुवत न छाहीं॥" (अ० दो० २८७), बुद्धि का बल यह है कि शत्रु के अस्त्र-शस्त्र की चोट को युक्ति से बचा जाना और प्रशंसा कर उसे भुलावे में डालकर मार देना। ऐसा छल भी वीरों में विहित है; यथा—"बहु छल बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि॥" (कि दो० ८)।

धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रह्लाद-पति जनु बिबिध तनु धरि समरअंगन खेलहीं।
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस ते कर तृन सही॥
दोहा—निज दल बिचलत देखेसि, बीस भुजा दस चाप।
रथ चढ़ि चलेउ दसानन, फिरहु फिरहु करि दाप॥८०॥

शब्दार्थ—अँतावरि = आँतों का समूह, अँतरी। मेलना = डालना। बिचलना = तितर-बितर होना। दाप = गर्व, क्रोध।

अर्थ—पकड़कर गाल फाडते हैं, कलेजा चीरते हैं और उनकी आँतें (निकालकर) अपने गले में डाल लेते हैं। (तब ऐसे देख पडते हैं) मानों प्रह्लाद के स्वामी नृसिंह भगवान् अनेक देह धारण करके रण-आँगन में खेल रहे हैं॥ पकड़ो, मारो, काटो, पछाड़ो—ये भयकर शब्द आकाश और पृथिवी में भर रहे हैं। श्रीरामजी की जय हो कि जो सत्य ही तृण को वज्र और वज्र को तृण कर देते हैं॥ अपने दल को बिचलते हुए देखकर दशानन रावण बीसो भुजाओं में दश धनुप लिये हुए रथ पर चढकर चला और गर्व एव क्रोधपूर्वक बोला, लौटो, लौटो॥८०॥

विशेष—(१) 'धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं'—गाल और उर बिदारते हैं, क्योंकि राक्षसों ने इन्हीं मुखों से *विप्रों और गायों को खाया है और इन्हीं पेटों में रक्खा है।*

(२) प्रह्लाद पति जनु '—नृसिंहजी की उपमा दी, क्योंकि उन्होंने भी हिरण्यकशिपु का हृदय नखों से ही बिदारा था और उसकी अँतडी को पहन लिया था और काल की तरह क्रोध के कारण दुर्भेद्य भी थे। वे ही सब बातें वानरों में भी हैं। नृसिंह एक थे, परन्तु वानर बहुत और रग बिरग के हैं, इसलिये 'बिबिध तनुधरि' कहा गया है। 'खेलहीं'—अर्थात् सहज में ही मार लेते हैं।

(३) 'जय राम जो तृन ते '—रावण मनुष्य और वानर भालुओं को तुच्छ एव अपना आहार समझकर उन्हें तृण के समान मानता था यथा—"नहि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित। तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादय॥" (वाल्मी० ७।१०।१०) अर्थात् हे अमर पूजित ब्रह्मानी! हमें अन्य प्राणियों की कोई चिंता नहीं है। मनुष्य आदि को तो हम तृण के समान समझते हैं इसीसे इसने वरदान माँगते समय इन दो से अभयत्व नहीं माँगा है। वे ही तृणवत् आज वज्रवत् हो रहे हैं, यह प्रभु का प्रताप है। इसीसे वानर लोग एव यह घटना देखकर वक्ता लोग श्रीरामजी की जय-जयकार कर रहे हैं। श्रीशिवजी ने भी कहा है, *यथा*—"*तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई तासु दूत पन कहु किमि टरई॥*" (दो० ३१) का प्रसग भी देखिये।

(४) 'रथ चढ़ि चलेउ दसानन '—क्रोधावेश में दसों मुखों से ललकारा, पहले मेघनाद का वध होने पर सेना के योद्धाओं को सचेत कर चुका है, इसीसे कहता है—'लौटो, लौटो, भागो मत खड़े होकर हमारा सग्राम देखो।' यह ललकार वानरों पर भी लगती है कि जरा हमारी ओर फिरो। यह 'करि दाप' के अर्थ एव आगे के कृत्य से स्पष्ट है।

धायउ परम क्रुद्ध दसकंधर। सन्मुख चले हूह-दै बंदर ॥१॥
गहि कर पादप उपल पहारा। डारेन्हि ता पर एकहि बारा ॥२॥
लागहिं सैल बज्र-तन तासू। खंड खंड होइ फूटहिं आसू ॥३॥
चला न अचल रहा रथ रोपी। रन-दुर्मद रावन अति कोपी ॥४॥

शब्दार्थ—दुर्मद=गर्व से भरा हुआ, वीर रस में चूर। आसू (सं० आशु)=शीघ्र।

अर्थ—दशकंधर परम क्रोधित होकर दौड़ा, वानर हू-हू (आनंदसूचक) शब्द करके उसके सम्मुख लड़ने को चले ॥१॥ वृक्ष, पर्वत और पत्थर ले-लेकर उसपर एक साथ ही डाल दिये ॥२॥ उसके वज्र समान शरीर में पर्वत लगते थे और शीघ्र ही फूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे ॥३॥ रण के गर्व से भरा हुआ अत्यन्त क्रोधी रावण रथ रोककर अचल (जमकर खड़ा) रहा, हटा नहीं ॥४॥

इत उत झपटि दपटि कपि-जोधा। मर्दै लाग भयउ अति क्रोधा ॥५॥
चले पराइ भालु-कपि नाना। त्राहि त्राहि अंगद-हनुमाना ॥६॥
पाहि पाहि रघुबीर गोसाईं। यह खल खाइ काल की नाईं ॥७॥
तेहि देखे कपि सकल पराने। दसहु चाप सायक संधाने ॥८॥

अर्थ—इधर-उधर झपट-दपटकर वह वानर योद्धाओं का मर्दन करने लगा, उसे अत्यन्त क्रोध हुआ ॥५॥ अनेक वानर-भालू भाग चले—हे श्रीअंगदजी ! हे श्रीहनुमान्‌जी ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥६॥ हे रघुवीर ! हे गोसाईं ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये, यह दुष्ट हमको काल की तरह खाता है ॥७॥ उसने देखा कि सब वानर उसे देखकर भाग चले, तब दसों धनुषों पर उसने बाणों का संधान किया ॥८॥

विशेष—(१) 'त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना।' - ऊपर कहा गया कि 'इत अंगद हनुमान' अर्थात् इधर से ये ही दो प्रधान ललकारनेवाले हैं। अत, संकट मे इन्हीं की पुकार की। पुनः प्रथम दिन के युद्ध में इन्हीं दोनों ने इन सबकी पुकार सुनकर दो बार रक्षा की है।

(२) 'पाहि पाहि रघुबीर गोसाईं।'—जब वानर-भालुओं ने श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी के पहुँचने मे विलंब देखा तो उन्हों ने आर्त्त होकर रघुवीर गोसाईं को पुकारा, क्योंकि कुंभकर्ण के युद्ध में श्रीरामजी ने ही रक्षा की है। 'काल की नाईं' अर्थात इसका प्रहार अनिवार्य है।

(३) 'इत उत दपटि झपटि'''—इससे जान पड़ता है कि जब उसने देखा कि वानरों की मार से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, तब रथ से कूद पड़ा और इधर-उधर के वानर योद्धाओं को मारने लगा। इनके भागने पर फिर रथ पर चढ़कर धनुष-बाण चलाने लगा।

छंद—संधानि धनु सर निकर छाड़ेसि उरग जिमि उड़ि लागहीं।
रहे पूरि सर धरनी गगन दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं ॥

भयो अति कोलाहल बिकल कपि-दल भालु बोलहिं आतुरे।
रघुबीर करुनासिंधु आरत-बंधु जन-रच्छक हरे॥

दोहा—निज दल बिकल देखि कटि, कसि निखंग धनु हाथ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, नाइ राम-पद माथ॥८१॥

अर्थ—धनुष पर बाण साधकर उसने बाण-समूह छोड़े। वे साँप की तरह उड़कर जा लगते थे। बाण पृथिवी और आकाश में, दिशाओं और विदिशाओं में आच्छादित हो गये, वानर अब कहाँ भाग कर जायँ?॥ अत्यन्त हल्ला मच गया, व्याकुल होकर वानर-भालू आर्त्त वचन बोल रहे हैं—हे रघुवीर! हे करुणासागर! हे आर्त्त जनों के सहायक! हे अपने भक्तों की रक्षा करनेवाले! हे दुःख हरनेवाले!॥ अपनी सेना को व्याकुल देख, कमर में तर्कश कस और हाथ में धनुष ले श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवा श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित होकर चले॥८१॥

विशेष—(१) वानर-भालू यहाँ कुंभकर्ण के युद्ध से भी अधिक पीड़ित हुए। जैसे कि वहाँ 'महि पटकइ गजराज इव' कहा गया था, यहाँ उस काय को भी रावण ने किया; यथा—'इत उत झपटि दपटि···' और साथ ही बाणों को भी छोड़ा जिससे कहीं भागकर भी नहीं बच सकें; यथा—'दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं।' इसलिये यहाँ पुकार में श्रीरामजी के लिये चार ही विशेषण दिये गये हैं; यथा—"कृपा बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी॥" और यहाँ—'रघुबीर करुनासिंधु···' में पाँच विशेषण हैं। वहाँ कुंभकर्ण को दुकाल सम कहा है; यथा—'यह निसिचर दुकाल सम अहई।' अतएव श्रीरामजी को 'कृपा बारिधर' कहा, क्योंकि वर्षा से दुकाल मिटता है। पुनः जैसे दुकाल में बहुत लोग बच भी जाते हैं, वैसे ही वहाँ इधर-उधर भाग कर वानर-भालू बच भी जाते थे। परन्तु यहाँ रावण को 'काल की नाईं' कहा गया है। जैसे काल किसी को नहीं छोड़ता, वैसे यह भागने पर भी वानरों को नहीं छोड़ता, बाणों से मारता है, दिशाओं में उनकी गति रोक देता है। हाँ, काल से रघुवंशी नहीं डरते; यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा॰ दो॰ २८१) इस कारण रक्षा के लिये श्रीरामजी को 'रघुबीर' मुख्य विशेषण दिया। श्रीरामजी तो काल के भी काल हैं; यथा—"कालहु कर काला" (सुं॰ दो॰ ३८); 'करुनासिंधु' कहा कि जिससे शीघ्र दुःख हरें; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ॰ दो॰ ८७); 'आरतबंधु'—आप आर्त्तों के कुठायँ में सहायक होते हैं; यथा—"होंहि कुठायँ सुबंधु सहाये।" (अ॰ दो॰ ३०५); हमलोग भी कुठायँ में पड़े हैं, रक्षा कीजिये। 'जन रच्छक'—आप अपने आश्रित जनों की सदा रक्षा करते हैं; यथा—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहेसि अधम अभिमानी॥" (कि॰ दो॰ ८); हम-जनों की भी रक्षा कीजिये।

'हरे'—आप अपने भक्तों के क्लेश हरते हैं। मेरा भी क्लेश हरण करें।

(२) 'लछिमन चले क्रुद्ध होइ···'—यद्यपि यहाँ वानरों ने रक्षा के लिये श्रीरामजी की पुकार की है तथापि छोटे भाई का धर्म है कि रण आदि संकट कार्य में वह आगे रहे; यथा—"अवलोकि निज दल बिकल भट त्रिसिरादि खर-दूषन फिरे।" (आ॰ दो॰ ११); इनमें त्रिशिरा छोटा था, वह आगे बढ़ा। और भी; यथा—"कौसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥" (कि॰ दो॰ १); इसमें रण-

प्रसंग-वश श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले कहा गया है। अन्यत्र श्रीलक्ष्मणजी को प्रभु से आज्ञा माँग कर युद्ध में जाना लिखा है; परन्तु यहाँ उन्होंने आज्ञा नहीं माँगी। इससे मालूम होता है कि दोनों भाई वहाँ पर साथ ही थे। केवल ये ही क्रुद्ध हो आगे बढ़कर युद्ध करने लगे; यथा—"लक्ष्मणेन सह भ्राता विष्णुना वासवं यथा।" (वाल्मी० ६।५५। १); इसी से आज्ञा लेना नहीं कहा गया, दूर जाना होता तो आज्ञा माँगना कहा जाता। यह भी हो सकता है कि पहले प्रभु ने मेघनाद से युद्ध करने के लिये आज्ञा दे दी। वह उनके जोड़ का था और यहाँ आज्ञा नहीं मिली, क्योंकि यह श्रीरामजी के जोड़ का है और वानरों ने श्रीरामजी को ही पुकारा भी है। अतः, संभवतः आज्ञा नहीं दें और स्वयं ही युद्ध के लिये चल दें, इसलिये श्रीलक्ष्मणजी विना आज्ञा के ही चल दिये। सेवा विना आज्ञा के भी करना अच्छा ही है; यथा—"सेवक समय न ढीठ ढिठाई।" (अ० दो० २११)।

'क्रुद्ध होइ'—क्रोधित होना कहा गया, परन्तु क्रोधका लक्षण नहीं कहा, क्योंकि पूर्व कह चुके हैं; यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ···छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछु एक लाला॥" (दो० ५१); पुनः यहाँ—"कटि, कसि निषंग धनु हाथ' कहा गया है, हाथ में बाण लेना नहीं कहा गया। और वहाँ—"बान सरासन हाथ" (दो० ५१) कहा गया है। 'निषंग' नहीं कहा गया। अतः, यहाँ का वहाँ और वहाँ का यहाँ मिलाकर अर्थ करना चाहिये। तब दोनों जगह धनुष-बाण और तर्कश लेकर जाना स्पष्ट हो जायगा।

'नाइ राम पद माथ'—यह यात्रा का मंगलाचरण है।

रे खल का मारसि कपि-भालू। मोहि बिलोकु तोर मैं कालू॥१॥
खोजत रहेउँ तोहि सुत-घाती। आजु निपाति जुड़ावउँ छाती॥२॥
अस कहि छाड़ेसि बान प्रचंडा। लछिमन किये सकल सत खंडा॥३॥
कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे॥४॥

अर्थ—(श्रीलक्ष्मणजी रावण के सामने जाकर बोले) अरे दुष्ट! तू वानर-भालुओं को क्या मारता है, मुझे देख, मैं तेरा काल हूँ॥१॥ (रावण ने कहा—) अरे (मेरे) पुत्र (मेघनाद के) घातक! मैं तो तुझे ढूँढ़ता ही था, आज तुझे मारकर छाती ठंढी करूँगा॥२॥ ऐसा कहकर उसने तीक्ष्ण बाण छोड़े, श्रीलक्ष्मणजी ने सबके सौ-सौ टुकड़े कर दिये॥३॥ फिर रावण ने करोड़ों अस्त्र और शस्त्र चलाये, श्रीलक्ष्मणजी ने तिल के समान काटकर उनका निवारण किया॥४॥

विशेष—(१) 'रे खल का···'—श्रीलक्ष्मणजी का क्रुद्ध होकर चलना कहा गया, इसीसे यहाँ उनका परुष वचन कहना भी लिखा गया; यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८); क्रोध बढ़ाने के लिये उसे खल कहा और इससे भी कि जो वानर-भालू दिव्यास्त्र नहीं जानते, उनपर भी तू अस्त्र चलाता है। 'का मारसि कपि भालू' अर्थात् इनका मारना तुझे शोभा नहीं देता।

'तोर मैं कालू'—भाव यह कि तू वानरों का काल है; यथा—"यह खल खाइ काल की नाईं।" और मैं तेरा काल हूँ।

(२) 'खोजत रहेउँ तोहि सुतघाती'—'सुतघाती' और 'जुड़ावउँ छाती' से स्पष्ट है कि रावण को जैसा मेघनाद-वध से दुःख हुआ है, वैसा और किसी के भी वध से नहीं हुआ। इस दुःख से अभी

तक इसकी छाती जल रही है। क्योंकि, इसने और योद्धाओं के मरने की बात भी श्रीरामजी से कही है, पर वहाँ छाती का जलना नहीं कहा गया (दो० ८८ चौ ७-८ देखिये।) तथा—"अवेहि मामद्य निशाचरेन्द्र न वानरास्त्वं प्रतियोद्धुमर्हसि ॥ ‥दिष्ट्यासि मे राघव दृष्टिमार्गं प्राप्तोऽन्तगामी विपरीतबुद्धिः । अस्मिन्क्षणे यास्यसि मृत्युलोकं संसाद्यमानो मम बाणजाले. ॥" (वाल्मी० ५१।१२-१४), अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—रावण ! मैं आ गया, अब वानरों से युद्ध करना तुझे शोभा नहीं देता। रावण ने कहा राघव ! हर्ष की बात है कि आज तुम हमारी दृष्टि के सामने आये हुए हो, तुम्हारा नाश निश्चित है, तुम्हारी बुद्धि उल्टी हो गई। इसी क्षण हमारे बाणों से यमलोक जाओगे।

पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा। स्यंदन भंजि सारथी मारा ॥५॥
सत सत सर मारे दसभाला। गिरि सृंगन्ह जनु प्रविसहिं ब्याला ॥६॥
पुनि सत सर मारा उर माहीं। परेउ धरनि-तल सुधि कछु नाहीं ॥७॥
उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी। छाड़िसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी ॥८॥

शब्दार्थ—सत = (शत); सहस्र आदि शब्द अगणित एवं अपरिमितवाचक हैं।

अर्थ—फिर अपने बाणों का प्रहार (आघात) किया, रथ तोड़कर सारथी को मारा ॥५॥ और उसके दसों शिरों में 'दस-दस बाण मारे' वे ऐसे घुस पड़ते हैं, मानों पर्वत के शिखरों में सर्प प्रवेश कर रहे हों ॥६॥ फिर सौ बाण उसकी छाती में मारे, तब वह पृथिवी पर गिर पड़ा, (उसे) कुछ होश नहीं रह गया ॥७॥ मूर्च्छा से जागने पर वह प्रबल रावण फिर उठा और उसने ब्रह्मा की दी हुई शक्ति चलाई ॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि सत सर मारा उर माहीं।'—पहले शिरों में मारने से रावण मूर्च्छित नहीं हुआ, जब हृदय में बाण मारे गये तब मूर्च्छित हो गया, क्योंकि हृदय में ही उसका जीवनाधार अमृत रहता है; यथा—"नाभिकुंड पियूष बस याके। नाथ जियत रावन बल ताके ॥" (दो० १००)।

'परेउ धरनि-तल'‥—यह श्रीलक्ष्मणजी के बाणों का प्रभाव दिखाया गया और—'उठा प्रबल पुनि ‥' से रावण का साहस दिखाया। यह बड़ी गहरी मूर्च्छा थी, बड़ी कठिनाई से छूटी; यथा—"स सायकार्तो विचचाल राजा कृच्छ्राच्च संज्ञां पुनराससाद ॥" (वाल्मी० ६।५९।१०६)।

(२) 'छाड़िसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी।'—जब उसके प्राणों पर आ बनी तब उसने दैवबल से काम लिया; यथा—"रावन सुत निज मन अनुमाना। सकट भये हरिहि मम प्राना ॥ बीर घातिनी छाड़िसि साँगी।" (दो० ५२)। 'ब्रह्म दीन्हि जो साँगी'; यथा—"जग्राह शक्तिं स्वयमुग्रशक्तिं स्वयंभुदत्तां युधि देवशत्रुः ॥ सतां मधूमानल सन्निकाशां वित्रासिनीं संयति वानराणाम्। चिक्षेप शक्तिं तरसा ज्वलन्तीं सौमित्रये राक्षसराष्ट्रनाथः ॥" (वाल्मी० ६।५९।१०७-१०८), अर्थात् देव शत्रु रावण ने ब्रह्मा की दी हुई उग्रशक्ति उठाई ॥ सधूमअग्नि के समान वह शक्ति जल रही थी। युद्ध में वानरों को भय देनेवाली थी। रावण ने यह प्रज्वलित शक्ति श्रीलक्ष्मणजी पर चलाई ॥

छंद—सो ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही।
परयो बीर बिकल उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही।

ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रज-कनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवन-धनी॥
दोहा—देखि पवनसुत धायउ, बोलत बचन कठोर।
आवत कपिहि हन्यो तेहिं, मुष्टि-प्रहार प्रघोर॥८२॥

शब्दार्थ—महिमा = भारीपन, गुरुता, महत्त्व।

अर्थ—वह ब्रह्मा की दी हुई तीक्ष्ण शक्ति श्रीलक्ष्मणजी की छाती में निश्चय ही जा लगी। वीर श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल होकर गिर पड़े, जिसकी अतुल बल महिमा थी, वह दशमुख रावण अकुलाकर उठाने लगा, पर (श्रीलक्ष्मणजी के) अपरिमित बल की महिमा (गुरुता-भारीपना) बनी रही (उसे न ब्रह्म दत्त शक्ति ही मिटा सकी और न रावण ही)॥ जिनके एक ही शिर पर सब ब्रह्मांडों के लोक रजकण की तरह विराजते हैं, उसे (एक पर्वत के उठानेवाले) मूर्ख रावण ने उठाना चाहा, वह यह नहीं जानता कि ये तीनों लोकों के स्वामी हैं॥ (उठाते) देखकर श्रीहनुमान्जी कठोर वचन बोलते हुए दौड़े। आते ही कपि पर उसने बड़ा भयंकर घूँसे का प्रहार किया॥८२॥

विशेष—(१) 'अतुल बल महिमा रही'—यह दोनों ओर लगाया जा सकता है। रावण श्रीलक्ष्मणजी को उठा ले जाना चाहता है कि जिससे इसनार ओषधि से नहीं जिलाये जा सकें। रावण की महिमा कैलास उठाने से थी, श्रीलक्ष्मणजी को न उठा सकने पर वह नहीं रह गई, पर श्रीलक्ष्मणजी की महिमा बनी रही। 'ब्रह्मांड भुवन...'—रावण ने तो कैलास ही मात्र उठाया है और ये तो शेष रूप से ब्रह्मांड के तीनों लोकों एवं चौदहो भुवनों के उठानेवाले हैं। तब इनका पराभव वह कैसे कर सकता है? मेघनाद के प्रसग मे इन्हें 'जगदाधार' कहा गया था और रावण कैलास उठानेवाला है। अत, यहाँ 'ब्रह्मांड भुवन' कहा है।

वाल्मी० ६।५९।११०–१११ मे रावण के नहीं उठा सकने का कारण यह कहा गया है कि जिन श्रीरामजी को विष्णु भी ठीक-ठीक नहीं जानते, उनके भाग (अंश) अपने (स्वरूप) को श्रीलक्ष्मणजी स्मरण करते थे, इसीसे इन्हें रावण नहीं उठा सका।

'लागी सही'—का भाव यह है कि श्रीलक्ष्मणजी ने उसका बाणों से निवारण करना चाहा, पर वह ठीक-ठीक लग ही गई। जैसे-कि वाल्मी० ६।८९।१०७ मे लिखा है। अथवा, ब्रह्मा के वचन से उसकी अमोघता रखने के लिये इन्होंने उसे सह (मान) लिया। जानकर उसे मान लेना इस तरह से भी सिद्ध होता है कि रावण के उठाने पर ये नहीं उठे और श्रीहनुमान्जी के उठाने के लिये हलके हो गये। 'बिकल उठाव दसमुख'—घबड़ा कर रावण ने बीसों हाथों से उठाया, तब भी नहीं उठे। 'मूढ़ रावन'—एक पर्वत का उठानेवाला ब्रह्मांड धारण करनेवाले का उठाने का प्रयास करे, तो यह उसकी मूर्खता ही है।

(२) 'देखि पवन सुत धायउ ..'—श्रीहनुमान्जी कुछ दूर थे, इसे श्रीलक्ष्मणजी को उठाते देख बड़ी तेजी से दौड़े, इसलिये 'पवन सुत' विशेषण है। कठोर वचन बोलते हुए इसलिये दौड़े कि जिससे रावण का ध्यान इनकी ओर हो जाय और वह श्रीलक्ष्मणजी को और कोई कष्ट नहीं दे सके। श्रीलक्ष्मणजी को मूर्छित देखकर क्रोध हुआ, इससे कठोर वचन बोले। 'बचन कठोर'; यथा—

"देवदानवगन्धर्वैर्यक्षैश्च सह राक्षसैः। अवध्यत्वं त्वया प्राप्तं वानरेभ्यस्तु ते भयम्॥ एष मे दक्षिणोबाहुः पञ्चशाखः समुद्यतः। विधमिष्यति ते देहे भूतात्मानं चिरोषितम्॥" (वा मी॰ ६।५१।५४–५५); अर्थात् तुमने देव, दानव, गंधर्व, यक्ष और राक्षसों से ही अवध्यत्व पाया है, वानरों से तुझे भय है। यह हमारा उठा हुआ दाहिना हाथ पाँच अँगुलियों से युक्त, तेरी देह में चिरकाल से स्थित प्राणों को निकाल देगा।

(३) 'मुष्टि प्रहार प्रघोर'—इसकी करालता आगे दिखाते हैं—

जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिस-भरा॥१॥
मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र-प्रहारा॥२॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी (उसके मुष्टि प्रहार प्रघोर से भी) घुटना टेक कर रह गये, भूमि पर नहीं गिरे, सँभलकर उठे और बहुत क्रोध में भरे हुए॥१॥ उन्होंने उसको एक घूँसा मारा, वह ऐसा गिर पड़ा मानों वज्र की चोट से पर्वत गिरा हो॥२॥

विशेष—'परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने वज्र के समान घूँसा मारा; यथा—"आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना।" (वाल्मी॰ ६।५९।११२) अर्थात् वज्र के समान घूँसा उसकी छाती में मारा। जैसे उसने भी 'मुष्टि प्रहार प्रघोर' से मारा था, वैसे ही इन्होंने भी उसे मारा। पर ये तो सँभल गये और वह भूमि में गिर पड़ा। वाल्मी० ६।५६।११३–११५ में कहा गया है कि श्रीहनुमान्‌जी के घूँसे के लगने पर वह पृथिवी पर गिर पड़ा, काँपने लगा, उसके मुँह, नेत्र और कानों से बहुत रुधिर निकला, वह घूमकर और बेहोश हो रथ पर पड़ गया, तथा—"जो दससीस...सो हनुमान हनी मुठिका गिरि गो गिरिराज ज्यों गाज को मार्‌यो॥" (क॰ लं॰ ३८); 'बहुत रिस भरा'—पहले जब क्रोध हुआ था, तब बहुत कठोर वचन कहे थे, परन्तु जब उसने घूँसा भी मारा, तब बहुत क्रोध हुआ।

मुरुछा गै बहोरि सो जागा। कपि-बल बिपुल सराहन लागा॥३॥
धिग धिग मम पौरुष धिग मोही। जौं तैं जियत उठेसि सुर-द्रोही॥४॥

अर्थ—मूर्च्छा जाने पर वह फिर सचेत हुआ और कपि के बल की बड़ी प्रशंसा करने लगा॥३॥ (श्रीहनुमान्‌जी ने कहा) मेरे पौरुष को धिक्कार है, धिक्कार है और मुझे धिक्कार है, जो तू सुरद्रोही जीता ही उठ गया॥४॥

विशेष—'बहोरि' का भाव यह भी है कि एक बार अभी श्रीलक्ष्मणजी के बाणों से मूर्च्छित होकर सचेत हो चुका है; यथा—"परेउ अवनि तल...उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी।" 'कपि बल बिपुल...'; यथा—"साधु वानर वीर्येण श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः॥ रावणेनैवमुक्तस्तु मारुतिर्वाक्यमब्रवीत्। धिगस्तु मम वीर्यस्य यत्त्वं जीवसि रावण॥" (वाल्मी॰ ६।५९।६१–६६)। शत्रु की सराहना भी एक प्रकार की निन्दा ही है, क्योंकि इससे वह अपने साहस की ही बड़ाई करता है।

अस कहि लछिमन कहँ कपि ल्यायो। देखि दसानन बिसमय पायो॥५॥
कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता। तुम्ह कृतांत-भच्छक सुर-त्राता॥६॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीहनुमान्‌जी श्रीलक्ष्मणजी को (श्रीरामजी के पास) ले आये, दशानन देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुआ ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कहा कि हे भाई! जी में विचारो तो, तुम तो काल के भक्षक और देवताओं के रक्षक हो ॥६॥

विशेष—(१) 'कपि ल्यायो'—रावण से नहीं उठे, पर श्रीहनुमान्‌जी के सौहार्द और उनकी भक्ति से उठ आये। वाल्मी० ६।५६।११७ में ऐसा कहा गया है।

'तुम्ह कृतांत भच्छक'—तुम तो काल के भी भक्षक हो, तो फिर रावण-भक्ष्य कैसे हो रहे हो? भाव यह है कि तुम काल का भी अंत करनेवाले एवं प्रलय करनेवाले हो और स्वयं अनंत अर्थात् अंत रहित हो। ब्रह्मदत्त शक्ति की मर्यादा-रक्षा हो चुकी, अब सचेत हो जाओ पुनः—'कृतांत भच्छक', यथा—"काल ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहुँ समर कि जीतिय सोई॥" (दो० ५४); 'सुरत्राता', यथा—"सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।" (अ० दो० १२१)। अपने इस स्वरूप का स्मरण करो और सचेत होओ। भाव यह है कि विधि-वचन रह गया, यह सुर-रक्षा हुई। अब काल-रूपी शक्ति को भक्षण कर जाओ; अर्थात् इसकी मूर्च्छा को छोड़ दो। अथवा, काल का काल मैं हूँ। तुम मेरे अंश हो, इस अपने स्वरूप का स्मरण करके उठो—यही वाल्मी० ६।५९।११०-१११ में कहा है। ऊपर छंद के अर्थ में लिखा गया है।

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला। गई गगन सो सकति कराला॥७॥
पुनि कोदंड बान गहि धाये। रिपु सन्मुख अति आतुर आये॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के ये वचन सुनकर कृपालु श्रीलक्ष्मणजी उठकर बैठ गये, वह कराल शक्ति आकाश को चली गई ॥७॥ ये फिर धनुष बाण लेकर दौड़े और अति शीघ्र शत्रु के सामने आ पहुँचे ॥८॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन उठि बैठ…'—पहले शक्ति लगी थी, तब उसमें माधुर्य दृष्टि से उपाय किये गये; यथा—"नर गति भगत कृपाल देखाई।" यह उसी प्रसंग में कहा गया है, पूर्व की ओषधि पर्वत मानस में लौटाया जाना नहीं कहा गया, इससे रावण तो यही समझेगा कि उसी ओषधि से ये अच्छे हो गये। इससे वह ब्रह्माजी के वचन को सत्य ही मानेगा कि ये नर ही हैं। अतः, इस बार वैसे नर-नाट्य की आवश्यकता नहीं रह गई। इससे ऐश्वर्य दृष्टि से चैतन्य कर दिया।

(२) यह भी भाव है कि पूर्व में जाते समय प्रणाम करना भूल गये थे, यह वहीं पर कहा गया था, तदनुसार बाधा सहनी पड़ी, इस बार प्रणाम करके गये हुए हैं। इससे तुरत दुःख का नाश हुआ और तुरत जाकर रावण को पराजित कर कीर्त्ति सहित आवेंगे।

छंद—आतुर बहोरि बिभंजि स्यंदन सूत हति ब्याकुल कियो।
गिरयो धरनि दसकंधर बिकलतर बान सत बेध्यो हियो।
सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो।
रघुबीर-बंधु प्रताप-पुंज बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो॥

दोहा—उहाँ दसानन जागि करि, करइ लाग कछु जज्ञ।
राम - बिरोध बिजय चह, सठ हठबस अति अज्ञ ॥८३॥

अर्थ—शीघ्रता से फिर रावण के इस रथ को (भी) तोड़-ताड के सारथी को मारकर, उसे व्याकुल कर दिया। सौ बाणों से रावण का हृदय वेध दिया, जिससे वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ दूसरा सारथी उसे दूसरे रथ में डालकर तुरत लंका ले गया। रघुवीर श्रीरामजी के प्रताप-पुंज भाई ने फिर आकर प्रभु के चरणों में प्रणाम किया ॥ वहाँ (लंका में) रावण चैतन्य होकर कुछ यज्ञ करने लगा। (वक्ताओं का कथन है कि) वह शठ हठवश श्रीरामजी से विरोध करके भी जय चाहता है। अत, अत्यन्त नासमझ है ॥८३॥

विशेष—(१) 'बहोरि निभजि स्यंदन'—क्योंकि पहले एक बार ऐसा कर चुके हैं, यथा—"स्यदन भंजि सारथी मारा।" (दो० ८१), जब तक श्रीहनुमान्जी श्रीलक्ष्मणजी को यहाँ लाये और ये स्वस्थ हो कर फिर गये, इतनी ही देर में रावण दूसरा रथ मँगाकर उसपर सवार हो गया। पूर्व के भय से और भी रथ लाया है, जिसपर फिर मूर्च्छित होने पर उसे दूसरा सारथी उठाकर ले जायगा। आगे कहा भी है, यथा—'सारथी दूसर घालि रथ • '

'आतुर'—शीघ्र ही श्रीलक्ष्मणजी आये और उन्होंने यह सारा कार्य किया कि कहीं रावण अपनी विजय मानकर लौट न जाय। अभी तो वह रण-भूमि में ही था, क्योंकि यह शक्ति दिन में ही लगी थी।

(२) 'गिर्यो धरनि दसकधर'—भाव यह है कि वह दसों शिरों के बल भूमि पर गिर पडा। 'प्रताप पुंज'—क्योंकि इन्हों ने प्रतापी रावण को भी पराजित किया, यथा—"सोइ रावन जग बिदित प्रतापी।" (दो० २४)।

(३) 'बहोरि प्रभु चरननिह नयो'—पहले जब युद्ध के लिये चले थे, तब भी प्रणाम करके ही चले थे, यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ, नाइ राम पद माथ।" और यहाँ विजय करके आये, तब फिर प्रणाम किया—'प्रभु चरननिह नयो'—यह प्रणाम इस युद्ध के उपसहार में है।

(४) 'सारथी दूसर '—यह तुरत इसलिये ले भागा कि कहीं श्रीलक्ष्मणजी का बदला लेने के लिये वानर लोग उसे भी न उठा ले जायँ।

(५) 'कछु यज्ञ'—यह यज्ञ बहुत गुप्त है और वह बडे गोपनीय स्थल में कर भी रहा है, हारकर गया है, इससे यज्ञ करने लगा। अतएव जाना गया कि इससे विजय चाहता है। 'कछु' से यह भी जनाया कि वह बड़ा यज्ञ नहीं है, क्योंकि बड़ा यज्ञ करने का समय नहीं है।

(६) 'राम बिरोध बिजय '—राम विरोधी की कुशल नहीं होती ; यथा—"राम बिरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस ॥' (सु० दो० ५६)। परन्तु यह चाहता है, इसीसे वक्ता लोग इसे—'सठ हठबस अति अज्ञ' ये तीन विशेषण देते हैं, शठ है, इसीसे किसी की बात ही नहीं मानता। *विभीषण, मन्दोदरी और माल्यवान आदि ने सहेतु वचनों से समझाया, परन्तु इसने नहीं माना।* इसका भी कारण 'हठ बस' से जनाया कि इसने जो माया-मृग के द्वारा परीक्षा करके श्रीरामजी को नर निश्चय किया, वही हठ पकड़े हुए हैं, उसके विरुद्ध किसी की बात मानना ही नहीं, यथा—"कत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ उर धरहू॥" (दो० ११)।

'अति अज्ञ'—क्योंकि श्रीरामजी का ईश्वर होना बहुत तरह के प्रमाणों से इसने श्रीअंगद आदि से भी सुना, पर नहीं माना। जब श्रीरामजी के विरुद्ध है तब उन्हीं के अंग-भूत देवताओं के द्वारा यज्ञ करके सुखी कैसे होगा ? यह समझकर भी वक्ता लोग इस कार्य पर इसे 'अति अज्ञ' कहते हैं।

इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई। सपदि जाइ रघुपतिहि सुनाई ॥१॥
नाथ करइ रावन एक जागा। सिद्ध भये नहि मरिहि अभागा ॥२॥

अर्थ—इधर श्रीविभीषणजी ने सब समाचार पाया और शीघ्र जाकर श्रीरघुनाथजी को सुनाया ॥१॥ हे नाथ ! रावण एक यज्ञ कर रहा है, उसके सिद्ध होने पर वह अभागा नहीं मरेगा ॥२॥

विशेष—पूर्व कहा गया कि श्रीविभीषणजी के चारों मंत्री और इनकी स्त्री भी गुप्तचर का काम करते हैं, उनसे इन्हें पता मिला। 'सिद्ध भये नहि मरिहि'—अनुमान से निश्चय किया कि सेना से और प्रभु से भी न मरने के लिये यज्ञ कर रहा है। इसीसे 'अभागा' कहा है, क्योंकि प्रभु के हाथ मरने से भी भव पार होता ; यथा—"प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।" (आ० दो० ११) ; यह पूर्व रावण ही का विचार था , पर भ्रमवश अब वह उसके विरुद्ध कर रहा है।

पठवहु नाथ बेगि भट बंदर। करहिं बिधंस आव दसकंधर ॥३॥
प्रात होत प्रभु सुभट पठाये। हनुमदादि अंगद सब धाये ॥४॥

अर्थ—हे नाथ ! शीघ्र योद्धा वानरों को भेजिये, जो जाकर यज्ञ का विध्वंस करें, जिससे दशकंधर आवे ॥३॥ सवेरा होते ही प्रभु ने वीर योद्धाओं को भेजा, श्रीहनुमान् अंगद आदि (प्रधान) सब सुभट लोग दौड़ पड़े ॥४॥

विशेष—'प्रात होत'—समाचार सुनाते ही सवेरा हो गया। अथवा, यज्ञ होने का अनुमान कुछ दिन चढ़े तक का था। अथवा, रात में राक्षस अति बली होते हैं और इन्हें रावण के घर के भीतर भेजना है, इससे सवेरा होने पर भेजा।

'हनुमदादि अंगद···'—पूर्व मेघनाद के यज्ञ-विध्वंस पर कहा गया था; यथा—"अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत।" (दो० ७४) ; वहाँ आदि में श्रीअंगदजी और अंत में श्रीहनुमान्‌जी कहे गये थे। आदि-अंत के नाम देनेसे पुन. 'आदि' शब्द से वहाँ के बीच में कहे हुए भी सब आ गये।

मेघनाद-प्रसंग में श्रीअंगदजी आदि के नाम आदि दिये गये थे ; यथा—"अंगदादि कपि साथ।" (दो० ५१), "बोले अंगदादि कपि नाना।" (दो० ७१) ; "अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत॥" (दो० ७४) ; "धन्य-धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान।" (दो० ७५) ; इत्यादि चार बार श्रीअंगदजी की प्रधानता कही गई थी, पर वहाँ कार्य करने में श्रीहनुमान्‌जी की प्रधानता चार ही बार कही गई है यथा—"तब लगि लेइ आउ हनुमाना।" (दो० ५२), "कोपि मरुत सुत अंगद धाये।" (दो ७४), उठि "बहोरि मारुति जुब राजा।" (दो० ७४) , "बिनु प्रयास हनुमान उठावा।" (दो० ७५) ; इत्यादि।

वैसे ही यहाँ 'हनुमदादि अगद···' कहकर श्रीहनुमान्‌जी को प्रधान करते हैं, पर कार्य करने में श्रीअंगदजी प्रधान रहेंगे ; यथा—"अस कहि अगद मारेउ लाता।" यह आगे कहा गया है।

यहाँ श्रीअंगदजी को आदि में कहने का भाव दो० ७३ चौ० ६ में लिखा गया, यहाँ श्रीहनुमान्जी को आदि में कहकर प्रधानता देने का कारण यह है कि अभी ही रावण से इनका सामना हुआ था, इनके घूँसे से मूर्च्छित होकर वह विस्मित हो गया था ; यथा—"देखि दसानन बिसमय पायो।"

इस राम-रावण-युद्ध में भी पाँच-पाँच स्थलों पर दोनों को प्रधानता दी गई है, जैसे कि श्रीहनुमान्जी—(१) "देखि पवनसुत धायउ, बोलत बचन कठोर।" (दो० ८२) ; (२) "हनुमदादि अंगद सब धाये।" (दो० ८१) ; (३) "देखा श्रमित बिभीषन भारी। धायउ हनूमान गिरि धारी॥" (दो० ९३) ; (४) "हनुमंत अंगद नील नल···" (दो० ९५); (५) "हनुमदादि मुरुछित करि बंदर।" (दो० ९६)।

श्रीअंगदजी—(१) "उत प्रचार दसकंधर, इत अंगद हनुमान।" (दो० ७१) ; (२) "त्राहि-त्राहि अंगद हनुमाना।" (दो० ८०) ; (३) "अस कहि अंगद मारेउ लाता।" (दो० ८१) ; (४) 'देखि बिकल सुर अंगद धायो।' (दो० ९५) ; (५) "बालि तनय मारुति नल नीला।···" (दो० ९६)।

सर्वत्र युद्ध में दोनों को बराबर सम्मान दिया गया है, क्योंकि सुबेल की झाँकी में प्रभु दोनों को ही शरण सौंप चुके हैं। अतः, महत्व भी दोनों को तुल्य ही दिया गया है।

कौतुक कूदि चढ़े कपि लंका। पैठे रावन-भवन असंका॥५॥
जग्य करत जबहीं सो देखा। सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेखा॥६॥
रन ते निलज भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बक-ध्यान लगावा॥७॥
अस कहि अंगद मारेउ लाता। चितव न सठ स्वारथ मन राता॥८॥

अर्थ—क्रीड़ा पूर्वक कूदकर वानर लोग लंका पर चढ़ गये और रावण के महल में निर्भय घुस गये॥५॥ ज्योंही उसे यज्ञ करते हुए देखा त्योंही सब वानरों को बहुत क्रोध हो आया॥६॥ अरे निर्लज्ज! तू रण-भूमि से भाग कर आया और यहाँ आकर बगले का-सा ध्यान लगाया है॥७॥ ऐसा कहकर श्रीअंगदजी ने लात मारी, पर वह शठ इनकी ओर नहीं देखता, क्योंकि उसका मन स्वार्थ में लगा हुआ था॥८॥

विशेष—(१) 'कूदि चढ़े'—क्योंकि उसने सब ओर से फाटक बंद कर रक्खे थे।

(२) 'भा क्रोध बिसेषा'—क्योंकि वह इनके विरुद्ध में यत्न कर रहा था।

(३) 'बक-ध्यान लगावा'—अपना स्वार्थ साधने के लिये आँखें मूँदे हुए है, कठोर वचन सुनता है, लात भी सहता है, पर आँखें नहीं खोलता। इसीसे उसके ध्यान को बक-ध्यान कहा, क्योंकि उसका अभिप्राय है कि इस यज्ञ को सिद्धकर अजेय हो जाऊँ। यदि वह यज्ञ से उठ पड़े अथवा क्रोध करे, तो यज्ञ निष्फल हो जाय। इसीसे भोले साधु की तरह बैठा है। बगले की तरह इसका उद्देश्य बुरा है, इसी से शठ भी कहा गया है।

पूर्व कहा—'भा क्रोध बिसेषा' यहाँ क्रोध का कार्य रूप परुष वचन भी कहा ; यथा—'रन ते निलज भाजि ...' वानरों का क्रोध मन, वचन और कर्म से प्रकट हुआ। 'भा क्रोध बिसेषा'—मन, 'रन ते निलज...असकहि'—वचन और 'मारेउ लाता' यह कर्म है।

छंद—नहिं चितव जब करि कोप कपि गहि दसन्ह लातन मारहीं।
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं।
तब उठेउ क्रुद्ध कृतांत सम गहि चरन बानर डारई।
येहि बीच कपिन्ह बिधंस कृत मख देखि मन महँ हारई॥

दोहा—जज्ञ बिधंसि कुसल कपि, आये रघुपति पास।
चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ, त्यागि जिवन कै आस॥८४॥

अर्थ—जब उसने आँखें न खोलीं, तब कोप करके उसे दाँतों से काटने और लातों से मारने लगे। उसकी स्त्रियों के बाल पकडकर उनको बाहर निकाल लाये, वे अत्यन्त दीन होकर पुकारने लगीं॥ तब वह क्रोधित काल के समान उठा और वानरों के पैर पकड़ कर पटकने एव यज्ञ स्थल में डालने लगा। इसी बीच में वानरों ने यज्ञ विध्वस कर डाला, यह देखकर वह मन मे हारने लगा॥ यज्ञ विध्वस करके कुशल पूर्वक वानर लोग श्रीरघुनाथजी के पास आये। रावण जीने की आशा छोड़कर क्रोधित होकर चला॥८४॥

विशेष—(१) यहाँ वानरों ने उत्तरोत्तर प्रशस्त तीन उपाय किये। पहले तो श्रीअगदजी ने कठोर वचन कहे और लात मारी। फिर सभी वानरों ने क्रोध पूर्वक उसे लातें मारीं और दाँतों से काटा। जब इसपर भी वह नहीं उठा, तब उसकी मदोदरी आदि स्त्रियों की चोटियाँ पकड़कर घसीटते हुए उसके सामने बाहर निकाल लाये। वे अत्यत दीन होकर पुकारती थीं। यह इस विचार से किया कि कैसा भी निर्लज्ज होगा, तब भी अपने सामने स्त्रियों की दुर्गति नहीं सह सकेगा, अवश्य उठ पड़ेगा। इसी उपाय मे वे लोग सफल भी हुए।

वीर लोग स्त्रियों पर हाथ नहीं चलाते, पर ये लोग क्रोधवश हैं, इससे इन्हों ने उचित-अनुचित का विचार नहीं किया। पुन रावण ने श्रीरामजी की स्त्री का इनके सूने मे अपमान किया। उसका बदला श्रीरामजी के सैनिकों ने उसके सामने लिया, क्योंकि स्वय तो श्रीरामजी पर-स्त्री को छूते तक नहीं।

ऐसे ही और बातों के भी बदले लिये गये हैं, जैसे कि रावण ने चोरी से सीताहरण किया और श्रीरामजी ने भी गुप्त बाण से उसके छत्र मुकुट आदि काट गिराये। उसने सब राजाओं से दड लिये और ऋषियों तक से रुधिर के कर लिये। इस राज दड के बदले में अकेले अस्त्र रहित श्रीअगदजी गये और समाज समेत वह इनकी 'लात' से हार गया, इनका पैर जम गया, मानों इन्हों ने उसका राज्य ले लिया। पुन रावण ने मरुत राजा आदि को यज्ञ करते समय जाकर ललकारा और विजय प्राप्त कर उनका अपमान किया। वैसे यज्ञ करते समय यहाँ इसका भी अपमान किया गया। उसने देव, यक्ष आदि की स्त्रियों को जीता एव उनका अपमान किया, वैसे उसकी स्त्रियों का भी यहाँ अपमान हुआ। जैसे उसने नगर, गाँव, पुर, आदि मे आग लगाई वैसे ही उसकी लका भी जलाई गई।

(१) 'करि कोप'—पहले 'भा क्रोध बिसेषा' कहा गया था। वह लात मारने एव कटुवचन

कहने से कुछ शांत हो गया था, इससे फिर कोप करना कहा गया। 'धरि केस नारि'''—यह कर्म श्रीहनुमान्‌जी ने किया; यथा—"जयति मंदोदरी केस कर्षन नियमान दसकंठ भट मुकुट मानी॥" (वि ११)।

(३) 'तेऽति दीन पुकारहीं'—अत्यन्त दीन होकर पुकार करती हुई अपनी रक्षा चाहती हैं। दीनता से पुकार करती हैं; यथा—"तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ॥" (आ॰ दो॰ २१); अर्थात् ऐसा देखते हुए तो तुझे मर-मिटना चाहता था। अरे तूने श्रीरामजी की स्त्री का अपमान किया, उसी का फल हमलोगों को मिल रहा है; यथा—"भूमिजा-दुःख-संजात रोषांत कृत जातना जंतु कृत जातुधानी।" (वि॰ ११)। इससे भी दीन होकर पुकारती हैं कि वानर लोगों को ही करुणा आ जाय और वे हमें छोड़ दें।

(४) 'जग्य बिधंसि'''—यज्ञ-विध्वंस करके तुरत लौट पड़े, नहीं तो उसके कारण सकुशल आना कठिन होता। 'त्यागि जिवन कै आस'—अभी तक तन से हारता था, जैसे कि श्रीलक्ष्मणजी ने दो बार मृततुल्य कर दिया है, परन्तु मन से नहीं हारा था, अब यज्ञ-नाश होने पर हृदय से भी जीने की आशा छूट गई। पुनः यह भी दिखाया कि अब यह जीने की आशा छोड़कर चला है। अतः, कहीं अधिक पुरुषार्थ कर दिखायेगा। जैसे प्रथम दिन के युद्ध में 'तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा' कहा गया, तब उन राक्षसों ने वानर सेना को व्याकुल कर दिया था।

चलत होहिं अति असुभ भयंकर। बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर॥१॥
भयउ कालबस काहु न माना। कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना॥२॥
चली तमीचर-अनी अपारा। बहु गज रथ पदाति असवारा॥३॥
प्रभु सन्मुख धाये खल कैसे। सलभ-समूह अनल कहँ जैसे॥४॥

अर्थ—चलते समय उसको अत्यन्त भयंकर अशुभ (अपशकुन) होने लगे। उसके शिरों पर उड़कर गृद्ध बैठते हैं॥१॥ वह काल के वश है, किसी (भी अपशकुन) को नहीं मानता, उसने युद्ध के डंके बजाने की आज्ञा दी॥२॥ राक्षसों की अपार सेना चली, उसमें बहुत-से गज, रथ, पैदल और सवार थे॥३॥ वे दुष्ट प्रभु के सामने कैसे दौड़े, जैसे फतिंगों का समूह अग्नि की ओर (जलने को) चले॥४॥

विशेष—(१) 'अति असुभ भयंकर'—पहले जब रावण युद्ध के स्थल में आया था, तब भी अपशकुन हुए थे, पर वे भयंकर मात्र थे; यथा—"असकुन अमित होहिं तेहि काला''''''जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने।" (दो॰ ७७); पर अब 'अति भयंकर' अर्थात् प्राणघातक अपशकुन होते हैं, उनमें से उदाहरण रूप में एक कहते हैं; यथा—'बैठहिं गीध उड़ाइ सिरनि पर।' मानों अभी से मरा हुआ समझकर इसे खाने आते हैं। उड़-उड़कर शिरों पर आ बैठते हैं, दिखाते हैं कि यह अब हमारा भक्ष्य हो चुका। यथा—"ध्वजाग्रे न्यपतद्‌गृध्रो विनेदुश्चाशिवाः शिवाः॥'''रणे निधनशंसीनि रूपाण्येतानि जज्ञिरे॥''' एतानचिन्तयन्घोरानुत्पातान्समवस्थितान्। निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः॥" (वाल्मी॰ ६।९५। ४७-४८), अर्थात् उसकी ध्वजा पर गृद्ध आ गिरते हैं, शृगालियाँ अमंगल शब्द करती हैं।'''रण में उसे मृत्यु सूचक चिह्न दिखलाई दिये।'''परन्तु तो भी वह काल-प्रेरित मोहवश अपने वध के लिये चला।

पहले कहा गया था—'अति गर्व गनै न सगुन असगुन ···' दो बार श्रीलक्ष्मणजी के ही प्रहार से अब गर्व तो चूर्ण हो गया, पुन अभी श्रीरामजी का भय है ही। फिर भी अपशकुनों को नहीं मान रहा है, इसका कारण वक्ता लोग उसका 'कालवश होना, कहते हैं।

(२) 'काहु न माना' अर्थात् किसी को (किसी भी अपशकुनों को) न माना, इसपर कोई कोई 'किसी की न माना' यह अर्थ करते हैं, पर यहाँ किसी के उपदेश करने का प्रसंग नहीं है, सभी उपदेश-प्रसंग पहले ही हो गये।

'जुद्ध निसाना', यथा—"भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥" (दो॰ ७७); इत्यादि पहले युद्ध की तरह यहाँ भी बाजे बजे।

(३) 'बहु गज रथ···' अर्थात् चतुरंगिनी सेना चली; यथा—"चलेउ निसाचर कटक अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा॥" (दो॰ ७७); यह पूर्व के युद्ध की सेना थी। अब कटकर कुछ कम हो गई, इसीसे 'बहुधारा' शब्द नहीं है। शेष कटक के विशेषण वे ही हैं।

(४) 'सलभ-समूह अनल कहँ जैसे।'—फतिंगे रागवश अग्नि मे पड़ते हैं, ये द्वेषवश जा रहे हैं। फतिंगे साथियों को गिरते और जलते एवं मरते देखकर भी जा गिरते हैं, वैसे ये लोग बहुत वीर राक्षसों का मरना देख भी चुके हैं, फिर भी मरने जा रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजटायुजी के वचन यहाँ चरितार्थ हुए, यथा—"होहि कि राम सरानल, खल कुल सहित पतंग॥" (सु॰ दो॰ ५६)—लक्ष्मण-वचन। "राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥" (आ॰ दो॰ २८)—जटायु-वचन। 'सलभ समूह' के अनुरोध से दीपक नहीं कहा, क्योंकि वह बहुत फतिंगों के एक साथ गिरने से बुझ जाता है। अग्नि तो इनसे बुझती नहीं, किंतु और बढ़ती ही जाती है।

इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुनबिपति हमहिं येहि दीन्ही॥५॥
अब जनि राम खेलावहु एही। अतिसय दुखित होति बैदेही॥६॥
देव-वचन सुनि प्रभु मुसुकाना। उठि रघुबीर सुधारे बाना॥७॥
जटा-जूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहि सुमन बीच बिच गाथे॥८॥

अर्थ—इधर देवताओं ने स्तुति की—हे श्रीरामजी! इसने हमलोगों को अत्यन्त असह्य दुःख दिया है॥५॥ अब आप इसे न खेलाइये, श्रीवैदेहीजी अत्यन्त दुखी हो रही हैं॥६॥ देवताओं के वचन सुनकर प्रभु मुस्कराये, फिर श्रीरघुवीर ने उठकर बाण सुधारे॥७॥ शिर पर जटाओं की जूडा को दृढ़कर (कस के) बाँधा। बीच बीच मे गुँथे हुए फूल (जटा मे) शोभित हो रहे हैं॥८॥

विशेष—(१) 'इहाँ' का भाव यह है जिस समय वहाँ रावण की सेना सहित तैयारी हुई उसी समय इधर देवताओं ने भी आकर प्रार्थना की। पहले तो इन लोगों ने अपना दुःख सुनाया, फिर सोचा कि हम सभी स्वार्थ-रत हैं। अत, हमारे दुःख पर प्रभु शीघ्र ध्यान नहीं देंगे। इसीसे श्रीवैदेहीजी की विपत्ति कही कि जिससे भक्त के दुःख सुनकर आप शीघ्र रावण को मारने की तैयारी करें; यथा—"सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥" (ब॰ दो॰ ११४)। पहले भी प्रभु ने श्रीहनुमान्जी से श्रीसीताजी का ही दुःख सुनकर लका को शीघ्र प्रस्थान किया था, इसे देवता लोग जानते हैं। 'वैदेही' अर्थात् वे विदेह दशा को प्राप्त हैं, उन्हें इतना अधिक दुःख है।

(२) 'खेलावहु' के सम्बन्ध से 'राम' कहा गया है। भाव यह है कि अब क्रीड़ा नहीं कीजिये, किन्तु शीघ्र मारिये।

(३) 'प्रभु मुसकाना'—प्रभु ने हँसकर अपनी कृपा सूचित की ; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा॰ दो॰ १६७)। हँसने का हेतु यह भी है कि देवता लोग स्वार्थसाधन के लिये चतुरता से श्रीसीताजी का दुःख सुनाते हैं। इन्हें उस समय दया नहीं आई थी, जब इन्होंने ग्रीष्म ऋतु में श्रीजानकीजी से घोर वन-यात्रा कराई थी।

(४) 'मुसुकाना' के प्रति 'प्रभु' कहा कि ये सहज ही सब करने में समर्थ हैं और बाण सुधारने के भाव में 'रघुवीर' कहा, क्योंकि यह वीरता का कार्य है।

(५) 'जटाजूट दृढ़···'—ऐसा ही खर-दूषण-युद्ध में भी कहा गया है ; यथा—"सिर जट जूट बाँधत सोह क्यों।" (आ॰ दो॰ १८)। अन्यत्र ऐसा छवि-वर्णन भी नहीं है। इससे दोनों की समता दिखाई गई ; यथा—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" (आ॰ दो॰ २२)। 'सोहहिं सुमन···'—युद्ध में वीर लोग रँगे वस्त्र और कलँगी धारण करते हैं, श्रीरामजी वनवास में हैं, इससे उन वस्तुओं की जगह जटाओं में पुष्प ही धारण किये हुए हैं।

अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा॥९॥
कटि तट परिकर कस्यो निखंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा॥१०॥

छंद—सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो।
भुज-दंड पीन मनोहरायत उर धरा-सुर-पद लस्यो।
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे॥

अर्थ—लाल नेत्र और श्याम मेघ की तरह साँवला शरीर सब लोक (वासियों) के नेत्रों को आनंद देनेवाले हैं॥९॥ कमर में कटिबंधन से तर्कश कसा हुआ है, हाथ में कठिन सारंग धनुष है॥१०॥ सुन्दर हाथ में सुन्दर धनुष है, बाणों की खान (अक्षय) तर्कश कमर में कसे हुए हैं। भुज-दंड पुष्ट और सुंदर है, चौड़ी छाती पर ब्राह्मण (भृगुजी) का चरण शोभित है॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ज्योंही प्रभु हाथों में धनुष-बाण फिराने लगे त्योंही ब्रह्मांड, दिशाओं के हाथी, कच्छप, शेष, पृथिवी, समुद्र और पर्वत सभी डगमगाने लगे॥

विशेष—(१) 'अरुन नयन'—यों तो आपके नेत्र सर्वदा ही कुछ-कुछ ललाई लिये हुए रहते हैं, इसीसे आप राजीवलोचन कहाते हैं ; परन्तु आज अभी देवताओं ने अपना दुःख सुनाया है, इससे रावण पर रोष के कारण नेत्रों में कुछ अधिक लालिमा आ गई है, यथा—"छतज नयन···" (दो॰ ५१) ; "नयन रिस राते" (बा॰ दो॰ २६७)।

'अखिल लोक लोचनाभिरामा।'; यथा—"करहु सफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ।··· चले लोक लोचन सुख दाता॥" (बा० दो० २१८)। प्रतिकूल पक्ष की शूर्पणखा और खर-दूषण भी इनका रूप देखकर मोहित हुए थे तो अनुकूलों की क्या बात।

(२) 'उर धरासुर पद लस्यो'—युद्ध के समय में इसके वर्णन का अभिप्राय यह है कि विप्र-चरण-भक्ति परम धर्म है; यथा -"धर्म एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र-पद-पूजा॥" (उ० दो० ४४); और धर्म ही से जय होती है, यथा—"सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥" (दो० ७८), इसीसे आगे रथ पर चढ़ते समय भी यही कहा गया है; यथा—"विप्र चरन पंकज सिर नावा।" (दो० ८८)। 'डगमगे'—इन सबका डगमगाना भय से है; यथा—"लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ सकल लोक सब भूप डेराने।" (बा० दो० २५३)। प्रभु ने देवताओं को धैर्य देने के लिये यह लीला की। ब्रह्मांड आदि काँप उठे कि न जाने अब क्या अनर्थ हो ? इससे देवता समझ गये कि अब रावण नहीं बच सकता।

दोहा—सोभा देखि हरषि सुर, बरषहिं सुमन अपार।
जय जय जय करुनानिधि, छबि बल गुन आगार॥८५॥

येही बीच निसाचर-अनी। कसमसात आई अति घनी॥१॥
देखि चले सन्मुख कपि भट्टा। प्रलय-काल के जनु घन-घट्टा॥२॥

अर्थ—शोभा देखकर देवता-गण प्रसन्न हो फूलों की अपार वर्षा करने लगे और—'हे छवि, बल और गुण के धाम करुणासागर! आपकी जय हो, जय हो, जय हो'—इस तरह जय-जयकार करने लगे॥८५॥ इसी बीच में बहुत घनी राक्षस सेना कस-मसाती हुई आई॥१॥ उसे देखकर वानर योद्धा सामने चले, (ऐसे उमड़ते हुए चले) मानों प्रलय काल के मेघों की घटा हो॥२॥

विशेष—(१) 'करुनानिधि' देवताओं की विनय सुनकर और उनपर करुणा करके प्रभु ने बाणआदि सुधारे, इसी पर इन्हें 'करुनानिधि' कहा है। "अरुन नयन·· अखिल लोक लोचनाभिरामा॥" की छटा पर 'छवि आगार' और इनके धनुष फेरने मात्र से ब्रह्मांड आदि काँप उठे, इसपर 'बल आगार' एवं युद्धोपयोगी गुणों से पूर्ण देखकर इन्हें 'गुन आगार' कहा है।

(२) 'कसमसात आई·· '—ऊपर कहा गया था; यथा—"चली तमीचर अनी अपारा" उसका स्वरूप यहाँ दिखाया कि वे इतने घने हैं कि एक दूसरे में रगड़ खाते हुए चल रहे हैं। वहीं से प्रसंग भी लिया है।

(३) 'प्रलय-काल के जनु घन-घट्टा'—गरजते-उमड़ते हुए चले, प्रलय की वर्षा की तरह गिरि-तरु-प्रहार-रूपी वर्षा करेंगे, कहा ही है; यथा—"बर्षा घोर निसाचर रारी।" (बा० दो० ४१)। आगे वर्षा का विस्तृत रूपक कहते हैं—

बहु कृपान तरवार चमंकहिं। जनु दहँ दिसि दामिनी दमंकहिं॥३॥
गज रथ तुरग-चिकार कठोरा। गर्जहिं मनहुँ बलाहक घोरा॥४॥

कपि लंगूर विपुल नभ छाये। मनहुँ इंद्रधनु उये सुहाये ॥५॥
उठइ धूरि मानहुँ जलधारा। बान बूँद भै बृष्टि अपारा ॥६॥

अर्थ—बहुत-से कृपाण (द्विधारा खड्ग) और तलवारें चमक रही हैं, मानों दसों दिशाओं में बिजली चमचमा रही हो ॥३॥ हाथियों, रथों और घोड़ों के कठोर चीत्कार ऐसे जान पड़ते हैं कि मानों घोर मेघ भारी गर्जन कर रहे हैं ॥४॥ वानरों की बहुत-सी पूँछें आकाश में छाई हुई हैं, मानों सुन्दर इन्द्र धनुष उदय हुआ है ॥५॥ ऐसी धूल उठ रही है, मानों जल की धारा हो। बाण-रूपी बूँदों की अपार वृष्टि हुई ॥६॥

विशेष—(१) 'जनु दहँ दिसि दामिनी दमकहिं।'—सीधी तलवारें टेढी हो-होकर चमकती हैं, इसीसे वे बिजली-चमकने के समान जान पडती हैं। तलवारें ऊपर को उठती हैं, तो आकाश में चमकती हैं और हाथ से गिरने पर नीचे की ओर आकर चमकती हैं, तो वह नीचे की चमक हुई, इस तरह दसों दिशाएँ हुईं।

(२) 'मनहुँ इंद्रधनु उये सुहाये।'—इन्द्रधनुष मे सात रग होते हैं—हरा, नारंगी, लाल, पीला, भूरा, नीला और बन शफई। वैसे ही वानर भी रग बिरंग के हैं और ये धनुपाकार पूँछें उठाये हुए हैं।

(३) 'उठइ धूरि मानहुँ ···'—धूल के कण जो निरंतर गिरते हैं, वे सघन और कोमल हैं, वे जल की बरसती हुई धारा की तरह जान पड़ते हैं और बाणों की वृष्टि उस वृष्टि के समान छेदनेवाली है।

दुहुँ दिसि पर्बत करहिं प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिं बारा ॥७॥
रघुपति कोपि बान झरि लाई। घायल भै निसिचर-समुदाई ॥८॥
लागत बान बीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं ॥९॥
स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी ॥१०॥

अर्थ—दोनों ओर से पर्वतों का प्रहार किया जा रहा है, मानों बार-बार वज्रपात हो रहा हो ॥७॥ श्रीरघुनाथजी ने कोप करके बाणों की झड़ी लगा दी, जिससे राक्षस समूह घायल हो गये ॥८॥ बाणों के लगने से वीर चिंघाडते हैं, चक्कर खा-खाकर मूर्च्छित होकर जहाँ-तहाँ पृथिवी पर गिरते हैं ॥९॥ (वे ऐसे दिखते हैं) मानों पर्वत के भारी झरनों से पानी गिर रहा हो। रुधिर की नदी (बह चली, वह) कादरों को भय भीत करनेवाली है ॥१०॥

विशेष—(१) 'दुहुँ दिसि पर्बत ···'—यह सेना-सेना का युद्ध है। 'रघुपति कोपि ···'—यह श्रीरामजी का निशाचर सेना पर कोप है। वाल्मीकिजी ने लिखा है कि जब उभय सेनाओं के युद्ध में राक्षसों की प्रबलता पर वानर श्रीरामजी की शरण में गये तब उन्होंने कोप करके राक्षसों पर बाण-वृष्टि की है, यथा—"ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान्। प्रविश्य राक्षसं सैन्य शर वर्षं ववर्ष च ॥··· छिन्न भिन्नं शरैर्दग्धं प्रभग्नं शस्त्रपीडितम्। बलं रामेण ददृशुर्न राम शीघ्रकारिणम् ॥" (वाल्मी॰ ३।९३।१०–२१), अर्थात् महा तेजस्वी, वीर श्रीरामजी धनुष लेकर राक्षस-सेना पर बाणवृष्टि करने लगे। श्रीरामजी के बाणों से निशाचर सेना छिन्न भिन्न हो गई, जल गई, टुकड़े-टुकड़े हो गई। शस्त्र से पीडित सेना ऐसी देख पड़ती है, पर श्रीरामजी को कोई नहीं देख पाता, वे ऐसे शीघ्र कार्य करते हैं। वही युद्ध यहाँ सूचित किया है। बाणों की झड़ी वर्षा की झड़ी है।

(२) 'घुर्मि घुर्मि'—मानो वर्षा से वृक्ष टूट-टूटकर गिरते हैं।

(३) 'सबहिं सैल जनु···'—यहाँ राक्षसगण पर्वत हैं, बाण-कृत घाव झरने हैं, उनसे रुधिर की धारा निकलना पानी गिरना है। वीरों के चीत्कार जो वे बाण लगने पर करते हैं, झरने के शब्द हैं। सबकी रुधिर-धारा जो पृथिवी में मिलकर बह चली, वह नदी है।

छंद—कादर भयंकर रुधिर - सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त बहति भयावनी।
जल-जंतु गज-पदचर तुरग खर बिबिध बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥

दोहा—बीर परहिं जनु तीर तरु, मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखि डरहिं तहँ, सुभटन्ह के मन चेन॥८६॥

अर्थ—डरपोकों के लिये भय पैदा करनेवाली परम अपवित्र रक्त की नदी बह चली। दोनों दल इस नदी के दोनों किनारे हैं, रथ रेत हैं, पहिये भँवर हैं, यह नदी बड़ी भयावनी बह रही है॥ हाथी, पैदल, घोड़े, गधे आदि भाँति-भाँति की सवारियाँ हैं, जिनको कौन गिन सकता है? वे ही अनेक जलचर जीव हैं। बाण, शक्ति और तोमर सर्प हैं, धनुष तरंगें हैं, ढालें कछुओं के समूह हैं॥ वीर पृथिवी पर गिर रहे हैं, मानों किनारे के वृक्ष ढह रहे हैं, बहुत-सी चर्बी बह रही है, वही मानों फेन है, कादर मनुष्य देखकर इससे डरते हैं और उत्तम योद्धाओं के मन में सुख होता है॥८६॥

विशेष—(१) 'रुधिर-सरिता चली परम अपावनी।'—पूर्व बाण वर्षा से नदी का बहना कहा गया। अतः, यह नदी भी वर्षा की नदी की ही तरह हुई। वर्षा की नदी अपावनी समझी जाती है, यह तो रुधिर की नदी है, अतएव परम अपावनी है। वर्षा की नदी समुद्र के लिये चलती है और यह भी यम-सागर से सगम के लिये चली है; यथा—"शोणितौघमहातोयां यमसागरगामिनीम्॥" (वाल्मी० ६।५८।२१) जैसे चक्र (पहिये) मंडलाकार होते हैं, वैसे ही आवर्त्त भी बार-बार चक्कर लेते हैं। 'सर सक्ति तोमर सर्प'; यथा—"राम मारगन गन चले, लहलहात जनु ब्याल।" (दो० १०), बाण सर्पवत् बूड़ते उतराते चलते हैं 'चाप तरंग'—इनमें टेढ़ाई की समता है। 'चर्म कमठ' में आकार की समता है।

(२) 'बिबिध बाहन को गने', यथा—"वायु वेगवान् रथों की दस हजार सेना, शीघ्रगामी हाथियों की अठारह हजार सेना, चौदह हजार घोड़े और घुड़सवार और पूरे दो सौ हजार पैदल राक्षसी सेना को एक श्रीरामजी ने दिन के आठवें भाग में अग्नि के समान बाणों से मारा।" (वाल्मी० ६।९३।३०-३१)।

(३) 'बीर परहिं जनु···'—सुभटों को आनंद होता है कि वीर गति से मरने पर भी परलोक बनेगा और जीतेंगे, तो ऐश्वर्य प्राप्त होगा, यश होगा। इस नदी में सामान्य वीरों का काम नहीं है कि इसे पार कर सकें; यथा—"लोथिन सों लोहू के प्रवाह चले जहाँ तहाँ, मानहुँ गिरिन गेरु झरना झरत हैं। सोनित सरित घोर कुंजर करारे भारे, कूल ते समूल बाजि-बिटप परत हैं॥ सुभट सरीर नीर चारी भारी भारी तहाँ, सूरनि उछाह कूर कादर डरत हैं। फेकरि फेकरि फेरु फारि फारि पेट खात, काक कंक बालक

कोलाहल करत है ॥" (क० लं० ४६), वाल्मी० ६।५८ से यह पूरा रूपक बहुत अंशों में मिलता है। यहाँ प्रहस्त के युद्ध का प्रकरण है।

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला ॥१॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं ॥२॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई ॥३॥
कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्द्धजल परे ॥४॥

शब्दार्थ—झोटिंग = झोंटेवाला, जोटिंग सञ्ज्ञक श्रीशिवजी के गण। सौंघाई = सस्ती, यह समर्घता का प्राकृत रूप है। अर्द्धजल = आधा शरीर जल में रहना।

अर्थ—भूत, पिशाच, वैताल, महा कराल झोंटेवाले जोटिंग और प्रमथ आदि शिवगण इस नदी में स्नान करते हैं ॥१॥ कौए और चीलें भुजाएँ लेकर उड़ते हैं, एक से छीन दूसरा लेकर खाता है ॥२॥ एक कहता है—अरे शठो! ऐसी भी सस्ती में तुम्हारी दरिद्रता नहीं जाती? (कंगाली बनी ही है।) ॥३॥ तट पर गिरे हुए घायल योद्धा कराह रहे हैं, मानों जहाँ-तहाँ अर्द्धजल में पड़े हुए हैं ॥४॥

विशेष—(१) भूत, पिशाच, वैताल और प्रमथ ये सब प्रेतों के भेद हैं। इनमें वैताल अधिक जबरदस्त होते हैं। इन भूतों की करालता श्रीशिवजी की बरात वर्णन में देखिये बा० दो० ६२-६५ में विस्तार से कहा गया है।

(२) 'मनहुँ अर्द्धजल परे'—प्राण कण्ठगत होने पर लोगों को गंगा आदि पुण्य नदियों में लोग आधा शरीर जल में और आधा स्थल में कर देते हैं कि उसकी सद्गति हो। वही रूपक यहाँ है।

खैंचहिं गीध आँत तट भये। जनु बंसी खेलत चित दये ॥५॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं ॥६॥
जोगिन भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ॥७॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं ॥८॥

शब्दार्थ—नावरि = नाव-क्रीड़ा, नाव को धारा में ले जाकर चक्कर देते हैं। बंसी = मछली फँसाने की बाँस की लकड़ी और डोरी का औज़ार। संचना (संचयन) = एकत्र करना।

अर्थ—गृद्ध आँतें खींचते हैं मानों (मछली के शिकारी) नदी तट पर से चित्त लगाये हुए बंसी खेल रहे हैं ॥५॥ बहुत-से भट बह रहे हैं और पक्षी उनपर चढ़े चले जा रहे हैं, मानों नदी में नावरि खेल रहे हैं ॥६॥ जोगिनियाँ अपने-अपने खप्परों में रुधिर जमा कर रही हैं, भूतों और पिशाचों की स्त्रियाँ आकाश में नाच रही हैं ॥७॥ चामुंडाएँ योद्धाओं की खोपड़ियों का करताल बजाती हैं और नाना प्रकार से गाती हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'जनु बंसी खेलत'—गृद्ध बहते हुए निशाचरों की आँतें खींच रहे हैं, एक सिरा पकड़े हुए हैं, दूसरी ओर आँत का लोथड़ा मछली है। धारा में आगे आगे बढ़ती हैं, तब ये उन्हें अपनी

ओर खींचते हैं। इस तरह बार-बार खींचना और छोड़ देना खेलना है। 'चित दये'--कि मछली निकल न जाय, उसी प्रकार ये आँतों को नहीं जाने देते।

(२) 'जनु नावरि खेलहिं'—शव पर पक्षी बैठे हुए नोचते-खाते बहे जाते हैं; नोचने में एवं बहाव में कहीं-कहीं शव चक्कर खा जाते हैं, यही उनका नावरि खेलना है। योगिनियों का कौतुक क० लं० ५० में देखने योग्य है।

(३) 'करताल बजावहिं'—योगिनियाँ एक खोपड़ी एक हाथ में और दूसरी दूसरे हाथ में लेकर बजाती है और उसी से ताल देती है, जैसे करताल बजाया जाता है।

'चामुंडा'- चंड-मुंड को पकड़ लाने के कारण जिनका चामुंडा नाम पड़ा, उन मुख्या कालीजी का वर्णन यहाँ नहीं है; किंतु ये योगिनी, चामुंडा, आदि उन भगवती महामाया की सेना में छप्पन करोड़ की संख्या में रहती हैं, जैसे श्रीशिवजी की सेना में उनके गण। बहुवचन वर्णन से यहाँ उन्हीं को कहा गया है।

(४) 'खप्पर संचहिं'—इसलिये कि रात में फिर पियेंगी।

'भूत पिसाच बधू'—ये चुड़ैलें हैं, हर्ष से नाच रही हैं।

जंबुक-निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं ॥९॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं ॥१०॥

छंद—बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं।
खप्परन्हि खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं।
बानर निसाचर निकर मर्दहिं राम-बल दर्पित भये।
संग्राम अंगन सुभट सोवहिं राम-सर-निकरन्हि हये ॥

दोहा—रावन हृदय बिचारा, भा निसिचर संहार।
मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार ॥८७॥

शब्दार्थ—जंबुक = गीदड़, शृगाल। कटक्कट = दाँतों की रगड़ का शब्द। कट्टहिं = काटते हैं। हुआहिं = हुआँ हुआँ शब्द करते हैं। अलुझना = फँसना।

अर्थ—गीदड़ समूह कटकट शब्द करते हुए (शव को) काटते, खाते, हुआँते, अघाते और परस्पर एक-दूसरे को डाँटते हैं ॥९॥ करोड़ों धड़ बिना शिर के फिर रहे हैं, शिर पृथिवी पर पड़े जय-जय बोल रहे हैं ॥१०॥ मुंड जय जय बोलते हैं, बिना शिर के धड़ बड़े वेग से दौड़ते हैं। खोपड़ियों में पक्षी उलझ-उलझ कर आपस में जूझते (युद्ध करते) हैं (कि हम ही सब खायेंगे, दूसरे को इसमें नहीं खाने देंगे)। सुभट भटों को गिरा देते हैं॥ वानर श्रीरामजी के बल से दर्पित (गर्वित) होकर राक्षस समूह को मर्दित

करते हैं। श्रीरामजी के बाण समूह से मारे जाकर समूह-श्रेष्ठ योद्धा संग्राम रूपी आँगन में सो रहे हैं॥ रावण ने हृदय में विचारा कि राक्षसों का नाश हो गया, मैं अकेला हूँ और वानर-भालू बहुत हैं। अत, अपार माया करूँ (नहीं तो मैं अकेले किस-किस से लड़ूँगा ?) ॥८७॥

विशेष—(१) 'खाहिं हुआहिं ···'—हुआँना गीदड़ों की आनंद ध्वनि है, वे अघाकर हुआँते हैं और जो पहले पेटभर खा चुकते हैं, वे दूसरे को खाते देख डाँटते हैं, यह भी उनका स्वभाव है।

(२) 'कोटिन्ह रुंड ···'—शूरों के शिर कट जाने पर भी उनके धड़ मार काट करते हैं और युद्धोत्साह के शब्द कटे हुए शिरों से भी निकलते हैं, क्योंकि पूर्व से उनमें जो उत्साह भरा हुआ रहता है, शरीर कटने पर कुछ देर प्राणों के रहने से अभ्यास के कारण पूर्व के समान कार्य उनसे स्वत होता है।

(३) 'अलुज्झि जुज्झहिं' पर इसका यह भी भाव कहा जाता है कि खोपड़ियों में पक्षी शिर पैठा कर खाते हैं और उसीसे उलझकर मर जाते हैं।

यहाँ परिपूर्ण वीभत्स रस का वर्णन है, युद्ध वर्णन में इसी की शोभा है।

देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा। उपजा उर अति छोभ बिसेखा ॥१॥
सुरपति निज रथ तुरत पठावा। हरष सहित मातलि लै आवा ॥२॥

अर्थ—प्रभु को पैदल देखकर देवताओं के हृदय में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हुआ ॥१॥ इन्द्र ने तुरत अपना रथ भेजा और मातलि हर्षपूर्वक उसे ले आया ॥२॥

विशेष—(१) अभी तक सेना-सेना का युद्ध होता था, अब राम-रावण के युद्ध का संयोग हुआ, तब एक ओर रथ का होना और दूसरी ओर न होना यह देवताओं की दृष्टि में खटका और फिर इन्द्र के द्वारा रथ भेजवाया गया। इससे पहले युद्ध में कुंभकर्ण पैदल ही आया था और मेघनाद से श्रीलक्ष्मणजी का ही युद्ध हुआ, और वह भी थोड़े ही समय के लिये। इसमें रथ की उतनी आवश्यकता नहीं थी। पुन' यहाँ बराबर की रण क्रीडा करना है। अत, प्रभु की इच्छा से ही ऐसा हुआ, नहीं तो खर-दूषण-युद्ध में भी रथ नहीं ही था।

(२) 'हरष सहित मातलि लै आवा।'—हर्ष का कारण स्वामी की आज्ञा के पालन में उत्साह और प्रभु की सेवा एवं उनके दर्शनों की प्राप्ति है तथा यह इन्द्र सहित कई बार रावण से हारा था, अब प्रभु के साथ जीतने का भी श्रेय पावेगा, उसका यह भी एक हेतु है। हर्ष और उत्साह वीर रस के सम्बन्ध से भी है।

तेज - पुंज रथ दिब्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुर - भूपा ॥३॥
चंचल तुरग मनोहर चारी। अजर अमर मन सम गति कारी ॥४॥

अर्थ—उस दिव्य अनुपम, तेजोराशि रथ पर श्रीअयोध्याजी के राजा श्रीरामजी प्रसन्नता-पूर्वक चढ़े ॥३॥ उसमें सुन्दर एवं मन हरण, चंचल, अजर, अमर और मन की गति के समान शीघ्रगामी चार घोड़े जुते थे ॥४॥

विशेष—(१) 'तेज पुंज रथ दिब्य अनूपा।'—इसका वर्णन वाल्मी० ६।१०३ में इस तरह

है, यथा—"इन्द्र के उस रथ में सुवर्ण के चित्र बने हुए थे, छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हुई थीं ॥९॥ वह रथ तरुण सूर्य के समान प्रकाशमान था, वैदूर्य का युगन्धर (जुआ रखने की लकड़ी) था। सुवर्ण के अलंकारवाले उत्तम घोड़े उसमें जुते थे और श्वेत चामर लगे थे ॥१०॥ घोड़े हरे रंग के थे, वे सूर्य के समान प्रकाशमान थे, सुवर्ण जाल से विभूषित थे, सुवर्ण दंड में ध्वजा लगी थी—ऐसा वह इन्द्र का उत्तम रथ था ॥११॥" यही सब 'तेज पुंज, दिव्य, अनूपा' से ग्रन्थकार ने यहाँ जना दिया है।

(२) 'हरषि चढ़ेउ कोसलपुर भूपा।'—हर्ष के कारण—(क) रथ के सब साज अनुकूल पाये। (ख) इससे विभीषणजी की इच्छा-पूर्ति भी होगी। (ग) हर्ष युद्धारंभ में शकुन भी है। 'कोसलपुर भूपा' का भाव यह है कि कोशलपुर के राजा श्रीदशरथजी इन्द्र के सखा थे। इन्द्र उन्हें अपने आधे सिंहासन पर बैठाते थे ; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई ॥" (अ० दो० १७) ; तब उसके रथ पर बैठने के योग्य ये भी कोशलपुर भूप ही हैं। दूसरा इस रथ पर नहीं चढ़ सकता।

(३) 'चचल तुरग मनोहर चारी।···'—घोड़े में चार गुण होते हैं—वय, बल, रूप और गति ; यथा—"आपने वय बल रूप गुन गति सकल भुवन विमोहई।" (बा० दो० ३११), यहाँ चारों गुण हैं—'चंचल' ; यथा—"सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी ॥" (बा० दो० २१०) ; "जाल नचावत चपल तुरगा।" (बा० दो० ३१५), इस चंचलता से नवीन अवस्था दिखाई गई, क्योंकि अवस्था ढल जाने से यह गुण नहीं रहता। 'मनोहर' से उत्तम रूप। 'अजर-अमर' से बल और वय और 'मन सम गति कारी' से उत्तम गति (चाल) दिखाई गई है। 'मन सम गति कारी' के दो शब्दार्थ हैं—सवार के मन के अनुसार चलना और मनोवेग (अत्यन्त तेज) से चलना।

रथारूढ़ रघुनाथहि देखी। धाये कपि बल पाइ बिसेखी ॥५॥
सही न जाइ कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी ॥६॥
सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची ॥७॥
देखी कपिन्ह निसाचर-अनी। अनुज सहित बहु कोसल धनी ॥८॥

शब्दार्थ—बाँची = अन्ययार्थ बचाकर, छोड़कर।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी को रथ पर चढ़ा हुआ देख वानर विशेष बल पाकर दौड़े ॥५॥ जब वानरों की मार सही न गई, तब रावण ने माया फैलाई ॥६॥ उस माया को एक श्रीरघुनाथजी के अतिरिक्त श्रीलक्ष्मणजी और वानरों ने सच्ची ही मानी ॥७॥ वानरों ने राक्षसी सेना और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ बहुत-से कोशलपति राम देखे ॥८॥

विशेष—(१) 'रथारूढ़ रघुनाथहि देखी ··।' इसपर वानरों को विशेष बल प्राप्त हुआ कि अभी तक पैदल रहकर भी श्रीरामजी ने बहुत राक्षसों को मारा है, अब तो रथारूढ हुए, तब क्या कहना! अवश्य जीतेंगे।

(२) 'सही न जाइ ···'—पूर्व—"मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार।" पर प्रसग छोड़ा था, बीच में इन्द्र-रथ आने की बात कहने लगे थे, अब वहीं से फिर प्रसग लिया—'तब रावन माया।···'

(३) 'देखी कपिन्ह ···'—रावण की सेना कट गई थी, इससे उसने माया से 'निसाचर अनी' रची।

"इसकी देह से सैकड़ों सहस्रों राक्षस आयुध सहित प्रकट होते दिखलाई पड़े। उन सबको श्रीरामजी ने दिव्यास्त्र से मार डाला, तब उसने फिर माया रची कि श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के बहुत-से रूप बनाकर उन रूपों से उन्हें मारने के लिये दौड़ा। तब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि यह हमलोगों के समान अनेक रूप धारण किये हुए हैं, इन सब पापी राक्षसों को मारिये, तब श्रीरामजी ने उन सब अपने सदृश-रूपधारियों को मारा।"—यह महा भारत वन पर्व अ० २६०।५-११ में कहा गया है। वैसा ही प्रसंग यहाँ पर भी है।

छंद—बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसलधनी।
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मर्कट-अनी॥

दोहा—बहुरि राम सब तन चितइ, बोले बचन गँभीर।
द्वन्द्व-जुद्ध देखहु सकल, स्रमित भये अति बीर॥८८॥

अर्थ—बहुत-से श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को देखकर वानर और रीछ मन में अत्यन्त (झूठे डर से) डरे। श्रीलक्ष्मणजी के साथ जो जहाँ हैं, वे वहीं खड़े रहकर इस तरह देखने लगे, मानों लिखे हुए चित्र ही हैं (टकटकी लगाये हुए हैं, हिलते-डोलते नहीं)॥ अपनी सेना को चकित देख दुःख हरनेवाले भगवान् कोशलपति श्रीरामजी ने हँसकर धनुष पर बाण सजकर क्षण मात्र में माया हर ली, तब सब वानर सेना हर्षित हुई॥ फिर श्रीरामजी सबकी ओर देखकर गंभीर वाणी बोले— तुम सब) वीर बहुत थक गये हो। अतः, (अब हमारा और रावण का) द्वन्द्व युद्ध देखो॥८८॥

विशेष—(१) 'अति अपडरे'—जहाँ डर का कारण नहीं हो, वहाँ डरना अपडर है; यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोष देव दिसि भूले॥" (अ० दो० ११६); "समुझि सहम मोहिं अपडर अपने।" (बा० दो० १८)।

यहाँ भाव यह है कि रावण-कृत सब रूप केवल दिखावा मात्र के थे। अतः, वानर-भालुओं को उनसे डरना नहीं चाहता था, परन्तु डर गये कि इधर तो श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी एक ही हैं और उधर बहुत हैं, तब तो हमलोग अब नहीं बचेंगे।

(२) 'हँसि, सर चाप सजि कोसलधनी।'—यहाँ हँसने के साथ 'कोसलधनी' कहा गया है, इसका भाव यह है कि राजा लोग कौतुक देखते हैं और देखकर हँसते हैं। पुनः 'कोसलधनी' कहकर हँसना कहने से शत्रु के निरादर के लिये भी हँसना सूचित किया; यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० २८३); 'हरि'—क्लेश हरण के सम्बन्ध से कहा गया है।

(३) 'हरषी सकल…'—यद्यपि अन्यत्र माया-हरण के साथ ही वानरों का हर्षित होना और फिर उत्साहपूर्वक लड़ने को दौड़ना कहा गया है तथापि यहाँ वानरों का युद्धोत्साह नहीं देखा जाता, क्योंकि रावण के पूर्व-कर्म से वे शंकित हैं। इसीसे आगे श्रीरामजी स्वयं कहते हैं कि अब तुम लोग श्रान्त हो गये हो, अतः, हमारा द्वन्द्व-युद्ध देखो।

यहाँ पर रावण ने श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के भी रूप बना लिये, इसका कारण ब्रह्माजी का वरदान है, यथा—"छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद्यथेप्सितम्। एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः॥" (वाल्मी० ७।१०।२५)। अर्थात् तुम जैसा अपना रूप बनाना चाहोगे, वैसा तुम्हारा रूप होगा, इस प्रकार राक्षस दशग्रीव से पितामह ने कहा है।

(४) 'बहुरि राम'''—'राम' का भाव यह है कि ये सबके भीतर रमते हैं, अतएव सबके भाव जान गये। साथ ही 'सब तन चितय' कहकर उनपर कृपा करके उनका श्रम हरना भी कहा गया है; यथा—"राम कृपा करि चितवा सब ही। भये बिगत श्रम बानर तब ही॥" (दो० ४६)।

'बचन गँभीर'—का भाव यह है कि यह नहीं कहा कि तुम सब डर गये हो, किंतु इतना ही कहा कि थक गये हो, अब हमारा युद्ध देखो। पुनः शब्द की गंभीरता भी जनाई कि वे शब्द सब सेना को सुन पड़े; यथा—"बोले घन इव गिरा गँभीरा।" (दो० ७१)।

अस कहि रथ रघुनाथ चलावा। बिप्र-चरन पंकज सिर नावा॥१॥
तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत संन्मुख धावा॥२॥
जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं॥३॥
रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी ने रथ चलाया, विप्र चरण-कमल को शिर नवाया॥१॥ (रथ बढ़ाने पर) तब रावण के हृदय में क्रोध छा गया और वह गरजता-डाँटता हुआ सामने आया॥२॥ अरे तपस्वी! सुन, जिन योद्धाओं को तुमने युद्ध में जीता है, मैं उनके समान नहीं हूँ॥३॥ मेरा नाम रावण है, सारा जगत् मेरे यश को जानता है, जिसके यहाँ लोकपाल कैदखाने में पड़े हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बिप्र चरन पंकज सिर नावा।'- यह मंगलाचरण किया, यथा—"बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले करि सबहि अचेत।" (अ० दो० ७१); यहाँ विप्र नहीं हैं, इससे उन्हें मानसिक प्रणाम किया है। कोई-कोई पूर्व दो० ८४ के ध्यान प्रसंग में कही हुई 'भृगुलता' को ही प्रणाम करना कहते हैं। इससे जगत् को धर्म-मर्यादा भी दिखाते हैं कि इन चरणों की बंदना से विजय होती है। 'तब लंकेस क्रोध उर छावा।'- शत्रु के आगे बढ़ने पर एवं अपने भाई एवं पुत्र के वध का स्मरण कर उसे क्रोध हुआ। वही आगे कहता है। पुन. उसकी माया इन्होंने हँसकर एक ही बाण से काट दी, इससे भी वह क्रोध से भर गया।

(२) 'जीतेहु जे भट'''—पूर्व केवल उसका क्रोध करना कहा गया, अब उसका कार्य परुष वचन भी कहते हैं - 'सुनु तापस' यह दिव्य रथ की सवारी पर कटाक्ष है कि मँगनी के रथ से मर्यादा नहीं होती, तुम अब भी तपस्वी ही हो।

(३) 'रावन नाम''' अर्थात् हम जगत् के रुलानेवाले हैं। इसी से मेरा यश जगत् जानता है। कैलास उठाने पर श्रीशिवजी ने मेरा यह नामकरण किया है। पुनः लोकपालों को बंदीखाने में रखने से जगत् मात्र मेरा यश जानता है।

खरदूषन बिराध तुम्ह मारा। बधेहु ब्याध इव बालि बिचारा॥५॥

निसिचर निकर सुभट संहारेहु। कुंभकरन घननादहि मारेहु ॥६॥
आजु बैर सब लेउँ निबाही। जौं रन-भूप भाजि नहिं जाही ॥७॥
आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले ॥८॥

शब्दार्थ—निबाहना = चुकाना। पाले पड़ना = यह मुहावरा है = काबू में, वश में आना। खलु = निश्चय।

अर्थ—तुमने खर-दूषण और विराध को मारा, बेचारे बालि को व्याध की तरह (छिपकर) मारा ॥५॥ राक्षस योद्धाओं के समूह का तुमने संहार किया। कुंभकरण और मेघनाद को मारा है ॥६॥ यदि हे भूप! तुम रण से भाग नहीं गये तो आज मैं सबका वैर चुका लूँगा ॥७॥ आज निश्चय ही मैं तुम्हें काल के हवाले करूँगा (मार डालूँगा), आज कठिन रावण के पाले पड़े हो ॥८॥

विशेष—(१) 'बालि बिचारा'—भाव यह है कि उसका चारा ही क्या था, तुमने उसे छिपकर मारा। सामने तो हुए नहीं—यह जीत जीत नहीं है।

(२) 'आजु बैर सब लेउँ निबाही।'; यथा—"रक्षसामद्य शूराणां निहतानां चमूमुखे। त्वां निहत्य रणश्लाघी करोमि तरसा समम् ॥" (वाल्मी० ६।१०२।५०) अर्थात् इस रणभूमि में तुमने अनेक वीर राक्षसों को मारा है, रण को पसंद करनेवाला मैं आज तुमको मारकर बराबर करूँगा; अर्थात् बदला लूँगा।

'जौं रनभूप भाग नहिं जाही।' अर्थात् मैं भागे हुए को नहीं मारता; यथा—"समर बिमुख मैं हतौं न काहू।" (आ० दो० १८) यह श्रीरामजी ने कहा है। 'भूप'—निरादर के लिये कहा कि मनुष्यों के ही राजा तो हो, राक्षसराज के सामने क्या कर सकोगे? 'कठिन रावन'—अर्थात् मैं विष्णु आदि का भी जीतनेवाला हूँ; यथा—"यस्योल्लिखित पीनांसौ विष्णुचक्र परिक्षतौ।" (वाल्मी० ५।१०।१६)।

रावण ने कभी श्रीरामजी का नाम नहीं लिया, 'तापस', 'भूप' आदि ही कहता था। हाँ, अंत में मरते समय एक बार 'राम' नाम का उच्चारण किया है।

सुनि दुर्बचन कालबस जाना। बिहँसि बचन कह कृपानिधाना ॥९॥
सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई ॥१०॥

अर्थ—दुर्वचन सुन उसे कालवश जान कृपासागर श्रीरामजी ने हँसकर ये वचन कहे ॥९॥ (कि) तुम्हारी प्रभुता सत्य है, सत्य है। व्यर्थ बको मत, अपना पुरुषार्थ दिखलाओ ॥१०॥

विशेष—(१) 'सुनि दुर्बचन'—"आजु करउँ खलु काल हवाले।···" यह दुर्वचन है। 'बिहँसि' का भाव यह कि अपनी निःशंकता प्रकट करना है, यथा—"छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पामर आना ॥" (बा० दो० २८४); पुनः उसका निरादर करने के लिये भी हँसे, तदनुसार आगे वचन भी कहते हैं। 'कृपानिधाना' का भाव यह है कि कालवश जानकर उसके दुर्वचन पर दया भी है, इससे क्रोध नहीं किया।

(२) 'सत्य सत्य···'—लोकपालों का जीतना सत्य है, पर हम कोई और हैं, लोकपाल नहीं हैं, किंतु योद्धा हैं, जरा अपना पुरुषार्थ तो दिखा। 'सत्य सत्य सब···' का व्यंग्यार्थ लें तो वाल्मी० ६।१०३।, १०-१८ के भाव आ जाते हैं कि तुम्हारी वीरता हम जानते हैं कि शून्य में परस्त्री का हरण किया। बस,

यही न ! इसी पर वीर बनते हो ! यही भाव 'जल्पसि जनि' से भी पुष्ट है कि व्यर्थ क्या बकता है ? लोकपाल आदि के जीतने की कीर्त्ति इसी एक कर्म से नाश हो गई। इसे देखकर उन सब बातों को कोई सत्य नहीं कहेगा ; यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी॥" (लं० दो० २१)।

छंद—जनि जल्पना करि सुजस नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमन-प्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥

दोहा—राम-बचन सुनि बिहँसा, मोहि सिखावत ज्ञान।
बैर करत नहिं तब डरे, अब लागे प्रिय प्रान॥८९॥

शब्दार्थ—पाटल = पाडर, पाडर का वृक्ष, इसके पत्ते बेल के-से होते हैं—इसके दो भेद हैं, (१) सफेद फूलवाला, (२) लाल फूलवाला। बागना = चलना, फिरना, बोलना।

अर्थ—व्यर्थ बकवाद करके अपना सुयश न नाश कर, ठहर जा, नीति सुन। संसार में पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—पाटल, आम और कटहल के समान॥ एक (पाटल) फूल देता है, एक (आम) फूल और फल दोनों देता है और एक (पनस) में केवल फल ही लगते हैं। इसी तरह एक कहते भर हैं (करते नहीं), एक कहते हैं और वैसा करते भी हैं और एक करते हैं कहते नहीं फिरते, या करते हैं पर बाग (वाणी) से नहीं कहते॥ श्रीरामजी के वचन सुनकर वह बहुत हँसा (और बोला) कि मुझे ज्ञान सिखाते हो, पहले वैर करते हुए नहीं डरे, अब प्राण प्यारे लग रहे हैं॥८९॥

विशेष—(१) 'जनि जल्पना करि सुजस नासहि।'; यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती॥" (दो० ७०), तथा—"परै प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपिगुणी भवेत्। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः॥" (सुभाषितरत्नभाण्डागार); अर्थात् दूसरे के द्वारा बड़ाई करने से निर्गुण भी गुनी समझा जाता है, किन्तु अपने-आप बड़ाई करने से इन्द्र भी लघुता को प्राप्त होते हैं।

'नीति सुनहि करहि छमा'—रावण अपनी ही हाँकता है, इसपर कहते हैं कि क्षमा कर = ठहर जा, सब्र कर, नीति सुन ले। भाव यह है कि यहाँ तू नीति में भूल रहा है कि "सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहि आपु।" (बा० दो० २७४), अत, मैं नीति कहता हूँ, इसे सुन।

(२) 'एक कहहिं ···'—निकृष्ट केवल कहते हैं करके नहीं दिखाते, मध्यम कहते हैं और फिर वैसा ही करके भी दिखाते हैं और उत्तम लोग कहते नहीं वे कर्त्तव्य द्वारा अपनेको प्रकट करते हैं (अतः, तू भी उत्तम की श्रेणी में आ)। तथा-"न वाक्यमात्रेण भवान्प्रधानो न कत्थनात्सत्पुरुषा भवन्ति।··· कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि। पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृतः॥" (वाल्मी० ६।७१।५८-

५१) ; अर्थात् बातों से कोई प्रधान नहीं बनता, सज्जन अपनी प्रशंसा आप नहीं करते ।'''कर्म से अपना पराक्रम दिखलाओ, झूठी शेखी नहीं बघारो । जो पुरुषार्थी है, वही शूर कहा जाता है—ऐसा श्रीलक्ष्मणजी ने अतिकाय से कहा है ।

(३) 'राम बचन सुनि बिहँसा'''—श्रीरामजी ने 'बिहँस' कर वचन कहा था, उसी के जोड़ में यह भी 'बिहँसा' उसका भी हँसना निरादर के लिये ही है । श्रीरामजी के 'करहि छमा' वाक्य को स्वार्थ पक्ष में मरोड़कर रावण कहता है कि रणभूमि में आने पर प्राण प्यारे लगे, तब क्षमा माँगते हो, ऐसा ही था तो मुझ से वैर ही नहीं करते, अब डरकर कहाँ जाओगे ? पुनः जो श्रीरामजी ने कहा था—'जनि जल्पना करि''' उसी के उत्तर में कहता है कि हमें ज्ञान सिखाते हो ? भाव यह कि नीति का पंडित मेरे समान दूसरा नहीं है । मुझे तुम क्षत्रिय होकर क्या ज्ञान सिखाओगे ?

कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर । कुलिस समान लाग छाँड़ै सर ॥१॥
नानाकार सिलीमुख धाये । दिसि अरु बिदिसि गगन महि छाये ॥२॥
पावक सर छाँड़ेउ रघुबीरा । छन महँ जरे निसाचर तीरा ॥३॥
छाड़िसि तीब्र सक्ति खिसियाई । बान संग प्रभु फेरि चलाई ॥४॥

अर्थ—दुर्वचन कहकर क्रोधित दशानन रावण वज्र के समान बाण छोड़ने लगा ॥१॥ अनेकों आकार के बाण दौड़े, दिशाओं में, आग्नेयादि विदिशाओं में, आकाश में और पृथिवी में (अर्थात् दसों दिशाओं में) छा गये ॥२॥ श्रीरघुनाथजी ने अग्निबाण छोड़ा, (उससे) रावण के तीर क्षण-भर में भस्म हो गये ॥३॥ तब लज्जित होकर उसने तीक्ष्ण शक्ति चलाई । प्रभु ने अपने बाण के साथ (अर्थात् बाण चला कर उसके द्वारा) उसे लौटा कर चलाया (वह उलटकर उधर ही को लौट गई) ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि दुर्बचन क्रुद्ध'''—उपर्युक्त 'बैर करत तब नहिं डरे''' तो दुर्वचन कहा ही था, उसके अतिरिक्त उसने और भी दुर्वचन कहे, अन्यथा 'अस कहि' वाचक पद भी उसके साथ देते, जैसे कि अन्यत्र देते हैं; यथा—"धिग धिग मम पौरुष धिग मोहीं । जौ तैं जियत उठेसि सुर द्रोही ॥ अस कहि" (दो० ८२), "रन ते निलज भाजि गृह आवा । इहाँ आइ बक ध्यान लगावा ॥ अस कहि''" (दो० ८१), "परबस सखिन लखी जब सीता । ''' पुनि आउब'''अस कहि'''" (बा० दो० २११), इत्यादि, बहुत प्रमाण हैं । अतएव अन्य रामायणों में कहे हुए दुर्वचन भी आ गये और ग्रन्थकार ने अपनी लेखनी से उन्हें स्पष्ट लिखा भी नहीं ।

दुर्वचन कहने का कारणरूप आगे 'क्रुद्ध' पद भी दिया गया है, क्रोध में परुष वचन निकलते ही हैं । पुनः 'दसकंधर' शब्द से क्रोध का भी कारण जनाया कि इसे दस शिर होने का गर्व है, फिर एक शिरवाले को सामने देखकर यह अपमान कैसे सह सकता है । साथ ही 'दसकंधर' शब्द का बाण छोड़ने से भी सम्बन्ध है कि दसों शिरों के साथ की बीसों भुजाओं से दस धनुष चढ़ाकर बाण छोड़ने लगा; यथा—"दसहु चाप सायक संधाने ।" (दो० ९०) ।

(२) 'नानाकार सिलीमुख धाये'—यहाँ वाल्मी० ६।६६।४२-४८ में कहे हुए सब प्रकार के बाण सूचित किये गये हैं—रावण क्रोधित होकर सिंहमुख, व्याघ्रमुख, कङ्कमुख, कोकमुख, गृध्रमुख, श्येनमुख, शृगालमुख, वृकमुख, मृगमुख और सर्पमुख बाण श्रीरामजी पर छोड़े, वे तीक्ष्ण बाण मुँह फैलाये हुए

अत्यन्त भयानक थे। गदहों, शूकरों, कुत्तों, कुक्कुटों, मगरों और सर्पों के समान फुफकारते हुए बाण रावण ने छोड़े। आसुरास्त्र, अग्निमुख, सूर्यमुख एवं अनेक ग्रहों और नक्षत्रों के रंगवाले, विद्युत्के समान जीभवाले बाण उसने चलाये।

(३) 'छाड़िसि तीव्र सक्ति···'—यहाँ वाल्मी० ६।१००।२-५ में कही हुई मयदानव की दिव्य शक्ति कही गई है, जिससे शूल, गदा और मूसल निकले थे और भी वायु वेग के मुद्गर, कूट, पाश, जलते हुए वज्र तथा और प्रकार के भी तीव्र अस्त्र निकले थे। फिर उन्हें श्रीरामजी ने परमास्त्र गांधर्वास्त्र से नष्ट किया है। एक ही 'तीव्र' शब्द से ये सभी बातें जना दीं। 'खिसियाई' क्योंकि पहले का पुरुषार्थ निष्फल कर दिया गया।

कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ॥५॥
निफल होहिं रावन-सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे॥६॥
तब सत बान सारथी मारेसि। परेउ भूमि जय राम पुकारेसि॥७॥
राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा॥८॥

अर्थ—करोड़ों चक्र और त्रिशूल चलाता है, बिना परिश्रम ही श्रीरामजी उन्हें काटकर निवारण कर देते हैं॥५॥ रावण के बाण कैसे निष्फल होते हैं, जैसे दुष्ट के सभी मनोरथ॥६॥ तब उसने (श्रीरामजी के) सारथी को सौ बाण मारे, वह श्रीरामजी की जय पुकारता हुआ पृथिवी पर गिरा॥७॥ श्रीरामजी ने कृपा करके सारथी को उठाया, तब प्रभु परम क्रोध को प्राप्त हुए॥८॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ।···'; यथा—"ततश्चक्राणि निष्पेतुर्भास्वराणि महान्ति च। कार्मुकाद्भीमवेगस्य दशग्रीवस्य धीमतः॥···तानि चिच्छेद बाणौघैश्चक्राणि तु स राघवः।" (वाल्मी० ६।१००।७-६); अर्थात् प्रचंड वेगवाले बुद्धिमान् रावण के धनुष से चमकीले और बड़े चक्र निकले। उनको बाणों से श्रीरामजी ने काट डाला। 'खल के सकल मनोरथ जैसे।'—जब सब धर्मों और सबके मनोरथों पर बाधा हो, तब दुष्ट के मनोरथ सिद्ध होते हैं, वैसे श्रीरामजी पर बाधा पहुँचे, तब रावण के बाणों की सफलता हो।

(२) 'रामकृपा करि सूत उठावा।'; यथा—"राम कृपा करि चितवा सबहीं। भये बिगत श्रम बानर तबहीं॥" (दो० ४६); वैसे यहाँ भी सूत को सुखी किया। 'तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा।'—भक्त पर आघात होने से आपको अत्यन्त क्रोध हुआ; यथा—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७); यहाँ के परम क्रोध का स्वरूप आगे छन्द में दिखाते हैं। तथा वाल्मी० ६।१०२।३८-४२ में भी ऐसा ही कहा है। 'प्रभु' शब्द कहकर तदनुसार परम क्रोध का स्वरूप उसके कार्य द्वारा दिखाते हैं।

छंद—भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन-सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।
मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे॥

दोहा—तानेउ चाप श्रवन लगि, छाँड़े बिसिख कराल।
राम मारगन गन चले, लहलहात जनु ब्याल ॥९०॥

शब्दार्थ—मारगन (मार्गण) = बाण; यथा—"मार्गणस्तु शरेऽर्थिनी।" (हेम)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी युद्ध में विरोध भाव से क्रोधित हुए, तब उनके तर्कश में बाण कसमसाने लगे। उनके धनुष का अत्यन्त प्रचंड शब्द (टंकार) सुनकर सब मनुष्यों को खानेवाले (राक्षस) वायुग्रस्त हो गये (भय रूपी वायु से ग्रसित हो काँप उठे) ॥ मंदोदरी का हृदय काँप उठा; समुद्र, कमठ, पृथिवी और पर्वत भयभीत हो गये। दिग्गज पृथिवी को दाँतों से पकड़कर चिंघाड़ने लगे, यह कौतुक देखकर देवता हँसे (हर्षित हुए) ॥ धनुष को कान तक खींचकर कराल बाण छोड़े, श्रीरामजी के बाण समूह ऐसे चले मानों लहलहाते हुए सर्प जा रहे हों ॥९०॥

विशेष—(१) 'भये क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध···'—अभी तक क्रीड़ायुद्ध करते थे अब विरोध भाव से युद्ध करने को उद्यत हुए। क्योंकि—"सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८), यह आपका स्वभाव है। 'सायक कसमसे'—प्रभु के बाण आदि आयुध भी चेतन हैं, जैसे मुद्रिका का बात करना पूर्व कहा गया था। वे सब उत्साह से कसमसाने लगे कि प्रथम तर्कश से निकलकर मैं ही रावण का वध करूँ।

(२) 'मंदोदरी उर कंप'—अहिवात नष्ट हो जाने के भय से उसका हृदय काँप उठा; यथा—"गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात।" (दो० ७), 'कंपति कमठ भू भूधर त्रसे'; यथा—"भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारग चले। चिक्करहि दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥" (बा० दो० २६१)।

(३) 'दसन गहि महि'—जिसमें पृथिवी गिर न पड़े; यथा—"दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥" (बा० दो० २५१), 'सुर हँसे'- इसलिये कि अब रावण मरा ही हुआ है, हमारे दुःख दूर हुए; यथा—"चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे॥" (सुं० दो० ३४)।

(४) लहलहात'—अर्थात् चमचमाते हुए; यथा—"चले बान सपच्छ जनु उरगा।" आगे कहते हैं। इससे अति वेग भी जनाया। 'मारगन'—यह मृग्-धातु से बना है; अर्थात् ये शत्रु को ढूँढ़कर मारनेवाले बाण हैं। मृग्=खोजना।

चले बान सपच्छ जनु उरगा। प्रथमहि हतेउ सारथी तुरगा ॥१॥
रथ बिभंजि हति केतु पताका। गर्जा अति अंतर बल थाका ॥२॥
तुरत आन रथ चढ़ि खिसियाना। अस्त्र सस्त्र छाँड़ेसि बिधि नाना ॥३॥
बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह- निरत मनसा के ॥४॥

अर्थ—बाण ऐसे चले मानों पक्ष युक्त सर्प हों, उन्होंने जाकर पहले सारथी और घोड़ों को मार डाला ॥१॥ फिर रथ को विशेष तोड़कर ध्वजा और पताका को गिरा दिया, तब रावण अत्यंत (जोर से)

गरजा पर भीतर से उसका बल थक गया था ॥२॥ लज्जित होकर तुरत दूसरे रथ पर चढ़कर उसने अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र छोड़े ॥३॥ उसके सब उपाय निष्फल हो रहे हैं, जैसे परद्रोह में रत मनवाले के उद्योग निष्फल होते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सपच्छ जनु उरगा'—जैसे सर्पों के पर होते हैं, वैसे बाणों में भी पर होते हैं और चमकते हुए तेजी से जाते हैं और लगते ही प्राण ले लेते हैं। यह सर्पों से समता है। ऊपर दोहे में व्याल की तरह चलना कहा गया, यहाँ उसका कार्य दिखाते हुए उसे ही उरग और फिर सपक्ष भी कहा गया है।

(२) 'हति केतु पताका'; यथा—"ध्वजं मनुष्यशीर्षं तु तस्य चिच्छेदनेकधा ॥" (वाल्मी० ६।१००।१४); अर्थात् रावण की ध्वजा में मनुष्य के शिर का चिह्न था, उसे अनेक प्रकार से काट डाला—यह लक्ष्मण-युद्ध में कहा गया है।

'अंतर बल थाका'—उसने देखा कि मैंने तो इनके सारथी मात्र को मारा था, उसे भी इन्होंने जिला लिया और हमारे तो रथ घोड़े आदि सभी इन्होंने नष्ट कर डाले। पुनः यज्ञ नाश करके यहाँ ध्वजा और पताका भी काट डाली, ये सब अमंगल ही हुए। अतः, अब इनसे जीतना कठिन है, यह सोचकर रावण हृदय से हार गया।

(३) 'खिसियाना'—खिसियाने पर क्रोध और प्रतिकार की इच्छा होती है; यथा—"छाँड़िसि तीव्र सक्ति खिसियाई।" (दो० ८३);—"रावण, देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना। करइ लाग माया बिधि नाना॥" (दो० ४१); मेघनाद, "बोला, अति खिसियान। सीता तैं मन कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥" (सुं० दो० ९), इत्यादि, वैसे यहाँ भी इसने क्रोध करके नाना अस्त्र-शस्त्र छोड़े।

(३) 'बिफल होहिं सब उद्यम ताके।...'—ऊपर दोहे में भी कहा गया है—"निफल होहि रावन सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे॥" वहाँ मनोरथ और मनसा के उद्यम का नाश कहा गया। मनसा और मनोरथ एक ही बात है। इस तरह वहाँ मनोरथ का नाश और यहाँ उसके उद्यम का नाश कहकर दुष्टोंके साध्य और साधन दोनों के नाश कहे गये। दुष्ट के मनोरथ परद्रोह परक ही होते हैं। अतः, यहाँ के 'परद्रोह निरत मनसा' वाले भी खल ही हैं।

तब रावन दससूल चलावा। बाजि चारि महि मारि गिरावा॥५॥
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छाँड़े सायक॥६॥
रावन सिर - सरोज - बनचारी। चलि रघुबीर सिलीमुखधारी॥७॥
दस दस बान भाल दस मारे। निसरि गये चले रुधिर पनारे॥८॥

शब्दार्थ सिलीमुख (शिलीमुख) = बाण और भ्रमर; यथा—"भृंग· शिलीमुखः स्यात्तो नाराचोऽपिशिलीमुखः ॥"

अर्थ—तब रावण ने दस शूल चलाये, उनसे श्रीरामजी के चारो घोड़ों को मारकर पृथिवी पर गिरा दिया॥५॥ घोड़ों को उठा श्रीरघुनाथजी ने कुपित हो धनुष खींच (तान) कर बाण छोड़े ॥६॥ रावण के शिर रूपी कमल वन में विचरण करनेवाली श्रीरामजी की बाण-पंक्ति रूपी भ्रमरों की पाँती

चली ॥७॥ श्रीरामजी ने उसके दसों शिरों में दस-दस बाण मारे, जो आर-पार होकर निकल गये और उन्हीं छिद्रों से रक्त के पनाले बह चले ॥८॥

विशेष—(१) 'तब रावन दस सूल चलावा।'''—रावण ने आगे के घोड़ों को तीन-तीन और पीछे वालों को दो दो शूल मारे। वे पृथिवी पर गिर पड़े, पर फिर श्रीरामजी ने करस्पर्श से उन्हें जिला लिया। इसी तरह पहले सारथी को भी उठा लिया था। क्योंकि इनके रथ, सारथी और घोड़े आदि सब दिव्य एवं अमर हैं और रावण के रथ आदि सभी अदिव्य हैं। अतः, कटते-मरते हैं। जैसे पहले सारथी पर प्रहार से श्रीरामजी को क्रोध हुआ था, वैसे ही यहाँ भी घोड़ों के प्रति प्रहार पर भी। वहाँ उसके रथ आदि का नाश किया और यहाँ उसके शिरों को ही काट कर बदला चुकाया।

(२) 'चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।'—रावण के शिर दस हैं और वे वाणों के घावों से लाल दीखते हैं, इससे उन्हें कमलवन कहा गया। वाणों की पक्तियाँ शिरों में प्रवेश करती हैं, वैसे ही भ्रमरावली कमलवन में घुसती है। भ्रमर मकरंद पीते हैं, वैसे वाण रुधिर पीते हैं। भ्रमर और वाण दोनों के पर भी होते हैं, भ्रमर काले होते हैं, वैसे यहाँ के नाराच वाण निखालिस लोहे के हैं। अतः, काले और चमकीले हैं—यह समता है।

(३) 'दस दस बान भाल दस मारे।'—रावण बीस भुजाओं से भी दस ही शूल चला सका और श्रीरामजी ने दो ही भुजाओं से उससे दस गुने १०० वाण चलाये, यह उसके कर्म का प्रत्युत्तर है। इस तरह इन्होंने उसकी बीस भुजाओं का गर्व तोड़ा। 'चले रुधिर पनारे'—जैसे वर्षा के जल से पनाले वेग से बहते हैं, वैसे रुधिर बहुत और वेग से बहता है।

स्रवत रुधिर धायउ बलवाना। प्रभु पुनि कृत धनु सर संधाना ॥९॥
तीस तीर रघुबीर पवारे। भुजन्हि समेत सीस महि पारे ॥१०॥
काटतहीं पुनि भये नवीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने ॥११॥
प्रभु बहु बार बाहु सिर हये। कटत झटिति पुनि नूतन भये ॥१२॥
पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा ॥१३॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहुँ अमित केतु अरु राहू ॥१४॥

शब्दार्थ—झटिति = झटपट, तत्काल। हए (हने) = काटे।

अर्थ—रुधिर बहते रहने पर भी बलवान् रावण दौड़ा, फिर प्रभु ने धनुष पर वाण का संधान किया ॥९॥ रघुबीर श्रीरामजी ने तीस वाण चला कर भुजाओं समेत शिरों को पृथिवी पर गिराया ॥१०॥ वे (भुजा और शिर) काटते ही फिर नये उत्पन्न हो गये, तब श्रीरामजी ने उन्हें फिर काट गिराया ॥११॥ प्रभु ने बहुत बार भुजाएँ और शिर काटे, वे कटते ही तत्काल फिर नये हो गये ॥१२॥ फिर-फिर प्रभु उसकी भुजाओं और शिरों को काट रहे हैं, (क्योंकि) कोशलाधीश श्रीरामजी अत्यन्त कौतुकी हैं ॥१३॥ आकाश में शिर और भुजाएँ छा गईं, मानों अगणित केतु और राहु हैं ॥१४॥

विशेष—(१) 'स्रवत रुधिर धायउ बलवाना।'—इतना घायल होने पर भी दौड़ना है, इसीसे

'बलवान' कहा गया है। 'पुनि कृत'''—पहले अभी १०० बाण चला चुके हैं, उनसे शिरों को घायल ही किया था, अब फिर ३० बाण छोड़ेंगे, क्योंकि १० शिरों और २० भुजाओं को भिन्न-भिन्न छेदना है।

(२) 'पुनि भये नवीने'—श्रीशिवजी के वरदान से ये नवीन होते हैं, यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥" (दो० ३२)।

(३) 'पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा।'—रावण ने श्रीशिवजी के लिये स्वयं काट काट कर शिर चढ़ाया था, उन एक एक का अमित फल देना है, इसलिये बार बार काटते हैं। इस तरह उसके दान का प्रतिफल चुकाते हैं कि उसका पुण्य क्षीण हो जाय, तब मारें। अति कौतुकी'''—राजा लोग कौतुक देखते ही हैं, यहाँ शिरों के कौतुक करने के सम्बन्ध से 'कोसलाधीसा' कहा है।

छंद—जनु राहु केतु अनेक नभ-पथ स्रवत सोनित धावहीं।
रघुबीर तीर प्रचंड लागहिं भूमि गिरन न पावहीं।
एक एक सर सिर निकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिनकर-कर-निकर जहँ तहँ बिधुंतुद पोहहीं॥

दोहा—जिमि जिमि प्रभु हर तासु सिर, तिमि तिमि होहिं अपार।
सेवत बिषय बिबर्ध जिमि, नित नित नूतन मार॥९१॥

शब्दार्थ—बिधुंतुद = राहु। बिबर्ध = बढ़ता है। मार = काम, कामनाएँ।

अर्थ—मानों अनेक राहु और केतु रुधिर बहाते हुए आकाश मार्ग में दौड़ रहे हों। रघुवीर श्रीरामजी के तीक्ष्ण बाण उनमें लगते हैं, इससे वे पृथिवी पर गिरने नहीं पाते॥ एक एक बाण से छिदे हुए शिर-समूह आकाश में उड़ते इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, मानों सूर्य कुपित होकर अपने किरण-समूह से जहाँ-तहाँ राहुओं को पिरो (गूँथ) रहे हैं॥ जैसे-जैसे प्रभु उसके शिरों को काटते हैं, वैसे-वैसे वे अपार होते (बढ़ते) जाते हैं। जैसे विषय के सेवन करने से काम (वासना) नित्य नया बढ़ता जाता है॥९१॥

विशेष—(१) 'जनु राहु केतु''''''—यहाँ राहु और शिर, केतु और बाहु, सूर्य और श्रीरघुनाथजी, किरण और बाण परस्पर उपमान उपमेय हैं। एक एक बाण में कई-कई शिरों का छेदना पिरोना है। राहु शिर मात्र है, वैसे ही शिर हैं, भुजाएँ लंबी हैं, इससे वे केतु (धड़-रूप) की तरह कही गईं, इनमें आकारों की समता है। स्वर्ण मढ़े हुए चमकीले बाण सूर्य किरणों के समान हैं।

पहले भुजाओं को काटते हैं, तब शिरों को, वैसे ही क्रम से 'भुजासिर' कहा है, किंतु आकाश के उड़ने में शिरों को प्रथम कहा गया, यथा—"रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू।" ऊपर कहा है, क्योंकि शिर शरीर का उत्तमाग है, इससे उसे प्रधानता दी गई है।

श्रीअंगदजी ने कहा था—'तव सोनित की प्यास, तृपित राम सायक निकर।' उसीका यहाँ चरितार्थ प्रसंग है।

पहले बाहु और शिर की उपमा राहु और केतु से दी, उसमें उड़ने की उत्प्रेक्षा है। फिर 'रविकर निकर' की उपमा शिरों के पोहने पर दी कि माला की तरह पोये जाते हैं। सूर्य और राहु से वैर है, इससे सूर्य का कोप करके अनेकों राहुओं का पोहना कहकर अनेक सूर्य ग्रहणों का बदला चुकाना दिखाया गया।

(२) 'जिमि जिमि प्रभु हर तासु सुर···'—यहाँ कामी की जगह रावण है। शिर और मार, बाण और विषय, बाणों से शिरों का कटना और विषय सेवन—उपमेय उपमान हैं। जैसे कामी अपनेको अमर मानता है, वैसे ही आगे रावण को भी कहा गया—'बिसरा मरन'।

यहाँ केवल मस्तकों का ही काटना कहा गया है, क्योंकि पहले मस्तकों की दूनी बाहुओं को काटते थे, अब केवल मस्तक काटकर बाहुओं के बराबर करेंगे—कौतुक तो है ही। 'सेवत विषय विबर्ध···'; यथा—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" (भाग॰ ९। १९।१४) अर्थात् विषयों के उपभोग से 'काम (वासना)' कभी शान्त नहीं होता; बल्कि घृत से अग्नि की भाँति और अधिक ही बढ़ता जाता है।

दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी ॥१॥
गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धायउ दसहु सरासन तानी ॥२॥
समरभूमि दसकंधर कोप्यो। बरषि बान रघुपति रथ तोप्यो ॥३॥
दंड एक रथ देखि न परेऊ। जनु निहार महुँ दिनकर दुरेऊ ॥४॥

अर्थ—शिरों की बढ़ती देखकर दशमुख को अपना मरण भूल गया, प्रत्युत् भारी क्रोध हुआ ॥१॥ वह महा अभिमानी मूर्ख गरजा और दसों धनुषों को तानकर दौड़ा ॥२॥ रणभूमि में दशकंधर ने कोप किया और बाण बरसा कर श्रीरघुनाथजी का रथ ढँक दिया ॥३॥ एक दंड-भर रथ नहीं दिखाई पड़ा, मानों कुहरे में सूर्य छिप गये हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बिसरा मरन···'—उसने इसे तो समझा ही नहीं कि मेरे पुण्य क्रमशः क्षीण हो रहे हैं, किंतु उल्टा ही समझा कि मेरे शिर सदा बढ़ते ही रहेंगे। अतः, मैं मर नहीं सकता, इससे उसका गर्व बहुत बढ़ गया और वह बड़े जोर से गरजा। 'बिसरा मरन' से यह भी स्पष्ट हुआ कि पहले उसे अपने मरने का भय था; यथा—"चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ, त्यागि जिवन कै आस।" (दो॰ ८४); 'धायेउ दसौ सरासन तानी।'—पूर्व भी जब यह परम क्रोधित हुआ था, तब दसो धनुष तानकर इसी तरह दौड़ा था; यथा—"निज दल बिचलत देखेसि, बीस भुजा दस चाप। रथ चढ़ि चलेउ दसानन, फिरहु फिरहु करि दाप ॥ धायेउ परम क्रुद्ध दसकंधर।" (दो॰ ८०)।

(२) 'दंड एक रथ···'—जैसे सूर्योदय से कुहरा दंड भर ही रहता है और फिर नष्ट हो जाता है, तब सूर्य दिखलाई पड़ते हैं, वैसे रथ भी थोड़ी ही देर अदृश्य रहेगा।

हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा ॥५॥
सर निवारि रिपु के सिर काटे। ते दिसिबिदिसि गगन महि पाटे ॥६॥

काटे सिर नभ - मारग धावहिं । य जय धुनि करि भय उपजावहिं ॥७॥
कहँ लछिमन सुग्रीव कपीसा । कहँ रघुबीर कोसलाधीसा ॥८॥

अर्थ—जब देवताओं ने हाहाकार किया तब प्रभु ने कोप करके धनुष लिया ॥५॥ बाणों को हटाकर शत्रु के शिर काटे, उन शिरों से चारों दिशाएँ और चारों विदिशाएँ, आकाश एवं पृथिवी को पाट दिया ; अर्थात् शत्रु के शिरों से सब जगह छा गई ॥६॥ कटे हुए शिर आकाश मार्ग में दौड़ते हैं और जय-जय की ध्वनि करके भय उत्पन्न करते हैं ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं ? कपीश श्रीसुग्रीवजी कहाँ हैं ? कोशलपति रघुवीर श्रीरामजी कहाँ हैं ?

विशेष—(१) 'सर निवारि रिपु के ···'—पहले उसके बाणों को काट कर दिशाएँ साफ कर दीं, तब फिर उसके शिरों से सर्वत्र पाट दिया, जिनसे कोई दिशा और भूमि एवं आकाश कुछ नहीं दिखलाई पड़ते ।

दिक्पालों को रावण ने दंड कर दु:ख दिया था, उसके बदले में मानों श्रीरामजी बाण रूपी श्रुवा द्वारा उन्हें रावण के शिरों की बलि दे रहे हैं , यथा—"वितरसि दिक्षु रणे कमनीय, दशमुख मौलि बलिं रमणीय, केशवधृत राम शरीर जय जय देव हरे ।" (गीतगोविंद) ।

(२) 'कहँ लछिमन ···'—रावण श्रीलक्ष्मणजी का पुरुषार्थ देख चुका है, श्रीसुग्रीवजी वानर-राज हैं और बालि के भाई हैं । अत , इन्हें भी वीर समझता है और श्रीरामजी तो उसके प्रति-भट ही हैं, इससे इन्हीं के नाम लेता है । हृदय में जो कहने का उत्साह था, वह शिरों के कटने पर भी उच्चरित होता है, 'कहाँ' का भाव यह है कि पाऊँ तो मार ही डालूँ ; यथा—"कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी ।" (दो० १०१) ; यह राजा है, इससे बड़े-बड़े से ही लड़ने का उत्साह रखता है । श्रीविभीषणजी को तो कुछ समझता ही नहीं; क्योंकि उनको तो इसने लात मारकर निकाल दिया है और ऋक्षराज जाम्बवान्जी को अति बूढ़ा मानकर कुछ भी नहीं गिनता ।

छंद—कहँ राम कहि सिर निकर धाये देखि मर्कट भजि चले ।
संधानि धनु रघुबंसमनि हँसि सरन्हि सिर बेधे भले ।
सिर-मालिका कर-कालिका गहि बृंदबृंदन्हि बहु मिलीं ।
करि रुधिर सरि मज्जन मनहुँ संग्राम बट पूजन चलीं ॥

दोहा—पुनि दसकंठ क्रुद्ध होइ, छाडी सक्ति प्रचंड ।
चली बिभीषन सन्मुख, मनहुँ काल कर दंड ॥९२॥

अर्थ—'राम कहा हैं' यह कहते हुए शिरों के मुण्ड दौड़े, वानर उन्हें देखकर भाग चले । तब रघुकुलमणि श्रीरामजी ने हँसकर बाणों से, भली प्रकार शिरों को वेध दिया ॥ कालिकाओं के बहुत-से

मुण्ड-के-मुण्ड हाथों में मुंडों की मालाएँ लिये हुए मिलकर चलती हुई ऐसी जान पड़ती हैं, मानों रक्त की नदी में स्नान करके संग्राम-रूपी वटवृक्ष को पूजने जा रही हों॥ फिर दशानन ने क्रोधित होकर श्रीविभीषणजी पर प्रचंड शक्ति छोड़ी, वह श्रीविभीषणजी के सामने चली मानों यमराज का दंड हो (ऐसी भयंकर और अनिवार्य थी) ॥९२॥

विशेष—(१) 'कहँ राम कहि···'—कटे हुए शिर बोलते हुए दौड़े, तब वानर डरे कि कहीं हमें ही न निगल जायँ, इससे डरकर भग चले।

(२) 'संग्राम वट-पूजन'—ज्येष्ठ अमावस्या को स्त्रियाँ वटसावित्री की पूजा करती हैं। वट में वरोह-रूपी जड़ें बढ़ा करती हैं, इससे उसे 'अक्षय' मानकर पूजती हैं और तदनुसार अपने अहिवात की दिनो-दिन वृद्धि चाहती हैं। वैसे ही ये कालिकाएँ मानों संग्राम को पूजकर अक्षुण्ण रखना चाहती हैं। ये कालिका-रूपी योगिनियाँ हैं, जो मातृकाओं की सेना में करोड़ों की संख्या में रहा करती हैं। ये खप्परों में रोपकर रक्त पीती हैं।

(३) 'पुनि दसकंठ क्रुद्ध···'—'काल'=यमराज, दंड=यमराज का आयुध; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरै···" (दो॰ ३५); श्रीरामजी से कुछ वश नहीं चला, तो इनकी बगल में श्रीविभीषण-जी को देखकर क्रोध किया कि हमारे सबके नाश से यह अपना हित चाहता है। भाई, पुत्र आदि के भेदों को बतलाकर उन्हें इसने ही मरवाया है। अतः, मेरे यहाँ नाश का हेतु भी यही होगा, इसीसे पहले इसीको मार डालूँ—यह विचारकर उसने अमोघ शक्ति छोड़ी। अन्य रामायणों में और-और प्रसंग में इस शक्ति का चलाना पाया जाता है, वह कल्पभेद से जानना चाहिये।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥१॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सो सेला॥२॥
लागि सक्ति मुरुछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई॥३॥
देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायो। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो॥४॥

अर्थ—अत्यन्त भयानक शक्ति को आते देखकर—'हमारा प्रण है शरणागत के दुःख का हरण करना'—यह विचारकर तुरंत श्रीविभीषणजी को अपने पीछे कर दिया और स्वयं सामने आकर श्रीरामजी ने वह शक्ति सह ली ॥१–२॥ शक्ति के लगने से कुछ मूर्च्छा हुई; प्रभु ने तो यह खेल किया, पर देवताओं को यह देखकर व्याकुलता हुई ॥३॥ श्रीविभीषणजी ने देखा कि प्रभु को श्रम (कष्ट) हुआ, तब वे हाथ में गदा लिये हुए क्रुद्ध होकर दौड़े। ४॥

विशेष—(१) 'प्रनतारति भंजन पन मोरा'; यथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं॰ दो॰ ४४); श्रीविभीषणजी प्रभु का प्रणत-आर्त्ति-हरण गुण कहकर शरण हुए थे; यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥" (सुं॰ दो॰ ४५); तदनुसार प्रभु की ओर से बर्त्ताव होना ही योग्य है। इससे उन्होंने श्रीविभीषणजी को अपने प्राणों से भी अधिक माना।

(२) 'पाछे मेला'- हाथ से उन्हें बलात् पीछे हटा दिया, क्योंकि यह इनके प्राण ले लेती। पहले 'सक्ति' और पीछे उसे ही 'सेला' कहकर दोनों नामों को पर्याय जनाया।

(३) 'प्रभु कृत खेल'—नर-नाट्य के अनुसार अमोघ शक्ति की मर्यादा रक्खी और इस खेल से भक्त पर स्नेह दिखाया। यह भी खेल है कि जिस विभीषणजी को रावण तुच्छ समझता था, आज हमारे आश्रित होने पर इसका भी बल देख ले - इसका अवसर कर दिया।

श्रीविभीषणजी अभी तक कहीं युद्ध में नहीं जाने पाये। प्रभु उनकी अपने प्राणों की नाईं रक्षा करते थे। इस समय अपने कारण उन्होंने प्रभु को श्रमित देखा, तो स्वयं दौड़ पड़े।

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर-नर-मुनि-नाग बिरुद्धे ॥५॥
सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये ॥६॥
तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो ॥७॥
रामबिमुख सठ चहसि संपदा। अस कहि हनेसि माँझ उर गदा ॥८॥

अर्थ—अरे अभागा ! शठ ! नीच ! दुर्बुद्धे ! तूने सुर, नर, मुनि और नाग देव आदि सभी से विरोध किया ॥५॥ तूने आदर सहित श्रीशिवजी को शिर चढ़ाये (इससे) एक-एक के प्रति करोड़ों शिर पाये ॥६॥ उसी कारण, अरे खल ! अब तक तू बचता रहा, अब काल तेरे शिर पर नाच रहा है ॥७॥ अरे शठ ! तू श्रीरामजी से विमुख होकर संपत्ति चाहता है, ऐसा कहकर उसने रावण की बीच छाती में गदा मारी ॥८॥

विशेष—(१) 'रे कुभाग्य सठ···'—सुर नर आदि के विरोधी होने से कुबुद्धि, कुबुद्धि होने से मंद, मंद होने से शठ और शठ होने से अभागा है।

(२) 'अब तव काल सीस पर नाच्यो।'—भाव यह कि अब तेरे अमोघ अस्त्र समाप्त हो चुके, तपस्या के फल और वरदान की बातें निघट गईं। अतः, अब तू शीघ्र मारा जायगा।

(३) 'राम-बिमुख सठ चहसि संपदा।' राम-विमुख को सम्पत्ति नहीं प्राप्त होती ; यथा—"राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥" (सुं० दो० २२) ; 'हनेसि माँझ उर गदा'—क्योंकि ये भेदिया हैं। इस बात को जानते हैं कि हृदय में ही चोट लगने से यह मूर्च्छित होगा। आगे 'नाभि-कुंड पियूष बस···' कहा इन्होंने भी है। त्रिजटा ने भी कहा है—"उर सर लागत मरिहि सुरारी।" (दो० ९९)।

छंद—उर माँझ गदा प्रहार घोर कठोर लागत महि पर्यो।
दस बदन सोनित स्रवत पुनि सँभारि धायो रिस भर्यो।
दोउ भिरे अति बल मल्ल जुद्ध बिरुद्ध एक एकहि हनै।
रघुबीर बल दर्पित बिभीषन घालि नहिं ता कहँ गनै॥

दोहा—उमा बिभीषन-रावनहिं, सनमुख चितव कि काउ।
सो अब भिरत काल ज्यों, श्रीरघुबीर प्रभाउ ॥९३॥

शब्दार्थ—घालि न गिनना = पसँगा बराबर भी न गिनना ; यथा, "बीर करि केसरी कुठार पानि मानी हारि तेरी कहा चली, बिड ! तो सों गनै घालि को ।" (क० लं० ११) ; मल्ल-युद्ध = कुश्ती, लड़ाई ।

अर्थ—भयंकर कठोर गदा की चोट बीच छाती में लगते ही वह पृथिवी पर गिर पड़ा । उसके दसों मुखों से खून बहने लगा, फिर सँभलकर वह क्रोध में भरा हुआ दौड़ा ॥ दोनों अत्यन्त बलवान् पहलवान् भिड़ गये, विरोध भाव से एक दूसरे को मारने लगे । श्रीरघुवीरजी के बल से विभीषण गर्वित हैं, उसको कुछ भी नहीं गिनते ॥ हे उमा ! श्रीविभीषणजी क्या कभी भी रावण के सामने उसे आँख से भी देख सकते थे ? (कभी नहीं) । वे ही अब काल के समान रावण से भिड़ रहे हैं, यह श्रीरघुवीरजी का प्रभाव है ॥९३॥

विशेष—(१) 'बिरुद्ध एक एकहि हनै'—भाव यह है कि मल्ल-युद्ध मित्र-भाव से भी होता है; परन्तु ये दोनों तो विरोध-भाव से लड़ रहे हैं, एक दूसरे को मार गिराने पर उद्यत हैं ।

रावण ने श्रीअंगदजी से दो० २२ में जिन-जिनके नाम लेकर तुच्छ कहा है, उन सबने समय-समय पर इसे अपने-अपने बल दिखाये हैं ; यथा—'तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद ।' से 'सिल्प कर्म जानहिं नल नीला ।' तक श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीअंगदजी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी, श्रीजाम्बवान्जी, श्रीनलजी और श्रीनीलजी इन सब को उसने तुच्छ कहा है इनका बदला लेने के प्रसंग क्रमशः—श्रीरामजी ने तो उसका बध ही किया है, श्रीलक्ष्मणजी का दो० ८२, श्रीअंगदजी का दो० ६६, श्रीसुग्रीवजी का कुंभकर्ण के नाक-कान काटने में हो गया । श्रीविभीषणजी का यही प्रसंग है, श्रीजाम्बवान्जी का दो० ९७ और नल-नील का दो० ६६ देखिये ।

(२) 'सन्मुख चितव कि काउ'—श्रीविभीषणजी रावण से सर्वदा डरा करते थे ; यथा—"नाइ सीस करि बिनय बहूता ।" (सुं० दो० ३९) ; "पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन ।" (सुं० दो० ३०) ; "तात चरन गहि माँगउँ ।" (सुं० दो० ४०) । उसके लात मारने पर भी—"अनुज गहे पद बारहिं बारा ।" (सुं० दो० ४०) । कहा गया है । इन्हीं बातों से रावण ने अंगदजी से कहा भी है—"अनुज हमार भीरु अति सोऊ ।"

(३) 'काल ज्यों'—उसके प्राण लेने पर उद्यत होकर ।

'श्रीरघुवीर प्रभाउ' ; यथा—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई ।" (दो० ३१) ।

देखा अमित बिभीषन भारी । धायउ हनूमान गिरि धारी ॥१॥
रथ तुरंग सारथी निपाता । हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता ॥२॥
ठाढ़ रहा अति कंपित गाता । गयउ बिभीषन जहँ जन-त्राता ॥३॥
पुनि रावन कपि हतेउ प्रचारी । चलेउ गगन कपि पूँछ पसारी ॥४॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी को बहुत थका हुआ देखकर पर्वत लिये हुए श्रीहनुमान्जी दौड़े ॥१॥ (उसके) रथ, घोड़े और सारथी का नाश किया और उसके हृदय में लात मारी ॥२॥ वह खड़ा तो रहा, पर उसका शरीर अत्यन्त काँपने लगा, तब श्रीविभीषणजी वहाँ गये, जहाँ जन-रक्षक प्रभु थे ॥३॥ फिर रावण ने ललकार कर श्रीहनुमान्जी को मारा, वे पूँछ फैलाकर आकाश में चले गये ; अर्थात् उसके प्रहार से इनका कुछ नहीं बिगड़ा ॥४॥

विशेष—(१) 'गिरि धारी'—ऐसा पहाड़ था कि उससे ही उसके रथ, सारथी और घोड़े सभी

नष्ट हो गये ; परन्तु रावण किसी युक्ति से बच गया, तब उसे इन्होंने लात मारी। हृदय उसका मर्म स्थल है, उसीमें इन्होंने भी मारा।

(२) 'गयउ बिभीषन जहँ'''—श्रीहनुमान्जी के पहुँचने से इन्हें अवकाश मिला, तब प्रभु के पास चले आये। 'जन त्राता'—का भाव यह कि अभी इन्होंने श्रीविभीषणजी को अमोघ शक्ति से बचाया है, फिर भी यदि रावण कुछ करे तो रक्षक हैं।

प्रभु के श्रम पाने से श्रीविभीषणजी दौड़े। श्रीविभीषणजी के भारी श्रमित होने पर श्रीहनुमान्जी दौड़े। श्रीहनुमान्जी पर संकट देखकर वानर-भालू क्रोधातुर होकर चले और फिर उनकी भी रक्षा श्रीरघुवीरजी ने की है, इससे यहाँ 'जन त्राता' के गुण का चरितार्थ भी है।

गहेसि पूँछ कपि सहित उड़ाना। पुनि फिरि भिरेउ प्रबल हनुमाना ॥५॥
लरत अकास जुगल सम जोधा। एकहि एक हनत करि क्रोधा ॥६॥
सोहहिं नभ छल बल बहु करहीं। कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं ॥७॥
बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्‌यो ॥८॥

अर्थ—रावण ने पूँछ पकड़ ली, कपि उसके समेत उड़ चले। फिर लौटकर प्रबल श्रीहनुमान्जी उससे भिड़े ॥५॥ दोनों समान योद्धा आकाश में लड़ते हुए एक दूसरे को क्रोध करके मारने लगे ॥६॥ दोनों बहुत छल-बल करते हुए आकाश में ऐसे शोभित होते हैं मानो कज्जल का पर्वत और सुमेरु लड़ रहे हों ॥७॥ जब बुद्धि और बल से राक्षस गिराये न गिरा, तब श्रीहनुमान्जी ने प्रभु का स्मरण किया ॥८॥

विशेष—(१) 'गहेसि पूँछ कपि'''—पूँछ पकड़ने पर उसको साथ लेकर श्रीहनुमान्जी उड़ चले, यह इनके पूँछ का बल है ऊपर इसलिये गये कि ऊपर ही से प्रहार करेंगे एवं आकाश-युद्ध करेंगे। 'पुनि फिरि भिरेउ'—का भाव यह है कि ऐसा कोई नहीं समझे कि उससे डरकर उड़े जाते हैं।

(२) 'जुगल सम जोधा'—क्योंकि दोनों आकार, बुद्धि और बल में समान हैं—दोनों पर्वताकार हैं ; यथा—"कज्जल गिरि सुमेरु जनु"। बल में समान हैं ; यथा—"महि परत पुनि उठि लरत" बुद्धि में भी समान हैं ; यथा—"बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो।" वह भी इनसे नहीं जीत पाता, नहीं तो घायल करके चल देता।

मेघनाद से भी श्रीहनुमानजी का पहले समान युद्ध हुआ था, पर तीसरी बार की लड़ाई में श्रीहनु-मान्जी के बार-बार ललकारने पर भी वह डर से सामने नहीं आया था; यथा—"बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना ॥" (दो॰ ४१) और रावण यहाँ ललकार-ललकार कर लड़ रहा है, यह उससे इसमें अधिकता है।

(३) 'सोहहिं नभ छल-बल बहु करहीं'—यहाँ 'छल' से बुद्धि-बल का अर्थ है और 'बल' से देह के बल का अर्थ है। आगे स्पष्ट है, यथा—"बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो।" इसमें 'छल' की जगह 'बुधि' कहा है। बुद्धि के बल (युक्ति) से संग्राम की शोभा है, इससे 'सोहहिं' कहा है, इसपर "छल बल करहिं" (दो॰ ७६) ; तथा—"निसिचर छल बल करइ अनीती।" (दो॰ ५२) भी देखिये।

(४) "तब मारुत सुत प्रभु संभार्‌यो।"—यहाँ रावण का बल अधिक हुआ, तब श्रीहनुमान्जी ने

प्रभु का स्मरण किया, क्योंकि—"कपि जयसील राम-बल ताते।" (दो॰ ७१), "राम-प्रताप प्रबल कपि जूथा।" (दो॰ ७०) श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा ही था—"तव निज भुज-बल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सयना॥" (कि॰ दो॰ ११) यह वचन यहाँ एवं सर्वत्र चरितार्थ है। कहा भी है—"तुलसी राम सुदीठि ते, निबल होत बलवान। बैर बालि सुग्रीव के, कहा कियो हनुमान॥" (दोहावली ११०)।

छंद—संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो।
महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो।
हनुमंत संकट देखि मर्कट भालु क्रोधातुर चले।
रन मत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुज बल दलमले॥

दोहा—तब रघुबीर प्रचारे, धाये कीस प्रचंड।
कपि बल प्रबल देखि तेहि, कीन्ह प्रगट पाखंड॥९४॥

अर्थ—विजयश्री-युक्त धीर रघुवीर श्रीरामजी का स्मरण करके श्रीहनुमान्‌जी ने ललकार कर रावण को मारा। पृथिवी में गिरते और फिर उठकर लड़ते हैं, यह देखकर देवताओं ने दोनों की जय-जय कह-कर प्रशंसा की॥ श्रीहनुमान्‌जी का क्लेश देखकर रीछ और वानर क्रोधावेश से शीघ्र चले। (परन्तु) रण-मद मत्त रावण ने इन सब योद्धाओं को अपने प्रचंड भुजबल से मसल डाला॥ तब रघुवीर श्रीरामजी के ललकारने पर बड़े बलवान् (अंगद, नील आदि) वानर दौड़े, वानरों की प्रबल सेना देखकर उसने माया प्रकट की॥९४॥

विशेष—(१) 'देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो'—यद्यपि रावण शत्रु है, तथापि यहाँ उसके वीर्य-गुण की प्रशंसा देवताओं ने भी की, क्योंकि ये सत्यवादी होते हैं। दोनों की वीरता पर प्रसन्न होकर दोनों के गुणों की प्रशंसा की।

(२) 'रन मत्त रावन सकल सुभट '—श्रीहनुमान्‌जी का हटना नहीं कहा गया, इससे जाना जाता है कि रावण उनसे भी सावधान था और इन योद्धा वानर-भालुओं से भी लड़ता था, क्योंकि वह रण-रस में मत्त था।

(३) 'धाये कीस प्रचंड'—पहले वानर भालुओं का क्रोधातुर होकर 'चले' ही कहा गया, क्योंकि उन्हें रावण पर उतना अधिक साहस नहीं था, वे श्रीहनुमान्‌जी की सहायता भी नहीं कर सके, किंतु स्वयं मर्दे गये। तब श्रीरामजी ने प्रचंड वानरों को ललकारा, ये 'धाये', अतः, ये उन वानरों से बहुत प्रबल हैं। इसीसे उत्साह-पूर्वक दौड़े।

(४) 'कपि बल प्रबल देखि '—वह हृदय से डर गया कि अभी तक एक श्रीहनुमान्‌जी से मैं पार नहीं पाता था, अब तो उनके समान अंगद आदि भी आ गये, तब इन सबसे मैं अकेले कैसे लड़ूँगा? इससे माया की, यथा—"मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार।" (दो॰ ४०), यहाँ 'पाखंड'

कहा गया है और आगे इसे ही माया कहेंगे, यथा—"प्रभु छन महँ माया सब काटी।" (दो० ९५); अत., पाषंड का अर्थ माया है।

अंतर्धान भयउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका ॥१॥
रघुपति कटक भालु कपि जेते। जहँ तहँ प्रगट दसानन तेते ॥२॥
देखे कपिन्ह अमित दससीसा। जहँ तहँ भजे भालु अरु कीसा ॥३॥
भागे बानर धरहिं न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा ॥४॥

अर्थ—क्षण-भर के लिये वह अदृश्य हो गया, फिर उस दुष्ट ने अनेक रूप प्रकट किये ॥१॥ श्रीरघुनाथजी की सेना में जहाँ जितने भालू-वानर थे, वहाँ उतने ही रावण प्रकट हो गये (प्रत्येक योद्धा के प्रति एक-एक रावण हो गया) ॥२॥ वानरों ने असंख्य रावण देखे, सब रीछ और वानर जहाँ-तहाँ भागे ॥३॥ भागे हुए वानर धैर्य नहीं धरते, हे श्रीलक्ष्मणजी! रक्षा कीजिये, हे रघुवीर श्रीरामजी! रक्षा कीजिये (ऐसा पुकारते जाते हैं) ॥४॥

विशेष—(१) 'अंतर्धान भयउ···'—यह माया अंतर्धान होकर ही की जा सकती थी, अथवा, इसलिये अंतर्धान हुआ कि जिससे अमित-रूप होने पर असली रूप को कोई समझ न पावे, सभी रूपों से लोग डरें।

वाल्मी० ७।१०।२४–२५ में लिखा है कि इसे ब्रह्मा ने वरदान दिया है कि जब जितने और जिस तरह के रूप चाहेगा, धर सकेगा। पूर्व भी लिखा गया है।

(२) 'देखे' और 'भागे' शब्द से सभी सामान्य वानरों का अधीर होना और भागना कहा गया। यहाँ लक्ष्मण रघुवीर का ही पुकारना कहा गया है, क्योंकि अभी वानरों ने श्रीहनुमान्‌जी का भी संकट देखा था, इससे वे समझते हैं कि और कोई इससे रक्षा नहीं कर सकेगा।

दहँ दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन। गर्जहिं घोर कठोर भयावन ॥५॥
डरे सकल सुर चले पराई। जय कै आस तजहु अब भाई ॥६॥
सब सुर जिते एक दसकंधर। अब बहु भये तकहु गिरिकंदर ॥७॥
रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी ॥८॥

अर्थ—दसो दिशाओं में करोड़ों रावण दौड़ते हैं और घोर, कठोर और भयंकर गर्जन करते हैं ॥५॥ सब देवता डरकर (और यह कहते हुए) भाग चले कि हे भाइयो! अब जीत की आशा छोड़ो ॥६॥ एक ही रावण ने तो सब देवताओं को जीत लिया था और अब तो बहुत से हो गये। अत, अब पर्वत-कंदराओं को चलना चाहिये ॥७॥ ब्रह्मा, शिव और ज्ञानी मुनि लोग, जिन जिन ने प्रभु की कुछ भी महिमा जानी है, वे ही वहाँ रह गये ॥८॥

विशेष—(१) 'दहँ दिसि'—इसमें नीचे की दिशा भी कही गई, अर्थात् रथ आदि के नीचे एवं विवर आदि में भी रावण दौड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है।

(२) 'डरे सकल सुर'—औरों की अपेक्षा देवता अधिक सचेत होते हैं, जब वे ही डर गये, तो औरों की क्या बात ?

(३) 'तकहु गिरिकंदर'—जब एक ही रावण था, तब भी बचने का यही एक उपाय था, यथा—"रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तकेउ मेरु गिरि खोहा ॥" (दो॰ १८१)। वही उपाय अब भी करना चाहते हैं।

(४) 'रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी।...'—पहले समष्टि में सबका भागना कहा गया, तब समझा गया कि ब्रह्मा-शिव आदि भी भाग गये होंगे, क्योंकि ये लोग भी रण देखने के समय और-और देवताओं के साथ थे; यथा—"सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना॥ हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम-चरित रन-रंगा ॥" (दो॰ ७१), इससे समुदाय का भागना कहकर तब इन्हें उनसे पृथक् करते हैं।

(५) 'प्रभु महिमा' अर्थात् सामर्थ्य का महत्त्व, जो महिमा जयंत-प्रसंग एवं खर आदि के वध से देखने और जानने में आई थी। पुनः ऐश्वर्य की महिमा भी ; यथा—"तुम्हरेहि भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी ॥" (आ॰ दो॰ १२)—अगस्त्यजी, तथा—"बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर-प्रभाऊ ॥" (बा॰ दो॰ १२०); "प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई।" (दो॰ ११२) इत्यादि। ब्रह्मा, शिव एवं अगस्त्य आदि महर्षि ही कुछ महिमा जानते हैं। श्रीशिवजी के साथ में 'मुनि ग्यानी' कहकर श्रीशिवजी के तुल्य ज्ञानी मुनि को ही सूचित किया गया है, जैसे अगस्त्यजी हैं कि जहाँ श्रीशिवजी भी सत्संग को जाते हैं।

छंद—जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे।
चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपाल पाहि भयातुरे।
हनुमंत अंगद नील नल अति बल लरत रनबाँकुरे।
मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भूभट अंकुरे ॥

दोहा—सुर बानर देखे बिकल, हँस्यो कोसलाधीस।
सजि सारंग एक सर, हते सकल दससीस ॥९५॥

अर्थ—जो प्रभु का प्रताप जानते हैं, वे निर्भय वहीं पर बने रहे। वानरों ने तो शत्रु (के मायिक रूपों) को सचा ही माना। सब वानर-भालू विचलित होकर चल दिये और भय से व्याकुल होकर सभी पुकारते हैं कि हे कृपालु ! रक्षा कीजिये ॥ अत्यन्त बली रणबाँकुरे श्रीहनुमान्जी, अंगदजी, नीलजी और नलजी कपट-रूपी भूमि से अंकुर के समान उपजे हुए करोड़ों-करोड़ों भट रावणों से लड़ते और उनका मर्दन करते हैं ॥ वानरों और देवताओं को व्याकुल देख कोशलपति श्रीरामजी हँसे और शार्ङ्ग धनुष पर एक बाण सजकर उन्होंने सब माया के रावणों को मार डाला ॥९५॥

विशेष—(१) यहाँ पहले सब वानरों का विचलित होकर भागना कहा गया था; फिर

सँभाल की गई कि श्रीहनुमान्, अंगद, नील, नल आदि नहीं भगे, किंतु लड़ते ही रहे, क्योंकि ये प्रभु-प्रताप जानते हैं। 'कपट भू भट अंकुरे' का भाव यह है कि जैसे भूमि में बीज पड़ने से शीघ्र अंकुर जमता है और वह बहुत कोमल होता है वैसे ही रावण की माया-रूपी भूमि से अगणित रावण उत्पन्न हुए, पर उनमें बल कुछ भी नहीं है, इसी से हनुमानादि वानर गण कोटि-कोटि को मर्दित करते हैं, क्योंकि माया के रावण केवल देखने में भयानक थे।

(२) 'हँस्यो कोसलाधीस'—कौतुक पर हँसे, इसीसे राजा-वाचक शब्द 'कोसलाधीस' कहा गया, राजा लोग कौतुक देखते ही हैं। पुनः इससे भी हँसे कि साक्षात् सुर और उनके अंशभूत वानरों ने भी माया के कर्त्तव्य को सत्य ही जाना और डर से वे व्याकुल हो गये क्योंकि देवता भी सर्वांश में सर्वज्ञ नहीं होते।

प्रभु छन महँ माया सब काटी। जिमि रवि उयें जाहिं तम फाटी ॥१॥
रावन एक देखि सुर हरषे। फिरे सुमन बहु प्रभु पर बरषे ॥२॥
भुज उठाइ रघुपति कपि फेरे। फिरे एक एकन्ह तब टेरे ॥३॥
प्रभुबल पाइ भालु कपि धाये। तरल तमकि संजुग महि आये ॥४॥

अर्थ—प्रभु ने क्षण-भर में सब माया काट दी, जैसे सूर्य के उदय से अंधकार नष्ट हो जाता है ॥१॥ एक ही रावण रह गया यह देखकर देवता प्रसन्न हुए और लौटकर प्रभु पर बहुत फूल बरसाये ॥२॥ भुजा उठाकर श्रीरघुनाथजी ने वानरों को लौटाया, तब वे (सब) एक दूसरे को पुकारते हुए लौटे ॥३॥ प्रभु का बल पाकर भालू और वानर दौड़े एवं शीघ्रता से क्रोध करके रणभूमि में आये ॥४॥

विशेष—(१) 'जिमि रवि उयें जाहिं तम फाटी।'—भाव यह कि बिना प्रयास एक ही बाण से सब माया निवृत्त हो गई। यहाँ राम-बाण रवि, बाण का चलना रविउदय, माया के रावण तम-वरूथ और माया का कटना तम का फटना है; यथा—"राम बान रवि उयें जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (सुं० दो० १५) देवता लोग आकाश में थे, इसी से पहले उन्होंने ही माया-रावणों का नाश देखा। अतः, पहले ही लौटे और वानरगण भूमि में हैं, इससे पुकारने से लौटे।

(२) 'भुज उठाइ'—प्रभु ने भुजा उठाकर सबको लौटने का संकेत किया, तब निकट के वानरों ने देखकर समझा कि माया निवृत्त हो गई प्रभु बुला रहे हैं, तब प्रत्येक ने अपनेसे पीछे वालों को पुकारा, फिर उन्होंने भी अपने पीछे वालों को उसी तरह पुकारा। इस तरह सभी जान गये और लौट आये।

भुजा उठाना धैर्य देने के लिये भी है कि मैं उसे भुजबल से मारूँगा, इत्यादि।

अस्तुति करत देवतन्हि देखे। भयउँ एक मैं इन्हके लेखे ॥५॥
सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पर धायल ॥६॥
हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरे आगे ॥७॥
देखि बिकल सुर अंगद धायो। कूदि चरन गहि भूमि गिरायो ॥८॥

शब्दार्थ—मरायल = लतमरफ्रा, पिटे हुए। घायल = घाया।

अर्थ—देवताओं को स्तुति करते देख (मन में चिढ़ा कि) इनकी समझ में मैं एक हो गया (भाव यह कि इनके लिये तो मैं अकेला ही बहुत हूँ, पर फिर भी ये निर्भय होकर शत्रु की स्तुति करते हैं, इसपर इनसे बोला) ॥५॥ अरे शठो ! तुम सदा ही मुझसे पिटते आये हो, ऐसा कहकर कोप करके वह आकाश की ओर दौड़ा ॥६॥ हाहाकार करते हुए देवता लोग भागे, (वह बोला) अरे शठो ! तुम मेरे सामने से कहाँ जा सकोगे ? ॥७॥ देवताओं को व्याकुल देखकर श्रीअंगदजी दौड़े और उछलकर उसका पैर पकड़ उसे पृथिवी पर गिरा दिया ॥८॥

विशेष—(१) 'अस्तुति करत···'—देवताओं ने फूल बरसाने के साथ-साथ स्तुति भी की थी ; यथा—"जय जय जय करुनानिधि, छवि बल गुन आगार।" (दो० ८५)। रावण अपने सामने इनके द्वारा शत्रु की स्तुति न सह सका, इसी से उसे क्रोध हुआ। तब उनपर दौड़ा कि इन्हें मैं इनके सहायकों के सामने ही मार कर साध मिटा लूँ। मैं तो मरूँगा ही, क्योंकि हमारे नाश के उपाय रचनेवाले ये ही हैं।

(२) 'अंगद धायो'—देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उन्हें देवताओं की रक्षा करनी चाहिये। श्रीअंगदजी इन्द्र के पौत्र ही हैं। अतः, इन्हें दौड़कर रक्षा करनी ही चाहिये। श्रीअंगदजी ने रावण से प्रतिज्ञा भी की थी ; यथा—"हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहि का करउँ बड़ाई ॥" (दो० ३३); उसकी पूर्त्ति का अवसर पाते ही वे दौड़ पड़े।

छंद—गहि भूमि पार्‌यो लात मार्‌यो बालिसुत प्रभु पहिं गयो।
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो।
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधानि सर बहु बरषई।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई ॥

दोहा—तब रघुपति रावन के, सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप ॥९६॥

अर्थ—पकड़कर पृथिवी पर गिरा दिया, लात मारी, फिर अंगदजी प्रभु के पास गये। रावण सँभल कर उठ भयंकर कठोर शब्द से गरजने लगा ॥ क्रोध करके दसों धनुष चढ़ाकर उनपर बाण संधान कर बहुत बाण बरसाने लगा। सब योद्धाओं को घायल और डर से व्याकुल कर दिया और अपना बल देखकर प्रसन्न हुआ ॥ तब श्रीरघुनाथजी ने रावण के शिर, बाहु, बाण और धनुष काटे। वे (शिर और बाहु) फिर बहुत बढ़े जैसे तीर्थों में किये हुए पाप बढ़ते हैं ॥९६॥

विशेष—'बढ़े पुनि'—पहले बढ़े थे, वैसे फिर भी बढ़े।

'जिमि तीरथ कर पाप'—तीर्थ में किया हुआ पाप बढ़ता ही जाता है, वह प्रायश्चित्त से भी शीघ्र

नहीं मिटता; यथा—"अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य गच्छति। तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥" (वाराह पुराण मथुरा माहात्म्य), क्योंकि तीर्थ पापों के प्रायश्चित्त रूप हैं, प्रायश्चित्त का तात्पर्य यह है कि—"अज्ञानाद्यदिवा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥" अर्थात् जान-अजान में किसी भी प्रकार के निंदित कर्म करके जो उससे छूटने की इच्छा करे, वह फिर दूसरी बार वह कर्म न करे।

तीर्थ की शक्ति के भरोसे पाप में रत प्राणी तीर्थ को पाप का साधन बनाता है। यह तीर्थ के अपराध का महा पाप बढ़ाता है। क्योंकि तीर्थ का स्वभाव पाप-नाशक है, उसमें रहकर उसके प्रतिकूल आचरण करता है। अतः, तीर्थ के कोप से उसका वह पाप वज्रलेप हो जाता है।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि तीर्थ जैसे दानादि के फल एक-एक के प्रति सहस्रों गुणा देते हैं, वैसे ही पापों को भी कोटि-कोटि गुणा बढ़ाकर उनका फल देते हैं। तीर्थ का कल्पवृक्ष के समान स्वभाव होता है।

तीर्थ में प्रायः विद्वान् सन्त इत्यादि का सत्संग सुलभ रहता है, फिर भी जो पाप करते हैं, वे धृष्टता से जान-बूझकर तीर्थ का अपराध करते हैं, इससे उनके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। वज्रलेप का भाव यह कि शीघ्र नहीं मिटते, करोड़ों बार उचित प्रायश्चित्त करने से कहीं नाश होते हैं, जैसे रावण के शिर करोड़ों बार काटने पर तब समूल नाश हुए।

सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी। भालु-कपिन्ह रिस भई घनेरी ॥१॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा। धाये कोपि भालु भट कीसा ॥२॥
बालितनय मारुति नल-नीला। बानरराज दुबिद बलसीला ॥३॥
बिटप महीधर करहिं प्रहारा। सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा ॥४॥
एक नखन्हि रिपु-बपुष बिदारी। भागि चलहिं एक लातन्ह मारी ॥५॥
तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गयऊ। नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ ॥६॥

अर्थ—शत्रु के शिरों और भुजाओं की बढ़ती देखकर रीछों और वानरों को बहुत क्रोध हुआ ॥१॥ अरे! यह मूर्ख शिरों और भुजाओं के कट जाने पर भी नहीं मरता। (ऐसा कहते हुए) भालू और वानर योद्धा क्रोध करके दौड़े ॥२॥ अंगदजी, हनुमान्‌जी, नलजी, नीलजी, वानरराज सुग्रीवजी और द्विविदजी, ये सब महाबलवान् वृक्षों और पर्वतों के प्रहार करते थे, उन्हीं वृक्षों और पर्वतों को पकड़कर वह वानरों को मारता था ॥३-४॥ कोई तो शत्रु के शरीर को नखों से फाड़कर भाग चलते हैं और कोई लातों से मारकर भाग जाते हैं ॥५॥ तब नल और नील उसके शिरों पर चढ़ गये और नखों से उसके ललाट को विदीर्ण करने लगे ॥६॥

विशेष—(१) 'रिसि भई घनेरी'—प्रबलता पर भय नहीं हुआ, किंतु क्रोध एवं उत्साह हुआ, इससे ये लोग उसके मारने के और उपाय करते हैं।

(२) 'तब नल नील···'—नल-नील के विषय में रावण ने कहा था—"सिलिप कर्म जानहिं नल नीला।" (दो० २२) उसीका उत्तर वे अवसर पाकर दे रहे हैं, अपना बल दिखा रहे हैं। यह भी भाव

शब्दार्थ—मरायल = खतमरद्या, पिटे हुए। घायल = घावा।

अर्थ—देवताओं को स्तुति करते देख (मन में चिढ़ा कि) इनको समझ मे मैं एक हो गया (भाव यह कि इनके लिये तो मैं अकेला ही बहुत हूँ, पर फिर भी ये निर्भय होकर शत्रु की स्तुति करते हैं, इसपर इनसे बोला) ॥५॥ अरे शठो ! तुम सदा ही मुझसे पिटते आये हो, ऐसा कहकर कोप करके वह आकाश की ओर दौड़ा ॥६॥ हाहाकार करते हुए देवता लोग भागे, (वह बोला) अरे शठो ! तुम मेरे सामने से कहाँ जा सकोगे ? ॥७॥ देवताओं को व्याकुल देखकर श्रीअंगदजी दौड़े और उछलकर उसका पैर पकड उसे पृथिवी पर गिरा दिया ॥८॥

विशेष—(१) 'अस्तुति करत '—देवताओं ने फूल बरसाने के साथ-साथ स्तुति भी की थी ; यथा—"जय जय जय करुनानिधि, छवि बल गुन आगार।" (दो॰ ८५)। रावण अपने सामने इनके द्वारा शत्रु की स्तुति न सह सका, इसी से उसे क्रोध हुआ। तब उनपर दौड़ा कि इन्हें मैं इनके सहायकों के सामने ही मार कर साध मिटा लूँ। मैं तो मरूँगा ही, क्योंकि हमारे नाश के उपाय रचनेवाले ये ही हैं।

(२) 'अंगद धायो'—देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उन्हें देवताओं की रक्षा करनी चाहिये। श्रीअंगदजी इन्द्र के पौत्र ही हैं। अत, इन्हें दौड़कर रक्षा करनी ही चाहिये। श्रीअंगदजी ने रावण से प्रतिज्ञा भी की थी , यथा—"हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई। तोहिं अबहिं का करउँ बडाई ॥" (दो॰ ३३), उसकी पूर्ति का अवसर पाते ही वे दौड़ पडे।

छंद—गहि भूमि पारयो लात मारयो बालिसुत प्रभु पहिं गयो।
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो।
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधानि सर बहु बरषई।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई ॥

दोहा—तब रघुपति रावन के, सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप ॥९६॥

अर्थ—पकडकर पृथिवी पर गिरा दिया, लात मारी, फिर अंगदजी प्रभु के पास गये। रावण सँभल कर उठ भयंकर कठोर शब्द से गरजने लगा ॥ क्रोध करके दसों धनुष चढाकर उनपर बाण संधान कर बहुत बाण बरसाने लगा। सब योद्धाओं को घायल और डर से व्याकुल कर दिया और अपना बल देखकर प्रसन्न हुआ ॥ तब श्रीरघुनाथजी ने रावण के शिर, बाहु, बाण और धनुष काटे। वे (शिर और बाहु) फिर बहुत बढे जैसे तीर्थों में किये हुए पाप बढते हैं ॥९६॥

विशेष—'बढे पुनि'—पहले बढे थे, वैसे फिर भी बढे।

'जिमि तीरथ कर पाप'—तीर्थ में किया हुआ पाप बढ़ता ही जाता है, वह प्रायश्चित्त से भी शीघ्र

नहीं मिटता; यथा—"अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य गच्छति। तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥" (वाराह पुराण मथुरा माहात्म्य), क्योंकि तीर्थ पापों के प्रायश्चित्त रूप हैं, प्रायश्चित्त का तात्पर्य यह है कि—"अज्ञानाद्दिवा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥" अर्थात् जान-अजान में किसी भी प्रकार के निंदित कर्म करके जो उससे छूटने की इच्छा करे, वह फिर दूसरी बार वह कर्म न करे।

तीर्थ की शक्ति के भरोसे पाप में रत प्राणी तीर्थ को पाप का साधन बनाता है। वह तीर्थ के अपराध का महा पाप बढ़ाता है। क्योंकि तीर्थ का स्वभाव पाप-नाशक है, उसमें रहकर उसके प्रतिकूल आचरण करता है। अतः, तीर्थ के कोप से उसका वह पाप वज्रलेप हो जाता है।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि तीर्थ जैसे दानादि के फल एक-एक के प्रति सहस्रों गुणा देते हैं, वैसे ही पापों को भी कोटि-कोटि गुणा बढ़ाकर उनका फल देते हैं। तीर्थ का कल्पवृक्ष के समान स्वभाव होता है।

तीर्थ में प्रायः विद्वान् सन्त इत्यादि का सत्संग सुलभ रहता है, फिर भी जो पाप करते हैं, वे धृष्टता से जान-बूझकर तीर्थ का अपराध करते हैं, इससे उनके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। वज्रलेप का भाव यह कि शीघ्र नहीं मिटते, करोड़ों बार उचित प्रायश्चित्त करने से कहीं नाश होते हैं, जैसे रावण के शिर करोड़ों बार काटने पर तब समूल नाश हुए।

सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी। भालु-कपिन्ह रिस भई घनेरी॥१॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा। धाये कोपि भालु भट कीसा॥२॥
बालितनय मारुति नल-नीला। बानरराज दुबिद बलसीला॥३॥
बिटप महीधर करहिं प्रहारा। सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा॥४॥
एक नखन्हि रिपु-बपुष बिदारी। भागि चलहिं एक लातन्ह मारी॥५॥
तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गयऊ। नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ॥६॥

अर्थ—शत्रु के शिरों और भुजाओं की बढ़ती देखकर रीछों और वानरों को बहुत क्रोध हुआ॥१॥ अरे! यह मूर्ख शिरों और भुजाओं के कट जाने पर भी नहीं मरता। (ऐसा कहते हुए) भालू और वानर योद्धा क्रोध करके दौड़े॥२॥ अंगदजी, हनुमान्‌जी, नलजी, नीलजी, वानरराज सुग्रीवजी और द्विविदजी, ये सब महाबलवान् वृक्षों और पर्वतों के प्रहार करते थे, उन्हीं वृक्षों और पर्वतों को पकड़कर वह वानरों को मारता था॥३-४॥ कोई तो शत्रु के शरीर को नखों से फाड़कर भाग चलते हैं और कोई लातों से मारकर भाग जाते हैं॥५॥ तब नल और नील उसके शिरों पर चढ़ गये और नखों से उसके ललाट को विदीर्ण करने लगे॥६॥

विशेष—(१) 'रिसि भई घनेरी'—प्रबलता पर भय नहीं हुआ, किंतु क्रोध एवं उत्साह हुआ, इससे ये लोग उसके मारने के और उपाय करते हैं।

(२) 'तब नल नील…'—नल-नील के विषय में रावण ने कहा था—"सिल्पि कर्म जानहि नल नीला।" (दो० १२) उसीका उत्तर वे अवसर पाकर दे रहे हैं, अपना बल दिखा रहे हैं। यह भी भाव

कहा जाता है कि ये अग्नि एवं विश्वकर्मा के पुत्र हैं। श्रीअंगदजी से उसने कहा था कि मेरी मृत्यु ब्रह्मा ने नर के हाथों लिखी है। यही ये देखते हैं कि यह कब और कैसे मरेगा ? इसलिये लिलार फाड़कर देख रहे हैं।

रुधिर देखि बिषाद उर भारी। तिन्हहि धरन कहँ भुजा-पसारी ॥७॥
गहे न जाहिं करन्हि पर फिरहीं। जनु जुग मधुप कमल बन चरहीं ॥८॥
कोपि कूदि दोउ धरेसि बहोरी। महि पटकत भजे भुजा मरोरी ॥९॥
पुनि सकोप दस धनु कर लीन्हे। सरन्हि मारि घायल कपि कीन्हे ॥१०॥

अर्थ—रक्त देखकर उसके हृदय में बहुत विषाद हुआ, तब उनके पकड़ने के लिये उसने हाथ फैलाये ॥७॥ वे हाथों के ऊपर-ऊपर फिरते हैं, पकड़ में नहीं आते, मानों दो भ्रमर कमल-वन में विचर रहे हैं ॥८॥ फिर क्रोध करके कूदकर उसने दोनों को पकड़ लिया, पर ज्यों ही वह इन्हें पृथिवी पर पटकने को हुआ, त्यों ही ये उसकी भुजाओं को मरोड़कर भाग चले ॥९॥ फिर उसने कोप सहित दसों धनुष हाथों में लिये और बाणों से मारकर वानरों को घायल कर डाला ॥१०॥

विशेष—(१) 'रुधिर देखि बिषाद ···'—ऐसा साहसी एवं मदांध है कि इन महाबली वानरों का शिर पर चढ़ना और विदारना उसे मालूम ही नहीं पड़ा, रुधिर देखकर जाना। 'बिषाद उर भारी'—इन वानरों का कुछ कर नहीं पाता और उधर वानर गण देखकर हँसते हैं, इसपर उसे लज्जा और क्रोध सहित विषाद हुआ ; यथा—"नील लाघव संभ्रान्तं दृष्ट्वा रावणमाहवे ॥ वानराणां च नादेन संरब्धो रावणस्तदा ।" (वाल्मी० ६।५९।८१–८२), अर्थात् नील के शीघ्र-कार्य कर्तृत्व से रावण युद्ध में घबड़ा गया ॥ पुनः वानरों के हर्षनाद से भी वह घबड़ा गया।

(२) 'गहे न जाहिं ···'—यहाँ नल और नील ये दो भ्रमर हैं, रावण की बीस भुजाएँ कमल के वन हैं। जैसे भौंरे कमलों पर उड़ते हैं, वैसे ही ये उसके हाथों पर ऊपर-ही-ऊपर विचर रहे हैं, पकड़े नहीं जाते।

(३) 'भजे भुजा मरोरी'—यह नल-नील की जीत हुई।

हनुमदादि मुरुछित करि बंदर। पाइ प्रदोष हरष दसकंधर ॥११॥
मुरुछित देखि सकल कपि बीरा। जामवंत धायउ रनधीरा ॥१२॥
संग भालु भूधर तरु धारी। मारन लगे पचारि पचारी ॥१३॥
भयउ क्रुद्ध रावन बलवाना। गहि पद महि पटकइ भट नाना ॥१४॥
देखि भालुपति निज दल घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता ॥१५॥

अर्थ—श्रीहनुमान् आदि सब वानरों को मूर्च्छित करके संध्या का समय प्राप्त होने से रावण हर्षित हुआ ॥११॥ सभी वीर वानरों को मूर्च्छित देखकर रणधीर श्रीजाम्बवान्जी दौड़े ॥१२॥ श्रीजाम्बवान्जी के साथ वाले भालू पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए उसे ललकार-ललकार मारने लगे ॥१३॥ बलवान् रावण

क्रोधित हुआ, और पैर पकड़-पकड़ कर अनेक योद्धाओं को पटकने लगा ॥१४॥ ऋक्षराज ने अपने दल को घायल देख क्रोध करके उसकी बीच छाती में लात मारी ॥१५॥

विशेष—(१) 'हनुमदादि' और 'अंगदादि' से इनके समान बलवान् योद्धा ही अभिप्रेत हैं। इनमें श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी आदि नहीं लिये जायँगे, क्योंकि ये श्रीहनुमान् आदि से बड़े हैं; यथा—"बोले अंगदादि कपि नाना ॥ ''जामवंत सुग्रीव बिभीपन। सेन समेत रहेहु तीनिउ जन ॥" (दो० ७१); इनमें अंगदादि के अतिरिक्त इन तीनों के पृथक् नाम दिये गये हैं। इसी प्रकार ग्रंथ में बहुत-से उदाहरण हैं।

ऐसे ही 'कपि दल' 'कपि बीर' 'कपि सकल' एवं 'सुभट' आदि कहे जाने से केवल सेना से तात्पर्य रहता है, उनमें श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी नहीं लिये जाते, जब तक कि इनके नाम न दिये जायँ। यथा—"चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपालु पाहि भयातुरे। हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रन बाँकुरे।" (दो० ८५)। इनमें और 'मर्कट भालु' से श्रीहनुमान् आदि पृथक् लिखे गये हैं, इत्यादि।

'पाइ प्रदोष हरष'''' प्रदोष काल में राक्षसों का बल बढ़ता है, इसीसे इसे हर्ष हुआ कि अब तो मैं और प्रबल होऊँगा। या, आज मैं विजयी होकर जा रहा हूँ; क्योंकि अब तो युद्ध होगा नहीं, सायंकाल हो गया।

(२) 'गहि पद'—भालू अधिकतर लात से ही मारते हैं, उन्हीं पाँवों को पकड़-पकड़कर रावण पटकता था। 'घाना'—का यहाँ 'घायल' एवं 'मूर्च्छित होना' ही अर्थ है, नाश होना अर्थ नहीं है। क्योंकि आगे—"मुरुछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास।" (दो० ९७) कहा गया है।

छंद—उर लात घात प्रचंड लागत बिकल रथ ते महि परा।
गहे भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा।
मुरुछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयो।
निसि जानि स्यंदन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो॥

दोहा—मुरुछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास।
निसिचर सकल रावनहि, घेरि रहे अति त्रास॥९७॥

अर्थ—छाती में लात की गहरी चोट लगते ही वह व्याकुल होकर रथ से पृथिवी पर गिर पड़ा। बीसों हाथों में भालुओं को पकड़े हुए वह ऐसा जान पड़ता था, मानों रात में भौंरे कमलों में बस रहे हैं॥ मूर्च्छित देखकर फिर लात मारकर श्रीजाम्बवान्‌जी प्रभु के पास गये। रात जानकर सारथी उसे रथ में डालकर होश में लाने का उपाय करने लगा॥ मूर्च्छा बीतने पर सब भालू और वानर प्रभु के पास आये, (उधर) सब राक्षस अत्यन्त भय से रावण को घेरे हुए खड़े हैं॥९७॥

विशेष—(१) 'मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा'—यहाँ रावण के हाथ कमल हैं, मुट्ठी बँधना कमल का संकुचित होना है। काले भालू काले भ्रमर हैं। मुट्ठी में दबे हुए भालू ही कमलों में फँसे

हुए भ्रमर हैं। रात का समय भी है ही। कमल मे फँसे हुए भ्रमर फिर छूटकर उड़ जाते हैं, ऐसे ही ये भालू गण भी अभी सचेत होते ही निकल भागेंगे।

(२) 'बहोरि पद हति'—लात की चोट से व्याकुल होकर वह गिर पड़ा है, परन्तु अभी भालुओं को मुट्ठी में दाबे हुए है। इससे जान पड़ता है कि यह ठीक मूर्च्छित नहीं है, नहीं तो भालुओं को छोड़ देता, इसी से कुछ मूर्च्छा के लक्षण देखकर भी फिर लात मारी कि जिससे वह ठीक मूर्च्छित हो जाय और हमारे भालूगण छूट जायँ। वैसा ही हुआ भी—'मुरुछा बिगत भालु कपि···' आगे कहा गया है।

(३) 'निसि जानि स्यंदन···'—एक तो रात हो गई थी। अत, युद्ध बद होने का समय आ गया था और फिर इसके होश में लाने का यथार्थ उपाय भी लंका मे जाने से ही हो सकेगा, इसलिये वह ले गया।

(४) 'घेरि रहे अति त्रास'—बड़ी गहरी मूर्च्छा है, अनेकों प्रकार के उपाय करने से भी नहीं छूटी, कहीं रावण मर न जाय, इसका बहुत डर है। अत, सभी घेरे हुए हैं। यह भी डर है कि जैसे यज्ञ-विध्वंस के लिये वानर पहुँच गये वैसे कहीं इसे ले जाने को भी न आ जायँ, इसलिये सभी घेरे खड़े हैं।

राक्षस लोगों की ओर से ही ऐसे अनीति के व्यवहार हुए हैं कि मूर्च्छित दशा में श्रीलक्ष्मणजी को मेघनाद और रावण ने ले जाने के प्रयास किये हैं; परन्तु उठा ही न सके थे। कुंभकर्ण श्रीसुग्रीवजी को ले ही गया था। पर इधर से अभी तक ऐसा बर्त्ताव नहीं हुआ, प्रत्युत् कुंभकर्ण और मेघनाद के शव को वहीं पहुँचाया गया है। यह इस दल की उदारता है। ये सब वीर हैं। अत, मूर्च्छितों के ले जाने मे लघुता मानते हैं। पर राक्षस लोग अपने हृदय के अनुमार दूसरों से भी शंका करते हैं।

तेही निसि सीता पहिं जाई। त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई ॥१॥
सिर भुज बाढ़ि सुनत रिपु केरी। सीता उर भइ त्रास घनेरी ॥२॥
मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता ॥३॥
होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता ॥४॥

अर्थ—उसी रात त्रिजटा ने श्रीसीताजी के पास जाकर सब हाल कह सुनाया ॥१॥ शत्रु के शिर और भुजाओं की बढ़ती सुनकर श्रीसीताजी के मन मे बड़ा डर हुआ ॥२॥ उनका मुख उदास हो गया, मन मे चिंता पैदा हुई, तब वे श्रीसीताजी त्रिजटा से बोलीं ॥३॥ कि हे माता! कहती क्यों नहीं हो कि क्या होगा? संसार भर का दुःखदाता रावण किस तरह मरेगा? ॥४॥

विशेष—(१) 'तेही निसि'—जिस रात में रावण को गहरी मूर्च्छा हुई और सब राक्षस उसे घेरे हुए चैतन्य करने के उपाय कर रहे थे, उसी रात को। यह भी भाव है कि जब से श्रीहनुमान्जी आकर श्रीसीताजी को देख गये, तब से रात में भारी पहरा रहता था, कोई वहाँ जाने नहीं पाता था, उसी रात में जब सब रावण की मूर्च्छा के कारण असावधान थे, तब अवसर पाकर यह आई।

(२) 'मुख मलीन···'—अनिष्ट संभावना से उदास हुई और फिर इष्ट की प्राप्ति के लिये चिंता

हुई। 'विश्व दुखदाता'—भाव यह कि एक दो प्राणियों को दुःख देनेवाले का पुण्य क्षीण हो जाता है, पर यह संसार भर का दुःखदाता है, फिर इसका नाश क्यों नहीं हो रहा है। इसके नाश का क्या विधान है ?

रघुपति सर सिर कटेहु न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई ॥५॥
मोर अभाग्य जियावत ओही। जेहिं हौं हरिपद-कमल बिछोही ॥६॥
जेहि कृत कपट कनक-मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा ॥७॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाये। लछिमन कहँ कटु बचन कहाये ॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के बाणों से शिर कटने पर भी वह नहीं मरता, विधाता सब उलटे ही चरित करते हैं ॥५॥ मेरा दुर्भाग्य ही उसको जिला रहा है, जिसके कारण मैं हरि-पद-कमल से बिछुड़ी हुई हूँ ॥६॥ जिसने माया से सोने का झूठा मृग बनाया था, वही दैव (विधाता) अब भी मुझपर रुष्ट है ॥७॥ जिस विधाता ने मुझसे असह्य दुःख सहाये और श्रीलक्ष्मणजी को कड़वे वचन कहलाये ॥८॥

विशेष—(१) 'रघुपति सर सिर···'—श्रीरामजी के बाण अमोघ (अव्यर्थ) हैं, अतएव उनसे शिर काटे जाने पर भी नहीं मरना आश्चर्यजनक है ; यथा—"जिमि अमोघ रघुपति के बाना।" (सुं॰ दो॰ १)। पहले उसके मरने के विधान पर चिंतित थीं, उसी की पुष्टि में कहती हैं कि श्रीरघुनाथजी के अमोघ बाणों से भी नहीं मरता, ऐसा क्यों ? तब स्वयं समाधान करती हैं कि विधाता ही यह विपरीत चरित कर रहा है। फिर विचार किया कि विधाता तो कर्म के अनुसार ही विधान करता है ; यथा—"कठिन करमगति जान विधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (अ॰ दो॰ १८१)। अतः, कहती हैं—

(२) 'मोर अभाग्य जियावत ओही।···'—मेरा अभाग्य उसे मरने नहीं देता, वह मर जाय तो हरि-पद-कमल का संयोग हो, दुःख हरण हो। अभाग्य किसी को एका-एक नहीं आ दबाता, इसलिये उसकी प्रवृत्ति पहले से कह रही है।

(३) 'जेहि कृत कपट ··'—वह मृग नहीं था, क्योंकि मरते समय राक्षस प्रकट हुआ। 'दुख दुसह सहाये'—घर से निकल वनवास कराया, फिर श्रीलक्ष्मणजी को कटु वचन कहला कर प्राण-पति से भी वियोग कराया।

रघुपति-बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी ॥९॥
ऐसेहु दुख जो राख मम प्राना। सोइ बिधि ताहि जियाव न आना ॥१०॥
बहु बिधि करति बिलाप जानकी। करि करि सुरनि कृपानिधान की ॥११॥
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी। उर सर लागत मरइ सुरारी ॥१२॥
प्रभु ताते उर हतइ न तेही। येहि के हृदय बसति बैदेही ॥१३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के विरह रूपी विषैले (विष में बुझाये हुए) भारी बाणों से बहुत बार मार-

कर (अब भी) तक-तक कर मार रहा है ॥९॥ (और) ऐसे दुःख में भी हमारे प्राणों को रख रहा है (देह से निकलने नहीं देता), वही विधाता उसको जिला रहा है और कोई नहीं ॥१०॥ कृपासागर श्रीरामजी का बार-बार स्मरण करके श्रीजानकीजी बहुत प्रकार से विलाप कर रही हैं ॥११॥ त्रिजटा ने कहा, हे राजकुमारी ! सुनिये, देव-शत्रु रावण हृदय में बाण लगते ही मरेगा ॥१२॥ प्रभु उसके हृदय में बाण इसलिये नहीं मारते हैं कि इसके हृदय में श्री वैदेहीजी बसती हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'तकि तकि मार···'—श्रीरघुनाथजी के दर्शनों की कामना विषैले बाणों की तरह बार-बार मन को विह्वल कर देती है। यहाँ ऊपर और नीचे विधि का प्रसंग है, इसी से ऐसा अर्थ किया गया है।

(२) 'करि करि सुरति कृपानिधान की।'—वे सब पर कृपा करते हैं; यथा—"आरज सुवन के तो दया दुवनहुँ पर मोहिं सोच मोतें सब विधि नसानि।" (गी० सुं० ७), 'सुरति'; यथा—"मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग-अंग छवि भिन्न-भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ-तहँ छावहिंगे।···यह अभिलाप रैनि दिन मेरे···" (गी० सुं० १०)।

(३) 'सुनु राजकुमारी' का भाव यह कि राज-घराने के लोग धीर होते हैं। अतः, आपको भी धैर्य धरना चाहिये। 'उर सर लागत मरिहि सुरारी।'—यह श्रीसीताजी के-'केहि विधि मरिहि निस्व दुखदाता' का उत्तर है। यह सुनकर श्रीजानकीजी को धैर्य होगा। तब प्रभु उसके उर में मारते क्यों नहीं, इसका उत्तर देती है—'प्रभु ताते···'

छंद—येहि के हृदय बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बान सब कर नास है।
सुनि वचन हरप विषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटा कहा।
अब मरिहि रिपु येहि विधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा।

दोहा—काटत सिर होइहि विकल, छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहि हृदय महँ, मरिहहिं राम सुजान ॥९८॥

अर्थ—इसके हृदय में श्रीजानकीजी बसती हैं, श्रीजानकीजी के हृदय में मेरा निवास है और मेरे उदर में अनेक भुवन हैं, (रावण के हृदय में) बाण लगते ही सब (भुवनों) का नाश होगा। यह वचन सुनकर श्रीसीताजी के मन में अत्यन्त हर्ष और खेद हुआ, देखकर फिर त्रिजटा ने कहा कि हे सुन्दरी ! सुनिये और महा संदेह छोड़िये, अब शत्रु इस तरह मरेगा॥ कि शिरों के काटते-काटते वह व्याकुल हो जायगा (उसके हृदय से) तुम्हारा ध्यान छूट जायगा, तब सुजान श्रीरामजी रावण के हृदय में बाण मारेंगे ॥९८॥

विशेष—(१) 'सुनि वचन हरप विषाद अति'—'जानकी उर मम बास है'—यह प्रभु की तरफ से जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि मेरे भाव को स्वामी जाने हुए हैं। 'विषाद' इस पर हुआ कि यदि रावण

मरेगा नहीं, तो मेरा प्रत्यक्ष वियोग तो रहेगा ही। यह देखकर त्रिजटा ने इस महा संशय-निवारण के लिये फिर कहा।

(२) 'काटत सिर होइहि निकल···'—'राम सुजान' अर्थात् वे सब जानते हैं कि कौन कार्य किस प्रकार और किस अवसर पर होगा ? यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ॰ दो॰ २५२); अतः, वे स्वयं जब जान लेंगे कि अब तुम्हारा ध्यान उसके हृदय से छूट गया, उसी समय मार देंगे। उन्हें किसी के बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

अस कहि बहुत भाँति समुझाई। पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई ॥१॥
राम सुभाव सुमिरि बैदेही। उपजी बिरह-बिथा अति तेही ॥२॥
निसिहि ससिहि निदति बहु भाँती। जुग सम भई सिराति न राती ॥३॥
करनि बिलाप मनहि मन भारी। राम-बिरह जानकी दुखारी ॥४॥
जब अति भयउ बिरह उर दाहू। फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ॥५॥
सगुन बिचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहि कृपाल रघुबीरा ॥६॥

अर्थ—ऐसा कहकर बहुत तरह समझाकर फिर त्रिजटा अपने घर को चली गई ॥१॥ श्रीरामजी का स्वभाव स्मरण कर श्रीजानकीजी को विरह की अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न हुई ॥२॥ वे रात्रि और चन्द्रमा की बहुत तरह से निंदा कर रही हैं कि यह रात्रि युग के समान भारी हो गई, सिराती ही नहीं ॥३॥ श्रीजानकीजी श्रीरामजी के विरह से दुखी होकर मन-ही-मन भारी विलाप करती हैं ॥४॥ जब हृदय में अधिक विरह से अत्यन्त ताप हुआ, तब उनके बायें नेत्र और बाहु ये दोनों फड़क उठे ॥५॥ शकुन समझकर मन में धैर्य धारण किया कि दयालु रघुवीर श्रीरामजी अब अवश्य मिलेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'बहुत भाँति समुझाई।' जब श्रीजानकीजी ने रावण-मरण कठिन समझा कि श्रीरामजी शिर ही काटेंगे, पर ध्यान छूटना तो उनके हाथ नहीं है, तब इसपर फिर त्रिजटा को बहुत तरह से समझाना पड़ा। 'बहुत भाँति'—(क) श्रीरामजी ब्रह्म हैं, क्षण-भर में ही उसे मार सकते हैं परन्तु श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी के वचनों को सत्य दिखाने के लिये मनुष्य के समान लीला कर रहे हैं। (ख) उसने श्रीशिवजी को शिर चढ़ाये हैं, श्रीशिवजी की उदारता प्रकट करने के लिये एक-एक के बदले कोटि-कोटि शिर दे रहे हैं। (ग) अपने वनवास का समय भी पूरा कर रहे हैं, अभी उसके भी मरण का समय नहीं आया। (घ) अपना श्रम दिखा रहे हैं, जब श्रीविभीषणजी उसे मारने का उपाय स्वयं कहेंगे, तब प्रभु उसे मारेंगे, क्योंकि वे 'प्रनत कुटुंबपाल' हैं; इत्यादि बातों से रावण वध प्रभु के अधीन कहा, तब इन्हें संतोष हुआ।

(२) 'राम सुभाव सुमिरि···'—'राम-सुभाव'; यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी॰ सुं॰ ११); "अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।" (सु॰ दो॰ ५६); "करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ॰ दो॰ ८४); इत्यादि स्वभाव के स्मरण पर जब श्रीजानकीजी ने यह जाना कि मेरे विरह में प्रभु अत्यन्त दुखी होंगे, तब उनके दुःख को समझकर उनको विरह की अत्यन्त पीड़ा हुई कि कब उनसे मिलकर उन्हें सुखी करूँगी; यथा—"रामस्य शोकेन समान शोका" (वाल्मी॰ ५।१६।१७); अर्थात् श्रीरामजी को अपने निमित्त अति विरही सुनकर

श्रीजानकीजी उन्हींके समान दुखी हुईं। फिर इसीपर उन्होंने कहा है; यथा—"अमृतं विषसंपृक्तं त्वया वानर भाषितम्। यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः॥" (वाल्मी० ५।३७।२), अर्थात् हे वानर! तुम्हारे ये वचन विष मिले हुए अमृत के समान हैं जो तुमने कहा कि श्रीरामजी तुम्हारा सदा चिंतन किया करते हैं और वे शोकपरायण रहते हैं॥

(३) 'निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती।'—रात कटती ही नहीं, और फिर चन्द्रमा विरहिनी को अधिक तापदायक है; यथा—"घटइ-बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।" (बा० दो० २३७), इससे दोनों की अनेकों भाँति निंदा करती हैं; यथा—"कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥" (बा० दो० २३७); 'करति बिलाप मनहिं मन'—कोई इस दुःख को जाननेवाला अधिकारी हो तो उससे कहा जाय और दुःख कुछ कम हो, परन्तु यहाँ वैसा कोई नहीं है, एक त्रिजटा थी वह भी चली गई; यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥" (सु० दो० १४)।

(४) 'जब अति भयउ बिरह ...'—जब विरह की पराकाष्ठा हो गई; तब शकुन के द्वारा धैर्य मिला; यथा—"प्रभु पयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं॥" (सुं० दो० ३४), वे ही शकुन यहाँ भी हुए, यथा—'फरकेउ बाम नयन अरु बाहू।' कहा गया है। पहले शकुन होने पर प्रभु आये थे, यह सत्य हुआ था, तो इसबार का भी सत्य ही होगा कि प्रभु मिलेंगे; यथा—"सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी।" (अ० दो० ६)।

'अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा।'—वीरता से शत्रु को मारेंगे और कृपा करके मुझे मिलेंगे, यहाँ के ये दोनों विशेषण इसीलिये हैं।

इहाँ अर्द्ध निसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥७॥
सठ रनभूमि छँड़ाइसि मोही। धिग धिग अधम मंदमति तोही॥८॥
तेहि पद गहि बहु बिधि समुझावा। भोर भये रथ चढ़ि पुनि धावा॥९॥

अर्थ—इधर आधी रात को रावण जागा (चैतन्य हुआ) और अपने सारथी पर क्रोध के वचन कहने लगा॥७॥ अरे शठ! तूने मुझे रणभूमि से अलग कर दिया। अरे अधम! तुझे धिक्कार है, अरे मंद बुद्धि! तुझे धिक्कार है॥८॥ उस (सारथी) ने पैर पकड़कर बहुत प्रकार से समझाया और प्रातःकाल होते ही उसने फिर रथ पर चढ़कर धावा किया॥९॥

विशेष—(१) 'इहाँ' शब्द का भाव पूर्व दो० १२ चौ० १ में कहा गया कि सरसता देखकर ग्रन्थकार के अपनापन दिखाने का यह संकेत है, रावण यहाँ श्रीरामजी को वीर्य से प्रसन्न करने के प्रति खीझ रहा है, इस वैर भाव की भक्ति को देखकर ग्रन्थकार ने उसकी ओर भी अपनापन प्रकट किया है। 'अर्द्ध निसि'—से श्रीजाम्बवान्‌जी के पद-प्रहार की बड़ी गहरी चोट प्रकट हुई। क्योंकि इतनी गहरी मूर्च्छा अन्यत्र नहीं लिखी गई है। 'खीझन लागा'—उसके नेत्र क्रोध से लाल हो गये; यथा "क्रोधसंरक्त नयनो रावणः सूतमब्रवीत्।" (वाल्मी० ६।१०४।१); 'लागा'—बड़ी देर तक कहेगा, वाल्मी० ६।१०४।१-८ में आठ श्लोकों में कहा गया है।

शंका—पहले भी तो सारथी इसे मूर्च्छित होने पर लंका ले गया था; यथा—"सारथी दूसर

घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो।" (दो० ८३), तब तो उसने क्रोध नहीं किया, परन्तु आज क्यों खीझ रहा है ?

समाधान—वहाँ इसने पहले श्रीलक्ष्मणजी को मूर्च्छित कर दिया था, वे भी रणभूमि से बाहर ले जाये गये, फिर स्वस्थ होकर उन्होंने सामना किया और इसे मूर्च्छित किया, तब यह भी बाहर लाया गया। स्वस्थ होकर गया। उस युद्ध में बराबरी की बात थी। पर आज के युद्ध में श्रीरामजी पर इसने शक्ति छोड़ी। वे वहीं पर मूर्च्छित होकर सचेत हो उठे, परन्तु यह मूर्च्छित होने पर बाहर लाया गया, इससे लज्जित हुआ ; क्योंकि इसने ही आज श्रीरामजी को कहा था—"जौं रन भूप भाजि नहिं जाही।" (दो० ८८); वे तो मूर्च्छा में भी नहीं हटे और यह बाहर हटाया गया। इसीसे लज्जा और क्रोध से खीझने लगा।

(२) 'सठ रनभूमि छड़ाइसि मोहीं।'--रणभूमि में पीठ देना वीरों के लिये निंदित है ; यथा--"अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। ''भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। ''" (गीता २।३४।३५) अपने यश की हानि समझकर उसे क्रोध हुआ, तब परुष वचन कहे हैं—'सठ' और 'अधम', क्योंकि सारथी ने वीर धर्म के विरुद्ध काम किया। 'मंदमति' कहा, क्योंकि यह नहीं समझा कि इससे रथी की अकीर्ति होती है और अंत में परलोक की हानि भी होगी।

'धिग धिग अधम ''' से वाल्मी० ६।१०४ के आठो श्लोकों के सब भाव जना दिये गये कि तुमने मेरे यश, वीर्य और तेज नाश कर दिये। वीर्य द्वारा प्रसन्न करने के योग्य शत्रु के सामने से हटाकर तुमने मुझे कायरों की श्रेणी में डाल दिया। अभी भी तुम रथ लेकर नहीं चल रहे हो। अत, जान पड़ता है कि तुमने शत्रु से घूस खाई है,' इत्यादि।

(३) 'तेहि पद गहि बहु बिधि समुझावा।'—पैर पकड़ना दीनता की मुद्रा है ; यथा—"गहि पद विनय कीन्हि बैठारी।" (अ० दो० ३३); 'बहु बिधि' ; यथा—"सारथी ने कहा कि न मैं डरा हूँ, न मूढ़ हूँ और न शत्रु से मिला हूँ, न मतवाला हूँ और न आपके उपकारों को ही भूला हूँ। मैंने आपका हित ही किया है कि आपके यश की रक्षा हो। रथ लौटाने के कारण सुनिये। भयंकर युद्ध के कारण मैंने आपको थका हुआ देखा और शत्रु में वीर्य की अधिकता देखी। रथ के घोड़े भी थक गये थे। पुन अपने पक्ष के लिये अमंगलसूचक अपशकुन भी देखे। सारथी को चाहिये कि रथी के देश काल, शुभ-अशुभ, उत्साह-श्रम, शत्रु के छिद्र आदि देखता रहे। कब शत्रु के सामने जाना चाहिये और कब उससे हटकर रहना चाहिये—यह सब जानना चाहिये। इन सब बातों को देखकर और घोड़ों को श्रमित जानकर मैं रथ लौटा लाया हूँ। अब जो आप आज्ञा देंगे, वही करूँगा। युद्ध-लोभी रावण प्रसन्न हुआ और उसे अपना हस्ताभरण इनाम में देकर शीघ्र रथ ले चलने को कहा, इत्यादि।" (वाल्मी० ६।१०४।१०–२६)।

सुनि आगमन दसानन केरा। कपि-दल-खरभर भयउ घनेरा ॥१०॥
जहँ तहँ भूधर बिटप उपारी। धाये कटकटाइ भट भारी ॥११॥

छं०—धाये जो मर्कट बिकट भालु कराल कर भूधर धरा।
अति कोप करहिं प्रहार मारत भजि चले रजनीचरा ॥

विचलाइ दल बलवंत कीसन्ह घेरि पुनि रावन लियो ।
चहुँदिसि चपेटन्हि मारि नखन्हि विदारि तनु ब्याकुल कियो ॥

दोहा—देखि महा मर्कट प्रबल, रावन कीन्ह बिचार ।
अंतरहित होइ निमिष महँ, कृत माया बिस्तार ॥९९॥

अर्थ—रावण का आना सुनकर वानर-सेना में बड़ी खलबली मची ॥१०॥ भारी योद्धा क्रोध से दाँत कटकटाकर पर्वत और वृक्ष उखाड़-उखाड़कर जहाँ-तहाँ से दौड़े ॥११॥ विकट और भयंकर भालू-वानर हाथों में पहाड़ लिये हुए दौड़े। वे अत्यन्त क्रोध करके चोट करते हैं, उनके मरते ही राक्षस भाग चले ॥ बलवान् वानरों ने सेना को विचलित कर फिर रावण को घेर लिया। चारों ओर से चपेटे (थप्पड़) मार और नखों से देह विदीर्णकर वानरों ने उसे व्याकुल कर दिया ॥ वानरों को महाप्रबल देखकर रावण ने विचार किया और अंतर्धान होकर क्षण भर में उसने माया का विस्तार किया ॥९९॥

विशेष—(१) 'खर भर भयउ'—उत्साह से तैयारी का हल्ला हुआ, क्योंकि सभी पहले पहुँचना चाहते हैं। 'कटकटाइ'—यह इनका उत्साह है, वीरों को भारी भट देखकर लड़ने का उत्साह होता है ; यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गरजा अरु धावा ॥" (सुं० दो० १८)।

(२) 'विकट' और 'कराल'—ये वानरों और भालुओं (दोनों) के विशेषण हैं ; यथा—"नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी ॥ अमित नाम भट कठिन कराला।" (सुं० दो० ५१); 'अति कोप…'—अत्यंत क्रोध से प्रहार किया कि राक्षस-सेना भाग जाय और वही हुआ भी।

(३) 'चहुँ दिसि चपेटन्हि मारि…'—श्रीअंगदजी ने कहा था—"याको फल पावहुगे आगे। बानर भालु चपेटन्हि लागे ॥" (दो० ३१); यही यहाँ चरितार्थ है, यहाँ 'कीसन्ह' शब्द में उपर्युक्त प्रसंग से भालू भी हैं।

(४) 'रावन कीन्ह बिचार'—इसने विचार किया कि पहले दो बार मैंने जो माया की थी उसे इन्होंने काट डाला। अतः, अब उनसे भिन्न कोई और ही विलक्षण माया करनी चाहिये।

छंद—जब कीन्ह तेहि पाखंड। भये प्रगट जंतु प्रचंड।
बेताल भूत पिसाच। कर धरे धनु नाराच ॥१॥
जोगिनि गहे करबाल। एक हाथ मनुज-कपाल।
करि सद्य सोनित पान। नाचहिं करहिं बहुगान ॥२॥
धरु मारु बोलहिं घोर। रहि पूरि धुनि चहुँ ओर।
मुख बाइ धावहिं खान। तब लगे कीस परान ॥३॥

जहँ जाहिं मर्कट भागि। तहँ बरत देखहिं आगि।
भये बिकल बानर-भालु। पुनि लाग बरषै बालु ॥४॥

शब्दार्थ—करवाल = तलवार। सद्य = ताजा, तुरत का।

अर्थ—जब उसने माया रची, तब भयंकर जीव प्रकट हो गये। बेताल, भूत, पिशाच हाथों मे धनुष-बाण लिये प्रकट हुए ॥१॥ योगिनियाँ एक हाथ में तलवार और एक हाथ मे मनुष्यों की खोपड़ियाँ लिये हुई ताजा खून पान करके नाचती और बहुत तरह के गीत गाती हैं ॥२॥ धरो (पकड़ो), मारो, इत्यादि भयावने शब्द बोलती हैं, यह ध्वनि चारों ओर भर रही है। मुख फैलाकर खाने को दौड़ती हैं, तब वानर भागने लगे ॥३॥ वानर जहाँ कहीं भागकर जाते हैं, वहाँ ही जलती हुई आग देखते हैं। वानर-भालू व्याकुल हो गये, फिर वह रेत बरसाने लगा ॥४॥

विशेष—(१) 'करि सद्य सोनित पान'—तत्काल कटी हुई खोपड़ियों से रक्त बह रहा है, वही पीती हैं।

(२) 'धरु मारु बोलहिं घोर'—डराने के लिये ऐसा बोलती हैं, वही 'घोर' शब्द से स्पष्ट किया गया है; यथा—"मारु मारु धरु धरु धरु मारु।" (दो० ५१); 'पुनि लागि बरषै बालु'—भाव यह कि जिससे सर्वत्र अँधेरा जान पड़े; यथा—"बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥" (दो० ५०); 'तब लगे कीस परान'—कई बार के माया-प्रयोग से वानर सावधान हो गये हैं, इससे पिशाच आदि को देखकर नहीं डरे और उनके घोर शब्दों से भी नहीं घबड़ाये, क्योंकि कई बार देख चुके हैं कि ये झूठे हैं, परन्तु जब वे योगिनियाँ मुख फैलाकर खाने को दौड़ीं, तब भागे।

जहँ तहँ थकित करि कीस। गर्जेउ बहुरि दससीस।
लछिमन कपीस समेत। भये सकल बीर अचेत ॥५॥
हा राम हा रघुनाथ। कहि सुभट मीजहिं हाथ।
येहि बिधि सकल बल तोरि। तेहिं कीन्ह कपट बहोरि ॥६॥
प्रगटेसि बिपुल हनुमान। धाये गहे पाषान।
तिन्ह राम घेरे जाइ। चहुँ दिसि बरूथ बनाइ ॥७॥
मारहु धरहु जनि जाइ। कटकटहिं पूँछ उठाइ।
दह दिसि लँगूर बिराज। तेहि मध्य कोसलराज ॥८॥

अर्थ—वानरों को जहाँ-के-तहाँ स्थगित करके फिर दशानन रावण गरजा। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसुग्रीवजी के साथ सब वीर वानर अचेत हो गये ॥५॥ हा राम! हा रघुनाथ! (अपना कष्ट प्रकट) कहते हुए

सुभट अपने हाथ मलते हैं। इस प्रकार सारी सेना का बल तोड़कर उसने और माया रची ॥६॥ उसने बहुत से हनुमान् प्रकट किये, वे सब पत्थर लिये हुए दौड़े। चारों ओर से झुंड बनाकर उन्होंने श्रीरामजी को जा घेरा ॥७॥ पूँछ उठाकर कटकटाकर कहते हैं कि मारो, पकड़ो, जाने न पाये। दसों दिशाओं में लंगूर और उनके बीच में कोशलराज श्रीरामजी विराजमान हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गर्जेउ—अपनी जय प्रकट करते हुए गरजा। 'लछिमन कपीस-समेत'—कहकर सूचित किया गया कि एक श्रीरामजी को छोड़कर कोई नहीं बचा।

(२) 'हा राम ! हा रघुनाथ !'—श्रीरामजी के नाम के साथ कष्टसूचक 'हा' शब्द कहकर उनसे अपना कष्ट प्रकट करते हैं और साथ ही 'सब सुभट मीजहिं हाथ'—से यह भी प्रकट करते हैं कि हमारा कर्त्तव्य अब कुछ नहीं चलता। 'हाथ मींजना' मुहावरा है, भाव यह है कि अब इन हाथों के वश की बात नहीं है। कोई वश नहीं चलने पर लोग शोक, पश्चात्ताप और निराशा एवं क्रोध से हाथ मींजते हैं, यथा—"कर मींजहिं सिर धुनि पछिताहीं।" (अ० दो० ७५) "कर मीजहि पछिताहिं।" (अ० दो० १२१), "मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई।" (अ० दो० १९१)।

(३) 'सकल बल तोरि'—अपनी माया से सेना को हरा दिया, सब हृदय से हार गये। रहे एक श्रीरामजी, अतएव उनके लिये दूसरी माया रचता है—

(४) 'प्रगटेसि विपुल हनुमान'—रावण जानता है कि ये जैसे पहले माया-मृग पर मोहित हुए थे। वैसे यहाँ श्रीहनुमान्‌जी के रूपों को भी सत्य ही मानकर डर जायँगे। भक्त जानकर उनपर बाण भी नहीं चला सकेंगे।

छंद—तेहि मध्य कोसलराज सुंदर श्याम तनु सोभा लही।
जनु इंद्रधनुष अनेक की बर बारि तुंग तमाल ही ॥९॥
प्रभु देखि हरष बिषाद उर सुर बदत जय जय जय करी।
रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महँ माया हरी ॥१०॥

शब्दार्थ—तुंग=ऊँचा। बारि=बाल्हा की हँधान, बाग, खेत, वृक्ष आदि की रक्षा के लिये बनाया हुआ घेरा।

अर्थ—इनके मध्य में कोशलराज का सुन्दर श्याम शरीर किस प्रकार शोभायमान है, मानों अनेकों इन्द्र धनुषों की श्रेष्ठ ऊँची बारी के बीच में ऊँचा तमालवृक्ष हो ॥९॥ प्रभु को देखकर देवताओं के हृदय में हर्ष और विषाद दोनों हुए और वे जय-जय जय बोलते हैं। रघुवीर ने कोप करके एक ही बाण से पल भर में माया हर ली ॥१०॥

विशेष—(१) 'प्रभु देखि'—'प्रभु' शब्द से यहाँ श्रीरामजी को परम समर्थ देखना जनाया गया है, इसीसे इस माया पर देवताओं का भागना नहीं कहा गया। पूर्व भी जो देवता नहीं भागे थे, उनके विषय में ऐसा ही कहा गया था, यथा—"रहे बिरंचि संभु मुनि ज्ञानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी॥" (लं० ८९), इसी से यहाँ प्रथम हर्ष कहा गया है। पुन प्रभु को भक्त के रूपों से अवरुद्ध

देखकर विषाद भी साथ ही हुआ कि उन्हें भक्त के रूपों पर प्रहार करना पड़ेगा। 'बदत जय जय जय करी'—अब प्रभु की प्रभुता में दृढ़ता है, इससे रावण का डर छोड़कर प्रकट जय-जयकार कर रहे हैं। इससे भी निर्भय है कि पहले उसके धावा करने पर श्रीअंगदजी के द्वारा रक्षा की गई है।

(२) 'कोपि निमेष महँ माया हरी।'—पूर्व चार बार माया के काटने एवं हरने के प्रसंग आये हैं। सर्वत्र प्रभु का हँसकर माया हरण करना कहा गया है (१) 'पुनि कृपाल हँसि चाप चढावा।" (दो० ४५); (२)"कौतुक देखि राम मुसुकाने।" (दो० ५०), (३) "निज सेन चकित बिलोकि हँसि सरचापसजि कोसलधनी। माया हरी···" (दो० ८८), (४) "सुर बानर देखे बिकल, हँसे कोसलाधीस। सजि सारंग···" (दो० ९५)।

परन्तु यहाँ कोप करके माया हरण करना कहा गया है, इसका भाव यह है कि अभी तक क्रीड़ा करना इनका अभीष्ट था, इससे हँसते आये। राक्षस माया करते थे और आप हँसते थे। पर इस बार श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसुग्रीवजी तक अचेत हो गये, इससे कोप किया। इसलिये भी कोप किया कि इस बार उसने प्रभु के हाथों से परम भागवत के रूपों पर भी बाण चलवाया। यह क्रीड़ा प्रभु को अभीष्ट नहीं है, इससे कोपकर उसकी माया का अंत कर दिया। माया-हरण की वीरता पर 'रघुबीर' कहा गया है।

माया बिगत कपि-भालु हरषे बिटप गिरि गहि सब फिरे।
सर-निकर छाँड़े राम-रावन बाहु सिर पुनि महि गिरे ॥११॥
श्रीराम - रावन - समर - चरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कवि तेउ तदपि पार न पावहीं ॥१२॥

अर्थ—माया रहित होने पर वानर-भालू प्रसन्न हुए और वृक्ष-पर्वत ले-लेकर सब लौट पड़े। श्रीरामजी ने समूह-बाण छोड़े और रावण की बाहु और शिर कट-कटकर फिर पृथिवी पर गिरे ॥११॥ श्रीरामजी और रावण के युद्ध-चरित यदि सैकड़ों शेष, शारदा, वेद और कवि अनेक-कल्पों तक गाते रहें तो भी वे उसका पार नहीं पा सकते ॥१२॥

विशेष—(१) 'बिटप गिरि गहि सब फिरे'—पहली बार के माया-हरण पर हर्षित होकर भी उत्साहहीन हो गये थे ; यथा—"हरषी सकल मर्कट अनी।" (दो० ८८), पर लड़ने को नहीं दौड़े, तब प्रभु ने स्वयं युद्ध के लिये कहा कि मैं ही द्वन्द्व-युद्ध करूँगा। दूसरी बार माया छूटने से प्रभु के बल पर दौड़े, परन्तु आयुध नहीं लिया और न लड़े—देखिये दो० ९५। पर इस बार आयुध-सहित उत्साहपूर्वक लड़ने को दौड़े। इससे दिखाया गया कि उत्तरोत्तर उसकी माया का डर कम होता गया। 'फिरे'—'पहले भागे थे; यथा—'लगे कीस परान' अब वे फिरे।

(२) 'सत सेष सारद निगम कवि···'—ये सब समर्थ वक्ता हैं ; यथा—"सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति-नेति कहि जासु गुन, करहि निरंतर गान ॥" (बा० दो० १२); शारदा सबकी वाणी की अधिष्ठात्री हैं। अतः, सबकी जिह्वा से गाती हैं। शेष के दो हजार जिह्वाएँ हैं, वेद भगवान् की ही श्वासभूत वाणी हैं। इस तरह से सभी समर्थ हैं, फिर भी ये सैकड़ों की संख्या में एकत्रित होकर भी नहीं गा सकते। इसका तात्पर्य यह है कि यह समर-चरित अपार है, यथा—"सागरं चाम्बर प्रख्यमम्बरं

सागरोपमम् ॥ रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।" (वाल्मी० ६।१०७।५१-५२); अर्थात् समुद्र आकाश के समान हो सकता है और आकाश समुद्र के समान हो सकता है; अर्थात् इनकी तुलना की जा सकती है, परन्तु राम और रावण का युद्ध अपने ढंग का निराला है—यह अतुलनीय है।

दोहा—ताके गुनगन कछु कहे, जड़मति तुलसीदास।
जिमि निज बल अनुरूप ते, माछी उड़इ अकास ॥

अर्थ—उनके कुछ गुणगण मुझ मंद बुद्धि तुलसीदास ने कहे, जैसे अपने पुरुषार्थ के अनुसार मच्छड़ भी आकाश में उड़ते हैं ॥

विशेष—जब शेष, शारदा आदि नहीं पार पा सकते, तब तुम क्यों कहने लगे, उसपर कहते हैं कि मैं तो 'जड़ मति' हूँ, यथा—"मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।" (बा० दो० ७), परन्तु फिर भी कुछ कहा। क्योंकि जैसे गरुड़ आदि भी आकाश में उड़ते हुए अंत नहीं पाते। पर पुरुषार्थ भर उड़ते ही हैं और मच्छड़ भी शक्ति भर उसी आकाश में उड़ते हैं, ये भी पार नहीं पाते। वैसे श्रीरामजी के गुण गणों में गरुड़ रूप शेष शारदा आदि भी पार नहीं पाते, परन्तु कहते हैं। वैसे मच्छड़ की तरह मैं भी पार नहीं पाता, परन्तु कहता हूँ। भाव यह है कि सब अपनी-अपनी वाणी पवित्र करने के लिये हरि यश कहते हैं, कुछ पार पाने के लिये नहीं। इसपर बा० दो० ११ चौ० ६-१२ और दो० १२ चौ० १ पर्यन्त के भाव देखिये। तथा—"निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं। निगम सेप सिव पार न पावहिं ॥ तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥" (उ० दो० ९०)।

"रावण-वध"—प्रकरण

काटे सिर भुज बार बहु, मरत न भट लंकेस।
प्रभु क्रीड़त सुर सिद्ध मुनि, ब्याकुल देखि कलेसि ॥१००॥

अर्थ—शिरों और भुजाओं के बहुत बार काटे जाने पर योद्धा रावण मरता नहीं, प्रभु तो क्रीड़ा कर रहे हैं, पर सुर, सिद्ध और मुनि प्रभु को क्लेशयुक्त देखकर व्याकुल होते हैं ॥१००॥

विशेष—'प्रभु क्रीड़त', यथा—"प्रभुकृत खेल सुरन्ह बिकलई।" (दो० ९१)।

काटत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥१॥
मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेखा। राम बिभीषन तन तब देखा ॥२॥

अर्थ—काटने से शिरों का समुदाय बढ़ता ही जाता है, जैसे प्रत्येक लाभ पर लोभ बढ़ता है ॥१॥ शत्रु नहीं मरता, परिश्रम बहुत हुआ, तब श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी की ओर देखा ॥२॥

विशेष—(१) 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ।'—कामनाएँ प्राप्त होने पर उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। एक की पूर्त्ति होने पर अधिक की कामना बढ़ती जाती है। निनानवे का फेर प्रसिद्ध ही है। इस तरह लोभ की वृद्धि ही होती जाती है; यथा—"कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनोयाति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशोदश ॥" (भाग०); अर्थात् काम का अंत भूख-प्यास से और क्रोध का किसी पर प्रहार से अथवा कठोर वचन कहने से हो सकता है, पर दसों दिशाएँ जीतने एवं उनके भोगों के प्राप्त होने पर भी लोभ का अंत नहीं होता।

(२) 'श्रम भयउ निसेषा'—बाहरी दृष्टि से रणक्रीड़ा में श्रम हुआ, क्योंकि वाल्मी० ६।१०७ में कई बार घोर युद्ध होना कहा गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये। न रात न दिन, न मुहूर्त्त और न एक क्षण ही युद्ध का विराम हुआ। 'राम बिभीषन तन तब देखा।'- इससे प्रभु ने सूचित किया कि इसके मारने का यदि कुछ उपाय तुम जानते हो, तो कहो। यद्यपि प्रभु अंतर्यामी हैं, फिर भी पूछते हैं, क्योंकि आप प्रणत-कुटुंब पाल हैं। श्रीविभीषणजी शरणागत हैं, जब वह स्वयं कहेंगे, तब रावण को मारेंगे। जैसे श्रीसुग्रीवजी ने जब कहा—"बंधु न होइ मोर यह काला।" तब श्रीरामजी ने वालि को मारा।

उमा काल मर जाकी ईछा। सो प्रभु कर जन प्रीति-परीछा ॥३॥
सुनु सर्बज्ञ चराचर-नायक। प्रनतपाल सुरमुनि सुखदायक ॥४॥
नाभि-कुंड पियूष बस याके। नाथ जियत रावन बल ताके ॥५॥
सुनत बिभीषन-बचन कृपाला। हरषि गहे कर बान कराला ॥६॥

अर्थ—हे उमा ! जिसकी इच्छा-मात्र से काल मर जाय, वही प्रभु अपने जन की प्रीति-परीक्षा कर रहे हैं ॥३॥ (विभीषणजी ने कहा) हे सर्वज्ञ ! हे चराचर के स्वामी ! हे शरणागत के पालन करनेवाले ! हे देवता और मुनियों के सुख देनेवाले ! सुनिये ॥४॥ इसके नाभि-कुंड मे अमृत बसता है, हे नाथ ! रावण इसीके बल पर जीता है ॥५॥ श्रीविभीषणजी के वचन सुनते ही कृपालु श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर हाथ मे भयंकर बाण लिया ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रीति-परीछा'—इसका प्रेम हमपर दृढ़ है कि भाई मे भी स्नेह है, यदि भाई मे स्नेह होगा, तो नाभि-कुंड के अमृत को नहीं बतलावेगा। हममें सत्य स्नेह होगा, तो शीघ्र ही कह देगा।

(२) 'सुनु सर्वज्ञ...'—भाव यह है कि आप जानते ही हैं कि यह कब और कैसे मरेगा, तो भी मुझे बड़ाई देने के लिये मुझसे पूछते हैं। 'चराचर नायक'—चराचर की व्यवस्था आपके हाथों मे है। जिसे जैसा चाहें, दंड या प्रसाद करें। 'प्रनत पाल'– शरणागतों के पालक हैं और इसके वध के लिये ही देवता आदि आपकी शरण हुए हैं, यथा—"मन बच क्रम बानी छाँडि सयानी सरन सकल सुर जूथा ॥" (बा० दो० १८५); तदनुसार आप निशाचर-वध की प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं; यथा "निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९); अतएव इसे मारिये। 'सुर मुनि सुखदायक'—भाव यह कि सुर मुनि क्लेशित हैं, इसे मारकर उन्हें सुख दीजिये; यथा—"प्रभु क्रीड़त सुर सिद्धि मुनि, व्याकुल देखि कलेस।" यह ऊपर कहा गया।

(३) 'नाभि-कुंड पियूष बस...'—त्रिजटा ने श्रीजानकीजी के ध्यान छूटने की बात कही थी; वह बात पूरी हो गई, अर्थात् रावण का वह ध्यान छूट गया। तब गुह्यतम दूसरा हेतु भी श्रीविभीषणजी

(३) 'दस दिसि दाह···' यह छत्र-भंग का सूचक है; यथा—"हाट घाट नहिं जाहि निहारी। जनु पुर दहुँ दिसि लागि दँवारी॥" (अ० दो० १५८); तथा—"संध्यया चावृता लंका जपापुष्पनिकाशया। दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुन्धरा॥" (वाल्मी० ६।१०६।२१); अर्थात् जपापुष्प के समान लाल संध्या से लंका छिप गई। पृथिवी दिन में भी जलती हुई-सी दिखलाई पड़ने लगी। 'अति लागा'—कई दिन से दाह होता था, आज अत्यन्त होने लगा।

(४) 'मंदोदरि उर कंपति भारी'—पहले भी इसका हृदय काँपता था; यथा—"मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।" (दो० ३०); यह श्रीरामजी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर होनेवाली घटना है और आज तो वह रावण के मृत्यु-सूचक निमित्तों को देख रही है, इससे 'कंपति भारी' कहा गया है।

छंद—प्रतिमा रुदहिं पविपात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही।
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिं जय जये।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये॥

दोहा—खैंचि सरासन श्रवन लगि, छाँड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले, मानहुँ काल फनीस॥१०१॥

अर्थ—प्रतिमाएँ रोती हैं, आकाश से बहुत-बहुत वज्रपात होते हैं, अत्यन्त प्रचंड वायु चलने लगी, पृथिवी हिलती है। बादलों से रुधिर, बाल और धूल बरस रहे हैं, इस तरह के अत्यंत अमंगल हो रहे हैं। उनको कौन कह सकता है ? अर्थात् वे सब अनगिनत हैं एवं अत्यंत करालता के कारण कहे नहीं जाते॥ अगणित उत्पातों को देखकर आकाश में देवता व्याकुल होकर 'जय जय' बोल रहे हैं (यद्यपि व्याकुल हो रहे हैं तथापि स्वार्थ-सिद्धि की आशा से 'जय जय' कहते हैं)। देवताओं को भयभीत समझकर कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुष पर बाण लगाने लगे॥ कानों तक धनुष को खींचकर श्रीरघुनाथजी ने एकतीस बाण छोड़े, उनके बाण ऐसे चले, मानों काल रूपी सर्पराज चल रहे हों॥१०१॥

विशेष—(१) 'पविपात नभ'—वज्रपात को पहले चरण में और 'बरषहिं बलाहक' दूसरे चरण में कहा गया है। इसका भाव यह है कि बिना बादलों के ही वज्रपात हो रहे हैं; यथा—"निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः। दुर्विषह्यस्वरा घोरं विनाजलधरोदयम्॥" (वाल्मी० ६।१०६।२८); अर्थात् रावण की सेना पर चारों ओर से इन्द्र के वज्र गिरने लगे, जिनका शब्द असह्य था और ये वज्र बिना मेघ के ही गिरे। 'अति बात बह'; यथा—"प्रतिलोमं ववौ वायुर्निर्घातसमनिस्वनः।" (वाल्मी० ६।५१।३४); अर्थात् मेघों के टक्कर के समान शब्द करता हुआ प्रतिकूल वायु बहने लगा। तथा—"वाता मण्डलिनस्तीव्रा व्यपसव्यं प्रचक्रमुः।" (वाल्मी० ६।१०६।२०); अर्थात् बाईं ओर चक्कर काट कर तीव्र हवा चलने लगी।

कहते हैं, इसकी भी व्यवस्था पूरी होने पर उसकी मृत्यु होगी। कहा जाता है कि रावण योग की संजीवनी मुद्रा करता था, जिसमें ब्रह्मरंध्र से अमृत स्रवता है और नाड़ी के द्वारा नाभि-कुंड में आता है, बहुत कालों में नाभि-कुंड भर पाता है।

(४) 'कृपाला'—श्रीविभीषणजी पर एवं सुर-मुनि आदि पर कृपा करके रावण को मारेंगे। पुनः रावण पर भी कृपा करके उसे शाप-मुक्त करेंगे एवं अपना धाम देंगे। 'हरषि'— श्रीविभीषणजी के उपाय बतलाने पर हर्ष हुआ कि अब सरलता से रावण का वध हो जायगा।

'बान कराला'—बाण की करालता विस्तार-पूर्वक वाल्मी० ६।१०८।३-१३ में कही गई है कि वह फुफकारते हुए सर्प के समान दीप्तमान था। वह ब्रह्मा एवं अगस्त्यजी का दिया हुआ था, वह अमोघ था। उसके वेग में वायु और धार में अग्नि तथा सूर्य थे, शरीर आकाशमय था और वह मेरु तथा मंदराचल के समान भारी था। वह सोने से मढ़ा हुआ एवं सब तत्त्वों के तेज से बना था और सूर्य के समान उज्ज्वल था। इत्यादि बहुत रीति से कहा गया है।

असुभ होन लागे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना ॥७॥
बोलहिं खग जग आरति हेतू। प्रगट भये नभ जहँ तहँ केतू ॥८॥
दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रबि उपरागा ॥९॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी ॥१०॥

शब्दार्थ—परब (पर्व) = पुण्य काल, एवं अमावस्या और पूर्णिमा आदि में प्रतिपद् की संधि में ग्रहण-काल। उपराग = सूर्य का चन्द्रग्रहण।

अर्थ—तब अनेकों अपशकुन होने लगे, बहुत-से गदहे, गीदड़ और कुत्ते बहुत जोर से रोने लगे ॥७॥ जगत् के दुःख के हेतु पक्षी बोल रहे हैं, जहाँ-तहाँ आकाश में केतु (पुच्छल तारा) प्रकट हो गये ॥८॥ दसो दिशाओं में अत्यन्त दाह होने लगा। बिना पर्व के ही सूर्य-ग्रहण होने लगा ॥९॥ मंदोदरी का हृदय बहुत काँप रहा है, मूर्त्तियाँ नेत्र-मार्ग से जल गिरा रही हैं; अर्थात् रो रही हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना।'—इन सबको साथ लिखकर इनका एक साथ मिलकर रोना सूचित किया; यथा—"विनेदुरशिवा गृध्रावायसैरभिमिश्रिताः।" (वाल्मी० [illegible]); इनका एक साथ रोना परम भयावह है। 'बोलहिं खग···'; यथा—"गोमायु गीध कराल खर रव स्वान रोवहिं अति घने। जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥" (दो० [illegible]); 'जग आरति हेतू'—खग का विशेषण है; अर्थात् ये अपशकुन जगत् के दुःख के कारण हैं, जो आज रावण के प्रति हो रहे हैं।

(२) 'प्रगट भये नभ जहँ तहँ केतू।'—जहाँ केतु का उदय होता है, उस देश के राजा की मृत्यु और प्रजा को क्लेश होता है; यथा—"उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा० दो० [illegible]); "दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥" (उ० दो० १२०); 'जग आरति हेतू' को दीपदेहली के रूप में भी लेना चाहिये।

(३) 'दस दिसि दाह···' यह छत्र-भंग का सूचक है ; यथा—"हाट घाट नहिं जाहिं निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दँवारी ॥" (अ० दो० १५८); तथा—"संध्यया चावृता लंका जपापुष्पनिकाशया। दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुन्धरा ॥" (वाल्मी० ६।१०६।२२) ; अर्थात् जपापुष्प के समान लाल संध्या से लंका छिप गई। पृथिवी दिन में भी जलती हुई-सी दिखलाई पड़ने लगी। 'अति लागा'—कई दिन से दाह होता था, आज अत्यन्त होने लगा।

(४) 'मंदोदरि उर कंपति भारी'—पहले भी इसका हृदय काँपता था ; यथा—"मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।" (दो० ९०) ; यह श्रीरामजी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर होनेवाली घटना है और आज तो यह रावण के मृत्यु-सूचक निमित्तों को देख रही है, इससे 'कंपति भारी' कहा गया है।

छंद—प्रतिमा रुदहिं पविपात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही।
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिं जय जये।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये॥

दोहा—खैंचि सरासन श्रवन लगि, छाँड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले, मानहुँ काल फनीस ॥१०१॥

अर्थ—प्रतिमाएँ रोती हैं, आकाश से बहुत-बहुत वज्रपात होते हैं, अत्यन्त प्रचंड वायु चलने लगी, पृथिवी हिलती है। बादलों से रुधिर, बाल और धूल बरस रहे हैं, इस तरह के अत्यंत अमंगल हो रहे हैं। उनको कौन कह सकता है ? अर्थात् वे सब अनगिनत हैं एवं अत्यंत करालता के कारण कहे नहीं जाते ॥ अगणित उत्पातों को देखकर आकाश में देवता व्याकुल होकर 'जय जय' बोल रहे हैं (यद्यपि व्याकुल हो रहे हैं तथापि स्वार्थ-सिद्धि की आशा से 'जय जय' कहते हैं)। देवताओं को भयभीत समझकर कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुष पर बाण लगाने लगे॥ कानों तक धनुष को खींचकर श्रीरघुनाथजी ने एकतीस बाण छोड़े, उनके बाण ऐसे चले, मानों काल रूपी सर्पराज चल रहे हों ॥१०१॥

विशेष—(१) 'पविपात नभ'—वज्रपात को पहले चरण में और 'बरषहिं बलाहक' दूसरे चरण में कहा गया है। इसका भाव यह है कि बिना बादलों के ही वज्रपात हो रहे हैं; यथा—"निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः। दुर्विषह्यस्वरा घोरं विनाजलधरोदयम् ॥" (वाल्मी० ६।१०६।२८) ; अर्थात् रावण की सेना पर चारों ओर से इन्द्र के वज्र गिरने लगे, जिनका शब्द असह्य था और ये वज्र बिना मेघ के ही गिरे। 'अति बात बह' ; यथा—"प्रतिलोमं ववौ वायुर्निर्घातसमनिस्वनः।" (वाल्मी० ६।५१।३४) ; अर्थात् मेघों के टक्कर के समान शब्द करता हुआ प्रतिकूल वायु बहने लगा। तथा—"वाता मण्डलिनस्तीव्रा व्यपसव्यं प्रचक्रमुः।" (वाल्मी० ६।१०६।२०) ; अर्थात् बाईं ओर चक्कर काट कर तीव्र हवा चलने लगी।

स्त्री के सामने रावण के सच्चे शिर भेजे गये कि बदले में वह भी रोवे। पूर्व में कहा था—'ले सिर बाहु चले नाराचा।' अब यहाँ उसे स्पष्ट किया कि वे मन्दोदरी के पास शिरों को लेकर चले थे। उन्हें वहाँ पहुँचा दिया तब आकर श्रीरामजी के निषंग में प्रवेश कर गये। कार्य करके ही बाण तर्कश में प्रवेश करते हैं—देखिये दो० १३ और दो० ६७ भी। इससे रावण की मृत्यु जानकर देवताओं ने हर्ष के नगाड़े बजाये।

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन ॥९॥
जय जय धुनि पूरी ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा ॥१०॥
बरषहिं सुमन देव-मुनि-बृंदा। जय कृपाल जय जयति मुकुंदा ॥११॥

शब्दार्थ—मुकुंद=मुक्ति देनेवाले, विष्णु।

अर्थ—उसका तेज प्रभु के मुख में समा गया। श्रीशिवजी और ब्रह्माजी देखकर प्रसन्न हुए ॥९॥ ब्रह्माण्ड में जय-जयकार की ध्वनि भर गई, (सब कहते हैं कि) प्रबल-भुज दण्डवाले श्रीरघुवीर की जय हो ॥१०॥ देव मुनि वृन्द फूल बरसाते हैं और कहते हैं कि हे कृपालो! आपकी जय हो, हे मुकुंद! आपकी जय हो ॥११॥

विशेष—(१) 'तासु तेज समान प्रभु आनन।'—इसके भाव और शंका समाधान—"तासु तेज प्रभु बदन समाना।" (दो० ११) में देखिये।

'हरषे देखि संभु चतुरानन।'—ब्रह्माजी और श्रीशिवजी उसके वरदाता हैं। उनके वर के अनुसार ही कार्य भी हुआ। उसने इनकी सेवा की थी। पुनः ब्रह्माजी का यह प्रपौत्र भी था, इसीसे इसकी मुक्ति का अनुमान कर इन्हें हर्ष हुआ। और देवता तो केवल उसके मरने पर ही आनंद के नगाड़े बजाये थे।

(२) 'प्रबल भुज दंडा'—क्योंकि इन्द्र आदि के जीतनेवाले को मारा है।

(३) 'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा।'—'कृपालु का भाव यह कि हम सब पर कृपा करके इसे मारा और 'मुकुंदा' का भाव यह कि ऐसे पापी को भी मुक्ति दी।

छंद—जय कृपाकंद मुकुंद द्वंद्वहरन मरन-सुखप्रद प्रभो।
खल-दल-बिदारन परम कारन कारुनीक सदा बिभो ॥१॥
सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल बाज दुंदुभि गहगही।
संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही ॥२॥

अर्थ—हे कृपा-रूपी मेघ! हे मोक्ष दाता! हे द्वन्द्व (हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि) के हरनेवाले! हे शरणागत के सुख देनेवाले! हे प्रभो! हे खल-दल के मारक! हे परम कारण! हे सदा करुणा करने वाले! हे सदा समर्थ एवं व्यापक! आपकी जय हो ॥१॥ देव समूह आनंद में भरे हुए फूल बरसाते हैं और धमाधम नगाड़े बज रहे हैं। रणांगन में श्रीरामजी के शरीर में अनेक कामदेवों की शोभा प्राप्त है ॥२॥

विशेष—(१) 'परम कारन'—'अशेष कारण पर' बा० मं० श्लोक देखिये।

(२) 'कारुनीक सदा' का भाव यह है कि करुणा त्याग के कारणों पर भी करुणा नहीं छोड़ते; यथा—"अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ।" (दोहावली ४७); 'अनंग बहु सोभा लही'—यहाँ भी खर-दूषण-प्रसंग की तरह मोहिनी छटा है। जैसे काम पुष्प के ही धनुष-बाण से सकल भुवन को जीतकर शोभा पाता है, वैसे ही आपने भी परम सुन्दर सुकुमार शरीर से ही त्रिलोक विजयी को जीतकर शोभा पाई है।

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित-पटल-समेत उडुगन भ्राजहीं ॥३॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने ॥४॥

दोहा—कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु, अभय किये सुरबृंद।
भालु कीस सब हरषे, जय सुखधाम मुकुंद ॥१०२॥

अर्थ—शिर पर जटाओं का मुकुट है, बीच-बीच में अत्यन्त मनहरण फूल शोभा दे रहे हैं। मानों नीलगिरि पर बिजली का समूह नक्षत्रों के साथ शोभा दे रहा हो॥ भुजदंडों से धनुष और बाण घुमा रहे हैं, रक्त की बूँदों की छींटें शरीर पर अत्यन्त सुन्दर लगती हैं। मानों तमाल वृक्ष पर बहुत-सी राय-मुनियाँ पक्षी अपने बड़े आनन्द में बैठी हैं॥ प्रभु श्रीरामजी ने कृपा-दृष्टि की वर्षा करके देव वृन्द को निर्भय किया सब वानर भालू प्रसन्न हुए (और बोले–) हे सुखधाम। हे मुक्तिदाता। आपकी जय हो ॥१०२॥

विशेष—(१) 'जनु नीलगिरि पर ···'—यहाँ श्याम शरीर नील पर्वत है, जटा के बाल तड़ित-समूह हैं; यथा—"कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत सोह क्यों। मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥" (आ० दो० १८); श्वेत फूल नक्षत्र हैं।

(२) 'भुजदंड सर कोदंड फेरत'—यह वीर रस की क्रीड़ा है।

(३) 'जनुराय मुनी तमाल पर···'—नील तमाल वृक्ष श्रीरामजी का श्याम शरीर है, रक्त के कण रायमुनियाँ पक्षी हैं। जैसे पक्षी बाहर से आकर वृक्ष पर बैठकर शोभा पाते हैं। वैसे ही ये रक्त-बिन्दु रावण के शरीर के हैं, बाण लगने पर रक्त की छींटें आकर शरीर पर पड़ी हैं। अन्यत्र रक्त कण घृणा उत्पन्न करते हैं, पर वीर रस में शत्रु से विजय होने पर ये सुशोभित होते हैं। श्रीरामजी का शरीर सच्चिदानंद रूप है; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६) इससे उसमें से रक्त का निकलना नहीं हो सकता।

यहाँ की छटा पर गी० लं० १६ और क० लं० ५१ पद्य देखने योग्य हैं।

(४) 'कृपा दृष्टि करि वृष्टि···'—देवता आकाश में थे, उन्होंने रावण वध पहले जाना, बाणों का शिर लेकर जाना, धड़ का गिरना आदि ऊपर ही से देखा, इससे पहले नगाड़े बजाये, तब वानरों ने जाना। इसीसे देवताओं का हर्ष एवं अभय होना पहले कहा गया है। 'सुखधाम' रावण-वध से सबको सुख दिया और 'मुकुन्द' का भाव यह है कि रावण को मुक्ति दी, देवता लोग रावण की कैद से मुक्त हुए। इसलिये इन विशेषणों से जय-जयकार कर रहे हैं। 'भालु कीस सब हरषे'; यथा—"ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः। वदन्तो राघव जयं रावणस्य च तद्वधम् ॥" (वाल्मी० ६।१०८।२६)।

"मन्दोदरी शोक"—प्रकरण

पति सिर देखत मंदोदरी। मुरुछित बिकल धरनि खसि परी ॥१॥
जुवति-वृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं ॥२॥
पतिगति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुप सँभारा ॥३॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना ॥४॥

अर्थ—पति के शिर देखते ही मंदोदरी व्याकुल और मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ी ॥१॥ स्त्री-वृन्द रोती हुई उठकर दौड़ीं और उसको उठाकर रावण के पास आईं ॥२॥ पति की दशा देखकर वे चिल्ला-चिल्ला कर रोती हैं, उनके बाल खुले हुए हैं शरीर की सँभाल नहीं है ॥३॥ अनेकों प्रकार से छाती पीटती हैं और रोती हुई उसके प्रताप का बखान करती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जुवति वृंद रोवति उठि धाईं।···'—मंदोदरी मूर्च्छित हो गई, तब उसकी और सौतों और दासियों ने देखा कि कहीं इनके भी प्राण न निकल जायँ, इसलिये वे उसे उठाकर (चैतन्य कर रावण के मृत-शरीर के पास ले आईं कि वहाँ उसे देखकर अश्रुपात आदि से हृदय का शोक कम हो जायगा। ये 'जुवति वृंद' उसकी रानियाँ हैं; यथा—"देव-जच्छ-गंधर्व-नर-किन्नर-राजकुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदर बर नारि ॥" (बा० दो० १८२)। इनके साथ दासियाँ भी हैं।

(२) 'रावन पहँ आईं'—शोक के कारण लज्जा छोड़कर उसकी अंतिम दशा देखने आईं कि जिसकी हम रानियाँ थीं, जब वही नहीं रहा, तब हम व्यर्थ इस जीवन से क्या करेंगी, वहीं रो-पीटकर प्राण छोड़ देंगी।

यह भी देखने आईं कि पूर्व के समान कहीं फिर न नये शिर-बाहु आदि हो गये हों।

मरने पर भी रुला रहा है, इससे ग्रन्थकार ने उसका 'रावन' नाम दूसरे नामों को छोड़कर दिया है।

(३) 'छूटे कच नहिं बपुप सँभारा'—शोक में लज्जा नहीं रह जाती; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (अ० दो० २७०); यही दशा इन लोगों की है। जो केशों की चोटी अनेक रत्नों से सजाई जाती थी, वह खुलकर लथड़ रही है। देह की सँभाल नहीं है, वे गिरती-पड़ती रणभूमि में रावण के पास आईं। 'करहिं प्रताप बखाना'—यह श्रीगोस्वामीजी आगे लिखते हैं—

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी ॥५॥

सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा ॥६॥
बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सन्मुख धरि काहु न धीरा ॥७॥
भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं ॥८॥

अर्थ–हे नाथ ! तुम्हारे बल से पृथिवी नित्य काँपती थी, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तुम्हारे सामने तेजहीन (फीके) थे ॥५॥ शेष और कमठ जिसके भार नहीं सह सकते थे, वही तुम्हारा शरीर आज धूल में भरा हुआ पृथिवी पर पड़ा है ॥६॥ वरुण, कुबेर, इन्द्र और पवन—किसी ने भी तुम्हारे सामने रण में धैर्य धारण नहीं किया (अर्थात् वे अधीर होकर भाग जाते थे,) ॥७॥ हे स्वामी ! तुमने अपने बाहुबल से काल और यमराज को जीता। पर आज अनाथ की तरह पड़े हो ॥८॥

विशेष—(१) 'तव बल नाथ डोल नित धरनी।'—यह प्रताप है; यथा—"जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्तगज जिमि लघु तरनी॥ सोइ रावन जग बिदित प्रतापी।" (दो० २४); 'तेज हीन पावक ससि तरनी।'—यह तेज है; क्योंकि तेजोमय अग्नि, चन्द्र और सूर्य से भी इसे अधिक कहा गया है। ये सब रावण की रुचि के अनुकूल तप्त एवं शीतल होते थे। ये एवं और भी लोकपाल रावण के यहाँ हाथ जोड़े खड़े रहते थे; यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप न कपि मन संका।" (सुं० दो० १९); तथा—"पावक पवन पानी, भानु हिमवान जम, काल, लोकपाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।" (क० सुं० २१)।

(२) 'सो तनु भूमि परेउ...'—भाव यह कि ऐसे प्रतापी तेजस्वी को तो अमूल्य बिछौने पर सोना चाहिये था, सो धूल एवं रक्त की कीच से भरी भूमि पर क्यों पड़े हो; यथा—"शयनेषु महार्हेषु शयित्वा राक्षसेश्वर॥ इह कस्मात्प्रसुप्तोऽसि धरण्यां रेणु गुण्ठितः।" (वाल्मी० ६।१११।५६-५७)।

(३) 'बरुन कुबेर सुरेस समीरा...'—पहले अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, इन तीनों को कहा, अब शेष पाँच लोकपालों को यहाँ कहती हैं; यथा—"सब सुर जिते एक दसकंधर।" (दो० ९४); 'काहु न' से और भी ऋषि, गंधर्व, दानव आदि आ गये। रावण जब दिग्विजय के समय मरुत राजा की यज्ञ में पहुँचा, तो वहाँ इन्द्रादि आये थे, सबने इसके डर से पशु-पक्षियों के रूप में छिपकर अपने-अपने प्राण बचाये थे, इन्द्र मोर, वरुण हंस, कुबेर गिरगिट और यमराज कौआ बने थे—वाल्मी० ७।१८ में लिखा है। यमराज को आगे कहती हैं—'भुजबल जितेहु काल जम...'—इनको सबसे पृथक् कहा, क्योंकि काल और यम को कोई जीत नहीं सकता। कोई-कोई योगी काल को योगबल से जीतते हैं, पर भुजबल से नहीं, पर तुमने बाहुबल से जीता था; यथा—"बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरे।" (दो० ७); भाव यह है कि ऐसे तुम आज मृत्यु को कैसे प्राप्त हो गये; यथा—"त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्यु वशंगतः।" (वाल्मी० ६।१११।४८)।

(४) 'अनाथ की नाईं'—कोई सम्बन्धी सहायक उठानेवाला भी नहीं रह गया। लाश उठाना भी श्रीरामजी की आज्ञा से हो सकेगा।

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई ॥९॥
राम-बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा ॥१०॥

अर्थ—तुम्हारी प्रभुता जगन्-भर में प्रसिद्ध थी, तुम्हारे पुत्रों और कुटुम्बियों का बल वर्णन नहीं हो सकता था ॥९॥ श्रीरामजी से प्रतिकूल होने से तुम्हारी ऐसी दशा हुई कि कुल में अब कोई रोने वाला तक नहीं रह गया ॥१०॥

विशेष—'रहा न कुल कोउ···'—रावण ने लंका भर के राक्षसों को लड़ाई में जुझवा दिया, तब स्वयं मरा, जिससे उनकी विधवा स्त्रियाँ ही रह गईं, कोई पुरुष अब उस कुल में ऐसा नहीं रह गया, जो उसके लिये अपनापन माने और रोवे; यथा—"त्वयाकृतमिदं सर्वमनाथं राक्षसंकुलम्।" (वाल्मी० ६।१११।७१); अर्थात् तुमने समस्त राक्षस कुल को अनाथ कर दिया। श्रीविभीषणजी हैं; परन्तु इस समय विपक्ष में होने से उन्हें अपना मानकर रोनेवाला नहीं मानतीं।

तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा ॥११॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम-बिमुख यह अनुचित नाहीं ॥१२॥
काल बिबस पति कहा न माना। अगजग नाथ मनुज करि जाना ॥१३॥

अर्थ—हे नाथ! तुम्हारे वश में तो सब ब्रह्म-सृष्टि थी, सब लोकपाल भय-सहित नित्य प्रणाम करते थे ॥११॥ अब तुम्हारे शिरों और भुजाओं को गीदड़ खाते हैं, राम-द्रोही के लिये यह अनुचित नहीं है (उन्होंने स्वयं समाधान किया कि ऐसी दशा होना योग्य ही है,) ॥१२॥ हे पति! काल के विशेष वश होने से तुमने किसीका कहना नहीं माना और चराचर के स्वामी को मनुष्य करके समझा ॥१३॥

विशेष—(१) 'कहा न माना'—सुहृदों का, भाइयों का एवं मेरा कहना नहीं माना; यथा—"तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥" (आ० दो० २४)—मारीच, "तात राम नहि नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥" (सुं० दो० ३८)—श्रीविभीषणजी, "कंत राम-बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ उर धरहू॥ बिस्वरूप रघुबंस-मनि।" (दो० १४)—मंदोदरी, "हिरन्याक्ष भ्राता सहित, मधुकैटभ बलवान। जेहि मारेउ सोइ अवतरेउ···" (दो० ४०)—माल्यवान्, "हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (दो० ६१) कुंभकर्ण, इत्यादि सभी ने कहा, पर तुमने किसी की भी नहीं मानी। चराचर नायक को भी मनुष्य ही करके माना।

छंद—जानेउ मनुज करि दनुज-कानन दहन पावक हरि स्वयं।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिं करुनामयं॥
आजन्म ते परद्रोहरत पापौघमय तव तनु अयं।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥

दोहा—अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि-बृंद दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान ॥१०३॥

अर्थ—दैत्य-रूपी वन के जलाने के लिये अग्नि रूप स्वय भगवान् को तुमने मनुष्य करके ही समझा। जिसको शिव ब्रह्मा आदि देवता नमस्कार करते हैं, उन करुणामय श्रीरामजी का, हे प्रिय! तुमने भजन नहीं किया ॥ तुम्हारा यह शरीर जन्म के समय से (मरने के समय तक) पर-द्रोह में लगा हुआ और समूह पापमय रहा। ऐसे तुमको भी जिन निर्विकार ब्रह्म श्रीरामजी ने अपना धाम दिया। उनको मैं नमस्कार करती हूँ॥ अहह! (खेद की बात है,) हे नाथ! श्रीरघुनाथजी के समान कृपासागर दूसरा कोई नहीं है, (क्योंकि) योगि समाज को भी जो गति दुर्लभ है, वह भगवान् श्रीरामजी ने तुम्हें दी है ॥१०३॥

विशेष—(१) 'दनुज कानन दहन ··', यथा—"काल-रूप खल वन दहन, गुनागार घन बोध। सिव बिरंचि जेहि सेवहिं, तासों कवन बिरोध॥" (दो० ४७), यहाँ दनुज को वन कहा गया है, इसीसे हरि को अग्नि कहा गया। 'हरि स्वय'—इन्हीं के आगे 'राम ब्रह्म अनामय' से स्पष्ट किया है। 'जेहि नमत सिव ब्रह्मादि···'—ब्रह्माजी सृष्टि करते हैं और श्रीशिवजी उसका संहार करते हैं। इस तरह के बड़े-बड़े देवता भी उनके सेवक हैं। तब तुम भी तो इन्हीं के वरदान से बढ़े हो, तुम्हें भी इनके स्वामी को अपना स्वामी ही मानना और भजन करना चाहता था। 'भजेहु नहिं करुनामय'—श्रीशिवजी आदि देवताओं के प्रणाम करने का कारण भी कहती है कि वे करुणामय हैं। अत, सेवक के दुःख से दुखी होकर शीघ्र ही द्रवित होते हैं, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४), इसीसे सब जीवों के दुःख हरने के लिये ही उन्होंने अवतार लिया है और सभी उन्हें भजते हैं।

(२) 'आजन्म ते परद्रोह रत पापौघमय ··'—उपर्युक्त करुणा गुण का ही कार्य इसमे भी दिखाते हैं कि तुम ऐसे पापी को भी उन्होंने मुक्ति दी, यथा—"उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥" (दो० ४३)। 'तुम्हहूँ दियो निज धाम' के सम्बन्ध से 'ब्रह्म निरामय' कहा गया है कि यदि उनमे राग-द्वेष आदि विकार होते तो तुम ऐसे पापी एव द्वेषी को प्रभु अपना धाम नहीं देते।

(३) 'अहह नाथ '—यहाँ उपर्युक्त करुणा के कार्य का ही सराहना की गई है। 'जोगि बृंद दुर्लभ गति '—योग-शास्त्र की रीति से योगी लोग कैवल्य मुक्ति पाते हैं, यह वही मुक्ति है जो उ० दो० ११६–११७ मे ज्ञान दीपक के द्वारा कही गई है। उसे ही निर्वाणपद, परमपद एव भगवद्धाम प्राप्ति भी कहते हैं, क्योंकि वे कैवल्य मुक्त जीव भी पर विभूति मे ही रहते हैं। गति देने के सम्बन्ध से 'भगवान्' कहा है, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" इस तरह भगवान् कहकर उनका गति देने का सामर्थ्य भी जनाया।

मंदोदरी बचन सुनि काना। सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना॥१॥
अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिबर परमारथबादी॥२॥
भरि लोचन रघुपतिहि निहारी। प्रेम मगन सब भये सुखारी॥३॥

अर्थ मंदोदरी के वचन कानों से सुनकर देवता, मुनि और सिद्ध सभी ने सुख माना ॥१॥ ब्रह्मा, महेश, नारद, सनकादि ऋषि और भी जो मुनि श्रेष्ठ परमार्थ के जाननेवाले हैं ॥२॥ वे सब श्रीरघुनाथजी को नेत्र भर देखकर प्रेम में डूब गये और बड़े सुखी हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'मंदोदरी वचन सुनि···'—पहले मंदोदरी का मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिरना कहा गया था। पर चैतन्य होना स्पष्ट नहीं कहा गया था, जैसे कि अन्यत्र कहा गया है; यथा "परेउ अवनि तल सुधि कुछ नाहीं॥ उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी।" (दो० ८१); तथा—"मुरुछा गइ मारुत-सुत जागा।" (दो० ६४)। यहाँ पर 'मंदोदरी-वचन' कहकर इसका चैतन्य होकर आना और विलाप के वचन कहना स्पष्ट किया गया है, आगे भी 'मंदोदरी आदि सब, देइ तिलांजलि ताहि' कहा है। अतः, यहाँ 'तेहि उठाइ रावन पहिं आई।' में 'उठाइ' शब्द में 'चैतन्य करना' आ गया है, अन्यथा आगे 'आई' की जगह 'लाँई' कहा जाता। उठने में चैतन्य होना अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"ताहि एक छन मुरुछा आई॥ उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया।" (सुं० दो० १८)—मेघनाद।

आदि में सब रानियों का विलाप करना कहा गया; यथा—'ते करहिं पुकारा।' और अंत में 'मंदोदरी वचन' कहा गया। इससे जनाया गया कि मंदोदरी पटरानी है, अतएव रोने में उसीकी प्रधानता है, शेष सब उसके साथ-साथ रोती हैं।

'सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना।'—इनके सुख मानने के कारण ये हैं कि इसके विलाप में श्रीरामजी के गुणों का कथन है, वे गुण यथार्थ हैं। दुष्ट की संगति में भी इसका ज्ञान शुद्ध देखकर उन्होंने प्रसन्नता मानी। पुनः शत्रु की स्त्रियों के रुदन का उनके लिये सुखदायक होना युक्त ही है।

(२) 'अज महेस नारद···'—का भाव यह है कि सामान्य सुर, मुनि आदि मंदोदरी के रुदन पर चित्त लगाये सुख पाते थे और ये लोग प्रभु की शोभा देख-देखकर प्रेम में निमग्न हो सुखी होते थे कि ऐसे संग्राम में भी आपको तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ, वरन् आपकी मनोहर छवि वैसी ही है।

रुदन करत देखी सब नारी। गयउ बिभीषन मन दुख भारी॥४॥
बंधु-दसा बिलोकि दुख कीन्हा। तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा॥५॥
लछिमन तेहि बहु बिधि समुझायो। बहुरि बिभीषन प्रभु पहि आयो॥६॥

अर्थ—सब स्त्रियों को रुदन करते हुए देखकर श्रीविभीषणजी वहाँ गये, उनके मन में भारी दुःख है॥४॥ भाई की दशा देखकर उन्होंने दुःख (शोक) किया, तब प्रभु श्रीरामजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को आज्ञा दी॥५॥ (तब) श्रीलक्ष्मणजी ने उसे बहुत तरह से समझाया, फिर श्रीविभीषणजी लौटकर प्रभु के पास आये॥६॥

विशेष—(१) 'गयउ बिभीषन मन दुख भारी।'—सत्पुरुष कुसमय में वैर भाव नहीं रखते। इससे श्रीविभीषणजी ने जब स्त्रियों को रोते देखा तो उनके कोमल हृदय में करुणा उत्पन्न हो आई और वहाँ जाकर फिर भाई की दशा देखने पर भी दुःख (शोक) किया कि मैंने बहुत समझाया कि यह नाश से बच जाय, परन्तु भावी होकर ही रही। देखो, ऐसा प्रतापी मेरा भाई आज इस दशा में पृथिवी पर पड़ा है। 'दुख भारी'—इनका दुःख से विलाप करना वाल्मी० ६।१०९।१-१२ में विस्तार से कहा गया है, परन्तु यहाँ श्रीरामजी का स्वयं समझाना है।

(२) 'लछिमन तेहि बहु बिधि समुझायो।'— समझाना वाल्मी० ६।१०६।१२-२४ में कहा गया है कि प्रचंड पराक्रमी रावण बड़ा तेजस्वी था। इसकी देह प्राण-रहित होने पर भी तेजपूर्ण है। जो क्षत्र-

धर्म पालन करते हुए रणांगन में लड़कर मरते हैं, वे शोचनीय नहीं हैं। जिसने इन्द्र सहित तीनों लोकों को जीता, वह आज वीर गति से कालवश हुआ, तो उसके लिये शोच क्या करना। युद्ध में सदा एक ही पक्ष की जीत तो होती नहीं। वीर या तो शत्रुओं को मारता है या स्वयं मारा जाता है। मनु आदि पूर्व के क्षत्रियों ने यही उत्तम माना है कि वीर-गति से मरा हुआ क्षत्रिय शोचनीय नहीं है। ऐसा निश्चय-कर अब तुम शोकरहित होकर आगे का कर्त्तव्य-कार्य देखो।

अन्य रामायणों में और तरह से समझाना लिखा है। यहाँ के 'बहु बिधि' में सबका समावेश है।

(३) 'बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयो'—वहाँ गये थे, श्रीलक्ष्मणजी के समझाने से शोक रहित होकर श्रीविभीषणजी प्रभु के पास आये।

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका ॥७॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी ॥८॥

दोहा—मंदोदरी आदि सब, देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुपति गुन, गन बरनत मन माहिं ॥१०४॥

अर्थ—प्रभु ने उसको कृपादृष्टि से देखा और कहा कि सब शोक छोड़कर रावण की (दाह) क्रिया करो ॥७॥ प्रभु की आज्ञा मान देश और काल को मन में विचारकर उन्होंने विधि-पूर्वक रावण की दाह-क्रिया की ॥८॥ मंदोदरी आदि सब स्त्रियाँ उसे तिलांजलि देकर मन में श्रीरघुनाथजी के गुण-गण वर्णन करती हुई घर को गईं ॥१०४॥

विशेष—(१) 'कृपादृष्टि प्रभु······'—कृपा दृष्टि करके उसे शोक से निवृत्त किया।

(२) 'कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी।'—भाव यह है कि श्रीविभीषणजी उसे राम-विमुख एवं क्रूर स्वभाव के मानकर उसकी क्रिया नहीं करना चाहते थे, यह वाल्मी० ६।१११।९२–९६ में कहा गया है, तब श्रीरामजी ने विभीषणजी से कहा कि हमारा वैर इसके जीवित काल तक था, मरने पर समाप्त हो गया। अब तुम इसका संस्कार करो, यह जैसा तुम्हारा है, वैसा ही मेरा है। इसका कृत्य करना तुम्हारा धर्म है, इससे तुम्हारा यश होगा, इत्यादि सुनकर विभीषणजी रावण की अन्त्येष्टि क्रिया करने पर उद्यत हुए। वाल्मी० ६।१११।९७–१०२ में कहा गया है। वही यहाँ 'आयसु मानी' से कहा है। 'प्रभु आयसु' कहकर उसका गौरव कहा ; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८)'; अर्थात् परम समर्थ की आज्ञा माननी ही चाहिये।

'बिधिवत'—विधि वाल्मी० ६।१११।१०३–१२१ में कही गई है। सारांश यह है कि माल्य-वान् सहित श्रीविभीषणजी ने रावण की देह को रेशमी वस्त्र से लपेटकर सोने की पालकी पर रोते हुए ब्राह्मण राक्षसों से रखवाया। वे रोते हुए उसे ले चले। रावण की सब स्त्रियाँ रोती हुई पीछे-पीछे चलीं। नगाड़े बजने लगे और स्तुतियाँ होने लगीं। सब दक्षिण दिशा को गये। उसे पवित्र स्थान पर रखकर श्रीविभीषणजी ने चन्दन की लकड़ी, पद्मकाष्ठ और खस की चिता रचवाई, उसपर दुशाला बिछाया। वैदिक विधि से रावण-पितृ-मेध यज्ञ करने लगे। दक्षिण-पूर्व के कोने पर वेदी बनाकर अग्नि-स्थापन किया

और उसपर मृतक को रक्खा। दधि-घृत से भरा हुआ ध्रुवा रावण के कंधे पर रक्खा, पैरों पर शस्ट, जंघों पर ओखल, अन्य लकड़ी के पात्र, अरणि, उत्तरारणि और मूसल, उन सबको यथास्थान रक्खा।''' विधिपूर्वक अग्नि दी।

'देस काल'—'देस' लंका देश एवं रणस्थल में जैसी रीति थी; 'काल' त्रेता-युग में रणभूमि में मरनेवाले के लिये जैसी रीति थी। अथवा, प्रभु को अभी बहुत कार्य करना है, अवधि (१४ वर्ष की पूर्ति) में समय थोड़ा रह गया है। तदनुसार उन्होंने शीघ्रता की।

वालि की क्रिया में 'आयसु मानी' पद नहीं है; यथा—"तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक-कर्म विधिवत सब कीन्हा॥" (कि० दो० १०)। क्योंकि वहाँ श्रीसुग्रीवजी को उसकी क्रिया करने में कोई संकोच नहीं था। पुनः वहाँ काल का भी संकोच नहीं था, प्रभु को वर्षा-भर वहीं रहना था।

'देस काल जिय जानी।' का यह भी भाव है कि रावण वीर-गति से एवं प्रभु के हाथ से मरकर मुक्त हुआ, पर देश-काल के अनुरोध से लोक-संग्रह के लिये विधिवत् क्रिया की गई। अन्यथा इसकी आवश्यकता नहीं थी।

(३) 'तिलाजलि'—श्रीविभीषणजी ने उसका अग्नि-संस्कार करके स्नान कर गीले वस्त्र सहित, तिल कुश और जल से तिलांजलि दी। फिर उसकी रानियों को बार-बार समझाकर शांत किया और उन्हें घर जाने के लिये कहा। सुनकर वे नगर में आईं।

(४) 'रघुपति गुन, गन बरनत मन माहिं'—यह लोकरीति है कि दाह कर्म करके लोग भगवान् का स्मरण करते हुए चलते हैं, यहाँ सभी रानियाँ श्रीरामजी की प्रणत-पालकता आदि गुणों को स्मरण करती हुई चलीं। श्मशान का क्षणिक ज्ञान (श्मशान वैराग्य) लोक-प्रसिद्ध है। उस समय सभी लोग प्रायः ससार को अनित्य देखते हुए परमात्मा का चिंतन करते हैं।

विभीषण-राज्याभिषेक—प्रकरण

आइ बिभीषन पुनि सिर नायो। कृपासिंधु तब अनुज बोलायो॥१॥
तुम्ह कपीस अंगद नल नीला। जामवंत मारुति नयसीला॥२॥
सब मिलि जाहु बिभीषन साथा। सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा॥३॥
पिता बचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥४॥

अर्थ—(दाह-क्रिया करके) फिर श्रीविभीषणजी ने आकर (प्रभु को) प्रणाम किया, तब कृपासागर श्रीरामजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को बुलाया (और कहा) ॥१॥ तुम, श्रीसुग्रीवजी, श्रीअंगदजी, नीलजी, नलजी, जाम्बवान्जी और हनुमान्जी, सब नीति-निपुण लोग मिलकर श्रीविभीषणजी के साथ जाओ और तिलक (विधान) पूर्ण रूप से करना—ऐसा श्रीरघुनाथजी ने कहा ॥२-३॥ पिता की आज्ञा के अनुरोध से मैं नगर में नहीं आऊँगा, पर अपने समान वानर और छोटे भाई को भेजता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'पुनि' का सम्बन्ध क्रिया से है, क्रिया करके फिर आये और शिर नवाया कि अब और क्या आज्ञा होती है। पुनः यहाँ कुछ काल लगा, इससे आने पर प्रणाम करना शिष्टाचार भी है।

'कृपासिंधु'—क्योंकि कृपा करके इन्हें राज्य देंगे। 'बोलायो'—क्योंकि अभी श्रीलक्ष्मणजी कुछ दूरी पर थे। श्रीसुग्रीवजी के तिलक के समय पास ही बैठे थे, इससे वहाँ—"राम कहा अनुजहि समुझाई।" मात्र कहा गया है, बुलाना नहीं कहा गया।

(२) 'तुम्ह कपीस अंगद···'—श्रीलक्ष्मणजी भाई हैं और ये ही तिलक करेंगे, इससे प्रथम इन्हें ही कहा है। 'नय सीला'—ये सब मंत्री हैं, ये नीति एवं यह भी जानते हैं कि कैसे राज्य-तिलक करना चाहिये। सुग्रीव-तिलक-प्रसंग से भी सब जानते ही हैं। यद्यपि श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी को पहले ही समुद्र-जल से स्वयं तिलक किया है। परन्तु उसे लंकावासी नहीं जानते। अतः, लोक-रीति के अनुसार उन सबके समक्ष भी इनका तिलक होना आवश्यक है, इसलिये किया गया।

पहले भी देवताओं के धैर्य के लिये और लोक-दृष्टि से श्रीविभीषणजी की पक्की स्वीकृति प्रकट करने के लिये तिलक करना भी आवश्यक था।

(३) 'पिता बचन मैं···'—पहले अपने हाथ से तिलक किया था, अब दूसरे के द्वारा क्यों करवाते हैं? इसका यहाँ समाधान करते हैं कि क्या करूँ? पिता की आज्ञा ही वैसी है। सुग्रीवजी के प्रति—"पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।" (कि० दो० ११), परन्तु यहाँ वर्ष की संख्या नहीं देते, क्योंकि अब तो दो दिन ही शेष हैं, एक वर्ष भी शेष नहीं है, इससे संख्या नहीं कही गई।

'आपु सरिस कपि अनुज···'—कपियों को आपने सखा का पद दिया है; यथा—"ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे।" (उ० दो० ७); इससे उन्हें 'आपु सरिस' कहते हैं, क्योंकि सखा समकक्ष होता ही है—'समानं ख्यातीति सखा' और 'अनुज' शब्द से तो भाई समान हैं ही। यहाँ 'कपि' को पहले कहा और 'तुम्ह कपीस···' में श्रीलक्ष्मणजी को, इससे दोनों को तुल्य जनाया।

वानर गण तो अपनेको सेवक ही मानते हैं, परन्तु प्रभु अपने शील स्वभाव से उन्हें अपने समान कहते हैं; यथा—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान॥" (बा० दो० २९)।

> तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना। कीन्ही जाइ तिलक की रचना॥५॥
> सादर सिंहासन बैठारी। तिलक साजि अस्तुति अनुसारी॥६॥
> जोरि पानि सबहीं सिर नाये। सहित बिभीषन प्रभु पहिं आये॥७॥
> तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हें। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥८॥

शब्दार्थ—अनुसारी = अनुसरण करना, करना। रचना = विधान।

अर्थ—प्रभु के वचन सुनकर वानर तुरत चले, जाकर तिलक के विधान किये॥५॥ आदर सहित सिंहासन पर बैठाकर तिलक करके उनकी स्तुति की॥६॥ हाथ जोड़कर सभी ने प्रणाम किया, (फिर) श्रीविभीषणजी के साथ सब प्रभु के पास आये॥७॥ तब रघुवीर श्रीरामजी ने वानरों को (अपने पास) बुला लिया और (अमृत के समान) प्यारे वचन कहकर उन सबको सुखी किया॥८॥

विशेष—'तुरत चले कपि···'—यहाँ चलने में वानरों को प्रधान कहा गया, क्योंकि पहले तीर्थों के जल लाना इन्हीं का काम है। 'तुरत' शब्द तिलक-रचना के साथ भी है। 'तिलक की रचना'

अ० दो० ४ से दो० ६ तक में कही गई है, वही यहाँ लगा लेना चाहिये। पुनः श्रीसुग्रीवजी के राज्य-तिलक पर कुछ विधान कहा गया है; यथा—"लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन विप्रसमाज ॥" (कि० दो० ११); उसका भी यहाँ अध्याहार कर लें और यहाँ का विधान; यथा—"तिलक की रचना, सिंहासन पर बैठाना, तिलक करना और स्तुति करना तथा प्रणाम करना" वहाँ भी अध्याहार से लगाना चाहिये। यह ग्रन्थकार की रीति है कि जब एक ही विषय दो जगह कहना होता है, तब कुछ-कुछ दोनों जगह कहते हैं। दोनों स्थलों के वर्णनों को मिलाकर ही अर्थ करना चाहिये।

जब वेद-विधि से राजा का अभिषेक होता है, तब वह सब लोकपालों के अंश-युक्त होकर स्तुति और प्रणाम के योग्य होता है। श्रीविभीषणजी तो परम भागवत भी हैं।

प्रथम श्रीलक्ष्मणजी ने तिलक किया, तब श्रीसुग्रीव आदि ने और फिर लंका-निवासियों ने भी तिलक किया। 'सबही सिर नाये'—सभा में जो लोग उपस्थित थे।

छंद—किये सुखी कहि बानी सुधा-सम बल तुम्हारे रिपु हयो।
पायो बिभीषन राज तिहुँ पुर जस तुम्हारो नित नयो ॥
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं।
संसार-सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं।

दोहा—प्रभु के बचन श्रवन सुनि, नहिं अघाहिं कपिपुंज।
बार बार सिर नावहिं, गहहिं सकल पदकंज ॥१०५॥

अर्थ—अमृत समान वाणी कहकर सबको सुखी किया। (वे वचन ये हैं—) तुम्हारे बल (सहायता) से शत्रु का नाश हुआ और श्रीविभीषणजी ने राज्य पाया—यह तुम्हारा यश तीनों लोकों में नित्य नया बना रहेगा ॥ जो मुझ सहित तुम्हारी मंगल कीर्ति को परम प्रीति से गावेंगे, वे मनुष्य बिना परिश्रम ही अपार भव-सागर के पार हो जायँगे ॥ प्रभु के वचन कानों से सुनकर वानर समूह नहीं अघाते, सभी बार-बार मस्तक नवाते और चरण-कमल पकड़ते हैं ॥१०५॥

विशेष—(१) 'किये सुखी कहि बानी सुधा सम···'—वाणी अमृत के समान है, इससे सुनकर सब सुखी हुए; यथा—"श्रवन सुधा सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात ॥" (बा० दो० १४५); 'जस तुम्हारो नित नयो'; यथा—"उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन-दिन दूना ॥" (अ० दो० २०८)।

(२) 'मोहिं सहित सुभ कीरति···'—प्रभु ने वानरों को सखा मानकर समकक्ष माना है। प्रभु की कीर्त्ति शुभ (मंगलमय) है; यथा—"जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती ॥" (सुं० दो० ३४); इसीसे वानरों की कीर्त्ति को भी 'सुभ' कहा है। प्रभु के कीर्त्ति-गान का फल भव-सागर तरण है; यथा—"कहहि सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं ॥" (उ० दो०

१२८); वैसे ही यहाँ वानरों के कीर्त्तिगान का भी फल श्रीमुख से कह रहे हैं—'संसार सिंधु अपार पार···'—भाव यह है कि योग-व्रत आदि के द्वारा बहुत प्रयास से भवसागर-तरण होता है और तुम्हारी कीर्त्ति के गाने से बिना प्रयास ही होगा।

माहात्म्य-कथन में अपनेको गौण और भक्तों को प्रधान कहते हैं, यह कृतज्ञता की पराकाष्ठा है और यही—"राम ते अधिक राम कर दासा।" (उ० दो० ११८) का चरितार्थ भी है। 'मोहिं सहित···' से किष्किंधा, सुंदर और लंका इन्हीं तीन कांडों के चरित का माहात्म्य कहा गया, क्योंकि इन्हीं में प्रभु-चरित के साथ वानर लोग भी मिले हैं। 'जे गाइहैं' और 'नर पाइहैं' से मनुष्य-मात्र को इसके गान का अधिकारी सूचित किया।

(३) 'प्रभु के वचन श्रवन सुनि···'—वचन ऊपर 'सुधा सम' कहे गये,-इससे यहाँ उनका गुण कहते हैं ; यथा—"नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मति धीर॥" (उ० दो० ५२)।

(४) 'बार-बार सिर नावहिं' और 'गहहिं सकल पद-कंज' से प्रेम की दशा, कृतज्ञता और अपने में प्रत्युपकार की असमर्थता प्रकट की ; यथा—"प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५) ; "सुनत सुधा सम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के॥" (उ० दो० ४६) "मो पहिं होइ न प्रति-उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥" (उ० दो० ११४)।

'गहहिं पदकंज'—का यह भी भाव है कि यह वचन हमें मोह में डालनेवाला है, उस बाधा से मेरी रक्षा कीजिये, इन्हीं चरणों का आश्रित रहने दीजिये ; यथा—"सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत॥" (सुं० दो० ३२)—ऐसे ही वचनों पर श्रीहनुमान्‌जी भी चरणों पर पड़े थे।

पुनः यहाँ के—'बल तुम्हारे रिपु हयो।' आदि वचन आगे दो० ११६ में भी प्रभु ने कहे हैं। वहाँ के वचनों के उत्तर यहाँ भी युक्तियुक्त हैं ; यथा—"बचन सुनत प्रेमाकुल बानर।' से 'मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥" तक।

"सीता-रघुपति-मिलन"—प्रकरण

पुनि प्रभु बोलि लियउ हनुमाना। लंका जाहु कहेउ भगवाना॥१॥
समाचार जानकिहि सुनावहु। तासु कुसल लै तुम्ह चलि आवहु॥२॥
तब हनुमंत नगर महँ आये। सुनि निसिचरी निसाचर धाये॥३॥
बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही। जनक-सुता देखाइ पुनि दीन्ही॥४॥

अर्थ—फिर प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी को बुलाया, भगवान् श्रीरामजी ने उनसे कहा कि 'तुम लंका जाओ, श्रीजानकीजी को समाचार सुनाओ और उनकी कुशल लेकर तुम चले आओ॥१-२'। तब श्रीहनुमान्‌जी नगर में आये, (उनका आगमन) सुनकर राक्षसियाँ और राक्षस (स्वागत के लिये) दौड़े॥३॥ उन्होंने इनकी बहुत तरह से पूजा की और फिर श्रीजानकीजी को दिखा दिया॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु' और 'भगवाना' कहने का भाव यह कि आगे प्रभुता एवं ईश्वरत्व के चरित करेंगे। श्रीसीताजी की अग्नि-परीक्षा लेंगे, तब ब्रह्मादि आकर स्तुति करेंगे। श्रीहनुमान्‌जी को ही भेजा, क्योंकि इन्हें वे पहचानती हैं। अपनी तरफ के समाचार सुनाना कहते हैं, इसमें अपने सबकी कुशल और रावण-वध आदि बहुत बातें हैं, श्रीहनुमान्‌जी के कहते समय ग्रन्थकार खोलेंगे। श्रीसीताजी की कुशल-मात्र पूछते हैं, अभी ले आने को नहीं कहते कि जिससे सुनकर पहले उन्हें धैर्य हो, फिर सुस्थिर होने पर उन्हें आदरपूर्वक स्नान आदि कराके बुलायेंगे। अभी तो इतना ही जानना है कि वे जीवित हैं कि नहीं।

(२) 'बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही।'; यथा—"प्रविवेश पुरीं लंकां पूज्यमानो निशाचरैः।" (वाल्मी० ६।११३।१) अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी लंका में गये और राक्षसों से पूजित हुए। 'बहु प्रकार' अर्थात् षोड़शोपचार से। यहाँ 'धाये' (दौड़ने) में निशाचरियों को पहले कहा है, क्योंकि ये ही अब बहुत रह गई हैं, जो राक्षस बचे हैं, वे अभी भी मारे डर के आगे नहीं जाते, निशाचरियों के पीछे-पीछे पूजा करने के लिये आये। अब श्रीविभीषणजी राजा हैं, तदनुसार प्रजा भी हो गई। अब सात्त्विक भाव से पूजा कर रहे हैं।

'जनक-सुता देखाइ पुनि दीन्ही।'—इसमें 'पुनि' का अर्थ तत्पश्चात् है अर्थात् पूजा करने के पीछे उन्होंने श्रीजानकीजी को दिखा दिया कि यहाँ विराजमान हैं। साथ नहीं गईं, इसलिये कि हमलोगों के सामने बात-चीत करने में कुछ सँकोच होगा।

दूरहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपति-दूत जानकी चीन्हा ॥५॥
कहहु तात प्रभु कृपानिकेता। कुसल अनुज कपि सेन समेता ॥६॥
सब बिधि कुसल कोसलाधीसा। मातु समर जीतेउ दससीसा ॥७॥
अबिचल राज बिभीषन पायो। सुनि कपि-बचन हरष उर छायो ॥८॥

अर्थ—कपि ने दूर ही से प्रणाम किया, श्रीजानकीजी ने पहचान लिया कि ये रघुपति-दूत हैं ॥५॥ (तब बोलीं) हे तात ! कहो, कृपा के धाम प्रभु भाई और सेना के साथ कुशल से तो हैं ॥६॥ हे माता ! कोसलपति श्रीरामजी सब प्रकार कुशल से हैं, उन्होंने रण में दस शिरवाले रावण को जीत लिया ॥७॥ श्रीविभीषणजी ने अचल राज्य पाया, कपि के वचन सुनकर उनके हृदय में आनंद छा गया ॥८॥

विशेष—(१) 'दूरिहि ते प्रनाम...'—जहाँ से राक्षसियों ने दिखाया, और श्रीजानकीजी इनको देख सकती थीं, वहीं से प्रनाम किया। ऐसी विधि है कि पूज्य को जहाँ से देखे, वहीं से प्रणाम करे, यथा—"गिरिवर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (अ० दो० २७४); 'गुरुहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ ...मुनिवर धाइ लिये उर लाई।" (अ० दो० १४२); 'चीन्हा'— क्योंकि पहले एक बार देख चुकी हैं।

(२) 'कहहु तात प्रभु...'—'कृपानिकेता'—क्योंकि कृपा करके तुम्हें भेजा। 'कुसल अनुज कपि सेन समेता।'—इन सबकी कुशल श्रीरामजी ने कहला भेजी है, वही पूछती हैं; यथा—"वैदेह्या मां च कुशलं सुग्रीवं च स लक्ष्मणम्। आचक्ष्व वदतां श्रेष्ठ रावणं च हतं रणे।" (वाल्मी० ११२।२४)—अर्थात् श्रीजानकीजी से श्रीसुग्रीवजी और श्रीलक्ष्मणजी सहित मेरी कुशल और रावण का रण में वध होना कहो।

(३) 'सब बिधि'—भाव यह कि सेना, भाई और सुग्रीवादि के साथ एवं सब प्रकार से कुशल हैं। 'अबिचल राज···'—रावण के सभी पक्षपाती मारे गये। अतः, श्रीविभीषणजी के राज्य में कोई बाधक नहीं रह गया। पुनः कल्प तक की उन्हें आयु भी प्राप्त है; यथा—"करेहु कलप भरि राज तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माँहिं।" (दो॰ ११५); यथा—"विभीषणाय भगवान्दत्वा रक्षोगणेशताम् ॥३२॥ लंकामायुश्चकल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् ॥३३॥"—(भाग॰ ९।१०); अर्थात् भगवान् श्रीरामजी श्रीविभीषणजी को राक्षसों का राज्य, लंका और कल्प भर की आयु दे, व्रत को पूरा कर पुरी को चले।

छंद—अति हरष मन तनु पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।
का देउँ तोहि त्रैलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा।
सुनु मातु मैं पायो अखिल-जग-राज आजु न संसयं।
रन जीति रिपु-दल बंधु-जुत पश्यामि राममनामयं॥

दोहा—सुनु सुत सदगुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनंत ॥१०६॥

शब्दार्थ—किमपि = कुछ भी, समा = समान।

अर्थ—श्रीसीताजी के मन में अत्यन्त हर्ष है, तन पुलकित है, नेत्रों में जल भरा है, वे बार-बार कह रही हैं—हे कपि! तीनों लोकों में इस वाणी के समान कुछ भी नहीं है—तुमको क्या दूँ?॥ (श्रीहनुमान्‌जी ने कहा) हे माता! मैंने आज सम्पूर्ण जगत् का राज्य पा लिया, इसमें संदेह नहीं है। जो युद्ध में शत्रु-सेना को जीतकर भाई के साथ निर्विकार श्रीरामजी के दर्शन कर रहा हूँ॥ हे पुत्र! हे हनुमान्! सुनो, समस्त उत्तम (सात्त्विक) गुण तुम्हारे हृदय में बसें और श्रीलक्ष्मणजी के साथ कोशलाधीश तुमपर प्रसन्न रहें॥१०६॥

विशेष—(१) 'अति हरष मन तनु पुलक···कह पुनि पुनि रमा।'—इससे मन, वचन और कर्म का हर्ष प्रकट हुआ। 'कह पुनि पुनि' से प्रेम की दशा कही गई।

(२) 'का देउँ तोहिं···'—तीनों लोकों में इसके तुल्य कुछ नहीं है, मैं क्या दूँ? इससे ऐश्वर्य प्रकट होता है कि ये तीनों लोकों की अधीश्वरी हैं, तब तो ऐसा कहती हैं, इसीसे 'रमा' ऐश्वर्य-सूचक नाम भी साथ ही कहा गया।

ऐसे ही प्रसंग पर श्रीभरतजी ने भी इसी तरह कहा है; यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥" (उ॰ दो॰ १)। श्रीभरतजी के हाथ जगत् भर का ऐश्वर्य है, क्योंकि वे चक्रवर्त्ती हैं, इससे 'जग माहीं' कहा और श्रीजानकीजी के हाथ में तीनों लोक हैं, इससे 'त्रैलोक महँ' कहा है। ऐसा ही श्रीरामजी ने भी सुंदरकाण्ड में इनसे कहा है; यथा—"सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।" (दो॰ ३१); अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी के हाथ श्रीरामजी सपरिवार बिक-से गये हैं।

(३) 'मैं पायौं अखिल जग-राज-आज···'—स्वामी की कुशल एवं सुख में सुखी होना सेवक का सर्वस्व है—यह यहाँ उपदेश है।

'का देउँ तोहि···'—यह राम-विजय और विभीषण राज्य तिलक-मात्र कथा सुनाने की पूजा है, सातो कांड चरित की पूजा में क्या देंगी ? यह पाठक स्वयं विचार लें कि कथा का क्या माहात्म्य है ?

(४) 'सुनु सुत सद्गुन सकल···'—पहले सुं० दो० १६ में सद्गुणों की प्राप्ति का आशीर्वाद मिल चुका है ; यथा—"होहु तात बल सील निधाना॥ अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥" यहाँ उन गुणों की स्थिरता दी, यह अधिकता है और अनुकूलता यहाँ श्रीलक्ष्मणजी समेत की कही, यह भी अधिकता है।

श्रीहनुमान्जी को निष्काम जानकर पहले समस्त साधुगुण दिये, फिर उनका फल रूप स्वामी की अनुकूलता भी दी। यहाँ यह भी जनाया कि सकल सद्गुणों की स्थिति और प्रभु की अनुकूलता त्रैलोक्य-दुर्लभ है श्रीरामजी ने सुं० दो० ३३ में अपनी भक्ति इनके माँगने पर दी थी, यथा—"नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु दया करि अनपायनी॥" परन्तु यहाँ माता ने बिना माँगे ही दी यह इधर विशेषता है। आगे समय का व्यवहार कहती हैं—

अब सोइ जतन करहु तुम ताता। देखउँ नयन स्याम मृदु गाता॥१॥
तब हनुमान राम पहिं जाई। जनकसुता कै कुसल सुनाई॥२॥
सुनि संदेस भानुकुल-भूपन। बोलि लिये जुवराज बिभीषन॥३॥
मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर जनकसुतहि लै आवहु॥४॥

अर्थ—हे तात ! अब तुम वही उपाय करो जिससे मैं नेत्रों से कोमल श्यामल शरीर के दर्शन करूँ॥१॥ तब श्रीरामजी के पास जाकर श्रीहनुमान्जी ने श्रीजानकीजी की कुशल सुनाई॥२॥ सूर्य कुल-भूषण श्रीरामजी ने संदेश सुनकर श्रीअंगदजी और श्रीविभीषणजी को बुलाया॥३॥ (और कहा) श्रीहनुमान्जी के साथ जाओ और आदर के साथ श्रीजानकीजी को ले आओ॥४॥

विशेष—(१) 'अब सोइ जतन···'—जैसे पहले यत्न किया था कि तुरत स्वामी को लंका ले आये, वैसे ही अब भी शीघ्र उनके दर्शन कराइये—यह दर्शन की आतुरता कही।

'देखउँ नयन' का भाव यह है कि ध्यान से तो अब भी देखती हूँ, यथा—"नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।" (सुं० दो० ३०), पर अब आँखों से देखूँ, यह लालसा है। 'तब हनुमान ··' इसमें ग्रंथकार श्रीहनुमान्जी की आतुरता शब्दों में भी प्रकट कर देते हैं कि न श्रीसीताजी को और न श्रीरामजी को ही श्रीहनुमान्जी का प्रणाम करना लिखा।

(२) 'सुनि सदेस···'—इधर से आपने कुशल-मात्र पूछी थी, परन्तु श्रीजानकीजी ने दर्शनाभिलाष का सँदेशा भी कहा, इसीसे 'सुनि सदेस' कहा।

'भानुकुल-भूपन' का भाव यह कि वंश की मर्यादा के अनुसार सादर लाने को भेजेंगे। श्रीविभीषणजी वहाँ के राजा हैं, वे निशाचरियों को आज्ञा देकर आदर के साथ स्नान आदि करवायेंगे और

श्रीअंगदजी अपने सखा के पुत्र एवं युवराज हैं, और श्रीजानकीजी के भी पुत्र के समान हैं। 'मारुत सुत के संग' कहा, क्योंकि वे इन्हें पहचानती हैं। अतः, सबको प्रभु के भेजे हुए मानेंगी।

(३) 'सादर' का अर्थ आगे स्पष्ट है कि स्नान करा शृङ्गार कराके पालकी पर लाइये।

तुरतहिं सकल गये जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता ॥५॥
बेगि बिभीषन तिन्हहिं सिखायो। तिन्ह बहु बिधि मज्जन करवायो ॥६॥
बहु प्रकार भूषन पहिराये। सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याये ॥७॥
ता पर हरषि चढ़ी बैदेही। सुमिरि राम सुखधाम सनेही ॥८॥

अर्थ—शीघ्र ही सब वहाँ गये जहाँ सब निशाचरियाँ नम्रता सहित श्रीसीताजी की सेवा कर रही थीं ॥५॥ श्रीविभीषणजी ने शीघ्र ही उनको सिखाया, (तदनुसार) उन्होंने बहुत प्रकार से उनको स्नान कराया ॥६॥ बहुत तरह के गहने पहनाये, फिर सुन्दर पालकी सजाकर लाई गई ॥७॥ उसपर वैदेही श्रीजानकीजी सुख के धाम स्नेही श्रीरामजी का स्मरण कर हर्ष-पूर्वक चढ़ीं ॥८॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि मज्जन'—शिर की वेणी सुलझा, उत्तम अंगराग फुलेल आदि लगाकर सुगंधित जल से स्नान कराया।

(२) 'बहु प्रकार भूषन···'; यथा—"भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये ॥" (बा० दो० २४७); अर्थात् प्रत्येक अंग के अनुकूल सुन्दर-सुन्दर भूषण सजाकर पहनाये। 'सिबिका रुचिर' पालकी में कहार लगे हुए थे; यथा—"आरोप्य शिविकां सीतां राक्षसैर्वहनोचितैः ॥" (वाल्मी० ६।११४।१५) 'हरषि चढ़ी'—अपने परम प्रियतम के पास बहुत दिनों पर जा रही हैं, अतएव हर्ष है, प्रस्थान के समय हर्ष का होना मंगल शकुन भी है। 'सुखधाम सनेही'—सुख के धाम हैं, उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं, पर स्नेही हैं, अतएव स्नेह से भक्तों को सुख देते हैं। वा, 'सुखधाम' हैं, इससे मुझे सुख देंगे, स्नेही हैं, अतएव स्नेह करेंगे।

बेत-पानि रक्षक चहुँ पासा। चले सकल मन परम हुलासा ॥९॥
देखन भालु कीस सब आये। रच्छक कोपि निवारन धाये ॥१०॥
कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादेहि आनहु ॥११॥
देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं ॥१२॥

अर्थ—चारों ओर हाथ में बेंत (छड़ी) लिये हुए रक्षक चल रहे हैं, उन सबके मन में परम उत्साह है ॥९॥ सब रीछ वानर देखने आये, तब रक्षक क्रोध करके उनको रोकने दौड़े ॥१०॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कहा कि हे सखे ! हमारा कहना मानो, श्रीसीताजी को पैदल लाओ ॥११॥ वानर उन्हें माता की तरह देखें, गोस्वामी श्रीरघुनाथजी ने हँसकर ऐसा कहा ॥१२॥

विशेष—(१) 'बेत-पानि रक्षक ···'—प्रभु ने 'सादर' लाने की आज्ञा दी थी। वही—'तिन्ह

बहु बिधि मज्जन करवायो।' से यहाँ तक में दिखाया गया। 'परम हुलासा', क्योंकि महारानीजी की सेवा में परम भाग्य मानते हैं।

(२) 'देखन भालु कीस···'—ये लोग देखना चाहते हैं कि जिनके लिये हमलोगों ने इतना श्रम किया, वे कैसी हैं? पर रक्षक लोग रोकने लगे, क्योंकि वे सब मंदोदरी आदि की रक्षा में रहने से ऐसे कार्यों को जानते हैं।

(३) 'कहा मम मानहु' का भाव यह है कि यद्यपि यह बात उचित नहीं है तथापि हमारी बात मानो कि जिससे पैदल लाने से वानर देख सकें।

'बिहँसि कहा'—सबका मन रखने के लिये हँसकर कहा, अथवा हँसकर वानरों पर अत्यन्त कृपा दिखाई।

पैदल लाने के लिये कहा कि वानर सब देख सकें और 'देखहु कपि जननी की नाईं' कहकर उनका देखना भी उचित कहा; यथा—"न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रिया। नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियः॥ व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दुष्यते स्त्रियः॥ सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता। दर्शनेनास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥" (वाल्मी० ६।११४।१७-२१); अर्थात् स्त्रियों के लिये घर, वस्त्र, चहारदिवारी, परदा एवं राज-सत्कार (वेतपानि द्वारा रक्षा) आवरण नहीं हो सकते। उनके शुभ आचरण ही परदा हैं।' दुःख मे, विपत्ति में, युद्ध मे, स्वयंवर में, यज्ञ एवं विवाह में स्त्रियों का देखना दूषित नहीं समझा जाता। श्रीसीताजी इस समय विपत्ति मे हैं और खास करके मेरे समीप हैं, इससे इनके दर्शनों मे दोष नहीं। 'जननी की नाईं'—माता के सामने जाने मे पुत्रों को संकोच नहीं होता।

सुनि प्रभु बचन भालु कपि हरषे। नभ ते सुरन्ह सुमन बहु बरषे ॥१३॥
सीता प्रथम अनल महँ राखी। प्रगट कीन्ह चह अंतर साखी ॥१४॥

दोहा—तेहि कारन करुनानिधि, कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सब, लागीं करै बिषाद ॥१०७॥

(३) 'प्रगट कीन्ह चह अंतर साखी ।'—भगवान् सबके अंतःकरण के साक्षी हैं ; यथा—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥" (श्वे० ६।११)। अतः, श्रीसीताजी के भी हृदय की शुद्धता को जानते हैं, श्रीसीताजी के चरित में इन्हें कुछ भी संदेह नहीं है। पर जिन श्रीसीताजी को पहले अग्नि में रक्खा था, उन्हीं को इस शपथ के द्वारा प्रकट करना चाहते हैं।

अग्निदेव लोक-मात्र के साक्षी हैं ; यथा—"तौ कृसानु सबकी गति जाना ।" आगे कहा है। उनकी शपथ द्वारा श्रीसीताजी की शुद्धता जगत् में प्रसिद्ध करेंगे। अग्निदेव सबके समक्ष कहेंगे; यथा—"अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः। एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥ नैव वाचा न मनसा नैव बुद्धया न चक्षुषा। सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा ॥" (वाल्मी० ६।११८।५-६); अर्थात् लोक साक्षी अग्निदेव ने कहा कि ये श्रीसीताजी आपकी हैं, ये निष्पाप हैं, मन, वचन और कर्म से शुद्ध हैं, इन्होंने आपपर अत्याचार नहीं किया।

(४) 'तेहि कारन···'—दुर्वचन कहने में भी करुणा है, क्योंकि इससे श्रीसीताजी की महिमा प्रकट करेंगे, इसलिये 'करुना निधि' कहा है ; यथा—"रामेणेदं विशुद्धयर्थं कृतं वै त्वद्धितैषिणा ॥" (वाल्मी० ६।११६।३४); अर्थात् राजा श्रीदशरथजी ने स्वर्ग से आने पर श्रीसीताजी से कहा है कि तुम्हारे हितैषी श्रीरामजी ने तुम्हारी विशुद्धता प्रसिद्धि के लिये ही यह परीक्षा ली है।

'कछुक दुर्बाद'—वाल्मी० ६।११५ में कहा गया है। मानसकार ने उसे नहीं कहा तो तिलक में भी नहीं लिखा जा रहा है, जिसे इच्छा हो, वहीं देख लें। राक्षसियाँ विषाद करने लगीं, क्योंकि ये दिन रात साथ रहती थीं, इससे श्रीसीताजी की शुद्धता जानती थीं।

किसी-किसी का यह भी मत है कि इन्हों ने (माया की सीता ने) श्रीलक्ष्मणजी को दुर्वचन कहे थे, उसके प्रतिकार रूप में यहाँ प्रभु ने भी दुर्वचन कहे।

प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम बचन पुनीता ॥१॥
लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम बेगी ॥२॥

अर्थ—प्रभु के वचनों को शिरोधार्य करके मन, कर्म और वचन से पवित्र श्रीसीताजी बोलीं ॥१॥ हे लक्ष्मण! धर्म के नेगी बनो, (हमारे धर्म-कार्य में भागी बनकर पुण्य लो) तुम शीघ्र अग्नि प्रकट करो ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रभु के बचन'······'—ये समर्थ हैं, अतएव इनके वचनों में उचित-अनुचित के विचार का अवकाश नहीं ; यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हें सब छाजा ॥" (अ० दो० ११); अतएव आज्ञा शिरोधार्य कर ली ; यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा ॥ मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभजानी ॥" (बा० दो० ७१); 'मन क्रम बचन पुनीता' हैं, तीनों के प्रति शपथ करेंगी।

(२) 'नेगी'—शुभकार्य मे नियमित कार्य करनेवालों को कुछ नियमित वस्तु या द्रव्य मिलता है, उसे नेग और उसके पानेवाले अधिकारी को नेगी कहते हैं। वैसे इस शुभकार्य (दृढ़ पातिव्रत्य सिद्धि) में तुम भी भागी बनो, इसमें तुम्हें धर्म-रूपी द्रव्य मिलेगा।

श्रीलक्ष्मणजी को ही कहा, क्योंकि इन्हीं से अधिक परिचित थीं। पुनः इस तन से इन्हें दुर्वचन कहे थे, उसका प्रायश्चित्त भी इनके द्वारा चिता बनवाकर मानो कर रही हैं।

वाल्मीकीय रामायण में श्रीसीताजी ने कुछ वचनों द्वारा भी सफाई दी है, पर कल्पभेद-रीति से मानस में केवल शपथ द्वारा ही शुद्धता प्रकट की गई है।

सुनि लछिमन सीता कै बानी। बिरह बिबेक धरम निति सानी ॥३॥
लोचन सजल जोरि कर दोऊ। प्रभु सन कछु कहि सकत न ओऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी की विरह, विवेक, धर्म और नीति में सानी हुई वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी के नेत्रों में जल भर आया, वे दोनों हाथ जोड़े हुए हैं, प्रभु से वे भी कुछ नहीं कह सकते ॥४-४॥

विशेष—(१) 'बिरह बिबेक धरम निति सानी।'—श्रीसीताजी की वाणी इतनी ही है; यथा—"लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी ॥" इतने ही में विरह आदि सभी हैं, पति ने त्यागने के वचन कहे, उससे विरह हुआ। तब पातिव्रत्य में संदेह होने की अपकीर्त्ति को असह्य मानकर चिता में जलना निश्चय किया; यथा—"मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥" (वाल्मी० ६।११६।१८), अर्थात् मिथ्या कलंक से दूषित होकर मैं जीना नहीं चाहती, यह विचार 'विवेक' है। 'धर्म के नेगी' हो, यह धर्म-युक्त वचन है, क्योंकि अग्नि-परीक्षा से धर्म की रक्षा होगी। 'पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी'—शीघ्र ही स्वामी की आज्ञा के पालन में रत होना नीति है।

(२) 'लोचन सजल जोरि कर दोऊ ···'—वाल्मी० ६।११६।२०-२२ में लिखा है कि यह सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने क्रोध करके श्रीरामजी की ओर देखा, इसपर श्रीरामजी का अभिप्राय समझकर वे चिता बनाने को तैयार हुए। उस समय श्रीरामजी ने ऐसा प्रलयकाल के यमराज का-सा भयंकर आकार बना लिया था कि कोई मित्र उनसे कुछ बोल ही नहीं सकता था और न उनकी ओर कोई देख ही सकता था।

वही भाव यहाँ है कि श्रीलक्ष्मणजी हाथ जोड़कर कुछ प्रार्थना करना चाहते थे कि अत्यन्त अयोग्य बर्त्ताव हो रहा है, परन्तु कुछ नहीं कह सके। 'प्रभु' शब्द में उपर्युक्त यमराज की-सी भयंकरता जना दी।

पूर्व सीताहरण का दोष भी इन्हीं के शिर मढ़ा गया था ; यथा—"जनक सुता परिहरेहु अकेली। आयहु तात बचन मम पेली ॥" (आ० दो० २६); अब उन्हें जलाने के लिये भी मैं ही चुना जाता हूँ, यह समझकर कुछ नहीं कर सकते।

देखि राम-रुख लछिमन धाये। पावक प्रगटि काठ बहु लाये ॥५॥
पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही ॥६॥
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥७॥
तौ कृसानु सबकै गति जाना। मो कहँ होउ श्रीखंड समाना ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी का रुख (मुखाकृति से इशारा) देखकर श्रीलक्ष्मणजी दौड़े और आग प्रकट करके बहुत-सी लकड़ियाँ लाये ॥५॥ अग्नि खूब प्रज्वलित देखकर विदेह कुमारी श्रीसीताजी हृदय में हर्षित

हुईं, उनके मन में कुछ भी भय नहीं हुआ ॥६॥ (वे बोलीं) यदि मन, वचन और कर्म से मेरे हृदय में रघुवीर को छोड़कर दूसरे की गति (प्राप्ति एवं आश्रय) नहीं है तो, हे अग्निदेव ! आप तो सबकी गति (व्यवस्था) जानते हैं (अतः, मेरे हृदय की भी जानकर) मेरे लिये चंदन के समान (शीतल) हो जायँ ॥८॥

विशेष—(१) 'देखि राम-रुख···'; यथा—"स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम्। चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥" (वाल्मी० ६।११६।२१); अर्थात् इशारों से श्रीरामजी के मन का अभिप्राय जानकर पराक्रमी श्रीलक्ष्मणजी ने चिता बनाई।

'हृदय हरष नहिं भय कछु तेही।'—हृदय में हर्ष है कि आज मैं अपने सत्य पातिव्रत्य की प्रतीति स्वामी के समक्ष प्रकट करूँगी। अग्नि का कुछ भी भय नहीं है; यथा—"विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना।" (वाल्मी० ६।११६।२७); हर्ष-भय-रहित होने के संबंध से "वैदेही' कहा गया है कि विदेह ज्ञानी की कन्या हैं, इन्हें हर्ष और भय क्यों होंगे ?

(३) 'जौं मन बच क्रम···तौ कृसानु···'—"यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्। तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः। तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥" (वाल्मी० ६।११६।२५-२६), अर्थात् यदि मेरा हृदय राघव से अतिरिक्त अन्यत्र नहीं गया हो, तो लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओर से रक्षा करें। मुझ शुद्ध चरित्रवाली को राघव दुष्ट-चरित्रवाली जानते हैं, यदि मैं शुद्धा हूँ, तो अग्निदेव मेरी सब तरह से रक्षा करें।

छंद—श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली ॥१॥
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु-चरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे ॥२॥

अर्थ—प्रभु का स्मरण करके चन्दन के समान शीतल अग्नि में मिथिलेश-नंदिनी श्रीसीताजी ने प्रवेश किया। कोशलपति की जय हो, जिनके चरणों की अत्यन्त निर्मल प्रीति शिवजी से वंदित है (आराध्य है) ॥१॥ प्रतिबिंब (बिंब में) जड़ गया (लीन हो गया) और लौकिक कलंक प्रचंड अग्नि में जल गये। प्रभु के इस चरित को किसी ने नहीं देखा, (यद्यपि) आकाश में देवता, सिद्ध और मुनि सब खड़े देख रहे थे ॥२॥

विशेष—(१) 'मैथिली' का भाव यह है कि अब पावक को मंथन करके प्रकट होंगी।

(२) 'जय कोसलेस···'—जिस निर्मल चरण रति की आराधना से शिवजी महान् ईश (समर्थ) हैं, जिन्होंने सर्व विकार-मूल काम को ही जला दिया, उसी चरण रति के प्रभाव से मैं भी मन, वचन और कर्म से निर्मल रहीं। अतः, उसकी जय हो, इस तरह यह श्रीजानकीजी का वचन है, यदि इसे वक्ताओं का कथन मानें, तब भी युक्तियुक्त ही है कि जब इन्होंने निःशंक अग्नि में प्रवेश किया, तब इनकी निर्मलता की कारणरूपा उक्त अति निर्मली चरण-रति की सब जय-जयकार करने लगे।

यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों की वृत्तियाँ कही गईं—'सुमिरि प्रभु'—मन, 'पावक-प्रवेस कियो'—तन एवं कर्म और 'जय कोसलेस···' यह वचन है।

(३) 'प्रतिबिंब अरु लौकिक···'—'जरे' का अर्थ प्रतिबिंब के विषय में 'जड़े' अर्थात् लीन होने का होगा, क्योंकि इसी तन से पातिव्रत्य के सत्य होने में अग्नि के शीतल होने की प्रतिज्ञा है, यदि यह तन जल गया, तो फिर पातिव्रत्य की सत्यता कहाँ रहेगी? और कलंक का जलना सिद्ध है, क्योंकि प्रतिज्ञा सत्य होने से लौकिक कलंक नहीं रह गया। अतः, इस पक्ष में 'जरे' का अर्थ जलने का होगा। 'जरे' शब्द अपने दो अर्थों से कर्म की क्रिया-रूप में प्रयुक्त हुआ, इससे बहुवचन 'जरे' कहा गया, क्योंकि भाषा में द्विवचन भी बहुवचन ही कहा जाता है। अथवा, 'जरे' क्रिया केवल 'लौकिक कलंक' इस अंतिम पद के साथ ही लें, तो लोगों के विभिन्न मनःकल्पित सभी विकार मिलकर बहुवचन हो जायँगे। रहा 'प्रतिबिंब' उसके लिये बिंब में विलीन होने की क्रिया अध्याहार से ली जायगी। जैसे—"मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं।" (दो॰ ५२); इसमें अंतिम पद 'दाँतन्ह के साथ 'काटहिं' क्रिया ली गई है, शेष 'मुठिकन्ह' और 'लातन्ह' के साथ 'मारहिं' क्रिया अध्याहार से ली गई है।

कलंक का जलना यह है कि श्रीसीताजी ज्योंही अग्नि से निकलीं त्योंही लौकिक कलंक का नाश हुआ, उनकी कीर्ति-कौमुदी सर्वत्र फैल गई कि ये शुद्ध पतिव्रता हैं, इसीसे अग्नि इन्हें नहीं जला सकी; यथा—"तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावक की कलुषाइ दही है।" (क॰ उ॰ ६)।

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो ॥३॥
सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक-पंकज की कली ॥४॥

अर्थ—अग्नि रूप धारण करके हाथ से सत्य (माया-सीता नहीं) श्रीजानकीजी को, जो वेदों में और जगत् में प्रसिद्ध हैं, पकड़कर श्रीरामजी को इस तरह समर्पण किया, जैसे क्षीर-सागर ने श्रीलक्ष्मीजी को (विष्णु भगवान् के लिये) समर्पण किया था ॥३॥ वे श्रीरामजी के वाम भाग में सुंदर विराजमान अत्यन्त सुन्दर शोभा को प्राप्त हैं। मानों नवीन खिले हुए नील कमल के पास सोने की कली शोभित हो रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'सत्य श्री'—'श्री' शब्द में चारों कल्पों की कथा आ जाती है, यह श्रीजानकीजी का भी नाम है और श्रीलक्ष्मीजी का मुख्य नाम है। 'सत्य' शब्द पूर्व के प्रतिबिंब-रूपा (माया सीता) के प्रतिरोध में कहा गया। 'समर्पी'; यथा—"त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पितम्।" अर्थात् ये सत्यश्री आपकी ही आदि शक्ति हैं, थातीरूप में मेरे यहाँ रहीं, इन्हें आप स्वीकार करें। ऐसा ही श्रीसीताजी के ब्याह के समय भी कहा गया है; यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा···" (बा॰ दो॰ ३२१)—देखिये।

(२) 'नव नील नीरज···'—श्रीरामजी श्यामवर्ण और खुले वदन हैं, इससे खुले हुए नील कमल के समान कहा गया और श्रीजानकीजी स्वर्णवर्ण एवं सर्वांग आच्छादित तथा लज्जावश संकुचित हैं,

इसीसे सोने के कमल की कली की उपमा दी गई ; यथा—"लज्जया त्ववलीयन्ती स्वेषु गात्रेषु मैथिली ।" (वाल्मी० ६।११४।१३), पुनः प्रभु पहले से ही प्रसन्नमुख थे, इससे उन्हें खिला हुआ कमल कहा गया और श्रीजानकीजी अभी-अभी शोक-सागर से निकली हैं, इससे इन्हें कली कहा गया है ।

दोहा—बरषहिं सुमन हरषि सुर, बाजहिं गगन निसान ।
गावहिं किन्नर सुर-बधू, नाचहिं चढ़ी बिमान ।
जनकसुता समेत प्रभु, सोभा अमित अपार ।
देखि भालु कपि हरषे, जय रघुपति सुख-सार ॥१०८॥

अर्थ—देवता हर्षित होकर फूल बरसाते हैं, आकाश में नगाड़े बज रहे हैं । किन्नर गा रहे हैं और और विमानों पर चढ़ी हुई देव वधूटियाँ (अप्सराएँ) नाच रही हैं ॥ श्रीजानकीजी के साथ प्रभु श्रीरामजी की अमित एवं अपार शोभा को देखकर भालू और वानर हर्षित हुए और सुख के सार (तत्त्व) श्रीरघुनाथजी की जय बोलने लगे ॥१०८॥

विशेष—(१) 'अमित अपार'—अमित का अर्थ परिमाण रहित, जिसका अंदाजा नहीं मिल सके ; यथा—"राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ ।" (उ० दो० ९२); अर्थात् श्रीसीतारामजी की शोभा इतनी अमित है कि उसका वर्णन करके कोई पार नहीं पा सकता, इसलिये साथ ही 'अपार' शब्द भी दे दिया गया है ।

(२) 'देखि भालु कपि हरषे'—युगल सरकार की पूर्ण शोभा देखकर और यह विचार कर प्रसन्न हुए कि जिनके लिये इतना परिश्रम किया गया, वे आज प्राप्त हुईं । इससे यह भी ध्वनित हुआ कि दुर्वचन कहने और अग्नि-प्रवेश पर उन्हें दुःख हुआ था ।

"सुरन्ह कीन्हि अस्तुति"—प्रकरण

तब रघुपति अनुसासन पाई । मातलि चलेउ चरन सिर नाई ॥१॥
आये देव सदा स्वारथी । बचन कहहिं जनु परमारथी ॥२॥
दीनबंधु दयाल रघुराया । देव कीन्ह देवन्ह पर दाया ॥३॥
बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी । निज अघ गयउ कुमारग-गामी ॥४॥

अर्थ—तब मातलि श्रीरघुनाथजी की आज्ञा पाकर चरण में शिर नवाकर चला ॥१॥ सदा के स्वार्थी देवता आये (पर) वचन ऐसे कहते हैं मानों परमार्थी हैं ॥२॥ हे दीनबन्धो ! दयालो ! रघुराज ! देव ! आपने देवताओं पर दया की ॥३॥ सारे संसार से द्रोह करने में तत्पर यह दुष्ट, कामी और कुमार्ग पर चलनेवाला (रावण) अपने पापों से नष्ट हुआ ॥४॥

विशेष—(१) 'सदा स्वारथी'; यथा—"स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोष नहिं राउर मोहू॥" (अ॰ दो॰ २११); "बोली सुर स्वारथ जड़ जानी।" (अ॰ दो॰ २१४); "सुर स्वारथी मलीन मन…" (अ॰ दो॰ २१५)।

(२) 'बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी।'—यह कामी था; यथा—"देव जच्छ गंधर्ब नर, किन्नर-राजकुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुंदर बर नारि॥" (बा॰ दो॰ १८२); इसीसे विश्व भर से द्रोह करता था और खल था। अतः कुमार्गगामी था। 'बिस्व-द्रोह-रत' कहकर बड़ा भारी पापी जनाया; यथा—"बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।" (सुं॰ दो॰ ३८)।

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी॥५॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ शक्ति करुनामय॥६॥

अर्थ—आप तो समरूप, ब्रह्म, नाश रहित, सदा एक रस, स्वाभाविक ही शत्रु-मित्र-भावरहित, कलारहित (पूर्ण), निर्गुण (गुणातीत), अजन्मा, निष्पाप, विकाररहित, अजेय, सत्य-सामर्थ्य और करुणामय हैं॥५-६॥

विशेष—'समरूप'; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥ करम प्रधान बिस्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (अ॰ दो॰ २१८); 'ब्रह्म' अर्थात् आप सबसे बृहत् हो, 'सदा एक रस' अर्थात् तीनों कालों में एक रस रहते हो; यथा—"तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम…" (वि॰ २६१); तथा—"अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यते च परंतप।" (वाल्मी॰ ६।११७।१); 'ब्रह्म' हो। अतः, 'अबिनासी' हो। 'सहज उदासी'—तपस्वी वेष को ही उदासीनता नहीं, किंतु आपका यह सहज स्वभाव है। 'अकल' यथा—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥" (ईश॰ १); अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है। 'अगुन'; यथा—"अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।" (उ॰ दो॰ ७१)। 'अज' अर्थात् आप का जन्म रहित, कर्मवश जन्म नहीं होता। स्वेच्छा से असुरों के वध के लिये जन्म लेते हो, यथा—"वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।" (वाल्मी॰ ६।११७।२८); 'अनघ' से रावण-वध के दोष से रहित जनाया; यथा—"निज अघ गयउ कुमारग गामी।" (उपर्युक्त); 'अनामय' = आपका शरीर चिदानंदमय है; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ॰ दो॰ १२६); अतएव रोग-रहित हो। 'अजित'; यथा -"अजितः खड्गधृग्विष्णुः" (वाल्मी॰ ६।११७।१५); 'अमोघ शक्ति'; यथा—"अमोघं देव वीर्यं ते" (वाल्मी॰ ६।११७।१६); 'करुनामय' भाव यह है कि हम सबों पर करुणा करके आपने अवतार लेकर रावण को मारा। करुणा से ही सब अवतार होते हैं, इससे 'करुनामय' कहकर आगे सब अवतार कहते हैं—

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥७॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥८॥
यह खल मलिन सदा सुरद्रोही। काम लोभ मद-रत अति कोही॥९॥
अधम सिरोमनि तव पद पावा। यह हमरे मन बिसमय आवा॥१०॥

अर्थ—आपने ही मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम के शरीर धारण किये ॥७॥ हे नाथ ! जब-जब देवताओं ने दुःख पाया, तब-तब अनेकों शरीर धारण कर आपने ही उनके दुःखों का नाश किया ॥८॥ यह दुष्ट, पापी, सदा देवताओं से द्रोह रखनेवाला, काम, लोभ और मद में तत्पर एवं अत्यन्त क्रोधी था ॥९॥ ऐसे अधम शिरोमणि ने आपका पद (परम पद) पाया, इससे हमारे मन को आश्चर्य हुआ ॥१०॥

विशेष—(१) 'मीन कमठ···'—क्रम से पूर्व सतयुग और त्रेता के छः अवतार कहे गये। 'नाना तनु धरि···'—भाव यह कि पूर्वोक्ति 'मीन कमठ' आदि मुख्य अवतार ही नहीं, प्रत्युत् आवश्यकता पर अंश-कला आदि से असंख्य अवतार होते हैं, यथा—"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्व निधेर्द्विजाः। यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥" (भाग० १।३।२६); अर्थात् जिस प्रकार महत् सरोवर से सहस्रों छोटे-छोटे सोते निकलते हैं उसी प्रकार सत्त्व मूर्ति भगवान् के अनेक अवतार होते हैं। भाव यह कि सर्वदा से आपकी कृपा हम सबों पर होती ही आई है।

(२) 'बिसमय आवा'—क्योंकि ऐसी पतित पावनता आज ही देखी है।

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथरत प्रभु-भगति बिसारी ॥११॥
भव-प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ॥१२॥

दोहा—करि बिनती सुर सिद्ध सब, रहे जहँ तहँ कर जोरि।
अति सप्रेम तनु पुलकि बिधि, अस्तुति करत बहोरि ॥१०९॥

अर्थ—हम सब देवताओं ने (परम पद के) परम अधिकारी होकर भी स्वार्थ में तत्पर हो आपकी भक्ति भुला दी ॥११॥ इसीसे सदा संसार के प्रवाह में पड़े हैं, हे प्रभो ! हम शरण में प्राप्त हुए हैं, अब हमारी रक्षा कीजिये ॥१२॥ देवता और सिद्ध विनती करके सब जहाँ-तहाँ (जो जहाँ थे वहीं) हाथ जोड़े खड़े रह गये। तब अत्यन्त प्रेम-सहित, पुलकित शरीर हो, ब्रह्माजी स्तुति करने लगे ॥१०९॥

विशेष—(१) 'हम देवता···'—हमलोगों की प्रकृति सत्त्व-प्रधान है, इसीसे ऊपर के लोकों में रहते हैं; यथा—"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः" (गीता० १४।१८), फिर ज्ञान-प्रधान शरीर सहित अजर-अमर रहते हैं और आप सदा हमारा पक्ष लेते हैं ऐसे होकर भी हमलोग स्वार्थ (विषय) में पड़कर भव प्रवाह में ही पड़े रहते हैं और इस खल तामसी परद्रोही ने आपका परम पद पाया, यह परम आश्चर्य की बात है। भाव यह है कि सत्त्व-प्रधान को मुक्तिकी प्राप्ति होनी चाहिये। वे तो भव में पड़े हैं और तामसी को भव चाहिये, परन्तु वह मुक्त हुआ। इसका कारण भी स्वयं कहते हैं कि रावण ने तामसी शरीर से भी—वैर भाव से आपमें मन लगाया, अतः मुक्त हुआ, परन्तु हमलोग तो सदा स्वार्थ में ही रत रहते हैं, इससे आपकी भक्ति भुला दी, तब ऐसा होना योग्य ही है, इसमें हमारा ही दोष है, आप तो भावानुसार सबके सम्मुख ही रहते हैं।

(२) 'अब प्रभु पाहि···'—भाव यह कि अभी तक जो हुआ सो हुआ, अब हमलोग शरण में प्राप्त हैं, भव-भय से रक्षा कीजिये, क्योंकि आप शरण में आने पर अभय करते हैं; यथा—सकृदेव

प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३)। इस तरह की प्रतिज्ञा का स्मरण कर हमारी रक्षा कीजिये।

(३) 'करि बिनती सुर सिद्ध सब'''—भीड़ बहुत है, साष्टांग दंडवत् की जगह नहीं है, इससे सब जहाँ थे वहीं से हाथ जोड़कर खड़े रह गये।

श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से अग्नि-परीक्षा के सम्बन्ध में अति नर-नाट्य के वचन कहे, उससे देवताओं को भ्रम हो गया, अतएव स्वरूप का स्मरण कराने के लिये उन्होंने प्रभु की स्तुति की जो 'नाना तनु धरि तुम्हहि नसायो।' आदि से स्पष्ट है। ऐसे ही वाल्मी० ६।११७ में भी प्रथम देवताओं ने स्तुति की है, तब श्रीरामजी ने कहा है कि हम तो अपनेको राजा श्रीदशरथजी के पुत्र मानते हैं, मनुष्य मानते हैं, मैं यथार्थ में जो होऊँ और जहाँ से आया होऊँ, इसे आप कहें। इसपर और सब मौन हो गये, तब श्रीब्रह्माजी ने श्रीरामजी का परत्व कहा है। वैसे यहाँ भी 'सुर सिद्ध' का हाथ जोड़कर खड़ा रह जाना कहकर तब श्रीब्रह्माजी का स्तुति करना कहते हैं।

(४) 'अति सप्रेम ''—अत्यंत प्रेम के कारण तन में पुलकावली है; यथा—"अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा" (बा० दो० २१०)—अहल्या, "तनु पुलक निर्भर प्रेम पूरन" (अ० दो० ६)—अत्रि।

छंद—जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे।
भव-बारन-दारन-सिंह प्रभो। गुनसागर नागर नाथ बिभो ॥१॥
तनु काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध मुनींद्र कबी।
जस पावन रावन-नाग-महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा ॥२॥

अर्थ—सदा सुख के निवास-स्थान, कष्टों के हरनेवाले भगवान्, धनुष-बाण-धारण किये हुए रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी! आपकी जय हो। हे प्रभो! आप भव-रूपी हाथी को विदीर्ण करने के लिये सिंह-रूप हैं। हे नाथ! हे विभो!! आप गुणों के सागर और परम चतुर हैं ॥१॥ आपके शरीर में अनेकों कामदेवों के समान एवं अनुपम शोभा है। सिद्ध, मुनीश्वर और कवि आपके गुण गाते हैं। आपका यश पवित्र है, रावण रूपी महा सर्प को आपने गरुड़ की तरह क्रोध करके पकड़ लिया ॥२॥

विशेष—(१) यह तोटक छंद है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ वर्ण अथवा चार-चार सगण होते हैं।

(२) 'बारन' का अर्थ हाथी है, यथा—"वारणं प्रतिषेधे स्याद्वारणस्तु मतं गजे इति विश्वप्रकाश।"

(३) 'गुनसागर'; यथा—"गुन सागर नागर बर बीरा।" (बा० दो० २४०)।

(४) 'तनु काम अनेक''''''—अनेक कामदेवों की उपमा देने पर भी न्यूनता जान पड़ी, क्योंकि उस छवि पर तो करोड़ों कामदेव निछावर हैं; यथा—"अंग अंग पर वारियहिं, कोटि कोटि सत काम॥" (बा० दो० २१०), इसलिये आगे 'अनूप छबी' कहा है। 'खगनाथ जथा'''' से आपका स्वाभाविक कृत्य दुष्टदलन कहा। 'जसपावन'; यथा—"पावन गंग तरंग माल से।" (बा० दो० ३१); "एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम्।" (वाल्मी० माहात्म्य)।

जनरंजन भंजन-सोक-भयं । गत क्रोध सदा प्रभु बोधमयं ।
अवतार उदार अपार गुनं । महिभार बिभंजन ज्ञानघनं ॥३॥
अज व्यापकमेकमनादि सदा । करुनाकर राम नमामि मुदा ।
रघुबंस-बिभूषन दूषन हा । कृत भूप बिभीषन दीन रहा ॥४॥

अर्थ—आप भक्तों को आनंद देनेवाले और शोक एवं भय के नाशक हैं । हे प्रभो ! आप सदा क्रोध-रहित और ज्ञान-स्वरूप हैं । आपका अवतार उदार (श्रेष्ठ एवं महान दाता) है, अपार गुणोंवाला है । आप पृथिवी के भार उतारनेवाले और ज्ञानघन हैं ॥३॥ हे राम ! अजन्मा, व्यापक, एक, अनादि, नित्य और करुणाकर ! आपको मैं प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूँ । आप रघुवंश के विशेष आभूषण हैं ; अर्थात् रघुवंश को सुशोभित करनेवाले गुणों से पूर्ण हैं और दूषण नाम राक्षस के मारनेवाले एवं दूषणों (दोषों) के दूर करनेवाले हैं, विभीषण दीन था, उसे आपने राजा बना दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'जन रंजन' कहकर 'भंजन-सोक-भयं' कहने का भाव यह है कि प्रभु भक्तों की भलाई के लिये उनके शोक और भय का नाश करते हैं । फिर उनके द्वारा अवज्ञा होने पर भी क्रोध नहीं करते, इससे 'गत क्रोध' भी कहा है और फिर 'गत क्रोध' का भी कारण 'बोधमयं' शब्द से कहा गया कि क्रोध तो अज्ञानमूलक द्वैत से होता है, आप तो ज्ञानमय हैं ।

(२) 'अवतार उदार'—यह अवतार मुख्य अवतारों में भी श्रेष्ठ है, क्योंकि दशावतारों में गिने जानेवाले परशुरामजी ने भी इन्हें आत्मसमर्पण किया है । पुनः महान् दातृत्व भी है वि० १६२, १६३ देखिये ।

'महि भार बिभंजन' कहने में विषमता पाई गई, उसपर ज्ञानघन कहा कि आप तो ज्ञान के समूह हैं । अतः, असुरों को उनके कर्मों के फल देते हैं, स्वयं राग-द्वेष रहित हैं ; यथा—"बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी । निज अघ गयउ कुमारग गामी ॥" (उ० दो० १०८) ।

(३) 'रघुबंस-बिभूषन दूषन हा'—रघुवंश में राजा अनरण्य को रावण से पराजित होने से न्यूनता आ गई थी, उसे आपने दूर किया, इससे आपके कुल की शोभा बढ़ी । पुनः इस वंश में जो-जो दूषण थे, उन्हें आपने दूर किया, जैसे बहुपत्नीत्व के कारण (तीन मुख्य रानियों के कारण) राजा दशरथजी को बड़ा कष्ट झेलना पड़ा, उसे आपने दूर किया, एक-पत्नी-व्रत हुए । और दूसरा दूषण यह भी था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य पाता था ; यथा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥" (अ० दो० ९) ; इसे भी आपने दूर कर दिया, पहले तो देवताओं के षड्यंत्र द्वारा भरत को राज्य दिलाया, फिर अंत में चारों भाइयों के पुत्रों को राज्य बाँटकर परधाम यात्रा करेंगे । 'कृत भूप ···'—सभी रघुवंशी दीनों पर दया करते आये हैं, अतएव आपने भी दीन विभीषण को राजा बना दिया ।

गुन-ज्ञान-निधान अमान अजं । नित राम नमामि बिभुं बिरजं ।
भुज-दंड प्रचंड प्रताप बलं । खलबृंद निकंद महा कुसलं ॥५॥

बिनुकारन दीनदयाल हितं। छबिधाम नमामि रमासहितं।
भवतारन कारन काजपरं। मन-संभव दारुन दोष-हरं ॥६॥

अर्थ—गुण और ज्ञान के खजाना, मान-रहित एवं परिमाण-रहित, स्वयंभू, विभु (समर्थ), रजोगुण-रहित, हे रामजी ! मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ। आपके भुजदंडों का प्रताप और बल प्रचंड (विशेष तीक्ष्ण) है, दुष्ट-समूह के नाश करने में आप परम प्रवीण हैं ॥५॥ विना कारण ही दीनों पर दया करनेवाले, हितकारी और शोभा धाम, श्रीजानकीजी के साथ मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप भव (सागर से) तारनेवाले हैं, कारण और कार्य से परे और मन से उत्पन्न होनेवाले कठिन दोषों के हरनेवाले हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'गुन-ज्ञान निधान'—शील, संतोष आदि गुण और ज्ञान के खजाना हैं। 'अमान'—सारे जगत् के कर्त्ता होते हुए भी कर्तृत्व से निरभिमान रहते हैं, जीवों को निमित्त बनाकर उन्हें कर्तृत्व दे देते हैं। पुन ऐसे परिमाण रहित हैं कि शेष-शारदा आदि भी कहकर पार नहीं पा सकते। 'अजं'—पहले भी 'अज' शब्द छं० ४ में आया है, उसका अर्थ बार-बार कर्मवश जन्म के निषेध में है और यहाँ स्वयं ही प्रकट होने के अर्थ में है। अथवा अ = रहित, ज = जायमान, अर्थात् अपने से जायमान रूप जगत् से रहित (निर्लिप्त) हैं।

(२) 'खल बृंद निकंद महा कुशलं'; यथा—"खर दूषन बिराध बध पंडित।" (उ० दो० ५०); खरादि की मृत्यु किसी आयुध से नहीं थी। अत', आपने उन्हें युक्ति से मार डाला।

(३) 'बिनु कारन दीन···'—और लोग कारण पाकर कृपा करते हैं, अपना स्वार्थ देखते हुए प्रीति एवं हित करते हैं, पर आप निर्हेतु कृपालु हैं; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।" (बा० दो० २११)।

(४) 'भव तारन'; यथा—"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥" (गीता १२।७); 'कारन काज परं'—कारण माया और कार्य जगत्, इन दोनों से आप परे हैं; अर्थात् इनके सम्यक् आधार होते हुए भी इनसे निर्लिप्त हैं।

सर चाप मनोहर त्रोनधरं। जलजारुन लोचन भूपबरं।
सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं। मद मार मुधा ममता-समनं ॥७॥
अनबद्य अखंड न गोचर गो। सब रूप सदा सब होइ न सो।
इति बेद बदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा ॥८॥

अर्थ—सुन्दर धनुष-बाण और तर्कश धारण करनेवाले, लाल कमल के समान नेत्रवाले, राजाओं में श्रेष्ठ, सुख के स्थान, सुंदर, श्रीजी के पति, मद, काम और झूठे ममत्व के नाश करनेवाले हैं ॥७॥ आप अनिन्द्य हैं, अखंड (विभाग होने के अयोग्य अर्थात् परिपूर्ण) हैं, इन्द्रियों के विषय नहीं हैं, सदा सर्व रूप

(विश्वरूप) हैं, पर यह सब (जगत्) वह (ब्रह्म) नहीं है—ऐसा वेद कहते हैं, यह दंतकथा (कपोल-कल्पित, प्रमाणरहित बात) नहीं है। जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश (धूप) अलग-अलग हैं और अलग नहीं भी है ॥८॥

विशेष—(१) 'श्री रमनं'—श्रीजानकीजी श्री (लक्ष्मीजी) की भी मूल-श्री हैं; यथा—"श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम् ।" (वाल्मी० ६।१११।२१); उनमें रमण करनेवाले हैं। 'सब रूप सदा'; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते" (वाल्मी० ६।११७।२७), अर्थात् सब जगत् आपका शरीर है। अत', आप जगत् रूप हैं ; यथा—"बिस्व रूप रघुवंसमनि" (लं० दो० १४) पर आपका शरीर रूप जगत् आप (ब्रह्म) नहीं है, क्योंकि इसकी स्थिति-प्रवृत्ति आपके अधीन है। इसीको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे सूर्य की ही सत्ता से उनके प्रकाश की किरणें हैं, सूर्य के अधीन उनकी स्थिति-प्रवृत्ति है। इससे सूर्य नियामक और किरणें नियाम्य हैं; तब नियाम्य वस्तु नियामक नहीं हो सकती। प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं रह सकतावैसे जीव-समूह भी ईश्वर से पृथक् नहीं रह सकते। इस तरह जीवों का ब्रह्म के साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध भी कहा गया है।

(२) 'इति बेद बदंति'—वेद कहते हैं, यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१), अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म ही है। यह 'सब रूप सदा' का अर्थ है। पर वेद ने ही बृह० ३।७।३–२३ में पृथिवी आदि से मन तक सबको एवं जीवों को उस अंतर्यामी ब्रह्म का नियाम्य कहा है। ब्रह्म को सबका शरीरी एवं नियामक कहा है। यह 'सब होइ न सो' का भाव है कि सब उसके नियाम्य हैं और वह सबका नियामक है। अतः, वही बनना तो धृष्टता है।

पहले 'न गोचर गो' कहकर नेत्र आदि से परे कहा, तब संदेह हुआ कि उसके होने का क्या प्रमाण है ? अतएव कहते हैं कि 'सब रूप सदा', अर्थात् यह सब जगत् उसीके शरीर रूप में सदा स्थित है, अन्यथा यह नहीं रह सकता ; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४) अर्थात् सब प्राणी मुझमें ही स्थित हैं, तब फिर संदेह हुआ कि तब तो जगत् के विकार के साथ ब्रह्म भी विकारी होगा, उसपर भी 'सब रूप' के साथ 'सब होइ न सो' कहा है कि वह सब नहीं हो जाता अर्थात् सबमें लिप्त नहीं हो जाता। क्योंकि किसी वस्तु में श्रद्धा-निष्ठ होने से ही उसमें तद्रूपता होती है ; यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।" (गीता १७।३) अर्थात् जो जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। भगवान् सबके सम्यक् आधार होते हुए भी सबसे निर्लिप्त हैं, यथा—"मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥" (गीता ९।४); अर्थात् सब प्राणी मेरे आधार पर स्थित हैं, पर मैं उन सबसे निर्लिप्त हूँ।

कृतकृत्य बिभो सब बानर ये। निरखंति तवानन सादर ये।
धिग जीवन देव शरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥९॥
अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेदकरी हरिये।
जेहि ते बिपरीत क्रियाकरिये। दुख सो सुखमानि सुखी चरिये ॥१०॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! ये सब वानर कृतार्थ हैं जो आदर-सहित ये आपका मुख देखते हैं (आपके दर्शन करते हैं)। हे हरे ! हमारे जीवन (अमरत्व) और देव (दिव्य) शरीर को धिक्कार है, क्योंकि हमलोग आपकी भक्ति के विना संसार में भूले पड़े हुए हैं ॥९॥ हे दीन दयालु ! अब दया कीजिये, मेरी भेद बुद्धि को हर लीजिये। जिससे उलटे कर्म करता हूँ और दुःख को सुख मानकर आनंद से विचरता हूँ ॥१०॥

विशेष—(१) 'कृतकृत्य' अर्थात् तन पाकर जो करना चाहिये, वह इन्होंने कर लिया, क्योंकि ये आपके दर्शन कर रहे हैं; यथा—"मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥" (वाल्मी० ७।८१।१०), "जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ० दो० २१६)।

(२) 'मति मोरि बिभेदकरी हरिये'—'मोरि' शब्द सब देवताओं को लेकर कहते हैं। 'बिभेदकरी मति'—जगत् को नानात्व रूप शत्रु-मित्र भाव से देखनेवाली बुद्धि। इसीसे आपके शरीर रूप जगत् के प्रति द्वैत बुद्धि होती है और फिर अनेकों विकार पैदा होते हैं; यथा—"जौ निज मन परिहरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥" (वि० १२४)।

(३) 'बिपरीत क्रिया करिये'''—यह उक्त भेद-बुद्धि का कार्य है, भेद-बुद्धि से देहाभिमान भी होता है, उससे सकाम कर्म करके जीव बंधन में पड़ता है, मनुष्य शरीर भव से छूटने के लिये है, पर इसके सकाम कर्मों से बंधन होता है, यही बिपरीत क्रिया है। जीव अज्ञान से इसी सांसारिक सुख में सुख मानते हैं।

खलखंडन मंडन रम्य छमा। पद-पंकज सेवित संभु-उमा।
नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं॥११॥

दोहा—बिनय कीन्हि चतुरानन, प्रेम पुलक अति गात।
सोभासिंधु बिलोकत, लोचन नहीं अघात॥११०॥

अर्थ—आप दुष्टों के मारनेवाले और पृथिवी के सुन्दर भूषण हैं, आपके चरण-कमल शिव-पार्वतीजी से सेवित हैं। हे राजाओं में श्रेष्ठ! मुझे यह वरदान दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा प्रेम हो जो सर्वदा कल्याण देनेवाला है॥११॥ श्रीब्रह्माजी ने स्तुति की। उनका शरीर प्रेम से अत्यन्त रोमांचित हो रहा है। वे छवि समुद्र श्रीरघुनाथजी के दर्शन कर रहे हैं, उनके नेत्र दर्शनों से तृप्त नहीं होते॥११०॥

विशेष—(१) 'मंडन रम्य छमा'—दुष्टों के द्वारा पाप से पृथिवी अशोभित हो गई थी। उनके मारे जाने से वह सुशोभित हुई, जैसे भूषण पहनने से शोभा होती है।

(२) 'नृपनायक'—श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को राजा बनाया इससे आप राजाओं में श्रेष्ठ हैं, राजा दानी होते हैं और शिवजी को माँगना भी है, इसीसे यह विशेषण दे रहे हैं। 'चतुरानन'—अत्यन्त प्रेम से चारों मुखों से स्तुति करते हैं और आठो नेत्रों से दर्शन करते हैं, तो भी तृप्त नहीं होते; यथा—"आठइ नयन जानि पछिताने।" (बा० दो० ३१६)।

तेहि अवसर दसरथ तहँ आये। तनय बिलोकि नयन जल छाये॥१॥
अनुज-सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरवाद पिता तब दीन्हा॥२॥
तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यों अजय निसाचर-राऊ॥३॥
सुनि सुत-बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥४॥

अर्थ—उसी समय श्रीदशरथजी वहाँ आये, पुत्र को देखकर उनके नेत्रों में जल भर आया ॥१॥ भाई के साथ प्रभु ने उनको प्रणाम किया, तब पिता श्रीदशरथजी ने उनको आशीर्वाद दिया ॥२॥ (प्रभु ने कहा) हे तात ! यह सब आपके पुण्यों का प्रभाव है कि जो मैंने अजेय राक्षस-राज को जीता है ॥३॥ पुत्र के वचन सुनकर प्रीति अत्यन्त बढ़ गई, नेत्र सजल हो गये और रोयें खड़े हो गये ॥४॥

(२) 'तेहि अवसर···'—अन्य जीवों को स्वर्ग भोगने के लिये सूक्ष्म शरीर मिलता है। पर श्रीदशरथजी का नित्य स्वरूप है, इससे स्वर्ग जाने पर भी वैसा ही दिव्य शरीर रहा। पहले भी सदेह स्वर्ग जाया करते थे ; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई ॥" (अ० दो० १०); 'तनय बिलोकि'—इनका ऐसा दृढ़ वात्सल्य है कि ब्रह्मादि को स्तुति करते देखकर भी भाव पूर्ववत् बना हुआ है। 'नयन जल छाये'—पुत्र को तापस वेष में देखते ही कैकेयीजी के वचन एवं वनवास के प्रसंग स्मरण हो आये, तो आँखों में आँसू भर आये। 'अनुज सहित प्रभु···'—भाई समेत प्रणाम किया, यद्यपि पहले श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीसुमंत्रजी के द्वारा पिता को भ्रम से राम-द्रोही समझकर कठोर वचन कहा था, तथापि उसी समय श्रीरामजी के मना करने और समझाने पर फिर उनके हृदय में पूर्ववत् पितृ-भक्ति आ गई थी। यह बात यहाँ स्पष्ट हुई।

(३) 'आसिरबाद पिता तब दीन्हा'—आशिष के सम्बन्ध से पिता पद दिया गया, क्योंकि ऐश्वर्य दृष्टि होती तो स्वयं प्रणाम ही करते।

(४) 'तात सकल तव···'—भाव यह कि आपने हमारा वियोग सहकर भी सत्य-धर्म का पालन किया, उसी के प्रभाव से अजेय रावण मारा गया। प्रभु ने अपने पुत्रत्व भाव के अनुसार यह वचन कहा, इससे अब प्रेम और भी उमड़ चला। तब 'प्रीति अति बाढ़ी' कही गई। फिर उसकी दशा कहते हैं—'नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी।'

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना ॥५॥
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद-भगति मन लायो ॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने पहले का प्रेम अनुमान कर, पिता की ओर देखकर उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया ॥५॥ श्रीशिवजी कहते हैं कि हे उमा ! श्रीदशरथजी ने अपना मन भेद-भक्ति में लगाया इसीसे मोक्ष नहीं पाया ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम प्रेम अनुमाना'—पहले का वह प्रेम जिससे पुत्र के वियोग में इन्होंने प्राण छोड़े थे ; यथा—"सुत बिषयिक तव पद रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ ॥" (बा० दो० १५०) ; 'चितइ पितहि···'—पिता-भाव में दृढ़ श्रीदशरथजी महाराज पर प्रभु ने कृपादृष्टि की और उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया। जिससे अपने (श्रीरामजी के) ऐश्वर्य का उन्हें ज्ञान हो और वे फिर श्रीरामजी को परब्रह्म जानें ; यथा—"इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः। वधार्थं रावणस्येहपिहितं पुरुषोत्तमम् ॥" (वाल्मी० ६।११९।१७) ; अर्थात् मैंने अब आपको जाना कि हे सौम्य ! आप देवताओं के भी अज्ञात हैं, रावण-वध के लिये आप छिपे हुए पुरुषोत्तम हैं।

जब इस दृढ़ ज्ञान से प्रभु को सर्वत्र देखेंगे, तब वियोग का विचार ही असंभव हो जायगा, इसीसे तो आगे हर्षित होकर इनका सुरधाम जाना लिखा है। यदि ऐसा ज्ञान नहीं देते, तो फिर श्रीदशरथजी लौटकर जाते ही नहीं, जिससे लीला की मर्यादा के निर्वाह में विघ्न होता।

(२) 'दसरथ भेद-भगति मन लायो ।'—दृढ़ ज्ञान पर तुरत मोक्ष हो जाना चाहिये। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं हो रहा है, इसका समाधान शिवजी करते हैं कि इन्होंने भेद-भक्ति में मन लगाया है। भक्ति दो प्रकार की होती है—(१) अभेद और (२) भेद। शान्त, सख्य और शृंगार भाव एवं दास्य भाव में स्वरूप एवं अवस्था साम्य रसरूप के अनुकूल है। शांत में बराबर आनंद अनुभव, शृंगार में रस-भाव-भोग-वृत्ति, सख्य मे सारूप्य से बराबर रस क्रीडा-भोग-वृत्ति और दास्य मे अलंकार आदि रूप से सेवा मे रहना अभेद भक्ति है। वात्सल्य रस मे पुत्र, शिष्य, जामातृ आदि दृष्टि से अवस्था-भेद तो रहता ही है। उसमें भी श्रीदशरथजी ने अभी भेद-पूर्वक इसी भाव से श्रीरामजी की राज्य लीला देखने की अभिलाषा प्रकट की है। वाल्मी० ६।११६।१८–२० मे कहा है कि कौसल्या धन्य हैं और पुरवासी धन्य हैं, जो तुम्हें राज्य-तिलक सहित देखेंगे (इसमें अपनी भी देखने की लालसा छिपी हुई है) मैं तुम्हारा और श्रीभरतजी का समागम देखना चाहता हूँ, (इसमे स्पष्ट कहा है)। पुन. यह वासना इन्हें वनवास देने के पूर्व से ही थी ; यथा—'एक मनोरथ बड़''''''' कहा ही है।

श्रीरामजी के समक्ष भक्त के मनोरथ अवश्य सिद्ध होते हैं। जैसे कि श्रीविभीषणजी के विषय मे कहा गया था कि न इच्छा रहने पर भी पूर्व मनोरथ के अनुसार उन्हें राज्य का भोग करना पड़ा। ऐसे ध्रुवजी को भी पूर्व संकल्प के अनुसार राज्य का भोग करना पड़ा। वैसे ही श्रीदशरथजी दृढ़ ज्ञान सहित, किन्तु सुरलोक मे ही रहकर प्रभु की राज्य-लीला देखेंगे। इसी लीला की पूर्त्ति पर इनकी वासना पूर्त्ति भी होगी। तब श्रीरामजी के साथ ही साकेत पधारेंगे। जैसे ध्रुव आदि ने नियमित अवधिपूर्त्ति पर नित्य धाम पाया है।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥७॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गये सुरधामा ॥८॥

अर्थ—सगुण रूप के उपासक (भक्ति हीन कैवल्य) मोक्ष नहीं लेते, उनको श्रीरामजी अपनी खास भक्ति देते हैं ॥७॥ बार-बार प्रभु को प्रणाम करके प्रसन्न होकर श्रीदशरथजी देवलोक को गये ॥८॥

विशेष—(१) 'सगुनोपासक''''''', यथा—"जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।" (गी० श्री० ५) ; इस पद मे सगुन की अपेक्षा अगुण-मुक्ति की ही अवहेलना की गई है। जिस मुक्ति की प्राप्ति उ० दो० ११६ मे कही गई है ; उसे ही 'निर्गुन मत' भा स्पष्ट कहा है ; यथा—"निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई।" (उ० दो० १०९) ; यहाँ सगुण के धाम की प्राप्ति-रूपी मुक्ति का निषेध नहीं है ; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३), "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥" (गीता ९।२५) ; इत्यादि प्रमाणों से भक्त भगवान् के ही धाम को जाते हैं और—"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥" (गीता १५।६), की रीति से मुक्त होकर वे नित्य धाम मे ही रहते हैं। तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६)।

यदि कोई कहे कि राजा श्रीदशरथजी की श्रीरामजी मे ऐश्वर्य दृष्टि नहीं थी, इससे वे मुक्त न होकर सदा स्वर्ग में ही रहे, तो यह उसकी बड़ी भूल है। राजा ने स्वयं श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी को परब्रह्म कहा है—वाल्मी० ६।११६।३१ देखिये और यही बात यहीं पर श्रीरामजी से भी कही है। और यहाँ मानस में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे श्रीरामजी के द्वारा 'दृढ़ ज्ञान' प्राप्त होना कहा है। यदि राजा श्रीरामजी को सर्वव्यापक परब्रह्म नहीं जाने तो इस दृढ़ ज्ञान का क्या अर्थ है ?

पुन: कहते हैं—"तिन्ह कहँ राम-भगति निज देहीं।' अर्थात् उन्हें स्वयं श्रीरामजी अपनी भक्ति देते हैं। तब उपर्युक्त रीति से श्रीरामजी के भक्त श्रीरामजी के धाम को जाते हैं और फिर संसार में नहीं आते, यही मुक्ति है।

शंका—तब मोक्ष नहीं लेने की बात क्यों कही गई ?

समाधान—भक्त लोग भक्ति का कोई फल नहीं चाहते, क्योंकि उसमे भगवान् और उनकी भक्ति साधन में आ जाते हैं और मुक्ति फल रूप मे हो जाती है। इसलिये भक्त लोग भक्ति ही को फल-रूपा मानते हैं; यथा—"फलरूपत्वात्॥" (नारदभक्तिसूत्र २६)। "तीर्थाटन साधन······सब कर फल-हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)। क्योंकि नित्यधाम मे भी ये अपने भावानुसार सेवा सहित ही आनंदोपभोग करते हैं; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तैत्त० २।१)। यह मुक्ति ही है, क्योंकि इनका संसार मे आना नहीं होता।

(२) 'बार बार करि प्रभुहि प्रनामा।···'—जब दृढ़ ज्ञान प्राप्त हुआ तब श्रीरामजी में पर-ब्रह्म बुद्धि आई तब प्रणाम किया और उन्हें सर्व व्यापक देखते हुए वियोग की चर्चा तक न कर हर्ष-पूर्वक देवलोक गये। दृढ़ ज्ञान से राजा ने प्रभु का वह अभिप्राय भी जान लिया कि वहीं से मुझे राज्य-लीला देखकर अपनी पूर्व वासना की तृप्ति करनी होगी। अपनी अभिष्ट-सिद्धि होने से हर्ष-पूर्वक देवलोक को गये। दृढ़ ज्ञानवाले कभी हर्ष-पूर्वक स्वर्ग भोगने के लिये नहीं जा सकते। अतः, उपर्युक्त रीति से ही जाना युक्तिसंगत है।

दोहा—अनुज जानकी सहित प्रभु, कुसल कोसलाधीस।
सोभा देखि हरषि मन, अस्तुति कर सुर ईस॥१११॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ प्रभु कोशलपति श्रीरामजी कुशल-पूर्वक विराजमान हैं, शोभा देख मन में हर्षित होकर देवताओं के राजा इन्द्र स्तुति करने लगे॥१११॥

छंद—जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम।
धृत तोन बर सर चाप भुजदंड प्रबल प्रताप॥१॥
जय दूषनारि खरारि मर्दन निसाचर-धारि।
यह दुष्ट मारेउ नाथ भये देव सकल सनाथ॥२॥

अर्थ—शोभाधाम, शरणागतों को विश्राम देनेवाले, श्रेष्ठ (अक्षय) तर्कश, बाण और धनुष धारण किये हुए, जिनका भुजदंड प्रबल है और जो प्रबल प्रतापी हैं, उन श्रीरामजी की जय हो॥१॥ हे खर और दूषण के शत्रु! हे निशाचर सेना के मर्दन करनेवाले! आपकी जय हो। हे नाथ! आपने इस दुष्ट को मारा, जिससे सभी देवता सनाथ हुए (अर्थात् आप ऐसे नाथ की कृपा से हमें अपने घर मे रहने को मिला)॥२॥

विशेष—'भये देव सकल सनाथ'; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)।

जय हरन धरनी-भार महिमा उदार अपार।
जय रावनारि कृपाल किये जातुधान बिहाल ॥३॥
लंकेस अति बल गर्ब किये बस्य सुर गंधर्ब।
मुनि सिद्ध नर खग नाग हठि पंथ सबके लाग ॥४॥

अर्थ—हे भूमि के भार हरनेवाले ! हे अपार श्रेष्ठ महिमावाले ! आपकी जय हो। हे रावण के शत्रु हे कृपालो ! आपकी जय हो। आपने निशाचरों को व्याकुल कर दिया ॥३॥ लंकापति रावण को बल का बड़ा भारी गर्व था। उसने देवता और गंधर्व को अपने वश में कर रक्खा था। (यही नहीं किंतु वह) मुनि, सिद्ध, मनुष्य, पक्षी, नाग आदि सभी के पीछे हठपूर्वक पड़ा था ॥४॥

विशेष—(१) 'महिमा उदार अपार'—इतनी भारी महिमा है कि कोई उसे वर्णन करके पार नहीं पा सकता; यथा—"भुवन अनेक रोम प्रति जासू।···सो महिमा समुझत प्रभु केरी॥" (उ० दो० ११) तथा उ० दो० ९१–९२ भी देखिये।

(२) 'हठि पंथ सबके लाग'—पंथ लगना—मुहावरा है अर्थात् बराबर तंग करना, 'हठि' का भाव यह कि सज्जनों के मना करने से भी नहीं मानता था।

पर-द्रोह-रत अति दुष्ट पायो सो फल पापिष्ट।
अब सुनहु दीनदयाल राजीव-नयन बिसाल ॥५॥
मोहि रहा अति अभिमान नहिं कोउ मोहि समान।
अब देखि प्रभु-पद-कंज गत मान-प्रद दुखपुंज ॥६॥

अर्थ—वह पराये द्रोह में तत्पर, अत्यन्त दुष्ट और महापापी था, वैसा ही उसने फल पाया। हे कमल के समान विशाल नेत्रवाले ! हे दीनदयालु ! अब सुनिये ॥५॥ मुझे अत्यन्त अभिमान था कि मेरे समान कोई नहीं है। अब प्रभु के चरण-कमल को देखकर दुःख-समूह का देनेवाला मेरा अभिमान चला गया ॥६॥

विशेष—(१) 'पायो सो फल पापिष्ट'; यथा—"विश्व-द्रोह-रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (दो० १०८); क्योंकि यह नीति है; यथा—"चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठइ नहिं सोई॥" (सुं० दो० ३७)।

(२) 'राजीव-नयन बिसाल'—रावण को देखकर हमलोगों का खून सूख जाता था, पर आपके दर्शनों से हम हृष्ट-पुष्ट हुए, ऐसा भाव कमल-नयन कहकर जनाया; क्योंकि कमल आह्लादकारक और रक्त-वर्द्धक है।

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप श्रीराम सगुन सरूप ॥७॥
बैदेहि अनुज समेत मम हृदय करहु निकेत।
मोहि जानिये निज दास दे भक्ति रमा-निवास ॥८॥

अर्थ—कोई निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं, जिनको वेद अव्यक्त कहते हैं। परन्तु मुझे आपका सगुण कोसलपति श्रीराम स्वरूप ही प्रिय लगता है ॥७॥ श्रीसीता-लक्ष्मणजी साथ मेरे हृदय में अपना घर बनाइये। हे रमा-निवास! मुझे अपना दास समझिये और (अपनी) भक्ति दीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'अव्यक्त जेहि श्रुति गाव'; यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता ९।४); अव्यक्त का अर्थ है अलक्ष्य, जो नेत्र, श्रवण एवं मन आदि के द्वारा नहीं समझा जा सके; यथा—"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो···" (केन० १।३); अर्थात् न उस तक नेत्र जाते हैं, न वाणी जाती है और न मन जाता है, अपनी बुद्धि से हम नहीं जानते, विशेष रूप से भी हम नहीं जानते। तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०) इत्यादि।

अव्यक्त कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वह किसी तरह प्रकट ही नहीं होता, क्योंकि साधननिष्ठ सूक्ष्म बुद्धि से उसका साक्षात्कार होना भी कहा गया है, यथा—"नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥" (बा० दो० २२), "अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥" (बा० दो० ११५); "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥" (कठ० १।३।१२); एवं बा० दो० ३४०-३४१ देखिये।

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने इसपर विचार किया है; यथा—"तर्हि ब्रह्मणः प्रत्यक्षाभावात्कदापि कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याह—अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (ब्र० सू० ३।२।२४)—संराधनं सम्यगाराधनं प्रीति-पूर्वकं तदेकचिन्तनं तस्मिन् सत्येवास्य साक्षात्कारो भवति नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञायते।" अर्थात जब ब्रह्म अव्यक्त ही है तब उसके साक्षात्कार के विना किसी का भी मोक्ष नहीं होगा; इसपर 'अपि ···' इस सूत्र का अर्थ करते हैं कि संराधन अर्थात् सम्यक् आराधन—प्रीति-पूर्वक अनन्य चिन्तन करने से उसमें सत्य की तरह इसका साक्षात्कार होता है—यह श्रुति और स्मृतियों से जाना जाता है—

श्रुतयस्तावद् "ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥" (मु० ३।१।८); "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्।" (मु० ३।१।३); "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।" (मु० २।२।८); "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।" (मु० ३।२।३); इत्यादयः। स्मृतयोऽपि भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।" (गीता ११।५४), इत्येवमाद्या। आभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामस्य परम पुरुषस्य साक्षात्कारो भवतीति॥ (आनन्दभाष्य) इन श्रुति स्मृतियों के अनुसार इस परम पुरुष का साक्षात्कार होता है।

(२) 'मोहिं भाव कोसल भूप'; यथा—"जे जानहिं ते जानहु स्वामी।···जो कोसलपति···"

(आ० दो० १०)—सुतीक्ष्णजी। "यद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।···अस तव रूप बखानउँ जानउँ···" (आ० दो० १२)—श्रीअगस्त्यजी। "जे ब्रह्म अज अद्वैत ··ते कहहु जानहु नाथ···" (उ० दो० १२)—वेद, इत्यादि इन सबों ने दोनों में अधिकार प्रकट करते हुए भी सगुण मे ही अपनी अपनी स्थिति माँगी है। 'श्रीराम सगुन सरूप'—सगुण स्वरूप भी आपके बहुत हैं, मुझे यही रूप अत्यन्त प्रिय है। 'दे भक्ति'—श्रीदशरथजी ने भक्ति ही माँगी है। अतः, इन्द्र भी वही माँगते हैं, क्योंकि ये उनके सखा हैं। 'रमा निवास'—रमा अर्थात् श्रीजानकीजी, उनके हृदय में आपका एवं आपके हृदय मे उनका निवास है; यथा—"सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।" (सुं० दो० १४); "जानकी उर मम बास है।" (दो० ६८)।

छंद—दे भक्ति रमानिवास त्रासहरन सरन सुखदायकं।
सुखधाम राम नमामि काम अनेक छबि रघुनायकं॥९॥
सुरबृंद-रंजन द्वंदभंजन मनुज तनु अतुलित बलं।
ब्रह्मादि-संकर-सेव्य राम नमामि करुना कोमलं॥१०॥

दोहा—अब करि कृपा बिलोकि मोहि, आयसु देहु कृपाल।
काह करउँ सुनि प्रिय बचन, बोले दीनदयाल॥११२॥

अर्थ—हे रमानिवास! हे शरणागत के भय हरनेवाले और सुख देनेवाले! मुझे (अपनी) भक्ति दीजिये। सुख के स्थान, अनेक कामदेवों की छबिवाले, रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी! आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥९॥ हे देव-समूह के आनंद देनेवाले, (हर्ष-विषाद, मानापमान आदि) द्वन्द्वों के नाश करनेवाले, मनुष्य-शरीर-धारी, अतुलित बलवान्, ब्रह्मादि शंकर से सेवित होने के योग्य, करुणामय, कोमल (स्वभाव) श्रीरामजी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१०॥ हे कृपालो! अब कृपा करके मुझे (कृपा दृष्टि से) देखकर आज्ञा दीजिये कि मैं क्या (सेवा) करूँ? ऐसे प्रिय वचन सुनकर दीन दयालु श्रीरामजी बोले॥११२॥

विशेष—(१) 'सरन सुखदायकं'—भक्तों के लिये, सुखधाम; योगियों के लिये राम।

(२) 'अब करि कृपा··'—सेवा स्वीकृत कर कृतार्थ करना कृपा है, इसीसे कृपालु से कृपा-दृष्टि की याचना की गई है। प्रभु की सेवा उनकी कृपा से ही मिलती है; यथा—"प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥" (उ० दो० २४); 'बिलोकि मोहि'—इन्द्र स्तुति करते हैं, अपनी प्रशंसा पर प्रभु नीचे दृष्टि किये हुए हैं। यह श्रेष्ठ लोगों का स्वभाव ही है; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५)। अतः, इन्द्र ने प्रार्थना की कि मेरी ओर दया-दृष्टि कीजिये। 'बोले दीन दयाल'—इन्द्र की दीनता पर बोले और वानरों पर भी दया है, इसीसे दीन-दयालु कहा गया है।

सुनु सुरपति कपि-भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे॥१॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। सकल जियाउ सुरेस सुजाना॥२॥

अर्थ—हे देवराज ! सुनिये, हमारे वानर और भालू, जिन्हें राक्षसों ने मारा है, पृथिवी पर पड़े हैं ॥१॥ इन्होंने मेरी ही भलाई के लिये प्राण छोड़े हैं। अतः, हे सुजान इन्द्र ! इन सबको जिला दो ॥२॥

विशेष—(१) 'सुरपति'—का भाव यह कि तुम देवराज हो और ये सभी देवांश हैं। अतः, इनकी रक्षा करना तुम्हारा कर्त्तव्य भी है, पुनः सब 'हमारे' हैं, अतः मुझे भाई-बंधु के समान प्रिय हैं। 'परे भूमि···'—श्रीरामजी की कृपा से अभी ये लोग पड़े ही हैं, शृगाल आदि ने इनके शरीरों को नहीं बिगाड़ा है।

'निसिचरन्हि जे मारे'—भाव यह कि तुम्हारे शत्रुओं के द्वारा मारे गये हैं। अतः, इनका जिलाना तुम्हारा कर्त्तव्य है। 'मम हित लागि···'—हमारे कार्य के लिये इन्होंने प्राणों का लोभ नहीं किया—प्राण दे दिये, तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि इन्हें पुनः जीवित करें, अतएव इनके जिलाने में मुझपर भी तुम्हारा निहोरा है।

(२) 'सुरेस सुजाना'—भाव यह कि ये देवांश हैं। अतः, ये जीवित होंगे और राक्षस मुक्त हो गये, वे नहीं जीवित हो सकते। अतः, यह शंका नहीं करो कि कहीं राक्षस भी न जी जायँ। पुनः यह भी भाव है कि हमारी इच्छा है, तो ये जियेंगे ही, पर तुम्हें बड़ाई मिलना है कि इन्द्र ने जिला दिया। अतः, समय पर कार्य में नहीं चूको।

सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ग्यानी ॥३॥
प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥४॥
सुधा बरषि कपि भालु जियाये। हरषि उठे सब प्रभु पहिं आये ॥५॥

अर्थ—हे गरुड़ ! सुनो, प्रभु के ये वचन अत्यन्त गंभीर हैं, ज्ञानी मुनि ही इसे जानते हैं ॥३॥ प्रभु श्रीरामजी तीनों लोकों को मारकर (फिर) जिला सकते हैं। (तब इन भालू-वानरों का जिलाना उनके लिये कुछ नहीं है), यहाँ उन्होंने इन्द्र को केवल बड़ाई दी है ॥४॥ इन्द्र ने अमृत बरसाकर वानर-भालुओं को जिलाया। वे सब प्रसन्न होकर उठे और प्रभु के पास आये ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु कै यह बानी'; 'अति अगाध'—प्रभु ने इन्द्र से वानर-भालुओं के जिलाने के लिये कहा, इसपर गरुड़जी को संदेह होता कि क्या श्रीरामजी स्वयं नहीं जिला सकते थे ? जो उन्होंने इन्द्र से कहा, उसका समाधान स्वयं श्रीभुशुंडीजी कर रहे हैं कि इस वचन के आशय अगाध हैं। वानरों ने इस देह से प्रभु के कार्य किये हैं। अतः, उनके उन्हीं शरीरों को जिलाते हैं और राक्षसों ने इस देह से अकार्य (अनहित) किये हैं, इससे उनकी इन देहों को नहीं जिलाया। पुनः नर-लीला के निर्वाह के लिये प्रभु ने इन्द्र से यह कार्य कराया और इन्द्र को अभीष्ट वरदान भी दिया। इन्द्र ने सेवा माँगी थी, वह उन्हें दी, जिससे उन्हें बड़ाई मिली ; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई।" (आ॰ दो॰ १२); इन्द्र को दास माना, इसीसे बड़ाई दी।

सुधा-बृष्टि भै दुहु दल ऊपर। जिये भालु-कपि नहिं रजनीचर ॥६॥
रामाकार भये तिन्ह के मन। मुक्त भये छूटे भव-बंधन ॥७॥
सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा। जिये सकल रघुपति की ईछा ॥८॥

अर्थ—(वानर-राक्षस) दोनों सेनाओं के ऊपर अमृत की वर्षा हुई, पर भालू-वानर जिये और राक्षस नहीं जिये ॥६॥ (कारण यह कि) उनके मन रामाकार होने से वे मुक्त हो गये, उनका संसार-बंधन (आवागमन) छूट गया ॥७॥ सब वानर-भालू देवांश हैं, इससे एवं श्रीरघुनाथजी की इच्छा से सभी जीवित हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'रामाकार भये···'—यह राक्षसों की मुक्ति का हेतु कहा और 'सुर अंसिक···' ने वानर-भालुओं के जीवित होने का हेतु कहा।

देवांश-भूत वानर-भालू सगुणोपासक हैं, अतएव वे संतत प्रभु के साथ ही रहना चाहते हैं ; यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ ··सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि॰ दो॰ २६) ; यह श्रीजाम्बवान्‌जी ने सबकी ओर से कहा है, इससे इसी शरीर से जिला कर प्रभु ने सबको अपने संग रक्खा। और, राक्षसों के राजा रावण ने मुक्ति की चाहना की थी ; यथा—"प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।" (आ॰ दो॰ २३) ; अतएव सब राक्षसों को मुक्त किया। कहा ही है—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों, ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि॰ ११३)। 'जिये सकल रघुपति की ईछा।'—श्रीरघुनाथजी की इच्छा यही है कि इन वानर-भालुओं ने इसी शरीर से हमारे कार्य किये हैं, अतएव इसी शरीर से ये लोग अपने-अपने बांधवों से मिलें। श्रीरामजी की इच्छा अमृत को विष और विष को अमृत कर सकती है ; यथा—"विषमप्यमृतायते क्वचित् क्वचिदमृतं विषमीश्वरेच्छया॥" (रघुवंश) ; अर्थात् ईश्वर की इच्छा से कभी अमृत विष के समान और कभी विष अमृत के समान होता है। तथा—"ईस रजाय सीस सब ही के। उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के॥" (अ॰ दो॰ २८१)।

दोनों दलों के वीर रण में सम्मुख मरे हैं, अतएव स्मृतियों की दृष्टि से दोनों को ही मुक्त हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं हुआ, यदि यह कहा जाय कि राक्षस श्रीरामजी के बाणों से मरे, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कितने तो वानरों के द्वारा ही मारे गये हैं, यदि यह कहा जाय कि वे राम-नाम कहकर मरे हैं, तो भी यह निश्चित नहीं है, फिर वानर भी तो बराबर श्रीरामजी की जय बोलते थे और प्रभु के अनुरागी भी थे, इत्यादि। पुनः वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि रावण की आज्ञा से युद्धारंभ से ही जो राक्षस युद्ध में मरते थे, तुरत समुद्र में फेंक दिये जाते थे कि जिससे और राक्षसों का उत्साह बढ़ता रहे, बहुतों को मरा हुआ देखकर वे घबड़ा न जायँ। परन्तु यह समाधान भी युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि पिछले युद्ध में जो मरे हैं, वे तो पड़े हुए ही हैं ; यथा—"हनूमान् अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे।" (दो॰ ११७) यह आगे कहा गया है। इत्यादि बहुत-से तर्क हो सकते थे, उन सबका अंतिम सिद्धान्त-भूत समाधान 'रघुपति की इच्छा' है, इसपर कुछ भी तर्क नहीं रह जाता। ऊपर प्रमाण दिया ही गया कि अमृत और विष सभी पर श्रीरामजी की आज्ञा है, चाहे जिससे जैसा करावें।

राम-सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥९॥
खल मल-धाम काम-रत रावन। गति पाई जो मुनिबर पाव न॥१०॥

दोहा—सुमन बरषि सब सुर चले, चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आयउ संभु सुजान॥

परम प्रीति कर जोरि जुग, नलिन-नयन भरि वारि।
पुलकित तनु गदगद गिरा, बिनय करत त्रिपुरारि ॥११३॥

अर्थ—श्रीरामजी के समान कौन दीनों का हित करनेवाला है ? सारे राक्षसों को उन्होंने मुक्त कर दिया ॥९॥ दुष्ट, पापों के घर और कामी रावण ने (वह) गति पाई, जो मुनिश्रेष्ठ भी नहीं पाते ॥१०॥ फूलों की वर्षा करके सब देवता सुन्दर-सुन्दर विमानों पर चढ़-चढ़कर चले, तब अच्छा अवसर देखकर सुजान शिवजी प्रभु के पास आये ॥ अत्यन्त प्रेम से दोनों हाथ जोड़कर कमल समान नेत्रों में जल भरे हुए, पुलकित शरीर और गद्गद वाणी से त्रिपुरारि श्रीशिवजी स्तुति करने लगे ॥११३॥

विशेष—(१) 'सुमन बरषि सब सुर चले'—ये लोग आये थे, तब भी फूल बरसाये थे; यथा—"बरषहिं सुमन हरषि सुर" (दो० १०८); और यहाँ चलते समय भी फूलों की वर्षा की। "आये देव सदा स्वारथी।" (दो० १०८); उपक्रम और यहाँ 'सब सुर चले' उपसंहार है। इनका स्वार्थी होना इससे भी सिद्ध होता है कि अब ये राम-राज्याभिषेक के अवसर पर पुष्प-वर्षा नहीं करेंगे। 'चढ़ि चढ़ि...'—आये थे तो उतरकर स्तुति की, अब फिर चढ़-चढ़कर चले।

(२) 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं...'—अब सारी सेना भी जीवित हो गई, सम्पूर्ण समाज प्रसन्न है, देवता लोग भी चले गये, अभी पुष्पक विमान के आने तक प्रभु सुस्थिर हैं। अतः, अच्छा अवसर जानकर आये, यही सुजानता है; यथा—"दासी देखि सुअवसर आई॥ सावकास सुनि सब सिय सासू। आयो जनक राज रनिवासू॥" (अ० दो० २८०)।

मामभिरक्षय रघुकुल-नायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥१॥
मोह महा घन-पटल प्रभंजन। संसय-बिपिन-अनल सुर-रंजन ॥२॥

अर्थ—हे रघुकुल श्रेष्ठ ! सुन्दर हाथों में श्रेष्ठ धनुष और दीप्तिमान बाण धारण किये हुए आप मेरी रक्षा करें ॥१॥ महा मोह-रूपी मेघ-समूह के (उड़ाने के लिये) आप प्रचंड पवन हैं, संशय रूपी वन के भस्म करने के लिये आप अग्नि रूप हैं, और देवताओं को आनंददाता हैं ॥२॥

विशेष—(१) शिवजी रक्षा चाहते हैं, तदनुसार ही उन्होंने 'रघुनायक' कहा है, क्योंकि रघुवंशी सभी शरणागत-पालक होते आये हैं। इसीलिये श्रेष्ठ धनुष का धारण करना कहा कि जिसे कोई काट नहीं सके। रक्षा शत्रु से की जाती है, यहाँ भी ये उन मोह, संशय आदि शत्रुओं के नाम कहते हैं—

मोह हृदयाकाश को आच्छादित कर देता है, जिससे ज्ञान-रूपी सूर्य छिप जाते हैं, इसी से इसे 'घन-पटल' कहा है। मेघों के समूह की तरह मोह-दल भी भारी है; यथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।" (आ० दो० ४३); संशय को वन कहा है, क्योंकि जैसे वन मे भटक जाने से निकलना कठिन होता है, वैसे ही संशय से बुद्धि का उबार होना कठिन होता है; यथा—"अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥" (बा० दो० ५०)।

अगुन सगुन गुन-मंदिर सुंदर। भ्रम-तम प्रबल प्रताप-दिवाकर ॥३।

काम-क्रोध - मद-गज पंचानन । बसहु निरंतर जन मन कानन ॥४॥

अर्थ—आप निर्गुण हैं, सगुण हैं, (दिव्य) गुणों के मंदिर है और सुंदर हैं। भ्रम रूपी अंधकार के लिये आपका प्रबल प्रताप सूर्य के समान है ॥३॥ काम, क्रोध और मद रूपी हाथियों के लिये सिंह-रूप आप मुझ दास के मन रूपी वन में निरंतर वास करें ॥४॥

विशेष— 'भ्रम-तम प्रबल प्रताप-दिवाकर'—जैसे सूर्य अनायास ही अंधकार को नष्ट करता है, वैसे ही आपका प्रबल प्रताप सब भ्रमों की कारण-रूपा अविद्या का ही पहले नाश करता है; यथा—*"जय ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा ॥...प्रथम अविद्या निसा नसानी।"* (उ० दो० ३०); 'काम क्रोध मद गज...'—यहाँ तक ऊपर के मोह, संशय और भ्रम भी मिलाकर कुल छः शत्रु गिनाये। इनसे रक्षा के लिये पहले 'धृत बर चाप रुचिर कर सायक' कहा और यहाँ—'बसहु निरंतर...' से मन में निरंतर बसना भी कहा, यही उपाय है; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६)।

बिषय मनोरथ-पुंज कंज बन । प्रबल तुषार उदार पार मन ॥५॥
भव-बारिधि मंदर परमंदर । बारय तारय संसृति दुस्तर ॥६॥

शब्दार्थ—परमंदर = परमं + दर = परम डर, बड़ा भय। बारय = निवारण करें।

अर्थ—विषय-मनोरथ-समूह रूपी कमल-वन के लिये आप प्रबल पाला-रूप हैं, आप उदार (महान् दानी) हैं और मन से परे हैं ॥५॥ भव सागर मंथन के लिये आप मंदर हैं, मेरे परम भय को निवारण करें और दुस्तर संसार सागर से पार करें ॥६॥

विशेष—'भव-बारिधि मंदर'; यथा—"भवाम्बु नाथ मंदरं" (आ० दो० ४)। पहले 'भवबारिधि मंदर' कहकर वैसा श्रीरामजी का स्वभाव कहा है, फिर 'परमंदर बारय' से अपने भय-निवारण की प्रार्थना की, फिर 'तारय संसृति दुस्तर' से उस भय को असाध्य कहते हुए प्रकट करके फिर उससे तारने की प्रार्थना की।

शंका—यहाँ भय का 'परम' विशेषण क्यों कहा गया, इसे तो कराल, विषम आदि कहना था।

समाधान—*मोह आदि शत्रुओं से डरना दैवीसंपत्ति का अधिकारी होना है*, अतएव इसे 'परम' कहा गया, यथा—"सीता कै अति बिपति बिसाला।" (सुं० दो० ३०)।

स्याम गात राजीव - बिलोचन । दीनबंधु प्रनतारति - मोचन ॥७॥
अनुज जानकी सहित निरंतर । बसहु राम नृप मम उर अंतर ॥८॥
मुनि-रंजन महि - मंडल - मंडन । तुलसिदास प्रभु त्रास-बिखंडन ॥९॥

अर्थ—हे दीनबंधु ! आपका श्याम शरीर और कमल (के दल समान विशाल) नेत्र शरणागत के दुःख छुड़ानेवाले हैं ॥७॥ हे राजा श्रीरामजी ! आप भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ

मेरे हृदय में निवास करें ॥८॥ आप मुनियों को आनंद देनेवाले, भूमि मंडल के भूषण, भय के नाशक और मुझ तुलसीदास के प्रभु हैं ॥९॥

विशेष–(१) 'श्यामगात' और 'राजीव विलोचन' ये दोनों ही भय-मोचन हैं, यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। श्यामल गात प्रनत भय मोचन॥" (सुं० दो० ४४); 'निरंतर' क्योंकि हृदय से प्रभु के हटते ही वहाँ कामादि डेरा डाल देते हैं। 'राम नृप'—'नृप' का अर्थ मनुष्यों की रक्षा करनेवाला है, श्रीशिवजी भी आदि से ही रक्षा चाहते हैं, इसीसे नृप कहा है। पुनः इससे सनातन द्विभुज रूप का ही निवास माँगा गया है। यहाँ नृप रूप का निवास माँगा है। इसीसे आगे राज्यासीन होने की झाँकी में आने की प्रार्थना करेंगे।

(२) 'तुलसिदास प्रभु'—श्रीशिवजी श्रीगोस्वामीजी से लाखों वर्ष पहले स्तुति कर रहे हैं, फिर भी उनके मुख से 'तुलसीदास के प्रभु' इस भावी बात का कहा जाना भाविक अलंकार है श्रेष्ठ कवि महान् भक्तों के मुख से अपना संबंध भगवान् में दृढ़ कराते हैं; यथा--"तव लगि न तुलसीदास-नाथ कृपाल पार उतारिहौं।" (अ० दो० १००); "तुलसी प्रभुहि सिख देइ···" (अ० दो० ७१); इत्यादि।

दोहा—नाथ जबहिं कोसलपुरी, होइहि तिलक तुम्हार।
कृपासिंधु मैं आउब, देखन चरित उदार ॥११४॥

अर्थ—हे नाथ! श्रीअयोध्यापुरी में जब आपका राज्य तिलक होगा तब, हे कृपासागर! मैं आपके उदार चरित देखने के लिये आऊँगा ॥११४॥

विशेष–'चरित उदार'—क्योंकि सामान्य राजा भी अपने अभिषेक के समय बहुत कुछ दान करते हैं और आप तो उदार हैं अतएव उदारता के चरित देखने के लिये आऊँगा। वहाँ इन्हें भी भक्ति का वरदान माँगना है; यथा--"बार बार वर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अन पायनी, भगति सदा सतसंग॥" (उ० दो० १४)। उसकी भूमिका यहीं से बाँध रहे हैं।

"पुनि पुष्पक चढ़ि···अवध चले"—प्रकरण

करि बिनती जब संभु सिधाये। तब प्रभु निकट बिभीषन आये ॥१॥
नाइ चरन सिर कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँग-पानी ॥२॥
सकुल सदल प्रभु रावन मार्‌यो। पावन जसु त्रिभुवन बिस्तार्‌यो ॥३॥
दीन मलीन हीन मति जाती। मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती ॥४॥

अर्थ—जब बिनती करके श्रीशिवजी चले गये, तब श्रीविभीषणजी प्रभु के पास आये और चरणों में प्रणाम करके कोमल वचन बोले—हे शार्ङ्गपाणि (शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले) प्रभो! मेरी विनती सुनिये ॥१-२॥ हे प्रभो! आपने सेना और वंश सहित रावण को मारा, इससे तीनों लोकों में

पवित्र यश फैलाया ॥३॥ मुझ दीन, मलीन (पापी), बुद्धि हीन और जाति हीन (अधम राक्षस) पर बहुत प्रकार से कृपा की ॥४॥

विशेष—'तब'—जब श्रीशिवजी भी चले गये, बाहर का कोई नहीं रहा, प्रभु को सावकाश देखा, तब। 'सकुल सदल प्रभु···'—दुष्टों का संहार करना और पावन यश का विस्तार करना, ये दोनों कार्य कर चुके, ये ही अवतार के मुख्य कार्य हैं ; यथा—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥" (बा० दो० १२१); 'मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती।'—औरों पर एक-दो प्रकार की कृपा की, परन्तु मुझपर तो बहुत तरह से कृपा की मुझे शरण में लिया, तिलक किया, सखा बनाया, शत्रु से रक्षा की, शत्रु को मारकर राजा बनाया, इत्यादि।

अब जन-गृह पुनीत प्रभु कीजे। मज्जन करिय समर-श्रम छीजे॥५॥
देखि कोस मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा॥६॥
सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय॥७॥
सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भये दोउ नयन बिसाला॥८॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब दास का घर पवित्र कीजिये और स्नान कीजिये, जिससे युद्ध की थकावट दूर हो ॥५॥ और, हे कृपालु ! खजाना, महल और संपत्ति देखिये। पुनः प्रसन्नता सहित वानरों को दीजिये ॥६॥ हे नाथ ! मुझे सब प्रकार से अपना लीजिये फिर मुझ सहित श्रीअवधपुरी को जाइये ॥७॥ श्रीविभीषणजी के कोमल वचन सुनते ही दीनदयालु श्रीरघुनाथजी के दोनों विशाल नेत्रों में जल भर आया ॥८॥

विशेष—(१) 'अब जन गृह···'—बहुत प्रकार से कृपा की, बस, अब यही एक शेष है, इसे भी कीजिये। 'अब' का यह भी भाव है कि अब चौदह वर्ष का व्रत पूरा हो रहा है। अतः, व्रत-बाधा नहीं होगी।

(२) 'मज्जन करिय···'—स्नान से थकावट दूर होती है ; यथा—"मज्जन पान समेत हय, कीन्ह नृपति हरषाइ॥ गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ।" (बा० दो० १५८); स्नान करने की प्रार्थना में वाल्मी० ६।१२१।२-३ की स्नान-सम्बन्धी सभी बातें आ गईं कि स्नान के लिये जल, अंगराग, वस्त्र, आभूषण, चन्दन, मालाएँ आदि विविध वस्तु सहित सेवा में निपुण सुन्दर स्त्रियाँ आपके स्नान कराने के लिये उपस्थित हैं।

पहले श्रम दूर करने का उपाय कहकर तब सावधानतापूर्वक कोष आदि की देख-रेख के लिये कहते हैं—

(३) 'देखि कोस मंदिर संपदा।···'—भाव यह है कि ये सभी आपके हैं, चाहे जिसे दें। वानरों ने बहुत परिश्रम किया है, इन्हें लूट भी नहीं मिली। अतः, इन्हें मुदा (संकोच रहित) दीजिये। मंदिर भी देने को कहते हैं कि इन्हें यहाँ निवास कराइये।

(४) 'जन गृह पुनीत' का भाव यह कि स्नान करने से और चरणोदक पड़ने से ही दास का घर पवित्र होगा। पुनः आप स्वामी-रूप से विराजें और मैं सेवा करूँ तो मेरा जन (दास) होना भी सिद्ध होगा और तभी घर भी 'जनगृह' होगा।

(५) 'सब विधि नाथ मोहिं···'—मुझे शरण में रखकर अपनाया; पर अभी हमारी वस्तुएँ नहीं अपनाईं, यही एक विधि रह गई है, इसे भी पूरी कीजिये। अतः, मेरा घर पवित्र कीजिये। फिर मुझे भी अपने साथ अपने घर ले चलिये, यही 'पुनि मोहि सहित···' से जनाया है। मित्रता की रीति है कि मित्र के घर जाय और उसे अपने घर लावे, इसी विधि की पूर्त्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

(६) 'सजल भये दोउ नयन बिसाला।'—असमंजस के कारण नेत्रों में आँसू भर आये कि उधर श्रीभरतजी हमारे निमित्त कठिन व्रत धारण किये हुए हैं उनके विना हमें विशेष स्नान आदि उचित नहीं हैं। पुनः अवधि के भीतर किसी नगर में जा नहीं सकते। यदि अवधि यहीं बिताकर जायँ, तो वहाँ श्रीभरतजी सपरिवार प्राण ही छोड़ देंगे। पुनः इधर सखा के प्रीत्यात्मक उचित वचन कैसे अस्वीकार करें? इत्यादि दोनों ओर की बड़ी लज्जा के कारण नेत्रों को विशाल भी कहा गया है। यथा—"स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः। सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥ तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्। न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥" (वाल्मी० ६।१२१।५-६)

दोहा—तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि, निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृष, जपत निरंतर मोहि।
देखउँ बेगि सो जतन करु, सखा निहोरउँ तोहि॥

अर्थ—हे भाई! सुनो, तुम्हारा खजाना और घर सब मेरे ही हैं, मेरा वचन सत्य है। भरत की दशा स्मरण करते हुए मुझे पल-पल कल्प के समान बीत रहा है॥ तपस्वी वेष बनाये, शरीर से दुर्बल वे निरन्तर (अनुक्षण) मुझे जप रहे हैं। अतएव वह उपाय करो कि जिससे मैं उनको शीघ्र देखूँ, हे सखे! मैं तुम्हारी विनती करता हूँ, (भाव यह कि रोको नहीं; किन्तु शीघ्र वहाँ पहुँचाओ, इसके लिये मैं विनय करता हूँ)॥

विशेष—(१) 'तोर कोस गृह मोर सब'—यह श्रीविभीषणजी के 'देखि कोस मंदिर संपदा। देहु···' के प्रति कहा है। इसमें मित्रता का प्रणय-रूप प्रत्युत्तर है; यथा—"मम तव तव मम प्रणय यह" अर्थात् मेरा सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा मेरा है—मित्रता में ऐसा भाव होना ही प्रणय है, इसी में प्रीति की पूर्णता होती है; यथा—"प्रीति प्रनय बिनु···नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥" (आ० दो० २०); यही दोनों ओर का प्रणयत्व इस चरण में कहा गया है - 'तोर कोश गृह सब मोर है' तथा 'मोर सब कोश गृह तोर है' दोनों अर्थ स्पष्ट हैं। शुद्ध जीव का ब्रह्म के साथ ऐसा ही प्रणय श्रुति में भी कहा गया है; यथा—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते॥" अर्थात् हे भगवन्! हे दिव्य ज्ञान विशिष्ट! आप मैं हैं और मैं आप हूँ। और भी कहा है—"देत लेत मन संक न धरई।" (कि० दो० ६); यहाँ श्रीविभीषणजी को अपनापन दिखाते हुए स्नेहपूर्वक 'भ्राता' और 'सखा' कहा है कि उन्हें उनकी प्रार्थना की अस्वीकृति का दुःख नहीं हो।

(२) 'भरत दसा सुमिरत···' कहकर आगे 'तापस बेष गात कृस···' से उनकी दशा का कुछ वर्णन भी किया है। देखिये अ० दो० ३२३-३२४ भी।

बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर॥
करेहु कलप भरि राज तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं॥११५॥

अर्थ—यदि अवधि के बीत जाने पर जाऊँगा, तो वीर भाई को जीता नहीं पाऊँगा। भाई की प्रीति का स्मरण कर प्रभु का शरीर बारम्बार पुलकित हो रहा है॥ तुम एक कल्प पर्यन्त राज्य करना और मुझे मन में स्मरण करते रहना, फिर तुम मेरे धाम को पाओगे, जहाँ सब संत जाते हैं॥११५॥

विशेष—'बीते अवधि जाउँ जौं ···'—श्रीभरतजी ने प्रण किया है; यथा—"पुलक सरीर नीर भरि लोचन कहत प्रेम पन कीन्हे॥ तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तो प्रभु चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥" (गी० अ० ७६); "चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥ न द्रक्ष्यामि यदि त्वा तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥" (वाल्मी० २।११२।२५-२६); 'मम धाम' अर्थात् साकेत धाम, अथवा वैकुंठ।

सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपा-धाम के॥१॥
बानर-भालु सकल हरषाने। गहि प्रभु-पद गुन बिमल बखाने॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनते ही श्रीविभीषणजी ने प्रसन्न होकर कृपा के धाम श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये॥१॥ सभी वानर और भालू हर्षित हुए और प्रभु के चरण पकड़ (उनके) निर्मल यश का वर्णन करने लगे॥२॥

विशेष—(१) 'हरषि गहे पद ···'—अपने ऊपर बहुत कृपा देखकर हर्ष हुआ कि कल्प पर्यंत राज्य भोग और फिर प्रभु के धाम की प्राप्ति भी। पुनः शील ऐसा कि पुष्पक पर श्रीअयोध्याजी पहुँचाने के लिये निहोरा करते हैं, क्योंकि दी हुई वस्तु पर अपना स्वत्व कुछ भी नहीं मानते, प्रभु का इतना त्याग है। तब कृतज्ञता प्रकट करते हुए श्रीविभीषणजी चरण पकड़े।

(२) 'बानर भालु सकल हरषाने'—शरणागत श्रीविभीषणजी पर कृपा, श्रीभरतजी पर स्नेह एवं उनका शीलमय स्वभाव देखकर इन्हें हर्ष हुआ और फिर इन्हीं गुणों को गाने लगे; यथा—"अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (उ० दो० १२१); एवं "तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान॥" (बा० दो० २१)।

(३) 'गहि प्रभु पद'—सभी ने चरण पकड़े, यह भी प्रभु का रहस्य है।

बहुरि बिभीषन भवन सिधायो। मनिगन बसन बिमान भरायो॥३॥
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा। हँसि करि कृपासिंधु तब भाखा॥४॥

चढ़ि-बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट-भूषन ॥५॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबहीं। बरषि दिये मनि अंबर सबहीं ॥६॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी फिर घर गये, मणि-समूह और वस्त्र विमान में भरवाये ॥३॥ (उन्होंने मणि-वस्त्र पूर्ण) पुष्पक विमान को लाकर प्रभु के आगे रक्खा, तब कृपासागर श्रीरामजी ने हँसकर कहा ॥४॥ कि हे सखे! हे विभीषणजी! सुनो, विमान पर चढ़कर आकाश में जा वस्त्रों और भूषणों की वर्षा कर दो ॥५॥ (आज्ञा पाते ही) उसी समय श्रीविभीषणजी ने आकाश में जाकर सब मणि और वस्त्र बरसा दिये ॥६॥

विशेष—(१) 'बहुरि विभीषन···'—एक बार राज्य-तिलक कराने गये थे, अब फिर भेंट की सामग्री लाने के लिये घर गये।

(२) 'हँसि करि कृपासिंधु···'—हँसने के कारण ये हैं—(क) यद्यपि मैंने इच्छा नहीं की, फिर भी ये प्रेमवश भेंट ले आये, इससे हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। (ख) प्रभु को इस समय हास्य-क्रीड़ा की रुचि है, वानरों के साथ विनोद करना चाहते हैं, इसलिये भी हँसे। (ग) वानरों पर एवं श्रीविभीषणजी पर भी कृपा है इससे हँसे। वानरों को यथारुचि वस्त्राभूषण दिलायेंगे और विभीषणजी का भी हित होगा कि इनसे सम्मानित होकर वानर गण यहाँ आते-जाते रहेंगे और सब मित्र बने रहेंगे—यह हेतु वाल्मी० ६।११२।३-६ में श्रीरामजी ने कहा है।

ऊपर से क्यों वर्षा कराई? इसके उत्तर ये हैं—(क) वानर कटक अपार है, हाथ से बाँटने में विलंब होता और प्रभु को शीघ्र श्रीअयोध्याजी की यात्रा करनी है। इस तरह से तुरत सबको मिल जायगा और जिसे जो रुचेगा, वह वही लेगा। सब जहाँ के तहाँ ही पा जायँगे। (ख) हाथ से बाँटने में आगे पीछे देने की बड़ी सँभाल करनी पड़ती कि किसी को मानापमान का प्रसंग नहीं आ जाय। (ग) इस तरह वानरों की लूट का विनोद भी देखने को मिलेगा।

प्रभु की इस लीला का तात्पर्य यह है कि वानरों के प्रति कृतज्ञता प्रकट हो एवं उनकी निष्कामता भी देखने में आये और इन राम-भक्तों के चरणों में लगकर श्रीविभीषणजी की संपत्ति भी चिरस्थायी हो।

जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं ॥७॥
हँसे राम श्री-अनुज-समेता। परम कौतुकी कृपानिकेता ॥८॥

दोहा—मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक बिनोद ॥
उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम ॥११६॥

(२) 'मसक कहूँ खगपति हित करहीं ।'—जैसे नभ-गामियों मे गरुड़ सबसे बड़े और मच्छड़ अन्यन्त छोटे होते हैं, वैसे प्रभु के समक्ष हमलोग हैं, तब भला हम आपका क्या हित कर सकते हैं? यह—'तुम्हरे बल मैं रावन मार्‌यो' का उत्तर है। आपने कृपा करके हमें युद्ध का यश दिया, यदि आप क्षण-क्षण पर रक्षा नहीं करते तो हममें से एक भी न बचता। मरने पर भी हमें कृपा करके जिला दिया। फिर भी आप ही उल्टे कनौड़े (आभारी) बनते हैं, यह कृपा की चरम अवस्था है। वानरों के वचन मे प्रेम का ही पुट है—"सुनत बचन प्रेमाकुल बानर।" उपक्रम है और यहाँ—'प्रेम मगन ······' उपसंहार है। वियोग के वचन सुनते ही वानरगण प्रेम से व्याकुल हो गये।

दोहा—प्रभु-प्रेरित कपि-भालु सब, रामरूप उर राखि।
हरप-बिपाद सहित चले, बिनय बिबिधि बिधि भाखि॥
कपिपति नील रीछपति, अंगद नल हनुमान।
सहित बिभीपन अपर जे, जूथप कपि बलवान॥
कहि न सकहिं कछु प्रेमबस, भरि भरि लोचन बारि।
सन्मुख चितवहिं राम तन, नयन निमेप निवारि॥११७॥

अर्थ—प्रभु की प्रेरणा से सब वानर और भालू हृदय में (वनवासी) राम-रूप धारणकर अनेक प्रकार से प्रार्थना कर हर्ष शोक सहित चले॥ सुग्रीवजी, नीलजी, ऋक्षपति जाम्बवान्‌जी, अंगदजी, नलजी, हनुमान्‌जी और विभीषणजी के साथ और जो बलवान् यूथपति हैं॥ वे कुछ कह नहीं सकते, प्रेमवश नेत्रों में जल भर-भरकर, नेत्रों का पलक मारना छोड़ एकटक श्रीरामजी की ओर सम्मुख देख रहे हैं॥११७॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रेरित'—वे स्वयं तो जाना चाहते नहीं थे, प्रभु की बलात् प्रेरणा से चले। 'बिनय बिबिध ··'—जैसे पूर्व कहा गया—'दीन जानि कपि किये सनाथा।' एव और भी बहुत तरह की प्रार्थनाएँ करके चले।

'राम रूप उर राखि'—जैसी प्रभु की आज्ञा हुई है—'सुमिरेहु मोहिं···'

(२) 'हरप-बिपाद'—जय सहित घर जाने का हर्ष और ऐसे स्वामी के वियोग का विषाद है।

(३) 'सन्मुख चितवहिं······'—इस मुद्रा से' साथ रहने एवं दर्शनों की अन्यन्त उत्कृष्ट अभिलाषा प्रकट करते हैं कि जो वाणी की प्रार्थना से कहीं बढ़कर है। वही आगे कहते हैं—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥१॥
मन महँ बिप्र-चरन सिर नायो। उत्तर दिसिहि बिमान चलायो॥२॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने उनका अन्यत प्रेम देखकर सबको विमान पर चढ़ा लिया॥१॥ मन ही-मन ब्राह्मण के चरणों को प्रणाम किया और उत्तर दिशा को विमान चलाया॥२॥

विशेष—(१) 'सकल'—इसमें ऊपर तटस्थ कहे हुए—'कपिपति नील…' आदि का ग्रहण है। पर वाल्मीकीय रामायण में सब वानरों को साथ लेना कहा गया है, वह भी इस तरह हो सकता है कि इन सबको साथ जाते हुए देखकर वे भी लौट पड़े और साथ ही विमान पर चढ़ गये। 'सकल' शब्द में सभी आ सकते हैं। 'विप्र चरन…' यह श्रीरामजी का मंगलाचरण है, दो० ८८ चौ० १ भी देखिये।

(२) 'उत्तर दिसिहि विमान चलायो।'—यह विमान कुवेर को दिया जायगा, केवल श्रीअयोध्या शीघ्र पहुँचाने-भर को श्रीरामजी ने लिया, वहाँ पहुँचते ही कुवेर के पास भेज देंगे।

"जेहि विधि राम नगर निज आये"—प्रकरण

चलत विमान कोलाहल होई। जय रघुवीर कहइ सब कोई ॥३॥
सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्री-समेत बैठे प्रभु ता पर ॥४॥
राजत राम सहित भामिनी। मेरु स्रंग जनु घन दामिनी ॥५॥
रुचिर विमान चलेउ अति आतुर। कीन्ही सुमन-वृष्टि हरषे सुर ॥६॥

अर्थ—विमान चलते समय बड़ा हल्ला हो रहा है, सब कोई 'रघुवीर-श्रीरामजी की जय हो' ऐसा कहते हैं ॥३॥ अत्यन्त ऊँचे और मनोहर सिंहासन पर प्रभु श्रीसीताजी के साथ बैठे ॥४॥ पत्नी के साथ श्रीरामजी ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों सुमेरु के शिखर पर बिजली सहित श्याम मेघ शोभित हो रहे हैं ॥५॥ सुंदर विमान अत्यंत वेग से चला, देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने फूलों की वर्षा की ॥६॥

विशेष—(१) 'चलत विमान कोलाहल……'—जय जयकार के शब्दों का कोलाहल है। 'सब कोई'—वानरगण और लंका-निवासी एवं जो देवतागण आकाश में थे। विमान पर सबसे उच्चासन पर सिंहासन है, 'श्रीसमेत'—श्रीलक्ष्मणजी का बैठना नहीं कहा गया, इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजी के पीछे वे छत्र आदि लेकर खड़े ही रहे, अतएव उनका आसन खाली ही रहा।

(२) 'राजत राम सहित… …'—'भामिनी' अर्थात् दीप्तिवाली स्त्री, श्रीसीताजी।

यहाँ सुमेरु के समान सोने का पुष्पक विमान है, सिंहासन उसका शृङ्ग है। श्याम वर्ण श्रीरामजी घन रूप और दामिनी वर्ण श्रीजानकीजी दामिनी रूपा हैं, बिजली स्थिर नहीं रहती, पर यहाँ मानों वह मेघ के साथ स्थिर है।

(३) 'रुचिर विमान'—वाल्मी० ६।१२१।२३-३० में इसका वर्णन है—यह सूर्य के समान था, इसमें सुवर्ण के चित्र बने थे, वैदूर्य मणि की वेदिकाएँ थीं, जहाँ-तहाँ गुप्त गृह थे। यह चाँदी के समान चमकीला था, इसमें पीली पताकाएँ लगी थीं। सोने की अटारियाँ बनी थीं, सोने के कमल लगे थे, इधर-उधर घंटियाँ लगी थीं, खिड़कियों पर मोती टँगे हुए थे। यह विश्वकर्मा का बनाया हुआ था, सुमेरु के शिखर के समान ऊँचा था, इसमें बड़े-बड़े कमरे बने हुए थे। स्फटिक मणि का फर्श और वैदूर्य मणि के सुंदर आसन बने हुए थे, यह मन के वेग के समान चलनेवाला था और इच्छानुसार चलता था (यह इच्छानुसार बढ़ता भी था जितने ही लोग चढ़ते थे, बढ़ता जाता था)।

अर्थ—जिसके मन को जो-जो अच्छा लगता है, वह वही-वही लेता है। मणि को मुख में डालकर (भक्ष्य न समझकर) वानर उसे उगल देते हैं ॥७॥ परम खेलाड़ी कृपा के स्थान श्रीरामजी श्रीसीताजी और भाई के साथ (इस कौतुक पर) हँसे ॥८॥ जिसे मुनि ध्यान में नहीं पाते और जिसे वेद नेति-नेति कहते हैं, वही कृपासागर श्रीरामजी वानरों से अनेकों विनोद (क्रीड़ा हास्य) कर रहे हैं ॥ हे उमा ! अनेक प्रकार के योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करने पर भी श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते, जैसी कृपा शुद्ध प्रेम होने पर करते हैं ॥११६॥

विशेष—(१) 'मनि मुख मेलि···'—कपि-स्वभाव से फल के धोखे में मणियों को मुख में डाल लेते हैं, स्वाद नहीं मिलने पर उन्हें कृत्रिम फल समझ उगल देते हैं। यहाँ कपि शब्द से सामान्य सैनिक वानरों का ही अर्थ है, सरदारों को इनमें नहीं गिनना चाहिये—ऐसा पहले भी लिखा जा चुका है।

(२) 'मुनि जेहि ध्यान···'—ऐसे ही पूर्व भी कहा गया है; यथा—"वेद वचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना अयन। वचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बयन॥" (अ० दो० १३६) ; तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी।" (बा० दो० ३४०) ; अर्थात् वेद भगवान् की निज वाणी है, उससे भी ब्रह्म अगम है, वह 'नेति-नेति' कहकर अपनी असमर्थता प्रकट करता है और मुनियों का मन अन्यान्य जीवोंके मन की अपेक्षा बहुत शुद्ध होता है, उससे भी वह अग्राह्य है ; यथा— "स एष नेतिनेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते।"(बृह० ३।९।२६); अर्थात् वही आत्मा 'नेति-नेति' शब्द करके अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। वहाँ तो मुनियों और वेदों को अगम और कहाँ इन वानरों को सुगम, यह क्यों ? इसीका समाधान आगे श्रीशिवजी करते हैं—'उमा जोग जप···' ; यथा—"वेद वचन···मुनि मन वचन किरातन्ह के सुनत रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६) ; ठीक वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है।

(३) 'तसि'—योग आदि के साधकों पर भी कृपा करते हैं, पर प्रेमी की तरह नहीं। क्योंकि योग आदि साधन-विशेष हैं, उनमें कर्तृत्वाभिमान भी रहता है और सर्वात्मना मनोवृत्ति भी जगत् को भूलकर प्रभु में नहीं लगती। और 'निष्केवल प्रेम' अर्थात् भोलेपन के गाढ़ प्रेम में जगत् स्वतः भूल जाता है और चित्तवृत्तिस्वतः लुभाई हुई प्रभु में लगी रहती है। इससे प्रभु भी ऐसे भक्त के अधीन हो जाते हैं ; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११) ; ऐसा प्रभु का कल्पवृक्ष की तरह स्वभाव है।

भालु-कपिन्ह पट-भूषन पाये। पहिरि-पहिरि रघुपति पहिं आये ॥१॥
नाना जिनिस देखि सब कीसा। पुनि-पुनि हँसत कोसलाधीसा ॥२॥
चितइ सबन्हि पर कीन्ही दाया। बोले मृदुल बचन रघुराया ॥३॥
तुम्हरे बल मैं रावन मार्यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्यो ॥४॥
निज-निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू ॥५॥

अर्थ—रीछ और वानर वस्त्र और आभूषण पाकर पहन-पहनकर श्रीरघुनाथजी के पास आये ॥१॥ सब वानरों को अनेक प्रकार देखकर कोसलपति श्रीरामजी बारम्बार हँस रहे हैं ॥२॥ श्रीरघुनाथजी ने सबकी ओर देखकर उनपर दया की और कोमल वचन बोले ॥३॥ तुम्हारे बल से मैंने रावण को मारा

और श्रीविभीषणजी का तिलक किया ॥४॥ अब तुम सब अपने-अपने घर जाओ, मेरा स्मरण करना और किसी से डरना नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'नाना जिनिस···'—एक तो वानरों के रूप ही विचित्र हैं, उसपर रंग-बिरंग के भूषण-वस्त्र, वह भी उल्टे-सीधे पहन लिये हैं, हाथों के भूषण पाँवों में और पाँवों के भूषण हाथों में पहने हैं। हास्य-रस-उद्दीपक ठाठ देखकर प्रभु को हँसी आई। इससे 'कोसलाधीसा' विशेषण कहा गया, क्योंकि राजा लोग कौतुक पर हँसते ही हैं। जैसे-जैसे बन-ठनकर वानर-गण आते हैं, वैसे-वैसे बार-बार हँसी आती है, इससे 'पुनि-पुनि हँसत' कहा गया है।

(२) 'बोले मृदुल बचन'—यों तो आप सर्वदा ही मृदुभाषी हैं, परन्तु अभी वानरों से वियोग के वचन कहेंगे, इससे और भी कोमल वचन कहते हैं—

(३) 'तुम्हरे बल मैं···'—तुम सबने रावण की सेना मारी, उसके यज्ञों का विध्वंस किया, उसे भी मार-मारकर शिथिल कर दिया, तब सहज में ही मैंने उसे मारा।

(४) 'सुमिरेहु मोहि ··'—हमारे बल-प्रताप का स्मरण करते रहने से तुम्हें किसी से भी भय नहीं होगा ; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका।" (दो० १७) हमारे बल पर निर्भर रहोगे, तो इन्द्र का भी तुम्हें भय नहीं हो सकता; यथा—"न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः।" (वाल्मी० ६।१२२।१६)। तथा—"तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥" (वि० १३७)।

सुनत बचन प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि बोले सब सादर ॥६॥
प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिं सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा ॥७॥
दीन जानि कपि किये सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा ॥८॥
सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं ॥९॥
देखि राम-रुख बानर-रीछा। प्रेम-मगन नहिं गृह कै ईछा ॥१०॥

अर्थ—प्रभु के वचन सुनते ही वानर प्रेम से विह्वल हो गये, वे सब हाथ जोड़कर आदरपूर्वक बोले ॥६॥ हे प्रभो ! आप जो कुछ भी कहें, वह सब आपको सोहता है, परन्तु ये वचन सुनकर हमको मोह होता है ॥७॥ हे रघुनाथजी ! आप तो तीनों लोकों के स्वामी हैं, आपने हम सब वानरों को दीन जानकर सनाथ किया है (अपनाया और सब प्रकार का भरोसा दिया; यथा—'डरपेहु जनि काहू') ॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर हमलोग लज्जा से मरे जाते हैं कि कहीं मच्छड़ भी गरुड़ की सहायता कर सकते हैं ? ॥९॥ वानर और भालू श्रीरामजी का रुख देखकर (कि वे उन्हें विदा करना ही चाहते हैं) प्रेम में डूब गये, उन्हें घर जाने की इच्छा नहीं है ॥१०॥

विशेष—(१) 'प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि···'—प्रभु के वचन मोहक हैं, कहीं ऐसा न हो कि हमें अभिमान आ जाय कि हमने प्रभु की सहायता की है, तब तो हम सब नष्ट हो जायँगे। इसलिये हाथ जोड़ क्षमा एवं रक्षा चाहते हैं, ऐसी ही प्रशंसा पर श्रीहनुमान्‌जी ने 'त्राहि-त्राहि' कहकर रक्षा चाही है। सुं० दो० ३२ देखिये।

परम सुखद चलि त्रिबिध बयारी । सागर सर सरि निर्मल बारी ॥७॥
सगुन होहिं सुंदर चहुँ पासा । मन प्रसन्न निर्मल नभ आसा ॥८॥
कह रघुबीर देखु रन सीता । लछिमन इहाँ हत्यो इंद्रजीता ॥९॥
हनूमान अंगद के मारे । रन महि परे निसाचर भारे ॥१०॥
कुंभकरन रावन दोउ भाई । इहाँ हते सुर-मुनि-दुखदाई ॥११॥

अर्थ—अत्यन्त सुख देनेवाली, तीनों प्रकार की (शीतल, मंद सुगंध) हवा चल रही है। समुद्र, तालाब और नदियों का जल निर्मल हो गया है ॥७॥ चारों ओर सुन्दर शकुन हो रहे हैं, सबके मन प्रसन्न हैं, आकाश और दिशाएँ निर्मल हैं ॥८॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कहा—हे सीते ! रणभूमि देखो, यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने इन्द्र के जीतनेवाले मेघनाद को मारा है ॥९॥ श्रीहनुमान्‌जी और अंगदजी के मारे हुए (ये) भारी-भारी राक्षस रणभूमि में पड़े हुए हैं ॥१०॥ सुर-मुनि को दुःख देनेवाले कुंभकर्ण और रावण यहाँ मारे गये हैं ॥११॥

विशेष—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी के नाम ले-लेकर उनकी प्रशंसा की, परन्तु अपने कर्म को अपने मुख से नहीं कहा, केवल उनका मारा जाना कह दिया कि यहाँ दोनों भाई मारे गये हैं। कहते तो आत्मश्लाघा दोष होता। यह प्रभु की अभिमान-शून्यता है। विमान उड़ा तो पहले वह मंडल बाँधकर चारों ओर फिरा, इसी बीच में प्रभु ने चारों ओर की रणभूमि श्रीसीताजी को दिखा दी, तब वह उत्तर की ओर आगे बढ़ा।

दोहा—इहाँ सेतु बाँध्यों अरु, थापेउँ सिव सुखधाम ।
सीतासहित कृपानिधि, संभुहि कीन्ह प्रनाम ॥
जहँ जहँ कृपासिंधु बन, कीन्ह बास बिश्राम ।
सकल देखाये जानकिहि, कहे सबन्हि के नाम ॥११८॥

अर्थ—यहाँ पुल बाँधा और सुख के स्थान श्रीशिवजी की स्थापना की है, (यह कहकर) कृपानिधान श्रीरामजी ने सीताजी के साथ रामेश्वर महादेव को प्रणाम किया ॥ जहाँ-जहाँ वन में कृपासागर श्रीरामजी ने निवास एवं विश्राम किया था, उन्होंने उन सभी स्थानों को श्रीजानकीजी को दिखाया और सबके नाम कहे ॥११८॥

विशेष—(१) 'सिव सुखधाम'—क्योंकि इनके पूजन से सुख-संपदा मिलती है; यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही।" (कि० दो० १७)। श्रीशिवजी के स्थापन में आपको सुख हुआ था, इससे भी ऐसा कहा। रामेश्वर स्थापना के समय श्रीसीताजी नहीं थीं, इसीसे इन्हें दिखाया और इनके सहित प्रणाम किया। 'कृपानिधि'—कहा गया, क्योंकि आप कृपा कर श्रीशिवजी को प्रणाम कर उनको बड़ाई देते हैं।

पुनः जहाँ-जहाँ रात्रि निवास किया और जहाँ-जहाँ कुछ ही काल विश्राम किया (ठहरे)

थे, श्रीसीताजी को वे सभी स्थान दिखा दिये और सबके नाम भी कहे। इस सम्बन्ध में भी 'कृपासिंधु' कहा गया है, क्योंकि जहाँ-जहाँ वास-विश्राम किया वहाँ-वहाँ के प्राणियों को कृतार्थ करने ही के लिये वैसा किया, जैसे कि श्रीशबरीजी के यहाँ कृपा करके ही रहे। श्रीसुग्रीवजी के निकट चार महीने कृपा करके ही रहे, क्योंकि वे नवीन राजा हुए थे; अतः, उनकी रक्षा करने की आवश्यकता थी।

तुरत बिमान तहाँ चलि आवा। दंडक बन जहँ परम सुहावा ॥१॥
कुंभजादि मुनिनायक नाना। गये राम सबके अस्थाना ॥२॥

अर्थ—विमान चलकर बड़ी शीघ्रता से वहाँ आ गया, जहाँ परम सुहावन दंडक वन है ॥१॥ अगस्त्यजी आदि अनेक मुनि श्रेष्ठ (वहाँ) रहते हैं, श्रीरामजी उन सबके आश्रमों में गये ॥२॥

विशेष—विमान बड़ी तेजी से चल रहा है जितनी देर में एक स्थान बतलाते हैं, वह वहाँ पहुँच जाता है। 'परम सुहावा'—पहले वह भयावन था, प्रभु के आने से ही पावन एवं सुहावन हो गया; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा।···गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाये।" (आ० दो० १३)।

सकल रिषिन्ह सन पाइ असीसा। चित्रकूट आये जगदीसा ॥३॥
तहँ करि मुनिन्ह केर संतोखा। चला बिमान तहाँ ते चोखा ॥४॥
बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलिमल-हरनि सोहाई ॥५॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता ॥६॥

अर्थ—सब ऋषियों से आशीर्वाद पाकर जगत्पति श्रीरामजी चित्रकूट आये ॥३॥ वहाँ मुनियों को संतुष्ट किया फिर वहाँ से विमान और अधिक वेग से चला ॥४॥ फिर श्रीरामजी ने श्रीजानकी को कलि के पापों को नाश करनेवाली सुन्दर यमुना दिखाई ॥५॥ फिर पवित्र श्रीगंगाजी को देखकर श्रीरामजी ने कहा हे सीते! (इन्हें) प्रणाम करो ॥६॥

विशेष—(१) 'राम कहा प्रनाम करु सीता।'—यह अंत में कहा गया है। अतः, इसे यमुना और गंगा, दोनों के साथ लगाना चाहिये। 'जमुना सुहाई'; यथा—"एषा सा यमुना रम्या दृश्यते चित्रकानना।" (वाल्मी० ६।१२३।५०), 'सुरसरी पुनीता; यथा—"इयं च दृश्यते गङ्गा पुण्या त्रिपथगानदी।" (वाल्मी० ६।१२३।५१)।

तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा ॥७॥
देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोक-निसेनी ॥८॥
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भवरोग नसावनि ॥९॥

अर्थ—फिर तीर्थराज प्रयाग को देखो जिसके दर्शनों से करोड़ों जन्म के पाप भाग जाते हैं ॥७॥

फिर परम पवित्र त्रिवेणी के दर्शन करो, जो शोकों को हरनेवाली और हरिलोक के मार्ग की सीढ़ी है ॥८॥ फिर अत्यन्त पावनी श्रीअवधपुरी के दर्शन करो, जो तीनों प्रकार के (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों और भव-रोगों का नाश करनेवाली है ॥९॥

विशेष—(१) 'निरखत'—देखने मात्र का यह फल है, तो स्पर्श एवं स्नान की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ? 'हरनि सोक हरिलोक निसेनी'—हरिलोक-प्राप्ति के बिना शोक का हरण नहीं होता, इसलिये 'हरनि सोक' के साथ 'हरिलोक निसेनी' भी कहा गया है ।

(२) यमुनाजी को 'कलिमल हरनि सोहाई ।'; गंगाजी को 'पुनीता'; प्रयाग राज को—'देखत जनम कोटि अघ भागा'; त्रिवेणी को 'परम पावनि' और 'हरनि सोक···' कहा और अंत में श्रीअवधपुरी को 'अति पावनि । त्रिविध ताप···'—कहा । इनमें उत्तरोत्तर एक से दूसरे की अधिकता कही गई है ।

दोहा—सीता-सहित अवध कहँ, कीन्ह कृपाल प्रनाम ।
सजल नयन तनु पुलकित, पुनि पुनि हरषित राम ॥
पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हरषित मज्जन कीन्ह ।
कपिन्ह सहित बिप्रन कहँ, दान बिबिध बिधि दीन्ह ॥११९॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी ने श्रीसीताजी के साथ श्रीअवधपुरी को प्रणाम किया, उनके नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया, वे बार-बार हर्षित हो रहे हैं ॥ फिर त्रिवेणी पर आकर प्रभु ने प्रसन्नता पूर्वक वानरों के साथ स्नान किया और वानरों के साथ ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान दिये ॥११९॥

विशेष—(१) 'अवध कहँ कीन्ह···'—जब श्रीअवध से चले थे, तब भी श्रीअवध को प्रणाम किया था, यथा—"चले हृदय अवधहि सिरनाई ।" (अ॰ दो॰ ८१); परन्तु वहाँ हार्दिक ही प्रणाम किया था, उसका भाव वहीं पर देखिये । अब यहाँ प्रत्यक्ष प्रणाम करते हैं, क्योंकि अब वह शंका नहीं है । वहाँ का 'चले हृदय···' उपक्रम है और यहाँ—'अवध कहँ···'—उसका उपसंहार है ।

श्रीअवधपुरी का महत्त्व ऊपर कहा गया है, वही समझकर प्रणाम किया । 'कृपाल'—श्रीअवध एवं उसके वासी-मात्र पर कृपा करके आ रहे हैं और उसका महत्त्व प्रकट कर रहे हैं, अतएव 'कृपाल' विशेषण कहा गया है । 'सजल नयन तनु ···'—श्रीअवधपुरी आपको अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि जन्म-भूमि है, उसे बहुत वर्षों के बाद देख रहे हैं, इससे प्रेम उमड़ पड़ा और ये सब दशाएँ हो रही हैं । साथ-ही श्रीभरतजी एवं पुरवासियों की दशा का भी स्मरण हो आया, इससे भी बार-बार पुलक एवं हर्ष हो रहा है ।

'सीता सहित'—क्योंकि विवाह-प्रतिष्ठा की रीति से वे सह धर्मचरी हैं । अतः, धर्म-कार्य में उन्हें साथ रहना ही चाहिये ।

(२) 'दान बिबिध बिधि दीन्ह'—रावण-वध पर्यंत ब्रह्मा के वचन सत्य करने के लिये अत्यन्त माधुर्य का नर-नाट्य करना आवश्यक था । उसके वध होते ही देवताओं ने और श्रीब्रह्मा ने भी स्वयं

आकर प्रकट रूप में पूर्ण ऐश्वर्य कहा है। अतः, ऐश्वर्य-दृष्टि से प्रभु ने अपने सत्यसंकल्प से विविध वस्तुओं को प्रकट करके स्वयं उनका दान किया और सखाओं से भी कराया। आगे हनुमानादि सब वानर वीरों का भी सत्य-संकल्प-गुण से मनोहर मनुष्य शरीर से श्रीअवध में रहना कहा जायगा।

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटु रूप अवधपुर जाई॥१॥
भरतहि कुसल हमारि सुनायहु। समाचार लै तुम्ह चलि आयहु॥२॥

अर्थ—प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी से समझाकर कहा कि ब्रह्मचारी का रूप धारण कर श्रीअवधपुर जा करके श्रीभरतजी से हमारी कुशल सुनाना और उनका समाचार लेकर तुम चले आना॥२॥

विशेष—(१) 'बुझाई'—पहले श्रृंगवेरपुर जाना और निषादराज को मेरा समाचार देना, फिर अवधि के भीतर ही श्रीअवधपुरी पहुँचकर श्रीभरतजी से मिलना और अरण्यकांड से यहाँ तक के समाचार कहना। पुनः यह भी कहना कि श्रीभरद्वाजजी के यहाँ और निषादराज के यहाँ से होते हुए ठीक अवधि पूरी होने पर हम वहाँ आवेंगे, यह सब श्रीभरतजी से कहना, इत्यादि सब बातें एक 'बुझाई' शब्द में आ गईं।

'धरि बटु रूप···'—अवधि पूरी हो रही है अभी तक श्रीभरतजी को मेरे आने का कोई समाचार नहीं मिला। अतः, वे व्याकुल होंगे। इसपर वानर का देख पड़ना अमंगल है, कहीं सहसा निराश होकर प्राण ही न छोड़ दें, अतएव मांगलिक बटु रूप से जाने को कहा। यह रूप मंगल शकुन भी है, देखते ही उन्हें धैर्य हो जायगा। फिर समाचार सुनकर प्रसन्न होंगे। श्रीहनुमान्‌जी इसी रूप से श्रीरामजी और श्रीविभीषणजी से मिले थे, दोनों स्थलों में इनकी वाक्-चातुरी श्रीरामजी देख-सुन चुके हैं, उस रूप से ये श्रीभरतजी को सब चरित सुना-समझाकर उन्हें धैर्य देंगे, इससे भी इसी रूप से जाने के लिये कहा।

(२) 'कुसल हमार'—'हमार' शब्द बहुवचन है, सखाओं को और श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ अपनी भी कुशल सुनाना जना दिया। 'कुसल' में अरण्यकांड से यहाँ तक के चरित कहने का भाव है। बटु रूप से जा रहे हैं। इससे यहाँ तक के चरित कहेंगे, वानर रूप से तो लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग तक के चरित संक्षेप में कह ही चुके हैं।

'समाचार लै'—माताओं, भाइयों एवं पुरवासियों की कुशल और मेरे लिये उनकी अभिलाषा आदि समाचार लेकर तुम चले आना, तब हम यहाँ से चलेंगे।

वाल्मी० ६।१२५।२-१८ में यह भी कहा गया है कि तुम बटु रूप से जाकर उनके हृदय के भाव जान लो, यदि अब उनका राज्य में मन लग गया हो, तो हम वहाँ नहीं जावें, इत्यादि। वे भाव भी यहाँ के 'बुझाई' और 'समाचार लै ··' में आ सकते हैं। परन्तु मानस के और प्रसंगों से यह बात नहीं मिलती, क्योंकि इसमें अयोध्याकांड के चित्रकूट दरबार के प्रसंग से भली भाँति निश्चय हो गया है कि श्रीभरतजी श्रीराम-प्रेम की मूर्त्ति ही हैं। पुनः अभी थोड़े ही दिन हुए लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में श्रीहनुमान्‌जी उनकी दशा देख भी आये हैं और प्रभु ने भी अभी ही कहा है—"बीते अवधि जाउ जौं जियत न पावउँ बीर। सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर॥" (दो॰ ११५)। अतः, उपर्युक्त भाव ही युक्ति संगत हैं।

तुरत पवन-सुत गवनत भयऊ। तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ॥३॥
नाना बिधि मुनि पूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्ही॥४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी शीघ्र चल दिये, तब वे प्रभु श्रीभरद्वाजजी के पास गये॥३॥ मुनि ने अनेक प्रकार से (प्रभु की) पूजा की और स्तुति करके फिर आशीर्वाद दिया॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत पवन-सुत···'—वायु-वेग से उड़े, इससे 'पवन सुत' विशेषण कहा गया है। यथा—"गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन्नुरगोत्तमम्॥" (वाल्मी॰ ६।१२५।२०), अर्थात् जैसे वेग से सर्पों को पकड़ने के लिये श्रीगरुड़जी दौड़ते हैं।

(२) 'नाना विधि'—षोड़शोपचार की एक-एक विधि में अनेकों प्रकार से पूजा की। इसमें अन्य ऋषियों के भी कहे हुए पूजन-विधान आ गये। ऐश्वर्य-दृष्टि से स्तुति की, इसपर जब श्रीरामजी को संकोच देखा, तब माधुर्य-दृष्टि से आशीर्वाद दिया।

वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरद्वाजजी ने रात भर रहने की प्रार्थना की है और फिर आशीर्वाद भी दिया कि यहाँ से श्रीअयोध्या जाने में मार्ग के सब वृक्ष अकाल मे भी फलवाले हो जायँ, वे फल अमृत के समान मीठे और अधिक हों। सब वृक्ष पुष्पित एवं हरे-भरे हो जायँ, सबों से मधु चूने लगे। सर्वत्र तीन योजन तक ऐसा ही हो गया। वानर सब खाने-पीने लगे—प्रसन्न हुए।

मुनि-पद बंदि जुगल कर जोरी। चढ़ि बिमान प्रभु चले बहोरी॥५॥
इहाँ निषाद सुना प्रभु आये। नाव नाव कहँ लोग बुलाये॥६॥

अर्थ—दोनों हाथ जोड़कर मुनि के चरणों की वंदना करके प्रभु फिर विमान पर चढ़कर चले॥५॥ घर निषादराज ने सुना कि प्रभु आ गये। 'नाव कहाँ है, नाव कहाँ है?' इस प्रकार कहते हुए उसने लोगों को बुलाया॥६॥

विशेष—(१) 'चढ़ि बिमान'—यहाँ पर उतर त्रिवेणी स्नान कर श्रीभरद्वाजजी से मिले। अब फिर विमान पर चढ़कर पूर्ववत् आकाश मार्ग से चले।

(२) 'निषाद सुना'—वाल्मीकीय रामायण में प्रभु ने ही श्रीहनुमान्‌जी से गुह को समाचार देते हुए श्रीअवध जाने को कहा है, उन्हीं से सुना, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु इसने यह नहीं सुना कि प्रभु विमान पर आते हैं, इसीसे 'नाव-नाव' कहकर पुकारा। हर्ष की आतुरता में 'नाव-नाव' ही कहा, 'नाव लाओ' नहीं कह सका।

वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरद्वाजजी के ही यहाँ आज की रात में प्रभु का निवास लिखा है, परन्तु मानस के कल्प में निषाद राज के यहाँ ही निवास किया गया है। इसका एक कारण तो दीन पर श्रीरामजी का अत्यन्त स्नेह है। भक्तमाल में यह भी लिखा है कि जब से निषादराज का प्रभु से वियोग हुआ, तब से उसने आँखों में पट्टी बाँध रक्खी थी कि लौटने पर प्रभु के दर्शनों के लिये ही आँखें खोलूँगा। यह सच्चा प्रेम देखकर भी प्रभु यहाँ आये। 'नाव-नाव' बुलाने से आँखें बंद रहने की भी संभावना हो सकती है, यदि आँखों से विमान देखता, तो क्यों नाव को बुलाता? इससे भक्तमाल की कथा से भी मेल हो जाता है।

दूसरा कारण यह है कि प्रभु ने यहीं से मुनि-वेष धारण कर पैदल वन की राह ली थी, इससे लौटते समय भी यहाँ निवास किया।

वाल्मीकीय रामायण में आज के निवास की तिथि पंचमी लिखी है।

सुरसरि नाँघि जान तब आयो। उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो ॥७॥
तब सीता पूजी सुरसरी। बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी ॥८॥

अर्थ—(तब तक) गंगाजी को लाँघकर विमान (इस पार) आ गया और प्रभु की आज्ञा पाकर तट पर उतरा ॥७॥ तब श्रीसीताजी ने बहुत प्रकार से गंगाजी की पूजा की और फिर बहुत तरह से चरणों पर पड़ीं ॥८॥

विशेष—(१) 'प्रभु आयसु पायो'—यह विमान चेतन था, इससे वचन सुनता था और मन की बातें भी जानता था। उ० दो० ४ में भी प्रभु की आज्ञा सुनकर इसका कुवेर के यहाँ जाना कहा गया है। 'उतरेउ तट'—क्योंकि श्रीजानकीजी ने सकुशल लौटने पर गंगाजी की पूजा करने की मनौती की थी; यथा--"सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥ पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥" (अ० दो० १०२); यह मनौती दक्षिण तट पर की गई थी, पर विधि है कि यदि सरस्वती नदी के अतिरिक्त और नदियों के पार जाना हो, तो उस पार उतरकर स्नान-पूजा आदि करनी चाहिये, इसलिये इस (उत्तर) तट पर आकर विमान उतारा गया।

(२) पतिव्रता पति के कल्याण के लिये ही अन्य देवताओं की पूजा कर सकती है। फिर यहाँ तो गंगाजी इनकी कुल की कन्या एवं मान्या भी हैं। वाल्मीकीय रामायण में यह पूजा अभी नहीं की गई, किन्तु इसीके बहाने सीता-त्याग का चरित दस हजार वर्ष पीछे किया गया है। यहाँ पर अभी ही पूजा लिखी गई, इसीसे इस ग्रन्थ में वह (सीता-त्याग) कथा भी उत्तर कांड में नहीं है। 'बहु प्रकार'—मन, वचन और कर्म से। 'चरनन्हि परी'—गंगाजी की मूर्ति का अनुसंधान कर पूजा की है, इसीसे चरण-पड़ना भी कहा है।

दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा ॥९॥
सुनत गुहा धायउ प्रेमाकुल। आयउ निकट परम सुख संकुल ॥१०॥

अर्थ—गंगाजी ने प्रसन्न होकर आशिष दी कि हे सुन्दरी! तुम्हारा सौभाग्य (सोहाग) अचल हो ॥९॥ (श्रीरामजी का इस तट पर उतरना) सुनते ही गुह प्रेमातुर होकर दौड़ा और परमानंद से परिपूर्ण वह प्रभु के निकट आया ॥१०॥

विशेष—(१) 'दीन्हि असीस' यह आशिष भी पहले की तरह ही है अ०दो० १०२ चौ० ४-८, दो० १०३ तक देखिये। 'हरषि मन'—क्योंकि जितना ही हर्षपूर्वक आशीर्वाद दिया जाता है, उतना ही अधिक वह प्रभावशाली भी होता है। हर्ष का यह भी भाव है कि इनका सुहाग तो अचल है ही अतएव मेरी बात सत्य ही होगी और मुझे यश भी होगा। सर्वेश्वरी होकर मुझे बड़ाई दे रही हैं, इससे भी हर्ष है।

(२) 'प्रेमाकुल'—क्योंकि १४ वर्ष पर यह मिल रहा है। 'परम सुख संकुल'—क्योंकि सुना है कि प्रभु बड़े प्रताप सहित देव-विमान पर चढ़कर आये हैं।

प्रभुहि सहित बिलोकि बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहि तेही ॥११॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई ॥१२॥

अर्थ—वैदेही श्रीजानकीजी के साथ प्रभु को देखकर वह पृथिवी पर पड गया (उसने साष्टाग दडवत् की) उसे शरीर को सुधि नहीं रह गई ॥११॥ उसकी परम प्रीति देखकर श्रीरघुनाथजी ने प्रसन्न होकर उसे हृदय से लगा लिया ॥१२॥

विशेष—'बिलोकि बैदेही'—से जान पडता है कि श्रीभरतजी के द्वारा इसे सीताहरण की सुधि भी मिल चुकी थी। 'परेउ अवनि · ' मे निषाद के प्रेम का स्वरूप कहा गया और 'हरषि उठाइ लियो ··' में श्रीरामजी का योग्य वर्त्ताव कहा गया है, यथा—"ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), इसका यहाँ चरितार्थ है। हर्ष इनका प्रेम देखकर हुआ, यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६), भूमि से उठाकर हृदय से लगाया। भाव यह कि तुम तो हमारे हृदय में बसते हो।

छंद—लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती ॥
अब कुसल पद-पंकज बिलोकि बिरंचि-संकर-सेव्य जे।
सुखधाम पूरन काम राम नमामि राम नमामि ते ॥
सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।
मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोहबस बिसराइयो ॥
यह रावनारि चरित्र पावन राम-पद-रति-प्रद सदा।
कामादि हर बिज्ञान कर सुर-सिद्ध-मुनि गावहिं मुदा ॥

अर्थ—कृपा के स्थान, सुजान शिरोमणि, रमापति श्रीरामजी ने निषादराज को हृदय से लगा लिया। फिर उसे अत्यन्त निकट बैठाकर कुशल पूछी, तब वह विनती करने लगा ॥ जो चरण कमल ब्रह्माजी और शिवजी से सेवित हैं, उनको देखकर अब मैं कुशल से हूँ। हे सुख धाम ! हे पूर्ण काम श्रीरामजी ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, अर्थात् बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ सब प्रकार से नीच उस निषाद को प्रभु श्रीरामजी ने भरतजी की तरह (सगे प्रिय भाई की तरह) हृदय से लगाया। श्रीतुलसीदासजी (अपने मन से) कहते हैं कि अरे मंद बुद्धि ! ऐसे प्रभु को मोहवश होकर तूने भुला दिया ॥ रावण के शत्रु श्रीरामजी का यह पावन चरित इन श्रीरामजी के चरणों में सदा प्रेम का देनेवाला है, काम आदि (शत्रुओं) का नाशक और विज्ञान का उत्पन्न करनेवाला है। देवता, सिद्ध और मुनि इसे प्रसन्नतापूर्वक गाते हैं ॥

विशेष—(१) 'लियो हृदय लाइ' का कारण 'कृपानिधान' पद से जनाया गया कि कृपा कर उस नीच को भी हृदय से लगाया। क्योंकि 'सुजान राय' हैं, यथा—"जानि सिरोमनि कोसल राऊ।"

(बा० दो० १७); इससे उसके हृदय की प्रीति को जानते हैं, इसी से 'रमापति' होते हुए भी अधम निषाद को उन्होंने हृदय से लगाया। 'परम समीप' बैठा कर अति आदर दिया।

(२) 'अब कुशल पद पंकज बिलोकि···'—का भाव यह है कि यदि अभी इन चरणों के दर्शन न होते, तो कुशल नहीं थी। भाव यह कि अवधि बीतते ही प्रान छूट जाते। यह भी जनाया कि आपके जाने से अभी तक कुशल नहीं थी। 'सुखधाम' हैं, इससे आपने आकर मुझे सुख दिया, 'पूरन काम' हैं इसीसे आकर मेरी कामना पूरी की। 'नमामि राम नमामि ते'—इसी पद से कांड के चरित की समाप्ति की, क्योंकि आगे ग्रंथकार की स्वकीय उक्ति है।

(३) 'सब भाँति अधम निषाद'; यथा -"लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥" (अ० दो० १९१); क्योंकि निषाद-जाति अन्त्यज है, इसके कर्म भी हिंसामय हैं। 'सो हरि भरत ज्यों···' अर्थात् निषाद राज और श्रीभरतजी के प्रति मिलने का वर्त्ताव समान है—

श्रीभरतजी—	*श्रीनिषादराज—*
भूतल परे लकुट की नाईं।	परेउ अवनि तनु सुधि नहिं तेही।
परम प्रेम पूरन दोउ भाई।	प्रीति परम बिलोकि···
बरबस लिये उठाइ···कृपानिधान।	हरषि उठाइ···लियो हृदय लाइ कृपानिधान।

यह चित्रकूट-भरत-मिलन से इसका मिलान है। ऐसे ही आगे उ० दो० ४ में भी मिलान हो सकता है। और भी कहा गया है; यथा—"तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।" (उ० दो० १९)। 'भरत ज्यों' कहकर इसके प्रेम की बड़ाई भी की। 'मति मंद' कहा है, क्योंकि कहाँ तो प्रभु ब्रह्मादि सेव्य हैं और कहाँ इतने सुलभ भी कि निषाद को भी हृदय लगाते हैं, उन्हें भी तू मोहवश भूल गया है।

(४) 'कामादिहर बिज्ञानकर'—'कामादिहर' कहकर 'बिज्ञानकर'- कहा है, क्योंकि कामादि ज्ञान आदि के शत्रु हैं; यथा—"ज्ञानिनो नित्य वैरिणा। काम रूपेण······" (गीता ३।३९); "भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥" (सुं० मं० श्लो०); अर्थात् हृदय मे कामादि के रहते भक्ति सिद्ध नहीं होती।

यहाँ सुर-सिद्ध-मुनि तीन गानेवाले हैं। अतः, तीन ही फल भी कहे गये हैं—'कामादिहर', 'राम-पद-रति-प्रद', बिज्ञानकर' क्रम से जानना चाहिये। सुर विषयी होते हैं; यथा—"इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई॥" (उ० दो० ११७); अतः उनके लिये 'कामादिहर' कहा है। सिद्धों के लिये 'राम-पद-रति-प्रद' और मुनियों के लिये 'बिज्ञानकर' कहा गया है। इन्हीं गुणों के लिये ये तीनों गाते और आनंदित होते हैं।

(५) 'रावनारि·····' से लंकाकांड-भर का माहात्म्य कहा गया, चरित का महत्व भी जनाया कि जिसे विष्णु-शिव आदि भी न मार सके, उसे श्रीरामजी ने मारा है।

दोहा—समर बिजय रघुबीर के, चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय बिवेक बिभूति नित, तिन्हहिं देहिं भगवान॥

यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि, नाहिन आन अधार ॥१२०॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलविज्ञान सम्पादनो नाम
षष्ठः सोपानः समाप्तः ॐ

अर्थ—जो प्रवीण लोग रघुवीर के रण (सम्बन्धी) विजय-चरित सुनते हैं। उन्हें भगवान् श्रीरामजी सदा एवं नित्य (अविनाशी) विजय, विवेक और ऐश्वर्य देते हैं ॥ हे मन ! विचारकर देख, यह कलिकाल पापों का घर है। इसमें श्रीरघुनाथजी का नाम छोड़कर (जीवों के लिये) और कोई आधार इससे बचने का नहीं है ॥१२०॥ इस तरह कलि के समस्त पापों का नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानस में विमलविज्ञान संपादन करनेवाला यह छठा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) ऊपर छंद में और वक्ताओं की इतिश्री कहकर यहाँ से मुख्यतः अपने घाट की इति लगाते हुए फल कहते हैं। 'विजय'; 'विवेक' और 'विभूति' तीन हैं, ये तीन अधिकारियों को प्राप्त होते हैं, विषयी को विभूति, साधकों को विवेक और सिद्धों को भक्ति द्वारा संसार शत्रु से विजय प्राप्त होती हैं ; यथा—"विरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि ॥" (उ० दो० १२०) ; अथवा विवेक के द्वारा मोहमय संसार पर विजय प्राप्त करके जीव नित्य विभूति को प्राप्त होता है।

(२) 'नित' का भाव यह है कि कामादि से जीव का समर नित्य होता रहता है, चरित को नित्य सुनने से नित्य (अविनाशी) विजय प्राप्त होती रहेगी और अंत में नित्य विभूति को प्राप्त होगा।

वाल्मी० ६।१२८। १२१–१२२ में भी इस कांड का फल ऐसा ही कहा गया है।

(३) 'यह कलिकाल'—यहाँ ग्रंथकार अपने वर्तमान युग के लिये अंगुल्यानिर्देश करके कहते हैं। 'नहिं कछु आन अधार' ; यथा—"येहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप व्रत पूजा ॥" (उ० दो० १२६), 'रघुनाथ नाम'; यथा—"तद्रघुनाथ नाम निरतं" (उ० दो० १३०) ; अर्थात् राम नाम। पहले दोहे में चरित का माहात्म्य और इस दोहे में नाम का माहात्म्य कहा गया है। भाव यह है कि चरित के पठन-श्रवन करते हुए नाम जपना चाहिये।

इस कांड का प्रारंभ भी नाम-माहात्म्य से हुआ है; यथा - "नाथ नाम तव सेतु······" और यहाँ 'श्रीरघुनाथ नाम······' पर इसकी समाप्ति भी कही गई है। भाव यह कि परमार्थ-साधन का यही एक मात्र उपाय है ; यथा—"कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना।······नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥" (उ० दो० १०२)।

पुनः यह सोपान विज्ञान-प्रापक है, आगे कहते हैं, उसका साधन नाम ही है ; यथा—"ज्ञान मार्ग च नामत " (रामतापनीय उ०)।
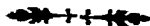
श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक-सहित)

सप्तम सोपान (उत्तरकाण्ड)

केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुनासेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥१॥

अर्थ—मोर के कंठ की आभा (कान्ति) के समान (हरिताभ) नील वर्ण, देवताओं में श्रेष्ठ, विप्र (भृगुजी) के चरण-कमल के चिह्न से सुशोभित, शोभा से पूर्ण, पीताम्बर धारण किये हुए, कमल के *समान नेत्रवाले, सदैव अत्यन्त प्रसन्न, दोनों हाथों में नाराच बाण और धनुष (दाहिने हाथ में बाण और* बायें में धनुष) धारण किये हुए, वानर समूह के साथ, भाई श्रीलक्ष्मणजी से सेवित, स्तुति किये जाने योग्य, श्रीजानकीजी के पति, रघुकुल में श्रेष्ठ, पुष्पक विमान पर सवार श्रीरामजी को मैं निरंतर नमस्कार करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) यह स्रग्धरावृत्त है, लं० मं० श्लोक १ देखिये । इसमें 'केकिकण्ठ' की जगह 'केकीकण्ठ' शुद्ध होता ; क्योंकि यह स्रग्धरा वृत्त है, इसके आदि में मगण पड़ना ही चाहिये, जो उत्तम गण है । पहले के छहों कांडों के आदि के श्लोकों में पड़ता आया है । उसी की दृष्टि से ऐसा लिखा गया है । नहीं तो भाषा में भी इसका शुद्ध प्रयोग हुआ है ; यथा—"केकि कंठ दुति श्यामल अंगा ।" (बा० दो० ३१५); छन्द की दृष्टि से ऐसा करने का नियम भी है; यथा—"अपिमाषं मषं कुर्याच्छन्दो भङ्गं न कारयेत् ।"

मगण का देवता पृथिवी है, जो श्री देनेवाली है । यहाँ श्रीरामजी को भी राज्यश्री का लाभ होना है; यह सूचित किया गया ।

यहाँ पुष्पकारूढ श्रीरामजी का ध्यान है, क्योंकि अभी प्रभु उसी पर आ रहे हैं। आगे श्लोक में 'कोशलेन्द्र' पद से राज्य सिंहासनासीन रूप का ध्यान करेंगे।

(२) 'सुरवर' का भाव यह कि आप मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत् ब्रह्मादि देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं, यथा—"अवधेस सुरेस रमेस विभो" (दो० १४), "मायातीत सुरेश देवसुरीश रूप" (ल० म०), 'सुरवर' के साथ ही 'विप्रपादाब्जचिह्न' कहने का भाव यह है कि भृगु परीक्षा से आप देवताओं में श्रेष्ठ कहे गये हैं, यह चिह्न इसे प्रमाणित करता है। 'निलसत्', यथा—"विप्र चरन देखत मन लोभा" (बा० दो० १९८), "उर धरासुर-पद लस्यो" (ल० दो० ८५), इससे क्षमा, सौशील्य और सौलभ्य गुण प्रकट होता है। एव हृदय की कोमलता भी प्रकट होती है, यथा—"उर निसाल भृगु चिह्न चारु अति सूचत कोमलताई।" (वि० ६२), इससे श्रीरामजी को ब्रह्मण्यदेव भी सूचित किया। 'शोभाढ्य पीतवस्त्र', यथा—"तड़ित निनिंदक बसन सुरगा।" (बा० दो० ३१५), 'सर्वदा सुप्रसन्न', यथा—"जय राम सदा सुख धाम हरे।" (ल० दो० १०१), यहाँ तक कि वन-यात्रा के समय भी "मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।" कहा गया है। इससे यह भी सूचित किया गया कि आप ब्रह्म हैं, क्योंकि जीव का आनद सदा एक रस नहीं रहता। 'ईड्य' का भाव यह कि ब्रह्मा आदि देवता, वेद और गुरु श्रीवसिष्ठजी भी इस काड में आपकी स्तुति करेंगे। 'जानकीश' से श्रीजानकीजी का साथ होना भी सूचित किया गया।

प्रश्न—इस काड का उत्तरकांड क्यों नाम पड़ा ?

उत्तर—(क) अयोध्याकाड के राज्य तिलक की तैयारी तक चरित का एक भाग है, वह पूर्व चरित है। पुन वन और रण की लीला करके राज्य पर विराजमान होने के पीछे के चरित उत्तर चरित हैं। (ख) महर्षिजी ने जो नियम कर दिया उसे सभी चरित रचयिताओं ने माना है। अत, सातवें काड का यही नाम रक्खा है, यही ग्रथकार ने भी कहा है, यथा—"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" (बा० दो० १२), अत, इनके मानस का भी सातवाँ सोपान उत्तरकांड कहा जाता है।

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ　कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ　चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥२॥

अर्थ—कोशलपुरी के श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामजी के सुन्दर और कोमल दोनों चरण-कमल श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी से वदित हैं। श्रीजानकीजी के कर कमलों से दुलराये हुए हैं और चिंतन करनेवालों के मन रूपी भ्रमरों के (सदा) साथी हैं (अर्थात् ध्यान करनेवालों के हृदय से नहीं जाते, उन्हें सुखी किया करते हैं। अत, मेरा मन भी भ्रमर की तरह लगा रहे) ॥२॥

विशेष—(१) यह रथोद्धतावृत्त है, इसके प्रत्येक चरण में ११–११ वर्ण होते हैं और क्रमश र, न, र, लघु, गुरु (SIS, III, SIS, I, S) गण पड़ते हैं। ऊपर के 'केकीकण्ठाभ' की तरह इसमें भी छदोभग बचाने के लिये 'मनोभृङ्ग' शुद्ध शब्द को छोड़कर 'मनभृङ्ग' रक्खा गया है।

ऊपर के श्लोक में रूप की वदना है, 'नौमि' से नमस्कारात्मक मगलाचरण है और इस श्लोक के आदि में ही 'कोशलेन्द्र' पद देकर इसे 'वस्तु निर्देशात्मक मगलाचरण' सूचित किया गया है, इसमें प्रभु के चरणों की वदना है।

(२) 'मञ्जुलौ', 'वन्दितौ' 'लालितौ', और 'चिन्तकस्य मनभृङ्ग सङ्गिनौ' से क्रमशः स्मरण, प्रणाम, भजन (सेवन) और ध्यान करने के योग्य सूचित किया गया है। इस तरह यहाँ इन चरणों के आराधन का प्रकार कहा गया है। बा० मं० श्लोक ६—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।" में इस आराधना का फल कहा गया है कि इससे भव पार हो जाओगे। बस, ग्रंथ के आदि और अंत के ही सोपानों में चरण-वंदना है, बीच में नहीं, इससे इन्हें उपक्रम और उपसंहार भी जनाया है।

इस श्लोक के चारों चरणों में चार क्रियाएँ—स्मरामि, वन्दे, भजामि और चिन्तयामि—निकलती हैं। उनको क्रम से लगाकर अर्थ करना चाहिये। ध्वनि से ही क्रियाएँ सूचित की गई हैं। कोई-कोई अंत में 'नौमि' क्रिया का अध्याहार करके भी अर्थ करते हैं।

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीक कलकञ्जलोचनं नौमिशङ्करमनङ्गमोचनम्॥३॥

अर्थ—कुंद के फूल, चन्द्रमा और शंख के समान सुन्दर गौरवर्ण, जगज्जननी श्रीपार्वतीजी के पति, वांछित फल देनेवाले, दीनों पर दया करनेवाले, सुन्दर कमल के समान नेत्रवाले, काम (के मद को एवं उसके फंद से आश्रितों को) छुड़ानेवाले और कल्याणकरनेवाले श्रीशिवजी को मैं नमस्कार करता हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं'—इसपर—"कुन्द इन्दु सम देह..." (बा० मं०) तथा—"कुंदु इंदु दर गौर सरीरा।" (बा० दो० १०५)—देखिये। 'गौर' के साथ 'सुन्दर' शब्द देकर जनाया गया कि वर्ण भी अच्छा है और सर्वांग सुठौर एवं शोभा सम्पन्न हैं। पुनः यह भी भाव है कि केवल श्वेत वर्ण ही नहीं; किन्तु कुछ ललाई लिये हुए गौर वर्ण हैं, इससे सुंदर हैं। 'अम्बिका पतिं' से श्रीपार्वतीजी को जगन्माता और श्रीशिवजी को जगत्-पिता सूचित किया। इस नाते से सबके अभीष्ट की सिद्धि देते हैं, अर्थात् अभिलाषा करने से भी दुःखद वस्तु नहीं देते, क्योंकि सबपर वात्सल्य हैं।

(२) 'कारुणीक' कहकर 'कल कंज लोचनं, कहने का भाव यह है कि करुणा आँखों से प्रकट होती है; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं० दो० ११); तथा—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥" (आ० दो० ८); करुणा के सम्बन्ध से आँखों को 'कल' सुन्दर विशेषण दिया गया। यह भी जनाया कि जैसे-जैसे देते हैं, वैसे-वैसे हर्ष से उनके नेत्र प्रफुल्लित होते हैं। करुणा आनेपर शीघ्र आश्रित का दुःख नाश कर उसका कल्याण किया जाता है। इससे फिर 'शङ्कर' भी कहा है—शं=कल्याण, कर=करनेवाले। पुनः काम के रहते हुए सुख एवं कल्याण नहीं होता; यथा—"काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।" (उ दो० ८०); इससे 'अनङ्ग मोचनं' भी कहा है कि श्रीशिवजी अपने आश्रितों को काम से बचाते हैं; यथा—"कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान॥ करि कृपा हरिय भ्रमफंदकाम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम॥" (वि० १४); इसका यह भी भाव है कि श्रीशिवजी स्वयं काम का मद मोचन किये हुए हैं; इससे इनका हृदय शुद्ध है जिससे सदा श्रीरामजी उसमें बसते हैं; यथा—"शंकर-हृदि-पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक, निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई॥" (गी० उ० ३)।

यहाँ पुष्पकारूढ़ श्रीरामजी का ध्यान है, क्योंकि अभी प्रभु उसी पर आ रहे हैं। आगे श्लोक में 'कोशलेन्द्र' पद से राज्य सिंहासनासीन रूप का ध्यान करेंगे।

(२) 'सुरवर' का भाव यह कि आप मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत् ब्रह्मादि देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं; यथा—"अवधेस सुरेस रमेस विभो" (दो॰ १२); "मायातीतं सुरेशं···देवमुर्वीश रूपं" (लं॰ मं॰); 'सुरवर' के साथ ही 'विप्रपादाब्जचिह्न' कहने का भाव यह है कि भृगु-परीक्षा से आप देवताओं में श्रेष्ठ कहे गये हैं, वह चिह्न इसे प्रमाणित करता है। 'विलसत्'; यथा—"विप्र चरन देखत मन लोभा" (बा॰ दो॰ १४८); "उर धरासुर-पद लस्यो" (लं॰ दो॰ ८५); इससे क्षमा, सौशील्य और सौलभ्य गुण प्रकट होता है। एवं हृदय की कोमलता भी प्रकट होती है; यथा—"उर विसाल भृगु चिह्न चारु अति सूचत कोमलताई।" (वि॰ ६२); इससे श्रीरामजी को ब्रह्मण्यदेव भी सूचित किया। 'शोभाढ्यं पीतवस्त्रं'; यथा—"तड़ित विनिंदक बसन सुरंगा।" (बा॰ दो॰ ११५); 'सर्वदा सुप्रसन्नं'; यथा—"जय राम सदा सुख धाम हरे।" (लं॰ दो॰ १०१); यहाँ तक कि वन-यात्रा के समय भी "मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।" कहा गया है। इससे यह भी सूचित किया गया कि आप ब्रह्म हैं, क्योंकि जीव का आनंद सदा एक रस नहीं रहता। 'ईड्यं' का भाव यह कि ब्रह्मा आदि देवता, वेद और गुरु श्रीवसिष्ठजी भी इस कांड में आपकी स्तुति करेंगे। 'जानकीशं' से श्रीजानकीजी का साथ होना भी सूचित किया गया।

प्रश्न—इस कांड का उत्तरकांड क्यों नाम पड़ा?

उत्तर—(क) अयोध्याकांड के राज्य-तिलक की तैयारी तक चरित का एक भाग है, वह पूर्व चरित है। पुनः वन और रण की लीला करके राज्य पर विराजमान होने के पीछे के चरित उत्तर चरित हैं। (ख) महर्षिजी ने जो नियम कर दिया उसे सभी चरित-रचयिताओं ने माना है। अतः, सातवें कांड का यही नाम रक्खा है, यही ग्रंथकार ने भी कहा है; यथा—"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" (बा॰ दो॰ १२), अतः, इनके मानस का भी सातवाँ सोपान उत्तरकांड कहा जाता है।

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ॥२॥

अर्थ—कोशलपुरी के श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामजी के सुन्दर और कोमल दोनों चरण-कमल श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी से वंदित हैं। श्रीजानकीजी के कर-कमलों से दुलराये हुए हैं और चिंतन करनेवालों के मन रूपी भ्रमरों के (सदा) साथी हैं (अर्थात् ध्यान करनेवालों के हृदय से नहीं जाते, उन्हें सुखी किया करते हैं। अतः, मेरा मन भी भ्रमर की तरह लगा रहे)॥२॥

विशेष—(१) यह रथोद्धतावृत्त है, इसके प्रत्येक चरण में ११-११ वर्ण होते हैं और क्रमशः र, न, र, लघु, गुरु (SIS, III, SIS, I, S) गण पड़ते हैं। ऊपर के 'केकीकण्ठाभ' की तरह इसमें भी छंदोभंग बचाने के लिये 'मनोभृङ्ग' शुद्ध शब्द को छोड़कर 'मनभृङ्ग' रक्खा गया है।

ऊपर के श्लोक में रूप की वंदना है, 'नौमि' से नमस्कारात्मक मंगलाचरण है और इस श्लोक के आदि में ही 'कोशलेन्द्र' पद देकर इसे "वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण" सूचित किया गया है, इसमें प्रभु के चरणों की वंदना है।

(२) 'मञ्जुलौ', 'वन्दितौ' 'लालितौ', और 'चिन्तकस्य मनभृङ्ग सङ्गिनौ' से क्रमशः स्मरण, प्रणाम, भजन (सेवन) और ध्यान करने के योग्य सूचित किया गया है। इस तरह यहाँ इन चरणों के आराधन का प्रकार कहा गया है। बा० मं० श्लोक ६—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।" में इस आराधना का फल कहा गया है कि इससे भव पार हो जाओगे। बस, ग्रंथ के आदि और अंत के ही सोपानों में चरण-वंदना है, बीच में नहीं, इससे इन्हें उपक्रम और उपसंहार भी जनाया है।

इस श्लोक के चारों चरणों में चार क्रियाएँ—स्मरामि, वन्दे, भजामि और चिन्तयामि—निकलती हैं। उनको क्रम से लगाकर अर्थ करना चाहिये। ध्वनि से ही क्रियाएँ सूचित की गई हैं। कोई-कोई अंत में 'नौमि' क्रिया का अध्याहार करके भी अर्थ करते हैं।

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीक कलकञ्जलोचनं नौमिशङ्करमनङ्गमोचनम्॥३॥

अर्थ—कुंद के फूल, चन्द्रमा और शंख के समान सुन्दर गौरवर्ण, जगज्जननी श्रीपार्वतीजी के पति, वांछित फल देनेवाले, दीनों पर दया करनेवाले, सुन्दर कमल के समान नेत्रवाले, काम (के मद को एवं उसके फंद से आश्रितों को) छुड़ानेवाले और कल्याणकरनेवाले श्रीशिवजी को मैं नमस्कार करता हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं'—इसपर—"कुन्द इन्दु सम देह..." (बा० मं०) तथा—"कुंदु इंदु दर गौर सरीरा।" (बा० दो० १०५)—देखिये। 'गौर' के साथ 'सुन्दर' शब्द देकर जनाया गया कि वर्ण भी अच्छा है और सर्वांग सुठौर एवं शोभा सम्पन्न हैं। पुनः यह भी भाव है कि केवल श्वेत वर्ण ही नहीं; किन्तु कुछ ललाई लिये हुए गौर वर्ण हैं, इससे सुंदर हैं। 'अम्बिका पतिं' से श्रीपार्वतीजी को जगन्माता और श्रीशिवजी को जगत्-पिता सूचित किया। इस नाते से सबके अभीष्ट की सिद्धि देते हैं, अर्थात् अभिलाषा करने से भी दुःखद वस्तु नहीं देते, क्योंकि सबपर वात्सल्य हैं।

(२) 'कारुणीक' कहकर 'कल कंज लोचनं, कहने का भाव यह है कि करुणा आँखों से प्रकट होती है; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं० दो० ११) ; तथा—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥" (आ० दो० ८); करुणा के सम्बन्ध से आँखों को 'कल' सुन्दर विशेषण दिया गया। यह भी जनाया कि जैसे-जैसे देते हैं, वैसे-वैसे हर्ष से उनके नेत्र प्रफुल्लित होते हैं। करुणा आनेपर शीघ्र आश्रित का दुःख नाश कर उसका कल्याण किया जाताहै। इससे फिर 'शङ्कर' भी कहा है—शं=कल्याण, कर=करनेवाले। पुनः काम के रहते हुए सुख एवं कल्याण नहीं होता; यथा—"काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।" (उ दो० ८१); इससे 'अनङ्ग मोचनं' भी कहा है कि श्रीशिवजी अपने आश्रितों को काम से बचाते हैं; यथा—"कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान॥ करि कृपा हरिय भ्रमफंदकाम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम॥" (वि० १४); इसका यह भी भाव है कि श्रीशिवजी स्वयं काम का मद मोचन किये हुए हैं; इससे इनका हृदय शुद्ध है जिससे सदा श्रीरामजी उसमें बसते हैं; यथा—"शंकर-हृदि-पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक, निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई॥" (गी० उ० ३)।

तीन श्लोकों में मंगला चरण किया, क्योंकि इस समय श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी तीनों विमान पर आ रहे हैं। इसपर आ० मं० भी देखिये।

"जेहि विधि राम नगर निज आये"—प्रकरण

दोहा—रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुरलोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारि नर, कृसतनु राम बियोग॥

शब्दार्थ—अवधि = १४ वर्ष का नियत समय। आरत = अत्यन्त जी लगा हुआ, बेचैन।

अर्थ—नगर के लोग अत्यन्त बेचैन (व्याकुल) हो रहे हैं, श्रीरामजी के वियोग में दुर्बल शरीर से स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ (एकत्र होकर) सोच रहे हैं कि अब अवधि का एक ही दिन शेष रह गया है॥

विशेष—(१) 'रहा एक दिन अवधि कर'—श्रीवाल्मीकिजी के मत से भूषण आदि टीकाकारों ने बहुत तरह से तिथियों पर विचार किया है। पर मानस के प्रकरण से वे सब नहीं मिलते। क्योंकि इसमें चार कल्पों की कथाएँ एक साथ चल रही हैं। इसी से सब तिथियों का मेल नहीं देखकर ग्रन्थकार ने किसी चरित की तिथि का उल्लेख नहीं किया, केवल राम-जन्म तिथि निर्विवाद है अतएव चैत्र शु० ६ स्पष्ट लिखा है। वाल्मीकीय रामायण में राम-रावण युद्ध दो महीने में होना पाया जाता है और मानस में एक ही महीने की अवधि में हुआ है। इससे इस विषय में ग्रंथकार ने केवल अवधि में एक दिन शेष रह जाना-मात्र लिखा है, महीना और तिथि चाहे जो हों।

'अति आरत पुरलोग'—अवधि की ही आशा से जी रहे थे; यथा—"विषम वियोग न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥" (अ० दो० ८५); अवधि बीतने पर अवश्य आवेंगे, इन्हें यह आशा थी, परन्तु अभी तक प्रभु का कुछ पता नहीं। प्रयाग राज तक एवं निषादराज के यहाँ तक भी आये होते, तो निषादराज के द्वारा समाचार आया होता; अब कल कैसे आ सकते हैं? अतएव आने में संदेह होने से अत्यन्त व्याकुल हो गये कि अब अवधि बीतने पर भी नहीं आवेंगे और हमें प्राण छोड़ने ही होंगे। बिना श्रीरामजी के हम लोग जी नहीं सकते; यथा—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुना-कर धरम धुरीना॥" (अ० दो० ५६); इसी से 'अति आरत' हैं; यथा—"सखि हमरे अति आरति ताते। कबहुँक ये आवहिं येहि नाते॥" (बा० दो० २२१)।

(२) 'जहँ तहँ सोचहिं नारि नर'—जो जहाँ हैं वहीं शोच कर रहे हैं, क्योंकि कहीं चलने-फिरने की शक्ति रह नहीं गई कि किसी से जाकर अपने हृदय के दुःख सुनावें। सोचते हैं कि कोई कारण अवश्य हो गया। अवधि की ही आश पर चलते-फिरते थे, अब वह भी बीती जा रही है।

'कृस तनु राम वियोग'—शरीर ऐसा दुबला हो गया है कि अब वह अधिक दुःख नहीं सह सकता, छूटना ही चाहता है। इस दशा पर इनकी प्राण-रक्षा के लिये शकुन होने लगे—

सगुन होहिं सुंदर सकल, मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगवन जनाव जनु, नगर रम्य चहुँ फेर॥

अर्थ—अब सुंदर शकुन हो रहे हैं, सबके मन प्रसन्न हैं, नगर चारों ओर रमणीक हो गया है; मानों सब शकुन प्रभु के आगमन को सूचित कर रहे हैं (पुरवासियों के मन में ऐसा स्फुरण होता है कि आज प्रभु आवेंगे)।

विशेष—(१) 'सगुन होहिं सुंदर सकल' ये सब बाहर के शकुन हैं, जैसे कि सुभग अंगों का फड़कना एवं जो अन्य जीवों के द्वारा होते हैं। वे देखने और सुनने से जाने जाते हैं। 'मन प्रसन्न सब केर'—ये भीतर के शकुन हैं, मन का हर्ष कार्य-सिद्धि का द्योतक है; यथा—"होइहि काज मोहि हरप बिसेपी" (सुं॰ दो॰ १); पहले मन में शोच था, अब हर्ष हो रहा है।

(२) 'प्रभु आगवन जनाव जनु'—ऐसे-ऐसे शकुन हुए कि जिनसे प्रभु के आगमन की प्रतीति होती है; यथा—"राम सीय तनु सगुन जनाये। फरकहिं मंगल अंग सुहाये॥ पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥" (अ॰ दो॰ ६); यहाँ अंग फड़कने का शकुन नहीं कहा गया; क्योंकि आगे उसे श्रीभरतजी के लिये कहना है।

'नगर रम्य चहुँ फेर'— चारों ओर रमणीकता का अनुभव होता है कि जो जहाँ हैं वहीं से देखकर धैर्य धारण करें, क्योंकि सब कृश तनु हैं, इससे जहाँ के तहाँ पड़े हैं। यही नगर पहले राम-वियोग में भयानक लगता था; यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥" (अ॰ दो॰ ८१); अब प्रभु के संयोग की संभावना से रम्य हो गया; यथा—"अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी॥" (दो॰ २)।

कौसल्यादि मातु सब, मन अनंद अस होइ।
आयउ प्रभु श्रीअनुज-जुत, कहन चहत अब कोइ॥

अर्थ—श्रीकौशल्या आदि सभी माताओं के मन में ऐसा आनंद हो रहा है कि अब कोई ऐसा कहना ही चाहता है—'प्रभु श्रीरामजी श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ आ गये'।

विशेष—(१) 'कौसल्यादि मातु' कहने का भाव यह है कि सब माताओं की व्यवस्था श्रीकौशल्याजी के समान है। 'मन अनंद अस'—यह बाहरी शकुनों से श्रेष्ठ है। ऊपर पुरजनों को भी हुआ; यथा—'मन प्रसन्न सब केर' यहाँ भी—'मन अनंद...' और आगे श्रीभरतजी के प्रति भी—'मन हरप अति' कहा गया है।

(२) 'आयउ प्रभु...'—'प्रभु' शब्द कहनेवाले का है, श्रीकौशल्या आदि की मनोभावना नहीं है, उनके तो श्रीरामजी बालक हैं। 'श्रीअनुज-जुत'—क्योंकि श्रीसीताजी का हरण और श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति-लगने का प्रसंग सुन चुकी हैं। इससे सबकी अभिलाषा यही है कि वे दोनों साथ-साथ आवें। वैसा ही मन का उत्साह हो रहा है कि कोई आकर कहना ही चाहता है कि—'आयउ प्रभु...' इनका मनोभिलाप अभी हीसिद्ध होगा, श्रीहनुमान्जी आकर श्रीभरतजी से ऐसा ही कहेंगे— 'आयउ कुसल देव मुनि त्राता।...सीता सहित अनुज प्रभु आवत।" (दो॰ १)।

इस प्रसंग पर—"क्षेमकरी बलि बोलि सुबानी।" (गी॰ लं॰ १०) पद पढ़ने योग्य है।

भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन बिचार॥

अर्थ—श्रीभरतजी के दक्षिण नेत्र और दक्षिण भुजा (ये दोनों) बार-बार फड़कते हैं, (इन्हें) शकुन जानकर उनके मन में अत्यन्त आनन्द हुआ, तब वे विचार करने लगे॥

विशेष—'फरकत बारहिं बार'—श्रीभरतजी श्रीराम-विरह में अत्यन्त डूबे हुए हैं; इसीसे उन्होंने बार-बार अंग फड़कने से शकुन माना। नेत्र और भुजा ये दोनों ही फड़के, क्योंकि ये प्रभु की पाँवरी-पूजा में लगे हुए हैं, उसमें विघ्न पड़ने से मन शकुनों की ओर जायगा। ये प्रिय-मिलाप के ही सूचक हैं; ऊपर प्रमाण लिखा गया, इसीसे ये ही शकुन हुए।

पहले शकुनों से प्रभु के आने की आशा हुई, पर अभी तक कोई समाचार नहीं मिला, जिससे पूरी आशा की जाय, इससे फिर विचार करने लगे।

यहाँ क्रमश: अधिक सुख कहा गया—पुरवासियों का हर्ष—'मन प्रसन्न' विषाद के पीछे कहा गया, माताओं का आनन्द मात्र 'मन अनंद अस' कहा गया, क्योंकि इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है। और श्रीभरतजी को 'मन हरष अति' कहा गया है।

इन सबके आनंद प्राप्ति के इस क्रम के कारण—(क) पहले पुरजनों को वनवास की सूचना मिली थी, तब माताओं को और पीछे श्रीभरतजी को; यथा—"नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।···" (अ० दो० ४५)—पुरवासी। "सहमि सूखि सुनि सीतल बानी।" (अ० दो० ५३)—श्रीकौशल्याजी। "भरतहि बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौन।" (अ० दो० १६०)—श्रीभरतजी। (ख) उत्तरोत्तर प्रेम की अधिकता के कारण भी इस क्रम से वर्णन हुआ है।

रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥१॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥२॥

अर्थ—(प्राणों का) आधार अवधि का अन्त एक ही दिन रह गया, यह समझते ही मन में अपार दुःख हुआ॥१॥ किस कारण से स्वामी नहीं आये? क्या उन्होंने मुझे कुटिल जानकर भुला तो नहीं दिया?॥२॥

विशेष—(१) 'अधारा' का भाव यह है कि बस, यही एक दिन जीवन का आधार और है इसके आगे नहीं जी सकते, आगे कहते ही हैं, यथा—"बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कौन जग मोहि समाना॥" पहले हर्ष हुआ फिर जब विचार करने लगे कि शकुनों वाली बात अनुमान की है। अतः, प्रत्यक्ष की अपेक्षा निर्बल है। प्रत्यक्ष तो यह बात है कि निषादराज के यहाँ तक अथवा प्रयाग राज एवं श्रीचित्रकूट तक भी आये होते, तो निषादराज समाचार पहुँचाते। यदि उनसे आगे होंगे, तो अवधि के भीतर नहीं आ सकेंगे, फिर कैसे प्रतीति की जाय कि मेरे प्राण रहेंगे। यह समझकर मन में अपार दुख हुआ, फिर 'समुझत' के और भी हेतु कहते हैं—

(क) यदि मैं अवधि बिताकर भी जीता रहा; तो भ्रष्ट-प्रतिज्ञ होऊँगा और पिताजीने, पुरवासियोंने

एवं प्रभु ने जो मेरी प्रशंसा की, उन सभी के वचन झूठे हो जायँगे। (ख) यदि प्राण छोड़ दिये और स्वामी आये, तो उन्हें अपने पिछड़ने का पश्चात्ताप होगा। अतः, क्या कारण है ? वही आगे कहते हैं —

(२) 'कारन कवन नाथ नहि आयउ।'—कई कारणों का अनुमान होता है। 'नाथ' शब्द से सूचित करते हैं कि मेरी प्रार्थना पर आपने कहा था कि मैं ठीक अवधि पर आऊँगा ; यथा—"तथेति च प्रतिज्ञाय।" (वाल्मी० २।११२।२६) 'नाथृ-याचने' धातु से नाथ शब्द बनता है। अतः, यह आशय आया। तब तो आना ही चाहिये, परन्तु जान पड़ता है कि कोई प्रबल कारण हो गया, जिससे नहीं आये। कुछ कारण तो ये भी हैं कि श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति लगी थी, श्रीजानकीजी का हरण हुआ था। संभव है कि श्रीलक्ष्मणजी अच्छे न हुए हों, तो यह समझकर नहीं आते हों कि —"जैहउँ अवध कौन मुँह लाई।···" (लं० दो० ५१) ; अथवा स्त्री-हरण की लज्जा से नहीं आते हों। सम्भवतः अभी रावण नहीं मरा हो, इत्यादि, पर विशेषकर अपने विषय के जो कारण हैं, उन्हें ही प्रकट भी कहते हैं—

'जानि कुटिल किधौं···'—श्रीलक्ष्मणजी ने जो अनुमान किया था ; यथा—"कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी।···" (अ० दो० २२७); वही बात मानकर प्रभु ने भी संभवतः मुझे भुला दिया हो। 'किधौं'—शब्द संदिग्ध-सूचक है, बिसराने का निश्चय नहीं होता, क्योंकि श्रीभरतजी श्रीरामजी का स्वभाव जाननेवाले हैं ; यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥" (अ० दो० २५१)।

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंद अनुरागी॥३॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥४॥

शब्दार्थ—अहह—शब्द का प्रयोग आश्चर्य, खेद, शोक और प्रशंसा में भी होता है, *यहाँ खेद के अर्थ में है।*

अर्थ—अहह! लक्ष्मण धन्य हैं, बड़ भागी हैं, श्रीराम-चरण-कमल के अनुरागी हैं॥३॥ प्रभु ने मुझे कपटी और कुटिल पहचान लिया, इसीसे स्वामी ने (मुझे) साथ में नहीं लिया॥४॥

विशेष—(१) 'अहह' शब्द यहाँ दीपदेहली है, पिछली अर्द्धाली के साथ भी है। अतः 'मोहि बिसराये' पर खेद प्रकट करते हैं। पुनः श्रीलक्ष्मणजी छोटे हैं और अत्यन्त कष्ट सहकर प्रभु की सेवा कर रहे हैं। उनपर सहानुभूति प्रकट करते हुए भी 'अहह' शब्द से खेद प्रकट किया है ; यथा—"लालन जोग लखन लघु लोने।···ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस येहि छाती।" (अ० दो० ११९)।

'धन्य लछिमन बड़भागी'—का भाव यह है कि वे सुकृती हैं और प्रभु के चरणानुरागी हैं। इसी से उन्हें प्रभु ने अपने साथ रक्खा और मुझे कपटी-कुटिल आदि पहचान कर त्याग दिया। भाव यह कि मैं सेना आदि लेकर प्रभु के सम्मुख गया और उनकी स्वतंत्रता में बाधक हुआ। इससे प्रभु ने मुझे पहचान लिया कि मन तो राजसी ठाट में है और ऊपर से बातें बनाता है। 'पदारबिंद अनुरागी' के संबंध से 'बड़भागी' कहा है, इसपर बा० दो० २१०—'अतिसय बड़भागी ···' तथा आ० दो० ६ चौ० २१ भी देखिये। बरवा रामायण में भी कहा है ; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम पद होइ।" (६१)।

(२) 'कपटी कुटिल मोहिं ···'—पहले 'जानि कुटिल किधउँ मोहिं बिसरायउ' कहा था। यहाँ उसी को पुष्ट करते हैं। जो छिपकर बुराई करे, वह कपटी कुटिल है, मैंने माता के द्वारा वनवास कराया।

'ताते नाथ संग नहिं लीन्हा।'—ऊपर कहा गया कि 'नाथ' शब्द में याचना का भाव है, जब मैंने याचना की ; यथा—'नाथ चलउँ मैं साथ' तब प्रभु ने मुझे साथ नहीं लिया।

जौ करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥५॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥६॥

अर्थ—यदि प्रभु मेरी करनी (अपकार के कृत्य) समझें तो मेरा सौ करोड़ (असंख्य) कल्पों तक निर्वाह नहीं हो सकता ॥५॥ प्रभु सेवकों के अवगुण कभी भी नहीं देखते, वे दीनबंधु हैं, उनका स्वभाव अत्यन्त कोमल है ॥६॥

विशेष—(१) 'जौ करनी समुझै···'—यह भक्ति की कार्पण्य वृत्ति है ; यथा—"जौं अपने अवगुन सब कहहूँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ ॥" (बा० दो० ११) ; अथवा इसी वृत्ति में अपनी उस करनी का भी स्मरण करते हैं ; जो श्रीहनुमान्‌जी को संजीवनी ले जाने के समय बाण मारा था। यदि वे जीवित नहीं होते, तो श्रीलक्ष्मणजी के प्राण नहीं बचते। फिर उनके बिना श्रीरामजी नहीं जीते। तब तो श्रीसीताजी, सब माताएँ और अवधवासी, कोई भी नहीं जीते। मेरी इस करनी को यदि समझें, तो करोड़ों कल्पों तक मेरा निर्वाह नहीं हो। जब इससे उबार नहीं देखा तो प्रभु के स्वभाव की शरण गये—

(२) 'जन अवगुन प्रभु···'— वे दीनबंधु हैं और मैं दीन हूँ, तो अवश्य कृपा करेंगे ; यथा—"नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥" (आ० दो० ७) ; 'अति मृदुल सुभाऊ।' कोमल स्वभाववाले दीनों पर दया करते हैं ; यथा—"कोमलचित दीनन्ह पर दाया।" (उ० दो० ३०) ; वे तो अति कोमल स्वभाव हैं। अतः, मुझ जन पर क्रोध नहीं करके दया ही करेंगे। ऐसा कहकर उपर्युक्त-'कपटी कुटिल मोहि···' का निराकरण किया। पहले भी इन्होंने कहा था ; यथा—"देखि दोष कबहुँ न उर आने।" (अ० दो० २९८) ; उसी स्वभाव का यहाँ स्मरण करते हैं।

मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥७॥
बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना ॥८॥

अर्थ—मेरे हृदय में यही भरोसा दृढ़ है कि श्रीरामजी (अवश्य) मिलेंगे (क्योंकि) शुभ शकुन हो रहे हैं ॥७॥ अवधि बीत जाने पर यदि प्राण रह गये तो मेरे समान संसार में कौन अधम होगा ? ॥८॥

विशेष—(१) 'भरोस दृढ़ सोई'— यही भरोसा कि जन के अवगुण प्रभु नहीं मानते, दृढ़ है। दृढ़ता का दूसरा कारण शकुन भी है। इससे जो सोचा था कि प्रभु ने भुला दिया होगा, उसका खंडन हो गया।

(२) 'बीते अवधि···'—भाव यह कि अवधि बीतने पर प्राण रहेंगे नहीं, कदाचित् रह भी जायँ, तो मैं महान् अधम कहाऊँगा। पहले तो दृढ़ भरोसा कहा, फिर विरह की प्रबलता से पिछली दुःख वार्तों को सोचकर संदेह हो गया कि इन प्राणों ने कई बार धोखा दिया है ; यथा—"सुनि बन गमन कीन्ह रघुनाथा। ···संकर साखि रहेउँ एहि घाये ॥" (अ० दो० २६१) ; अर्थात् इसपर प्राणों का निकल जाना चाहता था, पर नहीं निकले। फिर चित्रकूट पहुँचने पर भी नहीं निकले ; यथा—"अब सब आँखिन देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥" (अ० दो० २६१) ; इत्यादि।

विरह का उपक्रम—'रहा एक दिन अवधि अधारा।' है और यहाँ—'बीते अवधि···' उपसंहार है। श्रीरामजी ने भी कहा है ; यथा—"बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावउँ बीर।' (अं० दो० ११६) ; वही यहाँ श्रीभरतजी सोच रहे हैं।

'अधम कवन जग······'—स्वामी से विमुख होकर जीना अधमता है। पुनः प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होकर जीना भी अधमता है। मैंने प्रतिज्ञा की थी; यथा—"तुलसी बीते, अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न अइहौ। तौ प्रभु चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहि न पइहौ॥" (गी० अ० ७६)।

दोहा—राम-बिरह-सागर महँ, भरत मगन मन होत।
बिप्र-रूप धरि पवनसुत, आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन • जलजात॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी के विरह-समुद्र में श्रीभरतजी का मन डूब रहा था, उसी समय पवन के पुत्र श्रीहनुमान्जी विप्ररूप धारण कर (इस तरह) आ गये; मानों नाव आ गई॥ (शिर पर) जटाओं का मुकुट, शरीर दुबला – राम, राम, रघुपति – जपते, कमल नेत्र से जल (प्रेमाश्रु) गिराते, कुशासन पर बैठे हैं (दूर से ही ऐसा) देखकर—॥१॥

विशेष—(१) 'राम बिरह सागर महँ······'—पहले कहा था—'समुझत मन दुख भयउ अपारा।' जब किनारा नहीं मिला, तो अब डूबने लगे। विरह को सागर कहा गया है, इसीसे 'पवनसुत' को 'पोत' कहा। क्योंकि समुद्र में डूबनेवाला नाव के सहारे बच जाता है। पवन के सम्बन्ध से नाव वेग से चलती है, ये पवन के पुत्र हैं, वैसे ही बड़े वेग से आये।

(२) जनु पोत ; यथा—"निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तोब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥" (भाग० ११।२६।३२) अर्थात्—जल में डूबते हुए लोगों के लिये दृढ़ नौका के समान इस भीषण संसार-समुद्र में गोते खानेवालों के लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं।

लं० दो० ११९ में कहा था—"धरि बटु रूप अवध पुर जाई॥·····तुरत पवनसुत गवनत भयऊ।" वहीं से कथा का प्रसंग लेते हुए यहाँ कहा है—'बिप्र रूप धरि पवनसुत···'। पवन सबके प्राणों के रक्षक हैं; यथा—"त्वयादत्तोऽयमस्माकमायुषः पवनः पतिः।·····" (वाल्मी० ७।३५।५५)। पवनपुत्र भी यहाँ श्रीभरतजी के प्राणों की रक्षा करेंगे।

श्रीजानकीजी को भी इन्होंने इसी तरह बचाया है; यथा—"बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जल जाना॥" (सुं० दो० १३)।

विप्र-रूप धारण करने के कारण—"धरि बटु रूप·····" (लं० दो० ११९); में लिखे गये। विप्र-रूप देखकर श्रीभरतजी को कुछ सहारा मिला कि अनजाना ब्राह्मण है, कुछ कहेगा, इससे नाव-रूप कहे गये। यदि श्रीहनुमान्जी अपने रूप से आते, जिसे श्रीभरतजी पहचानते हैं, तो जहाज के समान होते, बड़ा भरोसा होता। समुद्र से पार करने की गति जहाज में ही है।

(३) 'बैठे देखि'—यह अपूर्ण क्रिया है, अभी दूर से ही देख रहे हैं, आगे की अर्द्धाली मे निकट से देखना कहेंगे तब पूर्ण क्रिया देंगे; यथा—'देखत हनूमान अति·····'। 'देखि' कहकर दशा कहने

लगे कि कैसे देखा। तब फिर—'देखत' कहकर आगे की बात कहेंगे। यहाँ 'बैठे देखि' कहा है और आगे—'जासु बिरह सोचहु दिनराती।' कहेंगे। इससे जान पड़ता है कि रातो दिन बैठे ही रहते हैं, क्योंकि यहाँ लेटने-भर की भी जगह नहीं है। 'कुसासन'—जैसे श्रीरामजी कुशासन पर बैठते हैं, जटा-मुकुट धारण किये हुए हैं; वैसे ही ये भी करते हैं।

(४) 'कृस गात'—श्रीरामजी के वियोग से शरीर सूख गया है; यथा—"कृस तन श्रीरघुबीर वियोगा।" (उ० दो० ७); 'राम राम रघुपति जपत'—विरह की दशा में यह स्वाभाविक है; यथा—"रघुकुल कमल बियोग तिहारे।···रसना रटति नाम···" (गी० सुं० १८)। पुनः इससे भी कि नाम-जप शोकसमुद्र को सोखता है और कुसंकट को दूर करता है; यथा—"दंभहू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोसु।" (वि० १५६); "जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा० दो० २१)। यहाँ नाम जप से इनके शोक और संकट निवृत्त हुए। तुरत श्रीहनुमान्‌जी आ गये। 'रघुपति'—कहने का भाव यह है कि आप रघुवंश के रक्षक हैं आपके दर्शनों के बिना रघुवंश- मरना ही चाहता है।

विनय ३६ वें पद में श्रीभरतजी का प्रेम पतिव्रता स्त्री के अनन्य प्रेम के समान कहा गया है; यथा—"खड्गधाराव्रती प्रथम रेखा प्रकट, शुद्ध-मति-युवतिवत-प्रेम-पागी।" अतएव पतिव्रता श्रीसीताजी की दशा से इनकी दशा का मिलान कीजिये—

श्रीभरतजी—	श्रीसीताजी (सुं० दो० ७+३०)—
(१) बैठे देखि कुसासन,	बैठेहि बीति जात निसि जामा।
(२) जटा मुकुट कृस गात।	कृस तन सीस जटा एक बेनी।
(३) राम राम रघुपति जपत,	जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।
(४) स्रवत नयन जल जात।	नयन स्रवहिं जल········।

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥१॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा-सम बानी॥२॥

अर्थ—(निकट आकर) देखते ही श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त प्रसन्न हुए, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों ने जल की वर्षा की; अर्थात् प्रेमाश्रु बह चले॥१॥ मन में बहुत तरह से सुख मानकर कानों के लिये अमृत के समान वचन बोले॥२॥

विशेष—(१) 'देखत···अति हरषेउ'—पहले 'जटा मुकुट कृस गात' आदि तन की दशा देख कर 'हर्ष' हुआ फिर 'श्रवत नयन जल जात' यह प्रेम की दशा देखकर 'अति हर्ष' हुआ। श्रीभरतजी की प्रेम दशा अत्यंत ऊँची देखकर इन्हें अत्यन्त हर्ष हुआ, क्योंकि ये भी परम भक्त हैं। अतः, इस दशा के महत्त्व के ज्ञाता हैं।

(२) 'पुलक गात लोचन जल बरषेउ।'—श्रीभरतजी की दशा देखकर इनकी भी वही दशा हो गई, श्रीभरतजी के प्रेम का ऐसा प्रभाव ही है; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँपासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पखाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (अ० दो० २१६)।

श्रीसीताजी की दशा देखकर श्रीहनुमान्जी दुखी हुए थे; यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन।" (सुं० दो० ८), पर यहाँ इन्हें हर्ष हुआ। इस भेद का कारण यह है कि वहाँ वे परतंत्र होकर दुखी थीं। राक्षसियों से घिरी हुई दीन दशा में थीं और ये स्वतंत्र हैं, परन्तु प्रेम में मग्न हैं।

(३) 'बहुत भाँति सुख मानी।'—इन्हें पिता के द्वारा दिया हुआ राज्य धर्म और न्यायपूर्वक प्राप्त था; यथा—"वेद विदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥" (अ० दो० १७४); वह राज्य भी ऐसा है कि जिसकी इन्द्र और कुबेर लालसा करते हैं। इन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया कि बड़े भाई के रहते हुए मेरा राजा होना अधर्म मूलक होगा। श्रीहनुमान्जी ने श्रीरामजी में इनके अत्यन्त प्रेम, भायप, त्याग और धर्म-विचार आदि प्रत्येक गुण के प्रति विचार-विचारकर बहुत प्रकार से सुख माना।

(४) 'बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।'; यथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई। श्रवन रंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्ट-पुष्ट तनु भये सुहाये।...श्रवन सुधा सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात॥" (बा० दो० १४५)—यही दशा यहाँ श्रीभरतजी की भी हुई। आगे कही गई है।

जासु बिरह सोचहु दिन-राती। रटहु निरंतर गुनगन पाँती॥३॥
रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव-मुनि-त्राता॥४॥

अर्थ—जिसके विरह में दिन-रात शोच करते हो और जिसके गुण समूह की पंक्ति निरंतर रटते हो॥३॥ वे रघुकुल में शिरोमणि अपने जनों को सुख देनेवाले और देवताओं तथा मुनियों के रक्षक कुशल-पूर्वक आ गये॥४॥

विशेष—(१) 'जासु बिरह सोचहु...'—श्रीहनुमान्जी ने देखा है, यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत।"—वही कहते हैं। वहीं से प्रसंग भी लिया गया। यहाँ 'जासु बिरह सोचहु...' —यह कहना, वहाँ के अनुसार नाव का पास भिड़ना है। 'गुनगन पाँती'; यथा—"राम राम रघुपति जपत।" 'दिनराती' दीपदेहली है, अर्थात् दिन-रात शोचते हो और दिन-रात गुणगण रटते हो। दिन-रात का शोच, यथा—"निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच।" (अ० दो० २५२)। 'रटहु'—जपहु नहीं कहकर रटहु कहने का अभिप्राय यह है कि विरह में कुछ नियम नहीं है। शुद्ध उच्चारण नहीं होता। कभी ऊँचे स्वर में और कभी धीमे स्वर में कहते हैं; यथा—"राम राम रटि भोर किय, कहइ न मरम महीस।" (अ० दो० ३८)।

(२) 'रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।'—कुल के धर्म किये, सुर-मुनि की रक्षा की और अपने पूर्वज अनरण्य को पराजित करनेवाले रावण को मारकर कुल की शोभा बढ़ाई, इससे 'रघुकुलतिलक' कहा गया। 'सुजन सुखदाता'—रावण-वध से सुजनों (सज्जनों) को सुख दिया। 'सुजन' में 'स्वजन' का भी भाव है, अर्थात् अपने जनों को सुख देनेवाले, यथा—"ये न मे सोऽनुज शीघ्रं सुखमेति सदागमात्।" (पद्म पु० पा० ३।६), अर्थात् प्रभु ने श्रीहनुमान्जी से कहा कि हमारे आगमन का संदेश देकर श्रीभरतजी को शीघ्र सुखी करो। 'आयउ कुसल...'—श्रीरामजी ने कहा था—"भरतहि कुसल हमारि सुनायेहु।" श्रीहनुमान्जी ने यहाँ वही कहा—'आयउ कुसल...' कैसे आये? इसपर आगे कहते हैं—

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥५॥
सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूखा॥६॥

अर्थ—शत्रु को रण में जीतकर श्रीसीता-लक्ष्मण सहित प्रभु आते हैं, देवता उनका सुन्दर यश गाते हैं ॥५॥ वचन सुनते ही सब दु ख ऐसे निवृत्त हो गये, जैसे प्यासे को अमृत पाने पर दु ख भूल जाय ॥६॥

विशेष—(१) 'रिपु रन जीति '', यथा—"जित्वा शत्रुगणान् राम प्राप्य चानुत्तम यश । उपायाति समृद्धार्थ सह मित्रैर्महाबलै ॥" (वाल्मी॰ ६।१२५।१), अर्थात् शत्रुओं को जीतकर, उत्तम यश पाकर श्रीरामजी बड़ी सेना और मित्र गणों के साथ, पूर्ण मनोरथ होकर आ रहे हैं।

क्षत्रिय को विजय अत्यन्त प्रिय होती है, इससे पहले वही कहा। पुन देवता लोग अपनी सत्य वाणी से सुयश गाते हैं, क्योंकि वे बंदीखाने से छूटे। ऊपर 'देव मुनि त्राता' कहा गया है, इससे यहाँ यश गाया जाना भी कहा , यथा—"दसमुख निनस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं।" (गी॰ उ॰ १३), 'सीता सहित अनुज '''—पूर्व माताओं के मनोत्साह कहे गये थे, यथा—"आयउ प्रभु सिय अनुज जुत, कहन चहत अस कोइ।" उसीका यहाँ चरितार्थ है। पहले 'आये कुसल' यह भूत कालिक क्रिया कही कि जिससे विरहातुर श्रीभरतजी को धैर्य हो जाय। अब 'आवत' यह वर्त्तमान कह रहे हैं कि अभी यहाँ आये नहीं, किन्तु आ रहे हैं। पहले सीता हरण सुना था, फिर श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगना सुना। उसी क्रम से सकुशल आना कहते हुए पहले श्रीसीताजी का और तब श्रीलक्ष्मणजी का नाम कहा है। 'सहित' शब्द श्लेषार्थी है। एक अर्थ 'समेत' का और दूसरा स + हित अर्थात् सखाओं सहित, 'प्रभु' शब्द का भाव यह है कि प्रभुता-सहित आ रहे हैं।

(२) 'सब दूखा'—श्रीरामजी के आने में विलंब का दु ख, सीता-हरण का दु ख, श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने का दु ख, शत्रु से युद्ध होने का दु ख और देव-मुनि के बंदि में पड़े होने का दु ख, इत्यादि सभी भूल गये।

'तृषावंत जिमि पाइ पियूषा ।'—'जल के प्यासे को अमृत मिल जाना' यह मुहावरा है, अर्थात् अभिलाषा से कहीं अधिक फल मिल जाना, जिससे उसके सुख का ठिकाना नहीं रहता कि कितना सुख हुआ। वैसे ही अत्यन्त सुख इन्हें हुआ। इन्हें श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के सकुशल लौटने की प्यास १४ वर्षों से थी। इनके आगमन-मात्र से यह प्यास बुझ जाती। परन्तु यहाँ तो विजय, यश और बहुत से मित्रों के सहित बड़ी प्रभुता के साथ प्रभु विमान पर आ रहे हैं, यह अधिकता उसमें अमृत रूपा है।

को तुम्ह तात कहाँ ते आये। मोहिं परम प्रिय बचन सुनाये ॥७॥
मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥८॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ॥९॥

अर्थ—हे तात! तुम कौन हो और कहाँ से आये हो? तुमने मुझे परम प्रिय वचन सुनाये ॥७॥ (श्रीहनुमानजी ने कहा) हे कृपानिधान! सुनिये, मैं पवन का पुत्र हूँ, वानर हूँ और हनुमान् मेरा नाम है ॥८॥ मैं दीन बंधु श्रीरघुनाथजी का सेवक हूँ—यह सुनते ही श्रीभरतजी आदर के साथ उठकर गले लगाकर मिले ॥९॥

विशेष—(१) 'को तुम्ह' का उत्तर—"मारुत-सुत मैं···" और 'कहाँ ते आये' का उत्तर—"दीन बंधु रघुपति कर किंकर" से दिया है कि मैं उनके पास से आता हूँ। 'को तुम्ह' का भाव यह भी है कि आप देवता हैं या मनुष्य हैं, जो हमपर बड़ी दया करने के लिये यहाँ आये हैं; यथा—"देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः। प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥" (वाल्मी० १२५।४१); 'परम प्रिय बचन'—इसे ही पहले उपक्रमोपसंहार में अमृत के समान कहा है; यथा -"बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।" यह उपक्रम है और "तृषावंत जिमि पाइ पियूषा।" यह उपसंहार है। पुनः परम प्यारे के आने का सँदेशा है, इससे भी 'परम प्रिय' कहा है। आगे भी कहते हैं; यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥" श्रीहनुमान्जी विप्र-रूप धारण करके आये, परन्तु इनके प्रश्न के साथ-ही-साथ तुरत कपि रूप हो गये। क्योंकि मंगल शकुन के लिये ही विप्र-रूप से आये थे। इसीसे 'मैं कपि' कहा है। 'कृपानिधाना' का भाव यह कि वेषांतर देखकर बुरा न मानियेगा, किंतु कृपा कीजिये। कारण आगे कहा है कि मैं स्वामी का किंकर हूँ, जैसी आज्ञा हुई वैसे रूप से आया।

(२) 'दीनबंधु रघुपति कर किंकर'—'दीनबंधु' का भाव यह कि श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी एवं सभी वानर दीन थे, उनपर आपने दया की है; यथा—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे॥" (कि० दो० ३) - श्रीसुग्रीवजी, "कृत भूप बिभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०६)—श्रीविभीषणजी, "दीन जानि कपि किये सनाथा।" (लं० दो० ११६)—वानरगण, इसीप्रकार दीन जान कर ही मुझे भी अपना किंकर बनाया है।

'सुनत भरत भेंटेउ···'—श्रीहनुमान्जी के वचन पूरे होते ही श्रीरामजी के किंकर भाव को अधिक गौरव देते हुए श्रीभरतजी तुरत उठ बराबर मानकर मिले। किष्किंधा कांड में श्रीरामजी ने इनसे विप्र-रूप छोड़कर कपि होने पर हृदय से लगाया था। परन्तु यहाँ तो श्रीहनुमान्जी प्रथम ही कपि-रूप हो गये, इससे श्रीभरतजी तुरत मिले।

'कहाँ ते आये' में श्रीभरतजी का यह भी अभिप्राय था कि सुनी हुई बातें कहते हो कि उनके पास से आये हो। पास से आते तो वे कैसे पिछड़ते? इसका समाधान 'मारुत सुत मैं कपि' से कर दिया है कि मैं वायु-वेग से चलता हूँ और वही कपि हूँ, जो संजीवनी लेकर राम-बाण की तरह गया था।

(३) 'मारुत सुत मैं कपि···'—यह नाम-कथन की रीति है कि पिता के नाम सहित अपना परिचय देते हुए प्रणाम करे. यथा—"पितु समेत कहि-कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (बा० दो० २६८); "कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये॥ नाम-राम लछिमन दोउ भाई।" (कि० दो० १)। यहाँ जैसे ही श्रीहनुमान्जी ने उत्तर दिया, वैसे ही तुरत श्रीभरतजी इनसे मिलने लगे।

मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥१०॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहिं राम पिरीते॥११॥

शब्दार्थ—पिरीते = प्यारे; यथा—"हा रघुनन्दन प्रान पिरीते।" (अ० दो० १५४)।

अर्थ—मिलते हुए हृदय में प्रेम नहीं समाता, (मानों उमड़कर प्रेमाश्रु द्वारा वह चला) नेत्रों से जल गिरता है और शरीर पुलकित हो गया है॥१०॥ (श्रीभरतजी ने कहा) हे कपे! तुम्हारे दर्शनों से सब दुःख जाते रहे, आज मुझे प्यारे श्रीरामजी मिले॥११॥

में रहते थे, धर्म-निर्वाह कठिन था। कुसंगति हरि-कृपा से ही छूटती है, इसी से वे कृपा चाहते थे। श्रीहनुमान्‌जी ने ही तीनों को अपने यथार्थ उत्तर द्वारा सान्त्वना दी है।

यहाँ साधु के दर्शन, स्पर्श और समागम तीनों कहे गये—दर्शन; यथा—'कपि तव दरस सकल दुख बीते।' स्पर्श—'मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता।' समागम—'कहे सकल रघुपति-गुन-गाथा।'—ये तीनों राम-कृपा से ही प्राप्त होते हैं; यथा—"जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥" (वि० ११६)।

छंद—निज दास ज्यों रघुबंस-भूषन कबहुँ मम सुमिरन करयो।
सुनि भरत-बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि परयो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुनगन कहत अगजग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन-सिंधु सो॥

अर्थ—रघुवंश के भूषण-रूप श्रीरामजी ने कभी अपने (खास) सेवक की तरह मेरा स्मरण किया है ? श्रीभरतजी के ये अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी पुलकित शरीर से उनके चरणों पर गिर पड़े॥ (मन में कहते हैं कि) जो चराचर जगत् के नाथ हैं वे श्रीरघुनाथजी अपने मुख से जिनके गुण-गण वर्णन करते हैं वे श्रीभरतजी (ऐसे) विनम्र, परम पवित्र और सद्‌गुणों के समुद्र क्यों न हों ? (होना योग्य ही है)॥

विशेष—(१) 'निज दास ज्यों···'—अनन्य दास श्रीरामजी को बड़े प्रिय हैं'; यथा—"तिन्हते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥" (उ० दो० ८५). अतः, निज दास का अर्थ अनन्य दास—प्रिय दास है। इसके उत्तर में यही बात श्रीहनुमान्‌जी आगे कहेंगे—"राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह।"

'रघुबंस-भूषन'—जैसे भूषण से तन की शोभा होती है, वैसे श्रीरामजी से कुल-भर की शोभा है कि इस कुल में ऐसे-ऐसे प्रणतपाल हैं। यहाँ आश्रितों के पालन का प्रसंग है।

'मम सुमिरन करयो'—ऊपर कहा गया था ; यथा—"सुमिरहिं मोहिं दास की नाईं।" उसे ही सिंहावलोकन रीति से फिर कहा है, यह इस ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। 'सुमिरहिं' शब्द का वर्त्तमान रूप भी बराबर से स्मरण होते आने के अर्थ में है। अतएव यहाँ के 'सुमिरन करयो' इस भूतकालिक क्रिया से विरोध नहीं है।

(२) 'सुनि भरत-बचन बिनीत अति···'—भाव यह है कि इतने बड़े होने पर भी ये अपनेको स्मरण योग्य भी नहीं मानते, यह निरभिमानता की चरम सीमा है। यह समझकर श्रीहनुमान्‌जी पुलकित [illegible] पर गिर पड़े, साथ ही इस त्रुटि की भी क्षमा चाहते हैं कि यह बात इन्होंने पहले ही क्यों [illegible] थी कि आपको प्रभु परम प्रिय मानकर बराबर स्मरण करते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने सोचा कि [illegible] तो इन्हें अहर्निशि स्मरण करते हैं, परन्तु मैंने यह बात नहीं कही थी। इसपर ये सूख गये, [illegible] हृदय अत्यन्त कोमल है। इसपर इनकी भक्ति का महत्व मानकर भी प्रणाम किया।

(३) 'रघुबीर निज मुख '—रघुवीर ईश्वर हैं। अतः, सत्य ही बोलते हैं, यथा—"मृषा न कहउँ मोर यह बाना।" (उ० दो० १५); तथा—"मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई।" (ब० दो० ६३)। अतः, वे बड़ाई करते हैं, तो यथार्थ ही कहते हैं। 'अग जग नाथ जो'—इतने बड़े भी जिनकी बड़ाई करते हैं और चराचर मे इनके तुल्य और किसी को नहीं मानते; यथा—"सुनहुँ लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥" (अ० दो० २३०); तथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥" (अ० दो० २६२)।

(४) 'काहे न होइ बिनीत'''—भाव यह है कि श्रीरामजी ईश्वर एवं सर्वज्ञ हैं, वे प्रशंसा के पात्र समझ कर ही प्रशंसा करते हैं और उसपर कृपा भी करते हैं। इनके अत्यंत नम्रता के वचन सुने, इससे 'बिनीत' प्रथम कहा है। 'परम पुनीत'; यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू।" (अ० दो० ३२५); 'सदगुन सिंधु'; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है'''यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है॥" (गी० लं० ११); 'बिनीत' कहकर 'सदगुन सिंधु' कहने का भाव यह है कि बड़ों की बड़ाई नम्रता से ही होती है; यथा—"सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम् ॥" (वाल्मी० ४।६४।१०)—अर्थात् अत्यंत नम्रता ही भावी शुभ योग्यता को सूचित करती है।

दोहा—राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह, सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि, हरष न हृदय समात।

सोरठा—भरत-चरन सिर नाइ, तुरित गयउ कपि राम पहिं।
कही कुसल सब जाइ, हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि॥२॥

अर्थ—हे नाथ! आप श्रीरामजी को प्राणों के समान प्रिय हैं, हे तात! मेरा वचन सत्य है, यह सुनकर श्रीभरतजी बार-बार मिलते हैं, उनके हृदय मे हर्ष नहीं समाता॥ श्रीभरतजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीहनुमान्जी तुरत श्रीरामजी के पास गये और उन्होंने सारी कुशल जाकर कही, तब प्रभु प्रसन्न होकर पुष्पक विमान पर चढ़कर चले॥२॥

विशेष—(१) 'राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह'—यह इन्होंने सुना है और देखा है; यथा—"भरत-दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात।'''सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर॥" (लं० दो० ११५)। वही कह रहे हैं, इसीसे सफाई देते हैं; यथा—'सत्य बचन मम तात' कि जिससे श्रीभरतजी यह नहीं समझें कि मुझे प्रसन्न करने के लिये ये ठकुर-सुहाती कहते हैं। 'प्रानप्रिय'—भाव यह कि आपके बिना वे विकल है, आपसे मिलने के लिये आतुर हैं।

(२) 'पुनि पुनि मिलत भरत'—अत्यंत कृतज्ञता से एवं अत्यंत प्रेम के कारण बार-बार मिलते हैं। अपने ऊपर प्रभु की अनुकूलता सुनकर उन्हें अत्यंत हर्ष हुआ, जो हृदय मे नहीं समाता। बार बार मिलने मे सुख होता है।

(३) 'तुरित गयउ कपि'''—शीघ्र गये कि श्रीरामजी को लाकर शीघ्र मिला दें। ''' इधर

श्रीभरतजी श्रीरामजी से मिलने के लिये आतुर हैं और उधर श्रीरामजी श्रीभरतजी से मिलने के लिये आतुर हैं। इसीसे उधर से आते समय कहा गया, यथा—"तुरत पवन सुत गवनत भयऊ।" (लं० दो० १२१)। और इधर से जाते समय भी कहते हैं—'तुरित गयउ कपि राम पहिं।'

(४) 'हरषि चलेउ प्रभु'—(क) श्रीभरतजी की एवं सबकी कुशल सुनकर हर्ष हुआ। पहले सदेह था कि १४ वर्षों मे कितने जीवित होंगे और कितने नहीं। (ख) यात्रा मे हर्ष का होना शुभ सूचक है, हर्षित होकर चले। अतः, आगे शुभ होगा।

हरषि भरत कोसलपुर आये। समाचार सब गुरहिं सुनाये ॥१॥
पुनि मंदिर महँ बात जनाई। आवत नगर कुसल रघुराई ॥२॥
सुनत सकल जननी उठि धाईं। कहि प्रभु कुसल भरत समुझाईं ॥३॥

अर्थ—प्रसन्न होकर श्रीभरतजी कोशलपुर (श्रीअयोध्याजी) आये और (उन्होंने) गुरुजी को सब समाचार सुनाया ॥१॥ फिर राज-मंदिर में बात जनाई कि श्रीरघुनाथजी कुशलपूर्वक श्रीअयोध्याजी आ रहे हैं ॥२॥ यह बात सुनते ही सब माताएँ उठ दौड़ीं, तब प्रभु के कुशल-समाचार कहकर श्रीभरतजी ने उन सबको समझाया ॥३॥

विशेष—(१) 'हरषि भरत'...—पहले दुःख सहित आते थे, आज हर्षपूर्वक आये कि मेरे ही निमित्त सबको महा विपत्ति पड़ी थी, मैं ही चलकर सबके दुःख हरण करके सुख दूँ। नंदिग्राम से श्रीअयोध्याजी आये। उधर से श्रीरामजी हर्षित होकर चले और इधर श्रीभरतजी भी हर्ष सहित आये। 'कोसलपुर'—क्योंकि आज पुरी मे चारों ओर कुशल के चिह्न पाये जाते हैं, यथा—"मन प्रसन्न सब फेर" और "नगर रम्य चहुँ फेर" ऊपर कहे गये हैं।

'गुरुहि सुनाये'—गुरुजी यहाँ प्रधान हैं, वे ही श्रीरामजी का तिलक करेंगे। इसीसे पहले उन्हीं को यह आनन्द-समाचार सुनाया। वहाँ से सर्वत्र समाचार पहुँच जायगा। समाचार यह है कि मैं विरह मे निमग्न था कि श्रीहनुमान्‌जी विप्र रूप से आ गये। उन्होंने रावण का सपरिवार-वध होना कहा और यह भी कहा कि प्रभु श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और बहुत-से सखाओं के साथ दिव्य विमान पर आ रहे हैं। शृङ्गवेरपुर तक आ गये होंगे, प्रातःकाल नियत अवधि पर यहाँ आकर प्राप्त होंगे।

(२) 'पुनि मंदिर महँ बात जनाई।'—गुरुजी के यहाँ से श्रीभरतजी माताओं से समाचार कहने के लिये कौशल्याजी के प्रधान मंदिर में अथवा किसी प्रधान नियत जगह पर विराजमान हुए और सेवकों के द्वारा सब माताओं को सँदेशा पहुँचाया कि श्रीरामजी कुशल पूर्वक श्रीअवध को आ रहे हैं। वे सब आतुर होकर उठ दौड़ीं। क्योंकि सभी को श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं। अतः, उनके आगमन के समाचार वे विस्तार से सुनना चाहती हैं।

(३) 'कहि प्रभु कुसल भरत समुझाईं।'—'प्रभु कुसल' का भाव यह कि प्रभुता सहित कुशल-पूर्वक आ रहे हैं, यथा—"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत।" यह इन्होंने श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा सुना था, वही माताओं को भी सुनाते हैं, जैसे गुरुजी के सुनाने मे कहा गया। 'समुझाईं' मे यह भी भाव है कि श्रीभरतजी ने कहा कि प्रभु विमान पर आ रहे हैं। आप लोग अभी मंगल सजें, भीड़ में आगे नहीं मिलें। श्रीअवधवासियों के पीछे आप लोगों का प्रभु से मिलना अच्छा होगा। वैसे ही माताओं ने आगे किया भी है।

समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरपि सब धाये ॥४॥
दधि दुर्वा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगल-मूला ॥५॥
भरि भरि हेम-थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुर-गामिनी ॥६॥

अर्थ—पुरवासियों ने समाचार पाये, तब स्त्री-पुरुष सभी प्रसन्न होकर दौड़े ॥४॥ दही, दूब, गोरोचन या रोरी, फल (मांगलिक नारियल, सुपारी आदि), फूल और मंगल के मूल नवीन तुलसीदल आदि सब मंगल मूलक वस्तुएँ ॥५॥ स्वर्ण के थालों में भर-भरकर (सौभाग्यवती) हथिनी-सी चाल चलनेवाली स्त्रियाँ लेकर गाती हुई चलीं ॥६॥

विशेष—(१) 'नर अरु नारि'—पुरुष द्वार पर रहनेवाले हैं, इसलिये इन्होंने ही पहले यह संदेशा सुना और स्त्रियाँ घर के भीतर थीं, इससे उन्हें पीछे मालूम हुआ। वैसे दौड़ने में भी नर आगे हैं; पर स्त्रियों का कृत्य पहले कहते हैं—

(२) 'दधि दुर्वा रोचन…'—इनमें 'मंगल-मूला' पद अंत में है, इससे इन द्रव्यों के अतिरिक्त और भी मंगल द्रव्य सूचित किया; यथा—"हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥ अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥" (बा० दो० ३४५)।

(३) 'भरि भरि हेम-थार भामिनी'—शकुन का थाल भरा हुआ चाहिये, खाली रहने से पूर्ण शकुन नहीं होता। उस समय श्रीअयोध्या में सब दिव्य विभूतियों का प्रादुर्भाव था, इससे सबके यहाँ सुवर्ण के थाल थे। 'गावत चलीं'—हाथ में मंगल थाल लिये गाती हुई राज-मंदिर को चलीं कि स्वागत में पहले माङ्गलिक पदार्थों के ही दर्शन हों, तो श्रीरामजी को शुभ हो। 'सिंधुर गामिनी'—पहले समाचार निश्चय करने के लिये धावना (दौड़ना) कहा गया था, जब निश्चय हो गया तब मंगल साज सजकर हाथी की-सी चाल से गाती हुई धीरे-धीरे चलीं।

'भामिनी' शब्द का अर्थ 'दीप्तिवाली' है, अर्थात् सहज शृङ्गार से ही चलीं पर वे स्वाभाविक ही सुन्दरी हैं। यहाँ तक स्त्रियों का हाल कहा, आगे पुरुषों का कहते हैं—

इस अर्द्धाली के उत्तरार्द्ध में 'सिंधुर-गामिनी' में विंदु को अर्द्धचंद्र के रूप में पढ़ने से दोनों चरण १५-१५ मात्राओं के हो जायँगे।

जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल-वृद्ध कहँ संग न लावहिं ॥७॥
एक एकन्ह कहँ बूझहिं भाई। तुम्ह देखे दयाल रघुराई ॥८॥

अर्थ—जो जैसे हैं (जिस कार्य में लगे हैं) वे वैसे ही (उस कार्य को छोड़कर) उठ दौड़ते हैं, बालकों और बूढ़ों को साथ नहीं लाते ॥७॥ एक दूसरे से पूछते हैं, (कहो) भाई! तुमने दयालु श्रीरघुनाथजी को देखा है? ॥८॥

विशेष—(१) 'जे जैसेहिं तैसेहिं…'; यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥" (बा० दो० २११), बाल-वृद्ध को साथ में लेने से पिछड़ जायँगे; अतः, उन्हें साथ नहीं लेते। बालकों के त्यागने में स्वार्थ का त्याग है और वृद्धों के त्यागने में धर्म एवं परमार्थ का त्याग है। इन्होंने श्रीराम-प्रेम में स्वार्थ-परमार्थ दोनों छोड़ दिये।

शंका—श्रीअवधवासियों ने तो १४ वर्षों के लिये भोगों का त्याग किया है, यथा—"राम दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास। तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥" (अ॰ दो॰ ३१२), तब इनके सतानें तो नहीं हुई होंगी, फिर बालक आये कहाँ से ?

समाधान—(क) पुरवासी सुख की इच्छा से भोग नहीं करते थे, किन्तु धर्म-रक्षा के निमित्त उसका त्याग नहीं था। यथा—"ऋतुस्नाता सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गत ॥" (वाल्मी॰ २।७५।५१), यह श्रीभरतजी ने शपथ में कहा है। यदि शास्त्र की यह आज्ञा मान्य न रक्खी जाती तो कुल क्षय का दोष होता। (ख) जो श्रीअवध की कन्याएँ हैं, किंतु अन्यत्र ब्याही हुई हैं, वे जानती हैं कि श्रीरामजी के आगमन के अवसर पर महान् उत्सव होगा। अत, वे सब आई हुई हैं, ये बालक उन्हींके रहे होंगे। (ग) राम वियोग में वन-यात्रा के समय जो बाल-वृद्ध थे, सब जैसे के तैसे रह गये, बढ़े नहीं।

(२) 'एक एकन्ह कहँ बूझहिं '—श्रीभरतजी से श्रीहनुमान्‌जी ने कहा। उन्होंने गुरुजी से और माताओं से कहा। अत, इन सबको सच्ची खबर मिली, शेष लोगों ने यह खबर एक-दूसरे से सुनी, इससे दो एक जगह पूछ-ताछ करके प्रतीति दृढ करते हैं। 'दयालु रघुराई'—सभी रघुवंशी प्रजा पर दया करते आये हैं। ये तो उन सबसे श्रेष्ठ हैं, इसीसे हम सबों पर दया करके दर्शन देकर हमें जीवन-दान देने के लिये आते हैं।

यहाँ तक श्रीअवधवासियों (चेतनों) का हाल (मंगल आदि सजना) कहा गया। आगे श्रीअवध (के जड़ पदार्थों) का आनन्दोत्साह से रम्य हो जाना कहते हैं—

अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी ॥९॥
बहइ सुहावन त्रिबिध समीरा। भइ सरजू अति निर्मल नीरा ॥१०॥

अर्थ—प्रभु का आगमन जान श्रीअवधपुरी समस्त शोभा की खान हो गई ॥९॥ तीनों प्रकार की (शीतल, मंद, सुगंधित) सुहावनी हवा चलने लगी, श्रीसरयूजी अत्यन्त निर्मल जलवाली हो गईं ॥१०॥

विशेष—(१) 'अवधपुरी प्रभु '—श्रीअवधपुरी सच्चिदानंद विग्रह है, इससे 'जानी' कहा गया है। अपने प्रभु के वियोग में यह अशोभित हो गई थी, उन्हींके सयोग की संभावना से अब शोभा की खान हो गई, यथा—"लागति अवधि भयावनि भारी।" (अ॰ दो॰ ८२), यह वियोग में और 'नगर रम्य चहुँ फेर' यह अभी ऊपर सयोग संभावना में कहा गया है। 'सोभा के खानी' से सूचित किया कि वियोग के दिनों में शोभा को इसने छिपा रक्खा था। अब अपने में से प्रकट कर दिया।

(२) 'भइ सरजू अति निर्मल नीरा।'—पहले श्रीसरयूजी का जल भी मलिन हो गया था, यथा—"सरित सरोवर देखि न जाहीं।" (अ॰ दो॰ ८२), अब निर्मल हो गया। श्रीअवधपुरी स्थल है, वह शोभा खान हुई, सरयूजी जल हैं, वे निर्मल हुईं, और आकाश में सुहावन त्रिविध वायु चल रही है, इससे नभ की शोभा हुई। इस तरह जल, थल और नभ इन तीनों की शोभाएँ कही गईं। 'सुहावन' का भाव यह कि पहले विरह में त्रिविध वायु नहीं सुहाता था, परन्तु आज सयोग-संबंध से प्रिय लग रहा है।

दोहा—हरषित गुरु परिजन अनुज, भूसुर - बृंद - समेत।
चले भरत मन प्रेम अति, सन्मुख कृपानिकेत ॥

बहुतक चढ़ी अटारिन्ह, निरखहिं गगन बिमान ।
देखि मधुर सुर हरषित, करहिं सुमंगल गान ॥
राका ससि रघुपति पुर, सिंधु देखि हरषान ।
बढ़यो कोलाहल करत जनु, नारि तरंग - समान ॥३॥

अर्थ--गुरु श्रीवसिष्ठजी, कुटुम्बी, भाई शत्रुघ्न और ब्राह्मण वृन्द सभी हर्षित हैं, इन सबके सहित श्रीभरतजी मन में अत्यन्त हर्षित होकर अत्यन्त प्रेम-सहित कृपा के स्थान श्रीरामजी के सम्मुख (स्वागत के लिये) चले ॥ (बहुत स्त्रियाँ तो नीचे हैं और) बहुत-सी अटारियों पर चढ़ी हुई आकाश में विमान को देखती हैं। देखकर प्रसन्न हो मीठे स्वर से सुन्दर मंगल-गीत गा रही हैं ॥ श्रीरघुनाथजी पूर्णिमा के चन्द्रमा हैं श्रीअवधपुर समुद्र-रूप है। वह (पुर सिंधु--राकाससि रघुपति को) देखकर हर्षित हुआ। मानों वह कोलाहल करता हुआ बढ़ रहा है, स्त्रियाँ उसकी तरंगों के समान हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रेम अति'—सभी के मन में प्रेम है और श्रीभरतजी के मन में तो अत्यन्त प्रेम है, इसी तरह सब हर्षित हैं, श्रीभरतजी अत्यन्त हर्षित हैं। 'सन्मुख'—कोई पूर्व दिशा में मिलाप कहते हैं और कोई दक्षिण में, यहाँ सम्मुख कहकर श्रीगोस्वामीजी ने सबके मत की रक्षा की। परन्तु आगे के रूपक के अनुरोध से पूर्व दिशा को सूचित किया है, क्योंकि पूर्ण शशि का उदय पूर्व से ही होता है। 'कृपा निकेत'—सब यही मानते हैं कि श्रीरामजी हम सबपर कृपा करने को ही आ रहे हैं।

आगे गुरुजी कहे गये हैं और अंत में भूसुर-वृन्द, क्योंकि ये मंगल करनेवाले हैं और सभी साथ में हैं, ऐसा ही बड़ों के प्रति अगवानी करने की रीति भी है ; यथा—"संग सचिव सुचि भूरि भट, भूसुर वर गुरु ज्ञाति । चले मिलन मुनिनायकहिं, मुदित राउ येहि भाँति ॥" (बा० दो० २१४)।

(२) 'बहुतक चढी अटारिन्ह···'—ये परदे में रहनेवाली स्त्रियाँ हैं। 'निरखहिं'—विमान अभी दूर है, ये ऊपर अटारी पर से देखती हैं, इससे पहले इन्हीं को देख पड़ा; अतः, मधुर स्वर में गान करने लगीं, मधुर स्वर में गाना भी मंगल है।

(३) 'राका ससि रघुपति···'—यहाँ पूर्ण चन्द्रमा के उदय का सांग रूपक है, वह इस प्रकार है—

उपमान (राकाशशि)	उपमेय (रघुपति)
१—पूर्ण चन्द्र का चौदह तिथियों के बाद पन्द्रहवीं तिथि पर उदय होता है।	श्रीरामजी १४ वर्षों के बाद १५ वें वर्ष में आये
२—उसका आकाश में उदय होता है।	ये भी आकाश ही में विमान पर हैं।
३—वह तारा गणों के साथ।	ये सखाओं के साथ।
४—वह रोहिणी और बुध के साथ।	ये श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ।
५—वह कलापूर्ण।	ये शोभा पूर्ण।
६—वह ताप हरण करता है।	ये भी विरहताप हरते हैं।

७—उसे देखकर सिंधु बढ़ता है।	इन्हें भी देख पुर हर्षित हो रहा है।
८—समुद्र ऊँचा होकर तरंगें लेता है।	पुर में *स्त्रियाँ अटारियों पर तरङ्ग-सी फिरती हैं।*
९— तरंगों का कोलाहल शब्द।	स्त्रियों के गान का शब्द।
१०—तरंगें प्रकट होती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं।	स्त्रियाँ प्रकट होती हैं, फिर लज्जा से छिप जाती हैं।
११—यह समुद्र से प्रकट हुआ।	ये अवधपुर सिंधु में प्रकट हुए।
१२—उसकी शोभा देखकर समुद्र हर्षित होता है।	इनकी शोभा देखकर पुर हर्षित हुआ।
१३—पूर्णचन्द्र का पूर्व से उदय होता है।	इस उपमा के अनुरोध से श्रीरामचन्द्र का आगमन श्रीअवध के पूर्व दिशा से हुआ।

यहाँ पूर्णोपमा है और उपमा-उपमेय में लिंग-साम्य भी है। जैसे कि चन्द्र और श्रीरघुनाथजी एवं पुर और सिंधु पुँल्लिग हैं। नारि और तरंग स्त्रीलिंग हैं।

वनवास के पहले भी ऐसा रूपक दिया गया है; यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई॥''''सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद निहारी॥" (अ० दो० १); बीच में वनवास-रूपी अमावस्या से सन्नाटा था, अब कोलाहल हुआ।

इहाँ भानुकुल - कमल - दिवाकर। कपिन्ह देखावत नगर मनोहर॥१॥
सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥२॥

अर्थ—यहाँ सूर्यवंश रूपी कमल को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य रूप श्रीरघुनाथजी वानरों को सुंदर नगर दिखाते हैं॥१॥ हे श्रीसुग्रीवजी, श्रीअंगदजी और श्रीविभीषणजी! सुनिये, यह पुरी पवित्र है (स्वयं पवित्र है औरों को भी पवित्र करनेवाली है) और यह देश (जिसमें यह पुरी है) सुंदर है॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ' शब्द से श्रीगोस्वामीजी ने अपनी स्थिति श्रीरामजी के साथ कही। पहले श्रीभरतजी के साथ भी कही थी; यथा—"गयउ कपि राम पहिं"; "इहाँ भरत कोसलपुर आये।" इस तरह दोनों ओर बराबर भाव है।

'भानुकुल-कमल-दिवाकर'—श्रीरघुनाथजी आकाशमार्ग से विमान में आ रहे हैं। इसलिये वैसी ही उपमा भी आकाशगामी चन्द्रमा और सूर्य की दी। जैसे चन्द्रमा रात में और सूर्य दिन में जगत् का पालन-पोषण करते हैं, वैसे श्रीरामजी निरंतर सुख देनेवाले हैं, इसलिये इन्हें दोनों उपमाएँ दी गईं।

अभी तक यहाँ १४ वर्ष राम-रूपी सूर्य नहीं रहे, तबतक भानुकुल रूपी कमल संपुटित रहा; यथा—"राम दरस हित नेम ब्रत, लगे करन नरनारि। मनहुँ कोक कोकी कमल दीन विहीन तमारि॥" (अ० दो० ८६); इनमें 'कोक कोकी' का दृष्टान्त तो—"चक्क चक्कि जिमि पुर नरनारी। चहत प्रात उर आरति भारी॥" (अ० दो० १८६); में चरितार्थ किया गया। शेष 'कमल' को यहाँ कहा है। 'नगर मनोहर'—राम-रूपी सूर्य के बिना नगर अंधकारमय था, अब सुशोभित होने से मनोहर है—दो० २ चौ० ९ देखिये।

नगर की मनोहरता देखकर मुनियों के वैराग्य भूल जाते हैं; यथा—"नारदादि सनकादि मुनीसा। ......देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥" (दो० २६)। 'कपिन्ह देखावत'—वानर लोग श्रीरामजी का

नाम जपते हैं, रूप के दर्शन करते हैं और लीला में सम्मिलित हैं, रहा धाम, उसका परिचय श्रीमुख से श्रीरामजी दे रहे हैं। पुरी का प्रभाव श्रीरामजी की कृपा से ही मनुष्य जानते हैं ; यथा—"अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनुपानी ॥" (दो० ६६)

(२) 'सुनु कपीस अंगद लंकेसा।'—श्रीसुग्रीवजी प्रथम के सखा हैं, इससे उनका नाम पहले ही दिया गया और साथ ही उनके युवराज को भी रक्खा। श्रीविभीषणजी पीछे के सखा हैं, इससे ये पीछे कहे गये। पहले 'कपिन्ह देखावत' कहा गया और फिर यहाँ श्रीसुग्रीव आदि के नाम कहे गये, भाव यह है कि इनके साथ वानरों को दिखाते और महत्व समझाते हैं।

(३) 'पावन पुरी रुचिर यह देसा।'—'पावन पुरी' ; यथा--"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (दो० २८) ; 'पुरी' तीर्थवाचक शब्द है, इससे इसकी पावनता कही गई। ऊपर नगर कहकर सुंदरता की प्रशंसा की है। 'रुचिर यह देसा'—काशी से मथुरा तक और उधर हिमालय और विंध्याचल के बीच का यह देश बड़ा सुन्दर है। इसके बीच में पहाड़ नहीं हैं और भूमि समतल है। यह सब तरह के अन्न, फल, रस आदि की खान है। सरयू, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र नदियाँ इसी देश में हैं, अतएव ऐसा सुन्दर देश अन्यत्र नहीं है। अथवा 'यह देसा' से पूर्ण आर्यावर्त का भी अर्थ हो सकता है ; यथा—"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥" (मनुस्मृति); अर्थात् विंध्याचल और हिमालय एवं बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के मध्य का देश आर्यावर्त है।

कोई तीर्थ यदि अच्छे होते हैं, तो वहाँ देश अच्छे नहीं होते ; यथा—"मगह गयादिक तीरथ जैसे।" (अ० दो० ४२) ; परन्तु यहाँ दोनों उत्तम हैं और यह नगर चक्रवर्ति-राजधानी होने से अत्यंत सुंदर है, अतएव यह अवध, ब्रह्मांड भर में सर्वोपरि है। इसी से तो यह भगवान् का शिरोभाग कहा गया है ; यथा—'अयोध्यापुरी मस्तके'।

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना ॥३॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ॥४॥

अर्थ—यद्यपि सब किसी ने वैकुंठ का वर्णन किया है, वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है और जगत् जानता है ॥३॥ पर श्रीअवधपुरी के समान मुझे वह भी प्रिय नहीं है, यह विषय कोई-कोई ही जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।...'—'सब'—सुर-मुनि आदि, वैकुंठ को श्रेष्ठ कहकर उसे सराहते हैं और वेद-पुराणों में भी प्रसिद्ध है और सारा जगत् जानता है। क्योंकि लोकों के पालन करने की शक्ति भगवान् श्रीरामजी के विष्णु रूप में हैं, वैकुंठ उनका निवास है, इससे उसे सब कोई जानते हैं, राज-दरबार सबके लिये प्रसिद्ध होता ही है। परन्तु राजा को वह स्थान विशेष प्रिय नहीं होता, क्योंकि वह उसके परिश्रम का स्थान है। प्रयोजन पड़ने पर राजा राज-दरबार में आता है, सब काम दीवान आदि सदा करते रहते हैं। परन्तु जो मंदिर राजा का खास निवास-स्थान है, वह उसके विश्राम एवं आमोद-प्रमोद का स्थान है। वह उसे विशेष प्रिय होता है, उसे राजा के समीपी ही जानते हैं। इसी तरह अयोध्या (साकेत) आपका नित्य-विहार स्थान है। इसे भी श्रीरामजी के समीपी (उपासक) ही जानते हैं ; यथा—"अवध-प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहि राम धनुपानी ॥" (दो० ६६)।

(२) 'यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।'—भाव यह कि परम गोप्य रहस्य है, सबकी समझ में नहीं आता। जिसपर श्रीरामजी की बड़ी कृपा होती है, वही इस के गुह्य रहस्य को समझ पाता है कि इस पुरी

से बढ़कर और पुरी नहीं है ; यथा—"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।" से "पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम्॥" (अथर्ववेद सं० १०।१८-३३); इन साढ़े पाँच मंत्रों में विशद रूप से श्रीअयोध्यापुरी का अत्यंत स्पष्ट वर्णन है। इसमें बार-बार अयोध्या नाम आये हैं और अंत में 'अपराजिता' कहा गया है, जो श्रीअयोध्या का ही नाम है, इसका अर्थ यह भी है कि यह सर्व पुरियों में श्रेष्ठ है, इसकी तुलना कोई पुरी नहीं कर सकती है। (बा० दो० ३४ मे ये मंत्र पूरे दिये गये हैं वहाँ अवध वर्णन प्रसंग मे देखिये।)

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि वह सरजू पावनि ॥५॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥६॥

अर्थ—यह सुहावनी पुरी मेरी जन्मभूमि है, इसकी उत्तर दिशा मे पवित्र एवं पवित्र करने वाली श्रीसरयूजी बहती हैं ॥५॥ जिसमे स्नान करने से बिना परिश्रम ही मनुष्य मेरे समीप निवास पाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'जन्मभूमि मम पुरी···'—ऊपर पर-विभूति श्रीअयोध्या का वर्णन करके अब लीला विभूति श्रीअयोध्याजी को कहते हैं। आगे 'मम धामदा' कहकर स्पष्ट करेंगे दोनों श्रीअयोध्याजी में अभेद है, महत्व मे अंतर नहीं है, जो रचना आदि अंग यहाँ की श्रीअयोध्याजी में हैं, वे ही सब वहाँ भी हैं। इससे वर्णन मे स्पष्ट भेद नहीं किया गया है।

अब माधुर्य-दृष्टि से भी प्रियत्व का हेतु कहते हैं कि एक तो यह मेरी जन्मभूमि है, जन्मभूमि सबको प्रिय होती ही है। यह मेरी पुरी है, मेरे नाम से ख्यात है ; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगल मय पावनि।" (बा० दो० ११५); "जेहि विधि राम नगर निज आये।" (दो० ६०) इत्यादि। दूसरा, यह कि लोकोत्तर सुहावनी भी है; यथा—"पुर सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना॥ तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं॥" (दो० ८); इससे मुझे अति प्रिय है। तीसरा यह कि इसके ही एक देश में पावनी श्रीसरयूजी भी बहती हैं, जो मज्जन करनेवालों को मेरा सामीप्य प्राप्त कराती हैं। चौथा यह कि यहाँ के वासी मुझे अति प्रिय हैं और पाँचवाँ यह कि यह ममधामदा पुरी 'सुखरासी' है।

'उत्तर दिसि वह सरजू पावनि।'—श्रीअयोध्यापुरी के साथ ही श्रीसरयूजी का भी वर्णन होता है, क्योंकि इन दोनों का नित्य संबंध है। श्रीसरयूजी भी श्रीअयोध्याजी के एक अंग हैं।

(२) 'जा मज्जन ते···'; यथा—"मज्जहिं सज्जन बृंद बहु, पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुंदर स्याम सरीर॥" (बा० दो० ३४), यह मज्जन की विधि है। बिनहिं प्रयासा'—योग, यज्ञ आदि साधन बिना ही। 'मम समीप' अर्थात् श्रीरामजी के समीप जहाँ श्रीरामजी का नित्य निवास है, वहाँ, राम-धाम में परिकर भाव को प्राप्त होता है। यह पद बड़ा दुर्लभ है ; यथा—"विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः।" (आलवंदारस्तोत्र)। यह श्रीसरयूजी में स्नान-मात्र से प्राप्त होता है। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"सरजू सरि कलि कलुष नसावनि।" (बा० दो० १५), "नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति॥" (बा० दो० ३४)।

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी ॥७॥

हरषे सब कपि सुनि प्रभु-बानी। धन्य अवध जो राम बखानी ॥८॥

अर्थ—यहाँ के निवास करनेवाले मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, यह पुरी सुख की राशि है और मेरे धाम को देनेवाली है ॥७॥ सब वानर प्रभु की वाणी सुनकर प्रसन्न हुए—यह अवध धन्य है, जिसका श्रीरामजी ने बखान किया ॥८॥

विशेष—(१,) 'अति प्रिय मोहि ···'—जैसे वैकुंठ की अपेक्षा श्रीअयोध्याजी अति प्रिय हैं वैसे वैकुंठवासी की अपेक्षा श्रीअवधवासी भी अति प्रिय हैं। प्रभु ने श्रीअवधवासियों से यह अपना प्रीत्यात्मक सम्बन्ध कहा। इसी सम्बन्ध से ये पुरवासी जगत भर के वंदनीय हुए, यथा "प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥" (बा० दो० १७)।

अनन्त श्रीस्वामी युगलानन्य शरणजी महाराज साकेतवासी (श्रीलक्ष्मण किला श्रीअयोध्या) का श्रीमुख कथन है कि श्रीअवधवासी चार प्रकार के होते हैं--(क) पहले श्रेणी के तो वे हैं, जिनका श्रीअयोध्याजी मे ही जन्म है। वे चाहे जहाँ रहें अपनी जन्म भूमि श्रीअयोध्या को ही कहेंगे और उनका इसी मे अधिक स्नेह रहेगा। अन्यत्र रहने पर भी बातचीत मे स्वभावत कह उठेंगे—हमारे यहाँ तो ऐसी रीति है। (ख) दूसरी श्रेणी के वे हैं, जिनका जन्म तो अन्यत्र हुआ, परन्तु सब छोड़कर यहीं रहने का नियम कर लिया है। (ग) तीसरी श्रेणी के वे हैं जो नियम से अवधवास तो नहीं कर सकते, पर नियमित रूप से आवागमन करते हैं, प्राय साल का बीच नहीं पड़ता। (घ) चौथी श्रेणी के वे हैं जो श्रीअवध आ नहीं सकते, परन्तु मन उनका यहाँ ही लगा रहता है। श्रीअयोध्या महारानी उन्हें भी श्रीअवधवासियों मे मान लेती हैं, यह इनकी दयालुता है।

'मम धामदा पुरी सुखरासी।'—'सुखरासी' से लोक-सुख देनेवाली और 'मम धामदा' से परलोक-सुख देनेवाली सूचित किया गया है। 'मम धामदा' से ऐसा भी अर्थ होता है—मुझको और मेरे धाम को देनेवाली। 'पुरी सुखरासी' से पुरी सच्चिदानंद रूपा भी जनाई गई है, क्योंकि श्रीरामजी को भी 'सुखराशी' कहा गया है। इसपर "राम धामदा पुरी सुहावनि।" (बा० दो० ३४)—देखिये।

श्रुतियों और इतिहास पुराणों में श्रीरामजी का धाम श्रीअयोध्या ही कहा गया है। श्रीअयोध्या का ही पर्यायवाची नाम साकेत है जो कि पर विभूति की श्रीअयोध्या के अर्थ मे प्राय कहा जाता है। महर्षि वाल्मीकिजी ने उसे 'सन्तानक लोक' लिखा है—वाल्मी ७।११०।१८–१९ देखिये। वेद के प्रमाण ऊपर दिये गये हैं।

जिनके मत मे श्रीरामजी श्रीमन्नारायण के अवतार हैं, उन आचार्यों के मत मे भी श्रीरामजी का नित्य धाम साकेत ही माना गया है। वहाँ श्रीरामजी नित्य द्विभुज नराकार रूप से ही रहते हैं। इससे चारों कल्पों की कथा मे 'राम धामदा पुरो' इसी रूप मे घटित होगी।

पुन यह भी हो सकता है कि—"उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना।" इस रामतापनीय श्रुति के अनुसार जिसकी दृष्टि मे जो राम धाम है, वह भी यहाँ युक्त ही है, *यथा—"जिनकी रही भावना* जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥" (बा० दो० १४०)।

(२) 'हरषे सब कपि '—*यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'कपिन्ह देखावत नगर मनोहर' है।* यहाँ 'प्रभु बानी' का प्रभाव है कि सभी वानर श्रीअयोध्या के माहात्म्य को जान गये और इसीसे हर्षित

हुए ;। यथा—"सुनी चहहिं प्रभु मुख के बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ॥" (दो० ३५)। यहाँ वानरों का भी भ्रम-नाश हो गया।

'धन्य अवध जो राम बखानी।'—वैकुंठ की सराहना वेद आदि ही करते हैं, श्रीअवध की सराहना श्रीमुख से श्रीरामजी ने भी की, इससे यह धन्य है।

दोहा—आवत देखि लोग सब, कृपासिंधु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ, उतरेउ भूमि बिमान॥
उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिं, तुम्ह कुबेर पहिं जाहु।
प्रेरित राम चलेउ सो, हरष बिरह अति ताहु॥४॥

अर्थ—कृपासागर भगवान् श्रीरामजी ने सब लोगों को आते देख नगर के समीप विमान को प्रेरित किया (मानसिक आज्ञा दी) तब वह पृथिवी पर उतरा॥ प्रभु ने उतरकर पुष्पक से कहा कि तुम कुबेरजी के पास जाओ। श्रीरामजी की प्रेरणा से वह चला; परन्तु उसे हर्ष और अत्यन्त विरह है॥४॥

(१) 'कृपासिंधु'—पुरवासियों पर कृपा है, उनसे मिलना चाहते हैं, नगर में एक साथ सबसे मिलते नहीं बनेगा, इसलिये बाहर ही—जहाँ ये लोग उपस्थित थे—वहीं विमान उतारा। 'भगवान'—यहाँ धर्म ऐश्वर्य की सँभाल कर रहे हैं कि मंत्री, ब्राह्मण, गुरु आदि भूमि पर खड़े हैं, हमें विमान पर रहना उचित नहीं, अतएव विमान उतारा, इससे भगवान् कहा गया है। भगवान् का अर्थ षडैश्वर्य युक्त है और षडैश्वर्य में एक 'धर्म' भी है—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ये छः ऐश्वर्य हैं। धर्म में दया प्रधान है, इससे 'कृसतनु' प्रजा का कष्ट नहीं देख सके। अतएव उनका दुःख दूर करने के लिये शीघ्र उतरे।

(२) 'उतरि कहेउ प्रभु···'—श्रीविभीषणजी ने पुष्पक विमान श्रीरामजी को नजर में दिया है, यद्यपि इन्हें उसकी चाह नहीं थी, आपने केवल श्रीअवध पहुँचाने मात्र के लिये निहोरा किया था, परन्तु उन्होंने उसे मणि-यत्न से पूर्ण करके लाकर भेंट किया। प्रभु ने मित्र के आदर के लिये उसे स्वीकार कर लिया। फिर प्रभु ने अपनी विजय के उपहार रूप में उसे कुबेरजी को लौटा दिया। क्योंकि कुबेरजी से रावण ने इसे बलात् छीना था, कुबेरजी के मन में इसका दुःख था। अतः, इसे लौटाकर उनका दुःख दूर किया। देवताओं के दुःख-हरण के लिये तो आपका अवतार ही है। पुनः अभी ही विमान लौटाकर उनके लिये अपने राज्याभिषेक पर सम्मानपूर्वक आने का संयोग भी कर दिया।

(३) 'प्रेरित राम चलेउ सो······'—उसे जाने की इच्छा नहीं थी। श्रीरामजी की प्रेरणा से विवश होकर गया, इससे जो थोड़ी भी प्रभु की सेवा मिली, उसका और अपने स्वामी कुबेरजी के मिलने का हर्ष उसे थोड़ा हुआ, पर प्रभु से अत्यन्त शीघ्र पृथक् होने का विरह उसे अत्यन्त हुआ।

आये भरत संग सब लोगा। कृसतनु श्रीरघुबीर-बियोगा॥१॥
बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनुसायक॥२॥
धाइ धरे गुरु-चरन-सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के साथ सब लोग आये, सभी श्रीरामजी के वियोग में शरीर से दुबले हो गये हैं ॥१॥ श्रीवामदेवजी और श्रीवसिष्ठजी आदि मुनि-श्रेष्ठों को देख, पृथिवी पर धनुष-बाण रखकर, भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु ने दौड़कर गुरुजी के चरण-कमल पकड़ लिये। दोनों भाइयों के शरीर अत्यंत पुलकित और रोमांचित हो रहे हैं ॥२-३॥

विशेष—(१) 'आये भरत संग······'—पूर्व—"हरषित गुरु परिजन अनुज, भूसुर-बृंद समेत। चले भरत······" से श्रीभरतजी का प्रसंग छूटा था, वहीं से प्रसंग लिया और वहीं पर कहे हुए 'गुरु-परिजन ···' को यहाँ 'सब लोगा' कहा है। 'कृस तनु' भी सभी हैं। श्रीरामजी के प्रेम और विरह में श्रीभरतजी सबसे अधिक हैं और राज्य पद के सम्बन्ध से उनकी प्रधानता कही गई। यहाँ पर 'कृस तनु' 'सब लोगा' का विशेषण है—श्रीभरतजी का नहीं, उन्हें तो पहले ही 'जटामुकुट कृस गात' कहा गया है। 'श्रीरघुबीर बियोगा' का भाव यह है कि रघुवीर के वियोग में सबकी श्री हत हो गई है; यथा—"श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि मलीना॥" (अ० दो० ११८)।

(२) 'बामदेव बसिष्ठ मुनि ······'—यद्यपि श्रीभरतजी आदि की यही लालसा है कि श्रीरामजी पहले हमसे मिलें, तथापि धर्म-मर्यादा के अनुसार मुनियों को आगे किये हुए हैं। श्रीरामजी भी मर्यादा के ही विचार से पहले श्रीवसिष्ठजी आदि से मिले। वामदेवजी के सम्मान के लिये उन्हें श्रीवसिष्ठजी से प्रथम कहा और श्रीवसिष्ठजी की श्रेष्ठता 'मुनि नायक' कहकर जनाई।

'महि धरि धनुसायक'—शस्त्रास्त्र सहित गुरु को प्रणाम नहीं करना चाहिये। इसलिये धनुष-बाण पृथिवी पर रख दिये, शीघ्रता में किसी को थमा नहीं सके। पुनः बड़ों से मिलने मे लोग टोपी या पगड़ी उतारकर मिलते हैं, क्योंकि ये अपनी श्रेष्ठता के चिह्न हैं। वैसे क्षत्रियों के शस्त्रास्त्र भी उनकी श्रेष्ठता के चिह्न हैं। इससे क्षत्रिय लोग प्रणाम एवं आत्म-समर्पण आयुध ही के द्वारा करते हैं। इन्हें उतारकर मिलने में गुरुजी को अति सम्मान दिया, जो कि भरद्वाज-वाल्मीकि आदि को भी नहीं प्राप्त हुआ था। 'देखे प्रभु'—जहाँ से देखा वहीं से आयुध रखकर दौड़े।

(३) 'धाइ धरे गुरु चरन ···'—'धाइ धरे' से चरणों में लगकर प्रणाम करना सूचित किया। इससे अत्यन्त उत्कंठा जानी गई। 'अति पुलक तनोरुह'—गुरु-चरणों के प्रणाम में पुलक होना ही चाहिये; यथा—"रामहि सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाइ॥" (दोहावली ४१)।

भेंटि कुसल बूझी मुनिराया। हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥४॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम-धुरंधर रघुकुल-नाथा॥५॥

अर्थ—मुनिराज श्रीवसिष्ठजी ने (उन्हें उठाकर हृदय से लगा) भेंट करके उनसे कुशल पूछी। उन्होंने कहा कि आपकी दया से हमारी कुशल है॥४॥ धर्म की धुरी धारण करनेवाले रघुकुल के नाथ श्रीरामजी ने सब ब्राह्मणों से मिलकर उनको शिर नवाया॥५॥

विशेष—(१) 'कुसल बूझी मुनि राया।'—कुशल पूछना लोक-व्यवहार है। श्रीरामजी को प्रेम से हृदय लगाकर कुशल पूछी, इससे 'मुनिराया' कहा है, क्योंकि राम-प्रेम से ही मुनियों की भी बड़ाई होती है; यथा—"राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥" (अ० दो० २७१)।

(२) 'हमरे कुसल··'—गुरु की दया में ही कुशल है; यथा—"राखइ गुरु जो कोप बिधाता।" (बा॰ दो॰ १६५), तथा—"बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं ॥" (अ॰ दो॰ २६६)।

(३) 'सकल द्विजन्ह मिलि ···'—ब्राह्मणों की भक्ति के सम्बन्ध से कुल श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि पुण्य से कुल बढ़ता है और द्विज-भक्ति भारी पुण्य है, यथा—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥" (दो॰ ४४); इसीसे 'धर्म धुरंधर' के साथ 'रघुकुलनाथा' भी कहा है। ब्राह्मणों से पहले (न मिलकर) गुरुजी से मिले, क्योंकि वे विप्रश्रेष्ठ और गुरु भी हैं।

गहे भरत पुनि प्रभुपद - पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज ॥६॥
परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये ॥७॥
स्यामल गात रोम भये ठाढ़े। नवराजीव - नयन जल बाढ़े ॥८॥

अर्थ—फिर श्रीभरतजी ने प्रभु के चरण-कमल पकड़े कि जिन्हें देवता, मुनि, शंकरजी और ब्रह्माजी प्रणाम करते हैं ॥६॥ वे पृथिवी पर (साष्टाङ्ग) पड़े हुए हैं, उठाये नहीं उठते, दयासागर श्रीरामजी ने बल-पूर्वक उनको उठाया और हृदय से लगा लिया ॥७॥ (दोनों के) श्यामल शरीर में रोएँ खड़े हो गये और नवीन-कमल के समान नेत्रों में जल की बाढ़ आ गई ॥८॥

विशेष—(१) 'नमत जिन्हहि सुर मुनि ···'—चरण पकड़ते समय श्रीभरतजी इन चरणों का महत्व हृदय में विचारते हैं कि ये चरण तत्वज्ञ मुनियों के नमस्कार करने के योग्य हैं। समस्त लोक के कल्याण कर्त्ता एवं संहर्त्ता ईश्वर श्रीशिवजी और संसार के उत्पन्न करनेवाले श्रीब्रह्माजी भी उन्हें नमस्कार करते हैं। हमारा अहोभाग्य है कि आज हमें ये चरण प्राप्त हुए। अभी लङ्का में श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी आकर स्तुति कर गये हैं। यह श्रीहनुमान्‌जी से श्रीभरतजी सुन चुके हैं।

(२) 'परे भूमि नहिं उठत उठाये।'—प्रेम में निमग्न हैं, क्योंकि इन्हीं चरणों की पादुकाओं की सेवा १४ वर्ष की है, आज वे चरण ही मिल गये, इससे उठाये नहीं उठते, यथा—"बार बार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥" (सुं॰ दो॰ ३२), जब स्वयं नहीं उठे, साधारणतः उठाने से भी न उठे तब बलात् उठाया। उठाने में 'कृपासिंधु' कहा है, क्योंकि श्रीभरतजी पर बड़ी कृपा है, उन्हें बलात् भूमि से उठा लिया और हृदय से लगाया।

(३) 'स्यामल गात रोम भये ठाढे। ···'—श्यामलगात कहकर शरीर की शोभा कही और नवीन लाल कमल के समान कहकर नेत्रों की शोभा कही, यथा—"स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन ॥" (बा॰ दो॰ २१६)। पुनः शरीर में रोमाञ्च होने से और नेत्रों में प्रेमाश्रु आने से प्रेम की शोभा कही गई। इस अर्द्धाली में दोनों भाइयों की दशा एक ही विशेषण से कही गई।

छंद—राजीव-लोचन स्रवत जल तनु ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन-धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुखमा लही ॥

अर्थ—कमल के समान नेत्रों से जल चल रहा है, सुन्दर कोमल शरीर में सुन्दर पुलकावली शोभित हो रही है। त्रिलोक के स्वामी प्रभु श्रीरामजी भाई को अत्यन्त प्रेम से हृदय लगाकर मिले॥ भाई से मिलते हुए प्रभु (जैसे) शोभित हो रहे हैं, मुझसे (वैसी) उपमा कही नहीं जाती, (अर्थात् कहीं मिलती ही नहीं)। ऐसा जान पड़ता है मानों प्रेम और शृङ्गार शरीर धरकर मिलते हुए श्रेष्ठ शोभा को प्राप्त हुए हों॥

विशेष—(१) 'राजीव-लोचन स्रवत जल···'—पहले नेत्रों में जल का बढ़ना कहा गया—'नयन जल बाढ़े' अब यहाँ उनका श्रवना (बहना) कहते हैं। तनु रोमांच होने से ललित है। पुलकावली के साथ भी ललित शब्द है। पुलकावली दुःख की भी होती है, वह ललित नहीं कहाती; यथा—"सकल सखी गिरिजा गिरि मयना। पुलक सरीर भरे जल नयना॥" (बा० दो० ९७); परन्तु यहाँ सुख की पुलकावली है, इससे ललित कही गई।

(२) 'अति प्रेम हृदय···'—'त्रिभुवन धनी' से बड़प्पन कहा, उसी सम्बन्ध से 'प्रभु' भी कहा। फिर छोटे पर स्नेह करना कहा, यह योग्य ही है; यथा—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (बा० दो० १६६)। यह भी भाव है कि जैसा श्रीरामजी का प्रेम श्रीभरतजी पर है, वैसा तीनों लोकों में किसी पर नहीं है।

(३) 'प्रभु मिलत अनुजहि···'—श्रीभरतजी प्रेम की मूर्त्ति हैं, श्रीरामजी ही उनसे मिल रहे हैं, अत्यंत प्रेम के कारण श्रीभरतजी मूर्त्तिवत् जड़ हो रहे हैं।

(४) 'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि'—श्रीभरतजी प्रेम की मूर्त्ति हैं; यथा—"भरतहि कहहि सराहि सराही। राम प्रेम-मूरति तनु आही॥" (अ० दो० १८१); और श्रीरामजी शृंगार की मूर्त्ति हैं; यथा—"जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।" (बा० दो० २४१); 'तनु धरि'—प्रेम और शृंगार के तनु नहीं होते, पर यहाँ मानों दोनों तनु धारण किये हुए हैं। 'बर सुखमा लही'—सुषमा का अर्थ परम शोभा है, यह 'बर' विशेषण उसमें भी विशेषता दिखाता है, इस तरह कि यों ही प्रेम और शृंगार के मिलने से परम शोभा होती है, यदि वे तनु धारण करके मिलें, तो अधिकता तो होगी ही; यथा—"मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ॥" (अ० दो० ११०); तात्पर्य यह है कि प्रेम की शोभा श्रीरामजी के सम्बन्ध से है और श्रीरामजी की शोभा प्रेमी से मिलने में है।

जैसे शृंगार और प्रेम दोनों का वर्ण श्याम है और दोनों अन्योन्य शोभा-वर्द्धक हैं। वैसे ये भी परस्पर शोभा-वर्द्धक हैं। शृंगार भी प्रेमरस है। रस स्वामी है और प्रेम उसका अनुचर है। वैसे ही शृंगार रस रूपी श्रीरामजी स्वामी हैं और प्रेमरूप श्रीभरतजी सेवक हैं। शृंगार रस का प्रेम स्थायी भाव है, स्थायी भाव रस का प्राण कहा जाता है। वैसे ही श्रीभरतजी श्रीरामजी के प्राणों के समान प्रिय हैं।

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह - बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

दोहा—पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदय लगाइ।
लछिमन भरत मिले तब, परम प्रेम दोउ भाइ ॥५॥

अर्थ—कृपा के सागर श्रीरामजी श्रीभरतजी से कुशल पूछते हैं (पर श्रीभरतजी के मुख से) शीघ्र वचन नहीं निकलता। श्रीशिवजी कहते हैं कि हे शिवा (पार्वतीजी)! सुनो, वह सुख (जिसमें श्रीभरतजी निमग्न हैं) वाणी और मन से परे है, जो उस सुख को पाता है वही जानता है, (दूसरा न जाने और न कह सके) ॥ (श्रीभरतजी ने कहा—) हे कोशलनाथ! आपने आर्त्त जानकर (मुझ) जन को दर्शन दिये, इससे अब कुशल है (नहीं तो कुशल न होती)। विरह-सागर में डूबते हुए मुझको, हे कृपासागर! आपने हाथ पकड़कर निकाल लिया॥ फिर प्रभु श्रीशत्रुघ्नजी को हर्ष-पूर्वक हृदय लगाकर उनसे मिले (जब श्रीरामजी श्रीभरत-शत्रुघ्न से मिल चुके) तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी दोनों भाई परम प्रेम से मिले ॥५॥

विशेष—(१) 'वचन बेगि न आवई'—क्योंकि कंठ गद्गद हो गया है। 'भरतहि' शब्द दीप-देहली है। 'सुनु सिवा सो सुख······'—वचन से भिन्न है, अर्थात् कहने में नहीं आता; यथा—"कहहु सो प्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई॥ कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहर ताल गतिहि नट नाँचा॥" (अ० दो० २४०); मन से भिन्न; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥ (अ० दो० २४०); 'जान जो पावई'—भाव यह है कि वह भी कह नहीं सकता, जैसे 'गूँगे का गुड़' यह प्रसिद्ध है। क्योंकि इसपर प्रेम में अंतःकरण निमग्न हो जाता है; यथा—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुद्धि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सो प्रेम प्रगट को करई।" (अ० दो० २४०)।

(२) 'अब कुसल कौसलनाथ······'—आपके आने पर अब मेरी और कोशला (अवध) वासियों की कुशल हुई (नहीं तो कोई नहीं जीता)। 'आरत जानि'; यथा—"रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुर लोग। जहँ तहँ सोचहिं······" अपनी आर्त्त दशा आगे 'बूड़त बिरह बारीस···' से कही है। डूबनेवाले आर्त्त को जैसे कोई बाँह पकड़कर निकाल ले, वैसे ही दर्शन देकर आपने हम सबको बचा लिया। भाव यह कि हमारी कुशल आपकी कृपा से हुई; यथा—"अब पद देखि कुसल रघुराया। जो तुम्ह कीन्ह जानि जन दाया॥" (सुं० दो० ४५)।

(३) 'मोहि कर गहि लियो'—पहले राम-विरह-सागर में डूबते थे, तब श्रीहनुमान्जी का नाव-रूप से सहायक होना कहा गया। वहाँ नाव मिलने से भी विरह-समुद्र में ही रहे, बचने की आशा मात्र हो गई थी। अब साक्षात् श्रीरामजी ही आ मिले। तब मानों विरह-समुद्र से बाहर स्थल में आ गये।

'सो सुख वचन मन ते भिन्न'—जबतक मन संकल्प विकल्प की तरंगों में रहता है, तबतक उसे प्रेम के द्वारा चित्तस्थिरता का सुख नहीं मिलता और जबतक कंठकी गद्गद आदि दशाएँ नहीं हों, प्रेम की पूर्णता हो नहीं।

(४) 'पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन······'—यहाँ श्रीशत्रुघ्नजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया; क्योंकि इन्होंने श्रीभरतजी के साथ ही दंडवत् की है; यथा—"सीता चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥" (उ० दो० ५); श्रीभरतजी का मिलाप विस्तार से कहा गया। वैसे ही और भाइयों का समझना चाहिये। श्रीगोस्वामीजी संक्षेप से लिख रहे हैं, इससे भेंट सब भाइयों की कहते हैं, पर प्रणाम करना और किसी का नहीं कहते। अतः, ऐसा जानना चाहिये कि श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीभरतजी को

प्रणाम किया, तब उन्होंने हृदय लगाकर उनसे भेंट की और श्रीशत्रुघ्नजी ने श्रीलक्ष्मणजी को प्रणाम किया, तब श्रीलक्ष्मणजी उनसे मिले। 'प्रभु हरषि'—अपने भक्त श्रीभरतजी का सेवक जानकर हर्ष है। 'परम प्रेम'—श्रीभरतजी श्रीलक्ष्मणजी को रामानुरागी, बड़भागी मानकर और श्रीलक्ष्मणजी उन्हें श्रेष्ठ रामभक्त और अपना बड़ा भाई मानकर परम प्रेम से मिलते हैं। श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले कहकर इनका प्रणाम करना सूचित किया गया है। जैसे प्रभु और श्रीभरतजी के मिलाप में प्रेम की दशा कही गई। वैसी ही यहाँ भी है, इसीसे 'परम प्रेम' कहा है।

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। दुसह बिरह-संभव दुख मेटे ॥१॥
सीता-चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा ॥२॥
प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी ॥३॥

अर्थ—फिर श्रीलक्ष्मणजी श्रीशत्रुघ्नजी से गले लगकर मिले और कठिन विरह से उत्पन्न कठिन दु:ख निवृत्त किया ॥१॥ भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ श्रीभरतजी ने श्रीसीताजी के चरणों में शिर नवाया और परम सुखी हुए ॥२॥ प्रभु को देखकर सभी पुरवासी प्रसन्न हुए, वियोग से उत्पन्न उनकी सब विपत्ति नाश हो गई ॥३॥

विशेष—(१) 'भरतानुज लछिमन···'—श्रीलक्ष्मणजी श्रीशत्रुघ्नजी से अपने सगे भाई के नाते से नहीं मिले, किंतु उनकी श्रीभरतजी में निष्ठा देखकर प्रीति पूर्वक मिले हैं। श्रीभरतजी का त्याग और परम प्रेम श्रीलक्ष्मणजी के चित्त मे बैठ गया है। अतः, इन्हें उनकी सेवक जानकर प्रेम से मिलते हैं। ऐसे ही आगे श्रीसुमित्राजी श्रीलक्ष्मणजी से 'राम-चरन-रति जानि' मिलेंगी।

'भरतानुज'—श्रीशत्रुघ्नजी श्रीलक्ष्मणजी के सहोदर छोटे भाई हैं; यथा—"सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सनेम। सुवन लखन रिपुदवन से, पावहिं पति-पद-प्रेम॥" (दोहावली ११३) : पर श्रीभरतजी मे उनकी निष्ठा एवं बालपन से अत्यंत संसर्ग रहा, इसीसे वे भरतानुज कहे जाते हैं। इसी तरह श्रीलक्ष्मणजी भी रामानुज कहलाते हैं। इनकी निष्ठा ; यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (बा॰ दो॰ १९७)।

'दुसह बिरह संभव दुख मेटे'—श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति लगी थी; इसका दुःख श्रीशत्रुघ्नजी को था और श्रीशत्रुघ्नजी घर मे रहते हुए कहीं ऐश्वर्य मे लिप्त होकर स्वधर्म न भूल जाय, यह दुःख श्रीलक्ष्मणजी को था। यहाँ मिलने से दोनों के वे दु:ख जाते रहे। ये दोनों यमज (जोड़ा) भाई हैं, लोक-रीति से भारी वियोग दुःख होना युक्त ही है। अथवा यह चरण 'दुसह बिरह संभव दुख मेटे।' चारों भाइयों के मिलाप के अंत मे कहा गया है। अतः, सबमे लगता है, मिलने से सबके पारस्परिक दुःसह विरह दुःख दूर हुए।

(२) 'अनुज समेत परम सुख पावा।'—जैसे इन दोनों भाइयों ने चित्रकूट मे प्रणाम किया था और श्रीसीताजी ने आशिष दी थी। वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये; यथा—"सानुज भरत उमँगि अनुरागा।" से "भे निसोच उर अपडर बीता॥" (अ॰ दो॰ २४४); तक देखिये।

(३) 'हरषे पुरबासी ; यथा—"समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि सब धाये॥"

(दो॰ २); से प्रसंग लिया गया। 'बिपति सब नासी'—विपत्ति को रात्रि कहा है; यथा "तहँ तव रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान॥" (अ॰ दो॰ ११); और ऊपर श्रीरामजी का आगमन सूर्योदय रूप कहा गया; यथा—"इहाँ भानुकुल कमल दिवाकर।" (दो॰ १)। अतः, श्रीरामजी के दर्शनों से विपत्ति का नाश होना युक्त ही है।

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥४॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥५॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नरनारि बिसोकी॥६॥
छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥७॥
येहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील गुन धामा॥८॥

अर्थ—सब लोगों की प्रेम-आतुरी (शीघ्र मिलने की उत्कृष्ट इच्छा) को देखकर (जानकर) खर के शत्रु कृपालु श्रीरामजी ने खेल किया॥४॥ उसी समय कृपालु श्रीरामजी अमित रूप से प्रकट हो गये और सबसे यथा योग्य मिले॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कृपादृष्टि से देखकर सब स्त्री-पुरुषों को शोक-रहित किया॥६॥ भगवान् श्रीरामजी क्षण-मात्र ही में सबसे मिले, हे उमा! यह भेद किसी ने नहीं जान पाया॥७॥ इस प्रकार शील और गुणों के धाम श्रीरामजी सबको सुखी करके आगे चले॥८॥

विशेष—(१) 'प्रेमातुर···निहारी'—प्रभु ने देखा कि सब स्त्री-पुरुष दौड़े आ रहे हैं, मेरे दर्शनों के अत्यन्त लालायित हैं, सभी पहले मिलना चाहते हैं। प्रभु का उनमें अत्यंत प्रियत्व है ही; यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (दो॰ १); इससे सबको एक साथ सुखी करने के लिये कृपा करके उन्होंने कौतुक किया। 'खरारी' का भाव यह कि वहाँ और यहाँ के कौतुक मिलते हैं। वहाँ माया से उन सबों को मोहित कर दिया था, जिससे वे परस्पर राम रूप देखते हुए लड़ मरे थे, इससे 'मायानाथ' कहे गये थे। पर यहाँ तो आप स्वयं 'अमितरूप' हुए हैं यह कृपा है, इससे यहाँ 'कृपालु' कहे गये हैं। वहाँ १४००० सुर मुनि को सभय देखकर कौतुक किया था और यहाँ सब लोगों को प्रेमातुर देखकर। वहाँ १४००० राक्षस नाश हुए और यहाँ १४ वर्ष की विरह-विपत्ति नाश हुई। वे राक्षस वरदान से प्रबल थे और यह वियोग दुःख पिता के वरदान से प्रबल था, वरदान के द्वारा उन राक्षसों का अन्य उपायों से नाश नहीं हो सकता था, वैसे ही यह वियोग दुःख भी किन्हीं उपायों से नहीं नाश हो सकता था।

(२) 'अमित रूप प्रगटे...'—श्रीरामजी प्रेम से प्रकट होते हैं; यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा॰ दो॰ १८४); इसी से उन्होंने जब अमित लोगों को प्रेमातुर देखा, तब अमित रूप से प्रकट हो गये। 'तेहि काला'—तत्काल ही; अर्थात् अमित रूप धारण करने में कुछ भी विलंब नहीं हुआ। 'जथा जोग'—जो जिस प्रकार से मिलने के योग्य थे, उनसे उसी प्रकार मिले। किसी को प्रणाम किया, किसी से गले लगकर मिले, किसी की गोद में बैठे और किसी को गोद में लिया, इत्यादि। जो स्त्रियाँ आदि थीं एवं और लोग भी किसी प्रकार मिलने के योग्य नहीं थे, उन्हें कृपा-दृष्टि से देखा। सबको सुखी करना कृपालुता का द्योतक है। अतः, 'कृपाला' कहा गया है। जब भगवान् कृष्ण का आगमन द्वारकापुरी में हुआ था तब इसी प्रकार वहाँ भी मिलना कहा गया है; यथा—"भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनिवर्तिनाम्। यथा विध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥ प्रह्लाभिवादनाश्लेषकरस्पर्श-

स्मितेक्षणैः। आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥ स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि। आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम्॥" (भाग० ११।११।१२-२१)।

(३) 'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी।...'—यहाँ 'दया-वीरता के सम्बन्ध से रघुवीर विशेषण दिया गया; क्योंकि 'कृपा-दृष्टि' के साथ 'रघुवीर' कहा गया है। पहले पुरवासियों ने श्रीरामजी को देखा था, तब उनको वियोग-विपत्ति नाश हुई थी; यथा—"प्रभु बिलोकि...जनित बियोग...' ऊपर कहा गया है और यहाँ श्रीरामजी का देखना और उससे सबका विशोक होना कहा गया है; अर्थात् सबका भव-शोक भी नाश हो गया; यथा—"जड़ चेतन मगजीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ० दो० २१६); तथा—"अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।" (वाल्मी० ६।११७।३१)।

(४) 'छन महिं सबहि मिले भगवाना।...'—यहाँ ऐश्वर्य-रीति से गुप्तमिलन है। इसीसे प्रभु को भगवान् कहा गया है और इस मर्म को किसी का नहीं जानना भी कहा है। इसमे यह भी भाव है कि जो घरेलू जानवर मूसा, बिल्ली, मोर आदि थे, प्रभु उनसे भी मिले, यथा—"हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुर पसु चातक मोर। पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥ रामबियोग बिकल सब ठाढ़े।" (अ० दो० ८३); अर्थात् वन-यात्रा के समय ये सभी विकल हुए थे। अतः, इनसे भी मिलकर इन्हें सुखी किया। इन सबकी रुचि के अनुकूल मिले। यथा—"जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी॥" (अ० दो० २४२); यहाँ तीन प्रकार का मिलना हुआ—(क) मिलने के अधिकारी मनुष्यों से यथायोग्य मिले; यथा—"जथा जोग मिले सबहि कृपाला।" (ख) स्त्रियों एवं अन्य मिलने के अनधिकारियों से कृपा-दृष्टि से मिले; यथा—"कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी।" (ग) पुर-पशु आदि से भी मिले; यथा—"छन महँ सबहि मिले भगवाना।"

'उमा मरम यह काहु न जाना।'– श्रीशिवजी भगवान् हैं, इससे भगवान् श्रीरामजी के मर्म को जानते हैं। उन्होंने उमा से कहा और वही परंपरा द्वारा पूज्य ग्रन्थकार को भी प्राप्त हुआ। यह प्रभु का रहस्य है, श्रीपार्वतीजी ने पूछा था; यथा—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥" (बा० दो० ११०); उसका यहाँ उत्तर है।

'सुखी करि रामा'—सबको उनकी इच्छानुसार सुखी किया। इससे 'रामा' कहा गया है, क्योंकि सबमें रमते हैं, इससे सबकी रुचि जानकर तदनुसार उन्हें सुखी किया। 'आगे चले'—अभी औरों को एवं माताओं को भी सुखी करना है, इसलिये आगे चले, आगे तो चलना ही है। 'सील गुन धामा'—नीच-ऊँच सभी से मिले, इससे शील-धाम हैं, और सबकी रुचि पूरी की और किसी ने मर्म नहीं जाना, सबने यही जाना कि पहले हम ही से मिल रहे हैं, इससे गुण-धाम हैं।

कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥९॥

छंद—जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहचरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुँकार करि धावत भईं।
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

अर्थ—श्रीकौशल्या आदि सब माताएँ ऐसी दौड़ीं; मानों नई बियाई हुई गायें बछड़ों को देखकर दौड़ी हों ॥४॥ मानो नवीन बियाई हुई गायें छोटे बछड़ों को (जिसे अभी दूध का ही आधार है) घर में छोड़कर चरने के लिये परवश वन में गई थीं। वे दिन के अंत होने पर नगर की ओर हुँकार करती (रँभाती) थन से दूध गिराती हुई दौड़ी हों ॥ प्रभु सब माताओं से अत्यन्त प्रेम से मिले और इन्होंने बहुत प्रकार के कोमल वचन कहे। वियोग से होनेवाली सब कठिन विपत्ति दूर हुई और उन्होंने अगणित हर्ष और सुख पाये ॥

विशेष—(१) 'कौसल्यादि मातु सब धाई।...'—श्रीकौशल्याजी पटरानी हैं, इससे इनका नाम सबसे पहले दिया गया। 'सब धाई' क्योंकि श्रीरामजी सबको समान प्रिय हैं। 'धेनु लवाई'—धेनु शब्द में ही लवाई का भाव आ जाता है, 'धेनु' का अर्थ ही 'लवाई गऊ' है, पर स्पष्ट करने के लिये 'लवाई' भी लिखा गया है। 'निरखि'—जब श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीसीताजी दिखलाई पड़े। यहाँ शुद्ध वात्सल्य-भाव है, गाय की उपमा दी गई, क्योंकि वात्सल्य गाय से अधिक किसी में नहीं होता।

तुरत की बियाई हुई गाय की उपमा इससे भी दी गई कि माताएँ श्रीराम-लक्ष्मणजी के नये जन्म मानती हैं। जो रावण ऐसे शत्रु से बचकर आये; यथा—"कवनि भाँति लंकापति मारा॥ निसिचर सुभट महा भट मारे॥" (दो० ६); या, श्रीलक्ष्मणजी अमोघ शक्ति से पुनः जीवित होकर आये, इनके बिना श्रीरामजी भी प्राण त्याग देते। इससे दोनों के नये जन्म मानती हैं।

(२) 'जनु धेनु बालक बच्छ तजि···'—माताएँ चित्रकूट गई थीं; अतः, इनसे अंतिम वियोग वहीं से हुआ। जैसे लवाई गाय को उसका रक्षक जबरदस्ती रक्षा के लिये वन में चराने को ले जाता है और दिन के अन्त में ले आता है, तब वह गाय बछड़े की ओर दौड़ती है। वैसे गाय-रूपी माताओं को रक्षक-रूप श्रीभरतजी बछड़ा-रूप श्रीरामजी से छुड़ाकर जबरदस्ती चित्रकूट से उनकी रक्षा के लिये वन-रूपा श्रीअयोध्या को लाये हैं। वन ही श्रीअवधपुर है; यथा—"अवध तहाँ जहँ राम निवासू।" (अ० दो० ७३); पुर वन है; यथा—"नगर सफल वन गह्वर भारी।" (अ० दो० ८३); जैसे गायों के थन से दूध टपकना है वैसे ही अत्यन्त प्रेम के कारण माताओं के स्तनों से दूध टपकता है; यथा—"गोद राखि पुनि हृदय लगाये। स्रवत प्रेम रस पयद सुहाये॥" (अ० दो० ५१)। अत्यन्त प्रेम से माताओं का दौड़ना यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है।

(३) 'अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी।···'—दौड़ने में श्रीकौशल्याजी की ही प्रधानता थी; किंतु प्रभु ने पहले और माताओं से भेंट की, क्योंकि धर्मशास्त्र में अपनी माता की अपेक्षा विमाता का गौरव दस गुणा कहा गया है; यथा—"मातुर्दशगुणामान्या विमाता धर्म-भीरुणा।" (मनुस्मृति); श्रीकौशल्याजी से मिलना आगे कहा जायगा। 'अति प्रेम'—सब माताएँ अति प्रेम से दौड़ी थीं, वैसे ही प्रभु ने भी अति प्रेम से उनसे भेंट की। 'प्रभु' का भाव यह है कि माताएँ ७०० हैं, उनसे एक साथ ही प्रभुतापूर्वक मिले, सात सौ रूप धारण किये; यथा—"पालागन दुलहियन सिखावति सरिस सासु मन सावा॥" (गी० बा० १०८)। जैसे पुरवासियों के लिये अमित रूप हुए वैसे यहाँ भी जानना चाहिये।

यहाँ श्रीरामजी ने मन, वचन और कर्म से माताओं में प्रेम दिखाया—

'अति प्रेम'—मन, 'भेंटी'—कर्म और 'बचन मृदु···'—यह वचन है।

'बचन मृदु बहु बिधि कहे'—मृदु भाषण तो आप सर्वदा करते ही हैं; परन्तु आज माताओं की विषम-वियोग की विपत्ति का हरण करना है, इससे और भी कोमल वचन कहे कि दैवात् आपसे वियोग

हुआ, १४ वर्षों तक मैं आपकी सेवा से वंचित रहा। पर वन में बराबर आपका स्मरण करता रहा। आपलोगों के ही धर्म-प्रभाव से मैं वन मे भी सुखी रहा और बड़े भारी शत्रु से विजय पाई, मुनियों को सुखी किया, इत्यादि।

(४) 'हरष सुख अगनित लहे'—हर्ष मिलने में और सुख बहु विधि वचनों के सुनने में जानना चाहिये, क्योंकि दोनों का एक ही अर्थ है।

दोहा—भेंटेउ तनय सुमित्रा, रामचरन रति जानि।
रामहि मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि॥
लछिमन सब मातन्ह मिलि, हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले, मन कर छोभ न जाइ॥६॥

शब्दार्थ—छोभ (क्षोभ)= खलबली, खेद; यथा—"भयउ ईस मन छोभ बिसेषी॥" (बा० दो० ८९)।

अर्थ—श्रीसुमित्राजी ने श्रीरामजी के चरणों मे रत जानकर पुत्र (श्रीलक्ष्मणजी) से भेंट की। श्रीरामजी से मिलते हुए श्रीकैकेयीजी हृदय में बहुत सकुचा गईं॥ श्रीलक्ष्मणजी सब माताओं से मिल आशीर्वाद पाकर हर्षित हुए। श्रीकैकेयीजी से बार-बार मिले, परन्तु मन का क्षोभ नहीं जाता॥६॥

विशेष—(१) 'रामचरन रति जानि'—श्रीसुमित्राजी ने जैसा उपदेश दिया था, उसमे श्री-लक्ष्मणजी खरा निकले। इससे श्रीसुमित्राजी ने स्वयं पुत्र को बुलाकर उनसे भेंट की। श्रीलक्ष्मणजी माता से मिलने नहीं गये, क्योंकि श्रीसुमित्राजी ने ऐसा ही उपदेश दिया था, यथा—"तात तुम्हारि मातु बैदेही।" (अ० दो० ७३)। श्रीकैकेयीजी संकोच के मारे पीछे थीं, मिलते हुए भी उन्हें बहुत संकोच हुआ। इस संकोच को मिटाने के लिये फिर उनके महल मे जाकर श्रीरामजी समझावेंगे। दो० ६ चौ० १ देखिये।

(२) 'कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले…'—क्षोभ का नहीं जाना दोनों ओर लगता है। श्रीलक्ष्मणजी के मन में क्षोभ है कि इनका श्रीरामजी मे कैसा सच्चा प्रेम था, परन्तु यह इन्होंने बहुत ही अनुचित किया जो उन्हें वनवास दिया। जैसे कि श्रीभरतजी के मन मे क्षोभ रहा कि जन्म-भर उन्हें माता माना ही नहीं। कैकेयीजी के भी मन मे क्षोभ है कि हमसे नहीं बना, जो श्रीरामजी को वनवास दिया। जिससे इन्हें महान् कष्ट भोगना पड़ा।

बार-बार मिलकर क्षोभ मिटाना चाहते हैं, परन्तु वह नहीं मिटता। पूज्य ग्रन्थकार ने जान बूझकर ऐसे शब्द रक्खे हैं जो दोनों ओर लगते हैं। बार-बार मिलने का कारण यह है कि सब माताओं ने आशिष दी है, पर श्रीकैकेयीजी संकोच के मारे आशिष न दे सकी थीं। इन्हें देखने मे लज्जा लगती थी। अथवा, श्रीकैकेयीजी से आशीर्वाद नहीं पाने के कारण ये शुद्ध स्नेह से फिर-फिर से मिलते हैं कि जिससे यह हमे रूठा हुआ नहीं मानें, क्योंकि वनवास पर इन्होंने कैकयीजी को परोक्ष में कठोर वचन कहे थे। जब तक उधर से आशिष नहीं मिली, तबतक इधर इनके हृदय से क्षोभ नहीं गया।

सासुन्ह सबनि मिली बैदेही। चरनन्हि लागि हरष अति तेही॥१॥
देहिं असीस बूझि कुसलाता। होइ अचल तुम्हार अहिवाता॥२॥

अर्थ—सब सासुओं से वैदेही श्रीजानकीजी मिलीं और उनके चरणों में लगकर (पालागन करने से) उनको अत्यन्त हर्ष हुआ ॥१॥ (सासुएँ) कुशल पूछ-पूछकर आशिष देती हैं कि तुम्हारा अहिवात अचल हो ॥२॥

विशेष—(१) 'सासुन्ह सबन्हि मिली वैदेही'—सासुएँ ७०० हैं, उन सबसे उतने रूपों से मिलीं ; यथा—"सीय सासु प्रति बेष बनाई । सादर करइ सरिस सेवकाई ॥" (अ० दो० २५२) ; इसी ऐश्वर्य के अनुसार 'वैदेही' कहा गया कि विदेह योगि-शिरोमणि हैं, ये उनकी कन्या हैं । अतः, अनेक रूप धारण करना इनके लिये आश्चर्य नहीं है । 'चरनन्हि लागि'—यह स्त्रियों की रीति है । 'अति हर्ष' के कारण देह की सुध नहीं है इससे भी वैदेही कहा है । मिलने में हर्ष और चरण लगने में अतिहर्ष हुआ । श्रीरामजी ने मन, वचन, कर्म तीनों से भक्ति दिखाई थी—"अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी ।···" देखिये । श्रीसीताजी ने मन और कर्म की ही भक्ति दिखाई ; यथा—'हर्ष अति'—मन और 'चरनन्हि लागि'—कर्म है, और कुशल पूछने पर भी लज्जा-वश वचन नहीं बोल सकीं, क्योंकि श्रीरामजी साथ हैं । इसी संकोची स्वभाव पर सभी सासुएँ लोग प्रसन्न होकर आशिष देने लगीं—'होइ अचल तुम्हार अहिवाता ।'—स्त्रियों का सर्वस्व यही है ।

सब रघुपति मुख-कमल बिलोकहिं । मंगल जानि नयन जल रोकहिं ॥३॥
कनकथार आरती उतारहिं । बार बार प्रभु गात निहारहिं ॥४॥
नाना भाँति निछावरि करहीं । परमानंद हरप उर भरहीं ॥५॥

अर्थ—सब माताएँ श्रीरघुनाथजी का मुख-कमल देखती हैं और मङ्गल समय जानकर नेत्रों के जल रोकती हैं ॥३॥ सोने के थाल में आरती उतारती हैं, बार-बार प्रभु के अंगों को देखती हैं ॥४॥ अनेकों प्रकार की एवं अनेकों तरह से निछावरें करती हैं, परमानंद और हर्ष से हृदय को भरती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं ।'—यह वात्सल्य रस की रीति है ; यथा—"जननिन्हि सादर बदन निहारे ।" (बा० दो० ३५७), "भये मगन देखत मुख सोभा ।" (बा० दो० २०६), इत्यादि । 'मुख-कमल'—मुख कंजवत् प्रफुल्लित है, किसी तरह की विवर्णता नहीं है ।

'नयन जल रोकहिं'—अश्रुपात होना अमंगल है, इसलिये रोकती हैं, क्योंकि यह मङ्गल का समय है ।

(२) 'कनकथार आरती उतारहिं ।'—पूर्व कहा गया था—"भरि भरि हेमथार भामिनी । गावत चलीं···" अब यहाँ उनके कार्य कहते हैं । 'बार बार प्रभु गात निहारहिं'—(क) प्रभु के अंग अत्यन्त सुन्दर हैं, एक बार देखने से तृप्ति नहीं होती, इससे बार-बार देखती हैं ; यथा—"मृदुल मनोहर सुंदर गाता ।" (कि० दो० १) ; (ख) एक बार देखती हैं, फिर नजर न लग जाय, इस भय से दृष्टि हटा लेती हैं । पुनः मनोहर रूप देखे बिना रहा भी नहीं जाता, इससे फिर देखती हैं । (ग) राक्षसों से घोर युद्ध हुआ है, अतएव किसी अंग में घाव तो नहीं है ? यह बार-बार देखती हैं; यथा—"कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं । चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं ॥" यह आगे कहा गया है ।

(३) 'नाना भाँति निछावरि करहीं ।'—'नाना भाँति' पद 'निछावरि' और 'करहीं' दोनों के साथ है । नाना भाँति की वस्तु निछावर करती हैं ; यथा—"करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर ।" (बा० दो० ३११) ; पुनः अनेक प्रकार से करती हैं, कोई पदार्थ शिर पर, कोई भुजा पर और कोई और अंगों पर फिरा कर निछावर करती हैं ।

'परमानंद' और 'हर्ष' दोनों शब्द समानार्थक है, भाव यह है कि दर्शनों से परमानंद होता है और निछावर से हर्ष। अथवा यहाँ आनंद की वीप्सा है। अतः, पुनरुक्ति दोष नहीं है; यथा—"विस्मये च हर्षे कोपे दैन्येऽवधारणे तथा। प्रसादे चानुकम्पायां पुनरुक्तिर्न दूष्यते॥"

कौसल्या पुन पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि ॥६॥
हृदय बिचारति बारहि बारा। कवन भाँति लंकापति मारा ॥७॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे ॥८॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी बार-बार रघुवीर, कृपासागर, रणधीर श्रीरामजी को देखत हैं॥६॥ वे बार-बार हृदय में विचार करती हैं कि इन्होंने किस प्रकार से लङ्केश्वर रावण को मारा?॥७॥ मेरे दोनों बालक अत्यन्त कोमल हैं और राक्षस भारी योद्धा, महा बलवान् और भारी शरीर के होते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु रनधीरहिं'—श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी, मुनिगण और देवताओं पर कृपा की, इसीसे इन्होंने रण में धीर होकर रावण को मारा है। पुनः श्रीलक्ष्मणजी पर शक्ति आदि बाधा आने पर भी अधीर नहीं हुए किंतु युद्ध किया।

(२) 'हृदय बिचारति बारहिं बारा।'—कोई विचार हृदय में नहीं ठहर पाता कि श्रीरामजी ने कैसे रावण-वध आदि कार्य किये। पहले ताडका, मारीच आदि के वध एवं धनुर्भंग और परशुराम-पराजय में तो समाधान हो गया था कि यह सब श्रीविश्वामित्रजी की कृपा से हुआ है; यथा—"सकल अमानुप करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (बा० दो० ३५६)। परन्तु यहाँ कुछ भी निश्चित नहीं होता कि 'कवनि भाँति लंकापति मारा।' 'लंकापति' का भाव यह कि वह कठिन दुर्ग का स्वामी है; यथा—"जानत परम दुर्ग अति लंका।" (लं० दो० ३७); उसका मारना बड़ा दुष्कर था।

(३) 'अति सुकुमार जुगल '—इनके जोड़ में उत्तरार्द्ध से कठोरता आदि विषमता कहती हैं कि ये 'अति सुकुमार' हैं और 'निसिचर सुभट महाबल' हैं ये 'जुगल' और वे अनेक थे और रावण अकेला ही दश शिरों का था। ये 'बारे' अर्थात् छोटे-छोटे बालक हैं और वे 'भारे' अर्थात् भारी-भारी शरीर के हैं। श्रीरामजी की रणधीरता श्रीभरतजी से सुन चुकी हैं, इसी से अंगों को बार-बार देखती हैं, पर कहीं भी कठोरता आदि योग्यता इनमें नहीं पातीं।

प्रभु उपासकों के भावानुसार कोमल और कठोर होते हैं; यथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूप भेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युत॥" ऐसा स्मृतियों में लिखा है। वे ही प्रभु रावण के वज्र के समान आयुधों को शरीर पर लेते थे, वे ही कौशल्याजी को छोटे बालक (बारे) के समान भासते हैं, सच है—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥" (बा० दो० २४०), तथा—"त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननुनाथ पुंसाम्॥ यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥" (भाग० ३।९।११); अर्थात् आप अपने भक्तों के भावयोग से शुद्ध किये हुए हृदयकमल में सदा विराजते हैं और जिस भाव से वे आपकी भावना करते हैं; आप वेद से देखे हुए मार्ग द्वारा उसी तरह का रूप धारण करते हैं।

दोहा—लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहि बिलोकति मातु।
परमानंद मगन मन, पुनि पुनि पुलकित गातु ॥७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सहित प्रभु श्रीरामजी को माता (कौशल्याजी) देखती हैं, उनका मन परमानंद में डूबा हुआ है और शरीर बार-बार पुलकायमान होता है ॥७॥

विशेष—उपर्युक्त भावों से केवल श्रीरामजी का देखना पाया जाता था, यहाँ स्पष्ट हुआ कि वे साथ ही तीनों को देख रही हैं। 'प्रभुहि'—प्रभुता पर ही आश्चर्य है। 'परमानंद; यथा—"परमानंद मगन महतारी।" (बा॰ दो॰ १९८); परमानंद ब्रह्मानंद से भी उत्कृष्ट आनंद को कहते हैं। 'पुनि पुनि...'—जितनी बार देखती हैं, उतनी बार पुलकावलियाँ होती हैं।

लंकापति कपीस नल-नीला। जामवंत अंगद सुभ सीला ॥१॥
हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा ॥२॥
भरत सनेह सील ब्रत नेमा। सादर सब बरनहिं अति प्रेमा ॥३॥
देखि नगरबासिन्ह कै रीती। सकल सराहहिं प्रभुपद प्रीती ॥४॥

अर्थ—लंकेश विभीषणजी, कपिपति सुग्रीवजी, नलजी, नीलजी, जाम्बवान्जी, अङ्गदजी और हनुमान्जी आदि उत्तम स्वभाववाले वीर वानरों ने सुन्दर नर-शरीर धारण किये ॥१-२॥ सब अत्यन्त प्रेम से आदर-पूर्वक श्रीभरतजी के प्रेम, शील, व्रत और नियम का वर्णन करते हैं ॥३॥ और पुरवासियों की समस्त रीति (श्रीरामजी के प्रति बर्ताव) देखकर सब प्रभु के चरणों में उनके प्रेम की बड़ाई करते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'धरे मनोहर मनुज सरीरा।'—'सुभ सीला'—शुभ स्वभाववाले और शरीर से सुन्दर मनुष्य-शरीर धारण कर लिये। लीला के लिये वानर बने थे, अब वह कार्य हो गया। इससे ये लोग सुंदर मनुष्य रूप हो गये, क्योंकि इस समय मंगलमय रूप होने की आवश्यकता है और वानर और राक्षस शरीर अधम हैं। ये लोग पार्षद रूप से छत्र-चँवर आदि लेकर श्रीरामजी के साथ अभिषेक में रहेंगे। इन सबका मनुष्य रूप होना महर्षिजी ने भी लिखा है; यथा—"नव नागसहस्राणि ययुरास्थय वानराः। मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरण भूषिताः॥" (वाल्मी॰ ६।१२८।३२); अर्थात् नव हजार हाथियों पर चढ़कर वानर गये, वानरों ने मनुष्य का रूप बना लिया था और वे सब आभूषण पहने हुए थे।

श्रीअवधवासी भी सब सुन्दर रूप हैं; यथा—"अल्प मृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा। सब सुन्दर सब निरुज सरीरा॥" (दो॰ २१); वैसे ही समाज के अनुसार ये लोग भी मनुष्य रूप हो गये।

(२) 'भरत सनेह सील ब्रत नेमा।...'—श्रीभरतजी में असंख्य गुण हैं, पर इन लोगों ने अभी जो देखे हैं, उन्हीं का वर्णन करते हैं, श्रीजनकजी ने कहा है—"निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत-सम जानि।" (अ॰ दो॰ २८८); यहाँ श्रीभरतजी का स्नेह पुरवासियों से भी अधिक है, इसी से इसे पहले कहा गया। शील उनकी चेष्टा से जाना। व्रत और नेम शरीर देखकर जाना गया; क्योंकि शरीर सूख

गया है। 'व्रत नेम'; यथा—"मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को॥" (अ० दो० ३२४)।

(३) 'देखि नगरवासिन्ह कै रीती।'—श्रीरामजी की प्रीति पूर्व कही गई; यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (दो० ३); उसके जोड़ में यहाँ पुरवासियों की प्रीति कही गई। 'सकल' दीपदेहली है। सराहना यह कि इनके आगे हमारा स्नेह तुच्छ है; यथा—"सघन चोर मग मुदित मन···राम सराहे, भरत उठि मिले···" (दोहावली २०७–२०८)।

पुनि रघुपति सब सखा बोलाये। मुनिपद लागहु सकल सिखाये॥५॥
गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्हकी कृपा दनुज रन मारे॥६॥
ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर-सागर कहँ बेरे॥७॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥८॥
सुनि प्रभु-बचन मगन सब भये। निमिष निमिष उपजत सुख नये॥९॥

अर्थ—फिर श्रीरघुनाथजी ने सब सखाओं को बुलाया और सबको सिखाया कि तुम लोग मुनि के चरण लगो; अर्थात् चरणों पर शिर रखकर प्रणाम करो॥५॥ ये हमारे गुरु श्रीवसिष्ठजी हैं, हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हीं की कृपा से रण में राक्षस मारे गये हैं॥६॥ हे मुनि! सुनिये, ये सब मेरे सखा हैं, ये लोग संग्राम-रूपी समुद्र में मेरे लिये बेड़े-रूप (सहायक) हुए हैं॥७॥ इन्होंने मेरे हित के लिये अपने जन्म हार दिये, (इसीसे) ये मुझे श्रीभरतजी से भी अधिक प्यारे हैं॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर सब (प्रेम में) मग्न हो गये, पल-पल में उनको नये सुख उत्पन्न हो रहे हैं॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि रघुपति सब सखा बोलाये।'—ये दूर देश के हैं, मुनि को एवं उनकी मर्यादा नहीं जानते, इसलिये श्रीरामजी ने सिखाया कि इस तरह इनको प्रणाम करना चाहिये। ये हमारे कुलपूज्य हैं और तुम सब हमारे सखा हो, हमारी तरह साष्टांग दंडवत् करो। जो बात भक्त नहीं जानते, उसे प्रभु उन्हें सिखा देते हैं।

(२) 'कुलपूज्य' अर्थात् हमारे कुल-भर के लोग इन्हें पूजकर मन वांछित प्राप्त करते आये हैं; यथा—"तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देत अभिमत माँगे।" (गी० बा० १२)—यह कौशल्याजी ने कहा है। इक्ष्वाकु महाराज के समय से ये ही गुरु रह आये हैं।

(३) 'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।'—प्रणाम करनेवाले को भी प्रणाम करते समय अपना परिचय देना चाहिये, वह भी श्रीरामजी ही कहते हैं कि 'ये सब सखा···' 'ये' शब्द अंगुल्यानिर्देश है।

दोनों ओर के गुण कहने का कारण यह कि सखा लोग प्रेम से प्रणाम करें और मुनि कृपा करके आशिष दें।

'भये समर-सागर कहँ बेरे।'—बेड़े छोटी-छोटी नदियों में चलते हैं। वैसे समर भी सागर की तरह अथाह एवं अपार था, पर इन लोगों ने पुरुषार्थ कर के उसे छोटी नदी के समान कर दिया; अर्थात् सेना-समूहों को मारा। पुनः रहे-सहे रावण-कुंभकर्ण आदि को भी मारने में सहायक होकर उन्हें भी

मरवाया। अत, हम विना श्रम पार हो गये। यही बेड़ा होना है, 'बेरे' बहुवचन है, क्योंकि वानरों के बहुत-से वृन्द हैं, इस तरह सबों की सहायता कही।

(४) 'मम हित लागि '—मेरे हित के लिये इन्होंने प्राणों का लोभ नहीं किया, मरना भी स्वीकार किया। इससे ये मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, यह बात दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—'भरतहुँ ते ' श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी को और कोई प्रिय नहीं है, यथा—"तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं।" (अ० दो० २०७), यह त्रिवेणी के वचन है। 'मम हित ', यथा—"ये दारागार पुत्रासान् प्राणान्वित्त मिम परम्। हित्वा मां शरण याता कथ तास्त्यक्तुमुत्सहे ॥" (भाग० ९।४।६५)। अर्थात् जिन्होंने अपने स्त्री, घर, पुत्र, श्रेष्ठवर्ग, प्राण, धन आदि सब छोड़कर मेरी शरण ली, उन्हें हम कैसे छोड सकते हैं ?

श्रीभरतजी की तुलना का कारण यह है कि ये श्रीवसिष्ठजी के समीप है, उनका प्रेम और उनपर प्रभु के स्नेह को जानते हैं। पुन श्रीभरतजी ने धन एव राज्य की रक्षा की है और इन्होंने देह की रक्षा की है। श्रीभरतजी अपने सगे हैं, इनका स्नेह होना स्वाभाविक है और ये लोग विजातीय हैं, पशु योनि के हैं, इनका इतना स्नेह बहुत है, इससे अधिक कहा है, यथा —"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४), 'निमिष निमिष '—पहले इन्हें प्यार से बुलाया और पुत्रवत् मानकर मुनि के प्रणाम करना सिखाया, तब वानरों को सुख हुआ। पुन मुनि के प्रति इनका परिचय दे आशिष दिलाई, तब फिर सुख हुआ। वानरों का उपकार वर्णन किया तब भी सुख हुआ। श्रीभरतजी से भी अधिक प्रिय कहा, तब तो सुख मे निमग्न ही हो गये। ये ही नये नये सुख हैं।

दोहा—कौसल्या के चरनन्हि, पुनि तिन्ह नायउ माथ।
आसिष दीन्हे हरषि तुम्ह, प्रिय मम जिमि रघुनाथ॥
सुमन-वृष्टि नभ संकुल, भवन चले सुखकंद।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं, नगर नारि-नर-बृंद ॥८॥

अर्थ—उन्होंने फिर श्रीकौशल्याजी के चरणों मे शिर नवाया, इन्होंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम मुझे श्रीरघुनाथजी के समान प्रिय हो। आनन्द कद (सुख के मूल एव सुख वर्षा करनेवाले) श्रीरामजी घर को चले, आकाश फूल वर्षा से भर (पूर्ण हो) गया, नगर के स्त्री पुरुष के झुण्ड के झुण्ड अटारियों पर चढ़े हुए दर्शन कर रहे हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'कौसल्या के चरनन्हि '—गुरु वसिष्ठजी को प्रणाम करके अब माता को प्रणाम किया, क्योंकि ये गुरुजनों मे प्रधान हैं। 'आसिष दीन्हें '—श्रीरामजी ने इन सबको सखा माना है, सखा का पद बराबर का है, वैसा ही मानकर माता ने हर्ष पूर्वक आशिष दी। जैसे श्रीरामजी को देख कर हर्ष होता है, वैसे इन्हें देखकर भी हर्ष हुआ।

(२) 'सुमन वृष्टि नभ '—मिलाप का प्रसग यहाँ समाप्त हुआ अब श्रीरामजी भवन को चले, इससे मगल के लिये देवताओं ने फूलों की वर्षा की। 'भवन चले'—यहाँ चलना कहा गया, क्योंकि माताओं से मिलने के लिये खड़े हुए थे, इसी तरह पहले भी कहा गया था यथा—"आगे चले सील गुन

धामा।" (दो० ५); 'सुखकंद'—क्योंकि जैसे पहले सबको सुखी करके चले थे ; यथा—"येहि बिधि सुखी करि रामा। आगे चले···" वैसे यहाँ भी माताओं को सुखी करके चले।

(३) 'चढ़ी अटारिन्ह···'—पहले भी कहा गया था—"बहुतक चढ़ी अटारिन्ह, निरखहिं गगन बिमान।" (दो० १); यहाँ नरवृन्द भी कहे गये, क्योंकि नीचे सड़कों पर इतनी भीड़ हो गई है कि लोग सड़कों मे नहीं अमाते, इससे पुरुष लोग भी अटारियों पर चढ़ गये हैं।

कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबन्हि धरे सजि निज निज द्वारे ॥१॥
बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल-हेतू ॥२॥
बीथी सकल सुगंध सिंचाई। गज मनि रचि बहु चौक पुराई ॥३॥
नाना भाँति सुमंगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे ॥४॥

अर्थ—सोने के कलश विलक्षण रीति से (मणिमय चित्रामों से) सँवारकर और सजाकर सभी ने अपने-अपने द्वारों पर रक्खे ॥१॥ मङ्गल के लिये सभी ने (द्वारों पर) वंदनवार, पताकाएँ और ध्वजाएँ सजाकर लगाईं ॥२॥ सब गलियाँ अरगजा आदि सुगन्धित द्रव्यों सहित जल से सिंचाई गईं, गजमुक्ताओं से रचकर बहुत-सी चौकें पुरवाई गईं ॥३॥ हर्षित होकर अनेक प्रकार के सुन्दर मंगल नगर में सजाये गये। हर्ष से नगर में बहुत-से नगाड़े बजने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'कंचन कलस ···'—पहले दर्शनों की आतुरता में—"नर अरु नारि हरषि सब धाये।" (दो० २), अब दर्शनकर सावधान हुए, तब अपने-अपने द्वारों पर मंगल सजने लगे। यह पुरुषों का उत्साह दिखाते हैं, स्त्रियों की मंगल-रचना पहले ही कही गई ; यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला।··· भरि भरि हेम थार ···" (दो० २); 'कंचन कलस···'—इनमे रंग-बिरंग की मणियों के चित्राम बने हैं, उनमे जल भर, ऊपर से आम के पल्लव रख दीपक और जलाकर द्वार पर रक्खा है। निज-निज द्वारे'—सभी उत्साहित हैं,' इससे जितनी देर मे एक द्वार की सजावट हुई, उतनी ही देर मे सबों ने अपने द्वारों की रचना कर लीं कि चतुर चूड़ामणि देखकर प्रसन्न होंगे।

(२) 'बंदनवार पताका केतू। ···'—पहले द्वार पर नीचे की व्यवस्था कही, अब ऊपर की रचना कहते हैं। पुनः द्वार से बाहर गली को कहते हैं—

(३) 'बीथी सकल···' —'सिंचाई' और 'पुराई' से सूचित किया कि सड़कें सरकारी होती हैं; अतएव सरकारी कर्मचारियों ने व्यवस्था की। 'सुगंध सिंचाई' ; यथा—"गली सकल अरगजा सिंचाई।" (बा० दो० १९६); 'गजमनि रचि बहु चौक पुराई।'—चौकों के पूरे जाने का कोई स्थान नहीं लिखा गया, क्योंकि ये एक ही नियत स्थान पर नहीं पूरी जातीं, किंतु घर, आँगन, गली और बाजार आदि कई स्थलों पर पूरी जाती हैं ; यथा—"सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार।" (गी० बा० १)।

(४) 'नाना भाँति सुमंगल साजे।···'—पहले कुछ मंगलों के नाम गिनाये, कहाँ तक गिनावें ? 'नाना भाँति' कहकर और भी सभी मङ्गल सूचित कर दिये, साथ ही—'हरषि नगर···' कहा गया ; अर्थात् हर्ष पूर्वक नगाड़ा बजाया जाना भी मङ्गल है। 'हरषि' शब्द दीपदेहली है। यहाँ तक पुरुषों का कृत्य कहा गया, आगे स्त्रियों का कहते हैं—

(४) 'कंचन कलस' को 'सर्वाहिं धरे···' कहकर सूचित किया कि उस समय भारतवर्ष पूर्ण उन्नति पर था, सभी के घर में सुवर्ण के सब बर्तन थे। अब तो मिट्टी के घड़ों पर गोबर से चित्रकारी की जाती है और आटे से चौकें पूरी जाती हैं।

जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं। देहिं असीस हरष उर भरहीं ॥५॥
कंचन थार आरती नाना। जुवती सजे करहिं सुभ गाना ॥६॥
करहिं आरती आरति - हर के। रघुकुल-कमल-बिपिन दिनकर के ॥७॥

अर्थ—जहाँ तहाँ स्त्रियाँ निछावर करती हैं, आशिष देती हैं (वा, निछावर पानेवाले आशिष देते हैं, तब) हृदय में हर्ष भरती हैं ॥५॥ सौभाग्यवती युवती स्त्रियाँ सोने के थालों में अनेकों आरतियाँ सजे हुई मंगल गीत गा रही हैं ॥६॥ आर्त्ति (विपत्ति) के हरनेवाले रघुकुल रूपी कमल वन के सूर्य श्रीरामजी की आरती करती हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'जहँ तहँ नारि '—भाव यह कि श्रीरामजी के पास आकर उनके शिर में उतार (फिरा) कर निछावर करने का अवकाश नहीं है। अतः, जो जहाँ हैं वहीं से निछावर करती हैं। निछावर करने एवं आरती उतारने में तन की भक्ति, 'हरष उर भरहीं' में मन की और 'देहिं असीस' में वचन की भक्ति प्रकट है।

'देहिं असीस···'; यथा—"नूनं नंदति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम्। सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीता सीमन्तिनी वरा ॥ अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम्।" (वाल्मी॰ २।१६।२२–२१); अर्थात् हे मातृनंदन! आपकी माता कौशल्या निश्चय ही भाग्यवती हैं। जिसकी यात्रा सफल हो गई है और जिसे पिता का राज्य प्राप्त हो रहा है, ऐसे पति को देखनेवाली श्रीसीताजी अवश्य स्त्रियों में बड़ी हैं। ऐसा उन स्त्रियों ने श्रीराम-प्रिया श्रीसीताजी को समझा।

(२) 'कंचन थार आरती नाना।···'—'नाना' शब्द थाल, आरती और युवती के भी साथ है। 'सजे करहिं कल गाना'—आरती बारी-बारी से करती हैं, जिनकी बारी अभी नहीं आई है, वे थाल सजे हुई मङ्गल गान कर रही हैं।

(३) 'करहिं आरती आरति हर के···'—यद्यपि श्रीरामजी ने वन में जाकर दुष्टों को मारा है, जिससे जगत् भर की आर्त्ति (विपत्ति) दूर हुई, तथापि लौटकर रघुकुल की विपत्ति दूर की, उन्हें प्रफुल्ल किया है। ये स्त्रियाँ उन्हीं श्रीरामजी की आरती करती हैं कि इनकी अलाय-बलाय दीपकों से उतारकर हमलोग ले लें। ये सुखी हों, क्योंकि ये रघुकुल भर को सुशोभित करनेवाले हैं। ये माधुर्य दृष्टि से राजा ही मानती हैं और उसी भाव से आरती कर रही हैं।

पुर - सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना ॥८॥
तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं ॥९॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे उमा! पुर की शोभा, सम्पत्ति और कल्याण का वेद, शेष और शारदा बखान करते हैं ॥८॥ वे (ऐसे योग्य वक्ता) भी यह चरित देखकर ठगे से रह जाते हैं, तब उनका गुण मनुष्य कैसे कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते ॥९॥

विशेष—(१) जब-जब श्रीरामजी का अवतार होता है, तब-तब पुर की शोभा, सम्पत्ति और कल्याण का वेद, शेष और शारदा बखान करते हैं, पर इस कल्प के चरित को देखकर वे भी ठगे से (दंग, भौचक्के से) रह जाते हैं कि जो हमने वर्णन किया है, वह तो कुछ भी नहीं है।

(२) कलश आदि भी स्वर्ण के हैं इनसे सम्पत्ति, वन्दनवार आदि से शोभा और लोगों की श्रीरामजी में श्रेष्ठ-दृढ़ निष्ठा से उनके अभ्युदय रूप कल्याण की निःसीमता है, इसपर सब वक्ता स्तब्ध से रह जाते हैं ; यथा-संख्यालंकार से यों भी अर्थ होता है—'पुर सोभा' का निगम, 'संपति' का शेष और कल्याण का शारदा बखान करती हैं और पुर का वर्णन तो स्वयं श्रीरामजी ने किया है ; यथा—"धन्य अवध जो राम बखानी।" (दो० ३)।

(३) 'नर किमि कहहीं'—स्वर्ग की वक्ता शारदा, पाताल के शेष और साक्षात् ब्रह्म-वाणी वेद से भी यथार्थ नहीं कहा जाता, तो मर्त्यलोक के अल्प मति वक्ता मनुष्य कैसे कह सकते हैं ?

दोहा—नारि कुमुदिनी अवध सर, रघुपति - बिरह दिनेस।
अस्त भये बिगसत भईं, निरखि राम - राकेस ॥
होहिं सगुन सुभ बिबिध बिधि, बाजहिं गगन निसान ।
पुर-नर-नारि सनाथ करि, भवन चले भगवान ॥९॥

अर्थ—अवध रूपी तालाब की स्त्रियाँ रूपिणी कुमुदिनी (कुईं) श्रीरघुनाथजी के विरह रूपी सूर्य के अस्त होने पर राम रूपी पूर्णचन्द्र को देखकर खिल गईं ॥ भाँति-भाँति के मङ्गल शकुन हो रहे हैं, आकाश में अनेक प्रकार के नगाड़े बज रहे हैं। पुर के स्त्री-पुरुषों को कृतार्थ करके भगवान् श्रीरामजी महल को चले ॥९॥

विशेष—(१) 'नारि कुमुदिनी···'—पुरुषों का आनंद—"राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।" (दो० ३); में कहा गया। यहाँ स्त्रियों का आनन्द कहते हैं। नर-नारियों का समान आनन्द दिखाने के लिये दोनों की दृष्टि में दोनों जगह श्रीरामजी 'राकाससि' और 'राकेस' ही कहे गये हैं। 'निरखि' का भाव यह कि जैसे माताएँ आरती करके श्रीरामजी के अंगों को देखती थीं ; यथा "कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं ॥" (दो० ६); वैसे ये स्त्रियाँ भी आरती करके देखती हैं।

(२) 'होहिं सगुन सुभ···'—अब श्रीरामजी अपने भवन को चल रहे हैं, इसलिये शुभ शकुन हो रहे हैं और देवता लोग भी मंगल के लिये प्रसन्नता से नगाड़े बजा रहे हैं। ऊपर पुरवासियों का नगाड़ा बजाना कहा गया; यथा—"हरषि नगर निसान बहु बाजे।" अब यहाँ देवताओं का नगाड़ा बजाना भी कहा। 'सनाथ करि'—ये सभी पूर्व वनवास के समय से ही अनाथ हो रहे हैं; यथा—"चलत राम लखि अवध अनाथा।" (अ० दो० ८२); आज प्रभु के आने से सब सनाथ हुए।

(३) 'भवन चले भगवान'—पहले भी भवन चलना कहा गया था ; यथा—"भवन चले सुख कंद।" (दो० ८); बीच में पुरवासियों के सम्बन्ध में रुकना कहा गया, इसीसे फिर चलना कहा गया है। यहाँ 'भगवान्' विशेषण भी दिया गया, क्योंकि सबसे एक ही समय में मिलना ऐश्वर्य-रीति से हुआ है।

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गये भवानी ॥१॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥२॥
कृपासिंधु जब मंदिर गये। पुर-नर-नारि सुखी सब भये ॥३॥

अर्थ—हे भवानी ! प्रभु जान गये कि श्रीकैकयीजी लज्जित हो गई हैं, (इसलिये) पहले उन्हीं के घर गये ॥१॥ उन्हें बहुत समझाकर बहुत सुख दिया, फिर सबके दु:ख हरनेवाले भगवान् अपने महल को चले ॥२॥ जब कृपा के समुद्र श्रीरामजी महल में गये, तब स्त्री-पुरुष सभी सुखी हुए ॥३॥

विशेष—(१) '*प्रभु जानी कैकई लजानी।*'—*मिलते समय प्रभु ने देखा था; यथा*—"रामहि मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि।" (दो॰ ६); उसपर आपको दु:ख हुआ था। अत:, उन्हें समझाकर प्रसन्न करने के लिये पहले उनके ही यहाँ गये, यह श्रीरामजी के स्वभाव की बड़ाई है : यथा—"ता कुमातु को मन जोगवत ज्यौं निज तनु परम कुघाउ ॥" (वि॰ १००)।

(२) 'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा।'—'प्रबोधि' अर्थात् प्रकर्ष बोध कराया, क्योंकि वे हृदय से बहुत सकुचाई हुई थीं। श्रीरामजी के समझाने से उनके सभी संकोच मिट गये, इसी से बहुत प्रसन्न हुईं अत: 'बहुत सुख दीन्हा' कहा गया है।

समझाया कि काल, कर्म और दैव की गति अनिवार्य है, उसी के अनुसार जगत् की भी प्रवृत्ति है; यथा—"काल करम बिधि सिर धरि खोरी।···ईस आधीन जग।" (अ॰ दो॰ २४४) फिर इस कार्य का परिणाम बहुत ही श्रेष्ठ हुआ, आपकी कृपा से तीनों लोक सुखी हुए, मेरी भी प्रशंसा हो रही है। कार्य का परिणाम ही देखा जाता है। यह सब प्रपंच देवताओं का रचा हुआ था। उसे आप अपने ऊपर व्यर्थ ही मानकर क्षुभित होती हैं। लंका में पिताजी से मैंने आपके प्रति उनकी प्रसन्नता माँग ली है। अत:, अब उनके त्याग का भी भय नहीं है, इत्यादि।

'निज भवन'—श्रीकनक-भवन, जहाँ से पहले श्रीसुमंत्रजी के साथ श्रीकैकयीजी के महल को गये थे। 'हरि—क्योंकि यहाँ श्रीकैकयीजी का क्लेश हरण किया है।

(३) 'कृपासिंधु जब मंदिर गये।'—सबपर कृपा करते आते हैं, यहाँ श्रीकैकयीजी पर बड़ी कृपा की, इससे 'कृपासिंधु' कहा है।

'पुर-नर-नारि सुखी सब भये।'—प्राय: कहा जाता है कि श्रीकैकयीजी के महल में जाने पर लोग शंकित हो गये थे कि वहीं से वन को गये थे, कहीं यह फिर न इन्हें वन को भेज दें। जब वहाँ से आकर अपने महल को गये तब सब सुखी हुए। यह भाव ठीक नहीं, क्योंकि जब से चित्रकूट से आये। अब पुरवासी लोगों को उसपर शंका नहीं है सभी ने काल-कर्म ही को कारण मान लिया है। सुखी होने का कारण यह है कि यह महल १४ वर्षों से सूना था, आज उस भवन को सुशोभित देख सभी सुखी हुए। पुन: जिस कैकेयी ने ऐसा दु:खद वनवास दिया था, उसपर भी ऐसी कृपा की, श्रीरामजी के ऐसे कृपालु स्वभाव पर भी सब सुखी हुए।

पहले श्रीकैकयीजी के महल में जाने का यह भी गूढ़ हेतु है कि १४ वर्ष के वनवास का व्रत आपने वहीं से लिया था। इससे अवधि पूर्ण होने पर भी वहीं जाकर उसकी पूर्ति की, तब अपने भवन को गये, जहाँ से पहले कैकयी-भवन में श्रीसुमंत्रजी के साथ आये थे। यह सूक्ष्म धर्म-निर्वाह की निपुणता है।

"राज्याभिषेक"—प्रकरण

गुरु बसिष्ठ द्विज लिये बोलाई। आजु सुघरी सुदिन समुदाई ॥४॥
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिं सिंहासन ॥५॥

अर्थ—गुरु श्रीवसिष्ठजी ने ब्राह्मणों को बुला लिया (और बोले) आज सुन्दर घड़ी (मुहूर्त्त) है, सुन्दर दिन है और समुदाय (उत्तम योग सभी) हैं ॥४॥ सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दो, तो श्रीरामचन्द्रजी सिंहासन पर बैठें ॥५॥

विशेष—(१) 'गुरु बसिष्ठ द्विज ···'—ब्राह्मण लोग इनके समीप ही थे। अतः, उन्हें स्वयं बुला लिया। 'समुदाई' का भाव यह है कि घड़ी, दिन, नक्षत्र इत्यादि समुदाय-का-समुदाय उत्तम-ही-उत्तम सभी योग पड़े हैं।

(२) 'सब द्विज देहु हरपि...'—राजा दशरथजी श्रीवसिष्ठजी से आज्ञा लेकर कार्य किया करते थे, अब इस कार्य का भार श्रीवसिष्ठजी पर ही है; यथा—"वनहिं देब मुनि रामहि राजू।" (अ० दो० १८६); इससे वे स्वयं उतावली कर रहे हैं और ब्राह्मण-समूह से आज्ञा ले रहे हैं, यह इनकी शालीनता है जो बहुतों की सम्मति लेकर कार्य करते हैं। वास्तव में अनुशासन का तात्पर्य उन्हें उत्सव में शामिल करने का है कि आओ सब मिलकर यह कार्य करें। सब शकुनों के पीछे हर्ष सहित ब्राह्मणों की आज्ञा भी शुभ शकुन है। 'हरपि' का यह भी भाव है कि पूर्व गुरु श्रीवसिष्ठजी ने हर्ष पूर्वक राम-तिलक की आज्ञा नहीं दी, उसमें विघ्न हो गया , यथा—"सुदिन सुमंगल तबहि जब, राम होहिं जुवराज।" (अ० दो० ४)।

'आजु'—किस महीने में और किस तिथि को राज्याभिषेक हुआ, इसमें मतभेद है, पुनः श्रीगोस्वामीजी के अपने ही मानस में भी चार कल्पों की कथाएँ एक साथ हैं। अतः, तिथि आदि में मतभेद होना स्वाभाविक ही है, इसलिये किसी तिथि का नाम नहीं है। केवल इतना ही आशय है कि जिस दिन आये, उसी दिन तिलक किया जा रहा है; क्योंकि आगे तिलक हो जाने पर वानरों को वास दिलाना लिखा गया है।

चित्रकूट की वृहद् सभा में निर्णय किया जा चुका था; यथा—"बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥" (अ० दो० ३०५), अर्थात् १४ वर्षों में कैकयीजी के दोनों वरदान पूरे हो जायँगे और फिर श्रीरामजी अपना राज्य सँभाल लेंगे। इससे यहाँ उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अत., गुरुजी द्विजों से केवल आज्ञा मात्र माँगते हैं।

मुनि बसिष्ठ के बचन सुहाये। सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाये ॥६॥
कहहिं बचन मृदु बिप्र अनेका। जग अभिराम राम-अभिषेका ॥७॥
अब मुनिबर बिलब नहिं कीजे। महाराज कहँ तिलक करीजे ॥८॥

अर्थ—वसिष्ठ मुनि के सुहावने वचन सुनते ही सब विप्रों को वे (वचन) अति प्रिय लगे ॥६॥ वे असंख्य ब्राह्मण कोमल वचन बोले कि श्रीरामजी का तिलक जगत्-मात्र को आनंद देनेवाला है ॥७॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! अब देर नहीं कीजिये, महाराज श्रीरामजी का तिलक कर दीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'मुनि बसिष्ठ के...'—'सुहाये' बहुवचन है, क्योंकि श्रीवसिष्ठजी के कई वचन हैं—ब्राह्मणों से सुदिन आदि कहा, उनसे आज्ञा माँगी, श्रीरामजी को राज्य देने के लिये कहा, इत्यादि सभी वचन सुहावने हैं।

'अति भाये'—आनंद से हृदय भर गया, इसी से आगे कोमल वचन कहते हैं। श्रीवसिष्ठजी ने हर्षपूर्वक आज्ञा माँगी थी, वही यहाँ 'अति भाये' से उनके हृदय का हर्ष कहा गया। आगे आज्ञा देना कहते हैं, यथा—'अब मुनिवर बिलंब...'

(२) 'जग अभिराम राम अभिषेका।'—भाव यह कि इनका राज्याभिषेक होने पर संसार भर आनंदित होगा। अत, ग्रह, तिथि, नक्षत्र, आदि स्वयं उत्तम-उत्तम आ जायँगे। उनके विचार की आवश्यकता नहीं है, अतएव—

(३) 'अब मुनिवर बिलंब नहिं कीजै।'—भाव यह कि पूर्व एक रात के विलंब करने में विघ्न हो गया। अत, अब शीघ्रता होनी चाहिये। शुभ कार्य में विलंब नहीं करना चाहिये। 'महाराज कहँ...'—'महाराज' यह बड़े लोगों के लिये संबोधन है, यह भी भाव है कि ये प्रथम ही श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को राजा बना चुके हैं, अतएव महाराज तो पहले से हैं ही, अब तिलक भी कर दीजिये।

दोहा—तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन, सुनत चलेउ हरषाइ।
रथ अनेक बहु बाजि गज, तुरत सँवारे जाइ॥
जहँ तहँ धावन पठइ पुनि, मंगल द्रव्य मँगाइ।
हर्ष समेत बसिष्ठ-पद, पुनि सिर नायउ आइ॥१०॥

अर्थ—तब (ब्राह्मणों के अनुमोदन करने पर) मुनि श्रीवसिष्ठजी ने सुमंत्रजी से कहा और वे सुनते ही हर्षित होकर चले, आकर अनेकों रथ और बहुत-से हाथी घोड़े तुरत सजाये॥ फिर जहाँ-तहाँ दूतों को भेजकर और मंगल द्रव्य (मांगलिक वस्तुएँ) मँगाकर हर्ष सहित आकर फिर श्रीवसिष्ठजी के चरणों में मस्तक नवाया कि आपकी आज्ञा के अनुसार सब कार्य कर आया, अब क्या आज्ञा है ?) ॥१०॥

विशेष—(१) 'तब मुनि कहेउ...'—श्रीसुमंत्रजी वहीं थे और यह भी सुन चुके थे कि 'बिलंब नहिं कीजै' अतएव सुनते ही हर्षित होकर उठे और ये सभी कार्य भी शीघ्रता से करेंगे।

(२) 'मंगल द्रव्य'—यहाँ गुरुजी ने वस्तुओं के नाम नहीं कहे, क्योंकि श्रीसुमंत्रजी स्वयं पंडित हैं और बहुत पुराने मंत्री हैं, इससे वे सब जानते हैं। यह भी हेतु है कि एक बार पूर्व कह चुके हैं, यथा—"हरषि मुनीस कह्यो मृदुबानी।" से "सजहु तुरँग रथ नाग।" तक (अ॰ दो॰ ६) देखिये।

(३) 'जहँ तहँ धावन पठइ ..'—शीघ्र चलनेवाला धावन कहाता है, यहाँ शीघ्रता का काम है, अत, श्रीहनुमान्‌जी ने सब एकत्र कर दिया, यथा—"सकट समाज असमंजस में राम राज काज जुग पूगनि को करतल पल भो।" "मन को अगम तनु सुगम किये कपीस काज महाराज के समाज साज साजे हैं।" (हनुमान् बाहुक ९ + १४)।

(४) 'हर्ष समेत'—अल्पकाल में ही सभी वस्तुएँ आ गईं, इससे हर्ष समेत आकर कहा कि आपकी चरण-कृपा से सब ठीक हो गया।

'पुनि सिर नायउ'—'पुनि' का अर्थ फिर है, वा, दूसरी बार भी, इससे यह भी सूचित किया कि आज्ञा पाकर चलते समय भी प्रणाम करके गये थे, अब लौटने पर फिर प्रणाम किया।

अवधपुरी अति रुचिर बनाई। देवन्ह सुमन-बृष्टि झरि लाई ॥१॥
राम कहा सेवकन्ह बुलाई। प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई ॥२॥
सुनत बचन जहँ तहँ जन धाये। सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये ॥३॥

अर्थ—श्रीअवधपुरी अत्यन्त सुन्दर सजाई गई, देवताओं ने पुष्प-वर्षा की झड़ी लगा दी ॥१॥ श्रीरामजी ने सेवकों को बुलाकर कहा कि पहले सखाओं को जाकर स्नान कराओ ॥२॥ वचन सुनते ही सेवक जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े और (जाकर) उन्होंने श्रीसुग्रीवजी आदि (सखाओं) को तुरत स्नान कराया ॥३॥

विशेष—(१) 'अति रुचिर'—रुचिर तो स्वाभाविक है, रचना से अति रुचिर हो गई वा श्रीअवध सदैव शोभापूर्ण है, रचना करनी पुरवासियों की प्रीति की रीति है ; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥" (बा० दो० ३१५)।

मंगल-द्रव्य एकत्र होना और पुरी की रचना आदि मङ्गलकार्य देखकर देवताओं ने भी फूल बरसाये, यह भी मंगल ही है ; यथा—"पढ़हिं वेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी॥" (बा० दो० ३२३) इससे देवताओं ने भी अपना हर्ष प्रकट किया। पहले अभिषेक की तैयारी पर विघ्न मनाते थे, क्योंकि स्वार्थ साधन करना था, अब तो वह सिद्ध हो गया है।

(२) 'राम कहा सेवकन्ह···'—यह बात अभिषेक-विधान से पृथक् है, इससे श्रीसुमंत्रजी आदि ने इसपर ध्यान ही नहीं दिया। पर श्रीरामजी ने सँभाल की और अपने से पहले उन्हें स्नान कराया। यह आपकी सावधानता है—कहा ही है—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ।" (क० उ० १२६); 'कहा ···बोलाई'—आदर देने के लिये सेवकों को स्वयं बुलाकर सुग्रीवादि की सम्मान-शिक्षा समझाई। अतः, 'जहँतहँ जन धाये'—नाई, बारी, कँहार आदि सेवक सब सामग्री लेने के लिये जहाँ तहाँ दौड़े।

(३) 'तुरत अन्हवाये'—यद्यपि सखा बहुत हैं, तथापि सेवक इतने अधिक हैं कि एक-एक के प्रति कई-कई उपस्थित हैं, इससे उन्होंने शीघ्र ही स्नान करा दिया।

पुनि करुनानिधि भरत हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे ॥४॥
अन्हवाये प्रभु तीनिउ भाई। भगत-बछल कृपाल रघुराई ॥५॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई ॥६॥

अर्थ—फिर करुणा सागर श्रीरामजी ने श्रीभरतजी को बुलाया और अपने हाथों से उनकी जटाएँ

खोलीं ॥४॥ भक्तवत्सल, कृपालु, रघुकुल के राजा प्रभु ने तीनों भाइयों को स्नान कराया ॥५॥ श्रीभरतजी का भाग्य और प्रभु की कोमलता अगणित शेष भी नहीं वर्णन कर सकते ॥६॥

विशेष—(१)—पुनि करुनानिधि···'—भरत पर अत्यन्त करुना है, प्रभु ने सोचा कि यह जटा मेरे कारण ही रक्खी गई है। अतः, इसे मैं ही खोलूँ। सखाओं को इनसे पहले नहलाया, इससे उन्हें भाइयों से भी अधिक मान दिया ; यथा—"अनुजराज सम्पति बैदेही।···सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना।···" (दो० १५), इस समय तो सखा लोग पाहुन भी हैं। अतः, उनका विशेष मान होना ही चाहिये।

(२) 'अन्हवाये प्रभु तीनिउ भाई ···'—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी की भी जटाएँ स्वयं खोलीं और श्रीभरतजी के समान ही प्यार किया। शीघ्र ही कर लिया, इसीसे 'प्रभु' भी कहा है। भक्त-वत्सल हैं, इससे प्यार करते हैं, कृपालु हैं, अतः, कृपा करते हैं, और रघुराई हैं; अतः, प्रतिपाल करते हैं।

(३) 'भरत भाग्य प्रभु ··'—जिनकी सेवा के लिये ब्रह्मा आदि तरसते हैं, वे ही प्रभु अपने हाथों से श्रीभरतजी का सेवाकार्य करते हैं, जैसे पिता पुत्र का करता है, यह श्रीभरतजी का भाग्य है। सेवकों की सेवा करना—यह प्रभु की कोमलता है। 'सेष सहससत···'—अर्थात् भरत-भाग्य और प्रभु की कोमलता निस्सीम है। श्रीरामजी के अनुराग से भरत-भाग्य है ; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा रा० ११); पुनः जो श्रीरामजी श्रीभरतजी पर अनुराग करते हैं तो श्रीभरतजी का भाग्य निस्सीम है; यथा—"जे गुरु चरन रेनु अनुरागी।···राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकै भरतकर भागू॥" (अ० दो० २५८)।

पुनि निज जटा राम बिबराये। गुरु-अनुसासन माँगि नहाये ॥७॥
करि मज्जन प्रभु भूषन साजे। अंग अनंग देखि सत लाजे ॥८॥

अर्थ—(भाइयों के स्नान करने पर) फिर श्रीरामजी ने अपनी जटाएँ खुलवाईं और गुरुजी से आज्ञा माँगकर स्नान किया ॥७॥ स्नान करके प्रभु ने अंगों में भूषण पहने, शरीर (की शोभा) देखकर अगणित कामदेव लज्जित हुए ॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि निज जटा···'—प्रभु की जटाएँ भाइयों ने नहीं खोलीं, क्योंकि उससे बराबरी होती, ये उस महती कृपा का बदला नहीं दे सकते। श्रीरामजी ने सेवकों से अपनी जटाएँ खुलवाईं। 'गुरु-अनुसासन माँगि नहाये'—इनका यह स्नान अभिषेक के लिये विशेष विधि से है ; अतः बिना गुरु आज्ञा के नहीं कर सकते थे। इसमें इनकी गुरु-भक्ति भी है। सबको स्वयं स्नान के लिये आज्ञा दी और आपने गुरुजी से आज्ञा माँगकर स्नान किया।

(२) 'प्रभु भूषन साजे'—ये भूषण पृथक् ही हैं, राज्याभिषेक समय धारण किये जाते हैं। वाल्मी० ६।१२८।६४-६५ में लिखा है कि किरीट ब्रह्माजी का बनाया हुआ है, इसीसे मनु का अभिषेक हुआ था, वही किरीट उनके अनुयायी सब राजाओं को अभिषेक के समय पहनाया जाता था, वही लाया गया। 'कोटि सत'—असंख्य वाची है।

दोहा—सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ।
दिव्य बसन बर भूषन, अँग अँग सजे बनाइ॥

राम बाम दिसि सोभित, रमा रूप-गुन-खानि ।
देखि मातु सब हरषीं, जन्म सुफल निज जानि ॥
सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव-मुनि-बृंद ।
चढ़ि बिमान आये सब, सुर देखन सुखकंद ॥११॥

अर्थ—सासुओं ने श्रीजानकीजी को तुरत आदरपूर्वक स्नान कराकर उनके अंग-अंग में दिव्य वस्त्र और सुन्दर भूषण बनाकर सजाये (सजाकर पहनाये) ॥ श्रीरामजी की बाईं ओर रूप और गुण की खानि श्रीजानकीजी सुशोभित हैं, सब माताएँ देखकर अपना-अपना जन्म कृतार्थ जानकर प्रसन्न हुईं ॥ हे गरुड़ ! सुनिये, उस समय ब्रह्माजी, शिवजी, मुनिवृंद और सब देवता विमानों पर चढ़-चढ़कर आनंद-कंद श्रीरामजी के दर्शनों के लिये आये ॥११॥

विशेष—(१) 'सासुन्ह सादर'''—जिस समय उधर श्रीरामजी एवं तीनों भाइयों के स्नान आदि हुए, उसी समय इधर सब सासुओं ने श्रीसीताजी को स्नान एवं उनके शृंगार आदि कराये। अत्यंत प्रेम के कारण स्वयं सब लग गईं। 'सादर'—चौकी पर उत्तम वस्त्र बिछाकर अंगराग-फुलेल आदि लगाकर स्नान कराया।

'तुरत' क्योंकि—'अब मुनिवर बिलंब नहीं कीजै' यह ब्राह्मणों की आज्ञा है। दिव्य वसन वर भूषन'''—यहाँ षोडश शृंगार सूचित किया गया है, कोई यह नहीं समझे कि शीघ्रता के कारण सामान्य ही शृंगार हुआ हो, यह निवृत्त करने के लिये 'सजे बनाइ' कहा गया है। 'दिव्य' से वस्त्र की और 'वर' से भूषणों की श्रेष्ठता कही गई है। 'अंग-अंग'—जिस अंग के जो हैं, वे उसमें एवं प्रत्येक अंग में।

षोड़श शृंगार—"अंगशुची, मज्जन, वसन, माँग, महावर, केश। तिलक भाल, तिल चिबुक में, भूषण, अधर सुवेश ॥ मिस्सी, काजल, अरगजा, बीरी और सुगंध। पुष्पकली युत होइ कर, तब नव सप्तनिबंध ॥" अर्थात् अंगों में उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्र धारण करना, केश सँवारना, माँग पारना, महावर देना, भाल में तिलककरना, चिबुक पर तिल सजाना, द्वादसो आभूषण पहनना, ओष्ठ रँगना (अधर राग लगाना), दाँतों में मिस्सी लगाना, आँखों में काजल लगाना, अरगजा आदि गंध धारण, पान बीरी, सुगंध इतर आदि लगाना और फूलों की माला धारण करना। द्वादशाभूषण—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसर, बिरिया, टीका और शीशफूल। भूषण चार प्रकार से धारण किये जाते हैं—(१) आवेध्य, जो छिद्र द्वारा पहना जाय जैसे कर्णफूल, बाली आदि। (२) बंधनीय, जो बाँधकर पहना जाय जैसे बाजूबंद, पहुँची आदि। (३) क्षेप्य, जिसमें अंग डालकर पहना जाय, जैसे कड़ा, छड़ा आदि। (४) आरोप्य, जो किसी अंग में लटका कर पहना जाय जैसे हार, कंठ श्री आदि।

(२) 'राम बाम दिसि'''—जबतक श्रीवसिष्ठजी ने दिव्य सिंहासन नहीं मँगाया, तब तक सामान्य आसन पर ही शृंगार करके श्रीराम-जानकीजी को बैठाया गया, सब लोग शोभा देख रहे हैं।

(३) 'रमा रूप-गुन-खानि'—'रमा' शब्द श्रीजानकीजी के नाम का पर्यायी है, जैसे 'श्री' शब्द

श्रीजानकीजी का पर्याय वाचक बहुत जगह पर लिखा गया है, वैसे रमा शब्द भी बहुत जगह आया है। यहाँ श्रीरामजी के समान शोभा दिखाने के लिये 'राम' के जोड़ में 'रमा' कहा गया है। जैसे 'रमंते योगिनोऽस्मिन्' राम हैं, वैसी ही उनके साथ सबको कृपा द्वारा आनन्द देनेवाली श्रीजानकीजी भी हैं। ये रूप और गुणों की खान हैं।

(४) 'सुनु खगेस तेहि अवसर'''—यहाँ से राज्यासीन होने के ध्यान का प्रसंग है, यह उपासकों का सर्वस्व है, इसलिये उपासना घाट का सम्बोधन 'खगेस' कहा गया है, यहाँ २१ दोहों तक में ही ८ बार श्रीगरुड़जी के पर्याय नाम आये हैं। यह अंतिम संवाद है। अतः, अंतिम कांड में इसकी प्रधानता भी युक्तियुक्त ही है।

'तेहि अवसर' —ब्रह्मा-शिव आदि अवसर के जाननेवाले हैं, सर्वत्र अवसर पर आ जाते हैं; यथा—"सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥" (बा० दो० ११०); तथा— लं० दो० ११३ भी देखिये। 'आये' कहकर श्रीभुशुंडीजी ने अपना भी वहाँ उपस्थित होना लक्षित किया, नहीं तो 'गये' कहते। 'सुख कंद'—'कंद' का अर्थ मूल और मेघ होता है, यहाँ सभी को सुख की वर्षा कर रहे हैं। सबको समान रूप से सुख मिल रहा है, ऊँच-नीच का भेद नहीं है, जैसे मेघ सर्वत्र समान वृष्टि करता है, इसलिये सुखकंद कहा गया है।

प्रभु बिलोकि मुनि-मन अनुरागा। तुरत दिव्य सिंहासन माँगा॥१॥
रवि सम तेज सो बरनि न जाई। बैठे राम द्विजन्ह सिर नाई॥२॥
जनक सुता समेत रघुराई। पेखि प्रहरषे मुनि-समुदाई॥३॥

अर्थ—प्रभु को देखकर मुनि श्रीवसिष्ठजी का मन अनुरक्त हो आया, उन्होंने तुरत दिव्य-सिंहासन मँगाया॥१॥ जिसका तेज सूर्य के समान था, उसका वर्णन नहीं हो सकता। ब्राह्मणों को शिर नवाकर श्रीरामजी उसपर बैठे॥२॥ श्रीजानकीजी के साथ श्रीरघुनाथजी को देखकर सब मुनि-समूह अत्यंत हर्षित हुए॥३॥

विशेष—(१) 'मुनि मन अनुरागा'—यहाँ गुरु शब्द नहीं दिया गया कि जिस नाते से अनुराग होना स्वाभाविक होता। किन्तु 'मुनि' कहा है, मुनि मननशील होते हैं, उनमें राग कहाँ, यह प्रभु के अतिशय सौन्दर्य की महिमा है। 'मुनि' और 'मन' से अनुप्रास का भी मेल है।

'तुरत'—अभिषेक का मुहूर्त्त शीघ्रता का है और सबकी अत्यंत उत्कंठा भी है, इसीसे यह शब्द बार-बार आया है—"तुरत सँवारे जाइ।" (दो० १०); "सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये।" (दो० •); "मज्जनु तुरत कराइ" (दो० ११) और यहाँ—"तुरत दिव्य सिंहासन माँगा।"

यहाँ मुनि के मन का अनुराग और दिव्य सिंहासन माँगना कहा गया। ऐसे ही आगे मुनि-समुदाय का हर्ष और वेद-मंत्र-उच्चारण, माताओं का हर्ष और आरती उतारना एवं देवताओं का हर्ष और नगाड़ा बजाना कहा गया है। इस तरह क्रमशः सबके हर्ष और उनके कृत्य कहे गये हैं। 'दिव्य-सिंहासन' यह ब्रह्माजी का बनाया हुआ है। दिव्य का अर्थ तेजोमय भी है, वह भी आगे कहते हैं—'रविसम तेज सो''''' यह स्वर्ण का है और इसमें दिव्य-रत्न जड़े हुए हैं; यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चितचेता॥" (अ० दो० १०)।

(३) 'द्विजन्ह सिर नाई'—(क) प्रभु ब्रह्मण्य शिरोमणि हैं, ब्राह्मणों की मर्यादा-रक्षा के लिये बहुत स्थलों पर उनकी ब्राह्मणों में भक्ति कही गई है। (ख) ब्राह्मण भूदेव हैं और श्रीरामजी भूपाल होना चाहते हैं, पृथिवी की रक्षा धर्म से होती है, ब्राह्मणों की सेवा उत्तम पुण्य है ; यथा—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा।।" (दो॰ ४४)।

(४) 'जनक सुता समेत······'—युगल शोभा पर सभी को आनंद होता है, विवाह-प्रसंग में सुरमुनि का आनंदित होना कहा गया है ; यथा - "भयो पानि गहन बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनंद भरैं।" (बा॰ दो॰ ३११) ; जब श्रीवसिष्ठजी ने इनसे सम्मति ली थी, तब इन्हें हर्ष हुआ था और यहाँ प्रभु को सिंहासनासीन देखकर प्रकर्ष हर्ष हुआ।

बेद-मंत्र तब द्विजन्ह उचारे। नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे ॥४॥
प्रथम तिलक बसिष्ट मुनि कीन्हा। पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा ॥५॥
सुत बिलोकि हरषीं महतारी। बार बार आरती उतारी ॥६॥
बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे। जाचक सकल अजाचक कीन्हे ॥७॥
सिंहासन पर त्रिभुवन साईं। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं ॥८॥

अर्थ—तब ब्राह्मणों ने वेद-मंत्र (स्वस्त्ययन आदि) उच्चारण किये। आकाश में देवता और मुनि 'जय हो, जय हो' ऐसा पुकारकर कहने लगे ; अर्थात् ऊँचे स्वर से जय-जयकार करने लगे ॥४॥ पहले श्रीवसिष्ठ मुनि ने तिलक किया, फिर सब ब्राह्मणों को (तिलक करने की) आज्ञा दी ॥५॥ पुत्र को (अभिषिक्त) देखकर माताएँ प्रसन्न हुईं और बार-बार आरती उतार रही हैं ॥६॥ ब्राह्मणों को अनेकों प्रकार से दान दिये, सब याचकों को अयाचक (धनी) बना दिया, (उन्हें भीख माँगने की आवश्यकता नहीं रह गई) ॥७॥ तीनों लोकों के स्वामी श्रीरामजी को सिंहासन पर (विराजमान) देखकर देवताओं ने नगाड़े बजाये ॥८॥

विशेष—(१) 'बेद-मंत्र तब······'—श्रीरामजी ब्राह्मणों को प्रणाम करके सिंहासन पर बैठे, तब ब्राह्मणों ने भी वेद-मंत्रों से आशीर्वाद दिया और शांति-पाठ करने लगे। जब आकाश में शब्द पहुँचा तो सुर-मुनि जय-जयकार करने लगे। 'पुकारे' कि जिससे नीचे तक शब्द आवे, सब कोई सुनें और श्रीरामजी भी सुनें। पृथिवी के द्विज वेद पढ़ते हैं और आकाश के सुर-मुनि 'जय-जय' कहते हैं।

(२) 'प्रथम तिलक बसिष्ठ ······'—श्रीवसिष्ठजी पिता के स्थान पर हैं और कुल-गुरु हैं, इसीसे उन्होंने ही पहले तिलक किया। मुनियों में श्रेष्ठ हैं, इससे मुनियों को भी तिलक करने की आज्ञा दी। 'सब बिप्रन्ह' से यहाँ वामदेव, जाबालि आदि कहे गये हैं।

(३) 'सुत बिलोकि हरषीं······'—पहले शृंगार होने पर भी युगल-शोभा पर हर्षित हुई थीं ; यथा—'देखि मातु सब हरषीं' यह ऊपर कहा गया है। पर वहाँ आरती नहीं उतारी थीं, यहाँ सिंहासन पर देखकर हर्ष से आरती करने लगीं, क्योंकि यहाँ इसकी विधि है।

(४) 'बिप्रन्ह दान बिबिध···'—भरत मिलाप पर निछावर पानेवालों को निछावर दे चुकी हैं ; यथा—"नाना भाँति निछावर करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं।।" (दो॰ १); रहे विप्र और याचक, उन्हें यहाँ दे रही हैं।

(४) 'सिंहासन पर···'—और राजा इस गद्दी पर चक्रवर्त्ती ही होते आये हैं, पर श्रीरामजी तो तीनों लोकों के स्वामी हैं; यथा—"दस मुख बिबस तिलोक-लोकपति बिकल बनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥" (गी॰ उ १३)। ये तीनों लोकों का पालन करेंगे, इससे देवताओं ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये; यथा—"राम राज बैठे त्रयलोका। हर्षित भये गये सब सोका॥" (दो॰ १९); इस प्रसंग पर गी॰ लं॰ २३ वाँ पूरा पद देखने योग्य है।

देवता लोग इससे भी हर्षित हैं कि अब विशेष यज्ञादि होंगे, तो हमलोग भाग पा-पाकर सुखी होंगे। पूर्व उपकार पर कृतज्ञता एवं सेवा तो है ही।

छंद—नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंदर्ब-किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा-बृंद परमानंद सुर-मुनि पावहीं॥
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥१॥

अर्थ—आकाश में बहुत नगाड़े बज रहे हैं, बहुत-से गंधर्व और किन्नर गा रहे हैं। अप्सराओं के झुंड-के-झुंड नाच रहे हैं, देवता और मुनि परम आनन्द पा रहे हैं॥ श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी—छोटे भाई, (श्रीसुग्रीवजी), श्रीविभीषणजी, श्रीअंगदजी (श्रीजाम्बवान्‌जी) और श्रीहनुमान्‌जी आदि वानरों के सहित वे (क्रम से) छत्र, चँवर, पंखा, धनुष (बाण), तलवार, ढाल और शक्ति लिये हुए विराजमान हैं॥१॥

विशेष—(१) 'नभ दुंदुभी···'—दुंदुभी बजाना और गंधर्व आदि का गाना साथ लिखकर सूचित किया कि दुंदुभी मधुर स्वर से इनके गाने में मिली हुई बज रही है और गान के साथ ही अप्सराएँ नाच रही हैं। श्रीरामजी के उत्सव संबंधी गान से सुर मुनि परमानंद पाते हैं। पुनः गंधर्वों का गाना और अप्सराओं का नाचना आकाश में हो रहा है, वहीं पर ये सुर मुनि भी हैं; यथा—"नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे।" यह ऊपर कहा गया। इसीसे इन्हें उससे अधिक आनंद मिलता है।

(२) 'भरतादि अनुज···'—यहाँ श्रीभरतजी आदि से तीन भाई और श्रीविभीषणजी, श्रीअंगदजी, श्रीहनुमान्‌जी, इन छः के नाम स्पष्ट कहे गये हैं और छत्र आदि सात वस्तुओं के नाम कहे गये हैं, जिन्हें धारण करना कहा गया है। यदि छः ही इनके भी नाम होते, तो यथासंख्यालंकार से लगा लिये जाते। ग्रंथकार का अभिप्राय शेष पार्षदों और आयुधों को अध्याहार से लिये जाने का है। यहाँ श्रीभरत आदि और श्रीहनुमान् आदि में शेष पार्षद लिये जायँगे।

श्रीशत्रुघ्नजी के पश्चात् श्रीसुग्रीवजी को कहने का कारण यह कि ये प्रथम के सखा हैं और सखों मे प्रधान हैं, ये भाइयो मे कहे भी गये हैं; यथा—"त्वमस्माकं चतुर्णां वै भ्राता सुग्रीव पंचमः।" (वाल्मी॰ ६।१२७।४१) और जाम्बवान्जी राजाओं में हैं, ऋक्षराज हैं। अतः, वानरराज, राक्षस राज और युवराज के साथ रहना योग्य है। श्रीअंगदजी के पश्चात् गिनने का कारण यह कि ये भी श्रीअंगदजी के मंत्री रूप में सीता-शोध के समय साथ भेजे गये थे। आयुधों में भी धनुष के पश्चात् बाण का अध्याहार करने से आठ हो जाते हैं, क्योंकि धनुष के साथ-साथ ही बाण भी अवश्य चाहिये।

क्रमशः सौज एवं आयुध धारण—श्रीभरतजी छत्र लिये हुए पीछे खड़े हैं, श्रीलक्ष्मणजी दाहिनी ओर चँवर करते हैं, श्रीशत्रुघ्नजी बाईं ओर पंखा झल रहे हैं, शेष पार्षद दोनों बगल हैं। श्रीसुग्रीवजी धनुष, श्रीविभीषणजी बाण, श्रीअंगदजी तलवार, श्रीजाम्बवान्जी ढाल और श्रीहनुमान्जी शक्ति लिये हुए खड़े हैं। शेष आठ पार्षद और भी अस्त्र-शस्त्र एवं सेवा-सौज लिये हुए हैं। अन्यत्र श्रीहनुमान्जी का सामने भी रहना पाया जाता है, किंतु यहाँ सामने भेंट देनेवालों के लिये मार्ग खुला चाहिये। अतः, इन्हें यहाँ सामने भो लिया जाय, तो एक बगल लिये हुए सामने भी ठीक है।

श्री-सहित दिनकर बंस-भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज-नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥२॥

अर्थ—श्रीजानकीजी के साथ सूर्यकुल के भूषण श्रीरामजी के शरीर मे बहुत-से कामदेवों की छबि शोभा दे रही है। *नवीन सजल काले मेघों के समान सुंदर श्रेष्ठ शरीर मे पीताम्बर देवताओं के मन को* मोहित कर रहा है॥ मुकुट और बिजायठ आदि विचित्र भूषण अंग-अंग में सजे हुए हैं। कमलदल के समान विशाल-नेत्र हैं, छाती और भुजाएँ विशाल हैं (नेत्र बड़े, छाती चौड़ी और भुजाएँ लंबी हैं)। जो दर्शन कर रहे हैं वे मनुष्य धन्य हैं॥२॥

विशेष—(१) परिकरों के सहित श्रीरामजी की शोभा ऊपर छंद में कही गई, अब उनके स्वरूप की शोभा कह रहे हैं—'श्री-सहित···'—'श्री' मे यहाँ श्रीजानकीजी के अतिरिक्त राज्य-श्री का भी भाव है। दिनकर-वंश स्वयं प्रकाशमान् अर्थात् सुशोभित है। आप उसको भी शोभित करनेवाले हैं।

(२) 'सुर मन मोहई'—प्रायः देवतागण मेघ और बिजली देखा करते हैं, परन्तु यहाँ विलक्षणता है, मेघों से श्रीरामजी के श्याम तन मे विलक्षणता है और विद्युत्वर्णा श्रीजानकीजी एवं पीतांबर मे बिजली से विलक्षणता है, यथा—"पीत पुनीत मनोहर धोती। हरत बाल रवि दामिनि जोती॥" (बा॰ दो॰ ३२६); "साँवरे गोरे किसोर सुर मुनि चित चोर उभय-अंतर यक नारि सोही। मानहुँ बारिद बिधु बीच ललित अति, राजति तड़ित निज सहज बिछोही॥" (गी॰ अ॰ ११)। इसीसे देवता देखकर मोहित हो गये।

(३) 'मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन···'—पूर्व कहा गया था—'करि मज्जन प्रभु भूषन साजे।' यहाँ उन भूषणों के नाम देते हैं; 'मुकुट-आदि' शब्द मे शिर से लेकर पैर तक के भूषण आ गये और 'अंगद-

आदि' में दोनों बाहुओं से अंगुलियों तक के सभी भूषण सूक्ष्म रीति से कह दिये गये। मुकुट का वर्णन पहले करके शृंगार-दृष्टि की प्रधानता सूचित की गई है, क्योंकि शृंगाररस में शिर से नायक का वर्णन होता है। 'विचित्र' का भाव यह है कि भूषणों में रंग-विरंग की मणियाँ जड़ी हुई हैं।

ये भूषण दिव्य हैं, ऊपर भी कहा गया कि किरीट ब्रह्माजी ने बनाया था, इनसे पहले के राजा इन्हें राज्य-तिलक के ही दिन धारण करते थे, परन्तु श्रीरामजी अप्राकृत होने के कारण इन्हें नित्य प्रति धारण करते थे।

(४) 'निरखंति जे'—यह वर्तमान क्रिया है, ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि आज भी इस झाँकी को जो ध्यान से देखते हैं, वे धन्य हैं। उस समय के देखनेवाले तो धन्य हैं ही, यथा—"सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वा पुरीं गतम्। राज्ये चैवाभिषिक्तं च द्रक्ष्यन्ते वसुधाधिपम्॥" (वाल्मी॰ २।११।१४); अर्थात् हे रामजी! वे श्रीअवधपुरवासी धन्य हैं जो तुम्हें राज्याभिषिक्त देखेंगे—यह श्रीदशरथजी ने दिव्य-रूप से कहा है।

दोहा—वह सोभा समाज सुख, कहत न बनइ खगेस।
बरनइ सारद सेष श्रुति, सो रस जान महेस॥
भिन्न भिन्न अस्तुति करि, गये सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब, आये जहँ श्रीराम॥
प्रभु सरबज्ञ कीन्ह अति, आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहू मरम कछु, लगे करन गुन-गान॥१२॥

अर्थ—हे गरुड़! वह शोभा, वह समाज और वह आनंद मुझसे कहते नहीं बनता। शारदा, शेष और श्रुति वर्णन करते हैं, परन्तु वह रस (स्वाद, सुख) महादेवजी ही जानते हैं॥ सब देवता पृथक्-पृथक् स्तुति करके अपने-अपने लोकों को गये (अर्थात् प्रत्येक देवता ने अपनी-अपनी बुद्धि से निराली ही स्तुति की। तब भाटों के वेष में वेद वहाँ आये जहाँ श्रीरामजी थे। दयासागर, सर्वज्ञ प्रभु ने उनका अत्यन्त आदर किया, किसी ने कुछ भेद नहीं लखा और वे गुणगान करने लगे॥१२॥

विशेष—(१) 'वह सोभा समाज सुख···'—श्रीभुशुण्डीजी २७ कल्पों के पीछे यह चरित कह रहे हैं, इसीसे 'वह' पद से पुराने समय का कहा है। 'बरनइ सारद सेष श्रुति···'—यथासंख्यालंकार की रीति से शारदा शोभा, शेष समाज और श्रुति सुख का वर्णन करते हैं। शारदा कहती है कि सप्तांग-राज्य श्रीसहित दंपति एक आसन पर विराजमान हैं। अतः, इस समय शृंगार-रस है। शेषजी कहते हैं कि सशस्त्र वीरों का समाज सिंहासनासीन है और धर्म, दान, दया आदि पर चित्तवृत्ति है, अतः यहाँ वीर-रस है। श्रुतियाँ कहती हैं कि इस समय पुरजन, देव, मुनि आदि सभी परमानंद में निमग्न हैं और प्रभु तो नित्यानंद रूप ही हैं। अत, इस समय शांत-रस है।

श्रीभुशुण्डीजी कहते हैं कि इस रीति से सभी कहते हैं, परन्तु ये सब यथार्थ नहीं समझ सके,

क्योंकि वस्तुतः यहाँ कोई रस नहीं है, यहाँ अद्भुत-रस है और उसको महादेवजी ही जानते हैं, क्योंकि ये स्नान के पश्चात् से ही शोभा में निमग्न हो गये हैं, इसी से उनका संवाद यहाँ नहीं आया।

अथवा, जो जितना अधिक राम-तत्त्व का ज्ञाता होता है, वह उतना ही अधिक रस जानता और पाता है। श्रीशिवजी राम-तत्त्व-ज्ञाताओं में शिरोमणि हैं, इसीसे जानते हैं कि यहाँ की शोभा, समाज और आनन्द तीनों अद्भुत और अप्राकृतिक हैं, इसीसे 'सो रस जान महेस' कहा गया है।

(२) 'भिन्न-भिन्न अस्तुति करि···'—इससे इनकी भक्ति और बुद्धिमानी प्रकट हुई। 'निज-निज धाम'—जाने का भाव यह है कि अभी तक ये लोग रावण के भय से सुमेरु गिरि की कंदराओं में रहते थे। अब अपने-अपने धाम को गये। 'बंदी वेष वेद तब···'—वेद भगवान् के भाट हैं; यथा "बंदी वेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम।" (अ॰ दो॰ १०५); वेद श्रीरामजी के पास तक आना चाहते हैं, इसलिये भाट बनकर आये, क्योंकि भाट लोग राजा के समीप जाकर स्तुति करते हैं। 'आये जहँ श्रीराम' —इससे यह भी जनाया गया कि देवताओं ने आकाश से ही स्तुति की थी, यहाँ तक नहीं आये थे।

(३) 'प्रभु सर्बज्ञ कीन्ह अति···' वेद वेष बनाकर आये, तो भी प्रभु जान गये और इन्होंने उन्हें अत्यन्त मानसिक आदर दिया। इससे इन्हें सर्वज्ञ और कृपानिधान कहा गया है; यथा—"सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दिये।" (बा॰ दो॰ ३२१); 'लखेउ न काहू मरम कछु···'—वेदों ने ऐसा उत्तम बंदी-वेष बनाया था कि सब लोग उन्हें सत्य ही बंदी जानते थे, बनावटी वेष नहीं जान पाये। अथवा प्रभु के आदर करने का भेद कोई नहीं पा सका।

छंद—जय सगुन-निर्गुन-रूप रूप अनूप भूप-सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे।१॥

अर्थ—हे भूप-शिरोमणे! आपकी जय हो, आप सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। आपका यह भूप-रूप उपमा-रहित है (अर्थात् जो आनन्द इस रूप से मिलता है, वह और रूपों से नहीं मिलता)। दशानन आदि प्रचंड, प्रबल और दुष्ट राक्षसों को अपनी भुजाओं के बल से आपने मारा है॥ मनुष्य-अवतार लेकर संसार के भार को नष्ट करके किसी प्रकार नहीं छूटने योग्य कठिन दुखों को आपने भस्म कर दिया है। हे शरणागत पाल! हे दयालो! हे प्रभो! आपकी जय हो, शक्ति सहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१॥

विशेष—(१) 'यह स्तुति हरिगीतिका छंद में है, यह इस ग्रंथ में पहले बहुत बार आ चुका है। यहाँ वेद चार हैं और छंद छः हैं, पुनः छन्दों में 'नमामहे' आदि क्रियाएँ एकवचन की आई हैं। इससे लोग एक-एक वेदों के गाने का पृथक्करण करते हैं, पर उससे कुछ यह नहीं सिद्ध हो सकता कि अमुक विषय ही अमुक वेद का लक्षण है। अतः, यह कल्पना मात्र है। छंदों में यह नहीं कहा जा सकता कि यह छंद अमुक वेद ने ही गाया है। यद्यपि वेद की चार संहिताएँ नित्य हैं, तथापि इनमें परस्पर वैमत्य तो है

नहीं। राजा के सामने गुण-गान करने के अनेक भेद हो सकते हैं। संभव है कि प्रत्येक छंद को पहले एक वेद ने एक चरण गाया और उसे ही शेष तीनों ने दुहराया हो, इस तरह तीन छंद गा गये। प्रथम वक्ता के अनुसार एकवचन क्रिया भी आती गई। चौथी स्तुति के चौथे चरण में सब ने मिलकर कहा, फिर पाँचवाँ पूर्ववत् कहा गया। पीछे छठा छंद सबों ने एकस्वर से साथ-साथ गाया हो, इसीसे 'हम अनुरागहीं, यह,बहुवचन क्रिया दी गई हो।

(२) 'सगुन निर्गुन रूप'—भाव यह है कि आप सगुण भी हैं और निर्गुण भी, यथार्थ में आप कौन हैं, यह हम नहीं कह सकते ; यथा—"जासु गुनरूप नहिं कलित, निर्गुन सगुन संभु सनकादि सुक भक्ति दृढ़ करि गही।" (गी० उ० ६); अर्थात् शंभु, सनकादि और शुकदेव आदि ने जब देखा कि आपके रूप को न तो सगुण ही कह सकते हैं और न निर्गुण ही, यह तो अचिन्त्य है। अतः, मन-वाणी से अगोचर है। तब इस निर्णय के बखेड़े में नहीं पड़कर दृढ़ करके भक्ति ही ग्रहण की, क्योंकि भक्ति से ही वह ब्रह्म अपनेको यथार्थ रूप से जना देता है; यथा—"भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।" (गीता १८।५५); "तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।" (अ० दो० १२६); -"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत।।" (वि० २५१), इत्यादि, इसी से अंत में ये वेद भी भक्ति ही माँगेंगे ; यथा—"मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुराग-हीं।" इसी के अनुकूल 'भूप-सिरोमने' भी कहा है, क्योंकि राजा लोग ही याचकों को बहुत कुछ देते हैं।

एक ही ब्रह्म निर्गुण-सगुण दोनों कैसे हो सकता है? इसपर बा० दो० ११८ चौ० १–२ देखिये। सगुण रूप से प्रभु उपस्थित हैं, इससे 'सगुन' प्रथम कहा गया। आपका विराट् रूप सगुण रूप है, इसमें अखिल ब्रह्मांडों का सम्यक् आधारत्व है। पुनः अखिल ब्रह्मांड के सम्यक् आधार होते हुए भी आप सबसे निर्लिप्त हैं, यह निर्गुणत्व है। भूमिका में सगुण निर्गुण प्रसंग भी देखिये। जब भक्तों के प्रेमवश निर्गुणत्व में सगुणत्व आ जाता है, तब वह निर्गुण-मात्र नहीं कहा जा सकता और सगुण भी सम्यक् आधार होते हुए सबसे असंग है, तो वह सगुण भी नहीं कहा जा सकता। इसीसे 'रूप अनूप' भी कहा गया है कि उसमें सगुण और निर्गुण कोई भी उपमा नहीं घटती। आगे का छठा छंद भी देखिये।

(३) 'दसकंधरादि प्रचंड···'—अब वर्तमान सगुण रूप के कार्य कहते हैं—रावण के दस शिर और बीस भुजाएँ थीं जिनका उसे बड़ा गर्व था ; यथा—"मम भुज सागर बल जल पूरा।···बीस पयोधि अगाध अपारा।···" (लं० दो० २७); इनसे उसे लड़ने का अभिमान था, यथा—"रन मद मत्त फिरै जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा।"—(बा० दो० १८१)। इससे राक्षसों को 'प्रचंड, प्रबल' कहा गया। उनका अभिमान तोड़ने के लिये आपने उन्हें भुजा के बल से लड़कर मारा। (अन्यथा संकल्प-मात्र से ही मार सकते थे,)। 'खल' कहकर उन्हें वध के योग्य कहा कि इसीलिये आपका अवतार है ; यथा—"जहँ प्रगटे रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥" (बा० दो० १५)।

(४) 'अवतार नर संसार भार···'—ऊपर 'दसकंधरादि' को मारना कहा गया है। यह कार्य मनुष्य-अवतार के बिना नहीं हो सकता था ; यथा—"हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥" (बा० दो० १७६); ऐसा वरदान उसने पाया था। इसीसे आपने मनुष्यावतार लिया। 'अवतार नर···' पृथिवी उसके भार से व्याकुल थी। अत, उसे मारकर उसका भार हरण किया। 'संसार भार निभंजि' उससे देवताओं को एवं संसार-भर को दारुण दुःख था, यथा—"इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्हीं। दारुन बिपति हमहि येहि दीन्हीं॥" (लं० दो० ८४)। अत., उसे मारकर सबके दुःख भस्म किये—'दारुन दुख दहे'।

(५) 'जय प्रनतपाल'···'—इस कार्य से आपने संसार-भर के दुःख दूर किये, पर अपने शरणागतों के पालने में दया गुण विशेष प्रकट किया, इसीसे 'प्रनतपाल दयाल' भी कहा गया है ; यथा— "जग पालक बिसेपि जन त्राता।" (बा० दो० १६)। 'संजुक्त सक्ति नमामहे'— (क) अपनी आदि शक्ति श्रीजानकीजी के साथ सिंहासन पर विराजे हुए हैं, इससे शक्ति सहित को नमस्कार किया। (ख) जिस कार्य के सम्बन्ध से यहाँ नमस्कार किया गया है, उस भू-भार-हरण में और प्रणतों के पालन में श्रीसीताजी मुख्य कारण हैं, इससे उनके साथ प्रभु को प्रणाम किया।

तव बिषम मायाबस सुरासुर नाग नर अगजग हरे।
भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे।
भव खेद-छेदन-दच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे॥२॥

अर्थ—हे हरे ! आपकी कठिन माया के वश सुर, असुर, नाग, नर, अचर और चर, काल, कर्म और गुणों से भरे हुए (अर्थात् इनमें प्रवृत्ति के अनुसार) अगणित दिन-रात भव-मार्ग में चक्कर खा रहे हैं॥ हे नाथ ! जिन जीवों को आपने करुणा करके देखा, वे तीनों प्रकार के दुःखों से निबह (छूट) गये। संसार दुःख के नष्ट करने में प्रवीण, हे श्रीरामजी ! हमारी रक्षा कीजिये, हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २॥

विशेष—(१) 'तव विषम माया' ; यथा—"सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि। छूट न राम कृपा बिनु,···" (उ० दो० ७१); यहाँ 'तव' कह कर ईश्वर सम्बन्ध कहा और 'विषम' शब्द से उसे कठिन और दुस्तर कहा ; यथा—"दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते माया-मेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४); इस श्लोक में 'तव' का भाव 'मम माया' कहकर 'विषम' का भाव 'दुरत्यया' से और 'माया' का अर्थ 'गुणमयी' कहकर स्पष्ट किया गया है कि यह त्रिगुणात्मिका है। और 'मामेव ये प्रपद्यन्ते···' में उपर्युक्त 'छूट न राम कृपा बिनु' भी आ गया है।

'सुरासुर-नाग नर'···'—'सुर' से स्वर्ग, 'असुर-नाग' से पाताल और 'नर अगजग' से मर्त्यलोक सूचित किया गया है।

(२) 'भव पंथ भ्रमत'—त्रिगुणात्मिका माया के वश जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण किया करते हैं ; यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥" (दो० ४३), यही भव-पंथ-भ्रमण है। 'दिवस निसि'—जो दिन-भर चलता है, वह रात मे विश्राम करता है, परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। रातों-दिन विश्राम नहीं लेने देती, ऐसी विषम माया है। 'अमित'—क्योंकि जीवों का यह भ्रमण अनादि काल से माना जाता है।

'काल कर्म गुननि भरे' ; यथा—"फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥" (दो० ४३); काल, कर्म, और गुण तीनों अन्योन्य सापेक्ष हैं ; अर्थात् एक दूसरे के कारण हैं, बीज-वृक्ष न्याय की तरह हैं। परन्तु यहाँ के लिखे हुए क्रम का भाव यह है कि जो मनुष्य जिस काल में जन्म लेता है, तदनुसार ज्योतिष-मत से उसका स्वभावज कर्म नियत हो जाता है, जो कुंडली द्वारा प्रकट

किया जाता है, फिर कालानुसार ही आयु पर पहुँचकर विद्या-अध्ययन आदि कर्म करता है, फिर वैसे ही गुण प्राप्त करता है। पुनः गुणानुसार कर्म होते हैं और कर्मानुसार ही दूसरे जन्म का काल (दुर्दिन, सुदिन आदि) बनता है, इत्यादि, रीति से इनके चक्कर में जीव भ्रमण करता रहता है। इसी को संसृति चक्र कहते हैं।

(३) 'जे नाथ करि करुना बिलोके'—ऊपर प्रमाण दिया गया है कि माया की प्रेरणा से भ्रमण करनेवालों के लिये राम कृपा ही उपाय है, उसी को यहाँ कहते हैं कि जिन्हें ही आप करुणा-दृष्टि से देखते हैं, वे ही इस त्रिगुणात्मिका माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण के द्वारा होनेवाले त्रिविध दुःख से छूटते हैं। 'त्रिविध दुख'; यथा—"काल-कर्म सुभाव-गुन कृत दुख काहुहि नाहि।" (दो॰ २१), अथवा, जरा, जन्म, मरण तथा दैहिक, दैविक, भौतिक ताप आदि।

(४) 'भव खेद-छेदन-दच्छ'—भाव यह है कि भव-खेद की कारण-रूपा आसुरी सम्पत्ति है, उसे विविध उपायों से नाश करने में आप ही कुशल हैं; यथा—"खरदूषन बिराध बध पंडित।" (दो॰ ५०)। 'हम कहँ रच्छ'—वेद कहते हैं कि हमारी रक्षा कीजिये, भाव यह कि हम जो कहते हैं कि प्रभु की करुणा से त्रिविध दुःख छूटते हैं, उसे सत्य कीजिये, यही हमारी रक्षा करना है। हमारे रक्षक आप ही हैं, यथा—"श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह" (अ॰ दो॰ १२६), "राखहिं निज श्रुति सेतु" (बा॰ दो॰ १२१)।

> जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी।
> ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
> बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
> जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे॥३॥

अर्थ—जो ज्ञान के अभिमान से विशेष मतवाले हो रहे हैं और उसी से उन्होंने आपकी आवागमन छुड़ानेवाली भक्ति का आदर नहीं किया, हे हरि! वे देवताओं के दुर्लभ पद को भी पाकर उस पद से (नीचे) गिर पड़ते हैं, यह हम देखते हैं (वा, वे हमको देखते रहते हैं तो भी भव में पड़ते हैं)। जो सब (ज्ञानादि अन्य साधनों का) आशा-भरोसा छोड़कर विश्वास करके आपके दास हो रहे हैं (अर्थात् इसी वृत्ति में दृढ़ रहते हैं)। हे नाथ! वे आपका नाम जपकर बिना परिश्रम ही भव-पार हो जाते हैं, उन आप (स्वामी) को मैं स्मरण करता हूँ॥३॥

विशेष—'जे ज्ञान मान बिमत्त …'—ज्ञान का अभिमान यह है कि हम तो अपने ही ज्ञान-बल से स्वयं मोह आदि विकारों के नाश करने में समर्थ हैं, हमें भक्ति-रूपा गुलामी करने की क्या आवश्यकता है? यहाँ ज्ञान से कैवल्यपरक तत्त्वज्ञान से तात्पर्य है, जिसमें 'सोऽहमस्मि' ऐसा अनुसंधान होता है, जो आगे ज्ञान-दीपक में कहा गया है। ज्ञान का बाधक 'मान' है; यथा—"मान ते ज्ञान पान ते लाजा।" (आ॰ दो॰ २०)।

'तव भव हरनि भक्ति न आदरी'; यथा – "सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥" (दो॰ ११४), अर्थात् भक्ति सुगम रीति से भव से तारनेवाली है। 'सुर दुर्लभ पद' अर्थात् 'परम पद', यथा—"अति दुर्लभ कैवल्य

परम पद।" (दो० ११८), 'हम देखत' अर्थात् हम इसके साक्षी हैं। इसे दीप-देहली करके भी अर्थ करना चाहिये।

(२) 'बिस्वास करि···'; यथा—"प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह तेइ सेवक हरि केरे।" (वि० १६८); 'जपि नाम तव···'; यथा—"नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं।" (बा० दो० २४)।

इस पूरे छंद के भाव का मिलान कीजिये; यथा—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः॥ त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥" (भाग० १०।२।३२-३३)। अर्थात् ज्ञान के अभिमानी जो भगवत्प्रीति-रहित हैं, वे परम पद की योग्यता पाकर भी गिर जाते हैं और भगवद्भक्त अपने सैकड़ों विघ्नों को लाँघते हुए निर्भय रहते हैं, मार्ग से च्युत नहीं होते, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्॥" (भाग० १।५।१२); अर्थात् भक्ति-हीन ज्ञान शोभा नहीं देता।

'भक्ति न आदरी', यथा—"श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्यते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥" (भाग० १०।१४।४); अर्थात् आपकी कल्याण-कारिणी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान ही के लिये क्लेश करते हैं, उन्हें श्रम ही हाथ लगता है जैसे भूसी कूटनेवाले को फफोले ही हाथ में होते हैं—चावल नहीं मिलता।

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतनी तरी।
नख-निर्गता मुनि-बंदिता त्रैलोक - पावनि सुरसरी॥
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद-कंज-द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥४॥

शब्दार्थ—निर्गता = निकली हुई। किन = क्यों न, किन लोगों ने, (सं० किण) = घाव, चिह्न, दाग— "व्रणे चिह्ने घुने किणे"—इति हारावली।

अर्थ—श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी के पूज्य, जिन चरणों की कल्याणकारी रज को स्पर्श करके गौतम मुनि की स्त्री अहल्या तर गई। जिनके नख से मुनियों से वंदित, त्रिलोक को पवित्र करनेवाली श्रीगंगाजी निकलीं और ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमलयुक्त चरणों से (आपके अतिरिक्त) और किसने (कँटीले) वन में फिरकर काँटे प्राप्त किये हैं? अर्थात् आपके सिवा और किसी चक्रवर्ती ने ऐसे कष्ट नहीं झेले। उन मुक्ति के दाता दोनों चरण-कमलों को, हे राम! रमापति! हम नित्य भजते रहते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सिव अज पूज्य'—कहकर चरणों की बड़ाई की कि संसार-भर की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले भी इन्हें पूजते हैं। 'रज सुभ···' कहकर पदरज की बड़ाई की; यथा—"जे परसि मुनि

बनिता लही गति रही जो पातकमई।" (बा० दो० २११); 'नख-निर्गता मुनि-बंदिता···' से चरणोदक की बड़ाई की और 'ध्वज-कुलिस···'—इन चिह्नों के साथ कहकर साक्षात् चरणों की बड़ाई की है।

चरणों के सम्बन्ध से श्रीगंगाजी को चारों प्रकार की उत्तमता प्राप्त है—

(२) 'नख-निर्गता' से कुल एवं जन्म की उत्तमता, 'मुनि-बंदिता' से स्वरूप की, 'त्रैलोक-पावनि' से स्वभाव की और 'सुरसरी' से संग की उत्तमता कही गई है कि सदा देवताओं का संग रहता है। 'त्रैलोक-पावनि' अर्थात् अपनी तीन धाराओं से तीनों लोकों को पवित्र करती हैं, इसीसे 'त्रिपथगा' भी कही जाती हैं।

(३) 'ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंजजुत'—श्रीरामजी के दोनों चरणों में २४-२४ चिह्न हैं। पर उनमें ये चार मुख्य हैं। ये जिसके चरणों में हों, वह चक्रवर्त्ती राजा होता है, उसका कँटीले वन में नंगे पावों से फिरना अयोग्य है, पर आपने कष्ट सहकर भी दया से सबके दुःख हरण किये हैं। ऐसा और कोई नहीं कर सकता। श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है; यथा—"स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दंडककंटकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः॥" (भाग० ९।११।१९); अर्थात् प्रभु ने अपने उन कल्याणकारी चरणों को भक्तों के हृदय में स्थापित किया, जिनमें दंडकवन के कंटक-कंकड़ आदि गड़े थे।

(४) 'द्वंद मुकंद'—दोनों चरण मुक्ति के दाता हैं एवं द्वंद्व, जो हानि-लाभ, मानापमान, हर्ष-शोक आदि हैं, उनसे मुक्त करनेवाले हैं।

'ध्वज-कुलिस···' के भाव—ध्वजा चिह्न ध्याता को संसार-शत्रु से विजय देता है, वज्र चिह्न पाप-पहाड़ को विदीर्ण करता है। अंकुश-चिह्न ऐसा ज्ञान पैदा करता है कि जिससे मत्त-गज-रूप-मन वश-वर्त्ती रहता है। कमल अभीष्ट देता है। इनके माहात्म्य महारामायण में विस्तार से कहे गये हैं।

जब रूप की बड़ाई की, तब 'नमामहे', नाम की बड़ाई की तब 'स्मरामहे' और यहाँ चरणों की बड़ाई की तब 'भजामहे' कहा है।

यहाँ तक माधुर्य रूप कहा; आगे विराट् रूप का वर्णन करते हैं—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
पट कंध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन-घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमामहे॥५॥

अर्थ—वेद-शास्त्र कहते हैं कि संसार-रूपी वृक्ष की जड़ अव्यक्त (ब्रह्म) है, यह (वृक्ष) अनादि काल से है, इसमें चार त्वचाएँ (छिलके अर्थात् वकले) और छः स्कंध हैं। पचीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और सघन फूल हैं॥ कड़वे-मीठे दोनों प्रकार के फल हैं। ये (फल) जिसके आश्रित रहते हैं, वह बेलि एक ही है, (इस वृक्ष पर फैली है) नित्य नवीन पल्लव लेते और नित्य नवीन फूलते हुए नित्य नवीन हे संसार-वृक्ष-रूप! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥५॥

विशेष - (१) 'अव्यक्तमूलं'—वेदान्त-मत से जगत् का कारण ब्रह्म है; यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१); अर्थात् इस सृष्टि से पहले सत् (ब्रह्म) ही था। उसे ही मूल (कारण) भी कहा है; यथा—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।" (छां० ६।८।४); अर्थात् हे सौम्य! यह सब प्रजा सत्-मूलवाली, सत्-आश्रयवाली और सत्-समाप्ति (लय) वाली है। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३); अर्थात् उस (सत् अर्थात् ईश्वर) ने संकल्प किया। कि मैं बहुत हो जाऊँ। इसी संकल्प को श्रीगोस्वामीजी ने 'समीहा' एव 'अनुसासन' कहा है; यथा—"उतपति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४); "लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४), प्रभु के अनुशासन से विद्या माया जगत् को रचती है; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); प्रभु की प्रेरणा से एवं उनके बल से रचना करने मे माया का कारणत्व नहीं है, प्रभु ही का है। अतः, सिद्ध हुआ कि इस जगत् का मूल ब्रह्म ही है, वही अव्यक्त भी कहा गया है; यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।" (लं० दो० ११२); 'अनादि तरु'—यह जगत् कबसे है, यह नहीं जाना जाता, इससे इसे अनादि तरु कहा गया है। जगत् का कारण कर्म है। अतः, वह भी अनादि ही माना जाता है। कहा भी है—"विधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१); "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।" (गीता १३।१९)।

(२) 'त्वच चारि'—तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण क्रमश काले, लाल और श्वेत रंगों की त्वचाएँ हैं, चौथी बडी झीनी महीन त्वचा तीनों गुणों की साम्यावस्था सूक्ष्म, कारणावस्थापन्न प्रकृति है। यहाँ 'तना' जीव है, जिसपर ये चारों त्वचाएँ लिपटी हुई हैं, यह अध्याहार से लिया जायगा; यथा—"जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।" (गीता ७।५); 'षट कंध'—पाँच तत्त्व और मन, ये छः स्कंध हैं। 'साखा पंचबीस'—प्रत्येक तत्त्व की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं। मनरूपी स्कंध में शाखाएँ नहीं हैं, यह सीधा ऊपर को जानेवाला स्कंध है, इसके संकल्प-विकल्प अगणित हैं।

पाँचो तत्त्वों की प्रकृतियाँ—	*पृथिवी-तत्त्व में—अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा और लोम।*
	जल मे—पित्त, वीर्य, स्वेद, लार और रक्त।
	अग्नि में—भूख, प्यास, आलस्य, निद्रा और जम्हाई।
	वायु मे—धावन, उत्क्रमण, प्रसारण, संकोचन और स्पर्श।
	आकाश मे—काम, क्रोध, लोभ, मद और मान।

(३) 'अनेक पर्न'—प्रारब्धानुसार शुभाशुभ कर्म अनेक पत्ते हैं।

'सुमन घने'—उन कर्मों मे जो अनेक फलों की वासनाएँ हैं, उनके फल-भोग के समय की समीपता के काल ही फूल हैं।

(४) 'फल जुगल विधि'—फल तो बहुत हैं, पर वे हैं दो ही प्रकार के—कटु फल अर्थात् दुख और मधुर फल अर्थात् सुख हैं। ये ही अनेक प्रकार के होते हैं। किंतु ये बेलि मे ही लगे हुए हैं। वही 'जेहि आश्रित रहे' से कही गई है। 'रहे' क्रिया बहुवचन पुँल्लिग है। अत, यह फलों के विषय में ही युक्ति संगत है। यही अविद्या माया बेलि है—जो समुदाय-कर्म-जनित वासना के द्वारा सम्पूर्ण वृक्ष को आच्छादित किये हुई है। यहाँ विलक्षणता यह है कि पत्ते और फूल तो आगे के चरण मे वृक्ष मे कहे गये हैं, यथा—'पल्लवत फूलत···' पर फल-मात्र बेलि मे लगते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर की शरीर-रूपा प्रकृति के द्वारा शुभाशुभ कर्म होते हैं ; यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥" (गीता ३।२७) ; अर्थात् प्रकृति के गुणों के द्वारा सब प्रकार के कर्म होते हैं, अज्ञानी अहंकार से अपनेको कर्ता मान लेते हैं । तथा—"कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥ पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥" (गीता १३।२०) ; अर्थात् कार्य (पंच तत्त्वों एवं पंच विषयों) और करण (मन, बुद्धि अहंकार तथा १० इन्द्रियों) की उत्पत्ति में हेतु प्रकृति है और फल भोगने में हेतु जीवात्मा है ; यथा—"देखी सुनी न आजु लौं अपनायति ऐसी । करें सबै सिर मेरियै फिरि परै अनैसी ॥" (वि० १४८) ; अर्थात् कामादि में आसक्त होकर मन और इन्द्रियाँ सब कर्म करते हैं, परिणाम का दुःख मेरे शिर पर पड़ता है, फिर भी इनका साथ नहीं छूटता ऐसी अपनायत (आत्मीयता) पड़ गई है । पुनः कर्म-फल के समय का संयोग भी ईश्वर ही करते हैं ; यथा—"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईस देइ फल हृदय बिचारी ॥" (अ० दो० ७६) ; इन प्रमाणों से पत्र और पुष्प भगवान् के शरीर-रूप वृक्ष में ही लगना निश्चित हुआ ।

फलों का भोक्तृत्व भी जीवों में ही सिद्ध हुआ । तथा—"द्वासुपर्णा···" (मु० ३।१।१) में भी जीव का ही फलभोक्ता होना स्पष्ट रूप से कहा गया है । यहाँ 'कटु मधुर' कहकर फल कहा गया है । इसका अनुभव भी भोगनेवाला जीव ही करता है । इससे जीवों की ही अविद्यात्मक वासना द्वारा फल लगना ठीक है । अतः, फल मात्र वेलि में लगना जानना चाहिये । वृक्ष में नहीं ; यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म फले स्पृहा ।" (गीता ४।१४) ; अर्थात् कर्मों के फलों में मेरी स्पृहा नहीं है इसीसे मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, (यह श्रीभगवान् ने ही कहा है) ।

(५) 'नवल नित'—बहुत दिन का हो जाने से पदार्थ फीका पड़ जाता है । परन्तु इस वृक्ष में वह बात नहीं है । यह नित्य वैसा ही नया बना रहता है । कितने मर गये और छोड़कर चले गये, फिर भी यह नित्य हरा-भरा ही दिखलाई पड़ता है । इस तरह यहाँ जगत् को भगवान् के परिणाम-रूप में प्रवाहतः नित्य स्पष्ट कहा गया है, जैसा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है ।

वेलि में जड़ नहीं कही गई, क्योंकि यह तो जीव के द्वारा अज्ञान से कल्पित है । इसमें जड़ कहाँ ? जैसे कि अमरवेलि बिना जड़ की ही होती है ।

'संसार बिटप नमामहे'—नित्य पल्लवित और फूलते हुए, हे संसार-वृक्ष ! (एक पाद विभूति विशिष्ट श्रीरामजी !) आपको मैं नमस्कार करता हूँ ।

आगे के छंद में सब एक साथ मिलकर एक स्वर से स्तुति करते हैं—

> जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मन - पर ध्यावहीं ।
> ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ॥
> करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं ।
> मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ॥६॥

अर्थ—ब्रह्म अज है (वह जन्म नहीं लेता), अद्वैत है (वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त और कुछ

नहीं है), अनुभव से जाना जाता है (इन्द्रियों की गति से परे है) और मन से परे है, जो ऐसा ध्यान करते हैं। वे ऐसा कहा करें और जानें, हम तो, हे नाथ ! आपका सगुण यश नित्य गाते हैं ॥ हे करुणा के धाम ! हे सद्गुणों की खान ! हे प्रभो ! हे देव (दिव्य ज्ञान एवं शरीरवाले) ! हम यह वरदान माँगते हैं कि मन, वचन और कर्म के विकारों को छोड़कर हम आपके चरणों में प्रीति करें ॥६॥

विशेष—(१) 'जे ब्रह्म अज अद्वैत···'—ये ब्रह्म की निर्गुणता के विशेषण हैं: यथा—"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो ।" (केन १।३); अर्थात् उसमें न नेत्र जाते हैं, न वाणी जाती है, न मन जाता है, अपनी बुद्धि से हम उसे नहीं जानते। विशेष रूप से भी हम उसे नहीं जानते। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१); अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म ही है। 'ते कहहु जानहु' अर्थात् वह न कहने में आता है और न जानने ही में आता है, फिर भी उसमें जो माथा-पच्ची करें सो करें। हे नाथ ! हम तो आपके सगुण यश को नित्य गाते हैं; अर्थात् यह गाते बनता है, इसीसे हम गाते हैं।

इसपर आ० दो० १० "जे जानहिं ते जानहु स्वामी।···" तथा आ०दो० १२ "जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।···" का तिलक भी देखिये।

(२) 'हम तव सगुन जस नित गावहीं'—यह वेदों ने अपना विषयीभूत सिद्धान्त कहा है; यथा—"बंदउँ चारिउ वेद, भव बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जस।" (बा० दो० १४); जैसे भगवान् ने गीता १८।६५–६६ में अपना एवं उपनिषदों का सिद्धान्त कहा है, वैसे ही यहाँ वेदों ने भी कहा है।

यहाँ के 'अज अद्वैत···' आदि विशेषण जन्मशीलता एवं द्वैत आदि की अपेक्षा बिना सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः, सगुण की अपेक्षा से ही निर्गुण की सिद्धि होती है ; यथा—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास। निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥" (दोहावली २५१); अर्थात् जैसे भारी अज्ञान कहे बिना ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी अज्ञान का निवृत्त करना ही ज्ञान का महत् स्वरूप है। तम का महत्त्व बिना कहे प्रकाश का महत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी तम का निवृत्त करना ही प्रकाश का महत्व है। उसी तरह से सगुण ब्रह्म के ऐश्वर्य-कथन के बिना निर्गुण का महत्व जानना असंभव है। इस असंभव को यदि कोई संभव कर दे, तो उस पंडित को मैं गुरु मानने को तैयार हूँ।

तात्पर्य यह है कि जबतक सगुण ब्रह्म के स्वरूप "रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड।" (बा० दो० २०१) को नहीं जानेगा, तबतक उन अनंत ब्रह्मांडों के सम्यक् आधार होते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहने का महत्व कोई कैसे जान सकेगा कि वह कितना बड़ा निर्लिप्त है। इसी निर्लिप्तता (निर्गुणता) के महत्व की भगवान् ने सराहना की है ; यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥" (गीता ९।४–५) ; अर्थात् सब प्राणी मुझमें ही स्थित हैं, पर मैं उन सबसे निर्लिप्त हूँ, देख, यह मेरा ऐश्वर्य योग है। मनुष्य अपने एक शरीर से भी निर्लिप्त नहीं रह सकता, परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डों का सम्यक् आधार होता हुआ भी उनसे वह निर्लिप्त है। तथा—"तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवांभसा ॥" (विष्णुपुराण); एवं "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥" (श्वे० ४।७); अर्थात् निर्लिप्तता ही परमात्मा की निर्गुणता है। स्पष्ट कहा गया है; यथा—"असङ्गो न हि सज्यते" (बृह०-४।४।२२), अर्थात् वह ब्रह्म असङ्ग है, क्योंकि वह किसी में आसक्त नहीं होता। इसपर बा० दो० ११५ चौ० १–३ भी देखिये।

(३) 'करुनायतन प्रभु···'—भाव यह कि हमपर करुणा करें ; क्योंकि आप समर्थ हैं। हम जो

माँगें वह आप दें। आप सद्गुण-खान हैं; अतः, हमें सद्गुण दें, जो हम आगे कहते हैं—'मन वचन कर्म…'—आपको छोड़ और को ब्रह्म मानना मन का विकार है। और को ब्रह्म कहना वचन का विकार है और दूसरे को ब्रह्म-बुद्धि से पूजना कर्म का विकार है। इन विकारों को छोड़कर आपकी अनन्य भक्ति करूँ, आप यही वरदान दें।

यही चारो वेदों का सिद्धांत है; यथा—"वेद-पुरान-संत-मत येहू। सकल-सुकृत-फल राम-सनेहू॥" (बा॰ दो॰ २६)।

'सगुन निर्गुन' कहकर वेदों ने स्तुति प्रारम्भ की थी। और इस छन्द में भी निर्गुण सगुण के ही वर्णन के साथ समाप्ति की; यथा—"जे ब्रह्म अज अद्वैत…सगुन जस नित गावहीं।"

दोहा—सबके देखत बेदन्ह, बिनती कीन्हि उदार।
अंतरधान भये पुनि, गये ब्रह्म - आगार॥
बैनतेय सुनु संभु तब, आये जहँ रघुबीर।
बिनय करत गदगद गिरा, पूरित पुलक सरीर॥१३॥

अर्थ—सबके देखते वेदों ने उदार श्रीरामजी की उदार (श्रेष्ठ, बड़ी) स्तुति की, फिर वे अंतर्धान हो गये और ब्रह्मलोक को गये॥ श्रीभुशुण्डीजी कहते हैं कि हे गरुड़जी! सुनिये, (जब वेद चले गये) तब श्रीशिवजी वहाँ आये, जहाँ श्रीरघुवीर हैं और स्तुति करने लगे, उनकी वाणी गद्गद है और शरीर पुलक से पूर्ण (भरा हुआ) है॥१३॥

विशेष—(१) 'सबके देखत बेदन्ह …'—वेदों का कोई रूप नहीं है, वे वाणीमय हैं, किन्तु आज वे बंदी-वेष में आये हैं, इसीसे उन्हें सब कोई देखते हैं। पर ये वेद हैं, इन्हें किसी ने नहीं लखा, सब उन्हें बंदी ही जानते हैं; यथा—"लखेउ न काहू मरम कछु" (दो॰ १२)।

यहाँ 'सबके देखत' कहकर यह भी सूचित किया गया है कि और देवताओं की स्तुति के प्रसंग जो पहले आ चुके हैं एवं आगे आवेंगे, वे सब अप्रत्यक्ष रूप में हुए हैं। वेदों को प्रभु के समीप प्रत्यक्ष रूप में आना था, इसीसे बंदी का रूप धारण कर आये हैं। क्योंकि प्रभु अपना ऐश्वर्य गुप्त रखना चाहते हैं। नहीं तो वेद ही भाट क्यों बनकर आते ? किसी श्रेष्ठ देव-रूप से आते—यह किसी-किसी का मत है। परन्तु ऐश्वर्य गुप्त रखने की विशेष आवश्यकता रावण-वध ही तक थी, वह रावण का वध होते ही नहीं रह गई। इसी से वाल्मीकीय रामायण में भी श्रीसीताजी की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग पर सब देवताओं का प्रत्यक्ष आना कहा गया है। राजा दशरथ भी दिव्य-रूप से आये, उन्होंने श्रीरामजी को और श्रीलक्ष्मणजी को गोद में बैठाया है, बहुत-सी बातें की हैं, श्रीजानकीजी से भी बहुत कुछ कहा है। गोद में बैठाना तो अलक्ष्य भाव से नहीं कहा जा सकता। इस ग्रंथ में भी आगे पुरजनोपदेश में श्रीरामजी प्रकट शब्दों में श्रीमुख से अपना ऐश्वर्य कहेंगे।

(२) 'अंतर्धान भये…'—बंदी-रूप से आये थे, स्तुति कर जोहार की और जिधर से आये थे, पीछे की ओर वैसे ही चले गये, दरबार के लोगों की निगाहें सरकार पर हैं। वे बंदीजन-जैसे सामान्य

लोगों की तरफ क्यों देखने लगे ? दरबार से पृथक् होते ही अंतर्धान हो गये, क्योंकि उन्हें सबके समक्ष अंतर्धान होकर अपनेको तमाशा बनाना या चमत्कार दिखाना तो था नहीं, नहीं तो बंदी बनकर ही क्यों आते ? उनका उद्देश्य तो समीप में आकर प्रभु के दर्शन करने का था। उसे प्राप्त कर वे ब्रह्मलोक को गये। वेद सदा ब्रह्मलोक में रहते हैं, इससे वहीं गये।

'उदार'—वेदों ने वर माँगा, परन्तु उसका मिलना प्रकट रूप से नहीं कहा गया, वह इस विशेषण से गुप्त रीति से जना दिया गया; यथा—"उदारो दातृ महत:" 'उदार' का श्रेष्ठ एवं बड़ा भी अर्थ है, इससे यह भी जनाया कि ऐसी बड़ी स्तुति और किसी ने नहीं की।

(३) 'बैनतेय सुनु संभु तब···'—'जहँ रघुबीर' अर्थात् सिंहासन के पास आये, क्योंकि वेदों की तरह इन्हें भी समीप में आकर दर्शन करना और भक्ति-वर माँगना है। इस समय प्रभु राज्यासीन हुए हैं, सबको बहुत कुछ दे रहे हैं, इसीसे ये भी माँगेंगे। आगे 'महिपाल' और 'श्रीरंग' आदि विशेषण भी माँगने के उद्देश्य से कहेंगे। गद्गद वाणी और शरीर की पुलकावली प्रेम-दशा से है।

छंद—जय राम रमारमनं समनं। भवताप भयाकुल पाहि जनं।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो। सरनागत मागत पाहि प्रभो ॥१॥
दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।
रजनीचर - बृंद - पतंग रहे। सर-पावक तेज प्रचंड दहे ॥२॥

अर्थ—हे राम ! हे रमारमण ! आपकी जय हो। हे भवतापों (संसार-दुःखों) के नाश करनेवाले भवताप के भय से व्याकुल (मेरी एवं सब) जन की रक्षा कीजिये। हे अवधपति ! हे देवताओं के स्वामी ! हे लक्ष्मी के स्वामी ! हे विभो ! हे प्रभो ! शरण में आकर आपसे माँगता हूँ कि (मेरी) रक्षा कीजिये ॥१॥ हे दस शिरों और बीस भुजाओंवाले रावण के नाश करनेवाले ! आपने पृथिवी के समूह महारोगों का नाश किया। राक्षस-समूह पतंग रूप थे, जो आपके बाण-रूपी अग्नि के तीक्ष्ण तेज में जल मरे ॥२॥

विशेष—(१) 'राम रमारमनं'—यहाँ श्रीरामजी श्रीजानकीजी के साथ सिंहासन पर विराजमान हैं, इसलिये 'रमारमनं' कहकर दोनों की जय बोलते हैं। रमा श्रीजानकीजी का नाम है और लक्ष्मीजी का भी। दोनों अर्थ बोध कराने के लिये यहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। राजा राज्यासीन होकर समस्त लक्ष्मी का पति होता है। यह लक्षित कराते हुए भी यह विशेषण दिया गया है, क्योंकि आगे इन्हें वरदान माँगना है। जो लक्ष्मीवान् होता है, वही औरों को भी दे सकता है।

श्रीसीताजी का बोधक यों है कि जैसे रमण क्रिया के सम्बन्ध से श्रीरामजी का रामनाम है; यथा—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति राम पदेनासौ परब्रह्माभिधीयते ॥" (रा० पू० ता० १।६); वैसे ही बृहद्ब्रह्मसंहिता ३।१।७१,८२ में श्रीसीताजी के लिये भी लिखा है—"वामाङ्के जानकी देवी किशोरी कनकोज्ज्वला। कैवल्यरूपिणी नित्या नित्यानन्दैकविग्रहा ॥ सेयं सीता भगवती ज्ञानानन्दस्वरूपिणी। योगिनां रमणे रामे ··· ।" महर्षि वाल्मीकिजी ने भी लिखा है—"श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्।" (वाल्मी० ११०।११); अर्थात् श्रीसीताजी लक्ष्मी

की भी लक्ष्मी हैं, लक्ष्मी को भी श्रियत्व देनेवाली हैं। 'भवताप' शब्द दीपदेहली है। पहले शिवजी ने भवतापशमन कहा और फिर स्वयं अपनेको भवताप से डरा हुआ कहकर शरण हुए, क्योंकि श्रीरामजी सभीत शरणागत की रक्षा अवश्य करते हैं, यथा—"जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सु॰ दो॰ ४१), "आवै सभय सरन तकि मोहीं॥ करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥" (सु॰ दो॰ ४७)।

(२) 'पाहि जन'—श्रीशिवजी जगत् के स्वामी हैं, इससे सबकी ओर से भी इनकी प्रार्थना है और स्वयं भी भव भय से मुक्त नहीं हैं, यथा—"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (दो॰ ६१),

(३) 'अवधेस सुरेस '—आप अवध के राजा हैं, राजा लोग प्रजा की रक्षा करते हैं और हम आपकी प्रजा हैं। आप सुरेश हैं और हम सुर हैं। आप रमेश हैं और हम आपके उपासक हैं, सब अर्थार्थी हैं, कुछ माँगने आये हैं। आप विभु (सर्वव्यापक-ईश्वर) हैं और हम आपके जीव हैं, इन सब नातों से हम आपकी शरण में आकर रक्षा माँगते हैं।

यहाँ यह भी भाव है कि अवधेश कहकर प्रजा बनने पर यदि श्रीरामजी कहें कि हम तो मनुष्य-प्रजाओं के राजा हैं और आप तो सुर हैं, उसपर 'सुरेश' भी कहा कि इस नाते से तो रक्षा कीजिये। पुन यदि कहें कि आप तो महादेव हैं, अर्थात् बड़े देवता हैं, तो 'रमेश' कहा कि विष्णु शिवजी से बड़े हैं। यदि कहा जाय कि विष्णु और शिव त्रिदेव होने से तुल्य हैं, तो 'विभु' भी कहा, अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर से त्रिदेव का भी आविर्भाव है। अत, सब प्रकार से आप मेरी रक्षा करने के योग्य हैं।

(४) 'दससीस बिनासन बीस भुजा '—यहाँ रावण को पृथिवी का महारोग कहा है, यथा—"रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर " (क॰ सु॰ २५), संसार में तीन शिरोंवाला ही ज्वर रोग अत्यन्त दुस्तर होता है। परन्तु यह रावण-रूपी रोग तो दस शिरों और बीस भुजाओंवाला था, इसकी प्रबलता का क्या कहना? इसपर शंका हुई कि ऐसे प्रबल को सेना समेत बध करने में बड़ा श्रम हुआ होगा। उसपर आगे कहते हैं—'रजनीचर वृंद ' अर्थात् वे सब मोहवश स्वयं लड़कर अनायास नाश हो गये, जैसे फतिंगे प्रचंड अग्नि में, यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥" (सु॰ दो॰ १५), "होहिं कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग॥" (सु॰ दो॰ ५६), 'तेज प्रचंड'—आपके प्रचंड तेज को उन असुरों ने नहीं जाना, वे मोह से आपको मनुष्य ही मानते थे, जैसे फतिंगे अग्नि के उष्णत्व को नहीं जानते।

महि-मंडल मंडन चारुतर। धृत सायक चाप निषंग बरं।
मद मोह महा ममता रजनी। तम-पुंज-दिवाकर तेज-अनी॥३॥
मन जात किरात निपात किये। मृगलोग कुभोग सरेन हिये।
हति नाथ अनाथनि पाहि हरे। बिषया-बन पाँवर भूलि परे।४॥

सुंदर बाण, धनुष और तर्कश धारण किये हुए हैं। मद, महामोह और महा ममता-रूपी रात्रि के अंधकार-समूह के (नाश करने के) लिये आप सूर्य-किरण समूह हैं॥ कामदेव-रूपी किरात ने मनुष्य-रूपी मृगों को उनके हृदय में कुभोग-रूपी बाण मारकर उनका नाश किया है। हे दुःख हरनेवाले! हे नाथ! उस (काम) को मारकर विषय-रूपी वन में भूले पड़े हुए नीच अनाथों की रक्षा कीजिये॥२॥

विशेष—(१) 'महि-मंडल मंडन···'—ऊपर रावण-रूप भूमि के महारोग का नाश कहा गया, उसी संबंध से यहाँ पृथिवी-मंडल का शोभित होना कहते हैं कि जैसे रोग से रोगी की शोभा नहीं रहती, वैसे ही उस रोग से पृथिवी शोभाहीन हो गई थी, उस रोग के नाश हो जाने से अब वह शोभित हुई। रोग ओषधियों से नाश होते हैं। आपने अपनी तर्कश रूपी झोली से बाण-रूपी ओषधि निकालकर उस का नाश किया, उसीको यहाँ—'धृतसायक···' कहा है। 'वरं'—क्योंकि रोग-नाश करने में सफल रोग हुए। 'मंडन चारु तरं'—का भाव यह है कि दुश्चरित्र राक्षसों का नाश किया और अब अपने सदाचार से पृथिवी को सुशोभित कर रहे हैं; यथा—"चारित्रेण च को युक्तः" इस प्रश्न पर "स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।" (वाल्मी॰ मू॰ रा॰) कहा गया है।

(२) 'मद मोह महा···'—इन तीनों को रात कहा गया, क्योंकि रात भी त्रियामा कही जाती है। जैसे रात अंधकारमय होती है वैसे ही ये भी अज्ञानमय होते हैं; यथा—"ममता तरुन तमी अँधियारी।" (सुं॰ दो॰ ४६); "मोह निसा सब सोवनि हारा।" (अ॰ दो॰ १२); 'महा'—का भाव यह कि रात का अंत है, पर इन मद-ममता आदि का अंत नहीं है।

(३) 'तम-पुंज दिवाकर तेज अनी'—'तेज अनी' अर्थात् तेज का समूह, 'तम-पुंज' के लिये 'तेज अनी' कहा गया है। सूर्य सहस्रांशु कहाते हैं। भाव यह है कि हृदय में आपके आते ही अनायास ही मद आदि नष्ट हो जाते हैं।

(४) 'मन जात किरात...'—किरात लोग प्रायः मृगों को रात में मारते हैं, इसी से यहाँ भी पहले रात कहकर तब काम-रूपी किरात का कुभोग-रूपी बाणों से मृग-रूपी मनुष्यों को मारना कहा गया है। 'कुभोग'—अपनी स्त्री का सहवास भोग और पर-स्त्री-सहवास कुभोग है, क्योंकि यह नरक-मूल है। कुभोग से लोक में अपकीर्त्ति और परलोक-हानि होती है। विषयी लोग इसे नहीं समझते इसी से मृग (पशु) कहे गये।

(५) 'हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे'—हे नाथ! आपके से नाथ रहते हुए ये लोग अनाथ की तरह मारे जाते हैं, आप भक्तों के क्लेश हरने से हरि कहाते हैं। अतः, इन अनाथों के क्लेश हरण कर इनकी रक्षा करें। आपकी रक्षा से काम इन्हें नहीं मार सकता; यथा—"जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ।" (बा॰ दो॰ ८५); "तिन्हकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जबसे रघुबीर बाँह॥" (गी॰ अ॰ ४१)।

(६) 'बिषया-बन...'—विषय को वन कहा गया, क्योंकि जैसे बन में अनेकों प्रकार के दुःख और भय हैं वैसे ही विषय-सेवन मे अनेकों दुख और भय हैं। जैसे वन में लोग प्रायः मार्ग भूल जाते हैं, वैसे ही विषय मे पड़कर लोग परमार्थ मार्ग को भूल जाते है। नरदेह का मुख्य उद्देश्य परमार्थ-साधन है, उसमें भूल जाने से विषयी पामर कहे गये। विषय में पड़कर महर्षि विश्वामित्रजी भी भूल गये, दस वर्षों को एक दिन की तरह जाना; यथा—"अहो रात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश।" (वाल्मी १।६३।११); अर्थात् दिनरात के बहाने मेरे दश वर्ष बीत गये। फिर सामान्य मनुष्यों को क्या बात है? 'नाथ'—शिवजी सबकी रक्षा माँगते हैं, इसी से याचनार्थक नाथ पद कहा गया।

बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये।
भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद-पंकज प्रेम न जे करते ॥५॥
अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हके पद-पंकज प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिन्हके। प्रिय संत अनंत सदा तिन्हके ॥६॥

अर्थ—बहुत-से रोगों और वियोगों से लोग मारे गये, आपके चरणारविंद के निरादर के ये फल हैं। जो आपके चरण-कमलों में प्रेम नहीं करते वे मनुष्य अगाध (अथाह) भवसागर में पड़े हैं ॥५॥ जिनकी प्रीति आपके चरण-कमल में नहीं है, वे नित्य ही अत्यन्त दीन, मलिन और दुखी रहते हैं। आपकी कथा का जिन्हें आधार है, उनको सदा संत और भगवान् प्रिय लगते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'बहु रोग बियोगन्हि...'—ऊपर कुभोग को पाप कहा गया है, उसी का फल-भोग यहाँ कहते हैं कि वे रोग और वियोग के द्वारा मारे जाते हैं, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (दो० १००); 'भवदंघ्रि निरादर के फल ये'—भाव यह है कि आपके चरणों में प्रेम कर भक्ति करते तो विषय में नहीं फँसते और न ये सब दुर्दशाएँ होतीं; यथा—"राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करें कि तिन्हहीं ॥" (अ० दो० ८४); "सुमिरत रामहि तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलास ॥" (अ० दो० १४०)।

विषय-भोग से भाँति-भाँति के रोग होते हैं, विषय सामग्री के एवं पुत्र कलत्र आदि के वियोग के भी दुःख उसी से होते हैं।

(२) 'भवसिंधु अगाध परे नर ते'—भवसागर बड़ा गहरा है, इसमें निमग्न हुए जीव अपने उपाय-रूपी तैरने की क्रिया से नहीं निकल पाते। 'परे नर ते' अर्थात् इसमें वे पड़े ही रहते हैं। 'पद पंकज प्रेम न जे करते'—यदि चरणों में प्रेम करते तो तर जाते; यथा—"भव जलधिपोत चरनारबिंद" (वि० ६४), "यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां" (बा० मं० ६) तथा गीता १२।६–७ भी देखिये।

(३) 'अति दीन मलीन...'—भाव यह कि अन्न-वस्त्र भी नहीं मिलता, यह अति दीनता है, इसी से मलिन चेष्टा से पाप करते हैं और फिर नित्य ही दुःख पाते हैं। 'जिन्ह के पद...'—भाव यह कि भजन करते तो दुःख मालूम ही नहीं पड़ता, यथा—"बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही ॥" (सुं० दो० ३१)।

(४) 'अवलंब भवंत कथा...'—ऊपर विमुखों की दुर्दशा कही गई, अब भक्तों का सुख कहते हैं कि वे नित्य दुखी, दीन एवं मलिन रहते हैं और ये सुखी रहते हैं। कथा सुननेवालों का स्वभाव कहते हैं कि उन्हें संत और भगवान् सदा प्रिय लगते हैं, क्योंकि संत के बिना हरिकथा नहीं होती; यथा—"बिनु सतसंग न हरिकथा" (दो० ६१) और कथा से भगवान् के गुण जाने जाते हैं, इससे उनमें प्रीति होती है।

नहिं राग न लोभ न मान मदा। तिन्हके सम बैभव वा बिपदा।
येहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा ॥७॥

करि प्रेम निरंतर नेम लिये। पद-पंकज सेवत सुद्ध हिये।
सम मानि निरादर आदरहीं। सब संत सुखी बिचरंति मही ॥८॥

अर्थ—उनके न राग (पदार्थों मे प्रेम) है, न लोभ (वस्तु के अधिक पाने की इच्छा) है, न अभिमान है और न मद। उनके लिये संपत्ति और विपत्ति एक-समान हैं, इससे आपके सेवक आनंदित होते हैं और मुनि लोग सदा योग का भरोसा छोड़ते हैं, अथवा, मुनि लोग योग का भरोसा छोड़ते और आपका सदा ही भरोसा रखते हैं ॥७॥ प्रेम करके निरंतर नियम लेकर शुद्ध हृदय से चरण-कमलों की सेवा करते हैं। निरादर और आदर को समान मानकर सब संत आनंद से पृथिवी पर विचरते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'नहिं राग न लोभ···' पहले कथा का अवलंबन कहकर अब उसका फल कहते है कि उन्हें जो प्राप्त है, उसमे राग नहीं रह जाता और जो नहीं प्राप्त है, उसका लोभ भी नहीं रहता। जाति-विद्या आदि अपने मे उत्तम मानकर हृदय मे हर्ष करना 'मद' है और जाति-विद्या आदि से लोक मे बड़ाई की चाह से प्रसिद्ध व्यापार 'मान' है, ये दोनों उनमे नहीं रह जाते।

'तिन्हके सम वैभव वा बिपदा।'; यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (अ॰ दो॰ ११६)। "समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।" (गीता १४ २४)।

(२) 'येहि ते तव सेवक होत मुदा।'—कथा सुनने से हर्ष होता है; यथा—"सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं।" (दो॰ १५), "येहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (सुं॰ दो॰ ७); संत के मिलने से सुख होता है; यथा—"संत मिलन सम सुख जग नाहीं।" (दो॰ १२०); इत्यादि उपर्युक्त सुख के कारण 'येहि ते' शब्द मे आ गये।

(३) 'नेम लिये'—प्रेमपूर्वक नियमित रूप से भजन करते हैं, उत्तरोत्तर वृद्धि भले ही हो, कम नहीं होने देते; यथा—"चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥" (अ॰ दो॰ २०४)।

'सुद्ध हिये'—हृदय मे दंभ आदि विकार नहीं आने पाते।

(४) 'सम मानि निरादर आदरहीं'—विचरने मे जहाँ-तहाँ आदर-निरादर होता है, उसे समान ही मानकर सुखी रहते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य आपके प्रेम विषयक तत्त्वों में ही रहता है, आदर-निरादर का तो देह से ही सम्बन्ध है। यह गुणातीत का लक्षण है। गीता १४।२५ भी देखिये।

ऊपर 'तिन्हके सम वैभव वा बिपदा।' से प्रवृतिवाले संत ओर यहाँ 'बिचरंति मही' कहकर इन्हें निवृत्ति मार्ग का संत सूचित किया। एक ही स्थान पर विशेष काल तक रहने से इन्हें राग-द्वेष का भय रहता है, इससे ये विचरा करते हैं, यह साधकों का उद्देश्य है। सिद्धों के विचरने पर कहा गया है—"जड़ जीवन्ह को करत सचेता। जग माही बिचरत येहि हेता॥" (वैराग्यसंदीपनी ६)।

'जोग भरोस'—जोग मे ज्ञान-वैराग्य आदि सबके भाव हैं।

मुनि-मानस-पंकज भृंग भजे। रघुबीर महा रनधीर अजे।
तव नाम जपामि नमामि हरी। भव रोग महागद मान अरी ॥९॥

'सब निधि सुख प्रद बास'—जो सब काल में सुखद और सब ऋतुओं की उपभोग-सामग्री से पूर्ण हों ; यथा –"सुंदर सदन सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला॥" (बा० दो० २१६)।

वाल्मी० ६।१२८।४७ में श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा है कि मेरा सुंदर सुसज्जित भवन श्रीसुग्रीवजी के रहने के लिये दो, तब श्रीभरतजी ने वैसा ही किया। पीछे श्रीभरतजी ने श्रीसुग्रीवजी से तिलक- सामग्री एकत्र करवाने के लिये भी कहा है।

सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिविध ताप भवभय दावनी॥१॥
महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका॥२॥

अर्थ—हे गरुड़ ! सुनो, यह कथा पवित्र है, तीनों प्रकार के तापों और भव-भय को नाश करने वाली है॥१॥ महाराज श्रीरामजी का कल्याणकारी राज्याभिषेक सुनते ही मनुष्य वैराग्य और विवेक पाते हैं॥२॥

विशेष—(१) यहाँ राज्य-तिलक का प्रसंग पूरा हुआ। अतः, उसका माहात्म्य कहते हैं। यह भी हो सकता है कि वाल्मीकीय रामायण में यहाँ पर लंकाकांड की समाप्ति हुई है और विस्तृत माहात्म्य कहा गया है, वह भाव भी दिखा दिया गया।

श्रीगोस्वामीजी ने अपना उत्तरकांड अन्य रामायणों से कुछ विलक्षण रचा है। वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड का चरित इन्होंने इसमें नहीं ग्रहण किया। रावण की कथा तो इन्होंने बाल कांड में ही सूक्ष्म रीति से लिख दी है। लंकाकांड में लंका से सम्बन्ध रखनेवाले ही चरित लिखे गये हैं। राज्याभिषेक और तत्सम्बन्धी राज्य-वैभव-वर्णन और विविध उपदेश एवं काक भुसुंडी और गरुड़जी के सत्संग द्वारा इन्होंने अपने उत्तरकांड को सर्वोपरि सुशोभित किया है।

(२) 'सुनु खगपति यह कथा पावनी' कहकर इसे स्वरूप से निर्मल और सबको पवित्र करने-वाली कहा। 'त्रिविध ताप ..'—शरीर के सम्बन्ध से होनेवाले तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों को दमन करती है, ये ताप व्याप्त होने नहीं पाते ; यथा—"समन पाप संताप सोकके।" (बा० दो० ३१)। 'भव भय दावनी', यथा—"करउँ कथा भव सरिता तरनी।" (बा० दो० ३०)।

(३) 'सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका।'—विरति प्राप्त कराती है जिससे त्रिविध ताप नहीं व्यापते और विवेक देती है, जिससे भव-भय नहीं रह जाता। इससे उपर्युक्त—'त्रिविधताप भव भय दावनी' को ही यहाँ स्पष्ट किया है। 'सुनत'—अर्थात् तत्काल फल देती है। यहाँ निष्कामों को कहा है—आगे सकाम श्रोताओं को कहते हैं—

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुखसंपति नाना बिधि पावहिं॥३॥
सुर-दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति-पुर जाहीं॥४॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी कामना सहित इसे सुनते हैं और जो गाते हैं, वे (श्रोता-वक्ता दोनों) अनेक प्रकार के सुख और संपत्ति पाते हैं॥३॥ वे संसार में देवताओं को भी दुर्लभ सुख प्राप्त करके अंतकाल में श्रीरघुनाथजी के लोक को जाते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'जे सकाम नर '—'सकाम' का अर्थ भी स्पष्ट किया—'सुख संपति नाना विधि पावहिं।' अर्थात् सुख-संपति की कामना भी सिद्ध होती है। कथा से जानकर उनका उपभोग भक्ति के रूप में ही करते हैं, भक्ति के रूप में भोग ही परमार्थ-साधक हो जाते हैं। कान से राम-यश श्रवण करते हैं, मुख से वही गाते हैं, नेत्र से उनके दर्शन करते हैं। उनके कुटुंब और द्रव्य श्रीरामजी के हैं, वे परिकर रूप से श्रीरामजी की क्रीड़ा में सम्मलित रहते हैं, इत्यादि सुख देवताओं के लिये दुर्लभ हैं। क्योंकि स्वर्ग-सुख-भोग परिणाम में अधोगति देनेवाला है और इनका यह भोग अंत में परधाम देनेवाला है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३); अर्थात् मेरे भक्त अवश्य मुझको ही पाते हैं। गीतावली में भी कहा है; यथा—"श्रीराम-पद जल जात सबके प्रीति अबिचल पावनी। जो चहत सुक सनकादि संभु बिरंचि मुनि मन भावनी॥ सब ही के सुंदर मंदिराजिर, राउ रंक न लखि परै। नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन बिषयनि हरै॥" (उ० ११); "जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।" (कि० दो० १४)।

(२) 'अंतकाल रघुपति पुर जाहीं।'—पहले 'जग माहीं' कहकर इह लोक का सुख कहा, यह एक पाद विभूति का सुख कहा गया। पुनः 'रघुपति पुर जाहीं' से त्रिपाद विभूति की प्राप्ति कही गई है, जो जगत से भिन्न है। श्रीरघुनाथजी का पुर अयोध्या ही है, यहाँ लीला-विभूति की अयोध्या है और त्रिपाद-विभूति में भी अयोध्या है। दोनों नित्य हैं। लीला-विभूति की अयोध्या "जनम भूमि मम पुरी सोहावनि।" से ऊपर दो० ३ में कही गई और वहीं पर 'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।' पर त्रिपाद विभूति की अयोध्या भी वेद प्रमाण सहित कही गई है। वही श्रीरघुनाथजी का लोक है। 'रघुपति पुर' कहकर अयोध्या, साकेत इत्यादि का बोध कराया, श्रीरघुनाथजी की पुरी अयोध्या ही है। तात्पर्य यह है कि माधुर्य के उपासक भक्त यहाँ पर भगवान् के जिस रूप और भाव से जिस प्रकार के स्थल में अनुसंधान सहित उनकी उपासना करते हैं। भगवान् उसी रूप से एवं वैसी ही रीति से उन्हें आनन्दानुभव कराते हुए वहाँ नित्य सेवा प्रदान करते हैं; यथा—"यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥" (छां० ३।१४।१); इस श्रुति प्रमाण के 'तत्क्रतुन्याय' से उपर्युक्त बातें संगत हैं।

जो यहाँ जैसे परिकर-रूप से भावना करता है, दिव्य विभूति में भी वह वैसे ही ब्रह्म के साथ क्रीड़ा में सम्मिलित रहकर दिव्य सुख पाता है; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तैत्त० २।१); अर्थात मुक्तात्मा, परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है। यही सायुज्य मुक्ति है; यथा—"सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥" (नारद पंचरात्र-परम संहिता); अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवों से रहित होकर ब्रह्म के साथ-साथ किंकर भाव से सब कामनाओं को भोगनेवाले सायुज्य मुक्त कहाते हैं। यही मुक्ति श्रीगोस्वामीजी की भी इष्ट है; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१); अर्थात् परमपद (नित्यधाम की मुक्तावस्था) में भी किंकर भाव से ही रहूँगा।

यहाँ सकामों के प्रसंग में यह महत्व कहा, तो निष्कामों का क्या कहना? वे तो विवेक-विराग सहित भक्ति करते हैं, तो मुक्त होंगे ही।

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति-गति संपति नई॥५॥
खगपति राम-कथा मैं बरनी। स्वमति बिलास त्रास दुखहरनी॥६॥
बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह-नदी कहँ सुंदर तरनी॥७॥

गुन सील कृपा परमायतनं प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।
रघुनंद निकंदय द्वंदघनं महिपाल बिलोकय दीनजनं ॥१०॥

शब्दार्थ—महा गद (महा + अगद, गद = रोग, अगद = ओषधि) = महान् ओषधि; महा वाक्य।

अर्थ—आप रघुवंशी वीर, महा रणधीर और अजेय होकर भी मुनियों के मन-कमल के भ्रमर होकर उनको भजते हैं, अर्थात् उनके प्रेम-वश होकर उनके हृदय-कमल में वास करते हैं। हे हरि ! मैं आपका नाम जपता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। आप (एवं यह आपका नाम) भवरूपी महान् रोग की महान् ओषधि हैं और मान के शत्रु हैं ॥ ६॥ आप गुण शील और कृपा के परमस्थान हैं, श्रीपति हैं, मैं आपको निरंतर प्रणाम करता हूँ। हे रघुनंदन ! मेरे द्वंद्व-समूह को नाश कीजिये। हे महिपाल ! (मुझ) दीन जन की ओर देखिये (भाव यह कि आपकी कृपा-दृष्टि से ही दीनों का द्वन्द्व-दुःख नाश होता है) ॥१०॥

विशेष—(१) 'मुनि मानस···'—मुनि लोग सर्वात्मना वृत्ति सहित भगवान् का भजन करते हैं, उन्हीं को चाहते हैं। अतः, प्रेम से वश होकर भगवान् भी उनको भजते हैं। जैसे भ्रमर रस के लोभ से कमल को भजता है, वैसे ही भगवान् प्रेमरस के लोभ से मुनियों के हृदय-कमल को भजते हैं; यथा—"ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु-पद-पदुम पलोटत प्रीते ॥" (बा॰ दो॰ २२५); तथा "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११)।

(२) 'भव रोग महागद मान अरी।'—ऊपर कहा गया—'कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।'—वहाँ पृथिवी के महारोग रूप रावण का नाश करना कहा गया था। यहाँ भव-रोग का भी नाशक कहते हैं। 'मान अरी' पृथक् कहने का कारण यह है कि मान भवरोग का मूल रूप है; यथा—"संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना ॥" (दो॰ ७१) अर्थात् आप कारण और कार्य दोनों के नाशक हैं।

'भव रोग महागद···' यह पद नाम का भी विशेषण हो सकता है और उसमें महागद श्लेषार्थ से 'महा वाक्य' अर्थ से भी पृथक् विशेषण नाम ही का हो सकता है; अर्थात् वह नाम महा वाक्य-रूप है, भव-रूपी महा रोग की महती ओषधि है और वह मान का शत्रु है।

कहीं-कहीं 'गद' की जगह 'मद' भी पाठ है, उसमें 'महा' शब्द भव रोग, मद और मान तीनों के साथ लगेगा। फिर उसे नाम और रूप दोनों के साथ लगा सकते हैं।

(३) 'गुनसील कृपा···'—यद्यपि भगवान् में सभी गुण निस्सीम हैं; यथा—"स च सर्व गुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्द्धनः।" (वाल्मी॰ मू॰ रा॰) तथापि यहाँ पर श्रीशिवजी की दृष्टि इन तीनों गुणों पर विशेष है, इसी से श्रीरामजी को गुणों के परम स्थान कहा है। 'श्रीरमनं'—'श्री' शब्द श्रीजानकीजी का नाम है। अरण्यकांड में तथा अन्यत्र भी कई जगह आया है। श्रीसीता मंत्र का बीजाक्षर भी यही है। ऊपर 'रमा रमनं' में प्रमाण भी दिया गया है कि श्रीजानकीजी श्रीसमूह की भी श्री हैं। 'रमा' और 'श्री' श्रीसीताजी के ऐश्वर्य-द्योतक नाम हैं। इन नामों में श्रीलक्ष्मीजी के द्रव्य आदि अंश का भाव भी है और यहाँ श्रीशिवजी को कुछ माँगना है, इससे उपक्रम और उपसंहार में भी यही नाम दिया गया है कि श्रीमान् लोग ही आश्रितों को कुछ देते हैं। इसी से 'महिपाल' भी कहा है।

(४) 'द्वंदघनं'—अर्थात सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वों के समूह।

दोहा—बार बार बर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरंग !
पद-सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग ॥
बरनि उमापति रामगुन, हरषि गये कैलास ।
तब प्रभु कपिन्ह दिवाये, सब बिधि सुखप्रद बास ॥१४॥

शब्दार्थ—श्रीरंग=श्रीजी को रमानेवाले, श्रीरमण । अनपायनी=जिसका कभी विश्लेष (अलगाव) नहीं हो, अविरल, सदा एक रस रहनेवाली ।

अर्थ—हे श्री-रमण ! आपके चरण-कमलों की अविनाशिनी भक्ति और सदा सत्संग का वरदान आपसे मैं बार-बार माँगता हूँ, आप प्रसन्न होकर दीजिये ॥ श्रीरामजी के गुणों का हर्ष-पूर्वक वर्णन करके उमापति श्रीशिवजी हर्ष-पूर्वक कैलाश को गये, तब प्रभु ने वानरों को सब प्रकार सुख देनेवाले वास-स्थान दिलाये ॥१४॥

विशेष—(१) 'बार-बार' माँगने के सम्बन्ध से 'श्रीरंग' कहा गया है कि आप समस्त ऐश्वर्य के स्वामी हैं। अतः, सब कुछ दे सकते हैं, इससे बार-बार माँगने पर संकोच नहीं होगा और जो माँगूगा, अवश्य मिलेगा। 'हरषि देहु'—जो दोनों पदार्थ माँगते हैं, वे बड़े दुर्लभ हैं; यथा—"सब ते सो दुर्लभ सुर राया। राम-भगति-रत गत-मद-माया।" (दो० ५३); "सत्संगति दुर्लभ संसारा।" (दो० १२२); इसी से इन्हें बार-बार माँगने पर भी प्रभु संकोच में पड़कर देते हैं; यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥" (दो० ८१)। यही विचारकर श्रीशिवजी ने बार-बार माँगा और श्रीरंग कहकर ऐश्वर्य एवं उदारता प्रकट की, फिर भी कहते हैं कि हर्ष-पूर्वक दे दीजिये।

भक्ति माँगकर साथ ही सत्संग माँगने का अभिप्राय यह है कि निरंतर सत्संग रहने से भजन का उत्साह नित्य नवीन बना रहता है। भजन के उपाय भाँति-भाँति से श्रवणगोचर हुआ करते हैं। इसी से पूज्य ग्रंथकार ने स्वयं भी ऐसा ही माँगा है; यथा—"यत्र कुत्रापि मम जन्म···तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्।" (वि० ५७)।

(२) 'बरनि उमापति···'—इसमें 'हरषि' दीपदेहली है। हर्ष-पूर्वक जाने से वरदान का मिलना भी ध्वनित हुआ, लीला के अनुरोध से प्रकट-रूप में वरदान नहीं दिया, मानसिक रीति से दिया। उसे जानकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए।

(३) 'तब प्रभु कपिन्ह दिवाये···'—अन्य रामायणों में तिलक के पहले वास दिलाना लिखा है। परन्तु श्रीगोस्वामीजी ने आते ही तिलक-रचना लिखी है। अतएव सभी उस कार्य में लगे थे। अब वह कार्य सम्पन्न हो गया, प्रभु को अवकाश मिला, तब उन्होंने वानरों के निवास का प्रबंध किया।

प्रभु का चित्त इनके स्वागत में लगा था, इसी से श्रीशिवजी ने प्रार्थना में कहा है—'महिपाल बिलोकय दीन जनं' अर्थात् मुझ दीन जन की ओर थोड़ा ध्यान दें, यद्यपि आप महिपाल हैं। अतः, आप को सभी का पालन करना है।

'कपिन्ह' में रीछ और राक्षस भी आ गये। रीछ तो प्रायः कपियों में कहे ही जाते हैं, राक्षस बहुत थोड़े हैं, इससे वे भी उन्हीं में कहे गये।

अर्थ—जीवन्मुक्त, वैराग्यवान् और विषयी सुनते हैं, तो भक्ति, गति और नई सम्पत्ति (श्रद्धा) पाते हैं ॥५॥ हे गरुड़जी ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार राम-कथा वर्णन की, जो भय और दुख को हरने-वाली, वैराग्य, विवेक और भक्ति को दृढ़ करनेवाली और मोह-नदी के लिये सुन्दर नाव है ॥६-७॥

विशेष—(१) 'सुनहिं बिमुक्त…'—इसमें यथासंख्यालंकार से अर्थ होना चाहिये। विमुक्त को भक्ति मिलती है; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥" (वि० ८६), मुक्तों को कुछ नहीं चाहिये। फिर भी वे भक्ति करते हैं, इसपर -"भगतिहि सानुकूल रघुराया।" से 'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाँचहिं भगति सकल सुखखानी॥" (दो० ११५)—देखिये। वैराग्यवान् को गति मिलती है। गति का अर्थ है—भगवान् के अनन्य शरण होना, विरक्त सब ओर से वृत्ति खींच लेते हैं, तब वे भगवान् में अनन्य होकर शरणागति पाते हैं, यथा—"आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।" (गीता ७।१८), विषयी को नई संपत्ति मिलती है, 'नई' का अर्थ कोई-कोई दिन-दिन नई होनेवाली अर्थात् 'नित्य नई' करते हैं। पर मूल में 'नित्य' शब्द बिना यह अर्थ नहीं आता और 'नई' शब्द दोहराया भी नहीं गया कि जिससे उक्त अर्थ लिया जाता।

नई सम्पत्ति क्या है ? यह विचार करने का विषय है। विषयी के पास जो सम्पत्ति है, जिसे वह भोगता है वह पुरानी है, क्योंकि विषयोपभोग सामग्री का तो वह जन्म-जन्म से भोग करता ही आता है।

अब कथा के द्वारा जो उसे नई सम्पत्ति मिलती है, वह है श्रद्धा, साधन चतुष्टय में षट् संपत्ति भी है जिसके छः भेदों में श्रद्धा भी एक है—शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। यही सात्विक श्रद्धा के नाम से दो० ११६ चौ० ६ में कही गई। भक्ति अथवा ज्ञान किसी भी साधन में श्रद्धा ही उत्तरोत्तर विकास की जड़ है। इससे उसका आगे बढ़ने का मार्ग खुल जाता है। कथा के द्वारा विषयोपभोग की अनित्यता समझ में आ जाती है और वह उपासना में प्रवृत्त होता है।

इस अर्थ से विमुक्त और विरत के समान इसका भी फल हो जाता है और फल में भी विषयी से विरति की और उससे विमुक्त की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। ये तीनों अन्यत्र भी कहे गये हैं- "बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥ राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥" (अ० दो० २७१) इसमें उपर्युक्त विमुक्त सिद्ध और विरत साधक कहे गये हैं। विषयी को इसमें भी राम-स्नेह में सरसता (श्रद्धा) ही कही गई है।

(२) 'स्वमति बिलास' अर्थात् अपनी बुद्धि की प्रवृत्ति भर, अपनी मति के अनुसार। त्रास अर्थात् यम साँसति, गर्भवास आदि के भय। दुख अर्थात दरिद्र, आधि व्याधि आदि।

(३) 'बिरति बिवेक भगति दृढ़ करनी।'—इनकी प्राप्ति ऊपर कही गई, यहाँ दृढ़ करनी कहते हैं। भाव यह कि प्राप्त कराके फिर उसे अचल भी कर देती है।

नित नव मंगल कौसलपुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी ॥८॥
नित नइ प्रीति राम-पद-पंकज। सबके जिन्हहि नमत सिवमुनि अज ॥९॥
मंगन बहु प्रकार पहिराये। द्विजन्ह दान नाना बिधि पाये ॥१०॥

अर्थ—श्रीअयोध्यापुरी में नित्य नये मङ्गलोत्सव होते हैं, सब कुरी (जाति) के लोग प्रसन्न रहते हैं ॥८॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों में—जिन्हें शिवजी, मुनि लोग और ब्रह्माजी नमस्कार करते हैं,

सबकी नित्य नई प्रीति है ॥९॥ याचकों ने बहुत प्रकार के पहिरावे पाये और ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार के दान पाये ॥१०॥

विशेष—(१) 'नित नव मंगल···'—राज-मंदिर का उत्सव कहकर अब पुरवासियों का उत्साह कहते हैं कि श्रीरामजी के आगमन का उत्सव घर-घर, जाति-जाति के लोग करते हैं, इसीसे वे हर्षित रहते हैं। श्रीरामजी के सम्बन्ध में हर्ष का कारण आगे कहते हैं 'नित नइ प्रीति···'—अर्थात् श्रीरामजी में प्रीति थी, अब नित्य नये उत्सव द्वारा उस प्रीति को और बढ़ाते हैं। प्रीति बढ़ने का कारण भी कहते हैं—'जिन्हहि नमत सिव मुनि अज'—सब विचारते हैं कि जिन चरणों का आश्रय हमें प्रत्यक्ष प्राप्त है, वे इतने बड़े हैं कि उन्हें ब्रह्मा, शिव आदि नमस्कार ही कर पाते हैं। इन लोगों ने देखा और सुना है कि सब देवताओं ने लंका में आकर स्तुति और नमस्कार किये हैं और यहाँ भी शिवजी आये ही थे ; स्तुति कर गये।

(२) 'मंगन बहु प्रकार पहिराये।···'—किसने पहिराये और किसने दान दिये, यह नहीं लिखा गया। अत', सूचित किया कि सभी ने पहिराये और सभी ने दान दिये। याचकों को तो पहिरावा देते हैं, उनकी रुचि के अनुकूल वस्त्राभूषण पहनाये और दान ब्राह्मणों को दिया, क्योंकि दान सुपात्र को ही देना चाहिये ; यथा—"देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥" (गीता· १८।२०)। 'नाना बिधि' में हाथी, घोड़े, गौ, वस्त्र के दान एवं और भी नाना रामायणों में कहे हुए दानों के भेद आ गये।

पाहुनों की विदाई का प्रसंग

दोहा—ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभुपद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट बीति ॥१५॥

अर्थ—सब वानर ब्रह्मानन्द में मग्न हैं, सबके हृदय में प्रभु के चरणों में प्रीति है, उन्होंने दिन जाते नहीं जाना, छः महीने बीत गये ॥१५॥

विशेष—(१) यहाँ का ब्रह्मानन्द भक्ति सम्बन्ध का है, क्योंकि 'सब के प्रभु-पद प्रीति' कही गई है, रुक्ष ब्रह्मानन्द में ध्याता, ध्यान और ध्येय के भेद की वृत्ति नहीं रह जाती। यहाँ का ब्रह्मानन्द श्रीरामजी के दर्शनों से है, क्योंकि श्रीरामजी ब्रह्मानन्द की राशि हैं ; यथा—"मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई॥" (अ· दो· १०५)। इसी से राजा श्रीजनकजी का ब्रह्मानन्द इनके दर्शनों के समक्ष अति तुच्छ हो गया ; यथा—"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥" (बा· दो· २१५)।

(२) 'दिवस'—यह रात और दिन दोनों का उपलक्षक है।

बिसरे गृह सपनेहु सुधि नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं ॥१॥
तब रघुपति सब सखा बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥२॥
परम प्रीति समीप बैठारे। भगत-सुखद मृदु बचन उचारे ॥३॥

अर्थ—उन्हें घर भूल गया, स्वप्न में भी घर की सुधि नहीं आती, जैसे कि संत के मन में परद्रोह (का स्मरण) नहीं आता ॥१॥ (जब वैसे ही छः मास बीत गये) तब श्रीरघुनाथजी ने सब सखाओं को बुलाया, सब ने आकर आदर सहित प्रणाम किया ॥२॥ बड़े प्रेम से प्रभु ने उनको पास बैठाया और भक्तों को सुख देनेवाले कोमल वचन कहे ॥३॥

विशेष—(१) 'बिसरे गृह···'—'सपनेहु' यह मुहाविरा है, अर्थात् कभी नहीं। पहले वानरों का यहाँ का सुख कहा कि सब ब्रह्मानंद में मग्न रहते हैं। अब कहते हैं कि इस सुख के आगे उन्हें अपने अपने घर भूल गये हैं। 'जिमि परद्रोह···'—अर्थात् जैसे मन में परद्रोह का रहना भक्ति का बाधक है, वैसे ही गृह आदि की ममता भी बाधक है; यथा—"परिहरि राम लखन बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥" (अ० दो० २७६)। यहाँ संतों का लक्षण भी कहा गया कि उन्हें परद्रोह को भुला देना चाहिये, क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् भगवान् का शरीर है। अतः, किसी के द्वारा भी उपकार एवं अपकार सबके कर्मानुसार भगवान् ही करते हैं, सबके प्रेरक वे ही हैं, तब किसी प्राणी का क्या दोष?

(२) 'तब रघुपति सब···'—वानर लोग सीता-शोध के लिये आसिन महीने में बुलाये गये थे और चैत बीतने के लगभग श्रीअवध में राज्य-तिलक महोत्सव हुआ, फिर छः महीने यहाँ भी बीत गये। अतः, दूसरा आसिन आ गया। वर्ष भर पर इन्हें विदा करने की बात हो रही है।

'बोलाये'—अर्थात् वे सब अपने-अपने निवास-स्थानों पर थे। 'सादर सिर नाये'—सब ने चरणों पर शिर रखकर प्रणाम किया।

(३) 'परम प्रीति समीप···'—इनपर प्रभु का सौहार्द तो सब दिन से था, प्रीति भी सदा ही से थी; पर आज विदा करना चाहते हैं, इससे वियोग-भावना से और भी प्रीति उमड़ आई, इसलिये पास बैठाया।

श्रीरामजी ने तन से पास बैठाया, मन से परम प्रीति की, और वचन से कोमल वचन कहकर सुख दे रहे हैं, अर्थात् आपने मन, वचन और कर्म से वानरों पर स्नेह किया है।

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई ॥४॥
ताते मोहिं तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥५॥
अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही ॥६॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥७॥
सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥८॥

अर्थ—तुमने मेरी अत्यन्त सेवा की, मुख पर किस प्रकार से तुम्हारी बड़ाई करूँ? (भाव यह कि मुँह पर प्रशंसा करना अनुचित है, मैं तो व्यावहारिक रीति से तुम्हारे कृत्यों का अल्पांश कहता हूँ) ॥४॥ मेरे हित के लिये तुमने घर के सुख छोड़े, इसीसे तुम मुझे अत्यन्त प्रिय लगे ॥५॥ भाई, राज्य, संपत्ति, वैदेही, अपनी देह, घर, कुटुम्ब, और स्नेही मित्र, ये सब मुझे तुम्हारे समान प्रिय नहीं हैं; मैं झूठ नहीं कहता, यह मेरा स्वभाव प्रसिद्ध है (यह मेरी प्रतिज्ञा है) ॥६-७॥ यह नीति है कि सेवक सबको प्रिय होता है, पर मेरी तो दास पर अधिक प्रीति रहती है ॥८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह अति कीन्हि···'—यहाँ प्रभु अपनी अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करते हैं। 'अति सेवकाई'—मेरे लिये शरीर और प्राणों तक की ममता नहीं की। 'भवन सुख'—भाई, राज्य, संपत्ति, स्त्री, देह, घर, परिवार, मित्र, पुत्र आदि। इन्हीं के प्रति आगे वे अपने 'अनुज राज संपति बैदेही।···' आदि से भी अधिक इन्हें प्रिय कहते हैं। यही 'अति प्रिय लागे' का अर्थ है।

(२) 'अनुज राज···'—श्रीभरत आदि तीनों भाई, चक्रवर्त्ति राज्य, खजाना, जिसकी स्पृहा कुवेर करते हैं; श्रीवैदेहीजी जो लक्ष्मी की भी लक्ष्मी हैं; देह जो अप्रतिम पराक्रमशाली है; गेह जहाँ ऋद्धि-सिद्धि दासियाँ हैं; ऐसे ही योग्य सब कुटुम्बी और मित्रगण हैं। (अभी पुत्र और भतीजे नहीं हैं, इससे इनके नाम नहीं कहे गये।)

(३) 'सब मम प्रिय नहिं···'—यह राज-सभा में कह रहे हैं, फिर भी अपनी सत्यसंधता को आगे रखते हैं—'मृषा न कहउँ···' यथा—"धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि।" (वाल्मी॰ ६।७०); "रामो द्विर्नाभिभाषते" (वाल्मी॰ १।१८।१०) अर्थात् मैं सत्य ही कहता हूँ, यह न समझो कि तुम्हें प्रसन्न करने के लिये कुछ बनाकर कहता हूँ।

ऐसा ही श्रीकृष्णजी ने उद्धवजी से कहा है; यथा—"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥" (भाग॰ ११।१४।१५) अर्थात् मुझे ब्रह्मा, शिव, बलराम, लक्ष्मी और अपना शरीर भी वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसे आप प्रिय हैं।

(४) 'सब के प्रिय सेवक यह नीती।' यथा—"सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग। श्रुति पुरान कह नीति असि, सावधान सुनु काग॥" से "सत्य कहउँ खग तोहिं, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।" (दो॰ ८६-८७) तक। इसमें नीति कही गई है। 'मोरे अधिक···'—सब कोई दास को सेवा करने वाला और तदनुसार ही उसे प्रिय मानते हैं। पर मैं सेवक को अपने प्राण के समान प्रिय मानता हूँ। दूसरे स्वामी सेवक से अपराध होने पर क्रोध करते हैं, पर मैं नहीं करता; यथा—"साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपनेहु देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरे॥" (दोहावली ४७)। यहाँ श्रीरामजीने अपना भक्त-वात्सल्य गुण प्रकट किया है।

दोहा—अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित, जानि करेहु अति प्रेम॥१६॥

अर्थ—हे सब सखाओ! अब अपने-अपने घरों को जाओ, दृढ़ नियमपूर्वक मेरा भजन करते रहना। मुझे सदा सर्वव्यापक जानकर अत्यन्त प्रेम करके सब का हित करना। (वा, मुझे सर्वव्यापक और सर्वहितैषी जानकर मुझसे अत्यंत प्रेम करना)॥१६॥

विशेष—(१) 'अब'—मेरा जितना काम था, वह हो गया, कुछ शेष नहीं है। अतः, अब जाओ। 'गृह जाहु'—क्योंकि हम अपने घर आ गये, तब तुम सब अपने-अपने घर जाकर बाल-बच्चों से मिलो। 'सखा सब'—सखा हो, अपने-अपने भावानुसार वहीं से दृढ़तापूर्वक नियम निर्वाह करना, मेरा भजन करना। यदि वे कहें कि आप से तो वियोग रहेगा, हम वहाँ किसका भजन (सेवा) करेंगे? उस पर कहते हैं कि मुझे 'सर्वगत' समझो, मैं सदा ही सब प्राणि-मात्र में प्राप्त हूँ। ऐसा जानकर अर्थात् सब जीव-मात्र को मेरा रूप मानकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक सब का हित करना, क्योंकि सखा का धर्म है हित करना। यही तुम

सब ने किया भी है ; मेरे हित के लिये प्राण तक दे दिये हैं। वैसा ही हित प्राणि-मात्र का करना, तब प्राणि-मात्र के रूप से मैं सर्वत्र तुम्हारे साथ ही हूँ। मन से स्मरण करना और तन-वचन से भी उक्त प्रकार से सेवा करना। 'दृढ़'—अर्थात् कैसा भी कष्ट पड़े, पर नियम न छूटे।

(२) जैसे श्रीहनुमान्‌जी से कहा था—"सो अनन्य जाकें असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर-रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि॰ दो॰ ३)। वहाँ दासभाव की अनन्यता कही थी ; यहाँ सख्य-भाव की कहते हैं। वहाँ श्रीरामजी सर्वरूप से स्वामी हैं और यहाँ वे सर्वगत एवं सर्वरूप से सखा हैं।

सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये ॥१॥
एकटक रहे जोरि कर आगे। सकहिं न कछु कहि अति अनुरागे ॥२॥
परम प्रेम तिन्हकर प्रभु देखा। कहा बिबिधि बिधि ग्यान बिसेखा ॥३॥
प्रभु सन्मुख कछु कहन न पारहिं। पुनि पुनि चरन-सरोज निहारहिं ॥४॥
तब प्रभु भूषन-बसन मँगाये। नाना रंग अनूप सुहाये ॥५॥

अर्थ—प्रभु के वचन सुनकर सब मग्न हो गये, हम कौन हैं और कहाँ हैं यह देह-सुधि भूल गई ॥१॥ अत्यन्त अनुराग हो गया, इससे (कंठ गद्गद होने से) कुछ कह नहीं सकते, हाथ जोड़े टकटकी लगाये सामने देखते रह गये (पलकें नहीं गिरतीं) ॥२॥ प्रभु ने उनका अत्यन्त प्रेम देखा, तब अनेक प्रकार से विशेष ज्ञान कहा ॥३॥ वे प्रभु के सम्मुख कुछ कह नहीं सकते, बार-बार चरण-कमलों को देखते हैं (चाहते हैं कि इन चरणों से अलग न हों) ॥४॥ तब प्रभु ने रंग बिरंग के सुन्दर उपमारहित भूषण और वस्त्र मँगाये ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि प्रभु बचन ···'—प्रभु ने अपना अत्यन्त स्नेह प्रकट किया और फिर वियोग के वचन कहते हुए पराक्ष से भी इन्हें अत्यन्त प्रेम करना कहा। इसपर वानरगण तत्क्षण ही प्रेम में मग्न हो गये, प्रभु का स्नेह और उनकी कृतज्ञता ने इन सब के मन को मुग्ध कर दिया। पुन. वियोग स्मरण कर अत्यन्त प्रेम की दशा प्राप्त हो गई, वही 'को हम···' से कही गई है।

(२) 'परम प्रेम तिन्ह कर···'—प्रभु ने देखा कि परम प्रेम के कारण हमारा वियोग न सह सकेंगे, इसलिये विशेष प्रकार के ज्ञान का उपदेश किया। भाव यह कि सामान्य ज्ञान तो—'सदा सर्वगत···' में कह ही चुके थे। 'बिबिध बिधि ग्यान' यह कि जीवों के जन्म से ही प्रारब्ध के संस्कार साथ लग जाते हैं। उनके अनुकूल उन्हें ईश्वर प्रारब्ध भोग कराता है। जीव का कर्त्तव्य है कि वह हर्ष सहित प्रारब्ध भोगते हुए ईश्वर का स्मरण किया करे। प्रभु कहते हैं कि विचारो तो हम से वियोग कहाँ है ? हम तुम्हारे साथ सर्वत्र उपस्थित हैं, हम एकदेशीय एवं परिच्छिन्न नहीं हैं ; यथा—"देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥" (बा॰ दो॰ १८४)।

(३) 'प्रभु सन्मुख ···'—'प्रभु' का भाव यह कि प्रभु की आज्ञा अपेल है। अतः, उत्तर न देना चाहिये, यथा--"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं॰ दो॰ ५८) ; "उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (अ॰ दो॰ २६८)। इससे कुछ कह नहीं सकते, पर बार-बार चरण ही देखते हैं। भाव यह कि हमारी इच्छा तो इन्हें छोड़ने की नहीं है। हमें इनकी भक्ति दीजिये, इन चरणों को हमारे हृदय में बसा दीजिये।

(४) 'तब प्रभु भूषन'''—जब वानरों ने आज्ञा पर उत्तर न दिया, आज्ञावश घर जाना स्वीकार किया, तब। 'नाना रंग'—चित्र-विचित्र मणियों से जटित। 'अनूप' अर्थात् उपमारहित; बहुमूल्य। 'सुहाये' से बनावट की सुन्दरता सूचित की।

सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराये। बसन भरत निज हाथ बनाये ॥६॥
प्रभु-प्रेरित लछिमन पहिराये। लंकापति रघुपति मन भाये ॥७॥
अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला ॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी ने अपने हाथ से बनाकर (सँवारकर) श्रीसुग्रीवजी को प्रथम ही वस्त्र पहनाये ॥६॥ (फिर) प्रभु की प्रेरणा से श्रीविभीषणजी को श्रीलक्ष्मणजी ने भूषण वस्त्र पहनाये। वे श्रीरघुनाथजी को अच्छे लगे ॥७॥ अंगद बैठा ही रहा, जगह से न हिला, न डोला। उसकी प्रीति देखकर प्रभु उससे न बोले (एवं उसे न बुलाया) ॥८॥

विशेष—(१) यहाँ पर सामान्य व्यवहार की दृष्टि से श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को श्रीरामजी ही पहनाते, शेष वानरों को भाई लोग पहनाते, तो उचित होता। पर वैसा नहीं हुआ, इसमें कुछ रहस्य है। यह लं० दो० ११-१२ 'चन्द्र-परीक्षा रहस्य' में लिखा गया। वहीं देखिये। श्रीजाम्बवान्जी, श्रीनीलजी आदि युवराज श्रीअंगदजी के अनुवर्त्ती हैं, इसलिये श्रीअंगदजी की तरह इन्हें भी श्रीरामजी ने ही पहनाये हैं। इसका हेतु भी वहीं देखिये।

(२) 'रघुपति मन भाये'—लंका में सुवर्ण एवं मणि जटित मकान भी थे, ये भूषण वस्त्र ऐसे अद्भुत हैं कि वहाँ के रहने वाले श्रीविभीषणजी की भी शोभा बढ़ानेवाले हैं। इससे श्रीरामजी को अच्छे लगे।

(३) 'अंगद बैठ रहा'''—जब श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को वस्त्राभूषण पहनाये गये, तब श्रीअंगदजी को उठकर वहाँ जाना था, पर ये अपनी जगह से हिले-डोले भी नहीं, अत्यन्त प्रीति में निमग्न बैठे ही रह गये। इनकी दशा देखकर प्रभु ने विचारा कि सबको विदा करके पीछे इसे समझावेंगे। अभी बोलने से यह प्रेमवश कुछ हठ करेगा, तो और सब भी वैसा ही करेंगे। इस लिये पहले इससे नहीं बोले। यह प्रभु का चातुर्यगुण है।

दोहा—जामवंत नीलादि सब, पहिराये रघुनाथ।
हिय धरि रामरूप सब, चले नाइ पद माथ ॥
तब अंगद उठि नाइ सिर, सजल नयन कर जोर।
अति बिनीत बोलेउ बचन, मनहुँ प्रेमरस बोरि ॥१७॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्जी और श्रीनीलजी आदि सबको श्रीरघुनाथजी ने वस्त्राभूषण पहनाये। वे सब हृदय में श्रीराम रूप को धारण कर चरणों में मस्तक नवाकर चले। तब श्रीअंगदजी ने उठकर मस्तक नवाकर नेत्रों में आँसू भरे हुए हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्रता-पूर्वक मानों प्रेम रस में डुबाकर वचन कहे ॥१७॥

विशेष—(१) 'हिय धरि राम रूप'—अब बाहर से श्रीराम-रूप का वियोग होता है, यह विचार कर यह रूप हृदय में बसाया कि सदा इसी का ध्यान बना रहे। 'चले नाइ पद माथ'—यद्यपि श्रीरामजी इन्हें सखा-भाव से अपने समान आदर दे रहे हैं, सारूप्य बनाये हुए हैं, तब भी सब अपने सेवक-भाव में सावधान हैं। इससे चरणों पर शिर धर प्रणाम करके चले। इनके साथ श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी भी गये। श्रीअंगदजी कुछ कहेंगे, इसलिये ये लोग इन्हें अवसर देने के लिये कुछ दूर चलकर इनकी राह देखेंगे। फिर इनकी भी विदाई होने पर सब साथ चलेंगे और भाइयों के साथ श्रीभरतजी पहुँचाने भी जायँगे।

विदाई के वियोग से पहले भी वानरों का 'परम प्रेम' कहा गया। यहाँ भी 'हिय धरि राम-रूप सब चले' कहते हैं। पुनः आगे भी—'बिदा कीन्ह भगवान तब···' कहा है। इससे सूचित किया है कि विदा होते हुए वानरों को बड़ा कष्ट हुआ है। वाल्मीकिजी लिखते हैं—"जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन।" (७।४०।१०) अर्थात् वे सब अपने-अपने घर गये, जिस प्रकार जीवात्मा शरीर को छोड़कर जाता है।

(२) 'तब अंगद उठि···'—जब सब चले गये 'तब' अवसर पाकर। 'सजल नयन' से मन की प्रेम-दशा प्रकट है। 'कर जोरि' से तन एवं कर्म की और 'अति बिनीत बोले बचन' में वचन की प्रीति है। हाथ जोड़े हुए हैं एवं आँसू भरे हैं। यह अति नम्रता की मुद्रा है। वैसे ही वचन भी बोलते हैं। श्रीअंगदजी ने विचारा कि यदि प्रभु जाने की प्रकट आज्ञा दे ही देंगे, तो मुझे फिर कुछ कहने का अवसर न रह जायगा, क्योंकि आज्ञा-भंग का दोष मेरे सिर आवेगा। इसलिये स्वयं उठकर प्रार्थना करने लगे।

सुनु सरबज्ञ कृपासुख-सिंधो। दीन दयाकर आरत-बंधो ॥१॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोछे घाली ॥२॥
असरन-सरन बिरद संभारी। मोहि जनि तजहु भगत-हितकारी ॥३॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ ! हे कृपा और सुख के सागर ! हे दीनों के लिये दया की खान ! हे दुखित जनों के सहायक भाई ! सुनिये ॥१॥ हे नाथ ! वालि मरते समय मुझे आप ही की गोद में डाल गये हैं ॥२॥ हे भक्तों के हित करनेवाले ! अशरण-शरण (अनाश्रित को आश्रय देनेवाले) अपना बाना स्मरण कर मेरा त्याग न कीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनु सर्वज्ञ···'-श्रीरामजी में असंख्य गुण हैं, पर यहाँ स्तुति करते हुए श्रीअङ्गदजी अपने प्रयोजन के अनुकूल ही गुणों को कहते हैं—आप 'सर्वज्ञ' हैं। अतः मेरी व्यवस्था भी जानते ही हैं। मैं सब प्रकार असमर्थ हूँ। अतः कृपा की आवश्यकता है और आप कृपा के समुद्र हैं। जो कृपालु हो और उसमें सुख देने का सामर्थ्य न हो, सो बात भी नहीं है। आप सुख के समुद्र हैं, आप अपने कण-मात्र सुख से तीनों लोकों को सुखी कर सकते हैं; यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥" (बा॰ दो॰ १९६), 'दीन दयाकर···'—भाव यह कि मैं दीन और आर्त्त हूँ, मुझ पर दया कीजिये और दुःख में सहायक होइये। पिता मर चुके हैं, माता भी श्री सुग्रीवजी के अधीन हैं, इससे अपने को दीन कहा है।

(२) 'मरती बेर···'—पहले समर्थ स्वामी के गुण श्रीरामजी में कहकर अब अपने में आश्रित के लक्षण कहते हैं कि मरते समय मेरे पिता ने मुझे आपकी गोद में डाला है, अर्थात् सब प्रकार से भरण-पोषण का भार आप पर दिया है। 'तुम्हारेहि' अर्थात् सुग्रीव के नहीं, यह बात "पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही ॥" (कि॰ दो॰ २५) से सिद्ध होती है।

(३) 'असरन सरन···'—पिता के मरने पर मैं अशरण था, तब आपने मुझे शरण में स्वीकार किया, गोद में लिया। अब शरण में लेकर त्यागें नहीं, कोछे रखकर गिरावें नहीं। मुझे त्यागने पर आप का अशरण-शरण बाना न रह जायगा। 'मोहिं जनि तजहु'—श्रीरामजी का रुख देखा कि रखना नहीं चाहते, तब ऐसा कहा। 'भगत हितकारी'—भाव यह कि मैं भक्त हूँ, वहाँ जाने में मुझे सुग्रीवजी से भय है। अतः, मेरा त्याग न कीजिये, वहाँ न भेजिये। सुग्रीवजी से भय का कारण यह कि अभी उनके पुत्र नहीं था, इससे और आपकी आज्ञा से उन्होंने मुझे युवराज बनाया है। उनके संतति होने पर वह मुझे क्यों जीता छोड़ेंगे ?

मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद-जलजाता ॥४॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा ॥५॥
बालक ज्ञान-बुद्धि-बल-हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना ॥६॥

अर्थ—मेरे आप ही स्वामी, गुरु, पिता और माता हैं; तब मैं इन चरण-कमलों को छोड़कर अब कहाँ जाऊँ ? ॥४॥ (यदि आप कहें कि घर जाओ तो) हे राजन् ! आप ही विचार कर कहें कि प्रभु को छोड़कर घर में मेरा कौन-सा कार्य है ? ॥५॥ मुझ बालक, ज्ञान-बुद्धि-बल-हीन और दीन सेवक को हे नाथ ! शरण में रखिये ॥६॥

विशेष—(१) 'मोरे तुम्ह प्रभु—'—भाव यह कि औरों के ये सब नाते पृथक्-पृथक् होते हैं, एक जगह निर्वाह नहीं हुआ तो दूसरी जगह चले जाते हैं। पर मेरे तो सब आप ही हैं, तब मैं अन्यत्र कहाँ जाऊँ ? तात्पर्य यह कि और वानर-ऋक्ष तो अपने-अपने घर गये। वहाँ सबके गुरु, पिता, माता आदि हैं। पर मेरे तो गुरु, पिता, माता सब कुछ आप ही हैं। 'जाउँ कहाँ'— पहले कहा—'मोहि जनि तजहु'; जब उसपर वैसा रुख न पाया, तब कहते हैं कि मैं कहाँ जाऊँ ? जो मेरा स्थान हो, उसे कहिये।

(२) 'नरनाहा'—विशेषण का भाव यह कि आप तो राजा हैं, राजाओं के व्यवहार को जानते हैं। विचार कर देखें कि एक राजा का पुत्र अपने पिता के वैरी राजा के आश्रित होकर कब सुखी रह सकता है ? राजाओं की नीति ही यह है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८) यही विचारकर तो बालि ने मुझे आपकी गोद में डाला है।

'प्रभु तजि भवन काज मम कहा।'—भाव यह कि घर में मेरा क्या काम है, राजा श्रीसुग्रीवजी हैं, उनकी सहायता के लिये मंत्रिगण एवं सेना है। 'प्रभु तजि' का यह भी भाव है कि घर-बार छोड़कर प्रभु की सेवा करनी चाहिये, जो प्रभु को छोड़कर घर का सेवन करता है, उस पर तो विधि की वामता होती है; यथा—"परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥" (अ० दो० २७१)।

(३) 'बालक ज्ञान···'—यदि कहिये कि माँ-बाप सबके सदा नहीं रहते, यह विचारकर संतोष करो, तो मैं तो बालक हूँ, मुझ में यह ज्ञान कहाँ ? यदि कहिये कि श्रीसुग्रीवजी से मिलकर रहना, तो मुझ में वैसी बुद्धि कहाँ ? अन्यथा उससे शत्रु-भाव से लड़कर रहने को मुझ में वैसा बल भी कहाँ ?

आप मेरे पिता-रूप हैं, क्योंकि आपने मुझे गोद में लिया है, जो बालक, ज्ञान, बुद्धि और बल से हीन एवं दीन और अपना जन है, वह तो शरण में ही रखने योग्य है। ऐसा जानकर, हे नाथ ! मुझे अपनी शरण में ही रखिये।

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ । पद-पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥७॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥८॥

अर्थ—आपके घर की सब नीच सेवा करूँगा और चरण कमल देखकर भवसागर पार होऊँगा ॥७॥ ऐसा कहकर वह प्रभु के चरणों पर गिर पड़ा और बोला, हे प्रभु ! मेरी रक्षा कीजिये, हे नाथ ! अब न कहिये कि घर जाओ ॥८॥

विशेष—(१) 'नीचि टहल गृह कै···'—पिता ने मुझे सौंपते समय कहा था—'आपन दास अंगद कीजिये'। तदनुसार मैं आपके घर की नीच सेवा करूँगा। भाव यह कि उच्च सेवा के अधिकारी तो श्रीभरतजी आदि हैं। नीच सेवा और साथ ही आपके चरण-कमल के दर्शन भी होते रहेंगे। इससे भव-सागर पार हो जाऊँगा और मेरे लोक-परलोक दोनों ही बनेंगे। आपकी सेवा से लोक में भी शोभा है; यथा—"करुना सिंधु भक्त चिंतामनि सोभा सेवत हूँ।" (वि॰ ८६) और भव तरना परलोक बनना है।

यह भी भाव है कि वहाँ जाकर भी राज्य तो करना है नहीं, किन्तु "राज्य का दूसर दासा खूसर" होकर व्यर्थ जीवन बिताना होगा। उससे स्वार्थ-परमार्थ दोनों ही से जाऊँगा। तब यहीं रहकर नीच टहल करना श्रेष्ठ है, इससे उभय लोक बनेंगे। यदि कहा जाय कि यहाँ रहकर पीछे तुम मुझसे राज्य की इच्छा करोगे, तो वह न होगा। मैं केवल चरणों के दर्शनों से ही प्रयोजन रक्खूँगा, जिससे भव-सागर पार होऊँ।

(२) 'अस कहि चरन···'—रक्षा के लिये चरणों का अवलंब लिया। प्रभु अर्थात् आप रक्षा करने में समर्थ हैं। सब वानरों के प्रति कहा गया था—'अब गृह जाहु सखा सब'—इस पर अंगदजी कहते हैं कि अब (मेरे इस तरह शरण होने पर) मुझे घर जाने को न कहिये। भाव यह कि आपकी आज्ञा हो जाने पर फिर उसके विरुद्ध कुछ भी कहने में अवज्ञा होगी। इसलिये मैं पहले ही प्रार्थना करता हूँ कि वैसी आज्ञा दी ही न जाय।

दोहा—अंगद बचन बिनीत सुनि, रघुपति करुनासीव।
प्रभु उठाइ उर लायउ, सजल नयन-राजीव ॥
निज उर-माल बसन मनि, बालि-तनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब, बहु प्रकार समुझाइ ॥१८॥

अर्थ—श्रीअंगदजी के विनम्र वचन सुनकर करुणा की सीमा प्रभु श्रीरघुनाथजी ने उनको उठाकर हृदय से लगाया, (प्रभु के) नेत्र-कमलों में आँसू भर आये ॥ अपने हृदय पर की माला, वस्त्र, भूषण, बालि-कुमार को पहनाकर और बहुत प्रकार से समझाकर तब भगवान् ने उनको विदा किया ॥१८॥

विशेष—(१) 'अंगद बचन बिनीत सुनि'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'अति बिनीत बोले बचन' ऊपर कहा गया है। 'करुनासीव' का भाव यह कि इनकी विनती सुनकर प्रभु को बहुत करुणा आ गई। करुणा की दशा यों कही गई कि प्रभु के नेत्र सजल हो गये। विनती करते समय श्रीअंगदजी भी सजल-नयन हो गये थे; यथा—'सजल नयन कर जोरि' यह कहा गया है, वैसे ही

उसे सुनकर प्रभु भी हो गये। 'प्रभु उठाइ उर लायेउ'—यह वात्सल्य भाव से किया। भाव यह कि बालि ने जिस भाव के लिये सौंपा है, हमारी ओर से वही है। हमने तुम्हें पुत्रवत् ही माना है।

(२) 'निज उर माल बसन मनि···'—यह बालि राजा का तनय है। अतः, उसके योग्य ही वस्त्राभूषण चाहिये। इसलिये अपने ही वस्त्राभूषण उसे पहनाये। यह उसे कृपा करके प्रसाद दिया। अपने वस्त्राभूषण पहनाकर उसे अभी से अपना सारूप्य पद दे दिया। श्रीअंगदजी ने कहा था कि यहाँ प्रभु-पद-कमल देखकर भव तरूँगा, उसपर अभी से ही उसे अपना सारूप्य करके मुक्ति का विश्वास देकर संतुष्ट किया। फिर भी घर भेजने के लिये बहुत समझाना पड़ा। इसपर 'भगवान' विशेषण दिया गया, क्योंकि इसपर श्रीरामजी को बहुत सामर्थ्य खर्च करना पड़ा।

(३) 'बहु प्रकार समुझाइ'—(क) बालि ने जो तुम्हें सौंपा है, उसका अभिप्राय यही था कि श्रीसुग्रीवजी के पीछे इसे यह राज्य और संपत्ति मिले और मेरे द्वारा तुम्हारी रक्षा हो। कुछ यह नहीं कि श्रीअवध ले जाकर इसे यहाँ के राज्य पद से वंचित कर दिया जाय। (ख) जब हमने तुम्हें युवराज बनाया था, उस समय तो तुमने स्वीकार कर लिया, यह नहीं कहा कि हम नहीं लेंगे। अब यदि न जाओगे तो हमें और श्रीसुग्रीवजी को भी कलंक लगेगा। सब कहेंगे कि श्रीसुग्रीवजी ने इसके पिता को मरवा डाला और उसे भी अयोध्या में ही छोड़ दिया। इस तरह बालि का वंश ही नाश किया (ग) हमने जो पद तुम्हें दिया है, उसे सत्य करो, अन्यथा हमारी प्रतिज्ञा जायगी। (घ) तुम्हें वहाँ कोई भय न होगा। हम अपनी माला पहनाकर तुम्हें भेजते हैं। पुष्पमाला श्रीसुग्रीवजी को पहनाकर भेजा था। उसपर आघात करने से बालि ऐसा वीर भी मारा गया। इसे श्रीसुग्रीवजी जानते हैं। तुम को वे कभी कड़ी निगाह से भी न देख सकेंगे। हमारे आश्रित को किसी से भय नहीं हो सकता, इत्यादि।

भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत-कृत चेता ॥१॥
अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव राम की ओरा ॥२॥
बार बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा ॥३॥
राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी ॥४॥

अर्थ—भक्तों के उपकार को चित्त मे रखकर भाई—श्रीसुमित्राजी के पुत्र श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी—के साथ श्रीभरतजी सबको पहुँचाने चले ॥१॥ श्रीअंगदजी के हृदय में थोड़ा प्रेम नहीं है (अर्थात् बहुत है)। वे बार-बार श्रीरामजी की ओर लौट-लौटकर देखते हैं ॥२॥ और बार-बार दंड-प्रणाम करते हैं, मन मे ऐसी इच्छा है कि श्रीरामजी यहीं रहने को कह दें ॥३॥ श्रीरामजी की प्रिय चितवनि, उनकी बोलचाल और उनका हँस हँसकर मिलना स्मरण कर करके सोचते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'भरत अनुज··'—इस अर्द्धाली का सम्बन्ध पूर्वोक्त—"हिय धरि रामरूप सब, चले नाइ पद माथ।" से है। श्रीभरतजी अपने दोनों भाइयों के साथ पहुँचाने के लिये श्रीसुग्रीवजी आदि के साथ ही चले, पर कुछ दूर चलकर श्रीअंगदजी का मार्ग देखते हुए ठहर गये। श्रीअंगदजी को एकान्त प्रार्थना का अवसर देना था, थोडी ही देर मे श्रीअंगदजी भी वहाँ पहुँच गये, तब और आगे चले। 'भगत कृत चेता' तीनों भाई श्रीभरतजी का विशेषण है। 'सौमित्रि' शब्द से यहाँ श्रीसुमित्राजी

के दोनों पुत्र लिये गये हैं दोनों श्रीभरतजी के अनुज (छोटे भाई) हैं ही। श्रीभरतजी के पीछे श्रीलक्ष्मणजी हैं, उनके पीछे श्रीशत्रुघ्नजी हैं।

(२) 'फिरि फिरि-चितव राम की ओरा।'—लौट-लौटकर देखते हैं कि जिससे दया करके रहने को कह दें। जितनी बार लौट कर देखते हैं, उतनी ही बार दंड-प्रणाम भी करते हैं यही कहा गया है, यथा—'बार-बार कर दंड प्रनामा।''' 'मन अस'—आज्ञा हो चुकी है, इससे वचन से नहीं कह सकते, पर मन में ऐसी इच्छा है।

श्रीअंगदजी विदा कर दिये जाने पर भी कुछ देर तक प्रभु के समीप ही रहे और थोड़ा चल-चलकर दंडवत् आदि से प्रभु का रुख देखने रहे। जब यह निश्चय हो गया कि अब रहने को नहीं ही कहेंगे, तब विनती करते हैं कि अच्छा कृपा रखियेगा, कभी-कभी चरण-दर्शनों की आज्ञा देते रहियेगा, भुलाइयेगा नहीं। यह आगे कहा है—'प्रभु रुख देखि'''।

(३) 'राम बिलोकनि'''—श्रीरामजी अपने स्नेही से मिलने में प्रथम आप ही कृपा दृष्टि से देखते हैं, प्रथम आप ही मृदु वचन बोलते हैं उनकी ओर प्रथम आप ही चलते हैं और प्रथम आप ही हँसकर मिलते हैं। यह स्वभाव श्रीअंगदजी के चित्त में बेध गया है। अतः, वियोग के समय इसे ही स्मरण कर सोचते हैं कि ऐसे कृपालु स्वामी से फिर कब संयोग होगा, इत्यादि।

प्रभु-रुख देखि बिनय बहु भाखी। चलेउ हृदय पद-पंकज राखी ॥५॥
अति आदर सब कपि पहुँचाये। भाइन्ह सहित भरत पुनि आये ॥६॥
तब सुग्रीव-चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना ॥७॥
दिन दस करि रघुपति-पद सेवा। पुनि तब चरन देखिहउँ देवा ॥८॥

अर्थ—प्रभु का रुख देखकर बहुत विनती की और हृदय में चरण-कमलों को रखकर चले ॥५॥ बड़े आदर से सब वानरों को पहुँचाकर भाइयों सहित श्रीभरतजी लौट आये ॥६॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसुग्रीवजी के चरणों को पकड़कर अनेकों प्रकार से विनय की ॥७॥ दस दिन (थोड़े दिन) श्रीरघुनाथजी के चरणों की सेवा करके फिर, हे देव! आपके चरणों के दर्शन करूँगा ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनय बहु भाखी'—इसपर कुछ ऊपर कहा गया है। पुनः यह कि मैंने अज्ञान से आपकी रुचि के विरुद्ध हठ की, उसे क्षमा कीजिये और मुझ बालक पर दया बनी रहे, इत्यादि। 'हृदय पद पंकज राखी'—पहले इन्होंने कहा था—'पद-पंकज बिलोकि भव तरिहौं'—जब बाहर से चरणों का वियोग होते देखा, तब हृदय में रख लिया कि ध्यान द्वारा ही इनके दर्शन किया करूँगा।

(२) 'अति आदर सब कपि'''—पूर्व—'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले''' से प्रसंग छूटा था। जब श्रीअंगदजी आकर समाज में मिले, तब 'सब कपि' का पहुँचाना लिखा गया। कुछ दूर भी पहुँचाना 'आदर' है। ये बहुत दूर तक गये, यह 'अति आदर' है।

(३) 'तब सुग्रीव चरन गहि'''—श्रीसुग्रीवजी की सेवा में रहने से ही इन्हें श्रीरामजी मिले हैं। इससे कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनके चरण पकड़कर नाना भाँति से विनय की। अभिप्राय यह कि जिससे श्रीसुग्रीवजी प्रसन्न होकर मुझे श्रीरामजी की सेवा में रहने की आज्ञा दे दें। नाना भाँति की विनती में

एक यह भी है--'दिन दस करि···' अर्थात् थोड़े दिनों तक श्रीरघुनाथजी की सेवा कर फिर आपके चरणों के दर्शन करूँगा। भाव यह कि इस समय मुझे प्रभु की सेवा के लिये आज्ञा दीजिये। 'देवा'—आप दिव्य हैं और दिव्य-बुद्धि युक्त हैं, मेरे हृदय के भावों को भी जानते हैं।

श्रीहनुमान्‌जी कुछ दिनों पर दर्शन करने को कहते हैं और 'देवा' कहकर अपनी हार्दिक निष्ठा भी सूचित कर दी है। इसपर श्रीसुग्रीवजी प्रसन्न मन से स्वयं कह देंगे कि तुम सदा ही कृपालु श्रीरामजी की सेवा करो—इसका हनुमान्‌जी को दृढ़ विश्वास है। क्योंकि श्रीसुग्रीवजी ने भी देखा है कि श्रीरामजी ने इन्हें विदा नहीं किया। अतः, सेवा में रखने की उनकी इच्छा है।

पुन्य - पुंज तुम्ह पवन - कुमारा। सेवहु जाइ कृपा - आगारा ॥९॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहइ सुनहु हनुमंता ॥१०॥

अर्थ—हे पवनकुमार! तुम पुण्यपुञ्ज (बड़े सुकृती) हो, (क्योंकि तुम्हारे प्रारब्ध का अंत हो गया, इससे प्रभु ने तुम्हें रख लिया और हमारे संस्कार अभी प्रतिबंधक हैं। अतः, हम उनके भोग के लिये विदा किये गये) तुम जाकर कृपा के स्थान श्रीरामजी की सेवा करो ॥९॥ श्रीसुग्रीव आदि सब वानर ऐसा कहकर तुरत चल दिये। तब श्रीअंगदजी कहने लगे कि हे श्रीहनुमान्‌जी! सुनिये ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुन्य पुंज तुम्ह···'—पुण्यपुंज से ही श्रीरामजी की समीपता प्राप्त होती है यथा—"कीजहु इहै उपाइ निरंतर राम समीप सुकृत नहिं थोरे॥" (गी० अ० ११); 'कृपा आगारा'—भाव यह कि सेवक पर वे अत्यन्त कृपा करते हैं।

श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी को नहीं विदा किया, क्योंकि इनके सर्वस्व प्रभु ही हैं, लं० दो० १२ चंद्र-परीक्षा में निर्णय हो चुका है। पुनः परिवार भर प्रभु इनके ऋणी हैं, तो विदा कैसे करें? और श्रीसुग्रीवजी से इन्हें माँगा भी नहीं, क्योंकि वे मित्र की वस्तु को अपनी ही मानते हैं। इसी प्रणय से श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं श्रीहनुमान्‌जी को कह दिया कि तुम अब सदा प्रभु की ही सेवा में रहा करो।

श्रीहनुमान्‌जी ने सूर्य भगवान् से विद्या पढ़ी थी, इनके कहने पर सूर्य ने गुरु-दक्षिणा में यह माँगा था कि तुम संकट पड़ने पर हमारे पुत्र श्रीसुग्रीव को रक्षा करना। वह कार्य अब पूरा हो गया। श्रीसुग्रीवजी का कष्ट निवृत्त हो गया, इससे भी इन्हें अब श्रीसुग्रीवजी के यहाँ रहने का कोई प्रतिबंध नहीं रह गया। पुनः इन्होंने श्रीसीताजी से और श्रीरामजी से भी यही वर प्राप्त किया है कि मेरा अनन्य प्रेम श्रीरामजी में हो, मैं उन्हीं की सेवा करूँ। इन कारणों से भी ये नहीं विदा किये गये।

(२) 'अस कहि कपि सब चले तुरंता।··'—जब तक श्रीरामजी के पास थे, घर की सुधि भूली हुई थी; यथा—"बिसरे गृह सपनेहु सुधि नाहीं।" यह कहा गया। अब विदा किये जाने पर घर की सुधि हो आई कि वर्ष दिन हो गये, चलकर अपने कुंटुबियों से मिलें। इस आतुरी में सब हैं, श्रीसुग्रीवजी के संकोच से खड़े थे, उनकी और श्रीहनुमान्‌जी की वार्ता समाप्त होते ही उनके चलने पर सब तुरत चल दिये। तब अवसर पाकर श्रीहनुमान्‌जी से श्रीअंगदजी बोले।

दोहा—कहेहु दंडवत प्रभु सैं, तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि, सुरति करायेहु मोरि॥

अस कहि चलेउ बालिसुत, फिरि आयउ हनुमंत।
तासु प्रीति प्रभु मन कही, मगन भये भगवंत॥
कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि॥१९॥

अर्थ—मैं आपसे हाथ जोड़ कर कहता हूँ, मेरी दंडवत प्रभु से कहियेगा, श्रीरघुनाथजी को बार-बार (प्रति दिन एवं निरंतर) मेरी सुधि कराते रहियेगा॥ ऐसा कहकर बालि-कुमार चले और श्रीहनुमान्जी लौट आये। यहाँ उनका प्रेम प्रभु से कहा (सुनकर) भगवान् निमग्न हो गये॥ हे गरुड़जी! श्रीरामजी का चित्त वज्र से भी बढ़कर अत्यंत कठोर और फूल से भी बढ़कर अत्यन्त कोमल है, (ऐसा अद्भुत है) तो भला कहिये, वह किसे समझ पड़े? ॥१९॥

विशेष—(१) 'कहेहु दंडवत...'—दंडवत् तो अभी कहने को कहते हैं, और स्मरण कराने की प्रार्थना तो सब दिनों के लिये है। 'प्रभु' और 'रघुनायक' विशेषणों के भाव ये हैं कि प्रभुओं की चित्त-वृत्ति सामान्यों पर कम रहती है और 'रघुनायक' माधुर्य नाम का भाव यह कि राजाओं को सुधि दिलाई जाती है, तब वे स्मरण करते हैं। 'मोरि' शब्द से अपनी लघुता प्रकट की कि मेरे जैसों की वहाँ कौन गिनती है; आपके द्वारा भले ही स्मरण हो।

(२) 'बालिसुत'—बालि बड़े वेग से चलता था, चारों दिशाओं के समुद्रों से संध्याकाल में ही घूम आता था, वैसे वेग से ये भी चले कि पहले के चले हुए वानरों के साथ ही ये भी घर पहुँचे।

(३) 'मगन भये भगवंत'—यद्यपि भगवान् हैं, तथापि अपनी प्रभुता को भुला कर श्रीअंगदजी के प्रेम में डूब गये। उनके प्रेम के वश हो गये; यथा—"ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति॥" (वि० ९८); तब उसकी प्रार्थना पर रख क्यों न लिया? इसका समाधान—'कुलिसहु चाहि...' से करते हैं। 'चाहि' का अर्थ 'बढ़कर' है। यह संस्कृत के 'च एव' का अपभ्रंश भी हो सकता है। इसपर बा० दो० २५७ चौ० ४ और अ० दो० २० चौ० २ भी देखिये।

(४) 'कुलिसहु चाहि कठोर अति'—श्रीअंगदजी की प्रार्थना पर पत्थर भी पिघल जाता, पर परम दयालु होते हुए भी श्रीरामजी ने उसकी नहीं सुनी और उसे बिदा कर ही दिया। 'कोमल कुसुमहु चाहि'—श्रीहनुमान्जी के द्वारा उसके प्रेम को सुनकर भी निमग्न हो गये। देह की सुधि न रह गई।

चित्त के परखनेवाले उपासक होते हैं, इससे भुशुंडीजी का यहाँ सम्बाद है। 'समुझि परै कहु काहि' अन्यन्त कठोर और फिर तुरत ही अत्यन्त कोमल होना, एक साथ दो विरोधी भावों का समावेश ईश्वरता-बोधक है, जीव में ऐसा नहीं होता। इसीसे समझना कठिन है।

तात्पर्य यह है कि श्रीअंगदजी के हित के लिये आप वज्र से भी अधिक कठोर बन गये थे, नहीं तो वे न जाते। पूर्व दो० १८ में लिखा गया। अत, वह कठोरता प्रयोजन-मात्र थी; यथा—"जिमि सिसुतन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥" (उ० दो० ७१)। मर्यादा-पालन के विचार से कठोर

हुए थे। पूर्व में चन्द्र-परीक्षा लं० दो० ११-१२ में लिखा गया कि इनके हृदय में पहले कुछ राज्याकांक्षा थी। भगवान् के समक्ष की हुई वासना अवश्य सफल होती है और उसे भोगने पर ही शुद्धि होती है। पूर्व श्रीविभीषणजी के—'उर कछु प्रथम बासना रही।' पर, एवं लंका-विजय पर श्रीदशरथजी महाराज के आने के समय इसपर लिखा जा चुका है। इस व्यवस्था पर भी दृष्टि रखकर इन्हें विदा करते समय आपको 'भगवान्' विशेषण दिया गया है। ऐसे ही मर्यादा-रक्षार्थ वन-यात्रा के समय भी श्रीअवधवासियों को दुखी छोड़कर भी चल ही दिये थे, पर वहाँ उनकी सुधि करके विकल हो जाया करते थे; यथा—"जब जब राम अवध सुधि करहीं।·· कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी।" (अ० दो० १२०) इत्यादि। प्रभु के चित्त में कोमलता सदा एक-रस रहा करती है। इसे उपासक ही कुछ-कुछ समझ पाते हैं।

उत्तर-रामचरित में भी ऐसा ही कथन है—"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हति॥"

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन - प्रसादा॥१॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन-क्रम-बचन धरम अनुसरेहू॥२॥

अर्थ—फिर कृपालु श्रीरामजी ने निषादराज को बुला लिया और उनको भूषण-वस्त्र प्रसाद दिये॥१॥ (फिर बोले कि) घर जाओ, हमारा स्मरण करते रहना और मन, वचन, कर्म से धर्म पर चलते रहना॥२॥

विशेष—(१) 'पुनि कृपाल···'—जब तीनों भाई और श्रीहनुमान्जी भी आ गये, तब निषाद-राज को विदा करने के लिये बुलाया। 'कृपाल—क्योंकि इसपर अत्यन्त कृपा कर रहे हैं; यद्यपि यह नीच है और छोटा-सा राजा है। अतः, इसे मंत्री आदि के द्वारा ही विदा करवा देते, पर कृपा करके स्वयं बुलाते हैं। उसे श्रीमुख से श्रीभरतजी के समान सखा कहते हैं और अपना पहना हुआ (बहुमूल्य) प्रसाद वस्त्राभूषण देते हैं और-और सखाओं को नई-नई वस्तुएँ ही दी थीं, प्रसाद नहीं।

निषाद-राज से मिलना लंका-कांड के अंत में कहा गया; यथा—"सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।" वहाँ के पश्चात् यहीं पर इनकी चर्चा हुई है। वहाँ से चलते समय प्रभु का इनसे विदा होना नहीं कहा गया, जैसे श्रीकुंभज आदि ऋषियों और श्रीभरद्वाजजी के यहाँ से विदा होकर चलना कहा गया था। इससे जाना गया कि इन्हें प्रभु शृंगवेरपुर से ही साथ लाये थे।

निषाद राज कौन थे? इसपर शिवपुराण रुद्र संहिता अ० ४० श्लोक १८-१९, ८९-९२ में कथा है—"एक भील शिवरात्रि के दिन आहार न पाने से भूखा था। वह एक लोटा जल लिये एक वृक्ष पर चढ़कर मृगों को मारने की घात में छिपा हुआ बैठा था। इतने में एक मृगी आई। उसने हर्ष सहित उसे मारने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाया, इसी शीघ्रता मे उसके लोटे का जल और कुछ उस बेल वृक्ष के पत्ते भी नीचे गिरे। वहीं श्रीशिवजी का एक ज्योतिर्लिंग था। वह जल और बेलपत्र उनपर पड़े। श्रीशिवजी प्रकट हो गये और हर्षसहित उसे दिव्य वर दिया—हे व्याध! सुन, तू वांछित भोगों को प्राप्त होकर शृंगवेरपुर में निषादों का राजा होगा। तेरे वंश की वृद्धि अविनाशी होकर देवताओं से प्रशंसित होगी। तेरे घर पर साक्षात् श्रीरामजी निश्चय पधारेंगे और तेरे साथ मित्रता करेंगे। वे मेरे भक्तों पर बड़ा स्नेह करते हैं।"

(२) 'जाहु भवन···'—जैसे वानरों को—'अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम।'

कहा था, वैसे यहाँ भी कहते हैं। किन्तु वहाँ 'भजेहु मोहिं' कहा है और यहाँ 'मोहिं सुमिरेहु' कहते हैं। इस भेद का कारण यह है कि वे सब देवांश हैं, सेवा पूजा के अधिकारी हैं। प्रभु की मूर्त्ति स्थापित करके भी सेवा-पूजा कर सकते हैं और ये निषाद जाति के हैं। अतः, मर्यादा की दृष्टि से इन्हें स्मरण ही करने को कहा।

'मन क्रम वचन धर्म अनुसरेहू।'—मन से प्राणी मात्र पर दया करना, कर्म से शौच, दान एवं परोपकार करना और वचन से प्रिय-सत्य बोलना—ऐसा धर्मोपदेश दिया; क्योंकि निषादों का कुल-धर्म हिंसात्मक होता है और भगवत्परायण होने पर साधु-वृत्ति एवं धर्मात्मा होना ही चाहिये, यथा—"अपिचेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स.॥ क्षिप्रंभवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।" (गीता ९।३०—३१)।

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥३॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी॥४॥
चरन नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु-सुभाव परिजनन्हि सुनावा॥५॥

अर्थ—तुम मेरे सखा हो और श्रीभरतजी के समान भाई हो, सदा अवध नगर को आते जाते रहना॥३॥ वचन सुनते ही उसे भारी सुख उत्पन्न हुआ, वह नेत्रों में जल भरकर चरणों पर पड़ गया॥४॥ चरण-कमल हृदय में धरकर घर आया और प्रभु का स्वभाव कुटुम्बियों को सुनाया॥५॥

विशेष—(१) 'भरत सम भ्राता'—पहले श्रीभरतजी के समान मानकर हृदय से लगाया था; यथा—"सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।" (लं० दो० १२०)। अब उसे श्रीमुख से वही कहते भी हैं। 'उपजा सुख भारी'—श्रीरामजी की बड़ी कृपा अपने पर समझी, इससे भारी सुख हुआ कि इतने महान् प्रभु ने मुझे सखा कहा, भरत-समान कहा, प्रसाद दिया और सदा आने-जाने को भी कहा। इतनी अधिकता वानरों के प्रति भी न हुई थी। 'परेउ चरन भरि लोचन बारी।'—हर्ष से नेत्रों में जल भर आया, प्रेमानंद के साथ ही वियोग-सम्भावना भी आँसू का हेतु है। चरणों में पड़कर अपना भाव सूचित करता है कि मैं आपका सखा और श्रीभरतजी के समान भाई होने योग्य नहीं हूँ, मैं तो इन चरणों का सेवक हूँ।

(२) 'चरन नलिन उर धरि···'—प्रभु ने कहा था—'मम सुमिरन करेहू' तदनुसार चरण-कमलों को हृदय में धरकर आया कि सदा ध्यान किया करूँगा। 'प्रभु सुभाव···'—कुटुम्बियों को भी प्रभु के शील-स्वभाव सुना कर उन्हें भी वैसा ही सुख दिया, जिससे वे भी ऐसे स्वामी की आराधना कर जन्म-लाभ पावें; यथा—"उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (सुं० दो० ३३)। प्रभु-स्वभाव का सौष्ठव अपने सम्मान द्वारा कहा; यथा—"वाल्मीकि केवट कथ कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १९३)।

निषादराज के लिये प्रभु ने यह भी कहा कि सदा पुर में आते-जाते रहना। इसके कारण ये हैं कि ये श्रीअयोध्याजी से समीप में रहते हैं। नित्य दरबार में आ जा सकता है और श्रीसुग्रीवजी आदि बहुत दूर के रहनेवाले हैं, स्वेच्छा से वे सब भी कभी-कभी आ सकते हैं। पुनः यह बालपने का सखा है और श्रीभरतजी के विपत्तिकाल में वन के समाचार भी बराबर यहाँ पहुँचता रहा है, इत्यादि।

श्रीराम-राज्य-वर्णन—प्रकरण

रघुपति-चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी ॥६॥
राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका ॥७॥
बैर न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई ॥८॥

दोहा—बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग ॥२०॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के चरित देखकर पुरवासी बार-बार कहते हैं कि सुख की राशि श्रीरामजी धन्य हैं ॥६॥ श्रीरामजी के राज्य पर बैठने से (राजा होने से) तीनों लोक हर्षित हुए और उनके सब शोक दूर हो गये ॥७॥ कोई किसी से वैर नहीं करता, श्रीरामजी के प्रताप से विषम भाव जाता रहा (सबमें पारस्परिक समता आ गई) ॥८॥ सब लोग अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के (वैदिक) धर्मों में तत्पर रहते हैं, वेद-मार्ग पर चलते हैं और सदा सुख पाते हैं, उन्हें न भय है, न शोक और न रोग ॥२०॥

विशेष—(१) 'रघुपति-चरित देखि…'—वानरों के प्रति सौहार्द और निषादराज के प्रति बंधुत्व व्यवहार देख-देखकर पुरवासी बार-बार धन्य-धन्य कहते हैं। प्रभु के प्रत्येक चरित सुख उपजानेवाले हैं, इससे उन्हें 'सुखराशि' कहा है। 'देखि' का भाव यह कि शबरी-गीध आदि पर कृपा करना सुनते थे, अब आँखों से भी देख रहे हैं। इनके अनुमोदन करने से यह भी जाना जाता है कि वैसे ही चरित का अनुकरण ये लोग भी करते हैं। पुरवासियों का प्रसंग—'हरषित रहहिं लोग सब कुरी॥ नित नइ प्रीति राम-पद-पंकज।' से छूटा था, बीच में पाहुनों की विदाई कही गई। अब वही प्रसंग फिर लेते हैं।

(२) 'राम राज बैठे…'—श्रीरामजी तीनों लोकों को सुखी करके राज्य पर बैठे, इससे तीनों लोक प्रसन्न और शोकरहित हुए; यथा—"दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः आगे भी तीनों लोकों का पालन करेंगे, क्योंकि आप त्रयलोकपति हैं। अथवा, राम-राज्य-प्रभाव से तीनों लोकों को हर्ष प्राप्त हुआ, शोक किसी प्रकार का न रह गया। आगे ऐसे ही कथन का प्रसंग है।

(३) 'बैर न कर……'—श्रीरामजी में विषमता नहीं है, वे सम-रूप हैं। अतः, उनके प्रताप से उनकी प्रजा भी वैसी ही हो गई। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह प्रसिद्ध है। प्रजा का अर्थ संतान होता है, माता-पिता के चरित्र का प्रभाव संतान पर पड़ता ही है। 'विषमता खोई' तो उसके विपर्यय रूप में समता आई। आगे कहेंगे; यथा—"दंड जतिन्ह कर…"

'बरनाश्रम निज निज धरम निरत…'—'वेद-पथ' वर्णाश्रम सम्बन्ध से वेद से यहाँ 'गृह्यसूत्र' लेना चाहिये, जिसमें सूक्ष्म रीति से वर्ण-आश्रम-धर्म कहे गये हैं। विस्तार से तो स्मृतियों में ही कहा है। मनुस्मृति आदि भी वेद की उपबृंहणरूपा ही हैं। उनका कहा हुआ मार्ग भी वेद-मार्ग है। इस ग्रंथ में भी सूक्ष्म रीति से कहे गये हैं—ब्राह्मण धर्म—"सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।…"; क्षत्रिय धर्म—"सोचिय

नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥"; वैश्य धर्म—"सोचिय वैस कृपिन धनवानू।..."; शूद्र धर्म—"सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी।..." इत्यादि मे विपर्यय से चारों वर्णों के धर्म-विधान जानने चाहिये। पुनः आश्रम धर्म—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। इनके धर्म—"सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥ सोचिय गृही जो मोह बस, करै करम पथ त्याग। सोचिय जती प्रपंच रत, बिगत बिबेक बिराग॥ बैखानस सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू॥" यह सब अ० दो० १७१-१७२ मे श्रीवसिष्ठजी ने श्रीभरतजी से कहा है।

'निज निज धरम निरत'—राम-राज्य में सबके अपने-अपने धर्म पर चलने का कड़ा शासन था; यथा—"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" (गी० ३।३५)। इसी में शम्बूक शूद्र के तप की दंड व्यवस्था का समाधान भी आ गया कि वह अपना धर्म छोड़कर दूसरे का धर्म करता था, उसे यदि वैसा कड़ा दंड न दिया जाता, तो क्रमशः लोग राज्य-शासन की अवहेलना कर मनमानी चलने लगते, तो फिर श्रीरामजी 'श्रुति सेतु पालक' कैसे होते?

'चलहिं सदा पावहिं सुखहिं...'—धर्म का फल सुख है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता।" (दो० १०१)। इससे ये लोग धर्म-रत हो कर सुख पाते थे। परस्पर निर्वैर होने से भय नहीं था, धर्मिष्ठ होने से लोग शोकरहित भी रहते थे। सुखोपभोग नियमित रूप में करते थे, विषयी के समान भोगासक्त नहीं होते थे कि रोगों के शिकार हों; यथा—"भोगे रोग भयं" (भर्तृहरिः)।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥१॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी के राज्य में दैहिक (आहार-विहार के दोष से एवं देह सम्बन्ध से होनेवाले रोग दुःख), दैविक (दैवयोग से होनेवाले दुःख) और भौतिक (अन्य जीव जन्तु एवं शत्रु, चोर आदि भूत-मात्र के द्वारा होनेवाले दुःख) ताप किसी को नहीं व्याप्त होते हैं॥१॥ सब मनुष्य आपस मे प्रेम करते हैं, अपने-अपने धर्म पर चलते हैं, सब वेद की कही हुई नीति मे लगे रहते हैं॥२॥

विशेष—(१) 'दैहिक दैविक भौतिक तापा।...'—ऊपर कहा गया कि अवध वासियों को 'भय, सोक, रोग' नहीं होते। भय से भौतिक, शोक से दैविक और रोग से दैहिक ताप का निषेध किया गया। उसी पर फिर कहते हैं कि धर्म-निरत प्राणियों की ही बात नहीं है, जड़-चेतन किसी भी प्राणी को ये तीनों ताप नहीं व्याप्त होते, यह श्रीराम राज्य का प्रभाव है।

ज्वर, अतिसार आदि देह सम्बन्धी कष्ट दैहिक ताप हैं। जीव-जन्तु (मच्छड़, सर्प आदि) के द्वारा और राजा, शत्रु, चोर आदि के द्वारा तथा भूत-पिशाच आदि के द्वारा दुःख पहुँचना भौतिक ताप है। आकाशस्थ ग्रहों की गति से, पंचतत्त्वों के उपद्रवों से अनेक संक्रामक रोगों से और देवयोनि के द्वारा जो कष्ट होते हैं, वे दैविक ताप कहाते हैं।

'सब नर करहिं परस्पर प्रीती।...'—पहले परस्पर वैर का निषेध किया; यथा—'बैर न कर काहू सन कोई।' अब परस्पर प्रीति करना भी कहते हैं। यह लोक-रीति में निपुणता कही गई। पुनः 'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।'—से परलोक-साधन एवं वेद-रीति मे निपुणता कही गई है। अर्थात् सब कोई लोक-वेद

रीति में निपुण एवं उनपर आरूढ़ हैं। ऊपर कहा गया है—'बरनाश्रम निज-निज···' में 'निरत वेद पथ लोग' और यहाँ भी—'चलहिं स्वधर्म···' में वही कहा गया। परन्तु पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ 'पावहिं सुखहिं···' से सकाम धर्म कहे गये हैं और यहाँ वैसा कोई शब्द नहीं है। अतएव यहाँ निष्काम धर्म से तात्पर्य है। इस तरह दोनों जगह दो विषय कहे गये हैं।

दो बार कहकर यह भी पुष्ट किया गया है कि राम-राज्य में केवल वेद-मार्ग था, कल्पित मार्ग कहीं नहीं था।

चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥३॥
राम-भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी ॥४॥

अर्थ—धर्म अपने चारों चरणों से जगत् में परिपूर्ण बना हुआ है, स्वप्न में भी पाप (जगत् में) नहीं रहा है ॥३॥ स्त्री-पुरुष सब राम-भक्ति में तत्पर हैं, सब परमगति के अधिकारी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'चारिउ चरन धर्म···'—धर्म के चार चरण ये हैं—सत्य, शौच, दया और दान; यथा—"सत्यं शौचं दया दानमिति पादाः प्रकीर्तिताः।" (मनु॰)। सतयुग में धर्म के चारों चरण पूर्ण रहते हैं, त्रेता में तीन ही रहते हैं। पर राम-राज्य के समय त्रेता में भी सतयुग की-सी व्यवस्था हो गई, धर्म के चारों चरण पूर्ण रहे।

'सपनेहु अघ नाहीं'—पाप का अर्थ अधर्म है। अतः, उपर्युक्त चारों चरणवाले धर्म के प्रतिकूल वृत्ति को यहाँ अघ कहा—असत्य, अशौच, निष्ठुरता और लोभ, ये पाप के चारों अंग नहीं रह गये।

'सपनेहु'—यह मुहावरा है, अर्थात् बिल्कुल कहीं भी पाप नहीं रह गया। वा, दिन के समय जाग्रत् अवस्था में धर्ममय वृत्ति रहती थी, तो तदनुकूल ही स्वप्नावस्था की भी वृत्ति हुआ ही चाहे।

(२) 'राम-भगति रत ···'—पहले धर्ममय वृत्ति कही गई, तब भक्तिरत होना कहा, क्योंकि धर्म से भक्ति मिलती है; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (आ॰ दो॰ ६)। स्त्रियाँ भी राम-भक्ति करती हैं; यथा—"जपति सदा पिय संग भवानी।" (बा॰ दो॰ १८); 'राम भगति रत' के माधुर्य का यह भी भाव है कि सब अपना राजा मानकर श्रीरामजी को अपना धर्म-पिता मानते हुए उनकी सेवा, प्रीति एव आज्ञा पालन करते थे; यथा—"जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम्।" (भाग॰ ९।१०।५१) अर्थात् उनको पिता मानकर पितृवत् उनकी सेवा करते थे।

'सकल परमगति के अधिकारी।'—जीते ही मुक्ति के अधिकारी हो रहे हैं; इस दशा से उनकी मुक्ति में संदेह नहीं है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३)। भक्ति शब्द में नवधा आदि भक्तियाँ एवं अपना प्रिय राजा मानकर उनकी भक्ति करना सर्वसंगत है।

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ॥५॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना ॥६॥

शब्दार्थ—लच्छन (लक्षण)= शुभ लक्षण, सामुद्रिक के अनुसार शरीर के शुभसूचक चिह्न।

अर्थ--थोड़ी (अवस्था में) मृत्यु नहीं होती (सब पूर्ण आयु का भोग करते हैं) और न किसी को कोई पीड़ा होती है। सबके शरीर सुन्दर और नीरोग रहते हैं ॥५॥ न कोई दरिद्र है, न दुखी है और न कोई दीन ही है। न कोई निर्बुद्धि है और न लक्षणों से रहित है ॥६॥

विशेष--(१) 'अल्प मृत्यु नहिं ···'—कोई पुत्र पिता के रहते नहीं मरता और कोई स्त्री पति के रहते नहीं मरती। पहले धर्म और भक्ति की व्यवस्था कहकर तब अल्पमृत्यु का न होना कहा, क्योंकि धर्म और भक्ति से जीवों को सब तरह के सुख ही मिलते हैं। 'नहिं कवनिउ पीरा' से आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक रोग) से रहित होना कहा है। 'अल्पमृत्यु नहिं' के साथ 'नहिं कवनिउ पीरा' कहने का यह भी भाव है कि मरण काल में भी किसी को कुछ पीड़ा नहीं होती।

यह अर्द्धाली 'अल्पमृत्यु·· ' मृत्यु जीतने का और 'नहिं दरिद्र ·' यह लक्ष्मी देने का मन्त्र है।

'सब सुंदर ·'—पीड़ा और रोग का निषेध करके सब सुन्दर कहा है, क्योंकि ये दोनों सुन्दरता के बाधक हैं।

(२) 'नहि दरिद्र कोउ · '--दरिद्रता का निषेध पहले किया गया है, क्योंकि यह दुःखों में भारी है, यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (दो० ११०), 'लच्छनहीना'--कोई पापकर्म करता ही नहीं, इसीसे लक्षणहीन कोई नहीं है, क्योंकि शरीर में कुलक्षण होना पाप का फल है।

सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥७॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥८॥

दोहा—रामराज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं ॥२१॥

अर्थ—सब निर्दंभ हैं और धर्मपरायण हैं (अर्थात् दंभरहित धर्म करते हैं औरों को दिखाने के लिये नहीं) तथा सब पुनीत हैं। स्त्री और पुरुष सब चतुर और गुणवान् हैं (अपने-अपने गुणों में निपुण हैं) ॥७॥ सब गुणों के ज्ञाता हैं, सब पंडित हैं (शास्त्र के जाननेवाले हैं), सब ज्ञानी (तत्त्वज्ञान वाले) हैं। सब उपकार के माननेवाले हैं, किसी में कपट चातुरी नहीं है ॥८॥ हे गरुडजी ! सुनिये, राम-राज्य में संसार भर के जड-चेतन में काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के किये हुए दुःख किसी को नहीं होते ॥२१॥

विशेष—'पुनी' का अर्थ 'और' एवं 'पुण्यात्मा अर्थात् 'पुनीत' भी होता है। यहाँ पुनीत' अर्थ ऊपर दिया गया है। पुनीत के अर्थ से ये पूर्व कर्मानुसार सहज में पवित्र हृदय हैं और इसी से निर्दंभ धर्माचरण करते हैं।

कहीं-कहीं प्राचीन पाठ 'घृनी' भी है। उस पक्षवालों का कहना है कि 'घृणिन्' शब्द संस्कृत में दयाशील एवं करुणाशील के अर्थ में भी आता है। इसके गुह्याशय को न समझकर संभव है कि घृणा का तिरस्कारी अर्थ मानकर लोगों ने उसे हटाकर 'पुनी' कर दिया हो। 'धर्मरत' के एक ओर 'निर्दंभ' और दूसरी ओर 'घृनी' आवश्यक भी है कि दंभरहित धर्म करते हुए अन्य असमर्थों पर दया भी रहनी चाहिये।

किन्तु 'घृणी' शब्द इस अर्थ में अप्रसिद्ध अवश्य है और श्रीगोस्वामीजी की प्रतिज्ञा है—"सरल कवित कीरति बिमल···" (बा० दो० १४)

(२) 'सब गुनज्ञ'—सब गुणियों के गुण को जानते हैं, उनका उचित आदर करते हैं कि जिससे उत्साहपूर्वक वे अपने गुणों की वृद्धि करें। 'नहिं कपट सयानी'—धूर्त्तता किसी में नहीं है कि मीठी-मीठी बातें करके काम साध लें और फिर विमुख हो जायँ।

(३) 'नभगेस सुनु'—इन्हें चेतावनी देने का आशय यह कि तुम श्रीरामजी को दुखी समझते थे, यहाँ देखो कि जिनके प्रताप से संसार को सम्यक् प्रकार के सुख हों और कालादि बाधाएँ दूर हों, वह स्वयं कब दुखी होंगे ? 'काल कर्म सुभाव गुन···'—इनके परस्पर सापेक्षता आदि भाव पूर्वोक्त वेद स्तुति—'काल कर्म गुननि भरे' में देखिये। पुनः, शीत-उष्ण आदि दुःख काल द्वारा होते हैं; रोग आदि कर्म से, शस्त्र-प्रहार आदि का दुःख स्वभाव की क्रूरता से और मानापमान आदि दुःख रजस्-तमस् आदि गुणों से होते हैं। ये चारों जीवों को दुखदायी हैं; यथा—"काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत।" (वि० १३०); "फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥" (दो० ४४) और बा० दो० ६ चौ० २-४ भी देखिये।

प्रायः मीमांसक कर्म को, ज्योतिषी काल को और प्रकृतिवादी स्वभाव एवं गुण को दुःख का कारण कहते हैं। यहाँ चारों कहे गये, क्योंकि ये परस्पर सापेक्ष हैं और जीवों के कर्मानुसार इनके प्रवर्त्तक श्रीरामजी ही हैं; यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु० बाहुक)। इसी से राम-राज्य में इनकी विषमता मिट गई है।

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥१॥
भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥२॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥३॥
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहु रति मानी॥४॥
सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥५॥
रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥६॥

शब्दार्थ—मेखला = करधनी, वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे हुई हो।

अर्थ—सातों समुद्र जिस पृथिवी की मेखला है, ऐसी सप्तद्वीपवाली पृथिवी के एक राजा कोशला (श्रीअयोध्या) में श्रीरामजी हुए ॥१॥ जिनके एक-एक रोम में अनेक ब्रह्मांड हैं, उनकी यह (सप्तद्वीप के राजा होने की) महिमा कुछ बहुत नहीं है ॥२॥ प्रभु की वह महिमा समझने पर (उन्हें) यह कहना (कि प्रभु सप्तद्वीप के एक मात्र राजा हैं) उनकी बड़ी भारी लघुता है ॥३॥ (फिर कहते क्यों हो ? उसपर कहते हैं कि) हे गरुड़ ! वह महिमा भी जिन्होंने जानी है (भाव यह कि उसे सब नहीं जान सकते) फिर वे भी इस (सगुण) चरित में प्रीति करने लगे ॥४॥ (क्योंकि) उस महिमा के भी जानने का फल यह सगुण लीला है, दमन शील (इन्द्रिय दमन करनेवाले) महामुनि श्रेष्ठ ऐसा कहते हैं (इसी से कुछ मैंने भी कहा है) ॥५॥ राम-राज्य की सुख-संपत्ति शेष-शारदा नहीं वर्णन कर सकते ॥६॥

विशेष—(१) 'सो महिमा खगेस जिन्ह जानी।...'—ऊपर माधुर्य में श्रीरामजी को सप्तद्वीप का राजा कहा, फिर उस पद को ऐश्वर्य की अपेक्षा बहुत अल्प दिखाया। तब यह आशय निकला कि इस हीनता प्रकट करनेवाले चरित को न कहना चाहिये। उसपर कहते हैं कि जिन्होंने उस महिमा को जाना है कि रोम-रोम प्रति कोटि-कोटि ब्रह्मांड लगे हैं, सबके सम्यक् आधार एक मात्र प्रभु ही हैं, सबों की अनन्त प्रकार की व्यवस्था प्रभु ही करते हैं। तब तो उनके गुणों का पारावार नहीं है ; यथा—"जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥" (दो० ५१) ; फिर हम अपने कल्याणार्थ किन गुणों का गान करें, यह वे स्वयं नहीं निश्चय कर पाते। गीता में भी कहा है—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (२।४६) ; अर्थात् वेदों में भगवान् के असंख्य गुण हैं, पर ज्ञानी लोग प्रयोजन मात्र ग्रहण करते हैं। मुमुक्षु लोगों के प्रयोजन के वे ही गुण हैं कि जिन्हें भगवान् ने अवतार ले-लेकर अपने चरित द्वारा प्रकट किया है। जीवों के कल्याणार्थ अपने में लघुता स्वीकार करके अपने गुण प्रकट किये हैं ; यथा—"जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥" (बा० दो० १२१) ; *अतः, वे बड़े समर्थ मुनि लोग भी उधर से फिर कर, अर्थात् अनन्त* महिमा को अगम जानकर इन्हीं चरित्रों में प्रीति करते हैं कि परम कृपालु प्रभु ने स्वयं हमारे योग्य गुणों को चरित-द्वारा प्रकट कर दिया है—हम उन्हीं गुणों को गा-गाकर भव पार हों।

(२) 'सोउ जाने कर फल यह लीला।...'—जब महामुनियों ने उस महिमा को जाना, तब साथ ही उनके अवतार लेकर चरित करने का प्रयोजन भी जाना कि जो प्रभु नाना साधन से योग समाधि द्वारा कभी ही ध्यान में आते हैं, वे ही सगुण चरित्र के प्रेम से सहज में प्राप्त हो जाते हैं। तब वे इसे फल रूप मानकर इसी में रत होते हैं।

दम शील महा मुनि वर श्रीअगस्त्य-सुतीक्ष्ण आदि ने कहा है—"जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।... फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥" (आ० दो० १३)—श्रीअगस्त्यजी, "जे जानहिं ते जानहु स्वामी।... करउ सो राम हृदय मम अयना॥" (आ० दो० १०)—श्रीसुतीक्ष्णजी।

(३) 'राम राज कर सुख संपदा।...'—"राम-राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥" से "ससि संपन्न सदा रह धरनी।..." तक सुख का कुछ वर्णन है और "प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी।..." से "डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।" तक संपदा का लक्ष्य कराया गया है। इनका वर्णन करना अगम है। शेषजी के सहस्र मुख हैं और शारदा अनंत मुखों से सबकी वाणी द्वारा बोलती हैं, पर ये भी नहीं वर्णन कर सकते। तब कोई भी मनुष्य कवि कैसे कह सकेगा ? इसमें 'सुख' शब्द के *'ख' को द्वित्व करके पढ़ना चाहिये तब मात्रा की कमी की पूर्ति आ जायगी।*

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र - चरन - सेवक नर - नारी॥७॥

एक नारिब्रत - रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति-हितकारी॥८॥

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।

जीतहु मनहि सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥२२॥

अर्थ—सब उदार हैं और सभी परोपकारी हैं। सभी स्त्री-पुरुष ब्राह्मणों के चरणों के सेवक हैं॥७॥ सभी पुरुष मात्र एक-पत्नी व्रत रखनेवाले हैं और वे (उनकी स्त्रियाँ भी) मन, वचन कर्म से पति का

हित करनेवाले हैं ॥८॥ श्रीरामजी के राज्य मे दंड संन्यासियों के हाथ में था और जहाँ नाच-मंडली में नाचनेवाले होते थे वहीं भेद था और 'जीतो' (यह शब्द) मन ही के लिये (काम आदि विकारों को जीतने के प्रसंग में) था—ऐसा सुनने में आता था ॥२२॥

विशेष—(१) 'सब उदार···'—पहले सम्पदा कहकर तब उदार और परोपकारी कहा, क्योंकि इन्हीं कार्यों मे सम्पत्ति की सफलता है। और राज्य में सब उदार और सब परोपकारी नहीं होते, पर राम-राज्य में सभी ऐसे हैं। परोपकारी कहकर निस्वार्थ ही दातृत्व कहा। 'विप्र चरन सेवक ··' जैसे कि स्त्री जल देती है और पुरुष विप्रों के चरण धोते हैं, इत्यादि रीति से स्त्री-पुरुष सभी विप्र-भक्त हैं। 'उदार' कह-कर विप्र भक्ति कहने से ब्राह्मणों को बहुत दान देना भी सूचित किया गया है।

(२) 'एकनारि-व्रत-रत···'—श्रीरामजी राजा हैं, वे एक नारि-व्रत हैं, अपनी विवाहिता भार्या से ही पत्नीत्व सम्बन्ध रखते हैं, यथा—"स्वदारनियतव्रतम्" (सनत्कुमार सं॰ रामस्तवराज); वही आचरण उनकी प्रजा ने भी धारण किया है; यथा—"एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः। स्वधर्म गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरन् ॥" (भाग॰ ९।१०।५५), अर्थात् प्रजा को एक पत्नीव्रत बनाने के लिये आप स्वयं गृहस्थी मे रहकर राजर्षियों का-सा आचरण करते हैं।

'ते मन बच क्रम···'—जब पुरुष ऐसे हैं, तो स्त्रियाँ भी अपने पातिव्रत धर्म में दृढ़ हैं; यथा—"एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय-वचन-मन पति-पद-प्रेमा ॥" (आ॰ दो॰ ४); स्त्री के इस व्रत से पति का बड़ा हित होता है; यथा—"परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥" (बा॰ दो॰ १२१)।

नर-नारियों मात्र के इस महाव्रत की रक्षा श्रीरामजी के प्रभाव से हो रही है। क्योंकि इस समय ये राजा हैं, प्रजा मात्र इनके बाहुबल के आश्रित है; यथा—"तिन्हकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर बाँह ॥" (गी॰ अ॰ ४१)।

(३) 'दंड जतिन्ह कर ···'—राजनीति के चार अंग हैं; यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥" (लं॰ दो॰ ३६); ये चारों शत्रु-जीतने में काम आते हैं। श्रीरामजी ने रावण पर विजय कर ही लिया, इससे सब पर विजय स्वतः हो गई। कोई शत्रु जीतने के लिये नहीं रह गया। तब साम और दाम तो प्रजा के पारस्परिक व्यवहार में रह गये; यथा—"सब नर करहिं परस्पर प्रीती।"—साम, "सब उदार सब पर उपकारी।" दाम (दान) शेष दंड और भेद (इन दो) का तो नाम मात्र ही जीता जागता रह गया। शत्रु के बीच मे फूट करा देना 'भेद' नीति है और अपराधी को दड देना 'दंड' नीति है। राम-राज्य में कोई अपराध करता ही नहीं था, संसार भर मे चारों चरणों से धर्म पूर्ण था, सभी वेद रीति से स्वधर्माचरण करते थे। तब दंड किसे दिया जाय ? दंड कहीं नहीं सुना जाता था, हाँ, दंड शब्द मात्र यतियों के सम्बन्ध मे सुना जाता था कि अमुक यती त्रिदड एवं दंड धारण किये हुए हैं, ये दंडी हैं और ये त्रिदंडी हैं, इत्यादि। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सर्प-स्वान आदि के भी तामस भाव निवृत्त हो गये थे, जिससे कोई प्रजा भी छड़ी, दंडा, लाठी आदि शस्त्र न धारण करती थी, केवल आश्रम नियमा-नुसार यतियों के हाथ में 'दंड' होता था, जिससे वे दंडी कहाते थे।

'भेद जहँ नर्त्तक नृत्य समाज'—जब शत्रु ही नहीं थे, तब भेद नीति कहाँ की जाय ? अतः उसका नाम मात्र नृत्य समाज में नर्त्तकों के द्वारा सुना जाता था कि अमुक राग के इतने 'भेद' हैं। इस ताल के इतने 'भेद' हैं। श्री भैरव आदि राग के भेद हैं, मयूरी, तांडव आदि नृत्य के भेद हैं।

(४) 'जीतहु मनहिं'—'जीतो' शब्द भी मन ही के विषय में सुना जाता था कि भाई मन को जीतो, यह बड़ा शत्रु है, इसे वश में रक्खो कि जिससे कामादि विकार पैदा न होने पावें।

इसपर—"सरल सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित।" (बा० दो० १४) भी देखिये। वहाँ भी ऐसा ही अर्थ है।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज-पंचानन ॥१॥
खग मृग सहज बैर बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई ॥२॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा ॥३॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा ॥४॥

अर्थ—वन में वृक्ष सदा ही (ऋतु अनुसार फूलने-फलने का नियम छोड़कर) फूलते-फलते हैं। हाथी और सिंह (सहज वैर छोड़कर) एक साथ रहते हैं ॥१॥ पक्षी और पशु (आदि) सभी ने स्वाभाविक वैर भुलाकर एक दूसरे पर प्रेम बढाया ॥२॥ वन में पक्षियों और मृगों के अनेक झुंड बोलते हैं, निर्भय चुगते हैं और आनन्द करते हैं ॥३॥ शीतल और सुगंधित वायु धीरे-धीरे चलता है, भौंरे पुष्पों का रस लेकर गुञ्जार करते हुए चलते हैं ॥४॥

विशेष—(१) पहले चैतन्य मनुष्यों पर राम-राज्य-प्रभाव कहा गया, अब जड़-चैतन्य-मिश्रितों पर कहते हैं—'फूलहिं फरहिं सदा ··'—पूर्व काल, कर्म, स्वभाव और गुण के प्रभाव का न व्याप्त होना कहा गया। उन्हीं को इस प्रसंग पर स्पष्ट करते हैं—

काल—"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।" यहाँ कालगति का त्याग है।

स्वभाव—"रहहिं एक सँग गज पंचानन ॥ खग मृग सहज · " यहाँ स्वभाव दोष त्याग है।

कर्म—"कूजहिं खग मृग अभय चरहिं · "—यहाँ कर्म गति रहित सब सुखी ही हैं।

गुण—स्वभाव में आ गये, इससे इनका पृथक् उदाहरण नहीं है।

(२) 'गज पंचानन' से बड़ों-बड़ों को कहकर 'खग मृग' से छोटों को कहा है।

(३) 'खग मृग सहज ··'—इसके पूर्वार्द्ध में सहज वैर छोड़ना ही नहीं, प्रत्युत् भूल जाना कहा गया और उत्तरार्द्ध में सहज प्रीति भी कही गई।

पहले वन का वर्णन करके तब उसके आश्रित खग-मृगों को कहा। 'अभय चरहिं', क्योंकि बाधक जीवों का भय नहीं है।

(४) 'सीतल सुरभि '—त्रिविध वायु की शोभा कही गई, यथा—"सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥" (अ० दो० २१)।

लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं ॥५॥
ससि-संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी ॥६॥

प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी ॥७॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वादु सुखकारी ॥८॥

अर्थ—लता और वृक्ष माँगने से मधु (रस, शहद) टपका देते हैं, गायें (कामधेनु की भाँति) मन चाहा दूध देती हैं ॥५॥ पृथिवी सदा ही कृषि (खेती) से भरी पूरी रहती है, त्रेतायुग में भी सतयुग की करनी (व्यवस्था) हो गई (अर्थात् उपर्युक्त बातें सतयुग में स्वाभाविक थीं) ॥६॥ यह जानकर कि जगत् की आत्मा भगवान् जगत् के राजा हैं, पर्वतों ने अनेक प्रकार के मणियों की खानें प्रकट कर दीं ॥७॥ सब नदियाँ श्रेष्ठ शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट और सुख देनेवाला जल बहा रही हैं ॥८॥

विशेष (१) 'लता विटप माँगे मधु चवहीं।'—ये जड़ हैं, पर चैतन्य का काम करते हैं। 'मधु' के साथ 'पय' को कहा, क्योंकि दोनों रस हैं।

(२) 'ससि संपन्न सदा रह धरनी।'—'सदा रह' से सूचित करते हैं कि पृथिवी बिना बोये स्वयं अन्न उपजाया करती थी, एक तरफ काटते थे, दूसरी तरफ से फिर अंकुर निकलते आते थे। लोग एक बार बोने से बीस बार काटते थे। पृथिवी का खेती से पूर्ण रहना उसकी शोभा है; यथा—"ससि· संपन्न सोह महि कैसी।" (कि॰ दो॰ १४)।

'त्रेता भइ कृतजुग कै करनी।'—रावण के अधर्म से त्रेता में कलियुग हो गया था। अब सुधर्म के द्वारा श्रीरामजी ने सतयुग कर दिया। युग का प्रभाव धर्म और अधर्म पाकर बदल जाता है, यह भी प्रकट हुआ।

(३) 'प्रगटीं गिरिन्ह···'—पहले और राजाओं के समय में पहाड़ों में मणि की खानें गुप्त रहती थीं। पर जब जगत् की आत्मा ने ही भूप-रूप धारण किया है, तब उनसे दुराव कैसे करें? इससे मणियों को प्रकट कर दिया। 'गिरिन्ह'—शब्द से सब पहाड़ों में तरह-तरह की खानों का प्रकट होना सूचित किया। जब गुप्त परमात्मा प्रकट हुए और देहधारी हुए, तब गुप्त मणियाँ भी प्रकट हो गईं कि जिससे वे इसे अपने दिव्य विग्रह में धारण करें। 'बिबिध मनि खानी'—मणियाँ बहुत रंगों की होती हैं जैसे माणिक्य, नीलम, हीरा, पोखराज, पीरोजा आदि, इनकी पृथक्-पृथक् खानें प्रकट हुईं। 'जगदातमा भूप जग जानी।' यह दीप-देहली है; यथा—"स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिह।" (भाग॰ १।११।२६); अर्थात् अपने स्वामी को ही यहाँ प्राप्त देखकर जगत् भर समृद्ध पूर्ण भाव से मत्त हो रहा है।

(४) 'सरिता सकल बहहिं बर बारी।'—नदियाँ प्रायः पहाड़ों से निकलती हैं, इसीसे पहले पहाड़ों को कहकर तब नदियों को कहा है। 'बर बारी' की श्रेष्ठता दूसरे चरण में दिखाई गई है—'सीतल अमल स्वादु सुखकारी।'—नदियों का जल कहीं एवं कभी गरम भी होता है और करार काटने से एवं वर्षा में मलीन हो जाता है। किसी का जल स्वादिष्ट नहीं होता और किसी के जल से रोग उत्पन्न हो जाते हैं, ये सब दोष राम-राज्य में नहीं थे। प्रत्युत् शीतलता आदि गुण थे। 'सुखकारी'—का भाव यह कि सब किसी की रुचि के अनुकूल सुखकारी थे। जल में ये ही उत्तम गुण अन्यत्र भी कहे गये हैं; यथा—"सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग।" (दो॰ ५६); "भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥" (बा॰ दो॰ ३५)।

इस दोहे का सारांश श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है—"त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृत समोऽभवत्।

रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूत-सुखावहे ॥ वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः। सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ ॥" (भाग० ९।१०।५२-५३); अर्थात् सब प्राणियों को सुख देनेवाले, राज-धर्म में निपुण श्रीरामजी के राज्य में त्रेतायुग में भी सतयुग के समान उत्तम समय हो गया। नदी, वन, पहाड़, समुद्र, द्वीप और खंड सभी प्रजा की मनचाही बातें पूर्ण करते थे।

सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं ॥९॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा ॥१०॥

दोहा—बिधु महिपूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल, रामचंद्र के राज ॥२३॥

अर्थ—समुद्र अपनी मर्यादा (हद) में रहते हैं। (अर्थात् उपद्रव नहीं करते, प्रत्युत् लोगों का उपकार करते हैं कि) किनारों पर रत्न डाल देते हैं और मनुष्य उन्हें पाते हैं ॥९॥ सब तालाब कमलों से परिपूर्ण हैं; दसो दिशाएँ अपने-अपने विभागों में (पृथक्-पृथक्) अति प्रसन्न (निर्मल) हैं ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी के राज्य में चन्द्रमा अपनी किरणों से पृथिवी को पूरित करते हैं। (अर्थात् अमृत वर्षाकर कृषि आदि को पुष्ट करते हैं) और सूर्य उतना ही तप्त होते हैं, जितने का जहाँ काम होता है (खेती के परिपक्व करने भर को ही तपते हैं), मेघ माँगने से (उतना) जल देते हैं ॥२३॥

विशेष—(१) 'सागर निज...'—पहले नदियों का वर्णन करके अब नदी-पति समुद्र का वर्णन करते हैं। नदी के जल के गुण कहे; फिर सागर में रत्न के देने की शोभा कहते हैं, क्योंकि सागर के जल में कोई वैसा गुण नहीं होता। 'डारहिं'—लहरों द्वारा स्वयं निकाल कर तट पर डाल देंगे। श्रीरामजी चक्रवर्ती हैं और वह जलाधिपति है, मानों कर देता है, यद्यपि श्रीरामजी नहीं चाहते पर वह डाल ही देता है। सब तालाबों में प्रायः कमल नहीं होते, पर राम-राज्य में सबमें कमल परिपूर्ण रहते हैं। यहाँ तक नदी, समुद्र और सर तीनों प्रकार के जलाशय कहे गये। इससे जल-तत्त्व की अनुकूलता कही गई। तथा—"ससि संपन्न सदा रह धरनी।"—पृथिवी, "रबि तप जेत नहि काज।"—अग्नि, "सीतल सुरभि पवन बह मंदा।"—पवन और "अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।"—आकाश तत्त्व की अनुकूलता है; अर्थात् पाँचो तत्त्व अनुकूल हैं।

(२) 'बिधु महिपूर मयूखन्हि...'—इसमें चन्द्रमा, सूर्य और मेघ तीनों की अनुकूलता कही गई। ये तीनों जगत् के पोषण करनेवाले हैं; यथा—"जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन।" (बा० दो० १९); "होइ जलद जग जीवन दाता।" (बा० दो० ६)। 'रामचंद्र'—'चदि-आह्लादने' धातु से चंद्र शब्द निष्पन्न होता है, अर्थात् जो सबको आह्लाद द्वारा रमावें, वे राम हैं। ऐसा आनंद और राज्य में नहीं हुआ कि चर-अचर सभी आनन्द रूप हो गये हों।

सपरिवार प्रभु का आदर्श व्यवहार

कोटिन्ह बाजि-मेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे ॥१॥
श्रुति-पथ-पालक धर्म-धुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर ॥२॥

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता ॥३॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन-कमल मन लाई ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने असंख्य अश्वमेध यज्ञ किये और ब्राह्मणों को अनेक दान दिये ॥१॥ वेद-मार्ग के पालनेवाले, धर्म रूपी धुरी के धारण करनेवाले, सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों से परे हैं और भोग में इन्द्र के समान हैं ॥२॥ श्रीसीताजी सदा ही पति के अनुकूल रहती हैं, वे शोभा की खानि, सुशीला और विनम्रभावयुक्ता हैं ॥३॥ वे कृपासागर श्रीरामजी की प्रभुताई को जानती हैं, और मन लगाकर उनके चरण कमलों की सेवा करती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें।'—राजा लोग युद्ध में विजयी होकर यज्ञ करते हैं। श्रीरामजी ने भी लंका विजय की है, अतएव उन्होंने भी यज्ञ किया। 'कोटि' शब्द यहाँ बहुत का वाचक है; यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी।" (अ० दो० १६); यहाँ मंथरा रात ही भर में करोड़ों कहानियाँ नहीं कह सकती। तथा—"कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। राम बिलोकहिं गंग तरंगा॥" (अ० दो० ८६); बहुत अश्वमेध भी श्रीरामजी ने कैसे किये होंगे, इसके समाधान के लिये 'प्रभु' कहा है कि वे समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। यथा—"कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः प्रभुः" पुनः यज्ञ में दान अवश्य ही अधिक दिया जाता है, इससे उत्तरार्द्ध में ब्राह्मणों को अनेकों प्रकार के दान देना कहा गया है।

शंका—श्रीरामजी तो स्वयं ब्रह्म हैं, तो यज्ञ में उन्होंने किसकी पूजा की? पुनः उसमें सब देवताओं की भी पूजा होती है। जो श्रीरामजी से छोटे हैं उन्होंने अपनेसे छोटों की पूजा क्यों की?

समाधान—सब देवता श्रीरामजी के अंग हैं; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान॥" (लं० दो० १५)। भगवान् ने अपना ही पूजन स्वयं किया है; यथा—"भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः। सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान्मखैः॥" (भाग० ९।११।१); अर्थात् सर्व देवमय देव भगवान् ने यज्ञों के द्वारा आचार्य की बतलाई हुई विधि से अपना ही पूजन किया है। इस कर्म से आपने लोक को ऐसा ही करने की शिक्षा दी है; यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षो वधायैव न केवलं विभोः॥" (भाग० ५।१९।५); अर्थात् परम समर्थ श्रीरामजी का मनुष्यावतार जगत् को शिक्षा देने के लिये है, केवल राक्षस वध के लिये ही नहीं। तथा—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।" (गीता ३।२१); अर्थात् बड़े लोगों को देखकर सामान्य लोग भी वैसे आचरण करते हैं। पुन. माधुर्य में गुरु, मुनि आदि की पूजा करते हैं, वैसे यज्ञ में देवताओं की भी पूजा की।

'दान अनेक···'—सब रामायणों के मत 'अनेक' मे आ गये। भाग० ९।११।२-४ में सम्पूर्ण पृथिवी का देना लिखा है कि आपके शरीर के वस्त्राभूषण मात्र ही रह गये। तब ब्राह्मणों ने ब्रह्मण्यदेव प्रभु को ही अपनी ओर से सौंप दिया कि आप ही इसे पालें।

(२) 'श्रुति-पथ-पालक···'—वेदोक्त नियमों का पालन करते हैं, यज्ञ आदि धर्म करते हैं। वास्तव मे आप गुणातीत (अलिप्त) हैं, पर भोग इन्द्र का-सा करते हैं। इन्द्र ने सौ यज्ञ किये हैं। आपने 'कोटिन्ह' किये।

(३) 'पति अनुकूल सदा रह सीता।···'—पहले श्रीरामजी के गुण वर्णन कर अब श्रीसीताजी के गुण वर्णन करते हैं। पति-अनुकूलता स्त्री के लिये मुख्य है, इससे इसे पहले कहा। 'सोभा खानि' से

पर मद नहीं है। अतः, सुंदर शील स्वभाव से नम्रता सहित स्वामी की सेवा करती हैं; यथा—"प्रेम्णाऽनुवृत्या शीलेन प्रश्रयावनता सती। धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्त्तुः सीताहरन्मनः॥" (भाग० ९।१०।५९); अर्थात् भाव को जाननेवाली श्रीसीता देवी, विनयावनत भाव, प्रणय, अनुसरण, सुशीलता, बुद्धि और लज्जा से अपने स्वामी को प्रसन्न रखती हैं।

(४) 'जानति कृपासिंधु प्रभुताई।'—वे कृपा के सागर हैं, बड़े शीलवान् हैं, भक्तों को बड़ी भाग्य से इनकी सेवा मिलती है, ऐसा जानकर उत्साह से सेवा करती हैं; यथा—"अब जानी मैं श्री चतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥" (आ० दो० ५)।

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी॥५॥
निज कर गृह-परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥६॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा-बिधि जानइ॥७॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥८॥
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥९॥

दोहा—जासु कृपाकटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ।
राम-पदारबिंद-रति, करति सुभावहि खोइ॥२४॥

अर्थ—यद्यपि घर में बहुत सेवक और सेवकिनियाँ हैं वे सब सेवा करने की विधि में गुणी हैं॥५॥ तथापि (अपने पति की सेवा जानकर) घर की टहल वे अपने हाथों से करती हैं और श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा का पालन करती हैं॥६॥ कृपासागर श्रीरामजी जिस प्रकार में सुख मानते हैं, श्री जी वही करती हैं (क्योंकि) वे सेवा-विधि जानती हैं॥७॥ श्रीसीताजी घर में श्रीकौशल्या आदि सब सासुओं की सेवा करती हैं उन्हें (रूप आदि का) अभिमान और (राज्य आदि का) मद नहीं है॥८॥ उमा, रमा, शारदा आदि (शक्तियाँ) एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि (देवताओं के) द्वारा वंदिता हैं, (या, हे उमा! रमा श्रीजानकीजी ब्रह्मादि देवों से वंदिता हैं) जगत् भर की माता हैं, सदैव अनिन्दिता हैं॥९॥ जिन श्रीसीताजी की कृपा भरी तनिक चितवन को देवता चाहते हैं वे ही अपने (महत्त्व पूर्ण) स्वभाव को छोड़कर श्रीरामजी के चरण कमलों में प्रेम करती हैं॥२४॥

विशेष—(१) 'जद्यपि गृह···निज कर···'—घर के कार्य को पति-सेवा मानकर पतिव्रता शिरोमणि श्रीसीताजी अपने हाथों से करती हैं, इससे कोई समझे कि घर में सेवक-सेवकिनी कम होंगी अथवा वे उत्तम सेवा का विधान न जानती होंगी। इसका निराकरण करते हैं और यह भी लोक को शिक्षा देते हैं कि स्त्री को घर का कार्य स्वयं सँभालना चाहिये, चाहे वह कितनी ही बड़े धनवान् घर की हो।

(२) 'जेहि बिधि कृपासिंधु···'—श्रीजानकीजी स्वामी का रुख देखकर वैसा ही कार्य करती हैं। उसपर स्वामी सुख मानते हैं तो इसे वे उनकी कृपा ही मानती हैं; अर्थात् इन्हें उत्तम सेवा करने का भी मान नहीं है। यह भी भाव है कि श्रीजानकीजी अपने धर्म को देखकर सेवा ही करना चाहती हैं, पर कृपासिंधु की इनपर अत्यन्त कृपा है, ये क्षणिक विश्लेष नहीं चाहते, इनके संयोग में ही सुख मानते हैं; तो

उनकी रुचि रखने के लिये पति के साथ-साथ रहती हुई सखियों से सेवा कराती हैं, क्योंकि आज्ञापालन सर्वोपरि सेवा है ; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० १००)। 'श्री' ऐश्वर्य सम्बन्धी नाम कहा है, क्योंकि यहाँ ऐश्वर्य वर्णन का प्रसंग है।

(३) 'कौसल्यादि सासु···'—ये पति की भी पूज्या हैं, इनकी सेवा से स्वामी अधिक प्रसन्न होंगे, यह विचार कर वे सासुओं की भी सेवा करती हैं, मान-मद से सेवा व्यर्थ हो जाती है, इससे इतने भारी ऐश्वर्य पर भी इन्होंने उन्हें दूर कर दिया है।

(४) 'उमा रमा ब्रह्मादि...'– इसमें उमा-रमा आदि और ब्रह्मा आदि, ऐसा अर्थ है। आदि का अन्वय दोनों के साथ है। 'वंदिता' कहकर इन सबकी प्रार्थना से अवतार लेना सूचित किया। 'जगदंबा' कहकर लव-कुश का जन्म भी सूचित किया। 'संततमनिन्दिता'—से सूचित किया कि इनके सभी चरित उज्ज्वल हैं, इसीसे त्रिदेव और उनकी शक्तियों से वंदिता हैं। ध्वनि से प्रकट किया कि राज्य पर बैठने पर दस हजार वर्ष के बाद धोबी ने जो निंदा की है, वह झूठी निंदा थी। श्रीसीताजी 'संतत' अर्थात् निरंतर तीनों कालों में शुद्धा हैं।

(५) 'सुर चाहत चितवन'; यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०२); 'सुभावहि खोइ' अपने बड़ाई के स्वभाव को मिटाकर सेवा करती हैं, क्योंकि बड़ाई भक्ति में बाधक है; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई।...ये सब राम-भगति के बाधक।" (कि० दो० ६); जैसे प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपाये हुए राजकुमार रूप से वर्त्ताव कर रहे हैं, वैसे आप भी राजकुमारी बनी हुई पत्नी धर्म से पति-सेवा करती हैं। लोक को शिक्षा देती हैं कि स्त्रियों को इस तरह रहना चाहिये।

सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम-चरन-रति अति अधिकाई॥१॥
प्रभु मुख-कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥२॥
राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥३॥

अर्थ—सब भाई श्रीरामजी की अनुकूलता सहित उनकी सेवा करते हैं, श्रीरामजी के चरणों में उनका अत्यन्त अधिक प्रेम है॥१॥ वे सब प्रभु का मुख कमल देखते रहते हैं कि कृपालु श्रीरामजी हमें (कृपा करके सेवा करने को) कुछ कहें॥२॥ श्रीरामजी भाइयों पर प्रेम करते हैं, अनेक प्रकार से नीति सिखाते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'सेवहिं सानुकूल...'—भाव यह कि राजा मानकर भय से सेवा नहीं करते; किन्तु इनका प्रभु पद में अत्यंत प्रेम है, इससे सेवा करते हैं।

भाई लोग कुल धर्म का अनुसरण करते हैं ; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (अ० दो० १४); और प्रभु उनको अपने बराबर ही मानते हैं ; यथा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥" (अ० दो० ६); इसीसे वे 'भ्रातन्ह पर प्रीती' करते हैं, बराबरी के भाव से स्नेह करते हैं और उन्हें राजाओं के योग्य नीति (राजनीति) सिखाते हैं। भाइयों की रुचि के अनुकूल सेवाधर्म नहीं सिखाते, किन्तु अपने विचारानुसार राजनीति ही सिखाते हैं। 'नाना भाँति नीति' में सब नीति शास्त्रों के मत आ गये।

(२) 'कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं ।'—सेवा प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए मुख देखा करते हैं। क्योंकि इसी से नरतन की सफलता है, यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई ॥" (कि० दो० २२); सेवा पाने पर श्रीहनुमान्‌जी ने जन्म सफल माना भी है, , यथा—"हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना ॥" (कि० दो० २१), इसीसे तीनों भाई अहर्निशि सेवा के लिये लालायित रहते हैं, कितनी भी सेवा मिले, तृप्ति नहीं होती।

(३) 'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती ।'—'प्रीती' शब्द से ही उनका बराबर मानना सिद्ध है, यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि ॥" (ल० दो० २३); अत्यंत प्रेम के कारण शिक्षा देते हैं, वह भी राजधर्म की।

हरषित रहहिं नगर के लोगा। करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा ॥४॥
अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं। श्री रघुबीर-चरन रति चहहीं ॥५॥
दुइ सुत सुंदर सीता जाये। लव-कुस बेद पुरानन्ह गाये ॥६॥
दोउ बिजई बिनई गुन-मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर ॥७॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भये रूप गुन सील घनेरे ॥८॥

अर्थ—नगर के निवासी प्रसन्न रहते हैं और देवताओं को भी कठिनता से प्राप्त होनेवाले भोगों को भोगते हैं ॥४॥ रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में प्रेम चाहते हैं, इसके लिये वे दिन रात ब्रह्माजी को मनाते रहते हैं (कि वैसी बुद्धि हो, क्योंकि ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं,) ॥५॥ श्रीसीताजी के दो सुंदर पुत्र लव और कुश हुए, जिनकी कथा वेद-पुराणों ने विस्तार से कही है ॥६॥ दोनों विजयी, विनयी (विशेष नम्र एवं नीतिवान्) और गुणों के धाम हैं, दोनों अत्यन्त सुन्दर हैं, मानों भगवान् श्रीरामजी की छाया ही हैं ॥७॥ दो-दो पुत्र सब भाइयों के हुए, जो बड़े सुन्दर, गुणवान् और सुशील थे ॥८॥

विशेष—(१) 'नगर के लोगा'—ऊपर—'राम राज बैठे त्रैलोका ।' से 'बिधु महि पूर मयूखन्हि...' तक तीनों लोकों एवं जगत् भर का सुख कहा गया, यहाँ श्रीअवध नगर के लोगों का सुख-विलास कहते हैं। 'सुरदुर्लभ भोगा', यथा—"श्रीराम पद जलजात सबके प्रीति अविचल पावनी।... नाकेस दुर्लभ भोग लोगन्ह करैं न मन विषयन्हि हरे।" (गी० उ० ११); इसपर—"सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं ॥" (दो० १४) भी देखिये। भक्ति सम्बन्धी भोग परमार्थ साधक होते हैं। इसी से यहाँ भी आगे विधाता से राम-पद-प्रीति माँगना कहा गया है—'अहनिसि बिधिहि ..'—यदि इन भोगों से विषयासक्ति होती, तो ये लोग ऐसी अभिलाषा कैसे करते ? यह भी कहा जाता है कि श्रीअवधवासियों का भोग त्रिपाद विभूति का है, वह दिव्य और अप्राकृत है, उससे विकार नहीं होता। वही देवताओं को दुर्लभ है (क्योंकि स्वर्ग का भोग प्राकृत है इसी से वह परिणाम में दु:खद है)।

(२) 'दुइ सुत सुंदर सीता जाये। · ·'—जो संतान कन्या के मायके में उत्पन्न होते हैं वे माता के नाम से कहे जाते हैं। 'सीता जाये' कहकर लव-कुश का जन्म श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में सूचित किया, क्योंकि श्रीवाल्मीकिजी श्रीसीताजी को कन्या और श्रीसीताजी उन्हें पिता की भाँति मानती थीं, इसी से यहाँ उत्पन्न होने पर लव-कुश की प्रसिद्धि श्रीसीताजी के नाम से करते हैं। जो संतान पिता के यहाँ होते हैं,

वे पिता के नाम से कहे जाते हैं, तीनों भाइयों के पुत्र श्रीअयोध्या में ही हुए, इसीसे—"दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे।" कहा गया है। 'लव-कुश'—कुश ज्येष्ठ है, पर इनका नाम लव के पीछे कहा गया, ऐसे ही बा० दो० १६६ नाम करण प्रसंग में श्रीशत्रुघ्नजी के पीछे श्रीलक्ष्मणजी का नामकरण किया गया है। इससे यह भी जान पड़ता है कि यमज के नाम कथन की यही रीति है। यमज में गर्भाधान के क्रम से जो पीछे पैदा होता है, वही ज्येष्ठ माना जाता है। वा, सुख-सुखोच्चारणार्थ लव शब्द प्रथम कहा गया है।

(३) 'दोउ बिजई बिनई गुन मंदिर।'—रामाश्वमेध के अनुसार श्रीरामजी की सारी सेना को इन्होंने जीत लिया है, फिर जब जाना कि ये सब हमारे पितृव्य आदि हैं, तब बड़े विनम्र हुए। इससे साथ ही 'बिनई' भी कहा गया है। वीरता की शोभा नम्रता से होती है। 'गुन मंदिर' कहकर 'हरि प्रतिबिंब' भी कहा है, बिंब के ही गुण प्रतिबिंब में देखे जाते हैं; यथा—"निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ रूप सील सुबिनीता॥" (आ० दो० २३)। श्रीरामजी के गुण; यथा—"स च सर्व गुणोपेतः कौशल्यानन्द वर्द्धनः।" (वाल्मी० मू० रा०); वे ही गुण इनमें हैं; यथा "बिम्बादिवोत्थितौ बिम्बौ राम देहात्तथापरौ॥" (वाल्मी० १०।३।११)।

'दुइ-दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे'—श्रीभरतजी के पुत्र श्रीतक्षजी और श्रीपुष्कलजी, श्रीलक्ष्मणजी के श्रीअंगदजी, और श्रीचन्द्रकेतुजी, और श्रीशत्रुघ्नजी के श्रीसुबाहुजी और श्रीशत्रुघातीजी हैं—इनका वर्णन वाल्मी० ७।१०१, १०२ और १०८ में देखिये।

(४) 'भये रूप गुन सील धनेरे'—भाइयों के गुण; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १९७); वे ही गुण पुत्रों मे भी हैं। जैसे ऊपर प्रतिबिंब में कहे गये।

श्रीसीताजी के त्याग की कथा मानस में नहीं कही गई, 'सीता जाये' के संकेत से लक्ष्य मात्र करा दी गई, यह क्यों? इसके कई कारण हैं—(क) मानस में चार कल्पों की कथाएँ साथ चल रही हैं, किन्तु मुख्य मनु-शतरूपावाले कल्प की कथा है, वही श्रीशिवजी ने पार्वती से विस्तार-पूर्वक कही है। इसमे सीता-त्याग के हेतु रूप गंगा पूजन और ऋषियों के दर्शन पुष्पक पर आने के समय ही करा दिये गये हैं। अतः, इस कल्प में यह लीला नहीं हुई होगी। अन्य तीन कल्पों की भी संगति लगाने के लिये 'सीता जाये' से यह लीला भी जना दी गई है। (ख) उपासकों को सामान्य दृष्टि से वह कथा नीरस होगी, इस विचार से उसे नहीं कहा। लक्ष्य मात्र करा दिया है। पर विचार करने पर वह लीला भी बड़े महत्व की है, यह मैं आगे 'सीता-वनवास-मीमांसा' से यथा मति प्रकट करता हूँ। (ग) इस ग्रन्थ की समाप्ति शोक पर न हो, यह भी हेतु है।

सीता-वनवास-मीमांसा

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड के श्रीसीतावनवास (उनकी वाल्मीकि-आश्रम-यात्रा) पर कोई-कोई श्रीरामजी पर निर्दयता आदि दोष लगाते हैं। पर विचार करने पर जैसे श्रीमहारानीजी की लङ्का यात्रा स्वेच्छा से हुई, वैसे और उसी अभिप्राय से यह दूसरी यात्रा भी है। जैसे कि—अरण्यकांड सर्ग ८-९ में श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी से राक्षस-वध-प्रतिज्ञा पर कहा है कि मिथ्या भाषण, परस्त्री की अभिलाषा और निर्वैर-पर-रौद्रता। ये तीन भारी दोष हैं। इनमें दो तो आपमे नहीं ही हैं, तीसरे का संयोग हो रहा है कि राक्षसों ने आपका कोई अन्याय नहीं किया, उन्हें मारने पर आपको उक्त दोष लगेगा। फिर इसे

बहुत तरह से मना करते हुए इसपर इतिहास भी कहा है कि आपका शस्त्र धारण करना ठीक नहीं। जब श्रीरामजी ने ऋषि-ब्राह्मण-रक्षा का अपना दृढ़व्रत कहा और उसे त्यागने में अपनी असमर्थता दिखाई। तब श्रीजानकीजी ने अपने स्वामी के धवल-यश-रक्षणार्थ लंका यात्रा की लीला की, क्योंकि मृग-मोहित होने पर श्रीलक्ष्मणजी ने बार-बार माया मृग के मारीच राक्षस होने का स्मरण कराया है, पर आपने नहीं माना। यह इसलिये कि मुझे हर कर रावण दोषी होकर वैर करके सपरिवार लड़ने से मारा जाय, तो स्वामी को उक्त दोष न लगे और उनकी कीर्त्ति उज्ज्वल हो।

उसी प्रकार यह दूसरी यात्रा भी अपने स्वामी के चरित्र को प्रकाशित करके भविष्य में जीवों के उद्धार के लिये है। जैसे कि प्रथम तो आपने श्रीरामजी से स्वेच्छा से ही वन जाने का वर माँगा और उसी समय निन्दा की बात भी श्रीरामजी को सुनाई दी। यह दूसरा हेतु पुरवासियों को प्रेरणा करके इसलिये रचा गया कि जिससे इसीके शमन करने के लिये महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण रची जाय, क्योंकि दस हजार वर्ष पीछे पुरवासियों का वैसा कहना स्वाभाविक नहीं हो सकता, लङ्का से आने पर उसी समय उन्हें कहना था। पुनः श्रीसीताजी ने वाल्मीकि-आश्रम जाकर अपने आर्त्त रुदन द्वारा वात्सल्यनिष्ठ महर्षिजी के हृदय में अत्यन्त करुणा प्रकट कर निन्दा शमन करने के लिये आवेश कराया। तब क्रौंच प्रसंग आदि हेतुओं द्वारा रामायण रची गई।

यदि लङ्का का श्रीसीता-चरित्र मात्र ही ध्यानात्मक बनाते तो उसमें लोगों की प्रतीति होने में संदेह था। अतः, जो-जो चरित्र पुरजनों के सामने हुए थे, उन्हें भी ध्यानात्मक ही लिखा कि जिससे इन सब बातों की सत्यता से लंका का सीता-चरित भी सत्य जाना जाय। इसी आशय पर कहा है—"काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।" (वाल्मी॰ १।४।७); अर्थात् समस्त रामायण काव्य में परम महत्त्व गुणवाला सीता-चरित है, क्योंकि सीता-चरित के प्राधान्य में सब बना। श्रीमहर्षिजी का मुख्य उद्देश्य श्रीसीताजी के लंका में शुद्ध रहने की सफाई देना था, वह कार्य बिना सब चरित बनाये हो नहीं सकता था।

यदि यह शंका हो—"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः। चकार चरितं कृत्स्नं विचित्र-पदमर्थवत्।" (वाल्मी॰ १।४।१); अर्थात् श्रीरामजी के राज्यासीन होने पर समस्त रामायण बनी। तो इसका समाधान यह है कि यहाँ पर राज्यासीन पर कुछ वर्षों की संख्या नहीं दी गई कि कितने वर्षों के पीछे बनी। पर सम्पूर्ण चरित रचना की पूर्त्ति पर तो स्पष्ट कहा है कि महर्षिजी के चित्त में चिन्ता हुई कि इतने बड़े काव्य को धारण करने को कौन समर्थ होगा? त्योंही कुश-लव दोनों ने आकर चरण गहे। तब महर्षिजी ने इन्हें ही धारण को समर्थ विचार कर पढ़ाना प्रारंभ किया; जब श्रीशत्रुघ्नजी मथुराजी से लौटे, (जो कि इन बालकों के जन्म दिन मथुरा जाते समय यहाँ थे और श्रीजानकीजी को प्रणाम करके मथुरा गये थे, फिर १२ वर्ष पीछे आये हैं।)

तब उन्होंने समाज सहित वाल्मीकिजी के आश्रम में निवास किया, वहाँ लव-कुश को करुणामय चरित (अयोध्याकांड) गाते हुए सुना, रात-भर मैनिकों समेत आश्चर्य में रहे कि जो-जो चरित हमने देखे हैं, उन्हें ही यहाँ सुनते हैं, भय से महर्षिजी से पूछ न सके और प्रातःकाल आज्ञा ले श्रीअयोध्याजी आये। (यह मथुरा संबंधी चरित वाल्मी॰ ७।६६-७१ में है।

इससे स्पष्ट हुआ कि श्रीमहारानीजी के आने पर महर्षिजी ने चरित रचने का प्रारंभ किया। दस-ग्यारह वर्षों में बना। यज्ञोपवीत संस्कार संपन्न होने पर लव-कुश को पढ़ाने लगे। एक वर्ष में अयोध्याकांड तक पढ़ा चुके थे, जो बारहवें वर्ष लौटने पर श्रीशत्रुघ्नजी ने सुना था। चरित करुणामय थे, इसीसे श्रीशत्रुघ्नजी आदि रोते हुए सुनते थे, इससे अयोध्याकांड तक का अनुमान है। फिर शेष चरित भी पढ़ाये।

तत्पश्चात् जब श्रीरामजी अश्वमेध यज्ञ करने लगे थे और वहाँ द्वीप-द्वीप के सब राजा लोग भी एकत्रित हुए थे। तब महर्षिजी अयोध्या आये और पृथक् रहते हुए कंद-मूल-फल (अपना, राजा की ओर से न लेकर) खाते हुए, उन्होंने लव-कुश के द्वारा सब चरित प्रथम नगर में सर्वत्र गवाया कि जिससे ये लोग अपने देखे हुए चरित्रों की सत्यता पर परोक्ष के सीता-चरित को भी सत्य माने तथा प्रजाओं के चित्त में ऋषि के राजा से मिले हुए होने का भी संदेह न हो कि राजा ने कुछ देकर अपना चरित सुन्दर बनवा लिया होगा।

पीछे जब पुरवासियों ने ही प्रशंसा की, तब श्रीरामजी ने सब राजाओं, ऋषियों एवं और यज्ञ-मंडल के लोगों को एकत्र कर इनका गाना प्रारंभ कराया कि जिससे सब लोग सीता-चरित सहित सब चरित सत्य जाने और फिर सबके सामने ब्रह्माजी की भी साक्षी हुई कि ये सब चरित अक्षरशः सत्य हैं, इस तरह महर्षिजी का सीता-निन्दा-शमन का अभीष्ट पूरा हुआ एवं श्रीमहारानीजी का अभिप्राय—स्वामी की कीर्त्ति जगद्विख्यात और चिरस्थायी हो, इसे गा-सुनकर भविष्य के लोग श्रीरामजी के वर्त्तमान का लाभ उठावें, भवपार हों—यह पूरा हुआ। (यह यज्ञ सम्बन्धी चरित वाल्मी० ७।९३-९६ के अनुसार है)।

अब निश्चय हुआ कि जैसे रावण-वध के लिये श्रीजानकीजी का लंका जाना और श्रीरामजी के विलाप आदि कार्य लीला की मर्यादा से ही हुए, नहीं तो रावण-वध तो संकल्प मात्र से ही हो सकता था। वैसे ही श्रीसीताजी की यह लीला भी दुःखद एवं हृदयद्रावक घटना से की गई कि महर्षिजी का हृदय इस ओर ढरे और चरित बने। अतः, श्रीमहारानीजी की यह यात्रा उनकी स्वेच्छा से और कल्याण मनोरथ युक्त हुई थी, इससे किसी का कुछ व्यतिक्रम नहीं है।

इस विषय में और भी हेतु हैं, क्योंकि भगवान् के चरित अनेकों आशयों से होते हैं; यथा—"हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥" (बा० दो० १२०); कुछ हेतु और कहे जाते हैं—(क) जैसे श्रीसीताजी की निष्ठा ऊपर कही गई, वैसे ही श्रीरामजी की भी प्रीति एवं निष्ठा श्रीसीताजी में है, इनका यश निर्मल और जगद्विख्यात करने के लिये ही आपने इन्हें दुर्वाद कहकर लंका में अग्नि-परीक्षा की लीला की है, यह उस प्रसंग में कहा भी गया; किन्तु वह परीक्षा ऐसे स्थल में हुई थी कि जहाँ पर देवता और वानर-भालू एवं कुछ राक्षसों के अतिरिक्त मनुष्य नहीं थे। इसलिये स्वामी ने इस लीला द्वारा सभा में सातों द्वीपों की उपस्थित जनता में श्रीसीताजी के निर्मल यश की स्थापना की और ब्रह्माजी से भी साक्षी दिलाई। (ख) गी० उ० २५ के अनुसार श्रीरामजी ने सोचा कि पिताजी ने हमारे वियोग में अपनी पूर्ण आयु का भोग नहीं किया; यथा—"जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू।" (अ० दो० १०४); अतः, हम उनकी शेष आयु को उनकी ओर से पूरी कर दें। पर धर्म की सूक्ष्मता से एक अड़चन पड़ती है कि उनकी आयु सहित रहते हुए श्रीसीताजी को साथ रखना धर्म विरुद्ध है। क्योंकि जब हम श्रीदशरथजी की जगह पर तद्रूप होकर रहेंगे, तो श्रीसीताजी उनकी पुत्र-वधू होंगी, फिर साथ कैसे रहेंगी? इसलिये भी यह लीला की गई, इत्यादि।

दोहा—ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया-मन-गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन, कर नर-चरित उदार॥२५॥

अर्थ—जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से परे, अजन्मा, माया, मन और गुणों के पार हैं, वे ही (प्रभु) सत् चित् और आनन्द के समूह उदार-चरित करते हैं॥२५॥

विशेष—मनुष्य का ज्ञान बुद्धि से होता है, बुद्धि परिमित है। अतः, उसके द्वारा अपरिमित ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता; यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड० १।२।१२); अर्थात् (जीव की) बुद्धि द्वारा कृत (उपायों) से वह स्वयंभू ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता। वह शब्द रूप नहीं है कि वाणी का विषय हो। पुनः रूप, स्पर्श आदि विषय रूप भी नहीं है कि इन्द्रियों का विषय हो। अजन्मा है, इससे जन्म शील उपमाओं से भी लखाया नहीं जा सकता। वह माया से परे है इसीसे अच्युत कहाता है। माया से पर होने से माया सम्बन्धी (अशुद्ध) मन का विषय नहीं है। गुणों से परे है, इसीसे वह निर्गुण कहाता है। 'सच्चिदानंद घन'—वह सदा एक रस रहनेवाला ज्ञानानंद स्वरूप है; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर।" (दो० ७७); 'सोइ···कर नर चरित उदार'—अर्थात् उसका चरित भी सच्चिदानंद स्वरूप है; यथा—"रामस्य नामरूपञ्च लीला-धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्॥" (वासिष्ठ सं०). 'उदार' अर्थात् इसे गाकर नीच-ऊँच सभी भव तरते हैं; यथा—"सुनहिं विमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (दो० १४); 'नर चरित' से यहाँ विशेष कर संतान पैदा करना आदि से तात्पर्य है। पुनः उदार कह उपर्युक्त 'राम राज बैठे त्रैलोका।' से 'बिधु महि पूर मयूखन्हि···' का समाधान भी है कि उदार शिरोमणि सभी को एक रस सुखी करते हुए चरित कर रहे हैं। काल, कर्म आदि की विषमता किसी को नहीं व्याप्त होने देते।

* श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम चारों उदार कहे गये हैं, इनके उदाहरण पूर्व दिये जा चुके हैं। लं० दो० ३२ चौ० ४ देखिये।

दिनचर्या—प्रकरण

प्रातकाल सरजू *करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज-सज्जन॥१॥
बेद-पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥२॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥३॥
भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपवन जाई॥४॥
बूझहिं बैठि राम-गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥५॥

अर्थ—प्रातःकाल (ब्रह्ममुहूर्त में) सरयूजी में स्नान करके ब्राह्मणों और सज्जनों के साथ सभा में बैठते हैं॥१॥ वसिष्ठजी वेद-पुराण कहते हैं और श्रीरामजी सुनते हैं यद्यपि वे सब जानते हैं॥२॥ भाइयों के साथ भोजन करते हैं, सब माताएँ देखकर आनन्द से भर जाती हैं॥३॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई पवन-कुमार श्रीहनुमान्‌जी के साथ कृत्रिम वन (नजर बाग) में जाकर॥४॥ वहाँ बैठकर श्रीरामजी के गुणों की कथा पूछते हैं और श्रीहनुमान्‌जी अपनी सुन्दर बुद्धि से मंथन करके (अच्छी तरह समझकर) उसे कहते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'प्रातकाल सरजू...'—प्रभु परम पावन हैं, फिर भी लोकशिक्षार्थ और तीर्थ को गौरव देने के लिये श्रीसरयूजी में बड़े भोर में स्नान करते हैं और विप्रों और संतों को साथ लेकर कथा सुनते हैं। 'संग द्विज सज्जन'—का सम्बन्ध 'करि मज्जन' और 'बैठहिं सभा' दोनों के साथ है। 'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं'—वेदों की कठिनता पुराणों के इतिहासों द्वारा स्पष्ट करते हैं। 'जद्यपि सब जानहिं'—

जानी हुई बातों के सुनने में मन नहीं लगता, पर लोक-संग्रह के लिये रामजी मन लगाकर सुनते हैं; यथा—"वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥" (बा० दो० २०४), यह भी राजनीति है कि राजा लोग नीति और धर्म की कथा श्रवण करें।

पुराणों के विषय में कहा जाता है कि व्यासजी ने इन्हें द्वापर में बनाया है, पर इनका वर्णन मनुस्मृति और उपनिषदों में भी है, इससे ये अनादि हैं। अतः, त्रेता युग में वसिष्ठजी का कहना संगत है।

(२) 'अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं।'—सभा से उठने पर भोजन करते हैं। भाइयों के साथ भोजन करना आपका वचपन से ही स्वभाव है ; यथा—"अनुज सखा संग भोजन करहीं। मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं ॥" (बा० दो० २०४) ; 'देखि सकल जननी...'—माताओं को पुत्रों के भोजन करने में बड़ा सुख होता है, सब भाइयों को एक साथ भोजन करते देख वे बहुत सुख पाती हैं। ऐसे ही पुत्र के गुण देखकर पिता को हर्ष होता है ; यथा—"आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा ॥" (बा० दो० २०४)।

श्रीरामजी का ब्राह्मणों और सज्जनों के साथ श्रीसरयू स्नान करना और उस शोभा का वर्णन गी० उ० ३, ४ में देखने योग्य है।

(३) 'भरत सत्रुहन दोनउ भाई। ..'—ऊपर सब भाइयों की एक साथ चर्या कही गई। अब केवल इन दो भाइयों की कहते हैं। भोजन के उपरान्त यह तीसरे प्रहर की चर्या है। वेद-पुराण के वक्ता वसिष्ठजी थे, श्रीरामचरित के वक्ता श्रीहनुमान्‌जी हैं, इन्होंने वन और रण के चरित देखे-सुने हैं, वही कहते हैं, ये दोनों भाई वन में साथ नहीं थे, इससे पूछते हैं। उपवन रमणीक एवं एकान्त स्थल है, इसलिये वहीं जाकर गूढ़ श्रीराम चरित सुनते हैं, जहाँ कोई विक्षेप न हो। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम नहीं आया, क्योंकि वे भोजन के बाद प्रभु की ही सेवा में रहते हैं।

'सुमति अवगाहा' ; यथा—"अस मानस-मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।" (बा० दो० ३८) ; अर्थात् सुन्दर मति से विचारकर कहने से कथा अच्छी होती है।

सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं ॥६॥
सबके गृह गृह होहिं पुराना। राम-चरित पावन बिधि नाना ॥७॥
नर अरु नारि राम-गुन-गानहिं। करहिं दिवस-निसि जात न जानहिं ॥८॥

दोहा—अवधपुरी बासीन्ह कर, सुख-संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज ॥२६॥

अर्थ—श्रीरामजी के निर्मल गुणों को सुनकर अत्यन्त सुख पाते हैं और फिर-फिर प्रार्थना करके बार-बार कहलाते हैं ॥६॥ सबके घर-घर पर पुराण और अनेक प्रकार के पवित्र श्रीराम चरित होते हैं ॥७॥ स्त्री और पुरुष राम-गुण का गान करते हैं और (इस सुख में) दिन-रात का बीतना नहीं जानते ॥८॥ जहाँ श्रीरामचन्द्रजी राजा होकर विराजमान हैं, उस अवधपुरी में रहनेवालों के सुख, संपत्ति और समाज हजारों शेष नहीं कह सकते ॥२६॥

विशेष—(१) 'बिमल गुन'—श्रीरामजी के गुण छल और अधर्म से रहित हैं, उन्होंने छली राक्षसों के साथ भी छल एवं अधर्म से युद्ध नहीं किया। 'बहुरि-बहुरि करि ···' क्योंकि अत्यन्त श्रद्धा है, तृप्ति नहीं होती, इससे बराबर सुनना ही चाहते हैं। 'करि बिनय कहावहिं'—विनय से श्रोता की श्रद्धा जानी जाती है, तभी वक्ता को कहना चाहिये, अन्यथा श्रीराम-चरित का निरादर होता है। इसीसे श्रीराम-चरित अत्यन्त गोप्य कहा गया है। ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी भी अपने पुत्र नारदजी से भी बार-बार पूछकर सुनते हैं; यथा—"नित-नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्म लोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि-पुनि तात करहु गुन गानहिं॥" (दो॰ ४१)।

(२) 'सनके गृह गृह···'—यहाँ 'वेद' न कहा, क्योंकि सब उसके अधिकारी नहीं होते। पूर्व—'वेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं।' कहा गया, क्योंकि वहाँ द्विज-सज्जन समेत श्रीरामजी अधिकारी श्रोता थे। पंडित लोग पुराण कहते हैं और सब सुनते हैं, राम-गुण गान के अधिकारी स्त्री पुरुष सभी हैं, इससे सब सुनते हैं और गाते हैं। 'दिवस निसि जात न जानहिं' से पुरवासियों का सुख और प्रेम कहा गया। यथा—"प्रेम मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।" (बा॰ दो॰ २००), "जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट बीत।" (दो॰ १५)।

(३) 'अवधपुरी बासीन्ह कर ···'—श्रीरामजी के राज्य में जगत्-भर का सुख अकथ्य है, यथा—"राम-राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥" (दो॰ २१); तब 'जहँ नृप राम बिराज' अर्थात् राजधानी के सुख आदि का क्या कहना? उसे तो 'सहस सेष नहिं कहि सकहिं' जगत्-भर के विषय में एक-एक शेष-शारदा कहे गये, राजधानी के विषय में सहस्र, यह सँभाल है।

अयोध्या नगर का वर्णन

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥१॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥२॥
जातरूप-मनि-रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥३॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥४॥

अर्थ—नारद आदि और सनकादि मुनीश्वर लोग श्रीरामजी के दर्शनों के लिये प्रत्येक दिन सब अयोध्या आते हैं और नगर देखकर वैराग्य भुला देते हैं॥१-२॥ अटारियाँ स्वर्ण और मणि से रच कर बनी हैं। अनेक रंगों की सुंदर गचें सोने और मणि से ढली हुई हैं॥३॥ नगर के चारों ओर अत्यन्त सुन्दर कोट (घेरा) है, (जिसपर) रंग बिरंग के श्रेष्ठ कँगूरे रचकर बनाये गये हैं॥४॥

विशेष—(१) 'नारदादि सनकादि मुनीसा।···'—सनकादि से सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार चार भाई ही समझे जाते हैं, इससे नारद के साथ भी 'आदि' शब्द देकर वैसे बड़े-बड़े मुनियों को सूचित किया है। 'मुनीसा' के जोड़ में 'कोसलाधीसा' कहा गया है कि बड़े लोग बड़े के ही दर्शनों को आते हैं। या, नारदादि से मंत्रज्ञ और सनकादि से तत्त्वज्ञ मुनियों को कहा गया है।

(२) 'देखि नगर बिराग बिसरावहिं'—नगर की रचना अलौकिक है, यहाँ के गृहस्थ नानेरा दुर्लभ भोग करते हुए श्रीरामजी के पूर्ण अनुरागी हैं, यह नगर का प्रभाव है। वैराग्य वृत्तिवालों को

नगर देखना मना है, पर ये लोग इस नगर की रचना देखने के लिये वैराग्य भुला देते हैं, क्योंकि यह तो भगवान् का धाम है, अतएव सच्चिदानंद रूप है, ब्रह्म के दर्शनों के समान दर्शनीय है, ऊपर प्रमाण दिया गया। इससे इसके दर्शनों के लिये वैराग्द के उस नियम को भुला देते हैं। क्योंकि वैराग्य तो इन्द्रिय विषय-रूप प्राकृत पदार्थों से *किया जाता है।*

नगर रचना पर यह पद पढ़ने योग्य है—"देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद॥ नगर-रचना सिखन को बिधि सिखत बहु बिधिवंद। निपट लागत अगम ज्यों जल चरन्हि गमन सुछंद॥ मुदित पुर लोगनि सराहत निरखि सुखमाकंद। जिन्हके सुअलि चख पियत राम-मुखारविंद-मरंद॥ मध्य व्योम बिलंबि चलत दिनेस उडुगन चंद। रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुख-द्वंद॥" (गी॰ उ॰ २२)।

(३) 'जात रूप मनि...'—मुनियों की दृष्टि से वर्णन हो रहा है, उन्हें दूर से पहले अटारी देख पड़ती है, फिर कोट, तब भूमि, उसी क्रम से लिखा गया है। सोने का काम करके उसमें मणियों के भाँति-भाँति से जड़ाव की रचना की गई है। इसलिये पहले सोना कहकर तब मणि कही गई है। 'नानारंग रुचिर...'—रंग-बिरंग की मणियों के चूर्ण और काँच से गच्ची ढाली गई है, उसीको आगे—'महि बहु रंग रचित गच काँचा' कहा है।

(४) रचे कँगूरा...'—आगे इन्हीं की उत्प्रेक्षा करते हैं—

नवग्रह-निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥५॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिवर मन नाँचा॥६॥
धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि-ससि-दुति निंदत॥७॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि-दीप बिराजहिं॥८॥

अर्थ—मानों नवग्रहों ने बड़ी सेना बनाकर अमरावती को आ घेरा हो ॥५॥ पृथिवी बहुत रंग के काँच की गच से सँवारकर बनाई हुई है, जिसे देखकर श्रेष्ठ मुनियों का मन नाचने लगता है ॥६॥ उज्ज्वल धाम ऊपर आकाश को चूम रहे हैं; अर्थात् अत्यन्त ऊँचे हैं। (महलों पर के) कलश (अपनी द्युति से) सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति की निन्दा करते हैं; अर्थात् उनसे अधिक कान्तिमान् हैं ॥७॥ महलों में मणियों से रचे हुए बहुत-से झरोखे प्रकाशित हैं, प्रत्येक घरों में मणियों के दीपक शोभित हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'नवग्रह-निकर...'—यहाँ रंग-रंग के कँगूरों पर उत्प्रेक्षा है। कोट को अमरावती और कँगूरों को नवग्रह कहा है। नवग्रह भी अमर (देवता) हैं, अमरावती के ही देश विशेष में रहते हैं, वैसे कँगूरे भी कोट के ही ऊपर जहाँ तहाँ हैं। नवग्रह नव रंगों के होते हैं, वैसे कँगूरे भी कहे गये हैं। अभी श्रीअयोध्यापुरी की उपमा नहीं है, क्योंकि अमरावती इसकी उपमा के योग्य नहीं है। सैनिक वीर रंग-बिरंग के बाने धारण करते हैं; यथा—"अति बिचित्र बाहनी बिराजी। बीर बसंत सेन जनु साजी॥" (बा॰ दो॰ ७७); वैसे ही वीर रूप नवग्रह भी रंग-रंग के हैं। यहाँ आकर घेरना उसकी रक्षा के लिये है। कोट में जहाँ-तहाँ देवताओं के चित्र बने हैं, यही अमरों का उसमें निवास है।

(२) 'मुनिवर मन नाँचा'—भाव यह कि जहाँ पृथिवी पर विशेष रचना की आवश्यकता नहीं, वहाँ भी विचित्र रचना है, उसे देखकर मुनियों का मन उछल पड़ता है, हर्ष से नाच उठता है। मुनियों का मन नीरस होता है, जब वही नाच उठता है, तब औरों के मोहित होने को क्या कहना ?

(३) 'नभ चुंबत'—ये धाम इतने ऊँचे थे कि प्रयाग से (प्रायः १०० मील से) देख पड़ते थे, तभी तो पुष्पक पर प्रयाग से ही देखकर श्रीसीतारामजी ने श्रीअवधपुरी को प्रणाम किया है।

'रबिससि···'—आकाश में रवि-शशि एक-एक ही हैं, ये अनेक हैं और अधिक कान्तिवाले होते हुए शीतल भी हैं।

झरोखों मे लगी हुई मणियाँ सामान्य हैं और उनके समीप में रक्खे हुए मणि दीप विशेष रत्नों के हैं। (दीपक कहकर अब रात की शोभा कहते हैं) झरोखों में जटित मणियाँ वहीं जगमगा रही हैं और दीपों का प्रकाश बाहर निकल रहा है।

छंद—मनि-दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी बिद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

दोहा—चारु चित्रसाला गृह; गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम-चरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिं चोराइ ॥२७॥

अर्थ—महलों में मणियों के दीपक सोह रहे हैं, महल (दीपों से) सोह रहे हैं और उनकी देहरियाँ मूँगों से रची हुई प्रकाशित हैं। मणियों के खंभे हैं, सोने की दीवारें नील मणियों से जड़ी हुई हैं (मानों) ब्रह्माजी ने इन्हें विशेष सँवारकर सुन्दर बनाया है॥ मंदिर सुन्दर मनोहर और विस्तृत हैं। आँगन सुन्दर स्फटिक मणियों के बने हुए हैं। प्रत्येक द्वार में बहुत-से एवं बहुत प्रकार के हीरों से अच्छी तरह जड़े हुए सोने के किवाड़े लगे हुए हैं॥ घर-घर सुन्दर चित्रशालाएँ हैं। जिनमें अच्छी तरह सँवार कर श्रीरामचरित लिखे हैं, जो मुनि देखते हैं, उनके मन को ये चरित्र-चित्र चुरा लेते हैं, अर्थात् चरित-चित्र लिखे हुए नहीं जान पड़ते ; किन्तु साक्षात्-से लगते हैं, इससे उनका मन मुग्ध हो जाता है।

विशेष—'बिरंचि बिरची'—रंग-बिरंग के रत्नों से जटित दीवारें हैं, उनमें कहीं जोड़ आदि नहीं जान पड़ते, मानों ऐसी ही रचना संकल्प मात्र से ब्रह्माजी ने की है। ब्रह्माजी की रचना कहकर अलौकिक एवं अतिशय सौन्दर्य कहा है, वस्तुतः श्रीअयोध्या की रचना तो ब्रह्माजी के विचार से भी बाहर है। ऊपर चौ० २ में प्रमाण दिया गया है। अवतार काल में नित्य धाम की विभूति का ही पूर्णाविर्भाव होता है ; यथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरइ,···सगुन उपासक संग तहँ रहहिं···" (कि० दो० २६); यहाँ पर 'मुनिवर मन नाँचा' 'जे निरख मुनि' आदि कई बार आये हैं, क्योंकि यहाँ मुनियों की दृष्टि से वर्णन का उपक्रम हुआ है—"नारदादि··" और आगे 'सो पुर बरनि कि जाइ' पर उपसंहार है।

सुमन वाटिका सबहि लगाई। विविध भाँति करि जतन बनाई ॥१॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाईं ॥२॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिविधि सदा बह सुंदर ॥३॥
नाना खग बालकन्हि जियाये। बोलत मधुर उड़ात सुहाये ॥४॥

अर्थ—सभी लोगों ने तरह-तरह के फूलों की वाटिकाएँ अनेकों प्रकार से यत्न करके बनाकर लगाई हैं ॥१॥ बहुत जाति की ललित सुहावनी वेलें सदा वसन्त की तरह फूला करती हैं ॥२॥ भौंरे मन हरण करनेवाले शब्द गुंजार रहे हैं, तीनों प्रकार की सुन्दर वायु सदा चला करती है ॥३॥ बालकों ने अनेक पत्ती पाले हैं जो मधुर शब्द बोलते हैं और उड़ते हुए सुन्दर लगते हैं ॥४॥

विशेष—'सुमन वाटिका···'—वाटिका सभी लगाये हुए हैं,क्योंकि सबके घरों में देवपूजन होता है। 'बिविध भाँति···'—यत्न उनके बढ़ाने और रक्षा के उपाय—सींचना, तारो लगाना आदि। तथा एक पेड़ में और कई फूलों के रंग कर देने के भी बहुत यत्न हैं, वे सब आ गये। 'लता ललित बहु जाति···' वृक्षों के अनुरूप रंगवाली लताएँ उनपर चढ़ाई गई हैं, वे सदा ही वसन्त की तरह फूला करती हैं, यह भी उपर्युक्त यत्नों में से एक यत्न है।

(२) 'गुंजत मधुकर···'—वाटिका कहकर यहाँ उसके आश्रित को कहते हैं। मनोहर का मधुर अर्थ में तात्पर्य है, मधुरता में ही भौंरों की गुंजार की शोभा है; यथा—"मधुप मधुर गुंजत छवि लहहीं।"

'मारुत त्रिविध सदा वह'—अन्यत्र कभी-कभी त्रिविध वायु बहती है, पर यहाँ सदा बहती है। 'बसंत की नाईं'—'की' को ह्रस्व पढ़ना चाहिये। 'नाना खग बालकन्हि···'—यह बालकों का ही व्यसन है।

मोर हंस सारस पारावत। भवननि पर सोभा अति पावत ॥५॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं ॥६॥
सुक-सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन-पालक ॥७॥
राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू ॥८॥

अर्थ—मोर, हंस, सारस और कबूतर घरों के ऊपर अत्यन्त शोभा पाते हैं (बोली, नृत्य और उड़ान से शोभा पाते हैं) ॥५॥ पक्षिगण जहाँ-तहाँ (मणिमय गची एवं दीवारों में) अपना प्रतिबिंब देखकर (अपना सजातीय दूसरा पक्षी जानकर उससे) बहुत प्रकार बोलते और नाचते हैं ॥६॥ बालक लोग तोता-मैना को पढ़ाते हैं कि जीव मात्र के एवं अपने जनों के पालन करनेवाले रघुकुल के राजा का 'राम' नाम कहो (अथवा 'राम रघुपति जन पालक' ऐसा कहो) ॥७॥ राज द्वार सब प्रकार सुन्दर है, गलियाँ, चौराहे और बाजार सुन्दर हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'सोभा अति पावत' पहले 'उड़ात सुहाये' कहा गया था, अब उनमें कुछ के नाम कहते हैं कि मोर आदि भवनों पर बैठते हैं तो अत्यन्त शोभा पाते हैं, क्योंकि उड़ने में उतनी शोभा नहीं देख पड़ती। भवनों पर मणियों में प्रतिबिंब भी पड़ता है, तो शोभा बढ़ जाती है। 'सुक सारिका···'

वर्णात्मक वाणी इन्हीं दो पक्षियों की होती है। 'राम' मात्र से निर्गुण का भी संदेह रहता, इससे 'रघुपति' भी कहा, फिर उनके गुणों का सारांश भूत गुण 'जन पालकता' को कहा। इस तरह पक्षियों को भी रामायण पढ़ाते हैं। बालकों का स्वाभाविक प्रेम श्रीरामजी में है।

(२) 'राज दुआर ' '— अब नारदादि राज द्वार तक देखते हुए पहुँच गये। जब पुर की सुरसंपदा आदि को सहस्र शेष नहीं कह सकते तो यह तो राज-द्वार है, इसका क्या कहना है? यथा—"सोभा दसरथ भवन कै, को कवि बरनै पार।" (बा० दो० २९७)।

छंद—बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥

दोहा—उत्तर दिसि सरजू बह, निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर, स्वल्प पंक नहिं तीर॥२८॥

अर्थ—बाजार सुन्दर है, उसका वर्णन करते नहीं बनता, वस्तु बिना मूल्य मिलती है। जहाँ लक्ष्मीपति राजा हैं वहाँ की सम्पत्ति कैसे कही जा सकती है? अनेकों बजाज (कपड़ा बेचनेवाले), सराफ (सोना, चाँदी, मणि आदि के व्यापारी), वणिक (अन्न, किराना आदि के व्यापारी) बैठे हुए ऐसे जान पड़ते हैं मानों वे कुबेर (समस्त धन के अधिष्ठातृ देवता) ही हैं। स्त्री-पुरुष, बच्चे, बूढ़े जो भी हैं, वे सब सुखी हैं, सब सदाचारी हैं और सब सुन्दर हैं॥ नगर की उत्तर दिशा में श्रीसरयूजी बह रही हैं, उनका जल निर्मल और गंभीर (अथाह-गहरा) है। सुन्दर घाट बने हुए हैं, किनारे पर थोड़ा भी कीचड़ नहीं है॥२८॥

विशेष—(१) राज-द्वार के पास ही चौक है, इससे साथ कहा गया। बाजार बड़ा सुन्दर है, वहाँ सब चीजें मिल सकती हैं, पर बिना दाम के ही मिलती हैं। यह आजकल की दृष्टि से अद्भुत बात है। आजकल का अर्थ-शास्त्र स्वार्थ पर निर्भर है। इससे सिक्के (दाम) से ही वस्तुओं का मिलना होता है। यह तो राम-राज्य था, धर्म पर ही अवलंबित था, सभी अपने वर्णाश्रम धर्म पर अवलंबित थे। वहाँ साम्यवाद नहीं था और न कंगाल और धनियों का वैषम्य ही था। राजा के शासन और धर्म शास्त्र की दृष्टि से लोग चलते थे। धर्म-शास्त्र की आज्ञा है—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥" (गीता १८।४६) : अर्थात् जिस परमात्मा के द्वारा जीवों की संसार में प्रवृत्ति हुई और जिससे सब जगत् व्याप्त है। अपने कर्म से उसे पूजकर मनुष्य सिद्धि पाता है। भाव यह है कि परमात्मा ने जीवों के पूर्व कर्मानुसार मनुष्यों को अमुक-अमुक जातियों में पैदा किया है, साथ ही शास्त्रों द्वारा उन जातियों का विहित कर्म उनके लिये कर्त्तव्य कहा है, यह उसकी आज्ञा है। पुनः उन कर्मों के द्वारा जिन-जिनकी पूजा होती है, उन सबमें भी वही व्याप्त है। अतः, वह पूजा उसीकी होती है। जीव अपने-अपने कर्मों से उसे पूजकर सिद्धि पाते हैं। सिद्धि को वहीं पर आगे 'नैष्कर्म्य सिद्धि' भी कहा है। जिसका अर्थ है—चित्त में पूर्ण संतोष आ जाना और संसार के किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति न रह जाना।

यही भगवान् का जीवों को जगत् के ऋणों से मुक्त करना है। फिर आगे—"सिद्धिं प्राप्तो···ब्रह्म भूयाय कल्पते।" तक ज्ञान की परानिष्ठा कहकर—"ब्रह्मभूता प्रसन्नात्मा···" इस श्लोक में परा भक्ति कही गई है और फिर—"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।···" इसमें भक्ति से ही सम्यक् प्रकार से अपनी प्राप्ति भगवान् ने कही है।

इसका मूलमंत्र भगवान् ने पहले ही कह दिया है—"स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" (गीता १८।४५); अर्थात् अपने-अपने कर्म पर आरूढ़ लोग सम्यक् सिद्धि को पाते हैं।

बस, इसीके लिये राजा का शासन था और भव-सागर तरने का यह राज-मार्ग प्रजा-मात्र को अभीष्ट था। इस नियम के विरुद्ध चलने से शम्बूक शूद्र को श्रीरामजी ने कड़ा दंड दिया था, क्योंकि वह शूद्र होते हुए ब्राह्मण के कर्म पर आरूढ़ था, जो वैदिक कानून के विरुद्ध था, इसीसे कानून भंग का कड़ा दंड दिया गया कि जिससे फिर कोई वैसा करने का साहस न करे। नहीं तो कर्त्तव्य-परायणता नष्ट हो जायगी। यही श्रीरामजी का 'श्रुति सेतु रक्षकत्व' है।

अब मैं अपने प्रस्तुत प्रसंग के—'वस्तु बिनु गथ पाइये' पर आता हूँ। उक्त नियम से उस समय प्रजा में पाँचों अँगुलियों का-सा तारतम्य था। ब्राह्मण तपोधन होते थे, क्षत्रिय रक्षा करते थे, शूद्र सेवा करते थे और वैश्य सबके भरण-पोषण का प्रबन्ध करते थे। वैश्य लोग बिना दाम वस्तु देते थे और साथ ही बिना दाम ही शिक्षा, रक्षा और परिचर्या पाते थे। वैश्य भी बिना दाम के किसानों से वस्तु पाते थे, जोलाहों से कपड़ा इत्यादि सब बिना दाम के ही पाते थे।

इस तरह राम-राज्य धर्म-शास्त्र के परमार्थवाद पर अवलंबित था। ऐसी व्यवस्था में कोई भी दरिद्र और कर्त्तव्य हीन नहीं रहता था, इसी पर तो कहा है कि 'रमा निवास' भूप की सम्पदा अवर्ण्य थी। उक्त नियम के कारण ही कुबेर के समान भी धनवान् होते हुए महाजन लोग दूकान का काम करते थे।

(२) 'सब सुखी···'—सब सुखी थे, पर प्रमाद नहीं हो पाता था, क्योंकि 'सचरित' भी होते थे। ऐसे राम-राज्य में कोई भी दोष कहीं भी किसी प्रजा में नहीं था।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजिगज ठाटा ॥१॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना ॥२॥
राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर ॥३॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्हके उपबन सुंदर ॥४॥

अर्थ—दूर, सबसे अलग और विस्तृत सुन्दर वह घाट है। जहाँ घोड़े और हाथियों के समूह जल पीते हैं ॥१॥ पानी भरनेवाले जनाने घाट अनेकों हैं, वे परम सुन्दर हैं, वहाँ पुरुष स्नान नहीं करते हैं ॥२॥ राजघाट सब प्रकार सुन्दर और श्रेष्ठ है जहाँ चारों वर्णों के लोग स्नान करते हैं ॥३॥ श्रीसरयूजी के तीर-तीर देवताओं के मंदिर हैं उनके चारों ओर सुन्दर उपवन हैं ॥४॥

विशेष—'दूरि फराक'—यह शहर से बाहर बहुत विस्तृत है कि बहुत-से हाथी-घोड़े आदि आ जा सकें। 'पनिघट···नाना'—प्रत्येक महल्ले के अनेक पनिघट हैं। पुरुषों के स्नानार्थ पृथक् घाट है, उसे राजघाट नाम से आगे कहा गया है। 'तीर-तीर देवन्ह···'—'देवन्ह' से यहाँ पंचदेव एवं और भी देवताओं

को कहा है। गृहस्थों में स्मार्त धर्म प्रधान रहता है, वैसे अयोध्या वासियों में भी है, पर ये सबको पूजकर राम प्रेम ही माँगते हैं; यथा—"करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमा-रमन-पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥" (अ० दो० १७२)। मंदिरों के पास ही उपवन हैं, जिनमें पूजा के लिये सुन्दर फूल-फल मिल सकें। तात्पर्य यह कि सब श्रीसरयूजी के घाट पर स्नान कर देव-पूजन करके और कार्य में लगें।

कहुँ कहुँ सरिता-तीर उदासी। बसहिं ज्ञानरत मुनि - संन्यासी ॥५॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद - बृंद बहु मुनिन्ह लगाई ॥६॥
पुर-सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई ॥७॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा ॥८॥

अर्थ—कहीं-कहीं नदी के किनारे उदासी, मुनि और संन्यासी निवास करते हैं, जो ज्ञान में रत (लगे रहते) हैं ॥५॥ सुन्दर तुलसी वृक्ष के झुंड-के-झुंड बहुत-से मुनियों ने श्रीसरयूजी के तीर-तीर पर लगाये हैं ॥६॥ (जहाँ) नगर के बाहर परम सुन्दरता है (वहाँ) पुर की शोभा तो कुछ कहते ही नहीं बनती ॥७॥ श्रीअयोध्यापुरी के दर्शनों से निश्शेष (सम्पूर्ण) पाप भाग जाते हैं, वन, उपवन, बावली और तालाब (शोभा दे रहे हैं) ॥८॥

विशेष—(१) 'कहुँ कहुँ ···'—उदासी आदि ये एकान्तवासी होते हैं, इसीसे नगर के पास कहीं-कहीं हैं, यहाँ तो अधिक रामोपासक ही बसते हैं। 'ज्ञान रत'—यहाँ ज्ञानी कहे गये। "तीर तीर देवन्ह के मंदिर।···" के प्रसंग में उपासकों का वर्णन है, क्योंकि देवाराधन उपासना है और "मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।" यह कर्मकांड की व्यवस्था है। इस तरह यहाँ वैदिक कांडत्रय के स्वरूप दिखाये गये हैं।

(२) 'तीर तीर तुलसिका सुहाई।···'—'बहु मुनिन' से यहाँ उपासक मुनि कहे गये हैं, ये श्रीअयोध्यापुरी के सम्बन्ध से बहुत हैं, इनके भगवत्-पूजन के पदार्थों में तुलसी मुख्य है, इससे उसे लगाये हुए हैं।

'पुर सोभा कछु ···'—यहाँ तक भीतर की शोभा कही गई। आगे बाहर की शोभा कहते हैं।

'देखत पुरी अखिल ···'—ऊपर सुन्दरता कथन में नगर कहा और पाप नाशक कहने में पुरी (तीर्थ वाचक) शब्द कहा है। क्योंकि नगर की सुन्दरता और तीर्थ की पावनता सराही जाती है: यथा—"पहुँचे दूत राम पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥" (बा० दो० २८६); तथा—"कपिन्ह देखावत नगर मनोहर॥···पावनि पुरी रुचिर यह देसा॥" (दो० ३)। 'देखत' भाव यह कि बाहर से दर्शन होते ही पाप भाग जाते हैं और भीतर प्रवेश करने पर क्रमशः कल्याण गुण आने लगते हैं।

छंद—बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर-मुनि मोहहीं।
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं॥

दोहा—रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा, रहीं अवध सब छाइ ॥२९॥

अर्थ—बावलियाँ, तालाब और कुएँ सब जल भरे एवं उपमा रहित, मनोहर और चौड़े हैं, शोभा दे रहे हैं। सीढ़ियाँ सुंदर हैं, सबमें जल निर्मल है, देखकर देवता और मुनि मोह जाते हैं॥ (तालाबों में) बहुत रंग के अनेकों कमल (खिले) हैं, अनेक पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं। बाग रमणीक हैं, उनमें कोयल आदि पक्षी शब्द करते हैं, मानों वे बोल कर राह चलनेवालों को बुलाते हैं (भाव यह कि मधुर शब्द सुनने के लिये पथिक लौटकर उधर आ जाते हैं)॥ रमा के स्वामी जहाँ राजा हैं, वह नगर क्या वर्णन किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ, सुख और संपत्ति (नवो निधियाँ) सब श्रीअवध में छा रही हैं (कि रमानाथ राजा हैं, जिनके आश्रित ही हमारी सत्ता है, सो हम कहाँ जायँ) ॥२९॥

विशेष—(१) 'अनूप' जलप्राय देश एवं अधिक जल स्थल को भी कहते हैं ; यथा—"देखि मनोहर सैल अनूपा।" (कि० दो० १२) ; उस पर्वत का नाम ही प्रवर्षण था। 'सुर-मुनि'—सुर प्रवृत्ति-वाले स्वर्गवासी हैं और मुनि निवृत्तिवाले हैं, दोनों ही मोह जाते हैं, क्योंकि इसमें सुन्दरता और पावनता दोनों हैं और अलौकिकता तो है ही।

(२) 'बहु रंग कंज···'—इसमें 'खग' से जल पक्षी कहे गये हैं, क्योंकि इनका कमल के साथ वर्णन है और 'आराम रम्य' के साथ 'पिकादि खग' बाग आदि स्थल के पक्षी हैं।

(३) 'तड़ाग'—सूर्यकुंड, विद्याकुंड, हनुमान्कुंड, वसिष्ठकुंड, सीताकुंड आदि। 'कूप'—सीता-कूप, सरयूकूप आदि।

(४) 'अनिमादि'—बा० दो० २१ चौ० ४ देखिये। नव निधियाँ—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील और वर्च्च।

'जात रूप मनि रचित अँटारी।'— से यहाँ तक ३ दोहों में पुर-वर्णन हुआ।

पुरजनों का राम-गुण-गान

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहइ सिखावहिं ॥१॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा-सील-रूप-गुन धामहि ॥२॥
जलज-बिलोचन श्यामल गातहि। पलक नयन इव सेवक त्रातहि ॥३॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि। संत-कंज-बन-रवि रनधीरहि ॥४॥

अर्थ—मनुष्य जहाँ-तहाँ श्रीरामजी के गुण गाते हैं, बैठकर एक दूसरों को यही सिखाते हैं ॥१॥ कि शरणागत को पालन करनेवाले श्रीरामजी को भजो। शोभा, शील, रूप और गुणों के धाम श्रीरामजी को भजो ॥२॥ कमल-नयन, श्यामल शरीर, पलक नेत्र की तरह सेवक की रक्षा करनेवाले श्रीरामजी

को भजो ॥३॥ सुन्दर धनुष, बाण और तर्कश धारण करनेवाले, संत रूपी कमल वन के सूर्य रूप, रण धीर श्रीरामजी को भजो ॥४॥

विशेष—(१) 'बैठि परस्पर ···'—श्रीरामजी में अतिशय प्रेम होने के कारण परस्पर ऐसी शिक्षा देते हैं। शिक्षा रूप में ही गुणगान करते हैं।

(२) 'भजहु प्रनत ···'—श्रीरामजी में शरण्य गुण प्रधान हैं, इसी से इसे पहले कहा; यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० ११८), यही सुनकर बालक लोग भी शुक-सारिकाओं को पढ़ाते हैं, यथा—"सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन पालक॥" (दो० २७), 'सोभा सील रूप गुन धामहि'—उपर्युक्त 'भजहु' क्रिया आगे के सब पदों के साथ है। शोभा; यथा—"राम सीय सोभा अवधि" (बा० दो० ३०६), सील—"सीलसिंधु सुनि गुरु आगवनू।" (अ० दो० २४२), रूप—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा।" (बा० दो० ११८), गुन—"गुन सागर नागर वर वीरा।" (बा० दो० २४०), शोभाधाम श्रीरामजी के ध्यान करने से और सब फीके लगेंगे, यथा—"देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ।" (बा० दो० ११२), शील गुण से सेवकों के दोष नहीं देखते और भक्तों के थोड़े से भजन से उनके हाथ बिक जाते हैं। रूपवान् हैं, क्योंकि नित्य किशोरावस्था में ही रहते हैं, अंग-अंग की गढ़नि सुडौल है। गुणधाम हैं, उनके स्मरण से अनुराग बढ़ेगा, यथा—"समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ॥" (वि० १००)।

(३) 'जलज बिलोचन स्यामल गातहि।'—इन विशेषणों से सेवकों का रक्षकत्व प्रकट करते हैं; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७)। "स्यामल गात प्रनत भय मोचन।" (सु० दो० ४४)। 'पलक नयन इव सेवक त्रातहि', यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥" (अ० दो० १४१), इसके साथ ही 'धृत सर ···' कहा है, भाव यह कि भक्त-रक्षार्थ आयुध सहित सावधान रहते हैं। 'रुचिर' का भाव यह कि ये आयुध भी आपके शृंगाराग हैं। 'संत कंज बन रवि', यथा—"उदित उदय गिरि मंच पर, रघुपति बाल पतंग। बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥" (बा० दो० २५४)। 'रन धीरहि'—आश्रितों की रक्षा के लिये मोहादि के निवारण में धीरता सहित सावधान रहते हैं। असुरों को मारकर संतों को प्रफुल्लित करते हैं।

> काल कराल ब्याल खगराजहि। नमत राम अकाम ममता-जहि ॥५॥
> लोभ-मोह मृग-जूथ किरातहि। मनसिज-करि-हरि जन सुखदातहि ॥६॥
> संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि ॥७॥
> जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भव-भीरहि ॥८॥

शब्दार्थ—जहि (जहन)=नाश करना, त्याग करना। निबिड़=सघन।

अर्थ—काल रूपी कराल सर्प के (भक्षण करने के) लिये श्रीराम रूपी गरुड़ को भजो। निष्काम होकर भजन करते ही ममता के नाश करनेवाले श्रीरामजी को भजो ॥५॥ लोभ, मोह रूपी मृग समूह के (नाश के) लिये श्रीराम रूपी किरात को भजो। कामदेव रूपी हाथी के लिये सिंह रूप जन को सुख देनेवाले श्रीरामजी को भजो ॥६॥ संशय और शोक रूपी सघन अंधकार के लिये श्रीरामरूप सूर्य को भजो। राक्षस रूपी सघन वन को जलानेवाले श्रीराम रूपी अग्नि को भजो ॥७॥ भव-भय के नाश करनेवाले श्रीजनकसुता के साथ श्रीरघुवीर को क्यों नहीं भजते? ॥८॥

विशेष—(१) 'लोभ-मोह' को मृग कहा और 'मनसिज' को हाथी कहकर उसे सबों से भारी जनाया। संशय-शोक हृदय के और दनुज बाहर के विकार हैं। 'काल कराल व्याल', यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (सु० दो० २१), "काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।" (दो० २१)। 'ममत···ममता जहि'—विभीषणजी की ममता शरण होते ही चली गई; यथा—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥" (सु० दो० ४८), ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी ने भी कहा है—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परि हरि करिहउँ सेवकाई॥" (कि० दो० ७), 'मनसिज करि हरि' नारदजी की काम से रक्षा की। श्रीभरतजी के संशय और शोक नाश किये, इत्यादि।

(२) 'जनकसुता समेत ···'—श्रीजानकीजी निर्मल मति देकर जीवों में रक्षा पाने की योग्यता देती हैं, तब श्रीरामजी उसकी भव-भीर से रक्षा करते हैं, यथा—"जनकसुता जग जननि जानकी। ··जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥ पुनि मन बचन रघुनायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७) 'समेत' कहकर दोनों का नित्य संयोग सूचित किया। 'कस न भजहु'—यह उत्साह बढ़ाते हैं।

बहु बासना मसक हिम-रासिहि। सदा एकरस अज अबिनासिहि॥९॥
मुनिरंजन भंजन महि-भारहि। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥१०॥

दोहा—येहि बिधि नगर-नारि-नर, करहिं राम-गुनगान।
सानुकूल सब पर रहहिं, संतत कृपानिधान॥३०॥

अर्थ—बहुत सी वासनाओं रूपी मच्छड़ों के लिये श्रीराम रूपी बर्फ-समूह को, सदा एक रस अज अविनाशी को, मुनियों को आनन्दित करनेवाले और पृथिवी के भार हरनेवाले, तुलसीदास के उदार प्रभु को भजो॥९-१०॥ इस प्रकार नगर के स्त्री-पुरुष श्रीरामजी के गुण गाते हैं और वे दयासागर सबपर सदा अनुकूलता सहित (प्रसन्न) रहते हैं॥३०॥

विशेष—(१) 'बहु बासना मसक हिम-रासिहि', यथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥" (सु० दो० ४८), 'सदा एकरस ·'—और स्वामी थोड़े ही में शीतल और थोड़े ही में गर्म होते हैं। पर ये सदा एक रस रहते हैं। पुन अज अविनाशी होते हुए तीनों काल में एक रस रहते हैं, यथा—"जो तिहुँ काल एक रस अहई।" (बा० दो० ३४०), "आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी।" (वि० ७८), 'मुनि रंजन', यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥" (आ० दो० ६), 'प्रभुहि उदारहि'—सब कुछ देने में समर्थ हैं, यथा—"जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।" (आ० दो० ४१), तुलसीदास को भी अपना लिया यह भी उदारता है। पुरवासियों के मुख से अपना भविष्य नाता पुष्ट करने में भाविक अलंकार है।

(२) 'येहि बिधि नगर '—उपक्रम में—'नर रघुपति गुन गावहिं' कहा था, पुन गुण-गान की विधि एक दोहे में कहते हुए यहाँ 'करहिं राम-गुन-गान' पर उपसंहार किया। 'सब पर'—जो गुण-गान नहीं भी करते उनपर भी अनुकूल ही रहते हैं, जैसे कि "सिय निंदक अघ ओघ नसाये। " (बा० दो० १५), यह अनुकूलता की सीमा है। 'कृपानिधान'—अपनी कृपा से ही भजन करवाकर स्वयं प्रसन्न होते हैं, यथा—"अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई॥" (दो० १२८)।

श्रीराम-प्रताप-सूर्य

जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥१॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका ॥२॥
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी ॥३॥

अर्थ—हे गरुड़! जब से राम प्रताप रूपी अत्यन्त प्रचंड सूर्य उदय हुआ ॥१॥ तब से तीनों लोक प्रकाश पूर्ण हो गये, उससे बहुतों के मन में शोक हुआ और बहुतों को सुख हुआ ॥२॥ जिन्हें शोक हुआ उन्हें बखान कर कहता हूँ। पहले तो अविद्या रूपी रात का नाश हुआ; अर्थात् सबके अज्ञान का नाश हो गया ॥३॥

विशेष—(१) यहाँ से श्रीरामजी के प्रताप का वर्णन सूर्य के रूपक से करते हैं—

(२) *'अति प्रबल दिनेसा'*—सूर्य प्रबल है और प्रताप अति प्रबल है। सूर्य बाहर का तम नाश करता है, यह प्रताप भीतर का अज्ञान तम नाश करता है।

(३) 'पूरि प्रकास रहेउ'—सूर्य का प्रकाश अस्त भी होता है, पर यह प्रताप सदा एक रस प्रकाशित रहता है। सूर्य का प्रकाश एक ही काल में सर्वत्र नहीं रहता, पर प्रताप का प्रकाश एक ही काल में तीनों लोकों में फैला हुआ है। सूर्य के प्रकाश से बहुतों को सुख और बहुतों को शोक होता है, वैसे ही श्रीराम-प्रताप से भी होता है, वही कहते हैं—

(४) *'जिन्हहिं सोक ते कहहुँ बखानी'*—उत्तम बातों को पीछे कहना चाहिये, जिससे परिणाम में हर्ष रहे। इसलिये शोकवालों को पहले कहते हैं। तम कहकर प्रकाश कहने की रीति है, क्योंकि तम निवृत्ति के लिये प्रकाश की प्रवृत्ति होती है और उसीके नाश करने में उसके प्रभाव का ज्ञान होता है। विरोधी स्वरूप का ज्ञान पहले अर्थ पंचक में भी कहा जाता है। यहाँ से अविद्या आदि १२ को विरोधी वर्ग में कहते हैं। अविद्या माया वही है जिसे आ० दो० १४ में कहा गया है।

अघ-उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥४॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ये चकोर सुख लहहिं न काऊ ॥५॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्हकर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥६॥

अर्थ—(अविद्या नाश होने से) पाप-रूपी उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये (अर्थात् लोगों में पाप की प्रवृत्ति नहीं रह गई) और काम, क्रोध रूपी कुई पुष्प सिकुड़ गये (अर्थात् काम-क्रोध की प्रवृत्ति में लोगों को संकोच होता था) ॥४॥ अनेक कर्म, गुण, काल और स्वभाव, ये सब चकोर हैं जो कभी सुख नहीं पाते (क्योंकि अविद्या रात अब नहीं है) ॥५॥ मत्सर, मान, मोह और मद रूपी चोरों का हुनर (गुण) किसी भी दिशा में नहीं चल पाता (ये दोष किसी में प्रवेश नहीं कर पाते; क्योंकि सबके हृदय में राम प्रताप है) ॥६॥

विशेष—(१) पहले अविद्या का नाश कहकर तब उसके परिवार का नाश कहते हैं, उल्लू रात

में सुख पाते हैं, वैसे पाप भी अविद्या में ही होते हैं। अब राम-प्रताप रूप सूर्य के सम्मुख दृष्टि भी नहीं कर सकते। काम-क्रोध की प्रफुल्लता गई। विविध कर्म—कायिक, वाचिक और मानसिक एवं राजस, तामस आदि भेदों से नाना प्रकार के कर्म, और गुण काल, स्वभाव आदि जीवों के दुःख दाता हैं; यथा—"काल कर्म गुन सुभाव सब के सीस तपत।" (वि० १३०); चकोरों का सुख चन्द्रमा के सम्बन्ध से रहता है। पर यहाँ मन रूपी चन्द्रमा राम-प्रताप रूपी सूर्य के समक्ष में मंद पड़ गया है, प्राकृत चेष्टा रूपी किरणें नहीं फैलतीं। मन की स्वतंत्रता मिट गई है। सबका मन अधीन है।

(२) 'मत्सर मान मोह मद चोरा।...'—ये सत्यता से छिपकर प्रवृत्त होते हैं, इसलिये चोर कहे गये हैं। चोरी भी भारी कला है, बड़ा हुनर है। परन्तु राम-प्रताप सूर्य के उदय में इनकी कला काम नहीं देती; यथा—"काम कला कछु मुनिहि न व्यापी।" (बा० दो० १२५)। 'कवनिहुँ ओरा'—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इनमें से किसीके द्वारा इनका प्रवेश नहीं होता।

धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ये पंकज विकसे बिधि नाना ॥७॥
सुख संतोष बिराग बिवेका। बिगत सोक ये कोक अनेका ॥८॥

दोहा—यह प्रताप-रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास ॥३१॥

अर्थ—धर्म रूपी तालाब में ज्ञान और विज्ञान रूपी अनेक प्रकार के कमल खिल उठे हैं ॥७॥ सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक रूपी अनेक चक्रवाक शोक-रहित हो गये ॥८॥ यह राम-प्रताप रूपी सूर्य जिसके हृदय में जब प्रकाश करता है, तब (धर्म, ज्ञान आदि) जिन्हें पीछे कहा है, वे बढ़ते हैं और (अविद्या आदि) जिन्हें प्रथम कहा है, वे नाश को प्राप्त होते हैं ॥३१॥

विशेष—(१) 'धरम तड़ाग···'—तालाब में कमल उपजते हैं, वैसे ही धर्म करने से ज्ञान-विज्ञान आदि होते हैं। कमल चार प्रकार के होते हैं, वैसे ज्ञान आदि के भी कई भेद हैं। सुख, संतोष आदि अविद्या रात के नाश से शोक रहित हो गये हैं।

(२) 'यह प्रताप-रवि···'—'जाके' और 'जब' का भाव यह कि कोई भी हो और कोई भी समय हो। प्रताप रवि के लिये कोई नियम नहीं है। प्राणी मात्र इसका अधिकारी है और सभी समयों में इसकी प्रवृत्ति है।

यहाँ प्रताप के ध्यान का माहात्म्य कहा गया, क्योंकि राज्य-लीला का पूर्व चरित समाप्त हो गया। आगे सत्संग आदि के रूप में राज्य-लीला का उत्तर चरित कहते हैं। अभी तक भुशुंडि-संवाद प्रधान था, अब आगे शिव-पार्वती-संवाद प्रधान है।

सनकादिक-समागम

भ्रातन्ह-सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवन-कुमारा ॥१॥
सुंदर उपवन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये ॥२॥

विशेष—(१) 'रूप धरे जनु ···'—चारों वेदों के अभिप्राय इन्हें सब ज्ञात हैं, इससे वेद रूप कहे गये, यथा—"जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा।" (बा॰ दो॰ १११), इससे इनका पांडित्य और ज्ञान कहा गया।

'समदरसी मुनि ···'—सब प्राणि-मात्र में आत्म तत्त्व को समान देखते हैं; यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥" (गीता ६।३२), "विद्या विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥" (गीता ५।१८); 'बिगत बिभेदा'—जीव मात्र भगवान् के ही शरीर हैं और मैं भी, यह समझ कर—एक शरीर मे स्थित हस्तपादादि में जैसे वैमत्य नहीं होता—वैसे इनका प्राणि-मात्र से भेद-भाव नहीं होता।

(२) 'आसा बसन ···'—देह सुख मे इन्द्रियों का सपर्क नहीं है, दिगम्बर हैं, पर यह बडा भारी व्यसन पड गया है कि जहाँ राम चरित हो, वहीं सुनते हैं, चाहे वक्ता कोई एव कैसा भी हो। यह व्यसन उत्तम है, यथा—"राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं॥" (दो॰ ५२); चरित-श्रवण भक्ति है, इससे ब्रह्मानंद एक रस निर्बाध बना रहता है, अन्यथा विघ्न होने का भय है, जैसे कपिल देव को सगर पुत्रों पर और लोमश को भुशुंडी पर क्रोध हो आया।

तहँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी ॥७॥
राम-कथा मुनिवर बहु बरनी। ज्ञान-जोनि पावक जिमि अरनी ॥८॥

दोहा—देखि राम मुनि आवत, हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीतपट, प्रभु बैठनह कहँ दीन्ह ॥३२॥

अर्थ—हे भवानी! सनकादिक मुनि वहाँ थे जहाँ ज्ञानी मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्यजी थे ॥७॥ मुनि-श्रेष्ठ ने श्रीराम-कथा बहुत कही, जो ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली है जैसे अरणी लकड़ी अग्नि पैदा करनेवाली होती है ॥८॥ मुनियों को आते देखकर (कुछ दूर से ही) श्रीरामजी ने हर्ष-पूर्वक दडवत् की। स्वागत पूछकर प्रभु ने अपना पीताम्बर उन्हें बैठने के लिये (बिछा) दिया ॥३२॥

विशेष—(१) 'तहँ रहे सनकादि ···'—श्रीअगस्त्यजी बराबर अपने यहाँ कथा कहा करते हैं। वहीं पर सनकादि थे। जब कथा में सुना कि इस समय श्रीरामजी उपवन में विराजे हैं और अभी कुछ दिन शेष है। एकान्त अवसर भी है, तब आये। 'मुनिवर ज्ञानी'—सनकादिक ज्ञानी हैं, उनके प्रति कथा के द्वारा ज्ञान का निरूपण करेंगे, इससे ज्ञानी कहा है। सनकादि भी मुनिवर कहे जाते हैं, यथा—"नारदादि सनकादि मुनीसा।" (दो॰ २६), "सुक सनकादि ··जे मुनिवर ··" (बा॰ दो॰ १७); पर यहाँ श्रोता बन के आये थे, इससे वे 'मुनि' कहे गये और ये 'मुनिवर', क्योंकि वक्ता हैं।

(२) 'ज्ञान-जोनि पावक जिमि अरनी।'—अरणी लकडी के परस्पर रगड़ने से अग्नि प्रकट होती है। वैसे ही कथा के श्रवण-मनन से ज्ञान होता है। कथा के द्वारा ज्ञान प्रकट करने का भाव यह कि सनकादिक ज्ञानी हैं और कथा के व्यसनी हैं। अतः, उनके अनुकूल कहा। पुन. लकड़ी और अग्नि दो पदार्थ नहीं हैं। अग्नि संसर्ग से सब लकड़ी अग्नि ही हो जाती है। वैसे ही ज्ञान-दृष्टि से विचारने पर सारी

अर्थ—एक बार भाइयों के साथ श्रीरामजी परम प्रिय श्रीहनुमान्‌जी को संग लिये हुए सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँ के सब वृक्ष फूले हुए और नवीन पत्तों से युक्त थे ॥१-२॥

विशेष—(१) 'परम प्रिय'—श्रीहनुमान्‌जी भाइयों से भी अधिक प्रिय हैं, यथा—"अनुज राज सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना ॥" (शे० १५), श्रीहनुमान्‌जी ने सपरिवार श्रीरामजी को सेवा से वश कर रक्खा है, इसीसे ये परम प्रिय हैं, यथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मि० ७।४०।२३ २४), अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी से कहा—हे वानर! तुम्हारे उपकारों में से एक एक उपकार के लिये हम अपने प्राण दे सकते हैं और शेष उपकारों के लिये हम तुम्हारे ऋणी रहेंगे। तुम्हारे कृत उपकार हमारे शरीर में ही पच जायँ, क्योंकि प्रत्युपकार का समय है उपकारी का दुखी होना।

'पवन-कुमारा'—भाव यह कि ये पवन के समान बुद्धि विवेक और विज्ञान के निधान हैं।

(२) 'सब तरु कुसुमित '—वसन्त ऋतु चैत का समय है, इसीसे उपवन देखने चले, कहा भी है—'चैत्रे तु भ्रमणं पथ्यम्।'

जानि समय सनकादिक आये। तेज-पुंज गुन सील सुहाये ॥३॥
ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना ॥४॥

अर्थ—अच्छा समय (अवसर) जानकर सनकादिक (चारों भाई) मुनि आये, जो तेज राशि (तेजस्वी) हैं और गुणों और शील स्वभाव से शोभित हैं ॥३॥ सदा ही ब्रह्मानन्द में लवलीन रहते हैं (ब्रह्म में एक रस लय लगी रहती है) देखने में बालक हैं, परन्तु बहुत काल के हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जानि समय '—यों तो दर्शनों के लिये प्रतिदिन आया ही करते थे, दो० २६ चौ० १-२ देखिये। आज एकान्त स्थल और सुअवसर देखकर वर माँगने के लिये आये हैं। साकेत-यात्रा का भी समय निकट जानकर आये हैं, 'तेज पुंज '—तेज-पुंज कहकर तपस्वी जनाया, क्योंकि तप से ही तेज की वृद्धि होती है, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (दो० ८९), और गुण और शील से तेजस्वी की शोभा है।

(२) 'बहुकालीना'—ये ब्रह्मा के मानसिक आदि-पुत्र हैं, ये सदा ५ वर्ष की ही आयु में रहते हैं कि जिससे माया से बचे रहें, क्योंकि विकारों के मूल काम की प्रवृत्ति ५ वर्ष अवस्था के बाद होती है। ऐसे ही मार्कण्डेय मुनि सदा २५ वर्ष के और श्रीशिवजी बूढ़े ही रहते हैं।

रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥५॥
आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति-चरित होइ तहँ सुनहीं ॥६॥

अर्थ—मानों चारो वेद रूप धारण किये हुए (मूर्त्तिमान होकर) आये हैं, समदर्शी हैं, मुनि हैं और भेद रहित हैं ॥५॥ दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं (अर्थात् नंगे रहते हैं) और उनका यह व्यसन (विशेष प्रवृत्ति) है कि जहाँ श्रीरघुनाथजी का चरित होता है, वहाँ (जाकर) सुनते हैं ॥६॥

के दर्शन करे अथवा वे इसे देखें, दोनों प्रकार से भव छूटता है ; यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ॰ दो॰ २१६)।

'सुंदरता मंदिर'—तीनों लोकों का सौन्दर्य इन्हें ही प्राप्त है। प्राकृत सुंदरता पर आसक्त होने से भव में पड़ना होता है, पर इनका रूप तो दिव्य है, अतएव इनके दर्शनों से भव छूटता है, इसीसे साथ ही 'भवमोचन' भी कहा है।

एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं ॥४॥
तिन्हकै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा ॥५॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे ॥६॥

अर्थ—मुनि एकटक देखते रह गये, पलक नहीं मारते (क्योंकि पलक गिरने से दर्शनों में किंचित् विक्षेप पड़ेगा) और (इधर) प्रभु श्रीरामजी हाथ जोड़े हुए शिर नवा रहे हैं ॥४॥ उनकी (स्रवत नयन जल पुलक सरीरा) दशा देखकर श्रीरामजी के नेत्रों से आँसू चलने लगे और शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ प्रभु ने हाथ पकड़कर मुनीश्वरों को बैठाया और उनसे अत्यन्त सुन्दर बचन बोले ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु कर जोरे···'—प्रभु अपने नर-नाट्य की रक्षाके लिये ऐसा करते हैं। पुनः पीताम्बर पर बैठने के लिये भी इस तरह मुद्रा से प्रार्थना करते हैं। यह मुद्रा शीघ्र प्रसन्न करने की है ; यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि॰ १३५)।

(२) 'तिन्हकै दसा देखि···'—मुनियों की प्रेम-दशा देखकर श्रीरामजी स्वयं भी उसी दशा को प्राप्त हो गये। 'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा' यह दोनों में लगता है। पहले श्रीरामजी को 'श्यामल गात सरोरुह लोचन' कहा था, अब उसी रूप में प्रेम की शोभा कहते हैं कि उस गात में पुलक है और नेत्रों में प्रेमाश्रु चल रहे हैं। मुनियों में यह दशा पराभक्ति की है, क्योंकि ब्रह्मानंद की लय लीनता के पश्चात् प्राप्त हुई है ; यथा—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।" (गीता १८।५४); यही दशा श्रीसुतीक्ष्णजी को प्राप्त हुई थी, वहाँ उपाय करके उनका ध्यान छुड़ाया गया, वैसे यहाँ भी 'कर गहि···' कहा है।

(३) 'कर गहि प्रभु···'—पीताम्बर बिछाया हुआ है, पर मुनि प्रेम की दशा में निमग्न हैं। अतः, बैठे नहीं। प्रभु ने जाना कि हमारा ओढ़ने का वस्त्र जानकर मुनि इसपर नहीं बैठ रहे हैं। अतः, उनका संकोच छुड़ाने के लिये उनके हाथ पकड़ कर बैठाया। इसमें प्रभु का पूर्ण वात्सल्य है। प्रेम दशा में भी मुनियों ने अपनी मर्यादा निबाही कि स्वयं प्रभु के पीताम्बर पर नहीं बैठे।

(४) 'परम मनोहर बचन उचारे।'—मुनियों का मन छवि द्वारा हरा गया है, इससे बैठाने पर भी अभी कुछ नहीं बोल पाते हैं। इसीलिये उधर से मन हरण करने के लिये आपने 'परम मनोहर' बचन कहे। अतुल छवि मनोहर थी, उससे उनके मन को अलग करने के लिये बचन 'परम मनोहर' बोले, नहीं तो वे सचेत न होते, फिर उन्हें अभी सत्संग का भी सुख देना है।

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा ॥७॥
बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा ॥८॥

कथा ज्ञान-रूपा ही है। कहा भी है—"सद्गुरु ज्ञान बिराग जोग के।" (बा० दो० ३१); यहाँ सनकादिक को वेद पाठी, समदर्शी, ब्रह्म लीन और विरक्त कहकर कथा का व्यसनी कहा। इसपर पार्वतीजी को शंका हो सकती थी, इन गुणों सहित मुनियों को कथा से क्या लाभ है। इसपर श्रीशिवजी ने कहा—'ज्ञान-जोनि···।'

(३) सनकादि कथा सुनते थे फिर रूप के दर्शन पाये, इससे जाना गया कि कथा श्रवण से रूप की प्राप्ति होती है; यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुवादा 'एक लालसा उर अति बाढ़ी ॥ राम-चरन वारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सुफल करि लेखउँ ॥" (दो० १०१)।

(४) 'हरपि दंडवत कीन्ह'—क्योंकि—"संत मिलन सम सुख जग नाहीं।" (दो० १२०); पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह'—प्रभु बाग में टहलने आये थे, वहाँ उनके योग्य उत्तम आसन न देखकर अपना पीताम्बर ही बिछा दिया, यह सबसे अधिक सम्मान है, परम सात्विक मुनियों के लिये यह योग्य सत्कार है; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ ॥" (दो० २५१)। श्रीरामजी भी संत चरण रज के व्यसनी हैं, इसीलिये इन्होंने पीतांबर बिछा दिया।

कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई। सहित पवनसुत सुख अधिकाई ॥१॥
मुनि रघुपति छवि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सके न रोकी ॥२॥
श्यामल गात सरोरुह-लोचन। सुंदरता-मंदिर भव-मोचन ॥३॥

अर्थ—श्रीहनुमानजी के साथ तीनों भाइयों ने दंडवत् की और सबों को बड़ा सुख हुआ ॥१॥ मुनि श्रीरघुनाथजी की अतुलित छवि को देखकर (उसमें) डूब गये, मन को रोक न सके ॥२॥ (श्रीरामजी का) श्यामल शरीर है, कमल समान नेत्र हैं, वे सुन्दरता के घर और आवागमन के छुड़ानेवाले हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई।···'—श्रीरामजी के पीछे भाइयों का दंडवत् करना कहने से क्रम से दंडवत करना सूचित किया। श्रीरामजी ने, श्रीभरतजी ने, श्रीलक्ष्मणजी ने, श्रीशत्रुघ्नजी ने और फिर श्रीहनुमान्‌जी ने दंडवत् की।

'सुख अधिकाई'—श्रीरामजी को हर्ष (सुख) होना कहा गया, इन्हें अधिक सुख हुआ, क्योंकि इनके आने से सत्संग का आनन्द मिलेगा। पुनः भक्तों की दृष्टि में श्रीरामजी से भी उनके भक्त अधिक हैं; यथा—"राम ते अधिक राम कर दासा।" (दो० ११६); 'मुनि रघुपति छवि···'—श्रीरामजी की अतुल छवि को देखकर मुनियों का मन ब्रह्मानंद छोड़कर अनुराग पूर्वक इनमें लग गया। वे रोक रखने का प्रयास करते हुए भी मन को नहीं रोक सके; यथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह बिदेह बिसेखी ॥" से "इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥" (बा० दो० २१५); 'अतुल'—क्योंकि इस छवि के सुख के आगे ब्रह्मानंद भी नहीं तुलता; यथा—"ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोचननि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।" (गी० बा० ५१)। वा, श्रीभरतजी आदि की छवि इनके समान नहीं तुली; यथा—"तदपि अधिक सुख सागर रामा।" (बा० दो० १९७)।

(२) 'भये मगन'—यह स्पष्ट है, क्योंकि दंडवत् करने पर आशीर्वाद नहीं दिया और न कुशल प्रश्न ही किया।

(३) 'श्यामल गात···'—'श्यामल गात' से मुनियों का देखना और 'सरोरुह लोचन' कहकर श्रीरामजी का इन्हें देखना सूचित किया। ये दो कारण कहकर तब 'भव मोचन' कहा है। जीव श्रीरामजी

के दर्शन करे अथवा वे इसे देखें, दोनों प्रकार से भव छूटता है ; यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ॰ दो॰ २१६)।

'सुंदरता मंदिर'—तीनों लोकों का सौन्दर्य इन्हें ही प्राप्त है। प्राकृत सुंदरता पर आसक्त होने से भव में पड़ना होता है, पर इनका रूप तो दिव्य है, अतएव इनके दर्शनों से भव छूटता है, इसीसे साथ ही 'भवमोचन' भी कहा है।

एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं ॥४॥
तिन्हकै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा ॥५॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे ॥६॥

अर्थ—मुनि एकटक देखते रह गये, पलक नहीं मारते (क्योंकि पलक गिरने से दर्शनों में किंचित् विक्षेप पड़ेगा) और (इधर) प्रभु श्रीरामजी हाथ जोड़े हुए शिर नवा रहे हैं ॥४॥ उनकी (स्रवत नयन जल पुलक सरीरा) दशा देखकर श्रीरामजी के नेत्रों से आँसू चलने लगे और शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ प्रभु ने हाथ पकड़कर मुनीश्वरों को बैठाया और उनसे अत्यन्त सुन्दर बचन बोले ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु कर जोरे···'—प्रभु अपने नर-नाट्य की रक्षाके लिये ऐसा करते हैं। पुनः पीताम्बर पर बैठने के लिये भी इस तरह मुद्रा से प्रार्थना करते हैं। यह मुद्रा शीघ्र प्रसन्न करने की है ; यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि॰ १३५)।

(२) 'तिन्हकै दसा देखि···'—मुनियों की प्रेम-दशा देखकर श्रीरामजी स्वयं भी उसी दशा को प्राप्त हो गये। 'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा' यह दोनों में लगता है। पहले श्रीरामजी को 'श्यामल गात सरोरुह लोचन' कहा था, अब उसी रूप में प्रेम की शोभा कहते हैं कि उस गात में पुलक है और नेत्रों में प्रेमाश्रु चल रहे हैं। मुनियों में यह दशा पराभक्ति की है, क्योंकि ब्रह्मानंद की लय लीनता के पश्चात् प्राप्त हुई है ; यथा—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।" (गीता १८।५४); यही दशा श्रीसुतीक्ष्णजी को प्राप्त हुई थी, वहाँ उपाय करके उनका ध्यान छुड़ाया गया, वैसे यहाँ भी 'कर गहि···' कहा है।

(३) 'कर गहि प्रभु···'—पीताम्बर बिछाया हुआ है, पर मुनि प्रेम की दशा में निमग्न हैं। अतः, बैठे नहीं। प्रभु ने जाना कि हमारा ओढ़ने का वस्त्र जानकर मुनि इसपर नहीं बैठ रहे हैं। अतः, उनका संकोच छुड़ाने के लिये उनके हाथ पकड़ कर बैठाया। इसमें प्रभु का पूर्ण वात्सल्य है। प्रेम दशा में भी मुनियों ने अपनी मर्यादा निबाही कि स्वयं प्रभु के पीताम्बर पर नहीं बैठे।

(४) 'परम मनोहर बचन उचारे।'—मुनियों का मन छवि द्वारा हरा गया है, इससे बैठाने पर भी अभी कुछ नहीं बोल पाते हैं। इसीलिये उधर से मन हरण करने के लिये आपने 'परम मनोहर' बचन कहे। अतुल छवि मनोहर थी, उससे उनके मन को अलग करने के लिये वचन 'परम मनोहर' बोले, नहीं तो वे सचेत न होते, फिर उन्हें अभी सत्संग का भी सुख देना है।

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा ॥७॥
बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहि भव भंगा ॥८॥

दोहा—संत-संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुरान सदग्रंथ ॥३३॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! सुनिये, आज मैं धन्य हूँ। आपके दर्शनों से पाप नष्ट हो जाते हैं ॥७॥ बड़े भाग्य से सत्संग प्राप्त होता है। उससे बिना परिश्रम के ही भव (जन्म-मरण) का नाश होता है ॥८॥ "संत का संग मोक्ष का मार्ग है और कामी का संग भव का मार्ग है।" ऐसा संत, कवि, पंडित, वेद, पुराण एवं सभी सद्ग्रंथ कहते हैं ॥३३॥

विशेष—(१) 'आजु धन्य मैं '—संत-दर्शनों से पाप छूटते हैं; यथा—"मुख देखत पातक हरैं; परसत कर्म बिलाहिं॥" (वैराग्यसंदीपनी १४), "वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥" (भाग० ११।१४।२४)। अर्थात् प्रेम से जिसकी वाणी और चित्त द्रवीभूत हो जाता है। जो प्रेमावेश में बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है—ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है। श्रीभगीरथजी ने श्रीगंगाजी से कहा है, यथा—"साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥" (भाग० ९।९।६); अर्थात् हे माता! समस्त विश्व को पवित्र करनेवाले, विषयों के त्यागी, शान्त स्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु आकर तुम्हारे प्रवाह में स्नान करेंगे, उनके अंग-संग से तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे, क्योंकि उनके हृदय में समस्त पापों के नाशक भगवान् निवास करते हैं। तथा—"भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो। तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥" (भाग० १।१३।१०); अर्थात् श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीविदुरजी से कहते हैं—हे प्रभो! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थ रूप हैं, (पापियों द्वारा कलुषित हुए) तीर्थों को आपलोग अपने हृदय में विराजित भगवान् श्रीगदाधर के प्रभाव से पुनः तीर्थत्व प्राप्त करा देते हैं। हमें आज बिना प्रयास के आपके दर्शन मिले, इससे हम धन्य हैं। दर्शनों से पाप नाश होते हैं, तब सत्संग मिलता है। इससे आगे सत्संग की महिमा कहते हैं—

(२) 'बड़े भाग पाइय सत्संगा।'''—पाप नाश होकर भाग्य उदय हुआ तो सत्संग मिला, उससे भव नाश होता है; यथा—"सतसंगति दुर्लभ संसारा।'''आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब विधि हीन, निज जन जानि राम मोहि, संत समागम दीन॥" (दो० १२३); "गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।" (दो० १२५)। 'होइ भव भंगा', यथा—"सतसंगति संसृत कर अंता।" (दो० ४४)।

(३) 'संत संग अपवर्ग कर'''—संत लोग हरि चरित सुनाते हैं, उससे मोह दूर होता है, फिर श्रीरामजी में प्रेम होता है, तब मनुष्य भव पार होता है; यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (दो० ६१); "बिनु हरि भजन न भव तरिय॥" (दो० १२२)।

(४) 'कामी भव कर पंथ'—कामी अपने संग से विषय वार्त्ता द्वारा विषय में प्रवृत्ति बढ़ाते हैं और हरि कथा आदि से मन हटा देते हैं; यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। इस तरह विषयासक्त होने से और हरि-विमुखता से जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है, यथा—"न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसङ्गतः।

योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥" (३।३१।३५) ; अर्थात् स्त्रियों के सङ्ग करनेवालों के सङ्ग से मनुष्य को जैसा मोह और बन्धन प्राप्त होता है, वैसा अन्य किसी के भी सङ्ग से नहीं होता।

(५) 'कवि'—व्यास आदि, 'कोविद' शुकदेव आदि, 'सद्ग्रंथ'—मुनियों की सात्विक संहिताएँ।

सुनि प्रभु-बचन हरषि मुनिचारी। पुलकित तनु अस्तुति अनुसारी ॥१॥
जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय ॥२॥

अर्थ—प्रभु के वचन सुनकर चारों मुनि हर्षित हुए और पुलकित शरीर होकर स्तुति करने लगे ॥१॥ हे भगवन्! हे करुणामय! आपकी जय हो। आपका अन्त नहीं है, आप (अविद्या आदि) रोगों से रहित हैं, निष्पाप हैं, अनेक हैं और एक भी हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि प्रभु-बचन ···'—प्रभु के परम मनोहर वचन सुनकर मुनियों को हर्ष हुआ कि प्रभु ऐसे कृपालु हैं कि सदा दासों को बड़ाई देते हैं। फिर स्वय भी प्रभु की स्तुति करने लगे। स्तुति मे मन से हर्षित हैं, तन से पुलकित हैं और वचन से स्तुति करते ही हैं, इस तरह मन, वचन, कर्म तीनों लगाये हुए हैं।

(२) 'जय भगवत'—मुनि भक्ति भाव से स्तुति करते हैं, इससे 'भगवंत' कहा है। श्रीरामजी को कर्मकाण्डी परमात्मा और ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। पहले भगवत कहकर पडैश्वर्य पूर्ण कहा, जिन छहों ऐश्वर्यों से संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार की व्यवस्था होती है। इससे ईश्वर कहा। पुनः 'अनंत' कहकर जनाया कि आपमे छः ही गुण नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं। यह भी भाव है कि अनन्त ब्रह्मांडों का कार्य भी आप ही के अनन्त पडैश्वर्यों से होता है। 'अनामय'—आपमे अविद्या आदि रोग नहीं हैं, इसीसे आप पाप रहित (अनघ) हैं। तथा आपका विग्रह दिव्य है, इससे वह रोग रहित है। आप जगत के व्यष्टि रूप से अनेक हैं; यथा—"बिस्व रूप रघुबंस मनि" (लं॰ दो॰ १४); और समष्टि रूप से एक हैं। 'करुनामय'—'अनेक-एक' कहकर सम्यक् आधार कहा, इसका कारण आपकी करुणा ही है; अन्यथा जगत् से आपका कोई स्वार्थ नहीं है आप तो जगत् से निर्लिप्त हैं।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख-मंदिर सुंदर अति नागर ॥३॥
जय इंदिरा-रमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर ॥४॥

अर्थ—हे निर्गुण (निर्लिप्त रूप, श्रीरामजी)! आपकी जय हो, हे सद्गुण सागर (सगुण रूप श्रीरामजी)! आपकी जय हो, जय हो। आप सुख के स्थान, अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त नागर (प्रवीण) हैं ॥३॥ हे लक्ष्मीपति! आपकी जय हो। हे पृथिवी के धारण करनेवाले (रक्षक)! आपकी जय हो। आप उपमा रहित, अजन्मा, अनादि और शोभा की खान हैं ॥४॥

विशेष—'जय निर्गुन···'—निर्गुण के साथ एक बार जय शब्द कहा और सगुण के साथ दो बार, क्योंकि सनकादिक ने अभी ही अनुभव किया है कि निर्गुण के आनन्द को छोड़कर उनका मन बरबश इनके सगुण रूप मे अनुरक्त हो गया है। 'सुख-मंदिर'—दोनों रूपों से आप सबको सुख देते हैं। पुनः सगुण रूप से सुन्दर और नागर भी हैं। 'नागर' से सभी प्रकार की चातुरी सूचित की गई; यथा—

"जयति वचन रचना अति नागर।" (बा० दो० २८४), "खर दूषन बिराध बध पंडित।" (दो० ५०), 'भूधर' अर्थात् वाराह रूप से पृथिवी की रक्षा करनेवाले। 'अज'—आप स्वेच्छा से प्रकट होते हैं, यह जन्म नहीं कहाता। कर्म वश जन्म लेने का ही आपमें निषेध है। 'इंदिरा रमन'—यहाँ इन्हें आगे वर माँगना है, इससे सब प्रकार की लक्ष्मी से युक्त होने का विशेषण दिया गया है। इंदिरा, रमा, श्री ये सब श्रीजानकीजी के ही नाम हैं, ऐश्वर्य प्रसंग में आते हैं।

ज्ञान-निधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद ॥५॥
तग्य कृतग्य अग्यता-भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन ॥६॥

अर्थ—आप ज्ञान के समुद्र, मान-रहित और औरों को मान देनेवाले हैं। आपका पवित्र सुन्दर यश वेद और पुराण गाते हैं ॥५॥ आप तत्त्व के जाननेवाले, उपकार के माननेवाले और अज्ञान के नाशक हैं। आपके अनेक नाम हैं, फिर भी आप नाम रहित हैं (यह विलक्षता है), आप माया विकार से रहित हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'ज्ञान-निधान अमान मानप्रद'—ज्ञान के खजाना कहकर अमान कहने का भाव यह कि आपका ज्ञान शुद्ध है, यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (अ० दो० १५), स्वयं अमान हैं, पर दूसरे को मान देते हैं, *यथा—"अमानी मानदो मान्यो लोक स्वामी त्रिलोक धृक्।" (विष्णु सहस्रनाम ४३)*, 'पावन सुजस पुरान बेद बद।'—आपका यश ऐसा पवित्र है कि उसे गाकर वेद-पुराण भी अपनी वाणी पवित्र करते हैं, यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।" (बा० दो० ३११)।

(२) 'तग्य कृतग्य ...'—'तग्य' सब शास्त्रों के तत्त्वार्थ के ज्ञाता हैं। 'नाम अनेक ...'—जगत् भर आपका शरीर है। अत, सब व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम आपके ही हैं, पर आप सबसे अलिप्त हैं, सबके नामाभिमान से रहित हैं, इसीसे अनाम हैं।

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय ॥७॥
द्वंद बिपति भव-फंद-बिभंजय। हृदि बसि राम काम मद गंजय ॥८॥

दोहा—परमानंद कृपायतन, मन परिपूरन काम।
प्रेम-भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम ॥३४॥

अर्थ—यह सब जगत् रूप आप ही हैं, आप सबमें व्याप्त हैं और आप ही सबके हृदय रूपी घरों में सदा बसते हैं, सदा हमारा पालन करें ॥७॥ मानापमान, हर्ष शोक आदि द्वन्द्वों की विपत्ति और जन्म-के फंदे (जाल) को काटें। हे श्रीरामजी ! हृदय में बसकर काम और मद का नाश करें ॥८॥ आप परमानन्द और कृपा के स्थान हैं, आप मन से पूर्ण काम हैं। हे श्रीरामजी ! आप हमें अपनी अविनाशिनी (निश्चल) प्रेम भक्ति दें ॥३४॥

विशेष—(१) 'सर्ब सर्बगत ...'—विराट् रूप से सब कुछ आप ही हैं, सत्ता रूप से सबमें व्याप्त हैं और सगुण रूप से सबके हृदय में बसकर सबका पालन करते हैं, वही आप मेरा पालन करें।

(२) द्वंद विपति···'—द्वंद्वों के कारण रूप, काल, कर्म, गुण और स्वभाव हैं, ये ही भव-फंद रूप हैं। वा, अहंता, ममता भव-फंद हैं। इनका नाश करें। 'हृदि बसि राम···'—यहाँ सगुण रूप श्रीरामजी को सम्बोधित करके हृदय में बसाते हैं, जिससे काम और मद का नाश हो; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना ।।लोभ मोह मच्छर मद माना ।। जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ।।" (सुं॰ दो॰ ४६); निर्गुण रूप से तो सबके हृदय में बसते ही हैं, पर उससे विपत्ति नहीं छूटती; यथा—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ।।" (बा॰ दो॰ २२)।

(३) 'परमानंद कृपायतन···'—पहले काम-मद का नाश करना माँगकर तब यहाँ प्रेमाभक्ति माँगी है, यह भक्ति बड़ी दुर्लभ है ; यथा—"सबते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया ।।" (दो॰ ५४) ; इसीलिये 'कृपायतन' कहकर माँगते हैं, और 'परमानंद' कहकर अपना उसी भक्ति में परम आनंदित होना सूचित करते हैं, क्योंकि अभी दर्शनों के समय इस छवि के दर्शनों से प्राप्त परमानंद के समक्ष ब्रह्मानंद का फीका पड़ना देख चुके हैं। 'कृपायतन'—कहकर कृपा से प्राप्त होनेवाली भक्ति माँगते हैं, जिसका कभी नाश न हो ; यथा—"जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ।" (बा॰ दो॰ २७) ; सुकर्म से भी भक्ति मिलती है ; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई ।" (अ॰ दो॰ ६) ; किंतु सुकर्म साध्य भक्ति सुकर्म की मर्यादा भर ही रहती है, कभी अनवधानता से एक रस नहीं भी रहती। पर कृपासाध्य मे वह भय नहीं है। 'हमहि' से अपने चारों भाइयों के लिये यही वर माँगा है।

'मन परिपूरन काम'—का भाव यह कि आप पूर्ण काम है, इससे इसके प्रति हमसे कुछ कामना न करेंगे, अन्यथा हमलोग उसके योग्य नहीं हैं।

देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिविध-ताप-भव-दाप-नसावनि ॥१॥
प्रनत-काम सुरधेनु कलपतरु। होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु ॥२॥

अर्थ—हे श्रीरघुनाथजी ! आप अपनी अत्यन्त पवित्र, तीनों तापों और भव के दर्प को नाश करनेवाली भक्ति दीजिये ॥१॥ शरणागतों की कामनाओं के लिये कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप, हे प्रभो ! प्रसन्न होकर यह वरदान दीजिये ॥२॥

विशेष—(१) 'देहु भगति···'—ऊपर दोहे में भक्ति माँगी थी, उसीको लेकर यहाँ उसके गुण कहते हैं। यहाँ स्तुति का प्रसंग होने से छन्दों का नियम रखते हुए दोहे की बात लेकर प्रारंभ किया है। 'अति पावनि'—क्योंकि यह महा पापियों को भी पवित्र करती है ; यथा—"अपि चेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः ।" (गीता ९।३०); "भक्तिः पुनातिमन्निष्ठा स्वपाकानपि सम्भवात् ।" (भाग॰ ११।१४।२१) ; अर्थात् मेरी भक्ति चांडाल आदि को भी पवित्र हृदय बनाने में समर्थ है। पवित्रता के कार्य आगे कहते हैं कि वह तीनों तापों को नाश करती है और संसार को जो दर्प है कि मुझे जीतकर कोई कैसे जा सकता है, उसे नाश कर देती है।

(२) 'प्रनत काम सुरधेनु···'—कामधेनु और कल्पवृक्ष कहकर सूचित किया कि जो भक्त सेवा करते हैं, उनके आप कामधेनु हैं, और जिन्होंने सेवा भी नहीं की, केवल आपका आश्रय-मात्र ग्रहण किया है, शरण हैं, उनके लिये कल्पवृक्ष हैं। आप दोनों प्रकार के आश्रितों के काम पूरक हैं।

(३) 'होइ प्रसन्न···'—बिना अति प्रसन्न हुए प्रभु ऐसा दुर्लभ वर नहीं देते। 'प्रभु' अर्थात् आप सब कुछ देने मे समर्थ हैं। 'यह बरु'—बार-बार माँग कर इसमें अपनी परम अभिलाषा प्रकट करते हैं।

भव-बारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत सुलभ सकल सुखदायक ॥३॥
मन-संभव-दारुन-दुख दारय। दीनबंधु समता बिस्तारय ॥४॥
आस-त्रास-इरिषादि - निवारक। बिनय-बिबेक-बिरति-बिस्तारक ॥५॥
भूप-मौलि-मनि मंडन धरनी। देहि भगति संसृति-सरि-तरनी ॥६॥
मुनि मन मानस हंस निरंतर। चरन-कमल बंदित अज-संकर ॥७॥

अर्थ—हे श्रीरघुनायक! भव-सागर के सोख लेने को आप अगस्त्य रूप हैं। सेवा करने में आप सुलभ हैं और सब सुखों के देनेवाले हैं ॥३॥ मन से उत्पन्न कठिन दुःख का नाश करें। हे दीनबन्धो! हमारे (हृदय में) समता का विस्तार करें (कि शत्रु-मित्र और उदासीनों में हमारी समदृष्टि रहे) ॥४॥ आप आशा, भय और ईर्ष्या आदि के निवारण करनेवाले हैं और विनम्रता, विवेक, एवं वैराग्य के विस्तार करनेवाले हैं ॥५॥ हे राजाओं के शिरोमणि! हे पृथिवी के भूषण रूप! (हमें) अपनी भक्ति दें जो संसार नदी के लिये नाव रूपा है ॥ ६ ॥ हे मुनियों के मन रूपी मानसरोवर में निरन्तर वास करनेवाले हंस! आपके चरण कमल ब्रह्माजी और शिवजी से निरंतर वंदित हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'भव-बारिधि कुंभज'—तुच्छ घट की तरह तुच्छ हृदय से भी भक्ति किये जाने पर मुमुक्षु के भव समुद्र को आप सोख लेते हैं। सेवा भी सुलभ है और उसी से सब सुख देते हैं। अन्यत्र ये बातें नहीं हैं, जो सेवा में सुलभ हैं, वे सब फल नहीं दे सकते, पर आपमें दोनों बातें हैं। 'मन संभव दारुन दुख'—मन ही के विकृत होने से शत्रु, मित्र, मध्यस्थ आदि भाव होते हैं, फिर उसीसे नाना प्रकार के दुःख होते हैं; यथा—"जौं निज मन परि हरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई॥" (वि० १२४)—यह पूरा पद देखिये। इन शत्रु-मित्र आदि भावों के नाश होने से ही समता की प्रवृत्ति हो सकती है। मन के प्रसाद भय से दीन होकर दीनबंधु कहा है। 'समता'; यथा—"समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥" (सुं० दो० ४७)। तथा उपर्युक्त द्वैत-जनित विकारों के प्रतिकूल गुणों की प्रवृत्ति।

(२) 'आस त्रास इरषादि…'—आशा मित्रों की, भय शत्रु का और ईर्ष्या बराबरवालों की। ये दोष समता के विस्तार से नाश होते हैं।

(३) 'भूप मौलि मनि…'—आपने राक्षसों का नाश कर सब राजाओं को सुख से बसाया है, इससे उन सबों ने आपको शिरोमणि माना है। यहाँ यह विशेषण देकर माँगने का भाव यह कि सामान्य राजा लोग भी द्वार पर आये हुए याचक की अभिलाषा पूरी करते हैं, आप तो उनके शिरोमणि हैं। अतः, मेरे मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे।

'संसृति सरि तरनी'—भक्ति के समक्ष भव-सागर नदी के समान तुच्छ हो जाता है, फिर भक्त भक्ति रूपी नौका पर चढ़े हुए की तरह उसे अनायास पार कर जाता है।

भक्ति के चार विशेषण कहे गये—'अति पावनि' पापी के लिये, 'त्रिविध ताप भव दाप नसावनि' आर्त्त के लिये, 'संसृति सरि तरनी' मुमुक्षु के लिये और 'प्रनत काम सुर धेनु कलपतरु'—यह प्रभु का स्वभाव भक्ति सम्बन्ध से प्रणत अर्थार्थी का काम पूरक है।

रघुकुल-केतु सेतु श्रुति-रच्छक। काल करम सुभाव गुन-भच्छक ॥८॥
तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास प्रभु त्रिभुवन-भूषन ॥९॥

दोहा—बार बार अस्तुति करि, प्रेम सहित सिर नाइ।
ब्रह्म-भवन सनकादि गे, अति अभीष्ट बर पाइ ॥३५॥

अर्थ—आप रघुकुल (को शोभित करनेवाले) पताका रूप हैं, वेद मर्यादा के रक्षक और काल-कर्म-स्वभाव-गुण के भक्षण करनेवाले हैं ॥८॥ आप सबको तारनेवाले हैं और स्वयं तरे हुए (मुक्त रूप) हैं, सब दोषों के दूर करनेवाले हैं, त्रैलोक्य भूषण हैं और तुलसीदास के स्वामी हैं ॥९॥ प्रेम समेत बार-बार स्तुति करके और शिर नवाकर, अत्यन्त अभीष्ट वर पाकर सनकादि मुनि ब्रह्मलोक को गये ॥३५॥

विशेष—(१) 'रघुकुल केतु···'—ऊपर कहा गया कि मुनियों के हृदय के हंस हैं और विधि-शिव से वन्द्यचरण हैं। फिर ऐसे दुर्लभ आप रघुकुल में क्यों अवतीर्ण हुए? इसका कारण कहते हैं कि श्रुति-सेतु-रक्षा के लिये; अर्थात् प्रमादी राक्षसों ने वरप्रभाव प्राप्त कर श्रुति-सेतु को तोड़ दिया था, उन्हें मारकर श्रुतियों के अनुकूल मार्ग को स्थापित किया और फिर काल, कर्म, स्वभाव और गुण कृत दोषों को नाश किया; यथा—"काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं।" (दो॰ २१); यह सुधर्माचरण का फल भी चरितार्थ कर दिया।

(२) 'तारन तरन'—तारण अर्थात् केवट और तरण अर्थात् नाव रूप। आप अपने आचरण से सुधर्म का स्वरूप दिखाते हैं, यह नाव रूप होना है और तदनुसार चलनेवालों को भव पार करते हैं, यह केवट रूप होना है। इस तरह से 'हरन सब दूषन' हैं। 'त्रिभुवन भूषन'—राक्षसों को मारने से पृथिवी के भूषण कहे गये थे—'मंडन धरनी' एवं 'खल खंडन मंडन रम्य छमा।' (लं॰ दो॰ १०१); और राज्य पर बैठकर त्रैलोक को भूषित किया; यथा—"राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥" (दो॰ ११); 'तुलसिदास प्रभु'—त्रेतायुग में सनकादि के मुख से अपना सम्बन्ध पुष्ट करने में 'भाविक अलंकार' है।

(३) 'बार बार अस्तुति करि···'—स्तुति करना वचन की भक्ति, प्रेम करना मन की और शिर नवाना कर्म की भक्ति है। मन, वचन और कर्म से भक्ति करके गये। 'बार बार'—चार बार भक्ति के लिये स्तुति करना और वर माँगना इस एक ही दोहे के एक ही प्रसंग में हैं—(१) प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम। (२) देहु भगति रघुपति···। (३) होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु। (४) देहु भगति संसृति···। यहाँ जब वर मिल गया, तब स्तुति समाप्त की। 'अति अभीष्ट'—क्योंकि इसे चार बार माँगने से पाया। यह वही 'प्रेम भगति अनपायनी' है। वर मानसिक ही दिया गया और उसे सनकादि ने जान लिया। इससे यह भी दिखाया गया कि सनकादि ऐसे जीवन्मुक्तों को भी प्रेम-भक्ति की अत्यन्त कांक्षा रहती है; यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥" (भाग॰ १।७।१०); अर्थात् चिज्जड़ ग्रंथि निर्मुक्त आत्मा राम मुनि लोग भी निर्हेतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् में गुण ही ऐसे हैं।

इनके चार बार स्तुति करने और वर माँगने का यह भी हेतु है कि ये चार भाई हैं।

संत-असंत भेद और उनके लक्षण

सनकादिक बिधि लोक सिधाये। भ्रातन्ह राम-चरन सिर नाये ॥१॥
पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीं ॥२॥
सुनी चहहिं प्रभु-मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ॥३॥

अर्थ—जब सनकादि मुनि ब्रह्मलोक को चले गये, तब भाइयों ने श्रीरामजी के चरणों में शिर नवाया ॥१॥ प्रभु से पूछने में सब भाई सकुचाते हैं और सब श्रीहनुमान्‌जी की ओर देखते हैं ॥२॥ सब प्रभु के मुख की वाणी सुनना चाहते हैं जिसे सुनने से सब भ्रम दूर हो जाते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'सनकादिक बिधि'''—इनका ब्रह्म लोक जाना तो ऊपर दोहे में ही कहा गया था, यहाँ भाइयों की जिज्ञासा का समय बतलाते हुए उसे फिर कहा है कि जब ये चले गये, तब भाइयों ने प्रणाम किया। प्रणाम का कारण आगे कहते हैं—'पूछत प्रभुहिं सकल सकुचाहीं'—सामने प्रश्न करने में ढिठाई समझते हैं, इसीसे प्रश्न करने में संकोच करते हैं ; यथा—"करउँ कृपानिधि एक ढिठाई ।" यह आगे कहा ही है। 'चितवहिं सब मारुत सुत पाहीं।'—सब श्रीहनुमान्‌जी को प्रभु का परम कृपा पात्र जानकर उन्हीं के द्वारा प्रश्न कराना चाहते हैं, क्योंकि प्रभु ने उनसे बार बार कहा है कि मैं तेरा ऋणी हूँ।

श्रीभरतजी संकोची हैं ; यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सन्मुख कहे न बैन।" (अ० दो० २६०) ; श्रीशत्रुघ्नजी उनके भी अनुगामी हैं, तो वे कैसे पूछ सकते हैं ? और श्रीलक्ष्मणजी सेवा के विषय में ढीठ हैं, पर प्रश्न करने में वे भी सकोची ही हैं , यथा—"बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवक समय न ढीठ ढिठाई ॥" (अ० दो० २२६) ; अर्थात् सेवा बिना बोलने में इन्हें भी सकोच होता है।

(२) 'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। ''—यद्यपि शास्त्रों के द्वारा संत लक्षण आदि सुने हैं, पर फिर भी श्रीमुख की वाणी सुनना चाहते हैं कि जिससे निस्संदेह हो जायँ। वेद भी आपकी श्वास हैं। अत., वाणी का महत्व उससे भी अधिक है। वाणी का महत्व , यथा—"जनु इन्ह बचनन्हि ते भये सुरतरु तापस त्रिपुरारि।" (गी० बा० १६) ; यह भी हेतु है कि सनकादि की प्रेम दशा देखी और फिर भी उनका बार-बार भक्ति माँगना देखा, इसपर यह संदेह हुआ कि क्या इनसे भी उच्च कोटि के भक्त होते हैं ? यदि होते हैं तो उनके कौन लक्षण हैं ? यह श्रीमुख से जानना चाहते हैं। श्रीरामजी ने भी अभी कहा है—'संत संग अपवर्ग कर' अब ये लोग वैसे संतों के लक्षण सुनना चाहते हैं।

अंतरजामी प्रभु सब जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना ॥४॥
जोरि पानि कह तब हनुमंता। सुनहु दीन-दयाल भगवंता ॥५॥
नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं ॥६॥

अर्थ—अन्तर्यामी प्रभु सब जान गये और पूछते हैं कि हे श्रीहनुमान्‌जी ! कहिये, क्या बात है ? ॥४॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने हाथ जोड़कर कहा—हे दीन दयालु ! हे भगवन् ! सुनिये ॥५॥ हे नाथ ! श्रीभरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, पर प्रश्न करते हुए मन में संकोच करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'अंतरजामी प्रभु···'—अन्तर्यामित्व यहाँ स्पष्ट है कि भाई लोग सम्मुख बात करने में संकोच करते हैं—यह, और श्रीहनुमान्‌जी द्वारा प्रश्न कराने की उनकी इच्छा है—यह जान गये। जब श्रीहनुमान्‌जी भी संकोच से शीघ्र न बोल सके, तब प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी से स्वयं पूछा कि जिससे उन्हें बोलने का अवसर प्राप्त हो जाय और उत्तर-रूप में वह सब कहें। भाई लोग संकोच करते हैं, इससे उनसे नहीं कहा।

(२) 'जोरि पानि कह तब···'—हाथ जोड़कर बोलना सेवकों की रीति है। 'दीन दयाल भगवंता'—आप षडैश्वर्यवान् हैं, इसीसे दीनों पर दया है। मुझे दीन जानकर बड़ाई देते हुए मेरे द्वारा भाइयों को उपदेश देंगे। 'भरत कछु'—श्रीभरतजी तीनों भाइयों में बड़े हैं। अतः, इन्हीं का पूछना कहा, क्योंकि इनके रहते हुए छोटों का प्रश्न करना अनुचित है।

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ ॥७॥
सुनि प्रभु-बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना ॥८॥

दोहा—नाथ न मोहि संदेह कछु, सपनेहु सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि, कृपानंद - संदोह ॥३६॥

अर्थ—हे वानर! तुम मेरा स्वभाव जानते हो, क्या कभी श्रीभरतजी से और मुझसे कुछ भेद भाव है? अर्थात् उनसे मैं कुछ भेद नहीं रखता ॥७॥ प्रभु के वचन सुनकर श्रीभरतजी उनके चरण पकड़े और बोले—हे नाथ! हे शरणागत के दुःख हरण करनेवाले! सुनिये ॥८॥ हे नाथ! मुझे स्वप्न में भी न कुछ संदेह है, न शोक है और न मोह है। हे कृपा और आनंद के समूह! यह केवल आपकी ही कृपा से है ॥३६॥

विशेष—(१) 'तुम्ह जानहु कपि ···'—श्रीहनुमान्‌जी यद्यपि यहाँ मनुष्य-रूप में रहते हैं, तथापि जाति तो वही वानर की ही कही जायगी, इससे 'कपि' कहे गये।

'कछु अंतर काऊ'; यथा—"जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥" (आ० दो० ४१); अथवा, श्रीभरतजी मेरे भाई हैं, बराबर के हैं, तब संकोच क्यों करते हैं? संकोच तो छोटे को होता है।

(२) 'भरत गहे चरना'—प्रभु की बहुत कृपा समझ कृतज्ञता से चरण गहे। अथवा, प्रभु ने मुझे अपने तुल्य कहा, इससे चरण गहे कि मैं तो चरणों का दास हूँ। 'प्रनतारति हरना'—भाव यह कि मुझ आर्त्त पर भी कृपा करें और प्रश्नोत्तर देकर मेरा दुःख हरण करें।

(३) 'नाथ न मोहि सदेह···'—इस पूर्वार्द्ध से पाया जाता है कि इन्हें अपने ज्ञान-विज्ञान का अभिमान है कि जिससे संदेह-शोक मोह नहीं है। उत्तरार्द्ध मे उसका निवारण करते हैं कि यह सब केवल आपकी कृपा से ही है।

करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन-सुखदाई ॥१॥

संतन्ह कै महिमा रघुराई । बहु बिधि बेद-पुरानन्ह गाई ॥२॥
श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई । तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई ॥३॥
सुना चहउँ प्रभु तिन्हकर लच्छन । कृपासिंधु गुन-ज्ञान-बिचच्छन ॥४॥
संत - असंत - भेद बिलगाई । प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई ॥५॥

अर्थ—हे कृपासागर ! मैं एक ढिठाई करता हूँ, मैं आपका सेवक हूँ और आप अपने दास को सुख देनेवाले हैं (भाव यह कि मेरे प्रश्न को समझकर मुझे सुख दें) ॥१॥ हे श्रीरघुराज ! वेद-पुराणों ने संतों की महिमा बहुत प्रकार से गाई है ॥२॥ फिर आपने भी अपने मुख से उनकी बहुत बड़ाई की है और उनपर प्रभु (आप) का प्रेम भी बहुत है (क्योंकि उनके बैठने के लिये अपना पीताम्बर भी बिछा दिया है) ॥३॥ हे प्रभो ! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ, आप कृपा के समुद्र हैं और गुण-ज्ञान में प्रवीण हैं ॥४॥ हे शरणपाल ! संत और असंत के भेद अलग-अलग करके मुझे समझा कर कहें ॥५॥

विशेष—(१) 'करउँ कृपानिधि एक ढिठाई ।'''—आप कृपा के सागर हैं, दासों पर कृपा रखते हैं, इसीसे उनके अनुचित कार्य पर भी क्रोध नहीं करते , यथा—"जेहि जन पर ममता अति छोहू । जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू ॥" (बा० दो० १२), इसी बल पर एक ढिठाई करता हूँ । ढिठाई यही कि स्वामी के सम्मुख बातें करता हूँ । जो स्वामी स्वतः सेवक की रुचि रखते हैं, उनसे कुछ स्वयं कहना ढीठता है ।

(२) 'रघुराई'—आप राजा हैं , अतः, वेद-पुराण नित्य आपके यहाँ हुआ ही करते हैं, इससे जानते ही हैं । वेद की उपनिषदों में और पुराणों एवं महापुराण श्रीमद्भागवत में संतों की महिमा बहुत कही गई है । पुनः महाभारत आदि भी वेद के उपबृंहण रूप ही हैं ।

(३) 'श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई ।', यथा—"आजु धन्य मैं ''" से "संत संग अपवर्ग कर ''" तक ऊपर कहा गया । 'गुन-ज्ञान-बिचच्छन'—भाव यह कि आप संतों के गुण और ज्ञान आदि जानने में प्रवीण हैं, अतएव उत्तम रीति से कहेंगे । लक्षण सुनना चाहते हैं, जिससे जानकर उनमें निष्ठा करें । 'बुझाई'—समझाकर कहिये जिससे समझ में आ जाय । (जिज्ञासु को अज्ञ की तरह ही पूछना चाहिये) ।

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता । अगनित श्रुति पुरान बिख्याता ॥६॥
संत असंतन्हि कै असि करनी । जिमि कुठार-चंदन-आचरनी ॥७॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥८॥

दोहा—ताते सुर सीसन्ह चढ़त, जग-बल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दंड ॥३७॥

शब्दार्थ—सुगंध बसाई (सुगंध = उत्तम गंध, बसाना = महँका देना) = सुगंध महँका देता है, कुल्हाड़े को अपनी सुगंध से महँका देता है ।

अर्थ—हे भाई ! सुनो, संतों के लक्षण अगणित हैं और वे वेद-पुराणों में प्रसिद्ध हैं ॥६॥ संतों और असंतों की करनी ऐसी है कि जैसे चन्दन और कुल्हाड़े का आचरण (रहनी, करनी) है ॥७॥ हे भाई ! सुनो, (उनके आचरण कहता हूँ) कुल्हाड़ा मलय चंदन को काटता है (जैसे वह और वृक्षों को काटता है) और चंदन अपना गुण देकर उसे सुगंध से महँका देता है ॥८॥ उसी (अपने साधु गुण) से चन्दन देवताओं के मस्तक पर चढ़ता है और जगत् को प्रिय है और कुल्हाड़े के मुख को अग्नि में तपाकर फिर घनों से पीटा जाता है, यह उसे दंड मिलता है । (ऐसे ही संत जगत् प्रिय होते हैं और देवताओं के सिर पर चढ़कर अर्थात् देवलोक लाँघकर परधाम को जाते हैं और खल नाना प्रकार अपमानों से तपकर फिर कठिन राज दंड पाते हैं) ॥३७॥

विशेष—(१) 'संतन्ह के लच्छन···'—श्रीभरतजी ने संतों के लक्षण और संत-असंत के भेद पूछे हैं। श्रीरामजी दोनों के लक्षण साथ-साथ कहते हैं, फिर पृथक्-पृथक् भी कहेंगे। 'भ्राता'—श्रीभरतजी आपको स्वामी ही मानते हैं, पर आप उन्हें भाई (बराबर वाला) ही मानते हैं। 'अगनित श्रुति पुरान विख्याता'—यह कहकर श्रीभरतजी के वचन—'संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि वेद पुरानन्हि गाई ॥" का समर्थन करते हैं।

(२) 'काटइ परसु मलय···'—कुठार अपने स्वभावानुसार सब वृक्षों की तरह चंदन को भी काटता है। वैसे खल सबको दुःख देते हैं, वैसे संतों को भी दुःख देते हैं। सन्त सबको सुख देते हैं वैसे खलों को भी सुख देते हैं ; यथा—"उमा संत कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई ॥" (सुं॰ दो॰ ४॰)।

(३) 'ताते सुर सीसन्ह चढ़त···'—उपर्युक्त बातों से पाया गया कि खलों को तो इस कर्म में लाभ ही होता है, उसपर कहते हैं कि वह लाभ नहीं है; किन्तु उसके प्रतिफल रूप में उन्हें लोक में अपमान होता है, राज दंड पाते हैं और अंत में यमराज के यहाँ भी यातना होती है। संत अपनी सहनशीलता से जगत् मात्र से पूजित होते हैं और अंत में परधाम को जाते हैं।

आगे केवल संतों के लक्षण कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥१॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥२॥

शब्दार्थ—अभूतरिपु = उनका कोई शत्रु पैदा ही नहीं हुआ, अजातशत्रु। अमर्ष = असहनशीलता, असहिष्णुता। विमद = सब प्रकार के मद से हीन।

अर्थ—विषयों में लिप्त नहीं होते, शील और श्रेष्ठ गुणों की खान होते हैं। पराया दुःख देखकर दुखी और सुख देखकर सुखी होते हैं ॥१॥ वे सबमें समान भाव रखते हैं (शत्रु-मित्र, उदासीन में भेद नहीं रखते), उनका कोई शत्रु नहीं है, वे मद रहित और वैराग्यवान् होते हैं। वे लोभ, असहिष्णुता, हर्ष और भय को त्याग किये हुए हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'विषय अलंपट'—विषयों का संसर्ग रहने पर भी वे उनका निर्वाह मात्र के लिये ग्रहण करते हैं, उसमें लिप्त नहीं होते। (अतः, राग-द्वेष से बचे रहते हैं) इसीसे वे शील आदि गुणों की खान होते हैं। 'पर दुख दुख···'—सबमें अपनपौ मानते हैं, इसीसे सबके दुःख में दुखी और सुख में सुखी होते हैं। इसीसे आगे 'सम' भी कहा है ; यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं यदि वा

दुःखं स योगी परमो मतः ॥" (गीता ६।३२), अर्थात् जो योगी अपनी सादृश्यता (समान अपनापन होने) से सब प्राणियों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी (सबमें सम देखता है) वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। भक्तमाल में कथा है कि श्रीकेवलराम (श्रीद्वा) जी को बैल के मारे जाने का दुःख ऐसा व्याप्त हुआ कि उनके शरीर पर सोंटे का दाग उपट आया। यह स्वभाव की कोमलता है।

(२) 'सम अभूतरिपु···'—अपनी हार्दिक समता के कारण उनका कोई शत्रु रह ही नहीं जाता। लोभ नहीं है, क्योंकि संतोष है। 'अमर्ष' जैसे कि प्रतिष्ठित जगह में अपमानित होने पर, एवं अपनी बात कटने पर प्राय. लोगों को क्रोध हो आता है, वह नहीं होता, उसे त्यागे हुए रहते हैं। अत्यन्त आदर एवं विषय प्राप्ति पर हर्ष नहीं होता और अपने प्रभु को ही सर्वत्र सबमें देखते हैं, इससे किसी से भय नहीं करते कि प्रभु किसी के भी रूप से जो कुछ करेंगे, वह हमारे कर्मानुसार न्याय ही होगा। उसमें भी हमारी प्रीति के अनुरूप प्रभु भी चराचर रूप से मुझसे प्रीत्यात्मक ही भाव रक्खेंगे, तब भय क्यों करें ?

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥३॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रानसम मम तेइ प्रानी ॥४॥
बिगत काम मम नाम-परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥५॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धरम जनयत्री ॥६॥

शब्दार्थ—मुदिता = आनंद वृत्ति। जनयत्री = पैदा करनेवाली, माता।

अर्थ—वे कोमल-चित्त होते हैं, उनकी दीनों पर दया रहती है और वे मन, वचन और कर्म से निष्कपट होकर मेरी भक्ति करते हैं ॥३॥ वे सबको मान बड़ाई देते हैं और स्वयं मान रहित होते हैं। हे भरत ! वे प्राणी मुझे अपने प्राणों के समान (प्रिय) हैं ॥४॥ वे कामनारहित हैं और निष्काम भाव से मेरे नाम (आराधन) में लगे रहते हैं। शान्ति, वैराग्य, विनम्रता और मुदिता के घर हैं ॥५॥ शीतलता (कारण पर भी क्रोध न करना), सीधापन (सरल स्वभाव अर्थात् छल रहित होना), मित्रता और ब्राह्मणों के चरणों में प्रीति है, जो सब धर्मों को पैदा करनेवाली है ॥६॥

विशेष—(१) 'कोमलचित···'—चित्त कोमल होने से ही दीनों पर दया होती है ; यथा— "नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता ॥" (आ॰ दो॰ १); 'अमाया'—दिखाने के लिये नहीं, वा, अर्थ आदि की चाह अर्थात् स्वार्थ ही छल एवं माया है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ॰ दो॰ ३००); अमाया अर्थात् स्वार्थ रहित।

(२) 'सबहि मानप्रद···'—सबको निज प्रभु मय मान कर बड़ाई देते हैं और अपनेको सेवक मानकर स्वयं अमानी रहते हैं। 'तेइ प्रानी'—वास्तव में वे ही प्राणी हैं अन्यथा मुझसे विमुख तो शव (मुर्दा) के समान हैं।

यहाँ मुदिता, विरति, मैत्री और 'कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया।' अर्थात् करुणा, ये चारो कहे गये। ये चारो योगशास्त्र में समाधि योग्यता के परकर्म कहे गये हैं, यथा—"मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।" (यो॰ सू॰ १।३३)। इसमें 'उपेक्षा' में उपर्युक्त 'विरक्ति' का भाव है।

यहाँ के उपर्युक्त लक्षण गीता अ० १२।१३-१६ में भी मिलते हैं।

ये सब लच्छन बसहि जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर ॥७॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥८॥

दोहा—निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद-कंज।
ते सज्जन मम प्रान-प्रिय, गुन-मंदिर सुख-पुंज ॥३८॥

अर्थ—हे तात! जिसके हृदय में ये सब लक्षण बसते हों, उसे निरंतर सत्य ही संत जानना ॥७॥ शम (अंत:करण की वासना त्याग), दम (बाह्य-इन्द्रिय-विषय-त्याग), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति) और नीति से कभी नहीं डगते (चूकते)। कठोर वचन कभी नहीं बोलते ॥८॥ उन्हें निंदा और प्रशंसा, दोनों ही समान हैं। मेरे चरण-कमलों में उनका ममत्व है। वे सज्जन गुणों के स्थान और सुखराशि हैं, वे मुझको प्राणों के समान प्रिय हैं ॥३८॥

विशेष—(१) 'ये सब लच्छन...'—जिस किसी में भी ये लक्षण हों, वही सच्चा संत है चाहे वह किसी भी जाति एवं कुल का हो। जैसे जिस पात्र में गंगाजल रक्खा हो, वही गंगाजल का पात्र कहा जाता है। चाहे वह पात्र मिट्टी का हो और चाहे स्वर्ण का। 'संत संतत फुर'; यथा—"नीके तो साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे।" (क० उ० ११८)।

(२) 'ममता मम पद-कंज'—यही सब साधनों का फल है; यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (दो० ४८), ऐसे ही भक्त 'गुन-मंदिर सुख-पुंज' भी हो जाते हैं।

इस एक दोहे में संतों के लक्षण कहते हुए उन्हें तीन बार कहा गया—'प्रान सम ममते प्रानी' 'जानेहु तात संत संतत फुर' और 'ते सज्जन मम प्रान-प्रिय' इनमें भक्तों का कोई विभाग नहीं है किंतु कहने की रीति है, ऐसे ही गीता १२ वें अध्याय में ६ बार कहा गया है, पर वहाँ कोई विभाग नहीं है।

आगे इनके विपर्यय में असंतों के दोष दिखाते हैं—

सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥१॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ॥२॥
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर-संपति देखी ॥३॥

अर्थ—(अब) असन्तों का स्वभाव सुनो, भूलकर भी उनका कभी संग न करना चाहिये ॥१॥ (क्योंकि) उनका संग सदा दुखदायी है, जैसे कि हरहाई (चुराकर दूसरे का खेत खानेवाली) गऊ कपिला (धूम्रवर्णा सुलक्षणा सीधी सादी) गऊ को साथ में लेकर नष्ट कर डालती है (वैसे असत भी सूधे मनुष्यों को दोषी कर देते हैं,) ॥२॥ खलों के हृदय में अत्यन्त अधिक जलन बनी रहती है, वे परायी संपत्ति देखकर सदा जला करते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'भूलेहु संगति करिय न काऊ।'—कोई यह न समझे कि हम खलों से भी मिलकर अपना काम निकाल लें, फिर अलग हो जायँगे। उसे भी निषेध करते हैं कि कभी भी उनका संग नहीं करना चाहिये। जैसे हरहाई सो खाय और कपिला उसके बदले में मारी जाय। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः।" (नारदभक्तिसूत्र); अर्थात् दुःसङ्ग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये। तथा—"यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥ सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा। शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥ तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। सङ्ग न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥" (भाग० ३।३१।३२-३४)। अर्थात् जो मनुष्य शिश्नोदर परायण (स्त्री और पेट-साधन एवं धन में ही आसक्त) दुष्ट मनुष्यों का संग करके उन्हीं के आचरण भी करने लगता है। वह उन्हीं की भाँति अंधकार रूप नरकों में जाता है। क्योंकि दुष्टों के सङ्ग से सत्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्त चित्त, मूर्ख, नष्ट-बुद्धि, स्त्रियों के हाथ के खिलौने रूप, शोचनीय, दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।

(२) 'खलन्ह हृदय अति ताप…'—वे ऊपर से शीतल बने दिखते हैं, पर हृदय से जला करते हैं। संत—'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' कहे गये हैं। ये उसके विरुद्ध हैं; यथा—"जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये…" (दो० ३१)।

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥४॥
काम-क्रोध-मद-लोभ-परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥५॥
बैर अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥६॥

अर्थ—जहाँ कहीं दूसरे की निंदा सुनते हैं, वहाँ ऐसे प्रसन्न होते हैं, मानों नवो निधियाँ उनको (मार्ग में) पड़ी हुई मिल गई हों॥४॥ काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर रहते हैं, दयारहित, कपटी, कुटिल और पापों के स्थान हैं (पापी हैं)॥५॥ विना कारण ही सब किसी से वैर रखते हैं, जो उनका हित करता है उससे भी बुराई ही करते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'परी निधि पाई'—निधि पाने से लोगों की जीविका होती है, वैसे निन्दा ही इनकी जीविका है, इसीसे हर्षित होते हैं। 'पाई' का भाव यह कि निन्दा का मसाला ढूँढा करते हैं, उपाय से जाना तो वह कमाया हुआ धन हुआ और संयोगतः कहीं चलते-फिरते सुन लिया तो मानों पड़ा हुआ धन पा गये। 'जहँ कहुँ'—का भाव यह कि ये उसके लिये फिरा करते हैं। पर निंदा भारी पाप है। अतः, प्रायः लोग नहीं करते, इससे कहीं-कहीं सुन पाते हैं।

(२) 'काम-क्रोध-मद-लोभ…'—'कामी' होने से 'मलायन' हैं; अर्थात् नरक रूप हैं। 'क्रोधी' होने से 'निर्दय' मदांध होने से 'कुटिल' और 'लोभी' होने से 'कपटी' हैं। यहाँ यथासंख्य नहीं है, अर्थ की संगति के अनुसार पाठ क्रम मानना चाहिये। यहाँ 'काम' को आदि में कहा; क्योंकि इसी से क्रोध, मद और लोभ होते हैं; यथा—"काम एष क्रोध एष…" (गीता ३।३७); "कामात्क्रोधोऽभिजायते।" (गीता २।६२); गुण, बल आदि की कामना पूर्ति पर उनके मद होते हैं और धन की कामना पूर्ति पर लोभ होता है।

(३) 'बैर अकारन सब काहू सों।…'—संत 'अभूतरिपु' होते हैं और असंत बिना कारण

ही वैर करते हैं। संत शत्रु का भी हित ही करते हैं, खल हितैषी का भी अहित करते हैं। पुन. संत दयालु और सरल होते हैं, असंत निर्दय और कपटी होते हैं। संत 'विगत काम मम नाम परायन' और खल 'काम क्रोध मद लोभ परायन', संत 'साति विरति बिनती मुदितायन' और खल 'मलायन' इत्यादि भेद हैं।

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥७॥
बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा ॥८॥

दोहा—परद्रोही परदार-रत, परधन परअपवाद।
ते नर पॉवर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥३९॥

अर्थ—उनका लेना झूठ ही और देना भी झूठ ही है (अर्थात् उनके सब प्रकार के लेन-देन आदि व्यवहार झूठ से भरे हुए होते हैं)। उनका भोजन झूठ और चबेना भी झूठ ही ॥७॥ जैसे मोर बहुत मीठा बोलता है, पर उसका हृदय ऐसा कठोर होता है कि वह महा विषधर सर्प को खा जाता है, (उसे विष भी नहीं व्यापता) वैसे ही खल भी ऊपर से मीठे वचन बोलते हैं (पर हृदय के बड़े कठोर होते हैं)॥८॥ दूसरे से द्रोह करते हैं, पराये की स्त्री, पराये धन और पराई निंदा में आसक्त रहते हैं, ऐसे मनुष्य नीच और पापमय हैं (पाप ही के पुतले हैं), खल देह धारण किये हुए राक्षस ही हैं ॥३९॥

विशेष—(१) 'झूठइ लेना झूठइ देना' '—जहाँ उनका भाग नहीं, वहाँ भी झूठा भाग दिखाकर लेते हैं। देना झूठ करते हैं, लिखे हुए कागज पर भी उसे झूठा कर देते हैं। अथवा झूठा ही कहते हैं कि हमें अमुक से इतना लेना (पाना) है और झूठा ही कहते हैं कि हम इतना दान देते हैं, इत्यादि रीति से झूठी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। 'झूठइ भोजन...'—झूठा ही कहा करते हैं कि हम अमुक-अमुक उत्तम वस्तुएँ खाते हैं और ऐसी-ऐसी उत्तम वस्तुएँ चबाते हैं, इत्यादि कह-कहकर प्रतिष्ठा चाहते हैं। तात्पर्य यह कि उनके सभी व्यवहार झूठ से भरे हुए होते हैं।

(२) 'बोलहिं मधुर बचन ...'—मीठी बातें कहकर लोगों को धोखा देते हैं। हृदय में स्वार्थ साधन के लिये कठोरता एवं खोटे कर्म साधने की प्रवृत्ति रहती है।

(३) 'परद्रोही परदार-रत ...'—पहले परद्रोही कहकर फिर उसके कारण कहे कि परस्त्री, परधन एवं पराई निंदा के सम्बन्ध से सबसे द्रोह करते हैं। पूर्व काम और लोभ परायण कहे गये थे, वह अपनी स्त्री और अपने धन के सम्बन्ध में लग सकता है। यहाँ 'परदार' और 'परधन' में रत होना कहकर दूसरी बात कही गई है। अत, पुनरुक्ति नहीं है।

धर्म के चार अंग 'सत्य, शौच, दया, दान' कहे गये हैं, दो० २० चौ० ३ देखिये। वैसे ही यहाँ अधर्म के भी चारों अंग कहे गये हैं—असत्य, अशौच (संग), निष्ठुरता और लोभ, ये चार इनमें पूर्ण हैं यथा—"झूठइ लेना झूठइ देना।"—असत्य, 'परदार-रत'—संग, "बोलहि मधुर" हृदय कठोरा॥"—निष्ठुरता और 'परधन-रत'—यह लोभ है। ये चारों, धर्म के चारों अंगों के विरोधी हैं।

(४) 'देह धरे मनुजाद'—राक्षस मनुष्यों को खाते हैं और ये मनुष्यों के धन, कर्म और धर्म को नाश करते हैं।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर-पर जमपुर त्रास न ॥१॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई ॥२॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जग-नृपती ॥३॥

अर्थ—लोभ ही उनका ओढ़ना और लोभ ही बिछौना है, लिङ्ग और पेट इन्हीं दो की तृप्ति में तत्पर रहते हैं, इन्हीं के लिये परस्त्री और परधन हरण आदि के पाप करते हैं, इन पापों से यमपुर में कड़े दंड दिये जाते हैं, पर इन्हें उनकी परवा नहीं है, (भाव यह कि लोग इन्हें शास्त्र दृष्टि से भय दिखाते हैं, पर ये नहीं मानते) ॥१॥ जब किसी की बड़ाई सुनते हैं तब ऐसी लंबी साँस लेते हैं, मानों इन्हें जूड़ी आई है ॥२॥ और जब किसी की विपत्ति सुनते हैं, तब सुखी होते हैं, मानों जगत भर के राजा हो गये ॥३॥

विशेष—(१) 'लोभइ ओढ़न···'—इनका सर्वाङ्ग लोभ ही में ओत-प्रोत है। दिन रात सोते-जागते लोभ ही के व्यापार में लगे रहते हैं।

(२) 'जनु जूड़ी आई'—जाड़ा देकर ज्वर आने पर जैसे श्वास चलती है वैसे श्वास लेते हैं, उस दिन भूख भी नहीं रह जाती। 'जौं सुनहिं'—उनके डर से कोई दूसरे की बड़ाई उनसे नहीं करता। अचानक कहीं कान में पड़ जाती है, तब यह दशा होती है। पर-निंदा-श्रवण में तो 'जहँ कहुँ' कहा गया था; अर्थात् उसे तो खोजा करते हैं। पर दूसरे की प्रशंसा घर पर आकर भी कोई सुनावे, तो नहीं सुनते।

(३) 'जब काहू कै देखहि बिपती।···' पूर्व कहा था—'जरहिं सदा पर संपति देखी।' अब कहते हैं कि परायी विपत्ति पर इन्हें *बड़ा सुख होता है, मानों ये जगत् भर के राजा हो गये।* भाव यह कि मानों इन्हीं की आज्ञा से उसे विपत्ति आई है, इस बहादुरी से सुखी होते हैं।

स्वारथ-रत परिवार-बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी ॥४॥
मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिं। आपु गये अरु घालहिं आनहिं ॥५॥
करहिं मोह-बस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा ॥६॥

अर्थ—स्वार्थ-साधन में तत्पर रहते हैं, अपने कुटुम्बियों से विरोध रखते हैं, काम और लोभ में अत्यन्त आसक्त रहते हैं और अत्यन्त क्रोधी हैं ॥४॥ माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण को नहीं मानते। आप तो गये बीते हैं ही, दूसरों को भी नष्ट करते हैं ॥५॥ मोहवश दूसरों से शत्रुता करते हैं, संतों का साथ और भगवान् की कथा इन्हें नहीं रुचती (क्योंकि सत्संग और कथा से मोह का नाश होता है और यह इनकी प्रकृति के प्रतिकूल है) ॥६॥

विशेष—(१) 'स्वारथ-रत परिवार-बिरोधी।···'—पहले 'बैर अकारन सब काहू सों' कहा गया था उससे इतना ही जाना गया था कि बाहरवालों से विरोध करते हैं। यहाँ और अधिकता दिखाते हैं कि ये स्वार्थ-वश परिवार से भी विरोध करते हैं।

'लंपट काम लोभ ···'—ऊपर कहा गया था—'काम क्रोध मद लोभ परायन' यहाँ उसमें 'अति लंपट' कहकर अधिकता कही गई है। 'अति' दीपदेहली है। यह भी भाव है कि कुटुम्बगण में भी काम लोभ और क्रोध का अति बर्त्ताव करते हैं, यह पूर्व से विशेषता है।

(२) 'मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं ।'– मानने के विषय में माता का पद सबसे बड़ा है, फिर क्रमशः पिता, गुरु (उपाध्याय) और विप्र का पद है ; यथा—"उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥" (मनु०) ; वैसे ही क्रम से यहाँ लिखा गया है । 'आपु गये ···'—स्वयं नहीं मानते, दूसरे को भी बहकाकर नहीं मानने देते कि दूसरा मानेगा, तो लोग मुझे नीचा दिखायेंगे कि अमुक-अमुक माता आदि के भक्त हैं, पर यह नहीं है ।

(३) 'करहिं मोह बस···'—मोह यह कि अपनेको तो अमर माने हुए हैं और इसीसे सबसे द्रोह करते हैं कि मेरा कोई क्या करेगा ?

अवगुन - सिंधु मंदमति कामी । बेद - बिदूषक पर - धन - स्वामी ॥७॥
बिप्र - द्रोह पर - द्रोह बिसेषा । दंभ कपट जिय धरे सुबेषा ॥८॥

दोहा—ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं ।
द्वापर कछुक बृंद बहु, होइहहिं कलिजुग माहिं ॥४०॥

अर्थ—अवगुणों के समुद्र हैं (अर्थात् जितने कहे गये, उतने ही अवगुण नहीं हैं, किन्तु इनके अवगुणों की थाह नहीं है), मंद बुद्धि और कामी हैं, वेदों के उपहास करनेवाले हैं और पराये धन के स्वामी हैं ॥७॥ (द्रोह तो सभी से करते हैं पर) ब्राह्मणों से और पर (परमेश्वर) से विशेष द्रोह करते हैं । उनके हृदय में पाखंड और कपट हैं और ऊपर से वे सुंदर वेष धारण किये हुए रहते हैं ॥८॥ ऐसे अधम और दुष्ट मनुष्य सतयुग और त्रेता में नहीं होते । द्वापर में कुछ होंगे और कलियुग में तो इनके बहुत समूह होंगे ॥४०॥

विशेष—(१) 'अवगुन सिंधु···'—समष्टि में सब अवगुणों की अगाधता कही गई उनमें जो कुछ गिनाये गये हैं, उनकी भी अगाधता यहाँ जना दी । 'बेद बिदूषक'—वेदों के अगाध आशय को न समझ कर उनके वाक्यों को असम्बद्ध आदि दोषों से युक्त कहकर हँसी उड़ाते हैं । 'परधन स्वामी'—दूसरे के धन पर अधिकार जमा बैठते हैं, ऐसा प्रकट करते हैं मानों वह उन्हीं का है —'कामी'—अपनी मंद बुद्धि के अनुसार अनेकों कामनाएँ किया करते हैं—गीता १६।१२–१५ देखिये ।

(२) 'बिप्र-द्रोह पर-द्रोह ···'—ब्राह्मण और ईश्वर की भी द्रोह-भाव से निन्दा करते हैं ; यथा—"बिप्र द्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सब को बैर बढ़ावउँ ।" (वि० १४२) । 'दंभ कपट' मन का और 'धरे सुबेषा' तन का दोष कहा गया है । दंभ और कपट के भाव छिपाने के लिये सुवेष धारण किये रहते हैं । पहले 'बिप्र न मानहिं' कहा गया था । अब यह भी कहते हैं कि उनसे वैर भी रखते हैं ।

(३) 'ऐसे अधम'—उपर्युक्त लक्षणों से युक्त, 'मनुज खल'—दैत्य और राक्षस खल तो सतयुग और त्रेता में भी होते हैं, पर मनुष्य-खल वैसे द्वापर में कुछ और विशेष कलियुग में ही होते हैं ।

शंका—जो त्रेता में वैसे खल न थे तो श्रीभरतजी ने उनके लक्षण क्यों पूछे ?

समाधान—भविष्य के लोगों के लिये ; यथा—"संत असंतन्ह के गुन भाखे । ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे ॥" यह आगे कहा गया है ।

परहित-सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥१॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहि कोविद नर ॥२॥
नर-सरीर धरि जे पर पीरा। करहि ते सहहि महाभव भीरा ॥३॥
करहि मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ-रत परलोक नसाना ॥४॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता ॥५॥

अर्थ—हे भाई। परोपकार के समान दूसरा धर्म नहीं है और दूसरों को दु ख देने के समान अधमता (नीचता, पाप एव अधर्म) नहीं है ॥१॥ हे तात। सब पुराणों और वेदों का यह निर्णय (फैसला) मैंने तुमसे कहा है, इसे पडित लोग जानते हैं ॥२॥ जो लोग मनुष्य शरीर धरकर दूसरों को पीड़ित करते हैं वे अत्यन्त भव भय सहते हैं ॥३॥ मनुष्य मोहवश अनेकों पाप करते हैं और स्वार्थ में लगे रहते हैं, (इसीसे) उनका परलोक नष्ट हो गया है ॥४॥ हे भाई। उनके लिये मैं काल रूप होकर उनके शुभ और अशुभ कर्मों के भले और बुरे फलों को देनेवाला हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'परहित-सरिस धर्म नहिं भाई'—यह सत धर्म और 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।' यह असत का धर्म (लक्षण) है।

(२) 'निर्नय सकल ', यथा—"अष्टादशपुराणाना व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकार पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥"

'जानहिं कोविद नर'—पंडितों ने सबको पढ़कर निश्चय किया है, वे इस बात के साक्षी हैं।

(३) 'नर-सरीर धरि '—पर पीडा का फल अन्य योनिवालों को भी मिलता है, वे अज्ञानी होने के कारण भव भीर ही पाते हैं। परन्तु नर शरीर गुण ज्ञान का निधान है, वह यदि पर पीड़ा करता है तो उसे महा-भव-भीर सहनी पड़ती है। बार-बार जन्म-मरण के कष्ट एव चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए महा दु ख भोगने पड़ते हैं, यथा—"जन्मत मरत दुसह दुख होई।" (दो॰ १०८), और अन्य योनियों के दु ख प्रकट ही हैं

अन्य शरीरवाले प्राकृत नियमानुसार प्रतिकार रूप मे उतना ही दड पाते हैं।

(४) 'करहिं मोहबस '—मोहवश देह को ही आत्मा मान लेते हैं, फिर उसके पोषण-रूप स्वार्थ में अधे होकर नाना प्रकार के पाप करते हैं। विश्वास घात, जीव घात, चोरी, झूठ, आदि करने से उनका परलोक नाश होता है, अर्थात् वे परधाम प्राप्ति से वचित रह जाते हैं, जो कि नर-शरीर का परम लक्ष्य है।

(५) 'काल-रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। '—अब उनके कर्मों की फल-प्राप्ति कहते हैं। इतना ही नहीं है कि परलोक-हानि-मात्र सह कर वे बच जायँगे। उन्हें कर्मों के फल भी भोगने पड़ेंगे। जो जैसा कर्म करता है, उसके फल भोगने का समय उसका सुदिन दुर्दिन कहा जाता है, यह जीवों के कर्मानुसार भगवान् की इच्छा से होता है यथा—"भृकुटि बिलास भयकर काला।" (छ॰ दो॰ १४), "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।" (गीता ११।३२)।

अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जानें ॥६॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ-दायक। भजहिं मोहि सुर-नर-मुनिनायक ॥७॥
संत-असंतन्ह के गुन भाखे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे ॥८॥

दोहा—सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखियहिं, देखिय सो अविवेक ॥४१॥

अर्थ—ऐसा विचारकर जो लोग परम प्रवीण हैं, वे जन्म मरण के दुःखों को जानकर मेरा भजन करते हैं (क्योंकि मेरी भक्ति से भव दुःख छूटता है) ॥६॥ देवता, मनुष्य और मुनीश्वर शुभाशुभ देनेवाले (अर्थात सकाम) कर्मों को त्यागकर मेरा भजन करते हैं। [निष्काम कर्म तो भगवद्भजन ही है; यथा—"यतः प्रवृत्ति भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" (गीता १८।४६)] ॥७॥ संतों और असंतों के जो गुण कहे गये, उनको जिन्होंने लख (जान-बूझ) रक्खा है वे भव में नहीं पड़ते ॥८॥ हे तात! सुनो, माया के रचे हुए अनेक गुण और दोष हैं। लाभ इसीमें है कि दोनों को न देखे, जो देखते हैं, वह उनका अज्ञान है ॥४१॥

विशेष—(१) 'त्यागहि कर्म ···'—शुभाशुभ कर्मों के साथ 'दायक' शब्द बड़े सँभाल का है। कर्म का सर्वथा त्याग निषिद्ध है, उसके फल का ही त्याग शास्त्र सम्मित है; यथा—"कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥···न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥" (गीता १८।९–११)।

निष्काम बुद्धि से तत्त्व ज्ञान पूर्वक जो कर्म किये जाते हैं, वे विश्व-रूप भगवान् की पूजा-रूप में ही हैं, देव, पितृ, ऋषि आदि सभी भगवान् के शरीर हैं। ऊपर कहा गया था कि शुभाशुभ कर्म के फल भगवान् काल-रूप से देते हैं। उससे बचने का उपाय यहाँ कहा गया।

कर्म-त्याग पूर्वक भगवदाराधन की यह भी रीति है कि मैं विहित कर्मों को भगवान् की ही प्रेरणा एवं उनकी शक्ति से निमित्तमात्र होकर कर रहा हूँ। इस तरह ममता और आसक्ति का त्याग करना समस्त कर्मों का भगवान् मे अर्पण करना है और मेरे सर्वस्व भगवान् ही हैं, ऐसा समझकर नि स्वार्थ भाव तथा श्रद्धा सहित अनन्य प्रेम करना उनकी भक्ति है; यथा—"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।" (गीता० १२।६–७)।

(२) 'संत-असंतन्ह के ···'; यथा—"तेहिते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥" (बा० दो० ५)—देखिये। वहाँ ग्रंथकार का स्वयं कथन है और यहाँ श्रीमुख वाणी है।

"संत-असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई ॥" यह उपक्रम है और यहाँ—'संत-असंतन्ह के गुन भाखे। ते न ···' यह उपसंहार है।

(३) 'सुनहु तात माया कृत ···'—उपर्युक्त बातों का निष्कर्ष रूप सूक्ष्म बात कहना है, इसलिये 'सुनहु' कहकर सावधान किया। 'तात'—प्रियत्व का संबोधन है। भाव यह कि तुम अति प्रिय हो, इससे

यह परम रहस्य तुमसे कहता हूँ। 'माया कृत'''— ऊपर जो 'संत-असंतन्ह के गुन' कहे गये। उनमें संतों के गुणों को यहाँ 'गुन' कहा है और असन्तों के गुणों को 'दोष' कहा है। इन्हें यहाँ 'लखि रासे' कहा है, वही इस दोहे से स्पष्ट करते हैं कि जो संतों के गुण हैं, वे भगवान् की कृपा से उनकी विद्या माया के द्वारा हुए हैं और जो असंतों के दोष हैं वे उन्हीं की अविद्या दृष्टि के अनुसार भगवान् की सत्ता से होते हैं। इनमें जीवों का स्वातंत्र्य नहीं है; यथा—"यन्मायावशवर्त्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः।" (बाल्मी॰ मं॰ श्लो॰ ६); अतएव गुण-दोष दृष्टि छोड़कर इनके कर्त्ता भगवान् को ही देखना चाहिये कि वे ही सब कुछ हैं। अतएव दृढ़ करके उन्हीं की शरणागति करनी चाहिये तब वे अविद्या कृत अवगुणों को दबा कर विद्या माया द्वारा गुणों की प्राप्ति करावेंगे, यही विवेक है; यथा—"सतरंज कैसो राज काठ की सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ! बहु बेष बहु सुख सारदा कहति॥" (वि॰ २४६)।

ऊपर 'मायाकृत' गुण और दोषों को भगवान् का समझना कहा गया है, वह इससे कि माया की सत्ता भगवान् से ही है; यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४)। ऐसा ही श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है; यथा—"किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः। गुणदोष दृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥" (११।१९।४५)।

श्रीमुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेम न हृदय समाई॥१॥
करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा॥२॥
पुनि रघुपति निज मंदिर गये। येहि बिधि चरित करत नित नये॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के मुख के बचन सुनते ही सब भाई हर्षित हुए, उनके हृदय में प्रेम नहीं समाता (अर्थात् पुलक और प्रेमाश्रु द्वारा बाहर भी निकल पड़ा)॥१॥ बार-बार अत्यन्त विनय कर रहे हैं। श्रीहनुमान्‌जी के हृदय में अपार हर्ष है॥२॥ फिर श्रीरघुनाथजी अपने महल को गये। इस प्रकार नित्य नये चरित करते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'श्रीमुख'—बड़ों की वाणी सराहने का यह मुहावरा है। तात्पर्य यह कि प्रवीणता के बचन कहने में मुख की श्री अर्थात् शोभा है।

(२) 'करहिं बिनय अति बारहि बारा।'—ऊपर प्रेम का होना कहा गया, यहाँ उसकी दशा कहते हैं कि मारे प्रेम के बार-बार विनय करते हैं कि बड़ी कृपा की जो हमें ऐसे सदुपदेश से कृतार्थ किया। 'हनूमान हिय हरष अपारा।' इनका हर्ष भाइयों से भी अधिक कहा गया, क्योंकि इनके द्वारा प्रश्न और उत्तर का संयोग हुआ था। सबके हर्ष का कारण—प्रभु के हृदय में दासों का पक्ष है। 'येहि बिधि चरित'''—यह तो एक दिन का चरित कहा गया है, इसी तरह नित्य नये और चरित होते हैं।

'सुंदर उपवन देखन गये।' उपक्रम है और 'पुनि रघुपति निज मंदिर गये।' यह उपसंहार है।

बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥४॥
नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥५॥

सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं । पुनि पुनि तात करहु गुन-गानहिं ॥६॥
सनकादिक नारदहि सराहहिं । जद्यपि ब्रह्म-निरत मुनि आहहिं ॥७॥
सुनि गुनगान समाधि बिसारी । सादर सुनहिं परम अधिकारी ॥८॥

दोहा—जीवन - मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान ।
जे हरि-कथा न करहिं रति, तिन्हके हिय पाषान ॥४२॥

अर्थ—नारद मुनि बार-बार (प्रति दिन) श्रीअयोध्यापुरी में आते हैं और श्रीरामजी के पवित्र चरित गाते हैं ॥४॥ मुनि (नारद) नित्य नये चरित देखकर ब्रह्मलोक को जाते हैं और वहाँ सब कथा कहते हैं ॥५॥ सुनकर ब्रह्माजी अत्यन्त सुख मानते हैं और कहते हैं कि हे तात ! फिर-फिर (बार-बार) राम-गुण गान करो ॥६॥ सनकादिक नारद मुनि की प्रशंसा करते हैं यद्यपि वे मुनि ब्रह्म (ज्ञान) में अनुरक्त रहते हैं (भाव यह कि ब्रह्मानंद से श्रीरामचरित में अधिक आनन्द है) ॥७॥ गुण-गान सुनकर समाधि को भुला करके आदर के साथ श्रीरामचरित सुनते हैं (क्योंकि) वे श्रीरामचरित के परम अधिकारी हैं ॥८॥ सनकादिक मुनि जीवन्मुक्त और ब्रह्मपरायण हैं, वे भी ध्यान छोड़कर चरित सुनते हैं । (यह जानकर भी) जो हरि-कथा में प्रीति नहीं करते, उनके हृदय पत्थर (के समान कठोर) हैं ॥४२॥

विशेष—(१) 'सब कथा'—वहाँ सब कथा कही जाती है । 'सुनि बिरंचि अतिसय···'—देवता लोग भी सुख मानते हैं, पर श्रीब्रह्माजी अत्यन्त सुख मानते हैं, क्योंकि वे इस रहस्य के अधिक ज्ञाता हैं । जैसे राज्य-तिलक में कहा गया—'सो रस जान महेस' ।

(२) 'पुनि पुनि तात···'—यह श्रीब्रह्माजी की अत्यन्त श्रद्धा का सूचक है कि सुनने से उन्हें तृप्ति नहीं होती ।

(३) 'सुनि गुनगान समाधि बिसारी ।···'—सनकादि बराबर समाधि लगाया करते हैं । पर चरित गान सुनकर बराबर सुनते ही रह जाते हैं, इसके आनन्द के आगे समाधि के आनन्द की सुधि भी नहीं करते ; यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह । ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥" (दो० ४६); 'सादर सुनहिं' —मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनते हैं ; यथा—"सुनहुँ तात मति मन चित लाई ।" (आ० दो० १४); इसीसे वे 'परम अधिकारी' हैं ; यथा—"सदा सुनहिं सादर नर नारी । तेइ सुर बर मानस अधिकारी ॥" (बा० दो० ३७) । ये भी सदा सुना करते हैं; यथा—"आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं । रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं ॥" (दो० ३१), ये ध्यान समाधि छोड़कर सुनते हैं, इससे भी परम अधिकारी कहे गये, क्योंकि इसके रहस्य के विशेष ज्ञाता हैं, तब तो इन्हें चरित में ब्रह्मानन्द से अधिक रस मिलता है । कथा के अधिकारी दो० १२७ चौ० ६-८ में भी कहे गये हैं ।

श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है ; यथा—"इति मे छिन्नसंदेहा मुनयः सनकादयः । सभाजयित्वा परया भक्त्या गृणत संस्तवैः ॥" (११।१३।४१); अर्थात् सन्देह रहित सनकादिक मुनि लोग इस तरह परम भक्ति से मेरे गुणों की स्तुति करते हुए प्रणाम करते एवं मुझे पूजते हैं ।

समाधि—योग का परम फल, इस अवस्था में जीव सब प्रकार के क्लेशों से मुक्त हो जाता है और

उसे अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है और अंत में कैवल्य परम पद प्राप्त होता है।

(४) 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर…'—जीवन्मुक्ति की व्यवस्था इस प्रकार है कि जिन्हें अब मुक्ति का उपाय शेष नहीं है, मुक्त रूप हैं, वे केवल प्रारब्ध भोग के लिये शरीरधारी हैं। जीते जी संसार से 'पद्मपत्रमिवांभसा' अलिप्त हैं; यथा—"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्। दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षित एव सासुः। तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥" (भाग० ११।१३।३६–३७) अर्थात् नश्वर देह रहे चाहे जाय, सिद्ध पुरुष उसे नहीं देखता, क्योंकि वह अपने स्वरूप को पा चुका है, भाग्य से वह प्राप्त हो चाहे न हो, जैसे मतवाला वस्त्र को। प्रारब्ध-वश देह भी तबतक स्वारंभक कर्म की प्रतीक्षा करते हुए रहती है; अर्थात् छूटती नहीं। परंच समाधि योग में आरूढ़ पुरुष प्रपंच सहित भी उसे नहीं देखता, जैसे जागा हुआ फिर निद्रा का अनुभव नहीं करता।

इसी अवस्था को भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य ने ब्र० सू० आनन्दभाष्य ४।२।७ में—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (का० २।३।१४), इस श्रुति की सार्थकता दिखाते हुए प्रतिपादित किया है कि सुख का कारण पुण्य और दुःख का कारण पाप है, हृदय से इन दोनों का त्याग हो जाता है, तभी अमृतत्व अर्थात् मोक्ष सुख मिलता है, ऐसा कहा गया है। इस तरह जो उपासना काल में ब्रह्म का अनुभव (ब्रह्मानन्द) प्राप्त करना है, वही जीवन्मुक्ति है। दो० ११७ चौ० ५ भी देखिये।

देह से जीवन्मुक्त हैं, अर्थात् देह धर्म से अलिप्त हैं और हृदय से ब्रह्म निरत हैं। तब भी चरित के आगे ब्रह्मानन्द को भूल जाते हैं। जैसे राजा जनक का ब्रह्मानन्द श्रीराम रूप के देखते ही भुला गया था इस तरह रूप और लीला की समानता भी देखी गई। पुनः पूर्वोक्त 'सोउ जाने कर फल यह लीला।' का यहाँ चरितार्थ भी है। 'तिन्हके हिय पाषान'—देखने मात्र को उनमें प्राण हैं, पर विचारने से वे पत्थर के समान जड़ हैं।

यहाँ यह उपदेश है कि प्राणि-मात्र को चरित सुनना चाहिये।

पुरजन-उपदेश—प्रकरण

(श्रीरामगीता)

एक बार रघुनाथ बोलाये। गुरु - द्विज - पुरबासी सब आये॥१॥
बैठे गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत-भव-भंजन॥२॥

अर्थ—एक दिन श्रीरघुनाथजी ने गुरु, ब्राह्मण और पुरवासियों को बुलाया, वे सब आये॥१॥ जब समस्त गुरुजन एवं गुरु वसिष्ठजी, मुनि, ब्राह्मण और सज्जन बैठ गये, तब भक्तों के भव (जन्म-मरण) के नाश करनेवाले श्रीरघुनाथजी मन-मंजन वचन बोले॥

विशेष—(१) 'एक बार रघुनाथ बोलाये।···'—ऊपर कहा गया कि 'येहि बिधि चरित करत नित नये' उनमें एक दिन का चरित उपवन जाना और वहाँ सत्संग होना लिखा गया और फिर वहाँ से लौटकर मंदिर में आना कहकर उस चरित का उपसंहार किया गया। अब दूसरे 'एक बार' का चरित लिखते हैं। रघुनाथ बोलाये'—सबको बुलाने का प्रयोजन यह कि श्रीरामजी सबको मुक्त करना चाहते हैं और मुक्ति के लिये ज्ञानोपासना आवश्यक हैं; यथा—"ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।" यह श्रुति है, तथा—"भक्त्याहमेकया ग्राह्य." (भाग० ११।१४।११); इत्यादि। इसलिये वेद-शास्त्र की मर्यादा रखने के लिये सबको बुलाकर उपदेश करते हैं।

(२) 'गुरु-द्विज-पुरबासी सब आये'—गुरु शब्द मे यहाँ सभी गुरुजन को लेना चाहिये, यथा—"गुरु जन लाज समाज बड़ ···" (बा० दो० २४८); और गुरु वसिष्ठजी तो हैं ही। यदि कहा जाय कि गुरु वसिष्ठ जी का यहाँ कोई प्रणाम आदि सत्कार करना नहीं कहा गया तो उत्तर यह है कि ग्रंथकार सूक्ष्म रीति से यह प्रसंग कह रहे हैं। प्रणाम-अभिवादन तो यहाँ किसी का भी नहीं लिखा गया। जिसका जैसा व्यवहार है, वह उस तरह आया और सत्कार पूर्वक बैठाया गया। यहाँ 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई' की रीति से कथन हो रहा है। 'सब' शब्द का भी यही भाव है कि सब कोई आये। प्रमुख व्यक्ति तो अवश्य ही सब आये थे।

यदि शंका की जाय कि जिस तरह प्रभु अपना स्वामित्व और सबको अपनी भक्ति करना कहेंगे। वह वसिष्ठजी के समक्ष लीलानुरोध से अनुचित है। तो समाधान यह है कि गुरुजन सभी वहाँ हैं, पर बातें पुरजनों के प्रति संबोधन करके कही गई हैं; यथा—'सुनहुँ सकल पुरजन मम बानी।' इत्यादि। वसिष्ठजी के होने का यह भी प्रमाण है कि यहाँ श्रीरामजी ने अपनी ऐश्वर्य प्रकट कर दिया है, तब आगे 'एक बार वसिष्ठ मुनि आये।' का उपक्रम इसी आधार पर है कि जब प्रभु ने अपना ऐश्वर्य प्रकट किया है तो मेरे स्तुति आदि करने में उन्हें संकोच न होगा, पुनः आगे 'सबहि कहउँ कर जोरि' आदि वाक्य भी गुरुवर्ग के वहाँ होने को सूचित करते हैं।

(३) 'बैठे गुरु मुनि···'—पहले तो गुरु आदि के नाम कहे ही गये, यहाँ उनके नामों की आवृत्ति फिर की गई। क्योंकि पहले उन सबका आना कहा गया था। और फिर 'बैठे' के साथ भी उनके नाम देकर उनका यथायोग्य सत्कार द्वारा बैठाया जाना भी सूचित किया गया, इसमे प्रणाम-अभिवादन सब बर्त्ताव आ जाते हैं। नहीं तो एक बार के यों कथन मे काम चल जाता—"सभा देखि गुरु मुनि द्विज सज्जन। बोले बचन···"।

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी ॥३॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ॥४॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई ॥५॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई ॥६॥

अर्थ—हे सब पुरवासियो! मेरे वचन सुनो, मैं हृदय में कुछ ममत्व लाकर नहीं कहता हूँ (अर्थात् मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं राजा हूँ और ये मेरे हैं तो जो मैं कहूँगा अवश्य करेंगे।) ॥३॥ न तो कुछ अनीति कहता हूँ और न इस कथन में कुछ प्रभुता का भाव है (कि राजाज्ञा समझकर मान ही

लेना, प्रत्युत् मेरी प्रभुता का भय न रख कर,) सुनो और जो तुम्हें रुचे तो करो ॥२॥ (इसमें संदेह नहीं कि) मेरा वही सेवक है और वही अत्यन्त प्यारा है जो मेरी आज्ञा माने ॥३॥ हे भाई ! यदि मैं कुछ अनीति कहूँ तो भय भुलाकर मुझे रोक देना ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनहु सकल पुरजन'''—यहाँ पर 'सुनहुँ सभासद' नहीं कहा, जैसे कि—'सुनहुँ सभासद भरत सुजाना ।'—एवं 'सुनहुँ सभासद सकल मुनिंदा ।' आदि प्रसंगों पर कहा गया है। क्योंकि सभा में गुरु विप्र भी हैं, जिन्हें उपदेश देना सामान्य रीति से माधुर्य भाव के प्रतिकूल है। 'पुरजन' कहने में सब आ भी जाते हैं और बात भी अशोभित नहीं होती। पुरजन कहा है, प्रजा जन नहीं कहा कि जिसमें जानपद सभी आ जाता। क्योंकि एक तो इसमें पुरवासी ही बुलाये गये हैं, दूसरे यह कि श्रीरामजी स्वयं भी पुरवासी हैं। अतएव सबसे बंधुत्व भाव प्रकट करते हैं कि भाई के नाते से हम उपदेश करते हैं, कुछ राजा भाव से नहीं।

'कहउँ न कछु ममता उर आनी ।'—उपर्युक्त भाव यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मुझे यह ममत्व नहीं है कि श्रीअयोध्यापुरी मेरी है और तुम मेरी प्रजा हो। अत, तुम्हारे लिये यह मेरी आज्ञा ही है।

(२) 'नहिं अनीति' अर्थात् शास्त्र विरुद्ध बात नहीं है। 'नहिं कछु प्रभुताई' अर्थात् यह राजाज्ञा नहीं है। 'सुनहु करहु'''—सुन लो, फिर जो तुम्हें अनुकूल हो तो करो, अर्थात् मेरे वचनों पर आप लोगों को समालोचना करने का पूर्ण अधिकार है। (राजाओं के लिये यह आदर्श नीति है।) भाव यह कि यदि मेरा कथन शास्त्रोक्त नीति के अनुसार हो और कोई प्रभुताई के दबाव का न हो, तो आप लोगों को रुचि पूर्वक करना चाहिये। फिर यह बात निस्संदेह है कि—

(३) 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।'''—उपर्युक्त रीति से मेरी शुद्ध आज्ञा जो कोई मानता है, वही मेरा अत्यन्त प्यारा है और वही सच्चा सेवक है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००)। "कोउ पितु भगत'''सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।" (दो० ८१)। अन्यत्र भी कहा है—"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा तामुल्लंघ्य यो वर्तयेत्। आज्ञाछेदी मम द्वेष्टा मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥" (पांचरात्र); अर्थात् श्रुति स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं, इनका उल्लंघन करके जो आचरण करता है, वह आज्ञा भंग करनेवाला मेरा भक्त भी हो तो वैष्णव नहीं कहा जा सकता।

(४) 'जौं अनीति कछु'''—'जौं' का भाव यह कि मैं धर्मशास्त्र की नीति ही कहूँगा, यदि कहीं भूल से कुछ अनीति मेरे मुख से निकल जाय। वा, मैं तो नीति ही कहूँगा, पर उसे नीति वा अनीति समझना श्रोताओं की बुद्धि पर निर्भर है। 'भाई' यहाँ तुल्यता के भाव में कहा गया है, यह ऊपर भी कहा गया कि आप स्वयं भी पुरवासी हैं और सबसे बंधुत्व दृष्टि से कह रहे हैं। आगे भी तीन बार 'भाई' शब्द आया है—"सुलभ सुखद मारग यह भाई।"; "यहि तन कर फल विषय न भाई।" और "यहि आचरन बस्य मैं भाई।" तात्पर्य यह है कि हम और आप लोग समान हैं, राजा होने से हम बड़े भाई के समान और आप लोग छोटे भाई के समान हैं। इस नाते से हमारी अनीति पर आप लोगों को समालोचना का अधिकार है और आप लोगों का सेवक भाव भी रहेगा। (जैसे श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के छोटे भाई हैं और सेवक भी, वनगमन समय वाल्मीकीय रामायण में उन्होंने समालोचनात्मक संवाद किया है और वैसे ही कुछ श्रीभरतजी ने भी श्रीचित्रकूट में बात-चीत की है।) पुनः 'भाई' प्रिय संबोधन भी है इसलिये कि मधुर भाव से कहा हुआ उपदेश लगता है।

यहाँ तक उपदेश की भूमिका है आगे उपदेश प्रारंभ करते हैं —

बड़े भाग मानुष - तनु पावा। सुर - दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥७॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥८॥

दोहा—सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ ॥४३॥

अर्थ—बड़े भाग्य से (सब किसीने) मनुष्य शरीर पाया है, यह देवताओं को भी दुर्लभ है—ऐसा सभी ग्रंथों ने कहा है ॥७॥ (अर्थ, धर्म और काम के) साधन का (नर तन) घर है और मोक्ष का दरवाजा है (अर्थात् इसी शरीर के द्वारा मोक्ष मिल सकता है)। इसे पाकर भी जिसने परलोक न बना लिया ॥८॥ वह दूसरे लोक में दुःख पाता है, शिर पीट-पीटकर पछताता है। काल, कर्म और ईश्वर को वह झूठा ही दोष लगाता है ॥४३॥

विशेष—(१) 'बड़े भाग मानुष तनु पावा।…'—मनुष्य शरीर बड़ा दुर्लभ है। भगवान् ने जब सृष्टि का आरंभ किया, तब अनेक शरीर बनाये पर किसी से उनका चित्त प्रसन्न न हुआ। जब मनुष्य शरीर बनाया, तब उनका मन प्रसन्न हुआ।

यह अपने कर्मों का फल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस शरीर से पहले जब हम तिर्यक्-योनि आदि में थे, तब कर्म की योग्यता ही न थी। ईश्वर ने अपनी कृपा से इस शरीर का संयोग कर दिया है। अतः, यह हमे बड़े भाग्य से मिला है; यथा—"कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥" यह आगे कहा ही है। 'सुर दुर्लभ'—देव-शरीर भोग-शरीर है, साधन-शरीर नहीं, इसीसे देवताओं ने कहा है—"धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥" (लं० दो० १०९); भाव यह कि देव-शरीर से उसका परिमित भोग भोगने के पीछे फिर चौरासी में ही आना पड़ता है और मनुष्य शरीर से भक्ति करके जीव संसार से छूट जाता है। इससे देवता भी चाहते हैं कि जिस सुकृति से हमे ब्रह्मलोक मिला, उसीसे नर-शरीर ही मिलता तो अच्छा था। कहा भी है—"दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।" (भाग० ७।६।१)।

(२) 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।…'—जिन साधनों से अर्थ आदि तीनों फल मिलते हैं और मोक्ष भी प्राप्त होता है, वे सब नर-शरीर ही से होते हैं। जिन्हें तिर्यग्योनि में मोक्ष मिला है उन्हें प्रभु की असीम करुणा से अथवा उनके पूर्व शरीर के एवं इसी शरीर से स्वभावतः कोई वैसा कर्म बन गया, जिससे भगवान् रीझ गये और उन्होंने उसे मुक्ति दे दी। मोक्ष साध्य वस्तु है और नर-शरीर ही उसका साधक है, द्वार है। इसका पाना मोक्ष के समीप पहुँच जाना है। यदि इसे पाकर भी भव मे पड़ा तो वह महा अभागा है।

मोक्ष प्राप्त करना परलोक सँवारना है। यह नर-शरीर द्वारा ही भगवान् की भक्ति से बनता है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३)। जिसने यह नहीं किया वह मूर्ख है; यथा—"मानुष्यं प्राप्य ये नाथ नार्चितो हरिरीश्वरः। काकविप्रासिता तेन हारितो कामदोमणिः ॥" अर्थात् हे नाथ! मनुष्य होकर जिसने आपका भजन नहीं किया, वह उस मूर्ख के समान है कि जिसने कौआ उड़ाने के लिये चिन्तामणि फेंक दी हो।

(३) 'सो परत्र दुख पावइ'…'—'परत्र' अर्थात् परस्मिन् , यह परलोक (दूसरे लोक) का वाचक है। इस लोक में भक्ति करके परलोक न बनाया तो पीछे दूसरे लोक में वह पछताता है।

(४) 'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ'—प्रायः लोग कोई काम बिगड़ने पर उसे काल, कर्म और ईश्वर पर धरते हैं कि मैं क्या करूँ। समय ऐसा खराब था। मेरे कर्मों का फेर है और मुझपर ईश्वर का कोप है; यथा—"काल करम विधि सिर धरि खोरी।" (अ० दो० २४१)।

सामान्य दृष्टि से यह ठीक है कि इन्हीं तीनों के द्वारा जीवों की प्रत्येक कार्य में प्रवृत्ति होती है; यथा—"अंय ईस आधीन जग'…" (अ० दो० २४४); "काल सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥" (बा० दो० ७); परन्तु जीवों को भगवान् ने नर-शरीर में इन तीनों के अनुकूल करने का ज्ञान दिया है। जैसे कि अत्यन्त शीत, अत्यन्त ताप और बहुत वर्षा आदि काल की कठिनाइयाँ हैं। परन्तु मनुष्य चाहे तो इन्हें जीतकर अपनी इच्छानुकूल काम कर सकता है। प्रारब्ध कर्म मानव शरीर की परिस्थिति की रचना करता है। दरिद्र होना, अंग हीन होना और हीन समाज में पैदा होना, शरीर रोगी होना आदि कर्म के दोष हैं। पर इन अवस्थाओं में भी जीव सभी तरह के क्रियमाण कर्म करता रहता है; यथा—"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता ३।५); तब परलोक सुधारने के कर्म भी कर सकता है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही सब कामों में उन्हें प्रवृत्त करता है और तदनुसार फल भी देता है। परन्तु मनुष्य चाहे तो शास्त्र-दृष्टि से परलोक साधन एवं और भी कर्मों के लिये दृढ़ श्रद्धा करके ईश्वर से शक्ति प्राप्तकर उस ईश्वर की विषमता को दबा सकता है; यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२१।२२); अर्थात् जीवों की श्रद्धा के अनुसार भगवान् उन्हें शक्ति देकर कार्य करवाते हैं और वैसा ही फल देते हैं।

इन रीतियों से उद्योग द्वारा जीव सबको अनुकूल करके नर-शरीर से परलोक साधन कर सकता है। जब स्वयं नहीं करता तो किसी को भी दोष लगाना मिथ्या ही है। कहा भी है—"काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत। राम नाम महिमा की चरचा चलें चपत॥" (वि० १३०); शास्त्र बार-बार जीवों को सचेत करते हैं; यथा—"यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली। तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति विष फल फली।" (वि० १३५)। तब क्या करना चाहिये इसपर शास्त्र की आज्ञा है, यथा—"बेगि बिलंब न कीजिये लीजिय उपदेस। महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥" (वि० १०८); ये सब शास्त्र भी ईश्वर की ही आज्ञा हैं, तब ईश्वर का क्या दोष ?

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने इसपर लिखा है; यथा—"जीवेन स्वबुद्ध्या कृतं शुभाशुभं प्रयत्नमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तादृशीमेव जीवप्रयत्नानुगुणां स्वकीयामनुमतिं प्रदाय तथा जीवं प्रवर्तयति।…यः परमपुरुषाराधनं कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचि जनयन् सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति। यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्धकर्माण्याचरति तत्र तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीतिभाव.। तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम्॥" (ब्र० सू० आनन्द भाष्य २।३।४१); अर्थात् जीवों के अपनी बुद्धि के द्वारा किये हुए शुभाशुभ उपायों के अनुकूल अन्तर्यामी परमात्मा उस प्रकार ही जीवों के उपायानुकूल अपनी अनुमति देकर उसी प्रकार जीवों से बर्त्ताव कराता है। …जो परम पुरुष का आराधन करता हुआ स्वयं ममत्व रहित कर्मानुष्ठान करता है। उसे उस कर्म में रुचि उत्पन्न करते हुए सद्बुद्धि देने के द्वारा परमात्मा ही प्रेरणा करता है। और जो स्वयं अभिमानी होकर

हिंसादि रूप निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है। उसे उसी प्रकार के कर्मों में प्रीति उत्पन्न करते हुए उसी में प्रवर्तित करता है - यह भाव है। इस रीति में न तो परमात्मा का ही कुछ दोष है और न विधान किये हुए एवं निषेध किये हुए कर्मों की व्यवस्था ही व्यर्थ होती है, सभी ठीक है। इस विषय पर वि० २०१–२०३ पदों को भी देखिये।

पुनः मनुष्य शरीर का प्राप्त होना ही काल, कर्म और ईश्वर की अनुकूलता है। जिससे शास्त्रों एवं सत्संग के द्वारा जीव उद्योग करके सहज में ही परलोक बना सकता है। यदि नहीं करता तो इन सबको दोष लगाना झूठा ही है।

येहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥१॥
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥२॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ॥३॥

अर्थ—हे भाई! इस शरीर (के पाने) का फल विषय नहीं है। स्वर्ग (का भोग) भी (इस शरीर के योग्य फल नहीं है; क्योंकि वह तो) अत्यन्त थोड़ा है और अंत में दुःख देनेवाला है ॥१॥ जो मनुष्य शरीर पाकर विषयों में मन लगा देते हैं, वे मूर्ख अमृत से बदलकर विष लेते हैं ॥२॥ जो पारस मणि गँवाकर गुंजा (घुँघुची) को ग्रहण करता है उसको कभी कोई भला नहीं कहता ॥३॥

विशेष—(१) 'येहि तनु कर फल बिषय न'—पूर्व लिखा भी गया है कि मनुष्य शरीर सब शरीरों से उत्तम है, तथा—"नर तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाँचत जेही॥" (दो० १२०); विषय भोगों की प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि सभी योनियों में समान होती है। एक शूकर को मलिन आहार के खाने में जो सुख मिलता है। वही सुख बड़े भारी अमीर को मोहन भोग आदि उत्तम पदार्थों के खाने में प्राप्त होता है। ऐसे ही सभी विषयों को जानना चाहिये; यथा—"जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सब ही के। मनुज देह सुर-साधु सराहत सो सनेह सिय-पीके॥" (वि० १७५)। अतः, इस देह का फल विषय-सेवन नहीं है।

यदि कहा जाय कि इसी देह के साधन से देवताओं का भोग स्वर्ग का सुख भी तो मिलता है, वह विषय तो योग्य है? वहाँ के भोग में व्याधि का भी भय नहीं रहता और नित्य तरुण अवस्था भी रहती है। उसपर कहते हैं—'स्वर्गौ स्वल्प'—अर्थात् जो स्वर्ग सुख मर्त्य-लोक के सुखों की अपेक्षा बहुत अधिक है। वह भी तो स्वल्प ही है, परिमित रूप में एवं परिमित काल के लिये प्राप्त होता है और नियत भोग पूरा हो जाने पर फिर वह जीव मर्त्य लोक को ही आता है। तब इसे महान् दुःख होता है। पुनः यहाँ जन्म-मरण का दुःख असह्य होता है। अतः, 'अंत दुखदाई' कहा है।

स्वर्ग का सुख इससे भी स्वल्प कहा गया है कि वहाँ भी दूसरे का अधिक सुख देखकर जलन होती है; यथा—"सरगहु मिटत न सावत" (वि० १८५)।

राजा ययाति ने इस लोक के विषय को अच्छी तरह अनुभव करके कहा है; यथा—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥" (महाभारत आदि पर्व अ० ७५); अर्थात् जैसे हवि देने से अग्नि बढ़ती ही जाती है। वैसे ही विषय भोगने से उसकी तृष्णा बढ़ती ही

जाती है। तथा—"बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।" (वि० ११८); अतः, यह भी सोचना नहीं चाहिये कि इन्द्रियों को भोग देकर शान्त करके परमार्थ में लगूँगा। परमार्थ साधन में भी सामान्यतया प्रयास की आवश्यकता है। अतः, पहले से ही लगकर जीव शुद्ध कर सकता है।

(२) 'नर तनु पाइ विषय मन देहीं। ..'—मनुष्य शरीर हरि-भजन के लिये मिला है। भक्ति ही सुधा (अमृत) है; क्योंकि जीवों के जन्म-मरण को छुड़ानेवाली है। विषय सेवन से बार-बार जन्म-मरण होता है, यही विषय की विष रूपता है। इस शरीर से भजन न करके विषय भोगना अमृत को गिरा कर विष लेना है; यथा—"तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत विषय विष माँगी।" (वि० १४०)। अमृत को गिराकर उसी पात्र में माँगकर विष लेना मूर्खता है। वैसे जिन इन्द्रियों से भक्ति की जा सकती है उनसे विषय भोग के लिये प्रयास करना मूर्खता है, इसीसे 'ते सठ' कहा गया है।

(३) 'ताहि कबहुँ भल...'—विषय गुंजा के समान है, गुंजा लाल और काली होती है। वैसे विषय रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं। गुंजा तुच्छ वस्तु है, वैसे विषय भी तुच्छ है। जैसे कोई मूर्ख गुंजा की ऊपरी सुंदरता पर रीझकर उसके बराबर तौलकर पारस मणि उसे दे दे और गुंजा को ले ले तो उसे कोई भला नहीं कहेगा। वैसे ही भक्ति करने के योग्य इन्द्रियों से विषय भोगनेवाले को भी कोई भला नहीं कहता।

भक्ति पारसमणि है। पारस कुधातु (लोहे) को सोना करती है। वैसे ही भक्ति दुराचारी को साधु बनाती है; यथा - "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा..." (गीता ९।३०–३१); पारसमणि बहुमूल्य पदार्थ है, वैसे भक्ति भी अमूल्य है, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् भी भक्त के अधीन हो जाते हैं, यथा—"भगति अवसहि बस करी।" (आ० दो० ११); "अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" (भाग० ९।४।६३)। अत, इसकी हानि माल (धन) का हानि है और उपर्युक्त 'पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।'—में 'जान' (जीव एव जीवन) की हानि कही गई है, क्योंकि विष से जान जाती है, वैसे ही विषय सेवन से जीव मृत्युमय चौरासी लक्ष योनियों को जाता है। इस तरह भक्ति बिना 'जान-माल' दोनों की हानि कही गई।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥४॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥५॥
कबहुँक करि करुना नर-देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥६॥

अर्थ—चार खान एवं चौरासी लाख योनियों में यह अविनाशी जीव भ्रमण करता रहता है ॥४॥ माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण और स्वभाव के घेरे में पड़ा हुआ सदा फिरा करता है ॥५॥ ईश्वर करुणा करके कभी मनुष्य शरीर देते हैं, क्योंकि वे विना कारण ही स्नेह करनेवाले हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'आकर चारि लच्छ चौरासी।'''—चराचर सृष्टि में दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। जीव जीवन-सत्ता से जड़ में अव्यक्त और चेतन में व्यक्त है। व्यक्त चेतनों की चार खानें कही गई हैं—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज। इनमें सब मिलाकर ८४ लाख योनियाँ हैं। इनका वर्णन बा० दो० ७ चौ० १ में देखिये।

'यह जिव अविनासी'—ऊपर जिन्हें सुधा और पारस-रूपा भक्ति छोड़ विषय ग्रहण करना कहा

गया, वे ही जीव ८४ लक्ष योनियों में फिरा करते हैं। जीव उन योनियों के दुःख भोगते हुए भी नाश नहीं होते; किन्तु इन्हीं को सब क्लेश सहने पड़ते हैं; यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" (दो॰ १०८)।

(२) 'फिरत सदा माया कर प्रेरा।...'—माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण जीवों से भव में पड़ने योग्य कर्म कराते हैं—दो॰ २१ भी देखिये। इसीसे ८४ लक्ष योनियों का भ्रमण होता है, यथा—"तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (दो॰ १३)।

(३) 'कबहुँक करि करुना ...'—'कबहुँक'—इसका कोई नियम नहीं है कि अमुक योनि तक पहुँचने पर एवं अमुक काल तक नर-शरीर देते हैं। उनकी करुणा जब कभी हो जाय। तात्पर्य यह कि जीव अपने कर्म से नर-शरीर को नहीं पाता। भगवान् की करुणा से ही पाता है। यथा—"जीवे दुःखाकुले तस्य कृपा काप्युपजायते।" अर्थात् जीव के दुःख से व्याकुल होने पर भगवान् कभी अपनी कृपा से नर देह दे देते हैं। काकभुशुंडीजी के कथन से अनुमान किया जा सकता है; यथा—"एक एक ब्रह्मांड महँ, रहेउँ कल्प सत एक। येहि विधि देखत फिरेउँ मैं ..." (दो॰ ८०); 'बिनु हेतु सनेही'—ईश्वर की जीवों से कुछ स्वार्थसिद्धि नहीं होती, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता॰ ९।४); अर्थात् सर्व प्राणी मेरे आधार पर हैं, पर मैं सबसे अलिप्त हूँ, मेरा उनसे स्वार्थ नहीं है। तथा—"हेतु रहित जग-जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥" (दो॰ ४६); "राम प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥" (अ॰ दो॰ ७१); वह सहज स्वभाव से जीवों पर स्नेह रखता है; यथा—"सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह..." (वि॰ १६०)—यह पूरा पद देखिये। तथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा॰ दो॰ २१६)।

नर-तनु भव-बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥७॥
करनधार सदगुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥८॥

दोहा—जो न तरइ भव-सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥४४॥

शब्दार्थ—कृत निंदक = कृतघ्न, जो किये हुए उपकार को न माने। आत्माहन = आत्मघाती, जो अपने को स्वयं मार डाले।

अर्थ—मनुष्य शरीर (मात्र) भवसागर के लिये बेड़ा है, मेरी कृपा सम्मुख-वायु है॥७॥ सद्गुरु दृढ़ नाव का कर्णधार (माँझी) है। सब दुर्लभ सामान सुगमता से पा गया॥८॥ जो मनुष्य ऐसा समाज पाकर भव-सागर न तरे, वह कृतघ्न है, मंद बुद्धि है, वह आत्मघातियों की गति को जाता है॥४४॥

विशेष—(१) 'नर-तनु भव-बारिधि ...'—बेड़ा (घरनई) मात्र से सागर पार किया नहीं जाता। वैसे नर-तन मात्र की प्राप्ति से ही भव पार जाना नहीं होता। उसके लिये अनुकूल वायु और माँझी आदि चाहिये, इसीसे उन सबको भी साथ ही कहते हैं। 'सन्मुख मरुत' का भाव अनुकूल वायु

का है। भगवान् के अनुग्रह से शरीर की आरोग्यता, पुरुषार्थ और सत्संग आदि का संयोग होता है; यथा—"यो-यो यां यां तनुं भक्तः'' स तया श्रद्धया युक्तः···" (गीता ७।२१-२२); ऊपर भी यह प्रमाण दिया गया है। यों भी कहा जाता है कि जीव ईश्वर की ओर पीठ देकर संसार की ओर बहा जाता है। उसे सद्गुरु वायु की तरह कृपा फिराकर ईश्वर की ओर से चलाती है। यह कृपा इसे भगवत् की ओर बढ़ाती है।

(२) 'करनधार सद्गुरु···'—जब तक मनुष्य शरीर मात्र था, तब तक बेड़ा कहा गया था। जब भगवान् का अनुग्रह हुआ और सद्गुरु भी प्राप्त हुए, तब यह दृढ़ नाव हुआ। अब भव-सागर पार जाने के योग्य हुआ।

'दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।'—मनुष्य शरीर की प्राप्ति, भगवान् का अनुग्रह और फिर सद्गुरु की प्राप्ति—इन तीनों का संयोग बनना दुर्लभ है; यथा—"हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधन धाम विबुध दुर्लभ तन हमहिं कृपा करि दीन्हो ॥" (वि० १०२)।

कोई-कोई बेड़े से कर्मकांड का भाव लेते हैं कि मनुष्य मात्र अपना कर्म करने का स्वतः अधिकारी है। ईश्वराज्ञा मान कर कर्म करता रहे, तो भगवान् की कृपा रूपी वायु उसे पार कर देती है। पुनः इस भवसागर से तरने को नर-तन नाव है। सद्गुरु के द्वारा जानकर ज्ञान साधन करे, तो भव पार हो जाय। यह दुर्लभ साज है, पर सुलभ में प्राप्त हो गया। पुनः तीसरा उपाय 'सुलभ सुखद मारग' रूपा भक्ति कहा गया। यह सेतु है, इसपर पैदल लोग चले जाते हैं। इससे इसे मार्ग कहा है। यही तीन उपाय सागर पार जाने के हैं। तीनों कांडत्रय के रूप में कहे गये हैं। भक्ति को कर्म-ज्ञान की अपेक्षा सुलभ और सुखद कहा गया है। इसमें कांडत्रय का क्रम भी गीता १८।४५-५५ के अनुसार ठीक आता है। जो ज्ञान आगे अगम कहा गया है वह कैवल्यपरक है।

(३) 'जो न तरइ भव-सागर···'—'कृत निंदक'—भगवान् ने इसका उपकार किया, दुर्लभ साज सुलभ कर दिया। पर इसने उसका सदुपयोग नहीं किया, यही उस उपकार का न मानना है। 'आत्माहन'—इसने अपनी आत्मा का ही हनन किया। उसे मृत्यु रूप चौरासी को फिर लौटाया, उसकी दुर्गति की। 'मंद मति' है; क्योंकि इस तन की दुर्लभता को नहीं समझा।

बुद्धिमान् को मनुष्य तन की प्राप्ति को और इसकी आयु के एक-एक क्षण को दुर्लभ समझकर कल्याण-साधन में लगना चाहिये; यथा—"यावत्स्वस्थमिदं कलेवर गृहं यावच्च दूरे जरा यावच्चेन्द्रिय-शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः। आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् प्रोद्दीप्ते भवने च कूप-खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥" (भर्तृहरि-वैराग्य शतक) अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की पूरी शक्ति बनी है, आयु बनी हुई है, तभी तक बुद्धिमानों को अपने कल्याण के लिये अच्छी तरह उपाय कर लेना चाहिये। घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदना कैसा?

इसी पर श्रेष्ठ भक्तों के उद्गार हैं; यथा—"कृष्णत्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते अद्यैव मे विशतु मानस-हंसराजः। प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥" अर्थात्—हे कृष्ण! आपके चरण-कमल रूपी पिंजरे में मेरा यह मन रूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण निकलने के समय जब कफ, वायु और पित्त के बढ़ने पर कण्ठ रुक जायगा, उस समय आपका स्मरण कहाँ से होगा? तथा—"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः। यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत् ॥" अर्थात् जो घड़ी या एक क्षण भी भगवान् के कीर्तन बिना बीत गया, उसी को बड़ी हानि, चूक, मोह और भ्रम जानना चाहिये।

आत्मघाती की जो गति होती है, वह वेद मे कही गई है; यथा—"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥" (यजु० ४०।३)—अर्थात् जो आत्मघाती लोग हैं, वे मरने पर 'असुर्या' नाम लोक को जाते हैं, जो आसुरी संपत्तिवालों के लिये प्रेत लोक हैं और जो घोर अंधकार से ढँके रहते हैं।

श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥" (११।२०।१७); अर्थात् मनुष्य शरीर सबसे आदि (श्रेष्ठ) है, दुर्लभ होते हुए भी सुलभ हो गया है। भगवान् कहते हैं कि मेरी कृपा रूपी पवन से प्रेरित इसे पाकर भी जो पुरुष भव-सागर नहीं तरता, वह आत्मघाती है।

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू॥१॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥२॥

अर्थ—जो परलोक और यहाँ का भी सुख चाहते हो तो मेरा वचन सुनकर हृदय मे दृढ करके धारण करो॥१॥ हे भाई! यह मेरी भक्ति का मार्ग सुगम और सुखदायक है, ऐसा वेद और पुराण कहते हैं॥२॥

विशेष—'जौं परलोक इहाँ ···'—कोई साधन परलोक ही का सुख देते हैं और कोई इस लोक का ही, पर मेरी भक्ति से दोनों लोकों के सुख मिलते हैं; यथा "कामतरु राम नाम जोई जोई माँगिहै। तुलसि दास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥" (वि० ७०)। इससे इसे ही दृढ करके पकड़ लो। यहाँ परमार्थ-साधन प्रसंग है, इसलिये पहले 'परलोक' कहा गया है। 'सुनि' अर्थात् सुनो अवश्य, फिर यदि उभय लोक सुख चाहो, तो दृढ़ता से धारण करो।

(२) 'सुलभ सुखद मारग···'—उपर्युक्त लाभ से संदेह हुआ कि यह साधन दुर्लभ और दुःखद होगा। उसपर कहते हैं यह भक्ति मार्ग कर्म की अपेक्षा सुखद और ज्ञान की अपेक्षा सुलभ है। कुछ मैं ही नहीं कहता, ऐसा वेद पुराण कहते हैं। यह माधुर्य के अनुकूल कथन है, अन्यथा आपके वचनों के लिये वेदादि प्रमाणों की अपेक्षा नहीं है। 'भगति मोरि' यहाँ अपना ऐश्वर्य खोलकर कहते हैं, क्योंकि ये पुरवासी आपके नित्य पार्षद हैं। लीला के अनुरोध से अभी तक इनसे अपने ऐश्वर्य को छिपाये हुए थे। अब प्रकट कर देने की आवश्यकता जानकर प्रकट करते हैं; यथा—"सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि।" (कि० दो० २६)।

यदि कहा जाय कि आपने शरीर को मोक्ष का द्वारा कहा है। मोक्ष-देनेवाला तो कैवल्यपरक ज्ञान भी है; यथा—"ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना।" (आ० दो० १५) उसपर उसकी कठिनता कहते हैं फिर उसकी अपेक्षा भक्ति की महिमा को अधिक कहना है—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥३॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥४॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख-खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥५॥

अर्थ—ज्ञान कठिन है, उस (की सिद्धि) में (ज्ञान-दीपक प्रसंग में कहे हुए) अनेकों विघ्न हैं, उसका साधन कठिन है, (क्योंकि) उसमें मन के लिये कोई आधार नहीं है ॥३॥ बहुत कष्ट करने पर कोई (उसे) पाता है, पर भक्ति रहित होने से वह मुझको प्रिय नहीं होता ॥४॥ भक्ति स्वतंत्र है (किसी अन्य साधन के अधीन नहीं है) और वह सब सुखों की खान है, (पर) बिना सत्संग के लोग इसे नहीं पाते ॥५॥

विशेष—(१) 'ज्ञान अगम···'—उसमें मन के लिये किसी उपास्य का आधार नहीं है; इससे और साधन कठिनता एवं बहुत विघ्नों से वह अगम है। उसी को आगे ज्ञान-दीपक में घुणाक्षर न्याय की सिद्धिवाला कहा है। 'पावइ कोऊ'—बहुत कष्ट पर भी कोई ही पाता है। ज्ञान को अगम आदि कहकर भक्ति को इसकी अपेक्षा सुगम, निर्विघ्न और सुख साध्य आदि लक्षित किया है।

(२) 'भक्ति सुतंत्र···'—यह योग आदि की सहायता नहीं चाहती, यथा—"सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना।" (आ॰ दो॰ १५), 'बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी।'—पहले तो कहा कि इसे किसी की सहायता से प्रयोजन नहीं, पर यहाँ सतसंग की बड़ी भारी अपेक्षा कहा है। यह विरोध नहीं है, सत्संग भी एक भक्ति ही है; यथा—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।" (आ॰ दो॰ ३१)। "अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥" (दो॰ ११९)।

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥६॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम- बचन बिप्र-पद-पूजा॥७॥
सानुकूल तेहि पर मुनि-देवा। जो तजि कपट करइ द्विज-सेवा॥८॥

दोहा—औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि॥४५॥

अर्थ—बिना पुण्य समूह के संत नहीं मिलते, सत्संग संसार के जन्म-मरण का अंत (नाश) करनेवाला है ॥६॥ मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा करना, यह जगत् में एक ही पुण्य है, (इसके समान) दूसरा नहीं है ॥७॥ जो कपट छोड़कर ब्राह्मणों की सेवा करे, उसपर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं ॥८॥ और भी एक गुप्त मत सब से हाथ जोड़कर कहता हूँ कि शंकरजी के भजन बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता ॥४५॥

विशेष—(१) 'नहिं दूजा'—अर्थात् इसकी समानता को कोई पुण्य नहीं पहुँच सकता। ब्राह्मणों के पूजन से सब धर्म पूर्ण होते हैं। जब उन्हीं के चरण की पूजा हो, तो वह सर्वश्रेष्ठ होगा ही।

(२) 'सानुकूल तेहि पर··'—क्योंकि ब्राह्मणों ही के द्वारा देवता और मुनि पूजा-भाग पाते हैं, किंतु विप्र सेवा कपट छोड़कर करनी चाहिये। कपट सहित सेवा करने से उसका कड़ा दंड भी मिलता है, यथा—"तेहि सेवउँ मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता॥" (दो॰ १०४); शूद्र तन में श्रीभुशुंडीजी ने कपट से विप्र सेवा की, उससे उन्हें दारुण शाप मिला। जिससे हजारों जन्म दुःख भोगने पड़े। ब्राह्मणों से निष्कपट होना यह कि उन्हें ईश्वर भाव से माने; यथा—"मम मूरति महिदेव मई है।" (वि॰ १३९); और सरल हृदय से उनकी सेवा करे।

इसी तरह भाग० ४।२१ में भी विप्र सेवा का महत्व कहा गया है; यथा—"ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्। अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥३८॥ यत्सेवयाशेषमहाशयः स्वराड्विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः। तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥३९॥

(३) 'औरउ एक गुपुत मत···'—'गुपुत मत'—क्योंकि यह लोक में प्रसिद्ध नहीं है कि राम-भक्ति के लिये शिव-भक्ति की इतनी अपेक्षा है। पुनः यह गोपनीय रहस्य है। मैं इसे किसी को नहीं बतलाता, क्योंकि शिवदत्त भक्ति से शीघ्र मुझे उस भक्त के वश में हो जाना पड़ता है। 'सबहि कहउँ'—पहले विप्र-सेवा को अपनी भक्ति का साधन कहा, पर उसमें विशेषकर तीन वर्णों का अधिकार है। ब्राह्मणों को उतना युक्त नहीं, क्योंकि वे परस्पर सजातीय हैं। उनकी ब्राह्मणों में वैसी निष्ठा नहीं होगी। इसलिये यहाँ महादेवजी की सेवा के लिये कहते हैं। 'कर जोरि'—क्योंकि यह उपदेश मुख्यकर ब्राह्मणों के लिये है। पुनः बड़े लोग नम्रता से उपदेश देते हैं। श्रीरामजी ने प्रारंभ से ही इन्हें भाई कहकर उपदेशारंभ किया है, अतएव इन सबसे भी हाथ जोड़ना संगत है।

(४) 'संकर भजन बिना नर···'—श्रीशिवजी श्रीरामजी की भक्ति देकर जगत् का कल्याण करते हैं। इससे शंकर कहा है। श्रीशिवजी वैष्णवों में शिरोमणि हैं; यथा—"सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (बा० दो० १०३); "वैष्णवानां यथा शंभुः।" (भाग० १२। १३। १६)। इससे भागवत-सेवा से अपनी भक्ति की प्राप्ति कही है; यथा—"मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।"; "महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।" (नारदभक्ति सूत्र ३८–३९); अर्थात् परन्तु मुख्यतया महत्पुरुषों की कृपा से अथवा भगवत्कृपा के लेशमात्र से (भक्ति प्राप्त) होती है। महात्माओं का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। इसीसे शिव-भक्ति के लिये जगह-जगह कहा गया है; यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (बा० दो० १३७); "बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम-भगत कर लच्छन येहू॥" (बा० दो० १०३)। इत्यादि बहुत स्थलों पर कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में भी महात्माओं की भक्ति से भगवद्भक्ति की प्राप्ति कही गई है; यथा—"रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥" (५।१२।१२) अर्थात् महात्मा जड़भरत राजा रहूगण से कहते हैं—हे रहूगण! यह भगवत्तत्त्व का ज्ञान और भगवान् का प्रेम तप, यज्ञ दान, गृहस्थाश्रम द्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्य की उपासना से नहीं मिलता। यह तो महापुरुषों के चरणों की धूल में स्नान करने अर्थात् उनकी चरण सेवा से ही मिलता है। तथा—"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥" (७।५।३२)—अर्थात् प्रह्लादजी कहते हैं कि हे पिता! जिन भगवान् के चरणों का स्पर्श समस्त अनर्थों की निवृत्ति करनेवाला है, उनके श्रीचरणों में तब तक प्रेम नहीं होता, जब तक अकिञ्चन साधु महात्माओं की चरण-धूलि से मस्तक का अभिषेक न किया जाय। "यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा॥ निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥" (११।२६।३१–३२)—अर्थात् जैसे अग्निदेव का आश्रय लेने पर शीत, भय और अंधकार इन तीनों का नाश हो जाता है, वैसे सन्तों के सेवन से पाप रूपी शीत, जन्म-मृत्यु-रूपी भय और अज्ञान-रूपी अंधकार का नाश हो जाता है। जल में डूबते हुए लोगों के लिये दृढ़ नौका के समान इस भयङ्कर संसार-सागर में गोते खानेवालों के लिये ब्रह्मवेत्ता शान्त चित्त सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं, इत्यादि।

-यहाँ भक्ति प्राप्ति के दो प्रकार के उपाय कहे गये—(१) विप्र-सेवा रूपी पुण्य द्वारा संतों की संगति प्राप्त होती है, उससे श्रीराम-भक्ति प्राप्त होती है । (२) श्रीशिवजी का भजन करने से श्रीशिवजी के द्वारा भी श्रीराम-भक्ति मिलती है ।

कहहु भगति-पथ कवन प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ॥१॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथा लाभ संतोष सदाई ॥२॥
मोर दास कहाइ नर आसा । करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥३॥

अर्थ—कहो तो, भक्तिमार्ग में कौन परिश्रम है ? न तो उसमें योग है, न यज्ञ, न जप, न तप और न उपवास करने पड़ते हैं ॥१॥ सरल स्वभाव हो, मन में कुटिलता न हो और जो मिल जाय उसी में सदा ही संतोष रहे ॥२॥ मेरा दास कहलाकर और मनुष्यों की आशा करे तो, कहो, उसको (मेरा) क्या विश्वास है ? ॥३॥

विशेष—(१) 'कहहु भगति-पथ...'—'कवन प्रयासा' अर्थात् कुछ भी प्रयास नहीं है । आगे प्रयासवाले साधनों को गिनाकर उनका इसमें निराकरण करते हैं । 'जोग न मख जप...'—योग के आठो अंगों के साधन कठिन हैं, उसमें शारीरिक कष्ट हैं । यज्ञों में द्रव्य-व्यय और शरीर से श्रम भी करने पड़ते हैं । जप, तप और उपवास में भी शरीर को कष्ट झेलने पड़ते हैं । भक्ति में ये सब श्रम के कार्य एक भी नहीं हैं ।

(२) 'कहहु' का भाव यह कि जो साधन ऊपर कहे गये हैं, वे सब 'सुलभ सुखद' ही हैं । विप्र सर्वत्र सुलभ हैं ; सत्संग ; यथा—"सबहि सुलभ सब दिन सब देसा ।" (बा० दो० १) ; और श्रीशिवजी ; यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे ।" (वि० ६) इत्यादि ।

(३) 'मोर दास कहाइ नर आसा ।...'—ऊपर 'जथा लाभ संतोष' कहकर यहाँ उसका कारण कहते हैं कि मेरा दास होकर मुझे और मनुष्यों के समान भी नहीं माना । तब तो मुझको छोड़कर उनकी आशा करता है । इससे वह मेरा दास कहाता भर है, पर है नहीं । भगवान् तो विश्वभर का पोषण करने से विश्वंभर कहाते हैं, तब अपने भक्त का पोषण क्यों न करेंगे, कहा है—"भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः । योऽसौ विश्वम्भरो देव. सं किं दासानुपेक्षते ॥" तथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ९।२२) ; अर्थात् जो अनन्य भक्त निरंतर चिन्तवन करते हुए मेरी निष्काम उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे रहनेवाले भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई । येहि आचरन बस्य मैं भाई ॥४॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥५॥
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ बिज्ञानी ॥६॥

अर्थ—बहुत कथा बढ़ाकर क्या कहूँ ? हे भाइयो ! मैं इस आचरण के वश हूँ ॥४॥ किसी से वैर और झगड़ा न करे, किसी से कुछ आशा न रक्खे और न किसी का भय करे, उसको सब दिशाएँ सदा सुख-

मयी हैं ॥५॥ (सकाम कर्म के) उद्योग का छोड़नेवाला, जिसका कोई घर नहीं है; अर्थात् गृह ममता रहित, मान रहित, निष्पाप, क्रोध रहित, प्रवीण और विज्ञानी (हो) ॥६॥

विशेष—(१) 'येहि आचरण ···'—ऊपर प्रवृत्ति मार्ग के भक्तों के आचरण कहे गये। आगे निवृत्तिवालों के आचरण कहते हैं—

(२) 'वैर न विग्रह ···'; यथा—"निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः ॥" (भाग० ११।१४।१६), वैर गाढ़ होता है, विशेषकर मन से होता है और इसमें एक दूसरे की हानि करने की धारणा रहती है। विग्रह सामान्य झगड़े को कहते हैं। इसमे कर्म की प्रधानता होती है और यह शीघ्र मिट जाता है।

'आस न त्रासा', यथा—"जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह तेइ सेवक हरि केरे ॥" (वि० १६८)। "तुलसिदास रघुनाथ बाहु बल सदा अभय कबहूँ न डरै ॥" (वि० १३७)। 'सुखमय ताहि ···'—सब दिक्पाल उसकी सहायता करते हैं। सर्वत्र उसे सुख-ही-सुख है आशा छोड़ने से सुख होता है; यथा—"तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये बिश्राम ॥" (दोहावली २५८), "हरिजन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५)। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥" (भाग० ११।१४।१३), अर्थात् अकिंचन, जितेन्द्रिय, शान्त, समदर्शी और मेरी प्राप्ति में संतुष्ट मनवाले के लिये सब दिशाएँ सुख से पूर्ण हैं।

(३) 'अनारंभ अनिकेत ···'—'अनारंभ'; यथा—"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥" (गीता ४।१९), अर्थात् जिनके संपूर्ण कार्य (उद्योग) कामना और संकल्प से रहित हैं, (ऐसे) उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुष को ज्ञानी जन भी पंडित कहते हैं। 'अनिकेत' का अर्थ भी सर्वथा घर रहित करना इससे ठीक नहीं है कि जिस दिन वृक्ष के नीचे भी रहे, वही उसका निकेत होगा। अतः, स्थान की ममता से रहित ही ठीक अर्थ है।

कोई-कोई गृह न बनाने का अर्थ भी करते हैं, जैसे श्रीलोमशजी ने घर ही नहीं बनाया। श्रीदत्तात्रेयजी ने सर्प से यह शिक्षा ली है कि वह बिल नहीं बनाता, दूसरे के बिल में रहता है। वैसे संत कहीं खाली पड़ा मकान देखे रह गये, फिर चल दिये। 'अनघ'—किसी को दुःख नहीं देते। 'अरोष'—क्रोध नहीं करते, क्योंकि क्रोध पाप का मूल है। 'दच्छ'—शास्त्र ज्ञान मे प्रवीण हैं। 'बिज्ञानी'—अनुभव ज्ञान से युक्त हैं एवं प्रकृति वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान से युक्त हैं।

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन-सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥७॥
भगति-पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥८॥

दोहा—मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥४६॥

अर्थ—सज्जनों के संसर्ग में सदा प्रीति रहती है, अर्थात् सदा उनसे लगाव रखते हैं, उनका सत्संग

किया करते हैं। स्वर्ग तक के विषय सुख और मोक्ष उनको तृण के समान तुच्छ हैं ॥७॥ भक्ति के पक्ष में हठ करते हैं, शठता नहीं करते, (उन्होंने) सब कुतर्कों को दूर हटा दिया है ॥८॥ जो मेरे गुण-समूह और नाम में प्रीति सहित लगा रहता है, ममता-मद-मोह-रहित है, उसका सुख वही जानता है (पर कह नहीं सकता, क्योंकि यह सुख अनिर्वाच्य है), वह परानंद के समूह को प्राप्त है ॥४६॥

विशेष—(१) 'तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा'—सत्संग की अपेक्षा यह कहा जाना युक्त ही है; यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥" (सुं० दो० ४); तथा—"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥" (भाग० ११४।१३)।

शंका—पूर्व कहा गया था—"संत संग अपवर्ग कर···पंथ" (दो० ३३); अर्थात् सत्संग का फल अपवर्ग कहा गया था और यहाँ सतसंग की अपेक्षा उस मोक्ष को तुच्छ कहा है, यह क्यों?

समाधान—यहाँ भक्त की भावना कही गई है कि वे सत्संग के आगे मुक्ति के सुख को तुच्छ मानते हैं, अर्थात् सत्संग से भक्त लोग श्रीरामजी का स्नेह चाहते हैं, कोई फल नहीं चाहते। उससे जब अंत में वे भक्त भगवद्धाम को ही जाते हैं, तब वही मुक्ति का पद है, वह अनायास प्राप्त हो जाता है। क्योंकि यह जीव फिर कर जगत् में तो आता नहीं। भक्ति में किसी फल की वासना का रखना ही दोष है, क्योंकि फल चाहने से भगवान् और उनकी भक्ति दोनों उस फल के साधन हो जाते हैं, इसीसे कहा है—"नरक परहु फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ ॥" (दोहावली ९१)।

(२) 'भगति पच्छ हठ···'—भक्ति के पक्ष का हठ करना उचित है, जैसे श्रीभुशुंडीजी ने शाप भी सह लिया; पर भक्ति का पक्ष नहीं छोड़ा; यथा—भगति-पच्छ हठ करि रहेउँ, दीन्हि महारिषि साप। मुनि दुर्लभ वर पायेउँ, देखहु भजन-प्रताप ॥" (दो० ११४); ऐसे ही भक्ति के पक्ष की हठ श्रीप्रह्लादजी ने भी की है। 'सठताई' अर्थात् चालाकी न करे, क्योंकि भक्त का सरल स्वभाव होना चाहिये। 'दुष्ट तर्क···'—जिस तर्क में किसी की निन्दा और किसी की उपासना का खंडन हो ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये। क्योंकि विविध-रुचिवाले जीवों के लिये सब मार्ग वेद ही से प्रतिपादित हैं और सबके प्राप्य भगवान् ही हैं; यथा—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्। नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।" (शिव-महिम्न स्तोत्र); अर्थात् रुचि-विचित्रता से सीधी टेढ़ी राह से भजन करनेवाले मनुष्यों के प्राप्य एक (ईश्वर) आप ही हैं जैसे सब नदियों का प्राप्य स्थान समुद्र होता है। तथा—"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥" (गीता ९।२३); अर्थात् जो (मेरे शरीर रूप) अन्य देवताओं की श्रद्धा-पूर्वक उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही भजते हैं। ऐसा विचारकर कुतर्क नहीं करना चाहिये।

(३) 'मम गुन ग्राम नाम रत···'—'गत ममता मद मोह'—ममत्व संसारी पदार्थों में। मोह-देह में अहं बुद्धि और मद-विद्या, धन, यौवन रूप, बल आदि का—इन सबसे रहित हो। ममता-रहित होने में स्थूल शरीर की शुद्धि; मद-रहित होने में सूक्ष्म शरीर की और मोह रहित होने में कारण शरीर की शुद्धि जाननी चाहिये। पहले 'मम गुन ग्राम नाम रत' कहा गया है, तब 'गत ममता मद मोह' कहा है। भाव यह कि गुण और नाम के आराधन से ही ये दोष भी छूटेंगे। फिर जब शुद्धभाव से इन (गुण-नाम) का आराधन होने लगेगा तब परानन्द समूह को प्राप्त होगा। यह 'परानंद' ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ है, क्योंकि सनकादिक 'ब्रह्मानन्द सदा लयलीना' कहे गये हैं। फिर भी वे ध्यान छोड़कर चरित सुनते थे, इससे यह सुख उससे बहुत बढ़कर है; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि,···ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति ॥" (दो० ८८)।

तात्पर्य यह कि गुण-ग्राम और नाम के आराधन से श्रीरामजी की गाढ-स्मृति प्राप्त होगी; यथा—"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥" (गीता ६।३०) *अर्थात् जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, न कभी मैं उसकी आँखों से ओझल होता* हूँ और न वह मेरी आँखों से ओझल होता है। यही पराभक्ति का स्वरूप है; यही महान् भूमानन्द है, इसी सर्वव्यापी भूमानन्द के साथ अल्प सुख का तारतम्य दिखलाती हुई श्रुति कहती है; यथा—"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥" (छां० ७।२४।१), अर्थात् जहाँ दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता, वही भूमा है और जहाँ दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है, वह मरा हुआ है।

सुनत सुधा-सम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के ॥१॥
जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान ते प्यारे ॥२॥
तनु धन धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी ॥३॥
असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु-पिता स्वारथरत ओऊ ॥४॥
हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी के अमृत समान वचन सुनकर सबों ने उन कृपानिधान के चरण पकड़े ॥१॥ (और बोले) हे कृपानिधान! आप हमारे माता, पिता, गुरु, भाई एवं बंधुवर्ग और प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं ॥२॥ हे श्रीरामजी! आप हमारे तन, धन, धाम सभी तरह से हितकारी हैं और शरणागत के दुःख हरनेवाले हैं ॥३॥ ऐसी शिक्षा आपके विना और कोई नहीं देता। माता-पिता (शिक्षा देनेवाले एवं हितकारी) हैं, पर वे भी स्वार्थ-रत हैं (और सब विधि के हित भी वे नहीं कर सकते) ॥४॥ हे असुरारी! जगत् मे दोनों लोकों के विना प्रयोजन हित करनेवाले दो ही हैं—एक आप और दूसरे आपके सेवक ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनत-सुधा-सम बचन राम के'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम "सुनहु सकल पुरजन मम बानी।" (दो० ४२), से हुआ है। 'सुधा-सम'—प्राय. औरों के हितकर वचन कठोर होते हैं। पर श्रीरामजी के वचन हितकर होते हुए अमृत के समान मधुर हैं अर्थात् श्रवण प्रिय है। उनके सुनने से तृप्ति नहीं होती; यथा—"प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ।" (दो० ८७); "नाथ तवानन ससि··· श्रवन्ह पुटन्ह ··" (दो० ५२)। 'सबनि गहे पद'—जो जहाँ हैं उन्होंने वहीं से प्रणाम किया, यह प्रणाम उपदेश सुनने की कृतज्ञता एवं अपनी कृतकृत्यता प्रकट करने में है यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥" (दो० ११४), "मैं कृत कृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।" (दो० १२१) 'गहे सबनि पद' यह रहस्य भी हो सकता है कि सब किसीने श्रीरामजी को अपने समीप पाया और उनके चरण पकड़े। 'कृपा धाम'—क्योंकि स्वयं पुरवासियों को बुलाया और उनके प्रश्न विना ही ऐसा सदुपदेश दिया।

(२) 'जननि जनक गुरु···'—माता आदि गौरव के अनुसार क्रमश. कहे गये हैं। आप माता-पिता के समान उत्पन्न-पालन करनेवाले, गुरु के समान सदुपदेष्टा और बंधु वर्ग के समान सहायक हैं। आप एक

ही सब प्रकार से हितकारी हैं, यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परउँ नहिं " (वि० ११३), अ० दो० ७३ चौ० २-६ भी देखिये।

यहाँ पुरवासियों ने मन, वचन और कर्म से कृतज्ञता प्रकट की—'गहे सबन्हि पद'-कर्मवृत्ति, 'जननि जनक ···'—वचन वृत्ति और 'सबके बचन प्रेम रस साने' यह इनकी मनोवृत्ति भी आगे कही गई है।

(३) 'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'—ससारी नातों में माता, पिता सबसे अधिक हितकारी होते हैं, शिक्षा भी देते हैं। पर ऐसी शिक्षा वे भी नहीं देते हैं, क्योंकि उन्हें अपने स्वार्थ पर दृष्टि रहा करती है कि बड़ा होकर यह तन, धन और गुणों से मेरी सेवा करे। इससे तदनुसार ही शिक्षा भी देते हैं, यथा—"जननि जनक सुत दार बंधु जन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो। सब स्वारथ हित मीत कपट चित काहू नहिं हरि भजन सिखायो ॥" (वि० १४१), "गृह वनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो ॥ जाते निरय निकाय निरंतर सोइ इन्ह तोहिं सिखायो। तव हित होइ कटै भव बंधन, सो मगु तोहिं न बतायो ॥" (वि० ११६), इत्यादि।

(४) 'हेतु रहित जग जुग '—श्रीरामजी का जगत् से कोई स्वार्थ नहीं है, क्योंकि आप तो आप्त काम हैं। ऐसे ही आपके भक्त भी पूर्ण काम होते हैं, यथा—"हरि जन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५), फिर भी आप और आपके सेवक जगत् का उपकार करते हैं। भव दु ख निवृत्त करते हैं। 'असुरारी'—आप असुर रावण आदि को जीतकर जगत् का कल्याण करते हैं। वैसे आपके भक्त, मोह आदि हृदय के विकारों को जीतकर निस्स्वार्थ भाव से जगत् का हित करते हैं। वि० ५८ में मोह आदि से रावण आदि के रूपक विस्तार से कहे गये हैं।

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं ॥६॥
सबके बचन प्रेमरस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने ॥७॥
निज निज गृह गये आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई ॥८॥

दोहा—उमा अवधबासी नर, नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्मसच्चिदानंद - घन, रघुनायक जहँ भूप ॥४७॥

शब्दार्थ—कृतार्थ = मनुष्योचित कृत्य का संपादन किये हुए, मोक्ष साधन सम्पन्न, जिन्हें अब कुछ करना नहीं है, मुक्त रूप।

अर्थ—जगत् में सब स्वार्थ के मित्र हैं, हे प्रभो! परमार्थ (के मित्र) स्वप्न में भी (कभी) नहीं हैं, अर्थात् ऐसे परमार्थ साधक उपदेश वे कोई कभी नहीं करते ॥६॥ सबके प्रेम रस सने हुए वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी हृदय में प्रसन्न हुए ॥७॥ आज्ञा पाकर सब प्रभु की सुंदर वाणी को वर्णन करते (सराहते) हुए अपने-अपने घर गये ॥८॥ हे उमा! ब्रह्म सच्चिदानंद घन श्रीरघुनाथजी जहाँ के राजा हैं, उस अवध के वासी स्त्री पुरुष कृतार्थ रूप हैं ॥४७॥

विशेष—(१) 'स्वारथ मीत सकल जग माहीं।'—ऊपर कुछ उदाहरण दिये गये, तथा—"सुर-नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११) "अवनि, रवनि

धनधाम, सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनायो। काके भये गये सँग काके सब सनेह छल छायो॥" (वि० २००): "सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदा सूत जब जाको काज तब मिलै पायँ परिसो। बिबुध सयाने पहिचाने कै धौं नाहीं नीके देत एक गुन लेत कोटि गुन करिसो॥" (वि० २६४)। यथा—"अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्। पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनः स्विव षट्पदैः॥ निः स्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः। अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्॥ खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्। दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥" (भाग० १०।४७।६–८); अर्थात् औरों मे प्रयोजन के लिये ही मैत्री होती है जैसे पुरुषों की स्त्रियों में और भौरों की फूलों मे। धन हीन को गणिका, नीति हीन राजा को प्रजा, विद्या पढ़ चुकने पर आचार्य को विद्यार्थी, दक्षिणा दिये हुए यजमान को ऋत्विज, फल रहित वृक्ष को पक्षी, भोजन कर लेने पर घर को अतिथि लोग, जले हुए वन को मृग लोग और अनुरक्त स्त्री को जार लोग स्वार्थसिद्ध हो जाने पर छोड़ देते हैं।

'परमारथ नाहीं'—सांसारिक पदार्थ अर्थ हैं, परधाम प्राप्ति एवं उसकी साधनीभूत भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि परमार्थ हैं। इनमें प्रायः—सांसारिक लोग सन्तान को नहीं लगाते; किन्तु संसार वृद्धि ही की शिक्षा देते हैं।

(२) 'हृदय हरषाने'– उपदेश की सफलता देख हृदय मे हर्ष हुआ, क्योंकि वे पहले ही कह चुके थे—"सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥" (दो० ४२); ऊपर से हर्ष नहीं प्रकट किया, क्योंकि उनके वचनों मे अपनी स्तुति भी थी।

(३) 'निज निज गृह गये···'—प्रभु की वाणी मे ही उनके चित्त लगे हुए हैं, इसीसे प्रभु की आज्ञा पालन करने के लिये घर जाते हुए भी हृदय को सुहानेवाली प्रभु बतकही का ही वर्णन करते जाते हैं।

प्रभु का कथन करना कहा गया, फिर पुरवासियों ने जो कृतज्ञता प्रकट की, वह उनका सुनना प्रकट करना है और यहाँ 'बरनत प्रभु बतकही सुहाई' कहा है, यह अनुमोदन है, उसी वाणी के प्रति आनंद प्रकट करते हुए उसीका अनुकथन करते जाते हैं। कहा भी है—"कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥" (दो० १२८)।

'बतकही' पर बा० दो० ८ चौ० २ देखिये।

सब आज्ञा से ही आये थे, फिर आज्ञा पाकर ही घर गये।

(४) 'उमा अवधवासी नर···'—उमाजी को शंका हो सकती है कि अवधवासी तो साक्षात् श्रीरामजी को प्राप्त हैं, फिर भी क्या उनके लिये मुक्ति के उपाय की आवश्यकता है? उसका उत्तर श्रीशिवजी ने स्वयं दिया है कि वे तो सब स्वयं मुक्त-स्वरूप है, नित्य पार्षद हैं, लीला के लिये प्रभु के साथ ही आविर्भूत हुए हैं। यह शिक्षा तो वस्तुत: लोक कल्याण के लिये हुई है, जैसे श्रीअनसूयाजी ने श्रीसीताजी को निमित्त बनाकर संसार के लिये उपदेश दिया है; यथा—"तोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित॥" (आ० दो० ५); जहाँ के राजा साक्षात् ब्रह्म श्रीरामजी हैं वहाँ की प्रजा मायिक कैसे होगी? सब उनके नित्य पार्षद हैं। 'ब्रह्म सच्चिदानंद घन'—ब्रह्म मात्र कहने से वृहदाकार होने से प्रकृति का भी अर्थ होता, इसलिये 'सच्चिदानंद' कहा, सच्चिदानंद स्वरूप जीव भी है, इसलिये 'घन' भी कहकर यहाँ परात्पर ब्रह्म का ही अर्थ जनाया।

वसिष्ठ-राम-मिलन—प्रकरण

एक बार बसिष्ठ मुनि आये। जहाँ राम सुखधाम सुहाये ॥१॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा ॥२॥
राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी ॥३॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा ॥४॥

अर्थ—एक दिन श्रीवसिष्ठजी वहाँ आये, जहाँ सुख के धाम सुन्दर श्रीरामजी थे ॥१॥ श्रीरघुनाथजी ने उनका अत्यन्त आदर (सत्कार) किया, चरण धोकर चरणामृत लिया ॥२॥ मुनि ने हाथ जोड़कर कहा—हे राम ! हे कृपा सागर ! मेरी कुछ विनती सुनिये ॥३॥ आपके चरित देख देखकर मेरे हृदय में अपार मोह होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार'—जैसे एक बार की उपवन यात्रा और फिर एक बार का पुरजन उपदेश कहा गया। वैसे एक बार (किसी दिन) की यह भी लीला है। 'राम सुख धाम'—श्रीवसिष्ठजी ने नामकरण में ऐसा ही कहा था—"सो सुख धाम राम अस नामा।" (बा० दो० ११६); वैसा ही भाव यहाँ उनके सम्बन्ध में कहा गया है। एकान्त में आये, क्योंकि विनय करना है। जब सभा में श्रीरामजी ने श्रीमुख से ही अपना ऐश्वर्य खोल दिया, तब श्रीवसिष्ठजी को निश्चय हो गया कि अब ऐश्वर्य प्रकट करने में कोई रुकावट नहीं है। यों तो ये पहले भी जानते थे और श्रीदशरथजी से श्रीरामजी का ऐश्वर्य कहा भी है, यथा—"सुनहुँ राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम-चराचर नायक अहहीं॥" (अ० दो० ७६), पर अभी तक उनकी रुचि देखकर गुप्त रखते थे।

(२) 'अति आदर रघुनायक ·'—श्रीगुरुजी के मन का अभिप्राय जानकर श्रीरामजी ने अपना ऐश्वर्य भाव छिपाने के लिये उनका अति आदर किया, इसी माधुर्य के अनुसार ग्रंथकार ने यहाँ 'रघुनायक' कहा है कि जैसे सब रघुवशी गुरुजी का आदर करते थे, वैसे ही आपने भी किया है, यथा—"गुरु आगवन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा ॥ · सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥" (अ० दो० ८), इत्यादि गुरु भाव से अति आदर किया।

(३) 'राम सुनहु मुनि कह ·'—मुनि इन्हें परमात्मा ही मानकर हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। 'सुनहुँ'—मुनि कुछ ऐश्वर्य लेकर स्तुति करते हैं, पर श्रीरामजी अपनी महिमा सुनते ही नहीं, सकुच जाते हैं, यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४), तब गुरुजी के मुख से कब सुनेंगे ? इसीसे सुनने के लिये मुनि ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की। 'कृपासिंधु'—भाव यह कि कृपा कीजिये, बहलाइये नहीं, मुझे मोह में न डालिये।

(४) 'देखि देखि आचरन '—सबके स्वामी होकर आप मेरे चरणोदक लेते हैं, यह देखकर मुझे मोह होता है, माधुर्य पर दृष्टि आ जाती है। सुलझने के उपाय करने पर और भी उलझाव ही पड़ता है, यथा—"देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥" (बा० दो० १०८), भाव यह कि ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे अब मोह न हो, आपकी महिमा पर दृष्टि बनी रहे।

महिमा अमिति बेद नहिं जाना। मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना ॥५॥
उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद-पुरान-सुमृति कर निंदा ॥६॥

जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही ॥७॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल-भूषन भूपा ॥८॥

दोहा—तब मैं हृदय बिचारा, जोग जज्ञ ब्रत दान।
जा कहँ करिय सो पैहउँ, धर्म न येहि सम आन ॥४८॥

अर्थ—आपकी महिमा निस्सीम है। अतः, उसे वेद भी नहीं जानते, तब, हे भगवन्! मैं उसे किस प्रकार कह सकता हूँ? (भाव यह कि मेरी जानकारी वेद से ही है, वह भी अल्प, तब कैसे कहूँ?) ॥५॥ पुरोहिती कर्म अत्यन्त नीच है, वेद, पुरान, स्मृति सभी इसकी निंदा करते हैं ॥६॥ जब मैं रघुकुल की पुरोहिती अस्वीकार करने लगा, तब ब्रह्माजी ने मुझसे कहा कि, हे पुत्र! इससे आगे तुम्हें लाभ होगा ॥७॥ (वह लाभ कहते हैं)—परमात्मा ब्रह्म नर रूप से (वा, नर रूप ब्रह्म) रघुकुल के भूषण राजा होंगे ॥८॥ तब मैंने हृदय मे विचार किया कि जिसके लिये योग, यज्ञ, व्रत और दान किये जाते हैं, उसे मैं पा जाऊँगा। तब इसके समान दूसरा धर्म नहीं है ॥४८॥

विशेष—(१) यहाँ 'भगवाना' और 'परमात्मा' एवं 'ब्रह्म' ये तीन नाम कहे गये हैं, भाव यह कि जिन्हें कर्मकांडी परमात्मा, ज्ञानी ब्रह्म और उपासक भगवान् कहते हैं, वे ही नर रूप मे तुम (श्रीवसिष्ठजी) को प्राप्त होंगे।

(२) 'अति मंदा'—और भी बहुत-से कर्म मंद कहे गये हैं, पर यह अत्यन्त मंद है; क्योंकि इसमें ब्रह्मतेज ही नष्ट हो जाता है, इसलिये पग-पग पर सावधानता चाहिये। यजमानों के व्यवहारों की चिन्ता रहती है। प्रतिग्रह लेना और उनके पाप कर्मों का भागी होना पडता है। क्योंकि यजमानों के पापों और भूल चूक की जिम्मेदारी कर्म कराकर दक्षिणा लेनेवाले पर आती है। इससे ब्राह्मण का पुरोहित बन जाना उसके ब्राह्मणत्व और तपस्या मे हानिकारक होता है। न लेने पर ब्रह्माजी ने समझाया है, इससे उस कर्म के देनेवाले वे (विधि) ही हैं। 'सुत' कहकर ब्रह्माजी ने सूचित किया कि हम तुम्हारे कल्याण की ही भावना से ऐसा कहते हैं, क्योंकि पिता पुत्र के लिये कल्याण कार्य की योजना करता है।

(३) 'तब मैं हृदय बिचारा···'— अष्टाग योग, अश्वमेध आदि यज्ञ, चान्द्रायण आदि व्रत और अन्न, वस्त्र, वाहन आदि के दान, ये सब ब्रह्म के जानने एवं प्राप्त करने के साधन हैं; यथा—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन॥" (बृह० ४।४।२२); तथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी।" (बा० दो० ३४०), "सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (अ० दो० २०६); भाव यह कि आपकी प्राप्ति ही के लोभ से मैंने अभी तक यह भार वहन किया है।

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति-संभव नाना सुभ कर्मा ॥१॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ॥२॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥३॥

तव पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर ॥४॥

अर्थ—जप, तप, नियम, योग, अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म वेदों से प्रकट अनेक शुभ कर्म ॥१॥ ज्ञान, दया, दम, तीर्थ स्नान आदि जहाँ तक धर्म वेदों और सज्जनों ने कहे हैं ॥२॥ हे प्रभो! अनेक शास्त्रों एवं तंत्र शास्त्रों, वेदों और पुराणों के पढ़ने और सुनने का (मुख्य) फल एक ही है ॥३॥ सब साधनों का (भी) यह एक ही सुन्दर फल है कि आपके चरणों में निरंतर (अविच्छिन्न तैल धारवत् एक रस) प्रेम हो (भाव यह कि अन्य फल भी प्राप्त होते हैं, पर वे सुन्दर नहीं हैं) ॥४॥

विशेष—(१) 'सज्जन'—मनु, याज्ञवल्क्य आदि। 'अनेका' में उपपुराण आदि और भी ग्रंथ आ गये, यथा—"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्..." (बा० म० श्लो० ७); भी देखिये।

(२) 'सब साधन कर फल यह सुंदर'—भाव यह कि धर्म-कर्म करते हुए इसी सुन्दर फल की वासना रखनी चाहिये। स्वर्ग आदि फल सुन्दर नहीं हैं। ऊपर कहा गया था—'जा कहँ करिय सो पइहौं' यहाँ भी उन्हीं साधनों के फल रूप में 'तव पद पंकज प्रीति निरंतर' कहा है। भाव यह कि प्रभु के प्राप्त होने पर भी भक्त लोग भक्ति सहित ही उनका अनुभव करते हैं। अतः, भक्ति साधन और फल रूप में एक ही है; यथा—"फल रूपत्वात्।" (नारदभक्ति सूत्र २६); अर्थात् वह भक्ति फल रूपा है।

छूटइ मल कि मलहि कि धोये। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ॥५॥
प्रेम-भगति-जल बिनु रघुराई। अभिअंतर-मल कबहुँ न जाई ॥६॥
सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित ॥७॥
दच्छ सकल लच्छनजुत सोई। जाके पद-सरोज रति होई ॥८॥

दोहा—नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु-पद-कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु ॥४९॥

अर्थ—क्या मैले से धोने से मैला छूट सकता है? (कभी नहीं), क्या जल को मथने से कोई घी पा सकता है? (कभी नहीं पाता) ॥५॥ हे श्रीरघुराज! बिना प्रेमभक्ति रूपी जल के अंतःकरण का मैल कभी नहीं जाता ॥६॥ वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पंडित है, वही सब गुणों का घर है, वही अखंड विज्ञानी है ॥७॥ वही चतुर है और वही सब सुलक्षणों से युक्त है, जिसकी प्रीति आपके चरण कमलों में है (भाव यह कि आपकी भक्ति उक्त सर्व गुणों से सम्पन्न करनेवाली है,) ॥८॥ हे नाथ! मैं एक वरदान माँगता हूँ, हे श्रीरामजी! कृपा करके दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा प्रेम जन्म-जन्म में कभी न घटे ॥४९॥

विशेष—(१) 'छूटइ मल कि...'—ऊपर भक्ति को ही सुन्दर फल कहा गया, उसपर शंका हो सकती है कि क्या कर्म-ज्ञान आदि फल सुंदर नहीं है? मनु-याज्ञवल्क्य आदि ने वर्णाश्रम धर्मों और उनके फलों का वर्णन किया है और पतंजलि आदि ने कैवल्यज्ञान को भी उत्तम कहा है। क्या ये फल सुन्दर नहीं हैं? उसपर 'छूटइ मल...' और 'घृत कि पाव...' ये दो दृष्टान्त दिये हैं कि कर्म से कर्म विकार

शुद्ध करना मल से मल छुड़ाना है ; यथा—"करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत मूढ़ मलहि मल धोयो ।" (वि० २४५) और शुष्क ज्ञान से मोक्ष चाहना जल मथकर घी निकालना है ; यथा—"सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो । बहु भाँतिन श्रम करत मोह बस वृथहि मंदमति बारि बिलोयो ।" (वि० २४५)।

कर्म से कर्म निर्मूल नहीं होता । पाप करना कर्म है और व्रत आदि प्रायश्चित्त भी कर्म ही हैं। शुभ कर्मों से जो प्रायश्चित्त किये जाते हैं, उनसे यथाविधि पहले के पाप शुद्ध होते हैं, किन्तु साथ ही उनके कर्तृत्वाभिमान, ममता और फलेच्छा रूप मैल लपटते जाते हैं, यदि कहा जाय कि इन दोषों को बचाकर कर्म किये जायँ, तब तो मल रूप न होंगे, तो उत्तर यह है कि वैसा निर्दोष निष्काम कर्म है, वह तो भक्ति ही है, यथा—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" (गीता १८।४६) ; इसमें स्वकर्म से भगवच्छरीर रूप जगत् के देव, पितृ, ऋषि आदि की पूजा भगवद्भक्ति कही गई है। पुनः सत्त्वादि गुणों के विवेक आदि द्वारा राजस-तामस विकारों को शुद्ध कर जो कैवल्य ज्ञान का साक्षात करना है। उसमें गुणों के द्वारा गुणों का संघर्ष होना जल का मंथन है। क्योंकि प्राकृत पदार्थ विषय मूलक होने से जल रूप हैं ; यथा—"बिषय बारि मन मीन ··" (वि० १०२) ; भगवान् एवं उनका दिव्य धाम शुद्ध सत्त्व मय होने से दूध के समान हैं। उनकी उपासना करना दूध मथना है, इससे मुक्ति रूपी घृत प्राप्त होना युक्त है।

(२) 'प्रेम भगति जल बिनु···'—जैसे साबुन आदि स्थूल ही पदार्थों से जल के द्वारा धोने से मल साफ होता है। वैसे ही भगवदुपासनात्मक कर्म जो प्रेम सहित किये जाते हैं, उनसे अंतःकरण का मल छूटता है ; यथा—"धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥ कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥ वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च । विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥" (भाग० ११।१४।२२-२४) ; अर्थात् भगवान् उद्धवजी से कहते हैं कि सत्य-दया युक्त धर्म अथवा तप सम्पन्न ज्ञान, मेरी भक्ति से शून्य जीव को पूर्ण रीति से शुद्ध नहीं कर सकते। विना रोमांच हुए, विना चित्त द्रवीभूत हुए, विना नेत्रों से आनंदाश्रु बहे कैसे भक्ति का ज्ञान हो सकता है ? और ऐसी भक्ति के विना चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है ? मेरी भक्ति से जिसकी वाणी और हृदय गद्गद हो जाते हैं, जो बार-बार उच्च स्वर से मेरे नाम लेकर पुकारता है, कभी हँसता, कभी रोता है, कभी लज्जा छोड़कर नाचता है और कभी मेरे गुण गाता है। वह मेरा भक्त तीनों भुवनों को पवित्र करता है।

मल के विविध स्वरूप और उनकी शुद्धि विनय-पत्रिका के इस पद में स्पष्ट है; यथा—"मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहुँ जतन न जाई । जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक अरुझाई ॥ नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागे । हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ॥ पर निंदा सुनि श्रवन मलिन भये बचन दोष पर गाये । सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराये ॥ तुलसि दास व्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै । राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै ॥" (वि० ८२)। तथा गीता में भी कहा है—"रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।" (२।५९); अर्थात् जीवों का सूक्ष्म विषयानुराग भगवान् के ध्यान से ही छूटता है। तथा—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" (मुं० २।८)

अन्यत्र विमल विवेक से भी चित्त की शुद्धि कही गई है ; यथा—"जनम अनेक किये नाना विधि

कर्म-कीच चित सान्यो। होइ न बिमल बिवेक नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥" (वि॰ ८८), इससे विरोध नहीं है, क्योंकि विमल ज्ञान का परिणाम ही प्रेमाभक्ति है ; यथा—"बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई ॥" (दो॰ १२१); "होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥" (अ॰ दो॰ ९२)।

(३) 'नाथ एक बर माँगउँ...'—'कृपा करि देहु'—भाव यह कि इसके योग्य सुकृत मैंने नहीं किया। 'जन्म जन्म प्रभु-पद...'—भाव यह कि हम यह नहीं चाहते कि मेरे जन्म का अभाव हो, किन्तु आपमें प्रीति एक रस बनी रहे, यही चाहता हूँ, यथा—"अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निर्वान। जन्म जन्म रति रामपद, यह बरदान न आन ॥" (अ॰ दो॰ २०४)—यह श्रीभरतजी ने माँगा है। तथा—"जेहि जोनि जन्मउ कर्मबस तहँ राम-पद अनुरागऊँ ॥" (कि॰ दो॰ १०)—यह बालि ने माँगा है।

भक्त लोग सेवा ही चाहते हैं ; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहि हौं। येहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं ॥" (वि॰ २३१)।

अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये। कृपासिंधु के मन अति भाये ॥१॥

अर्थ—ऐसा कहकर वसिष्ठ मुनि घर आये, वे कृपासिंधु श्रीरामजी के मन को बहुत अच्छे लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु के मन अति भाये'—से मानसिक वर देना सूचित किया गया। उन्होंने कहा था—'राम-कृपा करि देहु' तदनुसार 'कृपासिंधु' कहा गया। मर्यादा विचार कर गुरुजी को प्रकट में वर नहीं दिया, 'मन अति भाये' से सूचित कर दिया गया। लीला के विरुद्ध जानकर प्रकट में वर देना नहीं कहा गया। पुन उनके वचन यथार्थ हैं, इससे वे श्रीरामजी के मन को अच्छे लगे। प्रभु ने सभा में कहा था कि मेरी भक्ति करो, वही इन्होंने माँगा, इससे भी ये 'अति भाये।'

(२) 'गृह आये' से किसी-किसी का मत है कि आगे परधाम यात्रा का प्रसग है। वसिष्ठजी ने ऐसा वर माँगा है, इससे इनका घर आना कहा गया है ; अर्थात् ये भक्ति सहित यहीं बने रहे, साथ नहीं गये। ब्रह्माजी के साथ परधाम को जायँगे।

पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वाल्मी॰ ७।१०६।१-३ में स्पष्ट रूप से पर धाम यात्रा में इनका साथ होना पाया जाता है। इससे 'गृह आये' को उस दिन की यात्रा का उपसहार रूप मानना चाहिये, यथा—"एक बार बसिष्ठ मुनि आये।" यह उपक्रम है और "अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये।" यह उपसहार है।

हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक-सुख-दाता ॥२॥
पुनि कृपाल पुर बाहेर गये। गज रथ तुरग मँगावत भये ॥३॥
देखि कृपा करि सकल सराहे। दिये उचित जिन्ह जिन्ह तेइ चाहे ॥४॥

अर्थ—सेवकों को सुख देनेवाले श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्जी और श्रीभरत आदि सब भाइयों को

साथ लिया ॥२॥ फिर कृपालु श्रीरघुनाथजी नगर के बाहर गये और हाथी, रथ और घोड़े मँगाये ॥३॥ कृपादृष्टि से देखकर सबकी सराहना की, जिस-जिसने उनको चाहा एवं जिसके लिये जो उचित था, दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'हनूमान भरतादिक भ्राता ।...'—श्रीपार्वतीजी ने सम्पूर्ण चरित विषयक प्रश्न करते हुए यह भी पूछा था; यथा—"बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम । प्रजा सहित रघुबंस मनि, किमि गवने निज धाम ॥" (बा० दो० ११०) ; श्रीशिवजी ने उसका उत्तर यहाँ दिया है । वाल्मी० ७।१०६-११० के भाव सूक्ष्म रीति से यहाँ ले लिये गये हैं । गुप्त रूप में कहने का भाव यह कि भक्त लोग श्रीअयोध्या में ही प्रभु का नित्य ध्यान करते हैं । उनके चित्त के प्रतिकूल भी न हो और उत्तर भी हो जाय । उपासकों की भावना के अनुसार प्रभु यहाँ ही उन्हें नित्य प्राप्त हैं ; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत । राम नाम जप जापकन्ह, तुलसी अभिमत देत ॥" (दोहावली ४) ; यह श्रीगोस्वामीजी ने अनुभव करके लिखा है, इन्हें कलिकाल में भी वहाँ श्रीरामजी के दर्शन हुए थे ।

यहाँ श्रीहनुमान्जी और श्रीभरतजी आदि की चर्चा है, पर श्रीसीताजी की नहीं, इससे सूचित किया गया है कि वाल्मीकीय रामायण के अनुसार उनका परधाम-गमन प्रथम ही हो चुका है। पर यहाँ श्रीहनुमान्जी का नाम प्रथम और स्पष्ट कहा गया है । यह वाल्मीकीय रामायण के अनुसार नहीं है, यह कल्पभेद है । 'सेवक सुख दाता'—क्योंकि सेवक एवं आश्रित वर्ग मात्र को सुखमय परधाम के लिये साथ लेते हैं । इससे वाल्मी० ७।१०७।११-१६ के भाव ले लिये कि वसिष्ठजी ने पुरवासियों एवं प्रजाओं की ओर से प्रार्थना की, फिर प्रभु ने सब की रुचि साथ जाने में ही देखी, तो उन्हें सुख देने के लिये साथ लिया ।

श्रीहनुमान्जी आपके मुख्य पार्षद हैं, इससे इनका नाम प्रथम दिया गया है । भाइयों के साथ कहे गये, क्योंकि श्रीरामजी इन्हें भाइयों के समान ही मानते हैं ; यथा—"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।" (कि० दो० १); इसी से ग्रन्थकार ने साथ ही वंदना भी की है—बा० दो० १६-१७ देखिये ।

(२) 'पुर बाहेर'—आधा योजन पच्छिम (गोप्तार घाट) समझना चाहिये, वाल्मी० ७।११०।१ में कहा गया है ।

'गज रथ तुरग मँगावत भये'—प्रत्यक्ष अर्थ तो यह है कि गजादि लोगों को देकर बाग में (चन्दन वन में) विश्राम करने गये । गुप्त भाव यह है कि गज, रथ, तुरंग आदि के आकार के दिव्य विमान मँगाकर उनकी सराहना की । प्रजा की वासनानुसार देकर उन्हें सवार कराया ।

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई । गये जहाँ सीतल अमराई ॥५॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई । बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥६॥
मारुतसुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥७॥

अर्थ—समस्त श्रमों के हरनेवाले प्रभु ने (गज-रथ, तुरंग आदि के बाँटने में) श्रम पाया । उस श्रम के निवृत्त करने के लिये वे शीतल अमराई में गये ॥५॥ श्रीभरतजी ने अपना वस्त्र बिछा दिया, प्रभु उसपर बैठ गये, सब भाई सेवा कर रहे हैं ॥६॥ तब पवन-पुत्र श्रीहनुमान्जी पवन (पंखा से हवा) करने लगे । उनका शरीर पुलकित हो गया है और नेत्रों में जल भर-भर आता है ॥७॥

विशेष—(१) प्रभु जब सदा भ्रमण करते हैं, तब थकना भ्रमित होना कहा जाता है, तब पुनः गर्मी व शान्ति के लिये वे शेष शय्या पर सोते हैं। वैसे ही यहाँ पर भी वर्णन है कि पुरवासियों को ... में भ्रम हुआ, उसे दूर करने के लिये शीतल अमराई गये। वहाँ से लौटकर आना नहीं लिखा गया। जैसे कि पहले उपवन आदि जाने पर लौटना कहा गया है। इससे यह परधाम यात्रा है। अयोध्या नित्य और नैमित्य दो हैं, दोनों नित्य हैं। भगवान् को परोक्षवाद प्रिय है यथा—"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय" कहा जाता है। इसी से परोक्ष रीति से परधाम यात्रा कही गई। शीतल अर्थात् शुद्ध सत्त्वमय, अमराई अर्थात् अमर लोगों (दिव्य देहवाले पार्षदों) का निवासस्थान अर्थात् नित्यधाम, इसे ही वाल्मीकि रामायण में सन्तानक लोक कहा गया है, जो अयोध्या एवं साकेत-लोक का पर्याय है। दूसरे नाम के लोक को जाते तो उसका नाम दिया जाता। द्विभुज श्रीराम रूप का श्रीअयोध्या ही धाम है।

(१) पुरवासी सब स्थावर जंगम श्रीसरयूजी के जल में प्रवेश करके शरीर त्याग दिये और दिव्य विमानों पर सबको साकेत भेजकर आप भी वहीं गये। श्रीभरत आदि पार्षद-रूप से सेवा करने लगे। 'निज बसन डसाई' का भाव उन्होंने वस्त्र नहीं बिछाया मानों अपना शरीर ही बिछा दिया, यह श्रीभरतजी के हृदय का भाव है। श्रीभरतजी छत्र लिये हुए हैं, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी दाहिने बायें चँवर लिये हुए हैं। श्रीहनुमान्‌जी पंखा लिये सम्मुख से पवन कर रहे हैं और रूप-माधुरी पर मुग्ध हैं, जिससे उनकी पुलक और प्रेमाश्रु की दशा है।

यह परधाम यात्रा प्रसंग है, नहीं तो ग्रन्थ के चरित प्रकरण की समाप्ति मंदिर में अथवा कल्प-वृक्ष के नीचे प्रभु का ध्यान दिखाकर वर्णन करते।

हनूमान सम नहिं बडभागी। नहिं कोउ राम-चरन अनुरागी ॥८॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई ॥९॥

दोहा—तेहि अवसर मुनि नारद, आये करतल बीन।
गावन लगे राम कल, कीरति सदा नवीन ॥५०॥

अर्थ—हे गिरिजे! श्रीहनुमानजी के समान न कोई बड़ा भाग्यवान् है और न कोई राम-चरणानुरागी ही है कि जिनकी प्रीति और सेवा को बार-बार प्रभु ने अपने मुख से बखान किया है ॥८-९॥ उसी अवसर पर नारद मुनि हाथ में वीणा लिये हुए आये और श्रीरामजी की सुन्दर और नित्य नवीन कीर्त्ति गाने लगे ॥५०॥

विशेष—(१) 'हनूमान सम नहिं बड भागी।'—श्रीराम-चरणानुराग से जीव बड़ भागी होता है। "अतिसय बड भागी चरनन्हि लागी।" (बा० दो० २१०) में उदाहरण दिये गये हैं। श्रीहनुमान्‌जी दासता के आदर्श हैं, यथा—"सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।" (वि० १३४) 'प्रीति सेवकाई', सुनु कपि तोहिं समान उपकारी। नहिं कोउ सुर-नर मुनि तनु धारी॥ प्रति उपकार करउँ का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥" (सु० दो० ३१), ऐसे ही इनके प्रत्येक कार्य पर जानना चाहिये।

इस समय प्रभु के साथ में चार ही के नाम आये हैं, उनमें तीन तो प्रभु के भाई अंश-रूप ही हैं, सेवकों में श्रीहनुमान्‌जी का ही नाम है। इससे श्रीशिवजी इनका भाग्य और इनकी सेवा सराहने लगे।

श्रीहनुमानजी की प्रीति अन्यत्र भी कही गई है ; यथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मी॰ ७।४०।२३।२४) ; अर्थात् हे वानर! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ और शेष उपकारों के लिये हम सब तुम्हारे ऋणी रहेंगे। तुमने जो उपकार किये हैं, वे मेरे शरीर में ही पच जायँ, क्योंकि प्रत्युपकार का समय है उपकारी का विपत्ति ग्रस्त होना। तथा—"पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवन्मम सर्वदा। श्यालवद्रामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्॥…यः प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहतामुने॥" (शिवसंहिता) यह श्रीहनुमान्‌जी ने स्वयं कहा है।

(२) 'तेहि अवसर मुनि…'—'आये करतल बीन'—श्रीनारदजी सदा वीणा लिये रहते हैं, इसीसे इनका वीणाधर नाम भी है। ये मधुर स्वर से सदा श्रीरामजी की नवीन कीर्त्ति ही गाया करते हैं, कीर्त्ति इतनी अधिक है कि एक बार गाई हुई को दोहराना नहीं पड़ता। इससे इनका अपनी बनाई हुई राम-कीर्त्ति का भी गाना सूचित किया। कीर्त्ति नदी-रूपा कही गई है ; यथा—"कीरति सरित छहूँ रितु रूरी।" (बा॰ दो॰ ४१) ; नदी-प्रवाह का जल सदा नया ही रहता है।

यहाँ श्रीनारदजी का आने पर और जाते समय भी प्रणाम करना नहीं कहा गया। इसका एक कारण तो यह है कि आ॰ दो॰ ४०–४६ में आने और जाने के समय पर दंडवत् का वर्त्ताव कह दिया गया, इससे यहाँ नहीं कहा गया, वैसा ही वर्त्ताव यहाँ भी जान लेना चाहिये। कुंभकर्ण-वध पर लंका कांड में भी श्रीनारदजी का आना और आकाश से गुण-गान करके जाना लिखा गया है, वहाँ भी प्रणाम का वर्त्ताव नहीं कहा गया।

मामवलोकय पंकज - लोचन। कृपा-बिलोकनि सोचबिमोचन॥१॥
नील तामरस श्याम काम अरि। हृदय - कंज - मकरंद-मधुप हरि॥२॥
जातुधान - बरूथ - बल - भंजन। मुनि - सज्जन-रंजन अघ-गंजन॥३॥

अर्थ—हे शोच के छुड़ानेवाले! हे कमल-लोचन! कृपादृष्टि से मुझे देखिये॥१॥ हे भक्तों के क्लेश हरनेवाले हरि! आप नील कमल के समान श्याम वर्ण हैं और काम के शत्रु श्रीशिवजी के हृदय-कमल के (प्रेम-रूपी) मकरंद के पान करनेवाले भ्रमर हैं॥२॥ आप निशाचर समूह के बल के तोड़नेवाले हैं, मुनियों और सज्जनों के आनंद देनेवाले और पापों के नाशक हैं॥३॥

विशेष—(१) 'कृपा बिलोकनि'—भाव यह कि मुझे दृष्य जानकर कृपा-दृष्टि से मेरी रक्षा कीजिये, क्योंकि साधन से मेरा शोच दूर नहीं हो सकता। शोच इन्हें वही है जो अरण्यकांड में लिखा गया है, यथा—"बिरहवंत भगवतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेखी॥ मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥" (आ॰ दो॰ ४०), यहाँ अवतार कार्य पूरा हुआ और अंतमें 'प्रभु श्रम पाई' कहा भी गया है। वे शोच करते हैं कि यह सारा श्रम हमारे ही शाप के कारण हुआ है। उस शोच की निवृत्ति चाहते हैं। शोच भीतर का विकार है, इसीसे श्रीशिवजी के हृदय में बसनेवाले रूप का स्मरण किया कि जिससे मेरे हृदय में भी काम विकार न आ सके ; यथा—"हृदि बसि राम काम मद गंजय॥" (दो॰ १२) ; यहाँ तक हृदय की बात कही गई, आगे बाहर के कार्य कहते हैं—

(२) 'जातुधान-बरूथ...'—राक्षसों को नाश करके मुनि सज्जनों को सुख देते हैं; यथा—"जय रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर-नर मुनि सबके भय बीते॥" (लं० दो० १०); 'अघ गंजन'—पाप नाशक भी आप ही हैं, अन्यथा कितनी ही सुकृत की जाय, पाप नहीं जाते; यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ हरनि एक अघ असुर जालिका। तुलसीदास प्रभु कृपा कालिका॥" (वि० १२८)।

भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। असरन सरन दीनजन गाहक॥४॥
भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खरदूषन - बिराध - बध पंडित॥५॥
रावनारि सुखरूप भूप बर। जय दसरथ-कुल-कुमुद-सुधाकर॥६॥

अर्थ—ब्राह्मण-रूपी नई खेती के (पोषण के) लिये आप नवीन मेघ समूह के समान हैं। जिसको कोई शरण देनेवाला नहीं है उसके लिये आप शरण्य (रक्षक) हैं और दीन-जनों को ग्रहण करनेवाले हैं॥४॥ अपनी भुजा के बल से आपने पृथिवी का भारी बोझा उतारा (नाश किया)। आप खर-दूषण और विराध के वध करने में पंडित (प्रवीण) हैं॥५॥ हे रावण के शत्रु! हे सुख-रूप! हे राजेन्द्र! हे दशरथ महाराज के कुल-रूपी कुई के लिये चन्द्र-रूप श्रीरामजी! आपकी जय हो॥६॥

विशेष—(१) 'नव बृंद बलाहक'—'नव' शब्द दीपदेहली है। नवीन ही खेती मेघ के जल को पाकर बढ़ती है, पकी हुई नहीं बढ़ती। वर्षा के प्रारम्भ से कृषी का भी प्रारम्भ होता है, उस समय के मेघ नवीन मेघ कहाते हैं।

(२) 'भूसुर ससि नव...'—राज्य भर के ब्राह्मण श्रीरामजी के भरोसे अपने-अपने धर्म का निर्वाह करते थे। उनका भरण-पोषण आप मेघ के समान पदार्थों की वृष्टि से करते थे। वन यात्रा समय भी नियत वृत्तिवालों का प्रबंध कर ,गये थे; यथा—"गुरु सन कहि बर्षासन दीन्हें।" (अ० दो० ७१)। 'भुजबल बिपुल...' कहकर उसे ही उत्तरार्द्ध में प्रकट करते हैं; यथा—'खर दूषन बिराध बध पंडित'—किसी को भुजबल से मारा और किसी को पंडिताई (युक्ति) से, जैसे कि खर-दूषण आदि बल से न मर सकते थे, उन्हें युक्ति से मारा,; यथा—"देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मर्‌यो।" वैसे ही विराध को पृथिवी में गाड़ दिया, अन्यथा वह भी न मरता।

(३) 'रावनारि सुख रूप भूपवर' कह कर तब 'जय दसरथ...' कहा गया, क्योंकि रावण वध होने पर अनरण्य का बदला लिये जाने से यह कुल प्रफुल्ल हुआ। 'सुखरूप' कहकर आनन्द रूप ब्रह्म कहा। साथ ही 'भूप बर' से दिखाया कि ऐसा सुख देनेवाला कोई राजा नहीं हुआ।

सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुरमुनि संत समागम॥७॥
कारुनीक ब्यलीक-मद-खंडन। सबबिधि कुसल कोसलामंडन॥८॥
कलिमलमथन नाम ममता-हन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन॥९॥

दोहा—प्रेम-सहित मुनि नारद, बरनि राम - गुन - ग्राम।
सोभासिंधु हृदय धरि, गये जहाँ बिधि-धाम॥५१॥

शब्दार्थ—व्यलीक = अपराध, दुःख, कपट, लंपट, दुःख देनेवाले।

अर्थ—आपका सुन्दर यश पुराणों, वेदों और शास्त्रों में प्रकट है, समागम होने पर देवता, मुनि और संत उसे गाते हैं ॥७॥ आप करुणायुक्त हैं, व्यलीक और मद के नाश करनेवाले, सब प्रकार से कुशल और श्रीअयोध्याजी के भूषण हैं ॥८॥ आपका नाम कलि के पापों का नाश करनेवाला और ममत्व का नाश करनेवाला है। हे तुलसीदास के प्रभु! शरणागत की रक्षा कीजिये ॥९॥ प्रेम सहित श्रीरामजी के गुण समूह वर्णन करके श्रीनारद मुनि शोभा सागर श्रीरामजी को हृदय में रखकर जहाँ ब्रह्माजी का धाम था, वहाँ (ब्रह्मलोक) को गये ॥५१॥

विशेष—(१) 'सुजस पुरान···'—ऊपर कीर्त्ति का गान हुआ, यहाँ से सुयश गाते हैं।

(२) 'सब बिधि कुसल'—जिस विधि से जिसकी सुविधा हो सकती है, उन सब तरह के विधान करने में आप प्रवीण हैं; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।" (अ॰ दो॰ २५३); 'तुलसीदास प्रभु' में भाविक अलंकार है, क्योंकि ग्रन्थकार ने पहले के परम भक्त के मुख से अपना सम्बन्ध पुष्ट किया है। 'पाहि' अर्थात् मेरी भव से रक्षा कीजिये; यथा—"पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन तरन।" (गी॰ सुं॰ ४३)।

'कलिमल मथन नाम···'; यथा—"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोमं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेन्धो यथानलः॥" (भाग॰ ६।२।१४-१८); अर्थात् पुत्र आदि के नाम-संकेत से, परिहास से, स्तोम (अप्रतिष्ठा) या अवहेलना से भी भगवान् का नाम लेने से समस्त पाप नष्ट होते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञान पूर्वक लिया हुआ भगवान् का नाम पाप को उसी तरह जला देता है, जैसे किसी प्रकार भी डाले हुए ईंधन को अग्नि। तथा—"पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्। हरये नमइत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ (भाग॰ १२।१२।४६); अर्थात् कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते और दुःख से पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वर से 'हरये नमः' ऐसा पुकार उठता है। वह सब पापों से छूट जाता है।

(३) 'प्रेम सहित मुनि नारद ···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'तेहि अवसर मुनि नारद···' यह दोहा था। उपक्रम में 'गावन लागे' कहा था और उपसंहार में 'बरनि राम गुन ग्राम' कहा गया है। इसके बीच में नव अर्द्धालियाँ हैं, नव संख्या की हद है, इससे निरंतर गुण-गान सूचित किया, यह इनका नित्य का नियम है कि अयोध्या आते हैं और गुणगण देखकर गाते हैं। उन गुणों को ब्रह्मलोक में जाकर सुनाते हैं।

यहाँ शीतल अमराई में चरित की समाप्ति की, जैसा कि आगे के वचनों से स्पष्ट है। यहाँ तक क्रम से जन्म से लेकर राज्य तक के चरित कहे गये।

श्रीराम-चरित का उपसंहार

गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा ॥१॥
राम-चरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा ॥२॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म-कर्म अनंत नामानी ॥३॥

जल-सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं ॥४॥

शब्दार्थ—गुनानी (गुण + अनी) = गुण-समूह । नामानी = नाम-समूह ।

अर्थ—हे गिरिजे ! सुनो, मैंने यह उज्ज्वल कथा सब कही, जैसी कुछ कि मेरी बुद्धि है ॥१॥ श्रीरामचरित सौ करोड़ और अपार हैं, श्रुति और शारदा नहीं वर्णन कर सकतीं ॥२॥ श्रीरामजी अनन्त हैं और उनके गुण समूह अनन्त हैं, जन्म और कर्म अनन्त हैं और उनके नामों के समूह अनन्त हैं ॥३॥ जल के कण और पृथिवी की रज चाहे गिने जा सकें, पर श्रीरघुनाथ जी के चरित वर्णन करने से नहीं समाप्त हो सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'मोरि मति जथा' कहकर आगे कारण कहते हैं कि चरित अपार हैं, इससे मेरी बुद्धि से जितना बन पड़ा उतना ही कहा गया । "हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित । मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहुँ ॥" (बा० दो० १२०) ; उपक्रम है और यहाँ—'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा । मैं सब कही मोरि मति जथा ॥" यह उपसंहार है ।

(२) 'राम-चरित सत कोटि अपारा । ..', यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ॥" ऐसा प्रसिद्ध है कि श्रीवाल्मीकिजी ने सौ करोड़ श्लोकों का रामायण नाम ग्रंथ रचा था । उसमें से जितना लव कुश को पढ़ाया था, उतना ही रह गया, जिसमें ५०० सर्ग और २४००० श्लोक कहे जाते हैं । इसके अतिरिक्त १८ पुराणों में भी रामायण की कथाएँ हैं । महाभारत में भी रामायणी कथा बहुत प्राचीन कही गई है और जहाँ तहाँ कही गई है । और भी मुनियों ने जहाँ-तहाँ संहिताओं में गान किया है । अठारह पदम यूथप वानरों ने भी जा-जाकर अपने-अपने यहाँ कथा कही होगी, वे सब रामायण हैं, उनकी भी संख्या अवर्ण्य ही है । महारामायण भी स्वतंत्र सुनी जाती है जिसमें साढ़े तीन लाख श्लोक हैं ।

'श्रुति सारदा न बरनइ पारा ।'—कहकर अनंत एवं अपार कहा है ।

(३) 'राम अनंत···', यथा—"राम नाम गुन चरित सुहाये । जनम करम अगनित श्रुति गाये ॥ जथा अनंत राम भगवाना । तथा कथा कीरति गुन नाना ॥" (बा० दो० ११३) ; जन्म की अनंतता यह कि आपके अवतार असंख्य हैं , यथा—"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजा । यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥" (भाग० १।३।२६), अर्थात् जैसे महत्सरोवर से अनेकों नाले निकलते हैं, वैसे भगवान् से असंख्य अवतार होते हैं । जब जन्म अनंत हैं तब गुण और नाम भी अनंत होने ही चाहिये । उसी अनंतता को आगे दृष्टान्त से समझाते हैं—

(४) 'जल-सीकर महिरज ··'—संसार में बरसते हुए बूँदों के जल-कण चाहे कोई गिन ले । पृथिवी भर के रज कण चाहे गिने जा सकें, पर श्रीरघुनाथजी के चरित गिनने से नहीं समाप्त हो सकते ।

विमल कथा हरि - पद - दायनी । भगति होइ सुनि अनपायनी ॥५॥
उमा कहिउँ सब कथा सुहाई । जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥६॥
कछुक राम गुन कहेउँ बखानी । अब का कहउँ सो कहहु भवानी ॥७॥

अर्थ—यह विशद कथा हरि-पद देनेवाली है, इसके सुनने से अविनाशिनी भक्ति होती है ॥५॥ हे

उमा ! मैंने वह सब सुंदर कथा कही, जो भुशुंडिजी ने गरुड़जी को सुनाई थी ॥६॥ मैंने कुछ श्रीरामगुण बखान करके कहा, हे भवानी ! अब क्या कहूँ ? वह कहो ॥७॥

विशेष—(१) 'हरि-पद-दायनी'—हरि-पद से भगवान् के चरणों की प्रीत्यात्मक सेवा रूपा मुक्ति और कैवल्य पद दोनों का अर्थ है, जैसे कि पूर्व बैर भाववाले रावण आदि के प्रसंगों में कहा गया कि उन्होंने निर्वाण पद (कैवल्य मुक्ति) पाया। उसे ही हरि-पद प्राप्ति भी कहा है; यथा—"अधम सिरोमनि तब पद पावा।" (लं॰ दो॰ १०८)। कथा से दोनों की प्राप्ति होती है; यथा—"राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो येहि कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (उ॰ दो॰ १२८); 'उमा कहेउँ सब कथा सुहाई'—वह सब कथा कही, जो भुशुण्डीजी ने गरुड़जी से कही थी। यह सब कथा भी राम-गुण का कुछ (अंश) ही है। वही आगे 'कछुक राम गुन कहेउँ' से सूचित किया है। पूर्व कथा को अनन्त कह आये, यहाँ उस कथा की पूर्ति कहते हुए भी उसकी सँभाल है। 'जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई'—उपसंहार है। इसका उपक्रम—"कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँग नायक गरुड़।" (बा॰ दो॰ १२०); यहाँ भुशुंडिजी का बखानना कहकर गिरिजाजी को अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का भी स्मरण कराते हैं कि जो उपक्रम के समय कहा था—"सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब।" (बा॰ दो॰ १२०); इसपर श्रीपार्वतीजी श्रद्धा-पूर्वक उसके कहने की प्रार्थना करेंगी, तब उसे भी कहेंगे।

(२) अब का कहउँ···'—भाव यह कि तुम्हारे सब प्रश्नों के उत्तर तो मैंने कह दिये। श्रीपार्वतीजी के नवें प्रश्न तक के उत्तर तो क्रमशः चरित भाग में आये हैं। शेष तीन 'बिज्ञान तत्त्व' 'भक्ति-ज्ञान-विराग आदि के विभाग' और 'अपर राम रहस्य' ये सब उन्हीं नव प्रश्नों के उत्तर में बीच-बीच में आ गये हैं। इसीसे ऊपर कथा के विषय में कहा—'मैं सब कही', 'कहेउँ सब कथा सुहाई' इत्यादि। यहाँ 'अब का कहउँ' कहकर उसी अवशिष्ट प्रतिज्ञा के प्रति श्रीगिरिजाजी को पूछने का अवसर देते हैं।

वही आगे गिरिजाजी पूछेंगी, तब भुशुंडीजी के संवाद की कथा कही जायगी। अभी उमाजी अपना सुनना और तत्सम्बन्धी अनुमोदन प्रकट करती हैं। आगे ८ वीं चौ॰ से वह प्रसंग पूछेंगी।

सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु बानी ॥८॥
धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी। सुनेउँ राम-गुन भव-भय-हारी ॥९॥

दोहा—तुम्हरी कृपा कृपायतन, अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु, चिदानंद संदोह॥
नाथ तवानन ससि श्रवत, कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मतिधीर ॥५२॥

अर्थ—कल्याणकारी कथा सुनकर श्रीपार्वतीजी हर्षित हुई और अत्यन्त नम्रता पूर्वक कोमल वाणी बोलीं ॥८॥ हे पुरारि ! मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, धन्य हूँ कि मैंने भव-भय के हरण करनेवाले राम-गुण सुने ॥९॥ हे कृपा के स्थान ! आपकी कृपा से अब मैं कृतार्थ हुई, अब मुझे कुछ भी मोह नहीं है। हे प्रभो ! मैंने सच्चिदानंद घन प्रभु श्रीरामजी का प्रताप जाना॥ हे नाथ ! हे मतिधीर ! आपका मुखचन्द्र

रघुवीर कथा रूपी अमृत टपकता है। मेरा मन उसे कर्ण छिद्र रूपी दोने के द्वारा पीकर तृप्त नहीं होता ॥५२॥

विशेष--(१) 'सुनि सुभ कथा···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल।" (बा० दो० १२०); अर्थात् यह कथा आद्योपांत शुभ (कल्याण) रूपा ही है। पुनः "बैठीं सिव समीप हरषाई।" (बा० दो० १०९) उपक्रम है और यहाँ—'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी।' उपसंहार है। 'अति बिनीत···'—महा उपकार समझकर अत्यंत विनीत हुई; इसीसे वाणी कोमल हो गई है।

(२) 'धन्य धन्य मैं···'—यहाँ हर्ष और आदर में वीप्सा है। तीन बहुवचन हैं, यहाँ तीन बार धन्य कहकर अपनेको अत्यन्त धन्य कहा। कथा के उपक्रम में श्रीशिवजी ने इन्हें दो बार धन्य कहा था—"धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।" (बा० दो० १११); उपसंहार में यहाँ इन्होंने स्वयं अपनेको धन्य माना और अधिक बार धन्य कहा। इसका कारण राम-गुण-श्रवण कहती हैं। 'पुरारी'—आपने त्रिपुरासुर को मार कर तीनों लोकों को सुखी किया, वैसे ही इस कथा से भी जीवों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों की आसुरी प्रकृति नाश होती है। पुनः मेरा त्रैलोक्यनाथ विषयक मोह कथा से नाश किया और मुझे सुखी किया।

(३) 'अब कृतकृत्य'—जब तक मोह निवृत्त नहीं होता, तब तक जीव कृतार्थ नहीं कहाता, अर्थात् इस शरीर से जो करना था, वह मैं कर चुकी। 'चिदानंद संदोह'—यहाँ सच्चिदानन्द की जगह चिदानंद मात्र कहा गया है सत् को अध्याहार से लेना चाहिये। संदोह अर्थात् पूर्ण। 'न मोह'—कथा के प्रारंभ में कुछ मोह था; यथा—"तब कर अस बिमोह अब नाहीं।" (बा० दो० १०८)। वह भी कथा सुनने पर अब जाता रहा। 'मति धीर'—कथा कहने में आपकी मति धीर है। ऐसा कहकर और सुनने का अभिप्राय प्रकट करती हैं कि जिससे कथन में आलस्य न करें। 'कथा सुधा'; यथा—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥" (भाग० १।१।३); सुधा से भी तृप्ति न होना दोष है, क्योंकि वह तृप्ति के लिये ही पिया जाता है—इसका समाधान आगे करती हैं; यथा—"रामचरित जे सुनत···"

(४) 'जानेउँ राम प्रताप'—कैलास-प्रकरण सुनकर स्वरूप का ज्ञान हुआ; यथा—"राम सरूप जानि मोहि परेऊ।" (बा० दो० ११९); फिर कथा पूछी, उसे यहाँ तक सुना, तब प्रताप भी जाना।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥१॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ ॥२॥
भव - सागर चह पार जो पावा। राम - कथा ता कहँ दृढ़ नावा ॥३॥
बिषयिन्ह कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥४॥

अर्थ—जो श्रीरामचरित सुनकर अघा जाते हैं, उन्होंने उसका विशेष रस नहीं जाना है ॥१॥ जो महामुनि जीवन्मुक्त हैं, वे भी बिना अंतर पड़े (सदा) हरि-यश सुना करते हैं ॥२॥ जो भव-सागर पार पाना चाहता है उसके लिये राम-कथा दृढ़ नाव है (उसे काल, कर्म आदि के दोष रूप लहरों से डूबने का भय नहीं है) ॥३॥ फिर विषयी लोगों के लिये हरियश कानों को सुख देनेवाला और मन को प्रिय है ॥४॥

विशेष—(१) 'रस बिसेष जाना'''—प्रभु की रूप माधुरी और उनके—कृपा सौहार्द आदि—गुण ही रस रूप हैं, इनके सुनने में प्रेमानंद बढ़ता जाता है।

(२) 'सुनहि निरंतर तेऊ'—सुनने से तृप्ति नहीं होती, स्वाद मिलता है, यही चाहते हैं कि सदा सुना ही करे ; यथा—"जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहि निरंतर होहिं न पूरे।" (अ० दो० १२७) ; जीवन्मुक्तों को ध्यान समाधि से इसमें अधिक सुख मिलता है, तभी तो इसे निरंतर सुनते हैं, दो० ४२ भी देखिये।

यहाँ अर्द्धाली २, ३, और ४ में क्रमशः मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध, तीनों प्रकार के जीवों को श्रीरामचरित सुखदायी कहा गया है। भाव यह कि कथा सबको सुख देनेवाली है। अतः, सबको सुनना चाहिये।

श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति-चरित सोहाहीं॥५॥
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती॥६॥
हरि - चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥७॥

अर्थ—जगत् में कौन कानवाला ऐसा है कि जिसको श्रीरघुनाथजी के चरित न अच्छे लगते हों ? ॥५॥ जिन्हें श्रीरघुनाथजी की कथा नहीं अच्छी लगती, वे जीव जड़ हैं और अपनी आत्मा की हत्या करनेवाले हैं॥६॥ आपने श्रीरामचरितमानस कहा, हे नाथ ! उसे सुनकर मैंने निस्सीम सुख पाया॥७॥

विशेष—(१) 'श्रवनवंत अस को'''—भाव यह कि जिसे भगवच्चरित नहीं सुहाते उसके कान कान ही नहीं हैं ; यथा—"जिन्ह हरि-कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि-भवन समाना॥" (बा० दो० ११२)। 'ते जड़ जीव निजात्मक घाती।'''—भाव यह कि कथा सुनकर आत्मा के तारने का योग था, पर नहीं सुनी जिससे आत्मा (जीव) को फिर भव में पड़ना होगा, यही उसका मारना है। इसे अंधतामिस्र नरक होगा, दो० ४४ देखिये। सहज उपाय श्रीराम-कथा भी इसे अच्छी नहीं लगती, इससे जड़ कहा गया है। मिलान कीजिये—

"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात्। क उत्तमश्लोक गुणानुवादात्पुमान्विरज्येत् विनापशुघ्नात्॥" (भाग० १०।१।४) ; १—"जीवन मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" २—"भव सागर चह पार'''दृढ़ नावा॥" ३—"विषयिन्ह कहँ पुनि'' मन अभिरामा॥" ४—"श्रवनवंत अस को'''सुहाहीं॥" ५—"ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न'''।"

(२) 'हरि-चरित्र मानस तुम्ह गावा'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल॥" (बा० दो० १२०) ; इससे 'हरि-चरित्र मानस' का अर्थ ही 'श्रीरामचरित-मानस' है, यह सिद्ध हुआ। "रामाख्यमीशं हरिम्।" (बा० म० श्लोक ६)—भी देखिये।

इस कथा से इनका मोह हरण हुआ, इससे भी हरिचरित्र मानस कहा है।

उपर्युक्त 'विनापशुघ्नात्' का अर्थ पशुघातक कसाई के विना है, अर्थात् वह बड़ा कठोर हृदय का है। श्रीमद्भागवत में श्रीधरजी ने दूसरी तरह अर्थ किया है—जिसमें शोक न हो, वह 'अपशुक' अर्थात् आत्मा उसका नाश करनेवाला 'अपशुघ्न' अर्थात् आत्मघाती है—यह अर्थ यहाँ विशेष संगत है।

यहाँ मानस के चरित भाग की समाप्ति हुई—उत्तरकांड का पूर्वार्द्ध समाप्त।

उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध

भुशुंडि-गरुड़-संवाद—प्रकरण

तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई ॥८॥

दोहा—बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़, रामचरन अति नेह।
बायसतनु रघुपति - भगति, मोहि परम संदेह ॥५३॥

अर्थ—आपने जो यह कहा था कि यह सुन्दर कथा काकभुशुंडीजी ने गरुड़जी से कही थी ॥८॥ भुशुंडीजी वैराग्य, ज्ञान और विज्ञान में दृढ़ हैं, उनका श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त प्रेम है। "कौए के शरीर में श्रीरघुनाथजी की भक्ति ?" यह मुझे बड़ा भारी संदेह हो रहा है ॥५३॥

विशेष—(१) 'तुम्ह जो कही…'; यथा—"उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥" (दो० ५१); यह ऊपर श्रीशिवजी ने कहा था।

(२) 'मोहि परम संदेह'—यहाँ काक-शरीर में ही हरि-चरित्रमानस, वैराग्य, ज्ञान-विज्ञान और श्रीराम प्रेम आदि कई वस्तुओं की प्राप्ति देखने में आई। इनमें एक वस्तु की भी प्राप्ति में संदेह होता, सबकी प्राप्ति में तो परम संदेह है। कौआ पक्षियों में चांडाल, सर्वभक्षी, चंचल स्वभाव और कुटिल होता है। चांडाल में राम प्रेम एवं श्रीराम-चरितमानस की प्राप्ति असंभव, सर्वभक्षी में वैराग्य, चंचल में ज्ञान और कुटिल में विज्ञान असंभव है, वे सब कैसे प्राप्त हुए ?

इसका उत्तर विस्तार से प्रबंध बाँधकर श्रीशिवजी देंगे। सूक्ष्मतया इतना ही है कि श्रीरामजी के आशीर्वाद से ये सब प्राप्त हुए, यथा—"भगति ज्ञान-बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥" (दो० ८४)।

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म-ब्रत-धारी ॥१॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई ॥२॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ॥३॥
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥४॥
तिन्ह सहस्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी ॥५॥

अर्थ—हे पुरारी ! सुनिये, हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्म व्रत का धारण करनेवाला होता है ॥१॥ करोड़ों धर्मात्माओं में कोई कोई विषय से विमुख होकर (शब्दादि विषयों से मन फेरे हुए) वैराग्य निष्ठ होते हैं ॥२॥ श्रुति कहती है कि करोड़ों वैराग्यवानों में कोई एक पूर्ण ज्ञान पाता है ॥३॥ करोड़ों ज्ञानियों में कोई ही जीवन्मुक्त होता है, वह भी संसार भर में कोई एक ही होता है ॥४॥ उन ऐसे हजारों जीवन्मुक्तों में से सब सुखों की खान ब्रह्म लीन विज्ञानी होना दुर्लभ है ॥५॥

विशेष—'धर्म व्रत धारी'—धर्म की रक्षा में शरीर सुख एवं मानापमान पर दृष्टि न देकर उसका निवाहनेवाला; यथा—"सिबि दधीचि बलि जो कुछ भाखा। तनु धन तजेउ बचन पन राखा॥" (अ॰ दो॰ ३१); 'बिषय बिमुख बिराग रत'—बाह्य विषयों से इन्द्रियों को पृथक् करना विषय विमुखता है और सूक्ष्म विषयानुराग से भी अंतःकरण को पृथक् रखना वैराग्य निष्ठा का निवाहना है। 'सम्यक् ज्ञान' वह है जो किसी विघ्न से खंडित नहीं होता। 'ब्रह्मलीन'—जिसकी वृत्ति ब्रह्म से पृथक् नहीं होती। ऐसा विज्ञानी सब सुखों की खान होता है, भाव यह कि यह उपर्युक्त धर्म, वैराग्य, ज्ञान और जीवन्मुक्ति का सुख भी पा चुका है और अब श्रेष्ठ विज्ञान सुख में है। 'दुर्लभ'—क्योंकि इस अवस्था की प्राप्ति कठिन है।

धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवन-मुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥६॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत-मद-माया॥७॥
सो हरिभगति काग किमि पाई। बिश्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥८॥

दोहा—राम-परायन ज्ञानरत, गुनागार मतिधीर।
नाथ कहहु केहि कारन, पायउ काक सरीर॥५४॥

अर्थ—हे सुरराज! धर्मशील, वैराग्यवान्, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानी, इन सब प्राणियों में से वह प्राणी मिलना दुर्लभ है, जो मद-माया रहित श्रीरामभक्ति में परायण हो॥६–७॥ ऐसी वह हरि-भक्ति कौए ने कैसे पाई? हे विश्वनाथ श्रीशिवजी! मुझे समझाकर कहिये॥८॥ हे नाथ! कहिये कि श्रीरामजी में अनुरक्त, ज्ञान में नैष्ठिक, गुणों के धाम और धीर बुद्धि (भुशुण्डीजी) ने किस कारण काक-शरीर पाया? (भाव यह कि इन गुणों के रहते हुए काक देह पाने का हेतु उपस्थित होना असं-भव-सा है)॥५४॥

विशेष—(१) 'धर्मसील…सब ते…'—पहले धर्मसील और बिरक्त आदि का उत्तरोत्तर अधिक होना कहा गया है। फिर यहाँ पाँचो को एकत्र भी कहकर इनसे भक्ति की दुर्लभता कहने का हेतु यह कि जैसे ऊपर के क्रम में एक से दूसरे की उत्पत्ति के भाव हैं, यथा—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना॥" (आ॰ दो॰ १५); वैसे सर्व श्रेष्ठ विज्ञानी होने ही पर भक्ति हो, यह नियम नहीं है, उपर्युक्त पाँचों में किसी भी अवस्था में भक्ति मिल सकती है। कि॰ दो॰ १६ भी देखिये।

(२) 'सब ते सो दुर्लभ…'—दुर्लभ तो वे पाँच गुण भी हैं, पर यह भक्ति सबसे अधिक दुर्लभ है। 'सुर राया'—देवता दिव्य दृष्टि वाले होते हैं, आप तो उनमे श्रेष्ठ हैं, इससे जानते हैं कि मद-माया रहित भक्ति कितनी दुर्लभ है। 'बिश्वनाथ'—आप संसार भर की व्यवस्था जानते हैं। 'कहहु बुझाई' जिसमें समझ पड़े, इस तरह अज्ञ की तरह पूछना जिज्ञासा की रीति है।

भुशुण्डीजी के भक्ति पाने के पाँच हेतु आगे श्रीशिवजी कहेंगे—(१) (अवध) पुरी के प्रभाव से। (२) श्रीशिवजी के अनुग्रह से; यथा—"पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे॥" (दो॰ १०८)। (३) स्वाभाविक; यथा—"करउँ सदा रघुनायक लीला।" (दो॰ १०१)। (४) लोमसजी के वरदान से; यथा—"राम भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥" (दो॰ ११२)। (५) श्रीरामजी के वरदान से; यथा—"सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥ एवमस्तु कहि…" (दो॰ ८४)।

(३) 'राम परायन ज्ञान रत'...'—उपर्युक्त 'सो हरि भगति काग किमि पाई ।' पर यदि कहा जाय कि जब भक्ति प्राप्त हुई थी, तब काक-शरीर नहीं था, तब फिर संदेह होगा कि भक्त को यह चांडाल शरीर कैसे मिला ?

यदि कहा जाय कि किसी का अपराध करने पर उसके शाप से यह शरीर पाया होगा। उसपर कहती हैं कि राम-परायण आदि गुणोंवाला किसी का अपराध कर ही नहीं सकता। राम भक्त—"मंद करत जो करइ भलाई।" (सुं• दो•४•)। ज्ञानरत—"देख ब्रह्म समान सब माहीं।" गुणागार—"जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।" (कि• दो• १६); सज्जन किसी का अपकार करते ही नहीं ; यथा—"साधु ते होइ न कारज हानी।" (सुं• दो• ५)। 'मति धीर'—काम क्रोध आदि के उद्वेग से भी किसी का अनिष्ट नहीं कर सकते।

काक-शरीर उन्हें लोमश मुनि के उपदेश पर तर्क करने एवं उनके ज्ञान पक्ष के खंडन करने पर मुनि के शाप से मिला; यथा—"सपदि होहि पच्छी चंडाला।।" (दो• १११)। इसे आगे विस्तार सहित श्रीशिवजी कहेंगे।

यह प्रभु - चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा ॥१॥
तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी ॥२॥
गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरि-सेवक अति निकट निवासी ॥३॥
तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई ॥४॥
कहहु कवन बिधि भा संवादा। दोउ हरि-भगत काग उरगादा ॥५॥

अर्थ—हे कृपालो ! कहिये, प्रभु का यह सुन्दर पवित्र चरित्र कौए ने कहाँ पाया ? ॥१॥ हे कामारि ! कहिये, आपने किस प्रकार सुना ? यह मुझे बहुत भारी आश्चर्य है ॥२॥ गरुड़जी परम ज्ञानी, गुणों की राशि, हरि के सेवक और हरि के अत्यन्त समीप रहनेवाले (उनके वाहन ही) हैं ॥३॥ उन गरुड़जी ने किस कारण मुनियों का समूह छोड़कर कौए के पास जाकर कथा सुनी ? ॥४॥ कहिये कि काकभुशुंडी और गरुड़, इन दोनों हरि-भक्तों का संवाद किस प्रकार हुआ ? (हरि-भक्तों का संवाद सुनने योग्य है) ॥५॥

विशेष—(१) 'यह प्रभु चरित पवित्र...'—चरित श्रवण-मनन से पाप नाश करनेवाला है और इसकी रचना सुहावनी है। 'काग कहँ पावा'—भाव यह कि इसकी प्राप्ति तो मुनियों को भी दुर्लभ है। कौए को इसका मिलना असंभव-सा है। 'कृपाल'—कृपा करके कहिये और मेरे आश्चर्य को दूर कीजिये। प्रभु का चरित पवित्र और शोभायमान है, कौआ अपवित्र और अशोभित है। अत., इसके योग्य नहीं है।

श्रीरामचरित प्राप्त होना आगे दो प्रकार से कहा गया है—(१) श्रीशिवजी के देने से, यथा—"सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।" (बा• दो• ३१); (२) लोमशजी के पढ़ाने से; यथा—"मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा।।" (दो• ११३)।

(२) 'तुम्ह केहि भाँति सुना...'—'केहि भाँति'—मैं तो सदा साथ ही रहती हूँ, उस समय मैं कहाँ थी। 'मदनारी'—आपने काम को भस्म कर दिया, इससे आप अत्यन्त स्वच्छ हृदयवाले हैं। कामनाओं की गंध भी आपके हृदय में नहीं है। कौए तो सर्वभक्षी और मलिन हृदयवाले होते हैं, फिर ईश्वर होकर आपने ऐसे को वक्ता क्यों बनाया ? यह तो मुझे भारी आश्चर्य है।

(३) 'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी।·· '—'महाज्ञानी' क्योंकि इनके पक्षों (परनों) से सामवेद की ध्वनि होती है, तब इनके ज्ञान को क्या कहना ?

श्रीभुशुंडीजी को राम परायण, ज्ञानरत, गुणागार और मतिधीर, ये चार विशेषण दिये थे। वैसे ही चार ही विशेषण यहाँ गरुड़जी को भी देकर सूचित करती हैं कि ये कौए से किसी गुण में कम नहीं, फिर इन्होंने ऐसे को क्यों गुरु बनाया ? तीन विशेषण तो दोनों के मिलते ही हैं, चौथा 'मतिधीर' की जगह 'हरि के अति निकट निवासी' कहा गया है। भाव यह कि वे मतिधीरता से कामादि विकारों से बचे हैं, तो ये हरि के सान्निध्य से।

(४) 'केहि हेतु'—भाव यह कि इसमें कोई भारी कारण होगा, नहीं तो उस समय मुनियों के समूह थे, फिर उन्हें कौए को गुरु करने की क्या आवश्यकता थी ?

(५) 'कवनि विधि'—दोनों हरिभक्त कैसे मिले और कैसे उनके प्रश्न और उत्तर हुए ?

यहाँ तक श्रीपार्वतीजी के प्रश्न कहे गये। आगे श्रीशिवजी के उत्तर के प्रसंग हैं—

गौरि - गिरा सुनि सरल सुहाई। बोले सिव सादर सुख पाई ॥६॥
धन्य सती पावनि मति तोरी। रघुपति-चरन प्रीति नहि थोरी ॥७॥
सुनहु परम पुनीत इतिहासा। जो सुनि सकल सोक भ्रम नासा ॥८॥
उपजइ राम - चरन बिस्वासा। भवनिधि तर नर बिनहिं प्रयासा ॥९॥

दोहा—ऐसिय प्रश्न बिहंगपति, कीन्हि काग सन जाइ।
सो सब सादर कहिहउँ, सुनहु उमा मन लाइ ॥५५॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी की सरल सुन्दर वाणी सुनकर श्रीशिवजी सुख पाकर आदर सहित बोले ॥६॥ हे सती! तुम धन्य हो, तुम्हारी बुद्धि पवित्र है और श्रीरघुनाथजी के चरणों मे तुम्हारी अत्यन्त प्रीति है ॥७॥ परम पवित्र इतिहास सुनो, जिसे सुनकर सब शोक और भ्रम नाश हो जाते हैं ॥८॥ श्रीरामजी के चरणों मे विश्वास उत्पन्न होता है और मनुष्य विना परिश्रम ही भव सागर तर जाता है ॥९॥ ऐसे ही प्रश्न पक्षिराज गरुड़जी ने काकभुशुंडीजी से जाकर किये थे वे सब में आदर पूर्वक कहूँगा, हे उमा! मन लगाकर सुनो ॥५५॥

विशेष—(१) 'गौरि गिरा सुनि ··'—वाणी सरल है, अर्थात् छल रहित है और सुहाई है, अर्थात् एक साथ ही उन्होंने कई रहस्यात्मक प्रश्न किये हैं, जिनके कहने मे बड़ा आनंद होगा। यह समझकर श्रीशिवजी को सुख हुआ, छल युक्त प्रश्नों से वक्ता का हृदय कुढ़ जाता है। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई ॥" (बा० दो० ११०)।

उपक्रम मे कहा गया था—"बोली अति बिनीत मृदुबानी।" (दो० ५१), यहाँ—"गौरि गिरा सुनि ··" उपसंहार है। अत:, 'अति बिनीत' और 'मृदु' होने से 'सरल सुहाई' कहा गया है। प्रश्न का

की प्राप्ति। (२)—काक-शरीर की प्राप्ति। (३)—श्रीराम-चरित की प्राप्ति। (४)—श्रीभुशुंडीजी से श्रीशिवजी का कथा सुनना (५) श्रीभुशुंडीजी से ही श्रीगरुड़जी ने क्यों सुना ? (६) दोनों भक्तों का संवाद कैसे हुआ ?

यहाँ पहले श्रीशिवजी चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं, शेष सब प्रश्नों के उत्तर एक साथ भुशुंडि-गरुड़-संवाद में आ जायँगे। अपनी कथा पृथक् प्रसंग की है, इसलिये इसे प्रथम कहते हैं।

'सुमुखि'—क्योंकि सुन्दर प्रश्न किया है। 'सुलोचनि' कहने का भाव यह कि मैं जो कहता हूँ, इसपर दृष्टि दो।

(२) 'तव रहा'—भाव यह कि अब वह नाम नहीं है।

(३) 'दच्छ जज्ञ तव ···'—उस यज्ञ में हमारा भाग नहीं देखा, तो पति के अपमान में अपना भारी अपमान माना। अपमान तो दक्ष के कुशल नहीं पूछने से और किसी के द्वारा भी सम्मान नहीं होने से भी तुम्हारा हुआ था, पर पति के अपमान को ही तुमने भारी अपमान माना; यथा—"प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।" "सिव अपमान न जाइ सहि।" (बा० दो० ६२-६३); उसी क्रोध से प्राण छोड़े।

(३) 'जानहु तुम्ह सो···'—बा० दो० ६४ में यह प्रसंग आ चुका है।

तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरे ॥५॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा ॥६॥
गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी ॥७॥
तासु कनकमय सिखर सोहाये। चारि चारु मोरे मन भाये ॥८॥
तिन्ह पर एकएक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला ॥९॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि-सोपान देखि मन मोहा ॥१०॥

दोहा—सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग।
कूजत कलरव हंसगन, गुंजत मंजुल भृंग ॥५६॥

अर्थ—हे प्रिये ! मैं तुम्हारे वियोग से दुखी हुआ, तब मेरे मन में बड़ा शोच हुआ ॥५॥ सुन्दर वनों पर्वतों, नदियों और तालाबों का कौतुक विरक्तवृत्ति से देखता फिरता था (कि कहीं जी बहल जाय, पर कहीं मन नहीं लगता था,) ॥६॥ उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत से बहुत दूरी पर एक अत्यन्त सुन्दर नील पर्वत था ॥७॥ उस नील पर्वत पर स्वर्णमय चार सुन्दर एवं दीप्तिमान् शिखर थे, वे मेरे मन को बहुत अच्छे लगे। (भाव यह कि वहीं चित्त को शांति मिली) ॥८॥ उन शिखरों पर एक-एक भारी वृक्ष थे—बरगद, पीपल, पाकरि और आम (ये उनके नाम हैं, वे वृक्ष एक-एक शिखर पर एक-एक थे) ॥९॥ उस पर्वत पर एक सुन्दर तालाब शोभित था, मणियों की सीढ़ियाँ देखकर मन लुभा गया ॥१०॥ शीतल, निर्मल और मीठा जल था, कमल बहुत और बहुत रंगों के (उसमें खिले) थे, हंस गण सुन्दर (मीठे) शब्द बोलते थे और भौंरे बहुत सुन्दर गुंजार कर रहे थे ॥५६॥

उपक्रम – "तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥" है और यहाँ—'गौरि गिरा···' उपसंहार है।

(२) 'धन्य सती पावनि मति···'—इसमें तीनों कांडों की योग्यता कही गई है—'धन्य' से कर्म-कांड; यथा—"सुकृती पुण्यवान् धन्य इत्यमरः", 'पावनिमति' से ज्ञान, क्योंकि ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है और 'रघुपति चरन प्रीति···' यह उपासना है। उपर्युक्त 'बोले सिव सादर' का यहाँ चरितार्थ है। सती तन में मोह हुआ था, तब मति अपावन थी, अब मोह निवृत्त होकर राम-चरण में प्रेम है, इससे उसी नाम से 'मति पावनता' भी कहते हैं, क्योंकि इनकी जिज्ञासा का अंकुर उसी तन का है। पहले सती की मति को पावन कह कर उनकी योग्यता प्रकट करके अब 'परम पुनीत इतिहासा' सुनने को कहा है कि यह पवित्र को भी पवित्र करनेवाला है। 'सती' यहाँ पतिव्रता के अर्थ में भी है। क्योंकि अब तो इनके पार्वती, एवं उमा नाम हैं।

पहले शोक-भ्रम का नाश होने पर राम-चरण में विश्वास का होना कहा, तब भव तरना कहा गया, यही क्रम है।

(३) 'पूँछिय प्रश्न···'—जैसे प्रश्न तुमने किये हैं, वैसे ही श्रीगरुड़जी ने भी किये हैं। मिलान—

श्रीपार्वतीजी	श्रीगरुड़जी, दो० ९३
रामपरायन ज्ञान रत··· केहि कारन, पायेउ काग सरीर।	तुम्ह सर्वज्ञ तज्ञ···कारन कौन देह यह पाई॥
यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥	राम-चरित सर सुंदर स्वामी। पायेहु कहाँ कहहु नभ गामी॥

कहिहउँ—भविष्य क्रिया देकर जनाया कि इन्हें पीछे कहूँगा, अभी पहले अपने सुनने का प्रसंग कहता हूँ।

"तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी।" का उत्तर

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि॥१॥
प्रथम दच्छ-गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा॥२॥
दच्छ-जज्ञ तव भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना॥३॥
मम अनुचरन्ह कीन्ह मख-भंगा। जानहु तुम्ह सो सकल प्रसंगा॥४॥

अर्थ—मैंने जिस प्रकार भव छुड़ानेवाली यह कथा सुनी, हे सुमुखे! हे सुलोचने! वह प्रसंग सुनो॥१॥ पहले जब तुम्हारा अवतार दक्ष के घर में हुआ था, तब तुम्हारा सती नाम था॥२॥ दक्ष के यज्ञ में तुम्हारा अपमान हुआ तब तुमने अत्यन्त क्रोध में आकर प्राण छोड़ दिये॥३॥ मेरे सेवकों ने यज्ञ विध्वंस किया, यह सब प्रसंग तुम जानती ही हो॥४॥

विशेष— (१) 'मैं जिमि कथा सुनी···'—श्रीपार्वतीजी ने छः प्रश्न किये थे—(१)—भक्ति

की प्राप्ति। (२)—काक-शरीर की प्राप्ति। (३)—श्रीराम-चरित की प्राप्ति। (४)—श्रीभुशुंडीजी से श्रीशिवजी का कथा सुनना (५) श्रीभुशुंडीजी से ही श्रीगरुड़जी ने क्यों सुना? (६) दोनों भक्तों का संवाद कैसे हुआ?

यहाँ पहले श्रीशिवजी चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं, शेष सब प्रश्नों के उत्तर एक साथ भुशुंडि-गरुड़-संवाद में आ जायँगे। अपनी कथा पृथक् प्रसंग की है, इसलिये इसे प्रथम कहते हैं।

'सुमुखि'—क्योंकि सुन्दर प्रश्न किया है। 'सुलोचनि' कहने का भाव यह कि मैं जो कहता हूँ, इसपर दृष्टि दो।

(२) 'तब रहा'—भाव यह कि अब वह नाम नहीं है।

(३) 'दच्छ जज्ञ तव···'—उस यज्ञ मे हमारा भाग नहीं देखा, तो पति के अपमान मे अपना भारी अपमान माना। अपमान तो दक्ष के कुशल नहीं पूछने से और किसी के द्वारा भी सम्मान नहीं होने से भी तुम्हारा हुआ था, पर पति के अपमान को ही तुमने भारी अपमान माना; यथा—"प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।" "सिव अपमान न जाइ सहि।" (बा० दो० ६२–६३); उसी क्रोध से प्राण छोड़े।

(३) 'जानहु तुम्ह सो···'—बा० दो० ६४ में यह प्रसंग आ चुका है।

तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरे ॥५॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा ॥६॥
गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी ॥७॥
तासु कनकमय सिखर सोहाये। चारि चारु मोरे मन भाये ॥८॥
तिन्ह पर एकएक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला ॥९॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि-सोपान देखि मन मोहा ॥१०॥

दोहा—सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग।
कूजत कलरव हंसगन, गुंजत मंजुल भृंग ॥५६॥

अर्थ—हे प्रिये! मैं तुम्हारे वियोग से दुखी हुआ, तब मेरे मन में बड़ा शोच हुआ ॥५॥ सुन्दर वनों पर्वतों, नदियों और तालाबों का कौतुक विरक्तवृत्ति से देखता फिरता था (कि कहीं जी बहल जाय, पर कहीं मन नहीं लगता था,) ॥६॥ उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत से बहुत दूरी पर एक अत्यन्त सुन्दर नील पर्वत था ॥७॥ उस नील पर्वत पर स्वर्णमय चार सुन्दर एवं दीप्तिमान् शिखर थे, वे मेरे मन को बहुत अच्छे लगे। (भाव यह कि वहीं चित्त को शांति मिली) ॥८॥ उन शिखरों पर एक-एक भारी वृक्ष थे—बरगद, पीपल, पाकरि और आम (ये उनके नाम हैं, वे वृक्ष एक-एक शिखर पर एक-एक थे) ॥९॥ उस पर्वत पर एक सुन्दर तालाब शोभित था, मणियों की सीढ़ियाँ देखकर मन लुभा गया ॥१०॥ शीतल, निर्मल और मीठा जल था, कमल बहुत और बहुत रंगों के (उसमें खिले) थे, हंस गण सुन्दर (मीठे) शब्द बोलते थे और भौंरे बहुत सुन्दर गुंजार कर रहे थे। ५६॥

विशेष—(१) 'तव अति सोच भयउ …'—तुमने हमारे अपमान पर प्राण छोड दिये, इसीसे तुम्हारे वियोग मे मुझे भी अति शोच हुआ। यह नियम है, यथा—"ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥" (गीता ४।११); 'प्रिय' सम्बोधन से भक्त-वत्सलता भी दिखाई , यथा—"जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥" (बा॰ दो॰ ७५); 'गिरि सुमेरु'—यह इलावर्त्त खंड मे है, यह कमल कर्णिका के समान नीचे पतला और ऊपर चौडा है। इसपर देवता लोग जाया करते हैं, इससे इसको पार्वतीजी भी जानती हैं, नील गिरि का पता बतलाने के लिये इसको भी कहा है।

(२) 'मोरे मन भाये'; 'मन मोहा'—सती के वियोग के कारण कैलास पर मन न रमा। वहाँ 'सिव बिश्राम बिटप' भी विश्राम नहीं दे सका, क्योंकि वहाँ की वस्तुओं से विरह का उद्दीपन होता था, प्रत्येक के सम्बन्ध से सती का स्मरण हो आता था।

यहाँ माया कृत विकार एव किसी प्रकार विकार नहीं व्यापते ; यथा—"माया कृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥ · तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥" (दो॰ ५६); इस दिव्य स्थल के योग से मन लग गया। 'बिटप बिसाला'—भाव यह कि इन चार के अतिरिक्त और सब छोटे-छोटे वृक्ष थे।

(३) 'बट पीपर पाकरी रसाला।'—ये क्रमश पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में हैं। इन चारों के मध्य में आश्रम है।

(४) 'देखि मन मोहा'—भाव यह कि सर और सीढियों की शोभा तो विचित्र थी।

(५) 'सीतल अमल …'—ऊपर सर कहा, फिर यहाँ क्रम से जल, कमल, हसगण और भ्रमर कहे गये हैं।

तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई। तासु नास कल्पांत न होई॥१॥
मायाकृत गुन - दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥२॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहि जाहीं॥३॥
तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा। सो सुनु उमा सहित अनुरागा॥४॥

अर्थ—उस सुन्दर पर्वत पर वही पक्षी बसता है, उसका नाश कल्प के अत होने पर भी नहीं होता॥१॥ मोह, काम आदि अज्ञान और माया के किये हुए अनेक गुण और दोष सारे ससार मे व्याप रहे हैं, पर उस पहाड़ के समीप कभी नहीं जाते॥२-३॥ वहाँ बसकर जिस प्रकार वह कौआ भगवान् का भजन करता है, हे उमा ! वह सब प्रेम सहित सुनो॥४॥

विशेष—(१) 'तासु नास कल्पांत न होई'—ऊपर 'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि…' से 'तेहि गिरि …' तक नील गिरि का वर्णन है। यहाँ 'तासु' से उसके निवासी श्रीभुशुण्डीजी को कहा है कि इनका नाश कल्प के अन्त (महाप्रलय) मे भी नहीं होता , यथा—"नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महा प्रलयहु नास तव नाहीं॥" (दो॰ ५३), सब लोकों के नाश होने पर ये कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर यह सुना जाता है कि ये श्रीभुशुण्डीजी और मारकण्डेयजी सशरीर परमात्मा मे प्रवेश कर जाते हैं।

(२) 'रहे व्यापि समस्त जग माहीं।'; यथा—"व्यापि रह्यो संसार महँ, माया कटक प्रचंड।" (दो० ७१), 'तेहि गिरि निकट···'—क्योंकि लोमशजी की ऐसी ही आशिष है; यथा—"जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि, सुमिरत श्रीभगवत। व्यापिहि तहँ न अविद्या, जोजन एक प्रजंत॥" (दो० ११३); जब उनके पर्वत के निकट भी माया नहीं जा पाती तब भुशुंडीजी के निकट उसका जाना तो बहुत दूर है। माया कृत काल भी है। अतः, यह भी नहीं व्यापता। 'कबहुँ नहिं'—कलियुग में भी वहाँ किसी के मन में विकार नहीं आता। इससे भजन निर्वाध होता है, आगे भजन का प्रकार कहते हैं—

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप-जज्ञ पाकरि तर करई॥५॥
आँब छाँह कर मानस-पूजा। तजि हरि-भजन काज नहिं दूजा॥६॥
बर तर कह हरिकथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥७॥
रामचरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेमसहित कर सादर गाना॥८॥
सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥९॥

अर्थ—वे पीपल वृक्ष के नीचे (इष्ट बालक रूप श्रीरामजी का) ध्यान धरते हैं, पाकर के नीचे जप-यज्ञ करते हैं॥५॥ आम की छाया में मानसी पूजा करते हैं, भगवान् का भजन छोड़कर और काम नहीं करते॥६॥ बरगद के नीचे भगवान् की कथा का प्रसंग कहते हैं, वहाँ अनेकों पक्षी आते और सुनते हैं॥७॥ अनेक प्रकार के विलक्षण श्रीरामचरित प्रेमपूर्वक आदर के साथ गान करते हैं॥८॥ सब निर्मल बुद्धिवाले हंस सुनते हैं जो सदैव उस तालाब पर रहते हैं (ये वहाँ के निवासी हैं और नियम से सुननेवाले हैं)॥९॥

विशेष—(१) 'पीपर तरु तर···'—पीपल भगवान् का रूप है; यथा—"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां" (गीता १०।२६); इससे उसके नीचे भगवान् का ध्यान करते हैं। पाकर ब्रह्मा का रूप है, ये कर्मकांडी हैं, इससे इसके नीचे जप-यज्ञ करते हैं, (शाप से चांडाल पक्षी का शरीर पाये हुए हैं, इससे द्रव्य यज्ञ में अपना अधिकार भी नहीं मानते)। यह राज वृक्ष भी कहा गया है और यज्ञ का सम्बन्ध भी राजाओं से है। आम कामदेव का वृक्ष है, काम रसमय और सुन्दर है, मानस पूजा में भी शोभामय द्रव्य एवं सुन्दर शृंगार किया जाता है। इससे उसके नीचे मानस पूजा करते हैं। वट शिव रूप है; यथा—"प्राकृतहूँ बट-बूट बसत पुरारी हैं" (क० उ० १४०); "लसै जटाजूट मानों रूख वेष हरु हैं।" (क० उ० १३६)। श्रीशिवजी रामायण के आचार्य हैं और भुशुंडीजी के गुरु लोमशजी के गुरु भी हैं; यथा—"सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥" (बा० दो० २९)। इससे इनके आश्रित होकर रामायण की कथा कहते हैं।

ध्यान, यज्ञ, पूजन और कथा, क्रमशः सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म हैं। श्रीभुशुंडीजी चिरजीवी हैं, उनको चार युगों की चौकड़ी एक दिन के समान बीतती है। इसी से इस तरह कालक्षेप कहा गया है कि दिन के चार प्रहर के समान उनके लिये चारो युग हैं।

प्रायः मनुष्यों के भी प्रातः काल से शाम तक के चार प्रहर क्रमशः सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की वृत्ति प्रधान होते हैं, उनकी दशा भी कही गई है, यथा—"नित जुग धर्म होहिं सब केरे।" से "तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥" (उ० दो० १०३); तक इन वृत्तियों की प्रधानता में

मनुष्यों को भी विचार कर युग का धर्म करना चाहिये। सतयुग की वृत्ति में चित्त की प्रधानता रहती है, चित्त के देवता वासुदेव हैं। अतः, चित्त ही पीपल रूप है। त्रेता की वृत्ति में बुद्धि की प्रधानता रहती है, बुद्धि के देवता ब्रह्मा हैं, वे ही ऊपर पाकर रूप कहे भी गये हैं। ध्यान चित्त प्राधान्य में और जप बुद्धि के प्राधान्य में होता भी है। पूजा शरीर एवं इन्द्रियों से होती है, इनमें अहंकार की प्रधानता है, इसमें द्वापर वृत्ति की प्रधानता रहती है। यह आमरूप है। आम कामदेव रूप कहा गया है, काम से सृष्टि होती है, वैसे अहंकार से भी सृष्टि होती है। मानसी पूजा में भी संकल्पों से सृष्टि के समान पदार्थों की उत्पत्ति करके पूजा की जाती है। कलि की वृत्ति में मन की प्रधानता रहती है। मन के देवता चंद्रमा हैं जो श्रीशिवजी के आश्रित हैं, इससे इसे शिव रूप वट कहा गया है। इस अवस्था में कथा एवं नामकीर्तन ही उपाय हैं।

श्रीभुशुंडीजी को काल नहीं व्यापता, इससे उन्हें रात्रि का विक्षेप नहीं होता है, निरंतर भजन में लगे रहते हैं, उनका शरीर दिव्य है, इससे आलस आदि की सम्भावना नहीं।

प्रभु ने वर देकर इन्हें कहा था—"काय बचन मन ममपद, करेसु अचल अनुराग।" (दो० ८५); वही ये सदा करते रहते हैं, ध्यान और मानस पूजा मन की भक्ति, जाप-यज्ञ तन की और चरित्र वर्णन वचन की भक्ति है।

'जाप यज्ञ'; यथा—"मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्येस्थितं मनः। मनोमन्त्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥" अर्थात् मंत्रार्थ विचार में मन को लीन किये हुए मंत्र-जप होता है। जप-यज्ञ के और भी अंग; यथा—"बीज मंत्र जपिये सोई तो जपत महेस। प्रेम बारि तर्पन भलो घृत सहज सनेहु। संसय समिधि अगिनि छमा, ममता बलि देहु॥" (वि० १०८)।

(२) 'रामचरित बिचित्र'—नाम, रूप, लीला, धाम का वर्णन चरित है। उसमें अनेकों रसों का सम्मिश्रण विचित्रता है। पुनः एक-एक चरित के अनेक हेतु होना भी उनमें विचित्रता है।

(३) 'मति बिमल मराला'—वहाँ अविद्या नहीं व्यापती, इससे सब निर्मल मति के हैं, पुनः निरंतर कथा श्रवण भी निर्मल मति का हेतु है।

जब मैं जाइ सो कौतुक देखा। उर उपजा आनंद बिसेखा॥१०॥

दोहा—तब कछु काल मराल तनु, धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति-गुन, पुनि आयउँ कैलास॥५७॥

गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग-पासा॥१॥

अर्थ—जब मैंने जाकर वह तमाशा देखा, तब (मेरे) हृदय में विशेष आनंद पैदा हुआ॥१०॥ तब मैंने कुछ काल हंस-शरीर धारण करके वहाँ निवास किया और श्रीरघुनाथजी के चरित आदर पूर्वक सुनकर फिर कैलास लौट आया। वहाँ मन शांत हो गया, फिर कहीं जाने की आवश्यकता नहीं रह गई)॥५७॥ हे गिरिजे! मैंने यह सब इतिहास कहा—जिस समय मैं श्रीभुशुंडीजी के पास गया॥१॥

विशेष—(१) 'सो कौतुक देखा'—'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि...' से यहाँ तक जो कहा गया, यही कौतुक (आश्चर्य) है। पुनः पक्षी ही श्रोता, पक्षी ही वक्ता, पक्षी जापक, वही पुजारी, ध्यानी, इत्यादि कौतुक देखा।

'उर उपजा आनंद बिसेषा ।'—श्रीशिवजी के हृदय का विषाद दूर हो गया, इस नील गिरि के कौतुक से उन्हें विशेष आनंद उपजा । विषाद, ; यथा—"सती कीन्ह सीता कर वेषा । सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा ॥" (बा० दो० ५५) ; वह यहाँ दूर हुआ ।

(२) 'तब कछु काल मराल तनु...'—भाव यह कि कुछ काल सत्संग के बिना कथा का आनंद नहीं मिलता । यहाँ एक आवृत्ति पूरी सुनने का तात्पर्य है । 'मराल तनु धरि' वहाँ हंसों का ही समाज था, इसलिये हंस तन धारण किया । समाज के अनुरूप वेष चाहिये ; यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आये रनधीरा ॥" (बा० दो० २५१) ; "रहे असुर छल छोनिप वेषा ।" (बा० दो० २४०) । पुनः अपने रूप से जाते तो उन्हें कहने में संकोच होता, क्योंकि ये (श्रीशिवजी) ही मानस के आचार्य हैं, इन्हीं से लोमश ने चरित पाया और फिर उनसे श्रीभुशुंडीजी ने पाया । अतः, गुरु के भी गुरु के सामने कैसे वक्ता बन कर कहते ?

'सादर सुनि रघुपति गुन···'—श्रीभुशुंडीजी सादर गान करते थे ; यथा—"प्रेम सहित कर सादर गाना ॥" इससे मैंने भी उसे सादर सुना । भाव यह कि श्रीरामचरित आदर करने ही योग्य है, इसी से ऐसी रीति है—बा० दो० ४६ चौ० ५ एवं "सादर सुनहिं सुजन मन लाई ।" (बा० दो० ३४) देखिये । 'पुनि आयउँ कैलास'—श्रीरामगुण से ही शांति पाकर यहाँ फिर आया ।

(३) 'गिरिजा कहेउँ सो···'—यहाँ 'तुम्ह केहि भाँति सुना मद नारी ।' का उत्तर पूरा हुआ । आगे श्रीगरुड़जी के वहाँ जाने का हेतु कहेंगे—

'तेहि केहि हेतु काग सन जाई । सुनी कथा' का उत्तर—

अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू । गयउ काग पहिं खगकुल-केतू ॥२॥
जब रघुनाथ कीन्ह रन-क्रीड़ा । समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा ॥३॥

अर्थ—अब वह कथा सुनो, जिस कारण पक्षी कुल के ध्वजा रूप गरुड़जी काकभुशुंडीजी के यहाँ गये ॥२॥ जब श्रीरघुनाथजी ने रण-लीला की—प्रभु का वह चरित समझकर मुझे लज्जा लगती है ॥३॥

विशेष—(१) 'गयउ काग पहिं खग कुल केतू'—'काग' कहकर श्रीभुशुंडीजी की न्यूनता और 'खगकुल केतू' कहकर गरुड़ की बड़ाई प्रकट की कि एक पक्षियों में चांडाल (अति नीच) और दूसरा सब पक्षियों में श्रेष्ठ । पर कोई-कोई हेतु ऐसे भी होते हैं कि बड़े-छोटे के पास जाते हैं, उन्हें सुनो ।

(२) 'जब रघुनाथ कीन्ह···'—'रघुनाथ' शब्द से वैसी रण-लीला का हेतु कहा कि रण में मनुष्य-कुल वाले की ऐसी भी दशा होती है, रण की शोभा तभी होती है, जब दोनों ओर बराबर वीरों का युद्ध हो, इसलिये इधर का भी कुछ पराभव दिखाना आवश्यक था । ऐसा ही कहा है ; यथा—"रन सोभा लगि प्रभुहिं बँधायो ।" (लं० दो० ७१) ।

'होत मोहिं ब्रीड़ा'—लज्जा लगने का कारण यह कि जिसके भौंह-भंग से काल का भी नाश हो जाता है, उसे तुच्छ राक्षस बाँध ले, इसमें स्वामी की बड़ी लघुता होती है ।

इंद्रजीत कर आपु बँधायो । तब नारद मुनि गरुड़ पठायो ॥४॥
बंधन काटि गयो उरगादा । उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ॥५॥

प्रभु - बंधन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग - आराती ॥६॥

अर्थ—इन्द्र-विजयी मेघनाद के हाथों से जब प्रभु ने अपनेको बँधाया, तब नारद मुनि ने (जाकर) गरुड़जी को भेजा ॥४॥ सर्पों के खानेवाले गरुड़जी नागपाश काटकर गये, तब उनके हृदय में प्रबल खेद उत्पन्न हुआ ॥५॥ सर्पों के शत्रु गरुड़जी प्रभु का (यथार्थ) बंधन समझकर बहुत प्रकार विचार करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'इंद्रजीत कर आपु बँधायो।'—श्रीरामजी ने सेना के साथ अपनेको बँधाकर उसे बड़ाई दी, तब उसका 'इंद्रजीत' नाम दिया गया कि उसने इन्द्र को ही जीतकर बाँध लिया था, तब श्रीरामजी का भी बाँध लेना योग्य ही है। 'आपु बँधायो'—अर्थात् वह बल करके प्रभु को नहीं बाँध सकता था, इन्होंने रण-शोभा के लिये स्वयं अपनेको बँधा लिया। यह भी भाव है कि निर्बल के हाथ बँधाते तो संदेह नहीं होता, बली के हाथ से बँधने से लोगों को वह नर-नाट्य सच्चा ही दीखता है।

'तब नारद मुनि '—'तब' का भाव यह कि जब प्रभु का नर नाट्य दिखाने का अभिप्राय जाना कि जब स्वयं बँधवाया है, तो अपने आप छूट जाने में इनका वह खेल झूठा हो जायगा, ऐश्वर्य खुल जायगा, इसलिये श्रीगरुड़जी को जाकर भेजा और उनसे छुड़वाया।

(२) 'बंधन काटि गयउ उरगादा।'—उरगाद का अर्थ सर्पों को खानेवाला है, अर्थात् सर्पों से श्रीरामजी बँधे थे, गरुड़जी ने आकर उन्हें खा लिया, यथा—"खगपति सब धरि खाये, माया नाग बरूथ।" (लं॰ दो॰ ७१), 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा।' सर्पों को पचा गये, पर विषाद को न पचा सके, इससे उसे प्रचंड कहा है।

(३) 'प्रभु बंधन समुझत···'—'बहु भाँती' का विस्तार आगे है, समझते हैं कि जिसका दास सर्पों को खा लेता है, वह स्वामी उन्हीं तुच्छ सर्पों से बँध जाय और फिर छुड़ा न सके, यह तो नहीं हो सकता।

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया - मोह - पार परमीसा ॥७॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥८॥

दोहा—भव - बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नाग - पास सोइ राम ॥५८॥

अर्थ—जो सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म है, रजोगुण रहित और वाणीपति है, माया मोह से परे और परमेश्वर है ॥७॥ उसका अवतार जगत् में मैंने सुना था, पर उस (ब्रह्म) का प्रभाव कुछ भी नहीं देखा (भाव यह कि उन्हें बंधन में विवश देखा था) ॥८॥ मनुष्य जिनका नाम जपकर भवपाश से छूट जाते हैं। उन्हीं श्रीरामजी को तुच्छ राक्षस ने नागपाश से बाँध लिया ॥५८॥

विशेष—(१) 'ब्यापक' अर्थात् विश्व-व्याप्य है और श्रीरामजी उसके व्यापक है, भीतर-बाहर पूर्ण हैं। तो ये कैसे बाँधे जा सकते हैं? ब्रह्म अर्थात् अत्यन्त बृहद् है, कोटि-कोटि ब्रह्मांड इनके रोम-रोम में है, तो वे कैसे बँध सकते है? 'बिरज' है, इनमें माया के गुणों का स्पर्श नहीं हो सकता, तब

माया-नाग के बंधन में कैसे आ सकते हैं ? वे माया-मोह से परे हैं, तब माया के नाग से कैसे मोहित हो सकते हैं ? बागीश हैं, फिर बोल नहीं सकते थे, यह क्यों ? परमेश्वर हैं, इत्यादि। 'परमीसा' का शुद्ध रूप 'परमेशा' होना चाहता था, पर प्रथम चरण के 'बागीसा' से तुकान्त नहीं मिलता ; इसलिये वैसा लिखा गया। भाषा में यह ग्रन्थ बना है, इसमें ऐसे शब्द प्रायः कहे जाते हैं।

'बागीसा' ; यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्र धर अंतरजामी।" (बा० दो० १०४) ; 'सो अवतार सुनेउ···' ; यथा—"सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी।" (बा० दो० ५१)। श्रीनारदजी से अभी सुना होगा।

(२) 'भव-बंधन ते छूटहिं···'— जिसके नाम का ऐसा प्रताप है, वह कैसे बंधन में पड़ सकता है ?; यथा—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥ तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहिं बधावा॥" (सुं० दो० १९); 'सर्व निसाचर'—जिसे श्रीहनुमान्जी ने भगाया, श्रीजाम्बवान्जी ने मूर्च्छित कर दिया। उसने बाँध लिया, तब बड़ाई कहाँ रह गई ? प्रभु तो बड़े-बड़े दैत्यों को नाश करनेवाले हैं। वे ही श्रीरामजी हैं ?

नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥१॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाँई॥२॥
ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥३॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया॥४॥
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥५॥

अर्थ—श्रीगरुड़जी ने अनेकों प्रकार से मन को समझाया, पर ज्ञान न हुआ (किन्तु), हृदय में भ्रम छा गया॥१॥ दुःख से क्षीण (उदास) होकर मन मे तर्क बढ़ाकर वे तुम्हारी ही तरह मोह के वश हो गये (कि ये ईश्वर नहीं हैं, नर हैं, तभी बँध गये)॥२॥ व्याकुल होकर वे देवर्षि श्रीनारदजी के पास गये और जो संशय उनके मन मे था, वह उन्होंने कह सुनाया॥३॥ सुनकर श्रीनारदजी के मन में अत्यन्त दया लगी, (वे बोले—) हे गरुड़ ! सुनो, श्रीरामजी की माया अत्यन्त बलवती है॥४॥ जो ज्ञानियों के चित्त को अपहरण करके बलात् उनके मन मे विशेष मोह उत्पन्न कर देती है॥५॥

विशेष—(१) 'नाना भाँति' समझाना ऊपर के विशेषणों के भावों को कहा है, जो ऊपर कहे गये कि वे विशेषण यथार्थ हैं और इन्हीं के हैं। और भी—ईश्वर के चरित्रों की अगाधता जीव नहीं जान सकते। अतः, संदेह न करना चाहिये। 'प्रगट न ज्ञान'—भ्रम से ज्ञान आच्छादित हो गया है, जैसे सूर्य मेघ से ढँके हुए दिखाते हैं ; यथा—"अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥" (बा० दो० ५०); भ्रम यह है कि महर्षियों ने कहा है कि श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं, रघुकुल में अवतार लिया है, उन्हें झूठा कैसे कहें ; यथा—"मृषा न होइ देवरिषि भाषा।" (बा० दो० ६०), और यदि सत्य मानें तो ब्रह्म माया के बंधन मे कैसे आ सकता ? इनमे तो कुछ भी प्रभाव देखा नहीं जाता।

(२) 'खेदखिन्न···'—दुविधा के कारण दुःख से खिन्न हो गये। तर्कणा करने लगे, पर कोई तर्क

प्रभु - बंधन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग - आराती ॥६॥

अर्थ—इन्द्र-विजयी मेघनाद के हाथों से जब प्रभु ने अपनेको बँधाया, तब नारद मुनि ने (जाकर) गरुड़जी को भेजा ॥४॥ सर्पों के खानेवाले गरुड़जी नागपाश काटकर गये, तब उनके हृदय में प्रबल खेद उत्पन्न हुआ ॥५॥ सर्पों के शत्रु गरुड़जी प्रभु का (यथार्थ) बंधन समझकर बहुत प्रकार विचार करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'इंद्रजीत कर आपु बँधायो ।'—श्रीरामजी ने सेना के साथ अपनेको बँधाकर उसे बड़ाई दी, तब उसका 'इंद्रजीत' नाम दिया गया कि उसने इन्द्र को ही जीतकर बाँध लिया था, तब श्रीरामजी का भी बाँध लेना योग्य ही है। 'आपु बँधायो'—अर्थात् वह बल करके प्रभु को नहीं बाँध सकता था, इन्होंने रण-शोभा के लिये स्वयं अपनेको बँधा लिया। यह भी भाव है कि निर्बल के हाथ बँधाते तो संदेह नहीं होता, बली के हाथ से बँधने से लोगों को वह नर-नाट्य सचा ही दीखता है।

'तब नारद मुनि···'—'तब' का भाव यह कि जब प्रभु का नर-नाट्य दिखाने का अभिप्राय जाना कि जब स्वयं बँधवाया है, तो अपने आप छूट जाने में उनका वह खेल झूठा हो जायगा, ऐश्वर्य खुल जायगा, इसलिये श्रीगरुड़जी को जाकर भेजा और उनसे छुड़वाया।

(२) 'बंधन काटि गयउ उरगादा ।'—उरगाद का अर्थ सर्पों को खानेवाला है, अर्थात् सर्पों से श्रीरामजी बँधे थे, गरुड़जी ने आकर उन्हें खा लिया ; यथा—"खगपति सब धरि खाये, माया नाग बरूथ।" (छं० दो० ७१); 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ।' सर्पो को पचा गये, पर विषाद को न पचा सके, इससे उसे प्रचंड कहा है।

(३) 'प्रभु बंधन समुझत···'—'बहु भाँती' का विस्तार आगे है, समझते हैं कि जिसका दास सर्पों को खा लेता है, वह स्वामी उन्हीं तुच्छ सर्पों से बँध जाय और फिर छुड़ा न सके, यह तो नहीं हो सकता।

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया - मोह - पार परमीसा ॥७॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥८॥

दोहा—भव - बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नाग - पास सोइ राम ॥५८॥

अर्थ—जो सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म है, रजोगुण रहित और वाणीपति है, माया-मोह से परे और परमेश्वर है ॥७॥ उसका अवतार जगत् में मैंने सुना था, पर उस (ब्रह्म) का प्रभाव कुछ भी नहीं देखा (भाव यह कि उन्हें बंधन में विवश देखा था) ॥८॥ मनुष्य जिनका नाम जपकर भवपाश से छूट जाते हैं। उन्हीं श्रीरामजी को तुच्छ राक्षस ने नागपाश से बाँध लिया ॥५८॥

विशेष—(१) 'ब्यापक' अर्थात् विश्व-व्याप्य है और श्रीरामजी उसके व्यापक है, भीतर बाहर पूर्ण हैं। तो वे कैसे बाँधे जा सकते हैं? ब्रह्म अर्थात् अत्यन्त बृहद् है, कोटि-कोटि ब्रह्मांड उनके रोम-रोम में हैं, तो वे कैसे बँध सकते हैं? 'बिरज' हैं, उनमें माया के गुणों का स्पर्श नहीं हो सकता, तब

माया-नाग के बधन में कैसे आ सकते हैं ? वे माया मोह से परे हैं, तब माया के नाग से कैसे मोहित हो सकते हैं ? वागीश हैं, फिर बोल नहीं सकते थे, यह क्यों ? परमेश्वर हैं, इत्यादि। 'परमीसा' का शुद्ध-रूप 'परमेशा' होना चाहता था, पर प्रथम चरण के 'बागीसा' से तुकान्त नहीं मिलता ; इसलिये वैसा लिखा गया। भाषा मे यह ग्रन्थ बना है, इसमे ऐसे शब्द प्राय कहे जाते हैं।

'बागीसा', यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्र धर अतरजामी।" (बा० दो० १०४); 'सो अवतार सुनेउ ' ', यथा—"सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तत्र नित रघुकुल मनी।" (बा० दो० ५१)। श्रीनारदजी से अभी सुना होगा।

(२) 'भव-बधन ते छूटहिं ···'— जिसके नाम का ऐसा प्रताप है, वह कैसे बधन मे पड सकता है ?, यथा—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥ तासु दूत कि बंध तरु आवा। प्रभु कारज लगि कपिहिं बधावा॥" (सु० दो० ११), 'खर्ब निसाचर'—जिसे श्रीहनुमान्‌जी ने भगाया, श्रीजाम्बवान्‌जी ने मूर्च्छित कर दिया। उसने बाँध लिया, तब बडाई कहाँ रह गई ? प्रभु तो बडे-बडे दैत्यों को नाश करनेवाले हैं। वे ही श्रीरामजी हैं ?

नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥१॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाँई॥२॥
व्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥३॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया॥४॥
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥५॥

अर्थ—श्रीगरुडजी ने अनेकों प्रकार से मन को समझाया, पर ज्ञान न हुआ (किन्तु), हृदय में भ्रम छा गया॥१॥ दु ख से क्षीण (उदास) होकर मन मे तर्क बढाकर वे तुम्हारी ही तरह मोह के वश हो गये (कि ये ईश्वर नहीं हैं, नर हैं, तभी बँध गये)॥२॥ व्याकुल होकर वे देवर्षि श्रीनारदजी के पास गये और जो सशय उनके मन मे था, वह उन्होंने कह सुनाया॥३॥ सुनकर श्रीनारदजी के मन मे अत्यन्त दया लगी, (वे बोले—) हे गरुड़! सुनो, श्रीरामजी की माया अत्यन्त बलवती है॥४॥ जो ज्ञानियों के चित्त को अपहरण करके बलात् उनके मन मे विशेष मोह उत्पन्न कर देती है॥५॥

विशेष—(१) 'नाना भाँति' समझाना ऊपर के विशेषणों के भावों को कहा है, जो ऊपर कहे गये कि वे विशेषण यथार्थ हैं और इन्हीं के हैं। और भी—ईश्वर के चरित्रों की अगाधता जीव नहीं जान सकते। अत, सदेह न करना चाहिये। 'प्रगट न ज्ञान'—भ्रम से ज्ञान आच्छादित हो गया है, जैसे सूर्य मेघ से ढँके हुए दिखाते हैं, यथा—"अस ससय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥" (बा० दो० ५०), भ्रम यह है कि महर्षियों ने कहा है कि श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं, रघुकुल में अवतार लिया है, उन्हें झूठा कैसे कहें, यथा—"मृषा न होइ देवरिषि भाषा।" (बा दो० ६०), और यदि सत्य मानें तो ब्रह्म माया के बधन मे कैसे आ सकता ? इनमें तो कुछ भी प्रभाव देखा नहीं जाता।

(२) 'खेदखिन्न ···'—दुबिधा के कारण दु ख से खिन्न हो गये। तर्कणा करने लगे, पर कोई तर्क

ठीक नहीं होता, तर्क पर तर्क बढ़ते जाते हैं। तर्क, जैसे कि धुएँ से अग्नि होने का अनुमान होता है। पर कहीं बिना धूम के भी अग्नि होती है। वैसे ऐश्वर्य देखकर ईश्वरता मानी जाती है। पर यदि वे अपना ऐश्वर्य न दिखायें तो क्या ईश्वर नहीं हैं ? दिखाना उनके अधीन है। अतः, तर्क से ही ईश्वर का निर्णय नहीं हो सकता। कहा भी है—"अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।" (ब्र० सू० आनन्द भाष्य २।१।११)।

'भयउ मोह बस तुम्हरिहि नाईं।'—तुम भी 'नर या ब्रह्म' के भ्रम में पड़ी थीं ; यथा—"जौं नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।" (बा० दो० १०८) ; पुनः "संभु गिरा पुनि मृषा न होई।" (बा० दो० ५०) ; वैसी ही दशा श्रीगरुड़जी की भी हुई।

(३) 'गयउ देवरिषि पाहीं'—श्रीनारदजी ने ही इन्हें नाग पाश काटने को भेजा था और श्रीरामजी को ईश्वर भी कहा था। इससे उन्हीं से समाधान कराने के लिये गये। 'लागि अति दाया'—संत स्वभाव से उन्हें दया लग आई ; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १) ; 'सुनु खग'—शिष्य भाव से मोहित होकर आये, इससे हलका नाम 'खग' ही कहा है।

(४) 'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।'—श्रीनारदजी और सनकादिक ज्ञानी मुनियों के मोह प्रसंग मानस में ही कहे गये हैं। तथा—"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम वादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (दो० ७१) ; 'बरिआईं'''—श्रुति-स्मृति के प्रमाणों को देते हैं, पर वे प्रमाण हृदय में नहीं जमते।

जेहिं बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही ॥६॥
महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे ॥७॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा। सोइ करेहु जेहि होइ निदेसा ॥८॥

दोहा—अस कहि चले देवरिषि, करत राम-गुन-गान।
हरिमाया-बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान ॥५९॥

अर्थ—जिस (हरिमाया) ने मुझे बहुत बार नचाया है, हे पक्षिराज! वही माया तुमको व्यापी है॥६॥ तुम्हारे हृदय में महा-मोह उत्पन्न हुआ है, हे खग! मेरे कहने से शीघ्र न मिटेगा॥७॥ हे खगराज! तुम चतुर्मुख श्रीब्रह्माजी के पास जाओ, और वही करोगे, जिसकी आज्ञा हो॥८॥ ऐसा कहकर देवर्षि श्रीनारदजी श्रीरघुनाथजी का गुणगान करते हुए चले। परम-सुजान श्रीनारदजी बार-बार भगवान् की माया का बल वर्णन करते हुए जा रहे हैं॥५९॥

विशेष—(१) 'जेहि बहु बार नचावा मोही।'—बहुत बार में एक बार की चर्चा बा० दो० १२४–१४० में आ गई है। 'नचावा'—वहाँ बंदर का-सा रूप मिला था, बंदर नचाया जाता ही है। पर नचाना यहाँ दिक करने के अर्थ में है ; यथा—"घेरि सकल बहु नाच नचावहिं।" (लं० दो० ३) ; 'महामोह उपजा'''—मोह मात्र होता तो मिट भी जाता, पर महामोह है और दक्ष शाप के कारण मुझे बेगि (शीघ्रता) में ही कुछ कहना होगा। इससे मिट नहीं सकता। 'खग'—का भाव यह कि तुम भी आकाश में उड़ा करते हो, इस वृत्ति में बिना स्थिर होकर सत्संग किये समाधान न होगा।

(२) 'चतुरानन पहिं जाहु · '—उनके चारों मुखों से चारों वेदों का आविर्भाव हुआ है। अत, वे ईश्वर तत्त्व के अच्छे ज्ञाता हैं। 'जेहि होइ निदेसा'—सम्भवत. यदि वे उपदेश न करें और दूसरी आज्ञा दें, तो वही करना, भाव यह कि उनकी आज्ञा अन्यथा नहीं होती।

(३) 'करत राम गुनगान'—यह श्रीनारदजी का स्वभाव है। पुन यहाँ गरुड़जी पर माया का प्रभाव देख रहे हैं। इससे अपने विषय मे भी डर हो आया। अत, उससे बचने का उपाय रूप राम-गुण-गान कर रहे हैं; यथा—"हरन मोह तम दिन कर कर से।" (बा॰ दो॰ ३१); माया के बल को बार-बार स्मरण करते जाते हैं, जिससे उससे सावधानता बनी रहे। माया पर दृष्टि रखते हुए उससे डर कर हरि-भजन करना, यही परम सुजानता है—यहाँ पर यह शिक्षा भी हुई।

तब खगपति बिरंचि पहिं गयऊ। निज संदेह सुनावत भयऊ ॥१॥
सुनि बिरंचि रामहि सिर नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा ॥२॥
मन महँ करइ बिचार बिधाता। मायाबस कवि कोबिद ज्ञाता ॥३॥
हरि - माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥४॥
अग-जग-मय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा ॥५॥

अर्थ—तब खगराज गरुड़जी श्रीब्रह्माजी के पास गये और उन्होंने अपना संदेह कह सुनाया ॥१॥ सुनकर श्रीब्रह्माजी ने श्रीरामजी को शिर नवाया, श्रीरामजी का प्रताप समझकर उनके हृदय में प्रेम छा गया (वे प्रेम में लीन हो गये) ॥२॥ श्रीब्रह्माजी मन मे विचार करने लगे कि कवि, कोविद और ज्ञानी सभी माया के वश हैं ॥३॥ भगवान् की माया का प्रभाव अतोल है कि जिसने मुझको बहुत बार नाच नचाया है ॥४॥ यह स्थावर-जंगम मय जगत् मेरा ही पैदा किया हुआ है (भाव यह कि गरुड़जी भी मेरी ही सृष्टि मे हैं, जब मुझे ही मोह हुआ तो) पक्षिराज को मोह होने मे कुछ आश्चर्य नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'बिरचि पहिं गयऊ'—भाव यह कि ये सब के एवं मेरे भी रचयिता हैं, तो मेरे संदेह का अवश्य निराकरण करेंगे। 'निज सदेह' जो ऊपर कहा गया—दो० ५७ चौ० ७-८ और दो० ५८ देखिये।

(२) 'सुनि बिरचि रामहि ···'—माया का भय मानकर श्रीरामजी को प्रणाम किया और फिर उनके प्रताप को समझकर प्रेम हुआ कि वे आश्रित की रक्षा अवश्य करते हैं। प्रणाम का यह भी हेतु है कि आप और आपकी माया धन्य है कि गरुड़ तक को भी तमाशा बना लिया—यह समझकर प्रेम हुआ कि जिनका उल्टा पल्टा नाम लेनेवाला भी माया-मोह को जीत लेता है, यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो। 'उल्टे पलटे नाम महातम गुञनि जितो ललामो।". (वि॰ २२८), वे ही प्रभु ऐसा नर नाट्य कर रहे हैं कि जिसमे ऐश्वर्य का छींटा भी नहीं है, देखकर गरुड ऐसों को भी भ्रम हो गया।

(३) 'मन महँ करइ बिचार '—सोचते हैं कि कवि आदि सभी तो माया के वश हैं, तब वे दूसरे को कब छुड़ा सकते हैं ?

(४) 'हरि माया कर अमित प्रभावा।', यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।" (गीता ७।१४), 'मोहि नचावा' अर्थात् निर्लज्ज बना दिया। यहाँ ज्ञानियों को शिक्षा भी है कि दूसरे को

मायावश देखकर दोष न देकर उसपर दया ही करें और प्रभु को प्रणाम करें कि वे समर्थ हैं, बद्ध को मुक्त और मुक्त को बद्ध बना सकते हैं। अतः, उनकी शरणागति ही मात्र इससे बचने का उपाय है।

तब बोले बिधि गिरा सुहाई। जान महेस राम - प्रभुताई ॥६॥
बैनतेय संकर पहिं जाहू। तात अनत पूँछहु जनि काहू ॥७॥
तहँ होइहि तव संसय - हानी। चलेउ बिहंग सुनत बिधि-बानी ॥८॥

दोहा—परमातुर बिहंगपति, आयउ तब मो पास।
जात रहेउँ कुबेर - गृह, रहिहु उमा कैलास ॥६०॥

अर्थ—तब (विचार कर चुकने पर) ब्रह्माजी सुन्दर वाणी बोले कि महादेवजी श्रीरामजी की प्रभुता जानते हैं ॥६॥ हे विनता के पुत्र गरुड़ ! तुम शंकरजी के पास जाओ, हे तात ! और कहीं किसी से मत पूछो ॥७॥ वहाँ तुम्हारे सन्देह का नाश होगा, ब्रह्माजी की वाणी सुनते ही पक्षी चला ॥८॥ तब पक्षिराज गरुड़ अत्यन्त शीघ्रता एवं व्याकुलता से मेरे पास आये, हे उमा ! उस समय मैं कुबेरजी के यहाँ जाता था और तुम कैलास पर थीं ॥६०॥

विशेष—(१) 'गिरा सुहाई'—वाणी में गरुड़जी पर प्रेम और दया है उनके हित का विधान है, श्रीशिवजी की प्रशंसा है और वह गरुड़जी के अनुकूल है—इससे उसे 'सुहाई' कहा है। 'जान महेस राम प्रभुताई'—कैलास प्रकरण में श्रीशिवजी ने राम-प्रभुता कही भी है। तथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको।" (बा० दो० १८) ; पुनः अवतार के लिये स्तुति के विषय में इन्हीं की बात मानी गई; यथा—"मोर बचन सबके मन माना।" विवाह के समय भी; यथा—"सिव समुझाये देव सब···" इत्यादि। जानने के महान् सामर्थ्य पर 'महेस' और उनसे गरुड़जी का कल्याण होगा, इससे उन्हें 'संकर' कहा है। 'वैनतेय' कहने का भाव यह कि ये इस समय विनता की तरह चिंतित हैं। 'अनत पूछेहु जनि'—भाव यह कि और कोई तुम्हारा संशय दूर नहीं कर सकेगा, तरह-तरह की बातों से और मोह बढ़ता जायगा। यहाँ श्रीपार्वतीजी के उस वचन का उत्तर भी हो गया जो कहा गया था—"तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई॥" (दो० ५४) ; अर्थात् ब्रह्माजी के मना करने से अन्यत्र नहीं गये।

(२) 'चलेउ बिहंग···'—शीघ्रता से उड़ चलने पर बिहंग कहा गया, 'बिधि बानी'—इस वाणी में कार्य साधन की विधि भी है। उसपर चलना कर्त्तव्य है। 'तब बोले बिधि गिरा सुहाई।' उपक्रम है और यहाँ—'सुनत बिधि बानी।' उपसंहार है।

(४) 'परमातुर बिहंग पति···'—पहले व्याकुल (आतुर) थे ; यथा—"ब्याकुल गयउ देव रिषि पाहीं।' जब वहाँ से श्रीब्रह्माजी के यहाँ भेजे गये फिर भी समाधान न हुआ, तब 'परम आतुर' हो गये। तथा यहाँ परमातुर का अत्यन्त शीघ्रता भी अर्थ है। 'चलेउ बिहंग' 'बिहंग पति आयउ' से भी शीघ्रता स्पष्ट होती है। 'कुबेर गृह'—अलका पुरी। इससे जना दिया कि उस समय तुम साथ नहीं थीं, नहीं तो उमा अवश्य कहतीं कि मैं तो नहीं जानती और सदा साथ ही रहती हूँ।

तेहि मम पद सादर सिर नावा। पुनि आपन संदेह सुनावा ॥१॥
सुनि ता करि विनती मृदुवानी। प्रेम-सहित मैं कहेउँ भवानी ॥२॥
मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावउँ तोही ॥३॥
तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सत्संगा ॥४॥

अर्थ—उसने आदर सहित मेरे चरणों में शिर नवाया, फिर अपना संदेह सुनाया ॥१॥ हे भवानी ! उसकी विनती और कोमल प्रेमयुक्त वाणी सुनकर मैंने उससे प्रेम से कहा ॥२॥ हे गरुड़ ! तुम मुझे मार्ग में मिले हो (मैं कुवेरजी के यहाँ जा रहा हूँ, तब) तुम्हें किस प्रकार समझाऊँ ? ॥३॥ सब संदेह तो तभी नाश होते हैं जब बहुत काल तक सत्संग किया जाय ॥४॥

विशेष—(१) 'सादर सिर नावा'—इससे पाया गया कि पहले श्रीनारदजी और श्रीब्रह्माजी के यहाँ इन्होंने सामान्य प्रणाम कर लिया था, जिसे नहीं लिखा गया, क्योंकि तब तक इनके मन में कुछ अहंकार था, जब मोह से परम व्याकुल हुए, तब महत्ता का अभिमान छूटा और शुद्ध जिज्ञासु की वृत्ति प्राप्त हुई। तब यहाँ आदर के साथ प्रणाम किया। यह बात—'सुनि ता करि विनती···' इस अगली अर्द्धाली से भी पुष्ट होती है।

(२) 'सुनि ताकरि विनती···'—औरों ने टाल दिया था, जब श्रीशिवजी में इनकी गुरु-बुद्धि आई और इन्होंने सादर प्रणाम किया, तब श्रीशिवजी ने भी प्रेम के साथ कहा। दुखी देखकर दया से भी प्रेम के साथ कहा है।

(३) 'तबहिं होइ सब···'—गरुड़जी ज्ञानी हैं, इनका संदेह मिटाना सुगम नहीं, इसीसे बहुत काल सत्संग करना कहते हैं। प्रभु के विषय के संदेह उनके सांगोपांग चरित सुनने से ही दूर होंगे। उसके लिये बहुत काल की आवश्यकता है। 'विनती मृदुवानी'—आगे भुशुंडीजी से संवाद होने में कही जायगी। वैसी ही वाणी यहाँ भी कही गई है, वहाँ मुख्य प्रसंग है, इसलिये वहीं लिखी गई है। संवादारंभ में भरद्वाज और पार्वतीजी ने भी मृदुवाणी से विनती की है—बा० दो० ४४-४६ और १०६-११० देखिये।

सुनिय तहाँ हरि-कथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ॥५॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥६॥
नित हरिकथा होति जहँ भाई। पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई ॥७॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अति नेहा ॥८॥

दोहा—बिनु सतसंग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥६१॥

शब्दार्थ—प्रतिपाद्य = प्रमाण पूर्वक कथन का विषय, वर्ण्य।
अर्थ—वहाँ (सत्संग में रहकर) सुंदर हरि-कथा सुनिये, जो अनेक प्रकार से मुनियों ने गाई

है ॥५॥ और जिसके आदि, मध्य और अंत में भगवान् श्रीरामजी ही प्रतिपाद्य प्रभु हैं ॥६॥ हे भाई! जहाँ नित्य भगवान् की कथा होती है, वहाँ मैं तुमको भेजता हूँ, जाकर सुनो ॥७॥ सुनते ही सब संदेह दूर हो जायगा और श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त स्नेह होगा ॥८॥ विना सत्संग के हरिकथा नहीं (सुनने को मिलती), विना हरिकथा के मोह नहीं दूर होता और विना मोह के निवृत्त हुए श्रीरामजी के चरणों में निश्चल प्रेम नहीं होता ॥६१॥

विशेष (१) 'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।'; यथा—"कलप भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (बा० दो० ३२); नाना भाँति की कथाएँ सुनने का तात्पर्य यह कि एक भाँति की ही सुनने से दूसरी प्रकार की कथा सुनने पर संदेह हो जाता है कि ऐसी क्यों? मैंने तो वैसी सुनी थी।

(२) 'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु...'—ग्रंथ-रचयिताओं का नियम है कि वे आदि में जो विषय लेकर ग्रंथारंभ करते हैं, मध्य में भी जहाँ-तहाँ उसका ही प्रतिपादन करते हुए अंत में उसे ही सिद्ध करते हुए ग्रंथ की पूर्ति करते हैं। वैसे ही इस ग्रंथ में भगवान् श्रीरामजी का ही प्रभुत्व मुख्य विषय है; यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।" इस श्लोक से ग्रंथारंभ में ही इस ग्रंथ में श्रीरामजी का सर्वोपरि प्रभुत्व प्रतिपादन किया गया है और ग्रंथ के अंत में भी—"राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।" कहा गया है। उसके पीछे दो दोहों में शरणागति करके उन्हीं प्रभु में अनन्य-भक्ति-निष्ठा माँगी गई है। फिर श्लोकों में रामायण का महत्त्व कहा गया है। ग्रंथ के मध्य में सर्वत्र त्रिदेवों का श्रीरामजी के अंश से होना और उनका श्रीरामजी की ही उपासना करना विविध प्रसंगों से कहा गया है। यही श्रीरामजी का प्रभुत्व प्रतिपादन है। श्रीभुशुंडीजी यही कथा कहा करते थे, इसी से शिवजी ने गरुड़जी को वहीं पर भेजा अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयते॥"

(३) 'नित हरिकथा होति जहँ...'—'भाई'—यह बोलचाल का मुहाविरा है। वहाँ नित्य ही कथा होती है। अतः, तुम्हें प्रश्न करने की भी आवश्यकता नहीं होगी। यह वहाँ का नित्य नियम है। अन्यत्र प्रायः माघ, कार्तिक, वैशाख आदि विशेष अवसरों पर ही कथा अधिक होती है।

(४) 'जाइहि सुनत सकल संदेहा।'—क्योंकि यह कथा—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी।" (बा० दो० ३०); है। जिसके संदेह, मोह और भ्रम इसे सुनकर न निवृत्त हों, उसे यही समझना चाहिये कि उसने सत्संग के द्वारा कथा को ठीक से सुना ही नहीं। क्योंकि यह वचन श्रीशिवजी का श्रीगरुड़जी के लिये आशीर्वाद-रूप है। दूसरा यह फल है—'राम-चरन होइहि अति नेहा।' यही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह आगे ग्रन्थ की समाप्ति पर 'सतपंच चौपाई' के अर्थ में कहा जायगा।

कथा श्रवण के दो फल हैं—संदेहों की निवृत्ति और श्रीराम-स्नेह।

(५) 'बिनु सतसंग न हरिकथा ...'—उपर्युक्त बातों को कारण माला अलंकार से यहाँ एकत्र कहते हैं कि सत्संग से हरिकथा और उससे मोह निवृत्ति और फिर श्रीरामजी में दृढ़ अनुराग होता है।

ऊपर 'राम-चरन होइहि अति नेहा।' कहा गया था, उसमें यह भी भय होता है कि स्नेह होकर यह दृढ़ न हुआ तो कुछ दिन में नहीं रह जाता। उस त्रुटि की पूर्ति यहाँ दोहे में की गई है क्योंकि 'दृढ़ अनुराग' होना कहा गया है। सत्संग से हरिकथा; यथा—"हरिहर कथा बिराजति बेनी।" (बा० दो० १)। कथा से मोह निवृत्ति; यथा—"हरन मोह तम दिनकर कर से।" (बा० दो० ३१); मोह निवृत्ति से राम-पद-अनुराग; यथा—"होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)।

उपर्युक्त वार्तों के दुवारा कहने में यह भी हेतु है कि सत्संग और कथा से ही मोह निवृत्ति और राम-द-अनुराग होता है। अन्य रीति से श्रीराम-स्नेह हो भी तो दृढ़ नहीं रहता। पुनः गरुड़ को दृढ़ विश्वास होने के लिये भी दोहराकर कहा गया है।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान बिरागा ॥१॥
उत्तर दिसि सुंदर-गिरि नीला। तहँ रह काकभुशुंडि सुसीला ॥२॥
राम-भगति-पथ परम प्रबीना। ज्ञानी गुनगृह बहुकालीना ॥३॥
राम-कथा सो कहइ निरंतर। सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर ॥४॥

अर्थ—योग, तप, ज्ञान और वैराग्य के करने पर भी बिना अनुराग के श्रीरघुनाथजी नहीं मिलते ॥१॥ उत्तर दिशा में एक सुन्दर नील पर्वत है, वहाँ सुशील काक-भुशुंडीजी रहते हैं ॥२॥ वे श्रीराम-भक्ति के मार्ग में अत्यन्त निपुण हैं, ज्ञानी हैं, गुणधाम हैं और बहुत काल के (पुराने) हैं ॥३॥ वे निरंतर श्रीरामजी की कथा कहते हैं और तरह-तरह के अनेक सुन्दर श्रेष्ठ पक्षी आदर के साथ सुनते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'; यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा ॥" (अ॰ दो॰ १३६)।

यहाँ भुशुण्डीजी को 'सुशील, राम-भक्ति-पथ-परम प्रवीण, ज्ञानी, गुण गृह और बहुकालीन' इन पाँच गुणों से विशिष्ट कहा गया, ये गुण कथावाचक में अवश्य होने चाहिये। सुशील वक्ता से श्रोता का मन उदास नहीं होने पाता, वह अपने संशय ठीक से कहता है। (गरुड़जी को यह भी सूचित करते हैं कि वह तुम्हारा आदर करेगा, क्योंकि सुशील है)। राम-भक्ति मार्ग में प्रवीण वक्ता, नवधा, प्रेमा, परा आदि के भेदों को समझा देता है। ज्ञानी होने से संशय निवृत्त कर देता है, यथा—"ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।" गुण-गृह होने से उसके श्रोता में भी गुण प्राप्त होते हैं। बहुकालीन होने के कारण बहुत सत्संग करने से उसे तत्त्व का विशेष बोध रहता है और वह बहुत-सी अनुभवी बातें भी कहता है। श्रीशिवजी से यहाँ 'बहुकालीना' सुना है, इसी को आगे गरुड़जी कहेंगे—"नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महा प्रलयहु नास तव नाहीं ॥" (दो॰ ९३); इससे यह भी जनाया है कि उसने बहुत कल्पों की व्यवस्था देखी सुनी है, वह बहुत अवतारों के भेदों को भी जानता है और उसने उनके चरित्र देखे हैं। इन सब गुणों को आगे गरुड़जी भुशुण्डीजी में पायेंगे।

ऐसे ही श्रोता के भी पाँच लक्षण कहे गये हैं; यथा—"श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा-रसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥" (दो॰ ६९)। 'बिबिध बिहंग बर'; यथा—"सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जो तेहि ताला ॥" (दो॰ ५६); "वृद्ध वृद्ध बिहंग तहँ आये। सुनहिं राम के चरित सुहाये।" (दो॰ ६२), अर्थात् सब वृद्ध, बहु कालीन और विमल मति हैं।

जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी। होइहि मोहजनित दुख दूरी ॥५॥
मैं जब तेहि सब कथा बुझाई। चलेउ हरषि मम पद सिरनाई ॥६॥
ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपति-कृपा मरम मैं पावा ॥७॥

अर्थ—वहाँ जाकर भगवान् के गुण समूह सुनो, मोह से उत्पन्न दुःख दूर हो जायगा ॥५॥ मैंने जब उसे सब समझाकर कहा, तब वह मेरे चरणों में शिर नवा हर्षित होकर चला ॥६॥ हे उमा! मैंने उसे इसलिये (स्वयं) नहीं समझाया कि श्रीरघुनाथजी की कृपा से मैं मर्म पा गया, (उस मर्म को आगे कहते हैं) ॥७॥

विशेष—(१) 'जाइ सुनहु'—भाव यह कि जिज्ञासु बनकर वहीं पर जाओ, यह नहीं कि हम पक्षिगणों के राजा हैं। अतः, उसे अपने ही यहाँ बुलवाकर सुने। बड़प्पन का मान भुला कर जाओ।

'हरि गुन भूरी'—पूर्व कहा गया—'बहु काल करिय सतसंगा' उसी को यहाँ 'हरि गुन भूरी' सुनो, ऐसा कहा है। भाव यह कि बहुत काल सुनने पर ही 'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई' कथाएँ सुनने को मिलेंगी और सब संशय एवं मोह जनित दुःख दूर होंगे। इनका मोह जनित दुःख; यथा—"खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई।" कहा गया था, उसके दूर होने का उपाय यहाँ कहा है।

(२) 'मैं जब तेहि सब···'—'सब' में वे सब बातें भी आ गईं जिन्हें श्रीभुशुण्डीजी के सम्बन्ध में श्रीशिवजी ने पूर्व उमा से कहा है।

(३) 'चलेउ हरषि' श्रीशिवजी ने कहा है कि वहाँ जाते ही मोह निवृत्त हो जायगा। वे झूठ नहीं कहते; यथा—"मृषा बचन नहिं ईस्वर कहई।" (दो० ६१); यह श्रीगरुड़जी ने ही आगे कहा है। अतः, विश्वास हो गया कि वहाँ जाते ही दुःख दूर होगा, इससे हर्ष कर चले। पहले 'व्याकुल' एवं 'परमातुर' होकर चलते थे, वह व्याकुलता अब नहीं रह गई। 'मम पद सिर नाई' यह कृतज्ञता के साथ विदाई का प्रणाम है।

(४) 'रघुपति कृपा मरम मैं पावा।'; यथा—"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ० दो० १२६). बिना श्रीरामजी की कृपा से उनकी लीला का मर्म कोई नहीं जान पाता, यथा—"लछिमनहूँ यह मर्म न जाना।" (आ० दो० २३); श्रीब्रह्माजी ने इन्हें भेजा था कि श्रीशंकरजी के यहाँ ही संदेह दूर हो जायगा। पर श्रीशिवजी ने नहीं समझाया। उसके कई कारण हैं—(क) एक ऊपर कहा गया कि तुम मार्ग में मिले हो और तुम्हें महामोह है, यह शीघ्रता मे नहीं छूटेगा। (ख) दूसरा यहाँ मर्म में कह रहे हैं कि इसने कभी अभिमान किया होगा, अतः, श्रीरामजी इससे नीच के द्वारा उपदेश कराके उसे दूर करेंगे। (ग) तीसरा यह कि पक्षी पक्षी की ही भाषा मे अच्छी तरह समझ सकता है। (घ) भुशुण्डीजी ने श्रीशिवजी से श्रीरामचरित पाया है, उसी (श्रीशिवजी की ही) कथा से इन्हें उपदेश करेंगे। अतः, शिष्य द्वारा संदेह दूर करना श्रीशिवजी का ही माना जायगा। इस तरह श्रीब्रह्माजी का वचन भी निबह गया है।

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना ॥८॥
कछु तेहि ते पुनि मैं नहिं राखा। समुझइ खग खग ही कै भाषा ॥९॥
प्रभु - माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥१०॥

अर्थ - कभी इसने अभिमान किया होगा, कृपासागर श्रीरामजी उस अभिमान को नाश किया चाहते हैं ॥८॥ और, फिर कुछ इससे भी मैंने उसे नहीं रक्खा (अपने पास रखकर नहीं समझाया) कि पक्षी-पक्षी की ही बोली ठीक समझते हैं ॥९॥ हे भवानी! प्रभु की माया बड़ी बलवती है। ऐसा कौन ज्ञानी है जिसे यह न मोह ले? ॥१०॥

विशेष—(१) 'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना ।'—'कबहुँ' का भाव यह कि हम यह नहीं जानते कि यह अभिमान कब का है, पर श्रीराम-कृपा से इतना अवश्य जाना हुआ है कि यह व्यवस्था इनके अभिमान दूर करने के लिये है। यदि रण-बंधन काटने का अभिमान कहा जाय, तो उसे तो श्रीशिवजी जानते ही हैं, वही प्रसंग कह ही रहे हैं। तब 'कबहुँ' क्यों कहते ? जैसे श्रीनारदजी को काम के जीतने का अभिमान था, तो माया के द्वारा कामोद्दीपन कराके उन्हें नीरोग किया। वैसे इन्हें भक्ति और ज्ञान का अभिमान हो गया होगा और यह भी कि हम भगवान् के परम कृपा-पात्र होने से बड़े हैं इत्यादि, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसीसे स्वामी में ही मनुष्यत्व आरोपण रूप मोह हुआ और फिर जाति में अति-नीच को गुरु बनाकर छुड़ानेवाले का प्रबंध किया गया। यह बात आगे के—'ज्ञानी भगत सिरोमनि···' से पुष्ट होती है।

'कृपानिधाना'—भक्त के अभिमान निवारण में भी भगवान् को गर्व प्रहारी आदि नहीं कहकर कृपानिधाना कहने का भाव यह कि भगवान् अपने भक्तों का गर्व-निवारण भी उनकी प्रतिष्ठा रखते हुए करते हैं, इसीसे श्रीगरुड़जी को भक्तों के यहाँ ही फिराया है। ऐसे ही श्रीनारदजी के गर्व-हरण की व्यवस्था भी औरों को नहीं ज्ञात हुई ; यथा—"सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहि सिर नावा ॥···काहु न लखा सो चरित बिसेषा।" (बा॰ दो॰ १३२–१३३) ; यह भक्तों पर कृपा की विशेषता है। भगवान् का स्वभाव ही ऐसा है कि वे—'जन अभिमान न राखहिं काऊ।' इससे श्रीशिवजी ने ऐसा अनुमान किया है।

लीला-विधि में एवं किसी वैदिक धर्म स्थापन के लिये भगवान् अपने नित्य पार्षदों को भी अपनी इच्छा (माया) से वश कर देते हैं और फिर वे स्वयं उन्हें मुक्त भी करते हैं, किंतु दूसरों की माया उनके भक्तों पर नहीं लगती ; यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः । भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगंभीरमनोनुसारिणः ॥" (आलवंदार स्तोत्र २१) ; यही बात यहाँ—"प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥" से कही गई है। 'प्रभु-माया' का भाव यह कि माया प्रभु की है, उसमें प्रभु का बल है, इससे वह परम समर्थ है।

दोहा—ज्ञानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवन-पति कर जान।
ताहि मोह माया नर, पाँवर करहिं गुमान ॥
सिव बिरंचि कहँ मोहइ, को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान ॥६२॥

अर्थ—(जो) ज्ञानियों और भक्तों के शिरमौलि और लोकत्रय-पति के वाहन (श्रीगरुड़जी) हैं, उन्हीं को (जब) माया ने मोहित कर लिया (तब) नीच मनुष्य क्या घमंड करते हैं ? (वे तो किसी गिनती में नहीं हैं, उनके इस घमंड से कि माया हमारा क्या करेगी ? उनकी नीचता प्रकट होती है,) ॥ (माया) श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी को भी मोह में डाल देती है, तब दूसरा बेचारा कौन है ? (किस गिनती में है ?) ऐसा हृदय में समझकर मुनि लोग माया के स्वामी भगवान् का भजन करते हैं ॥६२॥

विशेष—(१) 'ज्ञानी भगत सिरोमनि···'—ऊपर कहा गया—"प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥" इसी को यहाँ पुष्ट करते हैं कि ज्ञानी और भक्त को अभिमान नहीं होता ; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (अ० दो० १४); "सबहि मान प्रद आप अमानी।" (दो० १७); श्रीगरुड़जी तो ज्ञानियों और भक्तों में शिरोमणि हैं और फिर भगवान् के साक्षात् वाहन ही हैं, सदा उनके चरण स्पर्श का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त रहता है। जिस चरण के ध्यान मात्र से एवं रज स्पर्श से महा पापी भी शुद्ध हो जाते हैं। जब ऐसे श्रीगरुड़जी को भी माया ने मोह-लिया, तब प्राकृत मनुष्यों का यह अभिमान करना कि हम ज्ञानी हैं। हमारी दृष्टि में सब ब्रह्म ही हैं, हम ब्रह्म ही हैं। अतः, माया हमारा क्या करेगी ? उसे तो हमने मिथ्या सिद्ध कर लिया है। वह हमारा क्या कर सकती है ? इत्यादि गुमान करना उनकी नीचता है।

विचारवान् तो यही मानते हैं—"बंधमोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव।" (आ० दो० १५); अर्थात् जीव मात्र पर प्रभु की माया का स्वामित्व है।

(२) 'सिव बिरंचि कहँ मोहइ···'—इसका विस्तार आगे—"नारद भव बिरंचि सनकादी।" से "सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खग राजा। नाच···" (दो० ११–०१) तक देखिये। शिव-ब्रह्मा संसार भर की उत्पत्ति प्रलय करनेवाले हैं, जब ऐसे-ऐसे समर्थ भी मायावश होकर मोहित हो जाते हैं, तब और बेचारे किस गणना में हैं ?

(३) 'अस जिय जानि भजहिं मुनि···' ; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥" (वि० ८१); "यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायहुँ ज्ञान भगति नहि तजहीं ॥" (आ० दो० ४१)। 'मायापति भगवान'—भगवान् माया के स्वामी हैं, माया में भगवान् का ही बल है, जो भजन के द्वारा भगवान् को ही अपने अनुकूल बना लेगा, माया उसका कुछ न कर सकेगी। यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अतिमाया ॥" से "अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी ॥" (दो० ११५); तक। नारद-मोह-प्रसंग में भी कहा है, यथा—"सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचारि मन माँहि, भजिय महामायापतिहि ॥" (बा० दो० १४०); वहाँ 'सुर नर मुनि' का और यहाँ ईश्वरों का भी मोहित होना कहा है। तात्पर्य यह कि माया से बचने का एक मात्र उपाय हरि-भजन ही है। भजन में त्रुटि हुई कि माया ने आ घेरा।

'सिव बिरंचि कहँ ···' यह वाक्य श्रीशिवजी का नहीं है। अन्य तीन वक्ताओं का हो सकता है। 'मुनि' को श्लेषार्थी लें तो श्रीयाज्ञवल्क्यजी का वचन स्पष्ट है। श्रीभुशुंडिजी इस कांड में प्रधान ही हैं। भजन के पक्ष में स्वयं भी ग्रंथकार प्रायः रहते ही हैं। अतः, इसमें सबका एक मत कहा जा सकता है।

गयउ गरुड़ जहँ बसइ भसुंडी। मति अकुंठ हरि भगति अखंडी ॥१॥
देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गयऊ ॥२॥
करि तड़ाग मज्जन जलपाना। बटतर गयउ हृदय हरषाना ॥३॥
बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आये। सुनै राम के चरित सुहाये ॥४॥

अर्थ—अचल हरि भक्ति और कुंद न होनेवाली बुद्धिवाले श्रीभुशुंडिजी जहाँ रहते थे ; वहाँ

श्रीगरुड़जी गये ॥१॥ पर्वत देखकर उनका मन प्रसन्न हो गया और सब माया, मोह और शोच जाते रहे ॥२॥ तालाब में स्नान और जलपान करके वे बरगद के नीचे गये और हृदय में हर्षित हुए ॥३॥ वहाँ बुड्ढे-बुड्ढे पक्षी श्रीरामजी के सुन्दर चरित सुनने आये हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गयउ गरुड़ जहँ···'—पहले—'चलेउ हरषि ··' से चलना कहा गया था, यहाँ पर उनका वहाँ पहुँचना भी कहा। 'जहँ बसै भसुंडी'—अभी आश्रम की सीमा तक पहुँचे हैं, वहाँ तक आश्रम ही कहलाता है; यथा—"बालमीकि आश्रम प्रभु आये।" से "सुनि रघुबर आगमन सुनि, आगे आयउ लैन ॥···करि सन्मान आश्रमहि आने ॥" (अ॰ दो॰ १२३–१२४); इसमें प्रथम आश्रम की सीमा को फिर उनके वासस्थल को आश्रम कहा गया है। 'मति अकुंठ' अर्थात् निश्चला बुद्धि; यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं॰ दो॰ १५); निश्चला बुद्धि है, इसीसे अखंड भक्ति होती रहती है।

(२) 'प्रसन्न मन भयऊ' कहकर उसका कारण भी कहा गया है; यथा—'माया मोह सोच सब गयऊ।' पहले माया-मोह से 'खेद खिन्न' थे। अब प्रसन्न मन हो गये। यह आश्रम का प्रभाव है, क्योंकि एक योजन तक वहाँ अविद्या न व्याप्त होने का लोमशजी का वरदान है। दो॰ ५६ चौ॰ २-३ भी देखिये।

(३) 'करि तडाग मज्जन जल पाना।'—तीर्थ में जाकर पहले स्नान करने की विधि है। पूर्व ही मनुजी और विश्वामित्रजी के प्रसंग में लिखा जा चुका है। 'हृदय हरषाना'—मन की प्रसन्नता पहले ही से है, कुछ स्नान और जलपान से नहीं हुई। यह प्रसन्नता आगामी सत्संग के लाभ की है कि जिसके आश्रम का ऐसा प्रभाव है उसके सत्संग से बड़ा लाभ होगा। 'बट तर गयउ'—इससे जाना गया कि इन्हें श्रीशिवजी ने सत्संग का स्थान और कथा का समय बतला दिया था; यथा—"मैं जब तेहि सब कहा बुझाई।" में यह भी संगत है। 'हरषाना'—वहाँ का समाज देखकर भी हर्ष हुआ।

(४) 'बृद्ध बृद्ध बिहग तहँ आये'—वृद्ध से बहु कालीन और ज्ञान वृद्ध का अर्थ है, शरीर वृद्ध का नहीं, क्योंकि वहाँ अविद्या का प्रभाव नहीं व्यापता और वृद्धता आदि दुःख अविद्या से होते हैं। श्रीशिवजी ने कहा भी है—"सुनहिं सकल मति बिमल मराला।" उसी को यहाँ वृद्ध कहकर जनाया है।

कथा अरंभ करइ सोइ चाहा। तेही समय गयउ खग-नाहा ॥५॥
आवत देखि सकल-खग-राजा। हरषेउ बायस सहित समाजा ॥६॥
अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा ॥७॥
करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा ॥८॥

शब्दार्थ—स्वागत = अतिथि सत्कार, अगवानी, कुशल।

अर्थ—वह कथा प्रारंभ करना ही चाहता था कि उसी समय श्रीगरुड़जी वहाँ पहुँचे ॥५॥ समस्त पक्षियों के राजा को आते देखकर, पक्षि-समाज सहित काकभुशुंडीजी हर्षित हुए ॥६॥ और उन्होंने पक्षि-राज का अत्यन्त आदर सत्कार किया, कुशल पूछकर (बैठने के लिये) सुन्दर आसन दिया ॥७॥ अनुराग पूर्वक पूजन करके तब काकभुशुंडीजी मीठे वचन बोले ॥८॥

विशेष—(१) 'कथा अरंभ करइ सोइ चाहा।...'—श्रीगरुड़जी अच्छे समय पर पहुँचे। इससे पूर्व दिन कथा पूर्ण हो चुकी थी। आज फिर आदि से आरंभ होने को थी, उसी समय ये आ गये। यदि बीच में आते तो कथा छोड़कर इनका सत्कार न करते बनता। पुनः कथा भी अधूरी छोड़कर इनके लिये आदि से कैसे पढ़ते? उसमें कथा का और अन्य श्रोताओं का भी अपमान होता। बीच से कथा सुनने में श्रीगरुड़जी को भी पछताया रहता, भगवान् की प्रेरणा से सब सुयोग बन गया।

(२) 'हरषेउ बायस सहित समाजा।'—राजा के आने से हर्ष हुआ, कहा ही है—"सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥" (अ० दो० ८), पुनः ये भगवान् के परम कृपापात्र हैं, इनके आगमन से अपने बड़े भाग्य की भावना की और हर्षित हुए। उधर से श्रीगरुड़जी का भी हर्ष कहा ही गया है।

(३) 'अति आदर'—सब खड़े हो गये और आगे बढ़कर लिया और अपना भाग्य सराहा, इत्यादि। आदर तो भक्त लोग सभी का करते हैं; यथा—"राम के गुलामनि की रीति प्रीति सूधी सब, सब सों सनेह सब ही को सनमान है।" (क० उ० १६०), श्रीगरुड़जी राजा और परम भागवत हैं, इससे इनका अति आदर किया।

(४) 'करि पूजा समेत अनुरागा।...'—अत्यन्त श्रद्धा है, इसीसे अनुराग से पूजा की और अनुराग होने ही से मधुर वचन भी निकले।

दोहा—नाथ कृतारथ भयउँ मैं, तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब, प्रभु आयहु केहि काज॥
सदा कृतारथ रूप तुम्ह, कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर, निज मुख कीन्हि महेस॥६३॥

अर्थ—हे नाथ! हे खगराज! आपके दर्शनों से मैं धन्य हूँ। हे प्रभो! आप किस कार्य के लिये आये हैं, उसकी आज्ञा दीजिये, उसे अब मैं करूँ॥ पक्षिराज श्रीगरुड़जी कोमल वाणी बोले कि आप तो सदा ही कृतार्थ रूप हैं कि जिसकी प्रशंसा आदर पूर्वक अपने मुख से महादेवजी ने की है॥६३॥

विशेष—(१) 'नाथ कृतारथ भयउँ मैं ...'—स्वामी के आगमन से सेवक का कल्याण होता है। उसके अमंगल दूर हो जाते हैं, ऊपर प्रमाण लिखा गया।

(२) 'आयसु देहु ...'—यह भुशुण्डीजी की सुशीलता है और शिष्टाचार की रीति भी है। 'सदा कृतारथ रूप तुम्ह ...' यह भुशुण्डीजी के ही शब्दों में उनका उत्तर है। भाव यह कि आप मेरे दर्शनों से क्या कृतार्थ होंगे, आप तो स्वयं कृतार्थ रूप हैं। आपके दर्शनों से और लोग भी कृतार्थ होते हैं। इसके प्रमाण में कहते हैं कि महान् ईश श्रीशिवजी क्या सामान्य व्यक्ति की सादर स्तुति करते? स्तुति; यथा—"तहँ रह काग भुसुंडि सुसीला॥ राम भगति पथ परम प्रबीना। ज्ञानी गुनगृह बहु कालीना॥ राम कथा सो कहइ निरंतर।..." (दो० ६१)।

(३) 'कृतारथ रूप'—जिस लिये संसार में जन्म हुआ, वह कर्तव्य सब कर चुके।

सुनहु तात जेहि कारन आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ ॥१॥
देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम ॥२॥
अब श्रीराम-कथा अति पावनि। सदा सुखद दुख-पुंज-नसावनि ॥३॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ॥४॥
सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥५॥
भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति-गुन-गाहा ॥६॥

अर्थ—हे तात ! सुनिये, जिस कारण से मैं आया था, वह सब (कार्य पूर्ण) हो गया और आपके दर्शन (भी) पाये ॥१॥ आपका परम पवित्र आश्रम देखकर मेरे मोह, संशय और नाना प्रकार के भ्रम जाते रहे ॥२॥ हे तात ! अब आप मुझे अत्यन्त पवित्र, सदा सुख देनेवाली और दुःख समूह को नाश करनेवाली श्रीरामजी की कथा आदर पूर्वक सुनाइये। हे प्रभो ! मैं बार-बार आपसे विनती करता हूँ ॥३-४॥ श्रीगरुड़जी की बहुत नम्र, सरल, सुन्दर एवं अत्यन्त प्रेमयुक्त, सुख देनेवाली और अतिशय पवित्र वाणी सुनते ही भुशुण्डीजी के मन में अत्यन्त उत्साह हुआ और वे श्रीरघुनाथजी के गुणों की कथा कहने लगे ॥५-६॥

विशेष—(१) 'सुनहु तात जेहि कारन…'—यह 'प्रभु आयउ केहि काज' का उत्तर है। क्या कार्य हुआ, यह आगे 'देखि परम …' से कहते हैं कि आपके दर्शनों के पहले ही वह कार्य हो गया, यथा—"देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गयऊ ॥" 'परम पावन'—स्वयं पवित्र है और दूसरों को भी पवित्र करता है। 'अब श्रीरामकथा अति पावनि'—यह भुशुण्डीजी के 'आयसु होइ सो करउँ …' के उत्तर में फिर से कहा है। साथ ही 'अति पावनि …' आदि से कथा का महत्त्व कहकर उसमें अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट करते हैं। श्रीशिवजी ने आज्ञा भी दी थी, यथा—'जाइ सुनहुँ तहँ हरिगुन भूरी।' इससे भी चरित सुनाने के लिये 'बार बार बिनवउँ …' कहा है। पहले 'गयउ मोह संसय नाना भ्रम।' कहकर तब रामकथा सुनने की रुचि प्रकट की, भाव यह कि मोहादि छूटने पर कथा में उत्तम रुचि होती है; यथा—"तब कर अस बिमोह अब नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं ॥" (बा॰ दो॰ १०८); 'तात' शब्द से प्रियत्व और 'प्रभु' से स्वामित्व एवं आचार्यत्व प्रकट किया।

(२) 'सुनत गरुड कै गिरा बिनीता।…'—स्वामी-सेवक भाव सहित होने से विनीत, बनावट रहित सीधे-सीधे अपने संदेह कह देने में सरल, कथा में रुचि होने से सुप्रेम, विनीत होने से सुखद और राम-गुण-परक होने से सुपुनीत है।

(३) 'भयउ तासु मन परम उछाहा।…'—पहले इनके आने पर समझा था कि न जाने किस कार्य से आये हैं, वह कार्य कर लें। तब कथा कहेंगे। जब जाना कि इनकी भी वही इच्छा है, तब परम उत्साह से कहने लगे। राम-कथा ऐसी वस्तु है कि इसके कहने में उत्साह होता ही है; यथा—"रघुपति चरित महेस तब, हरपित बरनइ लीन्ह ॥" (बा॰ दो॰ १११); "कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥" (बा॰ दो॰ ४०)।

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। राम-चरित-सर कहेसि बखानी ॥७॥

पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन-अवतारा ॥८॥
प्रभु - अवतार - कथा पुनि गाई। तब सिसु-चरित कहेसि मन लाई ॥९॥

अर्थ - हे भवानी! पहले ही भुशुण्डीजी ने अत्यन्त अनुराग से श्रीराम-चरित सर (मानस सर का रूपक) विस्तार से वर्णन किया ॥७॥ फिर श्रीनारदजी का अपार मोह और तत्पश्चात् रावण का अवतार कहा ॥८॥ पुनः प्रभु के अवतार की कथा वर्णन की, तब उनका शिशु-चरित मन लगाकर कहा ॥९॥

विशेष—(१) 'प्रथमहि अति अनुराग ···'—सब वक्ता लोगों ने श्रीरामजी को प्रणाम करके कथा प्रारंभ की है। पर भुशुण्डीजी बिना प्रणाम किये ही कथा कहने लग गये, यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि वे मंगलाचरण कर चुके थे, कथा कहने की इच्छा की थी, उसी समय गरुड़जी पहुँच गये, तब इनसे बात-व्यवहार करके कथा कहने लगे। दूसरा यह भी समाधान है कि उत्साह पूर्वक श्रीरामजी की कथा कहते हुए अति अनुराग में भर गये, इससे प्रणाम करना भूल गये। इसी लिये कथा पूर्त्ति पर पीछे इन्होंने बार-बार प्रणाम किया है, यथा—"तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी। 'नमामि अविनासी।" (दो॰ १२१)।

'राम चरित-सर कहेसि बखानी।'—इस सर के विषय में रामायणी लोगों में बहुत-से मत हैं। उनमें जो अपने विचार से सिद्धान्त भूत अर्थ है, वह लिखता हूँ। 'राम-चरित सर' जैसा कि श्रीगोस्वामीजी ने मानस मुखबन्ध में सर के रूपक में पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ का भाव कहा है। मानस सर के सर्वांग को उपमान में देकर श्रीरामचरितमानस के सर्वांग को उपमेय करके कहा है। श्रीगोस्वामीजी की मानस-प्रस्तावना से स्पष्ट है, यथा—"राम चरित मानस येहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा॥ मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई॥ राम चरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा॥ ताते राम चरित मानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥ कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (बा॰ दो॰ ३५), इसमें स्पष्ट कहा है कि श्रीरामचरितमानस की रचना श्रीशिवजी ने मन में कर रक्खी थी। इसका नाम श्रीरामचरितमानस उन्होंने रक्खा है। मानस से मानस सर का अभिप्राय था। जिसे इस रूपक से जनाया गया है कि मन रूपी हाथी विषयाग्नि वन में जलता हुआ यदि इस सर (तालाब) में पड़ जाय, तो सुखी हो। नामकरण के पूर्व ही सर का रूपक कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने उसी के अनुसार चार घाट और साङ्गोपाङ्ग मनोहर सर बनाया है। जो "सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।" से "अस मानस मानस चख चाही।" (बा॰ दो॰ ३५–३८) तक कहा गया है। वहाँ सर का रूप चरित के साथ विस्तार से कहा जा चुका था, इसलिये यहाँ कथोपकथन में नहीं लाया गया।

शिव पार्वती का संवाद श्रीरामचरित के विषय में—"सुनु सुभ कथा भवानि, राम चरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँग नायक गरुड़॥" से प्रारम्भ होता है। इससे लोगों को सन्देह होता है कि श्रीरामचरित सर उसका कोई अंग नहीं है। इसलिये यहाँ भुशुण्डीजी के द्वारा आरम्भ करने में श्रीरामचरित सर से ही आरम्भ करते हैं और यह सूचित करते हैं कि श्रीशिवजी ने भी इसे सर (तालाब) के ही रूप में रचा था।

मानस सर के पश्चात् कीर्ति सरयू का रूपक ग्रन्थकार का निराला है। फिर परात्पर अवतार का कथा के कारण रूप सती मोह का कथा याज्ञवल्क्यजी ने कहा है, उसे उन्होंने आरम्भ में शम्भु चरित कहा है,

पर वह श्रीरामचरित का ही एक विशिष्ट अंग है। यह शिव रचित मानस मे नहीं है। कैलास-प्रकरण के श्रीपार्वतीजी के प्रश्न से शिव रचित मानस को जानना चाहिये। उसमे रावण और श्रीरामजी के अवतार के कारणों का उल्लेख करते हुए पाँच कारणों के होते हुए भी मध्य का नारद मोह प्रसंग उस सूची में कहा गया है। रावण और श्रीरामजी के चारों अवतारों की कारण-भूता पाँच कथाएँ कही गई हैं, वे क्रमश इस प्रकार हैं—१—जय-विजय, २—जलंधर, ३—नारद-मोह, ४—मनु-शतरूपा. ५—भानु प्रताप, इन पाँचों प्रसंगों के मध्य मे नारद-मोह प्रसंग है। उसे कहकर सबो को सूचित किया है। आगे भी 'रिषि आगमन' कहकर 'सिय रघुबीर बिवाह' कहा गया है। बीच के मखरक्षा, अहल्योद्धार, जनकपुर-प्रवेश, पुष्पवाटिका, धनुषयज्ञ और परशुराम संवाद के प्रसंग नहीं कहे गये। इनके आदि और अंत के प्रसंग कहकर बीच के सबों का सन्निवेश कर दिया है। ऐसे ही आगे 'राम-लछिमान संवादा' मध्य का कहकर उसके पहले और पीछे के सब प्रसंग जना दिये हैं। इत्यादि रीति से इस सूक्ष्म सूची मे सभी कथाओं को समझना चाहिये। कुछ यह बात नहीं है कि जो प्रसंग इस सूची मे नहीं लिखा गया, वह श्रीभुशुंडीजी ने कहा ही नहीं।

कुछ लोग—"संभु चरित सुनि सरस सुहावा।" (बा॰ दो॰ १०१) के परचात् से श्रीरामचरित मानते हैं और उसके पीछे शिव पार्वती संवाद से सर का रूपक मानते हैं। 'विश्वनाथ मम नाथ पुरारी।' (बा॰ दो॰ १०१), से पार्वतीजी के प्रश्न हैं। "झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने" से "सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना॥" (बा॰ दो॰ १११–११८), तक शिवजी के उत्तर हैं। इनमें पाँच बार 'सोई-सोई' कह कर जो उत्तर दिये गये हैं। उसी प्रसंग को श्रीरामचरित सर मानते हैं, क्योंकि इसी के आगे फिर नारद मोह प्रसंग भी है। इसमे प्रत्यक्ष अडचनें ये हैं कि सर का अर्थ तालाव का होता है जो श्रीरामचरित के साथ मे जहाँ-तहाँ उसी अर्थ मे आया है। दूसरे इस प्रसंग के पश्चात भुशुंडीजी का संवाद प्रारंभ होना कहा गया है; यथा—"कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहंग नायक गरुड।" (बा॰ दो॰ १२०)।

कोई—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहंग नायक गरुड॥" (बा॰ दो॰ १२०) से शिव चरित मानस मे भुशुंडि-गरुड संवाद का उपक्रम मानते हैं। और आगे—"नारद स्राप दीन्ह एक बारा।" (बा॰ दो॰ १२१), से नारद मोह प्रसंग का प्रारंभ है। तब इसके बीच के तीन दोहों को रामचरित सर कैसे कहा जा सकता? उसमें सर शब्द की सार्थकता किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिये उपर्युक्त-अर्थ ही ठीक है।

(२) 'मोह अपारा'—नारदजी ने उससे पार होने का बहुत प्रयास किया, पर भगवान् की कृपा बिना पार नहीं पाया; यथा—"जब हरि माया दूरि निवारी।" (बा॰ दो॰ १३७); अपने इष्टदेव से विवाह के लिये सुंदरता माँगी, उनके गूढ वचन और हर गणों के कूट वचन नहीं समझे, भगवान् को दुर्वचन कहा, शाप दिया, यह सब मोह की अपारता है। "नारद स्राप दीन्ह एकबारा।" से "सुरनर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह · " (बा॰ दो॰ १२१–१४०) तक नारद-मोह प्रसंग है।

'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।'—"सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये।" से "यह सब रुचिर चरित मैं भाखा।" (बा॰ दो॰ १२०–१८७) तक रावण-अवतार प्रसग है। इसी में चारों कल्पों के रावण प्रसंग हैं, क्रम से जय-विजय, जलंधर, हरगण और भानुप्रताप रावण हुए हैं।

'कहेसि' अर्थात संक्षेप से कहा और 'गाई' अर्थात् विस्तार एव प्रेम पूर्वक कहा।

(३) 'सिसु चरित कहेसि मन लाई।'—"सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।" से "कर सिसु चरित

पुनीत"; "येहि विधि सिसु विनोद प्रभु कीन्हा।" (बा० दो० ११२- ११) तक शिशु-चरित है। इसे मन लगाकर कहा, क्योंकि बालरूप इनका इष्ट है।

'प्रभु अवतार कथा'—"सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाये।" (बा० दो० ११०) से "विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (बा० दो० १९२), तक श्रीरामजी के चारों कल्पों के प्रसंग आ गये हैं।

दोहा—बाल-चरित कहि बिबिधि बिधि, मन महँ परम उछाह।
रिषि - आगमन कहेसि पुनि, श्रीरघुबीर - बिवाह ॥६४॥

अर्थ—मन में उत्साह पूवक अनेक प्रकार की बाल-लीलाओं को अनेक प्रकार से कहकर विश्वामित्र ऋषि का आगमन कहा, फिर श्रीरघुवीर-विवाह कहा ॥६४॥

विशेष—(१) "सुत सनेह बस माता, बाल-चरित कर गान ॥" (बा० दो० २००) से "यह सब चरित कहा मैं गाई।" (बा० दो० २०५) तक बाल-चरित है। 'बिबिधि बिधि'—तरह-तरह के बालचरित गीतावली में विशेष दिये गये हैं। शिशु-अवस्था पाँचवें वर्ष तक होती है, फिर १४ वें वर्ष तक बाल-अवस्था कही जाती है। 'परम उछाह'—उत्साह आदि से ही है; यथा—"भयउ तासु मन परम उछाहा।" यह ऊपर कहा गया। ये चरित इनके बार-बार के देखे हुए भी हैं, शेष कुछ देखे और कुछ सुने हुए हैं और कुछ अनुभव के भी हैं।

(२) 'श्री रघुवीर-बिवाह'—धनुषयज्ञ में तीनों लोकों के सुभटों की तथा परशुरामजी की भी श्री हत हुई; यथा—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे।" (बा० दो० २९२); "परसुराम मन बिसमय भयऊ।" (बा० दो० २८१), सब विजयश्री श्रीरामजी को ही प्राप्त हुई। इनकी ही श्री रह गई। "आगिल कथा सुनहु मन लाई।" से "तब मुनि सादर कहा बुझाई।" (बा० दो० २०५–२०१) तक ऋषि आगमन प्रसंग है और "चरित एक प्रभु देखिय जाई।" से "सिय रघुबीर-बिबाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।" (बा० दो० २०१ से ३६१) तक ब्याह-प्रसंग है।

बहुरि राम - अभिषेक - प्रसंगा। पुनि नृप-बचन राज-रस-भंगा ॥१॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा। कहेसि राम - लछिमन-संबादा ॥२॥
बिपिन - गवन केवट - अनुरागा। सुरसरि उतरि निवास प्रयागा ॥३॥
बालमीक - प्रभु - मिलन बखाना। चित्रकूट जिमि बसे भगवाना ॥४॥

अर्थ—फिर राम-राज्याभिषेक प्रसंग कहा, फिर राजा दशरथ का वचन (हारना) और राज्य-रस (राम-राज्य-तिलक-संबंधी आनंद) का खंडित होना ॥१॥ पुरवासियों का विरह दुःख पुनः श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संवाद कहा ॥२॥ वन-गमन, केवट का अनुराग, गंगापार उतरकर प्रयाग में निवास करना ॥३॥ वाल्मीकिजी से प्रभु श्रीरामजी की भेंट और जिस प्रकार भगवान् श्री चित्रकूट में बसे, सब कहा ॥४॥

विशेष—(१) "जब ते राम ब्याहि घर आये।" से "सकल कहहिं कब होइहि काली।"

(अ० दो० १-११) तक अभिषेक प्रसंग है। "बिघन मनावहिं देव कुचाली।" से "भूप सोक-बस उतर न दीन्हा।" (अ० दो० ११-४५) तक नृप बचन राजरसभंग प्रसंग है। "नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।" से "अति बिषाद बस लोग लुगाई।" तक एवं "चली नाइ पद पदुम सिर, अति हित बारहिं बार॥" (अ० दो० ४५—६६) तक पुरबासिन्ह कर बिरह-बिषाद-प्रसंग है। "समाचार जब लछिमन पाये।" से "बिदा मातु सन आवहु माँगी।" (अ० दो० ६६—७२) तक श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संवाद है। "राम तुरत मुनि-बेष बनाई। चले..." से "सुद्ध सच्चिदानंदमय .." (अ० दो० ७८—८७) तक बन-गमन-प्रसंग है। "येहु सुधि गुह..." से "मुदित गयउ लै पार॥" (अ० दो० ८७—१०१) तक केवट-अनुराग-प्रसंग है।

इसी तरह क्रमशः सब प्रसंग पाठक लगा लें, टीका में भी इनका प्रारंभ लिखा गया है। विस्तारभय से आगे नहीं लिखते।

अभिषेक-प्रसंग से श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के संवाद तक चार प्रसंगों में एक बार 'कहेसि' शब्द है ; अर्थात् इन्हें शीघ्रता में कहा। 'बिपिन-गवन' में 'कहेसि' भी नहीं है, क्योंकि इसे बहुत शीघ्रता से कहा है। 'केवट अनुरागा' से 'चित्रकूट जिमि बस भगवाना।' तक को 'बखाना' अर्थात् विस्तार से कहा। 'बखाना' दीपदेहली है। 'भगवाना'—क्योंकि चित्रकूट में ऐश्वर्य प्रकट हुआ, जयंत-प्रसंग से सब लोकों में ख्याति हुई।

(२) 'राज-रस' जैसे-प्रेम-रस, रण रस, इत्यादि। 'बिरह बिषादा'-बिष+अद अर्थात् विष खाने पर जैसे दुःख हो, उदाहरण—"छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी।" (अ० दो० ४५)। इसमें विष चढ़ने के समान दुःख कहा गया है।

सचिवागमन नगर नृप-मरना। भरतागमन प्रेम बहु बरना॥५॥
करि नृप-क्रिया संग पुरबासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी॥६॥
पुनि रघुपति बहुबिधि समुझाये। लै पादुका अवधपुर आये॥७॥
भरत-रहनि सुरपति-सुत-करनी। प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी॥८॥

दोहा—कहि बिराध-बध जेहि बिधि, देह तजी सरभंग।
बरनि सुतीछन-प्रीति पुनि, प्रभु-अगस्ति-सतसंग॥६५॥

अर्थ—मंत्री श्रीसुमंत्रजी का नगर में लौटकर आना, राजा दशरथ की मृत्यु, श्रीभरतजी का (ननिहाल से) आगमन और उनका भारी प्रेम बहुत वर्णन किया॥५॥ राजा की क्रिया करके पुरवासियों को साथ लिये हुए श्रीभरतजी वहाँ गये, जहाँ सुख की राशि प्रभु श्रीरामजी थे॥६॥ फिर (वहाँ पर) श्रीरघुनाथजी के बहुत तरह से समझाने पर वे उनकी खड़ाऊँ लेकर श्रीअवधपुरी को लौट आये॥७॥ फिर श्रीभरतजी की रहनी (नंदिग्राम में रहने की वृत्ति), इन्द्रपुत्र जयंत की करतूत, फिर प्रभु श्रीरामजी और श्रीअत्रिजी का मिलाप वर्णन किया॥८॥ विराध का वध जिस प्रकार हुआ और जिस प्रकार शरभंग ऋषि

ने तन त्याग किया, यह कहकर फिर श्रीसुतीक्ष्णजी का प्रेम वर्णन करके प्रभु और श्रीअगस्त्यजी का सत्संग कहा ॥६५॥

विशेष—(१) 'प्रभु सुखरासी'—प्रभु के समीप पहुँचते ही श्रीभरतजी के दुःख निवृत्त हो गये और उन्हें बड़ा सुख मिला ; यथा—"करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥" (अ० दो० २३८)।

'लै पादुका...'—बहुत समझाने पर भी बिना पादुका का आधार पाये नहीं लौटे, इस तरह अपनी सेवा की निष्ठा रक्खी। 'अत्रि-भेंट' के साथ 'बरनी' कहा है, क्योंकि श्रीअत्रिजी प्रेम से पुलकित होकर दौड़े थे और उन्हों ने प्रेमाश्रु से दोनों भाइयों को नहला दिया था।

'बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा' से 'भरत रहनि' तक अयोध्याकांड है।

कहि दंडकबन पावनताई। गीध मइत्री पुनि तेहि गाई ॥१॥
पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा। भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा ॥२॥
पुनि लछिमन उपदेस अनूपा। सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा ॥३॥
खरदूषन - बध बहुरि बखाना। जिमि सब मरम दसानन जाना ॥४॥

अर्थ—दंडकवन का पवित्र करना कहकर फिर उसने गृध्रराज की मित्रता कह सुनाई ॥१॥ फिर प्रभु ने (जो) पंचवटी में वास किया और सब मुनियों का भय नाश किया (वह कहा) ॥२॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी को (जो) उपमा-रहित उपदेश किया और जिस प्रकार शूर्पणखा को कुरूपा किया (यह सब कहा) ॥३॥ फिर खर-दूषण वध और जिस प्रकार रावण ने सब मर्म जाना, वे सब वर्णन किये ॥४।

विशेष— (१) 'दंडकबन पावनताई' ; यथा—"दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।" (आ० दो० १३), "दंडक पुहुमि पाय परसि पुनीत भइ उकठे बिटप लागे फूल न फरन।" (वि० २४७) ; 'भंजी सकल मुनिन्ह कै त्रासा।' ; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (आ० दो० १३) ; 'लछिमन उपदेस अनूपा'—उसमें सम्पूर्ण साधनों का एवं गीता का सारांश बहुत थोड़े में कहा गया है। ऐसी विशेषता इस ग्रन्थ की भी अन्यत्र की चार गीताओं मे नहीं है। 'कुरूपा' ; यथा—"नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥" (आ० दो० १७) ; 'खरदूषन बध बहुरि बखाना।'—'बखाना' अर्थात् विस्तारपूर्वक कहा, क्योंकि इसमे मायानाथ प्रभु का अति कौतुक है, उन रावण के समान बलवानों को खेल में मार डाला। जिससे प्रभु का सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य प्रकट हुआ। 'सब मरम'—खर-दूषण के मारे जाने का मर्म कि शूर्पणखा का बदला लेने गये थे—मारे गये और यह भी कि उनकी प्रियतमा स्त्री हर ली जाय, तो वे स्वयं शोक में नहीं जियेंगे। इस तरह सहज में ही वे जीते जायँगे।

दसकंधर - मारीच - बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही ॥५॥
पुनि माया - सीता कर हरना। श्रीरघुबीर - बिरह कछु बरना ॥६॥
पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्ही। बधि कबंध सबरिहि गति दीन्ही ॥७॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गये सरोवर तीरा ॥८॥

अर्थ—जिस तरह रावण और मारीच की बातचीत हुई, उन सबको उसने कहा ॥५॥ फिर माया-सीता का हरण और श्रीरामजी का विरह किंचित् वर्णन किया ॥६॥ फिर जैसे प्रभु ने गृध्रराज जटायु की क्रिया की, कबंध का वध करके श्रीशबरीजी को सुगति दी ॥७॥ और फिर जिस तरह विरह वर्णन करते हुए रघुवीर पंपासर के तीर गये (यह सब कहा) ॥८॥

विशेष—(१) 'सब तेहि कही'—इसमें मारीच का सदुपदेश है, इससे सब कहा।

(२) 'माया सीता…'—श्रीजानकीजी ने तो अग्नि में निवास किया था, हरण-लीला तो उनके प्रतिबिम्ब-रूपा माया की सीताजी के द्वारा ही हुई।

'श्रीरघुबीर-बिरह कछु बरना।'—विरह की कथा बहुत है, पर उपासक एवं ऋषि लोग उसका किंचित्-अंश ही कहते हैं, हृदय की कोमलता से कहा नहीं जाता। 'श्रीरघुबीर' का भाव यह है कि आप नित्य श्रीयुक्त एवं पंचवीरता-युक्त हैं। विरह-दशा मे भी वीरताएँ आपमे हैं और श्रीजी का आपसे नित्य संयोग है; यथा—"कबहूँ जोगवियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह दुख ताके॥" (बा० दो० ४८), "पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥" (आ० दो० ३१)।

(३) 'गीध-क्रिया'—गीध ऐसे अधम को भी पिता के समान माना और अपने हाथों से उसकी क्रिया की। 'सबरिहिं गति दीन्हीं'—वह जाति की अधम थी, उसे भी गति दी; यथा—"जाति हीन अघ जन्म महि, मुकुत कीन्हि असि नारि।" (आ० दो० ३६)।

दोहा—प्रभु-नारद - संवाद कहि, मारुति - मिलन - प्रसंग।
पुनि सुग्रीव - मिताई, बालि - प्रान कर भंग॥
कपिहि तिलक करि प्रभु-कृत, सैल प्रबरषन बास।
बरनन बर्षा सरद अरु, राम - रोष कपि - त्रास॥६६॥

अर्थ—प्रभु और श्रीनारदजी का संवाद कहकर श्रीहनुमान्‌जी के मिलने का प्रसंग कहा, फिर श्री-सुग्रीवजी से मित्रता और बालि के प्राणों का नाश कहा॥ कपि श्रीसुग्रीवजी का राज्याभिषेक करके जो प्रभु ने प्रवर्षण गिरि पर वास किया, वह एवं वर्षा और शरद्‌ऋतु के वर्णन, श्रीरामजी का (श्रीसुग्रीवजी पर) क्रोध और (श्रीसुग्रीवजी आदि) वानरों का भयभीत होना (वर्णन किया) ॥६६॥

विशेष—(१) 'प्रभु-नारद-संवाद' पर्यन्त मे अरण्यकांड की कथा है।

(२) 'सैल प्रवर्षन वास'—वर्षा का समय जानकर वहाँ पर रहे; यथा—"राम प्रवर्षन गिरि पर छाये।" (कि० दो० ११), वहाँ पर वर्षा का वर्णन किया। 'राम-रोष'; यथा—"जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली॥…लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।" (कि० दो० १७)।

(३) 'कपि-त्रास'; यथा—"क्रोध देखि जह तहँ कपि धाये।"; "ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालि-कुमार।" ; "कह कपीस अति भय अकुलाना।" (कि० दो० १८–१९)।

जेहि विधि कपिपति कीस पठाये। सीता खोज सकल दिसि धाये ॥१॥
बिवर प्रवेस कीन्ह जेहि भाँती। कपिन्ह बहोरि मिला संपाती ॥२॥
सुनि सब कथा समीरकुमारा। नाघत भयउ पयोधि अपारा ॥३॥
लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा। पुनि सीतहि धीरज जिमि दीन्हा ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार कपिराज श्रीसुग्रीवजी ने वानरों को भेजा और वे श्रीसीताजी को ढूँढ़ने के लिये सब दिशाओं में दौड़े गये ॥१॥ जिस प्रकार वानरों ने बिल मे प्रवेश किया, फिर जैसे संपाती वानरों को मिला ॥२॥ और सब कथा सुनकर पवनसुत श्रीहनुमान्जी ने अपार सागर का लंघन किया ॥३॥ वानर श्रीहनुमान्जी ने जैसे लंका मे प्रवेश किया और फिर जैसे श्रीसीताजी को धैर्य दिया वह सब कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'जेहि बिधि कपिपति ··'—श्रीसुग्रीवजी ने चारों दिशाओं के वानरों को जिस तरह समझाकर भेजा; यथा—"राम काज अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥" (कि॰ दो॰ २१)।

(२) 'बिवर प्रवेस ··'; यथा—"आगे कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा॥" (कि॰ दो॰ २३); प्यासे होकर बिल में पैठना, वहाँ स्वयंप्रभा के दर्शन और फिर समुद्र तट पर पहुँचना कहा।

(३) 'सुनि सब कथा ··'—आधी कथा चन्द्रमा मुनि की कही हुई संपाती ने कही और आधी आगे की जाम्बवान्जी ने कही थी।

"मारुति-मिलन-प्रसंग" से "सुनि सब कथा" तक किष्किंधाकांड है।

'नाघत भयउ पयोधि अपारा' सुरसा और सिंहिका के विघ्नों को जीतकर उसपार पहुँच गये।

(४) 'लंका कपि प्रवेस ··'—'अति लघु' रूप से पैठना, लंकिनी का क्रोध और फिर आशीर्वाद होना, सारी लंका ढूँढना और श्रीविभीषणजी से बातचीत कर उनकी कही हुई युक्ति से श्रीसीताजी के पास तक पहुँचना।

(५) 'धीरज जिमि दीन्हा'—वचनों से समझाया, फिर अपना रूप दिखाया, श्रीरामजी का संदेश और विरह कहकर दुःख निवृत्त होने का भरोसा दिया।

बन उजारि रावनहि प्रबोधी। पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी ॥५॥
आये कपि सब जहँ रघुराई। बैदेही की कुसल सुनाई ॥६॥
सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि-तीरा ॥७॥
मिला बिभीषन जेहि बिधि आई। सागर-निग्रह-कथा सुनाई ॥८॥

शब्दार्थ—निग्रह=अवरोध, बंधन, दमन, नाराजी, विरोध।

अर्थ—(जिस तरह) अशोक वन उजाड़ के, रावण को बहुत समझा के और लंका नगर जलाकर फिर समुद्र का लंघन किया ॥५॥ सब वानर वहाँ आये जहाँ रघुकुल के राजा श्रीरामजी थे, और विदेह-कुमारीजी की कुशल सुनाई ॥६॥ जिस तरह सेना सहित श्रीरघुनाथजी जाकर समुद्र तट पर उतरे ॥७॥ और जिस तरह श्रीविभीषणजी आकर मिले (वह) और समुद्र का विरोध एवं उसके बंधन की कथा सुनाई ॥८॥

विशेष—(१) 'बन उजारि'—इसमें फल खाना, बाग उजाड़ना, युद्ध करना और फिर ब्रह्मास्त्र से गिरने पर नागपाश बन्धन तक की कथा है।

'रावनहि प्रबोधी' ; यथा—"बिनती करउँ जोरिकर रावन" से "भजहु राम रघुनायक…" तक (सु॰ दो॰ २१–२३) ; 'पुर दहि' ; यथा—"उलटि पलटि लंका सब जारी।" (सुं॰ दो॰ २५) ; 'नाघेउ बहुरि…' ; यथा—"नाघि सिंधु येहि पारहि आवा।" (सुं॰ दो॰ २७)।

(२) 'सेन समेत जथा…'—कोई आकाश मार्ग से कोई भूमि मार्ग से व्यूह रचकर चले, अपने भार से शेषादि को मोहित करते हुए सिंधु तट पर उतरे ; यथा—"येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर तीर।" (सुं॰ दो॰ ३५)।

(३) 'मिला बिभीषन…'—समझाने पर रावन ने क्रोध करके लात मारी, ये मन्त्रियों के साथ आकाश मार्ग से आकर प्रभु की शरण हुए।

'सागर-निग्रह-कथा'—श्रीरामजी ने समुद्र के तट पर तीन दिन तक उससे बिनती की। जब वह नहीं आया, तब रोष किया, फिर जैसे भेंट लेकर आया और उसने बान-चोत को, वह सब कथा सुनाई। यहाँ तक सुंदरकांड की कथा है।

दोहा—सेतु बाँधि कपि-सेन जिमि, उतरी सागर पार।
गयउ बसीठी बीरबर, जेहि बिधि बालिकुमार॥
निसिचर - कीस - लराई, बरनिसि बिबिधि प्रकार।
कुंभकरन घननाद कर, बल - पौरुष - संहार॥ ६७॥

अर्थ—पुल बाँधकर जिस प्रकार वानरों की सेना समुद्र पार उतरी और जिस प्रकार वीर श्रेष्ठ बालि-कुमार अंगद दौत्य कर्म के लिये (दूत बनकर) गये (वह सब कहा)। निशाचर और वानरों का युद्ध अनेक प्रकार से वर्णन किया। कुंभकर्ण और मेघनाद का बल, पौरुष और नाश होना कहा ॥६७॥

विशेष—(१) 'सेतु बाँधि …'—नल-नील द्वारा पुल बाँधा जाना, पुल से और आकाश से एवं जलचरों के ऊपर से वानरों का उस पार उतरना कहा।

(२) 'बीरबर' ; यथा—"गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि तनय अति बल बाँकुरा॥" (लं॰ दो॰ १८)।

निसिचर-निकर-मरन बिधि नाना। रघुपति - रावन - समर बखाना ॥१॥

रावन - बध मंदोदरि - सोका। राज बिभीषन देव असोका ॥२॥
सीता - रघुपति - मिलन बहोरी। सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी ॥३॥
पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता। अवध चले प्रभु कृपा-निकेता ॥४॥

अर्थ—राक्षस-समूह का नाना प्रकार से मरना और श्रीरघुनाथजी और रावण के अनेकों प्रकार के युद्ध का वर्णन किया ॥१॥ रावण-वध, मंदोदरी का शोक, श्रीविभीषणजी को राज्य प्राप्त होना और देवताओं का शोक-रहित होना (कहकर) ॥२॥ फिर श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का मिलाप और जो देवताओं ने हाथ जोड़कर स्तुति की थी, वह कहा ॥३॥ फिर वानरों के साथ पुष्पक पर चढ़कर दया के स्थान प्रभु श्रीरामजी श्रीअवधपुरी को चले, यह कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'निसिचर-निकर मरन बिधि नाना।'—कोई घूँसों से, कोई लातों-चटकनों से और कोई परस्पर टकराकर मारे गये। किसी का शिर तोड़ डाला गया, कोई घायल होने पर जीते-जी ही गाड़ दिये गये और कोई जीते ही समुद्र में फेंक दिये गये। और बहुत-से बाणों से मारे गये; यथा—"जागे मर्दइ भुजबल भारी ॥ काहुहि लात चपेटन्हि केहू।···एक-एक सो मर्दहिं, तोरि चलावहिं मुंड··· महा महा मुखिया जो पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥" (लं० ४१-४१); "भागत भट पटकहिं धरि धरनी।···गहि पद डारहिं सागर माहीं। मकर उरग झख धरि धरि खाहीं॥" (लं० दो० ४५)। "सत्य संध छाँड़े सर लच्छा।" से "छन महँ प्रभु के सायकन्हि, काटे बिकट पिसाच॥" (लं० दो० ६०) तक, इत्यादि रीति से मारे जाते हैं।

(२) 'सीता-रघुपति-मिलन'—श्रीहनुमान्‌जी का श्रीसीताजी को समाचार देना, श्रीविभीषणजी आदि का श्रीसीताजी को पालकी में चढ़ाकर लाना, वानरों का श्रीसीताजी के दर्शन करना, श्रीसीताजी का अग्नि-प्रवेश और फिर सत्य श्रीसीताजी का प्रकट होना, उनसे श्रीरामजी का मिलना, एक साथ बैठना, इत्यादि।

(३) 'पुष्पक चढ़ि'—श्रीभरतजी से नियत समय पर मिलने की आतुरता से पुष्पक पर चढ़कर आये। 'कृपा-निकेता'—कृपा करके श्रीविभीषणजी की सेवा स्वीकार की, वानरों को साथ लिया और श्रीभरतजी पर कृपा करके ही आये। यहाँ तक लंकाकांड की कथा हुई।

जेहि बिधि राम नगर निज आये। बायस बिसद चरित सब गाये ॥५॥
कहेसि बहोरि राम - अभिषेका। पुर बरनन नृप नीति अनेका ॥६॥
कथा समस्त भुसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कही भवानी ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार श्रीरामजी अपने नगर को आये, वह सब उज्ज्वल चरित श्रीकाकभुशुंडिजी ने वर्णन किये ॥५॥ फिर श्रीरामजी का तिलक (राज्याभिषेक) कहा। पुर का वर्णन किया और अनेकों प्रकार की राजनीति का वर्णन किया ॥६॥ हे भवानी! श्रीभुशुंडिजी ने वह सारी कथा कही जो मैंने तुमसे कही है ॥७॥

विशेष—(१) 'जेहि बिधि राम ···'—लंका से चल प्रयाग पहुँचकर श्रीहनुमान्‌जी को

श्रीअयोध्याजी भेजा। आप श्रीभरद्वाजजी से मिलकर शृंगवेरपुर में ठहरे। श्रीहनुमान्जी श्रीभरतजी को समाचार दे और उनका समाचार लेकर प्रभु के पास आये, तब प्रभु विमान पर बैठकर श्रीअवध आये।

'निसद चरित'...'—देवता लोग सुयश गाते हैं, यही उज्ज्वलता है; यथा—"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।" (दो० १); तथा—"गिरिजा सुनहु निसद यह कथा।" (दो० ५१)। 'बहोरि' अर्थात् तत्पश्चात्, दूसरा अर्थ 'दोबारा' का भी हो सकता है कि एक बार के अभिषेक पर रसभंग हो गया था, यह दूसरी बार का श्रीराम-अभिषेक कहा।

(२) 'कथा समस्त भुसुंडि बखानी।'—यहाँ तक ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की सूक्ष्म सूची दे दी है। बहुत प्रसंग छूट भी गये हैं, वे भी यहाँ के 'कथा समस्त' पद में आ सकते हैं। "कथा समस्त भुसुंडि बखानी।" उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि।" (बा० दो० १२०) है।

यहाँ तक कुल ९३ प्रसंग कहे गये हैं, बा० के ८, अ० के १८, आ० के २२, कि० के १४, सुं० के १२, ल० के १५, और उ० के ४ प्रसंग हैं।

सुनि सब राम - कथा खगनाहा। कहत बचन मन परम उछाहा ॥८॥

सोरठा—गयउ मोर संदेह, सुनेउँ सकल रघुपति-चरित।
भयउ राम - पद - नेह, तव प्रसाद बायस-तिलक ॥
मोहि भयउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि।
चिदानंद - संदोह, राम बिकल कारन कवन ॥६८॥

अर्थ—सारी रामकथा सुनकर पक्षिराज मन में परम उत्साहित होकर वचन बोले ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के सब चरित सुने, मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजी के चरणों में प्रेम हुआ—हे काकशिरोमणि! यह आपकी कृपा से हुआ ॥ युद्ध में प्रभु का बंधन देखकर मुझे अत्यंत मोह हुआ था कि श्रीरामजी तो चित् और आनद की राशि हैं, ये किस कारण से व्याकुल हैं? ॥६८॥

विशेष—(१) 'कहत बचन मन परम उछाहा।'—यहाँ श्रोता का परम उत्साह कहा गया, वक्ता का पूर्व ही कहा गया है, यथा—"भयउ तासु मन परम उछाहा।" (दो० ६४), 'तव प्रसाद बायस-तिलक'—यह श्रोता की ओर से कृतज्ञता है। 'गयउ मोर सदेह'—श्रीशिवजी ने कहा ही था, यथा—"जाइहि सुनत सकल सदेहा। राम चरन होइहि अति नेहा॥" (दो० ६०), वह सब यहाँ चरितार्थ हुआ। कथा सुनने पर यदि सदेह नहीं गया और श्रीरामजी के चरणों मे स्नेह नहीं हुआ, तो जानना चाहिये कि उसने कथा ठीक से मन लगाकर नहीं सुनी। 'मोहि भयउ अति मोह'—अति मोह का स्वरूप उत्तरार्द्ध में कहते हैं। 'चिदानंद संदोह'...'—अर्थात् इनका आनंद कम हो नहीं सकता, फिर व्याकुल क्यों थे? 'प्रभु-बधन'—भाव यह कि वे ऐसे समर्थ हैं कि लोग जिनका नाम जपकर भव तरते हैं, वे ही बधन में पड़ें, यह आश्चर्य है, यथा—"भव-बधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्व निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" (दो० ५८)।

देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी ॥१॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ॥२॥
जो अति आतप व्याकुल होई। तरु - छाया - सुख जानइ सोई ॥३॥
जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही ॥४॥
सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई। अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई ॥५॥

अर्थ—मनुष्यों के अत्यन्त सदृश चरित देखकर मेरे हृदय में भारी संदेह हुआ ॥१॥ अब उसी भ्रम को मैं अपना हित करके मानता हूँ, यह कृपासागर प्रभु ने मुझपर बड़ी कृपा की है ॥२॥ जो अत्यन्त (सूर्य की) धूप से व्याकुल होता है, वृक्ष की छाया का सुख वही जानता है ॥३॥ यदि मुझे अत्यन्त मोह नहीं होता तो हे तात ! मैं तुमसे किस प्रकार मिलता ? ॥४॥ (फिर) यह सुहावनी अत्यन्त विचित्र भगवान् की कथा कैसे सुनता ? जो तुमने बहुत प्रकार से कही है ॥५॥

विशेष—(१) 'देखि चरित अति···'—भाव यह है कि ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिलेगा, जिसके चरित इनके चरित से कमजोर हों। 'अति नर अनुसारी' चरित देखे, तो 'अति मोह' हुआ और इसी से 'भारी संसय' हुआ, यही 'अति आतप' की व्याकुलता है। इसका नाश भी 'अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाईं' से हुआ, इत्यादि सब में 'अति' की आवृत्ति है।

(२) 'कीन्ह अनुग्रह कृपा-निधाना।'—मोह में डालना कौन कृपा है ? इसी का समाधान करते हैं कि 'जो अति आतप···'—अर्थात् जिसे मोह-भ्रम न हो, उसे कथा की न उतनी आवश्यकता रहती है और न उससे उसको उतने सुख का ही अनुभव होता है। इसमें प्रभु-कृपा का अनुमान श्रीशिवजी ने भी किया था; यथा—"होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥" (दो॰ ६१); भारी संशय से जीव का नाश होता है; यथा—"अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥" (बा॰ दो॰ ११८); प्रभु ने कृपा करके उससे बचाया। प्रभु कृपा से आप (संत) के दर्शन हुए, आपके द्वारा कथा से मोह-संशय का नाश हुआ। श्रीशिवजी ने कहा था—"बिनु सतसंग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (दो॰ ६१), वही यहाँ चरितार्थ हुआ।

यहाँ अभी ये वट वृक्ष के तले आये ही हैं, इससे छाया की उपमा भी उपयुक्त ही है। 'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोहीं।'—भाव यह कि लोक-व्यवहार-दृष्टि से तुम्हारे यहाँ मेरा आना अनुचित होता, राजा होने के अभिमान से जिज्ञासु बनकर यहाँ क्यों आता ? 'अति मोह' से ही आया। सामान्य मोह होता तो अपनी ही बुद्धि से निपटा लेता। दृष्टान्त में 'अति आतप' है, वैसे ही दार्ष्टान्त में 'अति मोह' भी है। तदनुकूल ही 'अति बिचित्र···' कथा भी कही गई है। सत्संग के सुख की अपेक्षा पूर्व के मोह को हित माना है।

निगमागम पुरान मत येहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा ॥६॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥७॥
राम - कृपा तव दरसन भयऊ। तव-प्रसाद सब संसय गयऊ ॥८॥

शब्दार्थ—परि= निश्चय ही, परित =चारों ओर से ।

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणों का मत यही है, सिद्ध और मुनि ऐसा ही कहते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥६॥ (कि) विशेष शुद्ध संत निश्चय करके उसी को मिलते हैं, जिसे श्रीरामजी कृपा करके देखते हैं ॥७॥ श्रीरामजी की कृपा से आपके दर्शन हुए और आपकी कृपा से सब संदेह नाश हुए ॥८॥

विशेष—'निगमागम पुरान मत येहा ।···'—जो मैंने कहा कि श्रीरामजी के अनुग्रह से आप मुझे मिले, यह मैंने स्वयं बनाकर नहीं कहा, किन्तु निगम आदि का असंदिग्ध मत है कि जब प्रभु कृपा करते हैं, तब विशुद्ध संत को मिला देते हैं । प्रथम कहा था—"कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।" (दो॰ ९८); यह उपक्रम है और यहाँ—"राम-कृपा तव दरसन भयऊ।" यह उस कृपा-प्रसंग का उपसंहार है ।

यहाँ कहते हैं—'तव प्रसाद सब संसय गयऊ।' और ऊपर कहा है—"भयउ राम-पद-नेह, तव प्रसाद बायस तिलक।" अर्थात् आप ही की कृपा से संशय नाश हुए और श्रीराम-पद-स्नेह भी हुआ ।

दोहा—सुनि बिहंगपति बानी, सहित बिनय अनुराग ।
पुलक गात लोचन सजल, मन हरषेउ अति काग ॥
श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा - रसिक हरिदास ।
पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥९९॥

अर्थ—पक्षिराज गरुड़जी की विनम्र और अनुरागयुक्त वाणी सुनकर काकभुशुंडिजी का शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों मे जल भर आया और वे मन में अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ हे उमा ! सुन्दर बुद्धिवाले, सुशील, पवित्र (निश्छल), कथा के प्रेमी और हरि-भक्त श्रोता को पाकर सज्जन अत्यन्त छिपाने योग्य रहस्य को भी प्रकट कर देते हैं ॥९९॥

विशेष—(१) 'विनय अनुराग'—'मन परम उछाहा' मे अनुराग प्रकट है और 'तव प्रसाद बायस तिलक।' से 'तव प्रसाद सब संसय गयऊ।' तक विनय प्रधान है । 'कहत बचन मन परम उछाहा।' उपक्रम है और 'सुनि विहगपति बानी, सहित बिनय अनुराग।' यह उपसंहार है । 'मन हरषेउ अति'—श्रीगरुड़जी के आने पर हर्ष हुआ था, यथा—'हरषेउ बायस सहित समाजा।' और अब उनकी कथा में निष्ठा भी देखी, तब अत्यन्त हर्ष हुआ । रोगी को दवा दी जाय और वह स्वयं ही अपनी नीरोगता कहे, तो वैद्य प्रसन्न होता ही है ।

(२) 'श्रोता सुमति सुसील ··'—'सुमति'—जिसकी बुद्धि ससार से अलिप्त है, बुद्धि से विचारता हुआ सुनता है, कुतर्क नहीं करता । 'सुसील'—उत्तम स्वभाव का है, वक्ता में आदर बुद्धि रखता है, उसकी बात मानता है । 'सुचि'—हृदय का शुद्ध है, वक्ता की परीक्षा के लिये वा अपनी योग्यता दिखाने के लिये ही नहीं आता, 'कथा-रसिक'—कथा में आनंद मानता है, उसे सुनने से तृप्ति नहीं होती ; यथा—"राम-चरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥" (दो॰ ५॰) ; 'हरि दास'—भक्त होगा, तो इष्ट के चरित में अति प्रीति होगी । गीता १८।६७ में भी कहा है ; यथा—'नाभक्ताय कदाचन···वाच्यं' अर्थात् अभक्त को तत्त्व-ज्ञान नहीं देना चाहिये । कहा भी है; यथा—"आत्मा देयं शिरोदेयं न देयं

रामतत्त्वकम्।" ऋषियों ने श्रीसूतजी से भी कहा है; यथा—"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।" (भाग० १।१।८); तथा—'राम कृपा भाजन तुम्ह ताता। हरि गुन प्रीति मोहि सुख दाता॥ ताते नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥" (दो० ७१); 'अति गोप्यमपि'—रहस्य की बातें छिपानी ही चाहिये। कहा भी है—"गोप्यातिगोप्यं परम गोप्यं न देयं रामतत्त्वकम्।" बिना अधिकारी के कभी न कहना चाहिये।

ये सुमति आदि पाँचों गुण श्रीगरुड़जी में हैं, इसीसे आगे काकभुशुंडिजी इनसे बहुत से अपने अनुभूत गुप्त रहस्य भी कहेंगे।

इस ग्रन्थ के मुख्य श्रोता श्रीभरद्वाजजी, श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जी हैं। ग्रन्थकार ने इन तीनों में ये लक्षण दिखलाये हैं—

	श्रीभरद्वाजजी	श्रीपार्वतीजी	श्रीगरुड़जी
सुमति—	'चतुराई तुम्हारि मैं जानी।' (बा० दो ४६)	'धन्य सती पावनि मति तोरी।' (दो० ५४)	'धन्य-धन्य तव मति उरगारी।' (दो० ६४)
सुशील—	'मैं जाना तुम्हार गुन-सीला।' (बा० दो० १०७)	'सुंदर सहज सुसील सयानी।' (बा० दो० ६६)	'सरल सुप्रेम सुखद···।' (दो० ६३)
शुचि—	'सुचि सेवक तुम्ह राम के,' (बा० दो० १०४)	'अति पुनीत गिरिजा कै करनी।' (बा० दो० ७५)	'सुपुनीता' (दो० ६१)
कथा रसिक—	'चाहहु सुनइ राम गुन गूढ़ा। कीन्हेहु प्रस्न ···'—(बा० दो० ४६)	'अति आरति पूछउँ···।' 'रघुपति कथा कहहु···'	'अब श्रीराम कथा···' 'बिनवउँ प्रभु तोहीं।'
हरिदास—	'राम-भगत तुम्ह मन-क्रम बानी।' (बा० दो० ४६)	'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी।' (बा० दो० १११)	'रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा' (दो० ६३)।

बोलेउ काकभसुंडि बहोरी। नभग-नाथ पर प्रीति न थोरी॥१॥
सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपा-पात्र रघुनायक केरे॥२॥
तुम्हहि न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥३॥
पठइ मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥४॥

अर्थ—काकभुशुंडिजी फिर बोले, श्रीगरुड़जी पर उनका प्रेम थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत) है॥१॥ हे नाथ! आप सब प्रकार से मेरे पूज्य हैं, आप श्रीरघुनाथजी के कृपापात्र हैं॥२॥ आपको न संशय है, न मोह है और न माया, हे नाथ! आपने मुझपर दया की है॥३॥ हे पक्षिराज! मोह के बहाने आपको श्रीरघुनाथजी ने यहाँ भेजकर मुझे बड़ाई दी है॥४॥

विशेष—(१) 'बहोरी'—प्रथम बार कथा सुनाने में बोले थे, अब फिर बोले।

(२) 'सब बिधि नाथ पूज्य ···'—खगराज होने से, पक्षि जाति की श्रेष्ठता से और श्रेष्ठ गुणवान्

होने से एवं पूज्य श्रीरघुनाथजी के कृपापात्र होने से आप 'सब बिधि पूज्य' हैं; यथा—"जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्यो । सोइ सुसील पुनीत बेदविद'''ते त्रैलोक्य पूज्य'''" (वि॰ १११)।

(३) 'तुम्हहिं न संसय मोह न माया ।'—इस तरह कहना शिष्टाचार है।

(४) 'पठइ मोह मिस'''—यदि मोह को मानें भी, तो यह श्रीरघुनाथजी ने मुझे बड़ाई देने के लिये निमित्त-मात्र कर दिया है। आप कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी ने मुझे भ्रम में डालकर मुझपर कृपा की है, सो बात नहीं है, यह तो मुझपर कृपा हुई है, आपके सम्बन्ध में मोह का बहाना-मात्र है। यहाँ आपके आने से मुझे बड़ाई मिली कि पक्षिराज श्रीगरुड़जी का मोह कौए ने दूर किया है।

पहले कहा कि आपने मुझपर दया की, फिर पीछे कहा कि श्रीरघुनाथजी ने कृपा करके मुझे बड़ाई दी है। ऐसे ही श्रीगरुड़जी ने भी पहले भुशुंडिजी का प्रसाद अपने ऊपर कहा, तब कृपानिधान श्रीरामजी का अनुग्रह कहा है। तात्पर्य यह है कि पहले भागवत-कृपा होती है, तब भगवत्-कृपा होती है, इससे भागवत-कृपा ही मुख्य है।

यदि यह मान भी लें कि आपको मोह हुआ, तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है—

गरुड़-मोह का समाधान

तुम्ह निज मोह कही खग-साईं । सो नहिं कछु आचरज गोसाईं ॥५॥
नारद भव - बिरंचि - सनकादी । जे मुनि - नायक आतमबादी ॥६॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही । को जग काम नचाव न जेही ॥७॥
तस्ना केहि न कीन्ह बौराहा । केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ॥८॥

अर्थ—हे पक्षियों के स्वामी ! आपने अपना मोह कहा सो, हे गोसाईं ! कुछ आश्चर्य नहीं है ॥५॥ श्रीनारदजी, श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी और श्रीसनकादिजी मुनिश्रेष्ठ और आत्मतत्व के कहनेवाले एवं अधिकारी हैं ॥६॥ इनमें से मोह ने किस-किस को अंधा नहीं कर दिया ? जगत् में कौन है जिसे काम ने नहीं नचाया हो ? अर्थात् सभी मोह और काम के वश हुए ॥७॥ तृष्णा ने किसे पागल नहीं कर दिया ? क्रोध ने किसका हृदय नहीं जलाया ? ॥८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह निज मोह कहा...'—पहले कहा था कि आपमें मोह है ही नहीं और अब उसे मानकर समाधान करते हैं। भाव यह है कि पहले श्रोता का आश्वासन करना चाहिये, उसे प्रसन्न करके उपदेश देने पर वह मानकर वैसा ही करता है। यदि पहले ही फटकार कर उसका चित्त दुखी कर दिया गया, तो उपदेश नहीं लगता। मोह सब व्याधियों का मूल है; यथा—"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।" (दो॰ ११०); इसलिये इससे ही वर्णन प्रारंभ किया। पुनः यहाँ मोह ही प्रस्तुत प्रकरण है; यथा—"मोहि भयउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि।" (दो॰ ५८); तथा मोह (अज्ञान) होने पर तब काम, क्रोध आदि होते हैं, इससे भी मोह पहले कहा गया है।

श्रीनारदजी की कथा इसी ग्रंथ में है, श्रीशिवजी मोहिनी रूप को देखकर लज्जा छोड़ कामातुर

होकर दौड़े थे, यह कथा भाग० ८।१२ में है। श्रीब्रह्माजी अपनी कन्या पर ही आसक्त हो गये—यह कथा भाग० ३।१२।२६-२७ में है। सनकादिक को वैकुंठ में भी क्रोध हुआ, जय-विजय को शाप दिया—बा० दो० १२१ चौ० ५ में इनकी कथा दी गई है।

तृष्णा को 'उदर वृद्धि अति भारी' कहा गया है, यह नित्य नई बनी रहती है। भर्तृहरि ने कहा भी है—"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।" अर्थात् हम जीर्ण हो चले, पर तृष्णा जीर्णा नहीं हुई। तथा—"सो प्रगट तनु जर्जर जरावस ब्याधि सूल सतावई। सिर कंप इन्द्रिय सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई॥ गृहपाल हू ते अति निरादर खान पान न पावई। ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्णा तरंग बढ़ावई॥" (वि० १३६)। तृष्णा के नशा में मनुष्य पागल-सा निमग्न रहता है।

दोहा—ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन-आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्हि न येहि संसार॥
श्री-मद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन-सर, को अस लाग न जाहि॥७०॥

अर्थ—ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, कोविद और गुणों का स्थान, ऐसा इस संसार में कौन है कि लोभ ने जिसकी दुर्दशा न की हो ?॥ लक्ष्मी के मद ने किसे टेढ़ा और प्रभुता ने किसे बहरा नहीं कर दिया ? ऐसा कौन है जिसे मृगनयनी (स्त्री) के नेत्र कटाक्ष-रूपी बाण न लगे हों ? ॥७०॥

विशेष—'केहि कै लोभ बिडंबना...'; यथा—"लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥" (कि० दो० २०); तथा—"को न क्रोध निर्दह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हो ? को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो ? कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन-सर ? लोचन जुत नहिं अंध भयउ श्री पाइ कवन नर ? सुर नाग लोक महि मंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न ? कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन॥" (क० उ० ११७)।

लोभ के वश होकर मनुष्य पूज्य माता-पिता एवं सुहृदवर्ग को भी मार डालते हैं। धनाढ्य मनुष्य की भौंहें सदा टेढ़ी ही रहती हैं। कड़वे वचन बोलने का स्वभाव होता है। सम्पत्ति के मद में न सीधे चलें और न सीधे बोलें। प्रभुता अर्थात् अधिकार पाकर लोग किसी की आर्थिक आवश्यकता पर कान ही नहीं देते, मानों बधिर हैं। अभिमानवश किसी को कुछ गिनते ही नहीं, यथा—"बड़ अधिकार दच्छ जब पाया। अति अभिमान हृदय तब आयो॥" (बा० दो० ५१); दक्ष ने सती की बात नहीं सुनी, ऐसे ही रावण ने भी किसी की शिक्षा नहीं सुनी।

गुन-कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥१॥
जोबन-ज्वर केहि नहि बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥२॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक-समीर डोलावा॥३॥
चिंता-साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥४॥

कीट - मनोरथ दारु - सरीरा । जेहि न लाग घुन को अस धीरा ।५॥

शब्दार्थ—निवेहौ – विना छेद डाले । (बेह=बेध, छेद, यथा—"उर भयउ न बेहू ।"—अ॰ दो॰ २६१), वा, निर्व्यथी (= पीड़ा रहित) का अपभ्रंश भी निवेहौ हो सकता है । बलकाना=उबालना, उत्तेजित करना, खौलाना, अहंकार रूपी अग्नि से तप्त होना ।

अर्थ—गुणों का किया हुआ सन्निपात किसे नहीं हुआ ? कोई ऐसा नहीं है जिसे मान-मद ने विना छेद डाले अथवा पीड़ा रहित छोड़ा हो ॥१॥ युवावस्था रूपी ज्वर ने किस को नहीं खौला दिया अर्थात् उत्तेजित किया । ममत्व ने किसके यश का नाश नहीं किया ? ॥२॥ मत्सर (डाह) ने किसको कलंक नहीं लगाया और शोक-रूपी पवन ने किसको नहीं हिला दिया ? ॥३॥ चिन्ता-रूपी साँपिनि ने किसको नहीं खाया (डसा) ? संसार मे ऐसा कौन है, जिसे माया नहीं व्याप्त हुई हो ? ॥४॥ मनोरथ-रूपी घुन कीड़ा जिसके शरीर-रूपी लकड़ी मे नहीं लगा हो, ऐसा धैर्यवान् पुरुष कौन है ? ॥५॥

विशेष—(१) 'गुन कृत सन्निपात'...'—सन्निपात हो जाने पर रोगी उछलता-कूदता है, अंडबंड बकता है, वही बड़बड़ाता है, जो उसके दिमाग में भरा रहता है । उसका चित्त भ्रान्त रहता है । वैसे ही गुणवान् होने पर प्रायः लोगों को मद हो जाता है जिससे वे अपनी ही प्रशंसा बड़बड़ाया करते हैं, क्योंकि वही उनके दिमाग मे रहती है । अपने आगे दूसरे के गुण को समझते ही नहीं; यथा—"सन्निपात जल्पसि दुर्बादा ।" (लं॰ दो॰ ३१); सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं । वैसे ही वात, कफ और पित्त तीन होते हैं जिनके प्रकोप से सन्निपात होता है । जबतक तीन गुणों में एक (सत्त्व) भी अपने स्थान पर ठीक है, तबतक सँभल जाने की आशा रहती है, जब सत्त्व भी बिगडा, तब मनुष्य किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाता है । यही सन्निपातावस्था है ।

(२) 'जोबन ज्वर ...'—युवावस्था में काम-क्रोध आदि सभी विकारों का प्राबल्य रहता है, इस उमंग मे लोग किसी को कुछ नहीं गिनते । भर्तृहरिजी ने कहा ही है; यथा—"रागस्यागारमेकं नरकशतमहादु खसंप्राप्तिहेतुर्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य । कंदर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबंधं लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थं निजकुल दहनं यौवनादन्यदस्ति ॥" (श्रृंगारशतक), अर्थात् युवावस्था राग का घर है, अगणित नरकों के महान् दु खों की प्राप्ति का कारण है, मोह की उत्पत्ति की बीज-रूपा है । ज्ञान-रूपी चन्द्रमा के छिपाने के लिये मेघ-समूह-रूप है । कामदेव का एक ही मित्र है, नाना प्रकार के दोषों को प्रकट करनेवाला, अपने कुल (सद्गुणों) को जलानेवाला इसके समान संसार में दूसरा अनर्थ नहीं है । 'जवानी दीवानी' यह मुहावरा भी है ।

'ममता केहि कर ...'—ममतावश लोग अनुचित करते हैं, जिससे यश का नाश होता है, लोग थू-थू करते हैं । ममत्व स्वार्थ है और यश तो परमार्थ से होता है । साथ ही मत्सर का कलंक लगाना भी कहते हैं । भाव यह है कि ममता तो प्राप्त यश का नाश करती है और मत्सर से और अपयश की प्राप्ति होती है । मत्सर अर्थात् किसी को दबाकर उससे अधिक होने की इच्छा, डाह । इसपर कलंक लगता है, लोग कहते हैं कि इतना होने पर भी इन्हें संतोष नहीं है, ऐसी हीन वृत्ति है, धिक्कार है ।

(३) 'काहि न सोक समीर डोलावा ।', यथा—"सोक बिकल दोउ राज-समाजा । रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (अ॰ दो॰ २७५) ।

(४) 'चिंता साँपिनि...'—जैसे सर्पिणी के काटने से विष की जलन होती है, वैसे ही चिन्ता से छाती जलती रहती है, यथा—"बालि त्रास ब्याकुल दिन-राती । तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥" (कि॰

दो॰ ११) चिता तो मरने पर जलाती है, पर चिन्ता जीते हुए मनुष्यों को जला डालती है। कहा भी है—"चिता चिन्ता समाख्याता किन्तु चिन्ता गरीयसी। मृतमेव दहत्येका द्वितीया जीवितं दहेत्॥" 'को नहिं खाया' अर्थात् सर्पिणी से कोई बच भी जाता है, पर चिंता से नहीं बच पाता। 'खाया' अर्थात् काटा-डसा।

(५) 'कीट-मनोरथ···'—घुन कीड़ा अनाज और लकड़ी आदि में लगता है। भीतर-ही-भीतर खाते-खाते उसे सार-हीन खोखला कर देता है। वैसे ही अनेक वासनाएँ मनुष्य को भीतर-ही-भीतर क्षीण कर देती हैं, वह सार (उत्साह) हीन हो जाता है। 'को अस धीरा'—बड़े-बड़े धीरों के भी व्यर्थ मनोरथ होते हैं, रोकने पर भी नहीं जाते।

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥६॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥७॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥८॥

शब्दार्थ—ईषना (एषणा)=प्रबल इच्छा, लोक=यश, कीर्ति।—

अर्थ—पुत्र, धन और लोक (में प्रतिष्ठा) हो, इन तीन इच्छाओं ने किसकी बुद्धि को मलिन नहीं कर दिया? ये सब माया के कुटुम्ब हैं, जो बड़े बलवान् और असंख्य हैं, इनका कौन वर्णन कर सकता है?॥७॥ जिससे श्रीशिवजी और चतुर्मुख श्रीब्रह्माजी भी डरते हैं, उसके समस्त और जीव किस गिनती में हैं? अर्थात् वे तो डरे-डराये हैं ही॥८॥

विशेष—(१) 'सुत बित लोक ईषना···'—पुत्रैषणा परिवार बढ़ाने की प्रबल कांक्षा, वित्तैषणा धन बढ़ाने की प्रबल इच्छा और लोकैषणा लोक में प्रतिष्ठा की प्रबल कांक्षा इन तीन प्रकार की इच्छाओं में लोग लीन रहते हैं। जिससे जाग्रत होना कठिन है; यथा—"सुत बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥" (वि॰ १४०); इन तीनों के उपाय में बुद्धि का लगा रहना उसकी मलिनता है। इसीसे मुमुक्षु को इनका त्याग करना कहा है; यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति॥" (बृह॰ ३।५।१); अर्थात् उस इस आत्मा को जानकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा त्यागकर ब्राह्मण भिक्षाचरण करते हैं।

'यह सब माया कर परिवारा।···'—उपर्युक्त मोह से लेकर त्रिविध एषणा तक सब माया के परिवार हैं। ये अमित हैं और प्रबल हैं; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ॥" (आ॰ दो॰ ३८); "काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया-रूपी नारि॥" (आ॰ दो॰ ४३), 'अमित'; यथा—"गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥" (आ॰ दो॰ १४)।

(२) 'सिव चतुरानन···'—ये ईश्वर-कोटि में हैं और माया के फंदे में पड़ चुके हैं, तो इतर जीवों की क्या गणना है?

दोहा—ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया-कटक-प्रचंड।
सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाषंड॥

सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम - कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि ।७१॥

अर्थ—माया की भारी एवं बलिष्ठ सेना संसार-भर में व्याप्त हो रही है (सर्वत्र फैली हुई है)। काम आदि (तीनों) उसके सेनापति हैं और दंभ, कपट और पाषंड योद्धा हैं॥ वह (माया) रघुवीर श्रीरामजी की दासी है, जिसने उसे (उसके नानात्व-रूप अविद्या कल्पित भाव को) मिथ्या समझ भी लिया है, वह (मनुष्य) भी श्रीराम-कृपा-बिना नहीं छूटता, हे नाथ! मैं यह पैर रोपकर (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ ॥७१॥

विशेष—(१) 'प्रचंड'—इसका जीतना अत्यन्त दुष्कर है, इसकी ओर ताकना भी भयंकर है।

(२) 'सो दासी ···'—इसका दासीत्व आगे कहते हैं कि यह उनकी भौं के इशारे पर समाज-सहित नटी की तरह नाचती है, वे नाच देखते हैं। इसका मिथ्यात्व समझना पूर्व बा० मं० श्लोक ६— "रज्जौयथाऽहेर्भ्रम." एवं "रजत सीप महँ भास जिमि ··" (बा० दो० ११७) में देखिये।

(३) 'छूट न राम-कृपा बिनु···', यथा—"सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह-जनित दारुन भव-बिपति सतावै॥···ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥" (वि० ११६), कृपा का उपाय भी एक विशेष प्रकार का भजन ही है; यथा—"मन-क्रम बचन छाँडि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० २११); तथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४)।

रघुवीर की दासी कहकर उसमें रघुवीर की सत्ता का बल सूचित किया; यथा—"जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥" (बा० दो० ११६)।

'कपट दंभ पाषंड' तीनों में क्रमशः मन, कर्म और वचन के भेद हैं; यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई।" (दो० १०५); "गुरु नित मोहिं प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम। मोहिं उपजै अति क्रोध, दंभिहि नीति की भावई॥" (दो० १०५), "जिमि पाखंड बाद ते, गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ।" (कि० दो० १७)।

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥१॥
सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥२॥
सोइ सच्चिदानंद - घन रामा। अज बिज्ञान रूप बल धामा॥३॥

अर्थ—जिस माया ने सब जगत् को ही नचा रक्खा है, जिसके चरित किसी ने नहीं लख पाये॥१॥ हे खगराज! वही माया प्रभु श्रीरामजी की भृकुटी (भौंह) के इशारे पर अपने समाज सहित नटी की तरह नाचती है॥२॥ वही सच्चिदानंद घन अजन्मा, विज्ञान, रूप और बल के धाम श्रीरामजी हैं॥३॥

विशेष—(१) पहले माया के परिवार को अमित-प्रबल कहा, फिर माया कटक को प्रचंड कहा, तब उसके सेनापतियों को सुभट कहकर सराहा, फिर यहाँ स्वयं माया की प्रबलता कही। 'जो माया सब जगहि नचावा। ··ऐसी प्रबला माया भी रघुवीर की दासी है और समाज सहित उनको नृत्य दिखलाती है।

ऐसी प्रबला माया को भी उनकी भौंह ताकना पड़ता है। तब उनके सामर्थ्य का अनुमान कैसे किया जा सकता है ? इसीसे उन्हें 'प्रभु' कहा गया है।

(२) 'जो माया···सोइ प्रभु भ्रूबिलास···'; यथा—"जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥ भृकुटि-बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही ॥" (बा० दो० २११)।

(३) 'सोइ सच्चिदानंद घन रामा।···'—सत् अर्थात् सम्पूर्ण सत्ता-रूप, चित् अर्थात् सम्पूर्ण चेतन रूप, आनन्द अर्थात् सम्पूर्ण आनंद रूप। श्रीरामजी का दिव्य विग्रह सच्चिदानंद घन रूप है; यथा—"चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२१); 'अज' अर्थात् कर्म-वश आपका जन्म नहीं होता। श्रुति भी है—'अजायमानः' 'विज्ञानरूप'; यथा—"विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात्।" (तैत्त० ३।५)।

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ-सक्ति भगवंता ॥४॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता ॥५॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख - संदोहा ॥६॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर-बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥७॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबिसन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—व्याप्य = जिसका ब्रह्म व्यापक है, वह विश्व, जैसे घड़े में आम है, तब घड़े व्यापक और आम व्याप्य कहायेगा। इस तरह जगत् उस व्यापक में स्थित है, गीता ९।४ देखिये। अदभ्र = बृहद्, बहुत, अपार, अनंत। निरीह = ईहा (चेष्टा) रहित। बिरज = माया-विकार-रहित, निर्मल, निर्दोष।

अर्थ—(वही प्रभु) व्यापक और व्याप्य, अखंड (पूर्ण), अनंत (आदि-अंत रहित), सम्पूर्ण, अव्यर्थ शक्ति, षडैश्वर्य पूर्ण ॥४॥ निर्गुण, बहुत बृहत्, वाणी और इन्द्रियों से परे, सब कुछ देखनेवाले, निन्दा एवं दोषों से रहित, अजित ॥५॥ ममता-रहित, निराकार (प्राकृत आकार-रहित), मोह-रहित, नित्य, माया-रहित, सुख-राशि ॥६॥ प्रकृति से परे, समर्थ, सबके हृदय में रहनेवाले, ब्रह्म, चेष्टा-रहित, विरज (निर्मल) और अविनाशी हैं ॥७॥ यहाँ मोह का (कोई) कारण ही नहीं है, क्या तम कभी सूर्य के सामने जा सकता है ? (कभी नहीं) ॥८॥

विशेष—(१.) 'व्यापक व्याप्य'—आप जगत् में व्यापक हैं, अर्थात् व्याप्य-रूप जगत्-मात्र के सम्यक् आधार हैं, जगत् आपका शरीर है, इससे आप ही जगत् रूप भी हैं; यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छां० दो० ३।१४।१)। अतः, व्याप्य भी आप ही हैं। 'अखंड'—सब ब्रह्मांड व्याप्य हैं; आप सबके व्यापक हैं। पुनः व्यापक और व्याप्य की एकता से अखंड हैं। 'अनंत' जो देश, काल एवं वस्तु—अवच्छिन्न न हो, वह अनंत है; यथा—"देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सब में बसै सबकी गति जान ॥" (वि० १००); "देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (बा० दो० १८५); इत्यादि। 'अखिल' अर्थात् कोई सामर्थ्य ऐसा नहीं है, जो इसमें न हो। 'अदभ्र'—ब्रह्म बहुत बड़ा है; यथा—"ज्यायान् आकाशात् ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् एभ्यः सर्वेभ्यः लोकेभ्यः।" यह श्रुति है, अर्थात् यह ब्रह्म आकाश से, पृथिवी से तथा सब लोकों से बड़ा है। 'नित्य'

जो सदा एकरस रहे। 'निरंजन' अर्थात् माया जिसके रूप को बदल नहीं सकती। 'प्रकृति पार'''— प्रकृति से परे होते हुए भी 'सर्व उर वासी' है, इससे 'प्रभु' कहा है, अर्थात् सबके हृदय में रहते हुए भी निर्लिप्त रहने में परम समर्थ है। 'नित्य' और 'अविनासी' में भेद यह है कि नित्य पदार्थ भी किसी प्रलय में नष्ट होते हैं, पर अविनाशी का कभी नाश नहीं होता। 'सुख-संदोहा'; यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी।" (बा० दो० ११६)।

यहाँ पर कहे हुए विशेषण पूर्व भी आ चुके हैं, वहाँ भी देखें-बा० दो० १९८, १९९, २०५, इत्यादि।

(२) 'रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।'—सूर्य के उदय होने के पूर्व ही तम दूर हो जाता है। इसी तरह परब्रह्म का आविर्भाव जिसके हृदय में होनेवाला होता है, उसके हृदय से अविद्यादि तम पूर्व से ही नष्ट हो जाते हैं, तब भला स्वयं उस ब्रह्म को मोह कैसे हो सकता है? देखिये बा० दो० ११५ चौ० ४-५ भी।

तब लीला में तो प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसका समाधान करते हैं—

दोहा—भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत - नर - अनुरूप ॥
जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥७२॥

अर्थ—भगवान् प्रभु श्रीरामजी ने भक्तों के लिये नृप-शरीर धारण किया और सामान्य मनुष्यों के सदृश अनेक (किन्तु) परम पावन चरित किये॥ जैसे कोई नट अनेकों वेष धारण कर नाच करता है और वही-वही (अर्थात् जो-जो वेष धारण करता है, उस-उसके अनुरूप) भाव दिखाता है, परन्तु स्वयं वही नहीं हो जाता (अर्थात् वह स्त्री, भिक्षुक, राजा, पशु आदि के जो-जो स्वाँग करता है वह स्त्री आदि हो नहीं जाता। वैसे भगवान् भी प्राकृत नर का स्वाँग धारण करके वैसा ही चरित करने से प्राकृत नर ही नहीं हो गये)॥७२॥

विशेष—(१) 'भगवान प्रभु राम' कहकर फिर 'धरेउ तनु भूप...प्राकृत नर अनुरूप' कहकर सूचित किया कि जो परात्पर ब्रह्म रामजी नित्य द्विभुज रूप हैं। उन्होंने भक्तों के हितार्थ लीला करने के लिये 'प्राकृत नर अनुरूप, भाव धारण किया है। आपका परात्पर द्विभुज रूप श्रुति-स्मृति से प्रतिपादित है, पूर्व में बहुत स्थलों पर प्रमाण दिये जा चुके हैं।

(२) 'चरित पावन परम'—अधर्ममय चरित अपावन हैं, धर्ममय पावन और भगवान् के चरित परम पावन हैं। यह भी भाव है कि प्राकृत नर के चरित अपावन भी होते हैं, प्रभु प्राकृत नर के से चरित करते हैं, पर इनके चरित परम पावन है, जिसे कह-सुनकर और लोग भी पवित्र हो जाते हैं। 'भगत हेतु...'; यथा—"सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥" (बा० दो० १३); तथा बा० दो० २०५ भी देखिये।

(३) 'जथा अनेक वेष...'—उपर्युक्त "इहाँ मोह कर कारन नाहीं।" पर यह दृष्टान्त दिया गया है। भाव यह कि मोह का कारण माया है, वह बात यहाँ नहीं है। जैसे नट अनेक वेष धरकर तदनुसार दुख-सुख के भाव दिखाता है और आप जैसे का तैसा ही रहता है। दुःख सुख से भिन्न रहता है, परन्तु दूसरों को—अज्ञान से—वे दुःख सुख नट में ही प्रतीत होते हैं। किन्तु नट के सेवकों को ज्ञान रहता है कि ये दुःख-सुख नट में नहीं हैं। ऐसे ही प्रभु की लीला के विषय में भी समझना चाहिये, वही आगे—'असि रघुपति लीला...' से कहते हैं।

श्रीरामजी ने नर-नाट्य करते हुए स्त्री के लिये विलाप आदि किये हैं, रणशोभा दिखाने के लिये नागपाश में बँधना भी स्वीकार किया है। इन लीलाओं के दुःख आपमें नहीं थे, आप तो सच्चिदानंद रूप एवं निरंजन आदि बने ही रहे। लीला तो भक्तों के हितार्थ करते हैं; यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपा सिंधु जन हित तनु धरहीं॥" (बा० दो० १२१)।

अर्जुनजी ने युधिष्ठिरजी से कहा है—"यथामत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः। भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥" (भाग० १।१५।३५); अर्थात् जैसे नट वेष धर कर अभिनय करता है, और फिर उसे त्याग देता है, वैसे भगवान् अनेक कार्यों के लिये मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और फिर उन्हें त्याग देते हैं। तथा—"नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥" (लं० दो० ७१); का प्रसंग भी देखिये।

'आपुन' अर्थात् स्वयं; यथा—"आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं॥" (लं० दो० १८१)।

असि रघुपति - लीला उरगारी। दनुज-बिमोहनि जन-सुखकारी॥१॥
जे मति मलिन बिषय-बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥२॥
नयन - दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहँ कह सोई॥३॥

शब्दार्थ—धरना = आरोपण करना, ठहराना। नयन-दोष = कमल रोग, पीलिया रोग।

अर्थ—हे उरगारि श्रीगरुड़जी! ऐसा ही श्रीरघुनाथजी का नर-नाट्य है, जो दैत्यों (आसुरी प्रकृति वालों) को विशेष मोहित करनेवाला और भक्तों को सुख देनेवाला है॥१॥ हे स्वामी! जो मलिन बुद्धि, विषय-वश और कामी लोग हैं, वे ही प्रभु पर इस प्रकार का मोह आरोपण करते हैं॥२॥ जब जिसे नेत्र-दोष होता है, तब वह चन्द्रमा को पीले रंग का कहता है॥३॥

विशेष—(१) 'असि रघुपति-लीला···'—'असि' उपर्युक्त नटवत्। नट का दृष्टान्त उपर्युक्त दोहे के साथ भी कहा गया था। अतः, दीपदेहली है।

(२) 'दनुज बिमोहनि···'—इसपर—"राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" (अ० दो० १२६); तथा—"उमा राम गुन गूढ़···" (आ० मं० सो०); आदि प्रसंग देखिये। यहाँ दनुज से आसुरी संपत्तिवालों को और जन से दैवी सम्पत्तिवालों को कहा है। असुर कहते हैं, ये ईश्वर नहीं हो सकते। जन कहते हैं कि प्रभु स्वतंत्र होकर भी कैसी लीला करते हैं।

(३) 'इमि' कहकर इसका दृष्टान्त आगे की अर्द्धाली में देते हैं—

(४) 'नयन-दोष जा कहँ···'—जिसके नेत्र में कमला रोग हो जाता है, उसे स्वच्छ वस्तु भी पीत दिखलाई पड़ती है। चंद्रमा उज्ज्वल है, पर उसे वह पीत देख पड़ता है। वैसे ही जिसके बुद्धि और

चित्त-रूपी गोलक में ज्ञान-विराग-रूपी नेत्र की पुतली पर मोह और विषय-वासना-रूपी रोग लग गया है। उसे निर्मल सच्चिदानंदरूप श्रीरामजी में मोह एवं काम-विकार देख पड़ते हैं।

यहाँ रूप विपर्यय कहा गया है, आगे दूसरे दृष्टान्त में विरुद्ध स्थानापत्ति और तीसरे चौथे में और धर्माध्यास कहा गया है।

जब जेहि दिसि-भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥४॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहवस आपुहि लेखा ॥५॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी ॥६॥

अर्थ—हे गरुड़ ! जब जिसे दिशा का भ्रम होता है, तब वह कहता है कि सूर्य पच्छिम में उदय हुआ है ॥४॥ नाव पर चढ़ा हुआ जगत् को चलता हुआ देखता है और मोह वश अपनेको अचल (स्थिर) समझता है ॥५॥ बालक घूमते हैं, (कुछ) घर आदि नहीं घूमते, पर वे आपस में झूठावाद कहते हैं (कि घर आदि घूमते हैं) ॥६॥

विशेष—(१) जैसे भ्रम वश पूर्व दिशा मे पच्छिम का भ्रम हो जाय, वैसे परब्रह्म श्रीरामजी को मनुष्य मानना है। स्वयं तो संसार के विषय प्रवाह में अज्ञान रूपी नौका पर चढ़ा चला जा रहा है, आयु बीती जा रही है, पर मोहवश अपनेको सचेत एवं अमर मान रहा है और श्रीरामजी अचल (नित्य एक रस स्थितिवाले) हैं, उनको भ्रम वश चल (विविध स्थितिवाला) मानता है कि कभी रोते हैं, कभी क्रोध करते हैं, इत्यादि। पुनः अज्ञानी जीव बालक हैं, सुख के उपाय करना उनका भ्रमण करना है, अचल मकान आदि की तरह श्रीरामजी अचल हैं। बालक स्वयं भ्रमण से दुखी होते हैं। वैसे ही अज्ञानी संसारी धंधों में स्वयं दुखी होते हैं, पर कहते हैं कि श्रीरामजी तो वन-वन में दुःख उठा रहे हैं।

हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥७॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी ॥८॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥९॥

शब्दार्थ—जमनिका (यवनिका) = परदा, काई। बिषइक = विषय का, सम्बन्धी। प्रसंगा = सम्बन्ध, लगाव।

अर्थ—हे गरुड़ ! भगवान् के विषय का मोह ऐसा ही है, (वहाँ तो) स्वप्न मे भी अज्ञान का लगाव नहीं है ॥७॥ माया के वश, मन्द बुद्धिवाले, भाग्य हीन और जिनके हृदय पर बहुत प्रकार के परदे पड़े हुए हैं एवं काई लगी हुई है ॥८॥ वे ही मूर्ख हठ (आग्रह) के वश संदेह करते हैं और अपना अज्ञान श्रीरामजी पर आरोपित करते हैं ॥९॥

विशेष—(१) 'हरि बिषइक···माया बस मति मंद···'; यथा—"उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥ अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी ॥" (बा० दो० ११६–११४)

(२) 'ते सठ हठ बस···'; यथा—"निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥" (बा० दो० ११६)।

पहले कहा था—'इहाँ मोह कर कारन नाहीं' उसकी पुष्टि में दो दृष्टान्त दिये—एक रवि-तम का दूसरा नट और उसके वेष-भाव का। पहले से दिखाया कि मोह उनके पास जा ही नहीं सकता। तब स्त्री-विरह और नाग-पाशबंधन आदि क्यों स्वीकार किये ? इसे दूसरे दृष्टान्त से समझाया कि नर का वेष धारण किया है, नर काम-क्रोध आदि के वश होते हैं, हारते-जीतते हैं। वैसा ही इन्होंने अपने में दिखाया है, शुद्ध प्राकृत नर हो नहीं गये।

पुनः यह शंका हुई कि लोग उन्हें मोहवश कहते क्यों हैं, उसपर फिर 'नयन दोष' आदि चार दृष्टान्त दिये कि वे स्वयं मोह में पड़े हुए हैं, पर अज्ञान से वे प्रभु में मोह कहते हैं।

दोहा—काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख-रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम-कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥७३॥

अर्थ—जो काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर, घर में आसक्त और दुःख रूप हैं (वा दुःख रूप गृह एवं गृह के जंजाल में पड़े हुए हैं), वे श्रीरघुनाथजी को कैसे जानें ? वे मूर्ख तो अंधकार रूपी कुँए में पड़े हुए हैं॥ निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है और सगुण रूप को कोई जानता ही नहीं। सुगम और अगम उसके अनेक चरित्रों को सुनकर मुनियों के भी मन में भ्रम हो जाता है॥७३॥

विशेष—(१) 'काम क्रोध मद लोभ रत···'—काम आदि चार के नाम यहाँ दिये गये और साथ ही 'गृहासक्त' भी कहा गया। इसका भाव यह कि ये चारों नरक के मार्ग हैं ; यथा—"काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।" (सुं० दो० ३८); वैसे गृही में आसक्त पुरुष भी नाना पापों से दुःख रूप जीवन बिताकर अन्त में नरक को जाते हैं ; यथा—"यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः। स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥ अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः। अनाथामामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥ एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्। अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः॥" (भाग० ११।१७।५६-५८); अर्थात् जो घर में लीन बुद्धिवाला, पुत्र धन की एषणाओं में आतुर, स्त्रैण, दीन, 'मैं मेरा' में बँधता है। अहो ! मेरे माता-पिता वृद्ध हैं, स्त्री, पुत्र, नाती हैं ये सब मुझ बिना अनाथ होकर मूढ़ दीन और दुखी कैसे जीवेंगे ? गृहासक्त मूढ़बुद्धि इस प्रकार उन सबका ध्यान करता हुआ अतृप्त मरता है वह अंधकारमय नरक को जाता है। गृही धर्म भी उत्तम है, यदि अनासक्त भाव से उसका निर्वाह किया जाय; किन्तु ये गृहासक्त इस भेद को नहीं जानते, इसीसे 'मूढ़' कहे गये।

दोहे के पूर्वार्द्ध की व्यवस्था ही उत्तरार्द्ध के 'तमकूप' का अर्थ है। गृहासक्त को परमार्थ नहीं सूझता; यथा—"ममता रत सन ज्ञान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥ क्रोधिहि सम कामिहिं हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५०); इसी तरह कुँए में पड़े हुए को बाहर का कुछ नहीं सूझता। 'ते किमि जानहिं···'—भाव यह कि ये कामादि हरि भजन के बाधक हैं ; यथा—"सब परि हरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥" (सुं० दो० ३८), और बिना भजन एवं हरि-कृपा के भगवान् को कोई जान नहीं सकता; यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥" (अ० दो० १२६)।

'गृहासक्त दुख रूप' का विस्तृत वर्णन भाग० ३।३०।६–१८ में है।

(२) 'निर्गुन रूप सुलभ अति···'—निर्गुण मे प्रकट व्यापार, माधुर्य-चरित आदि नहीं हैं कि जिनके जानने में कठिनता हो। निराकार, निरवधि, नाम रहित, रूप रहित, आदि-अंत रहित आदि निषेधात्मक विशेषणों से उसका निर्देश होता है। वह सदा एक रस रहता है, सर्वत्र एक अखंड रूप से परिपूर्ण है। उसके विषय मे भ्रम होने का डर नहीं रहता। इस तरह उसका जानना अति सुगम है, किन्तु उसका साधन कठिन है। सगुण के सुगम-अगम नाना चरित होते हैं, जैसे कि धनुर्भंग, परशुराम पराजय, वालि आदि के वध से उसका जानना सुगम होता है और स्त्री-विरह मे विलाप, नाग पाश बंधन आदि अति माधुर्य के चरित्रों से उसका ऐश्वर्य जानना अति अगम हो जाता है। इन चरित्रों में श्रीभरद्वाजजी, श्रीसतीजी एवं श्रीवशिष्ठजी तक को भ्रम हो जाता है। इस तरह सगुण के जानने में कठिनता है। पर जान लेने पर महाविश्वासपूर्वक शरणागति से उसकी प्राप्ति अति सुगम हो जाती है; यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥" (गीता ४।६); अर्थात् हे अर्जुन ! मेरे दिव्य जन्म और कर्म को जो यथार्थ रूप से जान लेता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझको प्राप्त होता है।

'मुनि मन भ्रम होइ'—दिन-रात मनन करनेवाले भी भ्रम मे पड़ जाते हैं। तब औरों को भ्रम हो जाना कौन आश्चर्य है ?

इस प्रसंग का उपक्रम—"तुम्ह निज मोह कहा खग साईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥" से हुआ है और यहाँ समाप्त हुआ। 'गोसाईं' का भाव यह कि आप भी इन्द्रियजित् हैं, पर मोह में पड़ गये, यह आश्चर्य नहीं, क्योंकि मुनि लोग भी तो इन्द्रियजित् होते हैं, फिर उन्हें भी तो भ्रम होता ही है। उपक्रमोक्त वचन की पुष्टि करते हुए उपसंहार किया गया है। उपक्रम मे 'जे मुनिनायक' पद दिया था, वैसे उपसंहार मे 'मुनि मुनि मन' कहा गया।

सुनु खगेस रघुपति - प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई॥१॥
जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सोउ सब कथा सुनावउँ तोही॥२॥
राम - कृपा - भाजन तुम्ह ताता। हरि-गुन-प्रीति मोहि सुखदाता॥३॥
ताते नहि कछु तुम्हहि दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥४॥

अर्थ—हे गरुड़ ! श्रीरघुनाथजी की प्रभुता सुनिये, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सुहावनी कथा कहता हूँ॥१॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार मुझे मोह हुआ, वह सब कथा भी तुम्हें सुनाता हूँ॥२॥ हे तात ! आप श्रीरामजी के कृपापात्र हैं, भगवान् के गुणों में आपका प्रेम है, (इसीसे) मुझे सुख दाता है (भाव यह कि सजातीय के साथ से सुख होता ही है)॥३॥ इससे मैं कुछ भी आपसे नहीं छिपाता, परम गुप्त और मनोहर चरित वर्णन करता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'सोउ सब कथा सुनावउँ तोही।'—ऊपर ईश्वरों का, विषयी लोगों का और मुनियों का मोह कहकर 'रघुपति प्रभुताई' को समझाया। अब अपने मोह की कथा से भी समझाते हैं। अपनी बीती प्रत्यक्ष प्रमाण होती है। इसका प्रभाव श्रोता पर बहुत पड़ता है। मोह होने पर प्रसंगत. रघुपति ने अपनी प्रभुता स्वयं इन्हें दिखाई है, वही कहेंगे। 'सोउ' का भाव यह कि अपनी कथा न कहनी चाहिये,

पर इसमें रघुपति प्रभुताई का ही उद्घाटन हुआ है, यही प्रधान है, अपना तो दोष मात्र ही है, जिसके कारण यह प्रभुता देखने में आई है, इसलिये कहने में दोष नहीं है। अपनी बड़ाई का प्रसंग कहना दोष होता है। पर इसमें श्रीरामजी का अत्यन्त गुप्त रहस्य है, जो मनोहर अर्थात मन के विकारों का हरनेवाला है।

(२) 'तातें नहिं कछु ...'—तुम श्रीरामजी के कृपा पात्र होने से हरिगुण रसिक हो और इसीसे हमें सुखदाता हो, यही सजातित्व और अनुकूलता देखकर परम रहस्य भी मैं तुमसे कहता हूँ, यथा—"इष्टोऽसि दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।" (गीता १८।६४)। 'परम रहस्य' कहकर सूचित करते हैं कि इसे मैंने अभी तक गुप्त ही रक्खा है। तुम्हें अधिकारी पाकर कहता हूँ। उपर्युक्त 'रघुपति प्रभुताई' ही 'परम रहस्य' है। यह स्वभाव वर्णन के द्वारा प्रारंभ करेंगे। स्वभाव के ज्ञाता निरंतर समीपी उपासक ही होते हैं, दूसरे नहीं जान सकते, इससे भी 'परम रहस्य' कहा है। 'जथामति'—क्योंकि अपार है।

श्रीराम-स्वभाव वर्णन

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥५॥
संसृत-मूल सूल-प्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का सहज स्वभाव सुनिये, वे भक्त में अभिमान कभी नहीं रहने देते ॥५॥ (क्योंकि) अभिमान संसार (अर्थात् बार-बार जन्म-मरण) का मूल (कारण) है, अनेकों प्रकार के दुःखों और समस्त शोकों का देनेवाला है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनहु'—सावधान करने एवं नवीन बात प्रारंभ के सम्बन्ध से कहा है। 'राम कर'—भाव यह कि श्रीराम ही का ऐसा स्वभाव है, दूसरे का नहीं। 'सहज सुभाऊ।'—क्योंकि बिना कारण ही जनों का हित करते हैं, यथा—"राम सहज कृपाल कोमल दीन हित दिन दानि।" (वि० २१५), "बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर " (वि० १६२)। श्रीभुशुंडिजी श्रीराम स्वभाव के यथार्थ ज्ञाता हैं, यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ ॥" (सु० दो० ४७), 'जन अभिमान '—औरों के अभिमान पर उतनी चिन्ता नहीं करते, जैसे कि रावण के अभिमान पर बहुत काल तक उन्होंने ध्यान नहीं दिया, यथा—"तौं लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं विभीषन लात न मार्यो।" (क० उ० ३)। भक्त श्रीरामजी को प्रिय हैं, इससे उनका नाश वे नहीं देख सकते, सदा उनकी रक्षा करते हैं। अभिमान ही संसार का मूल है। सृष्टि का बीज अहंकार ही कहा गया है। वर्णाश्रम के अभिमान, भक्ति वैराग्य आदि के अभिमान; ये सब भी शोक दायक हैं, यथा—"मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान।" (सु० दो० २३)।

(२) 'जन अभिमान न राखहिं काऊ।'—से सूचित करते हैं कि मुझे भी कभी अभिमान हुआ था, जिसपर प्रभु ने कृपा करके अपनी प्रभुता दिखाई है। और फिर आपको भी अभिमान हुआ, तब प्रभु ने आपके साथ भी कृपा कर यह चरित किया कि यहाँ भेजा है, यथा—"होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपा निधाना ॥" (दो ६१), यह श्रीशिवजी ने कहा है।

भक्तों की सब कामनाएँ पूरी करते हैं, पर अभिमान कभी नहीं रहने देते, यह अपने परम प्रिय

भक्त श्रीनारदजी के मोह प्रसंग में दिखाया है; यथा—"करुना निधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहउँ उपारी। पन हमार सेवक हितकारी॥" (बा० दो० १२८)।

(३) 'सूल प्रद नाना'—शूल कई प्रकार के हैं; यथा—"विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥"; "मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (दो० १२०); अभिमान को ऊपर मोह-मूलक कहा ही गया है। 'सकल सोक'—इष्ट हानि, अनिष्ट प्राप्ति एवं और भी किसी दुर्घटना से जो मन में विकार होता है, वह शोक है।

श्रीगरुड़जी को मोह से अभिमान हुआ, इससे अभिमान ही के अवगुण कहते हैं। ऐसे ही श्रीनारदजी के प्रसंग में उन्हें मोह से स्त्री की चाह हुई, तब वहाँ स्त्री में ही बहुत अवगुण कहे गये हैं।

ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥७॥
जिमि सिसु-तन ब्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥८॥

अर्थ—इसीसे (कि भक्त अभिमान से भव में न पड़े) दयासागर श्रीरामजी उसे दूर करते हैं, (क्योंकि) भक्तों पर उनका अत्यन्त भारी ममत्व है॥७॥ हे गोस्वामी! जैसे बच्चे के शरीर में फोड़ा होता है तो माता उसे कठोर हृदयवाले के समान चिरवाती है॥८॥

विशेष—(१) 'ताते करहिं कृपानिधि दूरी…'—सेवक पर अधिक ममत्व होने के कारण वे उसका क्लेश नहीं देखना चाहते। इससे उसका अभिमान दूर करते हैं। श्रीनारदजी के मोह प्रसंग में इसका उदाहरण है। ममता सांसारिक सम्बन्धों में पुत्र पर सबसे अधिक होती है; यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की…" (वि० २६८); प्रभु सेवक को भी शिशु के समान ही मानते हैं; यथा—"बालक सुत सम दास अमानी।" (आ० दो० ४२); अतएव इसपर अत्यन्त ममता करके इसकी रक्षा करते हैं; यथा—"करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥" (आ० दो० ४२); यही 'ममता अति भूरी' है।

श्रीनारदजी के प्रसंग में 'तहँ राखइ जननी अरगाई।' कहा है और यहाँ व्रण चिराने का भाव कहा है। भाव यह कि वहाँ नारद कुपथ्य के लिये दौड़े जा रहे थे, इससे वहाँ रोकने का भाव कहा गया, वे उसे ग्रहण नहीं कर सके पाये। और, यहाँ रोग का हो जाना कहा गया, यथा—"महामोह उपजा उर तोरे।" (दो० ५८), यह व्रण का होना है। अतः, व्रण का चिराना कहा गया।

श्रीगरुड़जी को जहाँ तहाँ दौड़ाना, काक को गुरु बनाना, यही चिराना है, मोह वश दौड़ने का कुछ दुःख हुआ, पर सदा के लिये नीरोग हो गये। यदि भक्त धोखे में कोई पातक कर डालते हैं, तो भगवान् तुरत फल देकर शुद्ध कर लेते हैं, भावी कर्म विपाक का झगड़ा नहीं रहने देते, यह तात्पर्य है।

(२) 'कठिन की नाईं' का भाव आगे दोहे में कहते हैं—

दोहा—जदपि प्रथम दुख पावइ, रोवइ बाल अधीर।
व्याधि-नास-हित जननी, गनति न सो सिसु-पीर॥

तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥७४॥

अर्थ—यद्यपि बालक पहले (फोड़ा चिराते समय) दुःख पाता है और अधीर होकर रोता है तथापि रोग को नाश करने के लिये माता बालक के रोने की पीड़ा को कुछ नहीं गिनती ॥ इसी प्रकार श्रीरघुनाथजी दास के हित के लिये उसका अभिमान दूर करते हैं । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे प्रभु को भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजते हो ? ॥७४॥

विशेष—(१) 'जदपि प्रथम दुख पावइ ···'—पहले ही थोड़ी देर चिराने के समय-भर दुःख रहता है, फिर वह सुखी हो जाता है । 'रोवै बाल अधीर'—बालक को एक माता का ही आधार रहता है, वही निष्ठुर होकर बच्चे के हाथ पकड़कर नश्तर दिलाती है, उसके रोने की पर्वाह नहीं करती । तब बालक का धैर्य छूट जाता है, क्योंकि वह और किसकी शरण ले ?

(२) 'तिमि रघुपति निज दास कर···'—यहाँ श्रीरामजी माता हैं, अभिमान फोड़ा है । विषैले फोड़े के न चिरवाने से विष फैल जाने से बालक की मृत्यु का भय रहता है । वैसे ही भक्त का अभिमान बढ़ने से उसके भव (जन्म-मरण) का भय रहता है । फोड़ा चिराने में बालक रोता है । वैसे ही अभिमान नाश के उपाय में दास को भी दुःख होता है, उसका धैर्य छूट जाता है । अभिमान की दवा अपमान है । सत्कार पाकर यह रोग बढ़ता है, भगवान् ऐसे संयोग कर देते हैं कि जिससे उसका तिरस्कार हो ।

'हित लागि'—इसमें उनका लाभ नहीं है, भक्त का ही हित है, भक्त के हित को ही अपना हित समझते हैं, क्योंकि भक्तों में 'अपनापन' है । श्रीनारदजी से कहा भी है, यथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित···सोइ हम करब"; "मुनि कर हित मम कौतुक होई । अवसि उपाय करबि मैं सोई ॥" यहाँ श्रीनारदजी ने कठोर वचन कहे, शाप दिया, यही उनका रोना है । और "बोले मधुर बचन सुरसाईं ।" साप सीस धरि···" इत्यादि शिशु पीर का न गिनना है । व्याधि नाश से शिशु को सुख होता है । वैसे मोह छूटने से नारदजी भी सुखी हुए ; यथा—"बिगत मोह मन हरष बिसेषी ॥" यहाँ कहा है ।

ऐसे ही और सांसारिक कष्ट भक्त जनों को पड़ते हैं, तब वे यही समझते हैं कि भगवान् कृपा करके हमारे भारी पापों को थोड़े में शुद्ध कर रहे हैं एवं धीरे-धीरे विषयोपभोग से उदासीन कर रहे हैं ।

यहाँ तक श्रीराम-स्वभाव कहकर आगे अपनी कथा का प्रारम्भ करते हैं—

राम - कृपा आपनि जड़ताई । कहउँ खगेस सुनहु मन लाई ॥१॥
जब जब राम मनुज-तनु धरहीं । भक्त - हेतु लीला बहु करहीं ॥२॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ । बाल-चरित बिलोकि हरषाऊँ ॥३॥

अर्थ—हे गरुड़ ! मैं श्रीरामजी की कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये ॥१॥ जब-जब श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य देह धारण करते हैं और भक्तों के लिये एवं उनके स्नेह वश बहुत-सी लीलाएँ करते हैं ॥२॥ तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और बाल चरित देखकर प्रसन्न होता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-कृपा आपनि जड़ताई । ' श्रीरामजी कृपा करके भक्त के लिये ही लाखों

करते हैं। इससे 'राम कृपा' को प्रथम कहा; यथा—'भक्त हेतु लीला बहु करहीं।' आगे कहते ही हैं। पर उसमें उसको मोह हो जाता है, इसीसे अपनी जड़ता को भी साथ ही कहा।

'आपनि जड़ताई' कहते हैं इससे संभव है कि श्रीगरुड़जी मन लगाकर न सुने और विना मन लगाये, उसमे जो श्रीराम-कृपा की प्रधानता है, वह समझ मे न आवेगी। मेरी जड़ता पराकाष्ठा की है, वैसे ही प्रभु कृपा भी पराकाष्ठा की है। जड़ता होने पर ही कृपा का अनुभव होता है; यथा—"जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥ (दो॰ ६८)। जड़ता मे मैंने कृपा को देखा है, इसीसे वह भी कहूँगा।

(२) 'जब जब राम मनुज तनु धरहीं।···' यथा—"जब जब अवध पुरी रघुवीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥" (दो॰ ११३); 'राम मनुज तनु धरहीं'—श्रीराम नामक परब्रह्म साकेताधीश स्वयं आकर नरतन से लीला करते हैं। 'मनुज तनु' में मनुवाले कल्प की ओर संकेत है। श्रीभुशुंडिजी और श्रीशिवजी का ध्यान उसी रूप का है; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं।···जो भुसुंडि मन मानस हंसा।···देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा॰ दो॰ १४५)—यह मनु ने ही कहा है।

'भक्त हेतु'—अर्थात् जो लीला कहता हूँ, यह मेरे लिये की गई थी, पर अपनी जड़ता से मुझे उसमें मोह हो गया।

(३) 'हरषाऊँ'—का कारण आगे कहते हैं—

जन्म-महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥४॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटिसत कामा॥५॥
निज प्रभु-बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥६॥
लघु बायस-बपु धरि हरि-संगा। देखउँ बाल-चरित बहु रंगा॥७॥

अर्थ—जाकर मैं जन्म-महोत्सव देखता हूँ और लुब्ध होकर वहाँ पाँच वर्ष रहता हूँ॥४॥ बालक रूप श्रीरामजी मेरे इष्टदेव हैं, उनके तन मे असंख्यों कामदेवों की शोभा है॥५॥ हे सर्पों के शत्रु श्री-गरुड़जी! अपने प्रभु का मुख देख-देखकर मैं अपने नेत्रों को सुफल करता हूँ॥६॥ छोटे कौए का शरीर धरकर भगवान् के साथ-साथ उनके बहुत प्रकार के बाल-चरित देखा करता हूँ॥७॥

विशेष—(१) 'जन्म-महोत्सव···'—जन्म से पहले ही वहाँ पहुँच जाता था, उस समय प्रभु के दर्शन नहीं होते थे; क्योंकि वे सूतिकागार मे रहते थे, केवल जन्म महोत्सव के ही दर्शन होते थे। इस अवसर पर विप्र बालक रूप से श्रीशिवजी के साथ जाते थे—बा॰ दो॰ १९५ चौ॰ ४–५ देखिये। आगे यह भी कहा है कि 'लघु बायस बपु' धरकर वहाँ के बाल-चरित का आनन्द देखता हूँ। 'जाई'—अवतार के समय यहाँ से जाता हूँ, उससे पहले बराबर यहीं पर रहता हूँ।

'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'—बाल्यावस्था पाँच वर्ष की मुख्य है, वही रूप मेरा इष्ट है, इससे उतने समय तो लुभाया हुआ रहता हूँ। दिन-रात जाते नहीं जान पड़ते; यथा—"बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।" (बा॰ दो॰ १९५); शेष चरित मे सामान्य भाव से आता जाता हूँ, यह भी गर्भित है, अन्यथा अन्यत्र के प्रसंगों से विरोध होगा; यथा—"सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव मुनि बृंद। चढ़ि

तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥७४॥

अर्थ—यद्यपि बालक पहले (फोड़ा चिराते समय) दुःख पाता है और अधीर होकर रोता है तथापि रोग को नाश करने के लिये माता बालक के रोने की पीड़ा को कुछ नहीं गिनती ॥ इसी प्रकार श्रीरघुनाथजी दास के हित के लिये उसका अभिमान दूर करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे प्रभु को भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजते हो ? ॥७४॥

विशेष—(१) 'जदपि प्रथम दुख पावइ···'—पहले ही थोड़ी देर चिराने के समय-भर दुःख रहता है, फिर वह सुखी हो जाता है। 'रोवँ बाल अधीर'—बालक को एक माता का ही आधार रहता है, वही निष्ठुर होकर बच्चे के हाथ पकड़कर नश्तर दिलाती है, उसके रोने की पर्वाह नहीं करती। तब बालक का धैर्य छूट जाता है, क्योंकि वह और किसकी शरण ले ?

(२) 'तिमि रघुपति निज दास कर···'—यहाँ श्रीरामजी माता हैं, अभिमान फोड़ा है। विषैले फोड़े के न चिरवाने से विष फैल जाने से बालक की मृत्यु का भय रहता है। वैसे ही भक्त का अभिमान बढ़ने से उसके भव (जन्म-मरण) का भय रहता है। फोड़ा चिराने में बालक रोता है। वैसे ही अभिमान नाश के उपाय में दास को भी दुःख होता है, उसका धैर्य छूट जाता है। अभिमान की दवा अपमान है। सत्कार पाकर यह रोग बढ़ता है, भगवान् ऐसे संयोग कर देते हैं कि जिससे उसका तिरस्कार हो।

'हित लागि'—इसमें उनका लाभ नहीं है, भक्त का ही हित है, भक्त के हित को ही अपना हित समझते हैं, क्योंकि भक्तों में 'अपनापन' है। श्रीनारदजी से कहा भी है; यथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित···सोइ हम करब"; "मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥" यहाँ श्रीनारदजी ने कठोर वचन कहे, शाप दिया, यही उनका रोना है। और "बोले मधुर बचन सुरसाईं।·· साप सीस धरि···" इत्यादि शिशु पीर का न गिनना है। व्याधि नाश से शिशु को सुख होता है। वैसे मोह छूटने से नारदजी भी सुखी हुए; यथा—"बिगत मोह मन हरष बिसेषी॥" यहाँ कहा है।

ऐसे ही और सांसारिक कष्ट भक्त जनों को पड़ते हैं, तब वे यही समझते हैं कि भगवान् कृपा करके हमारे भारी पापों को थोड़े में शुद्ध कर रहे हैं एवं धीरे-धीरे विषयोपभोग से उदासीन कर रहे हैं।

यहाँ तक श्रीराम-स्वभाव कहकर आगे अपनी कथा का प्रारम्भ करते हैं—

राम - कृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस सुनहु मन लाई ॥१॥
जब जब राम मनुज-तनु धरहीं। भक्त - हेतु लीला बहु करहीं ॥२॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बाल-चरित बिलोकि हरषाऊँ ॥३॥

अर्थ—हे गरुड़ ! मैं श्रीरामजी की कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये ॥१॥ जब-जब श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य देह धारण करते हैं और भक्तों के लिये एवं उनके स्नेह वश बहुत-सी लीलाएँ करते हैं ॥२॥ तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और बाल-चरित देखकर प्रसन्न होता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-कृपा आपनि जड़ताई।·· ' श्रीरामजी कृपा करके भक्त के लिये ही लालो

करते हैं। इससे 'राम कृपा' को प्रथम कहा; यथा—'भक्त हेतु लीला बहु करहीं।' आगे कहते ही हैं। पर उसमें उसको मोह हो जाता है, इसीसे अपनी जड़ता को भी साथ ही कहा।

'आपनि जड़ताई' कहते हैं इससे संभव है कि श्रीगरुड़जी मन लगाकर न सुने और विना मन लगाये, उसमें जो श्रीराम-कृपा की प्रधानता है, वह समझ में न आवेगी। मेरी जड़ता पराकाष्ठा की है, वैसे ही प्रभु कृपा भी पराकाष्ठा की है। जड़ता होने पर ही कृपा का अनुभव होता है; यथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥ (दो॰ ६८)। जड़ता में मैंने कृपा को देखा है, इसीसे वह भी कहूँगा।

(२) 'जब जब राम मनुज तनु धरहीं।···' यथा—"जब जब अवध पुरी रघुवीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥" (दो॰ ११४); 'राम मनुज तनु धरहीं'—श्रीराम नामक परब्रह्म साकेताधीश स्वयं आकर नरतन से लीला करते हैं। 'मनुज तनु' में मनुवाले कल्प की ओर संकेत है। श्रीभुशुंडिजी और श्रीशिवजी का ध्यान उसी रूप का है; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं।···जो भुसुंडि मन मानस हंसा।···देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा॰ दो॰ १४५)—यह मनु ने ही कहा है।

'भक्त हेतु'—अर्थात् जो लीला कहता हूँ, वह मेरे लिये की गई थी, पर अपनी जड़ता से मुझे उसमें मोह हो गया।

(३) 'हरषाऊँ'—का कारण आगे कहते हैं—

जन्म - महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥४॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटिसत कामा॥५॥
निज प्रभु - बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥६॥
लघु बायस-बपु धरि हरि-संगा। देखउँ बाल - चरित बहु रंगा॥७॥

अर्थ—जाकर मैं जन्म-महोत्सव देखता हूँ और लुब्ध होकर वहाँ पाँच वर्ष रहता हूँ॥४॥ बालक रूप श्रीरामजी मेरे इष्टदेव हैं, उनके तन में असंख्यों कामदेवों की शोभा है॥५॥ हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी! अपने प्रभु का मुख देख-देखकर मैं अपने नेत्रों को सुफल करता हूँ॥६॥ छोटे कौए का शरीर धरकर भगवान् के साथ-साथ उनके बहुत प्रकार के बाल-चरित देखा करता हूँ॥७॥

विशेष—(१) 'जन्म-महोत्सव···'—जन्म से पहले ही वहाँ पहुँच जाता था, उस समय प्रभु के दर्शन नहीं होते थे; क्योंकि वे सूतिकागार में रहते थे, केवल जन्म महोत्सव के ही दर्शन होते थे। इस अवसर पर विप्र बालक रूप से श्रीशिवजी के साथ जाते थे—बा० दो० १९५ चौ० ४–५ देखिये। आगे यह भी कहा है कि 'लघु बायस बपु' धरकर वहाँ के बाल-चरित का आनन्द देखता हूँ। 'जाई'—अवतार के समय यहाँ से जाता हूँ, उससे पहले बराबर यहीं पर रहता हूँ।

'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'—बाल्यावस्था पाँच वर्ष की मुख्य है, वही रूप मेरा इष्ट है, इससे उतने समय तो लुभाया हुआ रहता हूँ। दिन-रात जाते नहीं जान पड़ते; यथा—"बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।" (बा॰ दो॰ १९५); शेष चरित में सामान्य भाव से आता जाता हूँ, यह भी गर्भित है, अन्यथा अन्यत्र के प्रसंगों से विरोध होगा; यथा—"सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव मुनि बृंद। चढ़ि

बिमान आये सब..." (दो० ११); "बैनतेय सुनु संभु तब, आये जहँ रघुबीर।" (दो० ११), इनमें 'आये' शब्द से कहनेवाले श्रीभुशुंडिजी का वहाँ रहना सिद्ध होता है, नहीं तो 'गये' कहते।

(२) 'इष्ट देव मम बालक रामा।.. '—भाव यह कि मेरे गुरुजी ने मुझे इसी प्रकार के रूप की भावना बतलाई है, यथा—"हरषित राम मंत्र मोहि दीन्हा॥ बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि गुर कृपानिधाना॥" (दो० ११२); जो जिस रूप के ध्यान में रत हो, वही उसका इष्ट है।

(३) 'निज प्रभु बदन...'—'सुफल' अर्थात् सुंदर फल युक्त, श्रीरामजी के दर्शन ही नेत्रों के सुंदर फल हैं। नेत्रों का फल रूप है, पर वह फल सुंदर नहीं है। भगवान् का रूप सुंदर फल है, यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥" (आ० दो० ६)- श्रीसुतीक्ष्णजी, तथा—"निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ।" (आ० दो० २६)- मारीच, इत्यादि।

(४) 'लघु बायस बपु धरि...'—इससे जान पड़ता है कि इनका रूप बड़ा भारी है, पर ये छोटे कौए के रूप से दर्शन के लिये आते हैं। सत्योपाख्यान २६।२४-२६ में लिखा है कि इनका पर्वताकार शरीर है, भयानक भारी चोंच, महादीर्घ पक्ष, ताल वृक्ष के समान महा दीर्घ पैर और उनमें बड़े-बड़े अंकुश के समान नख हैं। 'हरि संगा'—जब शिशु रामजी आँगन में लाये जाने लगते हैं तथा घुटनों और हाथों के बल चलने लगते हैं तब मैं छोटे काक रूप से साथ-साथ रहता हूँ।

यहाँ बाल-चरित देखने में लघुबायस रूप से आना कहा है। इसके पहले श्रीशिवजी के साथ मनुष्य रूप से आया करते हैं। ऊपर लिखा भी गया, तथा—"अवध आजु आगमी एक आयो।..." (गी० बा० १४); में भी कहा गया है। 'बाल चरित बहु रंगा'—'बहु रंग' कहकर बहुत प्रकार के अनेक रसों के चरित्र जना दिये। रंग अर्थात् रस; जैसे कि रणरंग अर्थात् वीररस; यथा—"देखत राम चरित रन रंगा॥ सुभट समर रस दुहुँ दिसि माते।" (लं० दो० ७१), पुन —"मुनिजन धन सर्बस सिव प्राना। बाल केलि रस तेहि सुख माना॥" (बा० दो० १९७), तथा—"बाल चरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहुरंग।" (बा० दो० ४०) भी देखिये। आगे कहा है—"भोजन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।", "नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥" (दो० ७६)—ये ही अनेक रंग हैं।

दोहा—लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ, सो उठाइ करि खाउँ॥
एक बार अतिसय सब, चरित किये रघुबीर।
सुमिरत प्रभु लीला सोइ, पुलकित भयउ सरीर॥७५॥

अर्थ—बालकपन में जहाँ जहाँ फिरते हैं, वहाँ वहाँ मैं साथ-साथ उड़ता हूँ और आँगन में जो जूठन पड़ती है वही उठाकर खाता हूँ॥ एकबार श्रीरघुबीर ने अत्यन्त अधिकाई से सब चरित किये (अर्थात् अन्य बालक वैसा चरित कर ही नहीं सक्ते,)। प्रभु की वह लीला स्मरण करते ही श्रीभुशुंडिजी का शरीर (प्रेम से) पुलकित हो आया॥७५॥

विशेष—(१) 'लरिकाईं जहँ जहँ.. '—पूप आदि पकान्न हाथ में लिये हुए आँगन में फिरते और खाते जाते हैं, उनकी जूठन जहाँ-तहाँ गिरती है, वही मैं खाता हूँ। यहाँ तक नित्य का एक तरह का चरित्र

कहा। आगे—'एकबार अतिसय...' से वह चरित्र कहते हैं, जो एक ही बार हुआ। 'अतिसय' अर्थात् बहुत अद्भुत। 'रघुबीर'—से दयावीरता जनाई कि मुझपर बड़ी दया थी; यथा—"भक्त हेतु लीला बहु करहीं।" पूर्व कहा गया। 'सुमिरत प्रभु-लीला ..'—स्मरण करते ही वह मनोहर बाल रूप सम्मुख आ गया है, जिससे उनकी आँखें बंद हो गईं, रोमांच हो आया, उनकी वाणी रुक गई, तब शिवजी उनकी यह दशा कहने लगे। सावधान होने पर फिर भुशुंडिजी कहने लगे, इसी से आगे—'कहइ भुसुंडि' कहा है।

कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक। राम-चरित सेवक सुखदायक ॥१॥
नृप-मंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनकमनि नाना जाती ॥२॥
बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहि नित चारिउ भाई ॥३॥

शब्दार्थ—खचित = खींचा हुआ, जटित, जड़ा हुआ।

अर्थ—श्रीभुशुंडिजी कहते हैं कि हे पक्षिराज! सुनिये, श्रीरामजी का चरित सेवकों को सुख देनेवाला है ॥१॥ राजा का महल सब प्रकार सुंदर है, वह अनेक प्रकार की मणियों से जड़े हुए सोने का है ॥२॥ कान्तिमान् सुंदर आँगन का वर्णन नहीं किया जा सकता कि जहाँ चारो भाई नित्य खेलते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कहइ भुसुंडि···'—सावधान होने पर जहाँ से छोड़ा था, वहीं से प्रसंग कहते हैं—'सब चरित किये रघुबीर' पर छोड़ा था, फिर—'राम-चरित सेवक···' से उठाया। सेवक उस चरित के रस को जानते हैं, इससे उन्हें उसका यथार्थ सुख मिलता है, अन्यत्र भी कहा है; यथा—"सेवक सालि-पाल जलधर से।"; "राम-चरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित्त, हित बिसेषि बड़ लाहु॥" (बा० दो० ३१–३२); "बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥" (बा० दो० २०२); भाव यह कि मुझे उससे बड़ा सुख मिला।

(२) 'बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई।···'—अँगनाई रुचिर है फिर वह चारों भाइयों की क्रीड़ा-स्थली है इनके सम्बन्ध से उसकी रुचिरता अत्यन्त हो गई है; यथा—"मनि-खंभन्हि प्रतिबिंब झलक, छबि-छलकि है भरि अँगनैया।" (गी० बा० ६); इस अत्यन्त विचित्रता के कारण वह नहीं कही जा सकती। उसमें नित्य नवीन रुचिरता प्रकट होती है। जहाँ एक बार श्रीरामजी के चरणों का स्पर्श होता है, वहीं की शोभा नहीं कही जा सकती, यथा—"परसि चरन रज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी॥··· महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥ पय पयोधि तजि···कहि न सकहिं सुखमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन॥" (अ० दो० १३८); और यहाँ तो चारो भाई नित्य खेलते हैं।

बाल-बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि-सुखदाई ॥४॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा ॥५॥

अर्थ—माता को सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजी बाल-क्रीड़ा करते हुए आँगन मे विचरते हैं ॥४॥ मरकत मणि के समान श्याम-शरीर कोमल है, अंग-अंग में अनेक कामदेवों की छवि है ॥५॥

विशेष—(१) 'जननि-सुखदाई'—माताओं को बड़ी लालसा थी कि ये कब बड़े हों और घुटनों एवं पैरों से ठुमुक-ठुमुक कर चलें ; यथा—"है हो लाल कबहिं बड़े बलि मैया।...", "चलनि कब चलिही चारी मैया।..." (गी॰ बा॰ ८-१) ;—इन पूरे पदों को पढ़िये। उसकी पूर्ति पर माताओं को सुख हो रहा है। 'जननि' से सब माताओं का अर्थ है ; यथा—"छगनं-मगन अँगना खेलत चारु चारी भाई। सानुज भरत लाल लषन राम लोने-लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई॥" (गी॰ बा॰ २०) ; 'विचरत'—आनंद-पूर्वक चलते-फिरते (क्रीड़ा करते) हैं। अभी बाहर नहीं निकलते, इससे माताओं के समक्ष रहते हैं। अतः, उन्हींके सुख की प्रधानता है।

(२) 'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।...'—अब मणि के फर्श पर खेलने लगे, उसके साहचर्य से मरकत की उपमा भी सुन्दर है। इससे पहले गोद और हिंडोल के समय शरीर अत्यन्त कोमल था, इससे भी कठोर मरकत की उपमा वहाँ नहीं दी गई। कमल और मेघ ही की उपमा दी गई है; यथा—"काम-कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज वारिद गंभीरा॥" (बा॰ दो॰ १९७) ; अब कुछ पुष्ट हुए और आँगन में खेलने लगे तब यह उपमा दी गई, यह सँभाल है।

'अंग-अंग प्रति छबि बहु कामा।'—कामदेव अत्यन्त सुन्दर है, इससे असंख्यों को एकत्र करके उपमा में रखना चाहा, पर वे सब एक-एक अंग के समान भी नहीं हुए ; यथा—"नील कंज जलद पुंज मरकत मनि सरिस स्याम, काम-कोटि सोभा अंग-अंग उपरवारी॥" (गी॰ बा॰ १२) ; "अंग अंग पर वारियहि कोटि-कोटि सत काम।" (बा॰ दो॰ २१०)।

नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि-दुति-हरना॥६॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥७॥
चारु पुरट मनि-रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सोहाई॥८॥

दोहा—रेखा त्रय सुंदर उदर, नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध, बाल-बिभूषन चीर॥७६॥

अर्थ—नवीन (प्रफुल्ल) लाल-कमल के समान कोमल लाल चरण हैं, अँगुलियाँ सुन्दर हैं, नखों की चमक चन्द्रमा की कान्ति को हरनेवाली है॥६॥ (चरण तलवों में) वज्र आदि चार अंक (चिह्न) हैं, सुन्दर नूपुर सुन्दर मधुर शब्द करनेवाले हैं॥७॥ मणियों से जड़ी हुई उत्तम सोने की बनाई हुई सुन्दर किङ्किणी का सुन्दर शब्द शोभायमान लग रहा है, वा, सुन्दर शब्दवाली सुन्दर किंकिणी कमर में शोभा दे रही है॥८॥ पेट में सुन्दर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं, नाभी सुन्दर और गहरी है, विशाल वक्षःस्थल पर अनेक प्रकार के बालकों के भूषण और वस्त्र शोभा दे रहे हैं॥७६॥

विशेष—(१) 'नव राजीव'—चरण अन्यत्र प्रायः राजीव के समान ही कहे गये हैं, यहाँ नवीन-अवस्था के सम्बन्ध से 'नव' विशेषण और भी दिया गया है। 'अरुन मृदु'—चरण तो सदा ही मृदु कहे गये हैं ; यथा—"जानकीकरसरोजलालितौ।" (म॰ श्लोक १), पर यहाँ अभी चरणों के बल पर चल नहीं पाते, गिर-गिर पड़ते हैं ; यथा—"परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि-परनि।" (गी॰ बा॰ २५) ; इससे विशेषकर मृदु कहे गये हैं।

(२) 'ललित अंक कुलिसादिक चारी।...'—चरणों में चिह्न तो २४-२४ हैं, पर उनमें ध्वजा, वज्र, अंकुश और कमल, ये चार विशेष प्रकाशित सुन्दर और भक्तों के हितकारी हैं, इससे इन्हें 'ललित' कहा है; यथा—"अरुन-चरन अंकुस धुज कंज कुलिस चिह्न रुचिर भ्राजत अति।" (गी० बा० २२)।

'नूपुर चारु ...'—नूपुर का रुनझुन शब्द मोहक है; यथा—"नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहइ।" (बा० दो० ११८)। "रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुनु करनि।" (गी० बा० २४)। 'मुखर' अर्थात् शब्द, यथा—"नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी।" (अ० दो० ५७)।

(३) 'नाभी रुचिर गँभीर'; यथा—"नाभि गँभीर जान जिहि देखा।" (बा० दो० १६६)—देखिये। 'रुचिर' अर्थात् सुंदर आवर्तयुक्त है; यथा—"नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छवि छीनि।" (बा० दो० १४७)।

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥१॥
कंध बाल-केहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छवि सींवा॥२॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥३॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा॥४॥

शब्दार्थ—कलबल = अस्पष्ट, गिलबिल, जो शब्द पृथक्-पृथक् न जान पड़ें। तोतले वचन वे हैं जो रुक-रुककर टूटे-फूटे शब्दों में उच्चारण किये जाते हैं, दोनों में थोड़ा ही अंतर है, यथा—"कल बल बचन तोतले मंजुल कहि 'मा' मोहि बुलैहौं॥" (गी० बा० ८); "बाल बोल बिनु अरथ के सुनि देत पदारथ चारि।" (गी० बा० ११)।

अर्थ—लाल हाथ (की हथेली), नख और हाथ की अँगुलियाँ मन को हरण करनेवाली हैं। भुजाएँ लंबी हैं और उनमें सुन्दर भूषण हैं॥१॥ कंधे बाल (अवस्था के) सिंह के समान हैं, गर्दन शंख के समान (सुडौल और त्रिरेखा युक्त) है, सुन्दर ठोढ़ी और मुख छवि की सीमा है॥२॥ गिल बिल वचन है, ओष्ठ लाल हैं, उज्ज्वल, श्रेष्ठ और छोटे-छोटे दो-दो दाँत (ऊपर नीचे के) हैं॥३॥ गाल सुन्दर और नासिका मन को हरनेवाली है, समस्त सुखों एवं सबको सुख देनेवाली चन्द्रमा की किरण के समान हँसी (मुसक्यान) है॥४॥

विशेष—(१) 'नख करज'—ऊपर 'पदज नख' कहा गया था, यहाँ करज भी कहा गया। बा० दो० १९८ में जो ध्यान कहा गया है, वहाँ 'करज नख' का वर्णन नहीं है। वहाँ माता की गोद का ध्यान है और यहाँ भुशुण्डिजी के साथ क्रीडा का। इसी से यहाँ बकैयाँ चलने में हाथ का काम पड़ रहा है। भुशुण्डिजी को पूप दिखाते हैं। हाथों से ही उन्हें पकड़ने दौड़ते हैं और इनके शिर पर भी इन्हीं कर-कमलों का स्पर्श हुआ है, इससे ये इन्हें कब भूल सकते हैं। 'बाहु बिसाल' कहकर आजानुबाहु सूचित किया। इन भुजाओं की विशालता भी भुशुंडिजी को खूब मालूम है; यथा—"राम गहन कहँ भुजा पसारी॥ ......ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं 'सप्तावरन भेद करि .....'" (दो० ७९)। इससे विशाल कहा है। 'बिभूषन सुंदर'—यहाँ पर 'विभूषण' में 'वि' उपसर्ग को पृथक् करके उसका विशेष एवं बहुत अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र बाहुओं में बहुत भूषण कहे गये हैं; यथा—"भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (बा० दो० ११८); हाथ के भूषण अगद, पहुँची, कड़ा, कंकण आदि हैं।

(२) 'कंध वाल केहरि''''''—अभी वाल अवस्था है, इसलिये सिंह के बच्चे की उपमा दी गई है, इस उपमा से कंधों को सुगढ़, पुष्ट और उन्नत (उठे हुए) जनाया है; यथा—"सुगढ़ पुष्ट उन्नत कृकाटिका कंबु कंठ सोभा मनं मानति ॥" (गी० ब० १०)। बड़े होने पर सिंह की उपमा दी गई है; यथा "केहरि कंधर बाहु बिसाला।" (बा० दो० ११८); "सिंह कंध आयत उर सोहा।" (सुं० दो० ४४)।

'दर ग्रीवा'; यथा—"रेखें रुचिर कंबु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुखमा की सींवा॥" (बा० दो० १९९)—देखिये।

(३) 'दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे।'; यथा—"मनहुँ अरुन कंज कोस मंजुल जुग पाँति प्रसव, कुंद कली जुगल जुगल परम सुभ्रवारी॥" (गी० बा० २१); बारे अर्थात् छोटे; यथा—"भूपर अनूप मसि बिंदु बारे बारे बार बिलसत सीस पर हेरि हरे हियो है॥" (गी० बा० १०)।

(४) 'ललित कपोल'; यथा—"सुंदर श्रवन सुचारु कपोला।" कपोल की दर्पण से उपमा दी जाती है, पर यहाँ उसे ठीक न मानकर ललित कहकर ही छोड़ दिया।

'सकल सुखद ससिकर सम हासा।'—चन्द्र किरण शीतल, ताप हारक और सुखद होता है, अमृत श्रवता है, पर वह सबको सुखद एवं सब प्रकार के सुख नहीं देता, परन्तु यह 'सकल सुखद' है।

प्रभु की हँसी कृपा का द्योतक है; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १२०); यहाँ तो भुशुंडिजी के इस चरित में हास ही का सब खेल है, आदि अंत मध्य में हास से ही सब किया गया है, जिससे इन्हें सब सुख मिला है।

आदि में—"बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।" (दो० ७८); मध्य में—"बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं।" (दो० ७९); और अंत में—"बिहँसत ही मुख बाहेर आयउँ।" (दो० ८१); इसी लीला में इन्हें आगे ज्ञान, विवेक, विरति, विज्ञान और अविरल भक्ति आदि प्राप्त होंगे, इसीसे 'सकल सुखद' कहा है, हँसी से ही ये सब सुख मिले हैं।

नीलकंज लोचन भव-मोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥५॥
विकट भृकुटि सम श्रवन सुहाये। कुंचित कच मेचक छवि छाये॥६॥
पीत झीनि झगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥७॥

शब्दार्थ—गोरोचन = पीले रंग का एक द्रव्य जो सुगंधित होता है और गौ के हृदय के पास पित्त में से निकलता है, यह मांगलीक, कान्तिदायक और वशीकरण माना जाता है। कुंचित = टेढ़े और बल खाये हुए, छल्लेदार।

अर्थ—नील कमल के समान नेत्र हैं, वे भव बंधन छुड़ानेवाले हैं। ललाट पर गोरोचन का तिलक शोभित है॥५॥ टेढ़ी भौंहें हैं, कान सम और सुन्दर हैं, घुँघराले काले बालों की छवि छा रही है॥६॥ पीली महीन अँगरखी शरीर पर सोह रही है, किलकारी और चितवन मुझे भाती है (भाव किलकारी भर कर मेरी ओर देखते हैं, वह मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है)॥७॥

विशेष—(१) 'नील कंज लोचन'''—प्रायः नेत्रों की उपमा लाल कमल (राजीव) से दी जाती है, किन्तु यहाँ पर माता ने नेत्रों में काजल लगाया है, इसीसे वे नीले देख पड़ते हैं, गीतावली में यह उपमा कई जगह आई है; यथा—"लोचन नील सरोज से, भ्रूपर मसि बिंदु बिराज।" (बा० ११);

"नील नलिन दोउ नयन सुहाये।" (बा॰ २०); तथा—"तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नयन सु खंजन-जातक से। सजनी ससि मे समसील उभै नव नील सरोरुह से बिकसे॥" (क॰ बा॰ १)। 'भव मोचन'; यथा—"नील जलज-लोचन हरि मोचन भय भारी॥" (गी॰ बा॰ २२) "राजीव बिलोचन भव-भय मोचन।" (बा॰ दो॰ २१०)। कमल की उपमा से नेत्रों में करुणा रस की पूर्णता भी लक्षित की गई है; यथा—"भ्रू सुन्दर करुना रस पूरन लोचन मनहुँ जुगल जल जाये।" (गी॰ बा॰ ११), अतः, करुणादृष्टि से आश्रितों के भव-भय को नाश करते हैं।

'भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।'—श्याम ललाट पर पीला कांति-युक्त तिलक मेघ में बिजली एवं सूर्य किरण की-सी शोभा देता है; यथा—"रंजित अंजन कंज बिलोचन। भ्राजत भाल तिलक गो-रोचन॥" (गीता बा॰ २१); "चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।" (गी॰ बा॰ १०)। इसमे 'चिर रुचि' का अर्थ बहुत काल कान्ति युक्त रहने का है।

(२) 'बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाये।'—भौंहों की टेढ़ाई ही उनकी शोभा है; यथा—"मुकुर निरखि मुख राम भ्रू, गनत गुनहिं दै दोप। तुलसी से सठ सेवकन्हि, लखि जनि परइ सरोप॥" (दोहावली १८७), इसलिये इसकी शोभा वर्णन मे टेढ़ाई ही कही जाती है। 'सम' अर्थात् भौं और कान दोनों के जोड़े समान (बराबर) हैं, यह दीपदेहली है। भौंहे कान पर्यन्त हैं, इसीसे भौं के साथ ही कान को भी कहा है।

(३) 'पीत झीनि झगुली···'—श्याम शरीर की छटा झीनी झगुली से देख पड़ती है, मानों मेघ पर स्थिर होकर बिजली छाई हो, यह अद्भुत छटा है; यथा—"उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाये। नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छपाये॥" (गी॰ बा॰ २३)।

'किलकनि चितवनि भावति मोहीं।'—भाव यह कि मुझे पकड़ने के लिये बार-बार किलकारी भरते और बार-बार मेरी ओर देखते थे, इन दो बातों से मुझे बहुत सुख मिला है, इससे ये भावती हैं; यथा—"किलकत मोहिं धरन जब धावहिं। चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं॥···जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितइ पराहिं॥" यह आगे कहते हैं।

'भावति मोहीं'; यथा—"झुकनि झाँकनि, छाँह सों किलकनि, नटनि हठि लरनि। तोतरी बोलनि बिलोकनि मोहनी मन हरनि॥" (गी॰ बा॰ २५); अर्थात् इनसे मन ही मोह जाता है। अतः, कहते नहीं बनतीं, केवल मन को भाती हैं।

रूप-रासि नृप - अजिर - बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥८॥
मोसन करहिं बिबिधि बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥९॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं॥१०॥

अर्थ—राजा श्रीदशरथजी के आँगन में विचरण रूप क्रीड़ा (एवं सभी बालक्रीड़ा) करनेवाले रूप की राशि श्रीरामजी अपनी परछांई देखकर नाचते हैं॥८॥ मुझसे भाँति-भाँति की अनेक बाल-क्रीड़ा करते हैं जिनका वर्णन करते मुझे अत्यन्त लज्जा लगती है॥९॥ जब किलकारी मारते हुए मुझे पकड़ने

दौड़ते और मैं (पक्षी स्वभाव से) भाग चलता तब मुझे मालपुआ दिखाते (पूप का लोभ दिखाते हैं कि ले) ॥१०॥

विशेष—(१) 'रूप रासि'; यथा—"अनुपम बालक देखिन्ह जाई। रूप रासि गुन कहि न सिराई॥" (बा॰ दो॰ ११२); रूप रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री।" (गी॰ बा॰ १०४), "अंग-अंग पर मार निकर मिलि छबि समूह लै लै जनु छाये।" (गी॰ बा॰ २३)।

आप रूप के खजाना हैं, इनकी सौन्दर्य-राशि के छिटके हुए दानों से यह सारी शोभा है, जो संसार में दिखती है। 'नृप अजिर बिहारी'; यथा—"मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ-सो दसरथ अजिर-बिहारी॥" (बा॰ दो॰ १११); 'बिचरत अजिर जननि सुखदाई।' उपक्रम है और यहाँ नृप अजिर बिहारी' उपसंहार है।

(२) 'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी।'; यथा—"कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत।" (क॰ बा॰ ४) आँगन और उसके खंभे मणिमय हैं, उनमें खड़े होने पर प्रतिबिंब में अपना सा दूसरा बालक देख पड़ता है। उसे देखकर नाचने लगते हैं और फिर प्रतिबिंब को भी वैसा ही नाचते देखकर और भी नाचते हैं। प्रतिबिंब की लीला सत्योपाख्यान अ० २५० में बहुत कही गई है। तथा—"लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।" (गी॰ बा॰ २४), "गहि मनि-खंभ डिंभ डगि डोलत।···किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥" (गी॰ बा॰ २८)। "यक टक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि हरषि···" (गी॰ बा॰ १२)।

(३) 'बरनत चरित होति मोहि ब्रीड़ा।'—लज्जा का कारण यह कि सच्चिदानंद विग्रह प्रभु में प्राकृत बालक के-से चरित कहने में लज्जा लगती है कि लोग इसे अयोग्य कहेंगे। जैसे कि आगे स्वयं कहते हैं यथा—"कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह।" यही समझकर सकुच लगती है। यह भी भाव है कि प्रभु तो मुझे पकड़ने को दौड़ते और मैं मूर्ख उनसे भागता था, यह लज्जा की बात है कि जिसकी समीपता के लिये लोग प्रयत्न करते हैं, मैं मूर्ख उनके स्वयं प्राप्त होते हुए भी उनसे दूर भागता था; यथा—"किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप दिखावहिं॥" यह आगे कहा ही है। तथा—"राज मराल बिराजत बिहरत जे हर हृदय तड़ाग। ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग॥" (गी॰ बा॰ २६)।

श्रीशिवजी ने भी कहा है—"जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होति मोहि ब्रीड़ा॥" (दो॰,५७), पर यहाँ 'बरनत' और वहाँ 'समुझत' का भेद है। भेद का आशय यह है कि वहाँ श्रीशिवजी ने चरित का आवश्यक अंग मानकर कहा है, न कहते तो चरित अधूरा ही रह जाता। परन्तु उन्हें समझकर लज्जा लगती थी कि कहाँ प्रभु सच्चिदानंद हैं, यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई।" (दो॰ ६४), और कहाँ तुच्छ राक्षस के हाथ उनका बँधना, बड़ी लज्जा की बात है और यहाँ परम अधिकारी श्रोता श्रीगरुड़जी के सामने इन्हें कहना पड़ता है।

श्रीशिवजी के प्रसंग में 'ब्रीड़ा' है और यहाँ 'अति ब्रीड़ा' है। क्योंकि वहाँ एक ही चरित वैसा था। पर यहाँ तो सब बाल-चरित 'अतिशय' के हैं और यहाँ स्वयं वक्ता के साथ की क्रीड़ा हुई और वहाँ दूसरे के साथ की क्रीड़ा है, श्रीशिवजी को कहना भर है।

दोहा—आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजत रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितइ पराहिं॥

प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भजउ मोहि मोह ।
कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह ॥७७॥

अर्थ—समीप आने पर प्रभु हँसते हैं, भागने पर रोते हैं और जब (रोने पर उनके) चरण पकड़ने के लिये पास जाता हूँ, तब वे (मेरी ओर) फिर-फिरकर देखते हुए भागते हैं (भय से भागते हैं और घूम-घूमकर देखते हैं कि मैं आता हूँ कि नहीं), ऐसे साधारण बच्चों के समान चरित देखकर मुझे मोह हुआ कि चित-आनन्द पूर्ण प्रभु यह कौन चरित करते हैं ? ॥७७॥

विशेष—(१) 'आवत निकट हँसहिं प्रभु···'—मुझे अपना खेलौना समझते थे, इसीसे भाग जाने से रोते थे। रोकर माता आदि को जनाते थे कि इसे वे ला दें, हम इसके साथ खेलेंगे और न मिलने से रोते थे। पूप दिखाने पर यदि समीप आ गया तो प्रसन्न होकर हँसने लगते और यदि भागता था तो दूसरा उपाय रोने का करते थे। 'चितव पराहिं'—डरकर भागते थे कि चोंच से कहीं काट न खाय, फिर-फिरकर देखते हैं, इससे भी कि उदास होकर चला न जाय।

(२) 'प्राकृत सिसु इव लीला···'—इनका चरित प्राकृत बालक के समान देखा कि पकड़ने दौड़ते हैं, भागने पर पूप दिखाते हैं, पास आने पर हँसते और भागने पर रोते हैं। चरण-स्पर्श के लिये पास जाने पर डरकर भागते हैं, इत्यादि देखकर मोह हो गया कि वे प्रभु तो सच्चिदानन्द घन हैं, उनका तो ऐसा चरित नहीं होना चाहिये। क्या कहीं प्राकृत बालक में मेरी ईश्वर बुद्धि तो नहीं हो गई ?

ऐसे ही संदेह श्रीगरुड़जी को भी हुआ; यथा—"चिदानंद संदोह, राम बिकल कारन कवन।" (दो० ५८); वैसा ही यहाँ भुशुण्डिजी का भी संदेह है; यथा—"कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह।" इससे यह भी जान पड़ता है कि भुशुण्डिजी को प्रभु के चरित के ज्ञान का कुछ अभिमान हो गया था, जिससे इन्होंने इस माधुर्य को उनके अयोग्य जाना और तर्क किया।

"हरिमाया जिमि मोहि (भुशुंडि को) नचावा"—प्रकरण

एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ॥१॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं ॥२॥
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना ॥३॥

अर्थ—हे पक्षिराज श्रीगरुड़जी ! इतना (संदेह) मन में लाते ही श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से मुझे माया व्याप्त हो गई ॥१॥ (परन्तु) वह माया मुझे दुःखदायिनी नहीं हुई और न अन्य जीवों के समान मुझे संसार में डालनेवाली ही हुई ॥२॥ हे नाथ ! यहाँ कुछ और ही कारण है, हे हरि वाहन श्रीगरुड़जी ! उसे सावधान होकर सुनो ॥३॥

विशेष—(१) 'रघुपति प्रेरित...'—भगवान् के अनन्य भक्तों पर दूसरे की माया नहीं लगती, यथा—"बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥" (अ० दो० ११४);

वे अपने भक्तों के अभिमान छुड़ाने एवं अपना विशेष ऐश्वर्य का ज्ञान कराने के लिये अपनी ही माया नियुक्त करते हैं।

(२) 'सो माया न दुखद मोहि काहीं।'—भाव यह कि ऐसे प्रसंगों पर भी औरों को दुःखद हुई है, जैसे कि श्रीनारदजी को श्रीपति की माया दुःखद हुई थी; यथा—"श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥" (बा० दो० १२८); मारकण्डेय मुनि को भी इससे दुःख हुआ था—अ० दो० २८५ चौ० ६–७ देखिये। पर मुझे प्रभु-कृपा से माया दुःखद नहीं हुई। इसका कुछ और ही कारण है उसे भुशुंडिजी, आगे स्वयं कहेंगे।

'आन जीव इव संसृत नाहीं।'—संसृत दुःख; यथा—"तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्मगुननि भरे।" (दो० १३); भगवदाश्रितों को यह माया-दुःख नहीं होता, यह भी आगे स्वयं भुशुंडिजी ही कहेंगे।

(३) 'सुनहु सो सावधान...'—बार-बार 'सुनहु' कहकर सचेत करते हैं। 'हरिजाना' कहकर अधिकारी सूचित किया।

ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावश्य जीव सचराचर॥४॥
जौं सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर-जीवहिं भेद कहहु कस॥५॥

अर्थ—केवल एक श्रीसीतापति श्रीरामजी ही अखंड ज्ञान स्वरूप हैं और जड़ चेतन सहित जितने भी जीव हैं, वे सब माया के वश हैं॥४॥ यदि सब जीवों का एक-सा अखंड ज्ञान रहे तो कहिये ईश्वर और जीव में भेद कैसा॥५॥

विशेष—(१) 'ज्ञान अखंड' के जोड़ में 'ज्ञान एक रस' कहकर दोनों का एक अर्थ जनाया। यह भी सूचित किया कि ईश्वर का सदा एक रस ज्ञान रहता है और जीव का ज्ञान किसी संयोग से खंडित भी हो जाता है। ऐसा कहने का कारण यह कि जो श्रीभुशुंडिजी ने कहा—"रघुपति प्रेरित व्यापी माया।" उसपर श्रीगरुड़जी को संदेह हो सकता है कि आप ऐसे चुने-चुने भक्तों को भी क्या माया व्यापती है? उसका समाधान स्वयं श्रीभुशुंडिजी करते हैं कि अखंड-ज्ञान तो एक सीतावर का ही है और चराचर जीव सभी मायावश हैं; यथा—"जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥" (बा० दो० १९९); 'माया वश्य जीव'; यथा—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥ सो माया बस भयो गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥" (उ० दो० ११६); तथा—"माया ईस न आपु कहँ ·" (आ० दो० १५)। में भी जीव को अल्पज्ञ और ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा गया, वहाँ भी देखिये। जीव-ईश्वर के इस भेद का कारण आगे कहते हैं—

(२) 'जौं सब के रह ज्ञान···'—अर्थात् ईश्वर सच्चिदानंद रूप है और जीव भी, यही अखंड और सखंड ज्ञान को ही तो भेद है। यदि जीव का भी सतत एक रस ज्ञान का स्वभाव होता, तो दोनों की दो संज्ञाएँ क्यों होतीं? जीव का ज्ञान ईश्वर की सम्मुखता से एक रस रहता है, उसमें त्रुटि होने पर वह माया वश हो जाता है और उसका ज्ञान खंडित हो जाता है। ऊपर 'ईश्वर अंस जीव···' लिखा गया, उसका अर्थ यह है कि जीव सच्चिदानंद स्वरूप है और वह ईश्वर का अंश है। जिसका अंश जो पदार्थ होता है, वह उसके लिये होता है। अंश का अर्थ भाग, हिस्सा होता है, जो वस्तु जिसके भाग की होती है, वह उसीके

उपभोग के लिये होती है। वैसे ही अंश रूप जीव ईश्वर के लिये हैं, उसका भोग्य है। जैसे हमारे छाता, जूता आदि हमारे उपभोग के लिये हैं। वैसे सब जीव ईश्वर के भोग्य अर्थात् शेष हैं। इन्हें अपना शेषत्व सँभाले रहना चाहता था। परन्तु भूल गये, इसीसे माया वश हुए, यह भी उसी 'ईश्वर अंस···' के साथ ही कहा गया है।

जैसे कि श्रीलक्ष्मणजी शेषत्व सँभाले रहे तब शूर्पणखा के नाक-कान काटने की बाधा रूप खरादि का युद्ध श्रीरामजी ने ही ले लिया और लंका में मेघनाद के युद्ध में, इन्हें उसपर क्रोध था, इससे अज्ञान से श्रीरामजी के शिर नहीं नवाकर यों ही चले गये, यही स्वतंत्रता रूपा स्वभाव बाधा हुई। जिससे मूर्च्छित हुए, यही मोह है। पर श्रीरामजी ने करुणा करके फिर रक्षा (दवा से) की। ऐसे ही इस बाधा पर अन्य जीवों की भी विद्या माया रूपा दवा से रक्षा करते हैं। इस प्रसंग में भी विद्या माया से आगे भुशुंडिजी की रक्षा करना स्पष्ट कहा गया है।

माया वश होने पर जीवों का जो भेद अभिमान के द्वारा अज्ञान से दुःखद होता है, उसे आगे कहते हैं—

मायावश्य जीव - अभिमानी। ईस - वश्य माया गुन-खानी ॥६॥
परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥७॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥८॥

अर्थ—माया के वशीभूत जीव (तज्जन्य कर्मों का) अभिमानी होता है (पर इसका अभिमान भ्रम से है, क्योंकि जिसके गुणों के द्वारा कर्म हुए हैं वह) गुणखानि (सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की मूर्त्ति) माया ईश्वर के वश है, अर्थात् उसका ईशन (प्रेरण) श्रीरामजी ही करते हैं ॥६॥ जीव पराधीन (माया के वश) है और भगवान् स्वतंत्र हैं, जीव अनेक हैं और श्रीपति (भगवान्) एक हैं ॥७॥ यद्यपि माया कृत भेद असत्य है, तथापि बिना भगवान् (की कृपा) के करोड़ों उपायों से भी नहीं जा सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'मायावश्य जीव···'—अज्ञान से ही जीव प्रकृति-परिणाम शरीर का अभिमानी होकर फिर तज्जन्य कर्मों का अभिमानी होता है। पर विचार करने से इसका अभिमान भ्रम से है, क्योंकि प्रकृति के गुणों से कर्म होते हैं; यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥···प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।" (गीता ३।२७–२९); अर्थात् प्रकृति के गुणों से ही सब प्रकार के कर्म होते हैं, अज्ञानी जीव अहंकार से अपनेको कर्त्ता मानते हैं।···प्रकृति के गुणों में मोहित हुए जीव ही गुण-कर्म में आसक्त होते हैं। प्रकृति के गुणों का व्यापार ईश्वर के बल एवं प्रेरणा से होता है; यथा—"प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।" (आ॰ दो॰ १४); "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०); तब उन कर्मों का कर्त्ता ईश्वर ही हो सकता है, पर वह तो निर्लिप्त रहता है; यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४)। जड़ा प्रकृति नियाम्य है। अतः, कर्त्री नहीं हो सकती। जीव भी ईश्वर का नियाम्य है; यथा—"एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषत···" साधुकर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो (कौषी १३।१)" यह श्रुति है कि भला-बुरा कर्म ईश्वर ही कराता है। अतः, कर्म संकल्प करके निमित्त मात्र होने ही पर यह अज्ञान से कर्म का अभिमानी बन गया, इसीसे परवश हुआ, यही आगे कहते हैं—

(२) 'परवस जीव स्ववस भगवंता'; यथा—"तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करन

गाँठि गहि दीन्हीं ॥ ताते पर बस परो अभागे ।" (वि० १३१), यथा—"एप एव साधु कर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपति एप एवासाधु कर्म कारयति न यमधो निनीपति ॥" भगवान् स्ववश है, यथा—"परम स्वतंत्र न सिर पर कोई ।" (बा० दो० १३६), "निजतंत्र नित रघुकुलमनी ।" (बा० दो० ५१)। जीव अभिमान करने से मायावश होता है, यथा—"चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥ श्रीपति निज माया तब प्रेरी ।" (बा० दो० १२८)।

'जीव अनेक एक श्रीकंता ।'—जीव अपने-अपने कर्मानुसार अनेक प्रकार की देहवाले होते हैं और श्रीकंत (उपर्युक्त 'ज्ञान अखंड एक सीता वर') एक ही, ऐसे ही आगे (इसी प्रसंग में) विद्या माया द्वारा देखे भी जाते हैं ; यथा—"लोक लोक प्रति भिन्न विधाता ।" से "भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति विचित्र हरि जान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखा आन॥ सोइ सिसुपन सोइ सोभा, सोइ कृपाल रघुबीर। भुवन भुवन देखत फिरेउँ, प्रेरित मोह समीर॥" (उ० दो० ८१), अर्थात् अनंत जीव अनंत ब्रह्मांडों में कर्माभिमानी होने से अनंत प्रकार की देहवाले होते हैं। जीव स्वरूप से भी परस्पर अनन्त हैं, यथा—"स चा नन्त्याय कल्पते ।" (श्वे ५।९)। पर श्रीकंत नहीं, क्योंकि वे अखंड ज्ञान वाले हैं। ईश्वर की अनेक देहों में भेद नहीं है, उसके सभी स्वरूप षटैश्वर्य पूर्ण हैं। यहाँ जीव और ईश्वर में 'अल्पज्ञ-सर्वज्ञ' भेद पुष्ट हुआ।

जीवों के इसी कर्माभिमान जन्य देह भेद के प्रति आगे कहते हैं कि—

(३) 'मुधा भेद जद्यपि कृत माया । · '—यह भेद मिथ्या ही है—माया कृत है, अर्थात् माया (प्रकृति) के गुणों से हुए कर्मों के अज्ञान से अभिमानी होने पर हुआ है। एक ही तरह का चेतन, अनेक देहों में अनेक प्रकार से देख पड़ता है। तथापि भगवान् के बिना यह अज्ञान जन्य दोष निवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि—"जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटति कठिनई ॥" (उ० दो० ११६), इस कठिनाई का उपाय उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ।' वे हरि कैसे मिटाते हैं, इसीको आगे कहते हैं, यथा—"रामचंद्र के भजन बिनु " अन्यत्र भी कहा है यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (गीता ७।१४)।

दोहा—रामचंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान ।
ज्ञानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान ॥
राकापति षोडस उअहिं, तारागन समुदाइ ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रबि राति न जाइ ॥७८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी के भजन बिना जो कोई कैवल्य मुक्ति चाहे, वह मनुष्य ज्ञानवान् होने पर भी बिना पूँछ और सींग का पशु है ॥ सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो और समस्त तारागण के समुदाय का भी उदय हो तथा जितने पर्वत हैं, उनमें दवाग्नि लगा दी जाय, तब भी बिना सूर्य के रात नहीं जा सकती ॥७८॥

विशेष—(१) 'पसु बिनु पूँछ बिषान'—निर्वाण पद श्रीरामजी के भजन से सुगम में प्राप्त हो जाता है, यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥" (दो० ११८), पर

वे मनुष्य ऐसे सुलभ साधन को छोड़कर घुणाक्षर न्याय की सिद्धिवाले अत्यन्त दुःखद साधनों को करते हुए उस पद को चाहते हैं। उस रीति से (ज्ञान-दीपक के साधन की रीति से) यदि वे उस पद को प्राप्त भी हों तो वह भगवान् को प्रिय नहीं हैं; यथा—"ज्ञान अगम ··करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगति हीन मोहि प्रिय नहि सोऊ॥" (दो० ४४); इससे उस व्यर्थ प्रयास से वे विना सींग-पूँछ के पशु कहे गये हैं। विना सींग-पूँछ के पशु हूँडा-बाँड़ा होने से शक्ति-हीन और शोभा-हीन कहे जाते हैं। वैसे वे ज्ञानी भी अशोभित हैं और भगवान् के आश्रित न होने से सामर्थ्यहीन भी हैं; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥" (अ० दो० २७६)। पशु-चेतन होते हुए भी अज्ञानी होते हैं, वैसे ही ज्ञान होते हुए भी वे मनुष्य अज्ञानी की तरह हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"अस प्रभु छाँड़ि भजहि जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥" (सुं० दो० ४१)।

(२) 'राकापति षोड़स···'—चन्द्रमा में १६ कलाएँ हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ पुष्टि, ५ तुष्टि, ६ रति, ७ धृति, ८ शशनी, ९ चंद्रिका, १० कान्ति, ११ ज्योत्सना, १२ श्री, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूर्णा और १६ पूर्णामृता—(हिन्दी-शब्दसागर)। अन्यत्र कुछ भेद से भी कही गई हैं; यथा—"अमृतां मानदां पुष्टिं तुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा। लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हंसवतीं ततः॥ छायां च पूरणीं वामाममा चन्द्रकला इमः॥" (शारदातिलक); ये कलाएँ क्रमशः कृष्णपक्ष में क्षीण होती हैं और शुक्लपक्ष की १५ तिथियों मे क्रमशः एक-एक कला प्राप्त होती हैं। अमृत कला चन्द्रमा में स्वाभाविक है।

यहाँ पूर्ण चन्द्रमा के समान योग साधन, तारागण रूप शम, दम आदि गुण और सकल गिरि रूप सारे सद्ग्रंथ हैं; यथा—"सद्ग्रंथ पर्वत कंदरन्हि महँ···" (बा० दो० ८४); उनके अभ्यास से ज्ञान रूपी प्रकाश होना, पहाड़ों की अग्नि का प्रकाश है।

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥१॥
हरि - सेवकहि न ब्याप अविद्या। प्रभु-प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥२॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद - भगति बाढ़इ बिहंगबर॥३॥

अर्थ—ऐसे ही, हे श्रीगरुड़जी! विना हरि-भजन के जीवों का दुःख नहीं मिटता॥१॥ भगवान् के सेवक को अविद्या माया नहीं व्यापती। प्रभु की प्रेरणा से उसे विद्या माया व्यापती है॥२॥ इसीसे दास का नाश नहीं होता, हे पक्षि-श्रेष्ठ! (उससे) भेद-भक्ति बढ़ती है॥३॥

विशेष—(१) 'ऐसेहि बिनु हरि भजन ···'—'ऐसेहि' अर्थात् जैसे पूर्ण चन्द्र आदि से रात नहीं जाती, वैसे ही योग रूपी पूर्ण चन्द्र और शम दमादि रूपी तारागण एवं शास्त्रोक्त ज्ञान (तत्त्व मस्यादि वाक्य जन्य ज्ञानमात्र) से जीवों का क्लेश नहीं मिटता। वह तो हरि भजन-रूपी सूर्य से ही नाश होता है; यथा—"जप, जोग, बिराग, महामख-साधन, दान, दया, दम कोटि करै। मुनि, सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै॥ निगमागम ज्ञान, पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग-पुंज जरै। मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ विना दुख कौन हरै॥?" (क० उ० ५५)। इस छंद के तीन चरणों को भी क्रमशः चन्द्र, तारागण और गिरि-दव ले सकते हैं।

'बिनु हरि भजन' की जगह पुरानी प्रतियों मे 'हरि बिनु भजन' भी पाठ मिलता है। जिसका अर्थ होगा—'हरि विना और उनके भजन विना' अर्थात् भगवान् की कृपा होने से भजन होता है, तो

क्लेश मिटता है। पर विनोक्ति को मध्य में रखकर ऐसा कथन अन्यत्र नहीं देखा जाता और यह सरल भी नहीं है। ग्रंथकार की प्रतिज्ञा है—"सरल कवित कीरति बिमल…" इससे 'बिनु हरि भजन' ही समीचीन पाठ है। यहाँ अन्य साधनों की अपेक्षा हरि-भजन की श्रेष्ठता कहने का प्रसंग है, कुछ भजन का साधनांग भी दिखाने की उतनी आवश्यकता नहीं है।

'कलेसा'; यथा—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।" (यो० सू० २।३); अर्थात् अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु शंका)—ये सब दुःख हरि भजन से मिट जाते हैं।

आगे हरि भजन से निश्चय ही दुःख मिटने का कारण कहते हैं—

(२) 'हरि सेवकहि न…'—ऊपर कहा गया था—"सो माया न दुखद मोहि काहीं।" (दो० ७४); उसका कारण यहाँ कहते हैं कि हरि-सेवक को कहीं अभिमान आदि दोष होने पर माया भी व्यापती है, सो विद्या ही, वह भी हरि की प्रेरणा से। स्वयं नहीं, क्योंकि वह भक्ति से डरती है; यथा—"राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥" (दो० ११५)

विद्या माया का व्यापार यह है कि वह जीव के प्रति भगवान् के शरीर रूप में जगत् की स्थिति-प्रवृत्ति दृढ़ कर देती है। इसका स्वरूप आ० दो० १४ चौ० ६ एवं बा० दो० ११७–११८ पर कहा गया है। उससे यह निश्चय हो जाता है—"मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३)। यह सेवक स्वामि भाव की भेद भक्ति नित्य बढ़ती है। इससे भक्त का नाश नहीं होता, यही कहते हैं—'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंग बर॥' अन्यत्र भी कहा है—"सोइ है खेद जो बेद कहै न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।" (क० उ० ६०); तथा—"कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गीता ९।३१)।

यहाँ दास का नाश होना क्या है? इसका उत्तर गीता २।६२–६४ में समझाया गया है कि भक्ति से रहित होने पर जीव की इन्द्रियाँ विषयों की ओर दृष्टि करती हैं, तब उससे काम उत्पन्न होता है, उसकी असिद्धि पर क्रोध होता है, क्रोध से सम्मोह और उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य की स्मृति नहीं रहती। पहले की सोची-समझी बातें भी भूल जाती हैं। तब वह कर्त्तव्य को छोड़कर अकर्त्तव्य मे प्रवृत्त हो जाता है। उसके व्यवहार में कटुता, कायरता, हिंसा, दीनता, जड़ता आदि दोष आ जाते हैं। वह अपनी पूर्व की स्थिति से गिर जाता है और फिर मरने के पीछे नीच योनियों में अथवा नरक में पड़ता है, यही उसका नाश होना है।

"सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृति नाहीं॥" (दो० ७७), उपक्रम है और यहाँ—'ताते नास न होइ दास कर।…' उपसंहार है।

भ्रम ते चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेखा॥४॥
तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु-पिताहू॥५॥
जानु पानि धाये मोहि धरना। श्यामल गात अरुन कर चरना॥६॥
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥७॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मुझे भ्रम से चकित (आश्चर्यान्वित) देखा, तब जो हँसे, वह विशेष चरित सुनो ॥४॥ उस कौतुक का भेद किसी ने नहीं जाना, भाइयों और माता-पिता ने भी नहीं जाना ॥५॥ श्याम शरीर और लाल-लाल हथेली और तलवेवाले प्रभु मुझे पकड़ने के लिये घुटनों और हाथों के बल दौड़े ॥६॥ हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी ! तब मैं भाग चला और श्रीरामजी ने मुझे पकड़ने के लिये भुजा फैलाई ॥७॥ जैसे-जैसे मैं आकाश में दूर उड़ता वैसे-वैसे वहाँ अपने पास ही हरि-भुजा को देखता था ॥८॥

विशेष—(१) 'जानु पानि धाये···'; यथा—"ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग।" (गी० बा० २६); पहले कौआ भूमि पर ही चलता था, जब वह उड़कर भागा तब आपने भुजा फैलाई। प्रभु तो जहाँ के तहाँ ही रहे, केवल भुजा ही बढ़ती चली जाती थी।

(२) 'उरगारी' का भाव यह कि मैं वैसे ही भय से एवं जोर से भाग चला जैसे आपके दौड़ने पर प्राण-रक्षा के लिये सर्प भागता है।

'भ्रम ते चकित राम···'—पूर्व कहा गया था—"देखि भयउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह॥ एतना मन आनत खग राया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥" (दो० ७७); वहीं से प्रसंग ले रहे हैं, वहाँ का 'कवन चरित्र करत प्रभु···' का प्रसंग ही भ्रम से चकित होना है।

'बिहँसे सो सुनु···'—ऊपर कहा था—"रघुपति प्रेरित ब्यापी माया।" और यहाँ उसी को 'बिहँसे सो सुनु···' से कहा है ; अर्थात् श्रीरामजी का हँसना ही माया को प्रेरित करना है, कहा भी है—"माया हास बाहु दिगपाला।" (लं० दो० १४); ऐसे ही कौशल्याजी के प्रति भी हँसकर माया की प्रेरणा की थी ; यथा—"प्रभु हँसि दीन्हि मधुर मुसुकानी॥ देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।" (बा० दो० २०१)।

माधुर्य में हँसने का भाव यह भी है कि जो लोमशजी से भी भक्ति पक्ष में न हारनेवाला है, वह भी आज इष्ट के विषय में ही संदेह कर रहा है कि यह चरित्र कैसा ? इनके योग्य तो नहीं है। क्या ये कोई प्राकृत मनुष्य तो नहीं हैं ? 'मोहि देखा' इनकी चेष्टा से श्रीरामजी का जानना ही उनका देखना है। प्रभु का देखना और जानना एक ही है।

ऊपर 'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।' कहा है, उसे ही यहाँ 'तेहि कौतुक' कहकर जनाया कि माया का चरित आपका खेल है ; यथा—"मुनि कर हित मम कौतुक होई।" (बा० दो० १२८)।

'सो सुनु चरित' कहकर यहाँ से माया का विशेष चरित प्रारंभ करते हैं। पूर्व "सुनहु सो सावधान हरि जाना।" (दो० ७७); से यहाँ तक 'सो माया न दुखद मोहि काहीं।' का कारण कहते थे, अब माया का चरित प्रारंभ करते हैं।

'तेहि कौतुक कर मरम···'—मर्म किसी के न जानने का कारण यह कि जिस रूप से खेल करते थे और हँसे थे, वह वहीं पर रहा, दूसरे रूप से काकजी के साथ अदृश्य रूप में जाते थे ; यथा—"जहासैवैक रूपेण द्वितीये न च दृष्टवे।" (सत्योपाख्यान); जिसे श्रीभुशुंडिजी ही जानते थे, जैसे नारद-मोह प्रसंग में उनके वानर रूप को और सब लोगों ने नहीं देखा, केवल नृप-कन्या और हरगणों ने ही देखा था, जिनका लीला मे प्रयोजन था।

'न काहू'—माता, पिता और भाइयों के अतिरिक्त और भी जो दर्शक लोग थे, वे परिजन और सुर सिद्ध मुनि आदि थे, उन्हें 'काहू' शब्द से कहा गया है ; यथा—"ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग॥ सिद्ध सिहात सराहत मुनिगन बड़े भूप के भाग।...परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन

प्रेम-प्रयाग।" (गी० बा० २१), "देखत नभ पन ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराये।" (गी० बा० २१)।

'राम गहन कहँ...'—पूर्व इन्होंने कहा था—'राम कृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस...।' उसे यहाँ दिखाते हैं कि श्रीरामजी तो कृपा करके मुझे ग्रहण करना चाहते हैं, उनके हाथों में तो सहर्ष चला जाना था, पर मैं उन्हीं से डरा कि कहीं पकड़ न लें, यही अपनी जड़ता है।

(३) 'जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ...' यह चरित सत्योपाख्यान २६।६–२२ में विस्तार से कहा गया है, वहीं देखना चाहिये।

दोहा—ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं, चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब, राम-भुजहि मोहि तात॥
सप्तावरन भेद करि, जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि, ब्याकुल भयउँ बहोरि॥७९॥

अर्थ—मैं ब्रह्मलोक तक गया फिर उड़ते हुए ही पीछे की ओर देखा तो, हे तात! श्रीरामजी की भुजा में और मुझमें कुल दोही अंगुल का बीच था॥ सातों आवरणों को भेद कर जहाँ तक मेरी गति थी, वहाँ तक गया। वहाँ भी प्रभु की भुजा को देखकर फिर मैं व्याकुल हो गया।।७९॥

विशेष—(१) 'ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं...'—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः और तपः लोक को पार करने पर सातवाँ सत्य (ब्रह्म) लोक मिलता है। सत्यलोक ही में सनकादिक लोक, उमा लोक और शिव लोक हैं। सत्यलोक से ब्रह्मांड के आवरण तक १६२ कोटि योजन का अन्तराया है, जिसके बीच में ये तीनों लोक हैं। शिवलोक के बाद फिर सप्तावरण प्रारंभ होते हैं।

पहले 'राम भुजहि' कहा, फिर जब अपनी गति उस भुजा के समक्ष थक गई, तब उसे 'प्रभु भुज' इस समर्थ वाचक पद से कहा है।

(२) 'ब्याकुल भयउँ बहोरि'—पहले जब ब्रह्मलोक तक जाकर पीछे की ओर देखा था, तब भी मैं व्याकुल हुआ, अब फिर व्याकुल हो गया। यह भाव 'बहोरि' का दुबारा अर्थ लेने पर होगा।

'जुग अंगुल कर बीच सब'—अंगुल देश की सबसे छोटी एकाई है और घड़ी काल की एकाई है। इस विद्यामाया के कौतुक में सेवक-सेव्य भाव की दृढ़ता रहने से प्रभु का नित्य अपने समीप ही रहना जनाया, प्रभु किंचित् भी अलग नहीं हुए, सदा साथ ही रहते हैं। यथा—"तू निज कर्म जाल जहँ घेरो, श्रीहरि संग तज्यो नहि तेरो॥" (वि० १३६।४); प्रभु सहायक रूप से साथ ही रहते हैं; यथा—"ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।" (बा० दो० १४)।

'सप्तावरन भेद करि...'—सात आवरण ये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, अहंकार और महत्तत्व। इन आवरणों की मोटाई और रंग पृथक्-पृथक् हैं। पृथिवी का आवरण ५०कोटि योजन मोटा, पीतरंग का है, उसपर जल का आवरण ५०० कोटि योजन मोटा, जमे हुए पाले की तरह, श्वेत रंग

का है। ऐसे ही शेष आवरण भी उत्तरोत्तर दश गुणे अधिक होते गये हैं। अग्नि के लाल, वायु के हरित, आकाश के नील, अहंकार के श्वेत-पीत-काला-मिश्रित और महत्तत्व के श्वेत में कुछ लाल रंग हैं। इन सातों आवरणों से ब्रह्मांड गोला है। इनके भी भेदन होने पर जीव ब्रह्मांड के पार होते हैं। इनके बाद फिर कुछ लोक हैं, तब विरजा नदी है।

'जहँ लगे गति मोरि' कहकर जनाया कि विरजा तक पहुँचा। इसके बाद फिर जीव की गति नहीं है कि और आगे जाकर लौट आवे। विरजा पार प्रभु का नित्य धाम (परमधाम) साकेत है। वहाँ प्राप्त होकर फिर जीवों की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।" (गीता १५।६); "सखल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥" (छां० ८।१५।१); "हरिपद लीन भइ जहँ नहि फिरे।" (आ० दो० ३६)।

इन आवरणों के भेदन का साधनक्रम—क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुण के जीतने से प्रथम के पाँच आवरण भेदन होते हैं। फिर अहंकार और महत्तत्व के जीतने से शेष दो का भी भेदन होता है।

यहाँ प्रभु के छोटे शिशु रूप के मुख में छोटा रूप श्रीभुशुंडिजी का प्रवेश किया। प्रभु के इस छोटे रूप में भी अनंत ब्रह्मांडों में सौ कल्पों तक काकजी घूमते-घूमते थक गये। फिर भी पार नहीं पाया। कौए की इतनी छोटाई में इतना सामर्थ्य और धैर्य, प्रभु की छोटाई में ऐसा बड़ा विराट् रूप, दो घड़ियों की छोटाई में अनन्त काल और दो अंगुल की छोटाई मे अनंत देश समाया हुआ है, क्या आश्चर्य लीला है? इसी से तो कहा गया है—"सगुन जान नहि कोइ" (दो० ७३) इसी दृश्य का वर्णन आगे करेंगे—

मूँदेउँ नयन त्रसित जब भयउँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥१॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥२॥
उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड-निकाया॥३॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥४॥

अर्थ—जब मैं भयभीत हो गया तब मैंने नेत्र बंद कर लिये, फिर आँख खोलते ही श्रीअवधपुरी पहुँच गया॥१॥ मुझे देखकर श्रीरामजी मुस्काते हैं, उनके हँसते ही मैं तुरत उनके मुख में चला गया॥२॥ हे पक्षिराज! सुनिये, मैंने उनके पेट में बहुत-से ब्रह्मांड समूह देखे॥३॥ वहाँ अत्यन्त विलक्षण अनेकों लोक देखे, एक-से-एक की रचना बढ़कर थी॥४॥

विशेष—(१) 'मूँदेउँ नयन···'—डरे इससे कि अपनी शक्ति-भर तो भागा, अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? इस तरह वे बचने से निराश हो गये; यथा—"भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्र भय रिषि दुर्बासा॥" (आ० दो० १); डर से नेत्र मूँद लिये कि वह दृश्य अब न देख पड़े; यथा—"देखि सती अति भई सभीता॥······नयन मूँदि बैठी मगमाहीं॥" (बा० दो० ५४); 'पुनि चितवत कोसल पुर गयऊँ।'—डरकर नेत्र बंद कर लेने पर प्रभु ने वह लीला समाप्त कर दी। जैसे सती मोह-प्रसंग में भी उनके डरकर नेत्र बंद करने के पीछे कहा गया है—"बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी॥" श्रीभुशुंडिजी के नेत्र बंद करते ही प्रभु ने इन्हें फिर श्रीअयोध्याजी पहुँचा दिया। जैसे स्वयंप्रभा

ने वानरों को समुद्र तट पर पहुँचा दिया है; यथा—"नयन मूँदि पुनि देखहि बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥" (कि॰ दो॰ ११), निराशा के बाद पुनः आशा का संयोग कर दिया।

(२) 'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।'—मुसकाने का माधुर्य रीति में भाव यह कि हम से भागकर कहाँ जाओगे ? अंत में फिर यहीं आये न ? अपने पुरुषार्थ-भर भागे, पर हमसे पृथक् कहाँ जाओगे ?

ऐश्वर्य पक्ष में श्रीरामजी का हास ही माया है। अतः, अब और माया दिखायेंगे। 'माया दंभे कृपायां च' इस कोश-वचन से माया का अर्थ कृपा है, प्रभु कृपा करके इन्हें अपना ऐश्वर्य दिखाकर सदा के लिये इनका मोह निवृत्त करेंगे; यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्"। (गीता ११।४७); पहले हँसकर अभी तक के चरित दिखाये; यथा—"निहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।" और अब यहाँ फिर हँसकर आगे अपना 'अखंड अद्भुत रूप' दिखायेंगे। अतः, यह हँसना चरित बदलने के प्रति भी है, यथा—"प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥ देखरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखंड।" (बा॰ दो॰ २०१); यहाँ भी माता को एक चरित दिखाकर हँसे थे, फिर दूसरा चरित दिखाया था।

श्रीभुशुंडिजी छोटे काक रूप में हैं और अव्याहत गति हैं, इससे इन्हें और कोई नहीं देख पाता। जहाँ जाते हैं वहीं पर बालक राम रूप को पीछे साथ ही देखते हैं। इससे इन्हें कहीं किसी और के पास जाना एवं उससे रक्षा चाहना नहीं लिखा गया। जैसा जयंत-प्रसंग में कहा है। इस तरह इनकी अनन्यता बनी ही रही।

(३) 'बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं।' यथा—"तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः सोऽन्तः शरीरं मशको यथा विशत् ॥" (भाग॰ १२।९।२७); अर्थात् मारकंडेय ऋषि बालक भगवान् के पास जाते ही बरबस उनकी श्वास के साथ मच्छड़ के समान उड़ते हुए उनके मुख में घुस गये। वहाँ उदर में ही सारा विश्व देखकर वे पुनः श्वास ही के साथ बाहर निकल आये। श्रीरामजी ऊपर से बार-बार हँसकर बाल भाव दिखा रहे हैं।

(४) 'उदर माँझ सुनु ......'—यहाँ 'सुनु' कहकर नया प्रसंग प्रारंभ करना सूचित किया। 'अंडज राया'—यहाँ बहुत-से ब्रह्मांडों का चरित कहते हैं, इससे यह विशेषण दिया कि तुम एक अंडे से उत्पन्न हो और वहाँ तो करोड़ों ब्रह्मांड हैं। अंड और ब्रह्मांड में शब्दमैत्री है।

(५) 'लोक अनेका'—इस ब्रह्मांड में तीन लोक और चौदह भुवन हैं, वैसे वहाँ अनेकों लोक हैं; अर्थात् यहाँ गिनती में हैं, वहाँ अनेक हैं। सब ब्रह्मांडों में तरह-तरह के और अगणित-अगणित लोक हैं, उनकी रचना भी एक दूसरे से अधिक हैं, एक तरह के सब नहीं हैं।

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उड़गन रबि रजनीसा ॥५॥
अगनित लोकपाल-जम-काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥६॥
सागर सरि-सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि-बिस्तारा ॥७॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर ॥८॥

अर्थ—करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारागण, सूर्य और चन्द्रमा ॥५॥ अगणित लोकपाल, अगणित यमराज, अगणित काल (समयाभिमानी देवता), अगणित विशाल पर्वत और विस्तृत पृथिवी ॥६॥

अगणित समुद्र, नदी, तालाब और वन, जिनका पारावार नहीं, तथा और भी अनेक प्रकार की सृष्टि का फैलाव देखा ॥७॥ देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, नर, किन्नर और जड़ चेतन सहित चारों प्रकार के जीव देखे ॥८॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह···'—ऊपर 'बहु ब्रह्मांड निकाया' कहा गया है, उसी के सम्बन्ध से ब्रह्मा आदि सभी के विषय में 'अगनित' आदि वैसे शब्द आये हैं। एक-एक ब्रह्मांड में तो एक-एक ही ब्रह्मा-शिव-सूर्य आदि होते हैं। 'जम काला'—यहाँ यम से यमराज और काल से समयाभिमानी एवं सर्व-नाश के देवता का तात्पर्य है। लं० दो० १४ के विश्व रूप में काल को 'भृकुटि बिलास' और यम को 'दसन कराला' कहा है। दोनों के नाम साथ-साथ बहुत जगह आये हैं, यथा—"अगिनि काल जम सब अधि-कारी।" (बा० दो० १८१); "भुज बल जितेउ काल जम साईं।" (लं० दो० १०२), इत्यादि।

(२) 'नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा।'—इसमें अन्य ऋषियों के मतों के साथ-साथ भाग० १२।६।२८-२९-मारकंडेय-प्रसंग में कहा हुआ सृष्टि विस्तार भी आ गया।

(३) 'सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर' कहकर पुनः 'चारि प्रकार जीव' कहा; इससे सुर आदि को चार खानों के जीवों की गणना से पृथक् जनाया। बा० दो० ७ चौ० १ और बा० दो० ४५ चौ० ४ भी देखिये।

दोहा—जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महँ, रहउँ बरष सत एक।
येहि बिधि देखत फिरउँ मैं, अंडकटाह अनेक॥८०॥

अर्थ—जो कभी न देखा था, न सुना था और जो मन में भी नहीं समा सके, उन सबको अद्भुत (आश्चर्य मय) देखा (तब उनका) कैसे वर्णन किया जाय ?॥ एक-एक ब्रह्मांड में मैं एक-एक सौ वर्ष रहता; इस प्रकार मैं अनेकों ब्रह्मांड देखता-फिरता था ॥८०॥

विशेष—'जो नहिं देखा नहिं सुना···'; यथा—"काल करम गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥" (बा० दो० २०१); इत्यादि कौशल्याजी, अर्जुनजी और यशोदाजी आदि के प्रसंग में कही हुई सब बातें जना दीं। 'देखा' आँखों से, 'सुना' सर्वज्ञ ऋषियों से और सद्ग्रंथों से विद्वानों के द्वारा। 'मनहूँ न समाय'—अनुमान से भी बाहर की बातें। भाव यह कि सब रचना एक-से-एक विलक्षण देखी।

एक-एक सौ वर्ष रहा, इससे सबों की व्यवस्था अच्छी तरह देखी।

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसित्राता॥१॥
नर गंधर्व भूत बेताला। किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला॥२॥
देव-दनुज-गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥३॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना॥४॥

अर्थ—लोक-लोक में भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, भिन्न भिन्न विष्णु, शिव, मनु, दिक्पाल ॥१॥ मनुष्य, गंधर्व, भूत, बेताल, किम्पुरुष, राक्षस, पशु, पक्षी, व्याल ॥२॥ अनेक जातियों के देवता और दैत्यगण एवं अनेक जातियों के और भी सभी जीव वहाँ दूसरे-ही-दूसरे प्रकार के थे ॥३॥ अनेक पृथिवी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत और सभी (भौतिक) सृष्टि वहाँ और-ही-और थी ॥४॥

विशेष—(१) 'भिन्न'—प्रत्येक लोक में भिन्न-भिन्न थे और वे सब लोकों में एक-से ही नहीं थे, प्रत्युत भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के भी थे। जैसे कि कहीं ब्रह्मा चतुर्मुख और कहीं पंचमुख, विष्णु और श्रीशिवजी भी वैसे ही आकारों के एवं रंगों में भी भिन्न-भिन्न थे। 'आनहि भाँती' और 'आनहि आना' के भी ये ही भाव हैं।

(२) 'नाना जाती' एवं 'आनहि भाँती' पर यह भी कहा जाता है कि देश भेद से प्रायः आकृति, भाषा एवं स्वभाव में भेद होते हैं। शीत देशवाले पशुओं के अधिक लोम और गर्मी के देशों में रहनेवाले के कम लोम होते हैं। गर्म देश के मनुष्य प्राय. कृश श्याम और शीत देश के गौर इत्यादि भेद भी यहाँ आ गये। कहीं की भूमि काली, कहीं की पीत एवं कहीं का जल मीठा, कहीं का खारा इत्यादि—'महि सरि सागर' आदि में भी भिन्नता होती है।

अंडकोस प्रति-प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनिस अनेक अनूपा ॥५॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी ॥६॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता ॥७॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखउँ बाल-बिनोद अपारा ॥८॥

शब्दार्थ—निनारी = पृथक्, न्यारी। अंडकोस = ब्रह्मांड के भीतर का भाग, ब्रह्माण्ड ; यथा—"अंडकोस समेत गिरि कानन।" (सुं॰ दो॰ २॰)।

अर्थ—प्रत्येक ब्रह्मांड में अपना रूप देखा और अनेक अनुपम पदार्थ देखे ॥५॥ प्रत्येक भुवन में पृथक्-पृथक् श्रीअवधपुरी, भिन्न भिन्न सरयू और भिन्न भिन्न स्त्री-पुरुष थे ॥६॥ हे तात ! सुनिये, श्रीदशरथजी, श्रीकौशल्याजी और श्रीभरतजी आदि भाई अनेक रूप के थे ॥७॥ प्रत्येक ब्रह्मांड में मैं रामावतार और अपार बाल-क्रीड़ा देखता फिरता ॥८॥

विशेष—(१) 'जिनिस अनेक'—जिंस फारसी शब्द है, इसका अर्थ यहाँ वस्तु, पदार्थ का है। ये पदार्थ जहाँ-तहाँ के हैं।

श्रीअवधपुरी भी प्रत्येक ब्रह्माण्ड की पृथक्-पृथक् प्रकार की है, वैसे ही श्रीसरयूजी की भी रचना और दिशा आदि में भेद हैं।

(२) 'बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।'—यद्यपि भाइयों का रूप नित्य एक रस साकेत मे रहता है तथापि यहाँ भुशुण्डिजी का राम रूप में ही मोह है, इससे उसीको एक रूपता दिखानी है, अन्य सब में अनेक रूपता दिखाने से ही उनका ऐश्वर्य जाना जायगा। इस लीला विधान के लिये श्रीभरतजी आदि को भी अनेक रूपों में कहा है। लीला विधान एव कोई वैदिक धर्म संस्थापन के लिये भगवान् अपनी माया से नित्य जीवों को भी मोहित कर देते हैं और फिर स्वयं उनके साथ क्रीडा करते हुए उन्हें मुक्त करते

हैं ; यथा—"त्वदाश्रितानां···।"—देखिये बा० दो० १२७। इसी प्रकार के विधान में गरुड़ मोह और जय-विजय के प्रसंग हैं।

(३) 'अपारा' के दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो बहुत तरह के ; यथा—"देखेउँ बाल चरित बहु रंगा।" (दो० ७४) ; दूसरा यह कि उनका पार पाना, समझना आदि कठिन हैं ; यथा—"एक बार अतिसय सब, चरित किये रघुबीर।" (दो० ७५)।

दोहा—भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा, सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरउँ, प्रेरित मोह समीर॥८१॥

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी ! मैंने सब को भिन्न-भिन्न और अत्यन्त विचित्र देखा, हे प्रभो ! मैं अगणित भुवनों में फिरा; पर प्रभु श्रीरामजी को अन्य तरह (की आकृति में) नहीं देखा॥ मोह रूपी पवन से प्रेरित मैं भुवन-भुवन में वही बालपन, वही शोभा और उन्हीं कृपालु रघुवीर को देखता फिरता था॥८१॥

विशेष—(१) 'हरिजान'--आप साक्षात् उनके वाहन हैं, निकटवर्त्ती हैं, अतएव इस रहस्य के सुनने के अधिकारी हैं। वा, आप तो सदा निकटवर्त्ती हैं कहीं और प्रकार का रूप देखा हो, तो कहें।

(२) 'प्रेरित मोह समीर'--मोह ही के कारण यह सब लीला हुई ; यथा—"प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भयउ मोहिं मोह।" (दो० ७७) ; उसी पर माया ने इतना चक्कर दिया, जैसे वायु के झकोरे में कोई वस्तु इधर-उधर उड़ती फिरे।

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कलप सत एका॥१॥
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गँवायउँ॥२॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥३॥
देखेउँ जन्म - महोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥४॥

अर्थ—अनेक ब्रह्मांडों में घूमते हुए मुझे मानों एक सौ कल्प बीत गये॥१॥ फिरता-फिरता अपने आश्रम मे आया और वहाँ फिर रहकर कुछ समय बिताया॥२॥ श्रीअवध मे अपने प्रभु का जन्म सुन पाया तब परिपूर्ण प्रेम पूर्वक हर्षित हो कर मैं उठ दौड़ा॥३॥ वहाँ जाकर जन्म-महोत्सव देखा, जिस तरह कि मैंने पहले गाकर (विस्तार से) कहा है॥४॥

विशेष—(१) 'बीते मनहुँ'—यथार्थ में वैसा नहीं था, माया से उतने अधिक काल की प्रतीति हुई थी। आगे श्रीअवधपुरी में आने पर इन्हें सब खेल दो ही घड़ी का जान पड़ा है। इसका तात्पर्य यह कि नित्य लोक की दो ही घड़ी में मायिक लोकों के अनन्त कल्प बीत जाते हैं। इस समय काकजी अपने नित्य रूप की दृष्टि से कह रहे हैं।

(२) 'कछु काल गवायउँ' —श्रीभुशुण्डिजी चिरजीवी हैं, एक-एक युग इन्हें प्रहर के समान बीतता है। इससे इन्होंने दूसरे अवतार तक के समय को कुछ ही काल कहा है। 'काल गवायउँ' का भाव यह कि मोहित मति के कारण यहाँ भी ठीक विश्राम नहीं मिला। जैसे-तैसे काल बिताया। यह समय व्यर्थ-सा गया।

(३) 'निज प्रभु जन्म '—मोह में भी इनकी अनन्यता बनी रही। इसीसे कहा है—"सो माया न दुखद मोहि काहीं।" श्रीनारदजी ने मोहवश होने पर इष्ट को दुर्वचन कहे थे, इसीसे वहाँ—'सुनहुँ कठिन करनी तेहि केरी।' कहा है। 'उठि धायउँ'—से इनका पूर्ण उत्साह सूचित किया गया। तथा यह भी जान पड़ता है कि मनुष्य रूप से दौड़े, यथा—"मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ।" (बा० दो० ११५)। नहीं तो पक्षि रूप से तो उड़कर जाना कहा जाता।

'सुनि पायउँ'— किससे सुना? ब्रह्मादि देवताओं से, यथा—"सो अवसर बिरंचि जब जाना।' चले सकल सुर साजि बिमाना॥ गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन-गंधर्ब बरूथा॥' (बा० दो० ११०)।

(४) 'जेहि बिधि प्रथम कहा', यथा—"जन्म-महोत्सव देखउँ जाई।" (दो० ७४ चौ० ४), से "प्राकृत सिसु इव लीला, देखि ·" (दो० ७७), तक।

राम - उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥५॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥६॥
करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी॥७॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा॥८॥

शब्दार्थ—मोह कलिल= मोह रूपी दलदल, मोह का गदला आवरण।

अर्थ—श्रीरामजी के पेट में मैंने बहुत से जगत् देखे जो देखते ही बनते थे, बखाने नहीं जा सकते॥५॥ वहाँ फिर सुजान, मायापति, कृपालु, भगवान् श्रीरामजी को देखा॥६॥ मैं बार-बार विचार करता था। मेरी बुद्धि मोह-रूपी दलदल एवं मोह के गँदले आवरण से व्याप्त थी॥७॥ दो ही घड़ी में मैंने सब देखा, मन में विशेष मोह होने से मैं थक गया।

विशेष—(१) 'तहँ पुनि देखउँ राम '—'राम' क्योंकि सबमें रमण करनेवाले हैं, उदरवाले ब्रह्माण्ड में भी मेरे साथ रहे। 'सुजाना'—क्योंकि मेरे मन के मोह को उन्होंने जान लिया और जानकर माया प्रेरित की, इससे साथ ही 'मायापति' भी कहा, माया मोहित होने पर भी कृपा रक्खी, दुःख न होने पाया, इससे 'कृपाल' और भक्त के हित करने से 'भगवान्' कहा है। ऐश्वर्य दिखाने से भी 'भगवान्' कहा है।

'करउँ बिचार बहोरि बहोरी। '—बार-बार विचार करने पर भी मन को प्रबोध नहीं होता था, यही मोह-रूपी दलदल मे बुद्धि का फँस जाना है।

(२) 'उभय घरी महँ मैं सब देखा।'—उपर्युक्त सब दृश्य दूसरी अवस्था मे देखे थे, जब फिर अपनी वास्तविक स्थिति में प्राप्त हुए, तब जान पड़ा कि यह सब तो दो ही घड़ी म हुआ था। इसीलिये 'बीते मनहुँ कल्प सत एका।' कहा गया है। जैसे कोई स्वप्न में दीर्घकाल की घटना देखे और जागने पर उसे जान पड़े कि यह सब तो १० मिनट मे ही हुआ, मैं तो अभी ही सोया हूँ।

इस कौतुक का रहस्य यह है कि परधाम में जीवों की स्वाभाविक स्थिति से विशेष सुख देने के लिये श्रीसीतारामजी जगत् की रचना कर जीवों को उनके अनादि कर्मानुसार अपनी माया से मोहवश कर देते हैं। जैसे माता बच्चे को शय्या पर शयन करा देती है कि सो कर उठेगा तो भूख लगेगी और फिर दूध पीकर विशेष सुख पावेगा एवं पुष्ट होगा। बच्चे प्रायः दो ही घड़ी सोते हैं, यदि देरी होने लगी तो माता चिंतित होकर जगाने का यत्न करती है। जीव मोह वश होता है, यही इसका सोना है, नानात्व जगत् का व्यवहार स्वप्न देखना है। नित्य धाम की दो ही घड़ी में यह यहाँ के सैकड़ों कल्प का चक्कर लगा लेता है। फिर भगवान् प्रकृति के द्वारा इसके जाग्रत होने की प्रेरणा करते हैं और यह नाना साधनों में प्रवृत्त होता है। ज्ञानोपासना एवं प्रेम की रीति से भगवान् की प्राप्ति की चाह होना भूख से रोना है। अत्यन्त प्रेम ही क्षुधा का वास्तविक रूप है। इसीसे कहा है—"पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन।" "रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥" (अ॰ दो॰ १३६); उत्कृष्ट इच्छा पर भगवान् को पाता है, तो इसे अत्यन्त सुख होता है, फिर वही अवस्था इसकी नित्य रहती है। सदा वैसा ही सुखी रहता है। "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।" (छां॰ ८।१५।१); कहा ही है। नित्य धाम में पुनः प्राप्त होने पर इसे इस जगत् के सब व्यापार वहाँ की दो ही घड़ी में हो जाते हैं।

(३) 'भयउँ श्रमित मन मोह बिसेखा'—विशेष मोह से जो सैकड़ों कल्प भ्रमण किया, उसके श्रम को समझकर विशेष व्याकुलता हुई, यही प्रेम की विशेषावस्था है, जो कि—"नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो।..." (वि॰ ९१); इस पद में कही गई है। अब इसी पर आगे बिहँसकर (कृपा कर) बाहर निकालना; अर्थात् मोह निवृत्त करना है। यद्यपि—'उभय घरी महँ...' यह कथन मुख से निकलने पर का है, तथापि प्रसंग से यह घटना पहले की है, निकलना तो आगे दोहे में कहते हैं—

दोहा—देखि कृपाल बिकल मोहि, बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसत ही मुख बाहेर, आयउँ सुनु मतिधीर॥
सोइ लरिकाई मो सन, करन लगे पुनि राम।
कोटि भाँति समुझावउँ, मन न लहइ बिश्राम॥८२॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी मुझे व्याकुल देखकर तब विशेष हँसे। हे धीर बुद्धि! सुनो, (उनके) हँसते ही मैं बाहर आ गया॥ श्रीरामजी फिर मुझसे वही लड़कपन करने लगे, मैं अनेकों प्रकार से मन को समझाता था, पर मन विश्राम नहीं पाता था; अर्थात् मुझे शान्ति नहीं मिलती थी॥८२॥

विशेष—(१) 'देखि कृपाल बिकल मोहिं'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम 'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।' है। पुनः 'बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं।' उपक्रम है और यहाँ—'बिहँसत ही मुख बाहेर आयउँ...' यह उपसंहार है। हँसने के साथ मुख खुला और ये बाहर आ गये। अतः, बिहँसना ही कृपा है। 'मति धीर' का भाव यह कि मेरे मोह की कथा आपने सावधान होकर सुनी है। अतः, धीर मति हैं; यथा—"श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहि अघात मति धीर।" (दो॰ ५१); काकजी ने पहले ही कहा था—"सुनहु सो सावधान हरि जाना।" (दो॰ ७७); तदनुसार ही इन्होंने 'मति धीर' होकर सुना है, आश्चर्य चरित सुनकर बुद्धि भ्रम में नहीं पड़ी।

(२) 'सोइ लरिकाईं मो सन...' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"प्राकृत सिसु इव लीला, देखि...कवन चरित्र करत प्रभु..." (दो० ७७) है। 'सोइ'—जो पूर्व 'मोसन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।' से 'जाउँ समीप गहन पद...' में कही गई है।

(३) 'मन न लहइ बिश्राम'—मन को समझाते हैं कि ये परब्रह्म हैं। अभी इन्होंने ही अपनी अनन्त शक्ति दिखाई है। पर फिर वैसी ही क्रीड़ा देखकर सोचने लगते हैं कि क्या वह सब मैंने स्वप्न में तो नहीं देखा? फिर विचारते हैं कि नहीं, स्वप्न तो सोने पर होता है, मैंने तो यह सब जाग्रत् में ही देखा है, इत्यादि संकल्प-विकल्प से मन स्थिर नहीं होता।

ऐसे ज्ञानी-भक्त शिरोमणि भी प्रभु के रहस्य के मर्म नहीं समझ पाते, यही तो इसकी *अगमता है,* कहा भी है- "चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥" (लं० दो० ७१); तथा "सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ।" (दो० ७३)।

ईश्वर की लीला के मर्म को उसकी ही कृपा से जीव कुछ समझ सकता है, जैसे कि यहाँ पर आगे श्रीकाकजी शरण होंगे, तो प्रभु-कृपा से शान्ति पा जायँगे। सतीजी ने भी अपने तर्कों से कुछ निश्चय नहीं कर पाया। प्रभु के जनाये से ही जाना है, कहा भी है—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत।" (वि० १५१); अतः, प्रभु के चरित में संदेह न करके उनका भजन करना चाहिये; यथा—"अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥" (लं० दो ७१); तथा-"तजु संसय भजु राम पद।" (बा० दो० ११५); इत्यादि। भजन करने से प्रभु की कृपा होती है; यथा- "मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० २००); फिर जो कुछ संदेह भी होते हैं, वे स्वतः दूर होते जाते हैं। जगत् की विचित्र घटनाओं को समझ-समझकर उन संदेहों की निवृत्ति स्वयं होती जाती है।

देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह-दसा बिसराई॥१॥
धरनि परेउँ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत-जन-त्राता॥२॥
प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया-प्रभुता तब रोकी॥३॥
कर-सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ॥४॥

अर्थ—यह बाल-चरित देखकर और वह प्रभुता समझकर मुझे शरीर की दशा भूल गई (देह की सुध-बुध नहीं रह गई)॥१॥ हे आर्त्तजन के रक्षक! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'—(ऐसा कहकर) मैं पृथिवी पर गिर पड़ा, (फिर) मुख से वचन नहीं आता (निकलता)॥२॥ प्रभु ने मुझे प्रेम से व्याकुल देखकर तब उन्होंने अपनी माया की प्रबलता रोकी॥३॥ दीन दयालु प्रभु ने अपना हस्तकमल मेरे शिर पर रक्खा, और मेरा सब दुःख हर लिया॥४॥

विशेष—(१) 'देखि चरित यह'—उपर्युक्त "सोइ लरिकाई"। 'सो प्रभुताई' जो "बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।" से "बिहँसत ही मुख बाहर..." तक ऊपर कही गई। 'समुझत देह दसा बिसराई' जिनके उदर में असंख्यों ब्रह्मांड हैं, वे भक्तों के लिये इतने सुलभ होकर उनके उद्धार करने के लिये माधुर्य लीला कर रहे हैं, ऐसे कृपालु और भक्त वत्सल हैं, यह समझकर मैं प्रेम से मुग्ध हो गया।

(२) 'त्राहि त्राहि...'—यहाँ मोह माया से रक्षार्थ प्रार्थना है, ऐसा कहने से प्रभु दुःख हरते हैं; यथा—"त्राहि त्राहि आरति हरन" (सुं० दो० ४५)।

(३) 'धरनि परेउँ मुख आव न बाता।'''प्रेमाकुल ···' में क्रमशः कर्म, वचन और मन की शरणागति हुई। प्रभु का विरद है कि वे सभीत सरणागत की अवश्य रक्षा करते हैं; यथा—"जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥" (सुं॰ दो॰ ४४); श्रीभुशुंडिजी बहुत भ्रमण करने के पीछे प्रभु की शरण हुए तब उनका दुःख दूर हुआ। पर श्रीकौशल्याजी ने शीघ्र ही डरकर शरणागति की थी; यथा—"तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥ बिसमयवंत देखि महतारी।" (बा॰ दो॰ २०१) इसमें क्रमशः वचन, कर्म और मन की शरणागति है। इससे उनका दुःख शीघ्र ही मिट गया था।

(४) 'निज माया प्रभुता तब रोकी।'—प्रभु के रोकने से ही उनकी माया रुकती है; यथा—"निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्ह।" (बा॰ दो॰ १२७); "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४)।

'कर सरोज प्रभु···'—इन कर-कमलों का ऐसा ही प्रभाव है; यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि करकी मेटति पाप ताप माया।" (वि॰ १३८)।

यहाँ यह चरितार्थ हुआ कि ईश्वर विषयक मोह उनकी ही शरणागति से उनकी कृपा द्वारा निवृत्त होता है और प्रेमाकुल होने ही पर प्रभु की कृपा होती है। तब सम्यक् प्रकार से माया निवृत्त होती है।

कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक - सुखद कृपा - संदोहा॥५॥
प्रभुता प्रथम बिचारि बिचारी। मन महँ होइ हरष अति भारी॥६॥
भगत बछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेखी॥७॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥८॥

अर्थ—सेवक को सुख देनेवाले और कृपा से परिपूर्ण श्रीरामजी ने मुझे विमोह रहित कर दिया॥५॥ उनकी पहले वाली (प्रथम देखी हुई) प्रभुता विचार-विचारकर मेरे मन में अत्यन्त भारी आनंद होने लगा (एवं अब भी होता है)॥६॥ प्रभु की भक्त वत्सलता देखकर मेरे हृदय में बहुत प्रीति उत्पन्न हुई॥७॥ प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्र और रोमांचित शरीर से एवं हाथ जोडकर, फिर मैंने बहुत प्रकार से विनती की॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्ह राम मोहि ···'—'बिगत बिमोहा' क्योंकि पहले विशेष मोह कहा गया है; यथा—"भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा।" वही 'कोटि भाँति समुझावउँ···' पर भी नहीं जाता था, यहाँ निवृत्त हो गया। 'सेवक सुखद'—क्योंकि सुख दिया और कृपा करके विमोह दूर किया, इससे 'कृपा संदोहा' कहा है। भारी मोह दूर होने से सुख होता ही है, यथा—"बिगत मोह मन हर्ष बिसेखी।" (बा॰ दो॰ ११८)

(२) 'प्रभुता प्रथम बिचारि···'—पहले भारी मोह था, वह दूर हुआ और फिर भारी प्रभुता देखी, उसे विचारकर भारी हर्ष होता है। प्रभु की कृपा-पूर्णता पर भी हर्ष होता है कि जिनकी इतनी प्रभुता है, उन्होंने मुझपर इतना अपनापन माना, भारी कृपा की—यह विचारकर अत्यन्त भारी हर्ष हो रहा है।

(३) 'भगत बछलता ··'—मोह नाश करना, शिर पर हाथ फेरना भक्त वत्सलता है, इसे अभी देखा और प्रभुता प्रथम की देखी हुई है, उसे यहाँ विचार-विचारकर हर्ष होता है। 'प्रीति बिसेषी' का स्वरूप आगे 'सजल नयन···' से कहा है।

(४) 'मम उर प्रीति' 'कर जोरी' और 'विनय' में क्रमशः मन, कर्म और वचन के भाव हैं।

दोहा—सुनि सप्रेम मम बानी, देखि दीन निज दास।
वचन सुखद गंभीर मृदु, बोले रमानिवास॥
काकभुसुंडि माँगु बर, अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि॥८३॥

अर्थ—मेरी प्रेम सहित वाणी सुनकर और अपने दास को दीन देखकर रमापति श्रीरामजी सुख देनेवाले गंभीर और कोमल वचन बोले। हे काकभुशुण्डिजी! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर वर माँगिये। अणिमादिक अष्टसिद्धियाँ और ऋद्धियाँ तथा सब सुखों की खान मोक्ष॥८३॥

विशेष—(१) 'सुनि सप्रेम···'—वाणी प्रेमाकुल हृदय से निकली है; यथा—"प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी।" इसीसे वह 'सप्रेम' है और उसे 'सुनि' कहा गया, क्योंकि वह श्रवणप्रिय है। दशा नेत्रों से देखी जाती है, इससे उसका देखना कहा है। "धरनि परेउँ.. त्राहि त्राहि..." यह दीनता है; यथा—"त्राहि त्राहि आरति हरन.. अस कहि करत दंडवत देखा।...दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा।" (सु० दो० ४५); इसी दशा के प्रति कहा है—"देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।" (ल० दो० ९२), "कृत भूप निभीषन दीन रहा।" (ल० दो० १०१)। 'देखि दीन निज दास' का यों भी अर्थ होता है कि मुझे दीन और अपना (अनन्य) दास जानकर, क्योंकि इतना मोहित होने पर भी मैं दूसरे की शरण नहीं गया।

(२) 'वचन सुखद' वचन कानों को सुखदायक हैं; यथा—"श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।" (दो० ५१); 'गंभीर'—गूढ़ हैं; यथा—"गगन गिरा गंभीर भइ, हरनि सोक सदेह।" (बा० दो० १८६); 'मृदु'—कोमल एवं मधुर हैं। 'रमा निवास'—यह उदार दातृत्व का सूचक है।

(३) 'अति प्रसन्न मोहि जानि', 'आजु देउँ सब···' ये वचन श्रवण सुखद हैं और 'माँगुवर'; 'माँगु जो तोहि भाव' ये गंभीर हैं, क्योंकि इनमें पूर्णभक्ति के माँगने का आशय गुप्त रूप में है। मृदु तो सभी हैं।

पुन "अनिमादिक सिधि · मुनि दुर्लभ गुन जे जगजाना॥" तक माँगने की वस्तुओं को गिनाया। इसमें गंभीर आशय यह है कि मेरा सचा भक्त, चतुर और धीर होगा तो इनमें लोभ नहीं करेगा; यथा—"रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई॥" (दो० ८४), "माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥" (बा० दो० १४४), "अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥" (दो० ११८)।

'अनिमादिक' से अष्ट सिद्धियाँ कही गई हैं, क्योंकि ये ही भक्तों के काम की भी हैं। 'अपर रिधि' से नव निधियाँ अभिप्रेत हैं।

(४) 'सकल' शब्द से 'सिधि', 'रिधि' और 'मोच्छ' इन तीनों को कहा है कि ये सब सुख की खान हैं।

ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना ॥१॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माहीं ॥२॥
सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ ॥३॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥४॥

अर्थ—ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान (एवं और भी) जो जगत् में मुनियों को भी दुर्लभ गुण हैं ॥१॥ आज मैं यह सब दूँगा, इसमें संदेह नहीं है, जो तेरे मन को भावे सो माँग ले ॥२॥ प्रभु के वचन सुनकर अधिक अनुराग हुआ, तब मैं मन में विचार करने लगा ॥३॥ कि प्रभु ने मुझे सब देने को कहा सही, पर अपनी भक्ति देने की (बात) नहीं कही ॥४॥

विशेष—(१) 'ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना।'—'ज्ञान' और 'वैराग्य' का स्वरूप आ० दो० १४ में देखिये। 'विवेक'—आ० दो० ६ चौ० १ में और विज्ञान का स्वतंत्र प्रसंग—"तब विज्ञान निरूपिनी" से "तेज रासि बिज्ञान मय ॥" (दो० ११७); तक आगे कहा जायगा कि प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा का ज्ञान विज्ञान कहाता है। प्रकृति के तीनों गुणों की तीनों अवस्थाओं से अपनेको पृथक् साक्षात्कार करना विज्ञान है। वैराग्य के चार भेद भी कहे गये हैं; यथा—"वैराग्यमाद्यं यतमान संज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेक संज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदिराग सौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्।" (शुकोक्तिसुधासागर); अर्थ—१ यतमान अर्थात् विषयों को पूर्णरीति से न त्याग सकने पर भी उनके मिलने का आग्रह छोड़ देना, २—व्यतिरेक अर्थात् किसी-किसी विषय को छोड़ देना, जैसे विना लोन की दाल आदि का खाना, ३—एकेन्द्रिय अर्थात् प्रवृत्ति रहने पर भी मन में विषयों के अनुराग की शिथिलता होने के कारण केवल वाह्य इन्द्रियों से ही विषय सेवन करना, ४—वशी कृत्य अर्थात् वाह्येन्द्रियों से भी विषय सेवन में उदासीनता—ये चारों उत्तरोत्तर विशेष अवस्थाएँ हैं।

(२) 'आजु देउँ सब ···'—भाव यह कि प्रभु जिसे देते हैं, उसे तत्काल ही दे देते हैं, जैसे कि श्रीशवरीजी से भी कहा है—"तो कहँ, आजु सुलभ भइ सोई।" 'माँगु जो तोहिं भाव मन माहीं।' में यह भी ध्वनि है कि उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भी जो माँगोगे, दे दूँगा, भाव यह कि भक्ति भी दे दूँगा, संदेह नहीं है। यहाँ के 'भाव मन माहीं' के अनुसार ही आगे श्रीभुशुंडिजी कहेंगे—"मन भावत बर मागउँ स्वामी।" ये ज्ञान आदि को न चाहकर केवल अविरल भक्ति ही माँगेंगे। श्रीसुतीक्ष्णजी भी प्रभु के निजदास हैं, पर उन्होंने प्रभु की रुचि से पहले ज्ञान आदि को लेकर तब फिर अपनी रुचि से भक्ति माँगी है और इन्होंने स्वयं सबको छोड़कर भक्ति ही माँगी है, इससे इनकी भक्त निष्ठा उनसे अधिक है।

(३) 'अधिक अनुरागेउँ'—प्रेम तो पूर्व से ही विशेष था, यथा—"भगत बछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेखी ॥" पर यहाँ प्रभु की अपने ऊपर अधिक रीझ देखकर और अधिक अनुराग हो गया। तब ऐसे प्रभु की भक्ति से और गुणों की तुलना करने लगे।

भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन - बिना बहु बिंजन जैसे ॥५॥
भजन हीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥६॥
जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू ॥७॥

मन भावत बर माँगउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी ॥८॥

अर्थ—भक्ति के बिना सब गुण और सब सुख ऐसे हैं कि जैसे लोन के बिना (अलोने) बहुत से व्यंजन (भोजन के पदार्थ) हों ॥५॥ भक्ति हीन सुख किस काम के ? ऐसा विचार कर, हे खग-राज ! मैंने कहा ॥६॥ हे प्रभो ! यदि आप प्रसन्न होकर वर देते हैं, और मुझपर कृपा और स्नेह करते हैं ॥७॥ तो, हे स्वामिन् ! मैं अपने मन को भानेवाला वर माँगता हूँ। आप उदार हैं और हृदय के भीतर की (बात) जाननेवाले हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। ··'—प्रभु ने इन्हें ऊपर दो चीजें देने को कही थीं—एक तो सब सुख, यथा—"अनिमादिक · सकल सुख खानि।" और सब गुण; यथा—"ज्ञान विवेक··मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।" उन्हीं दोनों पर यहाँ ये विचारते हैं। ऊपर 'सकल सुख सही' में सुख को प्रथम कहा है, तब यहाँ 'गुन सब' कहा, क्योंकि इसी क्रम से प्रभु ने देने को भी कहा था। फिर 'सुख' को यहाँ 'गुन सब' के साथ कहा है, क्योंकि दोनों को भक्ति बिना सीठा कहना है।

(२) 'भजन हीन सुख कवने काजा'—भक्ति के साथ सुख स्थिर रहता है; यथा—"तथा मोच्छ सुख सुनु खग राई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥" (दो॰ ११८)। अन्यथा व्यर्थ-सा ही है; यथा—"राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाय रही पाई बिनु पाई॥" (सु॰ दो॰ २१)।

(३) 'जौं प्रभु होइ प्रसन्न ··'—प्रभु ने प्रथम 'अति प्रसन्न मोहि जानि' कहा है। फिर वही प्रसन्नता 'आजु देउँ सब ··' आदि से भी प्रकट की है। उसी को लेकर ये माँगते हैं। दीन जानकर रक्षा पर सन्नद्ध हैं, यह कृपा है और अपना जानकर करुणा कर रहे हैं, यह स्नेह है। प्रसन्नता, कृपा और स्नेह तीनों मुझपर हैं, तो मुझे मेरा अभीष्ट अवश्य ही प्राप्त होगा। जैसे कि सु० दो० ३२-३३ में श्रीहनुमान्‌जी पर आपने तीनों को दिखाया है और उन्हें माँगने पर परम दुर्लभ अनपायिनी भक्ति दी है। पुन दो० ३४ में सनकादिक को भी माँगने पर वैसी ही भक्ति दी है।

(४) 'मन भावत बर माँगउँ·· '—भाव यह कि जो ज्ञान आदि आपने गिनाये हैं, वे मेरे मन-भावत नहीं हैं। जो भाता है वह आगे कहता हूँ। 'तुम्ह उदार'—भाव यह कि जो उदार दाता होगा, वही अपनी प्यारी वस्तु देगा, भक्ति आपको बहुत प्यारी है, यथा—"पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।" (दो॰ ११५) 'उदारो दातृ महत ' अर्थात् महादानी को उदार कहते हैं, इस विशेषण से काकजी श्रीरामजी को 'महादानि अनुमानि' (मनुप्रसंग), और 'जनकहँ कछु अदेय नहिं मोरे।' (नारदप्रसंग), का स्मरण कराते हैं।'अतरजामी' का भाव यह कि मेरे हृदय की यह सच्ची भावना है, उसे आप जानते ही हैं, यथा—"सबके उर अतर बसहु, जानहु भाव कुभाव।" (अ॰ दो॰ २५७), यदि ठीक ठीक मेरी यही वासना है और आप उदार हैं तो अवश्य दें।

दोहा—अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति-पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु-प्रसाद कोउ पाव॥
भगत-कलपतरु प्रनत - हित, कृपासिंधु सुख-धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम ॥८४॥

अर्थ—हे भक्तों के कल्पवृक्ष ! हे शरणागत हितकारी ! हे कृपासागर ! हे सुख के निवासस्थान ! हे प्रभो ! हे श्रीरामजी ! मुझे दया करके यही अपनी निज (अनन्य) भक्ति दीजिये । जिस अविरल विशुद्ध आपकी भक्ति को श्रुति और पुराण गाते हैं, जिसे योगीश्वर और मुनि ढूँढ़ते हैं और जिसे आपकी ही कृपा से कोई पाता है ॥८४॥

विशेष—(१) 'अविरल भगति···'—यहाँ कई निदर्शनों (उदाहरणों) से अभीष्ट वस्तु माँगते हैं कि जिससे उसमें कुछ अंतर न पड़े। 'अविरल' अर्थात् सघन, तैलधारावच्छिन्न, एकरस निरंतर स्नेह-वृत्ति रहनेवाली—यह वस्तु (भक्ति) नाम-निदर्शन । २—'विशुद्ध' यह गुण निदर्शन । ३—'श्रुति पुरान जो गाव' यह प्रमाण निदर्शन ।४—'जेहि खोजत···' यह शिष्ट परिमहत्व रूप निदर्शन । ५—'प्रभु प्रसाद कोउ पाव' यह अपने उपायों से असाध्यत्व और केवल राम कृपा साध्यत्व से दुर्लभता रूप निदर्शन है ।

(२) 'जेहि खोजत··कोउ पाव' से योगीश्वरों और मुनियों का इसके लिये लालायित रहना एवं इसकी उत्कृष्टता दिखाई । 'कोउ पाव'; यथा—"कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी । कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥" (कि॰ दो॰ १५), योगीश-मुनियों में भी किसी एक पर प्रभु की प्रसन्नता होती है, तभी वे पाते हैं ।

पहले 'उदार' कहा था, तदनुसार ही यहाँ 'भक्त कल्पतरु' आदि चार विशेषण दिये हैं । आप भक्त कल्पतरु हैं, भक्तों के सब मनोरथ पूर्ण करते हैं ; यथा—"जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच । माँगत अभिमत पाव जग, राव रंक भल पोच ॥" (अ॰ दो॰ २६७), जैसे उससे चाहे जितना माँगा जाय, वह देता है और पूर्ण बना रहता है ; वैसे ही आप भक्तों के सब मनोरथ पूर्ण करते हुए भी प्रसन्न बने रहते हैं । आप कल्पतरु रूप हैं और मैं आपका 'निज दास' हूँ । आप प्रणतहित हैं और मैं प्रणत हूँ ; यथा—"धरनि परेउँ...त्राहि त्राहि..." अतः, भक्ति देकर मेरा हित कीजिये । पहले कल्पतरु कहकर फिर प्रणतहित कहने का भाव यह कि वह अनहित भी देता है, पर आप हित ही करते हैं ; यथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहुँ तुम्हार । सोइ हम करब...येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ ।" (बा॰ दो॰ १३२) । आप कृपासिंधु हैं और मैं दीन हूँ ; यथा—"देखि दीन" आप सुखधाम हैं और मैं दुखी हूँ ; यथा—"भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा ।" इन सब प्रकार से हित करने में आप 'प्रभु' हैं, अर्थात् समर्थ हैं । इन गुणों से मुझे रमाइये, इस अभिप्राय से 'राम' भी कहा है । 'प्रभु प्रसाद कोउ पाव' के अनुसार 'देहु दया करि' कहा है ।

श्रीभुशुंडिजी के प्रति रामगीता

एवमस्तु कहि रघुकुल-नायक । बोले बचन परम सुखदायक ॥१॥
सुनु बायस तैं सहज सयाना । काहे न माँगसि अस बरदाना ॥२॥
सब सुखखानि भगति तैं माँगी । नहिं जग कोउ तोहि सम बड़ भागी ॥३॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं । जे जप जोग अनल तनु दहहीं ॥४॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई । माँगेहु भगति मोहि अति भाई ॥५॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' अर्थात् वह भक्ति तुझे प्राप्त हो—ऐसा कहकर रघुकुल के शिरोमणि श्रीरामजी परम सुखदेनेवाले वचन बोले ॥१॥ हे काक ! सुन, तू स्वाभाविक ही चतुर है, ऐसा वरदान क्यों न माँगता ?

अर्थात् ऐसा माँगना तेरे योग्य ही है ॥२॥ सब सुखों की खान भक्ति तूने माँगी है, संसार में तेरे समान बड़भागी कोई नहीं है ॥३॥ जिसे वे मुनि भी करोड़ों उपाय करके पाते हैं जो जप, योग और अग्नि से एवं योगानल से शरीर को जला डालते हैं ॥४॥ तेरी चातुरी देखकर मैं रीझ गया, तूने भक्ति माँगी जो मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥५॥

विशेष — (१) 'एवमस्तु' के साथ ही 'रघुनायक' कहने का भाव यह है कि सभी रघुवंशी उदार दानी होते आये हैं, आप तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं, फिर क्यों न ऐसे दाता हों ? 'परम सुख दायक'—पूर्व के वचन सुखदायक थे ; यथा—"बचन सुखद गंभीर मृदु..." और ये वचन परम सुखदायक हैं। इसके कई कारण हैं—(१) पहले के कहे हुए पदार्थ भी प्रभु दे रहे हैं और भक्ति भी। (२) अपना अनुमान ठीक निकला, उसीकी प्रशंसा प्रभु ने भी की। (३) स्वामी ने 'बड़भागी' और 'सहज सयाना' आदि कहकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर इनकी सराहना की। (४) इन्हें सदा के लिये माया रहित कर दिया, इत्यादि।

इस प्रसंग से यह भी जनाया कि भक्ति का चाहनेवाला ही चतुर और बड़भागी है, यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहि भजहिं ते चतुर नर।" (अ० दो० १) ; "चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा।" (बा० दो० ११) ; "सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥" (कि० दो० २२)। पुनः ज्ञान आदि का चाहनेवाला भागी है और भक्ति का इच्छुक बड़भागी है।

(२) 'सब सुखखानि'—पहले मोक्ष के साथ भी 'सकल सुख खानि' शब्द है, उसमें 'सकल' के अर्थ में ऋद्धि, सिद्धि भी हैं और यहाँ केवल भक्ति को ही उन सब सुखों की खान कहा है। भक्ति से वह मोक्ष सुख भी मिलता है; यथा—'अनइच्छित आवइ बरियाई' कहा है।

(३) 'जो मुनि कोटि जतन...'—कहकर भक्ति को बिना यत्न अपनी कृपा से सुलभ दिखाया। 'चतुराई' क्योंकि उपर्युक्त सुखों और गुणों के प्रलोभन में नहीं पड़ा। पुन. बिना श्रम के दुर्लभ पदार्थ प्राप्त किया। 'मोहि अति भाई'—ज्ञानादि भाते हैं, भक्ति अति भाती है, इसी से इसकी यहाँ प्रशंसा भी करते हैं।

(४) 'जोग अनल तनु दहहीं' ; यथा—"जोग अगिनि करि प्रगट तब।" (दो० ११७), "जोगानल जरी" (बा० दो० ६८) ; "तपसानल मैं जुग पुंज जरइ" (क० उ० ५५)।

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें ॥६॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥७॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥८॥

अर्थ—हे पक्षी ! सुन अब मेरी प्रसन्नता से सब शुभ गुण तेरे हृदय में बसेंगे ॥६॥ भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग, चरित्र, चरित्रों के रहस्य एवं रहस्य (अर्थात् गुप्त चरित्र) आदि सबके विभागों के भेदों को तू मेरी प्रसन्नता से ही जानेगा, तुझे साधन (करके जानने) का कष्ट न होगा ॥७-८॥

विशेष—(१) 'भगति ज्ञान...'—इनके विभाग और भेद। भक्ति के भेद यथा—"भगति निरूपन बिबिध बिधाना।" (बा० दो० ३६) ; ज्ञान के भेद सप्त भूमिका रूप में आगे दो० ११७ में कहे गये हैं और सरस ज्ञान का स्वरूप आ० दो० १४ में देखिये। वैराग्य के चार विभाग और विज्ञान प्रसंग ऊपर दो० ८३ चौ० १ में देखिये। योग के आठ अंग यम-नियम आदि हैं। 'चरित्र' के अनेक भेद हैं, कल्प

भेद एवं एक कल्प के चरित में भी जन्म, बाल, पौगंड किशोर आदि अवस्था के चरित्रों में भेद होते हैं। वन, युद्ध, राज्य आदि के चरित्रों में भी रस भेद से नाना प्रकार होते हैं। 'रहस्य'; यथा—"अउरउ राम रहस्य अनेका।" (बा० दो० ११०) के प्रसंग पर देखिये।

इन सबका चरितार्थ आगे है, श्रीभुशुण्डिजी ने आगे ज्ञान, भक्ति आदि के भेदों का वर्णन किया है। प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हैं, इससे माँगने के अतिरिक्त भी बहुत-से वर देते चले जाते हैं।

(३) 'नहिं साधन खेदा'; यथा—"बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।" (दो० ११३); यह लोमशजी ने कहा है। साधन खेद ज्ञान दीपक में देखिये।

दोहा—माया-संभव भ्रम सब, अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज, अगुन गुनाकर मोहि॥
मोहि भगत प्रिय संतत, अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग॥८५॥

अर्थ—माया से उत्पन्न सभी भ्रम अब तुझे न व्यापेंगे। मुझे अनादि, अजन्मा, प्राकृत गुणों से रहित और दिव्य गुणों की खान, ब्रह्म जानना। हे काक! सुन, मुझे भक्त सदैव प्रिय हैं, ऐसा विचार कर तन, वचन और मन से मेरे चरणों में अटल प्रेम करना॥८५॥

विशेष—(१) 'माया संभव भ्रम सब...'—'भ्रम सब' जैसे कि पर स्वरूप में भ्रम होना; यथा—"भ्रमते चकित राम मोहि देखा।" (दो० ७८); स्व स्वरूप में भ्रम एवं और भी सब प्रकार के भ्रम जो कि माया से उत्पन्न होते हैं, वे अब न व्यापेंगे। इसका इनमें चरितार्थ भी है; यथा—"तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

प्रभु जिसे अपनाते हैं वह माया से अभय हो जाता है; यथा—"अब न तुम्हहि माया नियराई।" (बा० दो० १३०)—श्रीनारदजी। "अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि।" (बा० दो० २०१)—श्रीकौशल्याजी।

(२) 'जानेसु ब्रह्म अनादि अज...'—ऐसा जानते रहोगे, तो तुम्हें माया न व्यापेगी। इस ज्ञान से पाप भी नष्ट हो जाते हैं; यथा—"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्। असंमूढः समर्त्येषु सर्व पापैः प्रमुच्यते॥" (गीता १०।३), अर्थात् जो मुझे सब लोकों का महान् ईश्वर और जन्म एवं आदि रहित जानता है, वही मोह रहित होकर सब पापों से छूट जाता है।

(३) 'मोहि भगत प्रिय···'—पहले जानना कहा गया, तब यहाँ 'अस बिचारि' में प्रतीति कहकर तब 'करेसु अचल अनुराग' कहते हैं—यही क्रम है; यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (दो० ८८)।

(४) 'काय बचन मन···'—तन से कैंकर्य आदि, वचन से गुण-गान, मन से ध्यान एवं मानस-पूजा। इन तीनों प्रकार से भजन करने का विधान वि० १०४-१०५ में देखिये। 'अचल अनुराग; यथा—"चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥" (अ० दो० २०४)।

इनकी तीनों प्रकार की भक्ति दो० ५६ में इनकी चर्चा-प्रसंग में देखिये।

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी ॥१॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही ॥२॥
मम माया-संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा ॥३॥

अर्थ—अब मेरी परम निर्मल वाणी सुन, जो सत्य है, सुगम है और जिसका वेद आदि ने बखान किया है ॥१॥ मैं तुझे अपना सिद्धान्त (निर्णय) सुनाता हूँ, सुनकर मन में धारण कर और सब छोड़कर मेरा भजन कर ॥२॥ मेरी माया से उत्पन्न संसार में अनेक प्रकार के स्थावर-जंगम जीव हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'अब सुनु परम बिमल...'—समल, विमल और परम विमल—तीन प्रकार की वाणी होती हैं। यहाँ प्रभु की वाणी तीन बार तीन तरह के विशेषणों के द्वारा कही गई हैं। १—'बचन सुखद गंभीर मृदु...' समल है, क्योंकि इसमें ऋद्धि, सिद्धि और मोक्ष आदि का प्रलोभन है। २—'परम सुखदायक' विमल है, क्योंकि इसमें ज्ञान आदि सहित भक्ति का वरदान है। ३—यह परम विमल है, क्योंकि इसमें प्रभु अपना सिद्धान्त कहते हैं।

पुनः परम विमल कहकर सत्य आदि विशेषणों से उसमें सब प्रकार के मलों का निराकरण भी किया है, यह सत्य है—उसमें झूठ-रूपी मल नहीं है। सुगम है—कठिनता रूपी मल से रहित है। निगमादि बखानी है—श्रुति-विरुद्धता रूपी मल से रहित है।

(२) 'सब तजि भजु मोहीं'—सब अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक सब धर्मों को एवं और सब साधनों एवं विकारों आदि को छोड़कर मेरा भजन कर ; यथा—"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं भज।" (गीता १८।६६); यही गीता का परम वाक्य है। श्रीसुग्रीवजी ने भी ऐसा ही कहा है ; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ये सब राम-भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक ॥ सत्रु-मित्र दुख सुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं ॥ अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती ॥" (कि० दो० ६ में)

(३) 'मम माया संभव संसारा' ; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया ॥" (बा० दो० २२७)।

सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहि भाये ॥४॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी ॥५॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी ॥६॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥७॥

अर्थ—वे सब मुझे प्रिय हैं (क्योंकि) सब मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। परन्तु इन सबमें मनुष्य मुझे विशेष अच्छे लगते हैं ॥४॥ उन मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में भी वेदों को धारण-करनेवाले (वेदज्ञ एवं

जिन्हें वेद कंठ हो), उनमें से भी वेद-धर्म पर चलनेवाले ॥५॥ फिर उनसे भी वैराग्यवान (अधिक) प्रिय हैं और फिर उनसे अधिक प्रिय ज्ञानी हैं, ज्ञानी से भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी हैं ॥६॥ फिर इनसे भी अधिक प्रिय मुझे अपना (अनन्य) दास है, जिसे मेरी ही गति है, दूसरे की आशा नहीं है ॥७॥

विशेष—(१) पहले 'मम माया संभव संसारा' कहा और फिर यहाँ 'मम उपजाये' भी कहा है ; अर्थात् अपनी माया के द्वारा मैं ही सबको पैदा करता हूँ ; यथा—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०); "ता सां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद. पिता ॥" (गीता १४।४) ।

(२) 'सब मम प्रिय' ; यथा—"अखिल विश्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥" (दो० ८६); अर्थात् सभी के हित पर मेरी दृष्टि रहती है ! फिर भी अधिकारी का तारतम्य कहते हैं, भाव यह कि जीवों को कर्म करने की स्वतंत्र शक्ति है । उसके अनुरोध से प्रियत्व मे तारतम्य है, यह समदर्शिता ही है कि यथायोग्य फल देते हैं । सबसे श्रेष्ठ साधन भक्ति है । अतः, इसमे अधिक प्रियत्व कहा है । इस सिद्धान्त से माया का स्वतंत्र कर्तृत्व और ईश्वर की निरपेक्षता स्वतः खंडित हो गई ।

(३) 'निज दासा' कहकर उत्तरार्द्ध मे उसका अर्थ खोला है कि जो अनन्यगति हो ; यथा—"एक बानि करुना निधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की ॥" (आ० दो० ९)—यह सुतीक्ष्णजी ने कहा है, ये भी अनन्य भक्त हैं ; यथा—"मनक्रम वचन राम पद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥" (आ० दो० ९) । 'न दूसरि आसा, ; यथा—"एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास । एक राम घन स्याम हित, चातक तुलसी दास ॥" (दोहावली २७७) ।

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥८॥
भगतिहीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥९॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥१०॥

अर्थ—मैं तुमसे फिर फिर सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवक के समान कोई भी प्रिय नहीं है ॥८॥ भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह भी मुझे सब जीवों के समान ही प्रिय है ॥९॥ और भक्तिवाला अत्यन्त नीच प्राणी भी (क्यों न हो वह) मुझे प्राण प्रिय है—ऐसी मेरी बानि (स्वभाव-आदत) है ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुनि पुनि सत्य कहउँ…'—यहाँ ज्ञानी और विज्ञानी से भी निज दास का अधिक प्रियत्व कहा गया है, इसपर अर्थवाद की शंका हो सकती है कि भक्ति कराने के लिये उत्तेजना देते हुए ऐसा कहा गया है । इस कारण से फिर फिर सत्य कहकर इसे तत्त्ववाद सिद्ध करते हैं; यथा—"पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा । सत्य सत्य पन सत्य हमारा ॥ पुनि पुनि अस कहि कृपा निधाना ।" (बां दो० १५१)। यहाँ आदि, मध्य और अन्त में तान बार सत्य शब्द कहा गया है, यथा—"सत्य सुगम निगमादि बखानी ।"; "पुनि पुनि सत्य कहउँ"; "सत्य कहउँ खग तोहि" इससे भी 'पुनि पुनि' कहा है । पुन भक्त प्रियत्व भी इस प्रसग में बार-बार कहा गया है; यथा—"मोहिं भगति प्रिय सतत", "प्रिय निज दासा ।"; "मोहिं सेवक

सम प्रिय कोउ नाहीं।"; "मोहि प्रान प्रिय···"; "सुचि सेवक मम प्रान प्रिय" इन सब बातों की सत्यता प्रतिपादन करने के लिये यहाँ 'पुनि पुनि सत्य···' कहा गया है।

(२) 'भगतिहीन बिरंचि···'—ब्रह्माजी जगत् भर में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सबके निर्माता हैं, पर वे भी यदि भक्ति हीन हो जायँ, तो मुझे 'अति प्रिय' न रह जायँगे, तब और जीवों की क्या बात ? भाव यह कि अति प्रियत्व भक्ति से ही है।

(३) 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।···'—'अति नीचउ' अर्थात् श्वपच आदि अंत्यज ही क्यों न हो। भक्ति से यदि उसका प्रियत्व मुझमें है, तो वह भी मुझे प्राण प्रिय है; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कान्ति।" (वि० २११)। तथा—"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।" (गीता ९।२९)। इसपर अ० दो० २१८ चौ० ३-५ भी देखिये। 'प्रान प्रिय' अर्थात् अत्यंत प्रिय; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७)।

वर्णाश्रम की ऊँचाई-निचाई देह-धर्म लेकर कही जाती है। भगवान् का आत्मसम्बन्धी प्रियत्व है। कहा भी है—"साहु ही को गोत गोत होत है गुलाम को।" (क० उ० १०७)। भगवान् जाति आदि देह व्यवहारों से अलग हैं। जो सर्वत्र से परांमुख होकर अनन्य-गति हो जाता है, वह उन्हीं के गोत्र का रह जाता है। तब सजातीय में प्रियत्व अधिक होना भी स्वाभाविक है।

दोहा—सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि, सावधान सुनु काग ॥८६॥

अर्थ—पवित्र, सुशील और उत्तम बुद्धिवाला सेवक कहो, किसको प्यारा नहीं लगता ? अर्थात् सभी को प्रिय लगता है। हे काक ! सावधान होकर सुन, वेद-पुराण ऐसी नीति कहते हैं ॥८६॥

विशेष—(१) 'सुचि'—स्वप्न में भी स्वामि धर्म से न डिगनेवाले; यथा—"अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धर्म न डोले ॥" (अ० दो० १८५); शुचिता मन, वचन और कर्म के भेद से तीन प्रकार की होती है; यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥" (आ० दो० १); तीनों प्रकार की अनन्यता ही शुचिता है। आगे स्वयं प्रभु शुचि सेवक के लक्षण कहते हैं; यथा—"सर्व भाव भज कपट तजि···सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।" (दो० ८७); सुशील अर्थात् जिसपर सब प्रसन्न रहें। सुमति अर्थात् समय साधक एवं परमार्थ मतिवाला।

भुशुंडिजी में ये तीनों गुण हैं—

'सुचि'; यथा—"देखि दीन निज दास।" (दो० ८१), "यह मम भगत करम मन बानी।" (दो० ११३)। सुसील'; यथा—"तहँ रह काग भसुंडि सुसीला।" (दो० ६१); "रिषि मम सहत सीलता देखी।" (दो० ११२)। 'सुमति'; यथा—"मति अकुंठ हरि भगति अखंडा।" (दो० ६१)।

(२) 'प्रिय कहु काहि न लाग' यह लोकमत और 'श्रुति पुरान कह' यह वेद मत कहकर इस सिद्धान्त को दोनों मत से पुष्ट किया। कहा भी है—"लोक वेद मत मंजुल कूला।" (बा० दो० ३८)। 'सावधान सुनु' क्योंकि यह प्रभु का 'निज सिद्धान्त' और उनकी 'परम विमल वाणी' है। इसपर कह चुके हैं; यथा—"सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहीं।" (दो० ८१); यह विना सावधानी से सुने हुए न होगा; यथा—"नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥" (आ० दो० ३४); यह श्रीशबरीजी से कहा है।

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥१॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥२॥
कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥३॥
कोउ पितु-भगत बचन-मन-कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥४॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥५॥

अर्थ—एक पिता के बहुत-से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव और आचरणवाले होते हैं॥१॥ कोई पंडित होता है, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूर वीर, कोई दानी॥२॥ कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मपरायण होता है, पर सभी पर पिता का एक-सा प्रेम होता है॥३॥ कोई मन, वचन और कर्म से पिता का भक्त होता है, स्वप्न में भी दूसरा धर्म नहीं जानता॥४॥ वह पुत्र पिता को प्राण के समान प्रिय होता है, यद्यपि वह सब प्रकार से अज्ञान ही है॥५॥

विशेष—(१) 'एक पिता के···'—ऊपर श्रुति-पुराण के प्रमाण देकर अब लोक-प्रमाण देते हैं' पृथक् गुण, शील, आचारवाले हैं, इसीसे कोई पंडित, कोई तापस आदि पृथक्-पृथक् वृत्तिवालों का होना कहते हैं 'बिपुल कुमारा'—यह दृष्टान्त है, आगे दार्ष्टान्त में भगवान् अपनी बहुत संतानों कहेंगे; यथा—"जीव चराचर जेते।···" उसीके अनुरोध से 'बिपुल' कहा है। 'कुमारा' कहा है, कुमारी भी होती हैं, पर उन्हें नहीं कहा, क्योंकि वे अबला हैं, केवल पिता के आश्रित हैं। पुत्रों में पुरुषार्थ होता है, उसीसे वे पंडित आदि होते हैं। उसी तारतम्य के दिखाने का यहाँ प्रयोजन है, इससे कुमारों को ही कहा है।

(२) 'कोउ पितु भगत···'—वह पिता की सेवा को ही एक मात्र धर्म जानता है। यह सब भुशुंडिजी में है; यथा—"यह मम भगत करम मन बानी।" (दो० ११२), 'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा'; यथा—"भजन हीन सुख कवने काजा।" (दो० ८१)।

यहाँ ईश्वर पिता है, बृहस्पति आदि पंडित, प्रचेता आदि तापस, सनकादि ज्ञाता, कुबेर धनवंत, दैत्य शूर, हरिश्चन्द्र आदि दाता, लोमश आदि सर्वज्ञ, शिवि-दधीचि आदि धर्म रत और ध्रुव, प्रह्लाद एवं अंबरीष आदि पितु-भक्त हैं।

(३) 'सब भाँति अयाना'—इसमें पाण्डित्य आदि कोई गुण नहीं हैं, इसीसे यह पितृ भक्ति को ही सर्वस्व समझता है। पिता इसके अज्ञान पर दृष्टि न देकर इसे प्राण के समान प्रिय मानता है। और सबों को अपने अपने गुणों का भी गौरव है, इससे वे पिता की सामान्य भक्ति करते हैं।

येहि विधि जीव चराचर जेते । त्रिजग देव-नर-असुर-समेते ॥६॥
अखिल विश्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥७॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया । भजइ मोहि मन बच अरु काया ॥८॥

शब्दार्थ—त्रिजग (तिर्यक्) = मनुष्य के अतिरिक्त पशु पक्षी सर्प आदि जिनका खाया हुआ आहार तिरछा होकर पेट में जाता है, वे तिर्यक् कहाते हैं, यथा—'त्रिजग देव नर जो तनु धरऊँ। तहँ तहँ राम भजन अनुसरऊँ ॥' (दो० १०१), उपाया (उपाना—पैदा करना) = उपजाया हुआ।

अर्थ—इस प्रकार तिर्यक, देव, मनुष्य, असुर समेत जितने भी जड और चेतन जीव हैं, (इनसे पूर्ण) यह सम्पूर्ण जगत् मेरा पैदा किया हुआ है और सबपर मेरी बराबर दया है ॥६–७॥ पर इनमें से जो मद और माया छोड़कर मन, वचन और तन से (मुझको) भजता है (वह) ॥८॥

विशेष—(१) 'येहि विधि' अर्थात् उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार

दृष्टान्त	दार्ष्टान्त
(१) एक पिता के बिपुल कुमारा।	अखिल विश्व यह मोर उपाया।
(२) होहिं पृथक गुन सील अचारा। 'कोउ पंडित' से 'धर्मरत' तक।	जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर। इन सबके भिन्न भिन्न गुण स्वभाव और आचरण होते हैं।
(३) सब पर पितहि प्रीति सम होई।	सब पर मोहि बराबरि दाया।
(४) कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा।	भजइ मोहिं मन बच अरु काया
(५) सपनेहु जान न दूसर धर्मा।	परिहरि मद माया, कपट तजि
(६) सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।	सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
(७) जद्यपि सो सब भाँति अयाना।	भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। —जीव चराचर कोइ।

(२) 'परिहरि मद माया'—पाण्डित्य आदि गुणों का मद छोड़कर और नानात्व जगत् की दृष्टि रूपी माया छोड़कर। मद भक्ति का कंटक कहा गया है। जाति, विद्या, बड़ाई, रूप, यौवन आदि पाँच प्रकार के मद कहे गये हैं। माया के त्याग बिना परलोक साधन नहीं बनता, यथा—"तजि माया सेइय परलोका।" (कि० दो० २२)। जगत् मात्र को ईश्वर का शरीर मानते हुए उससे प्रेम वर्ताव करना हरि भक्ति ही है। मैं मोर का वर्ताव माया है, इसका त्याग करना चाहिये।

दोहा—पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥

सो०—सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस विचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब ॥८७॥

अर्थ—पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, अथवा चाहे स्थावर-जंगम कोई भी जीव हो, (जो ही) कपट छोड़कर सर्व भाव से मुझे भजे, वही मुझे परम प्रिय है। हे खग ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मुझे शुचि सेवक प्राण प्रिय है, ऐसा विचार कर सब आशा-भरोसा छोड़कर मुझे भज ॥८७॥

विशेष—(१) 'पुरुष अधिकारी'—नारी अर्द्ध-अधिकारिणी और नपुंसक अनधिकारी हैं। साथ ही चराचर भी कहकर कोई भी जीव हो सबको सूचित किया गया है।

(२) 'सर्व भाव'—जगत् में माता, पिता, बंधु, सखा, धन, सर्वस्व आदि सम्बन्धी जितने भाव हैं। उन सब भावों से प्रभु ही का भजन करे, यथा—"माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥" भगवान् ने श्रीमुख से भावों को स्वीकार किया है ; यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।···गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्॥" (गीता ९।१७-१८)। गीता ९।३० के 'अनन्य भाक्' और १८।६२ के 'सर्व भावेन' का भी यही भाव है। श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"यहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि यक ठाई।" (वि० १०३) पुनः वि० ७९ में भी ११ भाव कहे गये हैं, इन सब भावों से भगवान् ही का भजन करना चाहिये।

पूर्व कहा गया था कि नीच प्राणी भी भक्त हो तो वह मुझे प्राण प्रिय है और यहाँ कहते हैं—'परिहरि मद माया' भाव यह कि नीचों में भी अपने अनुरूप मद होता ही है और माया का सम्बन्ध तो सभी से है ही। यह भी भाव है कि पापी भी भक्त होने से शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और वह माया का भी अंत पा जाता है ; यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।" (गीता ९।३०-३१)।

'पुरुष नपुंसक नारि वा ··'; यथा—"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥" (गीता ९।३२)।

(३) 'भजु मोहिं, परिहरि आस भरोस सब।'; यथा—"यह बिनती रघुबीर गोसाईं। और आस बिश्वास भरोसो हरउ जिय की जड़ताई॥ चहउँ न सुगति, सुमति, संपति, कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥" (वि० १०३)। आशा दुःख रूपा है, इसी से यह

त्याज्य है ; यथा—"अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि ! दारुन आस पिसाची ।" (वि० १६३) आशा त्याग से भक्ति की शोभा है ; यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा । हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥" (कि० दो० १५)। औरों की आशा करने से स्वामी के विश्वास की हीनता सिद्ध होती है और बिना विश्वास भक्ति कहाँ ? यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा । करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥" (दो० ४५) ; "बिनु बिस्वास भगति नहिं ।" (दो० ९०)।

प्रभु की इस सिद्धान्त भूता विमल वाणी के उपक्रम में कहा गया था—"काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग ।" (दो० ८५) ; यहाँ उसी का उपसंहार है—"अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि..."

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही । सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥१॥
प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ । तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ ॥२॥
सो सुख जानइ मन अरु काना । नहिं रसना पहिं जाइ बखाना ॥३॥
प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना । किमि कहि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना ॥४॥
बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई । लगे करन सिसु-कौतुक तेई ॥५॥

अर्थ—तुझे कभी काल नहीं व्याप्त होगा, मेरा निरंतर स्मरण और भजन करना ॥१॥ प्रभु के वचनामृत सुनकर तृप्ति नहीं होती थी, शरीर से रोमांचित होकर मन में अत्यन्त हर्ष होता था ॥२॥ वह सुख मन और कान ही जानते हैं, जिह्वा से उसका बखान नहीं हो सकता ॥३॥ प्रभु की शोभा का सुख नेत्र जानते हैं, पर वे कैसे कह सकें ? उनके वाणी तो है नहीं ॥४॥ बहुत प्रकार मुझे समझाकर सुख देकर फिर वही शिशु लीला करने लगे ॥५॥

विशेष—(१) 'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही । सुमिरेसु...'; यथा—"नाम पाहरु राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट । लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट ॥" (सुं० दो० ३०); 'निरन्तर'; यथा—"अति अनन्य जे हरि के दासा । रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा ॥" (वैराग्य सं० ४०)। भगवान् में एकरस चित्तवृत्ति का लगा रहना स्मरण है और साथ ही प्रतिमा-रूप में अथवा मानसी मूर्त्ति में कैंकर्यरत रहना भजन है, इससे काल का नहीं व्यापना कई प्रकार से होता है—

(क) जैसा समय आता है, वैसी मनुष्यों की वृत्ति हो जाती है । किन्तु भगवान् के भजन-स्मरण से चित्त शुद्ध सात्त्विक ही रहता है । अन्त तक ऐसे ही रहते हुए शरीर त्याग होने पर वह भगवान् को ही पाता है । फिर सदा के लिये काल के फंदे से छूट जाता है । मृत्यु के समय का दुःख भी उसे नहीं व्याप्त होता, यथा—"राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग । सुमनमाल जिमि कंठ ते, गिरत न जानै नाग ॥" (कि० दो० १०)।

(ख) श्रीनारदजी से भगवान् का वचन है—"मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् । प्रजा सर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्चमदनुग्रहात् ॥" (भाग० १।६।२५) अर्थात् मेरे अनुग्रह से तुम्हारी बुद्धि अचल

बनी रहेगी, कल्पान्त होने पर भी इस जन्म की स्मृति बनी रहेगी। यह बात आगे भुशुंडिजी कहते हैं; यथा—"सुधि मोहिं नाथ जन्म बहु केरी। सिवप्रसाद मति मोह न घेरी॥" (दो॰ ९५)। अत, जन्मान्तर की स्मृति रहना भी काल का नहीं व्याप्त होना है।

यहाँ पर आगे दो० ६६ मे श्रीगरुड़जी इसी बात का प्रश्न भी करेंगे कि तुम्हें काल क्यों नहीं व्याप्त होता। उसके उत्तर मे एक तो यहाँ का यह वरदान है फिर श्रीलोमशजी के और श्रीशिवजी के भी वरदान आगे कहे जायँगे।

(२) 'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"एवमस्तु कहि रघुकुल-नायक। बोले बचन परम सुखदायक॥" (दो॰ ८४) है। 'न अघाऊँ'—अमृत से तृप्ति होती है, परन्तु प्रभु बचनामृत से नहीं होती थी।

(३) 'सो सुख जानइ...'—वचन कानों ने सुना और मन ने उसके आनन्द का अनुभव किया। अतः, ये ही जानते हैं। जिह्वा ने तो अनुभव किया नहीं तो वह कैसे कहे? यह अनिर्वचनीय कहने की एक रीति है; यथा—"गिरा अनयन नयन बिनुबानी।" (बा॰ दो॰ २२८) इसपर भी कहा गया है। 'जानहिं नयना' का भाव ऊपर की चौपाई मे आ गया।

(४) 'बहु बिधि मोहि प्रबोधि...'—ऊपर—"एवमस्तु कहि" से "कबहूँ काल न ब्यापिहि तोहीं। ..." तक बहुत प्रकार से समझाना कहा गया है कि कई वरदान दिये; इनकी बुद्धि की सराहना की; अपनी रीझ कही; सर्वगुण सम्पन्न किया; माया रहित किया। अपने ऐश्वर्य का उपदेश किया, निश्चल भक्ति करना कहा और फिर अपनी विमल वाणी मे निज सिद्धान्त भी समझाया कि शुचि सेवक मुझे प्राणप्रिय हैं, इसपर बार-बार प्रतिज्ञा भी की, फिर इन्हें काल से भी अभय किया।

(५) 'सिसु कौतुक तेई'—'तेई' अर्थात् उपर्युक्त—"किलकत मोहि धरन जब धावहिं" से "जाउँ समीप गहन पद···" इत्यादि, एवं वैसी और भी क्रीड़ाएँ जो पूर्व करते थे।

यहाँ तक भुशुंडि प्रति राम-गीता की समाप्ति हुई।

सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥६॥
देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई॥७॥
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति-चरित ललित कर गाना॥८॥

अर्थ—नेत्रों में आँसू भरकर मुख को कुछ रूखा (उदास) करके माता की ओर देखकर (सूचित किया कि) अत्यन्त भूख लगी है॥६॥ देखकर बडी शीघ्रता से माता उठकर दौड़ीं और कोमल वचन कहकर छाती से लगा लिया॥७॥ गोद में लेकर दूध पिलाती हैं, श्रीरघुनाथजी के सुन्दर चरित गान करती हैं॥८॥

विशेष—(१) 'चितइ मातु लागी...'—अभी बोल नहीं सकते, इससे चेष्टा-द्वारा क्षुधा को सूचित

किया। 'देखि मातु आतुर...'—शीघ्र उठ दौड़ीं और मृदु वचन कहा कि मैं बलिहारी जाऊँ, बड़ी भूख लगी है, अभी दूध पियो—यह इसलिये कि कहीं रोने न लगें। और भी मृदु वचन हैं; यथा—"छहरू छबीले छौना छगन मगन मेरे कहत मल्हाइ मल्हाई।" (गी० बा० ११) इत्यादि।

(२) 'रघुपति चरित ललित'; यथा—"मैं कछु करब ललित नर-लीला।" (आ० दो० २३); अर्थात् प्राकृत बालकों की सी बाल लीला, जिसमें ऐश्वर्य कुछ भी न जान पड़े। 'करि गाना'; यथा—"सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।...बाल केलि गावत हलरावत पुलकित प्रेम-पियूष पिये। ..." (गी० बा० ७)।

सोरठा—जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी - नर - नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥
सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म-सुखहि सज्जन सुमति॥८८॥

अर्थ—जिस सुख के लिये सुख देनेवाले, कल्याण रूप, त्रिपुरारि श्रीमहादेवजी ने अमंगल वेष धारण किया; अवधपुरी के स्त्री-पुरुष उसी सुख में सदैव डूबे रहते हैं। उस सुख का लवलेश (अत्यन्त अल्पांश) मात्र जिन्होंने एक बार स्वप्न में भी प्राप्त किया, हे गरुड़जी! वे सुंदर बुद्धिमान् सज्जन ब्रह्म-सुख को कुछ नहीं गिनते॥

विशेष—(१) 'जेहि सुख लागि···' श्रीशिवजी इसलिये अशुभ वेष बनाये रहते हैं कि जिससे किसी से विशेष सम्पर्क नहीं रहे। जितनी ही संसार से विरक्ति रहती है, उतना ही प्रभु की सान्निध्य वृत्ति का अधिक सुख मिलता है। श्रीशिवजी का इष्ट बाल-रूप है; यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू।" (बा० दो० १११); पर कहा गया है। यही ध्यान इन्होंने श्रीलोमशजी के द्वारा श्रीभुशुंडिजी को भी दिया है। यहाँ उसी रूप का क्रीड़ा-सुख का प्रसंग भी है।

श्रीशिवजी असंग रहकर ध्यान किया करते हैं, परन्तु पुरारि ऐसे समर्थ भी संतत एकरस आस्वादन नहीं कर पाते। उसी सुख में श्रीअवधपुरी के सामान्य स्त्री-पुरुष निरंतर निमग्न रहते हैं। अतः, व्यवहार में रत भी श्रीअवधवासी श्रीशिवजी से अधिक बड़भागी हैं।

(२) 'असुभ वेष'; यथा—"कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तनु बिभूति पट केहरि छाला॥ गरल-कंठ उर नर सिर माला। असिव वेष सिव धाम कृपाला॥" (बा० दो० ९१); अशुभ वेष से औरों का अमंगल होता होगा, इस शंका के निवारण करने के लिये 'सिव सुखद' और 'पुरारि' कहा गया है कि वे स्वयं कल्याणमय हैं, उन्होंने त्रिपुर को मारकर तीनों लोकों को सुखी किया है।

'ते नहिं गनहिं···'—ब्रह्म-सुख और आनंदों की अवधि है, पर भक्ति से प्राप्त होनेवाले परमानंद के

समस्त वह अत्यंत तुच्छ हो जाता है। राजा श्रीजनकजी और सनकादिक के प्रसंग में दिखाया गया है— देखिये दो० ४२ और बा० दो० २१५ चौ० ५। ये लोग 'सज्जन' और 'सुमति' भी हैं। जो असज्जन और दुर्बुद्धि 'अहमम मलिन जन' हैं, वे तो इसे जानते ही नहीं।

मैं पुनि अवध रहेउँ कछु काला। देखेउँ बालबिनोद रसाला ॥१॥
राम-प्रसाद भगति बर पायउँ। प्रभु-पद बंदि निजाश्रम आयउँ ॥२॥
तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया ॥३॥
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरिमाया जिमि मोहि नचावा ॥४॥

अर्थ—फिर मैं कुछ समय तक श्रीअवध में रहा और रसीले बालविनोद देखे ॥१॥ श्रीरामजी की प्रसन्नता से मैंने भक्ति का वरदान पाया और प्रभु के चरणों की वंदना करके अपने आश्रम पर आया ॥२॥ जबसे श्रीरघुनाथजी ने मुझे अपना लिया, तबसे मुझे माया नहीं व्याप्त हुई ॥३॥ जिस प्रकार भगवान की माया ने मुझे नचाया, वह सब गुप्त चरित मैंने कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'कछु काला'—पाँचवें वर्ष की समाप्ति तक; यथा—"बरस पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो० ७४); यहाँ अवस्थानन्य का आदर्श दिखाया गया है। 'रसाला'—विशेष रस-(आनंद) मय।

(२) 'जब ते रघुनायक अपनाया।'—प्रभु जिसे कृपा करके अपनाते हैं, उसे फिर माया नहीं व्याप्त होती; यथा—"करि करुना भरि नयन बिलोकहु तब जानउँ अपनायो।" (गी० सुं० ४४), प्रभु ने श्रीभुशुंडिजी के शिर पर हाथ फेरा और उन्हें सदा के लिये माया से अभय किया. यथा "माया-संभव भ्रम सब, अब न व्यापिहहिं तोहिं ॥" (दो० ८५); यही अपनाना है। वि० २६८ भी देखिये।

(३) 'यह सब गुप्त चरित···'—यह रहस्य और अपना मोह अभी तक मैंने किसी से नहीं कहा था, क्योंकि ये कहने की बातें नहीं हैं। उपक्रम में ही कहा था—"परम रहस्य मनोहर गावउँ।" (दो० ७१); अर्थात् यह गोपनीय रहस्य है।

उपक्रम—	उपसंहार (यहाँ)
१. बाल चरित बिलोकि हरषाऊ। (दो० ७४)	देखेउँ बाल बिनोद रसाला।
२. तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। (,, ,,)	प्रभु पद बंदि निजाश्रम आयउँ।
३. परम रहस्य मनोहर गावउँ। (,, ७१)	यह सब गुप्त चरित मैं गावा।
४. रघुपति प्रेरित ब्यापी माया। (,, ७७)	हरि माया जिमि मोहि नचावा।

इस गुप्त चरित का प्रसंग दो० ७७ चौ० १ से प्रारम्भ होकर यहाँ समाप्त हुआ।

श्रीभुशुंडिजी का 'निजी अनुभव'

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा ॥५॥
राम-कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम-प्रभुताई ॥६॥

जाने बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥७॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई । जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥८॥

शब्दार्थ—अनुभव = वह ज्ञान जो साक्षात् करने से प्राप्त हो, परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान, तजरबा, यथा—"मोहि सम यह अनुभयेउ न दूजे ।" (अ० दो० १) ।

अर्थ—हे खगेश ! अब मैं अपना अनुभव किया हुआ ज्ञान कहता हूँ कि बिना भगवान् के भजन के क्लेश नहीं छूटते ॥५॥ हे खगराज ! सुनो, बिना श्रीराम कृपा के श्रीरामजी की प्रभुता नहीं जानी जा सकती ॥६॥ बिना (प्रभुता) जाने विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के प्रीति नहीं होती ॥७॥ बिना प्रीति के भक्ति दृढ़ नहीं होती जैसे कि हे खगपति ! (बिना स्नेह अर्थात् तेल के) जल की चिकनाई (दृढ़ नहीं रहती) ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनुहरि-भजन न जाहि क्लेसा ।', यथा—"जब कब रामकृपा दुख जाई । तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥" (वि० १२७), क्लेश—दो० ७८ चौ० १ में देखिये । यह अनुभव की बात है, इसलिये इसे आगे पुष्ट करते हुए 'सुनु खगराई' कहकर इसका वर्णन प्रारंभ करते हैं । श्रोता की प्रतीति के लिये अंत में वक्ता लोग अपना अनुभव भी कहते हैं । इसका उपसंहार—"अस बिचारि मति धीर " (दो० ९०), पर करेंगे । ऐसे ही श्रीशिवजी ने भी कहा है, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ॥" (आ० दो० ३८), 'अब'—अभी तक श्रीरामजी का कथन कहा, अब अपना अनुभव कहता हूँ ।

श्रीरामजी के भजन से उनकी कृपा होती है, यथा—"भजत कृपा करहहि रघुराई ।" (बा० दो० १११), और श्रीराम-कृपा से दु:ख दूर होता है, ऊपर प्रमाण लिखा गया है, किन्तु भजन दृढ़ चाहिये, उसका साधन आगे कारणमाला अलंकार से कहते हैं कि हरि के भजन से श्रीराम कृपा, श्रीराम कृपा से प्रभुता का ज्ञान, प्रभुता के ज्ञान से प्रभु में विश्वास, विश्वास से प्रीति और प्रीति से भक्ति दृढ़ होती है । इस प्रकार श्रीराम-भजन ही साधन और फिर वही साध्य भी है । अन्यत्र भी कहा है—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत ।" (वि० २५१), "तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी । जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी ॥" (आ० दो० १२) । श्रीराम कृपा से विशुद्ध संत मिलते हैं, उनसे श्रीरामजी की प्रभुता का ज्ञान हो जाता है, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परितेही । चितवहिं राम-कृपा करि जेही ॥ राम कृपा तव दरसन भयऊ । तव प्रसाद सब संसय गयऊ ॥" (दो० ६८) ।

(२) 'जल कै चिकनाई'—चिकनाई का अर्थ स्निग्धता है, प्रीति का पर्याय नाम स्नेह है । स्नेह तेल को भी कहते हैं । यहाँ स्नेह को नहीं रखकर प्रीति शब्द कहकर प्रतीति के साथ अनुप्रास मिलाया गया है । प्रीति की जगह पर 'स्नेह' वाले पर्याय की ओर संकेत करते हुए 'चिकनाई' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसके अन्वय मे 'जिमि खगपति' के आगे 'स्नेह बिना' ये दो शब्द विवक्षित समझे जाने चाहिये । अन्वय इस प्रकार होगा "हे खगपति ! प्रीति बिना भक्ति नहिं दृढाई जिमि स्नेह बिना जल कै चिकनाई नहिं दृढाई ।" अर्थ—हे गरुड़ ! प्रीति बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती, जैसे तैल बिना जल की चिकनाई दृढ़ नहीं रहती । तिल, रेंडी, सरसों आदि के तैलों की चिकनाई स्थिर होती है, वह तैल यदि जल में मिला हो तो उसकी चिकनाई स्थिर रहती है । भाव यह है कि जल-मात्र शरीर पर चुपड दें, तो थोडी देर में ही चिकनाई नहीं रहती है और तैल मिला हुआ जल चुपडें तो वह स्निग्धता देर तक दृढ़ रहती है । ऐसे ही प्रीति बिना

जब तक सत्संग रहता है, भक्ति भी रहती है, संग छूटा कि फिर वह नहीं रह जाती। यदि प्रीति रहती है तो हृदय में दृढ़ भक्ति बनी रहती है।

जैसे श्रीसतीजी को पहले श्रीशिवजी के कहने-मात्र से प्रतीति नहीं हुई, जब उन्होंने परीक्षा करके श्रीरामजी का महत्त्व जाना तब उनकी प्रभुता में प्रतीति हुई। फिर श्रीरामजी मे स्थिर प्रीति हुई कि जिससे दूसरे जन्म मे भी कथा ही पर उनका चित्त रहा। पुन. श्रीपार्वतीजी की श्रीशिवजी मे प्रीति थी, यथा—"सती मरत हरि सन वर माँगा। जनम जनम सिव-पद-अनुरागा॥" (बा० दो० ६४); इसी से श्रीशिवजी मे उनकी दृढ़ भक्ति हुई ; यथा—"नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मन लागा॥" (बा० दो० ७३); सप्तर्षि की कठिन परीक्षा में उनके खंडन करने पर भी वह प्रीति नहीं छूटी।

सो०—बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद-पुरान, सुख कि लहिय हरि-भगति-बिनु॥
कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचिपचि मरिय॥८९॥

शब्दार्थ—'पच मरना' मुहावरा है ; अर्थात् जी तोड़कर बहुत श्रम से कोई काम करना।

अर्थ—क्या विना गुरु के ज्ञान हो सकता है? क्या वैराग्य-विना ज्ञान हो सकता है? (इसी तरह) वेद-पुराण कहते हैं कि भगवान् की भक्ति के विना क्या सुख की प्राप्ति हो सकती है? हे तात! स्वाभाविक संतोष के विना क्या कोई शान्ति पा सकता है? क्या जल के विना नाव चल सकती है? चाहे करोड़ों उपाय करके पच-पच मरिये॥८९॥

विशेष—(१) 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान···'—भाव यह कि ज्ञान के लिये गुरु और वैराग्य, इन दोनों की आवश्यकता है। प्रथम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु प्राप्त हों, तब उनसे सत्-असत् का ज्ञान हो, फिर जानकर असत् के त्याग करने के लिये शिष्य मे वैराग्य वृत्ति भी चाहिये, अन्यथा गुरु-उपदेश व्यर्थ हो जायगा। असत् से चित्त वृत्ति पृथक हुए विना सत् मे स्थिरता नहीं होगी। सत् का ग्रहण कर उसमें स्थिरता ही ज्ञान है। देह और तत्सम्बन्धी वर्त्ताव असत्-स्थिति है। आत्मा और तत्सम्बन्धी वर्त्ताव अर्थात् हरि भक्ति सत् है। जीवात्मा भगवान् का अंश है, उनकी वस्तु है। अतः, उनके लिये रहना अर्थात् उनकी भक्ति करना ही इसका उपयुक्त धर्म है। इस स्थिति पर आरूढ़ होना ज्ञान का प्राप्त करना है।

गुरु का अर्थ है—'अज्ञान रूपी अंधकार का नष्ट करनेवाला।'; यथा—"गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु-शब्दस्तन्निरोधकः अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥"

'सुत वित-देह-गेह-स्नेह' रूपी नानात्व दृष्टि ही अज्ञान है ; यथा—"सुत-वित नारि-भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०); ज्ञानी गुरु लोग इन ममताओं को त्यागे हुए रहते हैं ; यथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५)। अतः, वे अपने आचरण और उपदेश से औरों की ममता (उपर्युक्त असत्) का त्याग करा सकते हैं। फिर अपने आचरण से ही भक्ति भी दृढ़ कर सकते हैं।

जैसे दर्पण और सूर्य दोनों के योग से मुख देखा जाता है, वैसे ही वैराग्य और गुरु दोनों से ज्ञान होता है।

(२) 'सुख कि लहिय हरि भगति बिनु'—हरि भक्ति बिना सुख नहीं; यथा—"श्रुति पुरान सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥" से "जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।" (दो १५१) तक, इसमें ९ असंभव दृष्टान्तों से पुष्ट किया गया है कि भक्ति बिना सुख नहीं मिलता। पुनः सुख के लिये स्वाभाविक संतोष की भी आवश्यकता है, यह भी आगे कहते हैं—

(३) 'कोउ बिश्राम कि पाव···'—इसमें सहज संतोष जल और विश्रामवृत्ति-निर्वाह नाव का चलना है। सहज संतोष से सुख होता है; यथा—"जथा लाभ संतोष सुख" (दोहावली १२); आगे दो अर्द्धालियों में इसे ही पुष्ट करेंगे कि संतोष से कामनाएँ नाश होती हैं, तब सुख शांति प्राप्त होती है और कामनाओं के मिटने का साधन श्रीराम-भजन भी कहेंगे, इस तरह प्रत्येक बात के दो-दो साधन कहते हैं।

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥१॥
राम-भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल-बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥२॥
बिनु बिज्ञान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ॥३॥

अर्थ—बिना संतोष के कामनाएँ नहीं नाश होतीं और कामनाओं के रहते स्वप्न में भी सुख नहीं होता॥१॥ राम-भजन के बिना क्या कामनाएँ मिट सकती हैं? (अर्थात् कभी नहीं) क्या स्थल (भूमि) के बिना कभी वृक्ष जमा है? (अर्थात् कभी नहीं) ॥२॥ क्या बिना विज्ञान के सबमें समता भाव आ सकता है? क्या बिना आकाश के कोई अवकाश (स्थान, बीच) पा सकता है? (अर्थात् कभी नहीं) ॥३॥

विशेष—(१) 'बिनु संतोष न काम नसाहीं।'; यथा—"जिमि लोभहिं सोखइ संतोषा।" (कि॰ दो॰ १५); संतोष बिना कामनाएँ बनी रहती हैं; यथा—"नहिं संतोष तौ पुनि कछु कहहू।" (बा॰ दो॰ १०२); 'काम अछत सुख सपनेहुँ नाही।'; यथा—"पाकारिजित काम बिश्राम हारी।" (वि॰ ५८); 'राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।'—श्रीराम-भजन करनेवालों की सब कामनाएँ श्रीरामजी के विषय में ही हुआ करती हैं। उनकी इन्द्रियाँ उन्हीं को अपना विषय बनाये हुए तृप्त रहती हैं। जैसे कि नेत्रों से उनका रूप, श्रवणों से उनका यश, मन से उन्हीं की भावना को ग्रहण करते हुए इन्द्रियों को अन्यत्र जाने का अवकाश ही नहीं रहता। इस तरह काम-रूपी वृक्ष के उगने के लिये स्थल ही नहीं रहता।

काम नाश का सामान्य उपाय संतोष कहा गया, ऐसे ही काम के रहते हुए सुख के न रहने के लिये भी सामान्य हो कथन है; यथा—'बिनु संतोष न···काम अछत सुख···' परन्तु इनके दूसरे साधन काकु द्वारा जोर देकर कहे गये; यथा—"राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।' 'सुख कि लहिय हरि भगति बिनु।' इस प्रकार कहने के भाव ये हैं कि संतोष हो जाय और काम नाश भी हो जाय, तब भी हरि भजन करना चाहिये, जिससे संतोष और सुख की स्थिरता बनी रहे। क्योंकि हरि-भजन करने से परम समर्थ भगवान् रक्षक रहते हैं; यथा—"सीम कि चापि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (बा॰ दो॰ १२५)।

(२) 'बिनु बिज्ञान कि समता आवइ'—जैसे आकाश में सब ओर जाने का अवकाश रहता है। वैसे ही विज्ञान होने पर सब ओर समता का संयोग प्राप्त होता है। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को

विज्ञान कहते हैं कि जीव प्रकृति के तीनों गुणों के प्राधान्य में होनेवाली तीनों अवस्थाओं से पृथक् हैं। गुणों के द्वारा ही तीनों अवस्थाओं के कार्य होते हैं, जिनसे शत्रु-मित्र आदि भाव मन में आया करते हैं। जब इन कार्यों को जीव अपने से भिन्न समझ लेता है तो गुणों के विकार रूप राग-द्वेष आदि को गुणों पर ही डाल देता है, फिर किसी के प्रति उसकी विषमता हो ही नहीं सकती। विज्ञान—दो० ११७ में देखिये। कहा भी है—"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणागुणेषु वर्तंत इति मत्वा न सज्जते॥" (गीता ३।२८); अर्थ—परन्तु हे अर्जुन! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञानी) सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं—ऐसा मानकर नहीं आसक्त होता है; अर्थात् पंच महाभूत, अंतःकरण, इन्द्रियाँ और विषय के समुदाय गुण विभाग हैं और इनकी परस्पर चेष्टाएँ कर्म-विभाग हैं। इन दोनों विभागों से आत्मा को पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

ऊपर जैसे संतोष और सुख की प्राप्ति श्रीराम-भजन से कही गई, वैसे यह विज्ञान भी भजन से शीघ्र प्राप्त होता है; यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (गीता १४।२६); अर्थात् अनन्य भक्ति से भी गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है।

भाव यह कि इन सबके मूल रूप श्रीराम-भजन में ही जीवों को लगना चाहिये। इन सब उपर्युक्त दृष्टान्तों से 'बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।' की ही पुष्टि होती है।

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥४॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा॥५॥
सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई॥६॥

अर्थ—बिना श्रद्धा के धर्म नहीं होता, क्या बिना पृथिवी (तत्त्व) के कोई गंध पाता है?॥४॥ बिना तप के क्या (कोई) तेज का विस्तार कर सकता है? क्या बिना जल-तत्त्व के संसार में रस हो सकता है?॥५॥ क्या पंडितजन की सेवा बिना शील मिल सकती है? अर्थात् नहीं, जैसे कि हे गोसाईं! बिना तेज (अग्नितत्त्व) के रूप नहीं हो सकता है॥६॥

विशेष—(१) 'श्रद्धा बिना धर्म...'—पृथिवी तत्त्व में ही गंध गुण रहता है, वैसे ही श्रद्धा में धर्म रहता है, श्रद्धा बिना धर्म व्यर्थ हो जाता है; यथा—"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥" (गीता १७।२८)। पृथिवी में गंध गुण है, उससे सबकी वासना-पूर्ति होती है। वैसे ही श्रद्धा पूर्वक धर्म से सब प्रकार की वासनाएँ पूरी होती हैं।

(२) 'बिनु तप तेज...'—जलतत्त्व में ही रस गुण रहता है, वैसे ही तपस्या में ही तेज रहता है। तप से इन्द्रिय निग्रह होकर मन निर्मल होता है, विषय रूपी काई मन मुकुर से छूटती है, और फिर तेज का विस्तार होता है।

(३) 'सील कि मिल...'—अग्नितत्त्व में ही रूप रहता है, वैसे ही बुधों की सेवा से ही शील (सद्वृत्ति) प्राप्त होती है। उनकी शिक्षा से एवं उनकी रीति रहस्य देखने से यह (सेवक) भी शीलवान् हो जाता है।

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा । परस कि होइ बिहीन समीरा ॥७॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा । बिनु हरिभजन न भव-भय नासा ॥८॥

अर्थ—आत्म सुख (स्वस्वरूपानन्द) बिना क्या मन स्थिर (शान्त) हो सकता है ? क्या पवन-तत्त्व के बिना स्पर्श हो सकता है ? ॥७॥ क्या बिना विश्वास के कोई भी सिद्धि हो सकती है ? (कभी नहीं, इसी तरह) बिना हरि-भजन के भव-भय का नाश नहीं हो सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'निज सुख बिनु मन ..'—वायु-तत्त्व में ही स्पर्श गुण रहता है, वैसे ही आत्म सुख में ही मन की स्थिरता हो सकती है, अन्यत्र नहीं। वायु का स्थिर करना दुष्कर है, वैसे मन का स्थिर होना भी कठिन है ; यथा—"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥" (गीता ६।३४) ; मन विषयों के लिये चंचल रहता है, पर जब वह आत्मसुख पा जाता है, तो स्थिर हो जाता है ; यथा—"ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि बासर धावै ॥" (वि० १६) ; अर्थात् जो तीनों तापों से रहित शीतल, विषय निम्ब की कटुता रहित मधुर और मृत्युधर्म से रहित अमृत रूप ब्रह्मानंद है, यदि मन उसका अनुभव कर पावे, तो क्या मृगतृष्णा रूप विषय का लोलुप हो ?

यहाँ ब्रह्मानंद जीव के स्वस्वरूप प्रयुक्त सुख को कहा गया है जो कि उपासना द्वारा प्राप्त होता है यथा—"ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभु-पद प्रीति।" (दो० १५) ; इसी को 'नित्य सुख' एवं 'आत्म सुख' भी कहते हैं बा० दो० २१ चौ० १-२ भी देखिये। यहाँ जो कोई इन्द्रिय-सुख प्रसंग लेकर प्राकृत सुख का अर्थ करते हैं, वह इससे अयुक्त है कि वह क्षण मात्र स्थिर कर फिर और अधिक चंचल करता है ; यथा—"पावक काम भोग घृत ते सठ कैसे परत बुझायो।" (वि० १९९) ; और यहाँ तो मन का शान्त होना कहा गया है।

(२) 'कवनिउँ सिद्धि कि...'; यथा—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥" (बा० मं० श्लो० २)। तथा—"गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही ॥" (बा० दो० ७९)।

'बिनु हरि भजन न भव भय नासा ।'—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान" से "बिनु बिस्वासा" तक बीस विनोक्ति उदाहरण कहकर कहते हैं कि इसी तरह हरि-भजन बिना भव-भय का नाश नहीं होता। भाव यह कि यह बात बीसो बिस्वा सिद्धान्त भूत है ; अर्थात् अटल सिद्धान्त है।

"बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।" (दो० ८८) ; उपक्रम है और "बिनु हरि भजन न भव भय नासा।" उपसंहार है पर पुन.—"राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।" उपक्रम है और "बिनु हरि भजन न भव भय नासा।" उपसंहार है। इस प्रसंग के बीच में आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि, पवन और इनके गुण अवकाश, गंध, रस, रूप और स्पर्श कहे गये। यहाँ तत्वों का कोई क्रम नहीं है, विनोक्तिअलंकार के साथ स्वाभाविक दृष्टान्त दिये गये हैं।

भुशुंडिजी के अनुभव पर रहस्यात्मक दृष्टि।

(क) विज्ञान होना चित्त का धर्म है ; यथा—"योगो विरागः स्मरणं ज्ञानं विज्ञानमेव च ।

उच्चाटनं तथा ज्ञेयं चित्तस्यांशानिषट् यथा ॥" (जिज्ञासापंचक); समता भी चित्त में ही कही जाती है; यथा—"चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दियटि बनाइ।" (दो॰ ११७); आकाश के साहाय्य से चित्त की निष्पत्ति भी कही गई है; यथा—"वायोः सकाशाच्चित्तं च नभोंऽशाच्च प्रवर्त्तते ॥" (जिज्ञासापंचक); इसलिये आकाश के दृष्टान्त के साथ विज्ञान द्वारा चित्त में समता प्राप्त करना कहा गया है।

बुद्धि के द्वारा श्रद्धा समेत धर्म होते हैं; यथा—"जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः ॥" (जिज्ञासापंचक)। बुद्धि की निष्पत्ति पृथिवी तत्व के साहाय्य में कही गई है; यथा—"बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।" (जिज्ञासापंचक); इसलिये पृथिवी के दृष्टान्त द्वारा श्रद्धापूर्वक धर्म द्वारा बुद्धि को शुद्ध करना कहा गया है।

तपस् अग्नि का नाम है, अग्नि के साहाय्य में अहंकार की निष्पत्ति कही गई है; यथा "अहंकारोऽग्नि संजातः" (जिज्ञासापंचक); अहंकार शरीर का होता है, वह जल-तत्व के रस-गुण द्वारा रसना से विविध रसों से पोषित शरीर के द्वारा विकार को प्राप्त होता है। इसलिये इसकी शुद्धि के लिये जल-तत्त्व के दृष्टान्त द्वारा तप से शुद्ध होना कहा गया है कि तप से इन्द्रिय-निग्रह होकर तेज विस्तार होने पर देहाभिमान नाश होगा। फिर शुद्ध हृदय होने पर बुधों की सेवा द्वारा सद्वृत्ति प्राप्त होती है।

मन वायु की तरह चंचल है। इससे इसे वायु के दृष्टान्त के द्वारा आत्मसुख से शांत होना कहा गया है।

इस तरह यहाँ अंतःकरण चतुष्टय का साधन भी कहा गया है कि आकाश की तरह चित्त में अवकाशत्व, पृथिवी में गंध की तरह बुद्धि में वासना, अहंकार में अग्नि की-सी उष्णता और मन में वायु की-सी चंचलता स्वाभाविक है, पर ये सब इन-इन साधनों से शुद्ध हो जाते हैं।

(ख) आकाश विना अवकाश के, पृथिवी विना गंध के, जल विना रस के, अग्नि विना रूप के और वायु विना स्पर्श के संसार में नहीं देखे जाते। अपने-अपने गुणों से युक्त ही रहते हैं। इनकी इन्द्रियाँ क्रमशः श्रवण, नासिका, रसना, नेत्र और त्वचा अपने-अपने देवताओं के विषय शब्द, गंध, रस, रूप और स्पर्श को ही ग्रहण करते हैं। ये सब अपने-अपने विषयों में अनन्य हैं। वैसे ही जीव ईश्वर का अंश है। अतः, इसे भी ईश्वर में अनन्य होकर उन्हीं को अपना विषय बना लेना चाहिये; अर्थात् अपने आश्रित इन्द्रियों को अपने हाथ मे करके इन्हें अपने विषय रूप भगवान् में लगाना चाहिये। नेत्र से प्रभु के दर्शन, हाथ से उनका कैंकर्य आदि इन रूपों में उनकी भक्ति करनी चाहिये--इन दृष्टान्तों का यह भी तात्पर्य है, क्योंकि यहाँ हरि-भक्ति का प्रसंग है।

दोहा—बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम-कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम ॥
सो॰—अस बिचारि मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुंदर सुखद ॥९०॥

अर्थ—विना विश्वास के भक्ति नहीं होती, भक्ति विना श्रीरामजी द्रवीभूत नहीं होते (कृपा नहीं

करते) और श्रीरामजी की कृपा के बिना जीव स्वप्न में (कभी) भी विश्राम नहीं पाता। हे मति धीर! ऐसा विचार कर समस्त कुत्सित तर्कणाएँ और संशय छोड़कर, करुणा की खान सुंदर और सुख देनेवाले रघुवीर श्रीरामजी को भजो ॥९०॥

विशेष—(१) 'बिनु बिस्वास भगति नहिं···'—यहाँ कारणमाला और विनोक्ति अलंकार है। 'जीव न लह बिश्राम' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"कोउ बिश्राम कि पाव·· " (दो० ८९) से है। पुनः—"राम-कृपा बिनु सुनु···" (दो० ८८); उपक्रम है और यहाँ "राम-कृपा बिनु सपनेहुँ···" यह उपसंहार है। अतः, इस अनुभव-कथन-प्रसंग में श्रीराम-कृपा ही को प्रधान दिखाते हुए इसी का सम्पुट किया गया है।

यहाँ विश्वास बिना भक्ति का नहीं होना कहा गया और पूर्व—"संकर-भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (दो० ४५); कहा गया था। दोनों की एकता इस प्रकार होगी कि श्रीशिवजी विश्वास-रूप ही हैं—बा० मं० श्लो० २ देखिये। भक्तों के विश्वास की परीक्षा भी होती है; यथा—"गरजि तरजि पाषान बरषि पबि प्रीति परखि जिय जानै।" (वि० ६५)। 'न लह बिश्राम', यथा—"द्रवै जानकी कंत, तब छूटइ संसार-दुख।" (दोहावली १२१)।

(२) 'अस बिचारि' —जैसा ऊपर 'बिनु हरि-भजन न जाहि कलेसा।' से यहाँ तक कहा गया कि हरि-भजन ही करना जीव का कर्त्तव्य है। 'मतिधीर'—धीर बुद्धिवाला ही ऐसा विचार करके उसमें तत्पर होता है। 'तजि कुतर्क संसय सकल'—यहाँ कुतर्क और संशय त्यागने को कहते हैं, क्योंकि गरुड़जी में ये दोनों बातें पहले हुई थीं।

अमुक कार्य इन्होंने क्यों किया? यह कुतर्क है और ये ईश्वर हैं कि जीव? यह संशय है। यथा—"चिदानंद संदोह, राम बिकल कारन कवन।" (दो० ५८);—यह कुतर्क है और "देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी ॥" (दो० ५८)—यह संशय है। 'सकल'—जो पूर्व—"करत बिचार उरग आराती।" से "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस···" (दो० ५८) तक कहा गया। संशय होने से कुतर्क होते हैं; यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥" (दो० ९२)। अतः, संशय कारण और कुतर्क कार्य हैं।

(३) 'भजहु राम रघुवीर'—प्रथम 'राम' कहकर ऐश्वर्य कहा गया, गरुड़जी ने कहा था—"खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम।" (दो० ५८); "चिदानंद संदोह, राम बिकल कारन कवन।" (दो० ६); अर्थात् श्रीरामजी को परब्रह्म मानते हैं, इससे वही नाम कहकर फिर इन्हीं को 'रघुवीर' कहकर सूचित किया कि वे ही ये रघुकुल में पंच वीरता धारण किये हुए अवतरित हैं, इन्हें कौन बाँध सकता है? वह तो इन्होंने नरनाट्य किया था। रघुवीर हैं, अतः उपास्य हैं; यथा—"बीर महा अवराधिये साधे सिधि होय। सकल काम पूरन करै जानै सब कोय ॥" (वि० १०८); और बड़े कोमल स्वभाववाले हैं, भजन करने से कृपा करते हैं. यथा—"करुनामय मृदु राम-सुभाऊ।" (अ० दो० ४१); "भजत कृपा करिहहिं रघुराई।" (बा० दो० १११); 'करुनाकर सुंदर सुखद'—करुणामय हैं; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं" (अ० दो० ८७); इन्हें दीन जानकर इनपर कृपा की, शिर पर हाथ फेरा, इससे इन्होंने करुणाकर कहा है। 'सुंदर'; यथा—"प्रभु-सोभा सुख जानइ नयना ॥" (दो० ८७) 'सुखद'; यथा—"बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई।" (दो० ८७), इत्यादि समझकर इन विशेषणों को कहा है। स्वभाव करुणाकर और सुखद है, स्वरूप सुंदर है।

निज अनुभव प्रसंग समाप्त हुआ।

निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु-प्रताप महिमा-खगराई ॥१॥
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेखी। यह सब मैं निज नैनन्हि देखी ॥२॥

अर्थ—हे खगराज! हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार प्रभु के प्रताप और उनकी महिमा को कहा ॥१॥ मैंने कुछ विशेष युक्ति से बढ़ाकर नहीं कहा; किन्तु यह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है ॥२॥

विशेष— (१) 'निज मति सरिस' का भाव यह है कि प्रभु का प्रताप एवं महिमा बहुत है, मैंने अपनी मति के अनुसार जितना कहते बना, उतना कहा; यथा—"मति अनुहारि सुबारि गुन-गन-गनि मन अन्हवाय ॥" (बा० दो० ४३); "तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ···" (बा० दो० ११३)।

श्रीरामजी का भजन करने से माया डरती है, भव-भय नाश होता है—यह सब प्रताप है और प्रभु की भुजा सर्वत्र देखी, उनके उदर में ब्रह्मांड-समूह देखा, त्रिदेव प्रभु की सेवा करते हैं—यह सब महिमा है।

(२) 'कहेउँ न कछु करि जुगुति···'—श्रीरामजी हमारे इष्टदेव हैं, इससे यह न समझें कि इन्होंने युक्ति-विशेष से काव्यालंकार की रीति से कुछ बढ़ाकर कहा है। इसलिये पुष्ट प्रमाण देते हैं कि यह सब लीलाएँ मैंने अपनी आँखों से ही देखी हैं और ज्यों-की-त्यों सत्य ही कही हैं।

"सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई ॥" (दो० ७३) उपक्रम है और यहाँ—"निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु-प्रताप-महिमा खगराई ॥" उपसंहार है। इन १७ दोहों में प्रभुता का वर्णन है।

अमित महिमा-प्रसंग

महिमा - नाम - रूप - गुन - गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥३॥
निज-निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥४॥
तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥५॥
तिमि रघुपति-महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की महिमा, नाम, रूप और गुणों की कथा सब अमित हैं तथा श्रीरघुनाथजी (स्वयं भी) अनंत हैं ॥३॥ मुनि अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के गुण गाते हैं, वेद, शेष और श्रीशिवजी भी उनका पार नहीं पाते ॥४॥ तुमसे लेकर मच्छड़ तक जितने (भी बड़े छोटे) पक्षी हैं सब आकाश में उड़ते हैं, पर अंत नहीं पाते; इसी तरह, हे तात! श्रीरघुनाथजी की अगाध महिमा है, उसकी क्या कभी कोई थाह पा सकता है? अर्थात् नहीं पा सकता ॥५-६॥

विशेष—(१) 'महिमा-नाम-रूप-गुनगाथा'—इन सबका वर्णन आगे करते हैं—'महिमा'; यथा—"तुम्हहिं आदि खग···" से "तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात···" तक से उपक्रम करके

आगे "थाह कि पावइ कोइ" तक महिमा ही है। पर इसी में शेष तीन (नाम, रूप और गुण) भी कहे गये हैं—'नाम'; यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" 'रूप'; यथा—"राम काम सत कोटि सुभग तन" एवं—'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" 'गुनगाथा'; यथा—"राम अमित गुन सागर" एवं—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥" (बा० दो० १२); "राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार।" (बा० दो० ३३)।

(२) 'निगम सेष सिव'—जब ये भी पार नहीं पाते तब और कौन कहकर पार पायेगा ?

(३) 'तुम्हहि आदि खग ···'—पक्षियों में श्रीगरुड़जी सबसे बड़े हैं और मशक अत्यंत छोटे हैं, ये दोनों बड़ाई और छोटाई की अवधि हैं। दोनों ही अपनी-अपनी शक्ति-भर आकाश में उड़ते हैं, पर पार नहीं पाते। 'तिमि रघुपति महिमा···'—वैसे ही रघुपति-महिमा का वर्णन अपने-अपने सामर्थ्य-भर कवि लोग करते हैं, पर पार नहीं पाते, केवल अपनी-अपनी वाणी पवित्र करने के लिये ही गुण गाते हैं, पार पाने के लिये नहीं। वैसे ही—'निज मति सरिस नाथ मैं गाई।' भी कहा गया है। तथा—"अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्। नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥" (भाग० १।१८।२३) अर्थात् श्रीसूतजी ऋषियों से कहते हैं—जो मुझे विदित है, वह मैं यथामति कहता हूँ, जैसे पक्षिगण अपनी शक्ति-भर आकाश में उड़ते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपनी बुद्धि-भर (भगवान् की) लीला का वर्णन करते हैं।

राम काम सतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन॥७॥
सक्र कोटिसत सरिस बिलासा। नभ सतकोटि अमित अवकासा॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी अनंत कामदेवों के समान सुन्दर शरीरवाले हैं, अनंत करोड़ दुर्गा के समान असंख्य शत्रुओं के नाश करनेवाले हैं॥ ७॥ असंख्य इन्द्रों के समान उनका भोग-विलास है। असंख्य आकाशों के समान अनंत अवकाश (विस्तार) वाले हैं॥८॥

विशेष—(१) 'राम काम सतकोटि···'—ऊपर कहा गया—'तात कबहु कोउ पाव कि थाहा।' उसी महिमा की अनंतता को यहाँ पुष्ट करते हैं। सृष्टि में जिस गुण में जो उत्कृष्ट है, उसी की उपमा को चुनकर शाखाचन्द्रन्याय से उसीमें कोटि-कोटि गुण कहकर अनंतता दिखाते हैं। अंत में सबों को एकत्र कर उन्हें जुगनू-समूह कहकर श्रीरामजी को सूर्यवत् कहेंगे, इस प्रकार प्रभु को निरुपम सिद्ध करेंगे। रूप में काम, शत्रुमर्दन में दुर्गा, भोग में इन्द्र इत्यादि रीति से एक एक विषय की महिमा कहते हैं—

पहले काम की उपमा से शृंगार-रस कहते हैं, फिर आगे और रसों को कहेंगे। काम तीनों लोकों में सबसे अधिक सुन्दर है और श्यामवर्ण है। ऐसे असंख्य कामदेव भी प्रभु के सौन्दर्य के सामने ऐसे हैं, जैसे सूर्य के आगे जुगनू; यथा—"अंग अंग पर वारियहि, कोटि कोटि सत काम।" (बा० दो० ३२०); अर्थात् कामदेव तो राई के समान इनकी सुन्दरता पर निछावर की वस्तु है, तब वह उपमा को कैसे पा सकता है ? - यहाँ रूप का वर्णन है।

'दुर्गा कोटि···'—शत्रु को नाश करने की शक्ति में दुर्गा देवी का महत्त्व शिव आदि से भी अधिक कहा गया है। वैसी अमित दुर्गा की शक्ति भी—प्रभु की शक्ति के आगे—सूर्य के आगे खद्योत की तरह अल्प है। यहाँ वीरत्व कहा गया है।

(२) 'सक्र कोटि सत···'—भोग मे इन्द्र से हद है ; यथा—"भोगेन मघवानिव" (मूल० रा० वल्मी०); "मघवा से महीप विषय-सुख-साने।" (क० उ० ४३)। उसी प्रकार के कोटि इन्द्र को भी उपर्युक्त रोति से तुच्छ दिखाया गया है।

'नभ सतकोटि ··'—जिनके रोम-रोम में और उदर मे असंख्य ब्रह्मांड है, उनके अवकाश की क्या थाह ? एक-एक ब्रह्मांड के आकाश का तो पता ही नहीं चलता ; यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अंता॥" ऊपर कहा गया है। तथा—"स भूमिंश्च सर्वतः स्पृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥" (पुरुषसूक्त) अर्थात् वह ईश्वर सब तरफ से पृथिवी को स्पर्श करता हुआ दश अंगुल उससे भी अधिक स्थित है, भाव यह है कि आकाश के विस्तार से भी अधिक है।

दोहा—मरुत कोटिसत बिपुल बल, रबि सतकोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सुसीतल, समन सकल भव-त्रास॥
काल कोटिसत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सतकोटि सम, दुराधरष भगवंत॥९१॥

शब्दार्थ—दुस्तर = दु ख से तरने योग्य, जिसका पार पाना कठिन हो। दुर्ग=दुर्गम, जहाँ दुःख से पहुँच हो, जिनका समझना कठिन हो। दुरंत = जिसका अंत नहीं। दुराधर्ष = जिसका दमन करना कठिन हो। दुर् उपसर्ग का प्रयोग इन अर्थों में होता है—निषेध, दूषण, दु ख। धूमकेतु=अग्नि।

अर्थ—असंख्य पवनदेव के समान उनका विशाल एवं बहुत बल है, असंख्य सूर्य के समान प्रकाश है। वे असंख्य चन्द्रमा के समान सुन्दर (दु खद नहीं), शीतल और समस्त भव-भय के शमन (नाश) करनेवाले हैं॥ असंख्य कालों के समान अत्यत दुस्तर, दुर्गम और दुरन्त हैं। भगवान् असंख्य अग्नि के समान दुराधर्ष और षडैश्वर्यवान् हैं॥ ९१॥

विशेष—(१) पवनदेव बल मे और सूर्य तेज में सबसे अधिक हैं ; यथा—"पवन-तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); "रवि सम तेज सो बरनि न जाई।" (दो० ११); 'सुसीतल'—चन्द्रमा तो केवल शरदातप को हरता है, यथा—"सरदातप निसि ससि अपहरई।" (कि० दो० १६) और प्रभु तो भव-त्रास को हर लेते हैं। चन्द्रमा की शीतलता बहुतों को दु खद भी होती है, पर प्रभु 'सुसीतल' अर्थात् सुन्दर (अनुकूल) शीतल हैं।

(२) 'दुस्तर दुर्ग दुरत', यथा—"अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (दो० ९३), 'धूमकेतु सत···'—अग्नि की करालता, यथा—"जुग पट् भानु देखे प्रलय कृसानु देखे सेष मुख अनल बिलोके बार-बार हैं।" (क० सु० २०)।

प्रभु अगाध सतकोटि पताला। समन कोटिसत सरिस कराला॥१॥
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ-पूग नसावन॥२॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटिसत सम गंभीरा॥३॥
कामधेनु सतकोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥४॥

शब्दार्थ—पाताल = पृथिवी के नीचे के सात लोकों में अंतिम लोक—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ये क्रमशः एक के नीचे दूसरे हैं, पाताल सबसे नीचे है। गहराई के अगाध (अथाह) होने में इसकी उपमा दी जाती है।

अर्थ—प्रभु असंख्य पातालों के समान अथाह हैं। असंख्य यमराजों के समान कराल (भयंकर) हैं ॥१॥ उनका नाम अनन्त कोटि तीर्थों के समान पवित्र करनेवाला और समस्त पाप-समूह का नाशक है। २॥ रघुवीर श्रीरामजी करोड़ों हिमालय पहाड़ों के समान अचल (अटल, स्थिर) और असंख्य समुद्रों के समान गहरे हैं ॥३॥ भगवान् श्रीरामजी असंख्य कामधेनुओं के समान समस्त कामनाओं के देनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'अगाध' और 'गभीर' में यह अंतर है कि अगाध का अर्थ अथाह है और गंभीर का अर्थ गहरा है, पर अथाह नहीं। उदाहरण—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥" (बा० दो० ५०); "सुनु खगेस प्रभु कै असि बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ज्ञानी॥" (उ० दो० ११२); "कहि न सकत कछु अति गभीरा। प्रभु प्रभाव जानत मतिधीरा॥" (बा० दो० ५२)।

पाताल अत्यन्त अगाध है और यमराज अत्यन्त कराल हैं, पर वे भी जिस रावण का कुछ न कर सके, उसे भी श्रीरामजी ने मारा है।

(२) 'तीरथ अमित कोटि सम पावन' नाम ' '—तीर्थ साढ़े ३३ करोड़ तो स्वयं हैं, इसलिये इनसे कोटिशत गुण दिखाने के लिये 'अमित कोटिसत' कहा गया है। ये सब नाम-रूपी सूर्य के आगे खद्योत के समान हैं।

(३) 'हिमगिरि कोटि अचल ' '—आपमें भय, शंका और काम-क्रोध आदि क्षोभ नहीं कर सकते एवं सभी प्रकार शरीर से भी आप अचल हैं।

(४) 'कामधेनु सत कोटि '—कामधेनु तीन ही फल देती है, श्रीरामजी मोक्ष भी देते हैं। यद्यपि जो फल एक कामधेनु देगी, वही शतकोटि भी, तथापि शतकोटि कहकर उसमें भी अतिशयता दिखाई। एक में परिमित और शतकोटि में अपरिमिति का भाव है।

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई ॥५॥
बिष्णु कोटि-सम पालनकर्त्ता। रुद्र कोटिसत सम संहर्त्ता ॥६॥
धनद कोटिसत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच-निधाना ॥७॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥८॥

अर्थ—असंख्य शारदाओं के समान अपरिमित चतुरता और असंख्य ब्रह्माओं के समान सृष्टि-रचना की निपुणता है ॥५॥ करोड़ों विष्णुओं के समान पालनकर्त्ता, असंख्य रुद्रों के समान संहारकर्त्ता हैं ॥६॥ असंख्य कुबेरों के समान धनवान् और करोड़ों मायाओं के समान प्रपंच (सृष्टि) के आधार हैं ॥७॥ असंख्य शेषों के समान (ब्रह्मांडों के) बोझ धारण करनेवाले हैं। (कहाँ तक कहा जाय) जगत् के ईश्वर प्रभु श्रीरामजी सीमा और उपमारहित हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'चतुराई'—यहाँ वाणी और बुद्धि की चातुरी कही गई है, क्योंकि शारदा बुद्धि के देवता ब्रह्माजी की शक्ति और वाग्देवी है। प्रभु की वचन-रचना पर श्रीपरशुरामजी ने कहा है—"जयति वचन रचना अति नागर।" (बा० दो० २८४)। सृष्टि की रचना जगत् में अत्यन्त उत्कृष्ट है, उसके रचयिता ब्रह्माजी हैं, इसीसे किसी भी अलौकिक रचना में वे स्मरण किये जाते हैं ; यथा—"निधिहिं वंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। विरचे कनक कदलि के खंभा॥" (बा० दो० २८६) ; तथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी।" (बा० दो० २०२)। रुद्र संहारकर्त्ता और विष्णु पालनकर्त्ता एक-एक ब्रह्मांड के ही हैं। प्रभु असंख्य ब्रह्मांडों के सम्यक् आधार हैं। तीनों कार्य सर्वत्र उन्हीं की सत्ता से होते हैं।

(२) 'माया कोटि प्रपंच निधाना।'—माया के कार्य आपकी ही सत्ता और प्रेरणा से होते हैं ; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४) ; "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०) ; "लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)। अतः, उससे कोटि गुणा कहना युक्त ही है।

(३) 'भार धरन सत कोटि अहीसा।'—श्रीशेषजी एक ब्रह्मांड शिर पर धारण करते हैं, प्रभु रोम-रोम मे अगणित ब्रह्मांड धारण किये हुए हैं।

'निरवधि' अर्थात् प्रभु का आदि, मध्य और अंत किसी के जानने मे नहीं आता।

छं०—निरुपम न उपमा आन राम-समान राम निगम कहै।
जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
येहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव-गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

शब्दार्थ—बिलास = प्रचार, प्रसार ; यथा—"इहाँ जथामति मोर प्रचारू।" (अ० दो० २८७)।

अर्थ—वेद कहते हैं कि श्रीरामजी उपमा-रहित है, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं, श्रीरामजी के समान श्रीरामजी ही हैं। जैसे सूर्य को असंख्य खद्योतों के समान कहने से अत्यंत लघुता होती है॥ वैसे ही इस प्रकार अपनी अपनी बुद्धि विलास के अनुसार मुनीश्वर भगवान् का वर्णन करते हैं। प्रभु भक्तों के भाव को ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपालु हैं, वे प्रेमपूर्वक वर्णन को प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं॥

विशेष—(१) 'निरुपम न उपमा ···'—निगम भगवान् की निज वाणी है, यदि कहीं भी उपमा होती, तो वे अवश्य कहते, यथा—"अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच···कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्चप्रोताश्चेति स होवाच गार्गी मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम॥" (बृह० ३।६।१) अर्थात् (जब कहोल ब्राह्मण चुप हो गया) इसके पीछे वचक्नु की कन्या गार्गी ने इन याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न किया, वह बोली कि हे याज्ञवल्क्यजी ! [पहले गार्गी के प्रश्नों पर याज्ञवल्क्यजी ने उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकों का वर्णन करते हुए प्रजापति (ब्रह्मा) के लोक को ब्रह्मलोक में ओतप्रोत (अन्तर्व्याप्त) कहा, उसपर भी गार्गीजी पूछती हैं—]

ब्रह्मलोक किसमें ओत और प्रोत है, ऐसा प्रश्न होने पर याज्ञवल्क्यजी ने स्पष्ट कहा कि हे गार्गि ! मुझसे अधिक मत पूछ, नहीं तो तेरा शिर गिर पड़ेगा। (क्योंकि) जो देवता अधिक प्रश्न किये जाने के योग्य नहीं है, उस देवता के प्रति तू अधिक पूछती है। हे गार्गि ! इस प्रकार मत अधिक पूछ, तब वह वचक्नु की कन्या गार्गी चुप हो गई।

भाव यह है कि ब्रह्मलोक-पति सगुण ब्रह्म श्रीरामजी से विशेष कोई है क्या ? ऐसा पूछने पर श्रुति शिर गिर पड़ने का भय दिखाती है ; यथा—"राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥" (लं० दो० ३१)। तथा—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥" (श्वे० ६।७) अर्थात् वह ईश्वरों का महान् ईश्वर, देवताओं का परम देव, पतियों का परम पति और पर से भी श्रेष्ठ है। उस भुवनेश्वर और पूज्य देव को हम जानते हैं। एवं "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वे० ६।८) अर्थात् उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं है। श्रीमुख वचन है—"आप सरिस खोजउँ कहँ जाई।" (बा० दो० १४९), "जेहि समान अतिसय नहिं कोई।" (आ० दो० ५)—यह श्रीअत्रिजी ने कहा है। "उपमा खोजि-खोजि कवि लाजे॥···इन्ह सम ये उपमा उर आनी॥" (बा० दो० ३११), तब शंका हो सकती है कि फिर उपमाएँ दी तो जाती हैं; ऊपर भी दी गई हैं, उसपर कहते हैं—'जिमि कोटि सत ···' अर्थात् असंख्यों जुगनू जैसे सूर्य की उपमा नहीं हो सकते, वैसे ही असंख्य काम, दुर्गा आदि भी उनके सौंदर्य-शक्ति आदि की उपमा नहीं हो सकते। 'अति लघुता लहै'—वक्ता, उपमान और उपमेय, तीनों को लघुता प्राप्त होती है। वक्ता की लघुता यों होती है कि ऐसी हीन उपमा देते हुए उसकी ओछी बुद्धि क्यों न लजाई ? यथा "उपमा सकल मोहिं लघु लागी।···सिय बरनिय तेहि उपमा देई। कुकबि कहाय अजस को लेई॥" (बा० दो० २४६)। उपमा की लघुता यों कि वह पासंग बराबर भी नहीं है, तो क्यों दी गई ? यथा—"उपमा सकल मोहिं लघु लागीं।" (बा० दो० २४६)। उपमेय की लघुता यों है कि कहाँ तो मन बुद्धि से भी परे प्रभु हैं, जिनके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्मांड हैं। उनकी उपमा इस एक मायिक ब्रह्मांड में कैसे हो सकती है ? फिर सुमेरु को सेर के समान कहना सुमेरु गिरि का अपमान करना है।

फिर मुनियों ने जो अपनी बुद्धि-भर कहा है, वह तो अपनी वाणी पवित्र करने के लिये और इससे कि भावग्राहक प्रभु इसको अपनी सेवा (भक्ति) मानकर इसमें सुख मान लेते हैं, क्योंकि जीवों पर उनकी कृपा है, इसीसे वे इसको सेवा मान लेते हैं। समझते हैं कि इसकी इतनी ही पहुँच है, पर प्रेम तो मुझमें इसका सच्चा है इसी पर प्रसन्न होते हैं। कृपालु होने से अपनी लघुता पर क्रोध नहीं करते ; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० ३२५); "तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव प्रिय।" (बा० दो० ३३१); इसपर बा० दो० २७ चौ० ५–११ भी देखिये।

(२) 'सप्रेम मुनि सुख मानहीं'; यथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (बा० दो० ३४१); लघुता पर क्रोध न करना कृपालुता और उससे सुख मानना 'अति कृपालुता' है। 'मानहीं'–वे मान लेते हैं, पर यह वर्णन इस योग्य है नहीं ; यथा—"बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुनाऐन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥···रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६)।

दोहा—राम अमित गुन - सागर, थाह कि पावइ कोइ।
संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहिं सुनायेउँ सोइ॥

सो०—भाववश्य भगवान, सुख-निधान करुना-भवन।
तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीता-रमन ॥९२॥

अर्थ—श्रीरामजी अमित गुणों के समुद्र हैं, क्या कोई थाह पा सकता है ? (कि उनमें कितने गुण हैं और प्रत्येक गुण कितनी मात्रा में है)। मैंने जैसा कुछ संतों से सुना है, वही आपको सुनाया॥ भाव के वश रहनेवाले, षडैश्वर्य पूर्ण और करुणा के स्थान श्रीसीताजी के पति (श्रीरामजी) का सदा ममता, मद और मान छोड़कर भजन करना चाहिये ॥९२॥

विशेष—(१) 'राम अमित गुन सागर···'—यहाँ पर 'सौंदर्य', 'वीरत्व' आदि कहते हुए 'करुना-भवन' तक ३३ गुण कहे गये, वे एक-एक गुण सागर के समान अगाध हैं अप्रमेय हैं। किन्तु इतने ही गिने-गिनाये गुण श्रीरामजी में नहीं है, प्रत्युत 'अमित' हैं और वे सब गुण समुद्रवत् अथाह ही हैं। 'थाह कि पावइ कोइ' अर्थात् कोई भी थाह नहीं पाता। तब शंका होती है कि वर्णन का प्रयास व्यर्थ ही है, उसपर आगे कहते हैं—'भाववश्य···'

(२) 'संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ'—इस तरह कहने की शिष्ट वक्ताओं की रीति है—देखिये बा० दो० १२०, चौ० ४-५; बा० दो० ११३, चौ० ४, इत्यादि।

(३) 'भाववश्य भगवान ··'—वे भगवान् हैं, जीवों की गति जानते हैं कि इनकी इतनी ही गति है, यथार्थ परत्व न जान ही सकें और न कह ही सकें। अत, वे यथार्थ कथन की अपेक्षा नहीं करते। केवल इनके प्रेम भाव से वश हो जाते हैं। पुन. भगवान् हैं अर्थात् षडैश्वर्यों से उत्पत्ति पालन और संहार करनेवाले हैं। फिर उनकी प्रशंसा करके कोई उन्हें क्या बड़ाई देगा ? वे स्वयं सुख के निधान हैं, उन्हें कोई गुण वर्णन करके क्या सुख देगा ? पर वे करुणा के स्थान हैं, इससे जीवों पर उनकी दया रहती है। अत, इनके प्रेम-भाव मात्र पर प्रसन्न होते हैं। इनकी अल्प सेवा से वश हो जाते हैं इसलिये ममता, मद और मान आदि विरोधियों का त्याग कर उनका भजन करना चाहिये।

(४) 'सीतारमन'—सुशीलता के सम्बन्ध से कहा गया है; यथा—"सुनि सीतापति सील सुभाउ।" (वि १००)। वा, शक्ति और शक्तिमान् दोनों का साथ-साथ भजन करना चाहिये, कहा भी है—"सो सीता पति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (अ० दो० २४३)।

उपक्रम	उपसंहार
१. महिमा नाम रूप ··सकल अमित ··	राम अमित गुन सागर
२ तिमि रघुपति महिमा···पाव कि थाहा	थाह कि पावइ कोइ
३. भजहु राम रघुबीर···सुंदर सुखद	भगवान सुखनिधान करुना भवन·· भजिय

भाव-रहस्य

भजन में भाव ही से सरसता होती है, गीता मे भी कहा है—"न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥" (२।६६) अर्थात बिना भावना के सुख शांति नहीं प्राप्त होती। श्रीगोस्वामीजी ने 'भाव-वश्य ' इस दोहे में भाव का रहस्य खोला है। पहले 'भगवान्' विशेषण से भक्ति के स्वरूप का प्रादुर्भाव

होना कहा है कि प्रभु ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज, इन छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। इनके ज्ञान बल से सहार, ऐश्वर्य वीर्य से उत्पत्ति और शक्ति तेज से पालन का कार्य होता है। जिसके द्वारा ये तीनों कार्य होते हैं, वही उपास्य होता है यथा—"तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छान्दो॰ ३।१४।१) अर्थात् इसी (ब्रह्म), से जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है, इसीमें चेष्टा करता है, इसलिये शान्त होकर इसकी उपासना करे। तात्पर्य यह है कि जैसे क्षेत्र (खेत) को जो बोता है (उत्पन्न करता है), सींचता एव रक्षा करता (पालता) है और जो उसे काटकर उसके अन्न को लेता (सहारकर्त्ता) है, वही उस खेत का स्वामी है, उसके अन्न का भोक्ता है, उस खेत का अन्न उसके ही लिये है। वैसे ही जगत् के तीनों कार्य करने से भगवान् ही इस (जगत् भर) के उपास्य देव हैं। सब जीव उन्हीं के भोग्य हैं, शेष हैं, सब की स्थिति उन्हीं के लिये रहनी चाहिये। प्रत्येक अवस्था में ये उन्हीं के लिये हैं।

अत, स्थूल शरीराभिमानी होने पर हाथों से सेवा, नेत्रों से दर्शन, कानों से यशश्रवण, वाणी से गुण-गान आदि उनकी नवधाभक्ति करनी चाहिये। सूक्ष्म शरीराभिमानी रहने पर प्रेमाभक्ति और कारण शरीराभिमान शोधन के लिये पराभक्ति करनी चाहिये। नवधा से 'ममता' की शुद्धि होती है, जगत् से ममता हटकर भगवान् में ही दृढ होती है। प्रेमाभक्ति से बुद्धि आदि के द्वारा होनेवाले विद्या, विवेक आदि के 'मद' नाश होते हैं। पराभक्ति की प्रारम्भिक विरहावस्था में ही वासनामय एव सूक्ष्म अहकारमय कारण शरीर जल जाता है। कारण शरीर यथा—"घृतपूरन कराह अतरगत ससि प्रतिबिंब लखावै।" (वि॰ ११५), (इस पद के तीन चरणों में तीनों शरीरों का वर्णन है) तथा—"ससृति-मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना।।" अत, पराभक्ति से 'मान' का नाश हो जाता है। तब शुद्ध तुरीयावस्था से 'भजिय सदा सीतारमन' कहा गया है कि सदा एकरस निर्बाध श्रीसीतारमण का भजन करना चाहिये। भगवान् तुरीय रूप हैं, यथा—"तुरीयमेव केवलम्।" (आ॰ दो॰ ४) यह श्रीअत्रिजी ने कहा है। साथ ही 'भजामि भाववल्लभ' भी कहा है कि वे भाव प्रिय हैं। अत, भाव-सहित भजन से ही प्राप्त होते हैं।

जीव भगवान् की सेवा करने के लिये उनके साथ किसी भाव से ही रहता है, जैसे कि ससार में भी दो व्यक्ति साथ रहते हैं, तो किसी नाते से ही रहते हैं। भक्ति में नाते की बड़ी ही आवश्यकता है, यथा—"तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै। ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।।" (वि॰ ७९), नाते (सम्बन्ध) से भगवान् स्नेह बधन में बँध जाते हैं, उसे त्याग नहीं सकते, यथा—"तैं उदार मैं कृपन, पतित मैं तैं पुनीत श्रुति गावै। बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं अब न तजे बनि आवै।" (वि॰ ११३), नाते सहित स्नेह पूर्वक भजन करना भाव सहित भजन कहा जाता है। भगवान् के विषय में शृगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शात, ये पाँच प्रकार के रसात्मक भाव प्रसिद्ध हैं। पाँचों, पाँच प्रकार के नाते सहित ही होते हैं। पाँचों की भावना तुरीयावस्था से ही की जाती है। उपर्युक्त रीति से तीनों अवस्थाओं के शोधनकाल में यह भावना साधन रूप में रहती है। तुरीया प्राप्त होने पर निर्बाध एक रस होती है।

(५) 'सीतारमन' यह सेव्य का विशेषण देकर शृगार भाव की प्रधानता भी कही गई है। शृगार में कान्ता भाव से आराधन होता है, इसलिये इसमें सीता रमण का ही ध्यान रहता है। अन्य रसों में सीता रमण कहने का भाव यह है कि सब भाववाले श्रीसीताजी के सहित ही भगवान् की आराधना करते हैं। श्रीसीताजी ही जीव मात्र की पुरुषकार रूपा हैं। इनकी ही कृपा से प्रथम निर्मल मति मिलती है। तब जीव में शेषत्व-योग्यता आती है। जैसे माता शृगार करके पिता के गोद में देती है, तब वह बच्चे

को हर्ष से गोद में लेता है। ये ही जीवों के दोषों को क्षमा कराकर इन्हें श्रीरामजी के सम्मुख कराती हैं। यह जयंत आदि की प्रपत्ति से प्रसिद्ध है। अतः, सब भाववाले इनके आश्रयण से ही अपनेको कृतार्थ मानते हैं; यथा—"सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥" (अ० दो० २४१)। श्रीभरतजी, ये सख्यरस के हैं। "अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥" (सुं० दो० १६)—श्रीहनुमान्जी, ये दासरस के हैं। पुनः वात्सल्यवाले श्रीदशरथजी और श्रीकौशल्याजी ने भी श्रीसीताजी को ही प्राण का अवलंब कहा है—देखिये अ० दो० ५६ चौ०, ७ और अ० दो० ८१, चौ० ६।

'सुख निधान करुना भवन' का भाव यह है कि भाव सहित भजन से प्रभु शीघ्र करुणा करते हैं और सुख देते हैं। जैसे द्रौपदीजी ने देवर के नाते से (भाव सहित) पुकारा, तो तुरत करुणा करके प्राप्त हुए और उनके दु:ख दूरकर उन्हें सुखी किया। भाव के ही वश होकर अर्जुन का सारथ्य करके उन्हें सुख दिया, इत्यादि।

श्रीगरुड़जी की कृतज्ञता

सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये। हरषित खगपति पंख फुलाये॥१॥
नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति-प्रताप उर आना॥२॥

अर्थ—श्रीभुशुंडिजी के सुहावने वचन सुनकर हर्षित होकर पक्षिराज श्रीगरुड़जी ने अपने पक्ष फुलाये (पुलकित हुए)॥ १॥ उनके नेत्र सजल हो गये, वे मन मे अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने श्रीरघुनाथजी का प्रताप हृदय मे धारण किया॥२॥

विशेष—(१) 'बचन सुहाये'—उपर्युक्त सब वचन प्रभु के गुणयुक्त, श्रीरामपरत्वपरक एवं उपदेशमय हैं, सत्कार एवं प्रेमपूवक कहे गये हैं, इससे 'सुहाये' कहे गये। इन वचनों को 'सुहाये' कहकर इनसे पूर्व के वचन "सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥" (दो० ९१); आदि अपनी प्रशसावाले वचनों को 'असुहाये' भी सूचित किया कि वे श्रीगरुड़जी को नहीं सुहाये थे।

(२) 'पख फुलाये'—यह रोमाच एव आनंदित होना है, जैसे कि वर्षा काल में मेघों को देखकर मयूरगण हर्ष से पख फैलाकर आनंद से नाचने लगते हैं।

(३) 'नयन नीर मन·· '—ऊपर की चेष्टा मे केवल 'हरषित' कहा गया था, भीतर विशेष आनद है, भीतर न समाया तो नेत्रादि के द्वारा किंचित बाहर भी आ गया। भीतर के 'अति हर्ष' के कारण उत्तरार्द्ध में कहते हैं—'श्रीरघुपति प्रताप उर आना।'—पहले रघुपति में मोहवश मनुष्य-बुद्धि आ गई थी। अब उन्हें ब्रह्म निश्चय किया, गौरव की दृष्टि हुई, तब 'श्री' विशेषण भी दिया। पहले हृदय में भ्रम और सशय भरे हुए थे, अब उसमें राम-प्रताप है।

उपक्रम में कहा गया था—"सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई॥" (दो० ७२), यहाँ उपसहार करते हुए कहा—"सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये॥" इस बीच मे श्रीभुशुंडिजी ने श्रीगरुड़जी के लिये सात बार 'सुनु' 'सुनहु' कहकर सावधान किया है। बीच मे कहीं यह नहीं कहा गया कि श्रीगरुड़जी ने सुना है। यहाँ 'सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये' कहकर उनका सुनना सूचित किया गया है।

पहले श्रीरामजी को ब्रह्म तो मानते थे, पर उनके 'रघुपति' सगुण रूप में वह प्रताप न पाकर संशय किया था ; यथा—'देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं' वह संदेह अब चला गया, इससे रघुपति-रूप में भी वह प्रताप माना। अतः, 'श्रीरघुपति प्रताप उर आना।' कहा गया है। ऐश्वर्य सम्बन्ध से 'श्री' विशेषण दिया गया है।

पाछिल मोह समुझि पछताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना ॥३॥
पुनि-पुनि काग-चरन सिर नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा ॥४॥

अर्थ—पिछला मोह समझकर पछताया (खेद की बात है कि) अनादि ब्रह्म को मैंने मनुष्य करके मान लिया था ॥३॥ बार-बार काकजी के चरणों मे शिर नवाया और उन्हें श्रीरामजी के समान जानकर प्रेम बढ़ाया ॥४॥

विशेष—(१) 'पाछिल मोह समुझि पछताना।'—'पाछिल' कहकर सूचित किया गया कि वह मोह अब नहीं रह गया। क्या मोह था, इसे उत्तरार्द्ध में खोलते हैं; यथा—"ब्रह्म अनादि मनुज करि जाना" इसे पाछिल कहकर पूर्वकथित दो० ५७-५८ और ६८ के 'देखउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।' 'भयउ मोह बस'; 'अति मोह'; 'राम विकल कारन कवन'; 'देखि चरित अति नर अनुसारी'; 'संसय भारी' के भाव स्पष्ट किये कि वहाँ इन्हें श्रीरामजी मे प्राकृत मनुष्य बुद्धि आ गई थी। पर वहाँ कहीं यह बात खोली नहीं गई थी।

(२) 'पुनि पुनि काग चरन सिर नाया।'—इससे कृतज्ञता प्रकट की ; यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥" (दो० १२४)। ये पक्षिराज हैं, नीच पक्षी को क्यों प्रणाम कर रहे हैं ? इस शंका के निवारणार्थ "जानि राम सम···" कहा गया है।

'जानि राम सम'—जिसे माया एवं उसके परिवार काम आदि न व्याप्त होवें, वह श्रीरामजी के समान है ; यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया।" से "सो नर तुम्ह समान रघुराया॥" (कि० दो० २०) तक ; यह श्रीसुग्रीवजी ने कहा है। यह सब काकजी में जानकर इन्हें श्रीरामजी के समान जाना। पूर्व इन्हें विशुद्ध संत माना था ; यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।" (दो० ६८) ; अब यहाँ 'राम सम' जानना कहा गया। इससे दिखाया कि संत-भगवंत एक ही हैं ; यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं।" (वि० ५७), पुनः आगे इन्हें गुरु भी कहा है, गुरु में ईश्वर-बुद्धि होनी चाहिये ; यथा—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३) ; अर्थात् गुरु में ईश्वर के समान भक्ति करनी चाहिये। 'प्रेम बढ़ावा'—पहले चरित सुनने पर प्रेम हुआ था ; यथा—"सहित बिनय अनुराग" (दो० ८८) ; अब वह बढ़ चला, इसीसे यहाँ बार-बार प्रणाम करते हैं, राम-सम मानते हैं और गुरु भी मान लिया। आगे उस गुरुत्व का महत्त्व कहते हैं—

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई ॥५॥

अर्थ—गुरु के बिना कोई भवसागर पार नहीं होता, चाहे वह ब्रह्माजी और शिवजी के समान ही (क्यों न) हो ॥५॥

विशेष—(१) पहले श्रीगरुडजी ने श्रीरामचरित सुना, तब श्रीभुशुंडिजी को विशुद्ध संत माना था; यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं प्रभु तेही।···" (उ० दो० ६८) ; पुनः यहाँ राम-परत्व कहा और

अपने मोह-कथन के साथ बार-बार 'सुनु' कह-कहकर उपदेश दे भगवान् के सम्मुख किया, उनका मोह दूर किया। अतः, अब गरुड़जी ने इन्हें गुरु माना और बार-बार प्रणाम किया। अंतिम उपदेश 'भावबश्य भगवान'···' में गुरुत्व का रहस्यात्मक भाव भी कहा और बीच में यह भी कहा - 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान' इससे गुरु करने की अनिवार्य आवश्यकता देखी। अतः, गुरु-भाव किया, फिर यहाँ गुरुत्व का महत्त्व कहते हैं।

(२) 'भवनिधि तरइ न कोई'—कोई भी, इतने ही पर समझा जाता कि मनुष्य-मात्र के लिये यह कथन है। इसपर 'बिरंचि संकर' को भी कहकर दिखाया कि जो ब्रह्मा चारों वेदों के वक्ता और श्रीशिवजी त्रिभुवन-गुरु हैं। सामर्थ्य में जगत्-भर के रचयिता और संहारकर्त्ता हैं, उन्हें भी गुरु की आवश्यकता है। इन दोनों के गुरु श्रीरामजी ही हैं, उन्हीं से इन्हें श्रीराम-मंत्रराज की प्राप्ति हुई है, यथा—"त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्···" (श्रीरामतापनीय उ०)।

इसपर शंका हो सकती है कि वेद ही से सबका गुरुत्व है। वह तो ब्रह्माजी स्वयं जानते हैं और शिवजी सम्पूर्ण ज्ञान के पात्र हैं, फिर इन्हें भी गुरु की आवश्यकता क्यों हुई ? इसका समाधान यह है कि ब्रह्म अप्रमेय है, वह परिमित शक्तिशाली बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकता। जैसे नेत्र की परिमित पुतली से परिमित स्थल पर्यंत ही दिखाई पड़ता है वैसे ही परिमित शक्ति के साधनों से परिमित ही पदार्थ प्राप्त होते हैं। श्रुति भी कहती है; यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक० १।२।१२); अर्थात् कृत (किये हुए उपायों से) अकृत रूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। साथ ही उपाय भी श्रुति ने ही बतलाया है; यथा—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्···" अर्थात् उस ब्रह्म के जानने के लिये गुरु के पास जाय। प्राचीन रीति से ब्रह्म-विद्या का कानों-कान ही आना पाया जाता है। वैसे ही मंत्र-योग की भी परंपरा है। मंत्र के अर्थ में सम्पूर्ण ब्रह्म-विद्या रहती है। जैसे ब्रह्मविद्यात्मक वेद-मंत्रों में भगवान् की शक्ति है, क्योंकि वे उन्हीं की साँस हैं। वैसे ही मंत्र भी भगवान् से प्रकट होकर परंपरा द्वारा कानों-कान से गुरुओं को प्राप्त रहते हैं, उसमें भगवान् की अपरिमित गुरुत्वशक्ति रहती है वही श्रवण-द्वारा मुमुक्षु में प्राप्त होती है। उसके प्रकाश से मुमुक्षु यत्न करके अपरिमित भगवान् को प्राप्त करता है। जैसे भगवान् ने गीता में अपनी दिव्य चक्षु देकर श्रीअर्जुन को अपना पररूप दिखाया है। अन्यत्र भी भगवान् ने कहा है; यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०), अर्थात् उन्हें मैं वह बुद्धियोग देता हूँ; जिससे वे मुझे पाते हैं। भगवान् की गुरुत्व शक्ति गुरु में मानकर ही उन्हें परब्रह्म-रूप कहा गया है, यथा—"गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।" तथा—"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेव मयो गुरुः॥ ··· शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्॥" (भाग० ११।१७।२७-२८); उसी गुरुत्व-शक्ति से शिष्य के मोह का संहार उसके हृदय में दिव्य गुणों की उत्पत्ति और भक्ति द्वारा उस शिष्य का पालन होता है। इसी से गुरु को त्रिदेव-रूप भी कहा गया है; यथा—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।" ब्रह्माजी और शिवजी की शक्ति परिमित है, इसी लिये उन्हें भी गुरु की आवश्यकता कही गई है।

श्रीगोस्वामीजी ने राम-मंत्र एवं नाम के लिये दीक्षा लेकर स्वयं जपने का उपदेश किया है, यथा—"बेगि बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस। महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।" (वि० १०८)। तथा—"करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।" (दो० ४३), "बिनु गुरु होइ कि ज्ञान" (दो० ८९); "सदगुरु बेद बचन बिस्वासा।" (दो० १११)। तथा—"बंदउँ गुरु-पद-कंज,···" (बा० मं० सो० ५); "एवं—गुरु-पद-पंकज सेवा···" (आ० दो० १५) भी देखिये।

अर्थ—आप सर्वज्ञ (तीनों कालों के सब पदार्थों के ज्ञाता हैं), तत्त्वज्ञान के ज्ञाता, अविद्या-रूपी तम से परे, उत्तम बुद्धिवाले, सुशील और सीधे (निश्छल) आचरणवाले हैं ॥१॥ ज्ञान-वैराग्य-विज्ञान-धाम और श्रीरघुनाथजी के प्रिय दास हैं, तब किस कारण यह देह पाई ? हे तात ! मुझसे सब समझा-कर कहिये ॥२॥-३॥ हे स्वामिन् ! यह सुंदर श्रीराम-चरित-सर आपने कहाँ पाया ? हे आकाशगामी पक्षि ! कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'तुम्ह सर्वज्ञ ···'—श्रीभुशुंडिजी की सरलता, सुशीलता और सुमति को तो गरुड़जी ने स्वयं देखा है। शेष विशेषण वरदान में पाये हुए हैं ; 'सर्वज्ञ तज्ञ'; यथा—"जानब तैं सबही कर भेदा ।"; 'तम पारा' "माया संभव भ्रम सब, अब न व्यापिहहिं तोहिं ।" और 'प्रिय दासा'—"सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग ।" तथा—"ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना।···आजु देउँ सब" इत्यादि ।

(२) 'कारन कवन देह यह पाई ।'—भाव यह कि उपर्युक्त विशेषणवाले का काक शरीर हो, यह असंभव-सा जान पड़ता है । अतः, इसे बुझाकर कहिये, यह मुझे पहेली-सा गूढ़ लगता है । ऐसे ही पार्वतीजी को भी परम संदेह हुआ था—देखिये दो० ५३ भी । 'प्रिय दासा' का भाव यह कि दास का शरीर तो स्वामी के अनुरूप चाहिये, पर काक-तन तो उनके बहुत अयोग्य है । 'सरल' पर दो० ९४ देखिये ।

(३) 'राम-चरित सर सुंदर···'—यह प्रश्न "प्रथमहिं अति अनुराग भवानी । राम-चरित सर कहेसि बखानी ॥" (दो० ६३) में कहे हुए 'सर' के विषय में है । अथवा सर अर्थात् मानसर; अर्थात् रामचरितमानस (संपूर्ण) के विषय में यह प्रश्न है । 'नभगामी' का भाव यह कि आप आकाश-मार्ग में ब्रह्मांड-भर विचरे होंगे, आपने इसे किस स्थल पर पाया है ?

नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं । महा-प्रलयहुँ नास तव नाहीं ॥५॥
मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई । सोउ मोरे मन संसय अहई ॥६॥
अग-जग-जीव नाग-नर-देवा । नाथ सकल जग काल कलेवा ॥७॥
अंडकटाह अमित लयकारी । काल सदा दुरतिक्रम भारी ॥८॥

सो०—तुम्हहिं न ब्यापत काल, अति कराल कारन कवन ।
मोहि सो कहहु कृपाल, ज्ञान-प्रभाव कि जोग-बल ॥

दो०—प्रभु तव आश्रम आये, मोर मोह भ्रम भाग ।
कारन कवन सो नाथ सब, कहहु सहित अनुराग ॥९४॥

अर्थ—हे नाथ ! मैंने श्रीशिवजी से ऐसा सुना है कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता ॥५॥ ईश्वर श्रीशिवजी झूठ वचन नहीं कहते (अतः,) यह भी मेरे मन में संदेह है ॥६॥ हे नाथ ! नाग, नर देवता, चर और अचर सभी जीव एवं सारा संसार ही काल का कलेवा है ॥७॥ असंख्यों ब्रह्मांडों का लय करनेवाला काल सदा ही भारी अनिवार्य है ॥८॥ अत्यंत भयंकर काल आपको नहीं व्याप्त होता, इसका

क्या कारण है ? हे कृपालो ! मुझसे कहिये कि यह ज्ञान का प्रभाव है या कि योगबल का प्रभाव है ? हे प्रभो ! आपके आश्रम मे आते ही मेरा मोह और भ्रम चला गया, इसका क्या कारण है ? हे नाथ ! यह सब प्रेम सहित कहिये ॥९४॥

विशेष—(१) 'नाथ सुना···'—श्रीशिवजी ने पहले तो "बहु कालीना"···"मैं जब तेहि सन कहा बुझाई ।" (दो॰ ६६) इतना ही कहा था, पर यहाँ स्पष्ट कहा गया है । अतएव वहाँ के 'कहा बुझाई' मे ही यह भी कहा जाना माना जायगा । महाप्रलय मे सृष्टिमात्र का नाश हो जाता है । ब्रह्माजी के एक दिन पर प्रलय और उनकी सौ वर्ष की आयु बीतने पर महाप्रलय होता है । उसमे भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं रहता । (कहा जाता है कि श्रीभुशुंडिजी और मारकंडेय मुनि उस समय सशरीर भगवान् मे ही प्रवेश कर जाते हैं क्योंकि इनके शरीर दिव्य हैं,) यद्यपि अभी इन्हें यहाँ रहते २७ ही कल्प बीते, महाप्रलय अभी नहीं हुआ, तथापि यह प्रभाव इन्हें सदा के लिये प्राप्त हैं । वही श्रीशिवजी ने कहा है ।

(२) 'मृषा बचन···'—सामान्य देवता भी झूठ नहीं कहते और ये तो महादेव हैं, ईश्वर हैं । तो असत्य कैसे कहेंगे ? यथा—"सभु गिरा पुनि मृषा न होई ।" (बा॰ दो॰ ५०) और फिर महाप्रलय की व्यवस्था समझने पर सन्देह नहीं मिटता ।

(३) 'अग जग'—स्थावर-जगम, प्राण-रहित-प्राण-सहित, 'नाग नर देवा'—क्रमश पाताल, पृथ्वी और स्वर्गलोक के जीव, 'सकल जग' में ब्रह्माड-भर एवं ब्रह्माजी भी आ गये । 'कलेवा' अर्थात् इतने मात्र से उसकी तृप्ति नहीं होती, बालभोग मात्र ही होता है । आगे 'अंडकटाह अमित ··' से उसका भोजन कहते हैं । 'कटाह' अर्थात् कड़ाह रूप है, जैसे कड़ाह मे घी-तेल तप्त होते हैं, वैसे ही ब्रह्माड मे जीव वासना के द्वारा त्रिविध तापों से तपते रहते हैं, काल ऐसा कराल है कि उन सबको फलों की तरह भक्षण कर जाता है ; यथा—"ते फल भच्छक कठिन कराला । तव डर डरत सदा सोउ काला ॥" (आ॰ दो॰ १२) । फल खाते देर नहीं लगती, यथा—"मैं बानर फल खात न बारा ।" (लं॰ दो॰ २२) ऐसे ही काल शीघ्रता में ब्रह्माडों को खा जाता है । इसी से उसे 'दुरति क्रम भारी' कहते हैं कि उससे कोई बच नहीं सकता । वह 'अति कराल' है इससे किसी पर दया नहीं करता । 'कृपाल'—कृपा करके इसका रहस्य कहिये, इसके जानने की मुझे बड़ी इच्छा है ।

(४) 'ज्ञान प्रभाव कि जोग बल'—ज्ञानी ज्ञान-प्रभाव से देह-धर्म से सर्वथा असग रहते हैं, काल के धर्म देह ही पर व्याप्त होते हैं, वे आत्मरूप मे लीन रहते हैं, क्या इस तरह काल का जीतना है ? अथवा योग बल से देह ही सिद्ध कर ली जाती है, जिस काल मे जो तत्त्व रहता है उसी मे मिलकर बने रहते हैं ?

(५) 'प्रभु तव आश्रम ··'—यहाँ तक चार प्रश्न हुए—(१) काक तन क्यों मिला ? (२) रामचरित सर कहाँ मिला ? (३) आपको काल क्यों नहीं व्याप्त होता ? (४) आपके आश्रम मे आने से मेरे मोह भ्रम दूर हो जाने का क्या कारण है ? इनका उत्तर क्रम से श्रीभुशुंडिजी देंगे । इनके बहुत प्रश्न पार्वतीजी के प्रश्नों से मिलते हैं, यहाँ कुछ अधिक भी हैं । दो॰ ५४–५५ देखिये । वहाँ कहा भी है - "ऐसिय प्रश्न बिहँग पति, कीन्ह काग सन जाय ।"

(६) 'सब कहहु'—भाव यह कि अब प्रश्न पूरे हो गये, इन सबके उत्तर कहिये । चारो प्रश्नों के कारण कहिये । 'सब कारन' का भाव यह कि किसी में अधिक कारण हों, तो उन सब कारणों को कहिये ।

'सहित अनुराग'—मुझे आर्त्त-विनीत जिज्ञासु शिष्य जानकर प्रेम-पूर्वक समझाकर कहिये ।

गरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर

गरुड़-गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा ॥१॥
धन्य-धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी ॥२॥
सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई ॥३॥
सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई ॥४॥

अर्थ—हे उमा! श्रीगरुड़जी की वाणी सुनकर काक भुशुण्डिजी हर्षित हुए और परम अनुराग पूर्वक बोले ॥१॥ हे उरगारि गरुड़जी! आपकी बुद्धि धन्य है, धन्य है! आपके प्रश्न मुझे अत्यन्त प्यारे लगे ॥२॥ आपके प्रेम भरे सुहावने प्रश्न सुनकर मुझे अपने अनेक जन्मों की सुधि हो आई ॥३॥ मैं अपनी सब कथा गाकर (विस्तारपूर्वक) कहता हूँ, हे तात! मन लगाकर सादर सुनो ॥४॥

विशेष—(१) यहाँ श्रीगरुड़जी और श्रीभुशुण्डिजी में समशीलता स्पष्ट है—

श्रीगरुड़जी	श्रीभुशुण्डिजी
१ कहहु सहित अनुराग	बोलेउ उमा परम अनुरागा।
२ ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि	धन्य धन्य तव मति उरगारी।
३ सब कहहु सकल कहहु	सब निज कथा कहउँ।
४ सादर कहहु	सादर सुनहु मन लाई।
५ सुनि हरषित खगपति पग्न	गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा।

(२) 'परम अनुरागा'—श्रीगरुड़जी ने 'सहित अनुराग' कहने की प्रार्थना की थी। अत, श्रीभुशुण्डिजी परम अनुराग सहित बोले। आगे के कथन में इनका अनुराग प्रकट है।

(३) 'धन्य धन्य तव मति ', यथा—"धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।" (बा० दो० १११)।

'प्रश्न अति प्यारी'—ग्रन्थकार ने प्रश्न शब्द को प्राय स्त्रीलिंग में अधिक कहा है, यथा—"प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल निहीन सुनि सिव मन भाई ॥" (बा० दो० ११०)। यहाँ भी 'सुहाई' और 'अति प्यारी' कहकर छल रहित सूचित किया है। आगे भी कहा है, यथा—"कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी।" (दो० ११६)।

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना ॥५॥
सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ॥६॥
येहि तनु राम-भगति मैं पाई। ताते मोहि ममता अधिकाई ॥७॥
जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई ॥८॥

अर्थ—जप, तप, यज्ञ, शम, दम, व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग और विज्ञान ॥५॥ इन सबका फल श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम होना है, इसके बिना कोई कल्याण नहीं पाता ॥६॥ इस शरीर से

मैंने श्रीराम-भक्ति प्राप्त की है, इसीसे इसमें मेरी अधिक ममता है ॥७॥ जिससे अपना कुछ स्वार्थ होता है उसपर सभी कोई ममत्व करते हैं ॥८॥

विशेष—(१) श्रीगरुड़जी ने काक शरीर पाने का कारण पूछा था, वह तो पीछे कहेंगे, यहाँ पहले यह कह रहे हैं कि मुझे यह तन क्यों प्रिय है ?

(२) 'जप तप···सब कर फल···'—इन सबसे यदि राम-प्रेम नहीं हुआ तो इन्हें निष्फल ही समझना चाहिये ; यथा—"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥" (भाग० १।२।८)। यही मत श्रीवसिष्ठजी और श्रीशिवजी का भी है ; यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर।" (दो० ४८) ; "जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ॥" (दो० ११५)।

(३) 'तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा।'—और धर्म एवं साधनों की बात ही क्या, ज्ञान की चरम अवस्था को पहुँचकर भी बिना भक्ति क्षेम नहीं होता; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (दो० १२); यह वेदों ने कहा है। रघुपति पद प्रेमवाले की पुनरावृत्ति नहीं होती ; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७.२३); और "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६)।

(४) 'येहि तन···'—पहले भक्ति को सब साधनों का फल एवं कल्याणकारिणी कहकर तब कहते हैं कि ऐसी भक्ति तो मुझे इसी तन से मिली। अतः, इसमें ममता अधिक होना उचित ही है।

(५) 'जेहि ते कछु···'—शरीर पर ममता करना अविवेक है ; यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (अ० दो० १४१)। उसपर कहते हैं कि संसार में रीति है कि जिससे अपनी कुछ भी स्वारथ-सिद्धि होती है, उसपर सभी ममता करते हैं ; यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११) और मेरा तो इस तन से परम एवं सच्चा स्वार्थ सिद्ध हुआ है। यह आगे कहते हैं—

सो०—पन्नगारि असि नीति, श्रुति-सम्मत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परमहित ॥
पाट कीट ते होइ, तेहि ते पाटंबर रुचिर।
कृमि पालइ सब कोइ, परम अपावन प्रान-सम ॥९५॥

अर्थ—हे गरुड़ ! ऐसी नीति है, यह वेद सम्मत है और सज्जन लोग (भी) कहते हैं कि अपना परम हित होता हुआ जानकर अत्यन्त नीच से भी प्रेम कर लेना चाहिये ॥ (देखिये) रेशम कीड़े से होता है और उससे सुन्दर पीताम्बर आदि रेशमी वस्त्र बनते हैं, इसीसे यद्यपि वह परम अपवित्र है तो भी, उस कीड़े को सब कोई प्राण के समान पालते हैं ॥९५॥

विशेष—(१) 'असि नीति···'—जो मैंने 'सब कोई' की लोक-रीति कही है, वही नीति और श्रुति-सम्मत भी है। अतः, यह लोक-वेद (उभय) मत है।

(२) 'अति नीचहु सन प्रीति, करिय '—भाव यह कि यों तो अति नीच से प्रीति नहीं करनी चाहिये, यथा—"बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।" (दो० १०५) पर परम हित की प्राप्ति देखकर प्रीति करनी ही चाहिये ।

(३) 'पाट कीट ते होइ • '—चीन और बंगाल देश में अधिकतर रेशम के कीड़े होते हैं। यह कीड़ा प्रथम बड़ी-सी तितली होती है, वह सरसों भर का गोल अंडा देती है। अंडे से सूत्र के समान कीड़े निकलते हैं जो तूत आदि की कोमल पत्तियाँ खाते हैं, जब ये दो-तीन अंगुलों के हो जाते हैं तब उनपर खोल पड़ जाता है। जब वे खोल से निकलते हैं तब उनके १६ पैर और १२ आँखें हो जाती हैं। वे रेशम उगल-उगल कर गेंद सरीखा एक गोला बनाकर उसी के भीतर बन्द रहते हैं। कुछ दिन पर गोला फोड़कर निकलने पर तितली रूप हो जाते हैं। उस समय इनके छ पैर और दो आँखें और दो पख हो जाते हैं। लोग उस गोले को रूई के समान तूँब कर रेशम कर लेते हैं। उस रेशम को सूत के समान कातकर उसी से पाटम्बर आदि तरह-तरह के रेशमी वस्त्र बनाते हैं। यह कीड़ा बड़ा अपावन माना जाता है—(श्रीबैजनाथजी की टीका से उद्धृत)।

स्वारथ साँच जीव कहँ येहा। मन-क्रम बचन राम-पद नेहा ॥१॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥२॥
राम-बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रससहिं तेही ॥३॥
राम-भगति येहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी ॥४॥
तजउँ न तनु निज इच्छा मरना। तनु बिनु बेद भजन नहि बरना ॥५॥

अर्थ—जीव का सच्चा स्वार्थ यही है कि उसका मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हो ॥१॥ वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिसे पाकर उससे श्रीरघुनाथजी का भजन किया जाय ॥२॥ राम विमुख यदि ब्रह्मा के समान शरीर पा जाय तो भी कवि और कोविद उसकी प्रशंसा नहीं करते ॥३॥ इस तन से मेरे हृदय में श्रीराम भक्ति जमी (पैदा एव वृद्धि हुई) इसी से हे स्वामी! यह मुझे परम प्रिय है ॥४॥ मैं शरीर नहीं छोड़ता, यद्यपि मरना अपनी इच्छा पर है, क्योंकि बिना शरीर के भजन करना वेद नहीं वर्णन करते ॥५॥

विशेष—(१) 'स्वारथ साँच जीव कह येहा।'—उपर्युक्त दृष्टान्त पर कहा जा सकता है कि आपका इस काक तन से कौन-सा बड़ा स्वार्थ है ? उसपर कहते है कि मुझे इससे सच्चे स्वार्थ की सिद्धि हुई। लौकिक-सुख-साधक पदार्थ झूठे स्वार्थ हैं, क्योंकि उनमें रत होने से परिणाम में भव दुःख होता है। श्रीरामजी की अनन्य भक्ति करना ही सच्चा स्वार्थ है, यही परम परमार्थ है, यथा—"सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥' (अ० दो० ९२) लौकिक पदार्थ मोह-मूलक हैं, यथा—"सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू ॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ॥" (अ० दो० ९१), मनुष्य देह पाने की सफलता परमार्थ-साधन मे ही है, यह पुरजन गीता प्रसंग में भी विस्तार से कहा गया, इसी से इसे ही यहाँ जीव का सच्चा स्वार्थ कहा गया है, यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पी के।" (वि० १७५)।

(२) 'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।'—राम-भक्त के शरीर स्पर्श से दूसरे भी पवित्र होते हैं; यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।" (वि० ११६)। 'जो तनु पाय···'– इसी में देह की सफलता है; यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २१।

(३) 'राम बिमुख लहि···'- भाव यह कि चाहे वह तीनों लोकों का रचयिता, नियन्ता एवं पितामह आदि ही क्यों न हो, पर राम-विमुख होने से वह भी 'पावन' और 'सुभग' नहीं है। यथा—"भगति हीन बिरंचि कि न होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥" (दो० ८५)।

(४) 'राम भगति येहि तन उर जामी।'—'जामी' पद से शरीर को भूमि, हृदय को थाल्हा और भक्ति को वृक्ष बनाया। इसका बीज शिवाशीर्वाद से पड़ा, फिर लोमश-गुरु की कृपा से अंकुरित होकर बढ़ चला एवं दृढ़ हो गया।

(५) 'तजउँ न तनु निज इच्छा मरना।'—लोमशजी की आशिष से मृत्यु अपनी इच्छा पर है,- यथा—"सदा राम प्रिय होब तुम्ह,···कामरूप इच्छा मरन, ज्ञान बिराग निधान।" (दो० ११३) फिर भी इस देह को नहीं छोड़ते, इसका कारण आगे कहते हैं—

(६) 'तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना।'—भाव यह कि भक्ति सहित ही जीवन रखना उत्तम है। वह शरीर बिना हो नहीं सकता। जब कोई शरीर रखना ही है तब वही क्यों न रक्खूँ? जिससे मेरा परम उपकार हुआ है। इस कारण से उसी काक तन पर मेरी प्रीति है। ध्वनि यह भी है कि नर देह, द्विज देह आदि में मुझे भक्ति-सुख नहीं मिला था, तब उनकी इच्छा क्यों करूँ? यथा—"सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥" (अ० दो० १५४)।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त—कृमि परम अपावन वैसे काक-तन परम अपावन; कृमि से स्वार्थ और काक-तन से सच्चा-स्वार्थ राम-प्रेम; स्वार्थवश कृमि को सब पालते हैं और मैं काक-तन को परम प्रिय मानता हूँ; रेशम सम्बन्ध से कृमि पावन और राम-भक्ति सम्बन्ध से काक-तन पावन है।

श्रीगरुड़जी के प्रथम प्रश्न में भुशुंडिजी ने काक-तन नहीं बदलने का उत्तर दे दिया। अब आगे काक-तन पाने का कारण कहते हैं—

प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा। राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा॥६॥
नाना जन्म कर्म पुनि नाना। किये जोग जप तप मख दाना॥७॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥८॥

शब्दार्थ—बिगोना (सं० विगोपन) = बिगाड़ना, नष्ट करना।

अर्थ—पहले मोह ने मुझे बहुत नष्ट किया, मैं श्रीराम-विमुख रहते हुए कभी भी सुख से नहीं सोया॥६॥ अनेक जन्म ले लेकर फिर उनमें अनेक प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि अनेक कर्म किये॥७॥ हे पक्षिराज! ऐसी कौन योनि है जिसमें मैंने फिर-फिर कर बार-बार जगत् में जन्म न लिया हो; अर्थात् बार-बार चौरासी को भोगा है॥८॥

(२) 'अति नीचहु सन प्रीति, करिय'''—भाव यह कि यों तो अति नीच से प्रीति नहीं करनी चाहिये ; यथा—"बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।" (दो० १०५) पर परम हित की प्राप्ति देखकर प्रीति करनी ही चाहिये ।

(३) 'पाट कीट ते होइ'''—चीन और बंगाल देश में अधिकतर रेशम के कीड़े होते हैं। यह कीड़ा प्रथम बड़ी-सी तितली होती है, वह सरसों भर का गोल अंडा देती है। अंडे से सूत्र के समान कीड़े निकलते हैं जो तूत आदि की कोमल पत्तियाँ खाते हैं, जब ये दो-तीन अंगुलों के हो जाते हैं तब उनपर खोल पड़ जाता है। जब वे खोल से निकलते हैं तब उनके १६ पैर और १२ आँखें हो जाती हैं। वे रेशम उगल-उगल कर गेंद सरीखा एक गोला बनाकर उसी के भीतर बन्द रहते हैं। कुछ दिन पर गोला फोड़कर निकलने पर तितली रूप हो जाते हैं। उस समय इनके छः पैर और दो आँखें और दो पंख हो जाते हैं। लोग उस गोले को रूई के समान तूँब कर रेशम कर लेते हैं। उस रेशम को सूत के समान कातकर उसी से पाटम्बर आदि तरह-तरह के रेशमी वस्त्र बनाते हैं। यह कीड़ा बड़ा अपावन माना जाता है—(श्रीबैजनाथजी की टीका से उद्धृत)।

स्वारथ साँच जीव कहँ येहा। मन-क्रम-बचन राम-पद नेहा ॥१॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥२॥
राम-बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही ॥३॥
राम-भगति येहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी ॥४॥
तजउँ न तनु निज इच्छा मरना। तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना ॥५॥

अर्थ—जीव का सच्चा स्वार्थ यही है कि उसका मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हो ॥१॥ वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिसे पाकर उससे श्रीरघुनाथजी का भजन किया जाय ॥२॥ राम-विमुख यदि ब्रह्मा के समान शरीर पा जाय तो भी कवि और कोविद उसकी प्रशंसा नहीं करते ॥३॥ इस तन से मेरे हृदय में श्रीराम-भक्ति जमी (पैदा एवं वृद्धि हुई) इसी से हे स्वामी ! यह मुझे परम प्रिय है ॥४॥ मैं शरीर नहीं छोड़ता, यद्यपि मरना अपनी इच्छा पर है, क्योंकि विना शरीर के भजन करना वेद नहीं वर्णन करते ॥५॥

विशेष—(१) '*स्वारथ साँच जीव कह येहा।*'—उपर्युक्त दृष्टान्त पर कहा जा सकता है कि आपका इस काक तन से कौन-सा बड़ा स्वार्थ है ? उसपर कहते हैं कि मुझे इससे सच्चे स्वार्थ की सिद्धि हुई। लौकिक-सुख-साधक पदार्थ झूठे स्वार्थ हैं, क्योंकि उनमें रत होने से परिणाम में भव-दुःख होता है। श्रीरामजी की अनन्य भक्ति करना ही सच्चा स्वार्थ है, यही परम परमार्थ है ; यथा—"सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम वचन राम-पद नेहू ॥" (अ० दो० ९३); लौकिक पदार्थ मोह-मूलक हैं ; यथा—"सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू ॥ ''देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ॥" (अ० दो० ९२); मनुष्य देह पाने की सफलता परमार्थ-साधन में ही है, यह पुरजन गीता प्रसंग में भी विस्तार से कहा गया, इसी से इसे ही यहाँ जीव का सच्चा स्वार्थ कहा गया है ; यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पी के।" (वि० १७५)।

(२) 'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा ।'—राम-भक्त के शरीर स्पर्श से दूसरे भी पवित्र होते हैं, यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये ।" (वि॰ १३६) । 'जो तनु पाय···'—इसी में देह की सफलता है; यथा—"देह धरे कर यह फल भाई । भजिय राम सब काम बिहाई ॥" (कि॰ दो॰ २२ ।

(३) 'राम बिमुख लहि···'- भाव यह कि चाहे वह तीनों लोकों का रचयिता, नियन्ता एवं पितामह आदि ही क्यों न हो, पर राम-विमुख होने से वह भी 'पावन' और 'सुभग' नहीं है । यथा—"भगति हीन बिरंचि कि न होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई ॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ॥" (दो॰ ८५) ।

(४) 'राम भगति येहि तन उर जामी ।'—'जामी' पद से शरीर को भूमि, हृदय को थाल्हा और भक्ति को वृक्ष जनाया । इसका बीज शिवाशीर्वाद से पड़ा, फिर लोमश-गुरु की कृपा से अंकुरित होकर बढ़ चला एवं दृढ़ हो गया ।

(५) 'तजउँ न तनु निज इच्छा मरना ।'—लोमशजी की आशिष से मृत्यु अपनी इच्छा पर है,- यथा—"सदा राम प्रिय होब तुम्ह,···कामरूप इच्छा मरन, ज्ञान बिराग निधान ।" (दो॰ ११३) फिर भी इस देह को नहीं छोड़ते, इसका कारण आगे कहते हैं—

(६) 'तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना ।'—भाव यह कि भक्ति सहित ही जीवन रखना उत्तम है । वह शरीर विना हो नहीं सकता । जब कोई शरीर रखना ही है तब वही क्यों न रक्खूँ ? जिससे मेरा परम उपकार हुआ है । इस कारण से उसी काक तन पर मेरी प्रीति है । ध्वनि यह भी है कि नर देह, द्विज देह आदि मे मुझे भक्ति सुख नहीं मिला था, तब उनकी इच्छा क्यों करूँ ? यथा—"सो तनु राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा ॥" (अ॰ दो॰ १५४) ।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त—कृमि परम अपावन वैसे काक-तन परम अपावन; कृमि से स्वार्थ और काक तन से सच्चा-स्वार्थ राम-प्रेम ; स्वार्थवश कृमि को सब पालते हैं और मैं काक-तन को परम प्रिय मानता हूँ ; रेशम सम्बन्ध से कृमि पावन और राम-भक्ति सम्बन्ध से काक-तन पावन है ।

श्रीगरुड़जी के प्रथम प्रश्न मे भुशुंडिजी ने काक-तन नहीं बदलने का उत्तर दे दिया । अब आगे काक-तन पाने का कारण कहते हैं—

प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा । राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा ॥६॥
नाना जन्म कर्म पुनि नाना । किये जोग जप तप मख दाना ॥७॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं । मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ॥८॥

शब्दार्थ—बिगोना (सं॰ विगोपन) = बिगाड़ना, नष्ट करना ।

अर्थ—पहले मोह ने मुझे बहुत नष्ट किया, मैं श्रीराम-विमुख रहते हुए कभी भी सुख से नहीं सोया ॥६॥ अनेक जन्म ले लेकर फिर उनमे अनेक प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि अनेक कर्म किये ॥७॥ हे पक्षिराज ! ऐसी कौन योनि है जिसमे मैंने फिर-फिर कर बार बार जगत् मे जन्म न लिया हो ; अर्थात् बार-बार चौरासी को भोगा है ॥८॥

विशेष—(१) 'प्रथम मोह मोहि ···'—'प्रथम' शब्द से जनाया कि यह श्रीशिवजी के वरदान के पूर्व की बात है। आगे—"प्रथम जन्म के चरित अब, कहउँ···" से स्पष्ट है। यह भी भाव है कि संसार में आने में प्रथम मोह ही कारण है; यथा—"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (दो॰ १२०); 'मोह ··बिगोवा'—मोह ने बुद्धि को भ्रमित करके नष्ट कर दिया। राम-विमुख होना बिगोना अर्थात् नष्ट होना है; यथा—"जिन्ह येहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये॥" (बा॰ दो॰ ४२)।

(२) 'राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा।'—इससे जनाया कि राम भक्त ही सुख से सो सकता है; यथा—"प्रीति राम-नाम सों, प्रतीति राम-नाम की, प्रसाद राम नाम के पसारि पायँ सूति हौं॥" (क॰ उ॰ ६६)। "जागैं जोगी जंगम···सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥" (क॰ उ॰ १०६); राम-विमुख को स्थिरता कहाँ? यथा—"नाचत ही निसि दिवस मर्‍यो। तब ही ते न भयो हरि थिर जब ते जिव नाम धर्‍यो॥" (वि॰ ६१); "हरि पद बिमुख काहु न लह्यो सुख···" (वि॰ ८७)।

(३) 'नाना जन्म ···'—प्रत्येक जन्म में नाना प्रकार के योग, जप, आदि कर्मों को एवं इस प्रत्येक कर्म को भी नाना प्रकार से किया। 'नाना' का अन्वय प्रत्येक कर्म के साथ भी है।

'कवन जोनि···'—राम-भक्त के कर्म भक्ति-रूप एवं निष्काम होकर किये जाते हैं और वे श्रीरामजी को अर्पित किये जाते हैं। श्रीराम-विमुख में ये बातें नहीं होतीं, इसीसे कर्मानुसार वे नाना योनियों में भ्रमते हैं; यथा—"भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (दो॰ १२)। इसपर क॰ उ॰ १२४–१२५ भी देखिये।

देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं॥९॥
सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी। सिव-प्रसाद मति मोह न घेरी॥१०॥

अर्थ—हे गोस्वामी! मैंने सब कर्म करके देख लिया, पर इस समय की तरह सुखी कभी नहीं हुआ॥९॥ हे नाथ! मुझे श्रीशिवजी के प्रसाद से बहुत जन्मों की सुध है और मेरी बुद्धि को मोह ने नहीं घेरा॥१०॥

विशेष—(१) 'देखेउँ करि सब कर्म गोसाईं।···'—मैं कुछ वेद शास्त्र आदि की एवं मुनियों से सुनी हुई नहीं कहता, किन्तु मैंने स्वयं सब कर्म करके उनका अनुभव किया है। 'सुखी न भयउँ'—भाव यह कि सुख होने के ही साधन वे कर्म हैं और उसी दृष्टि से किये गये पर मैं उनसे 'अबहि की नाईं' सुखी नहीं हुआ, जैसा नित्य एवं अपरिणामी सुख अब है, वैसा पूर्व नहीं मिला था, वे सुख भी मिलते थे, तो अनित्य एवं क्षणिक होते थे, परिणाम में दुःख ही होता था, यथा—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" (गीता ९।२१)।

(२) 'सुधि मोहि नाथ ··'—श्रीशिवजी ने कृपा करके वर दिया था—"कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।" (दो॰ १०८), 'सिव प्रसाद' दीपदेहली है। अनेक जन्मों की कथा कहेंगे, तो स्मृति कैसे है? इसपर शिव-प्रसाद कहकर उसका समाधान करते हैं।

शङ्का—श्रीशिवजी की प्रसन्नता से तो इन्हें भक्ति मिल ही गई, तो उसके बाद के जन्मों के चरित को श्रीराम-विमुखता का फल कैसे कहा?

समाधान—श्रीशिवजी का वर है—"राम-भगति उपजिहि उर तोरे।" (दो० १०८)। जब तक वह भक्ति श्रीलोमशजी के द्वारा सर्वांग पूर्ण नहीं हुई थी, तब तक वह मोह बना रहा, इससे उतने अंशों में राम-विमुखता रही। या, श्रीशिवजी के प्रसाद से उससे पूर्व के भी जन्मों की सुध हो आई।

दोहा—प्रथम जन्म के चरित अब, कहउँ, सुनहु बिहगेस।
सुनि प्रभु-पद-रति उपजइ, जाते मिटहिं कलेस॥
पूरब कल्प एक प्रभु, जुग कलिजुग मल-मूल।
नर अरु नारि अधर्म-रत, सकल निगम प्रतिकूल॥९६॥

अर्थ—हे पक्षीराज! अब मैं अपने प्रथम जन्म के चरित कहता हूँ, सुनिये। इसे सुनने पर प्रभु के चरणों में अनुराग उत्पन्न होता है, जिससे (अविद्या आदि पंच) क्लेश मिट जाते हैं॥ हे प्रभो! पूर्व एक कल्प में कलियुग नाम का एक पापों का मूल युग हुआ। जिसमें स्त्री और पुरुष सभी अधर्मरत और वेद के विरोधी थे॥९६॥

विशेष—(१) 'प्रथम जनम के···'—सुधि तो और जन्मों की भी है, पर जिस प्रथम जन्म से मनुष्य तन पाया और श्रीराम-भक्ति का योग लगा, श्रीशिवजी की कृपा हुई, उसी जन्म से कहता हूँ। अपने चरित कहने में आत्मप्रशंसा रूपी दोष होता है, इसपर भी कहने का कारण कहते हैं कि उसे सुनकर प्रभु-पद में रति होगी, क्लेश मिटेंगे। या, अपने चरित में अपनी हीनता कहेंगे, वह श्रीगरुड़जी संभवतः न सुनें कि गुरु का परिवाद मैं क्यों सुनूँ? उसपर उसका उत्तम फल कहा।

(२) 'पूरब कल्प एक···'—श्रीभुशुंडिजी को यहाँ रहते हुए २७ कल्प बीत गये, उससे पहले की तो वह बात अवश्य है, इससे बहुत पुराने समय की बात है। 'एक' का भाव यह कि ऐसा कराल कलिकाल अभी तक दूसरा नहीं हुआ।

तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जन्मत भयउँ सूद्रतनु पाई॥१॥
सिव-सेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी॥२॥
धन-मद-मत्त परम बाचाला। उग्र बुद्धि उर दंभ बिसाला॥३॥

अर्थ—उस कलियुग मे अयोध्या में जा मैंने शूद्रतन पाकर जन्म लिया॥१॥ मन, कर्म और वचन से मैं श्रीशिवजी का सेवक, और देवों का निंदक और अभिमानी था॥२॥ धन के मद से मतवाला, परम वाचाल, भयंकर तीक्ष्ण बुद्धिवाला था और मेरे हृदय मे बड़ा भारी दंभ था॥३॥

विशेष—(१) 'सिव-सेवक···'—'मन क्रम बानी' दीपदेहली है, शिव-सेवा और अन्य देव-निन्दा दोनों के साथ है। 'निंदक' के साथ 'अभिमानी' कहने का कारण यह कि शुद्ध शिव-सेवक तो भगवान् श्रीरामजी एवं उनके और रूपों में श्रद्धा रखते हैं, क्योंकि शिव सेवा का फल ही राम-भक्ति है; यथा—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई॥" (दो० १०५)। पर मुझे

शिव-सेवक होने का अभिमान था, इससे मैं अन्य देवों की निन्दा करता था, पुनः स्वभावतः अभिमान के कारण समझानेवाले पर क्रुद्ध होता था। 'आन देव' से यहाँ हरि का तात्पर्य है, आगे 'करउँ बिष्णुकर द्रोह' स्पष्ट कहा गया है।

(२) 'धन-मद-मत्त'''—धन के मद से वक्रता आ ही जाती है, देखिये दो० ७०। 'परम वाचाला'—बड़ा बकवादी था, अपने आगे दूसरे को वाद में ठहरने नहीं देता था। दूसरे की सुनता ही नहीं था। 'धन-मद-मत्त' कहकर 'वाचाला' कहने का भाव यह कि अपनी ही प्रभुता बड़बड़ाया करता था। साथ ही 'उग्रबुद्धि' भी कहकर दिखाया कि अपने पक्ष-समर्थन में बुद्धि-तीक्ष्ण थी, पर वह अन्याय को न्याय सिद्ध करने में ही लगी रहती थी, यह क्रूरता थी। 'उरदंभ'—ऊपर से सन्मार्गी बना रहता था कि लोग मुझे श्रेष्ठ मानें।

जदपि रहेउँ रघुपति-रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी ॥४॥
अब जाना मैं अवध-प्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा ॥५॥
कवनेहुँ जन्म अवध बस जोई। राम-परायन सो परि होई ॥६॥
अवध-प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनु-पानी ॥७॥

अर्थ—यद्यपि मैं श्रीरघुनाथजी की राजधानी में रहा, तथापि उस समय उसका कुछ माहात्म्य नहीं जाना था ॥४॥ अब मैंने अवध का प्रभाव जाना—शास्त्र, वेद और पुराणों ने ऐसा कहा है कि किसी भी जन्म में जो कोई श्रीअवध में निवास करता है, वह अवश्य रामानुरागी हो जाता है ॥५-६॥ जीव श्रीअवध का प्रभाव तभी जानता है, जब धनुष-बाण धारण किये हुए श्रीरामजी उसके हृदय में निवास करते हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'जदपि रहेउँ'''—वहाँ रहते हुए प्रभाव अवश्य जानना चाहता था, पर मैं अभिमानी था, इस कारण नहीं जान पाया। आगे कहते हैं कि श्रीरामजी के बिना हृदय में बसे हुए श्रीअवध का प्रभाव कोई नहीं जान पाता और वे अभिमानी से दूर रहते हैं। महिमा के बिना जाने श्रीअवध के वास का यथार्थ फल नहीं प्राप्त हुआ।

(२) 'अब जाना मैं'''—श्रीरामजी की कृपा से और २७ कल्पों के भजन और अनुभव से जाना। श्रीरामजी की राजधानी का प्रभाव बिना उनकी कृपा नहीं जाना जा सकता।

(३) 'कवनेहुँ जन्म'''—कीट-पतंग, पशु आदि किसी भी योनि में जन्म पाकर वहाँ रहने से उसे राम-भक्ति प्राप्त होती है।

(४) 'जब उर बसहिं राम धनुपानी।'—श्रीरामजी जब धनुर्बाण धारण किये हुए हृदय में बसते हैं, तब हृदय शुद्ध हो जाता है ; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६) ; 'धनु पानी' अर्थात् द्विभुज राम-रूप ही, क्योंकि श्रीअवध के देवता ये ही हैं।

यहाँ निगम आदि का सिद्धान्त कहा कि किसी भी जन्म में जो श्रीअवधवास करे, वह मरे कहीं भी, पर दूसरे जन्म में राम-भक्त अवश्य होता है। पुनः श्रीअवधवास होने पर जब श्रीरामजी हृदय में बसें, तभी श्रीअवध-प्रभाव जाना जाता है। ये दोनों बातें श्रीभुशुण्डिजी में ही चरितार्थ हैं। इनका श्रीअवध-

वास हुआ था, इसीसे दूसरे जन्म में रामभक्ति हुई; यथा—"रघुपतिपुरी जनम तव भयऊ।···पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे॥" (दो० १०८)। जब से श्रीलोमशजी ने श्रीरामजी का ध्यान बतलाया, तब से श्रीरामजी इनके हृदय में भी बसते हैं; यथा—"मुनि उर राखि राम सिसु रूपा! निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥" (दो० ११६), इससे कहते हैं—'अब जाना'। 'उर बसहिं' का भाव भी स्पष्ट हुआ कि श्रीरामजी का ध्यान हो।

'अवध प्रभावा'—अयोध्या माहात्म्य पहले कहा गया है। वेद के प्रमाण भी पूर्व दिये गये हैं।

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप-परायन सब नर-नारी॥८॥

दोहा—कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद्-ग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट किये बहु पंथ॥
भये लोग सब मोहबस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ज्ञान-निधि, कहउँ कछुक कलि-धर्म॥९७॥

शब्दार्थ—कल्पित=मनमाना, कल्पना द्वारा रचा हुआ, झूठा।

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! वह कलिकाल बड़ा कठिन था, उसमे सब स्त्री-पुरुष पाप में निमग्न थे॥८॥ कलि के पापों ने सब धर्मों का ग्रास कर लिया (नाश कर दिया), सद्ग्रंथ लुप्त हो गये, पाखंडियों ने अपनी बुद्धि से गढ़-गढकर बहुत-से मार्ग प्रकट कर दिये॥ सब लोग मोहवश हो गये, शुभ कर्मों को लोभ ने ग्रस लिया (अर्थात् धन आदि के लोभ से ही धर्म किया जाने लगा) हे ज्ञाननिधान हरिवाहनजी! सुनिये, मैं कलि के कुछ धर्म कहता हूँ॥९७॥

विशेष—(१) 'सो कलिकाल कठिन ··'—'सो' अर्थात् दो० ९६ से जिसका वर्णन प्रारंभ किया था, बीच में अपने जन्म आदि कहने लगे थे। अब फिर वहीं से प्रसंग लेते हुए कहा है। 'सो कलि ··' भाव यह कि और कलिकाल सामान्य हुए, पर वह बड़ा कठिन था जिसमे मेरा जन्म हुआ था। वहाँ 'नर अरु नारि अधर्मरत' कहा था, वही यहाँ 'पाप परायन सब नर-नारी॥' कहा। इसके बीच मे अपना जन्म कहकर जनाया कि मेरा जन्म भी वैसा ही पाप-परायण था।

(२) 'कलिमल ग्रसे धर्म सब'—पाप की अधिकता से धर्म नहीं रह जाते; यथा—"करै क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" (कि० दो० १४)। धर्म के न रह जाने से धर्म प्रवर्त्तक सद्ग्रंथ भी लुप्त हो जाते हैं, उनके नाम मात्र सुने जाते हैं, कहीं उनकी प्रवृत्ति नहीं रह जाती।

(३) 'दंभिन्ह निज मति···'—सद्ग्रन्थों का लुप्त होना कहकर साथ ही दंभियों के निज मति 'कल्पित पंथ' कहकर सूचित किया कि इन्होंने सद्ग्रन्थों को लुप्त किया, अपने मन-गढ़ंत कपोल-कल्पित कुछ चमत्कृत बातें लिख-लिख कर नये-नये ग्रन्थ निर्माण किये कि लोग इनपर चलें। उनमें प्राचीन महर्षियों के नाम देकर लोगों को भ्रम मे डाल दिया कि कौन से सद्ग्रन्थ हैं, यथा—"हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परै नहि पंथ। जिमि पाखंड बाद ते, गुप्त होहि सद्ग्रन्थ॥" (कि० दो० १४)। आज दिन भी

कुछ नये मत वालों ने अपने समाज के विद्वानों को प्राचीन महर्षियों के नाम दिये हैं कि जिससे उनके द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों को लेकर वे आगे के लोगों को भ्रम में डाल सकें। प्राचीन ग्रन्थों में भी क्षेपक प्रसंग मिला दिये हैं कि यह भी उन्हीं ग्रन्थों का मत सिद्ध हो जाय। यहाँ तक कि वाल्मीकीय रामायण और तुलसीकृत रामायण में बहुत कथाएँ क्षेपक की मिला दी गई हैं। उनमें कुछ प्रामाणिक और कुछ मन-गढ़ंत हैं।

सद्ग्रन्थ सूर्य-चन्द्रमा के समान हैं, उनके सामने दंभियों के मत जुगनू के समान हैं; यथा-- "निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥" (कि० दो० १४)। ये लोगों के हृदय के अज्ञान-तम को दूर करने में समर्थ नहीं हैं। जहाँ सद्ग्रन्थों की प्रवृत्ति नहीं रहती, वहीं दंभियों के प्रभाव पड़ते हैं, जैसे अंधेरे में जुगनू चमकते हैं।

(४) 'लोभ ग्रसे सुभ कर्म'— हृदय में लोभ है, धन अधिक मिलता तो करते, पर वह नहीं देखते इससे शुभ कर्म नहीं करते, इसीसे शुभ कर्मों का लोप हो गया। कलि के प्रभाव से 'भये लोग सब मोह बस' और इसीसे लोभवश भी हुए। 'सुनु हरिजान ज्ञाननिधि'—भाव यह कि आप तो उपासना और ज्ञान में पूर्ण हैं। इससे सुनने पर यह आपके मन पर बाधा नहीं कर सकेगा और इससे लोक-शिक्षा होगी। इसलिये सुनिये। 'कहउँ कछुक'—वैकारिक बातें अधिक न कहूँगा—"थोरेहि महँ जानिहहिं सयाने।"

(५) 'बहु पथ'; यथा—"वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।" (क० उ० ८५); "आगम वेद पुरान बखानत मारग कोटिक जाहिं न जाने।···धर्म सबै कलिकाल ग्रसे ·····" (क० उ० १०५)।

कलि-धर्म-वर्णन

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति-बिरोध-रत सब नर-नारी॥१॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन॥२॥
मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥३॥
मिथ्यारंभ दंभ - रत जोई। ता कहँ संत कहइ सब कोई॥४॥

अर्थ—चारों वर्णाश्रमों के धर्म नहीं रह जाते, सब स्त्री पुरुष वेद के विरोध में लगे रहते हैं॥१॥ ब्राह्मण वेदों के बेचनेवाले और राजा प्रजा को खा जानेवाले होते हैं, कोई भी वेद की आज्ञा नहीं मानता॥२॥ जिसे जो भाता है वही उसका (प्रामाणिक) मार्ग है, जो डींग मारता (बढ़-बढ़ कर बातें करता) है वही पंडित है॥३॥ जिसके कार्यों का आरंभ (मूल) ही मिथ्या है और जो पाखंड-रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बरन धर्म नहिं '—चारों वर्णों और चारों आश्रमों के धर्म पृथक्-पृथक् और नियमित हैं; पर कलि में कोई अपने धर्म पर स्थित नहीं रहता। ब्राह्मण शूद्रों के कर्म और शूद्र ब्राह्मणों के कर्म करने लगते हैं। ऐसे ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म अधूरे छोड़ संन्यास ग्रहण कर लेते और फिर वर्ण संकर हो गृही हो जाते हैं। वे किसी भी वर्ण और आश्रम के नहीं रह जाते, इत्यादि रीति से भ्रष्टाचारी हो जाते हैं।

'श्रुति विरोध रत···'—सभी वेदों में कहे हुए धर्मों पर आक्षेप करने का साहस करते हैं कि अमुक बात ठीक नहीं, इत्यादि।

(२) 'द्विज श्रुति बेचक'—वेद का बेचना यह कि धन के लोभ से अनधिकारी को वेद पढ़ाते हैं। ऋषियों की प्राचीन परम्परागत पठन-पाठन रीति से लोभवश अन्यथा करते हैं। लोभवश वेद के अर्थों का अनर्थ करते हैं। 'द्विज श्रुति बेचक' कहकर 'भूप प्रजासन' कहने का भाव यह कि ब्राह्मण लोभी होने से बुद्धिहीन और असदाचार से तेज-रहित हो गये, इससे वे राजाओं पर शासन करने से असमर्थ हो गये, तब राजा लोग उच्छृंखल हो गये। प्रजा के लूटने के लिये नई-नई कुचालें निकालते हैं; यथा—"मम मूरति महिदेव-मई है। तिन्ह की मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ, लालची लीलि लई है॥ राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।" (वि० १३९)।

'भूप प्रजासन'—जैसे बकरी पालनेवाला उसके दूध से तृप्ति न देख उसी को खा लेता है। वैसे ही प्रजा के द्वारा प्राप्त होनेवाले उचित कर से तृप्त न होकर उन्हें नाना प्रकार से कष्ट देकर उनका धन हरण करते हैं, यही खून चूसना प्रजा को खा जाना है।

राजा को चाहिये कि प्रजा से कर थोड़ा ले और फिर वह भी उन्हीं की रक्षा में लगावे। यह सब दोहावली ५०७ से ५११ तक और कुराज की व्यवस्था ५१२ से ५१५ तक देखिये।

जब ब्राह्मण और क्षत्रिय धर्म भ्रष्ट हुए तब शेष प्रजा भी वैसी ही धर्म-भ्रष्ट होती है, यथा—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥" (गीता ३।२१)—अर्थात् श्रेष्ठ लोगों के अनुसार ही सामान्य लोग भी चलते हैं।

(३) 'पंडित सोइ जो गाल बजावा'; यथा—"पाण्डित्ये चापलं वचः।" (भाग० १२।२।४); अर्थात् पाण्डित्य के विषय में वचन की चपलता ही मुख्य होती है, झूठ गप हाँकनेवाला पंडित कहाता है।

(४) 'मिथ्यारंभ दंभ रत ···'—हृदय से श्रद्धा नहीं पर दुनिया को ठगने के लिये कोई धर्म कार्य-धर्मशाला, मंदिर, पाठशाला आदि के निर्माण का काय छेड़ देते हैं। उसी के नाम पर माँग-माँग कर धन बटोरते हैं और अपनेको परोपकारी एवं निष्काम महात्मा होने का दंभ रचे हुए रहते हैं, वे सत कहाते हैं। 'सब कोई'—जो उनकी माया को नहीं समझते, वे लोग।

सोइ सयान जो परधन-हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥५॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥६॥
निराचार जो श्रुति-पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी सो बिरागी॥७॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥८॥

शब्दार्थ—आचारी = आचार विचार एवं पवित्रता से रहनेवाला।

अर्थ—जो पराया धन हरण करे वही सयाना, जो दंभ करे वही बड़ा आचारी, जो झूठ बोले और हँसी दिल्लगी जाने, वही कलियुग में गुणवान् कहा जाता है॥५-६॥ जो सदाचार रहित और वेद मार्ग का त्याग किये हुए हैं, वे ही कलियुग में ज्ञानी और वैरागी कहाते हैं॥७॥ जिसके बड़े बड़े नाखून और बड़ी-बड़ी जटाएँ हों, कलिकाल में वही तपस्वी नाम से विख्यात है॥८॥

विशेष (१) 'कह झूठ मसखरी जाना'—झूठी बातें कहना और मसखरी करना जाने। मसखरी अर्थात् भाड़ों की-सी नकल करना जाने। भाव यह कि सत्य और शील का कोई ग्राहक नहीं। 'श्रुति-पथ'—काण्डत्रय अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान इन श्रुति पथ-साधनों को त्यागे हुए हैं। चाहिये तो वेद के अनुसार विषय-रस को त्याग करना, पर वे वेद-विधान को ही त्यागते हैं। कहते हैं—"त्रैगुण्य विषया वेदाः" (गीता २।४५) का यही अर्थ है कि त्रिगुणात्मक वेद का ही त्याग करना वैरागी का काम है। विरागी के वास्ते कहा ही है—"तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (आ० दो० १७)। (इसका वास्तविक अर्थ आ० दो० १४ चौ० ८ में देखिये) ज्ञानी का लक्षण शास्त्र के अनुसार विरक्ति से रहना, ब्रह्मनिष्ठ होना और सदाचार से रहना है, पर जो निराचार एवं श्रुति विरुद्ध आचरणवाले हैं, कलि में वे ही ज्ञानी हैं।

(२) 'सोइ तापस...'—कर्त्तव्य से प्रयोजन नहीं, वेष-मात्र से तपस्वी कहाते हैं। 'प्रसिद्ध'—सच्चे तपस्वी को तो कोई जानता ही नहीं, पर ये प्रसिद्ध रहते हैं।

दोहा—असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

सो०—जे अपकारी-चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महुँ॥९८॥

शब्दार्थ—चार = चाल, व्यवहार, आचरण। लबार = झूठे।

अर्थ—जो अमंगल वेष और अमंगल आभूषण धारण करें, जो भक्ष्य (खाद्य), अभक्ष्य (अखाद्य अर्थात् मद्य, मांस, मूत्र, पुरीष आदि) खाते हैं, वे ही योगी और वे ही सिद्ध पुरुष हैं और उन्हीं की कलियुग में प्रतिष्ठा है (जहाँ-तहाँ पूजे जाते हैं)॥ जो औरों के अहित करने के स्वभाव (चाल) वाले हैं, उनका बड़ा गौरव (बड़प्पन) है और वे प्रतिष्ठा के योग्य समझे जाते हैं। जो मन-वचन-कर्म से झूठे (गपोड़िये) हैं, वे ही कलिकाल में वक्ता कहे जाते हैं॥९८॥

विशेष—(१) 'असुभ बेष...'; यथा—"असुभ बेष कृत सिव सुखद।" (दो० ८८) अर्थात् मुंडमाला, हड्डी आदि धारण, चिताभस्म लेपन आदि अशुभ वेष हैं—यहाँ, अघोर पंथ पर लक्ष्य है।

(२) 'मन क्रम बचन लबार'—मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ और ही हैं, तीनों से झूठे बर्ताववाले हैं। झूठे किस्से कह-कह कर लोगों को रिझाते हैं। जिस समाज से कुछ प्राप्ति की आशा देखी, उसी में प्रवेश करके व्याख्यान देने लगे। उन्हीं के वक्तृत्व की लोगों में प्रशंसा होती है। सत्यवादी विद्वानों की कहीं पूछ नहीं।

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥१॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥२॥
सब नर काम-लोभ-रत क्रोधी। देव-बिप्र-श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥

गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी ॥४॥
सौभागिनी बिभूषन - हीना। बिधवन्ह के शृंगार नवीना ॥५॥

अर्थ—हे गोसाईं गरुड़जी! सब मनुष्य स्त्रियों के विशेष वश होकर नट के वानर की तरह नाचते हैं (अर्थात् जैसे छड़ी के संकेत से नट बन्दर को नचाता है, वैसे सब नर स्त्री की भौंह के इशारे पर नाचते हैं, पशुवत् लाचार हैं) ॥१॥ ब्राह्मणों को शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं और जनेऊ पहनकर कुत्सित दान लेते हैं ॥२॥ सब मनुष्य काम, लोभ और क्रोध में तत्पर और देवता, ब्राह्मण, वेद और संत के विरोधी हैं ॥३॥ सुंदर गुणों के स्थान और सुंदर रूपवाले पति को त्याग कर अभागिनी स्त्रियाँ पराये पुरुष की सेवा एवं उससे प्रीति करती हैं ॥४॥ सौभाग्यवती (सधवा) स्त्रियाँ तो आभूषणरहित होती हैं और विधवाओं के नित्य नये शृंगार होते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सूद्र द्विजन्ह···'– उपर्युक्त 'बरन धर्म नहिं···' का चरितार्थ यहाँ दिखाते हैं कि ब्राह्मण आदि वर्णत्रय को शूद्र ज्ञान उपदेश करते हैं। यह ब्राह्मणों का धर्म है, इसे शूद्रों ने ग्रहण किया है। 'मेलि जनेऊ'—उन्हें यज्ञोपवीत कोई क्यों देने लगा, इसी से वे स्वयं पहन लेते हैं। भाव यह कि 'द्विज चिन्ह जनेउ' मात्र रह गया, उतने ही से विप्र बन जाते हैं और निःसंकोच होकर चारों वर्णों को ज्ञानोपदेश करते हैं। दान-दक्षिणा लेने में भी निःशंक हो जाते हैं। 'कुदान' जैसे शय्या दान, गज दान इत्यादि, जिसे ब्राह्मण भी लेने में संकोच करते हैं।

(२) 'काम-लोभ रत क्रोधी'– कहकर उन्हें नरक के अधिकारी जनाया, क्योंकि कामादि 'नरक के पंथ' कहे गये हैं सुं० दो० ३८ देखिये।

'नारि बिबस···'—पशुवत् हो रहे हैं; यथा—"नट मर्कट इव···" (कि० दो० ६)।

(३) 'गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी।···'—स्त्रियों को पतिव्रता होना चाहिये, वृद्ध, रोगवश एवं अंध, बधिर पति का भी अपमान नहीं करना चाहिये। तब सर्वगुण सम्पन्न एवं सुन्दर पति का त्यागना तो अत्यन्त गर्हित है। 'भजहिं'—उन्हें इष्टदेव की तरह मान कर प्रीति से उनकी सेवा करती हैं, अनुरक्त होती हैं। परिणाम को नहीं देखतीं कि इस दुष्कर्म से नरक होगा, फिर जन्म होने पर तरुण अवस्था में ही विधवा होना होगा; यथा—"बिधवा होइ पाइ तरुनाई।" "रौरव नरक कल्प सत परई।" (आ० दो० ४)। इसी से 'अभागी' कहा है।

(४) 'सौभागिनी बिभूषन हीना।···'—सुहागिनियों को षोड़श शृंगार करना चाहिये और विधवाओं को नहीं, पर कलि में उल्टा ही होता है। सुहागिनियाँ गरीब हैं इससे शृंगार-सामग्री नहीं पातीं और विधवाएँ परपति-रति से धनी हैं, इससे शृंगार युक्त रहती हैं। वा, सौभाग्यवती पति को रिझाना तो जानती ही नहीं, इससे भूषण वस्त्र बाँधकर धर रखती हैं। जब कहीं मेले एवं निमंत्रण आदि में जाना होता है, तब दिखाने के लिये पहनती हैं।

क्या उस समय गुरु लोग उपदेश नहीं करते थे? इसपर आगे कहते हैं—

गुरु सिख बधिर अंध कर लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥६॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥७॥

विशेष (१) 'कह झूठ मसखरी जाना'—झूठी बातें कहना और मसखरी करना जाने। मसखरी अर्थात् भाड़ों की-सी नकल करना जाने। भाव यह कि सत्य और शील का कोई ग्राहक नहीं। 'श्रुति-पथ'—काण्डत्रय अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान इन श्रुति पथ-साधनों को त्यागे हुए हैं। चाहिये तो वेद के अनुसार विषय-रस को त्याग करना, पर वे वेद-विधान को ही त्यागते हैं। कहते हैं—"त्रैगुण्य विषया वेदाः" (गीता २।४५) का यही अर्थ है कि त्रिगुणात्मक वेद का ही त्याग करना वैरागी का काम है। विरागी के वास्ते कहा ही है—"तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (आ० दो० १०)। (इसका वास्तविक अर्थ आ० दो० १४ चौ० ८ में देखिये) ज्ञानी का लक्षण शास्त्र के अनुसार विरक्ति से रहना, ब्रह्मनिष्ठ होना और सदाचार से रहना है, पर जो निराचार एवं श्रुति विरुद्ध आचरणवाले हैं, कलि में वे ही ज्ञानी हैं।

(२) 'सोइ तापस···'—कर्त्तव्य से प्रयोजन नहीं, वेष-मात्र से तपस्वी कहाते हैं। 'प्रसिद्ध'—सच्चे तपस्वी को तो कोई जानता ही नहीं, पर ये प्रसिद्ध रहते हैं।

दोहा—असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

सो०—जे अपकारी-चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महँ॥९८॥

शब्दार्थ—चार = चाल, व्यवहार, आचरण। लबार = झूठे।

अर्थ—जो अमंगल वेष और अमंगल आभूषण धारण करें, जो भक्ष्य (खाद्य), अभक्ष्य (अखाद्य अर्थात् मद्य, मांस, मूत्र, पुरीष आदि) खाते हैं, वे ही योगी और वे ही सिद्ध पुरुष हैं और उन्हीं की कलियुग में प्रतिष्ठा है (जहाँ-तहाँ पूजे जाते हैं)॥ जो औरों के अहित करने के स्वभाव (चाल) वाले हैं, उनका बड़ा गौरव (बड़प्पन) है और वे प्रतिष्ठा के योग्य समझे जाते हैं। जो मन-वचन-कर्म से झूठे (गपोड़िये) हैं, वे ही कलिकाल में वक्ता कहे जाते हैं॥९८॥

विशेष—(१) 'असुभ बेष···'; यथा—"असुभ बेष कृत सिव सुखद।" (दो० ८८) अर्थात् मुंडमाला, हड्डी आदि धारण, चिताभस्म लेपन आदि अशुभ वेष हैं—यहाँ, अघोर पंथ पर लक्ष्य है।

(२) 'मन क्रम वचन लबार'—मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ और ही हैं, तीनों से झूठे बर्तावबाले हैं। झूठे किस्से कह-कह कर लोगों को रिझाते हैं। जिस समाज से कुछ प्राप्ति की आशा देखी, उसी में प्रवेश करके व्याख्यान देने लगे। उन्हीं के वक्तृत्व की लोगों में प्रशंसा होती है। सत्यवादी विद्वानों की कहीं पूछ नहीं।

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥१॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥२॥
सब नर काम-लोभ-रत क्रोधी। देव-बिप्र - श्रुति-संत - बिरोधी॥३॥

वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुणे बालका इव।" (शंकराचार्य)। पर हृदय में आसुरी वृत्ति है कि लोभ वश ब्रह्म-हत्या भी कर डालते हैं; यथा—"कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः। त्यक्ष्यन्ति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यन्ति स्वकानपि॥" (भाग० ११।३।४१); अर्थात् कलियुग में कौड़ी के लिये भी विरोध करके लोग प्रेम रहित बनकर माता-पिता आदि स्वजनों को मार डालेंगे और अपने भी प्रिय प्राण खो देंगे। 'कहहिं न दूसरि बात'—वर्णाश्रम धर्म छोड़कर खान-पान में स्वतंत्र हो गये हैं, इसके लिये ब्रह्मज्ञानी बनते हैं कि हमारी दृष्टि में सब ब्रह्म है, भेद-दृष्टि में ही आचार-विचार है। पर लोभ ऐसा कि अति अल्प हानि पर भी अवध्यों का वध करते हैं।

(२) 'बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन···'—वाद करते हैं, प्रमाण वेदों के भी सुनाते हैं कि ब्रह्मज्ञानी ही ब्राह्मण है; यथा—"अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः॥" (बृह० ३।८।१०); अर्थात्—हे गार्गि! जो इस अक्षर ब्रह्म को जान (साक्षात्) करके इस लोक से परलोक जाता है, वही ब्राह्मण है। हमें ब्रह्मज्ञान है। अतः, हम ही ब्राह्मण हैं, तुम कैसे ब्राह्मण बनते हो? (ब्रह्मज्ञान से भी ऋषियों की ब्राह्मण संज्ञा होती है, किन्तु जातीय ब्राह्मणत्व भाव और है, वह तो विप्रवंश में जन्म होने से ही माना जाता है।) वा, तुम विप्र-मात्र हो, हम विप्रवर हैं—ऐसा कहते हैं। इसपर यदि वह कुछ उत्तर देता है, तो डाँटकर फटकारते हैं कि न मानोगे तो डंडे से खबर ली जायगी। भाव यह कि इन्होंने धर्म को सर्वथा त्याग दिया है; यथा—"सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी॥" (अ० दो० १७१)।

परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह - द्रोह - ममता लपटाने॥१॥
तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥२॥
आपु गये अरु तिन्हहूँ घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥३॥

अर्थ—जो पर-स्त्री के व्यभिचारी, कपट चतुर, मोह द्रोह-ममता में लपटे हुए हैं।१॥ वे ही मनुष्य अभेदवादी ज्ञानी हैं, यह चरित्र मैंने उस कलियुग का देखा॥२॥ स्वयं तो गये बीते हैं ही, जो कोई कहीं सन्मार्ग का पालन करते हैं उनको भी वे नष्ट करते हैं॥३॥

विशेष- (१) 'तेइ अभेदवादी ज्ञानी···'—ऊपर जो 'ब्रह्म ज्ञान बिनु···' कहा गया था, उसीको यहाँ स्पष्ट किया कि वह अभेदवादरूप ब्रह्मवाद है; यथा—"सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।" (दो० ११०); पहले लंपटता आदि के सयाने कहे गये कि उन्हें इन कामों में शीघ्र कोई भाँप नहीं पाता, यदि किसीने लख लिया, तो अभेदवादी ज्ञानी बन जाते हैं कि हमारी दृष्टि में अपना-पराया नहीं है। हम सबको आत्मा जानते हैं, मोह से देह पोषते हैं; द्रोह से पर हानि में निरत रहते हैं, ममता से पर-धन, पर-स्त्री आदि को अपना मानते हैं। ये सब दोष ब्रह्मज्ञान के महान् विरोधी हैं; यथा—"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥" (का० १।२।२४); अर्थात् वैराग्य रहित, दुश्चरित्र (पर-स्त्री लंपट), चञ्चलचित्त, संशय-शील और उद्विग्न हृदयवाले के ज्ञान से वह ब्रह्म नहीं प्राप्त होता। पर ये इन दोषों में लपटे हुए रहते हैं। 'देखा मैं'—सुनी हुई नहीं कहता, किन्तु मैंने अपनी आँखों से देखा है।

(२) 'तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ···'—कलि में सन्मार्गी इने-गिने ही होते हैं, इससे 'जे कहुँ' कहा है। वे भी इनसे नहीं बचने पाते हैं, उनसे भी कुतर्क कर उनका सन्मार्ग छुड़ा देते हैं कि क्या कर्म-कीच में

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥८॥

अर्थ—गुरु और शिष्य का तो अंधे और बहरे का-सा बर्ताव है, एक (शिष्य) सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं ॥६॥ जो गुरु शिष्य का धन हरण करता है और उसका शोक नहीं निवारण करता, वह घोर नरक में पड़ता है ॥७॥ माता-पिता बालकों को बुलाते हैं और जिससे पेट भरे, वही धर्म सिखाते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गुरु सिस'''—गुरु लोग उपदेश देते हैं, पर शिष्य सुनते ही नहीं, विषयों में आसक्त रहते हैं। गुरु भी अंधे हैं जो बिना शिष्य की श्रद्धा एवं गुण अवगुण देखे चेला कर लेते हैं। बातें बनाते हैं कि किसी का गुण-अवगुण क्यों देखूँ ? पर वस्तुत. स्वार्थवश अंधे हैं. उन्हें कान फूँककर पूजा लेने से काम है। शिष्य से यह भी नहीं कहते कि पाँच सात माला मंत्र तो अवश्य नित्य जपना होगा। स्वार्थ पर दृष्टि किये हुए कुछ सिखाते भी हैं, तो वह इन्हें स्वार्थी समझकर इनकी बातें सुनता ही नहीं।

(२) 'हरइ सिष्य धन'''—गुरु को चाहिये कि विचार कर शिष्य करे, फिर जब तक शिष्य अपने भजन नियम में दृढ़ न हो जाय, उसे पास रक्खे। इस प्रकार उसका शोक हरण करना चाहिये। किन्तु जो पूजा लेने के लिये बहुत कुछ माहात्म्य सुनाते हैं, धर्म-संकट डालते हैं, फिर अनिष्ट का भय दिखाते हैं, इन रीतियों से उसे शिष्य करके उसके धन हरण करते हैं, ऐसे गुरु ही घोर नरक को जाते हैं, शिष्य को क्या सुधारेंगे ?

(३) 'मातु पिता'''—'बोलावहिं' भाव यह कि सत्संग में जाता है तो डरकर वहाँ से बुला लेते हैं कि साधु-संग से यह भी भिक्षुक हो जायगा, बिगड़ जायगा; अर्थात् पारमार्थिक विद्या का बीज भी नहीं पड़ने देते जो आगे अवश्य फलदायक हो।

'उदर भरै सोइ'''—पेट-पोषण की ही विद्या सिखाते हैं और उसी को स्वधर्म प्रतिपादन करते हैं कि हमारे कुल का यही धर्म है, हम करते हैं तुम भी यही सीखो और करो। उदर-पोषण मात्र से नरक होता ही है; यथा—"नरक प्रद उदर भरउँ।" (वि० १११)। इसपर दो० ४६ चौ० ४–६ भी देखिये।

दोहा—ब्रह्म-ज्ञान-बिनु नारि-नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभबस, करहिं बिप्र-गुरु-घात ॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाँटि ॥९९॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरी बात ही नहीं कहते और लोभ-वश कौड़ी के लिये विप्र और गुरु की हत्या करते हैं॥ शूद्र द्विजों से कहते हैं कि क्या हम तुमसे कुछ कम हैं और डाँटकर आँख दिखाते हैं (अर्थात् धमकाते और आँख गुरेरते हैं) कि जो ब्रह्म जाने वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है ॥९९॥

विशेष—(१) 'ब्रह्म ज्ञान बिनु'''- कर्म और उपासना में कुछ करना है और विधि-निषेध एवं विचार-आचार का झंझट है, इससे उसकी तो चर्चा भी नहीं करते और ज्ञान वार्ता सुगम है, उसीको कहते हैं, यद्यपि उसके कर्म करने में सर्वथा असमर्थ हैं; यथा—"वाक्योचार्य समुत्साहात्तत्कर्मकर्त्तुमक्षमाः। कलौ

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥१०॥

शब्दार्थ—वृपली = वृषल (शूद्र) जाति की स्त्री, कुलटा। लोलुप - तृष्णावंत।

अर्थ—ब्राह्मण अपढ़ (जिन्हें अक्षर तक का ज्ञान नहीं), लोलुप, कामी, सदाचार रहित, शठ (अपनी हानि-लाभ न समझनेवाले) और शूद्रा एवं कुलटा स्त्रियों के स्वामी होते हैं ॥८। शूद्र अनेक प्रकार के जप, तप, व्रत करते और व्यास गद्दी पर बैठ कर पुराण कहते हैं ॥९॥ (कहाँ तक गिनाऊँ ?) सभी मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं, इतनी अपार अनीति होती है कि कही नहीं जाती ॥१०॥

विशेष—(१) 'विप्र निरच्छर···'—ऊपर अभेदवादी ज्ञानियों का वर्णन किया। यहाँ से वर्ण व्यवस्था कहते हैं कि विप्रों को वेद-शास्त्र का ज्ञान होना चाहिये, वे एक अक्षर भी नहीं जानते, लोलुप हैं, तृष्णावश अत्यन्त नीचों के यहाँ भी खाते हैं, जिससे रहा-सहा कुल सम्बन्धी तेज भी खो बैठते हैं। कामी, दुराचारी और शठ ऐसे हैं कि वृपली-स्वामी बन बैठे हैं ; अर्थात् ब्राह्मण शूद्रवत् हो गये।

(२) 'सूद्र करहिं जप···'—जप वैदिक मंत्रों का; तप वानप्रस्थ रीति का, व्रत ब्रह्मचर्य आदि का ; अर्थात् ये ब्राह्मणों के कर्म करते हैं। कहा भी है—"शिश्नोदर पराद्विजाः"; "शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। धर्मं वदयन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥" (भाग० १२।३।३२-३८) ; अर्थात् ब्राह्मण केवल स्त्री-भोग और पेट भरना ही जानेंगे। अधर्मज्ञ शूद्र तपस्या करने का ढोंग फैलाकर जीविका चलानेवाले बन व्यासगादी आदि पर बैठकर धर्म का उपदेश करेंगे, कथा कहेंगे और दान ग्रहण करेंगे।

(३) 'सब नर कल्पित ··'—सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों और सबसे छोटे शूद्रों को कहकर बीच में क्षत्रिय और वैश्य का भी वही हाल जना दिया। 'कल्पित'—मनु आदि की व्यवस्था को त्यागकर मनमाना करते हैं। प्राचीन नीति के विरुद्ध अनीति करते हैं।

दोहा—भये बरन-संकर, कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग ॥
श्रुति-संमत हरि-भक्ति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक ॥१००॥

शब्दार्थ—वर्णसंकर = व्यभिचार से उत्पन्न, दोगला।

अर्थ—कलि में सब लोग वर्णसंकर और भिन्नसेतु (श्रुति-विरुद्ध मार्गों पर चलनेवाले) हो गये। सब लोग पाप करते हैं और (उसके प्रति) दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग पाते हैं ॥ वैराग्य-विवेक सहित भगवद्भक्ति वेद-सम्मित मार्ग है, उसपर लोग मोह के वश नहीं चलते और मोह वश मनमाने अनेक मार्गों की कल्पना करते हैं ॥१००॥

विशेष—(१) 'भिन्न सेतु'—संसार सागर से पार होने के लिये जो वैदिक विधान हैं, वे ही सेतु हैं, उनसे पृथक् चलना 'सेतु भिन्न' होना है। या, वर्णसंकर के साहचर्य से भिन्न सेतु का अर्थ जाति

पड़े हो ? यह सब मूर्खों के लिये है। आत्मज्ञान के समान शीघ्र मुक्त करनेवाला और साधन नहीं है और यह केवल अपनेको ही ब्रह्म मान लेने पर हो गया, बस। इस तरह उन्हें भी अपने ही रंग में लाते हैं।

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥४॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥५॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥६॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥७॥

अर्थ- वे लोग कल्प-कल्प भर एक-एक नरक में पड़ते हैं, जो तर्क करके वेदों में दूषण लगाते हैं॥४॥ तेली (तेल पेरनेवाले), कुम्हार, स्वपच, किरात (बहेलिये), कोल (भील) और कलवार (मद बनानेवाले) जो वर्णों में अधम हैं॥५॥ वे स्त्री के मरने पर और घर की संपत्ति नष्ट हो जाने पर शिर मुँड़ाकर सन्यासी होते हैं॥६॥ वे ब्राह्मणों से अपनेको पुजाते हैं, अपने हाथों ही अपने दोनों लोकों (इह लोक और परलोक) को नष्ट करते हैं॥७॥

विशेष—(१) 'दूषहिं श्रुति करि तरका'—कहते हैं कि स्वर्ग नरक क्या किसी ने देखा है? वहाँ जाकर किसी ने पत्र भेजा है? ये सब तो राजनीतिवाले ऋषियों ने प्रजा को त्रास दिखाने के लिये कल्पना करके लिख दिये हैं। पुनः, वेदों में जो कर्म, ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति और सदाचार्याभिमान आदि उपाय कहे गये हैं, इन्हें भी तर्क करके खंडन करते हैं। ऐसे लोग कल्पों तक नरक भोगते हैं, कहा है—"अतुलित महिमा वेद की, तुलसी किये विचार। जेहि निंदित निंदित भये, विदित बुद्ध अवतार॥" (दोहावली ४६४)।

(२) 'जे बरनाधम' -ये चार वर्णों से बाहर होने से वर्णाधम कहे जाते हैं। वेदों ने ब्राह्मणों और तीव्र वैराग्यवानों को ही सन्यास धारण की आज्ञा दी है, पर कलि में हीन जातियों के लोग और वे भी घर की विषयोपभोग सामग्री के नाश होने पर सन्यासी बनते हैं। पेट पालने के लिये ही यह त्याग करते हैं। 'मूँड़ मुड़ाइ'—बस, पैसे दो पैसे में मूँड़ मुड़ाकर सन्यासी बन जाते हैं, सन्यास को इतना सुगम कर लिया है। पहले तो जन्म से अधम थे, अब कर्म से भी अधम हो गये।

(३) ते बिप्रन्ह सन '—लोक ख्याति है कि 'जगद्गुरु ब्राह्मण' 'ब्राह्मण-गुरु सन्यासी' इससे ब्राह्मण लोग सन्यासियों को स्वाभाविक पूजते हैं, और भोजन देते हैं, इसीसे ये ब्राह्मणों के ही द्वार-द्वार पर अधिक फिरते हैं और उन्हीं से अपनेको पुजाते हैं।

'उभय लोक निज हाथ नसावहिं'—कपट प्रायः कभी खुल ही जाता है, तब इस लोक में भी पूजा पा जाते हैं। अथवा दंभ सिद्धि के लिये इस लोक का सुख भी नहीं भोग कर पाते और मरने पर यमपुर में तो ऐसे लोगों की भली प्रकार से पूजा होती ही है, अर्थात् कराल दंड मिलता है।

यदि कहा जाय कि ब्राह्मण ही इन्हें क्यों पूजते हैं? उसपर कहते हैं—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥८॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥९॥

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥१०॥

शब्दार्थ—वृपली = वृपल (शूद्र) जाति की स्त्री, कुलटा। लोलुप - तृष्णावंत।

अर्थ—ब्राह्मण अपढ़ (जिन्हें अक्षर तक का ज्ञान नहीं), लोलुप, कामी, सदाचार रहित, शठ (अपनी हानि-लाभ न समझनेवाले) और शूद्रा एवं कुलटा स्त्रियों के स्वामी होते हैं ॥८। शूद्र अनेक प्रकार के जप, तप, व्रत करते और व्यास गद्दी पर बैठ कर पुराण कहते हैं ॥९॥ (कहाँ तक गिनाऊँ ?) सभी मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं, इतनी अपार अनीति होती है कि कही नहीं जाती ॥१०॥

विशेष—(१) 'विप्र निरच्छर···'—ऊपर अभेदवादी ज्ञानियों का वर्णन किया। यहाँ से वर्ण व्यवस्था कहते हैं कि विप्रों को वेद-शास्त्र का ज्ञान होना चाहिये, वे एक अक्षर भी नहीं जानते, लोलुप हैं, तृष्णावश अत्यन्त नीचों के यहाँ भी खाते हैं, जिससे रहा-सहा कुल सम्बन्धी तेज भी खो बैठते हैं। कामी, दुराचारी और शठ ऐसे हैं कि वृपली-स्वामी बन बैठे हैं ; अर्थात् ब्राह्मण शूद्रवत् हो गये।

(२) 'सूद्र करहिं जप ···'—जप वैदिक मंत्रों का; तप वानप्रस्थ रीति का, व्रत ब्रह्मचर्य आदि का; अर्थात् ये ब्राह्मणों के कर्म करते हैं। कहा भी है—"शिश्नोदर पराद्विजाः"; "शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥" (भाग० १२।३।३२-३८) ; अर्थात् ब्राह्मण केवल स्त्री-भोग और पेट भरना ही जानेंगे। अधर्मज्ञ शूद्र तपस्या करने का ढोंग फैलाकर जीविका चलानेवाले बन व्यासगादी आदि पर बैठकर धर्म का उपदेश करेंगे,कथा कहेंगे और दान ग्रहण करेंगे।

(३) 'सब नर कलिपत ···'—सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों और सबसे छोटे शूद्रों को कहकर बीच में क्षत्रिय और वैश्य का भी यही हाल जना दिया। 'कल्पित'—मनु आदि की व्यवस्था को त्यागकर मनमाना करते हैं। प्राचीन नीति के विरुद्ध अनीति करते हैं।

दोहा—भये बरन-संकर, कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग॥
श्रुति-संमत हरि-भक्ति-पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कलपहिं पंथ अनेक ॥१००॥

शब्दार्थ—वर्णसंकर = व्यभिचार से उत्पन्न, दोगला।

अर्थ—कलि में सब लोग वर्णसंकर और भिन्नसेतु (श्रुति-विरुद्ध मार्गों पर चलनेवाले) हो गये। सब लोग पाप करते हैं और (उसके प्रति) दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग पाते हैं ॥ वैराग्य-विवेक सहित भगवद्भक्ति वेद-सम्मित मार्ग है, उसपर लोग मोह के वश नहीं चलते और मोह वश मनमाने अनेक मार्गों की कल्पना करते हैं ॥१००॥

विशेष—(१) 'भिन्न सेतु'—संसार सागर से पार होने के लिये जो वैदिक विधान हैं, वे ही सेतु हैं, उनसे पृथक् चलना 'सेतु भिन्न' होना है। वा, वर्णसंकर के साहचर्य से भिन्न सेतु का अर्थ जाति

मर्यादा तोड़ने का है, मनु आदि ने जो जातीय रीति की मर्यादा बाँध दी है, उसे तोड़कर लोग उच्छृंखल हो गये और पाप करने लगे। इससे दुःख पाते हैं। यह तो इह लोक का बिगड़ना कहा गया, आगे 'श्रुति संमत···' से परलोक साधन का भी बिगड़ना कहते हैं—

(२) 'श्रुति संमत हरि भक्ति पथ···'—ऊपर भिन्न सेतु कहकर श्रुति विरुद्ध मार्ग और उनका फल दुःख आदि कहा। अब यहाँ श्रुति संमत मार्ग हरि-भक्ति कहते हैं। श्रुति का सम्मित मार्ग काण्डत्रय है, भक्ति ही में तीनों कांडों का समन्वय है। कर्म का परिणाम वैराग्य है और विवेक का अर्थ ज्ञान है। उपासना रूपा भक्ति स्वयं है ही। ईश्वर में परा अनुरक्ति होना भक्ति है। उसके लिये पहले वैराग्य चाहिये, जिससे इन्द्रियाँ विषय से हटकर ईश्वर के अनुभव में प्रवृत्त हों। पुनः विवेक से जब विचार होगा कि जीव ईश्वर का ही अंश है अतएव इसे सर्वात्मना उसीमें अनुरक्त होना चाहिये। तब इन्द्रियों के साथ प्रीति पूर्वक भगवान् के उपकारों को समझ-समझ कर उनकी भक्ति करेगा; इस तरह विवेक भी साथ ही है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है; यथा—"सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि पद रति रस वेद बखाना।।" (बा॰ दो॰ ३६); "जुग बिच भगति देव धुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा।।" (बा॰ दो॰ ३१); "कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान बिराग।" (बा॰ दो॰ ४४); "राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा।। बिधि निषेध मय कलि मल हरनी। करम कथा रबि नंदिनि बरनी।।" (बा॰ दो॰ १); इत्यादि सर्वत्र वैराग्य-विवेक सहित ही भक्ति को कहा है, यही वेद सम्मित मार्ग है। इसके विरुद्ध जो अनेक मत हैं वे मोह वशीभूत जीवों के विलास हैं।

बहु दाम सँवारहि धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।।१।।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।।२।।
कुलवंति निकारहि नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।।३।।
सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।।४।।
ससुरारि पिआरि लगी जब ते। रिपु रूप कुटुंब भये तब ते।।५।।

अर्थ—संन्यासी बहुत धन लगाकर घर एवं धन धाम दोनों सजाते हैं, विरक्ति नहीं रह गई, उसे विषयों ने हर लिया।।१।। तपस्वी धनवान और गृहस्थ दरिद्र हो गये, हे तात! कलियुग का खेल कहा नहीं जाता।।२।। लोग कुलीन पतिव्रता स्त्री को निकाल देते हैं और उत्तम चाल (रीति) को त्यागकर घर में दासी को लाकर रखते हैं।।३।। पुत्र माता-पिता को तभी तक मानते हैं कि जब तक उन्होंने स्त्री का मुख नहीं देखा।।४।। जब से ससुराल प्यारी लगी, तब से परिवार के लोग शत्रु रूप हो गये।।५।।

विशेष—(१) 'बहु दाम सँवारहिं···'—'सँवारहिं' दीपदेहली है। शरीर निर्वाह मात्र द्रव्य और घर की विरक्ति में भी आवश्यकता रहती है कि जिससे शरीर से भजन हो सके। पर कलि के प्रभाव से बहुत द्रव्य और बहुत भारी घर सँवारने में लग गये, जिससे व्यवहार ने रही-सही विरक्ति भी ले ली। 'तपसी धनवंत दरिद्र गृही'- कलि ने तपस्वी को धन देकर और गृही का धन हरकर दोनों को नष्ट किया। तपस्वियों को तप से च्युत किया, भोग में लगा दिया और गृही को धन बिना धर्म से रहित किया। जिसे त्याग चाहिये, उसे धन दिया और जिसे धन चाहिये, उसे दरिद्र कर दिया, ऐसा निष्ठुर कलि का खेल है।

(२) 'कुलवंति' कुल का धर्म पालनेवाली, सती, पतिव्रता।

(३) 'तब लौं' चाहिये कि जन्म-भर पिता की सेवा करें और अंत में उनकी क्रिया एवं गया में पिंड-दान भी करे ; यथा—"जीवितस्य पितुर्वश्यस्तन्मृते भूरि भोजने । गयायां पिंडदानेन त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥" पर ये नहीं मानते ।

(४) 'ससुरारि पियारि···' ; यथा—"पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन्हित्वा सौरतसौहृदाः । ननांदृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥" (भाग० १२।३।३७) ; अर्थात् स्त्री में आसक्त लोग, पितृवर्ग, भाइयों, मित्रों और जातिवालों को छोड़कर साली-सालों की सलाह पर चलनेवाले हो जायँगे ; अतः, सब दीन रहेंगे ।

नृप पाप-परायन धर्म नहीं । करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं ॥६॥
धनवंत कुलीन मलीन अपी । द्विज चिह्न जनेउ उघार तपी ॥७॥
नहिं मान पुरान न बेदहि जो । हरि-सेवक संत सही कलि सो ॥८॥
कबिबृंद उदार दुनी न सुनी । गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी ॥९॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥१०॥

अर्थ—राजा पाप-रत हो गये, उनमें धर्म नहीं रह गया, नित्य ही प्रजा को निरपराध दंड देते हैं [एक दंड नीति मात्र है, अन्याय पूर्वक होने से उसकी भी विडम्बना (फजीहत) ही है,] ॥६॥ निश्चय ही मलीन होने पर भी धनी कुलीन माने जाते हैं जनेऊ मात्र द्विज होने का और उघारे (वस्त्र रहित) रहना तपस्वी का चिह्न रह गया ॥७॥ जो वेदों और पुराणों को नहीं मानता, कलियुग में वही ठीक भगवद्भक्त और संत कहा जाता है ॥८॥ कवियों के झुण्ड देख पड़ते हैं, पर दुनिया (जगत्) में उदार (दाता) सुना नहीं जाता । गुणों में दोष लगानेवाले बहुत हैं और गुणी कोई भी नहीं है ॥९॥ कलियुग में बार-बार अकाल (दुर्भिक्ष) पड़ता है, सब लोग विना अन्न के दुखी होकर मरते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'नृप पाप परायन···'—धर्म नहीं है, इसीसे नीति के तीन चरण नहीं रह गये, केवल दंड नीति है, उसका भी निरपराध पर प्रयोग होता है, इससे नीति की फजीहत ही है । 'पाप-परायन' होने से 'दंड' मात्र है । राम-राज्य में धर्म पूर्ण था, इससे 'दंड-नीति' का नाम भी नहीं था । 'द्विज चिह्न जनेउ'—कर्म-धर्म रह नहीं गया कि जिससे उनका ब्राह्मणत्व समझा जाय, किसीने पूछा तो जनेऊ दिखा देते हैं कि देखिये हम ब्राह्मण हैं । श्रीलक्ष्मणजी ने व्यंग में श्रीपरशुरामजी से कहा है ; यथा—"भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी ।" इसी तरह तपस्वी में तपस्तेज तो रह नहीं गया और न कोई तपोवृत्ति रह गई, केवल उघार बदन रहने से वे तपस्वी कहाते हैं ।

(२) 'धनवंत कुलीन···'—भाव यह कि कुलीन जो धनहीन हैं उन्हें तो कोई पूछता नहीं । जो निश्चय करके मलीन हैं, पर धनी हैं, उन्हीं से सब नाता लगाते हैं । शास्त्र में कहा है कि कुल-क्रिया में न्यून एवं मलीन से विवाह करने पर कुलीनता नहीं रह जाती । पर कलि में धन में ही सब गुण रह गये हैं ; यथा—"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स धार्मिको सः श्रुतिवान्गुणज्ञः । स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥" (भर्तृहरि) ।

(३) 'नहिं मान पुरान···'—कहते हैं कि हम उन हरि के उपासक हैं जिनकी साँस से वेद हुआ है, हमें वेद की अधीनता से क्या काम ? यथा—"साखी सब्दी दोहरा, कहि कथनी उपखान । भगति

निरूपहिं कलि भगत, निंदहिं बेद पुरान ॥" (दोहावली ५५१)। 'हरि सेवक' सामान्य और 'संत' विशेष के भाव से कहा है।

(४) 'दुखी सब लोग मरैं' दुखी तो कलि में सब दिन रहते हैं, पर दुकाल में तो मर ही जाते हैं। 'दुकाल' अर्थात् दुष्काल, अकाल।

दोहा—सुनु खगेस कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद, ब्यापि रहे ब्रह्मंड ॥
तामस धर्म करहिं नर, जप तप ब्रत मख दान।
देव न बरषहिं धरनी, बये न जामहिं धान ।१०१॥

अर्थ—हे गरुड़जी ! सुनिये, कलियुग में ब्रह्मांड-भर में कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखंड, मान, मोह, काम आदि (काम, क्रोध, लोभ) और मद व्याप्त हो गये ॥ लोग जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान आदि धर्म तामस वृत्ति से करते हैं। (मेघ के) देवता पृथिवी पर जल नहीं बरसाते, बोने पर धान भी नहीं जमता ॥१०१॥

विशेष—(१) 'कपट' अर्थात् मित्र आदि से दुराव, हठ जो बात मन और मुँह में आ गई, ठीक न भी हो तो उसी पर अड़ जाना। दिखाने के लिये वेष वृत्ति दंभ है। कर्म-धर्म श्रद्धाहीन होने से पाखंड मय होते हैं।

(२) 'तामस धर्म करहिं···'—धर्म (कर्म), जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान, ये सब तीन-तीन प्रकार के होते हैं, सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक उत्तम, राजस मध्यम और तामस निकृष्ट कहे गये हैं। गीता अ० १७—१८ में इनका विस्तृत वर्णन है। कलि में लोग तामस ही धर्म करते हैं, तामस यज्ञ, तप, दान के स्वरूप गीता १७।१३—१९-२२) में और कर्म गीता १८।२५ में देखिये। तामस कर्म असत् कहे गये हैं, ये निष्फल होते हैं। इसी से कहते हैं कि पृथिवी पर पानी नहीं बरसता और बोने से धान भी नहीं जमता।

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धन हीन दुखी ममता बहुधा ॥१॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता ॥२॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं ॥३॥
लघु जीवन संबत पंच दसा। कलपांत न नास गुमान असा ॥४॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥५॥

अर्थ—स्त्रियों के बाल ही भूषण हैं (और भूषण नहीं हैं, बाल ही मात्र है, उसी के बढ़ाने-सँवारने में लगी रहती हैं), भूख बहुत लगती है (अर्थात् बार-बार भोजन करने से भी तृप्ति नहीं होती)। धन-रहित होने से दुखी रहती हैं, फिर भी प्राय बहुत प्रकार से ममता रहती है ॥१॥ मूर्ख हैं, सुख चाहती हैं पर

धर्म में प्रेम नहीं है। बुद्धि थोड़ी है और (वह भी) कठोर है, कोमलता छू नहीं गई ॥२॥ मनुष्य रोगों से पीड़ित हैं, सुख भोग कहीं नहीं है, विना कारण ही अभिमान और विरोध करते हैं ॥३॥ जीवन (आयु) थोड़ा, पाँच दस = १५ एवं ५० तथा हद १०५ वर्ष का है, पर गर्व ऐसा है कि कल्पान्त (४ अर्ब ३२ लाख वर्ष) होने पर भी उसका नाश नहीं होने का ॥४॥ मनुष्यों को कलिकाल ने बेहाल (हैरान) कर डाला, कोई बहिन बेटी को नहीं मानता ॥५॥

विशेष—(१) 'कच भूषन'—रहे सहे भूषण बेच खाये हैं, केश ही रखाना रह गया, अथवा सुकुमारता के बहाने भी भूषण न पहनकर बालमात्र ही का शृङ्गार करती हैं; यथा—"लावण्ये केशधारणम्" (भाग० १२।२।६)। 'ममता बहुधा' - अपनी चीजों पर बहुत मोह है। 'बहुधा' प्रायः, बहुत प्रकार का। 'सुख चाहहिं मूढ़···'— धर्म से सुख होता है; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥" (दो० २०), ये धर्म नहीं करतीं, पर सुख चाहती हैं, इसी से इन्हें मूढ़ कहा है। 'कठोरि' अर्थात् ठोस, जिसमें कुछ उपदेश न धँसे। 'नर पीड़ित रोग···' भोग से रोग होता है; यथा—"भोगे रोग भयं" (भर्तृहरि.), पर यहाँ भोग कहीं नहीं, तब भी रोग से दुखी हैं। 'अकारन ही'; यथा—"बयर अकारन सब काहू सों।" (दो० ३९); 'पच दसा' -के अर्थ दस-पाँच वर्ष, पुनः १५, ५० और 'अंकानां वामतो गतिः' की रीति से १०५ वर्ष भी होते हैं, इससे आगे तो प्राय कोई नहीं जी सकता, यह भाव है।

(२) 'अनुजा तनुजा' पर कुदृष्टि करना, कलि के द्वारा बिहाल होना; अर्थात् अत्यन्त पराजित होना हीन दशा है, इससे इसे अत्यन्त गर्हित पाप कहा है।

नहिं तोष बिचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भये मँगता ॥६॥
इरिपा परुपाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता ॥७॥
सब लोग बियोग बिसोक हये। बरनाश्रम-धर्म - अचार गये ॥८॥
दम दान दया नहि जानपनी। जड़ता परबंचनताति घनी ॥९॥
तनु पोपक नारि-नरा सगरे। पर निंदक जे जग मो बगरे ॥१०॥

शब्दार्थ—जानपनी = जानकारी, बुद्धिमानी। जड़ता = मूर्खता, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता।

अर्थ— न सतोष, न विचार (विवेक) और न शीतलता (सहनशीलता) है। अतः, जाति-कुजाति (ऊँच-नीच) सभी लोग भिक्षुक हो गये (अर्थात् जिन्हें भिक्षा नहीं माँगना चाहिये, उन्होंने भी भिक्षा का ही पेशा कर लिया, वा भूख के मारे वे सभी भिक्षाटन करते हैं ॥६॥ ईर्ष्या (डाह), कठोर वचन, छल और लालचपन पूर्ण भर गया, समता चली गई (अर्थात् सबमें विषमता रह गई) ॥७॥ सब लोग वियोग और विशेष शोक से मारे गये, वर्णाश्रम के धर्म और आचरण उठ गये (न रह गये) ॥८॥ दम, दान, दया और बुद्धिमानी नहीं रह गई। मूर्खता और दूसरों को ठगना, यह अत्यन्त अधिक हो गया ॥९॥ स्त्री-पुरुष सभी शरीर के पालन-पोषण में लगे रहनेवाले हैं। जो पराये की निन्दा करनेवाले हैं, वे ससार में फैले हुए हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'नहिं तोप ··'—चित्त में संतोष नहीं, बुद्धि में विचार नहीं और अहंकार में शीतलता नहीं रह गई। 'इरिपा', यथा —"पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा ··" (बा० दो० १३५);

निरूपहिं कलि भगत, निदहिं वेद पुरान ॥" (दोहावली ५५४)। 'हरि सेवक' सामान्य और 'संत' विशेष के भाव से कहा है।

(४) 'दुखी सब लोग मरै' दुखी तो कलि में सब दिन रहते हैं, पर दुकाल में तो मर ही जाते हैं। 'दुकाल' अर्थात् दुष्काल, अकाल।

दोहा—सुनु खगेस कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद, ब्यापि रहे ब्रह्मंड ॥
तामस धर्म करहिं नर, जप तप ब्रत मख दान।
देव न बरषहिं धरनी, बये न जामहिं धान ।१०१॥

अर्थ—हे गरुड़जी ! सुनिये, कलियुग में ब्रह्मांड-भर में कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखंड, मान, मोह, काम आदि (काम, क्रोध, लोभ) और मद व्याप्त हो गये ॥ लोग जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान आदि धर्म तामस वृत्ति से करते हैं। (मेघ के) देवता पृथिवी पर जल नहीं बरसाते, बोने पर धान भी नहीं जमता ॥१०१॥

विशेष—(१) 'कपट' अर्थात् मित्र आदि से दुराव, हठ जो बात मन और मुँह में आ गई, ठीक न भी हो तो उसी पर अड़ जाना। दिखाने के लिये वेष-धृत्ति दंभ है। कर्म-धर्म श्रद्धाहीन होने से पाखंड मय होते हैं।

(२) 'तामस धर्म करहिं···'—धर्म (कर्म), जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान, ये सब तीन-तीन प्रकार के होते हैं, सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक उत्तम, राजस मध्यम और तामस निकृष्ट कहे गये हैं। गीता अ० १७–१८ में इनका विस्तृत वर्णन है। कलि में लोग तामस ही धर्म करते हैं, तामस यज्ञ, तप, दान के स्वरूप गीता १७।१३–१९-२२) में और कर्म गीता १८।२५ में देखिये। तामस कर्म असत् कहे गये हैं, ये निष्फल होते हैं। इसी से कहते हैं कि पृथिवी पर पानी नहीं बरसता और बोने से धान भी नहीं जमता।

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धन हीन दुखी ममता बहुधा ॥१॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता ॥२॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं ॥३॥
लघु जीवन संबत पंच दसा। कलपांत न नास गुमान असा ॥४॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥५॥

अर्थ—स्त्रियों के बाल ही भूषण हैं (और भूषण नहीं हैं, बाल ही मात्र है, उसी के बढ़ाने-सँवारने में लगी रहती हैं), भूख बहुत लगती है (अर्थात् बार-बार भोजन करने से भी तृप्ति नहीं होती)। धन-रहित होने से दुखी रहती हैं, फिर भी प्रायः बहुत प्रकार से ममता रहती है ॥१॥ मूर्खा हैं, सुख चाहती हैं पर

धर्म में प्रेम नहीं है। बुद्धि थोड़ी है और (वह भी) कठोर है, कोमलता छू नहीं गई ॥२॥ मनुष्य रोगों से पीड़ित हैं, सुख भोग कहीं नहीं है, विना कारण ही अभिमान और विरोध करते हैं ॥३॥ जीवन (आयु) थोड़ा, पाँच दस = १५ एवं ५० तथा हद १०५ वर्ष का है, पर गर्व ऐसा है कि कल्पान्त (४ अर्ब ३२ लाख वर्ष) होने पर भी उसका नाश नहीं होने का ॥४॥ मनुष्यों को कलिकाल ने बेहाल (हैरान) कर डाला, कोई बहिन बेटी को नहीं मानता ॥५॥

विशेष—(१) 'कच भूषन'—रहे सहे भूषण बेच खाये हैं, केश ही रखाना रह गया, अथवा सुकुमारता के बहाने भी भूषण न पहनकर बालमात्र ही का शृङ्गार करती हैं; यथा—"लावण्ये केशधारणम्" (भाग० १२।२।६)। 'ममता बहुधा'- अपनी चीजों पर बहुत मोह है। 'बहुधा' प्रायः, बहुत प्रकार का। 'सुख चाहहिं मूढ़···'— धर्म से सुख होता है; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥" (दो० २०), ये धर्म नहीं करतीं, पर सुख चाहती हैं, इसी से इन्हें मूढ़ कहा है। 'कठोरि' अर्थात् ठोस, जिसमें कुछ उपदेश न धँसे। 'नर पीड़ित रोग···' भोग से रोग होता है; यथा—"भोगे रोग भयं" (भर्तृहरि:); पर यहाँ भोग कहीं नहीं, तब भी रोग से दुखी हैं। 'अकारन ही'; यथा—"बयर अकारन सब काहू सों।" (दो० ३९); 'पंच दसा' -के अर्थ दस-पाँच वर्ष, पुनः १५, ५० और 'अंकानां वामतो गतिः' की रीति से १०५ वर्ष भी होते हैं, इससे आगे तो प्रायः कोई नहीं जी सकता, यह भाव है।

(२) 'अनुजा तनुजा' पर कुदृष्टि करना, कलि के द्वारा विहाल होना; अर्थात् अत्यन्त पराजित होना हीन दशा है, इससे इसे अत्यन्त गर्हित पाप कहा है।

नहिं तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भये मँगता॥६॥
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता विगता॥७॥
सब लोग वियोग विसोक हये। बरनाश्रम-धर्म अचार गये॥८॥
दम दान दया नहिं जानपनी। जड़ता परबंचनताति घनी॥९॥
तनु पोषक नारि-नरा सगरे। पर-निंदक जे जग मो बगरे॥१०॥

शब्दार्थ—जानपनी = जानकारी, बुद्धिमानी। जड़ता = मूर्खता, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता।

अर्थ— न संतोष, न विचार (विवेक) और न शीतलता (सहनशीलता) है। अतः, जाति-कुजाति (ऊँच-नीच) सभी लोग भिक्षुक हो गये (अर्थात् जिन्हें भिक्षा नहीं माँगना चाहिये, उन्होंने भी भिक्षा का ही पेशा कर लिया, या भूख के मारे वे सभी भिक्षाटन करते हैं ॥६॥ ईर्ष्या (डाह), कठोर वचन, छल और लालचपन पूर्ण भर गया, समता चली गई (अर्थात् सबमें विषमता रह गई) ॥७॥ सब लोग वियोग और विशेष शोक से मारे गये, वर्णाश्रम के धर्म और आचरण उठ गये (न रह गये) ॥८॥ दम, दान, दया और बुद्धिमानी नहीं रह गई। मूर्खता और दूसरों को ठगना, यह अत्यन्त अधिक हो गया।९॥ स्त्री-पुरुष सभी शरीर के पालन-पोषण में लगे रहनेवाले हैं। जो पराये की निन्दा करनेवाले हैं, वे संसार में फैले हुए हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'नहिं तोष···'—चित्त में संतोष नहीं, बुद्धि में विचार नहीं और अहंकार में शीतलता नहीं रह गई। 'इरिषा'; यथा—"पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा···" (बा० दो० १३५);

ईर्ष्या से ही क्रोध में परुष (कठोर) वचन भी निकलते हैं। 'लोलुपता'--कुत्ते की तरह जीभ लपलपाते रहते हैं, ललचाते रहते हैं। छर अर्थात् छल, इसमें 'रलयोर भेद' से 'र' का 'ल' करके अर्थ किया गया है।

(२) 'बियोग बिसोक हये' प्रिय जनों के वियोग से विशेष शोक होता है, उससे 'हए' (हने) अर्थात् मर भी जाते हैं। पुत्र हानि, इष्ट हानि आदि शोक में लोग मर भी जाते हैं। भारी शोक होता है, इससे मर जाते हैं। यह हरि विमुखता का फल है, यथा—"बहु रोग बियोगन्ह लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये॥" (दो० ३)। 'तनुपोषक' आश्रितों को भुलाकर अपने ही शरीर का पोषण करनेवाले, अच्छे-अच्छे भोजनादि का संग्रह करनेवाले। पुन तन पोषण मात्र में प्रवृत्ति रह गई, धर्म-कर्म पर दृष्टि भी नहीं देते। 'पर निंदक' का परमेश्वर निंदक भी अर्थ होता है।

दोहा—सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार।
गुनउँ बहुत कलिजुग कर, बिनु प्रयास निस्तार॥
कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम ते पावहिं लोग॥१०२॥

अर्थ—हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी ! सुनिये, कलिकाल पाप और अवगुणों का घर है। इस कलियुग में गुण भी बहुत हैं कि बिना परिश्रम ही भव से छुटकारा हो जाता है॥ सतयुग, त्रेता और द्वापर में जो गति योग, यज्ञ और पूजन से प्राप्त होती है, वही गति कलियुग में लोग केवल भगवान् के नाम से पा जाते हैं॥१०२॥

विशेष- (१) 'गुनउँ बहुत '--गुण तो एक ही है कि बिना श्रम केवल नाम-स्मरण और यश गान मात्र से निस्तार होता है पर इसे बहुत कहा है, क्योंकि युगों के बहुत धर्मों की अपेक्षा यही भारी है, यथा—"नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥" (बा० दो० २६), "कलि जुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥" यह आगे कहा है।

(२) 'कृतजुग त्रेता द्वापर' के क्रम से जोग मख पूजा' कहना था, पर छन्दानुरोध से एव 'बिपरीत क्रम यथासंख्य' अलंकार दिखाने के लिये 'पूजा मख अरु जोग' कहा गया है, अर्थ क्रम से करना चाहिये। योग यज्ञ, पूजन में उत्तम समय, द्रव्य और परिश्रम की अपेक्षा होती है। अत, संदेह होता कि इनमें उससे कुछ उत्तम गति अवश्य मिलती होगी, इसपर कहते हैं—'जो गति होइ सो' अर्थात् वही, दूसरी नहीं यथा—"कृते यद्ध्यायतो विष्णु त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥" (भाग० १२।३।५२), इसका अर्थ दोहार्थ से मिलता हुआ ही है।

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥१॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥२॥
द्वापर करि रघुपति-पद-पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥३॥
कलिजुग केवल हरि-गुन-गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥४॥

शब्दार्थ—गाहा (गाथा) = कथा; यथा—"कीन्ह चहउँ रघुपति गुनगाहा ।" (बा० दो० ७)

अर्थ—सतयुग में सब लोग योगी और विज्ञानी होते हैं, उसमें प्राणी भगवान् का ध्यान करके संसार सागर तर जाते हैं ॥१॥ त्रेता में मनुष्य अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं और सब प्रभु को कर्मों का समर्पण कर भव पार होते हैं ॥२॥ द्वापर में मनुष्य श्रीरघुनाथजी के चरणों की पूजा करके भव पार होते हैं, दूसरा उपाय नहीं है ।।३।। और कलियुग में केवल भगवान् के गुणों की कथा गाने से ही मनुष्य भव-सागर की थाह पा जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) उपर्युक्त दोहे में कही हुई बातों का विस्तार यहाँ किया गया है ।

(२) 'कृत जुग सब ··कलिजुग केवल···'—सतयुग के आने पर सबकी बुद्धि धर्ममय हो जाती है, इससे सभी योगी और विज्ञानी होते हैं। कलियुग में 'केवल' कहकर सतयुग में चारों की प्रवृत्ति सूचित की । यहाँ भव-निवृत्ति के चार उपाय कहे गये हैं—योग (ज्ञान), ईश्वरार्पित यज्ञ, पूजन और हरि-गुणगान । सतयुग में चारों रहते हैं, पर उनमें योग-विज्ञान के द्वारा हरि-ध्यान प्रधान है । त्रेता में यज्ञ, पूजन और गुणगान, ये तीन ही रह जाते हैं, इनमें यज्ञ प्रधान है । द्वापर में पूजन और गुणगान, दो ही रह जाते हैं, इनमें से पूजन ही प्रधान रहता है और कलियुग में केवल गुणगान रह गया ।

केवल का यह भी भाव है कि यश गान मात्र ही तो है अतः, अत्यन्त सुगम है, वा, दूसरा उपाय इसमें है ही नहीं, यही एक रह गया है ; यथा—"कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्रधर्मे खलुनाधिकारः ;" 'गावत' का भाव यह कि गाने मात्र की देरी है, तुरत भव थाह मिल जाती है । योग, यज्ञ, आदि में जन्म भर करने पर कहीं फल की प्राप्ति होती है । अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"मज्जन फल पेखिय ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥" (बा० दो० २), अर्थात् कथा सत्संग से शीघ्र ही लोग बाहर-भीतर शुद्ध हो जाते हैं, विवेकी-सदाचारी हो जाते हैं । तब भव में डूबने का डर नहीं रह जाता । विवेक से उसका अंदाजा हो जाता है; यथा—"पुनि बिवेक पावक कहँ अरनी ।" (बा० दो० ३०) । पैदल चलने की भाँति सत्संग मे आयु समाप्त कर भवसागर पार हो जाते हैं । यह कलियुग में सुलभता है ।

और युगों में 'भव तरहीं' कहा है, भाव यह कि उन्हें बीच में डर बना रहता है, भव की थाह नहीं मिलती । पर ये तत्काल ही निर्भीक हो जाते हैं । पुनः इन्हें बिना परिश्रम ही तरना होता है और उन्हें बहुत प्रयास करना पड़ता है । उनमें विघ्नों की शंका रहती है, इसमें यह भी नहीं है, हरि रक्षक हैं । अतः, बड़ा अंतर है ।

यहाँ के चारो युगों के साधनों के साथ हरि का ही सम्बन्ध कहा गया है ; अर्थात् सब उपायों के द्वारा हरि ही आराध्य हैं । तात्पर्य यह कि शुष्क ज्ञान से भव नहीं छूटता ; यथा—"जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी । ते···परत हम देखत हरी ॥" (दो० १२) ; यज्ञ भी हरि-समर्पण से ही सफल होता है ; यथा—"हरिहि समरपे बिनु सत्कर्मा । ··नासहिं बेगि···" (अ० दो० २०); "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम् । कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥" (भाग १।५।१२) । पूजा भी भगवान् की ही भव हरनेवाली होती है, देवांतर की नहीं, क्योंकि देवता तो स्वयं भव में पड़े हुए हैं; यथा —"भव प्रवाह संतत हम परे ।" (लं० दो० १०८)—यह देवताओं ने कहा है । "भवताप भयाकुल पाहि जनम् ।" (दो० १३)—यह श्रीशिवजी ने भी कहा है । ये लोग दूसरे को कैसे तार सकते हैं ? कलि मे भी हरि ही के गुणगान को कहा है ।

इन चारों अर्द्धालियों के भाव बा० दो० २६ चौ० ३–७ में भी देखिये ।

कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक अधार राम-गुन-गाना ॥५॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम-समेत गाव गुन-ग्रामहि ॥६॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम-प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥७॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा ॥८॥

अर्थ—कलियुग में केवल रामगुणगान ही एक अवलंब है, न योग है, न यज्ञ और न ज्ञान ही (का अवलंब है। अतः,) ॥५॥ सब (योगादि) का भरोसा छोड़कर जो श्रीरामजी का भजन करते और प्रेम सहित उनके गुण समूह को गाते हैं, वे ही भव तर जाते हैं इसमें कुछ संदेह नहीं है, कलियुग में नाम का प्रताप प्रकट (प्रत्यक्ष) है ॥६-७॥ कलियुग का एक पवित्र प्रताप है कि इसमें मानसिक पुण्य (तो पुण्य में परिगणित) होते हैं, मानसिक पाप नहीं ॥८॥

विशेष—(१) 'जोग न जज्ञ न ज्ञाना।'—'न' का अर्थ यह नहीं कि इनकी सत्ता ही नहीं रह गई किंतु 'एक अधार' के अनुरोध से भाव यह कि इनका आधार नहीं लिया जा सकता, क्योंकि मलीन युग के कारण लोगों के मन, वचन, कर्म प्रायः मलीन होने से उन योग आदि के साधन करने के योग्य नहीं रह गये हैं; यथा—"ग्रसे कलिरोग जोग संयम समाधिरे।" (वि० ६६); एवं वि० १२८, १५५, १८४, १७३ आदि पदों को तथा क० उ० ८६-८७ आदि छंदों को देखिये।

ऊपर क्लेश-हरण संबंध से हरिनाम दिया गया है, क्योंकि भव क्लेश है। यहाँ 'राम गुन गाथा' कहकर उपर्युक्त 'हरि' को भी श्रीरामजी का ही विशेषण जनाया, यथा—"रामाख्यमीशं हरिम्" (बा० मं० श्लोक ६)।

(२) 'सब भरोस तजि...'—योगादि का भरोसा रहने से राम-भजन में पूर्ण निर्भरता न आयेगी और न प्रेम सहित गुणगान ही होगा; यथा—"येहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥" (दो० १३)।

(३) 'संसय नाहीं'—जब प्रभु में ही अनन्य 'भरोस' होकर प्रेम से गुणगान करते हुए भजन करेगा, तब कुछ भी संदेह नहीं है, वह अवश्य भव तरेगा।

पहले 'हरि गुन' फिर 'राम गुन' और यहाँ 'नाम प्रताप' कहा है, इस तरह तीनों की एकता कही गई। नाम बीज रूप है चरित उसका विवरण है, जैसे कि बा० दो० ६ में 'बिस्व बिदित गुन एक' कहा गया, फिर उसे ही आगे 'यहि महँ रघुपति नाम उदारा' कहा है। अन्य युगों मे योगादि के साथ मे नाम प्रताप था अतएव अप्रकट था, कलि में प्रत्यक्ष है। और युगों मे जब और साधनों से भी काम चल जाता था, तब नाम में लोगों की कम प्रवृत्ति थी। अब तो यही एकमात्र उपाय रह गया; यथा—"कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ।" (बा० दो० २१)। इसी से 'नाम-प्रताप' का ही डंका बज रहा है; यथा—"नाम लेत कलि कालहूँ हरि पुरहि न गा को॥ राम नाम महिमा करै काम भूरुह आको। साखी बेद पुरान है तुलसी तन ताको॥" (वि० १५२)।

(४) 'कलि कर एक पुनीत प्रतापा।' और तो सब बातें इसमे अपुनीत ही हैं, एक यही पुनीत प्रताप है, यह सबसे प्रधान है इसके आगे और सब तुच्छ हैं। यह पवित्र गुण और युगों में नहीं है। और युगों में मानस पुण्य तो पुण्य में गिने जाते थे। साथ ही मानस पाप भी पाप मे गिन लिये जाते थे, उनका फल भोगना पड़ता था।

(५) 'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।' जिस पुण्य का संकल्प मन में किया गया, पर किसी विघ्न से एवं किसी प्रकार की असमर्थता से उसे कर नहीं सका, तो उस पुण्य का फल मिल जायगा। परन्तु पाप का संकल्प जब तक मन में है, तब तक मनुष्य उसके पाप का भागी नहीं होता। वह पाप कर्म द्वारा किया जायगा तभी उसका बुरा फल होगा।

पुण्य तो और युगों की तरह होते हैं, पर पाप ही इसमें नहीं होते, पुनीत प्रताप केवल मानस पाप के फलप्रद न होने में है, पर श्रीमद्भागवत के ऐसे ही प्रसंग से यहाँ के 'होहिं' की जगह—पुण्य-कर्म संकल्प शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं और पाप कर्म करने ही पर फल प्रद होते हैं—ऐसा कहा है; यथा—"नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारंग इव सारभुक्। कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥" (भाग० १।१८।७) अर्थात् राजा परीक्षित ने कलि को नहीं मारा, क्योंकि वे भ्रमर की तरह सार पदार्थ के ग्रहण करनेवाले हैं, उन्होंने कलि में एक बड़ा गुण देखा कि इसमें पुण्य कर्म शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं और पाप कर्म करने ही पर मनुष्य उसके पाप का भागी होता है। इसमें पुण्य के विषय में संकल्प मात्र से सिद्धि नहीं कही गई, किन्तु इतना ही है कि वे पुण्य कर्म शीघ्र हो जाते हैं, अन्य युगों में देर में सिद्ध होते थे।

पर मानस के मत से मानस पुण्य के संकल्प मात्र से उसके फल की प्राप्ति हो जाती है, पर पाप कर्म के संकल्प की फल प्राप्ति उसके करने ही पर होती है। इसपर यदि कोई कहे कि हम नित्य ही संकल्प कर लिया करें कि हम एक लक्ष ब्राह्मण को भोजन करावेंगे तो क्या इसका फल मिल जायगा? इसका उत्तर यही है कि मानस पुण्य वही है कि जिसका मन में स्वतः संकल्प आ गया कि करेंगे, पर कर न सका। जानकर संकल्प किया करना तो वंचकता है मानस पुण्य नहीं।

इस युग में करुणा निधान भगवान् ने ऐसा प्रताप इसलिये रक्खा है कि इसमें जीवों के तन और वचन से ही बहुत पाप होते हैं, यदि मानस पाप भी गिने जायँगे, तो 'पाप पयोनिधि जन मन मीना।' होने से पाप का इतना भार शीघ्र बढ़ जायगा कि प्रलय करना पड़ेगा। इसीलिये इसमें यह प्रताप रक्खा गया।

मानस पाप भी वही क्षन्तव्य हैं, जो अपनी शक्ति से अनिवार्य हैं, स्वभावतः हो आते हैं। जान-बूझकर मन से पाप संकल्प करना भी वंचकता है। पुनः मन से संकल्प होते-होते वह पाप कर्म रूप में भी आ ही जायगा।

दोहा—कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम-गुन-गन बिमल, भव तर बिनहिं प्रयास॥
प्रगट चारि पद धर्म के, कलि महँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हे, दान करइ कल्यान॥१०३॥

अर्थ—यदि मनुष्य विश्वास करे तो कलियुग के समान दूसरा युग नहीं है, (क्योंकि इसमें केवल) श्रीरामजी के निर्मल गुणों के गान करने से विना परिश्रम ही मनुष्य भव पार हो जाता है॥ धर्म के चार चरण (सत्य, दया, तप और दान) प्रसिद्ध हैं (पर) कलियुग में एक चरण प्रधान (यह) है कि जिस किसी भी प्रकार से दान देने से वह कल्याण करता है॥१-२॥

विशेष—(१) 'कलि जुग सम जुग आन नहिं'—और तीन युगों से यह उत्तम है, क्योंकि इसमें
बिना परिश्रम भव पार होने का उपाय है। औरों में आजीवन साधन-श्रम उठाने पर भी निश्चय नहीं
रहता कि भव पार ही जायँगे। किंचित् चूक होने पर गिर जाना होता है। इस युग में राम गुण एवं राम
नाम उपाय है, यह नित्य निरुपाधि एवं अल्पायास में सिद्ध होनेवाला है; यथा—"राम नाम जपु तुलसी
नित निरुपाधि।" (बरवा रा• उ•); 'जो नर कर बिस्वास'—बहुत फल प्रद एवं अल्पायास साध्य सुनकर
सहसा प्रतीति नहीं होती और बिना प्रतीति के प्रीति नहीं होती; यथा—"बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।"
(दो• ८८); बिना प्रीति प्रतीति के सिद्धि नहीं होती; यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।"
(दो• ८९); "तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। राम नाम बोहित भवसागर चाहै
तरन तरो सो॥" (वि• १७३); तथा—"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य
मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥" (भाग• १२।३।५१); अर्थात् दोषों की खान कलियुग में एक महान् गुण है कि
कृष्ण भगवान् के नाम और गुण के कीर्तन करने से मनुष्य निर्लिप्त होकर परम पद पाता है। श्रीमद्भागवत-
माहात्म्य में भी कहा है कि परीक्षित महाराज ने यही गुण कलि का देखकर इसे नहीं मारा कि यह तो
इसमें महान् गुण है; यथा—"यदा मुकुन्दो भगवान्क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः। तद्दिनात्कलिरायातः सर्वसाधन
बाधकः। दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणागतः। न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक्॥ यत्फलं
नास्ति तपसा न योगेन समाधिना। तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥" (भाग• मा• १।६६–६८)।

(२) 'प्रगट चारि पद ...'—ऊपर राम गुण से भव-तरने का उपाय कहा, पर जिसे सहसा विश्वास
न हो और कल्याण कामना हो तो वह जैसे कैसे कुछ दान करे, उससे हृदय शुद्ध होने पर फिर राम गुण
में विश्वास और प्रेम होगा। 'येन केन बिधि'—का भाव यह कि श्रद्धापूर्वक एवं विधि सहित हो, चाहे बिना
श्रद्धा, बिना विधि, देखा सीखी, डर से, स्पर्धा से एवं चाहे जैसा भी दे, कलि में वह सब कल्याण करेगा।

योग, यज्ञ, पूजा और गुणगान से भव तरना कहा गया, पर दान से कल्याण ही कहा गया, तात्पर्य
यह कि दानमात्र से भव नहीं छूटता। हाँ, हृदय शुद्ध होकर फिर उन साधनों द्वारा एवं कीर्त्तन-भजन से
उसका भव छूटेगा।

(३) 'दान करइ कल्यान'; यथा—"सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप।"; "कलौ तु धर्म
हेतूनां तुर्यांश।" (भाग• १२।३।१८–४); अर्थात् सत्य, दया, तप और दान, ये धर्म के चार चरण हैं।
(कहीं-कहीं सत्य, शौच, दया, दान भी चरण कहे गये हैं।) कलि में तो धर्म के कारण रूप चारों चरणों में
चौथा दानमात्र अवशिष्ट रहेगा।

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥१॥
सुद्ध सत्त्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी की माया की प्रेरणा से सबके हृदय में सब युगों के धर्म प्रत्येक युगों में हुआ
करते हैं॥१॥ शुद्ध सत्त्वगुण (वृत्ति), समता, विज्ञान और मन में प्रसन्नता जान पड़ती—यह सतयुग का
प्रभाव है॥२॥

विशेष—(१) 'नित जुग धर्म होहिं ...'—प्रत्येक युगों में चारों युगों के धर्म नित्य होते हैं,
श्रीरामजी की माया द्वारा इनकी प्रेरणा हुआ करती है। इसे काल धर्म कहते हैं; यथा—"काल धर्म नहिं

व्यापहिं तेही।" यह आगे कहा है। युग का धर्म शरीर में व्याप्त हो जाता है, जैसे जाड़े में शीत और गर्मी में गर्म। जिस समय में जो युग होता है, उसकी वृत्ति प्रधान रहती है, शेष तीन के धर्म समय-समय पर आ जाते हैं। कोई-कोई नित्य के चार पहर में क्रमशः चारों युगों की वृत्ति मानते हैं; यथा—"कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्। अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥" (भाग॰ १२।२।२१); कोई यों अर्थ करते हैं कि वर्त्तमान युग का धर्म सबके हृदय में नित्य होता है। आगे युग धर्म की पहचान बतलाते हैं—

(२) 'सुद्ध सत्व'—प्रायः गुणों की मिश्रित वृत्ति रहती है, पर यहाँ केवल सत्त्वगुण की वृत्ति रहने का तात्पर्य है, जिसमें रजो गुण आदि की वृत्ति न हो। 'समता'—सब जीवों में समता भाव हो एवं सबमें ईश्वर को समान भाव से देखने की वृत्ति हो। 'बिग्याना'—प्रकृति-वियुक्त आत्मा का ज्ञान हो; अर्थात् तीन गुणों एवं तीनों अवस्थाओं की वृत्तियों को अपनेसे भिन्न प्रकृति के मानता हो और प्रसन्न मन हो।

सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥३॥
बहुरज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धरम हरष भय मानस ॥४॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि-प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ॥५॥

अर्थ—सत्त्वगुण अधिक हो, कुछ रजोगुण भी हो, कर्मों में प्रीति हो और सब प्रकार से सुख हो—यह त्रेता का धर्म है ॥३॥ रजोगुण बहुत हो, सत्त्वगुण बहुत थोड़ा हो, कुछ तमोगुण हो, मन में हर्ष और भय हो—यह द्वापर का धर्म है ॥४॥ तमोगुण बहुत हो, कुछ रजोगुण हो और चारों ओर विरोध हो—यह कलियुग का प्रभाव है।

विशेष—(१) 'सत्त्व बहुत रज ···'—त्रेता में समता छूटकर कर्म में भी प्रवृत्ति होती है, यह रजोगुण का प्रभाव है। सत्त्व बहुत होने से कर्म तो सात्त्विक हैं, पर उनमें कुछ रजोगुण प्रभाव से अहं बुद्धि एवं मान बड़ाई का भी विचार हो आता है। जब ऐसी प्रवृत्ति हो और सब प्रकार का सुख हो, तब समझना चाहिये कि त्रेता का धर्म हृदय में प्रेरित हो रहा है।

(२) 'बहुरज स्वल्प सत्त्व···'—जब ऐसे कार्य में प्रवृत्ति हो जिसमें सत्त्व गुण थोड़ा हो, पर हो वह सत्कर्म ही, उसमें मान-प्रतिष्ठा की चाह विशेष से हर्ष हो और कुछ मानसी चिन्ता से भय भी हो। तब उसे द्वापर का धर्म जानना चाहिये।

(३) 'तामस बहुत··'—जब विशेष तमोगुणी कर्म—उच्चाटन, मारण, मोहन आदि की प्रवृत्ति हो, तब कलियुग का धर्म समझना चाहिये। जैसे कि भगवान् कृष्ण के परधाम जाने पर जब युधिष्ठिर के मन में विकार उत्पन्न होने लगे तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि कलियुग आ गया—ऐसा श्रीमद्भागवत में कहा गया है।

सतयुग में पूर्ण सत्त्व गुण रहता है। त्रेता में चतुर्थांश रजोगुण भी आ जाता है। द्वापर में दो भाग रजो गुण, एक भाग सत्त्व और एक भाग तमोगुण रहता है। कलि में तीन भाग तमोगुण, एक भाग रजोगुण और सत्त्व तो दैवयोग से कुछ-कुछ कहीं-कहीं रहता है।

सतयुग में धर्म के चारों चरण पूर्ण रहते हैं, त्रेता में एक पाद 'सत्य' नहीं रह जाता, द्वापर में 'सत्य शौच' दो नहीं रह जाते और कलि में तीन नहीं रह जाते, एक दान मात्र रह जाता है।

श्रीमद्भागवत १२।३।२६-३० के मिलान से भी यहाँ के भाव स्पष्ट हो जायँगे, यथा—"सत्त्व रजस्तम इति दृश्यते पुरुषे गुणाः। कालसंचोदितास्ते वै परिवर्त्तन्त आत्मनि॥ प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च। तदा कृतयुगं विद्यात् ज्ञाने तपसि यद्रुचि॥ यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्। तदा त्रेता रजो वृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमान्॥ यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानोदम्भोऽथमत्सर.। कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तम॥ यदा मायानृतंतन्द्रानिद्राहिंसाविपादनम्। शोको मोहो भयं दैन्यं सकलिस्तामसः स्मृतः॥" इनके अर्थ सरल हैं और विस्तार भय से भी नहीं लिखे जाते।

बुध जुग-धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥६॥
कालधर्म नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति-चरन प्रीति अति जाही॥७॥
नटकृत विकट कपट खग-राया। नट सेवकहि न व्यापइ माया॥८॥

अर्थ—पंडित लोग युगों का धर्म मन में जानकर अधर्म छोड़कर धर्म में प्रेम करते हैं॥६॥ जिसकी श्रीरघुनाथजी के चरणों में अत्यन्त प्रीति होती है, उसे काल के धर्म नहीं व्याप्त होते॥७॥ हे पक्षिराज! नट (बाजीगर) का किया हुआ कपट चरित (इन्द्रजाल) विकट होता है, पर वह माया उस नट के सेवक को नहीं व्याप्त होती॥८॥

विशेष—(१) 'बुध जुग धर्म जानि...'—जानना और फिर अधर्म आदि दोषों का त्यागना पंडित का ही काम है; यथा—"जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।" (कि॰ दो॰ १४); जन लक्षणों से जान लिया जाय, तब तुरत उसका उपाय करे, जैसे कि जन कलि का धर्म मन में जाने तब कीर्त्तन में लग जाय, ऐसे ही जब जिस युग की वृत्ति हो, वैसा ही भजन करे। तब उसके प्रतिकूल वृत्ति रूप अधम् छूट जायँगे।

(२) 'कालधर्म नहिं...'; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोहीं॥" (दो॰ ८७); इसीको आगे दृष्टान्त से समझाते हैं—

(३) 'नट कृत विकट कपट...'—यहाँ 'कपट' कहकर फिर उसे ही 'माया' भी कह, कपट का अर्थ नट की माया (झूठी माया) स्पष्ट किया है। 'नट सेवकहि'—सेवा से प्रसन्न होकर नट जिसके अनुकूल हो जाता है और अपने कपट के भेद बतला देता है, यथा—"सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला॥" (आ॰ दो॰ ३८), उसे माया झूठी ही जान पड़ती है औरों को तो वह विकट ही दीखती है। रुपड़े का रुपया बना देना, वस्त्र जला देना फिर वैसा ही कर देना, आम फला देना, फिर गुप्त कर देना, शरीर काटकर फिर वैसा ही दिखा देना आदि औरों को सत्य और विकट जान पड़ते हैं। ऐसे युग के अनुसार गुण दोष युक्त माया के व्यापार औरोंको सत्य ही जान पड़ते हैं, पर हरिभक्त उस भुलावे में नहीं पड़ते, यथा—"येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥" से "सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम बचन राम-पद-नेहू॥" (अ॰ दो॰ ९२) तक।

दोहा—हरि-माया-कृत दोष-गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।
भजिय राम तजि काम सब, अस बिचारि मन माहिं॥

अर्थ—भगवान् की माया के किये हुए दोष और गुण बिना भगवद्भजन के नहीं जाते, ऐसा मन में विचार कर सब काम छोड़कर श्रीरामजी का भजन करना चाहिये एवं करो।

विशेष—दोष और गुण ; यथा - "सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक।" (दो० ४३) ; इसमें 'गुन अरु दोष' कहा है, क्योंकि वहाँ संत गुण वर्णन का प्रसंग था और यहाँ कलि के दोष वर्णन का प्रसंग है, इससे 'दोष-गुन' कहा है, दोष को ही प्रधानता दी है, इससे पहले कहा है। वा, छंदानुरोध से भी ऐसा कहा गया है।

भजन से दोष हरण के सम्बन्ध में 'हरि' पद दिया गया है। जिन हरि की माया है, उन्हीं के भजन से जायगी। उपर्युक्त नट-सेवक का दृष्टान्त यहाँ भी है। 'काम सब'—संसार सम्बन्धी समस्त कामनाएँ। तजि काम अर्थात् निष्काम होकर।

कलि धर्म-वर्णन प्रसंग समाप्त हुआ।

तेहि कलि-काल बरष बहु, बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपति बस, तब मैं गयउँ बिदेश ॥१०४॥

गयउँ उजेनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी ॥१॥
गये काल कछु संपति पाई। तहँ पुनि करउँ संभु सेवकाई ॥२॥

अर्थ—हे खगराज ! उसी कलिकाल में मैं बहुत वर्षों तक श्रीअवध में रहा। अकाल पड़ा तब मैं बिपत्ति के वश होकर परदेश गया ॥१०४॥ हे गरुड़ ! सुनिये, दीन, मलीन (शरीर से मैला और मन से उदास), दरिद्र, और दुखी होकर मैं उज्जैन गया ॥१॥ कुछ समय बीतने पर कुछ धन सम्पदा पाकर फिर वहाँ श्रीशिवजी की सेवा करने लगा ॥२॥

विशेष—(१) 'तेहि कलि-काल···'—पहले—"पूरब कलप एक प्रभु, जुग कलि जुग मल मूल।" (दो० ९६) से प्रसंग लिया, पुनः "कहउँ कछुक कलि धर्म।" (दो० ९७) ; तक कहकर उसे छोड़ फिर 'कलि धर्म' कहते हुए ऊपर तक कहा, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लेते हैं—'तेहि कलि काल···'

(२) 'परेउ दुकाल' ; यथा—"यह निसिचर दुकाल सम अहई।" (लं० दो० ६८)—देखिये। दुकाल का अर्थ दुष्काल अर्थात् अकाल। दुकाल की ध्वनि से दो वर्ष का बराबर अकाल एवं अवर्षणवाला अकाल सूचित किया। एक साल तक लोग बचे-बचाये अन्न से जीते हैं, फिर मरने लगते हैं।

(३) 'तब मैं गयउँ बिदेस ; यथा—"ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह भारी॥ जाइ सुराज सुदेस सुखारी।" (अ० दो० २३४) ; सुदेश को आगे कहते हैं।

(४) 'गयउँ उजेनी···'—उज्जैन मालवा प्रदेश की राजधानी है यह सदा हरा भरा रहता है और महादेवजी की पुरी है। अतः, इष्ट-धाम और सुदेश जानकर वहाँ गये। इसे ही अवंतीपुरी (अवंतिका) कहते हैं, यह मोक्षदा सप्त पुरियों में से है।

'दीन मलीन···'—क्षुधार्त होने से दीन होकर मन से दुखी, वस्त्रादि एवं चेष्टा से भी मलीन और द्रव्य हीनता से दरिद्र था ; इन्हीं कारणों से दुखारी था।

(५) 'गये काल कछु...'—दो चार वर्ष में, व्यापार एवं चाकरी आदि से कुछ सम्पत्ति पाई, उससे दरिद्र नहीं रह गया, भारी दुःख निवृत्त हो गया; यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (दो० १२०)।

'तहँ पुनि करउँ...'—पहले श्रीअवध में था, तब भी शिव-सेवा करता था; यथा—"सिव सेवक मन क्रम अरु बानी।" (दो० ९६); पर वह सेवा अकाल से दुखी होने पर छूट गई थी, अब फिर करने लगा।

विप्र एक वैदिक सिव-पूजा। करइ सदा तेहि काज न दूजा ॥३॥
परम साधु परमारथ-बिंदक। संभु-उपासक नहिं हरि-निंदक ॥४॥
तेहि सेवउँ मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति-निकेता ॥५॥

अर्थ—एक ब्राह्मण वेद विधि से सदा श्रीशिवजी की पूजा करते थे, उन्हें दूसरा कोई काम नहीं था ॥३॥ वे परम साधु और परमार्थ के जाननेवाले थे, श्रीशिवजी के उपासक थे, पर हरि के निंदक नहीं थे ॥४॥ मैं कपट सहित उनकी सेवा करता था, वे ब्राह्मण अत्यन्त दयालु और नीति के स्थान थे ॥५॥

विशेष—(१) 'वैदिक सिव-पूजा'—पूजा तीन प्रकार की होती है—वैदिक, पौराणिक और तांत्रिक। वैदिक सात्त्विक, पौराणिक रजोगुणी और तांत्रिक तमोगुणी। वैदिक पूजा वेद मंत्रों से होती है, वैदिक पूजक का किसी से विरोध नहीं होता। तांत्रिक प्रायः वैष्णवों से द्वेष करते हैं। इससे शिवोपासना भी वैदिक एवं प्राचीन दिखाई गई।

'करइ सदा तेहि काज न दूजा।'—यह कर्म की उत्तमता है। 'परम साधु परमारथ-बिंदक' होना मन की और 'नहिं हरि निंदक' यह वचन की उत्तमता कही गई। 'काज न दूजा'—यही उपासना की श्रेष्ठता है, सदा उसी में लगा रहना।

(२) 'परम साधु'—मन और इन्द्रिय साधे हुए, निष्कपट, परोपकारी और प्रियवादी थे। 'परमारथ बिंदक'—ज्ञानोपासनादि के सिद्धान्त ज्ञाता एवं उनपर आरूढ़ वृत्तिवाले। 'नहिं हरि निंदक'—यही शास्त्र रीति है कि अपनी उपासना में दृढ़ रहे, किसी की निंदा नहीं करे। मूढ़ उपासक ही ईश्वर रूपों में भेद मानकर दूसरे रूपों की निंदा करते हैं।

(३) 'तेहि सेवउँ मैं'—सदा स्नान कराऊँ, धोती धोऊँ, पूजा की वस्तु ला दूँ, 'कपट समेता'—मन से उनमें प्रेम नहीं था, किंतु उनसे विद्या पढ़कर अपनी मान प्रतिष्ठा चाहता था। भीतर का स्वार्थी भाव छिपाये रखता था।

'द्विज दयाल अति ...'—वे दयालुता आदि बहुत गुणों से युक्त थे। 'नीति निकेता'—नीति मात्र से यहाँ धर्म नीति का तात्पर्य है। नीति यह कि जो अपनी सेवा करे, उसका अवश्य कुछ हित करना और उसे कुछ देना चाहिये, आगे देना भी कहते हैं—

बाहिज नम्र देखि मोहि साँई। बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाँई ॥६॥
संभु-मंत्र मोहि द्विजवर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिधि बिधि कीन्हा ॥७॥
जपउँ मंत्र सिव-मंदिर जाई। हृदय दंभ अहमिति अधिकाई ॥८॥

अर्थ—हे स्वामी ! मुझे ऊपर से नम्र देखकर ब्राह्मण मुझे पुत्र की तरह पढ़ाते थे ॥६॥ उन ब्राह्मण श्रेष्ठ ने मुझे श्रीशिवजी का मंत्र दिया और अनेक प्रकार से कल्याणकारी उपदेश किया ॥७॥ मैं श्रीशिवजी के मंदिर में जाकर मंत्र जपा करता था , परन्तु मेरे हृदय में दंभ और अहंकार बढ़ता ही गया (कि मेरे समान शिवोपासक दूसरा नहीं है) ॥८॥

विशेष—(१) 'बाहिज नम्र' से उपर्युक्त 'कपट समेता' का भाव स्पष्ट हुआ कि मैं उनके देखाव में ही नम्र था, भीतर से नहीं। 'पुत्र की नाई'—अत्यन्त वात्सल्य प्रीति पूर्वक। मुझसे कुछ भेद नहीं रखते थे।

(२) 'संभु-मंत्र'—पंचाक्षरी 'ॐनमः शिवाय' यह मंत्र दिया। मत्रदीक्षा के साथ ही सदुपदेश देना चाहिये, वही शुभ उपदेश किया। एवं शुभ आचरण का भी उपदेश किया।

(३) 'हृदय दंभ'—इसी से शिव मंदिर ही मे जाकर मंत्र जपता था कि सब लोग मुझे जापक और भजनानंदी जाने।

दोहा—मैं खल मल-संकुल मति, नीच जाति बस मोह।
हरिजन द्विज देखे जरउँ, करउँ बिष्णु कर द्रोह॥

सो०—गुरु नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध, दंभिहि नीति कि भावई॥१०५॥

अर्थ—मैं दुष्ट, पाप पूर्ण बुद्धि, नीच जाति और मोह वश था। हरि भक्तों और ब्राह्मणों को देखते जलता और विष्णु से द्रोह करता था॥ गुरुजी मुझे नित्य ही बहुत समझाते थे (क्योंकि) वे मेरा आचरण देखकर दुखी होते थे। (पर उससे) मुझे अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता था, क्या दंभी को नीति (धार्मिक रीति) कभी अच्छी लगती है ? (कभी नहीं) ॥१०५॥

विशेष—(१) 'मैं खल' क्योंकि गुरु द्रोही था, 'मल संकुलमति नीच जाति' था, इसी से दुष्टाचरण पर ग्लानि नहीं आती थी। 'बस मोह'—क्योंकि शास्त्र मत नहीं समझता था। 'हरिजन द्विज देखे जरउँ'—वैष्णवों को देखकर जलता था, क्योंकि वे विष्णु को पर मानते थे। ब्राह्मणों से द्रोह करता था, क्योंकि वे मुझे शूद्र समझकर मेरी दंभात्मक वासना के अनुसार मुझे प्रतिष्ठा नहीं देते थे। उन्हें देखकर मुझे आग-सी लग जाती थी कि वे क्या मुझसे बड़े हैं ? 'करउँ विष्णु कर द्रोह'—उपासना की ओट से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये वैष्णवों से वाद करता एवं विष्णु की न्यूनता दिखाते हुए उनकी निन्दा भी करता था। पहले 'आन देव निंदक अभिमानी' था, मत्रोपदेश और धन भी पाकर अब विष्णु द्रोही हो गया।

पहले अपनेको खल कहा, फिर 'हरिजन द्विज···' से खल के लक्षण भी कहे हैं ; यथा—"मातु-पिता गुरु बिप्र न मानहिं। ··बिप्र द्रोह सुर-द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जिय धरें सुबेषा॥" (दो० ३१)।

(२) 'गुरु नित मोहि प्रबोध ··'—तुम्हें अपनी उपासना करनी चाहिये, दूसरे की निंदा से क्या प्रयोजन ? उपासक को वाद करना मना है, सबसे विरोध होने से बड़ी हानि होती है—इत्यादि। 'आचरन

मग'—दंभी, अभिमानी, द्वेषी आदि। यह सब देखकर पछताते थे कि ऐसे को नाहक शिष्य किया, मेरी भी बदनामी होती है। 'मोहि उपजै अति कोप' का कारण भी यही है; यथा—'दंभिहि नीति कि भावई' अर्थात् मुझे यह धर्म नीति नहीं भाती थी कि ब्राह्मण तेरे पूज्य हैं, उनसे बराबरी नहीं करनी चाहिये। पुनः वैष्णवों से द्रोह नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे इष्ट श्रीशिवजी भी वैष्णव नारद आदि का आदर करते हैं—इत्यादि।

> एक बार गुरु लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई ॥१॥
> सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई ॥२॥
> रामहि भजहिं तात सिव-धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता ॥३॥
> जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥४॥

अर्थ—एक दिन गुरुजी ने मुझे बुला लिया और बहुत प्रकार से नीति (धार्मिक-रीति) सिखाई ॥१॥ कि हे पुत्र! श्रीशिवजी की सेवा का फल यही है कि श्रीरामजी के चरणों में अविरल (सदा एक रस) भक्ति हो ॥२॥ हे तात! श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी भी श्रीरामजी को भजते हैं (तब भला) नीच मनुष्यों की क्या बात है? ॥३॥ श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिनके चरणों के अनुरागी हैं, अरे अभागी! तू उनसे द्रोह करके सुख चाहता है? ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार' का भाव यह कि पहले सामान्य रीति से जहाँ कहीं मिल जाते, इन्हें समझाते थे, जब न मानते देखा, तब विशेष रीति से समझाने के लिये एकान्त में अपने स्थान पर बुलाना पड़ा; क्योंकि बाहर समझाने पर इनका क्रोध देखकर अनुमान किया कि यह दंभी है, इससे दूसरों के सामने अपनी न्यूनता नहीं सह सकता। ये क्रोधवश कभी गुरुजी के यहाँ जाते भी न थे। 'एक बार' से इसे अंतिम बार का उपदेश भी जनाया कि फिर ऐसा संयोग नहीं लगा। 'गुरु लीन्ह बोलाई'—क्योंकि न शिक्षा देने से गुरु इनके पाप के भागी होते। पुनः वे शान्त महात्मा थे, इससे इनकी अवज्ञा पर क्रुद्ध न होकर कल्याण करने की ही चेष्टा करते थे।

(२) 'नीति बहु भाँति'—वेद-शास्त्र और लोक-रीति आदि—जैसे कि वैर विरोध से तेरी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी, तेरे सम्बन्ध से लोग मुझे भी बुरा-भला कहेंगे। ईश्वर-निंदा भारी पाप है, यह तू क्यों करता है, एक तो पर निंदा ही भारी पाप है, दूसरे हरिजन और हरि की निंदा का तो क्या कहना?

'नीति बहु भाँति सिखाई'—यहाँ चारों नीतियाँ सिखाई गईं; यथा—"रामहि भजहिं तात सिव धाता।"—साम, "सिव सेवा कर फल सुत सोई।…"—दाम, "नर पाँवर कै केतिक बाता।"—भेद और "तासु द्रोह सुख चहसि अभागी।।"—दंडनीति है।

(३) 'रामहि भजहिं तात सिव धाता।'; यथा—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा० दो० ५४)।

(४) 'तासु द्रोह सुख चहसि अभागी।'—श्रीशिवजी भी जिन श्रीरामजी से भव दुःख हरण की प्रार्थना करते हैं; यथा—"भव ताप भयाकुल पाहि जनं" (दो० १३); उन भव-भंजन के पद-विमुख होने से तू अभागी है; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी॥" (वि० १४०);

श्रीशिवजी इष्ट-द्रोह से निज द्रोही मानेंगे, इससे भी तुझे सुख नहीं मिलेगा; यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही।" (कि० दो० १६)।

हर कहँ हरिसेवक गुरु कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ ॥५॥
अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पियाये ॥६॥
मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुरु कर द्रोह करउँ दिन-राती ॥७॥
अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा ॥८॥

अर्थ—गुरुजी ने श्रीशिवजी को हरि सेवक कहा—यह सुनकर, हे खगराज ! मेरा हृदय जल उठा ॥५॥ अधम जातिवाला मैं विद्या पाने से ऐसा हो गया, जैसा (विषैला) सर्प दूध पिलाने से (अधिक विषैला) हो जाता है ॥६॥ अभिमानी, कुटिल, दुर्भाग्यवाला, कुजाति मैं दिन-रात गुरु से द्रोह करने लगा। ७॥ गुरुजी अत्यन्त दयालु थे, उनको किंचित् भी क्रोध नहीं था, वे बार-बार उत्तम ज्ञान की शिक्षा देते रहे ॥८॥

विशेष—(१) 'हृदय मम दहेऊ'—मैं श्रीशिवजी के समक्ष हरि की न्यूनता प्रतिपादन किया करता था, पर गुरुजी ने उसके सर्वथा विरुद्ध कहा कि श्रीशिवजी को ही हरि का सेवक कहा, सुनते ही मेरा हृदय जल गया। पुनः गुरु के प्रति परुष वचन आदि से प्रतिकार कर नहीं सका, इससे हृदय जलता ही रह गया ; यथा—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती।" (बा० दो० २७१) ; क्रोध से हृदय जलते हुए सोचता था कि ये गुरु कैसे ? जो इष्ट की न्यूनता कहते हैं, हमने तो पहले इन्हें विद्वान् समझा था, पर ये तो कुछ नहीं जानते, इत्यादि। क्रोध में ऐसी ही हीन बुद्धि हो जाती है।

गुरु पर ऐसी-ऐसी अयोग्य कल्पनाएँ क्यों हुईं ? इसपर कहते हैं—

(२) 'अधम जाति मैं···'—सर्प को दूध पिलाने से उसका विष बढ़ता है, दूध सात्त्विक वस्तु है, तमोगुण हारक है, पर कुपात्र के योग से विष बढ़ानेवाला हुआ। वैसे ही विद्या उत्तम वस्तु है, अज्ञान-हारक है। पर गुरुजी ने मुझ कुपात्र को पुत्रवत् मानकर विद्या पढ़ाई कि मेरा अज्ञान दूर हो। पर नीच जाति (कुपात्र) होने के कारण मेरी दुष्टता और भी बढ़ गई। पहले 'आन देव निंदक' था, अब हरिजन और विष्णु का भी द्रोही हो गया, यही विष बढ़ना है। सर्प पालनेवाले को ही काटता है, वैसे मैं 'गुरु कर द्रोह करउ दिन राती।' द्रोह करता कि ये कब मरें कि मेरा मान बढ़े।

आगे सर्प होने का शाप होगा, उसका बीज अभी से पड़ गया, सर्प की उपमा दी गई।

(३) 'मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती।'—'मानी'; यथा—"अहमिति अधिकाई।" (दो० १०४); आगे भी कहा है—"गुरु आयउ अभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।" (दो० १०६) ; धन का अभिमान, विद्या एवं अनन्य उपासना का भी अभिमान था। 'कुटिल'; यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई।" यह आगे कहा है। पाप बुद्धि होने से टेढ़ी चाल थी। 'कुभाग्य'; यथा—"तासु द्रोह सुख चहसि अभागी।" यह ऊपर कहा गया। मेरा कुभाग्य उदय हुआ। आगे शाप होना है, इससे मैं सदुपदेश को और ही भाँति समझता था। 'कुजाती'; यथा—"जनमत भयउँ सूद्र तनु पाई।" (दो० ९६); "अधम जाति मैं···" उपर्युक्त।

ये मानी आदि दोष ही गुरु-द्रोह के कारण हैं। उनसे मैं दिन-रात द्रोह करता था। तब भी उन्हें

'स्वल्प न क्रोध' हुआ। क्रोध होना स्वाभाविक था, यथा—"सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥" (दो० ११०)। पर उन्हें क्रोध नहीं आया, क्योंकि वे 'अति दयाल' थे।

अपनी कुटिलता और उसपर गुरु की अति दयालुता एवं उनका क्षमा शील स्वभाव भुशुंडिजी २७ कल्प तक नहीं भूले; यथा—"एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥" (दो० १०६)।

(४) 'पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा।'—यह गुरु धर्म है, इसका वे बराबर निर्वाह करते ही रहे।

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हति ताहि नसावा॥९॥
धूम अनल-संभव सुनु भाई। तेहिं बुझाव घन पदवी पाई॥१०॥
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥११॥
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥१२॥

अर्थ—नीच मनुष्य जिससे बड़ाई पाता है, वह हठ करके पहले उसी का नाश करता है॥९॥ हे भाई! सुनो, धुआँ अग्नि से उत्पन्न होता है, पर वही मेघ की पदवी पाकर (अर्थात् कई सयोगों से मेघ रूप में परिणत हो जाने पर अपने उत्पन्न करनेवाले) उसी अग्नि को बुझाता है॥१०॥ धूल मार्ग में पड़ी हुई निरादर से रहती है, सब (राह चलनेवालों) की लातों की मार नित्य सहती है (अर्थात् नित्य प्रति सबका लतियाना सहती है, नीच है करे क्या?)॥११॥ पर जब उसे पवन उड़ाता है (ऊँचा उठाता है, ऊर्ध्व गति देता है) तब पहले तो वह नीच धूल उसी को भर देती है; अर्थात् शुद्ध पवन को धूलमय (मैला) कर देती है, फिर राजाओं के (भी) नेत्रों और किरीटों में जाकर पड़ती है (धूम और रज की नीचता उपकारी के विरुद्ध में अधिक बढ़ जाती है)॥१२॥

विशेष—धूम नीच है, क्योंकि कड़वा होता है, मैला होता है, आँखों को हानिकर होता है और फिर अपने पैदा करनेवाले ही को नष्ट करता है। रज, यथा—"लातहु मारे चढ़त सिर, नीच को धूरि समान।" (अ० दो० २२६), धूम और रज का प्रसग बा० दो० ६ चौ० ९–१२ में भी देखिये।

धूम और रज दोनों आकाशगामी भी हुए, तब भी इनकी नीचता नहीं गई, प्रत्युत और बढ़ गई, अपने उपकारी के ही प्रतिकूल हुए। वैसे ही—"जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हठि ताहि नसावा।" अर्थात् मैं नीच यही चाहता था कि इन गुरु के रहते मेरी प्रतिष्ठा न जमने पायेगी, ये न रहें तो अच्छा।

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥१३॥
कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल नहि प्रीती॥१४॥
उदासीन नित रहिय गोसाँई। खल परिहरिय स्वान की नाँई॥१५॥
मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहहिं न मोहि सोहाई॥१६॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनिये, बुद्धिमान् लोग इस प्रकार इस बात को समझकर अधम का सग नहीं करते॥१३॥ कवि और पंडित ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्ट से न झगड़ा ही अच्छा है न प्रीति ही॥१४॥ हे

गोसाईं! खल से नित्य उदासीन (तटस्थ अर्थात् शत्रु-मित्र भाव से रहित) रहना चाहिये, उसका कुत्ते की तरह त्याग करना चाहिये ॥१५॥ मैं खल था, मेरे हृदय में कपट और कुटिलता भरी थी, गुरु हित की बात कहते थे, पर मुझे वह अच्छी नहीं लगती थी ॥१६॥

विशेष—(१) 'अस समुझि प्रसंगा'—'अस' जैसा ऊपर चौ० ९-१२ में कहा गया।

(२) 'कवि कोविद'—कवि अर्थात् काव्य ग्रंथों के रचयिता, कोविद अर्थात् उन ग्रंथों के भाष्यकार एवं वक्ता। 'खल सन कलह न भल नहिं प्रीती'—दुष्टों की प्रीति से कलंक होता है और उनके पापों का भागी होना होता है; यथा—"तत्संसर्गी च पंचमः" यह मनु ने कहा है और कलह करने से पीड़ा होती है। तब फिर निर्वाह कैसे किया जाय, उसपर कहते हैं—

(३) 'उदासीन नित···'—उनसे उपेक्षा भाव रहने दे, श्वान की तरह उनको दूर ही रहने दे। श्वान की उपमा से जनाया कि जैसे कुत्ता प्रीति करने से हाथ मुँह चाटता है, अशुद्ध कर देता है और वैर करने से काट खाता है, जिससे लोग मर भी जाते हैं। वैसे ही खल प्रीति करने से अपना-सा बनाते हैं, यथा—"आपु गये अरु तिन्हहूँ घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥" (दो० ११); और वैर करने से मार ही डालते हैं। श्वान चांडाल कहाता है, उसके छू जाने पर स्नान करना पड़ता है। वैसे खलों को अस्पृश्य समझना चाहिये। उनसे दूर रहना चाहिये। प्रभु ने श्रीमुख से भी कहा है, यथा—"भूलेहु संगति करिय न काऊ।" (दो० ४८)।

जगत् में तीन ही तरह के व्यवहार हैं—मित्रता, शत्रुता और उदासीनता; यथा—"उदासीन अरि-मीत हित···" (बा० दो० ४); इनमें खलों से उदासीनता ही रखनी चाहिये।

(४ 'मैं खल हृदय कपट···'—ऊपर गुरु द्रोह का कारण और उसपर नीति कही, अब फिर अपना प्रसंग जो—'पुनि पुनि मोहिं सिखाव सुबोधा।' पर छोड़ा था, वही लेते हैं—'गुरु-हित कहहिं न मोहिं सुहाई।' 'हृदय कपट कुटिलाई'—बाहर से तो उनका शिष्य कहाता था, पर भीतर से अपना मान बढ़ाने की इच्छा रहती थी कि गुरुजी भी मुझे श्रेष्ठ मानें, मेरे ही अनुकूल हो जायँ। इस बुद्धि से उनका उपदेश नहीं सुनता था।

दोहा—एक बार हर-मंदिर, जपत रहेउँ सिव-नाम।
गुरु आयउ अभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो दयाल नहिं कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु-अपमानता, सहि नहिं सके महेस॥१०६॥

अर्थ—एक दिन मैं श्रीशिवजी के मंदिर में श्रीशिवजी का नाम जपता था। (उस समय वहाँ) गुरुजी आये (पर) अभिमान के कारण मैंने उठकर उनको प्रणाम नहीं किया॥ वे दयालु थे (इससे मेरी इस धृष्टता पर) उन्होंने कुछ भी नहीं कहा और उनके हृदय में अत्यन्त अल्प भी क्रोध नहीं हुआ। (पर) गुरु का अपमान करना अत्यन्त भारी पाप है, इससे उसे महादेवजी नहीं सह सके॥१०६॥

विशेष—(१) 'सिव-नाम'—नाम और मंत्र अभेद माना जाता है; यथा—"षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युष्मादरं वरम्।" (मत्स्यपुराण); 'अभिमान ते'—यह नहीं कि ध्यान में रहा, आँखें मूँदे

हुए था, किन्तु देखते हुए भी अहंकार से नहीं उठा कि इनको यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसीसे इष्ट में इनकी निष्ठा नहीं है, तब ये गुरु कैसे ? मुझे यथार्थ ज्ञान है, मैं जप निष्ठ हूँ, यदि कुछ कहेंगे, तो यही कह दूँगा कि इष्ट का जप करते हुए किसी के आने पर नहीं उठना चाहिये।

(२) 'अति अघ'—शास्त्र में कहा है कि गुरुजनों के आने पर खड़ा न होने से एवं उनको प्रणाम न करने से आयु क्षीण होती है। द्विज-द्रोह, हरि-द्रोह आदि भारी अघ हैं और गुरु अपमान अति अघ है। इसके समान और पाप नहीं है। 'सहि नहि सके'—भाव यह कि 'अन्य देव निंदा', 'द्विज द्रोह', 'हरि द्रोह' तक सहते गये, पर इस अत्यन्त पाप को नहीं सह सके, क्योंकि 'महेस' अर्थात् महान् ईश (समर्थ) हैं, पाप का उचित दंड देने में महान् समर्थ हैं, और ईश्वर अर्थात् न्यायशील हैं।

मंदिर माँझ भई नभ-बानी। रे हतभाग्य अज्ञ अभिमानी ॥१॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा ॥२॥
तदपि साप सठ दैहउँ तोही। नीति-बिरोध सोहाइ न मोही ॥३॥
जौं नहि दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति-मारग मोरा ॥४॥

अर्थ—मंदिर के बीच में आकाशवाणी हुई कि अरे नष्ट भाग्य! अरे मूर्ख! अरे अभिमानी यद्यपि तेरे गुरु को क्रोध नहीं है, (क्योंकि) वे अत्यन्त कृपालु चित्त हैं और उन्हें परिपूर्ण ज्ञान है ॥१-२॥ तथापि रे शठ! मैं तुझको शाप दूँगा, क्योंकि नीति का विरोध मुझे नहीं सुहाता ॥३॥ अरे खल! यदि मैं तेरा दंड न करूँ, (तुझे दंड न दूँ) तो मेरा वेद मार्ग दूषित हो जायगा ॥४॥

विशेष—(१) 'मंदिर माँझ'—यह महाकालेश्वर श्रीशिवजी का मंदिर है। 'हत भाग्य', यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥" (दो॰ १०५), पुनः गुरु प्रसन्न होकर मेरी सेवा से तू सुख चाहता था, वह भाग्य तेरा गुरु अपमान करने से नष्ट हो गया, अब सुख तो गया, दुःख पावेगा। 'गुरु हित कहहिं न मोहि सुहाई।' अतः, 'अज्ञ' कहा गया है और गुरु को उठकर प्रणाम नहीं किया, इससे 'अभिमानी' कहा गया है। अपमान करने पर भी शिष्य के प्रति क्रोध नहीं किया, इससे 'अति कृपाल चित' कहा और 'सम्यक् बोधा' भी, सम्यक् अर्थात् यथार्थ, सत्य, यथा—"सत्य तथ्यमृतं सम्यक्—इत्यमर।" यथार्थ ज्ञान से सबमें ब्रह्म को समान भाव से देखते हैं कि वह न्यायशील सर्वज्ञ ब्रह्म ही सबके द्वारा सब कार्य कराता है, अतएव मानापमान को समान मानते हैं, उसकी ही उचित देन मानते हैं।

(२) 'जौं नहि दंड करउँ'—यदि कहा जाय कि जिसका अपमान हुआ वह तो कुछ कहता ही नहीं, आपको क्या प्रयोजन ? इसपर कहते हैं—यदि तेरा दंड न किया जायगा, तो मेरा वेद मार्ग दूषित होगा, सब यही कहेंगे कि धर्माचरण से क्या होता है ? देखो श्रीशिवजी के सामने ही तो इसने गुरु का अपमान किया तब भी इसका कुछ नहीं बिगड़ा। 'श्रुति मारग', यथार्थ—"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥" (भाग॰ ११।१७।२७)। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" (श्वे॰ ६।२३)। तो वेद में जो गुरु-द्रोही की घोर गति कही गई है, वह विश्वास योग्य नहीं है। 'मोरा'—जिस मार्ग पर मैं आरूढ़ हूँ और जिसे मैं अपना मार्ग मानता हूँ। श्रीशिवजी भी वेद-मार्ग के ही अनुयायी हैं, इससे उसे मेरा श्रुतिमार्ग कहते हैं। श्रुतिमार्ग का स्वरूप आगे कहते हैं—'जे सठ ।'

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥५॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा ॥६॥
बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खलमल मति व्यापी ॥७॥
महा-बिटप - कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई ॥८॥

शब्दार्थ—अयुत = दस हजार की संख्या, अगणित। कोटर = पेड़ का खोखला भाग, खोढर। अधगति = दुर्गति, अधोगति, नीच गति।

अर्थ—जो शठ गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे करोड़ों युगों तक रौरव नरक में पड़े रहते हैं ॥५॥ फिर (उस नरक से निकलने पर) तिर्यक् योनियों में शरीर धारण करते हैं और दस हजार जन्मों तक जन्म-जन्म-भर पीड़ा पाते हैं ॥६॥ अरे पापी! तू अजगर (सर्प) की तरह बैठा रहा, अरे दुष्ट! तेरी बुद्धि में पाप व्याप्त हो गया है, तू सर्प होगा ॥७॥ अरे अधम से भी अधम! अधोगति को पाकर बड़े भारी वृक्ष के खोढर में जाकर रह ॥८॥

विशेष—(१) 'जे सठ गुरु सन···'—यह वेद-शासन कहा गया कि कोई गुरु से ईर्ष्या नहीं करे, जो करेगा उसे 'रौरव नरक ··' यह दंड होगा।

(२) 'जे सठ'—जो सुनते जानते हैं, पर बात उनके हृदय मे नहीं बैठती, वे ही शठ हैं। ईर्ष्या अर्थात् बराबरी का अभिमान करना, डाह करना।

'रौरव नरक'—रुरु नाम के कीड़े महाक्रूर होते हैं, ये सर्पों से भी अधिक विषैले होते हैं, ये जिस नरक में रहते हैं उसे रौरव नरक कहते हैं। जो प्राणी इस पापी के हाथ से निरपराध मारे गये हैं, वे ही रुरु नाम के कीड़े होकर इससे बदला लेते हैं, वे इस पापी के मांस को चारों ओर से नोचते हैं। इस नरक का वर्णन भाग० ५।२६ में है।

(३) 'त्रिजग जोनि'—जिनके पेट का चारा तिरछा पचता है, वे तिर्यक् कहे जाते हैं। भाग० ३।१० में दस प्रकार की सृष्टियों में इन्हें आठवीं सृष्टि कहा है। इनके २८ भेद भी कहे गये हैं। इन्हें तीनों काल का ज्ञान नहीं होता, इनमें तमोगुण अधिक होता है, केवल आहार और मैथुन में तत्पर रहते हैं, सूँघने से ही इष्ट अर्थ को जानते हैं, इनके हृदय में विचार नहीं होता; यथा—"तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधोमतः। अविदोभूरितमसो घ्राणज्ञो हृद्यवेदिनः॥"। गऊ आदि द्विशफ कहाते हैं, क्योंकि इनके खुर बीच से फटे हुए होते हैं। गर्दभ आदि एकशफ कहे जाते हैं; क्योंकि इनके खुर बीच मे फटे नहीं होते। कुत्ता आदि भूचर और मगर आदि जलचर एवं कंक, गृध्र आदि खेचर, इन जन्तुओं की पंचनख संज्ञा होती है। ये एकशफ, द्विशफ और पंचनख ही उपर्युक्त २८ भेदवाले हैं।

'अयुत जन्म भरि···'—जन्म-मरण के दुःख और वैखरी वाणी नहीं होने का दुःख एवं और भी बहुत तरह के दुःख भोगते हैं। यहाँ तक वैदिक विधान कहा, आगे अपना शाप कहते हैं—

(४) 'बैठि रहेसि अजगर इव···'—अजगर सर्प बड़ा भारी और स्थूल होता है, इसीसे यह इधर-उधर हिल-डोल नहीं सकता, साँस द्वारा बकरी, हिरन आदि पशुओं को खींचकर निगल जाता है। यहाँ भाव यह है कि तू अजगर की तरह अचल बैठा रहा, गुरु के आने पर हिला-डोला नहीं। अतः, न

हिलनेडोलनेवाला ही सर्प (अजगर) होगा। अजगर भारी होने के कारण भारी वृक्षों के खोढर में रहते हैं, इससे यही स्थान भी कहा गया। प्राय आचरण के अनुसार ही शाप दिया जाता है, जैसे पक्षपात करने से श्रीभुशुंडिजी को पक्षी होने का शाप हुआ और मगर की तरह देवल ऋषि के पैर खींचने से हूहू गंधर्व ने मगर होने का शाप पाया, यह श्रीमद्भागवत गजेन्द्र प्रसंग में कहा गया है।

(५) 'मल गति व्यापी'—गुरु से द्रोह करना एव उनका अपमान करना मल (पाप) है। 'अधमाधम'—औरों से ईर्ष्या अधमता है, गुरु से ईर्ष्या महा अधमता है।

(६) 'अधगति'—मनुष्य होकर फिर नीच सर्प-योनि में जाना दुर्गति एव अधोगति है। या, शिर नीचे पूँछ ऊपर, इस तरह रह। जैसे त्रिशङ्कु की दशा प्रसिद्ध है। गुरु-द्रोही की ऐसी ही दशा होती है। गुरु सेवा से ऊर्ध्वगति पाता, उनसे विमुख हुआ। अत, अधोगति पायेगा।

दोहा—हाहाकार कीन्ह गुरु, दारुन सुनि सिव-स्राप।
कंपित मोहि बिलोकि अति, उर उपजा परिताप॥
करि दंडवत सप्रेम द्विज, सिव सनमुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद स्वर, समुझि घोर गति मोरि॥१०७॥

अर्थ—श्रीशिवजी का कठिन शाप सुनकर गुरुजी ने हाहाकार किया। मुझे अत्यन्त काँपता हुआ देखकर उनके हृदय में अत्यन्त दु ख हुआ॥ प्रेमपूर्वक दडवत् प्रणाम करके वे ब्राह्मण श्रीशिवजी के सम्मुख हाथ जोड़कर, मेरी भयकर गति समझकर, गद्गद वाणी से स्तुति करने लगे॥१०७॥

विशेष—'हाहाकार कीन्ह गुरु'—गुरु में जो अति दयालुता ऊपर कही गई थी, वह यहाँ चरितार्थ है कि अपने द्रोह करनेवाले का भी दु ख पड़ना नहीं सह सके। 'कंपित'—भय से काँपने का कारण यह है कि जिसके बल पर मैं देवान्तरों का अपमान करता था, जिसका अनन्य बनकर मैं किसी को कुछ नहीं मानता था, वही शाप देते हैं तो अब कौन रक्षक होगा? 'दारुन स्राप'—अधोगति एव घोर गति को दारुण शाप कहा गया है। 'उर उपजा परिताप'—जिसपर पुत्रवत् स्नेह था, उसकी मूर्खता से उसपर भारी विपत्ति देखकर दु ख हुआ, यह उनका सत लक्षण है, यथा—"निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहिं सत सुपुनीता॥" (दो० १२५)। 'सिव सम्मुख'—मंदिर में जो श्रीशिवजी मूर्त्ति रूप में थे उनके सामने, क्षमा कराने के लिये प्रेमपूर्वक गद्गद वाणी से विनय करने लगे।

छ०—नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं।
निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकालकालं कृपालं। गुणागार संसारपारं नतोऽहं।

शब्दार्थ—नमामीशमीशान = नमामि ईशम् ईशान। ईशान = शिवजी का एक नाम। निज = स्वतंत्र। निर्विकल्प = परिवर्तन-रहित, सदा एकरस, निर्विकल्प-समाधि-अवस्था में सदा रहनेवाले। चिदाकाश = चैतन्य आकाश = ज्ञान से आकाश के समान निर्लिप्त।

अर्थ—हे श्रीशिवजी! शासन करनेवाले, मोक्ष-स्वरूप, समर्थ, व्यापक, ब्रह्म और वेद-स्वरूप (आप) को मैं नमस्कार करता हूँ। स्वतंत्र, तीनों गुणों से रहित, निर्विकल्प, चेष्टा-रहित, चैतन्यता से आकाशवत् निर्लिप्त, आकाश में निवास करनेवाले (अनंत) आपको मैं भजता हूँ॥ निराकार, ओंकार के मूल, सदा तुरीयावस्था में रहनेवाले, वाणी, ज्ञान और इन्द्रियों से परे, ईश्वर, कैलासपति, भयंकर, महाकाल के भी काल (मृत्युजेता), कृपालु, गुणों के घर और संसार से परे, आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥

विशेष—यह छंद भुजंगप्रयात वृत्त है, इसके प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं। इस छंद के द्वारा स्तुति करने का भाव यह है कि आपके शाप से यह सर्प की गति को जाता है—भुजंग अर्थात् सर्प, प्रयात अर्थात् जाता है। इसपर कृपा कीजिये।

पुनः यगण का देवता जल है, इसी गण के छंद से स्तुति कर मानों श्रीशिवजी को जल चढ़ाकर प्रशान्त कर रहे हैं, क्योंकि वे इनके शिष्य पर क्रुद्ध हैं।

'ब्रह्म-वेद-स्वरूपं'—ब्रह्म प्रतिपाद्य है और वेद उसका प्रतिपादक है, आप दोनों रूप हैं। 'निजं' अर्थात् आप अपने आप हैं स्वतंत्र हैं। 'निर्विकल्पं'—आप सदा एकरस रहते हैं। 'ओंकार मूलं'—ओंकार (प्रणव) सबका मूल है, आप उसके भी मूल हैं। 'गिरा ज्ञान गोतीतं' आप हमारी वाणी, हमारे ज्ञान और हमारी इन्द्रियों की पहुँच से परे हैं। 'करालं महाकाल कालं' से शंका होती है कि इनकी सेवा कोई कैसे करेगा? उसपर 'कृपालं' भी कहा गया है कि भक्तों के लिये बड़े कृपालु हैं; यथा—"औढर दानि द्रवत पुनि थोरे" (वि॰ १); करालता और कृपालुता दोनों विरोधी बातें एक साथ दिखलाकर प्रभुत्व प्रतिपादन किया गया है। 'संसार पारं' अर्थात् प्रकृति से परे हैं, आपमें प्रकृति का सम्बन्ध नहीं है।

तुषाराद्रिसंकाशगौरं गभीरं। मनोभूतकोटिप्रभाश्रीशरीरं।
स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारु गंगा। लसद्भालबालेंदु कंठे भुजंगा।
चलत्कुंडलं भ्रू सुनेत्रं विशालं। प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं।
मृगाधीशचर्मांबरं मुंडमालं। प्रियं शंकरं सर्वनाथं भजामि।

शब्दार्थ—मनोभूत = कामदेव। श्री = शोभा। स्फुरत् = चलती हुई, शोभित।

अर्थ—हिमालय पहाड़ के सदृश गौरवर्ण, गंभीर, जिनके शिर के जटाजूट पर सुन्दरी श्रीगंगाजी कल्लोल करती हुई धीरे-धीरे चल रही हैं, करोड़ों कामदेवों की कान्ति (छटा) के समान शोभा जिनके शरीर में विराजमान है, ललाट पर द्वितीया का बाल चन्द्रमा और कंठ में सर्प शोभित है॥ कानों में कुंडल डोल रहे हैं, सुन्दर भौं हैं और विशाल नेत्र हैं, प्रसन्नवदन, नीलकंठ वाले, दयालु, बाघांबर धारी, मुंड-माल पहने हुए, सबके स्वामी एवं प्रिय श्रीशङ्करजी को मैं भजता हूँ॥

विशेष—'तुषाराद्रि'''—यहाँ स्वरूप का वर्णन है। गभीरं अर्थात् अगाध हैं; यथा—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥" (बा० दो० ५७); अर्थात् आप गांभीर्य-गुण युक्त हैं। 'प्रियं शंकरं'—सबके कल्याणकर्त्ता हैं, इसीसे सबको प्रिय हैं। 'प्रसन्नाननं' से अखंडानंद जनाया। 'नीलकंठं' के साथ 'दयालं' कहकर हालाहल पान करने की विरद का स्मरण कराया है। 'मुंड-मालं' आदि से भयंकर होने का संदेह होता, इसलिये 'प्रियं' भी कहा है। 'भजामि' के 'मि' को दीर्घ-उच्चारण करना चाहिये; अन्यथा छंदोभंग होगा।

प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं। अखंडं अजं भानुकोटिप्रकाशं।
त्रयः शूलनिर्मूलनं शूलपाणिं। भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यं।
कलातीत कल्याणकल्पांतकारी। सदा सज्जनानन्ददाता पुरारी।
चिदानंद - संदोह मोहापहारी। प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी।

शब्दार्थ—प्रकृष्ट=सबमें श्रेष्ठ, उत्तम। प्रगल्भ=प्रतिभाशाली, निर्भय।

अर्थ—प्रचंड (अत्यन्त तेज बलवाले), सबमें श्रेष्ठ, बड़े प्रतिभाशाली, परमेश्वर, अखंड, अजन्मा और करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशवाले, (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों प्रकार के शूलों (दुःखों) को निर्मूल करनेवाले, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए, भाव द्वारा भक्तों को प्राप्त होनेवाले, भवानी के पति, आपको मैं भजता हूँ॥ कलाओं से परे अर्थात् सर्वकलापूर्ण, कल्याण और कल्पान्त् (प्रलय) करनेवाले, सज्जनों को सदा आनंद देनेवाले, त्रिपुर के शत्रु, चिदानंद की राशि, मोह को नाश करनेवाले, मन को मथनेवाले कामदेव के शत्रु, हे प्रभो! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये॥

विशेष—(१) 'प्रगल्भं'—विद्या वाद आदि में किसी से न हारनेवाले, 'त्रय. शूल निर्मूलनं' के साथ 'शूलपाणिं' कहने का भाव यह कि तीनों शूलों को नाश करने के लिये ही आप त्रिशूल लिये रहते हैं। 'सज्जनानन्द दाता' के साथ 'पुरारी' कहने का भाव यह कि सज्जनों के सुख के लिये ही आपने त्रिपुर को मारा है। 'चिदानंद संदोह' होने से आप 'मोहापहारी' हैं। 'प्रसीद' के साथ 'मन्मथारि' कहने का भाव यह कि काम को दंड देकर फिर आपने उसपर प्रसन्नता भी की है, वैसे ही इसने अपराध पर दंड पाया, अब इसपर भी कृपा की जाय।

(२) 'अखंडं'; यथा—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव-शिष्यते॥" (ईश० १), अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है।

न यावद् उमानाथपादारविंदं। भजंतीह लोके परे वा नराणां।
न तावत्सुखं शांति संतापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं।
न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतोऽहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं।
जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो।

अर्थ—हे उमापति ! जब तक आपके चरण-कमलों को (मनुष्य) नहीं भजते, तब तक मनुष्यों को इस लोक में अथवा परलोक में सुख, शान्ति प्राप्ति और उनके संताप का नाश नहीं हो सकता। हे सब प्राणियों में निवास करनेवाले प्रभो ! प्रसन्न होइये ॥ न तो मैं योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। हे सब कुछ देनेवाले, कल्याण की उत्पत्ति करनेवाले शंभु ! मैं आपको सदा प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो ! बुढ़ापा, जन्म, (और मरण) के दुःख समूह से जलते हुए मुझ दुखी की रक्षा कीजिये, हे समर्थ शंभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥

विशेष—(१) यह स्तुति संस्कृत मिश्रित भाषा छन्द में है, इसीसे यहाँ 'नाशं', और 'वासं' शब्द ऊपर के द्वितीयान्त अनुप्रास के मिलान के अनुसार रक्खे गये हैं। संस्कृत के अनुसार 'नाशः' 'वासः' हैं। ऐसा ही 'शंभु तुभ्यं' अनुप्रास ही मिलाने के लिये है, नहीं तो 'त्वां' होता। भाषा में अर्थ की संगति से ठीक हैं। ऐसे ही 'कृपाल' 'दयालं' आदि भी भाषा की ही दृष्टि से हैं।

(२) 'सर्वभूताधिवासं' के साथ प्रसीद कहने का भाव यह कि आप सबके हृदय में बसते हैं, फिर भी जीव दुखी रहें, यह योग्य नहीं, अतएव आप प्रसन्न हों जिससे सबके दुःख दूर हों।

(३) 'न जानामि योगं ···'–इन सबका भरोसा मुझे कुछ नहीं है, केवल आपकी शरण हूँ, नमस्कार मात्र का भरोसा है।

(४) 'तातप्यमानं···'—अतिशयेन पुनः-पुनः तप्यमानं। आपन्न अर्थात् दुखी। 'सर्वदा' अर्थात् सब कुछ देनेवाले।

इस अष्टक में श्रीशिवजी की परब्रह्म रूप में स्तुति की गई है। यहाँ स्तुतिवाद प्रसंग है। कल्पान्तर में श्रीशिवजी के द्वारा भी सृष्टि के उत्पत्ति आदि तीनों कार्य पुराणांतर में पाये जाते हैं। वह महत्त्व लेकर स्तुति की गई है। सिद्धान्त विषय तो इन्हीं वैदिक मुनि ने शिष्य के तत्त्वोपदेश समय कहा है; यथा—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम पद होई ॥ रामहि भजहिं तात सिव धाता ॥" (दो॰ १०५) पूर्व "लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।" (लं॰ दो॰ १); पर भी लिखा जा चुका है। इसी युक्ति से लिंग-पुराण आदि का मत भी दिखा दिया गया है ; क्योंकि पूज्य ग्रंथकार का 'नाना पुराण निगमागम सम्मत···' भी कहने का संकल्प है। देवता के अन्य कल्प का परत्व भी स्तुतिवाद में कहा जाता है। ऐसे ही स्तुतिवाद के द्वारा बा० दो० ६७ एवं बा० दो० २३४ में शक्तिपरत्व भी कहा गया है, जिससे दुर्गा सप्तशती एवं कालिका पुराण आदि का मत आ गया।

श्लोक—रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये।
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शम्भुः प्रसीदति ॥

अर्थ—यह रुद्र भगवान् का अष्टक (आठ वृत्तों में किया हुआ स्तव) ब्राह्मण के द्वारा हर को प्रसन्न करने के लिये कहा गया है, जो मनुष्य इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं उनपर शंभु (श्रीशिवजी) प्रसन्न होते हैं।

विशेष—यह छंद भी भाषा का ही अनुष्टुप छंद है। क्योंकि 'तोषये' की जगह 'तुष्टये' संस्कृत से शुद्ध होता है। कई प्रतियों में 'तुष्टये' भी मिलता है, पर विशेष में 'तोषये' ही है। यह स्तुति श्रीशिवजी की प्रसन्नता के लिये की गई है, इसीसे भक्ति पूर्वक इसके पढ़ने से श्रीशिवजी का प्रसन्न होना इसका फल कहा गया है।

दोहा—सुनि बिनती सर्बज्ञ सिव; देखि बिप्र-अनुराग।
पुनि मंदिर नभ-बानी, भइ द्विजवर बर माँग॥
जौं प्रसन्न प्रभु मो पर, नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति देइ प्रभु, पुनि दूसर बर देहु॥
तव मायाबस जीव जड़, संतत फिरइ भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु, कृपासिंधु भगवान॥
संकर दीनदयाल अब, येहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहि, नाथ थोरेही काल॥१०८॥

अर्थ—सर्वज्ञ श्रीशिवजी ने विनय को सुना और (अपनेमें) ब्राह्मण का अनुराग देखा, तब मंदिर में फिर आकाशवाणी हुई कि हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! वर माँग॥ (ब्राह्मण बोले) हे प्रभो ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और, हे नाथ ! यदि आपका (मुझ) दीन पर स्नेह है तो, हे प्रभो ! पहले अपने चरणों की भक्ति देकर फिर दूसरा वर (और भी) दीजिये॥ आपकी माया के वश जीव जड़ होकर निरंतर भूला-भटका फिरता है। हे प्रभो ! हे कृपासागर ! हे भगवन् ! उस जड़ जीव पर क्रोध नहीं कीजिये॥ हे कल्याण करनेवाले और दीनों पर दया करनेवाले शंकरजी ! अब इसपर कृपालु होइये जिससे, हे नाथ ! थोड़े ही समय में इसका शाप अनुग्रह हो जाय॥१०८॥

विशेष—(१) 'देखि बिप्र अनुराग'—विप्र का मन, वचन, कर्म से अनुराग प्रकट है; यथा—'करि दंडवत'—कर्म, 'सप्रेम'—मन और 'गदगद स्वर' यह वचन का अनुराग है। स्तुति के पद-पद में अनुराग पूर्ण है। 'नभबानी'—जिस कथन में देवता या कहनेवाला आकाश (अन्तरिक्ष) में अदृश्य रहता है, उसे आकाशवाणी कहते हैं।

(२) 'जौं प्रसन्न···'—भाव यह कि जो मुझपर प्रसन्न हों तो अपने चरणों की भक्ति दीजिये और जो मुझ दीन पर स्नेह है, तो दूसरा वर भी दीजिये। यहाँ विप्र की सावधानता प्रकट है कि पहले भक्ति माँगी, तब प्रस्तुत विषय माँगने को कहा। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥" (दो० ८१-८४) देखिये।

(३) 'तव माया बस जीव जड ··', यथा—"तव माया बस फिरउँ भुलाना।" (कि० दो० १); "तव बिपम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (दो० १२); वे ही भाव यहाँ भी हैं। 'तेहि पर क्रोध न करिय'—भाव यह कि जड़ (अज्ञ) होने से वे दया के पात्र हैं, क्योंकि उन्हें भले बुरे का ज्ञान ही नहीं है। फिर आप 'प्रभु', 'कृपासिंधु' और 'भगवान' से हैं। भाव यह कि प्रभु होने से शापानुग्रह में समर्थ हैं, कृपासिंधु होने से कृपा करके क्षमा कर सकते हैं और भगवान् होने से जीवों की गति अगति के विधान में निपुण हैं एवं उन्हें ऐश्वर्य देने में भी समर्थ हैं। 'संकर' आप कल्याण करने में 'शं-कर' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः, इसका भी कल्याण करें।

यहाँ ब्राह्मण की निपुणता है कि स्वामी की आज्ञा भी रहे और शाप के अनुग्रह द्वारा इसका कल्याण भी हो। अन्यथा अयुत जन्म न जाने कब तक पूरे हों और कब तक यह रौरव नरक भोगे। अतः, 'थोर ही काल' में अनुग्रह माँगा।

यहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना ॥१॥
बिप्र-गिरा सुनि पर-हित-सानी। एवमस्तु इति भइ नभ-बानी ॥२॥
जदपि कीन्ह येहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह क्रोध करि सापा ॥३॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ येहि पर कृपा बिसेखी ॥४॥

अर्थ—हे कृपानिधान ! अब वही कीजिये जिससे इसका परम कल्याण हो ॥१॥ परोपकार में सनी हुई ब्राह्मण की वाणी सुनकर 'ऐसा ही हो' यह आकाशवाणी हुई ॥२॥ यद्यपि इसने अत्यन्त घोर पाप किया है और फिर मैंने इसे क्रोध करके शाप भी दिया है तथापि तुम्हारी साधुता देखकर इसपर विशेष कृपा करूँगा ॥३-४॥

विशेष—(१) 'परम कल्याना' शापानुग्रह होना कल्याण है और फिर यथार्थ बोध सहित भगवद्भक्ति होना परम कल्याण है, यही विधान आगे होगा। राम-भक्ति एवं अप्रतिहत गति आदि श्रीशिवजी ही देंगे।

(२) 'परहित सानी'—शिष्य ने बार-बार पहले अवज्ञा की थी, फिर उसने श्रीशिवजी के सामने भी अपमान किया और उसका फल पाया, ईश्वर विधान से भी उसका दोष सच्चा निकला, तब भी उसके ही उद्धार के लिये स्तुति की और वर माँगा, क्षमा कराई—यह पर-हित की काष्ठा है। 'एवमस्तु' में पूर्व के वरदान 'भक्ति याच्ञा' की भी सिद्धि हो गई।

(३) 'दारुन पापा'—गुरु-अपमान करना दारुण पाप है, इसका वैसा ही फल भी ऊपर श्रीशिवजी ने कहा है; यथा—"जे सठ गुरु सन···' इत्यादि। दारुण पाप देखकर क्रोध हुआ और शाप दिया गया, वैसे ही क्रम से कहा भी गया है।

(४) 'तदपि तुम्हारि साधुता देखी।···'—भाव यह कि इसके आचरण तो इस योग्य नहीं थे, पर मैं तुम्हारी साधुता देखकर प्रसन्न हुआ हूँ, इससे तुम्हारा कहा करूँगा। 'साधुता'; यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया ॥" (दो० १२०); पुनः—"संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥" (दो० ३६); यह श्रीरामजी का श्रीमुख वचन भी यहाँ चरितार्थ है। 'कृपा बिसेषी'—जितना तुमने माँगा उससे भी अधिक कृपा करूँगा—आगे 'औरउ एक आसिषा मोरी।···' आदि से प्रकट है। (यहाँ क्रोध कृपा का फल दे रहा है)।

छमासील जे पर-उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ॥५॥
मोर स्राप द्विज ब्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस अवश्य यह पाइहि ॥६॥
जनमत मरत दुसह दुख होई। येहि स्वल्पउ नहिं ब्यापिहि सोई ॥७॥
कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रमाना ॥८॥

अर्थ—हे द्विज ! जो क्षमाशील और पर-उपकार करनेवाले हैं, वे मुझे खरारि श्रीरामजी के समान प्रिय हैं।५॥ हे द्विज ! मेरा शाप व्यर्थ न जायगा, यह अवश्य सहस्र जन्म पायेगा ॥६॥ (परन्तु) जन्म लेते और मरते समय दुःसह दुःख होता है, वह इसे कुछ भी नहीं व्याप्त होगा ॥७॥ किसी जन्म में ज्ञान नहीं मिटेगा, हे शूद्र ! मेरा प्रमाण (सदा सत्य होनेवाला) वचन सुन ॥८॥

विशेष—(१) 'छमासील जे···'—क्षमा शील अर्थात् क्षमामय स्वभाव है, क्षमा का त्याग कभी नहीं होता। ऐसे संत और भगवंत मे अंतर नहीं है, इसी से खरारी के समान प्रिय कहा। क्षमाशीलता श्रीरघुनाथजी के समान अन्यत्र नहीं पाई जाती; यथा—"छमि अपराध छमाय पाँय परि इतो न अनत समाउ ॥" (वि० १००), इससे खरारी के समान प्रिय कहा। यह भी जनाया कि उसकी बात मैं कभी नहीं टालता और वह मुझे सब भावों से प्रिय है; यथा—"नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं।" (बा० दो० ७१), "सेवक स्वामि सखा सिय पी के।" (बा० दो० १४)। वा, यहाँ सेवकों को स्वामी के समान कहने में प्रेम मात्र में समता है।

(२) 'मोर स्राप द्विज व्यर्थ न जाइहि।···'—वचन की रक्षा करना सत्पुरुषों का लक्षण है और ऋषियों और देवताओं के शाप व्यर्थ नहीं होते, यह नियम भी जनाया। केवल उसके भोग मे सुलभता कर देंगे। 'जन्म सहस···'—भाव यह कि शाप अयुत जन्म के लिये हुआ था, उस दस हजार का एक हजार ही कर देंगे, यह अनुग्रह किये देते हैं। उसमें भी और अनुग्रह यह कि इसे जन्म-मरण समय के क्लेश नहीं व्याप्त होंगे और जो प्राणियों का जन्म लेते और मरते समय ज्ञान नष्ट हो जाता है, वह इसका नहीं होगा। सौ कल्पों का रौरव नरक नहीं होगा—यह विशेष कृपा है।

(३) 'जनमत मरत दुसह दुख होई।'—जन्म का कष्ट अत्यन्त दुःखद है, पहले तो असहाय जीव को माता के गर्भ में लम्बे समय तक भाँति भाँति के क्लेश होते हैं, फिर जन्म समय सकीर्ण योनि द्वार से निकलने मे असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जैसे सोनार सोने चाँदी के तार छेद मे डालकर पतला करता है वैसे ही यह योनि से निकाला जाता है; यथा—"आगे अनेक समूह ससृति, उदर गति जान्यो सोऊ। सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥ सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवही। कोमल शरीर, गँभीर बदन, सीस धुनि धुनि रोवही॥" "प्रेरयो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो। सो ज्ञान ध्यान विराग अनुभव जातना पावक दह्यो॥ अति खेद व्याकुल अल्प बल छिन एक बोलि न आवई। तव तीव्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हर्षित गावई॥" (वि० १३६)।

जन्म-समय का दुःख भाग० ३।३१।१–२३ में विस्तार से कहा गया है।

मृत्यु काल में भी महान् कष्ट होता है। कहते हैं कि हजार बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने पर जैसी वेदना होती है, वैसी ही मृत्यु काल में होती है। अथवा जैसे शरीर का चमड़ा उधेड़ने मे कष्ट हो, क्योंकि ऊर्ध्व श्वास पच प्राणों को एक साथ मिलाता है, सबको मिलाकर एक झटके से सबको एकदम शरीर से निकालता है।

मृत्यु काल का दुःख भी भाग० ३।३०।१४–२० मे विस्तार से कहा गया है।

(४) 'मिटिहि नहिं ज्ञाना'—पूर्व जन्म के ज्ञान से तात्पर्य है, इसमें संसार-दुःख की निवृत्ति हुई। 'सुनहि सूद्र'—अब शूद्र से कहने लगे कि जिससे उसका डर छूट जाय और उसका आश्वासन हो। 'बचन प्रमाना', यथा—"बोले गिरा प्रमान।" (बा० दो० १५१), "करि पितु वचन प्रमान।" (अ० दो० ५१)।

रघुपति-पुरी जन्म तव भयऊ। पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ ॥९॥
पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे ॥१०॥
सुनु मम वचन सत्य अब भाई। हरितोपन व्रत द्विज-सेवकाई ॥११॥
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना ॥१२॥

अर्थ—(एक तो) श्रीरघुनाथजी की पुरी में तेरा जन्म हुआ और फिर तूने मेरी सेवा में मन लगाया ॥९॥ पुरी के प्रभाव और मेरी दया से तेरे हृदय में राम-भक्ति उत्पन्न होगी ॥१०॥ हे भाई ! अब मेरा सत्य वचन सुन—ब्राह्मण-सेवा ही भगवान् को प्रसन्न करने का व्रत है ॥११॥ अब विप्र का अपमान मत करना, संत को भगवान् के समान जानना ॥१२॥

विशेष—(१) 'रघुपति-पुरी जन्म तव भयऊ।...'—उपर्युक्त प्रमाण वचन यहाँ से कहते हैं—पुरी में जन्म हुआ मानो सुक्षेत्र में बीज पड़कर जमा और अब हमारा अनुग्रह रूपी जल पाकर उत्तमा भक्ति उत्पन्न होगी; यथा—"संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (दो० ४५); "सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम-पद होई॥" (दो० १०५)।

ब्राह्मण की क्षमाशीलता पर इतने मुग्ध हैं कि वरदान-पर-वरदान देते जाते हैं, अघाते नहीं। राम-भक्ति का वर देकर फिर द्विज-सेवा की शिक्षा देते हैं कि जिससे फिर इस तरह की चूक न हो। द्विज-सेवा से जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं तब फिर उस भक्त का सँभाल रखते हैं, पुनः भय नहीं रह जाता। 'सत्य अब' का भाव यह कि यही बात पहले कही जाती तो तू सत्य न भी मानता, पर अब तो देख लिया कि तूने कपट से ही ब्राह्मण की सेवा की थी तो भी तुझे श्रीराम-भक्ति मिल रही है, यदि प्रेम भाव से करेगा, तो उसके फल का क्या कहना ?

(२) 'अब जनि करहि...'—भाव यह कि पूजा करनी चाहिये, न बन पड़े तो अपमान तो न करे। अभी तक जो किया सो किया, उसका फल भी देख लिया, अब न करना संत को भगवान् के बराबर ही मानना। संत, विप्र एवं गुरु के अपमान से शाप दिया गया, यदि वे ही तुमपर कृपा न करते, तो कौन गति हुई थी, समझ ले। इससे मेरे इन वचनों को सत्य मान और इन्हें दृढ़ रूप से धारण कर।

इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला ॥१३॥
जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्र-द्रोह-पावक सो जरई ॥१४॥
अस बिवेक राखेहु मन माहीं। तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥१५॥
औरउ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी ॥१६॥

अर्थ—इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल शूल, काल के दंड और विष्णु भगवान् के भयंकर चक्र ॥१३॥ इन सबके मारने पर भी जो नहीं मरता, वह भी विप्र द्रोह रूपी अग्नि से भस्म हो जाता है ॥१४॥ ऐसा विवेक मन में धारण कर रखना (इससे) तुमको संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा ॥१५॥ मेरा एक और भी आशीर्वाद है कि तेरी गति अप्रतिहत होगी, अर्थात् कहीं भी चाहोगे जा सकोगे, कोई तुम्हारी गति को

रोक नहीं सकेगा। गति का ज्ञान अर्थ भी होता है, आगे श्रीलोमशजी भी इनके ज्ञान को खंडन नहीं कर सकेंगे, यह भी इसी वर में है ॥१६॥

विशेष—(१) ऊपर विप्र सेवा का फल कहकर अब उनके अपमान का फल कहते हैं—

(२) 'इंद्र कुलिस···'—कुलिश से बढ़कर घातक त्रिशूल है, त्रिशूल से कालदंड और उससे भी अधिक कराल भगवान् का चक्र है। शत्रु विनाश के लिये इन आयुधों से बढ़कर संसार में और आयुध नहीं हैं।

(३) 'जो इन्हकर···'—इससे विप्रद्रोह की अत्यन्त भीषणता दिखाई; यथा—"जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा।" (कि॰ दो॰ १६)। पुन, बा॰ दो॰ १६४ में कपटी मुनि ने विप्रकोप पर बहुत कहा है—देखिये।

(४) 'अस बिवेक राखेहु···'—स्मरण रहने से चूक नहीं होगी। फिर विप्र की अनुकूलता से सब कुछ सुलभ होगा।

(५) 'औरउ एक आसिषा···'—यह अपनी ओर से विशेष कृपा है। गुरुजी की अनुमति से भी अधिक।

दोहा—सुनि सिववचन हरषि गुरु, एवमस्तु इति भाखि।
मोहि प्रबोधि गयउ गृह, संभु-चरन उर राखि॥
प्रेरित काल बिंधिगिरि, जाइ भयउँ मैं ब्याल।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु, तजेउँ गये कछु काल॥
जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ, नर परिहरइ पुरान॥
सिव राखी श्रुति नीति अरु, मैं नहिं पावा क्लेस।
येहि बिधि धरेउँ बिबिध तनु, ज्ञान न गयउ खगेस॥१०९॥

अर्थ—श्रीशिवजी के वचन सुनकर हर्षित होकर गुरजी 'एवमस्तु' कह और मुझे बहुत समझा श्रीशिवजी के चरणों को हृदय में रखकर घर गये॥ काल की प्रेरणा से मैं विन्ध्याचल में जाकर सर्प हुआ और फिर कुछ काल बीतने पर विना परिश्रम मैंने वह (सर्प) शरीर भी त्याग दिया॥ हे हरि-वाहन! जिस शरीर को भी मैं धारण करता फिर उसे विना परिश्रम ही छोड़ देता था, जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र छोड़ देता है और नया वस्त्र पहन लेता है॥ श्रीशिवजी ने श्रुति की नीति रक्खी और मैंने दुःख भी नहीं पाया। हे पक्षिराज! इस प्रकार मैंने तरह-तरह के शरीर धारण किये, (पर) मेरा ज्ञान नहीं गया॥१०९॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु इति भाषि'—यह गुरुजी का भी आशीर्वाद हुआ। 'मोहि प्रबोधि'—मेरा आश्वासन कर। 'संभु चरन उर राखि—यही वर माँगा था। अत, उसी मे प्राप्त होकर गये। 'प्रयास बिनु'—क्योंकि इसका वरदान ही मिला है—'येहि स्वल्पउँ नहिं व्यापहि सोई।', 'गयउ गृह'—उपसहार है, इसका उपक्रम—"गुरु आयउ अभिमान तें, उठि नहि कीन्ह प्रनाम।" (दो॰ १०६) है। 'हरषि गुरु'—पहले शिष्य की दशा पर परिताप हुआ था, स्तुति करने पर सफलता हुई, इससे हर्ष हुआ।

(२) 'जोइ तनु धरउँ '—पूर्व ज्ञान रहने से उन शरीरों मे आसक्ति नहीं हो पाती थी, समय पर उसे त्यागने मे हर्ष होता था कि शीघ्र हजार जन्म की पूर्ति हो जाय। जैसे वस्त्र उतारने और पहनने में श्रम नहीं होता, वैसे अनायास ही शरीरों का ग्रहण और त्याग होता था, यथा—"वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही॥" (गीता २।२२), इसका अर्थ दोहे से मिलता हुआ है।

(३) 'सिव राखी श्रुति नीति' यह उपसहार है, इसका उपक्रम—"भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा' है। यहाँ तक श्रीशिवजी ने अपना वचन पूरा किया। क्योंकि देवता सत्यवादी होते हैं। 'ज्ञान न गयउ'—ऐसा वर ही मिला था, यथा—"कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना।"। 'येहि विधि', यथा—'जिमि नूतन पट ··' पर कहा गया।

यहाँ उपर्युक्त 'मानस पुन्य होइ नहि पापा।' का चरितार्थ भी हुआ कि जब तक गुरु से मन मे द्रोह करते थे, कुछ न हुआ, जब कर्म से भी अपमान किया, तब शीघ्र ही दड मिला।

त्रिजग देव नर जोइ तनु धरऊँ। तहँ तहँ राम-भजन अनुसरऊँ॥१॥
एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥२॥
चरम देह द्विज कै मै पाई। सुर-दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥३॥
खेलउँ तहूँ बालकन्ह मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला॥४॥

अर्थ—तिर्यग्योनि और देवता, मनुष्य, (आदि के) जिस जिस शरीर को धारण करता था उस-उस शरीर में राम भजन करता था॥१॥ एक शूल मुझे कभी नहीं भूला—गुरुजी का कोमल शील-स्वभाव (अर्थात् यह दुःख हृदय से कभी नहीं गया, जो मैंने ऐसे गुरु का अपमान किया था)॥२॥ अतिम देह मैंने ब्राह्मण की पाई, यह देह देवताओं को भी दुर्लभ है—ऐसा वेद पुराण कहते हैं॥३॥ उस द्विज देह मे भी मैं बालकों मे मिलकर खेला करता था, (खेल मे भी) सब श्रीरघुनाथजी की लीलाएँ ही करता था॥४॥

विशेष—(१) 'त्रिजग देव नर '—पहले शाप से सर्प के हजार जन्म हुए, यह एव और भी तिर्यक् शरीरों के समाप्त होने पर पूर्व सुकृत के अनुसार देव तन मिला, जब पाप और पुण्य समान रह गये, तब मनुष्यों में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय होकर पीछे ब्राह्मण तन मिला। 'चरम' अर्थात् अतिम, पिछला। ऐसे ही श्रीजड़ भरतजी को भी और शरीरों के भोगने मे ज्ञान बना रहता था, उन्हें भी अतिम (चरम) देह ब्राह्मण ही की मिली, उसीसे सद्गति हुई, यथा—"चरमशरीरेण विप्रत्व गतमाहु॥" (भाग॰ ५।६ २), 'सुर दुर्लभ'—मनुष्य देह ही सुर दुर्लभ है। फिर ब्राह्मण देह का क्या कहना? 'खेलउँ तहूँ'—ज्ञान नहीं गया। गुरुजी और शिवजी के वचन स्मरण थे, इससे बचपन के खेल मे भी भगवान् ही का लीलानुकरण करता था।

(२) 'एक सूल···' का यह भी भाव है कि ऐसे स्वभाववाले गुरु से वियोग हुआ। इसका दुःख बना ही रहता है।

प्रौढ़ भये मोहि पिता पढ़ावा। समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा ॥५॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी ॥६॥
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी ॥७॥
प्रेममगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई ॥८॥

अर्थ—बड़ा होने पर मुझे पिता पढ़ाने लगे। मैं समझूँ, सुनूँ और विचार भी करूँ, तो भी (विद्या पढ़ना मुझे) अच्छा नहीं लगता था ॥५॥ मेरे मन से सब वासनाएँ भाग गईं (सांसारिक वासनाएँ नहीं रह गईं) केवल श्रीरामजी के चरणों में लय लग गई ॥६॥ हे श्रीगरुड़जी ! कहिये तो ऐसा कौन अभागी होगा कि जो कामधेनु को छोड़कर गदही की सेवा करे ? ॥७॥ (श्रीरामजी के) प्रेम में डूबा हुआ रहने से मुझे कुछ और नहीं सुहाता था, पिता पढ़ा-पढ़ाकर हार गये ॥८॥

विशेष—(१) 'समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।'—पिता सांसारिक स्वार्थ साधन की विद्या पढ़ाते थे। उसे समझता था, पिता का धर्म है कि पुत्र को अवश्य शिक्षा दें, इससे ये पढ़ाते हैं। अतः, उनके वचन सुन लेता था। पर विचार करने पर वह विद्या मेरे मन को नहीं भाती थी। क्योंकि वह लोक के पदार्थों की देनेवाली थी और मेरे मन से लौकिक वासनाएँ निवृत्त हो चुकी थीं। तब उन वासनाओं की पूर्त्ति करनेवाली विद्या में कैसे मन लगे ?

(२) 'केवल रामचरन लय लागी'—जैसे मृदंग-वीणादि बाजा और हस्तपाद आदि की गति राग में मिल जाने को लय कहते हैं। वैसे ही इन्द्रिय-मन आदि की वृत्ति प्रेम-पूर्वक प्रभु के चरणों में लगी, कभी अलग नहीं होती थी। यह लय दशा सब ओर से वासना हटने पर ही प्राप्त होती है ; यथा—"सकल बासना हीन जे, राम भगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिन्हहुँ किये मन मीन ॥" (बा० दो० २२); लय में एक रस तैल धारावत् अविच्छिन्न सुरति प्रभु में लगी रहती है।

(३) 'खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।'—मुंडकोपनिषद १।१।३-५ में कहा गया है कि दो विद्याएँ पढ़नी चाहिये। पहले अपरा विद्या चारो-वेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष आदि पढ़े, फिर परा विद्या पढ़े, जिससे परात्पर ब्रह्म जाना जाय। (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥) परा विद्या का निचोड़ राम-भक्ति है ; यथा—"भक्त्यामामभिजानातियावान्यश्चास्मि तत्वत.।" (गीता १८।५५) ; जिसे सिद्ध पदार्थ ही प्राप्त है, वह साधन-रूपा अपरा विद्या क्यों पढ़े ? उसमें लगना भाग्यहीनता है, अपरा विद्या तो इन्हें पूर्व जन्म की पढ़ी हुई स्मरण थी ही, श्रीशिवजी ने कहा ही था; यथा-'कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।' इनकी दृष्टि फल-रूपा परा विद्या पर ही रहती थी। कहा भी है—"कीबे कहा, पढ़िये को कहा ··" (क० उ० १०४) ; देखिये।

(४) 'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'—पिता का मुझपर बहुत स्नेह था, वे अपना उचित कर्त्तव्य करते थे कि बार-बार पढ़ाने से इसका मन लग जायगा। पर मैं प्रेममग्नता से उधर मन ही न देता था कि जिससे पिता उसका आग्रह न करें। 'हारेउ'—वे सफल मनोरथ नहीं हुए।

भये कालबस जब पितु - माता । मैं बन गयउँ भजन जन-त्राता ॥९॥
जहँ जहँ बिपिन मुनीश्वर पावउँ । आश्रम जाइ जाइ सिर नावउँ ॥१०॥
बूझउँ तिन्हहि राम - गुनगाहा । कहहिं सुनउँ हरषित खगनाहा ॥११॥
सुनत फिरउँ हरिगुन अनुवादा । अव्याहत गति संभु - प्रसादा ॥१२॥

अर्थ—जब माता-पिता मर गये तब मैं जन रक्षक (श्रीरघुनाथजी) का भजन करने के लिये बन में चला गया ॥९॥ वन में जहाँ-जहाँ मुनीश्वरों को (सुन) पाता था, उनके आश्रमों में जा-जाकर उनको प्रणाम करता था ॥१०॥ हे श्रीगरुड़जी ! उनसे मैं श्रीरामजी के गुणों की कथा पूछा करता था, वे कहते थे और मैं हर्ष सहित सुना करता था ॥११॥ (इस तरह) हरि गुणानुवाद (अनुवाद अर्थात् बार-बार कथन) सुनता हुआ फिरा करता था । श्रीशिवजी की कृपा से मेरी अव्याहत गति थी (अर्थात् इच्छा मात्र से जहाँ चाहता, वहाँ पहुँच जाता था, बिना परिश्रम और बिना रोक-टोक के सर्वत्र पहुँच जाता था) ॥१२॥

विशेष—(१) 'भये कालबस जब पितु माता ।...'—भाव यह कि जीतेजी उनकी सेवा को अपना कर्त्तव्य समझकर घर नहीं छोड़ा, अन्यथा उन्हें दुःख होता । श्रीनारदजी भी दासी पुत्र होने पर ऐसी ही प्रतीक्षा में थे, माता के मरने पर घर छोड़कर वन को गये । 'जन त्राता'—पहले घर में पुत्र के रक्षक माता पिता भी रहते हैं । घर छूटने पर भगवान् ही उसके रक्षक रह जाते हैं, वे अपने जन की सर्वत्र रक्षा करते हैं—यह भरोसा रखकर मैं वन को गया । इससे 'जन त्राता' कहा गया है । पुनः वन एकान्त एवं सात्विक स्थल होने से भजन का उत्तम स्थल है, इससे वहाँ गया कि वहाँ सत्संग भी विशेष प्राप्त होगा, वही आगे कहते हैं—'जहँ जहँ बिपिन...'

(२) 'सुनउँ हरषित'—श्रीरामचरित सुनकर हर्ष होना ही चाहिये ; यथा—"कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । सुनि हरि चरित न जो हरषाती ॥" (बा० दो० ११२) । यहाँ तक इनकी दो भक्तियाँ हुईं—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥" (आ० दो० ३४) ।

'हरिगुन अनुवादा' ; यथा—"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम-संभेदाय..." (बृ० ४।४।२२) ; अर्थात् (वही ब्रह्म) सब (श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी आदि) को भी अपने वश में रखनेवाला है, सबका शासन करनेवाला है, सबका अधिपति है । वह अच्छे कर्म से न तो बड़ा होता है और न असत्कर्म से छोटा । यह सबका ईश्वर है, यह सबका मालिक है, यह सबका पालक है, यह (सबका पार लगानेवाला) सेतु (पुल) है, इन भूर्भुवः लोकों की रक्षा के लिये इनका धारण करनेवाला है । एवं—"स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।" (वाल्मी० १।१।१७) ; "गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।" (वाल्मी० २।१।१२) ; तथा—"गुन सागर नागर बर बीरा ।" (बा० दो० २४० ; "निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं ।" से "राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ" (उ० दो० १०–१२), इत्यादि ।

छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी । एक लालसा उर अति बाढ़ी ॥१३॥
रामचरन - बारिज जब देखउँ । तब निज जन्म सफल करि लेखउँ ॥१४॥

जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूतमय अहई ॥१५॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई ॥१६॥

अर्थ—तीनों प्रकार की प्रबल (सुत, वित, लोक) एषणाएँ (इच्छाएँ) छूट गईं और केवल एक यही लालसा हृदय में अत्यन्त बढ़ी ॥१३॥ कि जब श्रीरामजी के चरण-कमलों के दर्शन पाऊँ तब अपना जन्म सफल हुआ समझूँ ॥१४॥ जिस मुनि से पूछता था वही ऐसा कहता था कि ईश्वर सर्वभूतमय है ॥१५॥ यह निर्गुण मत मुझे नहीं सुहाता था, हृदय में सगुण ब्रह्म पर बहुत प्रीति बढ़ती जाती थी ॥१६॥

विशेष—(१) 'त्रिविधि ईषना गाढ़ी'—इनसे छुटकारा पाना दुष्कर है, इससे 'गाढ़ी' कहा है; यथा—"सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥" (दो० ७०)—देखिये। यहाँ इनकी शुद्ध मुमुक्षुता कही गई है। 'सर्वभूतमय'—ईश्वर जड़-चेतन सबमें व्यापक है; यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥" (बा० दो० १८४); "देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान ॥" वि० १००), इत्यादि। आकाशवत् सर्व व्यापक है, यही सर्वान्तर्यामी भाव जानना उसका दर्शन है। 'निर्गुन मत नहिं…'—'ईस्वर सर्वभूतमय अहई' यही निर्गुण मत है, वह मुझे नहीं सुहाता था। 'सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई' एवं 'रामचरन बारिज जब देखउँ' यह लालसा सगुण ब्रह्मरति है। श्रीशिवजी के प्रसाद से श्रीरामजी में भक्ति तो पूर्व ही उत्पन्न हो चुकी। वह अब दिनोंदिन बढ़ने लगी कि जिनमें कृपा, वात्सल्य आदि गुण पूर्ण हैं, ऐसे मनोहर रूपवाले प्रभु के कब दर्शन हों? 'तब निज जन्म सफल करि लेखउँ'—भाव यह कि सामान्य भक्ति भी करने से जन्म-सफलता नहीं होती, जब तक प्रभु के दर्शन न हों; यथा—"आजु सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा ॥" (बा० दो० ३५१), प्रभु के दर्शनों की लालसा दिन दूनी रात-चौगुनी बढ़नी चाहिये।

(२) 'जेहि पूछउँ सोइ…'—इससे जान पड़ता है कि उस समय सगुणोपासक मुनीश्वर थोड़े थे और निर्गुण मतवाले अधिक थे। या, वे मुनि लोग अभी इन्हें अधिकारी नहीं समझते थे।

दोहा—गुरु के बचन सुरति करि, राम-चरन मन लाग।
रघुपति-जस गावत फिरउँ, छन छन नव अनुराग ॥
मेरु-सिखर बटछाया, मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिर नायउँ, बचन कहेउँ अति दीन ॥
सुनि मम बचन बिनीत मृदु, मुनि कृपाल खगराज।
मोहि सादर पूछत भये, द्विज आयहु केहि काज ॥
तब मैं कहा कृपानिधि, तुम्ह सर्बग्य सुजान।
सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु भगवान ॥११०॥

अर्थ—गुरुजी के वचन स्मरण कर श्रीरामजी के चरणों में मन लग गया। मैं क्षण-क्षण नवीन प्रेम से श्रीरघुनाथजी का यश गाता फिरता था और क्षण-क्षण पर मेरे हृदय में नये-नये अनुराग उत्पन्न होते थे॥ सुमेरु पर्वत के शिखर पर बरगद की छाँह में, लोमश मुनि को बैठे देखकर मैंने उनके चरणों में शिर नवाया और अत्यन्त दीन वचन कहे॥ मेरे अत्यन्त नम्र कोमल वचन सुनकर, हे गरुड़जी! कृपालु मुनि ने मुझसे सादर पूछा कि हे ब्राह्मण देव! आप किस कार्य के लिये आये हैं? तब मैंने कहा कि हे कृपानिधान! आप सर्वज्ञ और सुजान हैं। हे भगवन्! मुझसे सगुण ब्रह्म की उपासना कहें॥११॥

विशेष—(१) 'गुरु के वचन'…—निर्गुण मत न सुहाने का कारण कहते हैं—गुरुजी ने कहा था—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई॥ रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कै केतिक बाता॥" (दो० १०५); पुनः श्रीशिवजी के वरदान पर भी गुरुजी ने 'एवमस्तु' कहा था, जिससे 'राम-भगति उपजिहि उर तोरे।' यह गुरु-वचन सिद्ध है। इससे निश्चय हो गया कि मुझे अवश्य करके श्रीरामजी की अविरल भक्ति प्राप्त होगी। इस दृढ़ विश्वास से राम-भक्ति में ही मन लगा।

(२) 'मुनि लोमस'—"ये मुनि पुराणों के अनुसार अमर माने गये हैं।" (हिन्दी-शब्द-सागर); यथा—"चिर जीवन लोमस ते अधिकाने।" (क० उ० ४१); कहा जाता है कि ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं। जब एक ब्रह्मा मरते हैं, तब ये अपना एक रोम (लोम) उखाड़कर फेंक देते हैं कि क्षण-क्षण में कौन भद्र हो (बाल बनवावे)? इसीसे इनकी ख्याति लोमश नाम से है।

(३) 'वचन कहेउँ अति दीन'—यह आर्त्त अधिकारी का लक्षण है; यथा—"गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥" (बा० दो० १०९); यहाँ आर्त्त होकर प्रश्न किया क्योंकि ये महान् ऋषि हैं और पूर्व कई स्थलों से निराश हो चुके हैं। फिर भी यह विश्वास है कि जब मुझे श्रीरामजी में प्रीति उपज रही है तो उनके दर्शन अवश्य होंगे। न जाने उन मुनि लोगों ने मुझे अनधिकारी समझकर तो सगुणोपासना नहीं कही, इससे यहाँ उत्तम अधिकारी बनकर प्रश्न किया।

(४) 'वचन विनीत मृदु'—उपर्युक्त 'अति दीन' वचन का ही यह विशेषण है। दीन वचनों से मुनि को दया आई और उन्होंने सादर पूछा।

(५) 'तब मैं कहा'…—दया करके सादर पूछा, इससे 'कृपानिधि' कहा है। आप 'सर्वज्ञ' हैं, अतः, मेरे मन की भी जानते हैं। 'सुजान' हैं; अतः, मेरे अभीष्ट सगुण ब्रह्म की आराधना भी भली प्रकार जानते हैं। 'भगवान्' विशेषण से उन्हें ऐश्वर्यवान् सूचित किया। षडैश्वर्यों में दो-तीन ऐश्वर्य भी जिसमें होते हैं उसे भी आदरार्थ भगवान् कहा जाता है। ऐसे ही परतत्त्व की जिज्ञासा करते हुए युधिष्ठिरजी ने व्यासजी को भी कहा है; यथा—"भगवन्योगिनां श्रेष्ठ…" (रामस्तवराज श्लोक ३)। 'अवराधन' अर्थात् आराधना, उपासना।

तब मुनीस रघुपति-गुन-गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा॥१॥
ब्रह्म-ज्ञान-रत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥२॥
लागे करन ब्रह्म-उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥३॥

अर्थ—तब (मेरे पूछने पर) हे खगराज! मुनिश्रेष्ठ ने आदरपूर्वक कुछ रघुपति के गुणों की कथा कही॥१॥ ब्रह्म-ज्ञान में सदा लीन रहनेवाले वे विज्ञानी मुनि मुझे परम अधिकारी जानकर॥२॥ ब्रह्म का

उपदेश करने लगे कि वह अजन्मा, अद्वितीय, निर्गुण और हृदय का ईश्वर है, अर्थात् अंतर्यामी रूप से हृदय में रहकर प्रेरणा करता है ॥३॥

विशेष—(१) 'कहि कछुक'—कुछ ही क्यों कहा ? इसका कारण आगे कहते हैं कि वे—'ब्रह्म ज्ञान रत ' अर्थात् एक तो वे ब्रह्म ज्ञान में रत विज्ञानी थे, दूसरे उन्होंने मुझे परम अधिकारी जाना। अपना सिद्धान्त कहना सबको अनुकूल होता है और उसके योग्य परम अधिकारी के लक्षण भी मुझमें उन्होंने देखे कि यह ब्राह्मण शरीर है और इसे वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा उठी है। ब्रह्म विद्या के अधिकारी के लक्षण, यथा—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय ॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥" (मुण्डक० १।२।१३), अर्थात् उस साधन के लिये उद्यत, अच्छी तरह से शांत चित्तवाले, वासना त्यागी शिष्य के लिये जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो, वह यथार्थ ब्रह्म विद्या का विद्वान् गुरु उपदेश करे।

(२) 'लागे करन ब्रह्म-उपदेसा ।'—पहले सगुण के कुछ चरित कहकर कहा कि यह लीला माया से ही है। ब्रह्म अपनी माया को ग्रहण कर यह चरित करता है। शुद्ध ब्रह्म तो—'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा' आदि विशेषणों से विशिष्ट है।

'अज अद्वैत · ' से 'बारि बीचि इव गावहिं बेदा।' तक ब्रह्म उपदेश है, इसी को आगे 'निर्गुन मत' भी कहा है यथा—"निर्गुन मत मम हृदय न आवा।" यहाँ के 'अज' आदि विशेषणों के भाव पूर्व कहे गये हैं।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव-गम्य अखंड अनूपा ॥४॥
मन-गो-तीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी ॥५॥
सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव गावहि बेदा ॥६॥

अर्थ—(वह) कला, चेष्टा, नाम और रूप (इन सबसे) रहित है, अनुभव से जानने योग्य है, अखण्ड है, उपमा रहित है ॥४॥ मन और इन्द्रियों से परे है, निर्मल है और विनाश रहित है। विकार रहित, सीमा रहित और सुख की राशि है ॥५॥ वेद कहते हैं कि तू वही है, उसमें और तुझमें भेद नहीं है। जैसे जल और जल की लहर में (भेद नहीं है) ॥६॥

विशेष—(१) 'अकल'—वह घटता बढता नहीं कि आज दो वर्ष का है कल चार का। 'अनीह'—उसमें किसी प्रकार की चेष्टा नहीं होती। 'अनाम अरूपा'—नाम रूप भौतिक एवं परिमित वस्तु के होते हैं, वह तो चिति मात्र है, अतएव 'अनुभव गम्य'—अनुभव से ही जाना जाता है कि वह 'अखंड' अर्थात् सर्वत्र एक रस पूर्ण है। 'अनूपा'—उसे किसी उपमा से नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि उसके समान कोई उपमा नहीं है, इत्यादि और विशेषणों के भाव पूर्व आ गये हैं।

(२) 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। '—जो तत्त्व ब्रह्म है वही तू है। वह—"प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी ॥" (दो० ७१) है, वैसे तू भी यमादि साधनों से प्रकृति पार (तीन अवस्थाओं और तीन गुणों से पर) होकर 'निरीह बिरज अबिनासी' ब्रह्म के समान हो जायगा। जैसे वह 'तुरीयमेव केवलम्' है वैसे तू भी कैवल्य मुक्त स्वरूप हो जायगा। सेवक बनने की क्या आवश्यकता है?

इसे निर्गुण मत कहा है, क्योंकि प्रकृति पार (गुणातीत) इसका होना फल है। आगे 'बारि बीच इव' से भी तात्त्विक एकता ही सिद्ध की गई है। जैसे जल और उसकी लहर एक तत्त्व हैं, जल ही जल हैं, वैसे ही जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक हैं, जैसे वायु की उपाधि से ऊँचा उठने से लहर भिन्न रूप में देख पड़ती है। वैसे ही वासना रूपी उपाधि से जीव भिन्न प्रकारों में देख पड़ते हैं, वासना ध्वंस से कैवल्य स्वरूप होकर उपर्युक्त रीति से अभेद हो जाते हैं। अभेद का अर्थ तुल्य रूपता का है, आगे स्पष्ट है; यथा—'जीव कि ईस समान।' (दो० १११)।

'सो तैं' यह 'तत्व मसि' का अर्थ है। इसपर काकजी का जो सिद्धान्त है, वह आगे 'उत्तर प्रति उत्तर' में कहा जायगा।

बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा ॥७॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा ॥८॥
राम-भगति-जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ॥९॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया ॥१०॥

अर्थ—मुनि ने मुझे अनेक प्रकार से समझाया, पर निर्गुण मत मेरे हृदय मे नहीं बैठा ॥७॥ चरणों में शिर नवाकर मैंने फिर कहा कि हे मुनीश्वर ! मुझसे सगुण ब्रह्म की उपासना कहिये ॥८॥ राम-भक्ति रूपी जल मे मेरा मन मछली हो रहा है, (तब) हे चतुर मुनीश्वर ! (यह उससे)-कैसे अलग हो सकता है ? ॥९॥ दया करके वही उपदेश कीजिये जिससे मैं श्रीरघुनाथजी को अपनी आँखों से देखूँ ॥१०॥

विशेष—(१) 'मम हृदय न आवा'—भाव यह कि हृदय में तो सगुण उपासना का भाव है, निर्गुण मत के लिये जगह कैसे मिल सकती है ? जब कि दोनों की परिस्थिति अन्योन्य विरुद्ध है।

(२) 'पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा'—मुनि एक बार पहले सगुण परक विषय कह चुके, इससे निश्चय हुआ कि वह विषय जानते हैं, इससे फिर प्रार्थना की, नहीं तो न करते। 'पुनि' का भाव यह कि एक बार पहले—"सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु भगवान।" यह कह चुके हैं, अब दोबारा फिर कहा। मुनि की बात काटकर बीच में अपनी बात कहना धृष्टता है, इससे क्षमा के लिये 'नाइ पद सीसा' कहा है। पहले 'सगुन ब्रह्म अवराधन' कहा था और यहाँ 'सगुन उपासन' कहा, इस तरह दोनों को एकार्थी जनाया।

(३) 'राम भगति जल···'—पहले 'सगुन उपासन' कहा था, उसी को यहाँ 'राम भगति जल' कहा है और इसके विरुद्ध मे निर्गुण मत को सूखा स्थल जनाया। इन्द्रियों के विषय जल रूप कहे गये हैं; यथा—"विषय बारि मन मीन···" (वि० १०२); वैसे ही अत्यन्त प्रेम पूर्वक मन ने सब इन्द्रियों के विषय श्रीरामजी को ही बना लिया है। अत, उनसे पृथक् होना इसके लिये वैसे ही दुष्कर है जैसे जल से मछली का पृथक् होकर जीना। इस तरह अपनेको अत्यन्त आर्त्त अधिकारी जनाया कि मुनि मुझे अधिकारी जानकर अवश्य कहें। मीन का जल मे सच्चा स्नेह है—दोहावली ३१७-३१८ देखिये। 'प्रवीना'—भाव यह कि आप तो चतुर हैं विचार करें कि मछली जल से अलग नहीं जी सकती। अतः, उसे जल में ही रखना उचित है।

शंका—जब इनका स्नेह मीनवत् था ही, तो जिज्ञासा की क्या आवश्यकता ?

समाधान—अभी इन्हें श्रीरामजी के साक्षात् दर्शन नहीं हुए, उसके लिये तड़प रहे हैं, इससे भक्ति की पूर्णावस्था नहीं प्राप्त हुई, इससे आवश्यकता है।

(४) 'सोइ उपदेस कहहु···'—आर्त्त पर दया करनी चाहिये। अतः, दया करके वही उपदेश कीजिये, जिसके लिये पूर्व प्रार्थना की गई है; यथा—"रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सफल करि लेखउँ॥" (दो० १०१); भाव यह है कि सगुण उपासना का मुख्य तात्पर्य यही है—'निज नयनन्हि देखउँ' अनुभव से एवं ध्यान से नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष देखूँ।

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥११॥
मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा। खंडि सगुन मत अगुन निरूपा॥१२॥
तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥१३॥
उतर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि-तन भये क्रोध के चीन्हा॥१४॥

अर्थ—पहले अवधपति श्रीरामजी को नेत्र भर देखकर तब निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुनूँगा॥११॥ मुनि ने फिर अनुपम हरिकथा कहकर सगुण मत का खंडन कर निर्गुण मत का निरूपण (प्रतिपादन) किया॥१२॥ तब मैं निर्गुण मत को दूर (खंडन) कर बहुत हठ करके सगुण मत का निरूपण करता॥१३॥ मैंने उत्तर प्रति-उत्तर किया, अर्थात् उत्तर पर उत्तर दिया, (तब) मुनि के शरीर में क्रोध के चिह्न उत्पन्न हुए॥१४॥

विशेष—(१) 'भरि लोचन बिलोकि···'—आँख भर देखना जहाँ कहा जाता है, वहाँ दर्शनों की अत्यंत लालसा समझी जाती है, यही इन्हें है, इसीसे बार-बार दर्शनों ही को कहते हैं—(१) 'रामचरन बारिज जब देखउँ।···' (२) 'सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु···' 'सगुन उपासन कहहु···' (३) 'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥" (४) 'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब···।'

'तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा।'—मुनि ने दो बार प्रार्थना पर भी इनकी बात नहीं सुनी और अपना ही पक्ष कहते रहे तब श्रीभुशुंडिजी ने अपने अभीष्ट पर उन्हें लाने का यह तीसरा उपाय किया कि आपके कैवल्य साधन में भी तो "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" (यो० सू० १।२३) के अनुसार उपासना कही गई है। अतः, चित्त शुद्धि के लिये भी मुझे प्रथम सगुण ब्रह्म अवधेश श्रीरामजी के दर्शनों का उपाय कहिये, तब फिर आकर निर्गुण उपदेश सुनूँगा।

यह कथन वास्तव में व्यंग्य से उपेक्षा परक है, जैसे कहीं सत्संग में कोई अपनी ही कविता की बार-बार बड़ाई करके उसी को बार-बार सुनाता है। तब कोई आवश्यक प्रसंग रुका हुआ देखकर लोग कह देते हैं कि अच्छा मैं इसे चलते समय नोट कर लूँगा, अब अमुक प्रसंग होने दीजिये। अन्यथा विचार किया जाय कि जब श्रीकाकजी को सगुण के साक्षात् दर्शन भी हो गये। तब श्रीलोमशजी के पास निर्गुण-उपदेश लेने के लिये क्या काकजी आये? २७ कल्प तो बीत गये। पूर्व बिना पहचान के आये थे, अब तो गुरु का नाता भी हो गया है। पर सगुण-दर्शन के पीछे श्रीकाकजी ने निर्गुण मत की चर्चा भी नहीं की। क्यों करें? जनक-विश्वामित्र संवाद बा० दो० २१५ देखिये, तथा—"ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोचननि

अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।" (गी॰ या॰ ५१); "अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये।" (जानकीमंगल ४५); अर्थात् निर्गुण के ब्रह्मानंद की अपेक्षा सगुण-दर्शन का आनंद सौ गुणा है।

(२) 'मुनि पुनि कहि हरिकथा···'—जैसे पूर्व—'कहे कछुक रघुपति गुनगाथा' का प्रसंग कहा गया। वैसे ही फिर कहा और फिर उसका खंडन करके निर्गुण मत को ही सिद्धान्त किया कि सगुण में हानि-लाभ, शोक-मोह आदि व्यवहार प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तब वह उपासकों के चित्त के विकार कैसे शुद्ध करेगा? पुनः अवतार किसी निमित्त से होता है, फिर पीछे निर्गुण ही में उसका पर्यवसान होता है। अतः, वह अनित्य है, निर्गुण नित्य एक रस रहता है। अतः, निर्गुण का ही ध्यान श्रेष्ठ है। शीघ्र मुक्ति देने-वाला है, सगुण की उपासना से बहुत काल में कहीं चित्त-शुद्धि होती है, फिर निर्गुण-उपदेश से ही कैवल्य पद मिलता है, इत्यादि।

(३) 'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी।···'—पहले तो मैंने विनीत जिज्ञासु रूप में ही प्रश्न किया, फिर भी आर्त्त भाव से प्रार्थना पूर्वक प्रश्न किया: किन्तु जब वे समाधान न करके मेरे इष्ट पक्ष का खंडन ही करते रहे, तब मैंने विचारा कि मैं तो इन्हें आचार्य मानकर प्रश्न करता हूँ और ये विपक्षी बनकर मेरे इष्ट पक्ष का खंडन करते हैं। मुझे शक्ति भर अपने इष्ट की न्यूनता न सहनी चाहिये, ऐसा विचार कर मैंने निर्गुण मत को खंडन करके दूर कर दिया और फिर उन्हीं प्रमाणों से हठ पूर्वक सगुण को सर्वोपरि निरूपण करने लगा।

(४) उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा'—मुनि ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ रूप में 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव···' कहा है, मुनि का अर्थ इस अर्द्धाली के प्रसंग में कहा गया। श्रीभुशुंडिजी ने प्रति-उत्तर रूप में ऐसा अर्थ किया कि—वाक्य के गूढ़ अभिप्राय प्रकट करने के लिये ही उपमा दी जाती है। 'बारि बीचि इव' यह उपमा 'तत्त्वमसि' के भाव को प्रकट कर देती है। तत्-त्वं-असि अर्थात् वही-तू है। इसका अर्थ श्रुति के प्रकरण के अनुसार करना चाहिये, पूरी श्रुति इस प्रकार है; यथा—"स य एषोऽणिमैत-दात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छां॰ ६।८।७); अर्थात् वह जो यह अणिमा है एतद्रूप (ब्रह्मात्मक) ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेत केतो! वही तू है। इसके पूर्व की श्रुति "यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन ··" (छां॰ ६।१) में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण कहा गया। उसी को आगे "सदेव सौम्य···" (छां॰ ६।२) इस श्रुति में 'सत्' संज्ञा से कहा गया। पुनः "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (छां॰ ६।२।३)। में 'तत्' शब्द से कहा गया। (यह भूमिका में स्पष्ट किया गया है)। उसी 'तत्' शब्द से कहे हुए सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को यहाँ भी 'तत्' शब्द से कहा है और 'त्वं' शब्द श्वेत केतु के लिये है। अत., 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ—वह ईश्वर तू है। सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीव का प्रत्यक्ष ऐक्य देखा नहीं जाता। अतः, सत्यवादिनी श्रुति का अभिप्राय यहाँ कुछ विशेष अर्थ से है—वह यह कि जो 'सत्' एक है वही अनेक प्रकार का हुआ और जैसा एक है वैसा ही अनेक है। एक का नाम 'सत्' ही उचित है और उसी के अनेक होने पर अनेक का एक ही 'ब्रह्म' ऐसा नाम चल सकेगा। जब आकार भिन्न हुए तब व्यवहार के लिये उन आकारों के भिन्न-भिन्न नाम रक्खे गये। जैसे इससे पूर्व के 'मृत्पिण्ड' के विकारों के नामों के दृष्टान्त से कहा गया है।

स्पष्टार्थ यह हुआ कि जो 'सत्' प्रलय में एक ही था—वही तू (श्वेतकेतु आदि जो नाना हुए हैं) है। सत् चिदचित् से विशिष्ट और तू भी चिदचित् से विशिष्ट है जगत् के सब व्यष्टि आकार चिदचित्-विशिष्ट ही हैं। प्रत्येक प्राणी देह (अचित्) जीवात्मा (चित्) और अंतर्यामी ब्रह्म (ईश्वर) से विशिष्ट रहते हैं। शरीरी ब्रह्म के प्राधान्य से शरीर रूप चिदचित् भी ब्रह्म संज्ञा से कहे जाते हैं। इस तरह श्वेत केतु

को ब्रह्म का शरीर एवं नियाम्य कहकर गुरुजी ने उसका अहङ्कार दूर किया कि शरीर के गुण, विद्या आदि के वैभव शरीरी के ही हैं, शरीर रूप जीव को उनका अभिमानी नहीं होना चाहिये। यह प्रसंग उद्दालक महर्षिजी ने अपने पुत्र श्वेत केतु के विद्या के अहंकार दूर करने के लिये ही छेड़ा था।

इस तरह ईश्वर के अंशभूत अनंत जीव उसके शरीर हैं। जैसे जल से लहरें उठती हैं, फिर उसीमें लय हो जाती हैं। वैसे ही ईश्वर से जीवों के द्वारा सृष्टि होती है, फिर प्रलय में सब जीव उसी ईश्वर में प्राप्त होते हैं।

जैसे जल और लहर एक तत्त्व हैं; वैसे ब्रह्म और जीव दोनों सच्चिदानंद स्वरूप हैं। जल से लहर है, लहर से जल नहीं। वैसे ही ईश्वर से जीव की सत्ता है। जीव से ईश्वर की नहीं; यथा—"मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्वयस्थितः।" (गीता ९।४): अर्थात् जीव अंश है। जल एक, लहरें अनन्त, वैसे ही ईश्वर एक और जीव अनन्त; यथा—"सत्यपि भेदाऽपगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रोहि तारंगः॥" अर्थ—हे नाथ! हमारे और आपमें भेदों के नाश होने पर भी आपका मैं हूँ, आप मेरे (अंश) नहीं है। जैसे समुद्र का तरंग है, समुद्र से उत्पन्न है; किन्तु तरंग से समुद्र उत्पन्न नहीं है।

इस दृष्टान्त के अनुरोध से अंश-अंशी, आधार-आधेय आदि सम्बन्ध जीव और ईश्वर में सिद्ध हैं।

लोमशजी का अभिप्राय यह था कि तरंग की उपाधि दूर होने से वह जल ही हो जाता है। वैसे ही साधन द्वारा वासना ध्वंस होने पर जीव भी ब्रह्म के समान भाव में कैवल्य मुक्त हो जाता है, यह आगे भुशुंडिजी के "जीव कि ईस समान" इस आक्षेप वचन से स्पष्ट है। किन्तु भुशुंडिजी यह सिद्ध करते हैं कि जीव ईश्वर का अंश है उसके ही आधार पर इसकी स्थिति-प्रवृत्ति है। अतएव उसकी उपासना करना ही इसका धर्म है। जैसा—'तज्जलानितिशान्तमुपासीत।' इस श्रुति के आधार पर दो० ६२ में कहा गया। बराबर बनने की चेष्टा करना धृष्टता है, अतएव आपका मत अग्राह्य है।

पुनः जो आपने कैवल्य साधक को शीघ्र मुक्त होना कहा वह भी ठीक नहीं; गीता १२।१–७ देखिये। वहाँ कैवल्य साधक (अव्यक्त-उपासक) को अत्यन्त क्लेश और उसकी सिद्धि अत्यन्त दुःख से कही गई है। साथ ही सगुणोपासक की सुगम और 'अचिरात्' अर्थात् अल्पकाल में ही सिद्धि कही गई है। सगुणोपासक के हरि-रक्षक रहते हैं और कैवल्य को स्वयं सब विघ्नों का सामना करना पड़ता है; यथा—"ज्ञानहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥" (आ० दो० ४३); अतएव आपका मत क्लेशप्रद, दुःख से साध्य एवं सविघ्न होने से अग्राह्य है। इत्यादि बहुत प्रकार के प्रत्युत्तर से उनके मत का खंडन किया।

'मुनि तनु भये क्रोध के चीन्हा।'—भाव यह कि मननशील मुनि थे, पर क्रोध इतना हो आया कि उसे वे भीतर नहीं रख सके, उनके शरीर में क्रोध के चिह्न प्रकट हो गये। नेत्र लाल हो गये, शरीर पर ललाई आ गई, होठ फड़कने लगे, इत्यादि।

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये ॥१५॥
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई ॥१६॥

अर्थ—हे प्रभो! सुनिये, बहुत अनादर करने से ज्ञानी के हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है॥१५॥ यदि कोई चंदन की लकड़ी को (आपस में) अत्यन्त रगड़े तो उससे (भी) आग प्रकट हो जाती है॥१६॥

विशेष—(१) ज्ञानी चंदन काष्ठ के समान शीतल होते हैं। पर जैसे चंदन भी काष्ठ है। अतः, उसमें गुप्त रूप में अग्नितत्त्व रहता ही है, वैसे ज्ञानी भी देहधारी हैं। अतः, रज-तम आदि गुणों के सूक्ष्मांश शरीर धारण पर्यंत दवे हुए रहते हैं। उनके विकार काम-क्रोध आदि को वे शमदम आदि गुणों से दवाये रहते हैं। ये अति विषय पाकर प्रकट हो जाते हैं ; यथा—"विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥" (दो॰ १२१) ; चंदन में अत्यन्त रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही ज्ञानी भी सामान्य अवज्ञा पर क्रोध नहीं करते, जब अति हो जाता है, तब वे क्रोध को नहीं रोक सकते।

(२) 'सुनु प्रभु···'—यद्यपि आगे श्रीभुशुंडिजी स्वयं कहेंगे—"नहि कछु रिषि दूषन।···लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी ॥" तथापि परिस्थिति के अनुकूल समाधान करना यहाँ ठीक ही है ; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (आ॰ दो॰ ३८)।

दोहा—बारंबार सकोप मुनि, करइ निरूपन ज्ञान।
मैं अपने मन बैठ तब, करउँ बिबिध अनुमान ॥
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायावस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान ।१११॥

अर्थ—मुनि बार-बार क्रोध सहित ज्ञान का निरूपण करते थे, तब मैं अपने मन में बैठे-बैठे अनेक प्रकार के अनुमान करता था ॥ कि विना द्वैतबुद्धि के क्या क्रोध हो सकता है ? और द्वैत क्या विना अज्ञान के हो सकता है ? (अतः,) माया के वश, परिमित (अणु-स्वरूप) और जड़ जीव क्या ईश्वर के समान हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं ॥१११॥

विशेष—(१) 'क्रोध कि द्वैत···'—अर्थात् अज्ञान से द्वैत होता है और द्वैत से क्रोध होता है। ज्ञान के विरुद्ध वृत्ति को अज्ञान कहते हैं। ज्ञान ; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥" (आ॰ दो॰ १४) ; अर्थात् सबमें परमात्मा को समान देखने से द्वैत भाव नहीं रहता। सब जीव भगवान् के शरीर हैं। अतः, जीवों के द्वारा सुख-दु.ख की प्राप्ति उन-उन कर्मानुसार भगवान् की प्रेरणा से होती है। प्रभु सर्वज्ञ एवं न्यायशील हैं; अत., सब ठीक ही करते हैं। ऐसा विचार रहने से किसी से भी शत्रु-मित्र आदि भाव नहीं होते। क्योंकि फिर कोई जीव प्रीति-वैर का कर्त्ता नहीं रह जाता।

द्वैत तो नानात्व दृष्टि से होता है ; यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी ॥" (वि॰ ११३) ; अर्थात् जननी आदि इन सब रूपों के द्वारा सब प्रकार से हित करनेवाले आप ही हैं ; ये सब आपके ही शरीर हैं। इस ऐक्य दृष्टि के विरुद्ध द्वैत-रूप अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् सत्तावान मानने पर उन-उनके ऋणी होने से तमकूप (अज्ञान-मय भवकूप) में पड़ूँगा, इस द्वैत रूप अज्ञान से रक्षा का यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है।

तात्पर्य यह कि नानात्व दृष्टि ही अज्ञान है, उसीसे द्वैत होता है और द्वैत से क्रोध ; यथा—"जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत-जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा ॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हे बरियाईं। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं ॥" (वि॰ १२४)।

(२) 'मायापस परिछिन्न जड़...'—ईश्वर स्वतंत्र है, माया उसके वश है, जीव मायावश है, यथा—"यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा." (बा॰ मं॰ श्लोक ६)। पुन ईश्वर विभु (व्यापक) है, अतएव अपरिछिन्न (अपरिमित) है, और जीव स्वरूपत. अणु होने से परिमित है, इसीसे बद्ध मुक्त होनेवाला है, ईश्वर-विमुख होने से बद्ध होनेवाला और सम्मुख होने से मुक्त होनेवाला है तथा मायावश होकर देहाभिमानी होने पर अपनेको देहमात्र मानते हुए भी परिच्छिन्न होता है। जड़ प्रकृति के परिणाम रूप देह में तन्मय (मज्ञानिष्ठ) होने से जड़ भी कहा जाता है और ईश्वर नित्य चिद्रूप है। तब परतंत्र जीव स्वतंत्र ईश्वर के समान कैसे हो सकता है ?

लोमशजी सिद्ध ज्ञानी हैं, फिर भी इन्हें क्रोध आ गया। उसपर विचार करने लगे कि इन्हें भी अज्ञान हुआ, तभी द्वैत बुद्धि हुई और उसी से इन्होंने क्रोध किया। सारांश यह कि मायावश परिच्छिन्न और जड़ जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता। जीव का ज्ञान सदा एकरस नहीं रह सकता, संयोगवश खंडित हो सकता है और ईश्वर तो अखंड ज्ञान है, इसका निर्णय पहले हो आया, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावश्य जीव सचराचर॥ जौं सब के रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥" (दो॰ ७७)—यह प्रसंग देखिये।

जीवों को अज्ञानी से ज्ञानी और ज्ञानी से अज्ञानी बनाना ईश्वर के हाथ है, यथा—"बंध मोच्छ-प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव॥" (अ॰ दो॰ १५); "जो चेतन कहँ जड़ करै, जड़हिं करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥" (दो॰ ११९), अर्थात् जीव और ईश्वर में परतंत्र-स्वतंत्र भेद है। वह कभी भी ईश्वर के समान नहीं हो सकता।

ईश्वर जो प्रकृति पार (निर्गुण) है, यह स्वाभाविक है और इसके प्रकृति पार (गुणातीत) होने के लिये जो (भक्ति हीन) कैवल्य ज्ञान का साधन है, वह भी हरि-कृपा से ही प्रारम्भ होता है, यथा—"सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि-कृपा हृदय बस आई॥" (दो॰ ११६) यह भी घुणाक्षर न्याय से सिद्ध होता है, क्योंकि साधक परिच्छिन्न (परिमित) शक्तिशाली है। इससे जीव ईश्वर के समान नहीं है।

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥१॥
परद्रोही की होहिं निसंका। कामी पुनि कि रहहि अकलंका॥२॥
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे॥३॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभगति पाव कि पर-त्रियगामी॥४॥

अर्थ—सबका हित चाहने से क्या कभी दुःख हो सकता है ? जिसके पास पारसमणि है क्या उसे दारिद्र्य (कंगाली) का दुःख हो सकता है ?॥१॥ क्या दूसरे से द्रोह रखनेवाला शंका-रहित हो सकता है ? और क्या कामी कलंक-रहित रह सकता है ?॥२॥ क्या ब्राह्मण का अनभल करने से वंश रह सकता है ? क्या अपने स्वरूप के पहचानने पर कर्म हो सकते हैं ?॥३॥ क्या दुष्ट के संग से किसी में सुन्दर बुद्धि उत्पन्न हुई है ? क्या पर स्त्री गामी शुभ (कल्याण) गति पा सकता है ?॥४॥

विशेष—(१) 'कबहुँ कि दुख ...'—सबका हित करना धर्म है, यथा—"परहित सरिस धर्म नहि भाई।" (दो॰ ४०), धर्म से सुख होता है—दो॰ २० देखिये।

'तेहि कि दरिद्र'''; यथा—"हरहु दरिद्रहि पारस पाये।"-(अ० दो० २०१); 'परद्रोही की होहि निसंका।'—जो दूसरे से वैर करता है, उसे स्वयं भी शत्रु के प्रतिकार का भय रहता है ; यथा—"ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहुँ मन विश्राम। भूत द्रोहरत'''" (लं० दो० ७७)।

(२) 'बंस कि रह'''; यथा—"दहइ कोटि कुल भूसुर रोसू।" (अ० दो० १२५); "जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।" (कि० दो० १६). क्योंकि "तप-बल बिप्र सदा बरियारा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा॥" (बा० दो० १६४)। ब्रह्म-कुल-द्रोही भगवान् को भी नहीं सुहाता; यथा—"मोहि न सुहाइ ब्रह्म-कुल-द्रोही॥" (आ० दो० ३१)।

'कर्म कि होहिं'' '—स्व-स्वरूप ज्ञान होने पर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसे आत्म-सुख में ही संतोष रहता है; यथा—"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥" (गीता ३।१७); यथा—"जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इन्द्रियगन उपजे ज्ञाना॥" (कि० दो० १४); किन्तु ज्ञानी को भी लोक-संग्रह के लिये कर्म करना कहा गया है ; यथा—"लोक-संग्रह मे वापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥" (गीता ३।२०), "कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥" (गीता ३।२५); अर्थात् ज्ञानी निर्लिप्त भाव से कर्म करता है, तो वह कर्म उसे फल-प्रद नहीं होता, जैसे भूना हुआ अन्न अंकुरित नहीं होता ; यथा—"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥" (गीता ४।१९); अतः, 'होहिं' का दूसरा अर्थ 'फल-प्रद होहिं' भी होगा।

'कामी पुनि कि रहइ'''—अर्थात् कामी को कलंक (अपयश) होता ही है। आगे कहा है—"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।" इससे जाना गया कि कामी होना पाप है ; यथा—"परद्रोही परदार रत, परधन पर अपवाद। ते नर पाँवर पापमय'''" (दो० ३९)।

'काहू सुमति कि'''; यथा—"को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥" (अ० दो०२३); "बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥" (कि० दो० १५)।

'सुभगति पाव कि'''—ऊपर कामी को कलंक लगना कहकर उसका इहलोक बिगड़ना कहा गया कि उसे लोक में अपयश होता है और यहाँ उसकी शुभगति (सुगति) अर्थात् उसके परलोक का बिगड़ना कहा है, क्योंकि पर-स्त्री गमन से धर्म नाश हो जाता है ; यथा—"कुतोऽभिलषिणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।" (वाल्मी० ३।९।५), अर्थात् धर्म-नाशक पर-स्त्री संसर्ग की तो आपने अभिलाषा ही नहीं की यह श्रीसीताजी ने श्रीरामजी से कहा है। उपर्युक्त 'कामी' और यहाँ का 'पर-तिय-गामी' दोनोंएक ही हैं, पर दो जगहों में दो बातें कही गई हैं—'कामी' के प्रसंग से लोक बिगड़ना और 'परतियगामी' के प्रसंग से परलोक बिगड़ना कहे गये हैं—इससे पुनरुक्ति नहीं है।

'कबहुँ कि दुख''' से 'धर्म कि दया-सरिस हरि-जाना।' तक १८ दृष्टान्तों से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जैसे ये सब अमुक-अमुक कारण से ही होते हैं, वैसे ही बिना अज्ञान के द्वैत और द्वैत बिना क्रोध नहीं होता। अतः, क्रोधवश होने से मुनि का ज्ञान खंडित हो गया, तब ये अखंड ज्ञान ईश्वर के समान कैसे हैं ? (पुनः इन नाना कारणों से नाना प्रकार के विकारों को प्राप्त होनेवाला जीव स्वाभाविक निर्विकार नित्य एकरस रहनेवाले ब्रह्म के समान कैसे हो सकता है ?)

भव कि परहिं परमात्मा बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरि निंदक॥५॥
राज कि रहइ नीति बिनु जाने। अघ कि रहहिं हरिचरित बखाने॥६॥

पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ॥७॥
लाभ कि कछु हरि-भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना ॥८॥
हानि कि जग येहि सम कछु भाई। भजिय न रामहि नर-तनु पाई ॥९॥

अर्थ—क्या परमात्मा को जाननेवाले एवं प्राप्त करनेवाले भव में पड़ते हैं ? क्या भगवान् की निंदा करनेवाले कभी सुखी होते हैं ? ॥४॥ क्या बिना नीति जाने राज्य रह सकता है ? क्या भगवान् के चरित कीर्त्तन से पाप रह सकते हैं ? ॥६॥ क्या पुण्य के बिना पवित्र यश होता है ? क्या बिना पाप के कोई अपयश पाता है ? ॥७॥ क्या हरि-भक्ति के समान दूसरा कोई लाभ है कि जिसे वेद, संत और पुराण गाते हैं ? ॥८॥ हे भाई ! क्या संसार में इसके समान कोई हानि है कि मनुष्य-शरीर पाकर (भी) श्रीरामजी का भजन न करे ? ॥९॥

विशेष—(१) 'भव कि परहिं···'—वे तो मुक्त हो जाते हैं; यथा—"जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।" (अ० दो० १२६); हरि-निंदक सुखी नहीं होते; क्योंकि—"हरि-गुरु-निंदक दादुर होई। जनम सहस्र पाव तनु सोई॥" (दो० १२०), जनमत मरत दुसह दुख होई।" (दो० १०८); 'राज कि रहइ नीति बिनु जाने।'; यथा—"राज नीति बिनु धन बिनु धरमा।···नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥" (आ० दो० २०)। 'अघ कि रहहिं···'- हरि-चरित पापों का नाशक है; यथा—"समन पाप संताप सोक के।" (बा० दो० ३१)।

(२) 'पावन जस कि···'—यश अपावन भी होता है, कुकर्म एवं पाप वृत्ति से भी यश होता है जैसे रावण आदि का यश। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीपरशुरामजी को व्यंग्य से गर्भ के बालकों को मारने पर कहा है; यथा—"लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा।···" (बा० दो० २७३)। यह अपावन यश है। इससे कहा है—कि पावन यश पुण्य कर्म से ही होता है।

(३) 'लाभ कि कछु···'; यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं० दो० २५); अर्थात् यह सर्वोपरि लाभ है। यदि कोई कहे कि हम लाभ बिना ही रहेंगे ! उसपर आगे हानि भी दिखाते हैं—'हानि कि जग···'—नर-तन-हरि भजन के लिये ही मिलता है; यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पीके।" (वि० १७५); यदि इस तन से भक्ति नहीं की तो भगवान् की निर्हेतु कृपा से प्राप्त यह अमूल्य पदार्थ व्यर्थ गया। इन्द्रियाँ भक्ति में न लगेंगी, तो विषय में तो रत रहेंगी ही, उसपर कहा है—"नर-तनु पाइ बिषय···ताहि कबहुँ भल···" (दो० ४३-४४) देखिये।

अघ कि पिसुनता सम कछु आना। धर्म कि दया-सरिस हरिजाना ॥१०॥
येहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ ॥११॥

अर्थ—चुगली के समान क्या कोई और पाप है ? हे हरि-वाहन ! दया के समान क्या कोई और धर्म है ? ॥१०॥ इस प्रकार मैं अगणित युक्तियाँ मन में विचारता रहा और मुनि का उपदेश आदर-पूर्वक नहीं सुनता था (अर्थात् वे बकते जाते थे और मैं उसपर कान न देता और न उधर दृष्टि ही रखता था) ॥११॥

विशेष—(१) 'पिसुनता' का अर्थ चुगली है और यह निंदा का भी उपलक्षक है। अतः, "पर-निंदा सम अघ न गिरीसा।" (दो० १२०) से विरोध नहीं।

(२) 'येहि विधि अमित···'—'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु···' की पुष्टि में जैसी ये १८ युक्तियाँ कही गईं, वैसी अगणित युक्तियों को उस समय मैं विचारता रहा। थोड़ी-सी युक्तियाँ संकेत के लिये कह दीं, इसी प्रकार की अगणित युक्तियाँ वहाँ मन में आई थीं।

तात्पर्य यह कि जैसे ये सब कार्य विना कारण के नहीं होते, वैसे विना अज्ञान के द्वैत और द्वैत बुद्धि विना क्रोध नहीं हो सकता। यहाँ की १८ युक्तियों पर कहा जाता है कि मानों ये १८ पुराणों के सार सिद्धान्त हैं।

पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा ॥१२॥
मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि ॥१३॥
सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सब ही ते डरही ॥१४॥

अर्थ—मैंने बारबार सगुणोपासना का ही पक्ष आरोपण (स्थापित) किया, तब मुनि कुपित होकर कोपयुक्त वचन बोले ॥१२॥ अरे मूढ़ ! मैं तुझे परम (सर्वोत्तम) शिक्षा देता हूँ, तू उसे नहीं मानता और बहुत से उत्तर और प्रत्युत्तर देता है ॥१३॥ तू सत्य वचन पर विश्वास नहीं करता, कौए की तरह सभी से डरता है ॥१४॥

विशेष—(१) पहले जब 'उत्तर प्रति उत्तर' किया था, तब तो मुनि के तन पर क्रोध के चिह्न ही देख पड़े थे। पुनः फिर-फिर सगुण पक्ष के आरोपण करने से वे कोपयुक्त हो गये। इससे सिद्ध हुआ कि वे अपने पक्ष में परास्त हो गये, उत्तर न बनने पर क्रोध हुआ और फिर क्रोध से कठोर वचन बोले, (जो आगे कहा है); यथा—"क्रोध के परुष वचन बल" (अ० दो० ३८); इस तरह उत्तरोत्तर क्रोध की वृद्धि हुई। मुनि के मन, तन, वचन—तीनों में क्रोध की प्रवृत्ति हुई—"उपज क्रोध ज्ञानिहुँ के हिये।"—मन, "मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा।"—तन और "बोले बचन सकोपा।" यह वचन है।

(२) 'परम सिख'—अर्थात् निर्गुण मत ही परम शिक्षा है, इसीसे परम हित होता है और यही सत्य वचन है, यह आगे कहते हैं। इससे सूचित करते हैं कि सगुण मत न परम शिक्षा है और न सत्य वचन ही। यह मुनि का चरम प्रयास है। 'न मानसि' अर्थात् परम शिक्षा का अनादर करता है, उससे अपना अनहित मानता है। 'आनसि'—युक्ति ही नहीं ; किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी ला-लाकर (उत्तर में) देता है।

(३) 'बायस इव···' ; यथा—"काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥" (अ० दो० ३०१), अर्थात् हमसे डरता है कि बहकाकर हमारा अमूल्य जीवन ठग लेंगे। छल मय वचनों से मुझे ठग न लें।

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥१५॥
लीन्ह स्राप मैं सीस चढ़ाई। नहि कछु भय न दीनता आई ॥१६॥

अर्थ—अरे शठ ! तेरे हृदय में अपना बड़ा भारी पक्ष है, तू शीघ्र चांडाल पक्षी हो जा ॥१५॥ मैंने शाप को शिर पर चढ़ा लिया ; अर्थात् शिर नवाकर स्वीकृति दिखाई, उससे न तो मुझे कुछ भय हुआ और न दीनता ही आई ॥१६॥

विशेष—(१) 'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला'—विशाल हठ ; यथा—"तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥" ; "उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।" ; "पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा।" ; "भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥" इत्यादि। हृदय में अपना पक्ष भरा है, इससे पक्षी होने का शाप दिया। पक्षियों में भी चांडाल पक्षी अर्थात् कौआ होने का शाप दिया। "काकः पक्षिषु चांडालः" ऐसा चाणक्य नीति में कहा गया है। कौआ होने को कहा, क्योंकि—'मायस इव सब ही ते डरहीं।" यह पूर्व कह चुके हैं।

(२) 'लीन्ह स्राप मैं···'—जैसे देवताओं का पुष्प आदि प्रसाद शिरोधार्य किया जाता है, वैसे शाप को मैंने सहर्ष मान लिया। सर्व-उर प्रेरक प्रभु श्रीरामजी का प्रसाद जाना, आगे स्पष्ट कहा गया है—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन ॥ कृपा सिंधु ··" इसीसे भय और दीनता भी नहीं आई कि जिससे डर कर मुनि से दीन होकर विनती करता। जैसे कि श्रीशिवजी के शाप पर कहा गया है—"कंपित मोहि बिलोकि गुरु···" फिर दीन होकर मेरी ओर से गुरुजी ने स्तुति की थी। एवं श्रीनारदजी से हरगणों ने डरकर दीन होकर विनती की थी।

भय और दीनता इससे भी नहीं आई कि श्रीशिवजी का वर है ही कि किसी जन्म में ज्ञान नहीं मिटेगा, तो क्या चिंता है ? भजन तो उस देह से भी करूँगा। प्रभु की इच्छा में संतुष्ट रहना अपना कर्त्तव्य है।

इष्ट के बल पर किसीसे न डरना भी संत लक्षण है ; यथा—"बैर न बिग्रह आस न त्रासा।" (दो० ४५) ; "सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू ॥" (कं० दो० ११०) , "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्त० २।४) ; अर्थात् जो ब्रह्म के आनंद को जानता है, उसको किसी से भय नहीं होता।

दोहा—तुरत भयउँ मैं काग तब, पुनि मुनि पद सिर नाइ।
सुमरि राम रघुबंस-मनि, हरषित चलेउँ उड़ाइ ॥
उमा जे राम-चरन-रत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध ॥११२॥

अर्थ—तब (शाप देते ही) तुरत मैं कौआ हो गया, फिर मुनि के चरणों में शिर नवाकर और रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी का स्मरण कर मैं हर्ष पूर्वक उड़ चला ॥ हे उमा ! जो श्रीरामजी के चरणानुरक्त हैं और काम-मद-क्रोध रहित हैं, वे जगत् को अपने प्रभु मय देखते हैं, तब वैर किससे करें ? ॥११२॥

विशेष—(१) 'तुरत भयउँ मैं काग' क्योंकि शाप था—'सपदि होहि पच्छी चंडाला' वही शरीर काक शरीर हो गया, शरीर छोड़कर गर्भवास से जन्म लेना न पड़ा, क्योंकि 'सपदि' कहा गया था। 'पुनि' अर्थात फिर एवं दुवारा, फिर अर्थात् कौआ होने पर, दुवारा यह कि पहले आये थे तब भी प्रणाम किया था; यथा—"देखि चरन सिर नायउँ"; अत., यह उपक्रम का प्रणाम और यहाँ 'पुनि मुनि पद सिर नाइ।' यह उपसंहार का प्रणाम है। 'राम रघुबंस मनि'—अर्थात् सगुण श्रीरामजी, 'राम' मात्र से कहीं यह न समझा जाय कि मुनि के डर से निर्गुण राम को मान लिया, उपासना बदल दी; इसलिये साथ ही सगुण बोधक 'रघुबंस मनि' भी कहा है। 'हरषित चलेउँ उड़ाइ' यह 'भय न दीनता आई' का चरितार्थ है। पुनः हर्ष बने रहने का

कारण आगे दोहे में श्रीशिवजी कहते हैं। 'मुनि पद सिर नाइ'—क्योंकि श्रीशिवजी ने आज्ञा दी थी—"जानेसु संत अनंत समाना।" (दो० १०८)।

(२) 'उमा जे रामचरन रत···'—यहाँ उमा को आश्चर्य हुआ कि निरपराध शाप पर भी भुशुंडिजी को भय एवं क्रोध क्यों न हुआ, उसपर श्रीशिवजी कहते हैं—'जे राम चरन रत···', 'जे' कहकर पार्वतीजी को चित्रकेतु के शाप का भी स्मरण कराते हैं जो भाग० ६।१७ में कहा गया है कि रुद्राणी ने उन्हें शाप दिया और उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे प्रसन्न बने रहे; यहाँ की घटना भी ऐसी ही थी। अतः, उसे भी लेकर राम-भक्तों की वृत्ति कहते हैं कि वे जगत् को अपने प्रभुमय देखते हैं; यथा—"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि। बंदउँ सबके पद कमल," सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥" (बा० दो० ७); सातवँ सम मोहि मय जग देखा।" (आ० दो० ३५); "मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७।७); "वासुदेवः सर्वमिति" (गीता ७।१९)। तथा—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥" (ईश० ६); अर्थात् जो सब प्राणियों को भगवान् में ही देखता है और भगवान् को सब प्राणियों में देखता है, तब वह किसी प्राणी की निन्दा एवं घृणा नहीं करता, इत्यादि ऐसे ही कि० दो० ३ भी देखिये।

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर-प्रेरक रघुबंस-बिभूषन॥१॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥२॥

अर्थ—हे गरुड़जी! सुनो, (शाप देने में) लोमश ऋषि का कुछ भी दोष नहीं, रघुकुल भूषण श्रीरामजी सबके उर प्रेरक हैं॥१॥ कृपासागर (श्रीरामजी) ने मुनि की बुद्धि भोली करके मेरे प्रेम की परीक्षा ली॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु' कहकर अब भुशुंडिजी का संवाद कहते हैं, ऊपर दोहे में श्रीशिवजी का कथन था। उसमें श्रीशिवजी ने उमा को समाधान किया था। यहाँ उसी का समाधान भुशुंडिजी भी गरुड़जी से करते हैं, गरुड़जी को भी संदेह था कि ज्ञानी मुनि होकर उन्होंने ऐसा कराल शाप क्यों दे दिया और फिर ब्राह्मण ने कुछ विरोध नहीं किया, क्या कारण है? उसपर भुशुंडिजी कहते हैं—'नहिं कछु रिषि दूषन' भाव यह कि ऋषि ने परवश होकर वैसा किया था, प्रेरक प्रभु ने उनकी मति फेरकर वैसा कहलाकर मेरे प्रेम की परीक्षा ली है। मति ठीक होने पर तो उन्होंने ही श्रीरामजी की उत्तम उपासना का उपदेश किया है। अतः, वे शुद्ध रामोपासक थे।

(२) 'कृपासिंधु मुनि मति···'—जब ऋषि निर्दोष हुए तो वह दोष प्रभु पर आता, इसलिये यहाँ कहते हैं कि वे कृपा के समुद्र हैं, इस परीक्षा में भी उनकी बड़ी कृपा है। भक्तों का महत्त्व प्रकट करने के लिये और उससे संसार को उपासना दृढ़ता की शिक्षा देने के लिये परीक्षा लेते हैं और स्वयं उसमें भी दृढ़ता देकर निर्वाह करते हैं।

'प्रेम परिच्छा' यह कि निर्गुण मत की प्राप्ति का संयोग पाकर मेरी प्रेम भक्ति में दृढ़ रहता है कि नहीं।
(३) यहाँ तक 'कारन कवन देह यह पाई' का उत्तर समाप्त हुआ।

रामचरितसर पाने के प्रश्न का उत्तर

मन बच क्रम मोहिं निज जन जाना । मुनि मति पुनि फेरी भगवाना ॥३॥
रिषि मम महत सीलता देखी । राम-चरन बिस्वास बिसेखी ॥४॥
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई । सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई ॥५॥

अर्थ—मन, वचन और कर्म से मुझे अपना दास जान लिया, तब भगवान् ने मुनि की बुद्धि फेर दी ॥३॥ ऋषि ने मेरी महती (अत्यन्त) सहनशीलता और श्रीरामजी के चरणों में विशेष विश्वास देख-कर ॥४॥ अत्यन्त विस्मित हो बार-बार पछताकर उन्होंने मुझे आदर पूर्वक बुला लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना ।'—मन ; यथा—"राम भगति जल मम मन मीना ।"; "निर्गुन मत मम हृदय न आवा ।" ; "मैं अपने मन बैठि तब" से "येहि विधि अमित जुगुति मन गुनऊँ ।" तक । बचन –"उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि"; "तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥" ; "पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा ।" कर्म—"लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई ।" "तुरत भयउँ मैं काग तब, पुनि मुनि पद सिर नाइ ।" ; "महत सीलता देखी ।"

भाव यह कि जिसके इस तरह के मन, वचन और कर्म हों, वे ही भगवान् के 'निज जन' अर्थात् अनन्य दास हैं । 'पुनि फेरी'—श्रीरामजी ने ही प्रेरणा करके मुनि की वैसी मति कर दी थी, अब फिर पूर्ववत् कर दी । तब न निर्गुण पक्ष रह गया और न वह क्रोध ।

(२) 'महत सीलता'- कहा गया है—"सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई ।" (दो॰ ८१); वह इनमें ही चरितार्थ हुआ । इनके वैदिक ब्राह्मण गुरु बड़े सुशील थे ; यथा—"एक सूल मोहि बिसर न काऊ । गुरु कर कोमल सील सुभाऊ ॥" (दो॰ १०१); उनकी सेवा इन्होंने कपट से ही की थी, तब भी ये सुशील हो गये ।

इसपर यह भी कहा जाता है कि भुशुंडिजी ने पहले परम सुशील-अपने गुरु का अपमान किया था, उसी के फल स्वरूप में लोमशजी के द्वारा यह शाप है और भुशुंडिजी की सुशीलता पर लोमशजी पछता रहे हैं, इसके प्रति ये इनपर बड़ी कृपा करेंगे—यह प्रेरक प्रभु का न्याय है, क्यों न हो—"करम प्रधान बिस्व रचि राखा ।" (अ॰ दो॰ २१८)।

(३) 'बिस्वास बिसेषी'—विश्वास पूर्व से ही था, शाप से चांडाल पक्षी होने पर वह पक्ष नहीं छोड़ा और न दीन हुए। इससे 'बिसेषी' कहा है ।

(४) 'अति बिसमय'—मुनि अपना दोष समझकर डरे कि मुझसे भागवतापराध हुआ, उसका प्रश्न कुछ और था मैं कुछ और कहने लगा, उसपर भी उसे शाप दिया - इसका बार-बार पश्चात्ताप करने लगे । पुनः बड़ा आश्चर्य माना कि मैंने इसकी बुद्धि की थाह नहीं पाई थी, यह तो बड़ा गुणवान् और गंभीर था ।

मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा । हरषित राम-मंत्र तब दीन्हा ॥६॥
बालकरूप राम कर ध्याना । कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना ॥७॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा । सो प्रथमहि मैं तुम्हहिं सुनावा ॥८॥

अर्थ—अनेक प्रकार से मेरा संतोष किया, फिर हर्षित होकर मुझे राम मंत्र दिया ॥६॥ कृपासागर मुनि ने मुझे बालक-रूप श्रीरामजी का ध्यान बतलाया ॥७॥ सुन्दर और सुख देनेवाला वह ध्यान मुझे बहुत ही अच्छा लगा, उस ध्यान को मैंने पहले ही आपसे सुनाया है (अतः, फिर न कहूँगा) ॥८॥

विशेष—(१) 'मम परितोष ···'—मुनि पछताते हुए कहने लगे कि हम बहुत विचारते हैं कि मेरी बुद्धि उस प्रकार कैसे हो गई कि मैं तुम्हें कैवल्य ज्ञानी बनाऊँ ? कुछ विचार में नहीं आता। होन-हो यह जगन्नियंता परमेश्वर की ही प्रेरणा थी। उसकी कृति में संतुष्ट रहना ही जीव-मात्र का कर्त्तव्य है। अब तुम चिन्ता नहीं करो, मैं तुम्हें परम गोप्य, सर्वोपरि सिद्धान्तभूता सगुण ब्रह्म श्रीरघुनाथजी की उपासना बतलाता हूँ। इस काक देह से तुम्हें अत्यंत महत्व प्राप्त होगा। मैं और भी कल्याणपरक वरदान तुम्हें दूँगा, जिनसे यह शाप-प्रसंग तुम्हें कल्याणमय हो जायगा, इत्यादि।

'हरषित राम मंत्र मोहि दीन्हा।'—'हरषित' का भाव यह है कि पूर्व की ग्लानि दूर हो गई, अब शिष्य के कल्याण में हर्षपूर्वक तत्पर हुए, तब श्रीराम मंत्र दिया। श्रीराम-मंत्र से षडक्षर तारक ब्रह्म संज्ञक राम-मंत्र अभिप्रेत है, क्योंकि भगवान् श्रीशिवजी और भगवान् व्यासजी ने इसीको 'परंजाप्य' कहा है। यह श्रीराम-तापनीयोपनिषद् और सनत्कुमार-संहिता के श्रीरामस्तवराज में प्रसिद्ध है। अगस्त्य-संहिता आदि में इसकी बहुत महिमा कही गई है। ऋग्वेद संहिता अ०, ८ अ० ६, व, ११ से इस मंत्र का उद्धार है। इसके जापक श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी भी हैं। यह श्रीरामतापनीयोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसकी दीक्षा के लिये अत्यावश्यकता कही है ; यथा—"बेगि बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस। महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस ॥" (वि० १०८)। मंत्र देकर उसका शाब्दिक अर्थ एवं मुख्यार्थ रूप ध्यान और उपासना-विधि बतलाना चाहिये, यह भी—'बालक रूप ···' से कहते हैं—

(२) 'बालक-रूप राम कर ध्याना।'—यह ध्यान पूर्ण माधुर्यमय है। ध्येय-रूप के गुण-वर्णन में मंत्र का शब्दार्थ भी कहा गया और साथ ही आराधन (उपासना) रीति भी बतलाई गई। यह सब ध्यान में आ गया। अन्यथा 'सगुन ब्रह्म अवराधना, मोहि कहहु भगवान।' यह प्रश्न साकांक्ष ही रह जाता। 'सुंदर सुखद ···' का वर्णन पहले हो ही चुका है। 'तब दीन्हा' से इस मंत्र को दुष्प्राप्य भी कहा गया। 'कृपा-निधि कहकर 'सगुन ब्रह्म अवराधना' का प्रश्न किया था, प्राप्त होने पर यहाँ भी 'कृपानिधाना' कहा गया है।

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित-मानस तब भाखा ॥९॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई ॥१०॥
रामचरित-सर गुप्त सुहावा। संभु-प्रसाद तात मैं पावा ॥११॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी ॥१२॥

अर्थ—मुनि ने मुझे कुछ समय तक वहाँ रक्खा तब श्रीरामचरितमानस का वर्णन किया ॥९॥ आदर-पूर्वक यह कथा सुनाकर फिर मुनि मुझसे ये सुन्दर वचन बोले ॥१०॥ हे तात ! सुन्दर गुप्त रामचरित-सर मैंने श्रीशिवजी की कृपा से पाया है ॥११॥ तुम्हें श्रीरामजी का निज (खास, अनन्य) भक्त जाना; उससे मैंने सब बखान कर तुमसे कहा ॥१२॥

विशेष—(१) 'कछुक काल तहँ राखा।'—क्योंकि सम्पूर्ण कथा की प्राप्ति बिना कुछ समय रहे नहीं हो सकती। 'सादर'—वात्सल्यपूर्वक।

(२) 'राम-चरित-सर गुप्त सुहाया ···'—यह श्रीगरुड़जी के इस प्रश्न—"राम चरित-सर सुंदर स्वामी। पायहु कहाँ कहहु नभ-गामी ॥" (दो० ९१) का उत्तर है। यहाँ श्रीरामचरितमानस की परंपरा भी कही। दो० ६३ चौ० ७ भी देखिये।

यहाँ पर यह शंका होती है कि बालकांड दो० २९ में तो कहा है कि—"सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम-भगति-अधिकारी चीन्हा ॥" और यहाँ लोमशजी के द्वारा पाना कहते हैं—यह विरोध क्यों? इसका उत्तर बा० दो० २९ चौ० ४ में ही लिखा गया है—वहीं देखिये। तात्पर्य यह है कि श्रीशिवजी ने लोमशजी के द्वारा दिया।

(३) 'गुप्त'—गोप्य रहस्य है, अधिकारी को देना चाहिये यह भाव है, यथा—'अधिकारी चीन्हा' ऊपर प्रमाण कहा गया है। पुन: आगे दो० १२७ की आठों अर्धालियों में कहा गया है। यहाँ भी आगे—'तोहि निज भगत···' आदि से यही कहा है।

रामभगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं ॥१३॥
मुनि मोहि बिबिधि भाँति समुझावा। मैं सप्रेम मुनिपद सिरनावा ॥१४॥
निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्ह मुनीसा ॥१५॥
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥१६॥

अर्थ—हे तात! जिनके हृदय में राम भक्ति नहीं हो उनसे कभी भी (इसे) न कहना ॥१३॥ मुनि ने मुझे अनेक प्रकार से समझाया तब मैंने प्रेमपूर्वक मुनि के चरणों में मस्तक नवाया ॥१४॥ अपने कर-कमल से मेरा शिर स्पर्श कर (शिर पर हाथ फेरकर) हर्षित होकर मुनीश्वर लोमशजी ने मुझे आशीर्वाद दिया ॥१५॥ कि अब मेरी प्रसन्नता (अनुकूलता) से तेरे हृदय में अविरल (सदा एकरस) पूर्ण भक्ति सदा ही बसेगी ॥१६॥

विशेष—'बिबिध भाँति'—एक भाँति के अधिकारी अनधिकारी को कहकर फिर यहाँ 'बिबिध भाँति' पद दे दिया कि इसका विस्तार आगे दो० १२७–१२८ में कहना ही है। पुन: विविध भाँति से और मंत्र रहस्य सम्बन्धी शिक्षा भी सूचित की गई है, जैसे कि 'रहस्यत्रय' एवं तत्सम्बन्धी 'अकार-त्रयी' आदि।

(२) 'मैं सप्रेम मुनि-पद सिर नावा।'—यह कृतज्ञता का प्रणाम है, यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥" (दो० १२४), गुरु प्रणाम में प्रेम एवं पुलक होना ही चाहिये, अन्यथा जीवन व्यर्थ हो जाता है; यथा—"रामहि सुमिरत रनभिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तन, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)।

महाप्रलय में भी भुशुंडिजी के नाश न होने तथा उनके आश्रम में आते ही गरुड़जी का मोह नाश होने के प्रश्नों के उत्तर।

दोहा—सदा रामप्रिय होहु तुम्ह, सुभ-गुन-भवन अमान।
कामरूप इच्छा-मरन, ज्ञान - बिराग -निधान ॥

जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि, सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अविद्या, जोजन एक प्रजंत॥११३॥

अर्थ—तुम सदा श्रीरामजी को प्रिय और श्रीरामजी तुमको प्रिय होंगे। तुम सदा शुभगुण धाम, मान-रहित और कामरूप (इच्छित रूप धारी) होगे। मृत्यु तुम्हारी इच्छा पर रहेगी (अर्थात् तुम्हारी इच्छा बिना मृत्यु नहीं होगी) और तुम ज्ञान-वैराग्य-निधान होगे॥ और जिस आश्रम में तुम श्रीभगवान् का स्मरण करते हुए निवास करोगे, वहाँ एक योजन पर्यन्त (तक) अविद्या माया नहीं व्याप्त होगी॥११३॥

विशेष—(१) 'इच्छा मरन' से प्रलय में नाश से रहित किया। 'गुन-भवन' से गुणों के घर कहकर औरों को भी गुण देने की शक्ति दी। पुनः शुभ गुण आदि के अभिमान न हों, इससे 'अमान' भी कहा। 'जेहि आश्रम' का भाव यह कि जहाँ कहीं भी तुम रहो। 'सदा राम प्रिय'; यथा—"रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा।" (दो० ११); 'सुमिरत श्रीभगवंत' से ऐश्वर्य-सहित श्रीरामजी का स्मरण करना सदा के लिये आवश्यक कहा है। 'श्री' विशेषण से श्रीसीताजी के साथ जनाया और यह भी कि जो जो भगवान् कहे जाते हैं, उन्हें षडैश्वर्यों के उतने अंश इन्हीं से प्राप्त होते हैं; ऐश्वर्यों के मूल कारण श्रीरामजी ही हैं—बा० दो० १८ चौ० १-२ देखिये।

(२) 'जेहि आश्रम' से यह वरदान आश्रम के लिये है, श्रीभुशुंडिजी के लिये आगे—'काल कर्म...' से कहते हैं।

शंका—यहाँ कहते हैं कि लोमशजी के वरदान से और उसपर भी ब्रह्म-वाणी का प्रमाण है कि अविद्या नहीं व्याप्त होगी और पूर्व दो० ८८ चौ० ४ में कहा है—"तब ते मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" ऐसा भेद क्यों?

समाधान—यहाँ अविद्या माया की निवृत्ति का वरदान है और श्रीरामजी ने तो इनपर विद्या माया की प्रेरणा की थी, प्रसंगानुसार वहाँ उस विद्यामाया से भी निर्भीकता कही गई है।

(३) 'जोजन एक प्रजंत'—आश्रम के चारों ओर चार-चार कोश तक, क्योंकि ध्यान आदि चार प्रकार से स्मरण करोगे, यह भी ध्वनि से कहा है।

काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥१॥
राम-रहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रकट इतिहास पुराना॥२॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ॥३॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि-प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥४॥

अर्थ—काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव-जनित दुःख कुछ भी तुम्हें कभी न व्याप्त होंगे॥१॥ अनेकों प्रकार के सुंदर राम-रहस्य जो इतिहास और पुराणों में गुप्त वा प्रगट हैं॥२॥ वह सब भी तुम बिना परिश्रम के जानोगे और तुम्हारा नित्य नया अनुराग श्रीरामजी के चरणों में होगा; अर्थात अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा॥३॥ जो इच्छा तुम मन में करोगे हरि कृपा से वह कुछ भी दुर्लभ नहीं होगी (सबकी पूर्ति होगी)॥४॥

विशेष—(१) 'काल कर्म गुन '—यह गरुडजी के प्रश्न—"तुम्हहिं न ब्यापत काल " (दो० ९४), का यहाँ उत्तर है। इसपर दो० २१ भी देखिये। 'निनु श्रम'—किसी से एव स्वय भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होगी। ऊपर 'राम-भगति अविरल उर तोरे। बसिहि' में तो 'प्रसाद अव मोरे' कहा है। पर यहाँ 'इच्छा-पूर्त्ति' मे 'हरि-प्रसाद' कहा है। क्योंकि इच्छाएँ बहुत तरह की होती हैं, उनकी पूर्त्ति हरि के आश्रय विना असभव है। भस्मासुर के वर की पूर्त्ति भगवान् के द्वारा ही हुई है। यहाँ हरि ने भी अपना प्रसाद असदिग्ध दिखाने के लिये तुरत ही 'एवमस्तु' आकाश-वाणी के द्वारा कहा है, आगे स्पष्ट है।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत कर्म मन बानी ॥६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेममगन सब संसय गयऊ ॥७॥
करि बिनती मुनि-आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिर नाई ॥८॥
हरष सहित येहि आश्रम आयउँ। प्रभु-प्रसाद दुर्लभ वर पायउँ ॥९॥

अर्थ—हे धीर बुद्धि! सुनिये, मुनि की आशिष सुनकर आकाश मे गभीर ब्रह्मवाणी हुई ॥५॥ कि हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो, अर्थात् तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो, यह कर्म, मन और वचन से मेरा भक्त है ॥६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेम मे मग्न हो गया, सब सदेह जाता रहा ॥७॥ मुनि की विनती करके और उनकी आज्ञा पा उनके चरण कमलों मे बार बार शिर नवा कर ॥८॥ हर्षपूर्वक मैं इस आश्रम पर आया। प्रभु श्रीरामजी की कृपा से दुर्लभ वर पाया ॥९॥

विशेष—(१) 'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानियों के शाप और आशिष दोनों सफल होते हैं, वह हेतु दिखाते हुए 'एवमस्तु' कहा है। 'हरष मोहि भयऊ'—क्योंकि भगवान् ने भी मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनि के सभी आशीर्वादों की सफलता में निस्सदेह कर दिया।

(२) 'सब ससय गयऊ'—पहले मन में यह सशय था कि मैंने मुनि की बहुत अवज्ञा की थी और साधु अवज्ञा से सब कल्यान की हानि होती है, यथा—"साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (सुं० दो० ४१), कहीं मुनि के वचन मेरे सतोष निमित्त ही न हों, पर जब आकाशवाणी ने भी एवमस्तु कहा, तब सशय निवृत्त हुए।

यहाँ तक इन्हें तीन की आशिष से भक्ति हुई—

पहले श्रीशिवजी ने कहा—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (दो० १०८), तब से श्रवन-कीर्त्तन आदि की नवधा भक्ति हुई; यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुवादा।" "रघुपति जस गावत फिरउँ " (दो० १०९–११०) फिर लोमशजी का वरदान हुआ—"राम भगति अविरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥" इसीकी पुष्टि ब्रह्म गिरा से भी हुई कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य भक्त है। अब जब प्रभु के अवतार होते हैं, इसी अविरल प्रेम भक्ति से ये जाकर दर्शन करते हैं, यथा—"बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो० ७५), इसी अभिलाषा से मुनि के पास आये थे, यथा—"निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।" (दो० ११०), यहाँ उसकी पूर्त्ति हुई। अभी भी भक्ति की पूर्ण रूपता नहीं हुई, इसीसे प्रभु के 'प्राकृत सिसु लीला' में मोह होगा, तब प्रभु श्रीरामजी की कृपा से 'अविरल

विशुद्ध भक्ति' पावेंगे—दो० ८४ देखिये। तब भक्ति की पूर्णता पर पहुँचेंगे। इसी पर कृतार्थ होकर श्रीभुशुंडिजी ने कहा है; यथा—"तब ते मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

(३) 'करि बिनती' यह कि इसी तरह कृपा बनी रहे, पुन. यह भी कि चरणों के दर्शन हुआ करें बालक जानकर छोह बनाये रक्खें, इत्यादि। 'पुनि पुनि सिर नाई'—यह कृतज्ञता है, क्योंकि अभिलाषा से कहीं अधिक कृपा हुई। 'आयसु पाई'—मुनि ने सादर बुलाया था; यथा—'सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई।' अत, उनसे आज्ञा लेकर गये, यह शिष्टाचार है और मुनि को आदर देना है; यथा—"निज-निज गृह गये आयसु पाई।" (दो० ४६)।

(४) 'हरष सहित येहि···'—मैं कृतार्थ हो गया, इससे हर्ष सहित आया। 'प्रभु प्रसाद···'—ऐसा वर कोटि प्रकार के पुरुषार्थों से न प्राप्त होता। परम समर्थ प्रभु के ही प्रसाद से ऐसा हुआ। "मेरु सिखर वट छाया, मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नायउँ ·" (दो० ११०); उपक्रम है और यहाँ—'करि बिनती मुनि ··हरष सहित येहि आश्रम आयउँ।" यह उपसंहार है।

इहाँ बसत मोहि सुनु खग-ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥१०॥
करउँ सदा रघुपति गुन-गाना। सादर सुनहि बिहंग सुजाना॥११॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत-हित मनुज सरीरा॥१२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख-लहऊँ॥१३॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥१४॥
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग-देह जेहि कारन पाई॥१५॥
कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अति भारी॥१६॥

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनिये, यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये॥१०॥ मैं यहाँ पर सदा श्रीरघुनाथजी के गुण गान करता हूँ और प्रवीण पक्षी लोग आदर सहित सुनते हैं॥११॥ जब-जब रघुवीर श्रीरामजी अवधपुरी में भक्तों के कल्याण के लिये मनुष्य शरीर धारण करते हैं॥१२॥ तब-तब मैं जाकर श्रीरामजी की पुरी में रहता और उनकी शिशु-लीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ॥१३॥ फिर, हे गरुड़! बाल रूप श्रीरामजी को हृदय मे रखकर अपने आश्रम मे आता हूँ॥१४॥ जिस कारण मैंने काक शरीर पाया, वह सब कथा आपको सुनाई॥१५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नों के उत्तर कह दिये। श्रीराम-भक्ति की महिमा अत्यन्त भारी है॥१६॥

विशेष—(१) 'बीते कलप सात अरु बीसा।'—आजकल संकल्प पढ़ते हुए लोग 'अष्टाविंशतिमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे' कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि इसी कल्प मे श्रीगरुड़जी श्रीभुशुंडिजी के पास गये थे। प्रलय मे अविद्या कृत पदार्थों का ही नाश होता है, श्रीलोमशजी के वरदान से इनके आश्रम के पास एक योजन तक अविद्या नहीं है, इसीसे इनका नाश नहीं होता।

यहाँ मुनि के आशीर्वाद का चरितार्थ दिखाया गया है—

१ "राम भगति अबिरल उर तोरे, बसिहि सदा। · सदा राम प्रिय होहु ·"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।" से "पुनि उर राखि राम ··" तक

विशेष—(१) 'काल कर्म गुन···'—यह गरुड़जी के प्रश्न—"तुम्हहिं न व्यापत काल ·····(दो० ९४); का यहाँ उत्तर है। इसपर दो० २१ भी देखिये। 'बिनु श्रम'—किसी से एवं स्वयं भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होगी। ऊपर 'राम-भगति अबिरल उर तोरें। बसिहि' में तो 'प्रसाद अब मोरें' कहा है। पर यहाँ 'इच्छा-पूर्ति' में 'हरि-प्रसाद' कहा है। क्योंकि इच्छाएँ बहुत तरह की होती हैं, उनकी पूर्ति हरि के आश्रय बिना असंभव है। भस्मासुर के वर की पूर्ति भगवान् के द्वारा ही हुई है। यहाँ हरि ने भी अपना प्रसाद असंदिग्ध दिखाने के लिये तुरत ही 'एवमस्तु' आकाश-वाणी के द्वारा कहा है, आगे स्पष्ट है।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ग्यानी। यह मम भगत कर्म मन बानी ॥६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेममगन सब संसय गयऊ ॥७॥
करि बिनती मुनि-आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिर नाई ॥८॥
हरष सहित येहि आश्रम आयउँ। प्रभु-प्रसाद दुर्लभ बर पायउँ ॥९॥

अर्थ—हे धीर बुद्धि! सुनिये, मुनि की आशिष सुनकर आकाश में गंभीर ब्रह्मवाणी हुई ॥५॥ कि हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो; अर्थात् तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो, यह कर्म, मन और वचन से मेरा भक्त है ॥६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेम में मग्न हो गया, सब संदेह जाता रहा ॥७॥ मुनि की विनती करके और उनकी आज्ञा पा उनके चरण कमलों में बार-बार शिर नवा कर ॥८॥ हर्षपूर्वक मैं इस आश्रम पर आया। प्रभु श्रीरामजी की कृपा से दुर्लभ वर पाया ॥९॥

विशेष—(१) 'मुनि ग्यानी'—ज्ञानियों के शाप और आशिष दोनों सफल होते हैं, यह हेतु दिखाते हुए 'एवमस्तु' कहा है। 'हरष मोहि भयऊ'—क्योंकि भगवान् ने भी मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनि के सभी आशीर्वादों की सफलता में निस्संदेह कर दिया।

(२) 'सब संसय गयऊ'—पहले मन में यह संशय था कि मैंने मुनि की बहुत अवज्ञा की थी और साधु-अवज्ञा से सब कल्यान की हानि होती है; यथा—"साधु-अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (सुं० दो० ४१); कहीं मुनि के वचन मेरे संतोष निमित्त ही न हों, पर जब आकाशवाणी ने भी एवमस्तु कहा; तब संशय निवृत्त हुए।

यहाँ तक इन्हें तीन की आशिष से भक्ति हुई—

पहले श्रीशिवजी ने कहा—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम-भगति उपजिहि उर तोरें ॥" (दो० १०८); तब से श्रवन-कीर्त्तन आदि की नवधा भक्ति हुई, यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुवादा।" "रघुपति जस गावत फिरउँ···" (दो० १०१—११०), फिर लोमशजी का वरदान हुआ—"राम-भगति अबिरल उर तोरें। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरें ॥" इसीकी पुष्टि ब्रह्म-गिरा से भी हुई कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य भक्त है। जब-जब प्रभु के अवतार होते हैं, इसी अविरल प्रेम भक्ति से ये जाकर दर्शन करते हैं; यथा—"बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो० ७४); इसी अभिलाषा से मुनि के पास आये थे; यथा—"निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।" (दो० ११०); यहाँ उसकी पूर्ति हुई। अभी भी भक्ति की पूर्ण-रूपता नहीं हुई, इसीसे प्रभु के 'प्राकृत सिसु लीला' में मोह होगा, तब प्रभु श्रीरामजी की कृपा से 'अबिरल

विशुद्ध भक्ति' पावेंगे—दो० ८४ देखिये। तब भक्ति की पूर्णता पर पहुँचेंगे। इसी पर कृतार्थ होकर श्रीभुशुण्डिजी ने कहा है; यथा—"तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

(३) 'करि बिनती' यह कि इसी तरह कृपा बनी रहे, पुनः यह भी कि चरणों के दर्शन हुआ करें, बालक जानकर छोह बनाये रक्खें, इत्यादि।

'पुनि पुनि सिर नाई'—यह कृतज्ञता है; क्योंकि अभिलाषा से कहीं अधिक कृपा हुई। 'आयसु पाई'—मुनि ने सादर बुलाया था; यथा—'सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई।' अतः, उनसे आज्ञा लेकर गये, यह शिष्टाचार है और मुनि को आदर देना है; यथा—"निज-निज गृह गये आयसु पाई।" (दो० ४६)।

(४) 'हरष सहित येहि···'—मैं कृतार्थ हो गया, इससे हर्ष सहित आया। 'प्रभु प्रसाद···'—ऐसा वर कोटि प्रकार के पुरुषार्थों से न प्राप्त होता। परम समर्थ प्रभु के ही प्रसाद से ऐसा हुआ।

"मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नायउँ···" (दो० ११०); उपक्रम है और यहाँ—'करि बिनती मुनि···हरष सहित येहि आश्रम आयउँ।' यह उपसंहार है।

इहाँ बसत मोहि सुनु खग-ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥१०॥
करउँ सदा रघुपति गुन-गाना। सादर सुनहिं बिहंग सुजाना॥११॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत-हित मनुज सरीरा॥१२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख-लहऊँ॥१३॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥१४॥
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग-देह जेहि कारन पाई॥१५॥
कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अति भारी॥१६॥

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनिये, यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये॥१०॥ मैं यहाँ पर सदा श्रीरघुनाथजी के गुण-गान करता हूँ और प्रवीण पक्षी लोग आदर सहित सुनते हैं॥११॥ जब-जब रघुवीर श्रीरामजी अवधपुरी में भक्तों के कल्याण के लिये मनुष्य-शरीर धारण करते हैं॥१२॥ तब-तब मैं जाकर श्रीरामजी की पुरी में रहता और उनकी शिशु-लीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ॥१३॥ फिर, हे गरुड़! बाल रूप श्रीरामजी को हृदय मे रखकर अपने आश्रम में आता हूँ॥१४॥ जिस कारण मैंने काक शरीर पाया, वह सब कथा आपको सुनाई॥१५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नों के उत्तर कह दिये। श्रीराम-भक्ति की महिमा अत्यन्त भारी है॥१६॥

विशेष—(१) 'बीते कलप सात अरु बीसा।'—आजकल संकल्प पढ़ते हुए लोग 'अष्टाविंशतिमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे' कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि इसी कल्प मे श्रीगरुड़जी श्रीभुशुण्डिजी के पास गये थे। प्रलय में अविद्या कृत पदार्थों का ही नाश होता है, श्रीलोमशजी के वरदान से इनके आश्रम के पास एक योजन तक अविद्या नहीं है, इसीसे इनका नाश नहीं होता।

यहाँ मुनि के आशीर्वाद का चरितार्थ दिखाया गया है—

१ "राम भगति अविरल उर तोरे, बसिहि सदा।···सदा राम प्रिय होहु···"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।" से "पुनि उर राखि राम···" तक

• **विशेष**—(१) 'काल कर्म गुन ··'—यह गरुड़जी के प्रश्न—"तुम्हहिं न ब्यापत काल ···" (दो॰ ६४); का यहाँ उत्तर है। इसपर दो॰ २१ भी देखिये। 'बिनु श्रम'—किसी से एवं स्वयं भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होगी। ऊपर 'राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि' में तो 'प्रसाद अब मोरे' कहा है। पर यहाँ 'इच्छा-पूर्त्ति' में 'हरि-प्रसाद' कहा है। क्योंकि इच्छाएँ बहुत तरह की होती हैं, उनकी पूर्त्ति हरि के आश्रय बिना असंभव है। भस्मासुर के वर की पूर्त्ति भगवान् के द्वारा ही हुई है। यहाँ हरि ने भी अपना प्रसाद असंदिग्ध दिखाने के लिये तुरत ही 'एवमस्तु' आकाश-वाणी के द्वारा कहा है, आगे स्पष्ट है।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत कर्म मन बानी ॥६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेममगन सब संसय गयऊ।७॥
करि बिनती मुनि-आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिर नाई ॥८॥
हरष सहित येहि आश्रम आयउँ। प्रभु-प्रसाद दुर्लभ बर पायउँ ॥९॥

अर्थ—हे धीर बुद्धि ! सुनिये, मुनि की आशिष सुनकर आकाश में गंभीर ब्रह्मवाणी हुई ॥५॥ कि हे ज्ञानी मुनि ! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो ; अर्थात् तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो, यह कर्म, मन और वचन से मेरा भक्त है ॥६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेम में मग्न हो गया, सब सन्देह जाता रहा ॥७॥ मुनि की विनती करके और उनकी आज्ञा पा उनके चरण कमलों में बार बार शिर नवा कर ॥८॥ हर्षपूर्वक मैं इस आश्रम पर आया। प्रभु श्रीरामजी की कृपा से दुर्लभ वर पाया ॥९॥

विशेष—(१) 'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानियों के शाप और आशिष दोनों सफल होते हैं, वह हेतु दिखाते हुए 'एवमस्तु' कहा है। *'हरष मोहि भयऊ'—क्योंकि भगवान् ने भी मुझे अपना भक्त स्वीकार* किया और मुनि के सभी आशीर्वादों की सफलता में निस्सदेह कर दिया।

(२) 'सब संसय गयऊ'—पहले मन में यह संशय था कि मैंने मुनि की बहुत अवज्ञा की थी और साधु-अवज्ञा से सब कल्यान की हानि होती है, यथा—"साधु-अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (सुं॰ दो॰ ४१), कहीं मुनि के वचन मेरे संतोष निमित्त ही न हों, पर जब आकाशवाणी ने भी एवमस्तु कहा ; सब संशय निवृत्त हुए।

यहाँ तक इन्हें तीन की आशिष से भक्ति हुई—

पहले श्रीशिवजी ने कहा—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (दो॰ १०८), तब से श्रवन-कीर्त्तन आदि की नवधा भक्ति हुई; यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुवादा।" "रघुपति जस गावत फिरउँ ··" (दो॰ १०३–११०), फिर लोमशजी का वरदान हुआ—"राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥" इसीकी पुष्टि ब्रह्म-गिरा से भी हुई कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य भक्त है। जब-जब प्रभु के अवतार होते हैं, इसी अविरल प्रेम भक्ति से ये जाकर दर्शन करते हैं, यथा—"बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो॰ ७४); इसी अभिलाषा से मुनि के पास आये थे ; यथा—"निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।" (दो॰ ११०); यहाँ उसकी पूर्त्ति हुई। अभी भी भक्ति की पूर्ण रूपता नहीं हुई, इसीसे प्रभु के 'प्राकृत सिसु लीला' में मोह होगा, तब प्रभु श्रीरामजी की कृपा से 'अविरल

विशुद्ध भक्ति' पावेंगे—दो० ८४ देखिये। तब भक्ति की पूर्णता पर पहुँचेंगे। इसी पर कृतार्थ होकर
श्रीभुशुण्डिजी ने कहा है; यथा—"तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

(३) 'करि बिनती' यह कि इसी तरह कृपा बनी रहे, पुन यह भी कि चरणों के दर्शन हुआ
करें बालक जानकर छोह बनाये रक्खें, इत्यादि।

'पुनि पुनि सिर नाई'—यह कृतज्ञता है; क्योंकि अभिलाषा से कहीं अधिक कृपा हुई। 'आयसु
पाई'—मुनि ने सादर बुलाया था; यथा—'सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई।' अत., उनसे आज्ञा लेकर गये,
यह शिष्टाचार है और मुनि को आदर देना है, यथा—"निज-निज गृह गये आयसु पाई।" (दो० ४६)।

(४) 'हरप सहित येहि ···'—मैं कृतार्थ हो गया, इससे हर्ष सहित आया। 'प्रभु प्रसाद ···'—ऐसा
वर कोटि प्रकार के पुरुषार्थों से न प्राप्त होता। परम समर्थ प्रभु के ही प्रसाद से ऐसा हुआ।

"मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नायउँ ···" (दो० ११०); उपक्रम
है और यहाँ—'करि बिनती मुनि ··हरप सहित येहि आश्रम आयउँ।" यह उपसंहार है।

इहाँ बसत मोहि सुनु खग-ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥१०॥
करउँ सदा रघुपति गुन-गाना। सादर सुनहि बिहंग सुजाना॥११॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत-हित मनुज सरीरा॥१२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख-लहऊँ॥१३॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥१४॥
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग-देह जेहि कारन पाई॥१५॥
कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अति भारी॥१६॥

अर्थ—हे श्रीगरुडजी! सुनिये, यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये॥१०॥ मैं यहाँ पर सदा श्रीरघुनाथजी के गुण-गान करता हूँ और प्रवीण पक्षी लोग आदर सहित सुनते हैं॥११॥ जब-जब रघुवीर श्रीरामजी अवधपुरी में भक्तों के कल्याण के लिये मनुष्य शरीर धारण करते हैं॥१२॥ तब-तब मैं जाकर श्रीरामजी की पुरी में रहता और उनकी शिशु-लीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ॥१३॥ फिर, हे गरुड़! बाल रूप श्रीरामजी को हृदय में रखकर अपने आश्रम में आता हूँ॥१४॥ जिस कारण मैंने काक शरीर पाया, वह सब कथा आपको सुनाई॥१५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नों के उत्तर कह दिये। श्रीराम भक्ति की महिमा अत्यन्त भारी है॥१६॥

विशेष—(१) 'बीते कलप सात अरु बीसा।'—आजकल सकल्प पढते हुए लोग 'अष्टाविंशतिमें कलियुगे कलिप्रथमचरणे' कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि इसी कल्प में श्रीगरुड़जी श्रीभुशुण्डिजी के पास गये थे। प्रलय में अविद्या कृत पदार्थों का ही नाश होता है, श्रीलोमशजी के वरदान से इनके आश्रम के पास एक योजन तक अविद्या नहीं है, इसीसे इनका नाश नहीं होता।

यहाँ मुनि के आशीर्वाद का चरितार्थ दिखाया गया है—

१ "राम भगति अविरल उर तोरे, बसिहि सदा। 'सदा राम प्रिय होइ ··"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।" से "पुनि उर राखि राम ··" तक

२ "जेहि आश्रम तुम्ह बसब" से "कछु दुख तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ।" तक	"इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥"
३ "जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥"	"निज प्रभु दरसन पायउँ" "प्रभु प्रसाद दुर्लभ वर पायउँ।"
४ "सुमिरत श्री भगवंत"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।"

(२) 'पुनि उर राखि···'- पाँच वर्ष तो लगातार रहता हूँ, फिर शिशु-चरित के पश्चात् चला आता हूँ।

(३) 'काग देह जेहि कारन पाई'—काक देह पाने का कारण मुख्य था, उसी के अंतर्गत शेष प्रश्नों के उत्तर भी आ गये। इसी से साथ ही यह भी कहते हैं—'कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।' किन प्रश्नों के कौन उत्तर हैं, ये उन-उन प्रसंगों पर लिखे जा चुके हैं।

"सब निज कथा कहउँ मैं गाई।" (दो० ९४), उपक्रम है और "कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।" यह उपसंहार है। लगभग २० दोहों में यह प्रसंग भी समाप्त हुआ। साथ ही इसका तात्पर्य भी कहते हैं —"राम भगति महिमा अति भारी।" आगे इसी भक्ति की महिमा कहते हुए कैवल्य ज्ञान की न्यूनता कहते हैं—

भक्ति-महिमा

श्रीगरुड़जी के प्रश्नों से उनकी दृष्टि में ज्ञान की विशेषता पाई जाती है, वे प्रत्येक बार के वर्णन में ज्ञान को प्रथम और भक्ति को पीछे कहते हैं, यथा—"ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥"; "ज्ञान प्रभाव कि जोग बल।" इसपर भुशुंडिजी ने स्पष्ट रूप में कहा है—"जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।" (दो० ९४), पुन. लोमशजी के सवाद से तो स्पष्ट कर के ही दिखाया है, इसी का निष्कर्ष आगे भी कहते है। पुन अभी गरुड़जी कहेंगे—"ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता।" तब फिर भुशुंडिजी उत्तर में "भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।" कहकर भक्ति को आगे कहकर उसकी अधिकता सूचित करेंगे।

दोहा—ताते यह तनु मोहि प्रिय, भयउ राम-पद-नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ, गये सकल संदेह॥
भगति-पच्छ हठ करि रहेउँ, दीन्हि महारिषि साप।
मुनि-दुर्लभ वर पायउँ, देखहु भजन-प्रताप॥११४॥

अर्थ—मुझे यह शरीर इससे प्रिय है कि इससे मेरा श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हुआ, मैंने अपने प्रभु के दर्शन पाये और मेरे सब सदेह दूर हो गये॥ मैं हठ करके भक्ति के पक्ष में दृढ रहा जिससे महर्षिजी ने मुझे शाप दिया। (पर अत में) मुनियों को भी जो वर दुर्लभ हैं, वे सब मैंने पाये—यह भजन का प्रताप देखिये॥११४॥

विशेष—'ताते···'—काकभुशुण्डि प्रिय होने के तीन कारण कहते हैं - १ इससे राम पद में स्नेह हुआ, २ निज-प्रभु-दर्शन पाया, ३ सकल संदेह गया। कहा भी है—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४२); 'भगति पच्छ हठ ···'—भक्ति में दृढ़ता का यह फल है कि शाप भी उलटकर आशीर्वाद हो गया। ऐसे महर्षि से हठ एवं वाद-विवाद पर भी हानि के बदले लाभ हो हुआ। भाव यह कि इसमें गिरने की शंका नहीं है; यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ९।३१), "तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप-मूर्धसु प्रभो॥" (भाग० १०।२।३३); यह नारदादि ने भगवान् से कहा है कि आपके चरण विमुख ज्ञान की पूर्णावस्था से भी गिर पड़ते हैं, पर आपके भक्त लोगों की वैसी दशा नहीं होती, आपके द्वारा रक्षा पाकर वे निर्भय होते हैं।

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान-हेतु श्रम करहीं॥१॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥२॥

अर्थ—जो ऐसी भक्ति को (जिसका प्रताप ऊपर कहा गया) जानकर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञान (रुक्ष ज्ञान, कैवल्य ज्ञान) के लिये परिश्रम करते हैं॥१॥ वे जड़ घर की कामधेनु को त्यागकर दूध के लिये मदार खोजते-फिरते हैं॥२॥

विशेष—(१) 'केवल ज्ञान हेतु···', यथा—"श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥" (भाग० १०।१४।४); अर्थात् समस्त कल्याणरूपा आपकी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान के लिये क्लेश करते हैं, उन्हें क्लेश ही हाथ लगता है। जैसे किसी मूर्ख ने एक किसान को देखा कि उसने धान कूटकर चावल लेकर खाया। यह देख वह मजदूरी आदि धंधा छोड़ पड़ी हुई धान की भूसी लाकर कूटने लगा। थक गया और हाथ मे फफोले पड़ गये, इतने मे वायु का बवंडर आया और भूसी उड़ गई। कुछ न रह गया, क्योंकि चावल उसमे था ही नहीं, तब मूर्ख के हाथ मे श्रम-सूचक फफोले ही दिखाने को रह गये, वैसे इस रुक्ष ज्ञानी को यम-नियम आदि के श्रम एवं कष्ट ही कहने सुनने को रहते हैं, हाथ कुछ नहीं लगता।

श्रीगोस्वामीजी ने 'खोजत आक' के दृष्टान्त से और भी विशेषता दिखाई है किसी मूर्ख ने देखा कि कोई दवा के लिये मदार से कुछ दूध ले रहा है। बस, इसने विचारा कि कामदुहा गऊ पालने की झंझट क्यों करूँ? उस गऊ को निकाल दिया कि जिससे मनमाना दूध प्राप्त होता। चला मदार से दूध लाने। मदार उतने कहाँ कि पर्याप्त दूध मिले, धोखे से उसका दूध आँख में लग गया, वह अंधा भी हो गया। वैसे कैवल्य ज्ञानी को मूर्खता है। इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इन्हीं से यदि भगवान् को ही विषय बना ले; अर्थात् उन्हीं को नेत्रों से देखे, कान से उन्हीं का यश सुने, इत्यादि रीति से भक्ति करना घर की कामधेनु है—इसका ही पालन करे। इसीसे ज्ञान, वैराग्य आदि सभी वांछित गुण प्राप्त होते हैं, इसमें विघ्न का भय नहीं है, अंत में साधक भगवान् को प्राप्त होता है। पर इसे न कर यह चला ज्ञान दीपक के साधन द्वारा कैवल्य प्राप्त करने। अंत में माया के धोखे में पड़ गया, ज्ञान दीपक बुझ गया। फिर तो 'बुद्धि बिकल भइ विषय बतासा। · तेहि बिधि दीप को बार बहोरी।' अर्थात् बुद्धि रूपी नेत्र से भी अंधा हो गया—यह आगे ज्ञानदीपक प्रसंग में प्रत्यक्ष है।

यहाँ भक्ति कामधेनु है, ज्ञान आक है और सुख दूध है।

सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥३॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥४॥

अर्थ—हे पक्षिराज ! सुनिये, जो लोग भगवान् की भक्ति को छोड़कर अन्य उपायों से सुख चाहते हैं ॥३॥ वे शठ हैं, वे मूर्ख विना नाव के तैरकर ही जड़ करनी से महा समुद्र को पार करना चाहते हैं ॥४॥

विशेष—भाव यह कि हरि-भक्ति से ही सुख मिल सकता है। भवसागर पार होने पर जो सुख मिलता है, उसी को यहाँ सुख कहा है। वह अन्य उपायों से नहीं मिल सकता। अन्य उपाय यहाँ योग, ज्ञान, वैराग्य आदि हैं जिनसे भक्ति का सम्बन्ध नहीं है। इसीको रूपक से दिखाते हैं कि भव-सागर महा समुद्र है। जल आदि के समुद्र इससे बहुत छोटे हैं, यथा—"नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भव सागर तरहिं॥ यह लघु जलधि तरत कति बारा।" (लं० दो० १), भवसमुद्र विषय वारि से पूर्ण है। योगादि करना तैरना है, महासमुद्र को हाथों से तैर कर पार करना मानवी शक्ति से असंभव है, पहले तो उतना तैरने का बल पुरुषार्थ ही नहीं होता। कुछ दूर तैरे भी तो ग्राह आदि जल-जन्तु ही निगल जाते हैं, उनसे ही बचना कठिन है। वैसे ही विषय वारि से निर्लिप्त रहकर योगादि साधनों से उनके परिणाम तक निबहना असंभव है। आगे घुणाक्षर न्याय से यही कहा गया है। यदि कोई साहस करे भी और संसार के विषयों से निर्लिप्त रहकर साधन में लगे, तो इसमें पुत्र, मित्र, स्त्री आदि ग्राह आदि जन्तुओं की तरह निगल जानेवाले चारों ओर से मुँहवाये रहते हैं, अर्थात् अपने अपनेमें स्नेह दिखाकर उसमें ही इसकी आयु निगल जाते हैं। इनसे बचे भी तो अंत तक निबहना कठिन है, इत्यादि।

भक्ति नाव है, भगवान् इसके केवट रहते हैं, इसे सुख पूर्वक पार कर देते हैं, यथा—"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥" (गीता १२।६-७)।

सारांश यह कि भक्ति छोड़कर और साधनों से सुख चाहना मूर्खता है।

सुनि भुसुंडि के बचन भवानी। बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी ॥५॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं ॥६॥
सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा ॥७॥

अर्थ—हे भवानी ! भुशुंडिजी के वचन सुनकर गरुड़जी प्रसन्न होकर कोमल वाणी बोले ॥५॥ हे प्रभो ! आपकी प्रसन्नता से मेरे हृदय में संशय, शोक, मोह और भ्रम नहीं रह गये ॥६॥ मैंने पवित्र श्रीरामजी के गुण समूह सुने और आपकी कृपा से विश्राम पाया (अर्थात् मुझे शांति मिली) ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनि भुसुंडि के बचन भवानी।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा॥" (दो० ६४) है। इन बीस दोहों में गरुड़जी के चारों प्रश्नों के उत्तर हो गये। 'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी।'—इसी तरह गरुड़जी की वाणी पर पहले काकजी को भी हर्ष हुआ था, यथा—"गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा।" (दो० ६४)।

(२) 'संसय सोक मोह भ्रम नाहीं'—पहले ये चारों थे, यथा—"भयउ हृदय मम संसय भारी।",

"मोहि भयउ अति मोह"; "सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।" (दो० ६८); "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई" (दो० ५८)।

यहाँ तर्क के तीन प्रसंगों मे उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया गया है—

प्रथम प्रसंग—गयउ मोर संदेह, सुनेउ सकल रघुपति चरित। भयउ राम पद नेह, तव प्रसाद वायस तिलक।···तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥ (दो० ६८)।

द्वितीय प्रसंग—तव प्रसाद मम मोह नसाना। रामरहस्य अनूपम जाना॥
प्रभु तव आश्रम आये, मोर मोह भ्रम भाग॥ (दो० ९४॥)

तृतीय प्रसंग—तव प्रसाद प्रभु मम मन माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥
सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा।

प्रसाद की आवृत्ति तीनों बार में है। पहली बार 'रघुपति चरित' सुनना कहा है, क्योंकि उसमे दो० ६२ चौ० ७ से दो० ६७ चौ० ६ तक सम्पूर्ण चरित कहा गया है। उससे 'संदेह' निवृत्ति कही गई है। दूसरी वार 'राम रहस्य अनूपम' जानना कहा गया है और 'मोह भ्रम' की निवृत्ति कही गई है। वह दो० ६६ चौ० ५ से दो० ६२ तक है, उसमे गुप्त चरित हैं—प्रभु का रूप, उनके विषय में मोह, प्रभु का सहज स्वभाव, उनकी क्रीड़ा, महिमा और भुशुंडिजी के अनुभव आदि हैं। तीसरी बार गरुड़जी के ४ प्रश्नों के उत्तर हैं—दो० ९४ चौ० ५ से दो० ११४ चौ० ४ तक 'पुनीत राम गुन ग्रामा' सुनना कहा गया है, क्योंकि इसमें आदि से अंत तक पवित्र भक्ति ही का महत्त्व प्रतिपादित है। कलि धर्म के वर्णन मे भी उसके 'पुनीत प्रताप' एवं 'बिनु प्रयास निस्तार' से परम पुनीतता ही है।

संशय, मोह, शोक और भ्रम—प्रभु के परब्रह्म होने मे अनिश्चय होना संशय है जो पहले सुना था कि ब्रह्म हैं, किंतु रण बंधन से संदेह हो गया था। बंधन ही निश्चय किया था—यह मोह था। राम परत्व हृदय से चला गया था, उसका शोक था। श्रीरामजी को प्राकृत बालक मान लेना भ्रम था।

"ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता"—प्रकरण

(पाँचवाँ प्रश्न और उसका उत्तर)

एक बात प्रभु पूछउँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥८॥
कहहिं संत मुनि वेद पुराना। नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥९॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥१०॥
ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥११॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, हे दयासागर! वह मुझे समझाकर कहिये॥८॥ संत, मुनि, वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञान के समान कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥९॥ हे गोस्वामी! वही (ज्ञान) मुनि ने आपसे कहा, पर आपने भक्ति के समान उसका आदर नहीं किया॥१०॥ हे कृपा-निधान! हे प्रभो! ज्ञान और भक्ति में कितना अंतर है? यह सब मुझसे कहिये॥११॥

विशेष—(१) 'एक बात'—पूर्व के चार प्रश्नों के उत्तर तो हो गये, उसी में एक बात की शंका और भी हो आई। वह मेरी दृष्टि में 'एक ही' अर्थात् भारी है, अतः, इसे पूछता हूँ। उत्तर देने का सामर्थ्य दिखाते हुए 'प्रभु' और कृपा करके कहने के लिये 'कृपानिधि' भी कहा है, क्योंकि बार-बार प्रश्न करने से कहीं अप्रसन्न न हो जायँ।

(२) 'नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।'—आगे ऐसा ही भुशुंडिजी भी कहेंगे—"अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।" (दो० ११८); तथा—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (गीता ४।३८)।

(३) 'सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ'; यथा—"लागे करन ब्रह्म उपदेसा।" से "बारि बीचि इव गावहि बेदा।" तक। इसे ही निर्गुण मत, ब्रह्म-उपदेश एवं ज्ञान कहा है। 'नहिं आदरेहु'—क्योंकि उसे चित्त लगाकर सुनते भी नहीं थे; यथा—"मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ।" और उसपर उत्तर प्रति उत्तर करके उसे खंडन भी किया है तो क्या आपका मत उपर्युक्त संत, मुनि, वेद और पुराण से भिन्न है? यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

(४) 'सकल कहहु'—सामान्य रीति से तो एक ही बात का प्रश्न है कि 'ज्ञान और भक्ति में कितना अंतर है'; पर भुशुंडिजी के समाधान से कई प्रकार के अंतर (भेद) प्रकट हुए हैं—एक तो पुंसत्व-स्त्रीत्व का, दूसरा साधन में कठिनता और सुगमता का और तीसरा दीपक और मणि का-सा अंतर कहा गया है, यही 'सकल' पद का आशय है। 'प्रभु कृपानिकेता' का भाव ऊपर चौ० ८ का ही यहाँ भी है, यहाँ भी कई प्रकार के भेदों को पूछा है।

सुनि उरगारि बचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना ॥१२॥
भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा ॥१३॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंगवर ॥१४॥
ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥१५॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती ॥१६॥

अर्थ—गरुड़जी के वचन सुनकर सुजान काक भुशुंडिजी ने सुख माना और वे आदर पूर्वक बोले ॥१२॥ कि भक्ति में और ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, दोनों संसार जनित दुःख को हरते हैं (अर्थात् भव खेद हरण सामर्थ्य में दोनों समान हैं) ॥१३॥ (पर) हे नाथ! मुनीश्वर लोग कुछ भेद कहते हैं, हे खगराज! उसको भी सावधान होकर सुनिये ॥१४॥ हे हरिवाहन! सुनिये, ज्ञान, वैराग्य योग और विज्ञान, ये सब पुरुष वर्ग (पुँल्लिंग) हैं, [यद्यपि ज्ञान आदि नपुंसक हैं, पर भाषा में नपुंसक उभय लिंग (पुंसत्व-स्त्रीत्व) में ही माना जाता है] ॥१५॥ पुरुष का प्रताप सब प्रकार प्रबल होता है और अबला (स्त्री) स्वाभाविक ही निर्बल और जड़ जाति (जड़ स्वभाव) होती है ॥१६॥

विशेष—(१) 'मुनीस कहहिं' का भाव यह कि श्रीगरुड़जी ने संतों-मुनियों आदि का प्रमाण दिया है, यथा—'कहहिं संत मुनि बेद पुराना।···' अतः, उन्हींके प्रमाण से काकजी भेद भी कह रहे हैं कि जिन्हें वे

प्रमाण मानते हैं। मुनीश्वर लोगों ने वेद-शास्त्र के अनुसार निश्चय करके मनन किया है। अतः, उनका कथन ठीक है।

(२) 'सावधान सोउ सुनु'—मन, मति और चित लगाकर सुनो, क्योंकि इसका अभिप्राय बड़ा गूढ़ है।

पहले तो भक्ति को घर की कामधेनु और ज्ञान को मदार के समान कहा था, यहाँ अभेद कहते हैं, यह क्यों? इसपर कहा है कि भव-खेद-हरण मात्र में तुल्यता है जो भेद हैं उन्हें भी सावधान होकर सुनो।

(३) 'ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ...'—भाव यह कि इनका करनेवाला अपने पुरुषार्थ का बल रखता है, पुरुषार्थ-निष्ठ होने से पुरुष है; यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३)।

(४) 'अबला अबल...'—यह स्वभाव से ही अबल रहती है, पुरुष के अधीन रहती है, सामने होते डरती है, इससे अबला है। पर स्वभाव से जड़ होती है, डाँट-फटकार सहकर भी अपना हठ रखती है, हानि-लाभ का विचार नहीं करती, इसीसे पुरुष इससे हार मान लेता है।

दोहा—पुरुष त्याग सक नारिहि, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी बिषयाबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥
सो०—सोउ मुनि ज्ञान-निधान, मृग-नयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान, नारि बिष्णु माया प्रगट॥११५।

अर्थ—जो पुरुष वैराग्यवान् और धीरबुद्धि हो वह स्त्री को त्याग सकता है। कामी जो विषयों के वश है और रघुवीर-पद-विमुख है वह नहीं॥ पर हे हरिवाहन! (जो विरक्त मतिधीर है) वह ज्ञान-निधान मुनि भी मृगनयनी के चन्द्रसमान मुख को देखकर उसके विशेष वश हो जाता है, क्योंकि विष्णु भगवान् की माया प्रकट स्त्री स्वरूप है॥११५॥

विशेष—(१) 'न तु' शब्द के तरह-तरह के अर्थ किये जाते हैं। पर इसमें 'तु' पादपूर्ति के लिये है; यथा—"तु हि च स्म ह वै—पाद पूरणे।" (रूप माला-अव्ययार्थ भाग); अतः, न' मात्र का अर्थ लेना चाहिये—'नहीं'।

अन्यत्र 'नत' का अर्थ 'नहीं तो' लिया गया है, वह ठीक है, पर यहाँ तो 'न तु' है। 'बिषया' पद का अर्थ भी 'विषय' मात्र है, इसे इस तरह भी प्रयोग करने की ग्रन्थकार की रीति है; यथा—"बिषया बन पाँवर भूलि परे।" (दो० १४); "बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।" (दो० १००)।

(२) 'विरक्त' के विरुद्ध में 'कामी' और 'मतिधीर' के विरुद्ध में 'विषयाबस' (विषयवश) कहा गया है। कामी और विषयवश (अधीरमति) भी यदि रघुवीर की शरण हो, तो उसे भी माया नहीं व्याप्त होती; यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते।" (गीता ७।१४)—यह भाव भी गर्भित है।

(३) 'नारि बिष्णु माया प्रगट'—इससे जाना जाता है कि स्त्री के द्वारा इन्द्र आदि भी जीते

गये हैं ; यथा—"(याभिः) शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबला, कथं ताः" (भर्तृहरि) ; अर्थात् जिन्होंने इन्द्र आदि को जीत लिया, वे अबला कैसी ? भाव यह कि वे तो परम प्रबला हैं। सामान्य देव की माया इन्द्र आदि को नहीं जीत सकती 'नारि विष्णु' कहा गया है 'प्रगट' का भाव यह कि प्रकट स्त्रियों मे यह बात है, अप्रकट जो ऋद्धि-सिद्धि आदि हैं, उनका तो कहना ही क्या ?

> इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद-पुरान संत मत भाखउँ ॥१॥
> मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥२॥
> माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि-बर्ग जानइ सब कोऊ ॥३॥
> पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी ॥४॥

अर्थ—मैं यहाँ कुछ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ, किन्तु वेद-पुराणों और संतों का जो सिद्धान्त मत है, वह कहता हूँ ॥१॥ हे पन्नगारि ! यह अनुपम (अनोखी) रीति है कि स्त्री के रूप पर स्त्री नहीं मोहित होती ॥२॥ और आप सुनें कि माया और भक्ति ये दोनों ही स्त्री वर्ग (अर्थात् स्त्रीलिंग) हैं, यह सब कोई जानते हैं ॥३॥ फिर (उसपर भी) रघुवीर श्रीरामजी को भक्ति प्यारी है और माया विचारी (तो) निश्चय ही नाचनेवाली नटिनी है ॥४॥

विशेष—(१) 'इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ।'—प्राय लोग अपने अभीष्ट मत का पक्ष करते हैं, पर मैं यहाँ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ, किन्तु सत्य सिद्धान्त कह रहा हूँ। भाव यह कि वाद-विवाद में अपना पक्ष सिद्धि के लिये पक्षपात करना भी नीति है, जैसे कि मैंने श्रीलोमशजी के निर्गुण पक्ष लेने पर उनके प्रति शास्त्रार्थ में उनका मत खंडन करके अपना मत सिद्ध किया है। पर जहाँ कोई जिज्ञासु निर्णय चाहता हो वहाँ वही कहना चाहिये, जो सत्य हो, भाव यह कि यहाँ आप यथार्थ निर्णय चाहते हैं, इससे मैं सत्य ही कहता हूँ।

(२) 'मोह न नारि नारि के रूपा।'''—'मोह' का अर्थ यहाँ कामातुर होने का है कि कैसी भी सुंदर स्त्री हो, परन्तु उसे देखने पर दूसरी स्त्री के हृदय में कामोद्दीपन नहीं होता। भक्ति स्वयं नारि-वर्ग होने से स्त्री है, वह माया रूपा स्त्री की छटा पर मोहित नहीं होती। जैसे पुरुष स्त्री को देखकर मोहित (कामासक्त) हो जाता है। *वैसे ही पुरुषवर्गवाले ज्ञान आदि माया स्त्री को देखकर मोहित हो जाते हैं।*

जैसे स्त्री स्त्री के साथ रहकर भी उसपर नहीं मोहित होती वैसे भक्तिवाले माया के साथ रहकर भी उसपर नहीं मोहित होते। इसपर "जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।" (कि० दो० १४), तथा "करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा।" (दो० १४) प्रसंग भी देखिये। परन्तु पुरुष स्त्री के साथ रहकर मोह जाते हैं। इसी से ज्ञानी को सदा माया त्याग की शिक्षा दी गई है।

तात्पर्य यह कि भक्ति इन्द्रियों से की जाती है, इन्द्रियाँ भगवान् का अनुभव करती हुई प्राकृत विषयों की अपेक्षा कहीं अधिक सुख पाती हैं, तो वे मायिक विषयों की ओर क्यों ताकेंगी ? भक्तों का विषय अपनी कामना से नहीं होता, भगवान् के लिये ही उनकी सब कामनाएँ होती हैं, यथा—"कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया।" (भाग० ९।४।२०) यह अम्बरीषजी के विषय में कहा गया है। गीता ।७ में भी यही भाव है। तथा—"राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय-भोग बस करहिं कि तिन्हहीं ॥" (अ० दो० ८३)।

पर ज्ञान आदि साधनों में इन्द्रियों की सहज वृत्तियों को रोकना होता है फिर उन्हें दूसरा कोई वैसा आधार नहीं रहता; यथा—"साधन कठिन न मन कहँ टेका।" (दो० ४४); इससे वे विषयों पर बलात् दौड़ती हैं।

(३) 'पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।···'—कहीं-कहीं स्त्री भी और-और स्त्रियों को ठग लेती है, उसपर कहते हैं कि जो स्त्री अपने समर्थ पति से त्यागी हुई होती है, उस (दोषवती) पर ही औरों का प्रभाव पड़ता है। भक्ति अनन्या होने से पतिव्रता है, अतएव प्यारी है, पति-रघुवीर उसके रक्षक हैं। भक्ति पटरानी है, उनकी बगल में बैठनेवाली है। माया नटिनी दासी है; यथा—"सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥" (दो० ७१); नृत्य आदि के कारण राजा उसका कुछ आदर भले ही कर दे, पर इतना सामर्थ्य उसमें कब हो सकता है कि वह पटरानी पर आँख उठावे ? 'बिचारी'—भक्ति के सामने उसका कुछ चारा (वश) नहीं चलता, दासी ही तो ठहरी !

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥५॥
राम-भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥६॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥७॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी भक्ति के अनुकूल (उसपर प्रसन्न) रहते हैं, इसी से माया उससे अत्यन्त डरती है॥५॥ उपमा-रहित और उपाधि-रहित श्रीराम-भक्ति जिसके हृदय में सदा निर्विघ्न बसती है॥६॥ उसे देखकर माया सकुचाती है, किंचित् भी अपनी प्रभुता नहीं कर सकती॥७॥ ऐसा विचार कर जो विज्ञानी मुनि हैं वे समस्त सुखों की खानि भक्ति की याचना करते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'भगतिहि सानुकूल···'—भक्ति पर प्रभु की अनुकूलता सर्वत्र कही गई है, तथा—"भगति अवसहि बस करी।" (आ० दो० ११); "राम सदा सेवक-रुचि राखी।" (अ० दो० ११८); "जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७)। इसी से माया भक्ति से डरती है। 'अति डरपति'—श्रीरामजी से डरती है, भक्ति से अति डरती है। क्योंकि माया का कार्य भक्ति के प्रतिकूल है; यथा—"देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥" (बा० दो० २०१)। 'डरति' न कहकर 'डरपति' कहकर अक्षरों से भी उसके डर की अधिकता कही गई है।

(२) 'निरुपम निरुपाधी'—भक्ति की उपमा को कोई साधन नहीं पहुँचते, क्योंकि इससे परब्रह्म भी वश हो जाता है। इसमें साक्षात् प्रभु ही रक्षक रहते हैं, इससे इसमें किसी उपाधि (उत्पात, उपद्रव) की शंका नहीं है। किन्तु इसे अबाध्य रूप से (सदा एकरस) हृदय में बसाना चाहिये, इसलिये 'बसइ अबाधी' भी कहा है। निर्गुण भक्ति औपाधिक है, क्योंकि उसमे सेवक-सेव्य भाव न रहने से प्रभु रक्षक नहीं रहते, अपनी ही परिमित शक्ति से विघ्नों का सामना करना पड़ता है। अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि।" (बरवा ४८)।

कोई-कोई उपाधि का अर्थ धर्म-चिंता लेते हैं कि और धर्मों की चिन्ता को यह भक्ति छुड़ा देनेवाली है; यथा—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); और 'अबाधी' को भक्ति का ही विशेषण मानकर उपद्रव-रहित का भी अर्थ ले लेते हैं।

विशेष—(१) इस एक ही अर्द्धाली में शुद्ध जीव का स्वरूप कहा गया है, क्योंकि सूक्ष्म तत्त्व का वर्णन भी सूक्ष्म ही शब्दों में किया जाता है। बद्ध जीव का लक्षण भी एक ही अर्द्धाली में कहा गया है; यथा—"हरष-बिषाद ग्यान-अग्याना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (बा० दो० ११५)—वहाँ भी देखिये।

(२) 'ईश्वर अंस'—श्रुति, गीता और पुराणों में जीव ईश्वर का अंश कहा गया है, यथा—"अंशो नाना व्यपदेशात्…।" (ब्र० सू० २।३।४३);तथा—"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥" (मुंडक २।१); अर्थात् जैसे प्रज्वलित अग्नि से हजारों चिनगारियाँ कण-रूप में निकलती हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विविध जीव उत्पन्न होते हैं। पुन. ब्रह्म ही में लय हो जाते हैं। "ममैवांशो जीव-लोके जीवभूतः सनातनः।" (गीता १५।७); अर्थात् इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। "चिन्मात्रं श्रीहरेरंशं सूक्ष्ममक्षरमव्ययम्। कृष्णाधीनमिति-प्राहुर्जीवं ज्ञानगुणाश्रयम्॥" (स्कंदपुराण); अर्थात् यह जीव चिन्मात्र है, श्रीहरि का अंश है, सूक्ष्म, अक्षर एवं अव्यय है और इसे कृष्ण भगवान के अधीन कहा जाता है, यह जीव ज्ञान-रूपी गुण का आश्रय है।

चिनगारी की तरह अंश कहने से समझा जाता है कि जैसे चिनगारी अग्नि से निकलने पर नाश हो जाती है, वैसे ही जीव भी/नाशवान होगा, उसपर कहते हैं कि 'जीव अविनासी' है। अविनाशी की व्यवस्था दो ही प्रकार से हो सकती है, या तो विभु हो अथवा अणु। यहाँ विभु (व्यापक) जीव को कह नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर का अंश कहा जा चुका है। अतएव अणु ही मानना होगा। पुनः उत्तरार्द्ध में 'अमल' अर्थात् कामादि मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् सद्रूप (सत् रूप) कहा जायगा। उससे भी अणु-स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अतः, जीवात्मा अणु परिमाण ही है; यथा—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश॥" (मुं० ३।१।९) अर्थात् जिसमें पंचविध प्राण प्रविष्ट हैं, यह अणु परिमाण आत्मा सावधानी से जानने योग्य है। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥" (श्वे० ५।९-१०); अर्थात् बाल के अग्र भाग के सौ भाग करे, उनके एक भाग के पुनः सौ भाग करने पर जितना वह एक भाग हो, उतना ही परिमाणवाला जीव तत्त्व होता है और वह अनंत एवं असंख्य है। वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक नहीं है; किन्तु जिस जिस शरीर को ग्रहण करता है उसी-उसी से मिल जाता है। तथा—"अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दन विन्दुवत्॥" (स्कंदपुराण); अर्थात् यह जीव अणु परिमाण होते हुए भी सब शरीर में व्याप्त होता है, जिस प्रकार मलय चन्दन का एक विन्दु शरीर के एक देश में रहते हुए भी अपने धर्मभूत सुगंध के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में सुगंधि को प्रकट करता है, उसी प्रकार जीव अणुपरिमाण होते हुए भी अपने धर्म-भूत ज्ञान के द्वारा सर्वांग देह में व्याप्त होता है।

उपर्युक्त रीति से 'अविनासी' कहकर जीव का अणुत्व कहा। इसपर भी अणु स्वरूप जीवात्मा के प्रकृति-परमाणुओं की तरह जड़ होने की शंका होती, इसलिये 'चेतन' भी कहा है, क्योंकि—"अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवस्य लक्षणम्।" अर्थात् अणु होते हुए चेतन होना जीव का लक्षण है। जीवात्मा स्वयं चिद्रूप है और स्वधर्म भूत ज्ञान का आश्रय भी है, इसीसे यह 'चेतन' कहा जाता है, यथा—"अरे वाऽयमात्मा विज्ञान घन एव।" (बृह० २।४।१२); अर्थात् श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीमैत्रेयीजी से कहते हैं—अरे मैत्रेयि! यह आत्मा विज्ञान घन-स्वरूप है। "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा

कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥" (प्रश्नो० ४।१) ; अर्थात् यह ही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, संकल्प करनेवाला, जाननेवाला, करनेवाला और विज्ञानात्मा—जीव पुरुष है । यह अविनाशी परमात्मा में स्थित है ।

इन दोनों प्रमाणों से जीव की उपर्युक्त ज्ञान स्वरूपता और ज्ञानाश्रय होने की ज्ञान-गुणकता सिद्ध हुई ।

'अमल' अर्थात् कामादि मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् (सद्रूप) सत्-रूप है ।

'सहज सुखरासी' अर्थात् स्वाभाविक आनन्द-स्वरूप है ।

उपर्युक्त रीति से 'अमल, चेतन, सहज सुखरासी' से क्रमशः 'सत्-चित्-आनन्द' अर्थात् जीव का सच्चिदानन्द स्पष्ट रूप स्पष्ट हुआ ।

ये ही 'सत्-चित्-आनन्द' तीनों लक्षण छः प्रकार में भी कहे गये हैं ; यथा—"तृतीय पदेन मकारेण ज्ञानानन्दस्वरूपो ज्ञानानन्दगुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयं प्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते ।" (अग्र स्वामि कृत-रहस्यत्रय) इन छहों में प्रथम के तीन के आधार पर अगले तीन रहते हैं, जैसे कि—'ज्ञानानन्द स्वरूपता' से 'देहादि विलक्षणता' रहती है, क्योंकि यह बोध रहता है कि मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, यह मलिन, दुःखमय एवं हेय शरीर रूप कैसे हूँ ? इस ज्ञान से इसमें देहाभिमानियों के प्रतिकूल आत्म लक्षण रहते हैं, यह उपर्युक्त 'सहज सुखरासी' के अर्थ में है । तथा—'ज्ञानानन्द गुणक' होने से यह 'स्वयं प्रकाश' रहता है । क्योंकि इसे यह बोध रहता है कि मैं स्वरूप से ही ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञान-गुणक हूँ, मेरा ज्ञान-रूप प्रकाश बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रिय आदि की क्रिया से नहीं है । मैं स्वयं प्रकाश रूप हूँ । जीवात्मा अपने धर्म भूत ज्ञान के प्रकाश से शरीर के एक देश में रहते हुए भी समग्र इन्द्रिय-अंतःकरण को चैतन्य किये रहता है ; यथा—" यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥" (गीता १३।३३) ; यह उपर्युक्त—'चेतन' के अर्थ में आया । पुनः 'अणु परिमाण' होने से 'नित्यरूप' है, यह ऊपर 'अविनासी' के अर्थ में कहा गया । यह उपर्युक्त 'अमल' के अर्थ की सत्-रूपता में आया । जीव की नित्यरूपता को श्रुति भी कहती है ; यथा—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।" (श्वे० ६।१।२३) । भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य ने जीव के इन लक्षणों को मंत्रार्थ प्रसंग में स्पष्ट लिखा है ; यथा "ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो मेन वेद्योऽणुमानो, देहादेरप्य पूर्वो विविदित विविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः । नित्यो जीवस्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो, जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनतिसुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम् ॥" (श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर १।१) । अर्थात्—हे शुभकार्यों में सुन्दर बुद्धिवाले सुरसुरानन्द ! (राम मंत्र के बीज के). तृतीयाक्षर मकार से शास्त्रज्ञ सज्जन जिज्ञासुओं के सदा वेद्य (जानने योग्य), ज्ञान आनन्द स्वरूप तथा ज्ञान और सुख आदि गुणोंवाला अणु परिमाणवाला, देह-इन्द्रिय आदि से विलक्षण, बद्ध आदि भेदों से अनेक प्रकारवाला प्रसिद्ध, परमात्मा का प्रिय, मोक्ष आदि में परमात्मा ही जिसका उपाय है, जो नित्य है और स्वप्रकाश है—यह जीव कहा जाता है ।

इनके उदाहरण—

चेतन—"निज सहज अनुभव रूप तू खल भूलि अब आयो कहाँ ?" (वि० १३६) ।

अमल—"निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई ।" (वि० १३६) ।

सहज सुखरासी—"आनंद सिंधु मध्य तव बासा । बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥" (वि० १३६) ।

(३) 'तेहि बिलोकि माया ' '—इतना डरती है कि इसे देखकर ही सकुच जाती है; क्योंकि इसपर स्वामी का अत्यन्त प्यार है।

(४) 'अस विचारि '—ज्ञान-मार्ग को सबाध्य और भक्ति-मार्ग को अबाध्य विचार कर, यह भेद समझकर विज्ञानी मुनि भी भक्ति ही माँगते हैं, मुख्य मैं ही इसका पक्षपाती नहीं हूँ। 'सकल सुखखानी', यथा—"सब सुखखानि भगति तैं माँगी।" (दो॰ ८४), "भगति तात अनुपम सुखमूला।" (आ॰ दो॰ १५)।

दोहा—यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति-कृपा, सपनेहु मोह न होइ॥
औरउ ज्ञान भगति कर, भेद सुनहु सुप्रबीन।
जो सुनि होइ राम-पद, प्रीति सदा अबिछीन॥११६॥

अर्थ—यह श्रीरघुनाथजी का गुप्तचरित कोई भी शीघ्र नहीं जान पाता, जो जानता है वह श्रीरघुनाथजी की कृपा से ही (उस ज्ञाता को) फिर स्वप्न में भी मोह नहीं होता॥ हे परम प्रवीण श्रीगरुडजी! ज्ञान और भक्ति का और भी भेद सुनिये, जिसके सुनने से श्रीरामजी के चरणों में कभी भी क्षीण न होनेवाली (एकरस रहनेवाली) प्रीति होती है॥११६॥

विशेष—(१) 'यह रहस्य'—एकान्त में कही जानेवाली बात रहस्य कहलाती है। भगवान् श्रीरामजी ने जो श्रीभुशुण्डिजी से ऐकान्तिक क्रीड़ा करते हुए कहा था—"मोहिं भगत प्रिय संतत" "भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥" (दो॰ ८५) वही रहस्य ऊपर कहा गया, यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।" से 'जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥" तक। पुन माया और भक्ति स्त्री हैं, भक्ति श्रीरामजी को प्रिय है, इससे माया उससे डरती है—यह सब रहस्य है। 'जो जानइ रघुपति-कृपा', यथा "जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ! पगनि परन।" (वि॰ २५१)। "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ॰ दो॰ १२६), अन्यथा ब्रह्मादि भी प्रभु के मर्म को नहीं जान पाते, यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते॥" (वाल्मी॰ ७।११०।१०), "बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननि हारा॥" (अ॰ दो॰ १२६)।

(२) 'औरउ'—भाव यह है कि वर्ग भेद पहले कहा गया कि ज्ञानादि पुरुषवर्ग माया को त्यागकर पुन उसमें मोहित हो जाते हैं, पर भक्ति स्त्रीत्व के कारण उसमें मोहित नहीं होती। फिर दूसरा भेद यह कि भक्ति पर श्रीरामजी की अनुकूलता देखकर माया नर्त्तकी इससे डरती है, बाधा करने नहीं आ सकती। पर ज्ञान में यह बात नहीं है, ज्ञानी को तो अपने ही बल से सामना करना है। अब आगे तीसरा भेद कहते हैं, इसमें ज्ञान को दीपक-रूप और फिर भक्ति को चिंतामणि रूप कहकर महान अंतर दिखावेंगे कि ज्ञान में साधन की कठिनता है, वह भी घुणाक्षर न्याय ही से सिद्ध हो तो हो, फिर भी अनेकों विघ्न हैं। पर भक्ति-चिंतामणि में साधन सुगमता है, विघ्नों का डर नहीं है और यह अपरिमित प्रभाववाली है, इत्यादि भेद जानने पर फिर भक्ति ही में दृढ श्रद्धा होगी, तब उस श्रद्धा से श्रीरामजी के चरणों में अविच्छिन्न (अटूट, लगातार) प्रीति होगी और उससे यह भक्ति दृढ होगी यथा—"प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई।" (दो॰ ८८)। ध्वनि यह है कि यद्यपि आपके संशय, शोक, मोह और भ्रम दूर हो गये, तथापि अभी

आपको अविच्छिन्न राम-पद प्रेम नहीं प्राप्त हुआ, इसीसे शुष्क ज्ञान को श्रेष्ठ समझ रहे हैं। पर अब जो भेद कहूँगा, इससे श्रीरामजी के चरणों मे आपकी अटूट प्रीति होगी।

कथा कहने से पहले ही माहात्म्य कहा जाता है, तब उसके सुनने में विशेष मन लगता है, इसलिये यहीं ही माहात्म्य कहा गया है।

पहले भेद मे कहा गया कि ज्ञान माया को त्यागता है और फिर उसपर मोहित होकर स्वयं बँध जाता है। दूसरे मे ज्ञानी को अपने ही बल से वचना कहा, वचना न वचना सदिग्ध रक्खा। इस तीसरे भेद मे यह दिखावेंगे कि ज्ञानी सातवीं भूमिका तक पहुँच जाता है और सावधान रहता है, तब भी माया उसे अपनी प्रबलता से ठग लेती है। इसपर जो प्रवीण होगा, वह अवश्य ही उस ज्ञान से मुँह मोडकर भक्ति की शरण लेगा, इसीसे कहा है—'जो सुनि होइ राम पद '

ज्ञान-दीपक-प्रसंग

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी ॥१॥

अर्थ—हे तात! यह अकथ कहानी सुनिये। यह समझते ही बनती है, पर कही नहीं जा सकती ॥१॥

विशेष—(१) 'सुनहु' से श्रीगरुडजी को सुनने के लिये सावधान किया। 'तात' से अपना वात्सल्य शिष्य पर दिखलाया। 'यह अकथ' कहकर इस ज्ञान कहानी को अनधिकारी के प्रति 'अकथ्य' अर्थात् नहीं कहने योग्य कहा, क्योंकि यह वेद-रहस्य है, कहा भी है—"ममतारत सन ज्ञान कहानी। ऊसर बीज बये फल जथा ॥" (सु० दो० ५०), अतएव उपसन्न, सम्यक् प्रशान्त चित्त और शमान्वित अधिकारी से ही कहना चाहिये, अन्यथा इसका अनादर होगा। 'अकथ' के साथ ही 'कहानी' शब्द भी कहा है, अर्थात अधिकारी शिष्य के प्रति कहने की परपरा से यह वार्ता आई है, अत कहानी है भाव यह कि आप अधिकारी हैं, इससे हम आप से कहते हैं, सुनें।

(२) 'समुझत बनइ न जाइ बखानी'—भाव यह कि इतने सूक्ष्म विषय की वार्ता है कि यह बुद्धि से समझते ही बनती है, पर वाणी से कहने मे नहीं आती, यथा—"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैवचान्य। आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥" (गीता २।२९), अर्थात जीव तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना, सभी आश्चर्य रूप हैं। उसी जीव तत्त्व का इसमें मायावश होना और फिर साधन द्वारा मुक्त होना कहा जायगा। अत, इसका यथार्थ कहा जाना तो असभव-सा है, हाँ, बडी कठिनाई से लक्ष्य मात्र कहा जायगा, यथा—"केसव कहि न जाइ का कहिये" (वि० १११)। भाव यह कि यह समझकर अनुभव करने की चीज है। समझना भी कठिन है। उपसहार में कहा है—"समुझत कठिन" (दो० ११८)। अत, गुरु मुख से श्रवण कर इसका अनुभव हो सकता है, यथा—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान।" (दो० ८९), "ब्रह्म-सुखहि अनुभवहिं अनूपा।" (बा० दो० २१)।

ईश्वर अस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥२॥

अर्थ—जीव ईश्वर का अश है, अविनाशी है, चेतन, निर्मल और स्वाभाविक सुख की राशि है ॥२॥

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं ॥३॥

अर्थ—हे गोसाईं ! ऐसा यह जीव माया के वश हो गया, तोते और बन्दर की तरह (स्वयं) बँध गया ॥३॥

विशेष—(१) 'सो' जो ऊपर 'ईश्वर अंस...' में कहा गया। 'मायाबस'—माया (प्रकृति) तीनों गुणों की साम्यावस्था को कहते हैं; यथा—"सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति" (सांख्यसूत्र) तथा—"सो हरि माया सब गुनखानी।" (मा० दो० ११६)। इसी के गुण विषम होकर महत्तत्व आदि होकर जीवों के बाँधनेवाले होते हैं, यथा—"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥" (गीता १४।५-६)।

माया जड़ है और जीव चेतन है, जड़ पदार्थ चेतन को कैसे बाँध सकता है? और चेतन स्वयं कैसे जड़ के वश होता है? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं—'बँध्यो कीर मरकट की नाईं।'—यहाँ दृष्टान्त में 'बँध्यो' कहा है और दार्ष्टान्त में 'मायाबस' होना। भाव यह कि बँध जाने की तरह वश हो गया।

तोते को फँसाने के लिये खेत में दो खड़ी लकड़ियाँ गाड़, उन दोनों पर एक बेड़ी लकड़ी रखकर उसमें एक नलिनी (चुँगली) पहना देते हैं। तोते स्वभाव से ही ऊँचे पर से दाने चुगते हैं; अतः, ज्यों ही वे चुँगली पर बैठकर बाली चुगने के लिये नीचे को झुकते हैं, त्यों ही वह चुँगली घूम जाती है और तोते उलटा टँग जाते हैं; तब बहेलिया आकर पकड़ लेता है और उन्हें पिंजड़े में रख देता है।

वैसे ही यहाँ रजोगुण और तमोगुण दोनों बगल की खड़ी लकड़ियाँ हुए। सत्त्वगुण बीच की बेड़ी लकड़ी हुआ, बुद्धि नलिनी और प्राकृत सुख बाली (चारा) हुए। जीव-रूपी सुग्गा बुद्धि रूपा नलिनी पर बैठकर सुख-रूपा बाली के लिये ज्योंही झुका (चाहा) त्यों ही नलिनी घूमने के समान बुद्धि भ्रमित हुई और यह गर्भ में उल्टा टँग गया, तब जन्म काल रूपी बहेलिये ने संसार रूपी पिंजड़े में बंद कर लिया; यथा—"भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी॥" (कि० दो० १४)।

बंदर फँसाने के लिये छोटे (सँकरे) मुँह के घड़े में दाना भरकर उसे भूमि में गाड़ देते हैं, मुँह खुला रहता है, कुछ दाने ऊपर भी छींट देते हैं। बंदर आकर घड़े में हाथ डालकर अन्न की मुट्ठी बाँध लेता है, *फिर लोभ एवं मोह से मुट्ठी खोलता नहीं*, तब फँसा हुआ रह जाता है, इतने में मदारी आकर उसके गले में रस्सी लगाकर बाँध लेता है और उसे नचाता-फिरता है।

वैसे ही जगत् छोटे मुँह का घड़ा है। "जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद् परिवारा॥" (सुं० दो० ४७)। इन दसों का स्नेह जगत् की दसो दिशाएँ हैं। इनमें सुख और वासना दाने हैं, उनकी ममता रूपी मुट्ठी बाँध ली है। अतः, तीनों गुणरूपी तीन लड़वाली रस्सी में गला बँधा लिया और लोभ वश अनेक नाच नाचता है; यथा—"लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।" (वि० १४४)।

इस प्रकार यहाँ दो उपमाएँ दो प्रकार के बंधनों के लिये हैं, एक उपमा गर्भवास तक के लिये दूसरी सांसारिक जीवन के लिये है। तोता और बंदर स्वयं अज्ञान से बँधते हैं। वैसे ही जीव भी स्वयं माया वश होता है। तोते और बंदर अपनेको बँधा हुआ समझते हैं, पर वे नलिनी और मुट्ठी खोल दें तो छूट जायँ। वैसे ही जीव भी जगत् की वासना और ममता छोड़ दे, तो छूट जाय। इसे कोई दूसरा बाँधे हुए नहीं है।

जीव चेतन है, इसलिये इसे तोता और वंदर इन चेतनों की उपमायें दी गईं और माया जड़ है, इसलिये उसे लकड़ी और घड़ा आदि जड़ों की ही उपमाएँ दी गईं।

'सो ''गोसाई''—जीव का भी विशेषण मान सकते हैं कि वह था तो राजा पर इस दशा को प्राप्त हो गया; यथा—"निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह पर्‌यो ॥" (वि० १३१)।

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥४॥

अर्थ—जड़ और चेतन में गाँठ पड़ गई (वह गँठबंधन) यद्यपि मूठा है तथापि उसके छूटने मे कठिनता है ॥४॥

विशेष—(१) जड़ माया और चेतन जीव इन दोनों का विवेक नहीं होना बंधन है, जीव (पुरुष) के सम्बन्ध से प्रकृति (माया) चेतन-सी भासती है और प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष जड़वत् भासता है। इस तरह का अन्योन्य अध्यास (भ्रम) होना, एक के धर्म का दूसरे मे अध्यास होना, तादात्म्य हो जाना—चेतन और जड़ का गँठबंधन है, यही चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती है। 'जदपि मृषा'—यह गाँठ पड़ना मिथ्या है, क्योंकि जड़-चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक तम तो दूसरा प्रकाश, एक विषय तो दूसरा विषयी; एक अनित्य तो दूसरा नित्य। इनका सम्बन्ध कैसा ? एक का दूसरे में अध्यास होना भ्रम मात्र है। देह के धर्म मानापमान आदि का सुख-दुःख जीव को होता है। जीव के धर्म हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान आदि का आश्रय बुद्धि अहंकार आदि भासते हैं। यह भ्रम मात्र है। पर छूटना कठिन है; यथा—"भ्रम न सकइ कोउ टारि" "कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।" (दो० १११)।

(२) 'परि गई' यह शिष्य के समझाने के लिये कहा गया है, यह ग्रन्थि अनादि काल से पड़ी हुई मानी जाती है।

तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥५॥

अर्थ—(जब से जड़-चेतन की गाँठ पड़ गई) तब से जीव संसारी हो गया, न गाँठ छूटे और न वह सुखी हो ॥५॥

विशेष—(१) 'तब ते'—संसार चक्र अनादि काल से ऐसा ही चला आता है, जीव का भी माया से अनादि काल से ही सम्बन्ध है; यथा—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० गो० २८१); केवल समझाने के लिये 'तब ते' कहा गया है। तथा—"जिव जब ते हरिते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो। माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुःख पायो॥" (वि० १३६)। 'भयो संसारी' अर्थात् संसार के विषयों में लिप्त रहनेवाला जीव अपने ईश्वरांश भाव की सच्चिदानंद स्वरूपता का ऐश्वर्य खोकर ससारी हुआ। स्थूल शरीर छूटा करता है, पर सूक्ष्म शरीर से यह वासना लिये हुए नाना योनियों मे भ्रमण करता रहता है; यथा—"कवन जोनि जनम्यो जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥" (दो० ९५)।

(२) 'ग्रंथि न छूट न होइ सुखारी'; यथा—"तुलसि दास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ कि पावै॥" (वि० १२०), बिना ग्रंथि छूटे सहज स्वरूप की प्राप्ति नहीं और उसके बिना सुख नहीं। किसी भी उपाय से ग्रन्थि छूटनी चाहिये, इस प्रकार यहाँ प्रथम साधन 'मुमुक्षुता' का वर्णन हुआ।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥६॥

अर्थ—श्रुतियों और पुराणों ने बहुत से उपाय कहे हैं ; पर (उनसे) यह ग्रन्थि छूटती नहीं , किन्तु अधिक-अधिक उलझती जाती है ॥६॥

विशेष—(१) श्रुति-पुराण सत्य ही कहते हैं और बहुत उपाय कहे हैं, इससे इस चिज्जड़ ग्रंथि का छूटना अत्यावश्यक सूचित करते हुए, उन्होंने इसकी कठिनता दिखाई है। 'बहु उपाय'; यथा—" बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै। तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै ॥" (वि० १२०) । 'मैं मोर' यही ग्रन्थि है ।

कर्म, ज्ञान और उपासना ये ही उपाय हैं, इनसे भी ग्रन्थि नहीं छूटती । इसका कारण आगे 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी ।' कहा है, 'मोह अर्थात् देहाभिमान सहित सब साधन किये जाते हैं, इससे कर्मों में फलेच्छा, ममता और कर्त्तृत्वाभिमान हो जाते हैं, उनसे और भी उलझाव होता जाता है; यथा—"छूटै मल कि मलहि के धोये ।" (दो० ४९) ; ज्ञान में अहंकार आदि दोष और उपासना में दंभ लोभ आदि आ जाते हैं ; यथा—"करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यौं सुफूल फूलै तरु फोकट फरनि ॥ दंभ लोभ लालच उपासना बिनास नीके सुगति साधन भई उदर भरनि । योग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान वचन बिशेष बेष कहूँ न करनि ॥" (वि० १८४), "करतहुँ सुकृत न पाप नसाहीं। रक्त बीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥" (वि० ११८) ।

भाव यह कि पहले मोहांधकार दूर करके उपाय किया जाय तो सफलता की आशा हो। देहाभिमान (मोह) की निवृत्ति तभी होती है कि जब यह अपनेको एवं सब जगत् को भगवान् का शरीर जानता है, तब शरीरी होने से इसके सब उपायों के कर्त्ता भगवान् ही रहेंगे । इसी के लिये भगवान् ने जहाँ तहाँ विराट् रूप दिखा कर अपने को जगत् भर का शरीरी दिखाया है। और उसकी दुर्लभता पर कहा भी है—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥" (गीता ११।५३) ।

भगवान् को अपना और जगत् का शरीरी जान कर उपासना करना उक्त ग्रंन्थि छूटने का एक उपाय है । दूसरा कैवल्य ज्ञान साधन है, जिसे आगे—'अस संयोग ईस…' से कहेंगे । इन्हीं दोनों उपायों को गीता अ० १२ में 'एवं सतत युक्ता ये…' इस श्लोक में कहकर फिर इनका तारतम्य भी कहा है। वहाँ भगवान् ने कैवल्य साधन रूप अक्षरोपासना को अत्यन्त कठिन और भगवदुपासना को सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद कहा है । वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है। पहले कैवल्य साधन की कठिनता कहकर भक्ति चिंतामणि की महिमा में उसका सौलभ्य और शीघ्र फलप्रदत्व कहा है ।

जीव हृदय तम मोह बिसेखी । ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी ॥७॥

अर्थ—जीव के हृदय में मोह रूपी अंधकार बहुत है, गाँठ देख नहीं पड़ती तब वह छूटे कैसे ? ॥७॥

विशेष—(१) 'तम मोह' ; यथा—"मोह न अंध कीन्ह केहि केही ।" (दो० ६१) मोह अविवेक को कहते हैं वही देहाभिमान है ; यथा—"सेवहिं लषन सीय रघुवीरहिं । जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (अ० दो० १४१) । देह तो प्रकृति का परिणाम है, इसके द्वारा होनेवाले उपाय प्रकृति के गुणों से होते हैं, पर यह मूढ़ता से अहंकार करके कर्त्ता बन जाता है । इसी से उक्त ग्रंथि और-और अरुझती जाती है । अत , इस मोहांधकार को हटाने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है, जिससे गाँठ देख

पड़े, तब छोड़ी जाय ; अन्यथा ममता रूपी सूक्ष्म सूत्रों को अंधेरे में टटोलकर इधर-उधर खींचने से और भी अरुझन दृढ़ होगी, इसलिये दीपक जलाना चाहिये।

अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई ॥८॥

अर्थ—जब ईश्वर ऐसा संयोग कर दे (जैसा आगे कहते हैं) तब भी कदाचित् ही वह छूट जाय तो छूट जाय (अर्थात् छूटने में संदेह है) ॥८॥

विशेष—(१) ईश्वर ने कृपा करके मोक्ष साधन के लिये अपने अंश रूप जीव को दुर्लभ साज रूपी शरीर दिया है; यथा—"कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥" (दो० ४३) वैसे ही इस शरीर के उद्देश्य-पूर्त्ति के लिये कृपा करके यह संयोग भी कर दे कि आगे कहे हुए सब साज मिलते जायँ। सात्त्विक श्रद्धा प्राप्त हो और उससे खूब धर्माचरण हो, इत्यादि। सात्त्विक श्रद्धा आदि से अंत तक एक रस बनी रहे, यह भी ईश कृपा बिना नहीं हो सकता ; क्योंकि—"नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥ ..काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥" (दो० १०३) ; इस तरह यह संयोग भी कृपासाध्य है, क्रिया साध्य नहीं।

(२) 'तबहुँ कदाचित···'—कार्य सिद्धि में संदेह है, क्योंकि साधन कठिन है और साधक जीव संसारी होने से रोगी है ; यथा—"मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।" से "येहि बिधि सकल जीव जग रोगी। हरष सोक भय प्रीति बियोगी॥" तक (दो० १२०–१२१)। रोगी जीव कठिन साधनों का सामना नहीं कर सकता। पुनः 'अकृतोपास्ति ज्ञान' अर्थात् जिसमें उपासना की सहायता नहीं है, ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता ; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (दो० १२) ; 'सो'—वह चित्-अचित् की गाँठ, 'निरुअरई'—ग्रंथि भेदन हो जाय, सदा के लिये अध्यास मिट जाय।

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौ हरि-कृपा हृदय बस आई ॥९॥

अर्थ—यदि भगवान् की कृपा से सात्विकी श्रद्धा रूपी सुंदर गऊ हृदय (रूपी घर) में आ कर बसे ॥९॥

विशेष—(१) ज्ञान साधन को दीपक के रूपक मे कहना है, दीपक में घी पहले ही चाहिये। उस घी के लिये दुधार गौ को प्रथम कहा है ; जैसे वहाँ गौ की प्रथम ही आवश्यकता है, वैसे ही सब धर्मों मे श्रद्धा की प्रथम ही आवश्यकता है ; यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।" (दो० ९१)। श्रद्धा भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है। यहाँ सात्विक का ही प्रयोजन है ; यथा—"श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।" (गीता ४।३९); अर्थात् श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त करता है, जो साधन मे तत्पर और जितेन्द्रिय हो। 'धेनु सुहाई'—'धेनु' का अर्थ 'नई ब्याई हुई गऊ' परन्तु नई (तुरत) ब्याई हुई गऊ का भी दूध निषिद्ध माना जाता है। अतः, 'सुहाई' भी कहा है कि वह एक मास की ब्याई हुई हो गई हो। अतः, उसका दूध घी शुभ कर्म के योग्य हो सकता है। जैसे श्रद्धा राजसी तामसी भी होती है वैसे ही गऊ भी असुहाई होती है जो अभी महीने के भीतर की ब्याई है, अथवा जिसका बछड़ा मर गया हो एवं जो दूध कम देती हो। सात्विकी श्रद्धा का हरिकृपा से ही हृदय में बसना कहा है—

(२) 'जौ हरि कृपा हृदय बस आई ।'—हरि जीवों का क्लेश हरण करनेवाले हैं और सत्त्व गुण के अधिष्ठातृ देवता भी हैं। इससे उनकी कृपा से ऐसी रुचि होती है ; यथा—"अति हरि कृपा जाहि पर होई । पाउँ देइ येहि मारग सोई ॥" (दो० ११८) ; 'बस आई'—अचल होकर बसे, फिर चली न जाय। 'जौ⋯हृदय बस'—भाव यह कि हृदय में अभी मोह तम है, सवत्सा गौ अँधेरी जगह में रहना नहीं चाहती। वैसे मोह वशीभूत जीव के हृदय में सात्विक श्रद्धा नहीं रहती, हरिकृपा से ही ठहरती है। इससे सत्कर्म में हर्ष-पूर्वक इच्छा होनी है, और पारमार्थिक वृत्ति होती है ।

यहाँ से ज्ञान की सप्तभूमिका प्रारंभ है, सात्विक श्रद्धा के लिये आते ही तामस और राजस का नाश हो गया। इस अर्द्धाली में श्रद्धा सम्पत्ति का वर्णन हुआ, जो कि षट् संपत्तियों में पाँचवी है। (विवेक, विराग और शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये षट् संपत्ति एवं मुमुक्षुता—ये साधन चतुष्टय के भेद हैं, इनसे सम्पन्न होकर साधक ज्ञान का अधिकारी कहा जाता है)। आगे धेनु का अहार कहते हैं—

जप तप व्रत जम नियम अपारा । जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा ॥१०॥

अर्थ—अगणित जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि अनेक कल्याणकारक धर्म और सदाचार जो श्रुतियों ने (विधि रूप में) कहे हैं ॥१०॥

विशेष—(१) गौ के लिये उत्तम चारा हरे तृण चाहिये, वे श्रद्धा-रूपा गऊ के सम्बन्ध में क्या हैं, उन्हें यहाँ कहते हैं—

जप तप आदि यहाँ सात्विक ही अभिप्रेत हैं, जप आदि के वर्णन पूर्व आ चुके हैं—बा० दो० ३६ चौ० १०, १४ में देखिये और भी बहुत जगह आ चुके हैं। जप यज्ञों में श्रेष्ठ है ; यथा—"यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि ।" (गीता १०।२५) ; इसीसे इसे प्रथम कहा है, जप यज्ञ को ही कहा है, क्योंकि यह अहिंसात्मक है। जप ; यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग अराती ॥" (बा० दो० १०७) ; तप ; यथा—"बिसरी देह तपहि मन लागा ॥" (बा० दो० ७२) ; व्रत-यथा "हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई ।" (दो० १०८) ; 'जप, तप, व्रत और शुभ धर्माचार ये सब उपरम के अंग हैं। उपरम स्वधर्मानुष्ठान को कहते हैं, यह षट् संपत्तियों में तीसरा है। 'यम नियम' समाधान के अंग हैं, समाधान षट् संपत्तियों में छठा है। 'तप' से तितिक्षा का वर्णन है, यह षट् सम्पत्तियों में चौथी है।

यम पाँच हैं—"अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा ।"

अहिंसा—"परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा ।" (दो० १२०) ।

सत्य—"कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी ।" (अ० दो० १२६) ।

अस्तेय—"धन पराव बिष ते बिष भारी ।" (अ० दो० १२९) ।

ब्रह्मचर्य—"ब्रह्मचर्य व्रत रत मति धीरा । तुम्हहिं कि⋯ ।" (बा० दो० १२८) ।

अपरिग्रह—"जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब येहि लागे। तदपि न तजत स्वान अज खर त्यों रहत विषय अनुरागे ॥" (वि० ११७) । विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय और संग से हिंसादि दोष होते हैं, अतएव इनका त्यागना अपरिग्रह है ।

नियम भी पाँच हैं—"शौचसंतोष तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।"

शौच—"सकल सौच करि जाइ नहाये।" (बा० दो० २२६)।

संतोष—"आठवँ जथा लाभ संतोषा।" (अ० दो० ३५)।

तप—"कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन···।" (बा० दो० ७३)।

स्वाध्याय—वेद पाठ एवं मंत्र जप; यथा—"नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रह्लादू।" (बा० दो० २५)।

ईश्वर प्रणिधान—सब कर्मों का ईश्वरार्पण करना; यथा—"प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।" (दो० १०२)।

'अपारा'—भाव यह कि इन यम-नियम आदि के एक-एक अंग भी असाध्य हैं, फिर यह रोगी जीव क्या पार पावेगा?

सुभ धर्म अचारा—इसमें उपर्युक्त के अतिरिक्त सभी कर्मों के अंग आ गये। शुभ अर्थात् जो विधि-रूप में कहे गये हैं।

तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बंच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ॥११॥

अर्थ—उसी हरी घास को जब गौ चरे तब भाव-रूपी शिशु बछड़ा पाकर पेन्हावे ॥११॥ (पेन्हाना अर्थात् दुहते समय थन में दूध आना)।

विशेष—(१) 'तेइ तृन हरित'—ऊपर जो जप-तप आदि के साथ 'सुभ' कहा गया था। उसी के जोड़ में चारे के सम्बन्ध में 'हरित' कहा गया है। हरे चारे से दूध विशेष होता है, गौ उसे रुचि से चरती है, वह चारा सात्त्विक होता है। सूखी घास और भूसे आदि से गऊ की उतनी तृप्ति नहीं होती और इनसे दूध भी कम होता है। 'चरइ'—गऊ को घर में बाँध रखना निषेध है, वह जब बाहर जाकर चरती है तब प्रसन्न रहती है और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है जिससे उसका दूध रोगहारक होता है। 'गाई' पहले 'धेनु' अर्थात् सवत्सा गऊ कहा था और यहाँ चरने के सम्बन्ध से गऊ कहा है, क्योंकि चरने के लिये गऊ अकेले जाती है, बच्चा साथ में नहीं रहता; यथा—"जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।" (दो० ६)।

ज्ञान-प्रसंग मे हरा चारा चरना यह कि सात्त्विक श्रद्धापूर्वक रुचि एवं उत्साह से शुभ धर्माचरण करे और उसी में तृप्त रहे; यथा—"नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दल मन न मलीना॥" (अ० दो० ३२४)।

गऊ जितने प्रकार के तृण खाती है, उनके सात्त्विक परिणाम का स्वारस्य दूध होता है, राजसिक परिणाम से उसके शरीर का पोषण होता है और तामस परिणाम से गोबर होता है। इसी तरह सात्त्विक श्रद्धा से रुचिपूर्वक किये हुए स्वधर्मानुष्ठान यम-नियमादि से परम धर्म होता है।

जैसे हरे चारे से गऊ के विना और कोई भी दूध नहीं निकाल सकता, वैसे ही श्रद्धाहीन शुभ धर्म से भी प्रयोजन नहीं सधता; यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।" (दो० ८९), तथा—"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥" (गीता १७।२८)।

(२) 'भाव बच्छ सिसु …'—बछड़े को शिशु कहा है, छोटे बछड़े को देखकर गऊ को अधिक वात्सल्य होता है, इससे उसके रोगों को जीभ से चाटकर वह अच्छा करती है, उसे देखकर वह अधिक पेन्हाती है और दूध भी अधिक देती है। यदि बछड़ा बड़ा हो जाता है तो गऊ दूध कम देने लगती है। भाव शब्द पुँल्लिंग है, उसके जोड में वत्स ही कहा है, बछिया नहीं।

ज्ञान प्रसंग में श्रद्धारूपिणी धेनु का सात्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता, इससे बहुत प्यारा है। चरने के समय भी उसका ध्यान बच्चे की ओर ही लगा रहता है। भाव यह कि सब धर्माचरण नवीन प्रीतिभाव से करे, भाव हत न होने पावे; दंभ आदि न आने पावें।

'पाइ पेन्हाई'—जब गऊ हार से चरकर लौटती है तब बालक बछड़े को पाकर द्रवीभूत हो जाती है, उसके थनों में दूध आ जाता है। इसी तरह श्रद्धा से धर्माचरण करने से भावोन्मुख होकर वह श्रद्धा परम धर्म प्रसव में समर्थ होती है; यथा—"दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भई॥" (दो॰ ६)।

नोइनि बृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥१२॥

अर्थ—वृत्ति को नोइनि, विश्वास को दोहनी और अपने अधीन दासवत् निर्मल मन को अहीर बनावे॥१२॥ (नोवना अर्थात् दुहते समय रस्सी से गाय के पैर बाँधना, जिस रस्सी से पैर बाँधते हैं उसे नोइनि कहते हैं)।

विशेष—(१) वृत्ति को नोइनि की तरह श्रद्धा के चरणों में लगा देना चाहिये जिसमें वह अचल स्थिर रहे। बिना नोई हुई गऊ का दुहना निषेध है। पुन यह भी भय रहता है कि कहीं गऊ पैर चला दे तो सब दूध ही गिर पड़े।

(२) 'पात्र बिस्वासा'—विश्वास को पात्र बनावे, जिसमें दूध रक्खा जाय, वह पात्र छिद्ररहित हो; अर्थात् दृढ विश्वास हो, यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (दो॰ ८१)।

'निर्मल मन अहीर'—अहीर दुहनेवाला होता है। वैसे यहाँ मन अहीर है, पर वह निर्मल हो, काम-सकल्प वाला मन मलीन होता है। अत, काम-सकल्प रहित मन निर्मल हो, नहीं तो श्रद्धा-गाऊ को वह छुटका देगा।

'निज दासा'—अहीर अपने अधीन न हो और समय पर दुहने न आवे, तो भी काम बिगड़ जाता है, इससे 'निज दासा' कहा है। वैसे ही यहाँ निर्मल मन भी अपने अधीन हो।

गऊ पेन्हाने पर वह सेवक अहीर नोइनि लगाकर जब देखता है कि बछड़ा अब अपनी पुष्टि के लिये योग्य मात्रा में दूध पी चुका तो वह उसे हटाकर दोहनी में दूध दुहता है। वैसे ही निर्मल मन-रूपी सेवक श्रद्धा को निश्चल करने के लिये वृत्ति लगावे। इस तरह कि जब धर्माचरण से कृतकृत्य होकर श्रद्धा अत-र्मुखी हो और धर्मों के सात्विक परिणाम से सात्विक भाव की पुष्टि करने लगे; तब निर्मल और निज-वशीभूत मन की वृत्ति लगाकर श्रद्धा को अचल कर ले। नहीं तो सात्विक भाव (शुद्ध भाव) के हटाते

समय श्रद्धा छटक जायगी। और यदि सात्विक भाव न हटाया जायगा तो वह अनुष्ठित धर्म के समस्त सात्विक परिणाम रूपी दूध को पी जायगा। मन के सात्विक भाव में अनुरक्त होने से भी सुख के साथ बन्धन होता है। अतएव, सात्विक भाव को धीरे-धीरे हटाकर मन को पूर्ण विश्वास का पात्र बनाने के लिये उसे श्रद्धा में लगा दे।

इस अर्द्धाली में शम (मनोनिग्रह) कहा गया, जो षट् संपत्तियों में पहला है।

यहाँ तक सात्विक श्रद्धा नामक ज्ञान की पहली भूमिका हुई। इसमें शुभाचरण, भाव, धृत्ति, विश्वास और निर्मल मन, ये पाँच अङ्ग कहे गये।

सारांश यह कि हरि-कृपा से जब हृदय में सात्विक श्रद्धा आ बसे और उससे खूब धर्माचरण हो, जिसमें श्रद्धा पुष्ट होती जाय और धर्म के साथ रजस् और तमस् के पराजित होने से सात्विक भाव हो, तब वह श्रद्धा द्रवीभूत होती है। धर्माचरण का सात्विक परिणाम अहिंसा (दया) भाव में प्रकट होता है। तब वशीभूत निर्मल मन को श्रद्धा के चरणों में लगा दे और दृढ़ विश्वास करके अहिंसा में स्थित हो, प्राणि मात्र को अभय दे। भाव यह कि जब तक धर्मव्रतधारी के हृदय में दया की प्रवृत्ति न हो तब तक जानना चाहिये कि परम धर्म का उदय अभी नहीं हुआ।

परम धरममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई ॥१३॥

अर्थ—हे भाई! परम धर्ममय दूध दुह कर निष्कामता रूपी अग्नि बनाकर उस पर (इस) दूध को औंटे ॥१३॥

विशेष—(१) 'परम धर्म'; यथा—"परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा।" (दो० १२०); "धर्म कि दया सरिस हरिजाना।" (दो० १११) 'मय' का भाव यह कि धर्म का परिणाम दयामय है, क्योंकि दया (अहिंसा) में ही सब धर्मों का स्वारस्य है; यथा—"दया में बसत देव सकल धरम" (वि० २१६); 'मयट्' प्रत्यय बहुत के अर्थ मे भी होता है, उससे यह अर्थ होगा कि इसमें परम धर्म अधिक है, कुछ जल आदि विकार भी हैं, जिन्हें औट कर जलाया जायगा। 'पय दुहि' विश्वास रूपी पात्र में ही पय दुहा जा सकता है, अन्य पात्र में बिगड़ जायगा। भाव के द्वारा पन्हवा कर मन ने श्रद्धा-गऊ से दुहकर विश्वास में रख दिया। 'भाई' यह गरुड़जी के प्रति प्रियत्व है।

(२) 'अवटै अनल अकाम बनाई।'—गुणाधिक्य के लिये, घनीभाव के लिये और जल-रूपी अवगुण नाश करने के लिये उसे पाक करे; यथा—"गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।" (अ० दो० २३१)। कामनाएँ ईंधन रूपा हैं, उन्हें जला कर निष्कामता रूपी अग्नि प्रचंड करे। निष्काम वृत्ति अहिंसा से पैदा होती है। कामना-मात्र-त्याग के ध्यान से ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा है। निष्कामता से परम धर्ममय पय गाढ़ा होता है, उसमे घनत्व पैदा हो जाता है। भाव यह कि जितनी क्रिया करे निष्काम करे तो परम धर्म पुष्ट होता है।

दूध में जल का अंश रहता है, वह औंटने से जल जाता है, वैसे ही धर्म का साथ सुख और स्वर्ग से है। कामनाएँ इन्हीं की होती हैं, अतएव इन्हें निष्कामता से जला डाले।

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावन देइ जमावै ॥१४॥

अर्थ—तब क्षमा और सन्तोष रूपी वायु से उसे ठंढा करे, तब धैर्य-वृत्ति समता का जावन देकर उसे जमावे ॥१४॥

विशेष—(१) निष्कामता से परम धर्ममय दूध का कामांश जल गया, किन्तु इससे वह संतप्त हो उठा। तब क्षमा मंद मंद व्यजन चला कर संतोष-रूपी वायु प्रकट कर उसे ठंढा करे। संतोष के प्राप्त कराने में क्षमा ही समर्थ है, वही इस दूध को शीतल करे।

अहिंसा, निष्कामता, संतोष और क्षमा, चारों अंग मिलकर जो परम धर्म हुआ, वही 'परम धर्म' नामक ज्ञान की दूसरी भूमिका हुई।

तात्पर्य यह कि अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर निष्कामता से अहिंसागत कामना के अंश को दूर करे, उससे जो ताप होता है उसे क्षमा द्वारा संतोष से शीतल करे।

(२) 'धृति सम जावन देइ जमावै।'—'धृति'; यथा—"धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी॥" (गीता १८।३३) अर्थात् जिस एक-रस धैर्य वृत्ति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएँ धारण होती हैं, वह धृति सात्विकी है। इस धैर्य वृत्ति से समता का जावन दिया जाय; अर्थात् हानि लाभ, सुख दुख, निन्दा-स्तुति आदि द्वंद्वों के सम्पर्क में अंतःकरण एक-रस रहे। तब उपर्युक्त दया भाव ठोस हो जाता है। यही दूध जमकर दही होने के समान है। यही 'सम धृति' नामक ज्ञान की तीसरी भूमिका है।

पहले तृण का परिणाम दूध हुआ, फिर दूध का दूसरा परिणाम दही हुआ। इस सम धृति के पश्चात् मुदिता वृत्ति उत्पन्न होगी।

मुदिता मथै बिचार-मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥१५॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥१६॥

अर्थ—मुदिता (पर-सुख में आनंदित होने की वृत्ति) रूपी माथ (माँठ) में (उस दही को डाल कर), विचार रूपी मथानी से, इन्द्रिय-दमन रूपी आधार (खम्भा आदि) में सत्य एवं उत्तम वाणी रूपी रस्सी लगाकर ॥१५॥ तब दही को मथ कर निर्मल, सुभग और अत्यन्त पवित्र वैराग्य रूपी मक्खन निकाल ले ॥१६॥

विशेष—(१) जिस पात्र में दही जमाया जाता है, उससे बड़े दूसरे पात्र में, जिसे माथ (माँठ) या महेड़ा आदि कहते हैं, पलटकर मथानी से उसे मथते हैं। खंभे में रस्सी लगाकर उससे मथानी चलाई जाती है और दही मथकर मक्खन निकाला जाता है, यह दृष्टान्त है। यहाँ मुदिता वृत्ति माथ है, विचार मथानी है, दम खभा है और सत्य और उत्तम (गुरु एवं शास्त्र की) वाणी डोरी है। उसके खींचने के अनुसार विचार-मथानी घूमेगी। शास्त्र-मर्यादा के अनुसार तर्क होगा तब यह दही मथित होकर वैराग्य रूपी नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा।

'बिचार', यथा—"येहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥" (दो॰ ४४)।

"जिउ जबते हरिते बिलगान्यो।" इस पद में आदि से "अजहुँ तो करु विचार मन माँही।" (वि० १२१) तक। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" (मुंडक ।१।२।१२); अर्थात् मुमुक्षु कर्म द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकों को अनित्य जानकर वैराग्य को प्राप्त होवे, क्योंकि कृत (कर्म) से अकृत (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं होती, इत्यादि।

'दम अधार'—भाव यह कि विषय-रसों से इन्द्रियाँ रुकें, तब अंतःकरण से विचार हो पावे। 'सत्य सुबानी'—गुरु एवं शास्त्रों की वाणी को सत्य और उत्तम तथा प्रिय मानकर विचार करे, तभी उनके तथ्य पर निष्ठा होगी।

(२) 'तब मथि काढ़ि लेइ···'—सारासार विचार करने पर जो निर्णय हुआ, वह नवनीत रूप 'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।' है 'बिमल'—जिसमें वासना आदि मल नहीं हैं। 'सुभग'—जिसमें मंदता आदि की कुरूपता नहीं है। 'सुपुनीता'—जिसमे मान, ईर्ष्या आदि की अपुनीतता नहीं है। पुनः रागरहित होने से विमल है, तीव्रतर होने से सुन्दर है और असार संसार को अपुनीत मानकर उसे त्याग सार तत्त्व-ग्रहण रूपी विवेक के साक्षात्कार में तत्पर होने से सुपुनीत है।

यहाँ 'दम' से षट् सम्पत्तियों में दूसरा अंग भी आया। पुनः इन दोनों अर्द्धालियों से 'विराग' नामक ज्ञान की चौथी भूमिका हुई। वैराग्य साधन-चतुष्टय मे दूसरा है, यह भी यहाँ आ गया। पहला 'विवेक' शेष है, वही अगली (पाँचवीं) भूमिका मे कहा जायगा।

दोहा—जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान-घृत, ममता मल जरि जाइ॥

अर्थ—तब योग रूपी अग्नि प्रगट करके शुभाशुभ कर्म-रूपी ईंधन लगाकर (जलावे)। ममता रूपी मैल जल जाय, ज्ञान रूपी घी रह जाय, तब बुद्धि उसे ठंढा करे॥

विशेष—(१) 'जोग अगिनि करि···'—वैराग्य उत्पन्न हो जाने से योग का अधिकार हो गया। चित्त-वृत्ति का निरोध करके सत् लक्ष्य मे एकाग्र होना योग है और वह वैराग्य तथा अभ्यास से होता है। वैराग्य द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध हुआ, वैराग्य का निवास चित्त-वृत्ति में हुआ। अभी वैराग्य मक्खन-रूप है उसमें अशुभ कर्मों का स्मरण रूपी जल और शुभ कर्मों की चाह रूपी छाँछ मिश्रित है। उसे योगाग्नि को प्राण-अपान के संघर्ष से प्रकट करके अर्थात् हठयोग करके मन और वायु को रोके; यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।" (कि० दो० १०)। इसमें शुभाशुभ कर्म का स्मरण भी नहीं रह जाता, संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश हो जाता है, केवल प्रारब्ध रह जाता है; यथा—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥" (बा० दो० ६८)।

(२) 'ममता मल जरि जाइ'—विराग में जो यह धारणा रही कि ये सब विषय विलास मेरे वश मे हैं, मैं इनके वश नहीं हूँ, यह ममता रूपी मल था, वह योगाग्नि से जल गया। तब बुद्धि ज्ञान-घृत को सिरावती अर्थात् भिन्न करके उसमे जो मान रूपी उष्णता है, उसे बुद्धि रूपी स्त्री विवेचन द्वारा शीतल करती है।

इस तरह शुभाशुभ कर्म और ममता तक के देह-सम्बन्ध रूपी असत् को त्यागकर सत् (स्वस्वरूप)

ग्रहण रूपी विवेक के होने से 'स्व-स्वरूप ज्ञान' नामक ज्ञान की पाँचवीं भूमिका हुई। यहाँ साधन-चतुष्टय का विवेक भी आ गया।

तब विज्ञान निरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दियटि बनाइ॥

अर्थ—तब विज्ञान (प्रकृति वियुक्त आत्मा का ज्ञान) निरूपण करनेवाली बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्त रूपी दीया (दीपक) भरकर, समता रूपी दृढ़ दियट बनाकर, उसपर दृढ़ करके उसे धरे (रक्खे)।

विशेष—यहाँ दीपक-रूप चित्त है, उसमें ज्ञान घृत भरकर धरे; अर्थात् चित्त वृत्ति सम्यक् प्रकार से स्व-स्वरूप पर रहे। क्योंकि उसे प्रकृति के तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओं से पृथक् साक्षात्कार करना है, उस चित्त की एकाग्र स्थिति के दृढ़ समता-रूपी दियट भी चाहिये, समता; यथा—"बंदउँ संत समान चित्त, हित अनहित नहिं कोउ।" (बा० दो० ३); ऐसे ही संत (साधु) का चरित कपास का चरित कहा गया है, नीरस, विशद और गुणमय कहकर उसके फल का वर्णन किया गया है; यथा—"साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥" (बा० दो० १); अपना कार्य जिससे हो, उसे फल कहा गया है। जैसे तलवार का फल, बरछे का फल इत्यादि, वैसे साधु चरित (आचरण) का फल उनकी देह-वृत्ति है। जो नीरस है; अर्थात् विषय रस से रूखी है। सत्त्वमय होने से विशद है और शुभ गुणमय है। ऐसे ही देह से तीनों अवस्थाओं का पृथक् करना और तुरीयावस्था की प्राप्ति आदि आगे कही जायँगी। विषयी की तीनों अवस्थाएँ सरस होने से मलिन और अवगुणमय होती हैं, वे अन्योन्य ऐसी सनी हुई होती हैं कि उनका पृथक्करण नहीं हो सकता; यथा—"काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम कूप॥" (दो० ७३)।

तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि॥

अर्थ—कपास से तीनों (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अवस्थाएँ और तीनों (सत्त्व, रज, तम) गुण—इनको निकालकर तब तुरीयावस्था रूपी रुई को सँवारकर (अर्थात् धुनकर रुई का पहल और प्यूरी बनाकर) सुंदर कड़ी बत्ती बनावे॥

विशेष—(१) ऊपर दीपक, घी, दियट का प्राप्त होना कहा गया, अब उसमें बत्ती चाहिये, तब जलाया जाय, बत्ती के लिये शुद्ध रुई चाहिये—उसी को यहाँ कहते हैं कि रुई कपास के फल की होती है। कपास के फलों में तीन फालें या बुडरियाँ होती हैं, जिनके ऊपर छिलका होता है और तीनों फालों में बिनौले होते हैं, ये सब मिलकर कपास कहलाते हैं। इनमें बिनौले और छिलके पृथक् कर लिये जायँ, तब शुद्ध रुई रह जाती है।

वैसे ही यहाँ ऊपर देहवृत्ति कपास-फल की तरह कही गई। उसमें तीन अवस्थाएँ छिलके हैं और तीनों गुण उसके भीतर के बिनौले हैं। उनको पृथक् करे; अर्थात् इनके द्वारा होनेवाले कार्यों को अपनेसे पृथक् समझे कि तीनों गुणों के द्वारा तीनों अवस्थाओं की कार्य-सत्ता है और आत्मा उनका साक्षी मात्र है,

सब व्यापार गुणों से ही होते हैं; यथा—"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥" (गीता ५।८-९), अर्थात् मैं कुछ नहीं करता। देखना-सुनना आदि सभी कार्य इन्द्रियाँ करती हैं, ऐसा तत्त्वज्ञानी माने। पुनः, "गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।" (गीता ३।२८); अर्थात् गुण ही गुणों में परस्पर वर्त्त रहे हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी इनसे लिप्त नहीं होता। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥" (गीता ३।२७); अर्थात् प्रकृति के गुणों से सब कर्म किये जाते हैं, अहंकार से मूढ़ ही अपनेको कर्त्ता मानता है। इत्यादि विचारों से आत्मा को तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओं से पृथक् साक्षात्कार करे। तब वह इनकी वृत्तियों से असंग रहकर एक रस आत्म चिंतवन कर सकेगा। तीनो अवस्थाओं और उनके साथ गुणों की व्यवस्था बा० दो० ३२५ में 'जनु जीव उर चारिउ अवस्था' के प्रसंग में देखिये।

(२) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के साथ क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् का सम्बन्ध रहता है। इनकी वृत्तियों से असंग रहने से तज्जन्य हर्ष-विषाद आदि का संसर्ग नहीं रहेगा, तब शुद्ध तुरीयावस्था प्राप्त होगी, जो शुद्ध स्वरूप आत्मा की अवस्था है।

(३) 'तूल तुरीय सँवारि ···'—'सँवारना' यह कि कोपों के संस्कार को दूर करे। 'सुगाढ़ि'—दृढ़ मोटी अर्थात् तुरीयावस्था के संस्कारों को भली भाँति घनीभूत करे, सुदृढ़ एक आत्मवृत्ति ही रहे।

सो०—येहि बिधि लेसै दीप, तेज रासि बिज्ञानमय।
जातहि जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥११७॥

अर्थ—इस प्रकार तेज राशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जाते ही मद आदि सब पतंगे जल जायँ॥११७॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—उपर्युक्त विधियों से अविधि न होने पावे। जैसे बत्ती घी में डुबाकर तब जलाई जाती है। वैसे ही उपर्युक्त तुरीया की एकत्र वृत्ति को आत्म-स्वरूप मे लीन कर दे, तब उसे योगाग्नि से लेस दे। 'तेज रासि' अर्थात् उससे अनुभव प्रकाश समूह होता है; यथा—"आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।" यह आगे कहा है। 'बिज्ञान मय'—मयट् प्रत्यय यहाँ तद्रूप मे ही है। यहाँ तक विज्ञान अर्थात् प्रकृति-वियुक्त आत्मा के ज्ञान का साक्षात्कार हुआ।

(२) 'जातहि जासु समीप ···'—दीपक जलने पर पतंगे उसपर आ गिरते हैं। वे तुरत जलते जाते हैं, यदि दीपक की बत्ती आदि दुर्वल हों तो बहुत पतंगों के एक साथ गिरने से वह दीपक ही बुझ जाता है। पर यहाँ तो बाती 'सुगाढ़ि' कही गई है। अतः, सभी मद आदि पतंगे जल जायँगे।

मद, मत्सर आदि बहुत पतंगे हैं, यथा—"यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥" (दो० ७०)। यहाँ मद को आदि में कहकर भाव स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृति के परिणाम रूप देह एवं गुणों से ही जाति, विद्या, महत्त्व आदि के मद होते हैं। यहाँ पर तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओं से आत्मा सर्वथा समरहित हो चुका है, तब मद आदि की पहुँच वहाँ तक कैसे होगी। मद की तरह और भी सब विकार गुण-संग से ही होते हैं।

यहाँ तक विज्ञान नामक ज्ञान की छठी भूमिका हुई।

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥१॥

अर्थ—'वह मैं हूँ' यह अखंड वृत्ति ही उस दीपक की परम प्रचंड लौ है। (भाव यह कि यह वृत्ति अखंड एकरस बनी रहे, लय न टूटे) ॥१॥

विशेष—(१) 'सोहमस्मि' अर्थात् सः, अहं, अस्मि अर्थात् वह, मैं, हूँ। इसमें सः शब्द व्याकरण की रीति से सर्वनाम है, यह मुख्य संज्ञा के पश्चात् आता है, जैसे—यज्ञदत्त घर गया, वह नहीं आया। यहाँ पर इस प्रसंग में ऊपर 'ईश्वर अंस···' में ईश्वरांश शुद्ध जीव ही का मायावश होना कहा गया है। अतः, 'सः' शब्द उसी के लिये है। ब्रह्म की ऊपर कहीं चर्चा नहीं है। हठात् उसका अर्थ करने से 'अन्येन भुक्तं अन्येन वान्तम्' अर्थात् 'दूसरे ने खाया और दूसरे ने वमन किया' रूप दोष उपस्थित होगा।

अतः, जो जीव माया (प्रकृति) वश हुआ था, उसी को प्रकृति (माया) वियुक्त होने पर अपना स्वरूप साक्षात्कार हुआ। तो उसी का 'सोहमस्मि' से अनुसंधान है कि मैं वही—'ईश्वर अंश रूप अविनाशी जीव शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हूँ।' यहाँ ब्रह्मात्मक रूप से ही जीव का लक्ष्य है। इस दृष्टि से 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सोऽहमस्मि' ब्रह्म परक भी युक्त ही है। पर जीव भाव त्याग पूर्वक ब्रह्म भाव नहीं, वरन् ईश्वरांश की ब्रह्मात्मक रूप से अर्थात् ब्रह्म को अपना आत्मा अर्थात् (अभिन्न) मानकर ही उपासना की जाती है। पूर्व 'बारि बीचि इव गावहिं वेद।' में कही हुई तात्त्विक एकता भी रहती है।

इस प्रकार जीवात्मा की ब्रह्मात्मक रूप में उपासना श्रुतियाँ भी कहती हैं; यथा—"ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते। तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति। अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्यमाण पक्षम्। आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति। मासेभ्यो देवलोकम् देवलोकादादित्यम्। आदित्याद्वैद्युतम्। तान्वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति। तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥" (बृहदा० ६।२।१५)। अर्थात्—जो (साधक) इस प्रकार पंचाग्नि को जानते हैं; अर्थात् द्युलोक मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री रूप अग्नि—में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत. में अनुरक्त होकर रहनेवाले प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) की ब्रह्मात्मक रूप से—उपासना करते हैं और जो अरण्य में रहकर श्रद्धापूर्वक सत्य शब्द वाच्य भगवान् की उपासना प्रत्यगात्मा में करते हैं, वे दोनों अर्चिष (अग्नि) के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उससे संयुक्त होते हैं। अर्चिष् से दिन, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छ मास, उन मासों से देव लोक, देवलोक से आदित्य, आदित्य से चन्द्र और चन्द्र से विद्युत को प्राप्त होते हैं। उस वैद्युत लोक से ब्रह्म के मन से उत्पन्न हुआ देव पुरुष वहाँ आकर उसे ब्रह्मरूप लोक में ले जाता है। उस लोक में वह निरतिशय आनंद और ऐश्वर्य से युक्त तथा भगवान् से सनाथ होकर निवास करता है, उसको पुनः संसार बंधन में नहीं आना पड़ता।

इस श्रुति में प्रकृति-वियुक्त जीवात्म साक्षात्कारवाले की मुक्ति कही गई है। ब्रह्मसूत्र-आनन्द भाष्य ४।३।१५ में तथा गीता अ० १२।१–५ में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के भाष्यकारों ने प्रौढ़ प्रमाणों के साथ ब्रह्म की और प्रकृति वियुक्त जीवात्मा की, दोनों उपासनाएँ प्रतिपादित की हैं। यह भी कि जीवात्मोपासना कठिन है और परमात्मोपासना उससे सरल है। विशेष विवेचन वहीं देखना चाहिये॥

यहाँ जीवात्मोपासना का ही प्रसंग है, इसकी ब्रह्मात्मक रूप से ही उपासना होती है। "आत्मेति तूप गच्छन्ति ग्राहयन्ति च।" (ब्र० सू० आनन्द-भाष्य ४।१।३); पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में भी 'अहं ब्रह्म' ऐसी अभिन्न उपासना स्वीकार की गई है। अतः, यहाँ पर मुझे 'सोहमस्मि' का ब्रह्म परक अर्थ करने में अड़चन नहीं होती, पर यहाँ ऊपर ब्रह्म की चर्चा नहीं है। तो 'सः' से ब्रह्म कैसे लिया जाय?

श्रुतियों मे जहाँ 'सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि' ब्रह्म परक कहा गया है, वहाँ प्रथम ब्रह्म का वर्णन करके, यथा—"य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।" (छा० ४।१२।१); तथा—"य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि।" (छां० ४।१३।१)।

इन्हीं दोनों प्रकार की उपासनाओं के अभिप्राय से श्रीगोस्वामीजी ने भी दो ही प्रकार की मुक्तियों का विधान किया है, यथा—"राम चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान।" (दो० ११८), इसमें ब्रह्मोपासक की 'राम-चरन रति' से और 'जीवात्मोपासक' की कैवल्य परक 'निर्वाण पद' से मुक्तियाँ कही गई हैं। 'अथवा' शब्द से निर्वाण पद को भिन्न प्रकार की ही मुक्ति कहा है।

(२) 'वृत्ति अखंडा'—'वह मैं हूँ' यह वृत्ति खंडित न होने पावे, एक रस बनी रहे। निर्वात दीपक की भाँति अचल चित्त बना रहे। यही उस दीपक की प्रचंड लौ है। 'परम प्रचंडा'—माया की सेना प्रचंड है; यथा—"व्यापि रह्यो संसार महँ, माया कटक प्रचंड।" (दो० ७१)। उसके भस्म करने का सामर्थ्य दिखाते हुए इसे 'परम प्रचंड' कहा है।

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥२॥

अर्थ—आत्म-अनुभव-सुख इस ज्ञान दीपक का सुन्दर प्रकाश जब होता है, तब संसार के मूल भेद भ्रम का नाश होता है॥२॥

विशेष—'आतम अनुभव सुख'—अर्थात् स्व-स्वरूपानन्द, इसे ही ब्रह्मानन्द भी कहते हैं, क्योंकि 'अहंब्रह्मास्मि' इस वृत्ति से और ब्रह्म के साधर्म्य प्राप्त होने से इसे ब्रह्म के समान ही सुख प्राप्त होता है, इसी सुख के प्रति कहा है "निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (दो० ८६), तथा—"ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावे। तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसिवासर धावे।" (वि० ११६)। "ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा।" (बा० दो० २१)।

'तब भव मूल भेद भ्रम नासा।'—भव-मूलक भेद का नाश हो जाता है, जिसे भ्रम से मान लिया था कि मैं एवं जगत् ईश्वर से भिन्न हैं, अर्थात् सब उसके शरीर रूप नहीं हैं। नानात्व भ्रम ही भेद भ्रम है, वह नाश हो जाता है। भेद तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—"वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्र पुष्प फलादिभिः। वृक्षान्तरे सजातीयो विजातीयः शिलादितः।" (पंचदशी), यहाँ पर भव मूलक भेद का नाश होना कहा गया है। सजातीय और विजातीय ये दोनों भेद भव मूलक हैं, इन्हीं का नाश होता है। स्वगत भेद जो शरीर शरीरी सम्बन्ध का है, वह रहता है, किन्तु वह भव मूलक नहीं है, यथा—"निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध।" (दो० ११२), यह भेद अभेदवादी लोमशजी की विजय पर उपादेय रूप में कहा गया है।

पुनः सूर्य पूर्ण ज्ञानवान् माने गये हैं, यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६), उनका भी ब्रह्म के साथ शरीर-शरीरी भेद है, यथा—"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥" (बृहदा० ३।७।९), इस श्रुति में सूर्य रूप जीव का प्रेरक एवं शरीरी ब्रह्म कहा गया है।

प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥३॥

अर्थ—प्रबल अविद्या के प्रबल परिवार मोह आदि अपार तम मिट जाते हैं॥३॥

विशेष—दीपक से अँधेरा नाश होता है, ज्ञान दीपक से मोह आदि अपार अंधकार नाश होते हैं। मोह आदि ; यथा—"मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" से 'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा ॥" (दो॰ ६९-७०) तक ; 'प्रबल अविद्या'; यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥" (दो॰ ७०)। परिवार की प्रबलता ऊपर कही ही गई है। पुनः "मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ।" (आ॰ दो॰ ३८); 'अपारा'; यथा—"प्रबल अमित को बरनइ पारा।" (दो॰ ७०)। इस प्रसंग के आदि में ही कहा था—"जीव हृदय तम मोह बिसेषी" उसी 'बिसेषी' को यहाँ 'अपारा' कहा है। 'मिटइ'; यथा—"ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।" (कं॰ दो॰ ४५)।

तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर-गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥४॥

अर्थ—तब वही (विज्ञान निरूपिणी) बुद्धि उजाला पाकर हृदय रूपी अपने घर में बैठकर गाँठ को खोलती है ॥४॥

विशेष—(१) ग्रंथि का स्वरूप पहले ही 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।' में कहा गया। उसका स्थूलांश तो छठी भूमिका में छूट गया, पर अभी प्रारब्ध भोग के साथ-साथ उसका सूक्ष्मांश शेष है। वही खोलना है। 'पाइ उजियारा'—पूर्व "जीव हृदय तम मोह बिसेषी।" था, वह मिट गया; यथा -"मोह आदि तम मिटइ अपारा।"—तब उजियाला मिला, अब ग्रंथि देख पड़ने लगी। तब खोलना कहा गया है। 'उर गृह बैठि'—अंत.करण में ही बुद्धि भी है; अतः, हृदय ही उसका घर है। 'बैठि'—अभी तक वह अपार तम के मिटाने में व्यग्र थी, अब बैठने पाई।

(२) 'निरुआरा'—जैसे महीन सूत्रों की अरुझनि हो, वैसे ही यह अत्यन्त झीनी वासनाओं की ग्रन्थि है, सुलझाना बहुत ही कठिन है।

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई ॥५॥

अर्थ—यदि यह बुद्धि गाँठ खोलने पावे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय।

विशेष—(१) 'जौं' से खोल पाने में संदेह जनाया कि माया खोलने नहीं देगी। आगे माया का विघ्न करना कहते हैं। 'कृतारथ होई'—जो जीव का कृत्य (कर्तव्य) है, वह पूरा हो जाय। फिर शेष आयु को जीवन्मुक्त होकर बितावे ; यथा—"ऋषिराज ! राजा आजु जनक समान को।···गाँठ बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को॥" (गी॰ बा॰ ८६)। "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।" (गीता ३।२०), "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथाअप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥" (भाग॰ १।७।१०); इसमें ग्रन्थि छूटने पर भी भक्ति करना कहा गया है। कैवल्य ज्ञानी का कालक्षेप; यथा—"देहोऽपि दैववशगः ··" इसका अर्थ दो॰ ४२ में देखिये।

(२) 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।' से यहाँ तक 'सोऽहमस्मि परम विज्ञान' नामक भूमिका हुई। इन भूमिकाओं को कोई-कोई आत्मा का प्रस्थान भी कहते हैं।

यहाँ का कैवल्य ज्ञान प्रकरण बहुत अंशों में योग दर्शन से मिलता है; यथा—"पुरुषार्थशून्यानां गुणाना प्रति प्रसव- कैवल्यम्। स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति॥" (यो॰ सू॰ ४।३४); अर्थात् पुरुषार्थ शून्य हो, बुद्धि की वृत्तियों का प्रतिलोम होकर आत्मा और प्रकृति का यथार्थ ज्ञान करा करके बुद्धि को

स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य मुक्ति है। यह योग दर्शन के मोक्षपाद का अंतिम सूत्र है। यहाँ छठी भूमिका तक गुणों का प्रतिप्रसव कहा गया। पुनः जो आगे माया की प्रेरणा से ऋद्धियों और सिद्धियों के विघ्न कहे गये हैं। वे भी योग-दर्शन के ही ज्ञान-साधन में होते हैं और जो आगे ग्रन्थि छूटने पर कैवल्य पद प्राप्ति कही गई है, यही 'स्वरूप प्रतिष्ठा' है। इसे ही निर्वाण पद भी कहते हैं।

यहाँ तक ज्ञान साधन की कठिनता कही गई, आगे उसके विघ्न दिखाते हैं—

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तब माया ॥६॥
रिद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ॥७॥

अर्थ—हे पक्षिराज ! ग्रन्थि को खोलते हुए जानकर तब माया अनेक विघ्न करती है ॥६॥ हे भाई ! यह बहुत ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भेजती है; वे आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'छोरत ग्रन्थि जानि···'—पहले भी माया की ओर से ये विघ्न होते ही थे, पर वे सामान्य थे। जीव माया के वश था ही वह इसे जैसे चाहती थी, नचाती थी; यथा—"जेहि बहु बार नचावा मोही।" (दो॰ ५८)। वे विघ्न इसे विघ्न न जान पड़ते थे। अब शुद्ध हुआ तो बहुत दुःखद लगते हैं। पुनः अभी तक नटिनी को रानी बनाये हुए उसके अधीन था, अब उसे निकाल दिया और उसने भी देखा कि अब यह मेरे हाथ से जाता है, तब स्वयं अधिक विघ्न करने पर उद्यत हुई। आत्मानुभव के प्रकाश से अब माया का दिव्य रूप दिखाई पड़ने लगा। पहले उसके सामान्य रूप से मोहादिक के द्वारा विघ्न होते थे, जब उनसे कुछ न बन पड़ा और दीपक जल गया, तब वह स्वयं विघ्न करने में लगी। 'खगराया'—भाव यह कि आप तो राजा हैं। अतः, जानते हैं कि स्वतंत्रता चाहनेवालों का मार्ग कैसा कठिन होता है।

(२) 'रिद्धि सिद्धि'—इनके नाम पूर्व आ गये हैं। 'प्रेरइ बहु भाई'—यद्यपि ज्ञानी को चाह नहीं है तथापि वे स्वयं माया की प्रेरणा से आती हैं। 'आई' से स्पष्ट है। 'लोभ दिखावहिं'—बहुत-सी संपत्तियाँ जहाँ-तहाँ से आने लगती हैं। सिद्धियाँ अपनी शक्ति देने का लोभ दिखाती हैं। सिद्धियों की शक्ति सुंदर कांड में कुछ श्रीहनुमान्‌जी के प्रसंग में दिखाई गई। उनके लोभ में पड़कर बहुधा संत करामात दिखलाने लग जाते हैं। उन्हें स्वर्ग के भी चरित देख पड़ते हैं। मिट्टी की वस्तुएँ सोने की देख पड़ती हैं, इत्यादि। इसी में ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है।

'लोभ दिखावहिं आई'—आकर प्रीति दिखाती है—यह साम है। 'रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु' यह दान है। पुनः यह भी सुझाती है कि जिसके हित में तुम लगी हो, मुक्त होते ही वह तुम्हें भी छोड़ देगा—यह भेद है। इतने से काम न चलते देखा तो और भी उपाय करती हैं।

कलबल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा ॥८॥

शब्दार्थ—कलबल (कल = कला, विद्या, युक्ति)=युक्ति का बल, दाँव-पेंच।

अर्थ—दाँवपेंच और छल करके पास जाती है और अंचल की वायु से दीपक को बुझा देती है ॥८॥

विशेष—(१) ऋद्धि, सिद्धि आदि स्त्री-वर्ग हैं, स्त्रियाँ अंचल से दीपक बुझाती हैं। अंचल की हवा दूर तक नहीं जाती, इसलिये अंचलवात से बुझाना एवं इससे उसका समीप जाना कहा है। बुद्धि तो

अपने स्थल पर काम में लगी है। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ अपने प्रयोजन साधने के लिये समीप जाती हैं। बुद्धि का इनसे प्रेम एवं उसे इनकी चाह नहीं है, तो वह इन्हें क्यों समीप आने देगी। अत, ये 'कल बल छल' से समीप जाती हैं। 'कलबल' तक नीति रही, पर इनसे काम न चला, तो छल करती है। धर्म संबंध के ऐश्वर्य दिखाकर फँसाने की चेष्टा करती है। इस युक्ति से समीप पहुँच जाती है।

(२) 'अचल बात'—बात का उपमेय विषय या विषय का लोभ है; यथा—"विषय समीर बुद्धि कृत भोरी।"; "लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।" यह आगे कहा है। अत, अंचल विषयक तात्पर्य माया रूपी नारी से है, यथा—"तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।" (आ० दो० ४३)। "देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।", "हे बिधि मिलइ कवनि बिधि बाला॥" (बा० दो० १३०)। मोह आदि तम हैं, नारी 'निबिड़ रजनी अँधियारी' है। नारी ही माया का परम बल है, यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३७) इसका विषय बात रोग मे भी कहा है, यथा—"काम बात•• " (दो० १२०)। 'बुझावइ दीपा'—स्त्री-विषय पर वृत्ति जाते ही ब्रह्मात्मक वृत्ति नहीं रह जाती, क्योंकि ये दोनों वृत्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं; यथा—"देखहिं चराचर नारि मय, जे ब्रह्ममय देखत रहे।" (बा० दो० ८५)। इससे सब किया कराया नाश हो जाता है।

होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥९॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥१०॥

अर्थ—यदि बुद्धि परम सयानी हुई तो यह अनहित समझकर उनकी ओर दृष्टि नहीं करती॥९॥ जो उस विघ्न से बुद्धि को बाधा नहीं हुई तब फिर देवतागण उपाधि करते हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'होइ बुद्धि जौं ..'—'जौं' से परम सयानी होने में संदेह सूचित किया, सयानापन यह है कि अपने प्रयोजन पर दृष्टि रक्खे। परम सयानापन यह कि उसपर बहुत विघ्न भी आवें तो भी अभीष्ट की रक्षा कर ले। अत, जो परम सयानी बुद्धि हुई तो वह उनसे अपना अनहित समझकर उन्हें नहीं चाहती। ऐसे हो अवसर का लक्ष्य करके कहा है, यथा—"निज घर की घरबात बिलोकहु हौ तुम्ह परम सयानी।" (वि० ५)—भाव यह कि अपने स्वामी का लाभ देखो।

(२ 'तिन्ह तन चितव न'—देखने से उसपर स्नेह आ ही जाता है, यथा—"देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥" पुन—"माया बिबस भये मुनि मूढ़ा।" (बा० दो० १३०–१३२), अत, उनकी ओर देखे ही नहीं। जब तक बुद्धि स्थिर रहती है, तब तक वे समीप नहीं आ सकतीं, बुझाना तो दूर रहा। 'अनहित जानी'—यह अपनेको हित रूप मे दिखाती है, पर हमारे स्वामी का अनहित करनेवाली है ऐसा जान कर। सदसद्विवेकनी बुद्धि आत्मा की पतिव्रता स्त्री के समान है, यथा—"व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनंदन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥" (गीता २।४१)।

(३) 'जौं तेहि बिघ्न•••'— जौं' का भाव यह कि न बाधित होने ही में संदेह है, बाधित होने मे नहीं। 'तौ बहोरि' अर्थात् तत्पश्चात्। 'सुर करहिं उपाधी'—यह भी माया का कर्तव्य है, वही देवताओं से उपाधि करवाती है, क्योंकि देवता भी तो उसके वश हैं, यथा—"देव दनुज नर नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।" (वि० १०१), "यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिल ब्रह्मादिदेवासुरा।" (बा० मं० श्लो० ६) पुन देवता स्वय भी स्वार्थी हैं, यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (ल० दो० १०८);

देवता मनुष्यों को अपना भोग्य (पशु) मानते हैं, क्योंकि मनुष्यों के ही शुभाशुभ कर्मों से उनका भोग रहता है, इससे वे नहीं चाहते कि ये ब्रह्म का साक्षात्कार कर पावें ; यथा "यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥" (बृह० १।४।१०): अर्थात् जैसे बहुत-से पशु मनुष्य को भोग देते हैं, इसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं को भोग देता है। एक पशु का छीना जाना ही अप्रिय होता है, तो बहुतों का छीना जाना क्यों न अप्रिय हो ? इसलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं कि मनुष्य उस ब्रह्म को जाने।

'करहिं उपाधी'—धर्म-सम्बन्ध लगाकर विघ्न करते हैं, नेत्र के देवता प्रेरणा करते हैं कि ईश्वर की लीला देखने चलो, पग के देवता कहते हैं कि अमुक तीर्थ को चलना ही चाहिये, वहाँ ले जाकर स्त्रियों के झुंड से संयोग करा देते हैं, इत्यादि।

इंद्रिय-द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥११॥

अर्थ—(इस देह-गृह में) इन्द्रिय-द्वार नाना प्रकार के झरोखे हैं, वहाँ-वहाँ (उन झरोखों पर) इन्द्रिय-देवता स्थान (थाना) जमाये बैठे हुए हैं ॥११॥

विशेष—(१) 'इंद्रिय-द्वार'—अर्थात् इन्द्रियों के गोलक-इन्द्रियाँ दस हैं—श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इनके पृथक-पृथक् विषय और देवता हैं—

ज्ञान-इन्द्रिय	विषय	देवता	कर्म-इन्द्रिय	विषय	देवता
(१) श्रवण	शब्द	दिशा	(१) वाणी	भाषण	अग्नि
(२) त्वचा	स्पर्श	वायु	(२) हाथ	ग्रहण	इन्द्र
(३) चक्षु	रूप	सूर्य	(३) पैर	गमन	यज्ञविष्णु
(४) जिह्वा	रस	वरुण	(४) उपस्थ	प्रस्राव	प्रजापति
(५) नासिका	गंध	अश्विनीकुमार	(५) गुदा	मलविसर्ग	यम

इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, दिखलाई नहीं पड़तीं, उनके द्वार दिखलाई पड़ते हैं, इन्हीं द्वार-रूपी झरोखों से निकलकर इंद्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। 'झरोखा नाना'—इंद्रियाँ दस हैं, पर इनमें श्रवण, नेत्र, नासिका, हाथ और पैर के दोहरे (दो-दो) झरोखे हैं और त्वचा में रोमकूप अगणित छिद्र हैं, इसीसे 'नाना' विशेषण दिया गया है।

(२) 'बैठे करि थाना'—थाना अर्थात् अड्डा, रक्षा के लिये चौकी; जहाँ से उस केन्द्र की रक्षा हो—उसे थाना कहते हैं। वहाँ जो अधिकारी बैठता है उसका उस केन्द्र पर अधिकार होता है। वैसे ही इंद्रिय द्वार पर उसके देवता का अधिकार रहता है, देवता लोग अपने-अपने द्वार पर अधिकार जमाये बैठे हुए हैं। भाव यह कि वहाँ से उनको भोग मिलता था, वृत्तियों के न उठने से भोग मिलना बंद हो गया है। अतः, वे वृत्तियों के उठाने के लिये यत्न करते ही हैं।

आवत देखहिं विषय-बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥१२॥

अर्थ—वे देवता (जब) विषय-रूपी हवा का झोंका आते देखते हैं, तब बल-पूर्वक किवाड़ खोल देते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) जब बुद्धि भुलावे में नहीं आई तब माया ने यही उपाय सोचा कि किसी तरह दीपक बुझ जाय और दीपक बुझाने में हवा का झोंका समर्थ होता है। उसी के डर से तो बुद्धि ने उर-गृह में दीपक जलाकर गाँठ खोलना प्रारंभ किया है। माया की प्रेरणा से सब प्रकार के विषयों के झोंके आने लगते हैं। 'आवत देखहिं'—ये देवता लोग इंद्रिय-द्वार से देखते हैं कि झोंका आ गया, तब''

(२) 'तब हठि देहिं कपाट उघारी'—बुद्धि आसन और मुद्रा-द्वारा इंद्रिय-द्वार-झरोखों को बन्द करके उर-गृह में बैठी थी, ये हठ करके झरोखे का किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मना करती ही रह जाती है, ये उसकी एक नहीं सुनते। (कारण यह कि यहाँ साधक को मधुमती भूमिका की प्राप्ति होती है और वह सिद्धियों में आसक्त हो जाता है)।

कपाट का खोलना यह है कि सम्मुख प्राप्त विषयों के लिये इंद्रियों की वृत्ति जाग्रत् कर देते हैं। दम को मिटा देना ही कपाट खोल देना है। विषय-सुख के प्रति हर्ष होना ज्ञान-दीपक में विषय बयारि की ठोकर लगना है।

झरोखे अनेक हैं। सब ओर से झकोरे आने लगे, तो दीपक कहाँ ठहर सकता है, बुद्धि किस-किसको रोकेगी ?

जब सो प्रभंजन उर-गृह जाई। तबहिं दीप-बिज्ञान बुझाई ॥१३॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय-बतासा ॥१४॥

अर्थ—जब वह पवन का झकोरा हृदय-रूपी घर में जाता है तभी विज्ञान-दीपक बुझ जाता है ॥१३॥ गाँठ छूटी नहीं और वह प्रकाश भी जाता रहा, विषय-रूपी पवन से बुद्धि व्याकुल हो गई ॥१४॥

विशेष—(१) 'प्रभंजन'—पहले 'बिषय बयारी' कहा गया था और फिर दीपक बुझाने में उसका सामर्थ्य परक नाम 'प्रभंजन' अर्थात् प्रकर्ष करके भंजन करनेवाला कहा गया, क्योंकि इसने विज्ञान निरूपिणी बुद्धि का बना-बनाया घर ही चौपट कर दिया। यह धैर्य रूपी खंभ का तोड़नेवाला है। 'तबहिं'—शीघ्र ही, जिससे बुद्धि रक्षा का कोई उपाय न कर सके। 'दीपविज्ञान बुझाई'—झोंकों से पल-मात्र में दियट कहीं, दीपक कहीं बत्ती कहीं गिरी और वह बुझ गई। क्षण-भर में ही सर्वस्व का पता नहीं, साधक दिव्य विषयों में लिप्त हो गया। सोऽहमस्मि वृत्ति जाती रही, कहा ही है—"जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अविद्या नास ॥" (अ० दो० २१)।

(२) 'ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा।'—गाँठ छोड़ने के लिये ही सब प्रयास किया गया, परन्तु वह नहीं हो पाया। 'सो प्रकासा'—जो 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।' था, वह 'सोऽहमस्मि' वृत्ति के द्वारा था, जब वह वृत्ति ही नहीं रह गई, तब प्रकाश कैसे रहे ?

'बुद्धि बिकल भइ'—क्योंकि घोर परिश्रम व्यर्थ गया, स्वामी के उद्धार का मनोरथ नष्ट हुआ और विषय बयारि के झकोरों की चपेट लगी। बुद्धि ने ही सब कुछ किया; अतएव हानि पर वही विकल हुई। विकल होने से किंकर्त्तव्य विमूढ हो गई।

इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई ॥१५॥
बिषय-समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥१६॥

अर्थ—इंद्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान नहीं अच्छा लगता, (क्योंकि) विषय-भोग पर निरंतर उनकी आसक्ति रहती है (वे क्षणमात्र भी विषय का वियोग नहीं सह सकते) ॥१५॥ विषय-रूपी प्रचंड वायु ने बुद्धि को पगली बना दिया, अब फिर से, ज्ञान दीपक को उस विधि से कौन जला सकता है ? अर्थात् सामर्थ्यवाली बुद्धि पगली हो गई। अत, फिर से यह जल नहीं सकता। भाव यह कि इसे इस जन्म में मोक्षप्राप्ति असभव है ॥१६॥

विशेष—(१) 'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई।'—इसपर ऊपर की अर्द्धाली १० भी देखिये। ज्ञान होने से मनुष्य विषय विमुख हो जाता है। उससे देवताओं के भोग मे कमी आने लगती है। उपनिषदों मे कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे विराट् की उत्पत्ति हुई। पुन उसके क्षुधा-तृषा से युक्त होने पर, भूख-प्यास से दुखी होकर इंद्रिय देवताओं ने अपनी तृप्ति के लिये ब्रह्मदेव से व्यष्टि शरीर रचने की प्रार्थना की। तब ब्रह्मदेव ने ऊपर दाँतवाली गौ रची, उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए, बोले कि 'नायमलमिति' (अर्थात् यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है)। तब ऊपर-नीचे दोनों दाँतोंवाला घोडा रचा, वे बोले कि इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा, तब मनुष्य की रचना की, उसे देखकर देवता बडे प्रसन्न हुए और बोले 'अलम्, अलम्' अर्थात् इसीसे हमारा काम चलेगा अत, देवता इंद्रियों के साथ यथास्थान अंगों में प्रवेश कर गये। अतएव ऐसे भोग-साधन (रूप मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें नहीं सुहाता।

शंका—देवताओं मे सूर्य आदि भी तो हैं, जो कि नेत्र के देवता और ज्ञानी हैं।

समाधान—देवता जिस अंश से इंद्रिय स्थानों पर रहते हैं, उस अंश से विषय रस ही चाहते हैं, जैसे भले लोग भी स्त्री (युवती) के पास चपलता करते हैं।

(२) 'विषय समीर बुद्धि '—'समीर' शब्द का अर्थ 'अच्छी तरह चलनेवाला' है, वही यहाँ वायु के विषय मे ग्रहण किया गया है कि विषय का अंधड़ बंद नहीं होता, चला ही करता है। तब जिस उपर्युक्त विधि से दीपक जलाया गया, साहस भग्न होने से उसका दोबारा होना असभव है, ऊपर कहा ही गया है कि कार्य साधनेवाली बुद्धि पगली हो गई। अत, अविधि से उक्त बातें साध्य नहीं हैं।

दोहा—तब फिरि जीव बिबिधि बिधि, पावइ संसृत-क्लेस।
हरि-माया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस॥
कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौ, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥११८॥

अर्थ—ज्ञान विमुख होकर तब जीव अनेक प्रकार से ससारी क्लेश पाता है, हे गरुड़जी। हरि माया अत्यन्त दुस्तर है, तरी नहीं जाती॥ विवेक कहने मे कठिन, समझने में कठिन और साधने मे भी कठिन है, यदि घुणाक्षर न्याय से हो जाय तो भी उसमे अनेक विघ्न हैं ॥११८॥

विशेष—(१) 'तब फिरि —'सोऽहमस्मि' वृत्ति के नहीं रहने से साधक ज्ञान से मुँह मोड़कर दिव्य विषयों में लिप्त हो गया। पुन मुमुक्षुता होना असम्भव है। 'जीव'—यह पहले अपनेको ब्रह्मात्मक मानता था, अब पुन विषयी जीव हो गया। 'बिबिध बिधि '—जन्म, जरा, मरण आदि, एव पचक्लेश—अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।

(२) 'हरि-माया अति दुस्तर···'; यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा' (दो॰ ५१); इत्यादि। आसुरी और दैवी माया दुस्तर हैं और हरि-माया अति दुस्तर है। जब आसुरी और दैवी माया का ही तरना दुस्तर है; यथा—"जानि न जाइ निसाचर-माया।" (सुं॰ दो॰ ५१); "सुर माया सब लोग बिमोहे" (बा॰ दो॰ १०१) तब हरि-माया का तरना क्यों न अति दुस्तर हो; यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४)—इसमें स्पष्ट कहा गया है कि हरि की शरण हुए बिना हरि-माया का तरना अत्यन्त कठिन है। 'बिहगेस'- विघ्न का प्रकरण 'खगराया' कहकर आरम्भ किया यथा; या—"छोरत ग्रंथि जानि खगराया।" अतएव 'बिहगेस' कहकर उसकी समाप्ति भी की है।

(३) कहत कठिन'···'—भाव यह है कि पहले तो इसे कोई कह नहीं सकता, यदि कहनेवाला कोई हो भी तो समझनेवाला दुर्लभ है, यदि यह भी हो तो उसका साधन करनेवाला मिलना कठिन है। भाव यह कि यह केवल कहना ही भर है। इसके साधक नहीं मिल सकते। श्रीमुख से श्रीरामजी ने भी कहा है; यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥" (दो॰ ४४)।

(४) 'होइ घुनाच्छर न्याय'···'—जैसे घुणों के काटने में, दैवयोग से कभी-कभी लकड़ी में अक्षर बन जाते हैं, किन्तु उसके उद्देश्य से नहीं बन सकते। वैसे ही यह विवेक-साधन दैवयोग से हो जाय तो हो जाय, परन्तु फिर भी इसमें अनेकों विघ्न हैं। यहाँ 'सोऽहमस्मि' वृत्ति' तक पहुँचना घुण से अक्षर बन जाने की तरह हुआ। 'पुनि प्रत्यूह' का भाव यह है कि जैसे घुण से अक्षर बन तो गया, पर फिर कहीं काटते हुए कीड़े ने, उस अक्षर को भी काट डाला। ऐसे ही इसके 'सोऽहमस्मि' वृत्ति तक पहुँचने पर यदि प्रारब्ध समाप्त होकर शरीरपात हो जाय, तो यह कैवल्य पद पा जाय, नहीं तो फिर कहीं माया के फंदे में पड़ गया तो सब श्रम व्यर्थ हो जाता है।

यहाँ 'घुनाच्छर न्याय' कहकर उपक्रम के "अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित् सो निरुअरई॥" को चरितार्थ किया। उपक्रम—'अकथ कहानी'; । 'समुझत बनै न' उपसंहार—'कहत कठिन समुझत कठिन। पुनः उपक्रम—"जदपि मृषा छूटत कठिनाई।" उपसंहार—"हरिमाया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस॥"

ज्ञान-पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥१॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥२॥
अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद॥३॥

अर्थ—ज्ञान-मार्ग कृपाण की धार है, हे गरुड़! इस मार्ग पर से गिरते देर नहीं लगती॥१॥ जो इस मार्ग में निर्विघ्न निबह जाता है, वह कैवल्य-मुक्ति-रूपी परम पद प्राप्त करता है॥२॥ संत, पुराण, निगम और आगम सभी कहते हैं एवं बाजी लगाते हैं कि कैवल्य परम पद अत्यन्त दुर्लभ है॥३॥

विशेष—(१) 'ज्ञान-पंथ कृपान ···'—कृपाण द्विधारा तलवार को कहते हैं, सामान्य तलवार पर ही चढ़ना कठिन है, यथा—"तिय चढ़िहहिं पतिव्रत-असि धारा।" (बा॰ दो॰ ९६); यह ज्ञान-मार्ग उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है, इसे कृपाण की धार ही समझिये, मार्ग क्या है निरावलम्ब मार्ग में एक रेखा है। तार पर या रस्से पर चलनेवाले बड़ी सावधानी से समता बनाये हुए पैर रखते हैं, जरा भी वैषम्य हुआ कि गिरे और यहाँ तो कृपाण की धार पर चढ़ना और चलना है, अतः इसमें गिरते देर नहीं लगती; यथा—

"जे ज्ञान-मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (दो॰ १२), तथा—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥" (कठ॰ ११।१४); अर्थात् ज्ञान-मार्ग छुरे की पैनी धार है, (उसे) कवि लोग दुर्गम और दुरत्यय मार्ग कहते हैं।

यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म साधन का नहीं हो सकना गिरना है और साधन में चूक जाना पैर का फटना है। 'जौ निर्विघ्न'—विघ्न ऊपर बहुत-से कहे गये, वे सब होते हैं; अतः, निबहना संदिग्ध है।

(२) 'अति दुर्लभ ''—त्रिदेव का अधिकार पद है ; यथा—"भरतहि होइ न राज-मद, बिधि-हरि-हर-पद-पाय।" (अ॰ दो॰ २३१), कैवल्य उससे भी श्रेष्ठ है, इससे इसे 'परम पद' कहा गया है। इसकी दुर्लभता यों भी है कि प्रथम तो ब्राह्मण-शरीर ही दुर्लभ है; यथा—"चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥" (दो॰ १०१) ; उस शरीर में भी विरति, विवेक, ज्ञान और विज्ञान का होना मुनि-दुर्लभ है, यथा—"ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि-दुर्लभ गुन जे जगजाना॥" (दो॰ ८१); उन गुणों के होते हुए भी उनके फल-स्वरूप कैवल्य परम पद की प्राप्ति अति दुर्लभ है।

'संत-पुरान-निगम-आगम बद।'—वेद-पुराण आदि के कहने पर जब जिस विषय को संत लोग अनुभव करके अनुमोदन करते हैं, तब वह सर्वजगत् के योग्य सिद्धान्त रूप होता है ; यथा—"बेद पुरान उदधि घन साधू।" (आ॰ दो॰ ३५) ; पर इसकी महत्ता को सभी एक स्वर से कहते हैं, अतएव यह यथार्थ ही है कि कैवल्य प्राप्त करना परम पुरुषार्थ की सिद्धि है।

इस प्रसंग के उपक्रम में कहा गया था, यथा—"वेद-पुरान-संत-मत भाखउँ।" (दो॰ ११५)। और यहाँ इसके उपसंहार में भी कहा है, यथा—"संत-पुरान-निगम-आगम बद।"

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरियाईं॥४॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥५॥
तथा मोच्छ-सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का भजन करते हुए वही अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति, इच्छा न करने पर भी, बरियाई आकर प्राप्त होती है॥४॥ जैसे बिना स्थल (गहरी भूमि) के जल रह नहीं सकता, चाहे कोई करोड़ों उपाय करे॥५॥ उसी प्रकार, हे गरुड़जी! सुनिये, मोक्ष सुख भगवान् की भक्ति को छोड़कर रह ही नहीं सकता॥६॥

विशेष—(१) 'राम भजत सोइ ''—इतने प्रयास से होनेवाली जो मुक्ति है, वह राम-भक्ति से अनिच्छित कैसे आ जायगी? इसका उत्तर यह है कि यहाँ जीव का प्रकृति वियुक्त (तीन अवस्थाओं और तीन गुणों तक से पृथक्) होकर स्व-स्वरूप में स्थित होना और उस 'आतम-अनुभव सुख सुप्रकास' से ग्रंथि निर्मुक्ति कर अंत में संसार-दुःख से छूटकर कैवल्य परम पद पाना फल कहा गया है, यथा—"उभय हरहि भव-संभव खेदा।" यही फल भक्ति से अन इच्छित इस तरह आता है, यथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (आ॰ दो॰ ३५), जीव का सहज स्वरूप—'ईश्वर अंस जीव···' में जो कहा गया वही है, उसी का शुद्ध रूप में साक्षात् करना ही कैवल्य का भी उद्देश्य कहा गया।

इस 'मम दरसन ··' की चौपाई को श्रीरामजी ने श्रीशबरीजी से नवधा भक्ति वर्णन करने के पीछे

फल-रूप में कहा है ; यथा—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।" अतः, "जोगिवृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥" क्योंकि—"मम दरसन फल···" बस, यह प्रसंग यहीं समाप्त हो गया।

यहाँ सकल प्रकार की भक्ति में नवधा के ही नव अंग नहीं ; किन्तु प्रेमा और परा को भी समझना चाहिये, क्योंकि इसकी प्रेमा भक्ति प्रसिद्ध है ; यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी० मू०)। अतः, इसने अच्छी तरह से श्रीरामजी के दर्शन किये हैं, इसीसे यह अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हुई। उसीका महत्व श्रीरामजी ने कहा है। दर्शन इस प्रकार होते हैं—

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा भक्ति सहित श्रीरामजी के दर्शन करता रहता है, इसमें इन्द्रियों के विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः, चित्तवृत्ति भगवान् में ही रहती है। फिर प्रेमा भक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर के दोषों को शुद्ध करता हुआ श्रीरामजी में चित्त रखता है और बुद्धि से उन्हीं की कृपा, दया आदि गुणों का विचार होने पर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों-सहित प्रीति के उमंग में निमग्न रहता है। अतः, दर्शनों में बाधा नहीं पड़ती। पुनः पराभक्ति के दृढ़ अनुराग के प्रारंभ में ही विरहाग्नि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म-वासनामय कारण शरीर भस्म होने से साधक तुरीयावस्था को स्वतः प्राप्त होता है। इसी अवस्था में यहाँ 'सोऽहमस्मि' वृत्ति कही गई है। इस पराभक्ति में भगवान् में गाढ़-स्मृति स्वतः एकरस रहती है ; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥" (अ० दो० १३०) ; इससे ज्ञान-प्रसंग की माया-कृत बाधाएँ जो ग्रंथि छोड़ने में कही गई हैं, कुछ नहीं कर सकतीं ; यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (दो० ११५), अतः, यह उक्त ग्रंथियों से भी निर्मुक्त हो जाता है ; यथा—"तथा न ते माधव तावकाः क्वचित् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसुप्रभो॥" (भाग० १०।२।३३)।

यहाँ तक ये सब कार्य केवल श्रीराम-दर्शन से हुए। अवस्थानुसार मनादि इन्द्रियों के लिये आधार-रूप में नवधादि भक्तियाँ थीं, जिसकी ज्ञान में त्रुटि है—"न मन कहँ टेका।" (दो० ४४) दर्शन-फल को श्रुतियाँ भी कहती हैं ; यथा—"भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुंडक० २।२।८) ; अर्थात् उस परमात्मा के देखने पर (साक्षात्कार होने पर) हृदय की जड़-चेतन की ग्रन्थि कट जाती है और सर्व संशय निवृत्त हो जाते हैं. प्राचीन कर्मों के विनाश हो जाते हैं। फिर शरीर-शरीरी रूप में स्व स्वरूप स्थिति रहने से क्रियमाण कर्म अहंकार-रहित होते हैं और प्रारब्ध कर्म भोग देकर समाप्त हो जाता है। इस तरह तीनों कर्मों के क्षय होने से देहरहित होने पर मुक्त कहाता है।

(२) 'अनइच्छित आवइ···' का भाव यह है कि यह केवल श्रीराम-स्नेह चाहता है, वे दशाएँ स्वतः आती जाती हैं, कहावत है—"खेती करिय अनाज-हित सहज घास भुस होइ।" मुक्ति-रूपी फल के चाहने में श्रीरामजी और उनकी भक्ति साधनांग हो जाते हैं, इसीसे भक्त लोग मुक्ति नहीं चाहते। परन्तु—"यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्।" (गीता ९।२५) ; तथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३) की रीति से वे भगवान् को ही प्राप्त होते हैं। और—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरम मम।" (गीता १५।६); तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६) आदि प्रमाणों से वे निर्मुक्त होकर ही नित्यधाम में रहते हैं।

(३) 'जिमि थल बिनु ··तथा मोच्छ सुख ··'—गहरा स्थल भक्ति है, मोक्ष सुख-जल-रूप है। ऊपर जो अनिच्छित आना कहा था, उसे ही दृष्टान्त द्वारा सरल करते हैं कि भजन करते हुए वह सुख

अनायास ही आता है ; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि ··सोई सुख लवलेस···" (दो० ८८) देखिये। "मम गुन-ग्राम-नाम-रत, गत ममता मद-मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (दो० ४६); "जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि॥" (गी० बा० ५)। "अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये।" (जानकीमंगल ४५)।

अस बिचारि हरि-भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने॥७॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥८॥

अर्थ—ऐसा विचारकर चतुर हरि-भक्त मुक्ति का निरादर करके भक्ति पर लुभाये रहते हैं॥७॥ भक्ति करते हुए बिना यत्न और परिश्रम के संसार के मूल अविद्या का नाश होता है॥८॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि'—जैसा ऊपर ज्ञान की घुणाक्षर-न्याय से सिद्धि एवं उससे हरि-माया का 'अति दुस्तर' होना कहा गया है। पुनः वही 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' श्रीराम-भजन से अनायास प्राप्त होता है और भक्ति से ही मोक्षसुख की अक्षय स्थिति है, इत्यादि विचार कर जो सयाने हरिभक्त हैं, वे—'मुक्ति निरादरि···'; यथा—"भजन-हीन सुख कवने काजा।" (दो० ८३)। उसी मुक्ति-साधन को श्रीलोमशजी कहते थे, पर श्रीभुशुंडिजी ने उसे नहीं माना और भक्ति के लिये लुभाये हुए उनसे हठ की थी, शाप तक सह लिया, पर भक्ति का लोभ नहीं छोड़ा। उसी पर गरुड़जी ने यह प्रश्न किया था ; यथा—"नहि आदरेहु भगति की नाईं।" (दो० ११४); उसी का यहाँ उत्तर है कि मैं ही ऐसा नहीं करता; किन्तु सभी सयाने हरि भक्त करते हैं। इसी पर श्रीरामजी ने श्रीभुशुंडिजी को 'सहज सयाना' कहा था ; यथा—"सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥" (दो० ८४)।

(२) 'भगति करत बिनु ···'—भाव यह कि ज्ञान में बहुत यत्न और श्रम करना पड़ता है। परन्तु भक्ति में दूसरा यत्न और परिश्रम नहीं करना पड़ता। भक्ति में भक्ति मात्र ही करनी पड़ती है, वह तो सुख-साध्य है ही। पुनःबिना यत्न-प्रयास के ही इससे अविद्या का नाश हो जाता है। इसी पर आगे दृष्टान्त देते हैं—

भोजन करिय तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥९॥
असि हरि-भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥१०॥

अर्थ—भोजन तृप्ति के लिये किया जाता है उस भोजन को जठराग्नि पचा देती है॥९॥ इस प्रकार हरि-भक्ति सुगम और सुख देनेवाली है। ऐसा कौन मूढ़ होगा, जिसे वह अच्छी न लगे॥१०॥

विशेष—(१) भोजन करने का मुख्य फल तृप्ति है और उसका पचाना आनुषंगिक है। वह जठराग्नि के द्वारा बिना प्रयास एवं बिना यत्न के ही होता रहता है। इसी तरह हरि-भजन सुन्दर भोजन है, प्रेम-सहित भजन करते हुए इन्द्रिय अंतःकरण सहित जीव को उससे तृप्ति हुआ करती है ; यथा—"कबहूँ कपि राघव आवहिंगे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे॥ मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिंगे॥" (गी० सुं० १०)। इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करना चिर-अभ्यस्त होने से सुगम एवं

सुखदायी रहता है। भक्ति हीन विषय नरक देनेवाले हैं, अविद्यात्मक हैं। और, वही विषय भक्ति के रूप में अर्थात् श्रीरामजी के रूप देखने एवं उनके यश सुनने आदि में श्रीराम-प्राप्ति रूप मोक्ष के साधक होते हैं। भगवत्सम्बन्धी दिव्य विषय से इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं और प्रारब्ध-वृत्तियाँ भी भक्ति रूप में परिणत होकर समाप्त होती जाती है। विषयानुराग-रूपी विकार भस्म होता जाता है, पचता जाता है। (भक्ति-संबंधी व्यवहार भी अविद्यात्मक नहीं होता) भक्ति रूप में ही परिणत हो जाता है। इसमें जठराग्नि-रूपा इष्टरूपा है।

(२) 'असि हरि-भगति···'; यथा—"भगति करत बिनु जतन प्रयासा।" से "पचवै जठरागी" तक। प्रयास-रहित होने से सुगम और संसृति मूल अविद्या नाशक होने से भक्ति को सुखदायी कहा है। 'को अस मूढ़ न जाहि सुहाई।'—भाव यह कि जो सयाने हैं, वे तो लुभाये हुए रहते हैं, ऊपर कहा गया। जिन्हें नहीं सुहाती वे मूढ़ हैं, मूढ सयाने का उल्टा है। भक्ति 'सुगम सुखदाई' है और ज्ञान 'अगम प्रत्यूह अनेका' है; अर्थात् दुर्गम और दुःखदायी है। उसके पीछे पचना मूढ़ता है। यह ध्वनि है।

दोहा—सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पकज, अस सिद्धांत बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥११९॥

अर्थ—हे गरुड़जी! सेवक-स्वामि (अर्थात् मैं सेवक हूँ, श्रीरामजी मेरे स्वामी हैं इस) भाव के बिना संसार तरना नहीं हो सकता—ऐसा सिद्धान्त विचार कर श्रीरामजी के चरण कमल का भजन करो॥ जो चेतन को जड़ कर देते हैं और जड़ को चेतन—ऐसे समर्थ श्रीरघुनाथजी को जो जीव भजते हैं, वे धन्य हैं॥११९॥

विशेष—(१) 'सेवक-सेव्य भाव'; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (अ॰ दो॰ १॰); तथा—"दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः॥" पुन बृहदा॰ ३।७।३ के 'यस्य पृथवी शरीरम्' से लेकर २३ वें मंत्र तक जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि और जीवात्मा को भी भगवान् का शरीर कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पाँचों तत्वों के शरीर सहित जीव भगवान् का शरीर है, वे इसके शरीरी हैं। शरीरी स्वामी और शरीर सेवक होता है, यथा—"सेवक कर पद नयन से ···" (अ॰ दो॰ ३॰६), शरीरी (जीवात्मा) अपने शरीर पर शासक होता है और उसका भोक्ता है, शरीर उसका भोग्य है। इसी तरह सभी जीव अपनी देह सहित भगवान् के सेवक, नियाम्य और भोग्य हैं, भगवान् स्वामी, नियामक और भोक्ता हैं श्रुति सिद्धान्तानुसार इसी भाव से भव-तरण होता है, अतएव इसी भाव से श्रीरामजी के चरण-कमल का भजन करना चाहिये।

(२) 'जो चेतन कहँ जड़ करइ ···'—यदि कहा जाय कि उपर्युक्त जड चेतन की गाँठ कैसे छूटेगी? उसपर कहते हैं कि श्रीरामजी उस अध्यास के छुड़ा देने में समर्थ हैं—यह दो॰ ११६ चौ॰ ४ में कहा गया है। जैसे कि श्रीनारदजी चेतन थे सो जड़ हो गये, उन्होंने इष्ट ईश्वर पर भी क्रोध किया और ध्रुव जड़ (अज्ञान) बालक थे, वे सर्वशास्त्र के ज्ञाता हो गये, शङ्ख स्पर्श द्वारा भगवान् ने उन्हें सम्पूर्ण विद्या दे दी। तथा—

"मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहि प्रबीन ॥" (दो॰ १२२); "तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं॰ दो॰ ११), "माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु॰ बा॰ ४४)। "ईसनि, दिगीसनि, जोगीसनि, मुनीसनि हूँ, छोड़ति छोड़ाये ते, गहाये ते गहति।" (वि॰ २४१) इत्यादि। 'ते' से 'जे' का अध्याहार कर लेना चाहिये, जे जीव—स्त्री, पुरुष शूद्र, अन्त्यज, पशु आदि कोई भी हों।

(३) 'ते धन्य', यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (दो॰ ९५)।

ज्ञान-सिद्धान्त (एवं ज्ञान-दीपक) प्रकरण समाप्त।

भक्ति-चिन्तामणि-प्रकरण

कहेउँ ज्ञान-सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति-मनि कै प्रभुताई ॥१॥
राम-भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥२॥
परम प्रकास रूप दिन-राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ॥३॥
मोह-दरिद्र निकट नहि आवा। लोभ बात नहि ताहि बुझावा ॥४॥

अर्थ—ज्ञान का सिद्धान्त मैंने समझाकर कहा, (अब) भक्ति (रूपिणी) मणि की प्रभुता सुनिये ॥१॥ हे गरुड़ ! श्रीराम भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है, वह जिसके हृदय में बसे ॥२॥ वह दिन-रात परम-प्रकाश-रूप रहता है, उसे दीपक, घृत और बत्ती कुछ भी नहीं चाहिये ॥ ॥ मोह-रूपी दरिद्र उसके पास नहीं आता और न लोभ रूपी वायु उसे बुझाता है ॥४॥

विशेष—(१) 'कहेउँ ज्ञान-सिद्धान्त बुझाई।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम "कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही।" (दो॰ ११४) है। ज्ञान-भक्ति का अंतर पूछा था, उसमें ज्ञान का स्वरूप कहा गया, आगे भक्ति का भी कहते हैं, तब दोनों का अंतर स्पष्ट हो जायगा। भक्ति को चिंतामणि के रूपक से कहते हैं।'प्रभुताई' अर्थात् ऐश्वर्य, वह यह कि ज्ञान दीपक-रूप एवं सबाध्य है और भक्ति चिन्तामणि रूप एवं अबाध्य है, भक्ति के गुण यहाँ से कहते हैं। 'चिंतामनि सुंदर'—यह स्वरूप से सुंदर है और चिंतित पदार्थ देती है, अत गुण से भी सुन्दर है।

(२) 'परम प्रकास'—ज्ञान-दीपक को 'तेजरासि' और उसकी शिखा को 'परम प्रचंड' कहा था, उसीके जोड़ मे इससे यहाँ 'परम प्रकास रूप' कहा है। 'दिन राती'—दीपक एवं सामान्य मणि का प्रकाश रात ही में रहता है, दिन में सूर्य के प्रकाश मे वह लीन हो जाता है। पर भक्ति चिंतामणि का प्रकाश रातो दिन एकरस रहता है। क्योंकि भक्त के हृदय मे श्रीरामजी का रूप बसता है, उनके रूप का प्रकाश सहज ही हृदय मे रहता है, यथा—"भरत हृदय सिय राम-निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि-प्रकासू॥" (अ॰ दो॰ २९४), अत , सब बातों का ज्ञान सदा एकरस रहता है।

'नहि कछु चहिय···'—वहाँ विज्ञानमय दीपक में चित्त दिया, ज्ञान घृत और तुरीयावस्था रूपी रुई की बत्ती की आवश्यकता थी, तब आत्मानुभव-सुख-रूपी प्रकाश हुआ था। पर भक्ति-मणि सहज ही प्रकाश रूपा है, इसमें ज्ञान-विज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं है। प्रभु की माधुरी में इन्द्रिय अंत.करण की वृत्तियाँ एकत्र होकर स्वत चकोरवत् लगी रहती हैं।

(३) 'मोह दरिद्र···'- मोह देहाभिमान को कहते हैं, इसमें दरिद्रता यह है कि शरीर-पोषण के लिये संसार-भर की वस्तुओं से भी मनोरथ-पूर्ति नहीं हो सकती। कुछ-न-कुछ कमी रूपी दरिद्रता रहती है। यह मोह भक्ति-मणि के पास भी नहीं आता, क्योंकि भक्ति के द्वारा भक्त के इन्द्रिय अंत.करण को अहर्निशि दिव्य सुख मिला करता है जैसे चिंतामणि से अर्थ, धर्म, काम प्राप्त होते रहते हैं। 'नहिं आवा' का भाव यह कि दीपक के नीचे तम आ जाता है, पर यहाँ तो पास ही नहीं आने पाता। मोह ही वहाँ तम और यहाँ दरिद्र कहा गया है। वह 'अंचल वात' एवं 'विषय समीर' से बुझ जाता है। पर यहाँ उस क्षोभ से कुछ हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तो इन्द्रियों को दिव्य भोग मिलता ही है, वे प्राकृत विषयों का लोभ क्यों करेंगी? यथा—"राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय-भोग बस करइ कि तिन्हहीं॥" (अ० दो० ४२)।

प्रबल अबिद्या-तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ-समुदाई॥५॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥६॥

अर्थ—अविद्या का प्रबल अंधकार मिट जाता है, सब (मदादि) पतंगों का समुदाय हार बैठता है॥५॥ कामादि दुष्ट उसके निकट नहीं जाते जिसके हृदय में भक्ति बसती है॥६॥

विशेष—(१) 'प्रबल अविद्या तम···'—ज्ञान-दीपक में 'प्रबल अविद्या कर परिवारा।' नाश हुए और यहाँ स्वयं अविद्या ही, यह विशेषता है। भक्तों के अविद्यात्मक भाव 'मैं' 'मोर' प्रभु को अर्पित रहते हैं; यथा—"मम नाथ! यदस्ति योस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।" (आलबंदार स्तोत्र ५६)। जब वह अविद्या ही नहीं रही तो उसके परिवार कहाँ से आवेंगे? 'सकल सलभ' से ज्ञान-दीपक के ही 'मदादिक' को जानना चाहिये; नहीं तो नाम देते। 'हारहिं'— दीपक-प्रसंग में जलना कहा है, पर यहाँ मणि है, इससे हारना ही कहा कि इस पर इनका वश नहीं चलता।

(२) 'खल कामादि··'; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ॥" (आ० दो० ३८)। जब ये पास ही नहीं जा पाते, तो हानि क्या करेंगे? भक्तों की कामना दासत्व की ही होती है; यथा—"कामं च दास्ये न तु काम काम्यया।" यह भाग० ९।४।२० अंबरीष प्रसंग में कहा गया है।

खल कामादि चोर हैं, वे यहाँ भक्ति के प्रकाश से डरते हैं।

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥७॥
ब्यापहिं मानस-रोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥८॥

अर्थ—विष अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान हो जाते हैं, उस मणि के बिना कोई सुख नहीं पाता॥७॥ भारी मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुखी रहते हैं, उसको नहीं व्याप्त होते॥८॥

विशेष—(१) 'गरल सुधा सम'- इन्द्रिय विषय ही विष हैं; यथा—"नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥" (दो० ४३); श्रवण आदि इन्द्रियों के विषय भगवान् को ही बनाना भक्ति है, वे ही विषय भक्ति-रूप में अमृत होकर जन्म-मरण के नाशक होते हैं। 'अरि हित होई' इन्द्रियों के साथ मन ही विषयी होने से जीव का शत्रु है और वही भक्तिनिष्ठ हो जाने से मित्र हो जाता है; यथा—"आत्मैवह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।" (गीता ६।५); 'तेहि मनि बिनु···', यथा—"सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने।···तुलसी चित चिंता न मिटइ बिनु

चिंतामनि पहिचाने ॥" (वि० २३५) तथा—"गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गरुड़ सुमेरु ··राम कृपा करि चितवा जाही ॥" (सुं० दो० ४); अर्थात् भक्त पर प्रभु-कृपा करते हैं।

चिंतामणि के प्रभाव से विष नहीं व्याप्त होता और उसके सामने शत्रु भी मित्र हो जाता है, वैसे यहाँ श्रीलोमशजी का शाप विषवत् था, वह अमृत हो गया और वे मुनि हो शत्रु से मित्र हो गये – यह चरितार्थ भी है।

(२) 'व्यापहिं मानस रोग न भारी···'—जैसे चिंतामणि के प्रभाव से रोग नहीं होता, वैसे भक्ति-मणि के प्रभाव से भारी मानस-रोग नहीं व्याप्त होते। जिनका वर्णन आगे दो० १२० में विस्तार से है। साथ ही—'रघुपति-भगति सजीवन मूरी।' उपाय भी कहा गया है। जो प्रथम से ही भक्ति में रत हैं, उन्हें वे रोग होते ही नहीं। 'जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।'; यथा—"जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा।" (दो० १२०)।

राम-भगति-मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके ॥९॥
चतुर-सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥१०॥

अर्थ—श्रीरामभक्ति-रूपी मणि जिसके हृदय में बसती है, उसको स्वप्न में भी लेश-मात्र दुःख नहीं होता ॥९॥ संसार में वे ही लोग चतुरों में श्रेष्ठ हैं जो इस मणि के लिये पूर्ण यत्न करते हैं ॥१०॥

विशेष—'चतुर सिरोमनि तेइ '—यहाँ तीन प्रकार के चतुर उत्तरोत्तर अधिक दिखाये गये हैं; यथ—१—"अस विचारि जे मुनि विज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी ॥" (दो० ११५); ये मोक्ष-सुख पाकर भक्ति माँगते हैं। २—'हरि-भगत सयाने' जो मुक्ति का निरादर करके भक्ति में लुब्ध हैं। ३—ये चतुरशिरोमणि हैं। अतः मुक्ति का आदर निरादर कुछ नहीं करते, उसमें अपना समय अपव्यय न करके केवल भक्ति के लिये यत्न करते हैं। सुजतन—तन, मन, धन से तत्पर रहते हैं। भक्ति को परम अलभ्य मानते हैं। क्या यत्न करते हैं, इसे आगे कहते हैं। मणि पर्वतों की खान से यत्नपूर्वक प्राप्त की जाती है, ये भक्ति मणि के लिये सुयत्न करते हैं।

भक्ति-मणि-प्राप्ति के यत्न

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम-कृपा बिनु नहि कोउ लहई ॥११॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हत-भाग्य देहिं भटभेरे ॥१२॥

अर्थ—यद्यपि वह मणि जगत् में प्रकट है तो भी बिना श्रीराम-कृपा के उसे कोई नहीं पाता ॥११॥ उसकी प्राप्ति के उपाय सुगम ही हैं, पर भाग्य-हीन मनुष्य उनको ठुकरा देते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'सो मनि जदपि···'—चतुर-शिरोमणि के सुयत्न से प्राप्त होना कहने से भक्ति मणि अगम जान पड़ी, उसपर कहते हैं कि वह तो वेद-पुराणों के द्वारा जगत् में प्रकट है, पर श्रीराम कृपा से मिलती है; यथा – "नाथ एक वर मागउँ, राम कृपा करि देहु। जन्म जन्म तव पद कमल, कबहुँ घटइ जनि नेहु ॥" (दो० ४९); और उसका साधन भी सुगम है, भाव यह है कि श्रीरामजी की कृपा जीवमात्र पर है, उन्होंने निर्हेतुकी कृपा से नर-देह दी है, और भक्ति में श्रद्धा प्रकट करने के लिये शास्त्र-पुराणों से उसका महत्त्व प्रगट किया है पुनः वे ही सत्संग का भी संयोग कर देते हैं। तब उसका उपाय सुगम हो जाता है।

उसपर भी जिनका भाग्य फूटा हुआ है, वे उसे ठुकरा देते हैं। जैसे किसी अंधे के पैर में बहुमूल्य मणि लगे, तो वह उसे ठुकरा दे।

(२) 'भटभेरे' = धक्का, टक्कर, ठोकर ; यथा—"कबहुँक हौं संगति प्रभाव तें जाउ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो ॥" (वि॰ १४३)।

पावन पर्वत बेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना ॥१३॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी ॥१४॥
भाव-सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुखखानी ॥१५॥

अर्थ—वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं, उनमें नाना प्रकार की राम कथाएँ इन पर्वतों की सुन्दर खानें हैं ॥१३॥ सज्जन इन खानों के भेदी हैं, सुंदर बुद्धि कुदाल है, हे गरुड़जी ! ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं ॥१४॥ जो प्राणी भाव सहित खोजे, वह सब सुखों की खान भक्ति-रूपी मणि प्राप्त करे ॥१५॥

विशेष—(१) 'पावन पर्वत · '—सब पर्वतों में मणि की खानें नहीं होतीं और वे सब पर्वत पावन भी नहीं होते। पर वेद-पुराण पावन हैं। वेद-पुराणों में भी सर्वत्र रामकथा ही नहीं होती, जहाँ वहाँ होती है। जैसे पर्वतों में कहीं-कहीं मणि खानें होती हैं। मणि की खानों को भेदी ही जानते हैं वैसे ही इसे भी सत लोग ही जानते हैं कि भक्ति-सम्बन्धी रामकथाएँ कहाँ-कहाँ हैं। अत, संग करने से वे बतलायेंगे। उनसे जानी भी जायँ, तो उन खानों से भक्ति-तत्त्व ग्रहण करने की सुन्दर बुद्धि भी चाहिये, यथा—"हरिहर-पद-रति मति न कुतर्की। तिन्हँ कहँ मधुर कथा रघुबर की ॥" (बा॰ दो॰ ८), कुदाल से खोदने पर भी मिट्टी से भरी हुई मणियाँ निकलती हैं, उनके पहचानने के लिये उत्तम दृष्टि चाहिये। अत, ज्ञान विराग नेत्र चाहिये। बुद्धि-रूपी गोलक में ज्ञान और चित्त-रूपी गोलक में वैराग्य-रूप नेत्र होने चाहिये। क्योंकि राम कथा में प्रभु के कृपा, दया, सौशील्य आदि गुणों और उनकी महिमा आदि के ज्ञान से भक्ति होती है। उनसे वैराग्यवान् भक्तिपरक भाव ग्रहण करते हैं और विषयी मोह को प्राप्त होते हैं यथा "उमा राम-गुन गूढ, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ, जे हरि बिमुख न धर्म-रति ॥" (आ॰ म॰ सो॰), नेत्र दो होते हैं और वे अन्योन्य सहायक होते हैं, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (दो॰ ८९)। वैसे ही ज्ञान और विराग दो कहे गये और वे अन्योन्य सहायक भी हैं।

बा० दो० १—"श्रीगुरु-पद-नख-मनिगन जोती।" से "सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥" तक भी ऐसा ही प्रसंग है। वहाँ भी गुरु की भक्ति के द्वारा हृदय के विमल नेत्र ज्ञान विराग का खुलना और उनकी दिव्य दृष्टि से श्रीरामचरित मणि-माणिक का प्राप्त होना कहा गया है। पर वहाँ रामचरित ही मणि माणिक, वेद पुराण पर्वत-खान में कहा गया है और यहाँ वेद-पुराण पर्वत, रामचरित खान और भक्ति मणि है—यह भेद है।

(२) 'भाव सहित खोजइ '—यहाँ भाव सहित खोजना कहा गया है, क्योंकि प्रभु 'भाववश्य' हैं, 'भावग्राहक' हैं – दो॰ ९२ देखिये। भाव से वश होकर कृपा करते हैं, तब उस मणि की प्राप्ति करा देते हैं, यथा—"राम-कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।" यह ऊपर कहा ही है। अंत में भी यही बात कही गई है, यथा—"रामचरन-रति जो चहइ भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान ॥" (दो॰ १२८), 'जो प्रानी'—प्राणि-मात्र कोई भी हों, सभी इसके अधिकारी हैं। 'सब सुख-खानी', यथा—"सब सुखखानि भगति तैं माँगी।" (दो॰ ८४)।

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥१६॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा ॥१७॥
सब कर फल हरि-भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई ॥१८॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम-भगति तेहि सुलभ बिहँगा ॥१९॥

अर्थ—हे प्रभो ! मेरे मन में तो ऐसा विश्वास है कि श्रीरामजी के दास श्रीरामजी से भी बढ़कर हैं ॥१६॥ (उस अधिकता को दिखाते हैं—) श्रीरामजी समुद्र हैं तो धीरबुद्धि सज्जन मेघ हैं, भगवान् श्रीरामजी चन्दन के वृक्ष हैं तो सज्जन पवन हैं ॥१७॥ सब (साधनों) का फल सुन्दर राम-भक्ति है, वह बिना सन्त के किसी ने नहीं पाई ॥१८॥ ऐसा विचार कर जो कोई भी सत्संग करे, हे गरुड़ ! उसे श्रीराम-भक्ति सुलभ है ॥१९॥

विशेष—(१) 'राम ते अधिक राम कर दासा'—कहकर फिर उसे दो दृष्टान्तों से समझाते हैं कि श्रीरामजी समुद्र की तरह अगाध हैं, अगणित गुणगणों से पूर्ण हैं, उनमें से संत लोग भक्तों के उद्धार करनेवाले गुणों को ग्रहण कर सर्वत्र सबको प्राप्त कराते हैं। जैसे समुद्र से मेघ मीठा जल ग्रहण कर जगत् का कल्याण करते हैं, यथा—"बेद पुरान उदधि घन साधू ॥ बरषहिं राम-सुयस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥" (बा० दो० ३५)। शेष जगत्-व्यापार-सम्बन्धी गुण अगाध हैं, उन्हें खारे जल की तरह छोड़ देते हैं, क्योंकि उन गुणों से जीवों का वैसा प्रयोजन नहीं है और न जीव उन अमित गुणों को धारण ही कर सकते हैं। यथा—"यावानर्थउदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषुवेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥" (गीता २।४६)।

(२) 'चंदन तरु हरि संत समीरा।'—मलयगिरि पर चन्दन जाति का प्रधान वृक्ष है, वायु के द्वारा जहाँ तक उसकी सुगंधि पहुँचती है, वहाँ तक के कडुवे-कसैले वृक्ष भी चन्दन के समान सुगंधवाले हो जाते हैं, वैसे ही संत लोग शुद्ध (वासनारहित) होकर, हरि की उपासना कर, उनके साधर्म्य लक्षण प्राप्त करते हैं, फिर अपने सत्संग और आचरण द्वारा औरों को भी वैसे ही भगवान् के साधर्म्य लक्षण प्राप्त करा देते हैं; यथा—"निज संगी निज सम करत, दुर्जन मन दुख दून। मलयाचल हैं संत 'जन, तुलसी दोष बिहून ॥" (वैराग्य सं० १८); [इसमें 'दून' शब्द जलाने के अर्थ में है। दू (धातु-परस्मै-दुनोति, दूत या दून) = १ जलाना, भस्म करना। २ सताना। दुःखी करना (संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ]। साधर्म्य लक्षण से ही संत-भगवंत अभेद कहाते हैं; यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं…" (वि० ५७); यही इनका भी चंदन होना है।

(३) 'सब कर फल …'—यहाँ 'सब' के साथ 'साधन' का अध्याहार कर लेना चाहिये। बहुत स्थलों पर कहा गया है; यथा—"जप तप ब्रत मख सम दम दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना ॥ सबकर फल रघुपति पद-प्रेमा।" (दो० ९४); यथा—"जप-तप नियम जोग निज धर्मा।" से "तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुन्दर ॥" (दो० ४८)।

पूर्व कहा गया—'राम-कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।" और यहाँ कहते हैं—"सो बिनु संत न काहू पाई।" दोनों में विरोध नहीं है, क्योंकि श्रीराम-कृपा से ही विशुद्ध संत मिलते हैं; यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम-कृपा करि जेही ॥" (दो० ६८); और संत के संग से भक्ति मिलती है।

(४) 'अस बिचारि'—जैसा ऊपर कहा गया कि संत के द्वारा ही श्रीरामजी के गुणों का बोध

होता है, फिर उन्हीं के सत्संग से भक्ति प्राप्त होती है। जो "मोरे मन प्रभु···" से "सो बिनु संत न काहू पाई।" तक कहा गया है।

दोहा—ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि॥
बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरि-भगति, देखु खगेस बिचारि॥१२०॥

अर्थ—ब्रह्म (वेद) क्षीरसागर, ज्ञान मंदराचल और संत लोग देवता हैं, जो उस समुद्र को मथकर कथा रूपी अमृत निकाल लेते हैं, जिसमें भक्ति ही मिठास है॥ जो वैराग्य रूपी ढाल से (अपनी रक्षा करते हुए) और ज्ञान रूपी तलवार से मद-लोभ मोह रूपी शत्रुओं को मारकर जय प्राप्त करती है, वह हरिभक्ति ही, हे गरुड़! विचार कर देखिये॥१२०॥

विशेष—(१) देवताओं ने अमृत के लिये क्षीरसमुद्र मथा, फिर उसे पीकर जब अमर और बलवान् हुए, तब उन्होंने असुरों को जीता। वैसे ही वेद-रूपी समुद्र को संत लोग अपने ज्ञान द्वारा मथ उसमें से मधुर भक्तिमय राम-कथा रूपी अमृत निकालकर मद-लोभ मोह आदि शत्रुओं को जीत लेते हैं। यहाँ केवल देवता ही मथनेवाले हैं, यह विशेषता है।

वेद क्षीरसागर की तरह अगाध और स्वच्छ ज्ञानमय है। ज्ञान-मंदर की तरह गुरुता-युक्त है। सात्विक होने से संत देव-तुल्य हैं। अमृत से बढ़कर कथा है, जिसमें भक्ति मिठास प्रधान है। यहाँ वाणी रस्सी की जगह है।

(२) 'बिरति चर्म'; यथा—"बिरति चर्म संतोष कृपाना।" (दो० ७८)।

(३) 'देखु खगेस बिचारि' पूर्व कहा गया था—"राम-भगति महिमा अति भारी।" (दो० ११३), उसीको यहाँ तक पुष्ट किया, पुन यहाँ कहा था—"मुनि दुर्लभ बर पायउँ, देखहु भजन प्रताप।" (दो० ११४); उसीको यहाँ भी पुष्ट करके कहा है, यथा—'देखु खगेस बिचारि' विचार करने से कई प्रकार के अंतर देख पड़े—

ज्ञान-दीपक	भक्ति चिंतामणि
१ आतम अनुभव सुख सु प्रकासा। इसमें दीपक के कई साज हैं	परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती।
२. प्रबल अबिद्या कर परिवारा (मिटइ)।	प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई।
३ मोह आदि तम मिटइ अपारा।	मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। खल कामादि निकट नहिं जाहीं।
४. जरहिं मदादिक सलभ सब	हारहिं सकल सलभ समुदाई।
रिद्धि सिद्धि बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।· अचल बात बुझावहि दीपा	लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।

यहाँ तक 'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता।' का उत्तर समाप्त हुआ।

चौथा प्रसंग—सप्तप्रश्नोत्तर

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौ कृपाल मोहि ऊपर भाऊ ॥१॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी ॥२॥
प्रथमहि कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा ॥३॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी ॥४॥

अर्थ—फिर पक्षिराज श्रीगरुड़जी प्रेम-पूर्वक बोले कि हे कृपालु ! जो आपका मुझपर प्रेम है ॥१॥ तो, हे नाथ ! मुझे अपना सेवक जानकर मेरे सात प्रश्नों के उत्तर बखानकर कहिये ॥२॥ हे नाथ ! हे मतिधीर ! पहले तो कहिये कि सबसे दुर्लभ शरीर कौन सा है ? ॥३॥ और यह भी संक्षेप में ही विचारकर कहिये कि सबसे बड़ा दु:ख कौन है और कौन सुख सबसे भारी है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'जौ कृपाल···', यथा "जौ मोपर प्रसन्न सुखरासी। · तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।" (बा० दो० १०७); 'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा।' इस प्रश्न का कारण यह भी है कि ये सब शरीरों को कई-कई बार धारण कर चुके हैं और इन्हें उन सब जन्मों की सुधि भी है; यथा—"कवनि जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं।···सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी।" (दो० ९५); अतएव सबके दुःख-सुख को अच्छी तरह जानते हैं। इन्होंने कहा भी है, यथा—"देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं।" (दो० ९५), अतः ये यथार्थ कहेंगे।

(२) 'सप्त प्रश्न', यथा—१—सबते दुर्लभ कवन सरीरा। २- बड़ दुख कवन। ३—कवन सुख भारी। ४-संत असंत मरम·· तिन्हकर सहज । ५—कवन पुन्य···। ६—कवन अघ परम कराला। ७—मानस रोग कहहु···।

संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्हकर सहज सुभाव बखानहु ॥५॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला ॥६॥
मानस-रोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बज्ञ कृपा अधिकाई ॥७॥

अर्थ—आप संत और असंत का मर्म जानते हैं (अतएव) उनका सहज (जो जन्म से अनायास पड़ा हो) स्वभाव बखानकर कहिये ॥५॥ (फिर) कहिये कि कौन पुण्य श्रुति में बड़ा करके प्रसिद्ध है, और कौन पाप परम विकराल है ॥६॥ मानस-रोग क्या हैं ? इन्हें समझाकर कहिये, आप सब कुछ जाननेवाले हैं और मुझपर आपकी विशेष कृपा है ॥७॥

विशेष—'मरम तुम्ह जानहु' क्योंकि आपको वर मिला है, यथा—"जानब तैं सब ही कर भेदा।" (दो० ८४), 'सहज सुभाव'—जो सदा अनायास बना रहता हो। 'श्रुति बिदित'—यद्यपि आप वर से भी सब जानते हैं, तथापि आपने बार-बार कहा है- "बेद पुरान संतमत भाखउँ।" "श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।" (दो० ११५–११६); इत्यादि, इससे श्रुति से भी प्रमाणित हो—ऐसा मैंने पूछा है। 'मानस रोग···'—इसे इसलिये समझाकर कहलाते हैं कि इसके समझे रहने पर उपाय करना सुगम होता है, यदि कहें

कि हम क्या जानें ? उसपर कहते हैं कि आप सर्वज्ञ हैं, वरदान के द्वारा सब कुछ जानते हैं और आप की मुझ पर विशेष कृपा है, अतएव कृपा करके कहिये।

सप्त प्रश्नों के उत्तर

तात सुनहु सादर अति प्रीती। मैं संछेप कहउँ यह नीती ॥८॥
नर-तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही ॥९॥
नरक-स्वर्ग - अपवर्ग - निसेनी। ज्ञान-बिराग-भगति सुभ देनी ॥१०॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंद मंदतर ॥११॥
काँच किरिच बदले ते लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं ॥१२॥

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजी ने कहा कि हे तात! अत्यन्त आदर और प्रेम से सुनो, मैं यह नीति (लोक में निश्चित सदाचार) संक्षेप से अति प्रीतिपूर्वक कहता हूँ ॥८॥ मनुष्य-शरीर के समान कोई शरीर नहीं है, चर-अचर सभी जीव इसकी याचना करते हैं ॥९॥ यह शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कल्याण का देनेवाला है ॥१०॥ इस (नर) शरीर को धारण करके जो मनुष्य भगवान् का भजन नहीं करते, किन्तु विषयों में आसक्त हो जाते हैं, वे मन्द ही नहीं, किन्तु मन्दों में मन्दतर हैं ॥११॥ (पुन कैसे हैं कि) पारसमणि को हाथ से फेंक देते हैं और उसके बदले में वे काँच का टुकड़ा (खंडा) लेते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'तात सुनहु सादर '—भाव यह है कि सादर और प्रीतिपूर्वक सुनना श्रोता की नीति है। (और थोड़े शब्दों में सारा तत्त्व कहना वक्ता की नीति है, यह भी गर्भित है।। 'नरतनु सम ' श्रेष्ठता कहकर उत्तरार्द्ध में प्रमाण भी देते हैं कि इसीसे इसे चराचर जीव माँगते हैं, क्योंकि 'नरक सरग • ' भाव यह कि 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' यही शरीर है, शेष सब शरीर भोग साधन के ही हैं। दिव्य तनवाले देवता भी भोगी ही होते हैं, तो हीन शरीरवालों की कौन बात? यथा "हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत तव भगति बिसारी॥ भव प्रवाह सतत हम परे।" (लं॰ दो॰ १०८)।

(२) 'मद मंदतर'—जो नर तन से भजन नहीं करते, वे मंद हैं और जो विषय रत होते हैं, वे सो मदतर (महामंद) हैं। फिर इसे दृष्टान्त से समझाते हैं—'काँच किरच ' अर्थात् काँच का फूटा टुकड़ा एक तो किसी काम का नहीं है, दूसरे हाथ में गड़ जाने की चीज है, पर उसकी झूठी चमक देखकर उसे लोग उठा लेते हैं। और जो स्पर्श मात्र से लोहे को सोना कर देती है, ऐसी अमूल्य पारसमणि को फेंक देते हैं। दो॰ ४३ चौ॰ १ ३ भी देखिये।

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत-मिलन सम सुख जग नाहीं ॥१३॥
पर - उपकार बचन-मन-काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥१४॥
संत सहहिं दुख पर-हित लागी। पर-दुख-हेतु असंत अभागी ॥१५॥

अर्थ—ससार में दरिद्र के दुःख (दारिद्र्य अर्थात् निर्धनता) के समान दूसरा दुःख नहीं है, संत॰

समागम के समान संसार में कोई सुख नहीं है ॥१३॥ हे पक्षिराज ! वचन, मन और कर्म से परोपकार करना सन्तों का सहज स्वभाव है ॥१४॥ संत पराये हित के लिये दुःख सहते हैं और भाग्यहीन असंत (खल) पराये दुःख के लिये दुःख उठाते हैं ॥१५॥

विशेष—(१) 'नहि दरिद्र सम दुख ··'—कहा है ; यथा—"वरं वनं व्याघ्रगजेंद्रसेवितं द्रुमालयं पत्रफलाम्बुभोजनम् । तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बंधुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥" (सु० २० भा०) ; श्रीभुशुंडिजी स्वयं इसे भोग चुके हैं ; यथा—"परेउ दुकाल बिपति बस, तब मैं गयउँ बिदेस ॥ गयउँ उजैनी सुनु उरगारी । दीन मलीन दरिद्र दुखारी ॥" (दो० १०४) ; इस दुःख में व्याकुल होकर स्त्री भी संग त्याग देती है औरों का क्या कहना ? इसमें क्षुधा-दुःख से बुद्धि ही नष्ट हो जाती है ।

(२) 'संत-मिलन सम सुख जग नाहीं ।'—क्योंकि संतों के संग से संसारी वासना ही नष्ट हो जाती है ; यथा—"संत-संग अपवर्ग कर···" (दो० ३३) ; "तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला यक अंग । तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥" (सुं० दो० ४); इत्यादि । श्रीभुशुंडिजी ने यह भी स्वयं अनुभव किया है कि वे एक ही परम साधु (वैदिक मुनि) के संग से कैसी उत्तम गति को प्राप्त हुए ।

(३) 'पर-दुःख हेतु असंत अभागी ।'—पाप करते हुए जब पूर्व के सुकृत नष्ट हो गये, तब भाग्यहीन होने पर ही ऐसी वृत्ति हुई, इससे अंत में भी नरक-दुःख भोगेंगे, अतएव इन्हें अभागी कहा है ; यथा—"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये । तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥" (भर्तृहरि) ।

भूर्जतरू सम संत कृपाला । परहित निति सह बिपति बिसाला ॥१६॥
सन इव खल परबंधन करई । खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥१७॥

शब्दार्थ—भूर्जतरु= भोजपत्र का वृक्ष, यह हिमालय पहाड़ पर १४००० फीट की ऊँचाई तक का पाया जाता है । इसकी छाल कई परतों में होती है और कागज के समान पतली होती है, प्राचीन काल में इसपर ग्रन्थ लिखे जाते थे । तांत्रिक लोग इसे पवित्र मानते हैं और इसीपर प्रायः यंत्र-मंत्र आदि लिखते हैं । लोग इसे वस्त्र की जगह भी पहनते हैं और इससे मकान भी छाते हैं ।

अर्थ—कृपालु संत भोजपत्र के वृक्ष के समान सदा पराये की भलाई के लिये भारी विपत्ति सहते रहते हैं ॥१६॥ खल सन के समान दूसरों को बाँधते हैं (उसके लिये) अपनी खाल खिंचवाकर विपत्ति सहकर मर जाते हैं ॥१७॥

विशेष—(१) संत भोजपत्र-वृक्ष के समान कष्ट सहकर परहित करते हैं और खल सन की तरह कष्ट उठाकर पराया अनहित करते हैं । भेद यह है कि संत 'कृपाला' हैं कृपा करके जीवों के लिये भारी दुःख सहकर भी उनका हित करते हैं ; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ॥" (आ० दो० १); 'निति' अर्थात् के लिये, वास्ते । 'बिसाला'—संत की विपत्ति को विशाल विशेषण दिया गया है, क्योंकि इसमें उनकी शोभा है । खलों को मरना कहा है, पर संतों को नहीं, क्योंकि ये परहित में प्राण छोड़ देते हैं, तब इनका यश चिरकाल तक संसार में रहता है । पर खलों के मरने पर उनका नाम कोई नहीं लेता । जैसे भोजपत्र पवित्र है वैसे संत भी पवित्र होते हैं ।

१ (२) 'सन इव ' '—सनई या पटुए के पौधे काटकर पानी में सड़ाये जाते हैं, फिर पटक-पटककर धोये जाते हैं, पीछे उनकी खाल निकाली जाती है, फिर उनका रेशा-रेशा अलग करके बटा जाता है, तब वह रस्सी होकर दूसरों को बाँधने में समर्थ होता है। ऐसे ही खल अपनी दुर्दशा सहकर भी दूसरों के काम बिगाड़ते हैं ; यथा—"पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।" (बा० दो० ४)।

खाल निकलवाने की विपत्ति दोनों सहते हैं, पर संत दया-वश और खल क्रूरता-वश। एक हित के लिये, दूसरा अनहित के लिये।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥१८॥
पर-संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं ॥१९॥

अर्थ—हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी ! सुनिये, खल बिना स्वार्थ के ही सर्प और मूसे के समान दूसरों का अपकार करते हैं ॥१८॥ दूसरे की सम्पत्ति का नाश करके (स्वयं भी ऐसे) नष्ट हो जाते हैं, जैसे ओले खेती का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाते (गल जाते) हैं ॥१९॥

विशेष—'अहि मूषक इव'—सर्प दूसरे के प्राण ले लेता है, पर उससे इसका कुछ लाभ नहीं होता और मूसा कपड़े, कागज आदि काटकर नष्ट कर देता है, पर वह उसका खाद्य नहीं है, अतः, उससे इसका कुछ लाभ नहीं होता। एक तो प्राण हरता और दूसरा धन नष्ट करता है, अर्थात् 'जान-माल' दोनों के प्रति दो दृष्टान्त दिये गये। खल में ये दोनों बातें एकत्र ही हैं। स्वार्थवश तो प्रायः लोग दूसरे की हानि पर चित्त नहीं देते, पर ये तो बिना स्वार्थ ही सबका अहित करते हैं, तभी तो भर्तृहरिजी ने कहा है—'ते के न जानीमहे' यह ऊपर लिखा गया है।

दुष्ट उदय जग आरति-हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रहकेतू ॥२०॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिश्व-सुखद-जिमि इंदु तमारी ॥२१॥

अर्थ—दुष्ट का उदय (उन्नति) जगत् के दुःख का हेतु (कारण) होता है जैसा कि नीच ग्रह केतु प्रसिद्ध है ॥२०॥ संतों का उदय सदा सुख का करने वाला है जैसे कि चन्द्रमा और सूर्य का उदय संसार को सुखदायक है ॥२१॥

विशेष—(१) 'दुष्ट उदय जग आरति-हेतू।'—इसे "उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा० दो० ३); में देखिये। केतु का उदय थोड़े काल के लिये होता है, उतने ही में वह बहुत ही हानि करता है। वैसे दुष्टों का उदय थोड़े काल के लिये ही होता है, यथा—"निष्फल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि पर द्रोह निरत मनसा के ॥" (लं० दो० १०)। पर इतने ही में ये बहुत परहानि करते हैं, इसी पर तो कहा है—"कुम्भकरन सम सोवत नीके।" (बा० दो० ३)।

(२) 'संत उदय संतत सुख कारी।'—संत का उदय संतत कहा गया, क्योंकि इनसे विश्व को सुख है, जैसे चन्द्रमा और सूर्य का उदय सदा हुआ करता है और उनसे संसार का हित होता है; यथा—"जग-हित हेतु बिमल बिधु पूषन।" (बा० दो० १९) ; देखिये। सूर्य और चन्द्र इन दोनों उपमाओं से रातो-दिन निरंतर सुख देना कहा गया है। सूर्य दिन ही में सुख देता है और चन्द्रमा रात ही में, परन्तु संत दिन-रात दोनों में सुखद हैं। सूर्य के प्रकाश से तम का नाश होता है, संत के ज्ञान प्रकाश से संशय-मोह दूर होते हैं।

चन्द्रमा ताप हरता है और संत तापत्रय हरण करते हैं। सूर्य सबको सुखद नहीं और चन्द्रमा भी सब को सुखद नहीं होता। दोनों की उपमा से संतों को सर्व सुखद जनाया है। संत-असंत का मिलान—

१. स्वभाव—पर-उपकार बचन मन काया। खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
२. कार्य — संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।
३. { दोनों के वृत्त-रूप } भूर्ज तरू सम संत कृपाला। सन इव खल परबन्धन करई।
पर हित निति सह बिपति बिसाला॥ खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥
४. { दोनों के उदय } संत उदय संतत सुखकारी। दुष्ट उदय जग आरत हेतू।
बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥ जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर-निंदा सम अघ न गिरीसा॥२२॥
हर-गुरु-निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई॥२३॥
द्विज-निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि॥२४॥

अर्थ—अहिंसा परम धर्म है, यह वेदों में प्रसिद्ध है। परनिंदा के समान पाप-पर्वतराज नहीं है; अर्थात् इसके समान भारी पाप और नहीं है॥२२॥ श्रीशिवजी और श्रीगुरुजी की निन्दा करनेवाला मेढ़क होता है। एक हजार जन्म तक वही (दादुर) शरीर पाता है॥२३॥ ब्राह्मण की निन्दा करनेवाला अनेक नरक भोग कर फिर संसार में कौए का शरीर धारण करता है॥२४॥

विशेष—(१) 'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।' यह उत्तर प्रश्न के अनुसार ही है; यथा—"कवन पुन्य श्रुति-बिदित बिसाला।" यह इसका प्रश्न था।

'परनिंदा'—जो अपनी ओर से बनाकर किसीपर दोषारोपण किया जाता है, उसे अपवाद एवं निन्दा कहते हैं; यथा—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनवास। ··" (लं॰ दो॰ ३०); इसी पर कहा है—"जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।" इसमें रावण ने श्रीरामजी पर झूठा ही दोषारोपण किया था। जो दोष जिसमें हो, उसका कहा जाना परिवाद है। यह किसी के सुधार के लिये कहा जाना दूषित नहीं है। पर उसके दुखाने के उद्देश्य से कहना यह भी पाप ही है। गुरुजनों का परिवाद भी कहना मना है। वाल्मीकीय रामायण में दोनों एक साथ कहे गये हैं; यथा—"बहूनां स्त्री सहस्राणां बहूनांचोपजीविनाम्। परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥" (२।१२।२७) अर्थात् हजारों स्त्रियों और हजारों उपजीवी हैं, पर श्रीरामजी के सम्बन्ध में कोई भी परिवाद (सकारण दोष-कथन) या अपवाद (अकारण दोष-कथन) नहीं सुना गया है—यह राजा दशरथजी ने कहा है।

भारी पाप पहाड़ के समान कहा जाता है; यथा—"पाप-पहाड़ प्रगट भइ सोई।" (अ॰ दो॰ ११); यहाँ परनिंदा को सब भारी पापों से भी भयंकर कहा है। दो॰ ४० चौ॰ १–२ भी देखिये।

(२) 'द्विज-निंदक ··'—द्विज निदक बहुत नरक भोगने पर भी पाप से शुद्ध नहीं हो सकता है। पीछे जगत् में चाण्डाल पक्षी होकर उसे जन्म लेना पड़ता है, कि जिस जीभ से निंदा की है उसीसे विष्ठा खाना पड़े। इसे हर-गुरु निंदा से भी अधिक पाप जनाया, क्योंकि उसमें मेढ़क होने पर केवल निंदा करनेवाली जीभ ही छीन ली जाती है, जिह्वा-रहित तन मिलता है, इतना ही कहा गया है।

सुर-श्रुति-निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥२५॥
होहिं उलूक संत-निंदा-रत। मोह-निसा प्रिय ज्ञान-भानु गत ॥२६॥
सबकै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥२७॥

अर्थ—जो अभिमानी प्राणी देवताओं और श्रुतियों की निंदा करते हैं, वे रौरव नरक में पड़ते हैं ॥२५॥ जो संत-निन्दा में तत्पर रहते हैं वे उल्लू होते हैं, (क्योंकि) उन्हें मोह-रूपी रात्रि प्रिय है और उनका ज्ञान रूपी सूर्य जाता रहा (डूब गया) ॥२६॥ जो मूर्ख सबकी निन्दा करते हैं, वे चमगादड़ होकर जन्म लेते हैं ॥२७॥

विशेष—(१) सुर श्रुति की अधीनता उचित है, जो अभिमानी होता है, वही इनकी निन्दा करता है, इसी से उसके लिये कराल दंड कहा गया है। संत ज्ञानवान् होते हैं, जिसकी ज्ञान में श्रद्धा होगी और जो सन्तों से ज्ञान प्राप्त कर मोह निवृत्ति चाहेगा, वह तो संतों की भक्ति ही करेगा। जो निन्दा करता है, उसे मोहनिशा प्रिय है और वह ज्ञान रहित है। उलूक को रात प्रिय होती है और वह सूर्य से विमुख रहता है, प्रकृति के जोड़ से ये भी उलूक होते हैं।

(२) सबकी निन्दा करनेवाले जड़ कहे गये, क्योंकि एक की भी निन्दा भारी पाप है, वे इसे नहीं जानते, इसीसे सबकी निन्दा करते हैं। फिर उन्हें चमगादड़ होना पड़ता है कि जिस मुख से उन्होंने सबकी निन्दा की है; उसी मुख से भोजन और मलत्याग करना दोनों ही काम करें, पुन: सदा उल्टे टँगे रहें। भाव यह कि उनका मुख ही गुदा है।

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा ॥२८॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥२९॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥३०॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥३१॥

अर्थ—हे तात ! अब मानस रोग सुनो, जिनसे सभी लोग दु:ख पाते हैं ॥२८॥ मोह सब रोगों की जड़ है, फिर उससे बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं ॥२९॥ काम वात है, अपार लोभ कफ है और क्रोध पित्त है जो नित्य छाती जलाया करता है ॥३०॥ हे भाई ! जो ये तीनों भाई प्रीति करते हैं तो दु:ख देनेवाला सन्निपात उत्पन्न होता है ॥३१॥

विशेष—(१) 'दुख पावहिं सब लोगा।'—शारीरिक रोग सब, सबके नहीं होते और वे सब दिन रहते भी नहीं। पर मानस-रोग सबके होते हैं और सामान्यतया सब दिन रहते हैं, यथा—"मानस-रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये।।" यह आगे कहा गया है। इससे सबको इनसे दु:ख पाना स्पष्ट है।

आगे मानस-रोगों का वर्णन शारीरिक रोगों के रूपक से करते हैं—

(२) 'मोह सकल···'—इसका उपमेय-मात्र कहा गया है, उपमान भी मोह के ही अर्थ से

आ जाता है। मोह अविवेक को कहते हैं कि जिससे लोग अपने आत्म-रूप को भूलकर देह ही को आत्मा मानते हैं, उसी से फिर नाना रोग होते हैं। इन्द्रिय-पोषण मे विषयों के सम्बन्ध से राग-द्वेष, मद, मत्सर आदि सभी होते हैं। वैसे वैद्यक मे मोह मूर्च्छा को कहते हैं जिससे रोगी को अपनी देह की सुध नहीं रहती। भाव यह कि जो अपनी देहपर दृष्टि रखता है, प्रकृति के अनुकूल आहार-विहार रखता है, उसके रोग नहीं होते और जो अपने रूप (देह) पर दृष्टि नहीं रखता उसके आहार-विहार की विषमता से नाना प्रकार के रोग और तज्जन्य शूलें होती हैं।

(३) 'काम बात कफ लोभ '—वायु की प्रकृति शीतल है, वैसे ही काम की प्रवृत्ति भी प्रीत्यात्मक होती है। जैसे पित्त दाहक है, वैसे क्रोध भी दाहक है; यथा "दहइ न हाथ दहइ रिस छाती।" (बा० दो० २०१), लोभ उत्तरोत्तर धन-प्राप्ति से बढता है, वैसे कफ की भी अपार वृद्धि होती है, लोभ का पार नहीं, निन्नानवे का फेर प्रसिद्ध है, वैसे कफ भी बहुत बढ़ता है। 'सन्निपात'—दो० ७० चौ० १ देखिये। बात, पित्त, कफ इन तीनों के एक साथ बिगड़ने से सन्निपात होता है, वही यहाँ 'प्रीति करहिं' से एक साथ तीनों का होना सूचित किया गया है।

विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना ॥३२॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई ॥३३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की कठिनाइयों से प्राप्त होनेवाले विषयों के जो मनोरथ हैं, वे ही सब प्रकार के शूल हैं, उनके नाम कौन जानता है ? ॥३२॥ ममता दाद है, ईर्ष्या खाज है और हर्ष-विषाद की अधिकता गहरा गले का रोग है ॥३३॥

विशेष—(१) 'विषय मनोरथ ···'—शब्दादि विषयों के नाना प्रकार के मनोरथ होते रहते हैं, जिनकी प्राप्ति दुर्गम है, मनोरथ-हानि से दुःख होता है। जिस इन्द्रिय के विषय-मनोरथ की हानि होती है, उस शूल को उसी अंग का समझना चाहिये। जैसे नेत्र का विषय नृत्य आदि देखना है, उसकी अप्राप्ति में मन को नेत्र-सम्बन्धी पीडा होती है।

(२) 'ममता दादु ···'—दाद एक प्रकार का त्वचा-रोग है, शरीर पर उभरे हुए चकत्ते पड़ जाते हैं जिनमें बहुत खुजली होती है। इसके खुजलाने में क्षणिक सुख होता है, यथा—"न मसजिद मे न काबे मे न बुतखाने में पाया है। मजा जो आज हमने दाद खुजलाने में पाया है॥" यह कहावत है परन्तु पीछे बड़ी जलन होती है। वैसे ही देह सम्बन्धियों मे प्रणय होना ममता का मूल है, स्नेह के कारण उनकी समीपता प्रिय लगती है, यही खुजलाने का क्षणिक सुख है। पर उनके वियोग में फिर बड़ी जलन होती है—यह ममता है। 'कडु इरषाई'—खाज भी त्वचा का ही रोग है, रक्त-विकार इसका मूल है, यह छूत से भी होता है। वैसे ही ईर्ष्या भी कुसंग से कुटिल स्वभाव होने पर कुछ कारण लेकर होने लगती है, मन मे खेद बना रहना खुजलाना और उसकी जलन है। इर्ष्या , यथा—"देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥" (अ० दो० ११); "पर-सपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी॥" (बा० दो० १३५)।

'हरष विषाद गरह ···'—अभीष्ट पूर्ति पर हर्ष और उसकी हानि पर विषाद होता है। गरह का अर्थ गले का रोग है, यह घेघा कहाता है, शोथ रोगों मे है, कफ-बात इसका मूल है, यह पानी के विकार से होता

है, गला पढ़कर लटक पड़ता है, भीतर नसों में पीड़ा होती है। हर्ष होना शोथ और नसों में पीड़ा होना विषाद है।

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥३४॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥३५॥

अर्थ—पराया सुख देखकर जो जलन होती है वह क्षय रोग है। दुष्टता और मन की कुटिलता कुष्ट (कोढ़) रोग है ॥३४॥ अहंकार अत्यन्त दुःखद डमरुआ रोग है और दंभ कपट मद मान नहरुआ रोग हैं ॥३५॥

विशेष—(१) क्षयी—यह एक प्रसिद्ध राज रोग है, इसमें रोगी का फेफड़ा सड़ जाता है और सब देह धीरे-धीरे गलती जाती है, शरीर गर्म रहता है, खाँसी आती है और बदबूदार कफ निकलता है उसमें कुछ रक्त का अंश रहता है। इसके आरंभ में ही योग्य चिकित्सा हो तो साध्य होता है नहीं तो यह रोग असाध्य हो जाता है।

इसी तरह पर-सुख देखकर जलनेवालों का हृदय सदा जला करता है; वे भीतर-ही-भीतर घुलते जाते हैं, उनका शरीर सूखता जाता है; यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी ॥" (दो० ३८)।

(२) कुष्ट—यह रक्त और त्वचा सम्बन्धी रोग है, यह संक्रामक (छूत से फैलने वाला) और पुरुषानुक्रमिक होता है। यह १८ प्रकार का कहा जाता है। पर सामान्यतया दो प्रकार का होता है, एक श्वेत और दूसरा गलित, जिसमें हाथ पैर की अँगुलियाँ गल-गल कर गिर जाती हैं। मानस रोगों में 'दुष्टता' (वचन, कर्म से सबकी बुराई करना) गलित कुष्ट है और 'मन की कुटिलता' जिसमें गुप्त रीति से दूसरे की बुराई की जाती है, यह श्वेत कुष्ट है, यह महाकुष्ट है, यह स्वभाव पूर्वज से एवं कुसंग से भी होता है, इससे असाध्य है, यह फूट कर बहता नहीं, भीतर बहुत जलन रहती है। गलित कुष्ट साध्य कहा जाता है। 'मन कुटिलई' वाले ऊपर से साफ बने रहते हैं, वैसे ही श्वेत कुष्ट भी ऊपर श्वेत होता है, पर भीतर जलन होती है।

डमरुआ—यह मेद रोग कहा जाता है, मेद इसका मूल है। कुपथ्य से मेद के बढ़ने और पवन के रुकने पर जठराग्नि बढ़ती है, तब अधिक भोजन से मेद बढ़ता है जिससे बड़ी पीड़ा के साथ पेट बढ़ता जाता है और रुधिर, मांस, वीर्य घटता जाता है और दुर्बलता होती जाती है।

इसी तरह अहंकार भी मानापमान आदि पीड़ा लिये हुए धन-विद्या आदि कुपथ्य पाकर मेद की तरह बढ़ता है। अहं की वृद्धि पेट फूलना है। ज्ञान-विचार आदि का नाश होना रुधिर आदि का नाश है और अज्ञान दुर्बलता है।

(३) नहरुआ—यह रोग प्रायः कमर के नीचे भाग में होता है, जल के साथ एक कीड़े के प्रविष्ट होने के कारण यह रोग होता है, इसमें पहले किसी स्थान पर सूजन होती है, उसपर फुंसी होकर उसके फूटने से छोटा सा घाव होता है। उस घाव से डोरी की तरह का कीड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है, यह प्रायः गजों तक लंबा होता है, यह कीड़ा सफेद रंग का होता है। इससे कभी-कभी पैर आदि बेकाम हो जाते हैं। इसे धीरे-धीरे निकालते जायँ तो यह कुछ दिनों में डोरी-सी निकल जाती है। यदि यह काट दिया जाय या टूट जाय

तो बड़ी जलन होती है और वह फीड़ा फिर दूसरी जगह से निकलता है। इसे वैद्यक में 'स्नायुक्त' कहते हैं। मालवा और राजपूताने में यह रोग बहुत सुना जाता है।

ऐसे ही मानस रोग में 'दंभ कपट मद मान' लोभ एवं मान्यता आदि से उत्पन्न होते हैं। मान सूजन, मद फुंसी, दंभ फूटना और कपट नस का निकलना है, कपट का खुलना नस का टूटना है, इससे भी बड़ी पीड़ा होती है।

तृष्णा उदरवृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी ॥३६॥
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥३७॥

अर्थ—तृष्णा, अत्यन्त भारी जलंधर (जलोदर) रोग है, सुत-वित और लोक (प्रतिष्ठा), ये तीन प्रकार की इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं ॥३६॥ मत्सर और अविवेक दो प्रकार के ज्वर हैं, कहाँ तक कहूँ, ये कुत्सित रोग अगणित हैं ॥३७॥

विशेष—(१) उदर वृद्धि अर्थात् जलंधर; बात इसका मूल है, यह मंदाग्नि में कुपथ्य करने से होता है, बात बढ़ने से बातोदर, कफ बढ़ने से कफोदर और जल बढ़ने से जलोदर, इत्यादि आठ प्रकार के इसके भेद हैं। बिना पीड़ा के पेट बढ़ता है, देह से दुर्बल होकर उठने बैठने में रोगी अशक्त हो जाता है।

ऐसे ही तृष्णा से भी तृप्ति नहीं होती, क्षण-क्षण बढ़ती ही जाती है, वह मरते समय तक पूरी नहीं होती, इसीसे इसे 'अति भारी' कहा है। "तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा।" (दो० ११) ; भी देखिये।

(२) 'त्रिविध ईषना तरुन तिजारी।'—तीसरे दिन आने वाले ज्वर को तिजारी कहते हैं। 'तरुन' क्योंकि यह दो दिन पीछे नवीन होकर आती है। इसी प्रकार तीनों प्रकार की इच्छाएँ भी नवीन-नवीन उठा करती हैं; इस पर—"सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (दो० ७०) भी देखिये।

(३) 'जुग बिधि ज्वर ···'—दो प्रकार के इस ज्वर को द्वंद्वज्वर कहते हैं, इसका मूल अजीर्ण है, अजीर्ण पर भोजन करने से वात-पित्त कोप करते हैं, उससे यह ज्वर होता है। यहाँ मत्सर पित्त और अविवेक बात का कोप है, (जुग विधि ज्वर पर बहुत प्रकार के मत हैं)।

दोहा—एक व्याधिबस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहँ, सो किमि लहइ-समाधि॥
नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान॥१२१॥

अर्थ—एक ही रोग के वश होकर लोग मर जाते हैं और ये तो बहुत-से असाध्य रोग हैं जो निरंतर जीव को दुःखित करते रहते हैं, तब वह कैसे समाधि (मन की एकाग्रता) को प्राप्त हो सकता है ?॥

हे गरुड़ ! फिर नियम, धर्म, सदाचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप और दान आदि करोड़ों ओषधियाँ (इन्हीं के लिये) हैं पर रोग नहीं जाते ॥१२१॥

विशेष—'एक व्याधि बस ' '—एक ही व्याधि यदि असाध्य हो जाती है, तो लोग मर जाते हैं और यहाँ तो बहुत सी असाध्य व्याधियाँ हैं। 'बहु व्याधि'—जो व्याधियाँ मोह से लेकर अविवेक तक ऊपर कही गईं, ये सब कुरोग हैं और असाध्य हैं। 'पीडहिं सतत'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा।" (दो० १२०) है। ये असाध्य रोग सदा बने रहते हैं, रोग-जनित पीड़ा भी बनी ही रहती है। 'समाधि'- अष्टांग योग की अंतिम अवस्था है। यहाँ मन की स्थिरता एवं शांति से तात्पर्य है। मन की स्थिरता आत्म-सुख की प्राप्ति से ही होती है, यथा—"निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (दो० ८१), यह परम पुरुषार्थ के फल की अवस्था है।

असाध्य रोगों की भी तो दवा की जाती है, यहाँ क्यों नहीं की जाती, उस पर कहते हैं—'नेम धर्म आचार तप ' अर्थात लोग दवाइयाँ किया ही करते हैं, पर उनसे रोग नहीं जाते।

एहि बिधि सकल जीव जगरोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥१॥
मानस-रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये ॥२॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥३॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार संसार के सभी प्राणी रोगी हैं, शोक हर्ष, भय प्रीति (आदि द्वन्द्वों के वश) वियोगी (अस्थिर) रहते हैं ॥१॥ मैंने कुछ थोड़े से मानस रोग वर्णन किये, ये रोग हैं तो सब को ही, पर विरले ही मनुष्यों ने इनको लख पाया है एवं लख पाते हैं ॥२॥ जान लेने से मनुष्यों को विशेष ताप देनेवाले ये पापी कुछ कम हो जाते हैं, पर नाश को नहीं प्राप्त होते ॥३॥ विषय रूपी कुपथ्य पाकर मुनियों के हृदय में भी अंकुरित हो आते हैं, तब बेचारे मनुष्य क्या हैं ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मानस रोग कछुक मैं गाये।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनहु तात अब मानस रोगा जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा॥" (दो० १२०), है। इसके बीच में कुछ मानस रोग कहे गये। 'कछुक'—क्योंकि ये बहुत हैं, यथा—"ये असाध्य बहु व्याधि।" "कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका।" ऊपर कहा गया। 'हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये'—इनकी प्रवृत्ति और उनका लखना वि० १४७ में लिखा गया है, यथा—"कृपासिंधु ताते रहउँ निसि दिन मन मारे। महाराज लाज आपु ही निज जाँघ उघारे॥ मिले रहैं, मारो चहैं, कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न मेरियै जारैं छल छाती॥ बसत हिये हित जानि मैं सब की रुचि पाली। कियो कथिक कोदंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥ देखी सुनी न आजु लौं अपनायत ऐसी। करैं सबै, सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी॥ बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। असमंजस में मगन हौं लीजै गहिबाहीं॥ बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जायगो संकट तुलसी को॥"

जान लेने पर भी नहीं छूटते, क्योंकि मनुष्यों के सामर्थ्य से असाध्य हैं, यथा—"लोभ, मोह, मद, काम, क्रोध रिपु फिरत रैन दिन घेरे। तिनहिं मिले मन भयो कुपथ रत फिरै तिहारेहि फेरे॥" (वि० १४७) "तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।" (वि० २६८)।

(२) 'छीजहिं कछु'—जानने पर कुछ संयम और ओषधि की जाती है, इससे कुछ नाश होते हैं, पर उनकी जड़ें बनी रहती हैं, इससे जल रूपी कुपथ्य पाकर फिर भी अंकुरित हो आते हैं। 'मुनिहु हृदय'; यथा—"मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ " (आ० दो० ३८) देखिये। मुनि लोग सदा ओषधि ही करते रहते हैं और संयम से रहते भी हैं। जब उनके भी हृदय में अंकुरित हो आते हैं, तब विषयी बेचारों की क्या गणना है ?

जैसे रोगी कुपथ्य की ओर दौड़ता है वैसे मानस रोगी विषयों के लिये दौड़ते हैं। 'अंकुरे'—मानस रोग (मोह आदि) के बीज यम-नियमादि-रूपी सूखी मिट्टी में दबे रहते हैं, विषय वारि-रूपी कुपथ्य पाते ही ये अंकुरित हो आते हैं।

राम-कृपा नासहिं सब रोगा। जौ एहि भाँति बनै संजोगा ॥५॥
सद्गुरु वैद बचन बिश्वासा। संजम यह न विषय कै आसा ॥६॥
रघुपति-भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥७॥
येहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहित जतन कोटि नहिं जाहीं ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी की कृपा से यदि इस प्रकार संयोग बन जाय (जैसा आगे कहते हैं) तो सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥५॥ सद्गुरु रूपी वैद्य के बचन में विश्वास हो, विषयों की आशा न रक्खे, यह संयम (परहेज) है ॥६॥ श्रीरघुनाथजी की भक्ति संजीवनी बूटी है, बुद्धि श्रद्धा से परिपूर्ण हो, यही अनुपान है ॥७॥ इस प्रकार भले ही वे रोग नष्ट हो जाते हैं नहीं तो करोड़ों (अन्य) उपायों से नहीं जाते ॥८॥

विशेष—(१) 'राम कृपा नासहिं सब रोगा '; यथा—"जब कब राम कृपा दुख जाई। तुलसि दास नहिं आन उपाई ॥" (वि० १२७); कृपा कैसे समझी जाय ? यह उत्तरार्द्ध में कहते हैं—'जौ एहि भाँति बनै संजोगा ' भाव यह कि ऐसा संयोग अपने अधीन नहीं है। 'नासहिं'—भाव यह कि अवश्य नष्ट हो जायँगे, संदेह नहीं।

ज्ञान के साधन में भी 'अस संयोग ईस जब करई।' कहा गया था। वैसे ही यहाँ भी संयोग श्रीरामजी के हाथ ही कहा गया है; यथा- "तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।" (वि० १०२)।

(२) 'सदगुरु वैद' अर्थात्—समीचीन गुरु रूपी वैद्य—श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु सद्गुरु कहाते हैं; यथा-"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥" (मुंडक० १।२।१२) अर्थात् वे साधन करके ब्रह्मनिष्ठ हों और श्रुतियों के द्वारा शिष्य के संशय निवृत्त कर सकें; यथा—"सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय ॥" (कि० दो० १६) देखिये। शिष्य भी साधन में कटिबद्ध, प्रशांत चित्त, शमान्वित और श्रद्धालु होना चाहिये: यथा—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥" (मुंडक० १।२।१३)। 'बचन बिस्वासा'—विश्वास से श्रद्धा पुष्ट होती रहेगी, पुनः संयम के विषय में भी विश्वास ही काम देगा। वैद्य की दवा में विश्वास हो और उसके कहे हुए संयम में भी तत्पर रहे, तब रोग नष्ट होते हैं। वैसे ही गुरु के द्वारा प्राप्त उपाय में दृढ़ विश्वास हो, और विषय-त्याग का संयम भी करे। वैद्य मिर्चा-खटाई आदि से संयम रखने को कहते हैं यहाँ विषय खटाई आदि कुपथ्य हैं, उनसे संयम रक्खे। वैद्य संजीवनी देते समय अनुपान भी बतलाते

है कि अमुक वस्तु के साथ यह दवा सेवन की जाय। वैसे ही इस भक्ति रूपी जड़ी का अनुपान परिपूर्ण श्रद्धा है। पहले संयम कहकर दवा कही गई, क्योंकि संयम बहुत आवश्यक है, अन्यथा दवा व्यर्थ हो जाती है, वैसे ही इन्द्रिय विषय के संयम विना साधन व्यर्थ हो जाते हैं; यथा—"दसहँ दसहु कर संयम जो न करिय जिय जानि। साधन वृथा होहिं सब मिलहिं न सारंगपानि ॥" (वि० २०३), 'सजीवनि मूरी'—सजीवनी बूटी के सेवन से मृतप्राय प्राणी भी जी उठते हैं, वैसे ही भक्ति भक्त के असाध्य रोग (भव-रोग) के नाश करने में अव्यर्थ ओषधि है; यथा—"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति।" (गीता ९।३१), अर्थात् भगवान् के भक्त का नाश नहीं होता, वे नित्य अमरत्व (मुक्ति) पाते हैं।

भक्ति पूर्ण श्रद्धा से करनी चाहिये, यथा—"भक्त्याहमेकया ग्राह्य श्रद्धयात्मा प्रिय सताम्। भक्ति पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥" भाग० ११।१४।२१), अर्थात् संतों के प्रिय आत्मा रूप मैं केवल श्रद्धायुक्त भक्ति के द्वारा वश में हो सकता हूँ। मेरी भक्ति चाण्डाल आदि को भी पवित्र हृदय बनाने में समर्थ है।

(३) 'येहि विधि भलेहि ' '—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"राम कृपा नासहि सब रोगा। जौं येहि भाँति बनै सजोगा ॥" है। इसके बीच में कही हुई विधि ही मानस रोग के नाश का उपाय है।

जानिय तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल-बिराग अधिकाई ॥९॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥१०॥
बिमल-ज्ञान-जल जब सो नहाई। तब रह राम-भगति उर छाई ॥११॥

अर्थ—हे गोसाईं! तब जानना चाहिये कि मन नीरोग हो गया, जब हृदय में वैराग्य रूपी बल बढ़े ॥९॥ उत्तम बुद्धि रूपी भूख नित्य नवीन बढ़ती जाय और विषयों की आशा रूपी दुर्बलता चली जाय ॥१०॥ जब वह (रोग निर्मुक्त प्राणी) निर्मल ज्ञान रूपी जल से स्नान करता है तब उसके हृदय में श्रीरामभक्ति छा रहेगी ॥११॥

विशेष—(१) 'बल बिराग अधिकाई'—जब लौकिक-पारलौकिक सभी विषयों से वैराग्य हो जाय एक भक्ति में दृढ निष्ठा रह जाय और विषयों को अनहित जानकर उनकी ओर नहीं देखे।

रोग दूर होने पर पहले शरीर में बल बढ़ने लगता है, भूख दिनोंदिन बढ़ने लगती है और शरीर की कृशता दूर होती जाती है, तब नीरोग होने पर स्नान (आरोग्यता का विशेष स्नान) कराया जाता है, ये सब बातें यहाँ कहते हैं—

(२) वैराग्य बल, सुमति भूख, विषयों की आशा दुर्बलता और विमल ज्ञान स्नान का जल है। भाव यह कि मानस रोगों के नष्ट होने पर पहले शरीर में कुछ वैराग्य रूपी बल आता है, फिर दिनों दिन बुद्धि विमल होती जाती है उससे भक्ति की चाह भूख की तरह नित्य नई होती रहती है जिससे वैराग्य रूपी बल अधिक होता जाता है, भगवान् में लगती हुई इन्द्रियाँ जगत् से नीरस होती जाती हैं। यही दुर्बलता का दूर होना है। तब साधक विमल ज्ञान से 'निज प्रभु मय' जगत् को देखने लगता है और पूर्ण रूप से परा भक्ति उसके हृदय में छा जाती है। वह राम भक्ति अहर्निशि एक रस बनी रहती है, यही उसका छा रहना है, यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना ॥" (अ० दो० १३०)।

सिव अज सुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म-बिचार-बिसारद ॥१२॥
सबकर मत खगनायक एहा । करिय राम-पद-पंकज नेहा ॥१३॥

अर्थ—श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनंदन-सनातन और सनत्कुमारजी एवं श्रीनारदजी (आदि) जो मुनि ब्रह्म-तत्त्व-विचार में परम निपुण हैं ॥१०॥ उन सब का मत, हे श्रीगरुड़जी ! यही है कि श्रीरामजी के चरण कमलों में स्नेह करना चाहिये ॥१३॥

विशेष—(१) 'पद पंकज नेहा' ; यथा—"मन मधुकर पनकरि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।" (वि० १०५) ; श्रीशिवजी का मत इसी ग्रंथ में सर्वत्र है, मानस में एक घाट ही इनका है। यथा—"ये नराधमलोकेषु रामभक्तिपरांमुखाः। जपं तपं दया शौच शास्त्राणामवगाहनम् ॥ सर्वं वृथा विना येन शृणु त्वं पार्वति प्रिये ॥" (रुद्रयामल) ; श्रीब्रह्माजी का मत भी इसी ग्रंथ की उनकी स्तुति आदि से प्रसिद्ध भक्ति परक ही है। पुन दो० ११४ चौ० १ की टीका मे 'श्रेय श्रुतिं ' ' यह श्लोक देखिये। शुकदेवजी का मत, यथा—"यस्यामल नृपसदस्सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयोदिगिभेन्द्रपट्टम्। तन्नाकपाल-वसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥" (भाग० ९।११।२१) ; सनकादिक का मत ; यथा—"देहि भगति संसृति सरि तरनी ।" (दो० ३४), तथा सनत्कुमार संहिता मे रामस्तवराज इनका ही कथित है जिसमें श्रीरामभक्ति ही परम प्राप्य कही गई है, वही नारदजी का भी अभीष्ट है, क्योंकि वह नारद कृत स्तुति ही है, जिसका सनकादि ने वर्णन किया है। इस ग्रंथ में भी श्रीनारदजी का भक्ति-मत जगह-जगह पर है। नारद भक्ति सूत्र एक भक्ति-दर्शन है, वह श्रीनारदजी की ही रचना है, इत्यादि ।

'करिय राम पद पकज नेहा'—यह इस ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय है, इसे विस्तार-पूर्वक आगे "सतपंच चौपाईं मनोहर..." इस छंद के प्रकरण में कहा जायगा। इसी निर्णीत मत की पुष्टि आगे की जाती है—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥१४॥
कमठ-पीठ जामहिं बरु बारा । बंध्यासुत बरु काहुहि मारा ॥१५॥
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला । जीव न लह सुख हरि-प्रतिकूला ॥१६॥

अर्थ—वेद-पुरान (आदि) सभी ग्रंथ कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी की भक्ति के विना सुख नहीं हो सकता ॥१४॥ कछुए की पीठ पर बाल भले ही जम आवें और बाँझ का पुत्र भले ही किसी को मार आवे ॥१५॥ आकाश में भले ही (चाहे) अनेक प्रकार के फूल फूलें (ये सब असंभव चाहे हो जायँ), पर भगवान् से प्रतिकूल होकर जीव सुख नहीं पा सकता ॥१६॥

विशेष—(१) 'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । ..'—ऊपर ईश्वरों और मुनीश्वरों का मत कहा, इसी पर भगवान् की वाणी एवं श्वासरूप वेदों और उनके उपबृंहणरूप पुराणों का एवं और भी सद्ग्रन्थों का प्रमाण दिया कि श्रीरामभक्ति विना सुख नहीं मिल सकता। आगे अपना निर्णय किया हुआ अपेल सिद्धान्त भी कहते हैं, उसी मत को आगे तव असंभव दृष्टान्तों से पुष्ट करते हैं कि 'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।' यहाँ 'रघुपति' कहकर उपर्युक्त 'राम पद पकज नेहा' की अतिव्याप्ति दूर की। भाव यह कि दाशरथि रामजी की ही भक्ति करनी चाहिये ।

पूर्व भी कहा है—"गावहिं वेद पुरान" सुख कि लहिय हरि भगति बिनु ।" (दो० ८९), "सुनु खगेस हरि भगति बिहाई । जे सुख चाहहिं आन उपाई । ते सठ महासिंधु बिनु तरनी । पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥" (दो० ११५)।

कमठ की पीठ पर बाल जमना तीनों काल में असंभव है, ऐसे ही बंध्या के पुत्र होना और आकाश में फूल फूलना भी असंभव है। जब बंध्या के पुत्र हो ही नहीं सकता तो वह मारेगा कैसे ? पुनः आकाश में स्थल ही नहीं है कि उसमें वृक्ष उगें और उनमें फूल हों।

तृषा जाइ बरु मृग-जल-पाना । बरु जामहिं सस सीस बिषाना ॥१७॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै । राम-बिमुख न जीव सुख पावै ॥१८॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई । बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥१९॥

दोहा—बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥

अर्थ—मृग-तृष्णा रूपी जल के पीने से प्यास चाहे बुझ जाय (तो बुझ जाय), खरहे (खरगोश) के शिर पर सींग चाहे जम आवें और अंधकार चाहे सूर्य का नाश कर दे (ये सब असंभव चाहे संभव हो जायँ), पर राम-विमुख होकर जीव सुख नहीं पा सकता ॥१७–१८॥ पाले से चाहे अग्नि प्रकट हो जाय परन्तु राम-विमुख होकर कोई सुख नहीं पा सकता ॥१९॥ जल के मथने से घी चाहे हो जाय और बालू से तेल चाहे निकल आवे, पर यह अटल सिद्धान्त है कि बिना हरि-भजन के संसार नहीं तरा जा सकता ॥

विशेष—(१) मृग-तृष्णा का जल झूठा है; यथा - "जथा भानुकर बारि । जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि ।" (बा० दो० ११७); उससे प्यास बुझना असंभव है। 'अंधकार बरु रबिहि नसावै।'—अंधकार सूर्य के सामने नहीं हो सकता, तब सूर्य का नाश करना तो उसके लिये असंभव ही है; यथा—"रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।" (दो० ७१); "तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू।" (अ० दो० २१९); 'राम बिमुख न जीव सुख पावे।' जैसे कि जयन्त को किसी ने शरण नहीं दी ; यथा— "राखि को सकै राम कर द्रोही।" से "सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥" (आ० दो० १) तक। 'सुख पाव न कोई'—ऊपर 'न जीव सुख पावे' कहा गया था और यहाँ 'कोई' में यह ध्वनि है कि जीव (सामान्य) की क्या ईश्वर कोटि के ब्रह्मा आदि भी सुख नहीं पा सकते।

(२) 'बारि मथे घृत···'; यथा—"लोके भवतु चाश्चर्यं जलाज्जन्म घृतस्य च। सिक्तायाश्च तैलं तु यत्नाद्यातु कथंचन ॥ विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।" (सत्योपाख्यान १५।१६–१७)। "सिकतया खलु तैलमथापिवा घृतमपामथनाद्यदिचेद्भवेत्। भगवतो भजनेन विना नरः नहि कदापि तरेद्भव-सागरम् ॥"

यहाँ तक 'कमठ पीठ' से लेकर ९ असंभव दृष्टान्त कहे गये। ९ संख्या की सीमा है, इससे यह भाव निकला कि ऐसी असंख्य असम्भव बातें चाहे हो जायँ तो हो जायँ, पर हरि-भजन बिना कोई भी भवसागर नहीं तर सकता। इसे 'अपेल सिद्धान्त' कहा है। अपेल अर्थात् न टालने योग्य, न हटा सकने योग्य,

यथा—"आयेहु तात बचन मम पेला।" (बा० दो० २१). 'अपेल सिद्धान्त' कहकर इसे सर्वतंत्र सिद्धान्त कहा है कि जिसे विद्वानों के सब वर्ग या सब सम्प्रदाय मानते हों।

पहले शिव अज आदि का निर्णीत मत कहा; यथा—'करिय राम पद पंकज नेहा।' फिर उसे श्रुति पुराण एवं सब ग्रन्थों से प्रमाणित किया; यथा—'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।' पुनः उसे ही नव प्रकार के असंभव दृष्टान्तों से भी पुष्ट किया, तब 'यह सिद्धान्त अपेल' कहा, भाव यह कि जो मत इस प्रकार से प्रामाणिक हो, वही 'अपेल सिद्धान्त' कहायेगा। पहले 'सुख नाहीं' कहा, फिर उसी को 'न भव तरिय' कहकर जनाया कि भव पार होकर जीव सुख ही पाता है।

उपक्रम—'रघुपति भजन बिना सुख नाहीं।' और उपसंहार—'बिनु हरि भजन न भव तरिय' है। इतने में 'करिय राम-पद-पंकज नेहा' को पुष्ट किया गया है।

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन॥

श्लोक—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥१२२॥

अर्थ—प्रभु (चाहे) मच्छड़ को ब्रह्मा कर दें और ब्रह्मा को मच्छड़ से भी छोटा कर दें—ऐसा विचारकर चतुर लोग संशय छोड़कर श्रीरामजी का भजन करते हैं॥ मैं आपसे विशेष निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा (व्यर्थ) नहीं हैं, जो मनुष्य भगवान् का भजन करते हैं वे अति दुस्तर संसार को तर जाते हैं॥१२२॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि'—पहले तो 'करिय राम-पद-पंकज नेहा।' को अपेल सिद्धान्त कहा, फिर यह कहा कि प्रभु ऐसे समर्थ हैं कि भजन करने से अनुकूल हों तो मच्छड़ को ब्रह्मा बना सकते हैं और जो उनसे विमुख हो; उस ब्रह्मा को भी मच्छड़ से हीन दशा को पहुँचा सकते हैं, अतः वे प्रवीणों के उपास्य हैं; यथा—"मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो। यह सामर्थ्य अछत मोहिं त्यागहु नाथ तहाँ कछु चारो॥" (वि० ९४), "जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥" (दो० ११९)। यहाँ सामर्थ्य दिखाने के सम्बन्ध से 'प्रभु' कहा है।

(२) 'विनिश्चितं वदामि'—पहले शिव-ब्रह्मा आदि का मत कहा, फिर उसे श्रुति-पुराण आदि से पुष्ट किया, तब असंख्य असंभव दृष्टान्तों से जोर देकर अपने मत से भी उसे ही अपेल सिद्धान्त कहा। अब उसे ही विशेष निश्चित सिद्धांत करके फिर से श्लोक में जोर देते हुए कहते हैं कि हरि भजन से ही दुस्तर भवसागर का तरण होता है, दूसरे उपायों से नहीं।

हरि भजन को कई तरह से निश्चित किया—(क) राम-भक्ति से ही सुख की प्राप्ति एवं भवतरण होता है। (ख) श्रीराम-भक्ति बिना सुख नहीं मिलता। (ग) श्रीरामजी के विमुख एवं प्रतिकूल होने से सुख नहीं मिलता। सारांश यह कि श्रीराम-भजन करने ही से सुख मिलता है।

यह श्लोक नग स्वरूपिणी वृत्त का है, आ० दो० ३ अत्रि-स्तुति इसी छंद में है।

यहाँ तक श्रीगरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर कह दिये, आगे प्रकरण की इति लगाते हैं—

कहेउँ नाथ हरि-चरित अनूपा । ब्यास समास स्वमति अनुरूपा ॥१॥
श्रुति-सिद्धांत इहइ उरगारी । राम भजिय सब काज बिसारी ॥२॥

अर्थ—हे नाथ ! मैंने अनुपम एवं सरस श्रीरामचरित को कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप से अपनी बुद्धि के अनुसार कहा ॥१॥ हे श्रीगरुड़जी ! श्रुतियों का यही सिद्धान्त है कि सब काम भूलकर श्रीराम-का भजन करना चाहिये ॥२॥

विशेष—(१) 'हरि चरित अनूपा'—पहले समग्र श्रीरामचरित कहकर फिर जो श्रीगरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर दिये थे, उनमें कई प्रश्न भुशुंडिजी के चरित परक थे और फिर इधर भी सात प्रश्नों में कुछ मानस रोग एवं सत-असत स्वभाव आदि कहे गये हैं। पर सबका उपसंहार करते हुए उन्हें भी हरि चरित ही कहा है, क्योंकि ये सब प्रसंग भी श्रीरामचरित के ही पोषक हैं अतएव उसी के अंग हैं। संत स्वभाव की उत्तमता भी श्रीरामचरित ही है। श्रीरामजी की ही कृपा से संतों में उत्तम गुण आते हैं।

(२) 'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा ।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"प्रथमहि अति अनुराग भवानी । रामचरित सर कहेसि बखाना ॥" (दो० ६४) से हुआ है। 'स्वमति अनुरूपा'—के भाव पूर्व कई जगह आ गये हैं। 'अनूप' का अर्थ सरस भी होता है, यथा—"देखि मनोहर सैल अनूपा ।" (कि० दो० १२), वह प्रवर्षण गिरि सरस भी था।

'ब्यास समास'—जहाँ-जहाँ 'बखाना' 'गाना' ये शब्द कहे गये हैं, वहाँ विस्तार पूर्वक और जहाँ जहाँ अपूर्ण क्रियायें हैं और बखाना आदि शब्द नहीं हैं, वहाँ संक्षेप में कहा गया है। यहाँ के अंतिम सात प्रश्नों में भी दो ही विस्तार से कहे गये हैं, क्योंकि इनके प्रश्न के साथ ही 'बखानहु' और 'कहहु समुझाई' कहा गया था। इसी तरह सर्वत्र जानना चाहिये।

(३) 'श्रुति सिद्धान्त इहइ ...'—वेदों ने स्तुति में स्वयं अपना सिद्धान्त कहा है, यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। "मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ॥" (दो० १२)। आगे श्रीशिवजी भी कहते हैं, यथा—"श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना। "जो छल छाड़ि भजे रघुबीरा ॥" (दो० १२६)। 'राम भजिय सब काज बिसारी।', यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई ॥" (कि० दो० २२), तथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (बा० दो० ११९)। "चले सकल गृह काज बिसारी।" (बा० दो० २३६), "तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।" (दो० ५६) आदि में बिसारी के भाव आ गये हैं। 'बिसारी' का भाव यह कि छोड़ देने मात्र से काम नहीं, उनकी सुध भी नहीं रहने पावे, अर्थात् श्रद्धा और प्रेम पूर्वक भजन होने चाहिये कि इन पर चित्त ही नहीं जाय।

प्रभु रघुपति तजि सेइय काही । मोहि-से सठ पर ममता जाही ॥३॥
तुम्ह बिज्ञान रूप नहिं मोहा । नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा ॥४॥
पूछेहु राम कथा अति पावनि । सुक सनकादि संभु-मन-भावनि ॥५॥

अर्थ—समर्थ स्वामी श्रीरघुनाथजी को छोड़कर किसकी सेवा की जाय कि मुझ ऐसे शठ पर भी जिनका ममत्व है ॥३॥ हे नाथ ! आप विज्ञान रूप हैं, आपको मोह नहीं था, आपने तो मुझपर (यह)

अति कृपा की है कि जो शुक सनकादि एवं शिवजी के मन को प्रिय लगनेवाली अत्यन्त पवित्र राम-कथा पूछी है ॥४-५॥

विशेष—(१) 'प्रभु रघुपति तजि···'—पहले सर्व तंत्र सिद्धान्त से यह प्रतिपादन कर आये कि श्रीरामजी का भजन करना चाहिये। अब श्रीरामजी में उत्तम स्वामित्व-लक्षण भी कहते हैं कि वे 'प्रभु' हैं; अर्थात् अघटित घटना को घटित कर देनेवाले हैं। पुनः 'रघुपति' हैं; अर्थात् रघु आदि परम उदार राजाओं के कुल में श्रेष्ठ हैं। अतः, आश्रितों के लिये सब प्रकार श्रेय विधान करनेवाले हैं। पुनः सुलभ इतने हैं कि मुझ ऐसे शठ पर भी ममता रखते हैं, एक श्रीरामजी ही शठ सेवक पर ममत्व रखते हैं; यथा—"सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु। उपल किये जल जान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु॥" (बा॰ दो॰ २८); अपनी शठता भुशुंडिजी ने स्वयं कही है और साथ ही प्रभु की ममता भी दिखाई है; यथा—"राम कृपा आपनि जड़ताई।" से "बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई।" (दो॰ ७१-८७) तक, इसमें प्रभु इन्हें ग्रहण करना चाहते थे और ये भागते थे, परन्तु भागने नहीं पाये। प्रभु ने ग्रहण कर नाना प्रकार के वर देकर इन्हें कृतार्थ किया, वही उदाहरण देते हैं। अतएव ऐसा उत्तम स्वामी और कोई नहीं है जिसका भजन किया जाय, यथा—"नाहिन भजिबे जोग बियो। श्रीरघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो।·· तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥" (गी॰ सुं॰ ४१)। "भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।" (वि॰ २०७); भाव यह कि सब प्रकार समर्थ और आश्रित वत्सल श्रीरामजी ही हैं।

(२) 'तुम्ह बिज्ञान रूप'; यथा—"गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी।" (दो॰ ५४); अतः मोह नहीं है। 'नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा।'—राजा का सेवक के घर आना छोह है और फिर सत्संग का सुख देना 'अति छोह' है; यथा—"तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥" (दो॰ ९१)।

(३) 'अति पावनि'; यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (दो॰ १२५); 'सुक सनकादि संभु मनभावनि'— शुक मनभावनि, जैसे कि श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण परक चरित में भी श्रीरामजी का परत्व वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी ने महापुरुष शब्द से श्रीरामजी की ही वंदना की है; यथा—"ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरंचिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वंदे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराजलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥" (११।५।३३-३४) अन्यत्र तो इनकी निष्ठा प्रसिद्ध ही है। सनकादि मनभावनि, यथा—"आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥" (दो॰ ३१); "जीव-मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (दो॰ ४२)। संभु मन भावनि; यथा—"सिव प्रिय मेकल-सैल-सुता-सी।" (बा॰ दो॰ ३०)।

सत-संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥६॥
देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर-भजन अधिकारी॥७॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन॥८॥

अर्थ—संसार में निमेष भर, दंड भर या एक बार का भी सत्संग मिलना दुर्लभ है ॥६॥ हे गरुड़! अपने हृदय में विचार कर देखिये तो क्या मैं रघुवीर भजन का अधिकारी हूँ? अर्थात् नहीं हूँ ॥७॥ मैं पक्षियों में अधम, सब प्रकार से अपवित्र हूँ, ऐसे मुझको भी प्रभु ने जगत्-पावन कर दिया—यह बात जगत् प्रसिद्ध है ॥८॥

विशेष—(१) 'सत संगति दुर्लभ···'; यथा—"बिनु सतसंग बिवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥" (बा॰ दो॰ ३) देखिये। तथा—"महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥" (नारद-भक्ति सूत्र ३९)। 'निमिष दंड भरि एकउ बारा।', यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥" (सुं॰ दो॰ ४) देखिये, भाव यह कि जितना ही अधिक सत्संग का संयोग हो, उतना ही उसे परम लाभ मानना चाहिये। पल-भर का सत्संग भी व्यर्थ नहीं जाता, पृथिवी में पड़े हुए बीज की तरह कभी अंकुरित होता ही है। 'मैं रघुबीर भजन अधिकारी' इस काकु कथन द्वारा अपने को अनधिकारी कहकर उसे आगे "सकुनाधम सब भाँति अपावन।···" से स्पष्ट किया है कि कौआ चाण्डाल पक्षी है, आचरण से भी भ्रष्ट होता है, उसे जगत भर में प्रसिद्ध पावन कर दिया; यथा—"पठइ मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्ह बड़ाई मोही॥" (दो॰ ११); अर्थात् महा ज्ञानी का भी उपदेष्टा पद मुझे प्राप्त कराया।

दोहा—आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि, संत-समागम दीन॥
नाथ जथामति भाखेउँ, राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरित-सिंधु रघुनायक, थाह कि पावइ कोइ॥१२३॥

अर्थ—यद्यपि मैं सब प्रकार से तुच्छ (गया बीता) हूँ, तथापि मैं आज धन्य हूँ, अति धन्य हूँ कि श्रीरामजी ने मुझे अपना सेवक जानकर सत-समागम दिया॥ हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा है, कुछ भी बात छिपा नहीं रक्खी। श्रीरघुनाथजी के चरित समुद्र के समान अगाध हैं, क्या कोई उनकी थाह पा सकता है?॥१२३॥

विशेष—(१) 'आजु धन्य मैं ···'—क्योंकि सत्सग की एक घड़ी भी धन्य है; यथा—"धन्य घरी सोइ जब सतसंगा।" (दो॰ १२७), मुझे तो बहुत काल का सत्सग मिला, अतएव मैं अति धन्य हूँ। बार-बार धन्य कहने का भाव यह है कि 'समागम' के साथ दर्शन-स्पर्श की भी प्राप्ति का स्मरण करते हैं; यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥" (वि॰ १३६)। अतिम 'समागम' पद से उसके साथ के दर्शन स्पर्श भी आ गये हैं।

(३) 'जथामति' और 'चरित सिंधु' के भाव पूर्व कई जगह आ गये हैं। 'राखेउँ नहि कछु गोइ' कहकर पूर्व कथित "पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास" (दो॰ ६९) का चरितार्थ दिखाया गया है

(२) 'निज जन'; यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥ देखि दसा निज जन मन भाये॥" (आ॰ दो॰ ९)। "जनहि मोर बल···" (आ॰ दो॰ ४३), अर्थात अनन्य भक्त ही निज जन हैं।

सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥१॥
महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥२॥

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥३॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥४॥

अर्थ--श्रीरामजी के नाना गुण-गणों का स्मरण करके बार-बार सुजान श्रीभुशुंडिजी हर्षित हो रहे हैं ॥१॥ जिन श्रीरघुनाथजी के अतुलित बल, प्रताप और प्रभुता की महिमा वेदों ने 'न इति' कहकर गाई है ॥२॥ जिन श्रीरघुनाथजी के चरण श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी से पूज्य हैं, (ऐसे) उन प्रभु की मुझ-पर परम कृपा है, यह उनकी परम कोमलता है ॥३॥ ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ और न कहीं देखता हूँ, हे खगराज ! मैं किसे रघुपति के समान गिनूँ (मानूँ) ? अर्थात् ऐसा अत्यन्त महिमावान् और अत्यन्त कोमल स्वभाववाला और कोई है ही नहीं ॥४॥

विशेष—(१) 'गुनगन नाना' जैसा कि दो० ९०-९२ में विस्तार से कहते हुए अंत में कहा है—'राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ' पुनः 'रामकृपा आपनि जड़ताई' के वर्णन मे जो गुण कहे गये हैं, उन सबका यहाँ स्मरण करते हैं। 'पुनि पुनि हरष'—जैसे-जैसे भिन्न भिन्न गुणों पर चित्त जाता है वैसे वैसे बार-बार पुलक पर-पुलक होते हैं। पुनः आगे श्रीरामजी की अतुलित महिमा और अपनी तुच्छता का मिलान करना कहा है उसपर भी बार-बार पुलकावली का होना जानना चाहिये; यथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी।" से "मोर भाग राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा ॥" (बा० दो० ३४०–३४१) तक।

(२) 'अतुलित बल प्रताप प्रभुताई।', यथा—"अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।" (आ० दो० १); यह जयंत ने परीक्षा करके कहा है। पुन दो० ९०-९२ में भी देखिये।

(३) 'अस सुभाव कहुँ ···'—इतने बड़े होकर अत्यन्त तुच्छ जीवों पर भी ऐसी कोमलता ! यथा-"ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू, भेट्यो केवट उठि ॥" से "स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहै। सोच सकल मिटिहैं, राम भलो मानिहैं ॥" (वि १३५), तथा—"जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई ॥" (आ० दो० ५)। श्रीरामजी के स्वभाव के ज्ञाता श्रीभरतजी हैं, यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।" (अ० दो० २५९); इनके द्वारा अयोध्याकांड में बहुत कहा गया है। पुन. "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥" (दो० १), श्रीभरतजी ने इस स्वभाव का अनुभव भी खूब किया है ; यथा—"भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई ॥" (दो० १०) इत्यादि। तथा वि० ७१, १००, १६२ आदि पदों को भी देखिये।

साधक सिद्ध विमुक्त उदासी। कवि कोविद कृतज्ञ संन्यासी ॥५॥
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्म-निरत पंडित बिज्ञानी ॥६॥
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी ॥७॥
सरन गये मो-से अघ-रासी। होहिं सुद्ध नमामि अविनासी ॥८॥

अर्थ—साधक, सिद्ध, विमुक्त (जीवन्मुक्त), उदासीन (जगत् से निर्लिप्त), कवि (काव्यकर्त्ता एवं सारासार वेत्ता), कोविद (पंडित भाष्यकर्त्ता), कृतज्ञ (कर्त्तव्यज्ञाता), सन्यासी, योगी, शूरवीर, अच्छे तपस्वी, ज्ञानी, धर्मपरायण, पंडित (शास्त्रवेत्ता) और विज्ञानी भी बिना मेरे स्वामी श्रीरामजी की

सेवा किये नहीं तर सकते, मैं उन श्रीरामजी का नमस्कार करता हूँ। नमस्कार करता हूँ !! नमस्कार करता हूँ !!! ॥५-७॥ जिनकी शरण में जाने से मुझ-ऐसे पाप राशि भी शुद्ध हो जाते हैं, उन अविनाशी श्रीरामजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'साधक'—जो सिद्धि के लिये यत्न करते हैं। 'सिद्ध' अर्थात् जो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। दो॰ ८५ चौ॰ ५-७ और दो॰ ८६, चौ॰ २-३ में जिन्हें श्रीरामजी ने पुत्ररूप और सामान्य प्रिय कहा है। प्राय उन्हीं को यहाँ गिनाकर श्रीभुशुण्डिजी यह बतलाते हैं कि यद्यपि वे सब भी प्रभु के पुत्र ही हैं, तथापि भक्ति विना वे भी भव से नहीं छूटते। 'राम नमामि नमामि नमामी'—तीन बार कथन बहुवचन हैं; अत', अनन्त प्रणाम सूचित किया है; यथा—"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥" (गीता ११।३९)। यह कथा की पूर्ति पर नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविद सुमङ्गला। क्षेम न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनम॥ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकङ्का यवना खसादयः। येऽन्ये च पापायदुपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम॥' (भाग॰ २।४। ७-१८)

'मो से अघरासी'—ऊपर बड़ों-बड़ों को दुर्लभ स्वामी के ऐश्वर्य को देखते हुए तीन बार कहकर असंख्य प्रणाम किये। पर यहाँ अपने से महान पापी के उद्धारक कहते हुए एक ही बार 'नमामि' कहा है। भाव यह है कि महान् पापियों को भी 'सकृत प्रणाम' से ही अपना लेते हैं। भक्त जिस समय प्रभु की महिमा और फिर अपने हृदय की व्यवस्था को देखता है तो अपनेको अत्यन्त ही तुच्छ पाता है। यह भी भाव है कि उपर्युक्त गुणगणवाले भी विना भक्ति के नहीं तरते। पर सर्वगुणहीन अन्त्यज तक प्रभु की शरण मात्र होने एव सकृत प्रणाम मात्र से तर जाते हैं।

दोहा—जासु नाम भव-भेषज, हरन घोर त्रय-सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर, सदा रहउ अनुकूल॥
सुनि भुसुंडि के बचन सुभ, देखि राम-पद-नेह।
बोलेउ प्रेम-सहित गिरा, गरुड़ बिगत संदेह॥१२४॥

अर्थ—जिनका नाम भव रोग की ओषधि और भयकर तीनों (जन्म, जरा, मरण एव दैहिक, दैविक, भौतिक ताप रूपी) शूलों का हरण करनेवाला है, वे कृपालु मुझपर और तुमपर सदा अनुकूल रहें॥ श्रीभुशुंडिजी के शुभ वचन सुनकर और उनका श्रीरामजी के चरणों में स्नेह देखकर श्रीगरुड़जी प्रेम सहित वाणी बोले, उनका सदेह निता-त जाता रहा ॥१२४॥

विशेष—(१) 'जासु नाम भव भेषज', यथा—"नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।" (बा॰ दो॰ २४), "तव नाम जपामि नमामि हरी। भव रोग महागद मान अरी।" (दो॰ १३), 'हरन घोर त्रय सूल', यथा—"जासु नाम त्रय ताप नसावन।" (सु॰ दो॰ ३८), 'मोहि तो पर'—यह सभी श्रोता-वक्ता का उपलक्षक है। अनुकूल अर्थात् प्रसन्न। 'बचन सुभ'—श्रुति सिद्धान्त, राम भक्तिरस साने, सशय-नाशक और श्रोता वक्ता के लिये आशीर्वाद से युक्त होने से वचन को शुभ कहा है। 'देखि राम-पद-नेह',

यथा—"सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥" और "राम नमामि'…" से इस प्रसंग में क्रमशः वचन, मन और कर्म का स्नेह प्रकट हुआ।

मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति-रस-सानी॥१॥
राम-चरन नूतन रति भई। मायाजनित बिपति सब गई॥२॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी के भक्ति-रस में सनी हुई आपकी वाणी सुनकर मैं कृतार्थ हो गया॥१॥ श्रीरामजी के चरणों में नवीन प्रीति हुई और जो विपत्ति माया से उत्पन्न हुई थी, वह सब जाती रही॥२॥

विशेष—(१) ऊपर 'जासु नाम भव-भेषज…' पर श्रीभुशुंडिजी ने अपनी कथा समाप्त की। 'सुनि भुसुंडि के बचन सुभ…' यहाँ से श्रीशिवजी का कथन है, इन्होंने ही या० दो० १२० पर भुशुंडि-गरुड़ के संवाद का आवाहन (उपक्रम) किया था। यहाँ उस संवाद की इति (उपसंहार) भी लगाते हैं।

(२) 'मैं कृतकृत्य'– जिस कृत्य के लिये श्रीशिवजी की आज्ञा से यहाँ आया था, वह कर चुका। अभिलाषा पूरी हो गई। 'रघुबीर-भगति-रस-सानी।'—जितने प्रसंग कहे गये हैं, सबके उद्देश्य भक्ति-प्रतिपादन में ही हुए हैं। पुनः सम्पूर्ण चरित की समाप्ति पर—"सिव अज सुक सनकादिक नारद।". से "विनिश्चितं वदामि ते…" तक बहुत ही दृढ़ अपेल सिद्धान्त-रूप में भक्ति ही कही गई है। 'नूतन रति भई'—पूर्व भी राम-पद-प्रेम था, पर वह नाग पाश-बंधन देखकर नष्ट हो गया था। अब कथा सुनने पर मोह नष्ट होकर दृढ़ भक्ति हुई। ऐसी भक्ति पूर्व नहीं थी, इससे भी इसे 'नूतन' कहा है।

(३) 'मायाजनित बिपति…'– मोह, संशय, भ्रम आदि माया से होते हैं, पूर्व—"यह सब माया कर परिवारा।" (दो० ७०) के प्रसंग में कहे गये हैं। श्रीशिवजी ने कहा था—"होइहि मोह जनित दुख दूरी।" (दो० ६१); उसका यहाँ पर चरितार्थ हुआ, श्रीगरुड़जी स्वयं कह रहे हैं कि मेरे सब दुख दूर हो गये। पुनः वहाँ श्रीशिवजी ने कहा था—"राम-चरन होइहि अति नेहा।" वह भी यहाँ हुआ; यथा—'राम-चरन नूतन रति भई।' यह कहा गया है।

मोह-जलधि बोहित तुम भये। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये॥३॥
मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा॥४॥

अर्थ—आप मुझको मोह-रूप समुद्र में (डूबते हुए से बचाने के निमित्त) जहाज-रूप हुए, हे नाथ! आपने मुझे बहुत प्रकार के सुख दिये॥३॥ उनका प्रति-उपकार (बदला चुकाना) मुझसे नहीं हो सकता, इससे मैं आपके चरणों की बार-बार वन्दना करता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'बिबिध सुख दये'—पहले सम्पूर्ण चरित सुनाकर और संशय निवृत्त कर, सुख दिया। फिर तरह-तरह के प्रश्नों के उत्तर देते हुए तरह तरह के सुख दिये। अनेकों प्रकार के श्रीराम-रहस्य बतलाकर सुख दिये, इत्यादि भाव 'बिबिध' शब्दों में कहे गये हैं।

(२) 'होइ न प्रतिउपकारा'—भाव यह है कि मैं सदा आपका ऋणी ही बना रहूँगा। बार-बार चरण-वन्दना से कृतज्ञता और अत्यन्त प्रेम प्रकट किया है।

पूरन काम राम अनुरागी । तुम्ह सम तात न कोउ बडभागी ॥५॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी । परहित-हेतु सबन्ह कै करनी ॥६॥

अर्थ—आप पूर्णकाम हैं एवं पूर्णकाम श्रीरामजी के अनुरागी हैं। हे तात ! आपके समान कोई बड़भागी नहीं है ॥५॥ संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथिवी, इन सबकी करनी पराये हित के लिये ही होती है ॥६॥

विशेष—(१) 'पूरन काम', यथा—"जो इच्छा करिहहु मन माहीं । हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं ॥" (दो० ११३), यह आशीर्वाद प्राप्त है, फिर आपको कोई आवश्यकता ही क्यों होगी, जिसे कोई देकर पूरी करेगा । 'बड़भागी'—रामानुरागी होने से कहा है; यथा—"अहह धन्य लछिमन बड़भागी ।" (दो० १)—देखिये ।

(२) 'संत बिटप'—श्रीभुशुंडिजी संत हैं, इन्हीं की करनी के उदाहरण रूप में विटप आदि कहे गये हैं । जैसे वृक्ष आदि का परोपकार-निरत होना स्वाभाविक है, वैसे ही—"पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगराया ॥" (दो० १२०); आप स्वयं तो निष्काम भाव से श्रीराम-भक्त हैं और वृक्ष आदि की तरह परोपकारनिष्ठ हैं, जैसे वृक्ष आदि प्रत्युपकार नहीं चाहते, वैसे आपको भी प्रत्युपकार की आवश्यकता नहीं है ।

इसी तरह सु० दो० ५८ के 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । ...' में भी पाँच कहे गये हैं । वहाँ एक जड़ और चार चेतन हैं और यहाँ एक चेतन और चार जड़ कहे गये हैं । वहाँ ढोल की तरह चारों की व्यवस्था और यहाँ वृक्ष आदि चारों की तरह संत की व्यवस्था कही गई है । श्रीभुशुण्डिजी विशुद्ध संत हैं, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही ।" (दो० ६८) ।

संत-हृदय नवनीत-समाना । कहा कबिन्ह परि कहइ न जाना ॥७॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥८॥

अर्थ—'संत का हृदय मक्खन के समान है'—ऐसा कवियों ने कहा है, पर कहना उन्होंने नहीं जाना (अर्थात् ठीक उपमा देते न बनी, क्योंकि), मक्खन तो अपने पर ताप लगने से ही पिघलता है और परम पुनीत संत जन पराये दुःख से (परदुःख देखकर) द्रवीभूत होते हैं ॥७-८॥

विशेष—'कहा कबिन्ह'—भाव यह कि कवियों को संतों के हृदय की अगाधता का क्या पता ? जैसे योद्धा के हृदय को ढाढी नहीं जानता ।

यथार्थ में मक्खन और संत-हृदय में समानता नहीं है । मक्खन जब स्वयं तपाया जाता है, तब पिघलता है । इस तरह अपने दुःख में दुखी होना तो दुष्टों में भी होता ही है । पर संतों में यह विलक्षणता है कि वे अपना दुःख ईश्वर-विहित न्याय समझकर सह लेते हैं पर वे दूसरे के दुःख को नहीं सह सकते, द्रवीभूत हो जाते हैं ; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ॥" (अ० दो० १) । भक्तमाल की टी० भ० र० बोधिनी में लिखा है कि किसीने बैल पर सोंटा मारा, उसे देखकर परम संत 'केवलरामजी' (कूबाजी) की पीठ पर उसका बरार (सोंटे का चिह्न) पड़ गया, उन्होंने उसके दुःख को ऐसा तदाकार अनुभव किया कि व्याकुल हो गये ।

मक्खन जाड़े में कड़ा रहता है, पर सन्त-हृदय सब दिन दयापूर्ण रहने से कोमल ही रहता है, यथा—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (दो० ३७)।

जीवन जन्म सुफल मम भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ ॥९॥
जानेहु सदा मोहि निज किंकर। पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगवर ॥१०॥

अर्थ—मेरे जीवन और जन्म दोनों सफल हुए, आपकी कृपा से सब संशय दूर हो गये ॥९॥ 'मुझे सदैव अपना दास जानियेगा'—हे उमा ! पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ बार-बार यही कह रहे हैं ॥१०॥

विशेष—'जीवन जन्म सुफल'—भाव यह कि मोह दूर नहीं होता तो सदा के लिये भव में पड़ता। राम-विमुख के जीवन और जन्म दोनों व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि नर-तन की प्राप्ति का परम लाभ श्रीराम-प्रेम ही है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जन्म लाभ परम।" (वि० १३१), 'जानेहु सदा मोहि निज किंकर'—भाव यह है कि मैं आजीवन आपका दास हूँ, आज्ञा देते रहियेगा, यह पूर्वोक्त 'मोपहि होइ न प्रति-उपकारा।···' का निर्वाह है। कृतज्ञता-प्रकट करने की यही रीति है 'पुनि पुनि'—यह अत्यंत प्रेम का सूचक है।

दोहा—तासु चरन सिर नाइ करि, प्रेमसहित मतिधीर।
गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर ॥
गिरिजा संत-समागम, सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि-कृपा न होइ सो, गावहिं बेद-पुरान ।१२५॥

अर्थ—उसके चरणों में प्रेम-सहित शिर नवाकर और हृदय में श्रीरघुवीर को धारण करके तब श्रीगरुड़जी वैकुंठ को गये ॥ हे गिरिजे ! संत समागम के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है, पर वह (सत-समागम) विना भगवान् की कृपा के नहीं होता ऐसा वेद और पुराण कहते हैं ॥१२५॥

विशेष—(१) 'तासु चरन सिर नाइ'—यह बर्ताव संग एवं गुरु-बुद्धि से हुआ, अन्यथा पहले आये थे तब तो श्रीभुशुंडिजी ने ही इन्हें राजा मानकर इनकी पूजा की थी, यथा—"करि पूजा समेत अनुरागा।" (दो० ६२); अब श्रीगरुड़जी तत्त्वोपदेश प्राप्त कर श्रीभुशुंडिजी को गुरु-भाव से प्रणाम करके गये। 'मतिधीर'—भाव यह कि अब संदेह-निवृत्ति होने से बुद्धि की व्याकुलता निवृत्त हो गई। 'गयउ गरुड़ बैकुंठ तब'-यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"गयउ गरुड़ जहँ बसै भुसुंडा।" (दो० ६२); से हुआ था। गरुड़-भुशुंडि-संवाद का प्रसग—"तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। काग भुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥" (दो० ५२); से प्रारंभ हुआ था, उसकी पूर्त्ति यहाँ पर श्रीशिवजी ने की। 'हृदय राखि रघुबीर'—राम-रूप मे ही मोह हुआ था कि नागपाश से क्यों बँध गये, अब वह निवृत्त हो गया, श्रीरामजी को पञ्चवीरतायुक्त रघुवीर जानकर हृदय में बसाया, इनमें ही परमात्मभावना की, श्रीभुशुंडिजी ने कहा भी था—"प्रभु रघुपति तजि सेइय काही।" (दो० १२१), 'सम न लाभ कछु आन'; यथा—"संत-मिलन सम

सुख जग नाहीं।" (दो० १२०); 'बिनु हरि कृपा न होइ सो', यथा—"जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।" (वि० १३६)।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव-पासा॥१॥
प्रनत-कल्पतरु करुना-पुंजा। उपजइ प्रीति राम-पद-कंजा॥२॥
मन-क्रम-बचन जनित अघ जाई। सुनहि जे कथा श्रवन मन लाई॥३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी कहते हैं कि) मैंने परम पवित्र इतिहास कहा, जिसे कानों से सुनते ही संसार के बंधन छूट जाते हैं॥१॥ शरणागतों के कल्पवृक्ष और करुणा की राशि श्रीरामजी के चरण कमलों में प्रीति उत्पन्न होती है॥२॥ जो कथा को मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, कर्म और वचन, तीनों से उत्पन्न पाप नष्ट हो जाते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम "सुनहुँ परम पुनीत इतिहासा।" (दो० ५१), से हुआ था। इस गरुड़ भुशुंडि संवाद की कथा में 'परम पुनीत' शब्द का ही संपुट है। परम पुनीतता आगे—'सुनत श्रवन' से 'मनलाई' तक कहते हैं, भाव यह है कि मन लगाकर कानों से सुनने पर ही भवपाश छूटेगा, श्रीरामजी में प्रीति होगी और मन कर्म, वचन के पाप भी छूटेंगे। भव पास छूटना ज्ञान, श्रीरामजी में प्रीति होना उपासना और पाप छूटने में कर्म का फल प्राप्त होना कहा गया, भाव यह है कि इस कथा के श्रवण करने से कांड-त्रय की आराधना का फल होगा।

(२) 'उपजइ प्रीति', यथा—"रामचरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (उ० दो० १२८) "ता ये शृण्वन्ति गायन्तिह्यनुमोदन्ति चादृता। मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्ति विन्दन्ति ते मयि॥ भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते। मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि।" (भाग० ११।२६।२९ ३०)' इसका उपक्रम—"उपजइ राम चरन बिस्वासा।" (दो० ५१), है और यहाँ 'उपजै प्रीति' पर उपसंहार कहा है। 'मन क्रम बचन जनित अघ', यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥" (अ० दो० १६६) देखिये। ये सब पाप कथा से छूटते हैं, यथा—"य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च। कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥" (भाग० ११ ३१।२७)।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥४॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥५॥
भूत-दया द्विज-गुरु-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥६
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी॥७॥
सो रघुनाथ-भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहू एक पाई॥८॥

अर्थ—तीर्थ यात्रा (आदि) साधन समूह, योग-वैराग्य और ज्ञान, तीनों में निपुणता॥४॥ अनेक प्रकार के कर्म, धर्म, व्रत और दान, अनेकों संयम, दम जप, तप और यज्ञ॥५॥ प्राणि-मात्र पर दया,

ब्राह्मण और गुरु की सेवा, विद्या, विनम्रता और विवेक में उत्कृष्टता ॥६॥ इत्यादि जहाँ तक साधन वेदों ने बखान किये हैं, हे भवानी ! इन सबका फल हरिभक्ति ही है ॥७॥ वह श्रुतियों की गाई हुई (प्रतिपादित) श्रीरघुनाथजी की भक्ति श्रीरामजी की कृपा से किसी एक ने पाई है ॥८॥

विशेष—'तीर्थाटन साधन…'—श्रीवसिष्ठजी ने दो० ४८ चौ० १-४ में लगभग इन्हीं साधनों का यही फल कहा है अतः, वहाँ के ही भाव यहाँ भी लगा लेना चाहिये। 'राम-कृपा काहु एक पाई'—इस दुर्लभता को भी श्रीपार्वतीजी ने दो० ५३ चौ० १-७ में क्रमानुसार विस्तार से कहा है। उस भक्ति की प्राप्ति श्रीरामकृपा से ही होती है, इसको श्रीभुशुंडिजी ने ही कहा है; यथा-"अविरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥" (दो० ८४); 'श्रुति गाई' यथा—"श्रुति-संमत हरि-भक्ति पथ,…" (दो० १००)।

दोहा—मुनिदुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर, सुनहिं मानि बिस्वास ॥१२६॥

अर्थ—जो मनुष्य विश्वास मानकर यह कथा निरंतर सुनते हैं, वे विना परिश्रम ही वह भक्ति पा जाते हैं, जो मुनियों को भी दुर्लभ है ॥१२६॥

विशेष—'मुनि-दुर्लभ'; यथा—"जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं ॥" (दो० ८४); यह श्रीरामजी ने ही श्रीमुख से श्रीभुशुंडिजी से कहा है वहीं देखिये। भाव यह कि जो भक्ति मुनियों को बड़े परिश्रम से भी दुर्लभ है और श्रीभुशुंडिजी को भी बड़े श्रम से प्राप्त हुई है। वही भक्ति इस कथा से परिश्रम विना ही मिलती है, पर शर्त इतनी है कि विश्वास मानकर और निरंतर इसे सुनना चाहिये। विश्वास भी कथा से ही उपजता है; यथा—"उपजइ राम-चरन-बिस्वासा।" (दो० ५४); अर्थात् पहले यों ही श्रद्धा से सुनने लग जाय, तब विश्वास हो जायगा और फिर विश्वासपूर्वक निरंतर श्रवण से उक्त भक्ति प्राप्त होगी।

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता ॥१॥
धर्म-परायन सोइ कुलत्राता। राम-चरन जाकर मन राता ॥२॥
नीति-निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति-सिद्धांत नीक तेहि जाना ॥३॥
सोइ कबिकोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ॥४॥

अर्थ—जिसका मन श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त है (वस्तुतः) वही सर्वज्ञ है, वही गुणवान् है, वही जाननेवाला है, वही पृथिवी का भूषण है, वही पंडित है, वही दानी है, वही धर्मपरायण और वही कुल-रक्षक है। १-२॥ जो छल छोड़कर रघुवीर श्रीरामजी का भजन करे, वही नीति में कुशल है, उसीने श्रुतियों का सिद्धान्त अच्छी तरह जाना है, वही कवि है, वही कोविद है और वही रणधीर है ॥३-४॥

विशेष—'सोइ सर्वज्ञ…'; यथा—"सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिज्ञान अखंडित ॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद-सरोज-रति होई ॥" (दो० ४८); यह श्रीवसिष्ठजी

ने कहा हैं। 'नीति-निपुन' से यहाँ धर्म-नीति का भाव है। 'परम सयाना'—जिस कार्य के लिये मनुष्य शरीर मिला है, उसे साध लेना ही परम सयानापन है। 'श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना।'; यथा—"श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी॥" (दो० १२२)—देखिये। पुन सब वेदों से जानने योग्य भगवान् ही हैं; यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य" (गीता १५।१५); और भगवान् के ज्ञान का फल उनका भजन करना है; यथा—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९)। इसके 'सर्वविद्' में उपर्युक्त 'सर्वज्ञ' आदि के भाव भी हैं। 'धर्मपरायन'—मुमुक्षु को शुद्धि के लिये धर्म की आवश्यकता होती है, वह धर्म ईश्वर के ज्ञान से ही यथार्थ होता है, जैसे कि श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने शुद्धि के प्रकरण में लिखा है कि जीव की शुद्धि ईश्वर ज्ञान से होती है; यथा—"क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धिः ईश्वरज्ञानात्।" 'महि-मंडित'—उसके निवास से पृथिवी का वह भाग शोभा पाता है। 'रन-धीरा' जो रण में सम्मुख जूझता है वह भी अर्चिरादि मार्ग से भक्तों की तरह परधाम को प्राप्त होता है, इसीसे तुल्य मानकर कहा गया है। अथवा, यहाँ इन्द्रिय विजयी से तात्पर्य है। 'छल छाड़ि'—किसी प्रकार की स्वार्थ बुद्धि ही छल है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००); तथा अ० दो० १०७ भी देखिये। 'कुलत्राता'—क्योंकि हरि भक्त होने से उसके पितर तर जाते हैं।

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी॥५॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥६॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य-रत-मति सोइ पाकी॥७॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज-भगति अभंगा॥८॥

अर्थ—वह देश धन्य है जहाँ श्रीगंगाजी हैं, वह स्त्री धन्य है जो पातिव्रत धर्म का अनुसरण करे (अर्थात् उसपर चले)॥५॥ वह राजा धन्य है जो नीति करता है, वह ब्राह्मण धन्य है जो धर्म से नहीं टलता॥६॥ वह धन धन्य है कि जिसकी प्रथम गति होती है (अर्थात् जो परोपकार एवं दान में लगता है), पुण्य में लगी हुई बुद्धि धन्य है, वही बुद्धि पक्की (दृढ़ निश्चयात्मिका) है॥७॥ वही घड़ी धन्य है जिसमें सत्संग हो, वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मण की अखंड भक्ति हो॥८॥

विशेष—(१) 'जहँ सुरसरी'—श्रीगंगाजी परम पुनीता, मनोहरचरिता एवं पापनाशिनी हैं। इससे वह देश धन्य है, जहाँ इनका प्रवाह है, *क्योंकि* वहाँ के लोग इनके 'दरस परस-मज्जन-पान' से कृतार्थ हुआ करते हैं। श्रीगंगाजी की महिमा पूर्व बहुत जगह लिखी जा चुकी है। 'धन्य नारि पतिब्रत ···'—पतिव्रता के धर्म, अनुसूया-सीता मिलन प्रसंग आ० दो० ४-५ में देखिये। पतिव्रता अपने आचरण से दोनों (पिता और पति के) कुलों को पवित्र करती है, यथा—"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥" (अ० दो० २८६)।

(२) 'सो धन धन्य ···'—धन की तीन गतियाँ हैं—दान भोग और नाश; यथा—"दानं भोगो नाशः तिस्रः गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥" (भर्तृहरि), अर्थात् जो न देता है और न भोगता है, उसका धन नाश ही होता है। उत्तम गति दान ही है, यथा—"येन केन विधि दीन्हे दान करइ कल्यान।" (दो० १०३)। दूसरी गति भोग मध्यम है, तीसरी गति नाश होना निकृष्ट है।

(३) 'धन्य घरी सोइ ···'—क्योंकि लव-मात्र के सत्संग के बराबर स्वर्ग अपवर्ग के सुख भी नहीं तुलते—सुं० दो० ४ देखिये। तब घड़ी-भर तो बहुत है।

यहाँ जितने धन्य कहे गये हैं, ठीक इनके उल्टे अ० दो० १७१ में शोचनीय कहे गये हैं, दोनों स्थलों के भाव मिलान से स्पष्ट हो जायँगे—

१—सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लय लीना।	धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।
२—सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान-समाना॥	धन्य सो भूप नीति जो करई।
३—सोचिय बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि-सिव-भगति सुजानू॥	सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।
४—सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी।	धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा।
५—सोचिय पुनि पति-बंचक नारी।	धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी।
६—सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥	जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा।··· सो कुल धन्य ··श्रीरघुबीर परायन।

दोहा—सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत-पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर-परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥१२७।

अर्थ—हे उमा! सुनो, वह कुल धन्य है, जगत् पूज्य है और परम पवित्र है, जिसमें श्रीरघुबीर का अनुरागी, विनम्र स्वभाववाला मनुष्य पैदा हो ॥१२७॥

विशेष—यथा—"धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्र बर सोइ। तुलसी जो रामहि भजै, जैसेहु कैसेहु होइ॥" (वैराग्य सं० ३६)। तथा—"आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहा मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥ कुल पवित्र जननी कृतार्था वसुंधरा भागवती च धन्या। स्वर्गस्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्॥" (पद्मपुराण) तथा—"मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता सनाथा चेयं भूर्भवति।" (नारद-भक्ति-सूत्र ७१), अर्थात् (प्रेमी भक्तों का आविर्भाव देखकर उनके) पितर-गण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथिवी सनाथ हो जाती है।

भाव यह कि अधम ही कुल क्यों न हो, यदि उसमें एक भी भागवत हो गया तो वह अन्य पुनीत वर्णों से भी पवित्र और जगत् पूज्य हो जाता है। ब्राह्मण और देवता आदि पुनीत हैं और यह सुपुनीत है, वे अपनेको ही तार सकते हैं और यह जगत् भर को तार देनेवाला है।

आगे कथा के अधिकारी का वर्णन करते हैं—

मति अनुरूप कथा मैं भाखी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी ॥१॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति-कथा सुनाई ॥२॥

अर्थ—मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कथा कही, यद्यपि मैंने पहले इसे गुप्त कर रक्खा था ॥१॥ जब तुम्हारे मन में (कथा में) प्रीति की अधिकता देखी तब मैंने तुमको श्रीरघुनाथजी की कथा सुनाई ॥२॥

विशेष—(१) 'मति अनुरूप कथा मैं भाखी।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"मैं निज मति अनुसार, कहहुँ उमा सादर सुनहुँ ॥" (बा० दो० ११०) देखिये। 'जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी।', यथा—"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवासन भाखा ॥" (बा० दो० ३४)।

(२) 'तब मन प्रीति देखि···'—भाव यह कि यह परम गोप्य पदार्थ है, अनधिकारी एवं श्रद्धा-हीन को कभी नहीं सुनाना चाहिये। श्रीपार्वतीजी के मन की प्रीति; यथा—"जौं मोपर प्रसन्न सुख रासी।" से "प्रश्न उमा के सहज सुहाई ॥" (बा० दो० १०७–११०) तक। "बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेम रस सानि।" से "उमा बचन सुनि परम बिनीता। राम-कथा पर प्रीति पुनीता ॥ हिय हरषे कामारि तब, संकर सहज सुजान।" (बा० दो० ११९–१२०) तक।

यह न कहिय सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि ॥३॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि ॥४॥
द्विज-द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति-सरिस होइ नृप जबहूँ ॥५॥

अर्थ—शठ से, हठी स्वभाववाले से और जो हरि-लीला को मन लगाकर न सुनता हो, उससे इसे नहीं कहना चाहिये ॥३॥ लोभी, क्रोधी और कामी से न कहे कि जो सचराचर स्वामी श्रीरामजी का भजन नहीं करता हो ॥४॥ ब्राह्मण द्रोही को—चाहे वह इन्द्र के समान राजा ही क्यों न हो—कभी नहीं सुनाना चाहिये ॥५॥

विशेष—'यह न कहिय ··'—यहाँ से तीन अर्द्धालियों में अनधिकारी के लक्षण कहकर तब अधिकारी के कहेंगे। शठ, जो जानकर भी सुमार्ग में नहीं लगे। हठशील, जो अपने ही मत पर दुराग्रह करनेवाला हो। 'लोभिहि'—लोभी का चित्त कथा में बैठे हुए भी धन बटोरने पर रहता है, इससे कथा का निरादर होता है। कामी की भी वही व्यवस्था है, काम-वृत्ति तो और भारी दुर्गुण है; यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा ॥" (सुं० दो० ५७)। क्रोधी का स्वरूप पाप-मय रहता है, कथा सुनते समय भी उसकी हिंसात्मक वृत्ति रहती है। अत, यह भी अधिकारी नहीं है। 'द्विज-द्रोही'—यह भगवान् का भी द्रोही है; यथा—"मम मूरति महिदेवमई है।" (वि० १३९)। भगवान् स्वयं ब्रह्मण्य देव हैं।

पहले भी अनधिकारी के लक्षण कहे गये हैं; यथा—"राम भगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं ॥" (दो० ११२); "जदपि जोषिता नहि अधिकारी।" (बा० दो० १०९)।

भाग० ११।२९।३०–३१ में भी ऐसे ही अनधिकारी और अधिकारी गिनाये गये हैं।

आगे अधिकारी वर्ग गिनाते हैं—

राम-कथा के तेइ अधिकारी। जिन्हके सतसंगति अति प्यारी ॥६॥
गुरुपद-प्रीति नीति रत जेई। द्विज-सेवक अधिकारी तेई ॥७॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई ॥८॥

अर्थ—श्रीराम-कथा के वे ही लोग अधिकारी हैं कि जिनको सत्संगति अत्यन्त प्यारी है ॥६॥ जो गुरु-चरण के अनुरागी हैं और जो नीति में तत्पर रहते हैं एवं जो द्विज-सेवक हैं, वे ही अधिकारी हैं ॥७॥ और, जिसको श्रीरघुनाथजी प्राणों के समान प्रिय हैं, उसको तो यह बहुत ही सुख देनेवाली है ॥८॥

विशेष— (१) सत्संग के प्रेमी, गुरुपद प्रेमी, नीति रत और द्विज-सेवक बहुत होते हैं, अतएव उनके साथ बहुवचन के 'जिन्ह', 'जेहिं', 'तेहिं' के प्रयोग हुए हैं। श्रीरघुनाथजी को प्राण-प्रिय माननेवाला कोई विरला ही होता है; यथा—"कोउ यक पाव भगति जिमि मोरी।" (कि॰ दो॰ १५); "प्रभु प्रसाद कोउ पाव।" (दो॰ ८४ ; इत्यादि, इसी से इसके साथ 'ता कहँ' एकवचन का प्रयोग हुआ है।

(२) सत्संग प्रेमी; यथा—"जो नहाइ चह येहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई ॥" (बा॰ दो॰ ३८)। 'गुरु-पद-प्रीति'; यथा—"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।" (भाग॰ १०।१३।३) अर्थात् स्नेही शिष्य से गुरु लोग गुह्य रहस्य भी कह देते हैं। तथा—"जदपि जोपिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी ॥" (बा॰ दो॰ १०१)।

(३) 'बिसेष'—क्योंकि इसे इष्ट चरित में पूर्ण निष्ठा के कारण और अधिक सुख होगा, इससे श्रद्धापूर्वक सुनेगा।

आगे कथा-श्रवण का फल कहते हैं—

दोहा—राम-चरन रति जो चहै, अथवा पद-निर्बान।
भावसहित सो यह कथा, करउ श्रवन-पुट पान ॥१२८॥

अर्थ—जो श्रीरामजी के चरणों में प्रेम चाहे अथवा निर्वाण पद चाहे, वह इस कथा (रूपी अमृत) को भाव (प्रीति और श्रद्धा) सहित कान रूपी दोनों के द्वारा पान करे ॥१२८॥

विशेष—'राम-चरन रति जो चहै'; यथा—"जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥ होइहहिं राम-चरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी ॥" (बा॰ दो॰ १४); भक्त चार प्रकार के होते हैं, वे सब रामचरण रति के चाहनेवालों में ही हैं, ये भक्ति का कुछ फल नहीं चाहते, केवल प्रभु ही को चाहते हैं, अतएव देहावसान पर प्रभु ही को प्राप्त होते हैं, वहाँ सायुज्य मुक्ति के ही भोक्ता होकर रहते हैं, पर यहाँ उनकी फल पर दृष्टि नहीं रहती; यथा—"अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने ॥" (दो॰ ११८)।

दूसरे प्रकार के अधिकारी वे हैं जो योग आदि साधनों के द्वारा कैवल्य पद चाहते हैं, जिसे ज्ञान-दीपक के प्रसंग में कहा है। वे 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्ति से निर्वाण पद पाते हैं, वे राम-पद-प्रीति रहित हैं, इससे उन्हें वहाँ भगवत्कैंकय का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता।

पुनः और भी राम-पद-प्रीति रहित राक्षस लोगों ने राम-बाण आदि से पापमुक्त होकर निर्वाण पद पाया है।

कथा के सुनने से पाप रहित होकर एवं कैवल्य-साधन-निष्ठ होने पर कैवल्य-पद भी मिल सकता है; यथा—"पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (बा॰ दो॰ ३०)—यह कहा ही है।

इसी तरह गीता में भी कर्म-योग और सांख्य-योग के दो प्रकार के विधान हैं, उन्हें भी ये ही दो प्रकार की मुक्तियाँ मिलती हैं—कर्म-योगी को राम-चरण-रति और सांख्य-योगी को कैवल्य पद।

राम-कथा गिरिजा मैं बरनी। कलि-मल-समनि मनोमल-हरनी ॥१॥
संसृति-रोग सजीवन मूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी ॥२॥
येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना ॥३॥
अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई ॥४॥
मन-कामना-सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा ॥५॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं ॥६॥

शब्दार्थ—सूरी (सं० सूरिन्) = विद्वान्, ज्ञानी, आचार्य। पंथाना = मार्ग।

अर्थ—हे गिरिजे! मैंने कलिमल को नाश करनेवाली और मन के मल को हरनेवाली श्रीराम-कथा का वर्णन किया ॥१॥ श्रीराम कथा भव रोग (नाश करने) के लिये सजीवनी जड़ी है —ऐसा श्रुतियों के विद्वान् लोग कहते हैं ॥२॥ इसमें सात सुंदर सीढ़ियाँ हैं, ये श्रीरघुनाथजी की भक्ति का मार्ग हैं ॥३॥ जिसपर भगवान की अत्यन्त कृपा होती है, वही इस मार्ग पर पैर देता (रखता) है ॥४॥ जो मनुष्य इस कथा को कपट छोड़कर गाते हैं, वे मनोरथ की सिद्धि पाते हैं ॥५॥ जो इसे कहते, सुनते और अनुमोदन करते हैं, वे भवसागर को गौ के खुर के (जल के) समान पार कर जाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'राम-कथा गिरिजा मैं बरनी।'—श्रीशिवजी अपने संवाद की इति लगाते हैं। 'कलिमल समनि ...', यथा—"रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ॥" (दो० १२१), 'सजीवन मूरी'—यह भव-रोग को नाश करके अमर (नित्य) लोक प्राप्त कराती है। दो० १२१ चौ० ७ भी देखिये।

(२) 'येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।', यथा—"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना ॥" (बा० दो० ३६)—देखिये। ये सातों श्रीरामजी की भक्ति को क्रमोन्नति के सात विभाग हैं, प्रत्येक कांड का फलश्रुति से स्पष्ट हो जाता है, अंतिम सीढ़ी 'अविरल हरिभक्ति' की है। वही पूर्णा भक्ति है, यथा—"गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो।" (वि० १०३)। 'कपट तजि'—मान, बड़ाई, लोक दिखाव, एवं और कामनाओं की सिद्धि की वासना रखना कपट है—दो० ११०६ चौ० ४ भी देखिये

(३) 'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं', यथा—"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥" (गीता १०।९)। अर्थात् कहते, सुनते और उसीमें आनंद मानते हैं, मनन करते हैं।

यहीं श्रीशिवजी ने अपना कथन समाप्त किया।

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सोहाई ॥७॥
नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम-चरन उपजेउ नव नेहा ॥८॥

दोहा—मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस ।
उपजी राम-भगति दृढ़, बीते सकल कलेस ॥१२९॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) सब कथा सुनने पर वह श्रीपार्वतीजी के हृदय में बहुत अच्छी लगी, वे सुन्दर वाणी बोलीं ॥७॥ हे नाथ! आपकी कृपा से मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजी के चरणों में नया प्रेम उत्पन्न हुआ ॥८॥ हे विश्वेश (सब जगत् के स्वामी)! आपके प्रसाद से मैं अब कृतार्थ हुई, मुझमें दृढ़ श्रीराम-भक्ति उत्पन्न हुई और मेरे सब दुःख बीत गये (निवृत्त हुए) ॥१२९॥

विशेष—(१) 'सुनि सब कथा ··'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि ··" (बा० दो० १२०) से हुआ था। इतने बीच में शिव-पार्वती का संवाद रहा। इनके संवाद का आवाहन श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने किया था। अतः, वे ही यहाँ से इनके संवाद की इति लगाते हैं।

(२) 'नाथ कृपा गत मम संदेहा।'—उपक्रम में श्रीगिरिजाजी ने बार-बार कृपा करके कथा कहने के लिये कहा था और संदेह-निवृत्ति की प्रार्थना की थी। अतः, यहाँ कृतार्थ होने पर भी उन्होंने कृपा से ही संदेह निवृत्ति कही। पुनः उपक्रम में "बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी।" (बा० दो० १०९); कहा था, वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी 'तव प्रसाद बिस्वेस' कहा है।

(३) 'उपजेउ नव नेहा'—यहाँ अंत में कहने का तात्पर्य यह कि अभी जो रामरहस्य और ज्ञान-भक्ति के भेद सुन चुके हैं, उनकी फल-श्रुति में भुशुण्डिजी ने कहा है; यथा—"जो सुनि होइ राम पद, प्रीति सदा अविछीन ॥" (दो० ११६)। वही अविच्छिन्न प्रेम हुआ, उसे ही 'नूतन रति' कहा है। श्रीगरुड़जी का वैकुण्ठ जाना कहा गया है; यथा—"गयउ गरुड़ बैकुण्ठ तब" पर यहाँ श्रीपार्वतीजी का कहीं जाना नहीं कहा गया, क्योंकि इनका संवाद कैलास पर हुआ है, वहाँ ये सदा रहते ही हैं; यथा—"परम रम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू ॥" (बा० दो० १०४)।

श्रीगरुड़जी और श्रीपार्वतीजी के संदेह समान थे, इससे इनके अंतिम वाक्य भी समान ही हैं दोनों के मिलान से पूर्वोक्त भाव ही यहाँ पार्वती-प्रसंग में भी लग जायँगे—

श्रीपार्वतीजी—	श्रीगरुड़जी—दो० १२५
१ गिरिजा बोली गिरा सोहाई।	बोलेउ प्रेम सहित गिरा गरुड़ ··
२ मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद···	मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी
३ राम-चरन उपजेउ नव नेहा	राम-चरन नूतन रति भई
४ बीते सकल कलेस	माया-जनित बिपति सब गई
५ नाथ कृपा मम गत संदेहा	तव प्रसाद सब संसय गयऊ

यहाँ तक शिव-पार्वती संवाद की इति लग गई, अब उसकी फल-श्रुति कहते हुए चार अर्द्धालियों में श्रीयाज्ञवल्क्यजी अपने संवाद की भी इति लगाते हैं—

यह सुभ संभु-उमा-संवादा। सुख संपादन समन बिषादा ॥१॥
भव-भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन-प्रिय येहा ॥२॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीभरद्वाजजी से कहते हैं कि) यह कल्याण-कारक शंभु-उमा-संवाद, सुख प्राप्त करानेवाला और दुखों का नाशक है ॥१॥ यह भव का नाशक, सन्देहों का नाशक, प्राणिमात्र एवं भक्तों को आनन्द देनेवाला और सज्जनों को प्रिय है ॥२॥

विशेष—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने उपक्रम में कहा था—"कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा-संभु-संवाद ॥" (बा॰ दो॰ ४७); वैसे यहाँ उपसंहार में भी कहते हैं—'यह सुभ संभु उमा सवादा।' उपक्रम में साथ ही फल भी कहा था; यथा "सुनु मुनि मिटिहि बिषाद" (बा॰ दो॰ ४७); वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी कहा है; यथा—"सुख सपादन समन बिपादा।' 'भव भंजन गंजन संदेहा'; यथा—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥" (बा॰ दो॰ ३०); 'जन-रंजन', यथा—"बुध बिश्राम सकल जन रंजनि" (बा॰ दो॰ ३०)। 'सज्जन प्रिय येहा।', यथा—"सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेपि बड़ लाहु।" (बा॰ दो॰ ३२); इत्यादि कथा-प्रारम्भ के समय की सब प्रतिज्ञायें पूरी हुईं—यह सूचित किया गया है।

राम-उपासक जे जग माहीं। येहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं ॥३॥
रघुपति-कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सोहावा ॥४॥

अर्थ—संसार में जो रामोपासक हैं, उनको इसके समान प्रिय कुछ नहीं है ॥३॥ श्रीरघुनाथजी की कृपा से मैंने यह सुहावन पवित्र चरित अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया ॥४॥

विशेष—(१) 'राम-उपासक जे जग माहीं।···'—उपासना परात्पर, अशेषकारणपर, सर्वनियंता एवं सर्वलोकशरण्य तथा कृपा, सौशील्य आदि सौलभ्य गुण से विशिष्ट ईश्वर की की जाती है। ये सब बातें इस ग्रन्थ में श्रीरामजी में ही दिखाई गई हैं। ऐसा ही ग्रन्थ श्रीराम उपासकों का इष्ट होना चाहिये; यथा—"जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥" (दो॰ ६०), यह वचन श्रीशिवजी ने श्रीगरुड़जी से कहा है, तदनुसार ही इन्होंने काकजी से जाकर सुना भी है। गरुड़-भुशुण्डिजी का संवाद उपासना घाट का ही है।

(२) 'रघुपति-कृपा···'—श्रीरामजी ने कृपा कर जैसी मति दी तदनुसार कुछ गाया—यह कथन की शिष्ट परम्परा है। यह कहते हुए श्रीयाज्ञवल्क्यजी अपने प्रसंग की इति लगाते हैं। उपक्रम में इन्होंने कहा था—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥" (बा॰ दो॰ ४६); वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी कहते हैं—'गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा।' 'पावन' आदि के भाव पूर्व बहुत स्थलों पर लिखे जा चुके हैं। इसी अर्द्धाली पर इनका कथन समाप्त हुआ।

इस ग्रंथ की आदि में ही—'वंदेऽहं तमशेपकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।' कहकर श्रीरामजी को अशेषकारणपर कहा है, साथ ही 'यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्' से श्रीरामजी को ही मुमुक्षुओं के उपास्य भी कहा है। फिर मध्य में सती मोह, मनु-प्रसंग, जनक समागम, परशुराम पराजय एवं वाल्मीकि, अत्रि, अगस्त्य आदि के समागम से श्रीरामजी का ही परत्व प्रतिपादन किया गया है, विभीषण-शरणागति से सर्वलोक-शरण्यत्व दिखाया गया है। पुन. वेद एवं ब्रह्मा आदि की स्तुति से भी सर्वत्र श्रीरामजी का ही परात्परत्व दिखाया गया है। श्रीभुशुण्डिजी ने भी बहुत परत्व एव सौलभ्य का भी वर्णन किया है। ये सब मध्य के परत्व प्रसग है। पुनः अंत के छंद में क्रमशः श्रीरामजी के नाम, चरित

और रूप का सर्वोपरि परत्व कहते हुए यहाँ सिद्धान्त कहते हैं—'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।' इत्यादि उपास्य के सर्वाङ्ग वर्णन होने से यह ग्रन्थ उपासकों को अति प्रिय है।

पुनः श्रीरामचरित का उपक्रम "राम नाम कर अमित प्रभावा।" (बा० दो० ४५) से हुआ है। "प्रिय लागहु मोहि राम" पर उपसंहार हुआ है। मध्य का किष्किंधा कांड है। उसके उपक्रम के दो श्लोकों में पहला रूप के ध्यान का है। दूसरा नाम परत्व-प्रकाशन में अद्वितीय है, तिलक देखिये। उस काड के अंत में भी "जासु नाम अघ खग बधिक" कहकर राम नाम परत्व ही कहा गया है।

ग्रंथकार अंत में भी प्रतिज्ञा करते हैं—"मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं" अर्थात् नाम परत्व प्रकाशक चरित को जानकर मैंने इसकी रचना की।

श्रीराम-नाम के अर्थ में श्रीरामजी का पूर्ण परत्व है। नाम-वंदना प्रसंग एवं विशेषकर उसका 'बिधि-हरि-हर-मय' का अर्थ देखिये।

ऐकान्तिक उपासना की रीति पतिव्रता की-सी होती है; यथा—"खड्गधाराव्रती प्रथम रेखा प्रगट शुद्धमति युवति पति प्रेम पागी॥" (वि० ११); यह श्रीभरतजी की अनन्य भक्ति के विषय में कहा गया है कि तलवार की धारा पर चलने के व्रत की तरह जो पातिव्रत्य धर्म है, उस तरह के अनन्य व्रत मे आपकी सबसे प्रथम गणना है। पतिव्रता पति में प्रेम करती है, पति के भाव के अनुकूल उसके सम्बन्धियों को भी सामान्य रीति से मानती है। वैसे ही उपासक लोग गुरु द्वारा प्राप्त परात्पर रूप की उपासना करते हैं और भगवान के अन्य रूपों को उन्हीं के अंश, कला, विभूति मानते हैं। जैसे चातक स्वाति बुंद में ही निष्ठा रखता है, वैसे ही ये इष्ट रूप में निष्ठा रखते हैं: यथा—"लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जल धर अभिलाखे॥ निदरहिं सरित सिंधु सर बारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥ तिन्हके हृदय सदन सुख दायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥" (अ० दो० १२७) देखिये।

ऐसे उपासकों के लिये इसके समान सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ दूसरा नहीं है।

आगे श्रीगोस्वामीजी अपने कथा-प्रसंग की इति लगाते हैं—

येहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥५॥
रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम-गुन-ग्रामहि॥६॥

अर्थ—इस कलिकाल में योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजन आदि दूसरा कोई साधन नहीं है॥५॥ श्रीरामजी का ही स्मरण कीजिये, श्रीरामजी का ही यश गान कीजिये और श्रीरामजी के ही गुण-समूह को सदा सुनिये॥६॥

विशेष—(१) 'येहि कलिकाल...'—जोग यज्ञ आदि शुभ कार्य हैं, इनके लिये शुभ समय चाहिये, कलि अशुभ-प्रधान है। पुनः ये साधन अल्पायु, अल्पबुद्धि, अल्प धन, रोगी आदि से साध्य नहीं हैं। योग, पूजा और जप में मन की एकाग्रता चाहिये। तप और व्रत में शरीर नीरोग चाहिये। इससे कलिकाल में ये साध्य नहीं हैं; यथा—"कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना।" (दो० १०२) देखिये। 'न दूजा'—न होनेवाले दूसरों को इसमें गिना दिया। जो हो सकता है उसे आगे कहते हैं—

(२) 'रामहि सुमिरिय...'—भाव यह कि एकान्त अवसर और चित्त एकाग्र हो तो स्मरण

कीजिये। अधिकारी श्रोता मिलें तो गाइये और अच्छे वक्ता मिलें तो सुनिये। सतत उन्हीं में चित्तवृत्ति रखिये—यह भाव है। अथवा, सुनने, गाने एवं स्मरण करने में, जिसमें अधिक प्रवृत्ति हो वह कीजिये पर सदा लगे रहिये। ऐसा क्यों करें? इसपर आगे कहते हैं—

जासु पतित-पावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना ॥७॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई ॥८॥

अर्थ—'जिसका पतितों को पवित्र करना बड़ा बाना है'—यह कवि श्रुति, संत और पुराण गाते हैं ॥७॥ हे मन! कुटिलता छोड़कर उसका भजन कर, श्रीरामजी का भजन करके किसने सद्गति नहीं पाई? अर्थात् सभीने पाई है ॥८॥

विशेष—(१) 'जासु पतित पावन बड़ बाना।'—बाने तो अनेक हैं, जैसे—दीन दयाल यथा—"दीन दयाल बिरद संभारी। " (सु० दो० २६) एवं "असरन सरन दीन जन गाहक।" (दो० ५०), इत्यादि, पर यह पतित पावन बड़ा बाना है, यथा—'मैं प्रभु पतित पावन सुने।" (वि० १६०) देखिये।

(२) 'ताहि भजहि मन '—श्रीगोस्वामीजी का मन से सवाद है, आपने अपने मन की ओट से सुजनों के प्रति भी कहा है, यथा—"मोरे मन प्रबोध जेहि होई।" (बा० दो० ३०), "स्वान्त सुखाय तुलसी " (बा० मं० श्लोक ७), इत्यादि। इससे मन को उपदेश करते हुए कथा का उपसंहार भी करते हैं। 'तजि कुटिलाई'—भजन करने में मन की कुटिलता बाधक है, इसीलिये इसके त्याग की शिक्षा दी गई है, यथा—"सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥" (दो० ४५)। दूसरों की आशा, भय, कुतर्क आदि मन की कुटिलाइयाँ हैं।

छं०—पाई न केहि गति पतित-पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ-रूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते ॥१॥

अर्थ—*अरे शठ मन! पतित पावन श्रीरामजी का भजन करके किसने गति नहीं पाई? अर्थात् सभी* ने पाई है। गणिका (पिङ्गला), अजामिल, व्याध (वाल्मीकिजी), गृध्र (जटायुजी) और गजेन्द्र आदि बहुत समूह खलों को उन्होंने तार दिया। आभीर (जो समुद्र को दु:ख दिया करते थे), यवन जिसने हराम कहा है), किरात (चित्रकूट के भील आदि), खश (खश देशवासी, पहाड़ी, नेपाल-गढ़वाल देशों में यह एक जाति है), स्वपच (वाल्मीकि नामक जो राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में वरण किये गये थे), इत्यादि जो अत्यन्त पाप की मूर्त्तियाँ ही हैं। वे भी एक बार जिनका नाम लेकर पवित्र हो जाते हैं, उन श्रीरामजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) गणिका आदि की कथाएँ बा० दो० २४ चौ० ७, अ० दो० १७४, सु० दो० ४९

चौ० ५ एवं बा० दो० १८ चौ० ५ में आ गई हैं। 'कहि नाम बारक'; यथा—"बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० दो० २१६)।

शास्त्रों में नाम का महत्व ऐसा ही है; यथा—"अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" (गीता ८।५); "जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०); इत्यादि पहले बहुत लिखा जा चुका है।

यदि कहा जाय कि प्रायः जापकों में वैसी सफलता नहीं देखी जाती, तो उत्तर यह है कि उनमें श्रद्धा और विश्वास की कमी है, कहा ही है—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥···कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (दो० ८९); श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नाम-जप से श्रीगोस्वामीजी ऐसे हुए हैं, इन्होंने तो कई बार शपथ खाकर कहा है कि मैं श्रीराम नाम ही से कृतार्थ हुआ हूँ। और भी श्रीनामदेवजी, श्रीकबीरजी एवं श्रीस्वामी युगलानन्य शरणजी अयोध्याजी आदि प्रसिद्ध महात्मा अभी थोड़े दिन पहले के हैं। सब नाम-आराधन ही से उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं।

दूसरा कारण यह भी है कि नाम जपते हुए लोग प्रायः नामापराध भी किया करते हैं, उनका बचाना बहुत आवश्यक है। वे दस नामापराध पद्मपुराण में प्रसिद्ध हैं, महात्माओं में तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

'पतित-पावन बड़ बाना' कहकर उसकी सिद्धि श्रीराम-नाम के द्वारा ही यहाँ उदाहरण-रूप में कही गई, कहा भी है—"पतितपावन राम नाम सों न दूसरो।" (वि० ६६); मन के प्रति ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि इसे विश्वास नहीं होता, इसी से 'सठ मना' कहा है। जिसके हृदय में शिक्षा का ठौर न हो, वह शठ है। ऐसे शठ के लिये पतितों की गति पाने के उदाहरण देते हैं। मन यदि कहे कि मुझे बहुत काल से दसो इन्द्रियों के द्वारा मलिनता छा गई है, वह कैसे शुद्ध होगी? उसपर गणिका आदि की गति दिखाते हैं। जैसे गणिका का पृथिवी के गुंडों से संग था, वह तोते को नाम रटाने के संयोग से तर गई, वैसे जीव की बुद्धिविषयों के पीछे इंद्रिय देवों के साथ व्यभिचारिणी वेश्या हो गई। हृदय में एकाग्रता नहीं आती, तब मंत्रार्थ एवं रूप पर वृत्ति रक्खे विना नाम जप करना, तोते को रटाने के समान है, जीभ ही तोता है; यथा—"कीर ज्यों नाम रटै तुलसी ··' (क० उ० ६०); जैसे तोते को पढ़ाती हुई वेश्या की और उस तोते की साथ ही मृत्यु हुई, दोनों तर गये वैसे ही पूरी आयु तक नाम-रटन करते हुए इस तरह जप से भी मुक्ति हो जायगी इसमें संदेह नहीं। वेश्यागामी अजामिल लिंगेन्द्रिय का प्रमादी था। व्याध वाल्मीकिजी पूर्वावस्था में हजारों ब्राह्मणों की हिंसा करनेवाले थे। अतः, हस्तेन्द्रिय के प्रमादी थे। गृध्र जटायुजी पैर के प्रमादी थे, पक्षियों में पक्ष ही पैर हैं, उन्हीं से उड़कर उन्होंने सूर्य का अपमान करना चाहा था। गजेन्द्र मुख के प्रमादी थे, हाथी की सूँड़ ही उसका मुख है, वह उसी से वृक्षादि उखाड़ने का प्रमाद करता है। इस एक श्रेणी में कर्मेन्द्रिय के प्रमादी कहे गये।

म्लेच्छ यवन स्पर्श योग्य नहीं था, त्वचा का प्रमादी था। किरात नेत्रों से देखकर लोगों के धन-वस्त्र आदि चुराते थे और हिंसा भी करते थे। अतः, नेत्र के प्रमादी थे। खस जाति के लोगों में प्रसिद्ध भक्त नहीं पाया जाता। अतः, क्रमानुसार इसे रसना का प्रमादी जानना चाहिये। ऐसे ही आभीरों को श्रवण का प्रमादी जानना चाहिये। श्वपच जाति नासिका के मलिन होते हैं, श्वान-गीदड़ आदि को भी खाकर पचा जाते हैं, उसकी दुर्गन्ध से उन्हें वमन नहीं होता, इत्यादि इस श्रेणी में ज्ञानेन्द्रिय के प्रमादियों को कहा है।

अब मन को दिखाते हैं कि देखा? क्या तेरे प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा इन दसो से अधिक पाप हुए हैं? जब ये सब जैसे-तैसे नाम लेने से तर गये, तब तू क्यों नहीं तरेगा? अतएव श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक नाम

जप, अवश्य कल्याण होगा। कहा भी है—"विवसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥ सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव-वारिधि गोपद इव तरहीं॥" (बा० दो० ११८)।

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥" अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥" (६।२।१४- ८); अर्थात् पुत्र आदि के नाम-संकेत से, परिहास में, स्तोभ या तिरस्कार-पूर्वक भी भगवान् का नाम लेने से सम्पूर्ण पाप नाश होते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञान-पूर्वक लिया हुआ पुण्यश्लोक भगवान् का नामकीर्तन मनुष्य के पापों को उसी प्रकार जला देता है जैसे किसी प्रकार भी डाला हुआ ईंधन अग्नि में भस्म हो ही जाता है। "अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥" (३।३३।७); अर्थात् अहो, जिसकी जिह्वा पर आपका पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो आपके नाम का कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ स्नान, वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिया। "पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशोऽब्रुवम्। हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥" (१२।१२।४६); अर्थात् कोई भी गिरते, पड़ते, छींकते और दुःख से आर्त होते समय विवश होकर यदि ऊँचे स्वर से 'हरये नमः' पुकारता है तो वह सब पापों से छूट जाता है।

ग्रंथकार ने इस छंद में अपने दैन्य (प्रपत्ति) घाट के अन्तर्गत कर्मकांड के फल की प्राप्ति दिखाई है। पतितों का पावन होना शुभ-कर्म का फल है। तीनों घाटों के वक्ताओं का आवाहन इन्होंने ही किया है, अतएव यहाँ कर्म-घाटवाले याज्ञवल्क्यजी का मत प्रपत्ति के अन्तर्गत दिखाया। आगे छन्द में अविद्या निवृत्ति से ज्ञान का फल और फिर तीसरे छन्द 'सुंदर सुजान…' में स्वरूप का वर्णन एवं महत्व होने से उपासना का सर्वस्व प्राप्त होना दिखायेंगे, क्योंकि शरणागति में काण्डत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) की व्यवस्था अनायास स्वयं हो जाती है; यथा—"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥" (भाग० ११।२।४२-४३), अर्थात् जैसे भोजन करते हुए प्रत्येक ग्रास पर क्रमशः तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति साथ ही होती जाती हैं, वैसे ही शरणागति करते हुए भक्ति, परेशानुभव (ज्ञान) और विधिवत्कर्मानुष्ठान का फल वैराग्य स्वतः होता जाता है।

रघुवंस-भूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम-धाम सिधावहीं।
सतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे।
दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य रघुवंश-भूषण का यह चरित कहते हैं, सुनते हैं या गाते हैं, वे कलिमल और मन के मल को धोकर बिना परिश्रम ही श्रीराम-धाम को (अर्चिरादि मार्ग से) जाते हैं॥ जो मनुष्य सत्संग की चौपाई को मनोहर जानकर हृदय में धारण करते हैं, किया है एवं करेंगे। उनके दारुण—पंचपर्वा-अविद्या-जनित विकारों का रघुवर श्रीरामजी हरण करते हैं, किया है एवं करेंगे॥

विशेष—इस छंद में श्रीशिवजी के ज्ञानघाट का तात्पर्य आना दिखाते हैं, पहले चरित के द्वारा हृदय की शुद्धि कहते हैं, साथ ही श्रीराम धाम की प्राप्ति भी अभी ही छंद के पूर्वार्द्ध में कह देते हैं, हृदय-शुद्धि के पीछे अविद्या निवृत्ति होने पर परधाम की प्राप्ति होती है ; यथा—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥" (ईशा॰) ; अर्थात् अविद्या वाच्य कर्म से पाप शुद्ध कर विद्यावाच्य ज्ञानोपासना से मुक्ति होती है। अविद्या-निवृत्ति आगे उत्तरार्द्ध मे कहेंगे, यही ज्ञानोपासना का कार्य है। फिर वहाँ धाम प्राप्ति न कहकर इसी पूर्वार्द्ध के 'राम-धाम सिधावही' से तात्पर्य जनावेंगे। कलिमल और मनोमल छूटना निष्काम शुभकर्म का फल है, वह चरित से कहा गया, क्योंकि—"धर्ममार्गं चरित्रेण" (राम॰ ता॰ उ॰) ; पूर्व भी कहा है—"राम-कथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल-समनि मनोमल हरनी ॥" (दो॰ १२८)।

पुन: सम्पूर्ण चरित के पठन-पाठन से जब कोई इस ग्रंथ का तात्पर्य समझकर उसे हृदय मे धारण करेगा, तब उसका अविद्या-जनित विकार सदा के लिये नहीं रह जायगा, यही आगे 'सतपंच चौपाई···' से कहते हैं—

'सतपंच चौपाई मनोहर'

इस 'सतपंच चौपाई' के अर्थ लोगों ने बहुत प्रकार से किये हैं, कोई सात-पाँच से अल्पार्थ लेते हैं, पर उस अर्थ में 'जानि' व्यर्थ हो जाता है और यदि अमुक अमुक हैं—ऐसा कहा जाय, तो शेष चौपाइयों का अपमान होता है। तथा १२, ३५, ५७, १०५, ५०० के चुनने से भी शेष का अनादर होता है। अत:, वैसा अर्थ करना अयोग्य है, क्योंकि—"कहेउँ राम बन गवन सुहावा ॥" ; "रावनारि जस पावन" आदि सब प्रसंगों की चौपाइयाँ मनोहर हैं। और जो ५१०० ग्रंथ संख्या का अर्थ लेते हैं, वह संख्या भी गणना में ठीक नहीं होती, क्योंकि १६,१६ मात्राओं के चार चरणों की चौपाइयाँ होती हैं, इस रीति से गणना करने पर कम ही होती हैं। अत:, जो अर्थ प्रसंग के अनुकूल हो और उसमे शब्दार्थ भी ठीक-ठीक घटित हो, वही करना चाहिये।

ऊपर 'रघुबंस-भूषन चरित यह···'—इस छंद के पूर्वार्द्ध मे सम्पूर्ण चरित का फल समष्टि मे कह दिया गया। यहाँ इस 'सतपंच चौपाई' से ग्रंथ के आवान्तर की एक खास बात कहते हैं ; वह है—ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य—जिसके जानने की बड़ी आवश्यकता है, इसी से 'जानि' कहा गया है।

ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय करने में मीमांसक आचार्य अत्यन्त निपुण होते हैं। इस विषय में उनका प्राचीन एवं सर्वमान्य श्लोक है; यथा—"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' अर्थात् उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, ये छ: तात्पर्य-निर्णय के साधन हैं।

उपक्रम-उपसंहार

उपक्रम—ग्रंथकर्त्ता जिस उद्देश्य से ग्रंथ लिखता है, उसे आरंभ करते हुए प्रकट करता है और उस उद्देश्य की पूर्त्ति पर ग्रंथ को समाप्त करता है, जैसे गीता में भगवान् ने अर्जुन का शोच निवारण करने के लिये—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्···" (गीता २।११); से उपदेश का उपक्रम किया और उस शोच की निवृत्ति प्रकट करते हुए उसका उपसंहार किया है ; यथा—"अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच: ।" (१८।६६) ; अर्थात् अर्जुन के शोच को लेकर ग्रन्थारम्भ हुआ और उसी की निवृत्ति पर समाप्त हुआ।

इसी तरह इस श्रीरामचरितमानस का प्रारम्भ (उपक्रम)—"जनक-सुता-जग जननि जानकी।···" (बा॰ दो॰ १७) से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहीं से है। अतः, उपक्रम की चौपाई इससे पूर्व रक्खी गई है; यथा—"सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिज्ञान बिसारद॥ प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥" इसके पूर्व वंदना ही है।

यह चौपाई वन्दना-क्रम से भिन्न रक्खी गई है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजी की वंदना हो गई, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वंदना के पीछे—"बंदउँ प्रथम भरत के चरना।" से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्री-विभीषणजी और श्रीअंगदादि तक नित्य पार्षदों की वंदना हुई। साथ ही—"रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पद सरोज तिन्ह केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥" से जो मुक्त होकर दिव्य रूप से 'बिनु काम' अर्थात् निष्काम भाव से नित्य पार्षदों के साथ कैंकर्यनिष्ठ हैं उनकी भी वंदना की, नहीं तो खग-मृग आदि के प्राकृत रूपों में 'पद सरोज' पद असंगत है। यहीं पर वंदना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजी की वंदना की आवश्यकता हो सकती थी, पर बीच में "सुक सनकादि···" का वरण किया गया है। इसमें 'भगत' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे सुक-सनकादि भक्तो और हे भक्त नारद मुनि एवं और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञान में विशारद (निपुण) हैं, मैं आप सबसे पृथिवी शिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो; अर्थात् इस अपने जन के यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थ में बिराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्ति-परक है। अतः, प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी, तब पंचायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष (मुमुक्षु जीव पक्ष) के दो सत्पंच, शुक-सनकादि का वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षी के मेली नहीं हैं। जैसे कि श्रीशुकदेवजी जन्म ही से घर से निकल चले, मायिक सृष्टि के जात-कर्म आदि संस्कारों को भी ग्रहण नहीं किया। सनकादि भी शिशु-अवस्था में ही नित्य-स्थिति माँगकर रहते हैं कि जिससे मायिक विकारों के मूल एवं प्रवृत्ति-जनक काम का संसर्ग ही न हो, काम; यथा—"प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।" (गीता १०।२८); इस काम की प्रवृत्ति शरीर में पाँच वर्ष की (शिशु) अवस्था के पीछे होती है। तब भी ये लोग भजन-द्वारा सावधान रहते हैं; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि॰ ८६); और तीसरे सत्पंच श्रीनारदजी हैं, इन्हें मध्यस्थ (सर-पंच) रूप में वरण किया है, क्योंकि इन्हें 'मुनि' विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभय पक्ष के मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्ष के ज्ञाता भी हैं; यथा—"अस कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान। हरि माया बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान॥" (उ॰ दो॰ ५१) तथा व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्ष के पंचों और सरपंच को भी 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्ति-परक ही विषय लिखूँगा। पुनः विज्ञान-विशारद मुनियों को सदस्य रूप में बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञान युक्त ही हो। अतः, आप लोग विज्ञान परक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनों से भक्ति-परक सहायता चाहते हैं कि जिससे पंचायत में मेरी हार नहीं हो। इस तरह उपक्रम में मुख्य तात्पर्य भक्तिमत की सिद्धि का है, इतना प्रबंध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—उत्तरकांड दो॰ १२१ की चौ॰—"बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम-भगति उर छाई॥" पर श्रीगरुड़जी के सातों प्रश्नों के उत्तर पूरे हो गये। अन्त में भक्ति का ही सिद्धान्त किया

गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहीं पर पंचायत ठन पड़ी; यथा—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक येहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥" यही सत्पचों की चौपाई है। इसमें सोलह-सोलह मात्राओं के चारो चरण हैं, यही उपसंहार की चौपाई है। उपक्रम की चौपाई की पहली अर्द्धाली 'सुक सनकादि···' मे जो-जो शब्द थे, प्राय: वेही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम 'सिव अज' ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानस के प्रत्येक प्रसंग में उपक्रम-उपसंहार के शब्दों का मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पंचों के नाम आये हैं, इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं। दो (शिव-अज) के नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये माया की ओर से प्रवृत्ति पक्ष के सत्पंच हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसी की ओर से चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं और जीवों के कर्मानुसार सृष्टि के विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकार के देवता हैं और कालानुसार संहार-कर्त्ता हैं। दिन-रात एवं प्रलय-रूप काल के नियंता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्र-रूप हैं। बुद्धि की कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसी से सृष्टि का विस्तार होता है। काल से गुणवैषम्य होता है; यथा—"कालाद्‌गुणव्यतिकर:" (भाग० ३।५।२२); और प्रारब्ध कर्म से स्वभाव निष्पन्न होता है। अत:, काल, कर्म, गुण, स्वभाव के नियंता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारो प्रवृत्ति के अङ्ग हैं; यथा—"फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो० ४३); और प्रवृत्ति के विकार-रूप हिरण्यकशिपु और रावण आदि के वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत्-पक्ष के भी पूर्ण ज्ञाता है। अत:, ये ही दो उस पक्ष के सत्-पंच हैं।

माया के प्रवृत्ति पक्ष में पिता-वर्ग हैं और निवृत्ति परक जीव के पक्ष मे पुत्र-वर्ग हैं। जैसे कि सनकादि के पिता श्रीब्रह्माजी हैं और शुकदेवजी के पिता श्रीव्यासजी हैं और साथ ही ये श्रीशिवजी के अंश भी हैं; यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्त: पूजितोऽहं मुनीश्वरै:॥" (शुकदेव-संहिता); "व्यासपुत्र: शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वर:॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण अ० १०), इनकी कथा इस प्रकार है कि एक समय श्रीशिवजी श्रीपार्वतीजी को अमरकथा श्रीराम-नाम का अर्थ परत्व सुनाते थे। यद्यपि श्रीशिवजी ने करताली बजाकर पक्षियों को उड़ा दिया था, पर संयोग से एक अंडा जो कि बयंडा (सूखा हुआ अंडा) हो गया था, कहीं समीप ही था। वह सुनते ही सचेत हो गया। कथा सुनते हुए किसी समय श्रीपार्वतीजी को निद्रा आ गई, तो वही तोता हूँ-हूँ करने लगा। यह जानते ही छल से तत्त्व लेना जानकर श्रीशिवजी ने उसपर त्रिशूल छोड़ा। वह उड़ता हुआ व्यास पत्नी के मुख मे प्रवेश कर गया। वही तोता शुकदेव रूप में प्रकट हुआ। वे ही श्रीशुकदेवजी जन्म ही से परम विरक्त हुए। कर्म-वश जीवों का जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म माया के पक्ष में है। अत:, उधर पिता पक्ष है। दिगंबर और ज्ञानी श्रीशिवजी के प्रति वैसे ही दिगंबर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजी के चारों मुखों के प्रति उनके चारों पुत्र (सनक, सनातन, सनंदन और सनत्कुमार) हैं। श्रीनारदजी ध्यान दिये हुए विचारते जाते हैं और सदस्य रूप विज्ञान-विशारद मुनि लोग भी सुन रहे हैं।

प्रवृत्ति पक्ष—माया का व्यापार श्रीरामजी का खेल है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनि हारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥" (अ० दो० १२६); "जो माया सब जगहि नचावा।···सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥ सो दासी रघुबीर कै" (दो० ७१), एवं—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥" (गीता ७।१४); और यह अनादि काल से है; यथा—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१)। अत:, यह भी किसी भाँति संतुष्ट रक्खी जाय।

निवृत्ति पक्ष—सच्चिदानन्द स्वरूप जीव ईश्वर का अंश है और यह अविनाशी है; यथा—"ईश्वर अंस

इसी तरह इस श्रीरामचरितमानस का प्रारम्भ (उपक्रम)—"जनक-सुता-जग जननि जानकी।···" (बा॰ दो॰ १७) से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहीं से है। अतः, उपक्रम की चौपाई इससे पूर्व रक्खी गई है; यथा—"सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर विज्ञान विसारद॥ प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥" इसके पूर्व वंदना ही है।

यह चौपाई वन्दना-क्रम से भिन्न रक्खी गई है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजी की वंदना हो गई, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वंदना के पीछे—"बंदउँ प्रथम भरत के चरना।" से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदादि तक नित्य पार्षदों की वंदना हुई। साथ ही—"रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पद सरोज तिन्ह केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥" से जो मुक्त होकर दिव्य रूप से 'बिनु काम' अर्थात् निष्काम भाव से नित्य पार्षदों के साथ कैंकर्यनिष्ठ हैं उनकी भी वंदना की, नहीं तो खग-मृग आदि के प्राकृत रूपों में 'पद सरोज' पद असंगत है। यहीं पर वंदना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजी की वंदना की आवश्यकता हो सकती थी, पर बीच में "सुक सनकादि···" का वरण किया गया है। इसमें 'भगत' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे सुक-सनकादि भक्तों और हे भक्त नारद मुनि एवं और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञान में विशारद (निपुण) हैं, मैं आप सबसे पृथिवी शिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो; अर्थात् इस अपने जन के यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थ में विराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्ति-परक है। अत', प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी, तब पंचायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष (मुमुक्षु जीव पक्ष) के दो सत्पंच, शुक-सनकादि का वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षी के मेली नहीं हैं। जैसे कि श्रीशुकदेवजी जन्म ही से घर से निकल चले, मायिक सृष्टि के जात-कर्म आदि संस्कारों को भी ग्रहण नहीं किया। सनकादि भी शिशु-अवस्था में ही नित्य-स्थिति माँगकर रहते हैं कि जिससे मायिक विकारों के मूल एवं प्रवृत्ति-जनक काम का संसर्ग ही न हो, काम; यथा—"प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।" (गीता १०।२८); इस काम की प्रवृत्ति शरीर में पाँच वर्ष की (शिशु) अवस्था के पीछे होती है। तब भी ये लोग भजन-द्वारा सावधान रहते हैं; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि॰ ८६), और तीसरे सत्पंच श्रीनारदजी हैं, इन्हें मध्यस्थ (सरपंच) रूप में वरण किया है, क्योंकि इन्हें 'मुनि' विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभय पक्ष के मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्ष के ज्ञाता भी हैं; यथा—"अस कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान। हरि माया बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान॥" (अ॰ दो॰ ५१) तथा व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्ष के पंचों और सरपंच को भी 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्ति-परक ही विषय लिखूँगा। पुन॰ विज्ञान-विशारद मुनियों को सदस्य रूप में बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञान युक्त ही हो। अतः, आप लोग विज्ञान परक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनों से भक्ति-परक सहायता चाहते हैं कि जिससे पचायत में मेरी हार नहीं हो। इस तरह उपक्रम में मुख्य तात्पर्य भक्तिमत की सिद्धि का है, इतना प्रबंध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—उत्तरकांड दो० १२१ की चौ०—"बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम-भगति उर छाई॥" पर श्रीगरुडजी के सातो प्रश्नों के उत्तर पूरे हो गये। अन्त में भक्ति का ही सिद्धान्त किया

गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहीं पर पंचायत ठन पड़ी; यथा—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥" यही सतपचों की चौपाई है। इसमें सोलह-सोलह मात्राओं के चारो चरण हैं, यही उपसंहार की चौपाई है। उपक्रम की चौपाई की पहली अर्द्धाली 'सुक सनकादि···' में जो-जो शब्द थे, प्रायः वेही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम 'सिव अज' ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानस के प्रत्येक प्रसंग में उपक्रम-उपसंहार के शब्दों का मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पंचों के नाम आये हैं, इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं। दो (शिव-अज) के नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये माया की ओर से प्रवृत्ति पक्ष के सत्पंच हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसी की ओर से चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं और जीवों के कर्मानुसार सृष्टि के विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकार के देवता हैं और कालानुसार संहार-कर्त्ता हैं। दिन-रात एवं प्रलय-रूप काल के नियंता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्र-रूप हैं। बुद्धि की कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसी से सृष्टि का विस्तार होता है। काल से गुणवैषम्य होता है; यथा—"कालाद्गुणव्यतिकरः" (भाग० २।५।२२); और प्रारब्ध कर्म से स्वभाव निष्पन्न होता है। अतः, काल, कर्म, गुण, स्वभाव के नियंता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारो प्रवृत्ति के अङ्ग हैं; यथा—"फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो० ४३); और प्रवृत्ति के विकार-रूप हिरण्यकशिपु और रावण आदि के वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत्-पक्ष के भी पूर्ण ज्ञाता हैं। अतः, ये ही दो उस पक्ष के सत्-पंच हैं।

माया के प्रवृत्ति पक्ष में पिता-वर्ग हैं और निवृत्ति परक जीव के पक्ष मे पुत्र-वर्ग हैं। जैसे कि सनकादि के पिता श्रीब्रह्माजी हैं और शुकदेवजी के पिता श्रीव्यासजी हैं और साथ ही ये श्रीशिवजी के अंश भी हैं; यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥" (शुकदेव-संहिता); "व्यासपुत्रः शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वरः॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण अ० १०), इनकी कथा इस प्रकार है कि एक समय श्रीशिवजी श्रीपार्वतीजी को अमरकथा श्रीराम-नाम का अर्थ परत्व सुनाते थे। यद्यपि श्रीशिवजी ने करताली बजाकर पक्षियों को उड़ा दिया था, पर संयोग से एक अंडा जो कि बयंडा (सूखा हुआ अंडा) हो गया था, कहीं समीप ही था। वह सुनते ही सचेत हो गया। कथा सुनते हुए किसी समय श्रीपार्वतीजी को निद्रा आ गई, तो वही तोता हूँ-हूँ करने लगा। यह जानते ही छल से तत्त्व लेना जानकर श्रीशिवजी ने उसपर त्रिशूल छोड़ा। वह उड़ता हुआ व्यास-पत्नी के मुख मे प्रवेश कर गया। वही तोता शुकदेव रूप में प्रकट हुआ। वे ही श्रीशुकदेवजी जन्म ही से परम विरक्त हुए। कर्म-वश जीवों का जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म माया के पक्ष में है। अतः, उधर पिता पक्ष है। दिगंबर और ज्ञानी श्रीशिवजी के प्रति वैसे ही दिगंबर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजी के चारों मुखों के प्रति उनके चारों पुत्र (सनक, सनातन, सनंदन और सनत्कुमार) हैं। श्रीनारदजी ध्यान दिये हुए विचारते जाते हैं और सदस्य रूप विज्ञान-विशारद मुनि लोग भी सुन रहे हैं।

प्रवृत्ति पक्ष—माया का व्यापार श्रीरामजी का खेल है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनि हारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥" (अ० दो० १२६); "जो माया सब जगहि नचावा।···सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥ सो दासी रघुबीर कै" (दो० ७१); एवं—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥" (गीता ७।१४); और यह अनादि काल से है; यथा—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१)। अतः, यह भी किसी भाँति संतुष्ट रक्खी जाय।

निवृत्ति पक्ष—सच्चिदानन्द स्वरूप जीव ईश्वर का अंश है और वह अविनाशी है; यथा—"ईश्वर अंस

जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भयो गोसाँई। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।" (दो० ११६); अंश का अर्थ भाग, हिस्सा है, जो जिसका भाग होता है, वह उसके लिये होता है—यह मुहावरा है कि 'हमारा भाग तुमने कैसे ले लिया ?' इसी तरह जीव ईश्वर के लिये है; अर्थात् यह उसी का दास है। यह निज स्थिति से पृथक् होकर मायावश नाना दुःख पाता है; यथा—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः-षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि- कर्षति॥" (गीता १५।७); इसका दुःख छूटना परम आवश्यक है।

इस तरह उभय पक्ष के वाद का बीज रूप कहा गया, वाद बहुत विस्तार से हुआ, तब श्रीनारदजी ने विचारा कि गोस्वामीजी के तात्पर्य से दोनों पक्षों का अविरोध है; यथा—"तब रह राम भगति उर छाई।" यह इनका अंतिम सिद्धान्त-वाक्य है। इसी से दोनों पक्षवाले निर्विकार रहते हैं; यथा—"सिव-बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (लं० दो० २१); "ब्रह्मशंभुफणीन्द्रसेव्यमनिशं" (सुं० मं०); यथा—"सुक सनकादि मुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥" (वि० ८६); "जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (दो० ४२); फिर वाद क्यों ? इसके अंतर्भाव को मैं समझा दूँ तो अवश्य ही उभय पक्ष सन्तुष्ट हो जायँगे। ऐसा विचार कर आपने निर्णय किया—"करिय राम पद-पंकज नेहा।" इसका भाव समझकर उभय पक्ष संतुष्ट हो गये और सदस्यों ने भी एक स्वर से अनुमोदन किया। अतः, यही "सब कर मत" हुआ।

'करिय राम-पद-पंकज नेहा।' के भाव—यहाँ 'पद' शब्द में सर्वाङ्ग का भाव है, क्योंकि—"पद पंकज सेवत सुद्ध हिये॥"; "पद पंकज प्रेम न जे करते।" (उ० दो० १३); आदि से सर्वाङ्ग सेवा समझी जाती है। पद का अर्थ स्वरूप, लोक और चरण का जहाँ तहाँ पाया जाता है। अथवा चरण शरीर का मूल आधार है, तो मूल के कथन से सर्वाङ्ग आ गये।

पंकज (पंक=कीचड़, ज=जायमान) अर्थात् कमल कीचड़ से जायमान है, पर वह उससे निर्लिप्त रहता है। वैसे जीव भी कर्म-कीच में चित्त द्वारा सना हुआ है; यथा—"कर्म कीच चित सान्यो।" (वि० ८८); वह इन 'पद पंकज' के स्नेह से कर्म कीच से निर्लिप्त रहेगा, कर्म-कीच; यथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि० १०२), इससे निर्लिप्त हो जायगा; यथा—"जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ३१६)।

श्रीरामजी के सब अंगों में पाँच अंग कमल के समान कहे जाते हैं; यथा—"श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भव भय दारुनं। नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुनम्।'' नव नील नीरज सुन्दरम्।" (वि० ४५); इस पद में मन के लिये पाँच अंग कमल के आधार कहे गये हैं। कमल का स्नेही भ्रमर षट्पद कहाता है। वैसे ही मन भी षट्पद एवं विषय-रस-लोलुप कहाता है; यथा—"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।'''श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥" (गीता १५।७–९), भ्रमर को कमल में ही रस, रूप (शोभा), गंध, कोमलता और पराग-रूप से पाँचो विषय मिल जाते हैं, इसी से वह इसे नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि संध्या समय कमल के सम्पुटित होने के साथ वह स्वयं भी उसमें बंद हो जाता है और काष्ठ-छेदन में निपुण होता हुआ भी भ्रमर स्नेह के कारण कमलपत्रों को नहीं काटता। ऐसे ही जीव भी मन-रूपी भ्रमर के द्वारा श्रीरामजी के कमल रूप पाँच अंगों में स्नेह करके पाँचो विषय प्राप्त करता हुआ भी, संसार से पृथक् (निर्लिप्त) होगा और उनमें ही स्नेह से बँध जायगा, उन्हें फिर कभी नहीं छोड़ेगा; यथा—"रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग

बस करइ कि तिन्हहीं ॥" (बा० दो० ८१); "राम-चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥" (बा० दो० १६)। आगे पाँचो अंगों में पाँचो गुण दिखाते हैं—

रस—श्रीरामजी के नेत्र कमल में कृपा-गुण रस है; यथा "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिवनयना ॥" (सुं० दो० ३१); "कृपा-दृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी।" (दो० ५); इसी कृपा-गुण से अवतार होता है; यथा—"भये प्रगट कृपाला।" (बा० दो० १९१); "कृपासिंधु मानुष तनु धारी।" (सुं० दो० ३८); अवतार लेकर चरित करते हैं, उसके गान में रसना तृप्त होगी।

कोमलता—मुख-कमल में वचनों के द्वारा कोमलता-गुण है; यथा—"कहि बातें मृदु मधुर सुहाई।" "कहि मृदु मधुर मनोहर बचना।" (बा० दो० २२४); इनके सुनने में कानों को सुख मिलेगा; यथा—"सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं।" (क० अ० २१)। "भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (गी० बा० ७१)। इस तरह ठौर-ठौर के भाषण सुनने में श्रवण तृप्त होंगे।

गंध—कर-कमल में सुगंध-गुण हैं, इसके दान से पानेवालों की फिर वासना नहीं रह जाती; यथा—"जोइ याँच्यो सोइ याचकता बस फिरि बहु द्वार न नाच्यो।" (वि० १६२); तथा—"कनक कुधर केदार " (क० उ० ११५); में उत्कृष्ट रीति से दातृत्व वर्णित है। यहाँ नासिका की तृप्ति होगी, परमार्थ-पक्ष में संसार-वासना ही गंध-विषय मे प्रधान रूप में ली जाती है, इतर आदि गौण हैं। पुनः श्रीरामजी के शरीर मे सौगंध-गुण भी है, उसकी भावना से भी नासिका-तृप्ति होती है।

पराग- पद-कमल में पराग-गुण है जिससे स्पर्श-विषय के भारी पाप से अहल्या शुद्ध हुई; यथा—"परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥" (बा० दो० २१); इस माहात्म्य के साथ स्मरण से करोड़ों जन्मों के त्वचा के दोष रूप स्पर्श विषय-विकार शुद्ध होंगे, यहाँ त्वचा की तृप्ति हुई।

शोभा—यहाँ तक के चार अंग अनुरागवर्द्धक लाल रंग कमल के समान हैं। सर्वाङ्ग शरीर नील कमल के समान श्याम-शोभा-गुण-युक्त है; यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा।" (बा० दो० १२१), "श्याम शरीर सुभाय सुहावन।" (बा० दो० ३२६), श्रीरामजी श्याम रूप होने से शृंगारमय हैं, क्योंकि शृंगार-रस श्याम ही कहा जाता है; यथा—"जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥" (बा० दो० २४१); इस शोभा मे लोचन कृतार्थ होंगे; यथा—"निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी ॥" (दो० ७४)।

इस प्रकार मन अपने पाँचो विषयों के रूप में श्रीरामजी में ही रमण कर कृतार्थ होगा। अतः, इन्द्रियग्राम के साथ माया प्रसन्न हो गई, क्योंकि इसमें उसे—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुक पावहीं।" (कि० दो० १४); की विपत्ति अब न होगी। जीव-पक्ष भी प्रसन्न हो गया। क्योंकि वह इस पचांग कमल के ध्यान से भवसागर की विपत्ति से मुक्त हो जायगा; यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। श्यामल गात प्रनत भव-मोचन ॥" (सुं० दो० ४४), "पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव-भय मोचनम् ॥" (आ० दो० ३१)।

निदान, ग्रन्थकार ने अपना भक्ति सिद्धान्त सत्पंचों एवं सदर्थों के द्वारा भी निश्चित पाकर आगे नव असंभव दृष्टान्तों से इसे ही पुष्ट किया है; यथा—"श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना

सुख नाहीं ॥ कमठ पीठ जामहिं बरु बारा।" से "बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥" (उ० दो० १२२) तक ; इसमें नव दृष्टान्तों से 'अपेल सिद्धान्त' कहा गया है। नव गिनती की सीमा है। अतः, ऐसे असंख्य दृष्टान्तों का भाव सूचित किया गया है।

बस, इसके आगे मानस के चारों घाटों का विसर्जन प्रारंभ हो गया। अतः, उपक्रम और उपसंहार से इस रामचरितमानस ग्रन्थ का तात्पर्य—"करिय राम-पद-पंकज-नेहा।" जाना गया। शेष अभ्यास आदि पाँचों से भी दिखाते हैं—

अभ्यास—ग्रन्थ-भर में भक्ति ही का सर्वोपरि महत्त्व बार-बार वर्णित है ; यथा—"राम-भगति जहँ सुरसरि धारा।" (बा० दो० १) ; "सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि-पद रति-रस बेद बखाना।" (बा० दो० ३११) ; "जुग बिच भगति देव धुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥" (बा० दो० ३१), "कहहिं भगति भगवंत के, सयुत ज्ञान बिराग ॥" (बा० दो० ४४), "सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू ॥" (अ० दो० २७६) ; "रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६) ; "सबते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति-रत गत मद माया ॥" (दो० ५३) ; "श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजिय सब काम बिसारी ॥" (दो० १२२) इत्यादि।

अपूर्वता—जिसके समान फल प्राप्ति प्रकारान्तर से न हो सके ; यथा—"सुनु खगेस हरि-भगति बिहाई। जो सुख चाहहिं आन उपाई ॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥" (दो० ११४) ; एवं "सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।" (दो० ११९)।

फल—अनेक प्रकार से जिसे फल-रूप में कहा गया हो ; यथा—"जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि-भगति भवानी ॥" (दो० १२५)। "जप-तप-नियम जोग निज धरमा।" से "तव पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (दो० ४८) तक; "बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥" (बा० दो० २६) ; "सब कर फल हरि भगति सुहाई।" (दो० ११९) ; "सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा।" (दो० ९४) ; इत्यादि बार-बार सब साधनों का फल हरि भक्ति ही कही गई है।

अर्थवाद प्रशंसा-वचन, कवि अपने अभीष्ट मत की जहाँ-तहाँ प्रशंसा भी करता है और दृष्टान्तों एवं इतिहासों से भी उसे ही पुष्ट करता है। भक्ति की महत्ता इतनी अधिक है कि बढ़ाकर कहने के लिये उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलेंगे। इस ग्रन्थ में प्रायः सब इतिहासों से भक्ति की पुष्टि की गई है। इसी तरह एक लोमश-भुशुंडि का शास्त्रार्थ भी है। जिसमें ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महिमा अत्यन्त अधिक कही गई है। तथा—"सब सुख-खानि भगति तैं माँगी।" (दो० ८४) ; इत्यादि।

उपपत्ति—विपक्ष-मत का खंडन करके स्वसिद्धान्त का मंडन करना उपपत्ति है। भक्ति सेवक-सेव्य भाव में होती है। रूक्ष ज्ञान में 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहमस्मि' आदि के अनुसंधान से ब्रह्म के समान होने की चेष्टा की जाती है। अतः, वह भक्ति का विपक्षी है। भक्ति की उपपत्ति ग्रन्थकार ने प्रधानतया लोमश-भुशुंडि संवाद से की है। इसमें अनेक युक्तियों से सगुण-भक्ति का मंडन और निर्गुन-मतरूप रूक्षज्ञान का खंडन किया गया है ; यथा—"निरगुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म-रति उर अधिकाई ॥ तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥ बारंबार सकोप मुनि, करइ निरूपन ज्ञान। मैं अपने मन बैठि तब, करउँ बिबिध अनुमान ॥" से "येहि बिधि अमित जुगुति मन गुनेउँ।···पुनि-पुनि

सगुन पच्छ मैं रोपा।" (दो० १११) ; "सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥ ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।···भगति सुतंत्र सकल सुखखानी॥" (दो० ४४) ; इत्यादि।

इस प्रकार उपर्युक्त छहों लिंगों से इस (श्रीरामचरितमानस) ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य—'करिय राम-पद-पंकज-नेहा।' यह सिद्ध हुआ, जिसे सत्पंचों ने निर्णय किया है।

मूल के शब्दों पर विचार—

'सतपंच चौपाई'—पंच तीन प्रकार के होते हैं—असत्पंच, पंच और सत्पंच। असत्पंच वे हैं जो मूठ कहकर भी प्रतिपक्षी का नाश करते हैं। पंच वे हैं जो स्वपक्ष लिये हुए सत्य कहें। सत्पंच वे हैं जो यथार्थ निर्णय करें! ऐसा ही यथार्थ निर्णय उक्त सत्पंचों ने किया है। उन सबकी चौपाई का सिद्धान्त-वाक्य—'करिय राम-पद-पंकज-नेहा।' मनोहर है। क्योंकि इसके अर्थ में पाँचों प्राकृत-विषयों से मन का हरा जाना कहा गया, पाँचों विषय ही भक्तिरूप हो गये। 'जानि'—उपक्रमादि लिंगों से वही चौपाई जानी भी गई। 'उर धरे'—उर में धारण करना, प्रेम-करना ही उसका भाव है। 'दारुन अविद्या पंच '—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र, ये उत्तरोत्तर प्रशस्त विकाररूप अविद्या के पाँच पर्व अर्थात् गाँठें हैं। तम अर्थात् स्वरूप विस्मृति; मोह अर्थात् देह में अहं बुद्धि, महामोह अर्थात् विषयभोग से वासना-तृप्ति की इच्छा; तामिस्र अर्थात् भोगेच्छा के प्रतिघात पर क्रोध ; अंधतामिस्र अर्थात् भोग-साधनरूप शरीर के अंत पर मरण अपना समझना; इसी अंतिम वृत्ति के अनुसार जीव का भवसागर में पड़ना, इस पंच-पर्वा अविद्या का विकार है। प्रमाण—"तमोऽविवेको मोहस्य ह्यन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्य विज्ञेयो ग्रामभेदसुखेषणः॥ मरणंह्यंधतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्राहुर्भूतामहात्मनः॥" (कठ० टीका); तथा—"ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्। महामोहञ्च मोहञ्च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥" (भाग० ३।१२।२)। यहाँ उक्त तात्पर्यरूपा भक्ति के द्वारा पञ्चपर्वा अविद्या के विकाररूप भव-भय की निवृत्ति दिखाई गई।

पुनः यथा—"एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥" (आ० दो० १४) ; यह दारुण अविद्या अपने पंच विषयरूपी विकारों से भव में डालती है ; यथा—"पाँचैं पाँच परस रस सब्द गंध अरु रूप। इन्हकर कहा न कीजिये बहुरि परब भवकूप।" (व० २०३); इन पाँचों विषयों का विकार हरण एवं उनका भक्तिरूप होकर भव-निवर्तक होना उक्त भक्ति से कहा गया। 'श्रीरघुबर हरे'—रघुवर श्रीरामजी ने अपने पञ्च-अंग कमलों की 'श्री' अर्थात् शोभा एवं उनके गुणों से पाँचो विकारों को हरण किया—यह भी लिखा गया।

अतएव यही सिद्धान्तभूत अर्थ है, क्योंकि प्रसंगानुसार है, और इसमें शब्दों की पूर्णतया सार्थकता है।

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्बान-प्रद सम आन को।
जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥३॥

अर्थ—सौन्दर्य निधान, सुजान और कृपासागर, जो अनाथों पर प्रीति करते हैं—ऐसे एक श्रीरामजी ही हैं, इनके समान, विना किसी कामना के हित करनेवाला तथा निर्वाण (मुक्ति) देनेवाला दूसरा कौन है ? अर्थात कोई नहीं है ॥ जिनकी लव-लेशमात्र कृपा से मंद बुद्धि मुफ तुलसीदास ने भी परम विश्राम पाया, उन श्रीरामजी के समान प्रभु कहीं भी नहीं है ॥

विशेष—(१) इस छंद में श्रीभुशुंडिजी के उपासना-घाट का तात्पर्य आना दिखाया गया है। 'सम आन को' यह अंत में होने से सुन्दर आदि सब विशेषणों के साथ है। आप सभी गुणों में अद्वितीय हैं। सुन्दरों में अद्वितीय हैं, मनु-शतरूपा, विश्वामित्रजी, जनकजी, परशुरामजी, दंडक वन के ऋषि-गण एवं विरोधी वर्ग खर-दूषणादि के प्रसंग में आपके सौंदर्य का वर्णन देखिये। व्याह की शोभा में त्रिदेवपर्यन्त मोहित हो गये। सुजानों में अद्वितीय हैं, यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ ॥" (अ॰ दो॰ २ ३); "जान सिरोमनि कोसलराऊ।" (बा॰ दो॰ १७); तथा, भक्तों के हृदय की गति को जानते हैं ; यथा—"सब के उर अंतर बसहु, जानहु भाव-कुभाव।" (अ॰ दो॰ १५७), कृपानिधानता में अद्वितीय हैं, 'कृपू-सामर्थ्ये' धातु से कृपा शब्द निष्पन्न होता है, तदनुसार कृपा का अर्थ है कि जब प्रभु अपने सामर्थ्य के अधीन जीवों की प्रवृत्ति का अनुमान करते हैं कि मेरी ही असावधानता से ये जीव दुखी हो रहे हैं, मैं सँभालता तो इनकी दुर्दशा क्यों होती ? तब इनके दोष उनकी दृष्टि में नहीं रह जाते और इनपर दया आती है, फिर इनके उद्धार का संयोग करते हैं, यह तो सामान्य जीवों की बात है, पर जो विरोधी-वर्ग है, उसपर भी आप कृपा करते हैं ; यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी।" "अस कृपालु को कहहु भवानी ॥" (लं॰ दो॰ ४४); 'अनाथ पर कर प्रीति जो'—बालि के भय से श्रीसुग्रीवजी की रक्षा कहीं भी नहीं हो सकी, उन्होंने सब भुवनों में दौड़कर देख लिया। अंत में श्रीरामजी की ही शरण ली, तब रक्षा पाई। श्रीरामजी स्वार्थ पर दृष्टि करते तो बालि से ही प्रीति करते। उसने कहा ही है कि आप मुझसे कहते तो मैं विना श्रम रावण को बाँध कर आपके यहाँ ला देता। वाल्मीकीय रामायण में प्रसिद्ध है, पर आप तो अनाथ के हित हैं, इससे बालि की गालियाँ भी सहीं, पर अनाथ की ही रक्षा की।

सच्चा अनाथ होना चाहिये, जो सर्वात्मना औरों की आशा-भरोसा छोड़कर अनन्योपायता-वृत्ति से एक-मात्र प्रभु श्रीरामजी की ही शरण होता है, वही अनाथ है ; यथा—"एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जा के गति न आन की।" (आ॰ दो॰ ६)।

(२) 'अकामहित' अर्थात् निर्हेतु उपकार करनेवाले; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित कृपाल।" (बा॰ दो॰ २११); यह अहल्योद्धार पर कहा गया है। तथा—"ते तुम्ह राम अकामपियारे।" (आ॰ दो॰ ५) देखिये। पुनः यथा—"इहै जानि चरननिह चित लायो। नाहिन नाथ अकारन को हित तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो ॥" (वि॰ २१३)। श्रीप्रह्लादजी ने भी कहा है—"अहंत्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रय.।" (भाग॰ ७।१०।६) ; अर्थात्, आप सेवकों से कोई स्वार्थ नहीं चाहते। 'निर्वानप्रद'—निर्वाण से यहाँ सभी प्रकार की मुक्तियों का तात्पर्य है, कैवल्यमात्र नहीं। श्रीरामजी नाम, रूप, लीला, धाम, इन चारों के द्वारा मुक्ति देने में अद्वितीय हैं। जैसे कि खर दूषण आदि शत्रुओं को भी निर्वाणपद दिया ; यथा—"राम राम कहि तन तजहिं, पावहिं पद निर्वान।" (आ॰ दो॰ २०)। काशी में पाँच कोश के भीतर जन्तु-मात्र को भी मुक्ति मिलती है, यह राम नाम ही की शक्ति है। चरित के विषय में कहा ही है—"रामचरन रति जो चहै, अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान ॥" (दो॰ १२८); धाम; यथा—"अवध तजे तनु नहि संसारा।" (बा॰ दो॰

१४)। रूप से भी असुरों तक को निर्वाण पद दिया और अंत में अवध के प्राणी मात्र को मुक्त किया। कहा भी है—"राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हें मुकुत निसाचर झारी॥" (लं० दो० १११)। जो भक्त एवं प्रपन्न मुक्त हुए उनका तो कहना ही क्या ?

उपास्य के योग्य सब लक्षणों में आप अद्वितीय हैं। पहले तो अपने सौंदर्य से सहज ही में उपासक के चित्त को आकर्षित कर लेते हैं; यथा—"रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।" (वाल्मी० २।३।२१)। पुनः सुजानता से उसके हृदय के भावों को जानकर उसकी रुचि को पूरी करने के लिये कृपानिधान हैं। जो सब प्रकार गया-बीता है, जिसका कहीं भी ठिकाना नहीं; ऐसे अनाथों से भी आप प्रीति करते हैं, यह अद्वितीय सौलभ्यगुण है; यथा—"सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जा कहँ कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तेहि यह जानत रिषिराउ॥" (गी० सुं० ४५); पुनः आप भक्तों से कुछ कामना भी नहीं रखते कि जिसमें उसकी असावधानी से उसमें त्रुटि पड़ने पर उसका त्याग कर दें। 'एक राम'—भक्तों को रमाने में भी आप अद्वितीय हैं; यथा—"राम नाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः।" (रामतापनीय उ०), इन्हीं गुणों को विचारते हुए तो दंडकवन के ऋषियों ने कहा है—"परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०); तारा ने भी कहा है—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक भाजनम्॥" (वाल्मी० ४।१५।१९-२०); ब्रह्माजी ने कहा है—"त्वं हि लोकगतिर्देव" (वाल्मी० ७।११०।१०)। तथा—"भजिवे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।" (वि० २०७)—देखिये।

उत्तरार्द्ध छंद में उक्त गुणों से लाभ उठाने का प्रत्यक्ष प्रमाण अपना ही देते हैं—

(३) 'जाकी कृपा लवलेस···'—कृपा लवलेश कौन-सी है ? इसपर दो बार की कृपा के प्रमाण मिलते हैं—एक बार श्रीचित्रकूट में दर्शन देना और दूसरी बार विनयपत्रिका पर सही करना; यथा—"तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित चेतु चित करि सो॥" (वि० २६४)। इस प्रसंग की कथा गोस्वामीजी के चरित में प्रसिद्ध है और लोक-प्रसिद्ध भी है कि श्रीहनुमान्‌जी की कृपा से चित्रकूट रामघाट पर इन्हें श्रीरामजी के दर्शन हुए। उस समय ये चन्दन घिसते थे और श्रीरामजी तिलक करते थे। तब शुक रूप से श्रीहनुमान्‌जी ने इन्हें यह दोहा पढ़कर सावधान किया है; यथा—"चित्रकूट के घाट पै, भै संतन की भीर। तुलसिदास चंदन घिसैं, तिलक देत रघुवीर॥" उस समय आप प्रभु की छवि में देह-दशा भूल गये, रात में आकर श्रीहनुमान्‌जी ने फिर सावधान किया है। पुनः काशी असीघाट पर कलि ने एक रात इन्हें धमकाया कि यदि तुम अपनी पोथी जल में न डुबा दोगे, तो मैं तुम्हारी दुर्दशा करूँगा। उस समय भी इन्होंने श्रीहनुमान्‌जी से प्रार्थना की। श्रीमारुतिजी ने विनयावलि लिखने की अनुमति दी। तब आपने विनयपत्रिका लिखी, उसे स्वीकृत कर, कृपा करके श्रीरामजी ने उसपर सही कर दी; यथा—"मारुति मनरुचि भरत की लखि लखन कही है।···सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।···परी रघुनाथ हाथ सही है।" (वि० २७९)।

यहाँ 'अभय' कर देने ही 'परम विश्राम' पाना कहा गया है; यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३)।

(४) 'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।'—उपर्युक्त रीति से उपास्य लक्षण-सम्पन्न स्वामी श्रीरामजी के समान और कहीं भी कोई नहीं है, इसपर वि० २१५-२१८ पदों को पढ़िये। उपक्रम में कहा था—"वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।" (बा० मं० श्लो० ६); वैसे यहाँ उपसंहार में भी कहा है—

"रामै समान प्रभु नाहीं कहूँ।" पुनः उपक्रम—"स्वान्तः सुखाय" (बा० मं० श्लो० ७); का भी उपसंहार यहाँ 'पायो परम विश्राम' कहा गया है।

यहाँ तक तीन छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासना के फल की प्राप्ति नाम, चरित और रूप के द्वारा कहकर आगे एक दोहे में शरणागति करने का स्वरूप और दूसरे में उसकी वास्तविक स्थिति माँगना कहेंगे।

दोहा—मो सम दीन न दीन-हित, तुम समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर॥

अर्थ—हे रघुवीर! मेरे समान कोई दीन नहीं है और न आपके समान कोई दीनों का हित करनेवाला ही है। ऐसा विचारकर, हे रघुवंशमणि! आप मेरे भव-भय (संसार के आवागमन) का हरण करें।

विशेष—'मो सम दीन न'—यह मुमुक्षु की योग्यता है; यथा—"तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई।···यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥" (वि० १४२), यह पूरा पद पढ़ने योग्य है। 'रघुवीर' पद से पाँचों प्रकार की वीरता से युक्त एवं रक्षा करने में परम समर्थ सूचित किया गया है। 'रघुबंसमनि'—का भाव यह है कि रघुवंशी सब शरणागतवत्सल एवं उदार होते आये हैं, आप उस कुल में शिरोमणि हैं, अतएव मेरी अवश्य रक्षा करेंगे। 'हरहु बिषम भव-भीर'—यह कहकर 'गोप्तृत्व वरण' शरणागति की है, अपनी रक्षा करने के लिये स्वामी से प्रार्थना की है भगवान् यद्यपि अंतर्यामी हैं, सब जानते हैं, फिर भी प्रपन्न जब उन्हें रक्षा करने के लिये वरण करता है, तब वे उसकी रक्षा करते हैं। 'भव-भीर'—का भाव यह कि मैं इस भय से डरा हुआ आपकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ, आप 'अभयं सर्व भूतेभ्यो ददामि' इस अपने व्रत के अनुसार मेरी रक्षा करें। तथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥" (सुं० दो० ४३) यह भी श्रीमुख-वचन है।

रक्षा का विधान कैसे किया जाय? तुम क्या चाहते हो? इसपर कहते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥१३०॥

अर्थ—जैसे कामी को स्त्री प्यारी लगती है और जैसे लोभी को दाम (द्रव्य) प्रिय लगता है वैसे ही हे श्रीरघुनाथजी! हे श्रीरामजी! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगें॥१३०॥

विशेष—(१) ऊपर 'भव-भीर' से रक्षा के लिये प्रार्थना की। वह भव (संसार का आवागमन भगवान् की प्राप्ति से ही छूटता है; यथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६); और भगवान् की प्राप्ति उनके निरंतर स्मरण-रूपा भक्ति से होती है; यथा—"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर च। मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।" (गीता ८।६-७), निरन्तर स्मरण बिना गाढ़ प्रेम के नहीं होता, इसलिये वैसे प्रेम को याचना करते हैं—

प्रेम के लिये दो उदाहरण देते हैं—कामी और लोभी का। कामी को स्त्री कैसी प्रिय लगती है,

यह यथार्थ वही अनुभव कर सकता है, जो उस फंदे में कभी पड़ा हो। श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं इस प्रेम का भली भाँति अनुभव किया है जो इनके जीवन-चरित से स्पष्ट है। तथा—"जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे विधि! मिलइ कौन विधि बाला॥" (बा० दो० १३०)—यह नारद मोह प्रसंग में कहा गया है। तथा—"ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को। त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥" (वि० २११), अर्थात् नवीन नागर (कामी) जब किसी नवयौवना नागरी (स्त्री) पर आसक्त हो जाता है तब वह स्त्री उसके हृदय में और आँखों में स्वाभाविक ही बसी रहती है। उसके ध्यान करने के लिये उसे आसन लगाकर बैठने की आवश्यकता नहीं रहती। उठते-बैठते, सोते-जागते उसका मन वहीं पर रहता है। यदि किसी कारण से वियोग हो भी जाता है, तो भी वह मन से उसके साथ ही रहता है। प्रिया के सम्बन्ध की कोई भी वस्तु उसके प्रेमोद्गार का हेतु होती है। वह उसके दर्शनों के लिये सदा लालायित रहता है। वियोग की जैसी दशा होती है, उसका दिग्दर्शन प्रभु ने स्वयं भी कराया है, यथा—"कामिन्ह कै दीनता दिखाई।" (अ० दो० ३८), वह उस नायिका के प्रेमवश भाई-बंधु तक को छोड़ देता है, सर्वस्व एवं प्राण भी निछावर कर देता है। शरीर के सब सुख-दुःख भूल जाता है। वह उसे सुन्दरता एवं गुणों से पूर्ण ही देखता है। उसके सताने पर परीक्षा लेना मानता है और उसकी कृपा पर परम अनुग्रह मानता है। उसके द्वारा अपमान में भी अपना सम्मान समझता है। यहाँ तक कि जो कोई उसके नाम गुण आदि सुनाता है, उसे वह भी प्रिय हो जाता है इत्यादि लोक में कामी की प्रीति देखी जाती है।

(२) 'कामिहि नारि पियारि जिमि'—कहकर श्रीगोस्वामीजी प्रभु के विषय में वैसी ही प्रीति की दशा चाहते हैं कि मेरी स्वाभाविक प्रीति श्रीरामजी में सदा एकरस बनी रहे। प्रभु के ही नाम, रूप, लीला और धाम में मैं सदा लगा रहूँ। प्रभु के सम्बन्धी संत प्यारे लगें, उनके प्रेम में प्राकृत कुटुंब आदि की ममता छूट जाय। प्रभु का वियोग असह्य हो, इत्यादि।

पुनः दूसरा उदाहरण लोभी के धन प्रियत्व का देते हैं, यथा—"सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहि सँभारहि।" (वि० ८५), अर्थात् लोभी धन के लिये सदा रंक बना रहता है। बार-बार गिनता है कि कितना बढ़ा, या किसी ने कुछ ले तो नहीं लिया। शरीर पर आघात सहना मंजूर रहता है, पर धन की रक्षा होनी चाहिये। बीमारी में ओषधि के निमित्त भी खर्च करना कठिन होता है। यहाँ तक कि इसी वृत्ति से मरने पर वह सर्प होकर उस धन की रक्षा के लिये भी उसपर आकर बैठता है।

इसी तरह श्रीगोस्वामीजी चाहते हैं कि मैं क्षण क्षण पर आपही का स्मरण करता रहूँ। किसी भी अवस्था में आपसे मेरा चित्त न हटे। मरने पर भी आपको न भूलूँ। जन्मान्तर में भी आपकी भक्ति करता रहूँ, यथा—"पायों नाम चारु चिन्तामनि उर करते न खसैहौं। स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहौं॥" (वि० १०६)।

धन के संग्रह में दुःख, उसकी रक्षा में दुःख और उसकी हानि में भी दुःख ही होता है। तो भी लोभी उसे नहीं छोड़ते। इसी तरह प्रेम के लिये चाहे जितने कष्ट भोगने पड़ें, तो भी वह न छूटे। लोगों के निन्दा करने पर भी चित्त न हटे।

प्रश्न—एक ही उदाहरण में सब भाव आ सकते थे, दो क्यों दिये गये ?

उत्तर—(क) कवि की इच्छा पर यह बात निर्भर है। वह एक विषय पर कभी एक ही और कभी दो, चार, छः उदाहरण दे देता है। इसी विषय पर विनय २६६ में नीर मीन, जीव का सुख, जीवन,

संसार को सूर्य कहा है और उसके व्यष्टि रूप नानात्व को किरण। जगत् दस दिशामय कहा जाता है, नानात्व में उसकी दस दिशाओं को भी मानसकार ने दिखाया है, यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। • " (सु० दो० ४०), इसमें जननी आदि दश गिनाये गये हैं। इन्हें स्वतंत्र रूप से उपकारी मानकर जो जीव इनमें ममता-रूप तागों में बंधा हुआ है, वह जब इन सबको श्रीरामजी के शरीर-रूप में जानेगा, तब इन सबके द्वारा हुए उपकार श्रीरामजी के निश्चित होने पर, इन सब (व्यष्टि जगत्) से ममता हटाकर श्रीरामजी में ही दृढ़ प्रीति करेगा, क्योंकि इन्हीं ने सब रूपों से पालन-पोषण आदि उपकार किये हैं, इस ज्ञान पर वह ममता यहाँ एकत्र होगी, यही डोरी का बटना है। फिर किसी भले बुरे कार्य के सम्बन्ध का कोई भी मित्र शत्रु न रह जायगा, समदर्शित्व अनायास रहेगा। तब राग द्वेष आदि अग्निमय दोषों की ज्वाला से वह नहीं जलेगा।

वही चराचरात्मक जगत् अज्ञान दृष्टि से श्रीरामजी से पृथक् देखने पर सूर्य की तरह ममता-रूपी तीक्ष्ण किरणों द्वारा त्रिविध तापों से जलानेवाला होता है, यथा—"सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रय ताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो॥ (वि० १४२), "जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देह के दाहक गाहक जी के॥" (वि० १७६)।

(२) 'भक्त्यावगाहन्ति ये', यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा० दो० ४०), इस प्रकार के स्नान से उपयुक्त संसार सूर्य की घोर किरणों से नहीं जलेगा, यथा—"मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई॥" (बा० दो० ३४)। विषय सम्बन्ध से राग-द्वेष होते हैं, वे दाहक होते हैं, मानस के मनन करने से उनसे शान्ति मिलेगी। उपर्युक्त ज्ञान (श्रीरामजी को जगत् का शरीरी जानना) प्राप्ति होने से शीतलता-रूपा शान्ति मिलेगी।

(३) 'मानवा' पद में अंतिम वर्ण 'व' है, यही 'व' इस ग्रन्थ के आदि 'वर्णानां' में भी है। 'व' तंत्र शास्त्र से अमृतबीज है। अत, इस ग्रन्थ में अमृतबीज का सम्पुट है। इसे पढ़ने-सुननेवाले अमर पद रूपी नित्य धाम पावेंगे। उन्हें मृत्यु-संसार-सागर का स्पर्श नहीं होगा।

(४) यहाँ 'अबिरल हरि भक्ति' ही सप्तम सोपान की फलित अवस्था है, यही 'कामिहि नारि ' का भी भाव है। इसके सातो सोपानों की उत्तरोत्तर अवस्था और उनके भाव बा० दो० ३६ चौ० १ में देखिये। सातो काण्डों की फलश्रुतियाँ क्रमश शुभकर्म एवं सुख, प्रेम वैराग्य, विमल वैराग्य, विशुद्ध संतोष, ज्ञान, विज्ञान और अविरल हरिभक्ति कही गई। ये ही मुमुक्षु की उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अवस्थाएँ हैं, इसी पर कहा है, यथा—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पथाना॥" (दो० १२८)।

दोहा—संबत खँडे ग्रहे अंक ससि, आसिन पूरनमासि।
सनिबासर पूरन भयो, तिलक सुजन सुखरासि॥

इति शुभम्

श्रीसीतारामार्पणमस्तु